प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—३१
Prācyabhāratīgranthamālā—31

योगवासिष्ठ

हिन्दी अनुवाद सहित

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

Prācyabhāratīgranthamālā—31

YOGAVASIṢṬHA

OF

MAHAKAVI VALMIKI

with Hindi Translation KUSUMALATĀ

BY

Dr. MAHAPRABHULAL GOSWAMI

Volume IV

Nirvāṇa Prakaraṇa Pūrvārdha (Adhyāyas 63 to 128) and Nirvāṇa Prakaraṇa Uttarārdha (Adhyāyas 1 to 71)

Tara Book Agency

Varanasi

1992

प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—३१

महाकविश्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः

योगवासिष्ठः

डा० श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिविरचितकुसुमलताख्य-
हिन्दीभाषानुवादेन सहितः

चतुर्थो भागः

निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धः (अध्यायाः ६३-१२८) एवं निर्वाणप्रकरणस्य
उत्तरार्धः (अध्यायाः १-७१)

तारा बुक एजेंसी
वाराणसी

ISBN 81-85403-86-4

प्रकाशक :
तारा बुक एजेंसी
कमच्छा
वाराणसी २२१०१०

Published by
Tara Book Agency
Kamacha
Varanasi 221010

प्रथम संस्करणम्, १९९२
मूल्य : १६०.००

First Edition, 1992
Price : Rs. 160.00

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

Printed at
Tara Printing Works
Varanasi

भूमिका

योगवासिष्ठ में मोक्ष के साधन निरूपण के प्रसङ्ग में चूडाला का आत्मबोध विशिष्टरूप से वर्णित है। वहाँ कुण्डलिनी जागरण को आत्मप्रबोध के कारण के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। कहा गया है—महाचिति अर्थात् कुण्डलिनी का उदय न होना ही जगत् आदि समष्टिचित्त के कारण स्वप्न और इन्द्रजाल के समान जगद्रूप में भिन्न-भिन्न रूप में भासमान होते रहते हैं। चिन्मात्र ही सब कुछ है। चिति सर्वथा अच्छेद्य अदाह्य एवं सूर्य के समान अतिशय दीप्तिसम्पन्न है। अदिति सम्पत्ति अखण्डालोक के समान स्वयम्प्रकाश संविद्रूपा कुण्डलिनी है[1]। वह आत्माराम हो विश्रान्त रहती है। अकस्मात् जगद्विभ्रम होता है, उदित होते ही विश्वभ्रम निवृत्त हो आत्मैक्य की प्रतीति होने लगती है।

कुण्डलिनी का स्वरूप विश्लेषण करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है—"चारों ओर से फैली हुई शाखाओं से परिवेष्टित नाडियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका सुषुम्णा नाम की नाडी है। इस नाडी से आंत घिरी रहती है अतः इसे आन्त्रवेष्टनिका कहते हैं। आशय यह है कि देह में स्थित वायु के अपने अधीन हो जाने पर सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसके उपपादन के लिए सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई बहत्तर हजार शाखाओं वाली प्रधान सौ नाडियों की आश्रित मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सात चक्रों में प्रविष्ट होकर निकली हुई तथा मूलाधार में साढ़े तीन वलय वेष्टन के भीतर सोई हुई कुण्डलिनी की शक्ति से सम्पन्न सुषुम्णा नाडी का वर्णन किया है[2]। इस प्रकार कुण्डलिनी का विशद वर्णन चूडाला के चरित्र के व्याज से अनेक अध्यायों में किया गया है। अतः, इस विषय को योगवासिष्ठ के अनुवाद से ही पाठकगण अवगत करें[3] क्योंकि यही इसका प्रधान प्रतिपाद्य है।

जिज्ञासुओं की यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यह कुण्डलिनी प्रबोध क्या है जिसे कुण्डलिनी जागरण शब्द से कहा जाता है तथा मोक्ष के साधन में चरम स्थान है, जिसके जागरण से विश्व हाथ पर रखे गए आँवले के समान प्रत्यक्ष हो जाता है और सत्य अनृत का यथार्थ सत्य अनुभव हो जाने से पुनः माया के अधीन नहीं होता है। सांख्य की प्रकृति या माया अपने नग्न स्वरूप को प्रत्यक्ष हो जाने से स्वयं उसके प्रति अपने मायिक कार्यों से विरत हो जाती है और मोक्ष-द्वार अनावृत हो जाता है, क्योंकि, आवरण के हट जाने से जीवन्मुक्त होकर मायिकजगत् में भी सानन्द विचरण करता हुआ सकल जन के सुख के लिए जीवनयापन करता है।

कुण्डलिनी का परिचय—योगवासिष्ठ में निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में निर्वाण के साधनों का निरूपण किया गया है। इसमें योग और कुण्डलिनी की साधना का अतिशय महत्त्वाधान दिया गया है। अद्वैत तत्त्व या चिन्मयानन्दस्वरूप प्राप्ति कुण्डलिनी जागरण सापेक्ष है। अतः मोक्षस्वरूप निरूपण से पूर्व योग और कुण्डलिनी का स्वरूप प्रदर्शित करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि, मुक्ति कुण्डलिनी-जागरण-सापेक्ष है।

पूजा या सगुण साधना कुण्डलिनी-जागरण के विना निरर्थक है। गन्धर्वतन्त्र के अनुसार मूलाधार में कुण्डलिनी की निद्रित अवस्था में किसी प्रकार भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है[4]। घेरण्डसंहिता के अनुसार साधक के शरीर में जबतक कुण्डलिनी निद्रिता रहती है, तबतक साधक पशु के समान है, अनन्त योगाभ्यास करने पर भी उसे यथार्थ

---

१. योग० नि० पू० स० ७८ पृ० सं० ४८–४९।

२. यो० वा० स० ८० पृ० ५६।

३. द्रष्टव्य चूडालोपाख्यान पृ० ४५ से ९६।

४. मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता विभो।
तावन्न किञ्चित्सिद्ध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम्॥ (ग० त० ६।२६।३७)

तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता है।[१] पुण्य के फलस्वरूप यदि कुण्डलिनी का जागरण हो जाता है तो मन्त्र, यन्त्र, अर्चना, ज्ञान की साधना किसी से भी सिद्धि प्राप्त कर अष्टविध ऐश्वर्यसम्पन्न हो शिव के समान जीवन्मुक्त हो जगत् में विचरण करता है।[२]

योग और कुण्डलिनी-जागरण—पुण्य के फलस्वरूप संविद्रूपा भगवती कुण्डलिनी का जागरण आवश्यक होता है, किन्तु, उसके लिए साधन-चतुष्टय की सम्पन्नता एवं योगसाधना नितान्त एकान्त अपेक्षित है। वस्तुतः योगसाधना इसके लिए असाधारण है, अत एव इस योग और उसकी सात भूमियों का निरूपण विस्तार से योगवासिष्ठ में किया गया है। तन्त्र की दृष्टि में योग के विना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव ही नहीं है[३]। रुद्रयामल में कुण्डलिनीरूपा संविद् का जागरण योग के अधीन माना गया है[४]। किन्तु योग के द्वारा केवल प्राणायाम; मूलबन्ध आदि हठयोग प्रक्रिया को ही नहीं समझना चाहिए, विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इन सभी के द्वारा कुण्डलिनी को जगाया जा सकता है। सङ्गीत अर्थात् नादविद्या के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। क्योंकि, चिन्मय नादात्मक ब्रह्म है। स्वर भी नादब्रह्म है, अतः विशुद्ध स्वर की साधना से गायक की कुण्डलिनी का जागरण होता है। सभी स्थिति में अद्वैत सच्चिदानन्द की ही उपलब्धि है। साधारण साधक कुण्डलिनी के जागरण के लिए कर्म, ज्ञान, योग, एवं भक्ति की सम्मिलित रूप में साधना का योगवासिष्ठ आदि में निरूपण किया गया है। किन्तु अधिकार के अनुसार ही इनमें किसी की साधना होती है। ज्ञान, न्यास, वैराग्य, योग आदि से कुण्डलिनी का जागरण होता है।[५] इस प्रसङ्ग में योग शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। इसीलिए ज्ञान योग का अवलम्बन योगवासिष्ठ में किया गया है। किसी-किसी शास्त्र में भक्तियोग और कर्मयोग से किसी भी साधना को गृहीत किया जाता है। कुण्डलिनी का जागरण साधनासापेक्ष है और वह व्यापक योग है। साधारणतः, कुण्डलिनीयोग से कुण्डलिनीयोग, हठयोग तथा लययोग समझा जाता है।

कुण्डलिनी तत्त्व—अन्य विषयों के विश्लेषण से पूर्व कुण्डलिनी तत्त्व का स्वरूप निरूपण आवश्यक प्रतीत होता है। कुण्डलिनी पराशक्ति शब्दब्रह्म महात्रिपुरसुन्दरी एवं कामकला है। वह मातृकारूपिणी, सर्वतत्त्वमयी सर्वदेवमयी और विश्वमयी है। अद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपा सनातनी कुण्डलिनी विश्वसृष्टिकारिणी और विश्वरूपिणी है। इसीलिए योगवासिष्ठ में जगत् को चैतन्यस्वरूपा कहा गया है। यह विश्वातीता ज्ञानस्वरूपा है[६]। यही कुण्डलिनी तान्त्रिकसाधकों की इष्टदेवता[७] है। उच्चतम साधना कुण्डलिनी साधना है। परदेवता कुण्डलिनी सर्वत्रगामिनी विश्वरूपिणी नित्यानन्दा शिवस्वरूपा शिवशक्ति में वस्तुतः भेद न होने से शिवसान्निध्य प्राप्त होता है, वस्तुतः, यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सांख्यकी प्रकृति के समान यह जड न होकर शैवदर्शन के शिवशक्ति के क्रम में प्राप्त यह प्रकृति चेतनस्वरूपा है। लोचनकार के शब्दों में—जिसका जागरण विश्व का जागरण अर्थात् प्रबोध हो जाता है एवं जो अपने आयतन में विश्राम लाभ करती है—ऐसी प्रतिभा है।

१. यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्॥ (घे० सं० ३।५५)

२. जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद्विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्यसमन्वितः ।(ग० त० ६।६७।३८)

३. विना योगं न सिध्येत कुण्डलिनी चङ्क्रमः प्रभो। (ग० त० ६।३६)

४. वेदाधीनं महायोगं योगाधीना च कुण्डली। (रु० या० उ० त० २१)

५. Tantra as a way of Realization. C. N. L. val IV p. 238.

६. ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भुलिङ्गवेष्टिनीम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्॥ (ष० नि० ११ श्लोक की टीका १४।२)

७. निजेष्टदेवतारूपा देहसंस्था च कुण्डली (मातृ० त० १४।२)

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिमां शिवाम् ।। (लो० प्र० अ० पद्य)

यह प्रकृति देशकाल से अनवच्छिन्न सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त, शब्द एवं अर्थ से स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गव्यापिनी है। पर और अपर विभाग की दृष्टि से यह पराप्रकृति है। स्वरूपतः अपर अर्थात् पुंनपुंसकप्रकृति भी वही है। योगियों के हृदयकमल में वह तत्त्वरूप से नृत्यपरायण है। सभी प्राणियों के मूलाधार में झलमल आलोक विद्युत् के रूप में स्फुरित रहती हैं। शङ्ख के आवर्त के समान घेरा धारण कर वह शिव को आवर्त के अन्दर रखकर स्थित रहती है। वह कुण्डली के रूप में स्थित सर्प के आकार में रहती हैं।

शारदातिलक के अनुसार कुण्डलिनी चैतन्यरूपिणी, सर्वत्रगामिनी विश्वरूपिणी, नित्यानन्दा, शिवस्वरूपा, शिव का सान्निध्य प्राप्त कर अवस्थित है। शिव और शक्ति में स्वरूपत. भेद नहीं है, काल्पनिक भेद माना जाता है। शिव-सान्निध्य प्राप्त कर अवस्थित है[१]।

शक्ति का दो स्वरूप माना गया है—चित् और अचित्। चित् शक्ति के भी दो रूप हैं सक्रिय और निष्क्रिय। निष्क्रिय अवस्था की शक्ति का कोई भी परिचय प्राप्त नहीं होता है। सक्रिय अवस्था की क्रिया के द्वारा उसका परिचय प्राप्त होता है। शक्ति की निष्क्रिय अवस्था के समय प्रकाशस्वरूप शिव भी अप्रकाशस्वरूप रहता है। शक्ति के सक्रिय होने पर शिव भी उसके आश्रय में आत्मप्रकाश लाभ करता है। अचित् शक्ति परिग्रह शक्ति या उपादानशक्ति (लीलाशक्ति) के नाम से परिचित है। अचित् शक्ति का भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो रूप है। शुद्ध अचित् शक्ति मायातीत विशुद्ध जगत् का उपादान है। वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार शुद्धसत्त्व, तान्त्रिक विन्दु या महामाया मानते हैं। अशुद्ध अचित्शक्ति के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्ड के साथ सभी मायिक जगत् प्रकाशित हैं। शुद्ध अचित्शक्ति का नाम कुलकुण्डलिनी है। तन्त्र में माया के द्वारा पराशक्ति कुण्डलिनी चिदचिदुभयात्मिका के रूप में वर्णित है।

कुण्डलिनी और मूलाधार—तन्त्रशास्त्रानुसार जीव शरीर में मूलाधार में परदेवता आत्मशक्ति कुण्डलिनी साँप के आकार में कुण्डलाकार हो सोती रहती है और इसकी कुण्डली साढ़े तीन वलय है[२]।

कमल के मृणालसूत्र के समान उसका आकार है, वह अग्नि के समान देदीप्यमान है, वह सबकी जननी, कोटि-सूर्य की प्रभा के समान सदा दीप्तिमयी है[३]। मूलाधार में एक चतुर्दल रक्तकमल है। गुह्यदेश से ऊपर एवं लिङ्गमूल से नीचे सुषम्णानाडी मुखसंलग्न यह अधोमुख पद्म अवस्थित है[४]।

इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर वज्रानाडी के मुख में त्रैपुरनाम का विद्युत् के समान उज्ज्वल कोमल त्रिकोण है। सदा यह त्रिकोण कोटि सूर्य की प्रभा के समान समुज्ज्वल बन्धूक पुष्प के समान लाल जीवधारक कन्दर्पनामक वायु है। श्री क्रममत के अनुसार यह त्रिकोण कामाख्यायोनि एवं कन्दर्प अपानवायु है[५]।

---

१. ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वथा विश्वरूपिणी। शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ।।
......................सर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी । (शा० ति० १।५१-५३)

२. (क) मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता। शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता। घे० सं० ३।४४
(ख) प्रसुप्तभुजगाकारा त्रिरावर्ता महाद्युतिः। त० रा० ३०।६५

३. प्रज्वद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
सर्वेषां जननी प्रोक्ता सूर्यकोटिसमप्रभा ।। व० नि० श्लो० ५० शङ्करकृतटीका

४. अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम् ।
अधो वक्त्रम् ··· ···· ···· । ष० नि० श्लो० ४

५. (क) वज्राख्यावक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थम् ।
कोणं तत्त्रैपुराख्यं तडिदिव विलसत्कोमलं कामरूपम् ।। कोटिसूर्यप्रकाशः श्लो० ८
(ख) कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी ।
अपानाख्यं हि कन्दर्पम् आधारे तन्त्रिकोणके । विश्वनाथकृत० टीका।

स्वयम्भूलिङ्ग और कुण्डलिनी—शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा गया है—त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख सरन्ध्र स्वयम्भूलिङ्ग अवस्थित है। मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुलकुण्डली अपने मुख से ब्रह्माधार अर्थात् स्वयम्भूलिङ्ग के मुख को मृदुभाव से आच्छादन कर अवस्थित है। नवीन विद्युत् की माला के समान स्थिरतर शोभा के समान शोभाशालिनी सर्प के समान सोई हुई कुण्डलिनी शंख के आवर्त के समान शिव के चरण पर साढ़े तीन वलयजटित है[१]।

स्वयम्भूलिङ्ग अधोवक्त्र और कुण्डलिनी भी अधोवक्त्रा है। श्रीक्रम में कहा गया है कि परदेवता कुण्डली अधोवक्त्रा और ऊर्ध्ववक्त्रा एवं उसकी आकृति विद्युल्लता के समान व्यक्त होती है। ब्रह्मद्वारमुख को अपने मुख के द्वारा सदा आच्छादन कर सोती रहती है[२]।

ब्रह्मद्वार—गोरक्षसंहिता में जिस द्वार से निरामय ब्रह्मस्थान में गमन किया जाता है—वही ब्रह्मद्वार है। कुलकुण्डलिनी उसी ब्रह्मद्वार को मुख से आच्छादित रखती है।[३]

नाडी संवेष्टनी कुण्डलिनी - कुण्डलिनी केवल शिवको वेष्टन करके स्थित है, ऐसी बात नहीं है वरन् वह सभी नाडियों को संवेष्टन करके विराजमान है। शिवसंहिता में कहा गया है—गुह्यस्थान और मेढ्र के मध्य स्थान में अधोमुख योनि = त्रिकोण है। वहीं पर कन्द है और उस कन्द में कुण्डलिनी सदा वर्तमान रहती है। वह सुषुम्णा नाडी के विवर में अवस्थित है। साढ़े तीन वलय में सभी नाडियों को वेष्टन कर वह मुख में पुच्छ को लेकर अवस्थित है।[४] यहाँ

---

१. (क) स्वयम्भूलिङ्गं तन्मध्ये संरन्ध्रं पश्चिमाननम्।
ध्यायेच्च परमेशानि शिवं श्यामलसुन्दरम्॥ शा० त० उ० ४
(ख) अयं स्वयम्भूः कामबीजोपरि स्थितः। (ष० नि० श्लो० ९ कालच० टीका)

२. (क) तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी।
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संच्छादयन्ती स्वयम्॥
शङ्खावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा।
सुप्तासर्पसमा शिवोपरिलसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः॥

३. (क) अधोवक्त्रा स्थिता देवी ऊर्ध्वं पुच्छादिशोभना। ष० नि० श्लो० १०
अत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता॥
परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ता हि भुजगाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति। श्रीक्र० व० श्लो० १०
(ख) येन द्वारेण कुण्डलिन्या ब्रह्मणि गमनं तद्द्वारमाह ब्रह्मद्वारमिति। ष० नि० श्लो० ३
(ग) ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्। गो० सं०

४. पश्चिमाभिमुखी योनिः गुदमेढ्रान्तरालगा।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ते कुण्डली सदा॥
संवेष्ट्य सकला नाडी सार्धत्रिवलयाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता॥ शि० सं० ५।७९८०
सभी नाडियों के मूल को कन्द कहा जाता है—
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं खगाण्डवत्।
नाड्यस्तस्मात् समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः। षनि० श्लो० १
अर्थात् गुह्यदेश से दो अङ्गुल ऊपर एवं मेढ्र से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल का कन्दमूल है। यह पक्षी के अण्ड के समान है। इससे बाहर भी हजारों नाडियाँ निकलती हैं।

कुण्डलिनी ही विश्व की प्राणशक्ति एवं जीवशरीर में जीवशक्ति है। जीवशक्ति प्राण के आकार में अभिव्यक्त होती है। "जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकारेण तेन सा"[१]।

मनुष्य के सोने पर भी जैसे उसका निःश्वास प्रश्वास चलता ही रहता है वैसे ही कुण्डलिनी का भी निःश्वास अव्याहत रहता है। षट्चक्रनिरूपण में कहा गया है कि इस निःश्वासप्रश्वास से ही वह जगत् के जीव को धारण करती है। कुण्डलिनी का निःश्वासप्रश्वास ही जीव के प्राण के धारण का मूल आधार है। जीव के जीवत्व का आधार कुण्डलिनी ही है[२]। देहावच्छिन्नजीवात्मा का निःश्वासप्रश्वास का समष्टिरूप ही कुण्डलिनी का निःश्वासप्रश्वास है।

जीव के प्रश्वास एवं निःश्वास के साथ ही हं एवं सः ये दो अक्षर अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिए प्राण को 'हंस' कहा जाता है। जीवात्मा हंसरूप में अवस्थित है। कुण्डलिनी शक्ति इस हंस को आश्रय करती हुई स्वयं अभिव्यक्त करती है[3]। कुण्डलिनी का दो रूप—

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राणकुण्डलिनी कहा जाता है। कुण्डलिनी का यह रूप अस्थिर गतिशील व्यक्त है। कुण्डलिनी का अन्य रूप स्थिर अव्यक्त है। पराशक्ति जब इस रूप में अवस्थान करती है तभी उसकी सुप्तरूप में कल्पना की जाती है। सुप्त मनुष्य की निष्क्रियता व्यावहारिक जगत् में भी प्रत्यक्ष है। साँप जब सोता है तब कुण्डली आवर्त के रूप में सोई रहती है। इसलिए जो शक्ति सांप के समान सोती है उसे कुण्डली या कुण्डलिनी कहा जाता है[४]।

प्राणतोषिणी के मत में मूलाधार में सांप के समान कुण्डलिनी नाडी है, उस नाडी के मध्य में अवस्थिति के लिए इस शक्ति को कुण्डली कहा जाता है[५]। इसी को सर्पी भी कहा जाता है। अन्य कारण यह भी है कि कुण्डली प्राणशक्ति है, सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना जाता है[६]। यह कल्पना अतिशय प्राचीन है। गाय में जोड़ा सांप की आभूषणमूर्ति (Morlf) मेंसोपटेसिया के लेगास के राजा राजागुडिया के (King gudea of Lagash) यज्ञीय पानपात्र के गाय में प्राप्त है। इस राजा का समय प्रायः २६० ईसा पूर्व माना जाता है। भारतीय शिल्प में भी यह इतिहास प्राप्त होता है। सांप के प्राणशक्ति के प्रतीक में सामान्य जन का भी विश्वास है। सांप का स्वप्न देखने पर वंशवृद्धि मानी जाती है। प्राणशक्ति कुण्डलिनी को सर्पी मानने से एक विश्वास ही है। कुण्डल शब्द का अर्थ आवेष्टन होता है। जगन्माता महाशक्ति शब्दार्थमय विश्वसृष्टि करती है, उसको वेष्टन कर अवस्थित रहने के कारण उसे कुण्डली या कुण्डलिनी कहा जाता है[७]।

मूलाधार में स्थित कन्द को कुण्ड कहा जाता है। इस कुण्ड को जो शक्ति स्थिति के स्थान के रूप में ग्रहण करती है (कुण्ड + ला + उ + ई) वही कुण्डली है। अथवा कुण्डल कुण्डयुक्त (अस्ति अर्थ में अच् प्रत्यय) कुण्डलयुक्ता देवी अर्थात् कुण्ड को वेष्टन करके वह अवस्थित है, अतः वह कुण्डली है।

---

१. त० रा० त० ३०।६३

२. श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यथा धार्यते।
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः॥

३. (क) उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात्प्राणस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥ ष० नि० श्लो० ११
(ख) विभर्ति कुण्डलिनी शक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता। शा० त० २५।३७

४. सर्पकुण्डलिनीभावाल्लोके कुण्डलिनीमता। सि० स० ४०।२०

५. मूलाधारे सर्पवत् कुण्डलिनीभूता नाडी वर्तते तन्मध्यस्थायित्वादियं कुण्डली। प्रा० तो० परि० १।६

६. M. S. I. A. C. P. 67

७. P. T. Part II पृ० 596-97

महाकुण्डली, कुण्डली, कुण्डलिनी—जीव शरीर में मूलाधार में अवस्थिता पराशक्ति को कुण्डली या कुण्डलिनी कहा जाता है। यह उसका व्यष्टि स्वरूप है। इसी प्रकार वह चिन्शक्ति और मायाशक्ति भी है[१]। समष्टि रूप में उसे महाकुण्डली कहा जाता है। महाकुण्डली चिद्रूपिणी हैं, ब्रह्मरूपिणी है। वह परम शिव से अभिन्न है, वह सहस्रार में परम शिव को सार्द्धत्रिवलयाकार में वेष्टन करती है। शिवविन्दु के साथ एक होकर रहती है[२]। पूर्व में ही निर्दिष्ट है कि मूलाधार में स्वयम्भू लिङ्ग को कुण्डली वेष्टन करती है। कतिपय आचार्य इसको शक्ति का अचिद्रूप कहते हैं[३]। कुण्डली को ही कुलकुण्डली कहा जाता है। लक्ष्मीधर ने कुल शब्द की व्याख्या में कहा है कु = पृथिवी तत्त्व जिसमें लीन होता है वह कुल हैं। यह कुल ही मूलाधार चक्र है। क्योंकि, मूलाधार चक्र में पृथिवी तत्त्व अवस्थित है। लक्षणा के द्वारा सुषुम्णा मार्ग को कुल कहा जाता है[४]। इस सुषुम्णा में जो कुण्डली रहती है, वह कुल कुण्डली या कुल कुण्डलिनी है। इसी प्रकार कुल का अर्थ शक्ति होता है[५] कुण्डल या वृत्तविशिष्टा अर्थात् वृत्ताकार जो है वही कुण्डली है। जो कुल अर्थात् शक्ति कुण्डली है—वह कुलकुण्डली है। इस अर्थ को मानने पर महाकुण्डली को भी कुलकुण्डली कहा जाता है। साधारणतः ब्रह्माण्ड में जो महाकुण्डली पिण्ड में है, उसी को कुल कुण्डली कहा जाता है[६]। महाकुण्डली पर जीव शरीर में कुण्डली के रूप में अवस्थान करती है। महाकुण्डली ब्रह्मस्वरूपिणी है। अतः, उसका सगुण और निर्गुण दो रूप है। निर्गुण रूप में चैतन्य-स्वरूपा, आनन्दस्वरूपा, ब्रह्मानन्दप्रकाशिनी है एवं सगुण रूप में सर्वभूत प्रकाशिनी है[७]। महाशक्ति महाकुण्डली सर्वभूत प्रकाशिनी का अर्थ यह है कि वह सर्वभूत सभी वस्तु अर्थात् समग्र सृष्टि को अभिव्यक्त करती है। वही सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होती है, सृष्टि उससे भिन्न नहीं है क्योंकि, सृष्टि-स्थितिलयात्मिका है।

सार्द्ध त्रिवलयाकार का अर्थ—महाकुण्डली सार्द्ध त्रिवलयाकार में शिव को वेष्टन कर अवस्थित है। इसमें एक-एक वृत्त देवी का एक-एक रूप या अवस्था का प्रतीक है। एक वृत्तात्मिका महाकुण्डली विन्दु है द्विवृत्त समन्विता महा-कुण्डली पुरुष प्रकृति स्वरूपात्मिका है। त्रिवृत्तसमन्विता देवी इच्छा-ज्ञान-क्रिया इस त्रितयशक्ति स्वरूपा है एवं रजः सत्त्व और तमः इन तीन गुणों से समन्विता है अर्थात् त्रिगुणात्मिका है[८]। कुण्डली के सार्द्धत्रिवलय को प्रकृति उसके तीनों गुण एवं उसकी विकृति भी कहते हैं[९]। त्रिगुणात्मिका प्रकृति और उसकी विकृति है इसी के आधार पर सृष्टि होती है[१०]। त्रिवृत्त

---

१. सुषुम्णाया मूले यत्कुंडं कमलकन्दाकारमाधारक-कन्दम्। सौ० ल० १० (लक्ष्मीधर टीका)

२. S. S. पृ० ६९९।

३. G L. पृ० २१२, २१३।

४. कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलताधारचक्रम्। लक्षणया सुषुम्णा मार्गः कुलमित्युच्यते। (सौ० ल० श्लो० १० लक्ष्मीधर टीका)।

५. अकुलं शिवता मुक्तं कुलं शक्तिः प्रकीर्तिता। (बृ० त० उ० ३७)

६. Tantra As a way of Realization (S. R. C. M. Vo-II p. 188)

७. (क) सार्द्धत्रितय विन्दुभ्यो भुजङ्गी कुलकुण्डली।
निर्गुणा सगुणा देवी ब्रह्मरूपा सनातनी॥
चैतन्यरूपिणी देवी सर्वभूतप्रकाशिनी।
आनन्दरूपिणी देवी ब्रह्मानन्दप्रकाशिनी॥ (कुब्जिकावचन प्रा० तो० काण्ड १ परि०)

(ख) S. P. पृ० ३६।

८. G. L. पृ० ८६।

९. S. S. पृ० ६९८।

१०. प्रकृत्या जायते पुंसः प्रकृत्या सृज्यते जगत्।
तोयात्तु बुद्बुदं देवि यथा तोये विलीयते॥
प्रकृत्या जायते सर्वं पुनस्तस्यां प्रलीयते। नि० त० ३

या त्रिवलय के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अवगति होती है और अर्ध वृत्त के द्वारा विकृति की अवगति होती है। विकृति पूर्व प्रकृति नहीं है, किन्तु प्रकृति भी है, क्योंकि प्रकृति के द्वारा ही वह उद्भूत है। इस तत्त्व को अवगत कराने के लिए ही विकृति को अर्द्धवृत्त या अर्द्धवलय कहा जाता है, अतः सार्द्धत्रिवलय को सृष्टि का प्रतीक भी कहा जाता है। किन्तु यह भी सत्य है कि कुण्डली का शुद्ध सार्द्धत्रिवलय ही है यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उसके वलय की अधिक संख्या का भी उल्लेख मिला है। जैसे शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति के रूप में अवस्थित है[१]। यह कुण्डली ही वृत्त या वलय है। कुण्डली का इक्यानवे (९१) पर्यन्त वलय या वृत्त की चर्चा मिलती है। प्रत्येक वलय या वृत्त एक-एक मातृका वर्ण का प्रतीक है[२]।

महाकुण्डली और सृष्टि—महाकुण्डली सर्वसत्वमयी, सृष्ट्यात्मिका, नाना विचित्र क्रियोद्योग प्रपञ्चमूर्ति विश्व-स्वरूपा है[३]। वह जब आत्मलीन सुप्तावस्था का त्याग कर प्रसारित होती है तभी चित् और अचित् जगत् की सृष्टि होती है, उसका प्रसार एवं सङ्कोचन ही जगत् की सृष्टि और संहार है, इसीलिए, इसको जगत् का मूल कहा जाता है[४]। विचित्र स्थूल सृष्टि में कुण्डली शक्तिका स्थूल रूप अभिव्यक्त होता है। इसी समय इसको प्रत्यक्ष किया जाता है। इस स्थूल के अन्तराल में उसका जो सूक्ष्म रूप रहता है उस रूप में वह सर्वगामिनी व्याप्ति-व्यापकशून्य रहती है[५]। यह उसका स्वरूप है। गुरु के आश्रय में ही उसको इस रूप की उपलब्धि होती है[६]।

शक्ति का स्थिर अव्यक्त एवं अस्थिर व्यक्त ये दो रूप परस्पर अविच्छिन्न हैं। मेरु को या दण्ड को—दो प्रान्तों का दोनों रूप अविच्छिन्न है। सृष्टि में सर्वत्र कुण्डली शक्ति इन उभय रूपों में विराजमान है। उसके इन दोनों रूपों में विराजमान है। इन उभयरूपों के समवाय में ही सृष्टि है। इसीलिए सृष्टि या अभिव्यक्त पदार्थ का अणु परमाणु में ही यह उभयरूप परिलक्षित होता है। जो शक्ति व्यक्त और अचल है, उसके मूल में उसका निश्चल अव्यक्त रूप रहता है। निश्चल अव्यक्त अनन्त शक्ति निश्चल अमेय और अपरिसीम है, व्यक्त और सचल शक्ति उसी असीम समुद्र का बिन्दुमात्र है।[७]

पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड उभयत्र सृष्टि का आधार कुण्डलिनी है, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है, परापरा-स्वरूपा कुण्डलिनी पिण्ड का आधार और देहसिद्धिकारिणी है।[८]

पिण्ड ही जीवदेह है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण के भेद से जीवशरीर तीन प्रकार का है। इन तीनों देह का आधार कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी ही केन्द्रीय कील है जिसके ऊपर जीव का शारीरिक, प्राणिक और मानसिक शक्ति समवाय में जटिल देहयन्त्र आवर्तित होता है[९]। स्वरूपतः चिद्रूपिणी कुण्डलिनी ही देहावच्छिन्न जीव है। अतः देहयन्त्र

---

१. अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृत्य कुण्डलिनी भवति। शा०-उ०-॥ ४।८
पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये आठ प्रकृतियां है। दर्शनीय० ४।११

२. G. L. पृ० २१८।

३. नानाचित्रक्रियोद्योगप्रपञ्चमयविग्रहा। सि० स० ४।९६

४. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टि-संहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते। सि० ज० ४।२४

५. बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वथा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता॥ ऐ० ४।३१

६. स्वस्वरूपदशायां सा बोधनीया गुरुश्रिता। ऐ० ४।३३

७. Tantra as a way of Realization. S. R. E. M. vol II. p. 188.

८. परम्परास्वरूपा सा पिण्डाधारतयाश्रुता।
भवेत्कुण्डलिनी यद्वत् पिण्डसंसिद्धिकारिणी॥ (सि० स० ४।१८)

९. Tantra as a way of Realization. (S. R E. N. vol II p. 77-78)

भी वही है और उसको चलाती भी वही है, शुद्ध जीव नहीं, सृष्टि जिस किसी पदार्थ की सृष्टि करती है, और उस पदार्थ के रूप में प्रसूत होता है, वे उसके केन्द्रस्थल में निश्चल आत्मलीन ही अवस्थान करती है।[१] तन्त्र के इस सिद्धान्त का समर्थन आधुनिक विज्ञान से भी समर्थित है। एक अणु में प्रचण्ड शक्ति उपलब्ध होती है। जडविज्ञान ने इसको परीक्षण के द्वारा प्रदर्शित कर दिया है। किन्तु विज्ञान और तन्त्र में यह भेद है कि विज्ञान की यह शक्ति जडस्वरूप है, किन्तु तन्त्र-सिद्धान्त में यह शक्ति चिद्रूपिणी महाशक्ति का ही रूपविशेष है—यही दोनों में भेद है। विज्ञान की प्रगति एक दिन इस तन्त्रसिद्धान्त को परीक्षण के द्वारा समर्थित कर देगी।

मनुष्य शरीर को केन्द्रभूमि—जीव शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसीलिए यह कुण्डलिनी मूलाधार में सर्पाकार में सुप्त रहती है। शाण्डिल्योपनिषद् में मानव शरीर के मध्य स्थान या केन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि मध्य स्थान गुह्य देश से दो अङ्गुल ऊपर एवं मेढ्र के दो अङ्गुल नीचे रहता है।[२] यही स्थान मूलाधार है।[३] अतः निश्चल कुण्डलिनी ही देह का केन्द्रस्थान है। कुण्डलिनी के मूलाधार में अवस्थान की अन्य व्याख्या भी सृष्ट्यात्मिका षट्त्रिंशत् (३६) तत्त्वमयी शक्ति का स्थूलतम तत्त्व क्षितितत्त्व के रूप में जब प्रसूत होता है तब सृष्टिमुख में उसका कोई भी कर्म शेष नहीं रह जाता है। यह क्षितितत्त्व ही निष्क्रिय हो विश्राम करने लगता है। नरशरीर में मूलाधार ही क्षितितत्त्व का स्थान है। इसीलिए, कुण्डलिनी मूलाधार में प्रसुप्त रहती है[४]। समष्टि सृष्टि के क्षेत्र में महाकुण्डली आत्मलीन हो सहस्रार में रहती है। मनुष्य के शरीर में मस्तकशीर्ष सहस्रार का स्थान है। सर्वव्यापिनी समष्टि शक्ति का व्यष्टि के अर्थात् जीवदेह के स्थानविशेष में साधना के सौकर्म से निर्देश किया गया है। सहस्रार में शिवशक्ति की उपलब्धि होती है[५]।

पिण्ड ब्रह्माण्ड—विषय के तात्पर्य को समझने के लिए पिण्डब्रह्माण्ड के ऐक्यतत्त्व की पर्यालोचना करनी होगी। तन्त्र में सृष्टितत्त्व मौलिकतत्त्व है। षडध्वा के प्रसङ्ग में पूर्व खण्ड में भी कहा गया है। तन्त्रमत में पिण्ड क्षुद्रब्रह्माण्ड है[६]। अतः जो ब्रह्माण्ड में है वे पिण्ड में भी है।[७]

शिवसंहिता में कहा गया है देह में ही मेरु अवस्थित है। सप्तद्वीप, सभी नदियाँ समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि, मुनि, ग्रहनक्षत्र, पुण्यतीर्थ, पीठस्थान, पीठदेवता, सृष्टिसंहारकारी, भ्राम्यमाण, चन्द्रसूर्य, नभ, वायु, वह्नि, जल, पृथिवी, त्रैलोक्य में जितने प्राणी हैं, सभी इस शरीर के मेरु को वेष्टन कर अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं[८]। संक्षेप

---

१. Tantra as a way of Realization, वही

२. गुह्याद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्द्व्यङ्गुलादधः।
देहमध्यं मनुष्याणां भवेति ॥ (शा० उ० १।४।५)

३. गुदमेढ्रान्तरालस्थ मूलाधारं त्रिकोणकम्। (योगवा० १।१६८)

४. S. P., p. 41. ५. Ś. Ś. p. 683.

६. प्रतिदेहं परेशानि ब्रह्माण्डं नात्र संशयः। (नि० त० प० १०)

७. ब्रह्माण्डवर्ति यत्किञ्चित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा। (सि० स० ६।२)

८. देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देवता।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते॥ (शिवसं० २।१-४)

में यह कहा जा सकता है कि चौदहों भुवन में जो कुछ है सभी इस पिण्ड में भी है। तन्त्र आदि में पिण्ड में ही चौदहों भुवन के रहने का वर्णन मिलता है। मूलाधार के नीचे पैर के तल भाग तक सात भुवनों अर्थात् सातपातालों को एवं मूलाधार से मस्तकशीर्ष तक भू, भुव आदि सात भुवन विराजमान हैं।[१]

पिण्ड में चक्र—नरदेह शक्ति का ही रूपविशेष है। किन्तु देह में सर्वत्र शक्ति का प्रकाश एक रूप में नहीं है। कतिपय विशेष केन्द्र में शक्ति का प्रकाश प्रत्यक्ष होता है। इन्हीं केन्द्रों को चक्र कहा जाता है। मूलाधार से आरम्भ कर शरीर के ऊपर के स्थान में चक्र के होने का वर्णन मिलता है। मेरुदण्ड के मध्य में = अभ्यन्तर में सुषुम्णा नाडी है। सुषुम्णा मूल अर्थात् मूलाधारस्थ कन्द से लेकर ब्रह्मान्ध्र तक विस्तृत है[२]। इस सुषुम्णा नाडी के अन्दर ही चक्र या पद्म का स्थान है।[3] अन्य मत के अनुसार चक्र या पद्म का स्थान चित्रिणी नाडी के मध्य में माना गया है[४], किन्तु इस मत का ही विशेष प्रचार है। सुषुम्णानाडी के अभ्यन्तर में वज्रानाडी है। उसके अभ्यन्तर में चित्रिणी नाडी का स्थान है[५]। अतः सूक्ष्मविचार न करने पर द्वितीय मत में भी सुषुम्णा के मध्य में ही चक्र का स्थान माना गया है।

षट्चक्र—चक्र कहने से सामान्य रूप में मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, सहस्रार, इन छः चक्रों की अवगति होती है। ललना, सोमचक्र आदि चक्रों का भी उल्लेख शास्त्र में मिलता है।[६]

प्राणशक्ति का केन्द्रचक्र—ये चक्र प्राणशक्ति के सूक्ष्म केन्द्र हैं। सजीव मनुष्य के प्राणवायु के द्वारा ये अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य के मरने के साथ ये सभी चक्र मिल जाते हैं। अतः, शव के छेदन करने पर चक्रों का सन्धान नहीं मिलता है।

स्थूल शरीर के जिस अंश में जो चक्र का स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वे अङ्ग चक्र नहीं हैं। चक्र के स्थान को एवं चक्र की अधिष्ठात्री सूक्ष्म शक्ति को जो स्थूल स्पन्दन सञ्जात है उसे चक्र कहा जाता है। उस स्थान को व्याप्त कर चक्र अवस्थित रहता है एवं स्थान को चक्र नियन्त्रित करता है। चिद्रूपिणी महाशक्ति ही इन चक्रों के आकार में अभिव्यक्त होती हैं। शास्त्र में जिन विभिन्न चक्रों के विभिन्न अधिष्ठात्री देवता कहे गये हैं, ये उनके विभिन्न रूप हैं[७]।

चक्रोत्पत्ति की तात्त्विक व्याख्या—साधन तत्त्ववेत्ताओं ने कहा है, जब शक्ति सृष्टि परिणाम या विवर्तन की ओर दौड़ती है, तब तब शक्तिमान् का स्वरूप स्मृत होने के लिए एवं उसका आकर्षण अनुभव करने के लिए चलते-चलते मध्य में शक्तिमान् की ओर परिवर्तित होना चाहती है। इसलिए शक्ति में केन्द्रातिग एवं केन्द्रानुग ये दो गतियाँ लक्षित होती हैं, इसके फल स्वरूप शक्ति की गति कुछ समय के लिए कुछ वृत्ताकार और चक्राकार स्वरूप को धारण करती है। हैं। यह चक्राकार अवस्था योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है[८]।

---

१. शा० त० १; सिस ३।३–७।

२. मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा। (ष० नि० श्लको० १ का टीका)

३. (क) सुषुम्णाग्रन्थिसंस्थानि षट्पद्मानि यथाक्रमात्। (शा० त० उ० ४)
(ख) सप्तपद्मं मयैवोक्तं सुषुम्णाग्रथितं प्रिये। (ताराकल्प० उद्ध० ष० नि० श्लोक २ विश्वा० टी०)
(प्रत्येक शक्ति केन्द्र में अर्थात् चक्र में एक-एक पद्म है। चक्र और पद्म समानव्यापक है। अतः चक्र आदि के व्यापार में पद्म का व्यवहार होता है)।

४. मूलादिषट्सरोजातं चित्रिणीग्रथितं प्रिये।
लिङ्गोर्ध्वनाभिवृक्कण्ठभ्रूमध्यदेशजम् ॥ (मायात० ष० नि० श्लोक २ वि० ना० टी०)
मध्ये सुषुम्णा तन्मध्ये वज्राख्यालिङ्गमूलतः।
तन्मध्ये चक्रिणी सूक्ष्मा विसतन्तुसहोदरा ॥ (वही)

५. Ś. Ś., पृ० ६८२।   ६. Ś. Ś., पृ० १६६-१६७।

७. S. S. पृ० ६८७

८. पू० त० पृ० ४७

यह चक्रज्ञान विशेषकर पूर्वोक्त षट् चक्रज्ञान तन्त्र के सिद्धान्त में सिद्धि कामना करने वाले साधक को अवश्य होनी चाहिए। रुद्रयामल में कहा गया है, ये षट्चक्रार्थ को न जानने से अम्बिकापदभजन, उसका पापक्षय होने में और सिद्धिलाभ करने में सातजन्म लगता हैं। जो चक्रभेद को जानता है और सदा साधन कर्म को करता है वह एक वर्ष में ही सिद्धिलाभ करता है—यह तन्त्र का सिद्धान्त है[1]।

चक्र या पद्म का दल––चक्र को पद्म भी कहा जाता है। चक्र को पद्म के समान देखने के कारण चक्र को पद्म कहा जाता है। पद्म रहने पर उसका दल भी रहेगा। पृथक्-पृथक् पद्मों की दल संख्या विभिन्न है। जैसे मूलाधार पद्म चतुर्दल है। चक्र में योगनाडियों की संख्या के अनुसार एवं उसके अवस्थान के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार चक्र को घेर कर या उसके मध्य से चार योगानाडियाँ कही गई हैं। उस स्थान में नाड़ियाँ इस प्रकार हैं कि उनको देखने से चतुर्दल कमल के समान लगती है, अतः नाडियाँ ही पद्म की रचना करती है[2]। योगनाडियों से रचित इस पद्म को सूक्ष्म शक्ति केन्द्र का स्थूल आवरण कहा जाता है[3]।

योगनाडी––ये योगनाडियाँ स्थूल शरीर की स्नायु नहीं है। योगनाडी प्राणवायु का प्रवाह-पथ है। गत्यर्थक नड् धातु से नाडी शब्द सिद्ध होता है। जिसके मध्य से प्राणवायु यातायात करती हैं वे ही नाडियाँ हैं[4]। मानव शरीर में कितनी नाडियों की संख्या हैं, इस विषय में मतभेद है। किसी-किसी ग्रन्थ में साढ़े तीन लाख नाडियाँ कही गई है[5]। अन्य ग्रन्थ में बहत्तर हजार कही गई है[6]। किन्तु बहत्तर हजार नाडियाँ अनेक स्थलों में कही गई है। इनमे प्रधान प्राणवहा नाडी बहत्तर हैं।

प्रधान दशनाडी इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्ति, जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहु एवं शंखिनी[7] अन्य मत में चौदह प्रधान नाडी मानी गई है। ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणा, या वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, = विश्वदरी, गान्धारी, कुहु, शङ्खिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा एवं गान्धारी[8]।

---

१. षट्चक्रं न जानाति यो भजेदम्बिका पदम्।
तस्य पापं क्षयं याति सप्तजन्मसु सिद्धिभाक्॥
ज्ञात्वा षट्चक्रभेदञ्च यः कर्म कुरुतेऽनिशम्।
सम्वत्सरात् भवेत् सिद्धिरिति तन्त्रार्थनिर्णयः॥ रु० या० उ० त० पृ० २१

२. S. S. पृ० ६८५, ६८६।

३. S. S. पृ० १६४।

४. नडगताविति धातोः नड्यते गम्यतेऽनया पदव्या इति नाडी पदवी। ष० नि० श्लोक २ का० टी०

५. सार्द्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्। शि० स० २।१३

६. नाडीनां संवहो देवि कञ्जयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः।

७. तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः (निरुत्तरत० द्र० प्रातो का० श्परि० ४ पृ० ३२)
तेषु नाडी सहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता। प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्रदश स्मृताः ईडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयक, गान्धारी, हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी, अलम्बुषा कुहुरत्र शंखिनी दशमी स्मृता। ध्या० उ० ५१-५२

८. नाडीनामपि सर्वासां मुख्या गार्गि चतुर्दश।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च सरस्वती॥
वारुणी चैव पूषा च हस्तिजिह्वा यशस्विनी।
विश्वोदरी कुहुश्चैव शङ्खिनी च पयस्विनी॥
अलम्बुषा च गान्धारी मुख्याश्चैताश्चतुर्दश। यो० या०, द्र० प्रोतो का० १४-४

प्रधान तीन नाडियाँ—इन मुख्य नाडियों में भी प्रधान तीन नाडियाँ मुख्यतम हैं, इन तीनों में भी एक सर्वोत्तम है। वेदान्तवेत्ता इसको ब्रह्मनाडी कहते हैं[१]। यह ब्रह्मनाडी ही सुषुम्णा है[२]। अन्य दो नाडियाँ इडा और पिङ्गला है।

ब्रह्मनाडी—षट्चक्र निरूपण में कहा गया है कि चित्रिणी नाडी के मध्य में ही ब्रह्मनाडी है[3]। कालीचरण ने लिखा है कि चित्रिणी नाडी के अभ्यन्तर शून्य आ गया मार्ग ही ब्रह्मनाडी है। इस पथ में शब्द-ब्रह्मस्वरूपिणी कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में जाती है। ब्रह्मनाडी चित्रिणी नाडी के अभ्यन्तर है भिन्न कोई नाडी नहीं है[४]।

सुषुम्णा-बज्रा-चित्रिणी—मायातन्त्र मत के अनुसार सुषुम्णानाडी के अभ्यन्तर बज्रनाडी और उनके अभ्यन्तर में चित्रिणीनाडो है। वस्तुतः ये तीनों नाडियाँ स्वरूपत- अभिन्न हैं। महामहोपाध्याय गोपीनाथकविराजमहाशय ने लिखा है "ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा का स्रोत क्रमशः सूक्ष्मतम हो प्रवाहित होता है, उसके फलस्वरूप गुणक्रियादि की अनुभूति भी क्रमशः भिन्न होती है। इसलिए योगशास्त्रादि में वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाडी नाम की नाडी का उल्लेख मिलता है। ये तीनों नाडियाँ वस्तुतः सुषुम्णा से स्वरूपतः अभिन्न है। स्तरभेद के अनुसार विभिन्न प्रकार क्रिया की अभिव्यञ्जिका होने के लिए विभिन्न नामों से कही जाती है, अन्तिम अवस्था में ब्रह्मनाडी के रूप में सुषुम्णा का परिचय मिलता है"[५]।

निरुक्ततन्त्र के मत में सुषुम्णा, वज्रा एवं चित्रिणी मिलकर सुषुम्णा नाडी हैं। इडा और पिङ्गला की मध्यवर्ती सुषुम्णा त्रिगुणात्मिका ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका है। कार्यक्रम के भेद से वज्रा रजोगुणात्मिका, चित्रिणी सत्त्वगुणात्मिका एवं ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्णा तमोगुणात्मिका है[६]।

षट्चक्रनिरूपण के मत में मेरुदण्ड के बाह्यदेश के वामभाग में चन्द्रनाडी दक्षिण में सूर्यनाडी और मेरुदण्ड के मध्य में त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा सुषुम्णा है[७]। ये सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी नाडी त्रिरूप के भेद से त्रिसूत्ररूपा है। इसके मध्य में चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, वज्रा सूर्यरूपा दाडिमीकेशर के समान कान्तिवाली और सुषुम्णा अग्निस्वरूपा रक्तवर्णा है।

इडा और पिङ्गला—पूर्वकथित चन्द्रनाडी इडा है, इसकी स्त्री के रूप में कल्पना है। सम्मोहन तन्त्र में कहा गया है, इडा शुक्लवर्णा चन्द्रस्वरूपिणी शक्तिरूपा साक्षात् अमृतविग्रहा देवी है। सूर्यनाडी पिङ्गला है। इसकी पुरुषरूप में

---

१. अस्यां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वप्येकोत्तमोत्तमा। पृ० ३३
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥ दर्शन० ४।९

२. (१) देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्णा सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। अद्वयता० ५
(२) मूलाधारत्रिकोणस्था सुषुम्णा द्वादशाङ्गुला।
मूलार्द्धच्छिन्नवंशोभा ब्रह्मनाडीति सा स्मृता। योगशि० उ० ५।१७

३. तन्मध्ये ब्रह्मनाडी हरमुखकुहरादादिदेवान्तसंस्था। ष० नि० श्लोक २

४. शब्दब्रह्मरूपायाः कुण्डलिन्याः परमशिवसन्निधिगमनपथरूपचित्रिणीनाड्यन्तर्गतशून्यभाग इति यावत्। न तु चित्रिणीमध्ये नाड्यन्तरमस्तीति निष्कर्षः। काली टी० २

५. त० ६४-६९

६. इडायाः पिङ्गलायाश्च मध्ये या सा सुषुम्णिका।
इयञ्च त्रिगुणा ज्ञेया ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका॥
रजोगुणा च वज्राख्या चित्रिणी सत्त्वसंयुता।
तमोगुणा ब्रह्मनाडी कार्यभेदक्रमेण च॥ नि० त० प्रा० तो० का० १ परि० ४ पृ० ३२

७. मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा॥ ष० नि० १

कल्पना है, यह नाडी रौद्रात्मिका अनार के केशर की कान्तिवाली महादेवी स्वरूपिणी है।[१] । पिङ्गला नाडी को ही विष कहा जाता है[२] ।

चन्द्रसूर्य रातदिनरूपी काल का द्योतक है । इडा पिङ्गला को भी उसी काल का द्योतक माना है । सुषुम्णाकाल का भोग करनेवाली है[3] । क्योंकि, सुषुम्णा में प्राणवायु विलीन होने पर बाह्य विषयों का पुनः ज्ञान नहीं रहता है, इन्द्रियादि की क्रिया लुप्त हो जाती है[४] । हठयोग-प्रदीपिका में कहा गया है, शून्यपदवी अर्थात् सुषुम्णा प्राण का राजपथ हो जाने पर चित्त निरालम्ब हो जाता है, और तब काल वञ्चित हो जाता है[५] । अर्थात् इस अवस्था में काल का (सखण्डकाल का) अस्तित्व ही नहीं रहता है, इसीलिए सुषुम्णा को काल की भोक्त्री माना गया है ।

सुषुम्णा काल का ग्रास कर लेती है, इसकी अन्य प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है । सुषुम्णा में प्रवेश के साथ-साथ काल राज्य का आवर्तन होने से निष्कृति के लाभ का सूत्रपात होता है ।[६] इसका अर्थ है संसार के आवर्तन से निष्कृति अर्थात् मोक्ष लाभ का सूत्रपात हो जाता है । अतः सुषुम्णा काल का ग्रास करती है—यह कहा गया है ।

इडा और पिङ्गला ये दो नाड़ियाँ मूलाधार से सीधे आज्ञाचक्र पर्यन्त जाकर वहाँ से नाक के छिद्र में जाती है[७] । रुद्रयामल में कहा गया है कि शुभ नाड़ी इडा और पिङ्गला बाँई ओर से दक्षिण एवं दक्षिण से वाम इस प्रकार सीधी ऊपर की ओर उठती है कि 'सम्पूर्ण पद्म का संवेष्टन कर नाक के रन्ध्र में पहुँच जाती है ।[८] वाम नाक के छिद्र में इड़ा और दक्षिण नाक के छिद्र में पिङ्गला आती है[९] । यह सभी लोग लक्ष्य करते हैं कि कुछ क्षण निःश्वास-प्रश्वास वामनासिका में अनन्तर कुछ क्षण दक्षिण नासिका में अच्छी प्रकार चलती है । जब वाम नासिका में चलती है तब इडा में प्रवाहित होती है और जब दक्षिण नासिका में चलती तब प्राणवायु पिङ्गला में प्रवाहित होता है । किसी-किसी योगी सिद्धान्त के अनुसार जब श्वास वामनासिका में चलती है अर्थात् प्राणवायु इसमें प्रवाहित होता है तब हमलोगों की इन्द्रियाँ और मन अन्तर्मुखी हो जाते हैं । इसलिए अनेक व्यक्ति इडा को केन्द्राभिमुखी नाड़ी कहते है । अन्तर्मुखी चित्त का नाम ही चन्द्रतत्त्व है । इडा को चन्द्रस्वस्वरूपा कहने का अन्य कारण भी है ।

जिस समय प्राणवायु इडा में प्रवाहित होता है तब धारणा, ध्यान, जप, पूजादि करने का उपदेश दिया गया

---

१. वामगा या इडा नाडी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी ।
शक्तिरूपा हि सा देवी साक्षादमृतविग्रहा ॥
दक्षे तु पिङ्गला नाम पुरुषा सूर्यविग्रहा ।
रौद्रात्मिका महादेवी दाडिमी केशरप्रभा ॥ सम्मोहन त० ष० नि० टीका में बद्ध ?

२. पिङ्गलाख्या च या दक्षे पुरुषा सूर्यविग्रहा ।
दाडिमीकुसुमप्रख्या विषाख्या चापरामता । ग० त० ५।९९-१००

३. तावेव तदधः सर्वं कालं रात्रिदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ योगिया० द्रा० पा० तो० का० १।५०४ पृ ३३

४. पु० त० पृ० ६४

५. प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते । तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ह० प्र० ३।३

६. देहसाधना, हिमाद्रि १३६२ ।

७. इमे नाड्यौ मूलादृजुरूपेणाज्ञाचक्रान्तं प्राप्यनासारन्ध्रगते । (ष० नि० १ काली० टी०)

८. इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे ।
ऋज्वीभूते शिरे ते च वामदक्षिणभेदतः ॥
सर्वपद्मानि संवेष्टय नासारन्ध्रगते शुभे । (यामलवचन १ ष० नि० कालीचरण टी०)

९. इडा च वामनासायाँ दक्षिणे पिङ्गला मता (शा० त० ज्ञा० भा० वचन द्र० प्राणतो० का १।४ पृ० ३३)

है। अन्य तन्त्रों में कहा गया है वायु इडा में रहने के समय यात्रा, विवाह, एवं अन्य शुभ कर्मों को करना चाहिए।[1] इड़ा को बाह्यगति का अर्थात् जागतिकभाव की नाशकारिणी मानकर वामा नाम कहा गया है।[2]

पिङ्गला के विषय में साधन मर्मज्ञों का कहना है कि सूर्य जिस प्रकार बाहर कार्य करने के लिए कार्यक्षेत्र की ओर सञ्चालित करता है वैसे ही पिङ्गला जीव को बाह्यक्रिया-कलाप की सञ्चालित कर बहिर्मुखी बना देती है। इसीलिए पिङ्गला बहिर्मुखी नाड़ी कही जाती है। सूर्य विष्णु है, पिङ्गला सूर्य की पालनशक्ति है। अतः, पिङ्गला जाग्रत् अवस्था द्योतिका है। जब पिङ्गला में प्राणवायु प्रवाहित होता है जब सभी प्रकार के राजस कर्म करना चाहिए।[3] अन्य तन्त्र में कहा गया है कि भोजन, मैथुन, युद्ध, फलपुष्पसंग्रह तथा क्रूरकर्म आदि जब वायु पिङ्गलानाडी का आश्रयण करती है तभी करना चाहिये[4] हठयोग के द्वारा कुण्डलिनी के जागरण कराने के समय इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा इन तीनों नाड़ियों का ज्ञान आवश्यक है।

सुषुम्णा—सभी नाडियों में मुख्य नाडी सुषुम्णा है। तन्त्रों में शून्य-पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग इत्यादि विभिन्न नामों से इसका उल्लेख मिलता है।[5] इसका विशेष गौरव दिया गया है। योगशिखोपनिषद् में कहा गया है सुषुम्णा विरजा ब्रह्मरन्ध्रिणी[6] है सुषुम्णा के अन्तर्गत ही विश्व है, सभी इसी में प्रतिष्ठित है[7] हठयोगदीपिका के अनुसार बहत्तर हजार नाड़ियों में सुषुम्णा शाम्भवी शक्ति, अन्य निरर्थक है[8] यथाविधि साधना के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्षानाडी में प्रवाहित करने पर साधक मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। इसीलिए सुषुम्णा को मोक्षमार्ग कहा गया है[9]।

प्राणवायु को सुषुम्णा में विलीन होने पर ही, विषयज्ञान लुप्त हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि इस समय विषयवासवादि भस्मीभूत हो जाते हैं। इसीलिए सुषुम्णा को वह्नि स्वरूप कहा गया है। प्राणवायु के सुषुम्णा में विलीन होने पर शिवतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।[10] शिव को श्मशानवासी कहने का एक विशेष आशय है। शिव-शक्ति अभिन्न है। शिव जिस प्रकार श्मशान वासी है आद्याशक्ति भी वैसे श्मशानवासिनी है। प्राणवायु के सुषुम्णा में विलीन होने पर शक्ति-साधक को आराध्या ब्रह्ममयी के भी साक्षात्कार का सूत्रपात होता है। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त सुषुम्णा विस्तृत है[11]। षट्चक्र निरूपण की टीका में कालीचरण ने लिखा है कि सुषुम्णा के अभ्यन्तरस्थित चित्रिणी-नाडी कन्द से आरम्भ कर शिरस्थित अधोमुख सहस्र दल पद्म की कर्णिका के मध्यस्थ द्वादशदल पद्म के अधोदेश पर्यन्त यह विस्तृत है[12]। अतः चित्रिणी की आधार सुषुम्णा की एक ही जगह अवस्थित है[13]।

---

१. यात्राविवाहकर्माणि शुभकर्माणि यानि च।
तानि कर्माणि कुर्वीत वामे वायौ तु संस्थिते ॥ (द्र० शा० नि० २५-३८, शारदा टीका)

२. पू० त० पृ० ६६। ३. पू० त० पृ० ६६-६७।

४. भोजनं मैथुनं युद्धं फलपुष्पग्रहं तथा कुर्यात् क्रूराणि कर्माणि वायौ दक्षिणसंश्रिते। शा० ति० टी० २५।३८

५. सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः।
श्मशानं शम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ हृ० प० ३।४

६. सुषुम्णा तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। यो० शि० उ० ६।५

७. सुषुम्णान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्। वही ६।१३

८. द्वारसप्ततिसहस्त्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे।
सुषुम्णा शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः। हृ० प्र० ४।१८

९. तत्र सुषुम्णा विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। शा० उ० १।४।१०

१०. पु० त० पृ० ६८।

११. मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्णा सूर्याभा। मण्डल ब्रह्मोप० १।२।६

१२. ष० नि० काली० टी० पृ० १

१३. काली चरण टीका द्रष्टव्य

सामान्य मनुष्य की दृष्टि से सुषुम्णा निष्क्रिय कही गयी है। क्योंकि, उनके क्षेत्र में प्राण वायु पर्याय क्रम में इडा और पिङ्गला नाड़ी में ही प्रवाहित होती है। श्वास इडा से पिङ्गला या पिङ्गला से इडा में सञ्चारित होने के समय सुषुम्णा भेदकर आती है, किन्तु, इसमें समय बहुत अल्प लगता है। सुषुम्णा में प्राणवायु की यह क्षणिक अवस्थिति एवं साधक की चेष्टा से उत्पन्न न होने के कारण साधना में कोई सहायता नहीं होती है[१]। यथाविहित अभ्यास के द्वारा प्राण वायु का सुषुम्णा में प्रवाहित करता पड़ता है। सुषुम्णा में प्राणवायु के सञ्चार का आरम्भ होते ही सुषुम्णा जाग जाती है।

साधना में सुषुम्णा—महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि 'मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय जब अन्नमय कोष का अभिमान होता है तब इडा और पिङ्गला की क्रिया चलने लगती है, किन्तु जब सुषुम्णा जागती है तब जागरण की मात्रा के अनुसार इडा और सिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। प्राणवायु का जिस परिमाण में सुषुम्णा में सञ्चार होता है, उसी परिमाण में इडा और पिङ्गला में सञ्चरण की कमी होती है, एवं इडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। सुषुम्णा के जागरण से ही अभिमान प्राणमय कोश में क्रीडा करने लगता है। प्राणमय कोश के प्रवेश के अनुपात में अन्नमय कोश से वह हटने लगती है। अनन्तर प्राणमयकोश की क्रिया का अवसान होने पर या इस क्रियावस्था में ही गुरुकृपा या साधना के बल से वज्रिणी (वज्रा) नाडी का द्वार खुल जाता है, तब शक्ति इस नाडी का आश्रयण क्रियाशील होती है और अभिमान प्राणमयकोश का परित्याग कर मनोमयकोश का आश्रय करता है। अनन्तर बज्रिणी नाडी से चित्रिणी नाडी में प्रवेश होता है। अभिमान मनोमयकोश से विज्ञानमयकोश में चला जाता है। चरम परम अवस्था में चित्रिणी नाडी का भी परित्याग हो जाता है। उस समय यथार्थ ब्रह्मनाडी का आश्रयण कर शक्ति की क्रीडा चलती है। इस समय अभिमान (अहं) विज्ञानमयकोश से आनन्दमयकोश का आश्रय ग्रहण करता है। आनन्दमयकोश में किसी प्रकार की मलीनका नहीं है। इसीलिए अभिमान (अहं) इससे अन्यत्र नहीं जाता है। इस अवस्था में आनन्दमयकोश की सम्यक् अनुभूति विद्यमान रहती है। किसी का कहना है कि यही जीव की माता की गोद में स्थिति है। जब अभिमान (अहं) आनन्दमयकोश से भी निवृत्त होता है, तब जीवभाव समाप्त हो जाता है, उस समय महाचैतन्य या परमसाक्षी की अवस्था में स्थिति होती है। भक्त आनन्दमयकोश का भेदन करना नहीं चाहता है।[२]

सुषुम्णा और कुण्डलिनी—शास्त्रानुसार साधना करने से कुण्डलिनी को जगाने पर प्रबुद्ध कुण्डलिनी नाडी से ही उर्ध्वगमन करना है।[३] चित्रिणी नाडी के मुख में ब्रह्मद्वार है। परमशिवशक्ति के सामरस्य से निकली हुई अमृतधारा से अभिषिक्त देश में प्रवेश और वहाँ से निकलने का यही द्वार है। इसी द्वार से कुण्डलिनी परमशक्ति के समीप में गमनागमन करती है। आगमज्ञाता इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थल सुषुम्णा का मुख कहते हैं।[४]

कठोपनिषद् आदि में सुषुम्णा—कठोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् के एक मन्त्र में सुषुम्णा को अमृतलाभ का पथ = मार्ग कहा गया है। यद्यपि मन्त्र में सुषुम्णा का नाम नहीं है, किन्तु, उसमें जिस नाडी की चर्चा की गई है, मनीषिवर्ग उसे सुषुम्णा कहते हैं। यथा—

हृदय से एक सौ नाडियों में एक नाडी निकलती है, उनमें वह ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करती है। इस नाडी का अवलम्बन कर जीव मृत्यु के समय उर्ध्वगमन करता है और अमृतत्व की प्राप्ति करता है। अनेक दिशाओं में प्रसारित

---

१. पु० त० पृ० ६७

२. पु० त० पृ० ६९-७०।

३. प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद्गुणमादाय व्रजत्युर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ध्यान वि० उप० ६६।

४. ब्रह्मद्वारे तदास्ये प्रविलसति सुधाधारगम्यप्रदेशंग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लसन्ति।
ष० नि० श्लो० ३—काली टी०

अन्य नाडियों का अवलम्बन कर उत्क्रमण करने पर संसारगति मिलती है[१]।

तन्त्रादि में भी सुषुम्णा को मोक्षमार्ग कहा गया है।

षट्चक्रविवरणः-मूलाधारः—सुषुम्णा के मध्य में षट्चक्र की स्थिति मानी गई है। षट्चक्रों में सभी की अपेक्षा निम्न चक्र मूलाधार है। जीव देह में मूलाधार का सामान्य परिचय दिया गया है। सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधर की व्याख्या में उद्धृत रुद्ररहस्यवचन में कहा गया है। सर्वाधार पृथिवी का इस स्थान में मूल आधार के रूप में अवस्थान के लिए इसको मूलाधार कहा गया है। इसके अभाव में शरीर न ऊपर जायेगा न नीचे[२]।

सौभाग्यभास्कर के सिद्धान्त के अनुसार सुषुम्णा नाडी के मूल को मूलाधार कहा जाता है[3]। रुद्रयामल के अनुसार षट्चक्र का मूल होने से इसको मूलाधार कहा जाता है[४]।

मूलाधारचक्र में अधोमुख चतुर्दल पद्म है, यही ब्रह्मपद्म है[५]। कन्द और सुषुम्णा के ग्रन्थि स्थान के चार पार्श्व में पद्म का चार दल है। दल या पत्र का रङ्ग लाल है। चारो पत्रों में तप्त सुवर्ण के रङ्ग का वं शं षं सं ये चार विन्दु-युक्त वर्ण है। प्रत्येक वर्ण एक मन्त्र है एक देवता है। यं आवरण देवता है।[६] पद्म का चारो दल जन्म, मृत्यु, ज्वर और व्याधि के द्योतक है।[७] पद्म में परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द और वीरानन्द इन चार आनन्दों की स्थिति निर्दिष्ट है[८]।

मूलाधार पद्म के अधोमुख होने के कारण का निर्देश करते हुए शारदानन्दतरङ्गिणी में कहा गया है कि मूलाधार आदि पद्म सर्वतोमुखी है। जीव का दो भाव है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति संसारमुखी और निवृत्ति परमात्म-मुखी है। प्रवृतिभाव अर्थात् सृष्टिक्रम में पद्म अधोमुखी एवं निवृत्तिभाव में अर्थात् लय क्रम में ऊर्ध्वमुखी होता है।[९] कुण्डलिनी के जागने पर प्रत्येक चक्र का भेदन कर ऊपर की ओर जाने पर चक्रसमूहा उर्ध्वमुख हो जाते हैं।[१०]

मूलाधार पद्म की कर्णिका के मध्य में चतुष्कोण पीतवर्ण पृथिवी मण्डल है[११]। उसके मध्य में पृथिवीवीजलँ[१२] है लँ पृथिवी और इन्द्रबीज है। इसको गजेन्द्रवाहन के रूप में कल्पित किया जाता है।[३] लँ बोज पद्म के ऊपर अर्थात् विन्दु में सृष्टिकर्ता प्रजापति का अधिष्ठान है। उसके वामभाग में उसकी शक्ति वेदमाता सावित्री अधिष्ठिता है। ब्रह्मा

---

१. शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ क० स० २।३।१६, ६। उ० ८।६।६

२. सर्वाधारा मही यस्मात् मूलाधारतया स्थिता।
तदभावेस्तु देहस्य पातस्स्यादुद्गमोऽपि वा॥ रसौ० ल० ९ ल० व्या०

३. सुषुम्णामूलत्वात् च मूलाधार इत्युच्यते। लस० ८९ सौ० भा०

४. मूलमाधारषट्काणां मूलाधारं प्रकीर्तितम्। स० या० २७

५. पातालससकाश्चोर्द्ध्वे ब्रह्मपद्मं महेश्वरि। अधोवक्त्रं हितत्पद्मं धरामध्ये चतुर्दलन् नित० ४

६. अधोवक्त्रमुधत्सुवणभिरणैर्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः। ष० भि० ४

७. S. P. पृ० ११४-११६

८. पू० त० पृ० ४९।

९. S. P. पृ० ११४।

१०. तत्सर्वं पङ्कजं देवि सर्वतोमुखमेव च।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वौ भावौ जीवसंस्थितौ।
निवृत्तिर्योगमार्गेषु सदैवोद्धर्वमुखानि च। शा० त० पृ० ४

११. तत्कर्णिकान्तरे पृथ्वी चतुष्कोणा सुपीतमा। मायातन्त्र (T. T. Vol. II पृ० ११५)।

१२. ष० नि० श्लोक ५ (कालीच० व्या०)।

१३. इन्द्ररूपं हि लं बीजं गजेन्द्रवाहनं शिवे। (नित० पृ० ४)।

सावित्री का प्रसाद प्राप्तकर ही सृष्टि करता है[1]। सावित्री या वागीश्वरी महाशक्ति की कला एवं ब्रह्मा शिव का ही नाम है[2]। सशक्ति-ब्रह्मा इस चक्र में अधिदेवता हैं। ब्रह्माण्ड में भूलोक ब्रह्मा का स्थान है। पिण्ड में मूलाधार ही भूलोक है।[3] क्योंकि मूलाधारमें ही पृथिवीमण्डल अवस्थित है।

मूलाधारचक्र में डाकिनी शक्ति है। षट्चक्र-निरूपण में कहा गया है कि देवी डाकिनी तत्त्वबुद्धि साधक का सदा तत्त्वज्ञान सम्पादन करती है।[4] किसी-किसी तन्त्र के अनुसार डाकिनी मूलाधार चक्र की अधिष्ठात्री देवता है। अन्य चक्रों की अधिष्ठात्री यथाक्रम में राकिनी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी और हाकिनी है।[5]

इन चक्रों की धातुशक्ति भी कही गई है[6]।

वज्रानाडी के मुख के पास आधार पद्म को कर्णिका के मध्य में तथा पूर्वोक्त चतुष्कोण पृथिवीमण्डल में मध्य में त्रैपुर नाम का त्रिकोण है। इसको योनि या कामरूप पीठ भी कहा जाता है[7]।

निर्वाणतन्त्र के अनुसार त्रिकोणयोनि का अधिदेवता कन्दर्प है[8]। सम्मोहनतन्त्र के अनुसार वामा ज्येष्ठा और रौद्री त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं[9]।

स्वयम्भूलिङ्ग—गौतमीतन्त्र में कहा गया है कि मूलाधार तत्त्व[10] यह त्रिकोण इच्छा ज्ञान क्रियात्मक है। इस त्रिकोण के मध्य में कोटि सूर्य की प्रभा के समान देदीप्यमान स्वयम्भूलिङ्ग विराजमान है[11]। यह स्वयम्भूलिङ्ग गलाए हुए सोने के समान स्निग्ध और सुन्दर है। कोमल किशलय के समान उसका रूप है। वह अधोमुख है, ज्ञान और ध्यान से उसका प्रकाश होता है, अर्थात् वह सगुण और निर्गुण है[12]।

स्वयम्भूलिङ्ग साढ़े तीन वलय से वेष्टित एवं लिङ्ग छिद्र और कुण्डलिडी शयंत कर रही है। कुण्डलिनी और परमेश्वरी पराशक्ति अभिन्न है। यहा परमकला अतिशय नित्यान्दमयी है। परम शिव के साथ मिलने पर बहुत अधिक

---

१. सुसिद्धं ब्रह्मसदनं नादोपरि सुसुन्दरम्।
तत्रैव निवसेद् ब्रह्मा सृष्टिकर्ता प्रजापतिः॥
वामभागे च सावित्री वेदमाता सुरेश्वरी।
तस्याः प्रसादमासाद्य सृष्टिं वितनुते सदा॥ नि० त० पृ० ४

२. सौ० ल० अच्युतानन्द टीका श्लो० ३६।

३. सौ० ल० अच्युतानन्द टीका श्लो० ३२।

४. प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धेः। ष० नि० श्लो० ७

५. डाकिनी राकिनी चैव लाकिनी काकिनी तथा।
शाकिनी हाकिनी चैव क्रमात् षट् पङ्कजाधिपाः। ष० नि० ७

६. S. P. पृ० १२०।   ७. ष० नि० श्लो० ८ (शङ्कर व्याख्या)

८. त्रिकोणं मदनागारं कन्दर्पश्चाजिदेवता। नि० त० पृ० ४।

९. वामा ज्येष्ठा तथा रौद्रो त्रिरेखा च चतुर्भ्वतः। सम्मोहन त० ष० नि० श्लो० ८।

१०. मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके।
मध्ये स्वयम्भूलिङ्गस्तु कोटिसूर्यसमप्रभः॥ गौतमीतन्त्र वचन से उद्धृत षट्चक्र वि० T. T. Vol. पृ० ११७।

११. आधारे हृत्प्रदेशे च भ्रुवोमध्ये विशेषतः।
स्वयम्भूसंज्ञावण्णाख्यस्तथैवेतरसंज्ञकः॥
लिङ्गमयं महेशानि प्रधानत्वेन चिन्तयेत् (शाप्त पृ० ४) मूलाधार में स्वयम्भूलिङ्ग, हृदय में अर्थात् अनाहत से बाण-लिङ्ग एवं भौओं के मध्य में अर्थात् आज्ञाचक्र में अन्य लिङ्ग का ध्यान करो। ये तीन चक्र तीन लिङ्गों के स्थान हैं।

१२. तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्योज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिशलयाकाररूपः स्वयम्भूः।
ष० नि० श्लो० ९।

अमृतधारा प्रवाहित होती है, वह उस धारा को धारण करके रखती है। इसकी दीप्ति में ब्रह्माण्ड के आदि से कटाहपर्यन्त सभी प्रकाशित है यह नित्यज्ञान की उदयकारिणी है[१]।

मूलाधार पृथिवी तत्त्व एवं पादनासिका और गन्ध इन तीन तत्त्वों का स्थान है[२]। शक्ति का स्थूलतम प्रकाश केन्द्र मूलाधार है इसीलिए पञ्चमहाभूत का स्थूलतम पृथ्वी तत्व है स्थूलतमतन्मात्र गन्ध है। स्थूलतम ज्ञानेन्द्रिय नासिका है। स्थूलतम कर्मेन्द्रिय पाद है यह रसचक्र में अवस्थित या संयुक्त है। स्थूलतमतत्त्व का तन्मात्र कहने से गन्ध स्थूलतम तन्मात्र का जो गुण है गन्ध उसको ग्रहण करनेवाली नासिका स्थूलतम ज्ञानेन्द्रिय है। कर्मेन्द्रिय के स्थूलतम निर्देश का अन्य रूप में विचार किया गया है। लयक्रम में पृथ्वी जिस पर्याय में आती है पाद भी उसी पर्याय में आता है। अर्थात् लय के समय में पञ्चमहाभूत का जैसे पृथ्वी से आरम्भ होता है वैसे ही कर्मेन्द्रिय के समय पाद से आरम्भ किया जाता है। अतः पाद स्थूलतम कर्मेन्द्रिय है। पाणि पाद उपस्थ और वागिन्द्रिय अर्थात् मुख की सूक्ष्मता इसी क्रम में निर्णीत होती है[3]।

तीनों ग्रन्थियों में ब्रह्मग्रन्थि मूलाधार चक्र में रहती है[४]। इस विषय में तान्त्रिकों का मतभेद भी है। क्योंकि स्वाधिष्ठान और मणिपूर में भी ब्रह्मग्रन्थि का स्थान निर्दिष्ट होता है[५]।

मूलाधार सात भूमिका की प्रथम भूमिका शुभेच्छा[६] है। आधुनिक वैज्ञानिक की दृष्टि में इसको sacrococcygeal pleaxus या eganglion coccygeal कहते हैं।

स्वाधिष्ठान—मूलाधार के ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र है, यह षड्दल पद्म है[७]। इस पद्म का नाम भीम है।[८] स्वाधिष्ठान की अनेक व्याख्यायें हैं। कुण्डलिनी ग्रन्थि की रचना कर स्वयं अधिष्ठित हो अवस्थित होती है, अतः स्व अर्थात् स्वीय स्वाधिष्ठान है[९] अन्य व्याख्या स्व अर्थात् प्राण उसका अधिष्ठान आश्रय स्वाधिष्ठान[१०]।

स्व अर्थात् पर लिङ्ग। पर लिङ्ग का अधिष्ठान है अतः यह स्वाधिष्ठान है।[११]

अन्य व्याख्या के अनुसार इस स्थान में जीव का मन जीवात्मरूप में अधिक समय तक रहता हैं, अतः यहाँ चक्र स्वाधिष्ठान है[१२]। विभिन्न दृष्टि की भङ्गिमा ही विभिन्न व्याख्या प्रस्तुत कर रही है।

षट्चक्रनिरूपण के मत में सुषुम्णा नाडी में रचित यह पद्म लिङ्गमूल में अवस्थित है एवं सिन्दूर के समान रक्त वर्ण है। वँ भँ मँ यँ रँ लँ ये बिन्दुयुक्त छवर्ण पद्म के छः दलों में अवस्थित है। ये छः दल काम और छः रिपुओं का द्योतक है[13]।

---

१. तन्मध्ये परमा कलातिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा,
नित्यानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद्भासयाभासते,
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यप्रबोधोदया॥ ष० नि० श्लो० १२

२. द्रष्टव्य ४० श्लोक ष० नि०।

३. S. P. पृष्ठ १२५–१२६।

४. ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः। ब्रह्मविद्योपनिषद् (आकारे मूलधारे)।

५. शंकराचार्य ग्रन्थमाला पृष्ठ ५६।

६. पु० त० पृ० ५१७ S. S. पृ० ६६३ पु० त० पृ० ५२।

७. तदूर्ध्वे तु महेशानि स्वाधिष्ठानमृतुच्छदम्। षट्चक्रविवृत्ति पृ० ११९।

८. एतत्पद्मस्योर्ध्वदेशे भीमाख्यं पङ्कजं शुभम्। नि० त० पृ० ५।

९. कुण्डलिन्याः भगवत्याः स्वयमधिष्ठाय ग्रन्थिं कृत्वा अवस्थानं स्वाधिष्ठानम्। सौ० ल० श्लो० ९ लक्ष्मीधर व्याख्या।

१०. स्वशब्देन भवेत् प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः। ध्यानबिन्दु प० ४७।

११. स्वशब्देन परं लिङ्गं स्वाधिष्ठानं ततो विदुः। दे० भा० ७।३५।३६।

१२. पु० त० पृ० ४९।

१३. सौ० ल० श्लो० ९९, लक्ष्मीधरकृत व्याख्या, पु० त० पृ० ४९।

यह चक्र अप् तत्व का स्थान है। पद्मकर्णिका के मध्य में उज्ज्वल शुभ्रवर्ण अर्द्धचन्द्र के आकार का वरुण का स्थान जलमण्डल में अवस्थित है। इस मण्डल के मध्य में शरत्काल के चन्द्र के समान शुभ्र वरुण जीव वँ मकरवाहन हो विराजमान है।[१]

इस जलमण्डल में रसतन्मात्र, जिह्वा एवं पाणि ये तीनों अवस्थित हैं[२]।

पूर्वोक्त वँ बीज के मस्तक पर स्थित बिन्दु के मध्य में विष्णु विराजमान हैं[३]। उसके वाम एवं दक्षिण भाग में उनकी शक्ति श्री और वाणी हैं[४]। विष्णु का यही वैकुण्ठ स्थान है। निर्वाणतन्त्र में कहा गया है कि वैकुण्ठ के दक्षिण भाग में सभी को मुग्ध करनेवाला गोलोक है वहाँ देवी श्रीराधा और श्रीकृष्ण विराजमान हैं।

षड्दल स्वाधिष्ठान पद्म के अभ्यन्तर और भी एक पद्म है, इस पद्म में राकिनी शक्ति अधिष्ठित है[५]। इस प्रसङ्ग में षट्चक्रनिरूपण में की गई व्याख्या में कालीचरण ने लिखा है मूलाधार आदि पद्म पद्मों के प्रत्येक के अभ्यन्तर में एक एक रक्तवर्ण पद्म है। इस पद्म में डाकिनी आदि पूर्वोक्त छः शक्तियाँ अवस्थित हैं[६]।

स्वाधिष्ठान के चक्र में भुवर्लोक अवस्थित है। षट्दल पद्म के बीज कोश में मनोहर भुवर्लोक का स्थान निर्दिष्ट है[७]। स्वाधिष्ठान ही विचारणा नामक ज्ञानभूमि है[८]। सप्तचक्र जैसे सप्तज्ञानभूमि है वैसे ही अन्नमय आदि ६ कोश हैं। मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक अन्नमय कोश है। अन्नमय कोश में तमोगुण प्रधान स्थूल शरीर की अवस्थिति मानी गई है[९]।

विज्ञान की भाषा में इस चक्र को sacral plexus कहा है[१०]। मणिपूर:—स्वाधिष्ठान के ऊपर मणिपूर चक्र है। गौतमीयतन्त्र में मणिपूर की व्याख्या में कहा है। यह पद्म मणि के समान उज्ज्वल है, अतः मणिपूर है।

इस पद्म को नाभि पद्म भी कहा जाता है। षट्चक्रनिरूपण के मत में[११] स्वाधिष्ठान के ऊपर नाभिमूल में उज्ज्वल दशदलवाला नाभि पद्म है[१२]। पद्म का रंग घन सजल मेघ के समान नील है। दशदल में नील पद्म के समान रङ्ग का डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ, फँ ये दश बिन्दुसंयुक्त वर्ण हैं। पद्मकर्णिका के अन्दर में उदीयमान सूर्य के वर्णवाल त्रिकोण वह्नि-

१. तस्यान्तरे प्रविलसद्विशदप्रकाशमम्भोजमण्डलमध्ये। वरुणस्य तस्य अर्द्धेन्दुरूपलसितं शरदिन्दुशुभ्रं वङ्कारबीजममलं मकराधिरूढम् ॥ ष० नि० १५।

२. जलमण्डले पाणिरसनेन्द्रियरसतत्त्वेति। ष० नि० श्लो० ४० कालीचरण व्याख्या।

३. श्लो० १६ कालीचरण व्या०

४. तस्योर्ध्वे निवसेद्विष्णुः श्रीर्वाणीवामदक्षिणे। नि० त० पृ० ५

५. वैकुण्ठस्य दक्षभागे गोलोकं सर्वमोहनम्।
तत्रैव राधिकादेवी द्विभुजो मुरलीधरः॥ नि० त० पृ० ५

६. ष० नि० १७

७. तत्र पद्मान्तरे शकिन्याः स्थितिदर्शनात् सर्वत्र रक्तपद्मान्तरोपरि षट्शक्तीनां स्थितिरिति बोध्यम्।
काली० व्या० श्लो० १७

८. तन्मध्ये बीजकारे भुवर्लोकमनोहरम्। नि० त० पृ० ५

९. पू० त० पृ० ५१

१०. तत्पद्मं मणिवद्भिन्नं मणिपूरं तथोच्यते। गौतमीतन्त्र ३६ ॥ ष० नि० २

११. S. S. पृ० ६८३।

१२. तस्योर्द्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्वमेघप्रकाशे,
नीलाम्भोजप्रकाशैरुपहितजठरे डादिफान्तः सचन्द्रैः।
ध्यायेद्वैश्वानरस्यारुणमिहिरसमं मण्डलं तत्त्रिकोणं,
तद्बाह्ये स्वस्तिकाख्यैस्त्रिभिरभिलषितं तत्र वह्नेः स्वबीजम् ॥ ष० नि० श्लो० १९

मण्डल है। त्रिकोण के बाहर तीन स्वस्तिक चिह्न एवं मध्य में वह्निबीज रँ हैं। यह वह्निमण्डल हो तेजस्तत्त्व का स्थान है। वह्निमण्डल में रूप, चक्षुः एवं वायु ये तीन तत्त्व अवस्थित हैं[१]।

साकार वह्नि बीज रँ मेषवाहन है[२]। इस बीज के क्रोड में शुद्ध सिन्दुरवर्ण रुद्र का वास है[३]। रुद्र के वाम भाग में महाविद्या भद्रकाली शोभायमान है[४]।

इस चक्र में सर्वशुभकरी लाकिनी शक्ति अधिष्ठिता है। लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, तृष्णा, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, मोह, घृणा एवं भय ये दश वृत्ति चक्र के सङ्ग से युक्त हैं[५]।

यह मणिपूर चक्र स्वर्लोक है[६]। यह तनुमानसा नाम की ज्ञानभूमि है। स्वाधिष्ठान से मणिपूर तक प्राण-मय कोश है[७]।

किसी के मत में यह Solar Plexuy[८] है।

अनाहत :—मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय में अनाहत चक्र है। इस स्थान में शब्द ब्रह्ममय अनाहत शब्द का प्रत्यक्ष होता है, इसीलिए अनाहत चक्षु कहा जाता है[९]।

अनाहत द्वादश पद्म का रङ्ग बन्धुक पुष्प के समान है। द्वादश दल में कँ खँ गँ घँ ङँ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ ठँ ये सिन्दुर के रङ्ग का विन्दु युक्त द्वादश वर्ण विद्यमान है[१०]।

यह मरुत् और वायु तत्त्व का स्थान है। पद्म की कर्णिका में धूम्रवर्ण षट्कोण सुन्दर वायु-मण्डल है[११]। इस मण्डल के मध्य देश में वायुबीज यँ है[१२]। यँ का कृष्णसारमृग वाहन है[१३]। इस वायु-मण्डल में स्पर्श, त्वक् एवं उपस्थ ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं[१४]।

यह चक्र महर्लोक है। निर्वाण तन्त्र के मत में यह मानसपूजा का स्थान है। योगी इस स्थान में मानस याग करते हैं[१५]। यहीं देवी का रूप प्रकाशित होता है। सौभाग्यभास्कर में उद्धृत एक अभियुक्त वचन मिलता है। "अरे

---

१. वह्निमण्डले वायु चक्षुरिन्द्रियरूपतत्त्वेति। ष० नि० ४० श्लो० काली धरणश्च
२. राकारं वह्निबीजं सदैव मेषवाहनम्। नित० पृ० ६
३. तत्क्रोडे रुद्रमूर्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दुररागः। ष० नि० २०
४. भद्रकाली महाविद्या वामभागेन शोभिता। नि० त० पृ० ६
५. अभ्यन्तरे लाकिनी सा सकलशुभकरी वेदबाहूज्ज्वलाङ्गी। ष० नि० श्लो० २१
६. S. P. पृ० १४१।
७. स्वर्लोकाख्यमिदं देवि सर्वदेवैः प्रपूजितम्। नि० त० पृ० ६
८. S. S. पृ० ९८३।
९. शब्दब्रह्ममयं शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।
अनाहताख्यं तत् पद्मं मुनिभिः परिकीर्तितम्॥ दे० भा० ७।३५।४१
१०. तस्योर्ध्वे हृदि पङ्कजं सुललितं बन्धुककान्त्योज्ज्वलं,
काद्यैर्द्वादशवर्णकैरुपहितं सिन्दुररागान्वितैः। ष० नि० श्लो० २२
११. वायोर्मण्डलमत्र धूमदृशं षट्कोणशोभान्वितम्। ष० नि० श्लो० २२
१२. मण्डलस्य मध्यदेशे वायुबीजं मनोहरम्। नि० त० पृ० ७
१३. ष० नि० श्लो० २३ कालीचर व्या०
१४. वायुमण्डले उपस्थत्वगिन्द्रियस्पर्शतत्त्वेति। ष० नि० श्लो० ४० काली०
१५. महर्लोकमिदं भद्रे पूजास्थानं सुरेश्वरि।
अत्रैव मानसं यागं कुरुते योगवित्तमः॥ नि० त० पृ० ७

ईश्वरि ! आनन्द स्वरूप अनाहत नाम के स्थान में नाद रूप में परिणत तुम्हारा रूप साधकों के अन्तर्मुखीमानस से प्रत्यक्ष होता है, उस समय वे लोग रोमाञ्चित हो आनन्दाश्रु को प्रवाहित करते हैं[१]।

अनाहत चक्र को कल्पतरु कहा जाता है। यह कल्पतरु अभीष्ट फल को प्रदान करता है[२]।

महर्लोक-ईश्वर का स्थान है। वायुबीज के मध्य में ही करुणानिधान अमल सूर्य के समान सुन्दर ईश्वर प्रतिष्ठित है[३]। ईश्वर के वामभाग में उसकी शक्ति त्रिलोकशक्ति भुवनेश्वरी प्रतिष्ठिता है[४]। इस चक्र में नवीन विद्युत् के समान पीतवर्णा त्रिनेत्रा शुभदायिनी काकिनी शक्ति है[५]।

कालीचरण ने षट्चक्र निरूपण की व्याख्या में कहा है कि द्वादशदल कमलकर्णिका में एक रक्तपद्म के ऊपर काकिनीशक्ति अधिष्ठिता है[६]।

षट्चक्र निरूपण के मत में इस पद्मकर्णिका के मध्य में त्रिकोणाकारशक्ति अवस्थिता है। कोमल शरीर यह शक्ति कोटिविद्युत् के समान उज्ज्वल है[७]। कालीचरण ने इस प्रसङ्ग में कहा है कि त्रिकोण वायुबीज (यँ) अधोदेश में स्थित है[८]। यह त्रिकोण अधोमुख है[९]।

इस त्रिकोण के मध्य में कनकाकार अङ्गराग के द्वारा उज्ज्वल बाणलिङ्ग अधिष्ठित है। बाणलिङ्ग के मस्तक पर अर्द्धचन्द्र विन्दु है। मणि के छिद्र के समान इस विन्दु में सूक्ष्म छिद्र है। यह बाणलिङ्ग कामोद्गम के लिए अर्थात् कामना के उन्मेष के लिए अतिशय मनोहर है[१०]।

कालीचरण ने कहा है हृदय में स्थित अनाहत पद्मकर्णिका के अधोदेश में ऊर्ध्वमुख आठ दलवाला रक्तवर्ण का एक कमल है। इस पद्मपर मानसपूजा करनी चाहिए[११]। यही पद्म कल्पतरु है। यहीं सुन्दर चन्द्रातप से सुशोभित इष्ट देवता का आसन है। यह आसन विविध पुष्प और फल से सुशोभित है। मधुर पक्षियों के कलरव से मनोरम है। यहाँ साधक अपने कल्पोक्त विधान से इष्टदेवता का ध्यान करे[१२]।

---

१ आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे नादात्मना परिणतं तव रूपमीशे।
प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्याः ॥ ल० स० २१८ सौ० भा०

२. नाम्नाऽनाहतसंज्ञकं सुरतरुं वाञ्छाभिषिक्तं प्रदम्। ष० नि० २२

३. ध्यायेत्'''तन्मध्ये करुणानिधानममलं हंसाभमीशाभिधम्। ष० नि० श्लो० २३

४. या विद्या भुवनेशानी त्रिषु लोकेषु पूजिता।
ईश्वरस्य वामभागे सा देवी परितिष्ठति ॥ नि० त० पृ० ७

५. अत्रास्ते खलु काकिनी नवतडित्पीता त्रिनेत्रा शुभा। ष० नि० २४

६. अत्र कर्णिकायां रक्तपद्मोपरि काकिनीशक्तिः। ष० नि० पृ० ३६

७. एतन्नीरजकर्णिकान्तरलसच्छक्तिस्त्रिकोणाभिधा।
विद्युत्कोटिसमानकोमलवपुः सास्ते तदन्तर्गता। ष० नि० श्लो० २५

८. एतत्त्रिकोणं वायुबीजस्याधोदेशे। काली० ष० नि० २५

९. शक्तिरित्यनेन त्रिकोणस्याधोमुखत्वं ज्ञापितम्। ,, ,,

१०. बाणाख्यः शिवलिङ्गकोऽपि कनकाकाराङ्गरोगोज्ज्वलो मौलौ सूक्ष्मविभेदयुङ्मणिरिव प्रोल्लसल्लक्ष्म्यालयः। ष० नि २५

११. हृदयपद्मस्य कर्णिकाधोदेशे ऊर्ध्वमुखरक्तवर्णाष्टदलपद्ममित्यर्थः। एतत्पद्मोपरि मानसपूजा कार्या। ष० नि० श्लो० २५ टीका

१२. तन्मध्येऽष्टदलं रक्तं तत्र कल्पतरुं तथा।
इष्टदेवासनं चारु चन्द्रातपविराजितम् ॥
तथा—नानापुष्पफलैर्युक्तं मञ्जुवाक् पक्षिशोभितम्।
तत्र ध्यायेदिष्टदेवं तत्तत्कल्पोक्तमार्गतः। ष० नि० २५ की टीका

महानिर्वाण तन्त्र में इस अष्टदल पद्म को आनन्द कन्द कहा जाता है[१]। अनाहत चक्र में ही पुरुष अर्थात् जीवात्मा अवस्थित है[२]।

कालीचरण ने कहा है स्थिर दीपशिखा के समान हंसरूपी जीवात्मा एवं वाणलिङ्ग के अधोदेश में वह अवस्थित है[3]।

अनाहत चक्र में आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दम्भ, विकलता, अहंकार, विवेक, लोलता, चंपलता, कपट, वितर्क अनुपात इन बारह वृत्तियों का अवस्थान माना गया है[४]।

इसी चक्र में विष्णुग्रन्थि अवस्थित है। योगशिखोपनिषद् के मत में विष्णुग्रन्थि अनाहत का कपाट है[५]।

यह चक्र ही सत्तापत्तिनाम की ज्ञानभूमि है। मणिपुर से अनाहत पर्यन्त मनोमय कोश है[६]। किसी-किसी ने इस चक्र को earbiac Plexus कहा है[७]।

विशुद्धाख्य—अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठ देश में धूम्र वर्ण का निर्मल पद्म विशुद्ध का स्थान है[८]। इस पद्म में जीव हंस का अर्थात् आत्मा का दर्शन प्राप्त करता है और वहाँ विशुद्ध हो जाता है। इस विशुद्ध अद्भुत पद्म को आकाश कहा जाता है[९]।

यह पद्म सोलह दल का है। सोलह दल में बिन्दुयुक्त सोलह स्वर वर्ण अवस्थित हैं। इन स्वर वर्णों का रङ्ग लाल है। निरन्तर योगाभ्यास से विषयानुरागरूप मलिनता दूर होती है और बुद्धि निर्मल हो जाती है, निर्मल बुद्धि होने पर वर्णों का प्रत्यक्ष हो जाता है[१०]।

इस कर्णिका के मध्य में वृत्ताकार शुभ्र पूर्ण चन्द्र युक्त नभोमण्डल है[११]। नभोमण्डल के मध्य में है व्योम बीज है, यह बीज तुषार के समान शुभ्रगज के उपर स्थित है[१२]।

इस बीज के अंक में गिरिजा के साथ अभिन्न शरीर अर्थात् अर्धनारीश्वर त्रिनयन, पञ्चानन, ललित हैमदशभुज व्याघ्रचर्मधारी स्वनाम-प्रसिद्ध सदाशिव विराजमान हैं[१३]।

सदाशिव की अर्द्धाङ्गरूपिणी गिरिजा ही गौरी हैं। अतः इस चक्र के अधिदेवता सदाशिव और उसकी शक्ति गौरी है। लोभतत्व का स्थान पूर्वोक्त नभो मण्डल है। नभो मण्डल में शब्द, श्रोत्र, वाक् ये तीन तत्व अवस्थित हैं[१४]।

---

१. Gr. L. पृ० ११९

२. अनाहताख्यं तत्पद्मं पुरुषाधिष्ठितं परम्। गौतमीयतन्त्रद्रष्टव्य षट्चक्र विवृत्ति पृ० १२२

३. तदधः स्थिरतरदीपकलिकाकारहंसरूपी जीवात्मा। ष० नि० पृ० १६

४. S. P. पृ० १४१

५. अनाहतकपाटं विष्णुग्रन्थिम्। योगशिखोपनिषद्। १।८।७०

६. पु० त० पृ० ५१

७. एश० एश० पृ० ६८४

८. विशुद्धाख्यं कण्ठे सरसिजममलं धूमधूम्रावभासम्। ष० नि० २८

९. विशुद्धिं तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महाद्भुतम्। दे० भा० ७।३५।४३

१०. स्वरैः सर्वैः शोणैर्दलपरिलसितैर्दीपितं दीप्तबुद्धेः। ष० नि० २८

११. समस्ते पूर्णेन्दुप्रथिततमोनभोमण्डलं वृत्तरूपं। ष० नि० २८

१२. तदन्तर्व्योमबीजञ्च शुक्लं हैमगजस्थितम्। भूतशुद्धितन्त्रवचन। द्र० ष० नि० २८

१३. मनोरंकेनित्यं निवसतिगिरिजाभिन्नदेहोहिमाभः।
त्रिनेत्रः पञ्चास्यो ललितदशभुजो व्याघ्रचर्माम्बराढ्यः।
सदापूर्वो देवः हिमइति च समाख्यानसिद्धप्रसिद्धः। ष० नि० २८

१४. नभोमण्डले वाक् श्रोत्रेन्द्रियशब्दतावेति। ष० नि० श्लो० ४० काली०

विशुद्धाख्यचक्र जनलोक है[१]।

पद्म की कर्णिका के मध्य में सस्यहीन अर्थात् निष्कलंक पूर्ण चन्द्रमण्डल अवस्थित है। योगैश्वर्याभिलाषि शुद्धेन्द्रिय व्यक्ति के पक्ष में यह चन्द्रमण्डल मोक्ष का द्वारस्वरूप है[२]।

इस चन्द्रमण्डल में ही शाकिनीशक्ति अवस्थित है[३]। विशुद्धाख्य चक्र में निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत एवं पञ्चम यह सूक्ष्म सात स्वर वर्तमान हैं (प्रचलित स्वरसप्तक से यह भिन्न है) एवं हूँ, फट्, वौषट्, स्वधा, स्वाहा ॐ नमः यह अवस्थित है। इस पद्म के अष्टम दल में विश्व और सोलहवें दल में अमृत है। विष ध्वंसात्मक है और अमृत सृष्ट्यात्मक शक्ति का प्रतीक है[४]।

यह चन्द्र ही अंशशक्ति नामक ज्ञानभूमि है अनाहत से विशुद्ध नामक चक्र तक विज्ञानमय कोश है[५]

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, कोश में रजोगुणप्रधान सूक्ष्म देह स्थित है[६]।

अर्थात् इस कोशत्रय का तपना ही सूक्ष्म देह गठित है। विशुद्धाख्य कोई कोई (Laryngeal Plexus)

ललनाचक्र या कालचक्र—विशुद्धचक्र के ऊपर आज्ञाचक्र के नीचे तालुमूल में एक अप्रधान चक्र है, इसको ललनाचक्र या कालचक्र कहा जाता है। यह छः चक्रों के अन्तर्गत नहीं है। यह द्वादश दल रक्तवर्ण का कमल है। इसमें श्रद्धा सन्तोष अपराध-दम, मान, स्नेह शुद्धताअरति, सम्भ्रम एवं ऊर्मि ये वृत्तियाँ अवस्थित है[७]।

आज्ञाचक्र—विशुद्धाख्या चक्र एवं ललनाचक्र के ऊपर आज्ञाचक्र है। यह शुभ्र वर्ण द्विदलपद्म है।[८] भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र अवस्थित है। कण्ठ और तालुमूल का भेदन कर जब कुण्डलिनी ऊपर को उठती है तब भ्रूमध्य में अवस्थित कल्याणमय द्विदलपक्ष में प्रवेश करता है। ह और क्ष ये दो वर्ण द्विदल में अवस्थित हैं यही दल मन का स्थान है।[९]

रुद्रयामल के मत के अनुसार इस चक्र में गुरु की आज्ञा संक्रान्त होती है अतः इसको आज्ञाचक्र कहा जाता है।[१०]

भास्करराय के सिद्धान्त के अनुसार भ्रूमध्यस्थ द्विदल पद्म में आज्ञा करनेवाले श्रीगुरु के अवस्थान के कारण इसे आज्ञाचक्र कहा जाता है।[११]

इस द्विदल पद्म को ज्ञानपद्म भी कहा जाता है। निर्वाणतन्त्र में कहा गया है कि विशुद्ध नामक चक्र के ऊपर में सुदुर्लभ द्विदल ज्ञानपक्ष है। यह पूर्णचन्द्र का मण्डल है।[१२]

---

१. पद्ममध्ये वराटे च जनलोकसुसुन्दरम्। नि० त० ८

२. सुधांशोःसम्पूर्णं शशपरिरहितं मण्डलं कर्णिकायां महामोक्षद्वारं श्रियमभीमतनीलस्य शुद्धेन्द्रियस्य। ष० नि० ३०

३. तत्रास्ते शाकिनी शक्तिः सुधान्धोर्मण्डले शुभे। प्रेमयोगतरंगिणी वचन ष० नि० श्लो० ३० कालीचरण।

४. S. P. १४१।

५. पू० त० १५१।

६. एस० एस० पृ० ६८४।

७. एस० पी० १२५।

८. आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वं तु शुक्लं द्विदलमण्डितम्। ष० नि० श्लोक ३२–कालीचरण।

९. तालुकण्ठं प्रविश्योद्ध्वं भ्रूयुगान्तेस्थितं शुभम्।
   द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां मनोधिष्ठितमम्बुजम्॥ षं० नि० ३२ कालीचरण।

१०. आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञातिकीर्तितम्। रु० या० उ० त० पृ० २७।

११. भ्रूमध्ये द्विदलपद्मे आज्ञाचक्रस्य श्रीगुरोरवस्थानादाज्ञाचक्रसंज्ञा। ना० स० सौ० भा० ९०।

१२. एतत्पद्मस्योर्ध्वदेशे ज्ञानपद्मं सुदुर्लभम्।
   पत्रद्वयसमायुक्तं पूर्णचन्द्रस्थमण्डलम् ॥ नि० त० पृ० ९

इस चक्र का भेदन करने पर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने से इसको ज्ञानपद्म कहा जाता है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत लम्बिकाग्र (ललना) एवं आज्ञा ये चक्र अज्ञान राज्य के अन्तर्गत हैं। यह सत्य है कि अधोवर्तिचक्र की अपेक्षा ऊपर के चक्र में शक्ति की सूक्ष्मता तथा निर्मलता का अधिक विकास होता है, तथापि ये अज्ञान सीमा के अन्तर्गत हैं इसमें संशय नहीं है। ज्ञानसंचार के साथ आज्ञाचक्र का भेदन होने पर या किसी प्रकार से आज्ञाचक्र का भेदन होने पर ही ज्ञान का उदय होता है।[1]

आलोच्य द्विदल पद्म की कणिका के मध्य में चन्द्र के समान शुक्ल वर्ण हाकिनी शक्ति अधिष्ठित है।[2]

इस पद्मकणिका के मध्य में योनि या शक्ति त्रिकोण एवं उसके मध्य में विद्युन्माला के समान उज्ज्वल इतर नामक शिवलिङ्ग है और शक्ति स्थान (परमकुल पद) एवं ब्रह्म नाड़ी का प्रकाशक आदि बीज ॐ है।[3]

द्विदल पद्म की कणिका के मध्य में हाकिनी आदि का अवस्थान है इस रूप में चिन्तन करे। हाकिनी शक्ति उसके ऊपर त्रिकोण के मध्य में इतर लिङ्ग उसके ऊपर त्रिकोण का मध्य प्रणव उसके ऊपर मन।[4] मन के ऊपर चन्द्र मण्डल में हंस के क्रोड में शक्ति के साथ परमशिव विराजमान है।[5]

इस हंस को निर्वाणतन्त्र में शम्भु बीज कहा गया है। परबिन्दु शिवशक्त्यात्मक है ओंकार का जो बिन्दु है[6] वह परबिन्दु का प्रतीक है अतः यहीं सशक्ति परम शिव या परम शिव का अधिष्ठान है[7]।

इस परम शिव को शम्भु भी कहा जाता है[8]।

परम शिव की शक्ति को सिद्धकाली कहा जाता है।[9]

ब्रह्मा विष्णु ईश्वर सदाशिव एवं परशिव रुद्र ये छः शिवमूलाधार अन्य चक्रों में अधिष्ठित हैं।[10] त्रिकोण में जो प्रणव की बात कही है। षट्चक्रनिरूपण के मत में यह प्रणव शुद्ध बुद्धिस्वरूप अन्तरात्मा है। प्रदीपशिखा के समान उज्ज्वल प्रणव इस रूप में विद्यमान है। आकार उकार की सन्धि करने पर ओ होता है। इस ओकार के ऊपर अर्धचन्द्र एवं उसके ऊपर बिन्दु रूपी म (ॐ) है।[11]

---

१. श० सा० १६१।

२. तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवला, बक्त्रिषटकं दधाना। षाग ३२

३. योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशं, विद्युन्मालाविलासं, परमकुलपदं ब्रह्मसूत्रप्रबोधं, वेदानामादि बीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत्क्रमेण। ष० च० नि० ३३।

४. एवं च कर्णिकायां हाकिनीशक्तिस्तदूर्ध्वे त्रिकोणे इतरलिङ्गं तदूर्ध्वे त्रिकोणे प्रणवस्तदूर्ध्वे मनइत्येवं क्रमेण चिन्तये-दिति। ष० नि० कालीचरण।

५. तदूर्ध्वे चन्द्रमण्डले हंसक्रोडे परमशिवः। सशक्तिक इति। ष० नि० ३८ कालीचरण।

६. शम्भूबीजं हि तन्मध्ये साकारं हंसरूपकम्। नि० त० पृ० ९

७. षं० नि० श्लो० ३७ कालीचरण।

८. तवाज्ञाचक्रं तपनशक्तिकोटिद्युतीधरं परं शम्भुं वन्दे परिमीलितपार्श्वं परिचिता। सौ० ल० ३३

९. वामभागे सिद्धकाली सदानन्दस्वरूपिणी। नि० त० पृ० ९

१०. ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
तत: परशिवो देवि षट्शिवाः परिकीर्तिता।
साराषोढान्याधिकारतन्त्रवचनः। षट्चक्रवृत्तिः द्र० ट० १२४

११. तदन्तश्चक्रेऽस्मिन्निवसति सततं शुद्धबुद्ध्यन्तरात्मा।
प्रदीपाभज्योतिःप्रणवविरचनारूपवर्णप्रकाशः।
तदूर्ध्वे चन्द्रार्धस्तदुपरिविलसद्बिन्दुरूपीमकारः। ष० नि० ३५

षट्चक्रनिरूपण में कहा गया है कि उसके ऊपर अवान्तर नाद है। यह बलराम के समान अतिशय शुभ्र और चन्द्र के समान किरण की वर्षा करने वाला है।[1]

मूलाधार से विशुद्ध चक्रतक पांच चक्र में पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्र, पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय इस प्रकार कुल बीस स्थूल तत्वों की स्थिति कही गयी है। आज्ञाचक्र में सूक्ष्म मन की स्थिति भी कहीं गयी है। कंकालमालिनी तन्त्र में कहा गया है कि आज्ञाचक्र में हाकिनी शक्तियुक्त उत्तम तैजस मन देदीप्यमान होता है। यह मन प्रकृति बुद्धि और अहंकार के द्वारा लक्षित होता है।[2]

शैवशाक्त दर्शन के अनुसार प्रकृति प्रकृति भी है और अन्य दृष्टि से विकृति भी है। शारदातिलक के अनुसार मूलभूत अव्यक्त पर वस्तु की विकृति है और इससे गुण एवं त्रिगुणात्मक अन्तःकरणात्मक महतत्त्व का उद्भव होता है और इससे सृष्टि भेद से त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न होता है।[3]

विकृति का अर्थ प्रतिविम्ब होता है। परवस्तु की प्रतिविम्ब रूप में ही महातत्व आदि प्रकृतिरूप में प्रकृति है[4]। शैवदर्शन में बुद्धितत्व को ही सांख्यदर्शन में महत्तत्व कहा जाता है।[5]

महत्तत्व त्रिगुणात्मक अन्तःकरणात्मक है। अन्तःकरण से मन बुद्धि अहंकार और चित्त की अवगति होती है।[6] ये चार अन्तःकरण चतुष्टय हैं। तत्वरूप में संकल्प-विकल्पात्मक मन का उद्भव तैजस या राजसी अहंकार से होता है।

पूर्वोक्त मत से यह भिन्न है।[7]

तत्वों की सृष्टि क्रम के अनुसार प्रकृति से महतत्त्व या बुद्धि, महतत्व से अहंकार, अहंकार से मन उत्पन्न होता है अतः प्रकृति, बुद्धि एवं अहंकार के द्वारा मन लक्षित होता है। कंकाल मालिनी तन्त्र का यह विषय आज्ञाचक्र में प्रकृति से मनस्तत्त्व पर्यन्त अवस्थित है किन्तु साधारणतः संक्षेप में आज्ञाचक्र में मनस्तत्व का स्थान कहा गया है[8]।

आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थि अवस्थित है[9]। इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि भास्करराय ने लिखा है कि प्रत्येक चक्र में दो दो ग्रन्थियाँ अवस्थित हैं, एक आदि में दूसरी अन्त में[10]। किन्तु साधारणतया मूलाधार, अनाहत एवं आज्ञाचक्र में यथाक्रम में ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि इन तीन ग्रन्थियों का ही स्थान निर्दिष्ट है। भास्कर राय कथित उभयग्रन्थि का नाम ही ब्रह्मग्रन्थि, अनाहतचक्रस्थ उभयग्रन्थि का नाम विष्णुग्रन्थि एवं आज्ञाचक्रस्थ उभयग्रन्थि का नाम रुद्रग्रन्थि है। भास्करराय ने किसी चक्र की ग्रन्थि का नाम नहीं दिया है।

आज्ञाचक्र ही सर्वदेव दुर्लभ तपोलोक है।[11] आनन्दमयकोश पदार्थभाविनी नामक ज्ञानभूमि है। विशुद्ध नामक

---

१. तदूर्ध्वे नादोऽसौ बलधवलसुधाधारसन्तानहासी। षं० नि० ३५

२. मनश्चात्र सदाभाति हाकिनीशक्तिलक्षितं।
बुद्धिप्रकृत्यहंकारा लक्षितं तैजसं परम्॥ कंकालभामिनी तन्त्र पृ० २४

३. मूलभूतास्ततो व्यक्ताऽविकृतात् परवस्तुनः। आसीत्किलमहतत्त्वं गुणान्तःकरणात्मकम्।

४. विकृतादिति इदं परवस्तुनः प्रतिविम्बत्वेन विकृतिरूपं महतत्त्वादीनां प्रकृतत्वात् प्रकृतिनामकत्त्व। ष० नि० ४० का०

५. सैव बुद्धिर्महन्नामतत्त्वं सांख्ये निगद्यते। ईशानशिवेचि० द्र० द्र० १-१७ चित्र

६. अन्तःकरणमात्मनः..........मनोबुद्धिरहंकारचित्तञ्च परिकीर्तितम्। शारदातिलक १३६

७. यच्चापरंमनस्तत्त्वं ससंकल्पविकल्पकं तैजसादेव संजातम्। शा० ति० टीका १-१९।

८. एस० पी० पृ० १२९

९. आज्ञाकपाटे रुद्रग्रन्थौ। योगशिखोपनिषद् भाष्य १-८७।

१०. आज्ञाचक्रेषु प्रतिचक्रमाधस्तयोर्द्वौ द्वौ ग्रन्थी। ल० स० ८९ सौ० भा०

११. तपोलोकमिदं भद्रे सर्वदेवस्य दुर्लभम्। नि० त० ९

चक्र से आज्ञापर्यन्त आनन्दमयकोश है[१]। आनन्दमयकोश सत्त्वगुणप्रधान कारण देहावस्था है।[२] मूलाधारादि पद्म की दल संख्या पचास हैं एवं इन दलों में संस्कृतवर्णमाला के पचास वर्णों के अवस्थान का निर्देश मिलता है। प्रत्येक वर्ण एक मन्त्र है, एक देवता हैं, इसके अतिरिक्त प्रत्येक पद्म में विशेष देवता की स्थिति का यथास्थान वर्णन मिलता है।

चक्र में मनोनिवेश का फल—

६ चक्रों के प्रत्येक चक्र के ध्यान में मन को निविष्ट करने से अनेक फल तन्त्र आदि में वर्णित हैं। जैसे—षट्चक्रनिरूपण में स्वाधिष्ठान में मन निविष्ट करने पर यह फल कहा गया है :—जो मानव स्वाधिष्ठान अमलपद्म की चिन्ता करता है उसके अहङ्कार दोष आदि समस्त शत्रु तत्क्षण विनष्ट हो जाते हैं और वे योगियों में श्रेष्ठ होते हैं एवं सूर्य जैसे अन्धकार को नाश करते हैं वैसे ही वे मोहरूपी अन्धकार को नाश करते हैं। उनका अमृतवर्षण करनेवाले वाक्य का सौन्दर्य गद्य और पद्य रचना में प्रकाशित होते हैं[३]।

इस प्रकार के फलों से अतिरिक्त चक्रविशेष में मनको स्थित करने का एक और भी मार्ग है। साधन मार्ग के मर्मज्ञों का कहना है कि जगत् से जगन्नाथ के पास जाने के मार्ग में जिन जिन शक्तियों और ज्ञान का स्फुरण होता है तथा जो अभिज्ञताएँ प्राप्त होती हैं ऋषिगण उन रहस्यों को चक्रों में अनुभव करते हैं। दर्शन विज्ञान का, ज्ञानभूमि का तथा साधन रहस्यों का सभी तत्त्व इस चक्र में निहित हैं।

चित्त में जिस भाव के संचार करने की इच्छा साधकों को होती है उस भाव के केन्द्रभूत जो चक्र हैं उनमें मन स्थिर करते ही उस भाव का स्मरण स्वतः हो जाता है इसको सभी साधकों ने स्वीकार किया है[४]।

आज्ञाचक्र के ऊपर चक्र—षट्चक्र के विवरण के साथ यदि सहस्रार का विवरण प्रस्तुत न किया जाय तो कुण्डलिनी जागरण का विषय असम्पूर्ण ही रह जायेगा। आज्ञाचक्र के ऊपर और सहस्रार चक्र के नीचे एक चक्र है। चक्रों की संख्या में मतभेद है। किसी मत में सोलह और किसी के मत में अनेक। आज्ञाचक्र के ऊपर से सहस्रार के नीचे तक विशुद्ध सत्त्वमय अवस्था है।[५]

सहस्रार—सभी चक्रों के ऊपर सहस्रार है। सहस्रार चक्र चक्रातीत नहीं है। षट्चक्रनिरूपण में कहा गया है। शङ्खिनी नाडी के मस्तक पर शून्य स्थान में अर्थात् नाडी के द्वारा आवृत यह नहीं है एवं विसर्ग के अधोदेश में पूर्ण चन्द्र के समान अतिशय शुभ्र उज्ज्वल सहस्रदलपद्म विराजमान है। यह पद्म अधोमुख है। इसका किञ्जल्क समूह तरुण सूर्य के रङ्ग का है। इस पद्म का शरीर अकारादि क्षकार पर्यन्त पचास मातृकावर्णों से समुज्ज्वल है। इसको केवलानन्दस्वरूप कहा जाता है।[६]

शाक्तानन्दतरङ्गिणी के ज्ञान भाष्य में मस्तक के ऊपर शङ्खिनी नाडी का स्थान निर्दिष्ट किया है।[७] श्रीक्रम में वामकर्ण से मस्तक तक शंखिनी नाडी अवस्थित है[८]। ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्व स्थान में विसर्ग अवस्थित है[९]। विसर्ग शक्ति,

---

१. पू० त० पृ० ५१   २. ,, ,, ,, ,,

३. स्वाधिष्ठानाख्यमेतत् सरसिजममलं चिन्तयेद् यो मनुष्यस्तस्याहङ्कारदोषादिकसकलरिपुः क्षीयते तत्क्षणेन।
योगीशः सोऽपि मोहाद् भुततिमिरचये भानुतुल्यप्रकाशो गद्यैः पद्यैः प्रबन्धैर्विरचयति। (सुधावाक्यसन्दोहलक्ष्मीः ष० नि० १८)।

४. पू० त० पृ० ५१-५३

५. पू० त० पृ० ५१

६. तदूर्ध्वे शङ्खिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशं, विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णचन्द्रातिशुभ्रम्। अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकलाकान्तिकिञ्जल्कपुञ्जं, ललाटाद्यैर्वर्णैः प्रविलसितवपुः केवलानन्दरूपम्। ष० नि० ४०

७. कुलश्च लिङ्गमूले स्यात् शङ्खिनी शिरसोपरि। प्रो० ता० काण्ड १

८. आसव्यकर्णात् देवेशि शङ्खिनी च शिरसोपरि। श्रीक्रमवचन द्रष्ट० षट्चक्रविवृति पृ० १२९

९. विसर्गस्तु ब्रह्मरन्ध्रस्योर्ध्वभागे। ष० नि० श्लोक ४० कालीचरण

शक्ति का कुलरूप, विसर्गमण्डल शक्तिमण्डल है ।[१]

सहस्रदलपद्म के दलसंस्थान के विषय में कहा गया है कि सहस्रदल के चारो ओर पचास दल विराजमान हैं एवं ऊपर-ऊपर बीस स्तर में सुसज्जित है ।[२] प्रत्येक स्तर के प्रकाश दल में पूर्वोक्त पचास मातृका वर्ण अवस्थित है ।

सहस्रदल पद्म की कर्णिका के मध्य में शशहीन अर्थात् दीप्तिमान् शुद्धपूर्णचन्द्र विराजमान है। अमृतस्निग्ध शीतल यह चन्द्र ज्योत्स्नाजाल वहाँ व्याप्त है। इस चन्द्रमण्डल के मध्य में विद्युत् आकार त्रिकोण शोभायमान है। इस त्रिकोण के मध्य में सभी देवताओं के द्वारा सेवित अतिशय गुप्त शून्य विराजमान है।[3] शून्य का अर्थ विन्दु है ।[४]

यह विन्दु अतिशय सूक्ष्मरूप से सुगुप्त है। अतिशय प्रयत्न के द्वारा निरन्तर ध्यान आदि का अनुष्ठान करने पर यह साधक के सम्मुख प्रकाशित होता है। यह विन्दु मोक्ष का प्रधान मूल एवं अमा की कला के साथ निर्वाण कला का प्रकाशक है। अथवा यह कहा जा सकता है कि त्रिकोणान्तर्वर्ती अमाकला और निर्वाण कला के साथ ध्यान के द्वारा विन्दुरूप शून्य प्रकाशित होता है।

इस स्थान में परमशिव के नाम से प्रसिद्ध देवता अधिष्ठित हैं। यह ब्रह्मस्वरूप, सर्वात्मा हैं। इसके मध्य में रस एवं विरस अर्थात् परमानन्द रस (मोक्ष) एवं शिवशक्तिसामरस्य जनित आनन्द एकत्र अवस्थित है। यह अज्ञान और मोहान्धकार को ध्वंस करनेवाला सूर्य है।[५] परमशिव प्रकाशस्वरूप सगुण शिव अर्थात् सगुणब्रह्म है[६]।

पूर्वोक्त त्रिकोणमध्यस्थ विन्दु या शून्य ही परमशिव है, यही परलिङ्ग है[७]। षट्चक्रनिरूपण में कहा गया है कि यह भगवान् शिव अमृतोपम वस्तु का निरवधि प्रभूत धारावर्षण करता है। निर्मलचित्त मति को स्वात्मज्ञान अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा एक है—इस ज्ञान का उपदेश देता है, यह सर्वेश है। सभी तरह के सुख का क्रम विस्तार लहरी उत्तरोत्तर इसके मध्य में प्रकाशित होता है। अर्थात् यही सभी सुखों का आकार है, यह परमहंस नाम से परिचित है।[८]

हंस।—कालीचरण के अनुसार यहाँ हं-सः यह मन्त्र है[९]। अपने मत के समर्थन के लिए प्रपञ्चसार का वचन उद्धृत किया है—तत्त्वसंज्ञक चित्शक्ति चिन्मात्रा है। जब वह सृष्टि करने की इच्छा करती है तब घनीभूत होकर विन्दुरूप धारण करती है। अनन्तर यथासमय वह विन्दु अपने को द्विधा विभक्त करता है। दक्षिण दिशा के भाग को विन्दु एवं वाम भाग को विसर्ग कहा जाता है। दक्षिण एवं वाम भाग को यथाक्रम में पुरुष और स्त्री मानना चाहिए। हं विन्दु और सः विसर्ग नाम से परिचित है। विन्दु पुरुष, विसर्ग प्रकृति है। हंस पुरुष प्रकृत्यात्मक एवं जगत् हंसात्मक है।[१०]

---

१. कुलरूपं भवेत् शक्तिः विसर्गमण्डलं प्रिये। निर्वाणशक्तिवचन, द्र० षट्चक्रविवृति पृ० १२८

२. योगी गुरु सं० ७ पृ० ५२

३. समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तानहासी ।
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणसेवितं चातिगुप्तम् । ष० नि० ४१

४. विन्दुशब्देन शून्यं स्यात् तथा च गुणसूचकम् । तोडलतन्त्रवचन काली० टी०

५. सुगुप्तं तद् यत्नादतिशयपरमामोदसन्तानराशेः परं कन्दं सूक्ष्मं सकल-शशिकला-शुद्धरूपप्रकाशम् । इह स्थाने देवः परम-शिवसमाख्यानसिद्धः प्रसिद्धः स्वरूपी सर्वात्मारसविरसमितोऽज्ञानमोहान्धहंसः । ष० नि० ४२

६. परमशिवाख्यः सगुणः प्रकाशात्मा । षट्चक्रविवृति पृ० १२९

७. तदन्तस्त्रिकोणमध्ये शून्यं परलिङ्गम् । षट्चक्र वि० पृ० १२९

८. सुधाधारासारं निरवधि विमुञ्चन्नतितरां यतेः स्वात्मज्ञानं दिशति भगवान् निर्मलमतेः । समास्ते सर्वेशः सकलसुख-सन्तानलहरी परीवाहो हंसः परम इति नाम्ना परिचितः । ष० नि० ४३

९. अयं सर्वेशो हंसः हंस इत्यानुपूर्विकमन्त्राकारः । ष० नि० काली० ४३

१०. सतत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्ततः चिकीर्षुर्घनीभूय क्वचिदभ्येति विन्दुताम् । तेन दक्षिणवामाख्यौ भागौ स बिन्दुर्भवति द्विधा । विन्दुर्दक्षिणभागश्च वामभागोविसर्गको विन्दुः पुरुषइत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिः स्मृतः । पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत् ।—प्रपञ्चसारः ॥

परम शिव स्वात्मज्ञान का उपदेश देता है। अतः परम शिव गुरु हैं। निर्वाण तन्त्र में कहा गया गया है कि शिवस्थित पद्म में परम गुरु महादेव विराजमान है। त्रिभुवन में उनके समान पूज्य नहीं है। गुरु, परमगुरु, परापरगुरु, एवं परमेष्ठी गुरु इन चारों गुरुओं में उन्हीं के अंश को मानना चाहिए।[१]

उपास्यदेव का आलय--निर्वाण तन्त्र के मत में सहस्रारपद्मपरम शिव तथा परमब्रह्म का आलय है। यही परममोक्ष का और निर्गुण का तथा महाकाली का भी आलय है।[२]

शैवों ने सहस्रार को शिव स्थान अर्थात् कैलास माना है। वैष्णवों ने विष्णु का स्थान एवं हरिहर की उपासना करने वाले हरिहर का स्थान, देवी के भक्त देवी का स्थान, ज्ञानी व्यक्ति प्रकृति पुरुष अर्थात् हंस का निर्मल स्थान मानते हैं[3]। ब्रह्मसंहिता के मत में श्री कृष्ण का गोकुल स्थान भी यही है[४]। यह कहा जा सकता है कि सहस्रार ही शैव, शाक्त, वैष्णवादि उपासकों के उपास्य देवता का स्थान है।

अमाकला—सहस्रार कर्णिकास्थ त्रिकोण के मध्य में अमाकला और निर्वाण कला की अवस्थिति को पूर्व में ही कहा गया है। षट्चक्र निरूपण में कहा गया है कि चन्द्र की षोडशी परा कला प्रातःकालीन सूर्य के वर्ण वाली शुद्ध मृणालसूत्र के सौ भाग के एक भाग के समान सूक्ष्म है। इस कला का शरीर कोटि विद्युत् के समान उज्जवल एवं कोमल है। यह अधोमुखी है, शिवशक्ति के सामरस्य के फलस्वरुप पूर्णानन्द विगलित सुधाधारा की धारिणी यह अमाकला है।[५]

निर्वाण कला--अमाकला के अभ्यन्तर में सर्वश्रेष्ठ निर्वाण कला अवस्थित है, पीयूष के अग्रभाग के सहस्र भाग के एक भाग के समान अतिशय सूक्ष्म यह कला है। सभी प्राणियों की अधिदेवता यह भगवती तत्त्वज्ञान प्रदान करती है अर्द्धचन्द्रस्वरूपा यह वक्राकार भी है, एवं द्वादश सूर्यों की प्रभा के सदृश यह आलोक सम्पन्न है[६]। निर्वाण कला सप्तदशी कला है[७]। इसी को उन्मनी नाम से कहा जाता है। सहस्रार कर्णिका के मध्य में चन्द्रमण्डल में सभी संकल्पों से रहित यह सप्तदशी कला रहती है यह भवपाश का छेदन करनेवाली उन्मनी कला है[८]।

निर्वाण शक्ति—निर्वाण काल के क्रोड में अपूर्व परमा अर्थात् परमब्रह्मशक्ति स्वरूपा निर्वाण शक्ति रहती है। यह कोटिसूर्य के समान उज्ज्वल त्रिभुवन जननी और केश के अग्रभाग के कोटिभाग के एक भाग के समान अतिशय सूक्ष्मा एवं निरन्तर विगलित प्रेमधारा की धारिणी है। यह सभी जीवों के जीवस्वरूपिणी मुनियों के मन में तत्त्वज्ञान वहनकारिणी है।[९]

---

१. शिवः पद्मे महादेवस्तथैव परमो गुरुः। तत्समो नास्ति देवेशि पूज्या हि भुवनत्रये॥ तद्रूपं चिन्तयेन्मन्त्री बाह्ये गुरुचतुष्टयम्। नि० त० पृ० ३

२. परमब्रह्मालयं ह्येतत् परम मोक्षलयं प्रिये। निर्गुणस्यालयं साक्षात् महाकाल्यालयं शिवे। नि० त० पृ० १०

३. शिवस्थानं शैवा परमपुरुषं वैष्णवगणाः लपन्तिती प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे। परं देव्याः देविचरणयुगलाम्भोजरसिकाः, मुनीन्द्राप्यन्ये प्रकृतिपुरूषस्थानममलम्। ष० नि० ४४

४. सहस्रजं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्। ब्र० सं० २

५. अत्रास्ते शिवसूर्यसोदरकला चन्द्रस्य सा षोडशी। शुद्धा नीरजसूक्ष्मतन्तुशतधाभागैकरूपा परा॥ विद्युत्-कोटि-समान कोमलतनुरविद्योतिताधोमुखी। पूर्णानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा॥ ष० नि० ४६

६. निर्वाणाख्यकला परापरतरा सास्ते तदन्तर्गता। केशाग्रस्य सहस्रधाविभाजितस्यैकांशरूपासती॥ भूतानां अधिदैवतं भगवती नित्यप्रबोधोदया। चन्द्रार्धाङ्गसमानभङ्गुरवती सर्वार्कतुल्यप्रभा॥ ष० नि० ४७

७. तन्मध्ये कुटिला निर्वाणाख्यसप्तदशीकला। कंकालमालिनी तंत्र पृ० २

८. सहस्रारकर्णिकायां चन्द्रमण्डलमध्यगा। सर्वसंकल्परहिता कला सप्तदशी भवेत्। उन्मनी नाम तस्या हि भवपाशनिकृन्तनी ष० नि० ४० कालीचरण

९. एतस्या मध्यदेशे विलसति परमापूर्वनिर्वाणशक्तिः। कोट्यादित्यप्रकाशात्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा॥ केशाग्रस्यातिसूक्ष्मा निरवधिविगलत्प्रेमधाराधरा सा। सर्वेषां जीवभूता मुनि मनसि मुदा तत्त्वबोधं वहन्ती॥ ष०नि० ४८

तत्वज्ञ लोग निर्वाण शक्ति के मध्य में मायामल रहित शाश्वत शिव का स्थान मानते हैं। यह शुद्ध बोधमय सकल सुखमय योगियों के ज्ञानमात्र से गम्य नित्यानन्द नाम से विख्यात है। मनीषिगण इसी को ब्रह्मपद, विष्णु का स्थान, हंस कहते हैं। अन्य पुण्यात्मा इसे एक अनिर्वचनीय आत्मसाक्षात्कार का स्थान अर्थात् मोक्ष स्थान मानते हैं।[१]

कंकालमालिनी तन्त्र में कहा गया है कि परमा निर्वाणशक्ति सभी की योनि रूपिणी अर्थात् कारण स्वरूपा है। उस शक्ति के मध्य में ही निराकार निरंजन शिव हैं। यही कुण्डलिनी शक्ति परमात्मा के साथ विहार करती है।[२]

निर्वाण शक्ति ही सृष्टि का कारण है। सत्यलोक अर्थात् सहस्रार में निराकार महाज्योतिःस्वरूपिणी अपने को माया से आच्छादित कर चणकाकार में अवस्थित रहती है। हाथ पैर आदि से रहित यह चन्द्र सूर्याग्नि स्वरूपिणी है अर्थात् परम देदीप्यमाना है। माया बन्धन का त्याग कर जब द्विधा विभक्त हो उन्मुखी होती है तब शिवशक्ति का विभाग होने से सृष्टि कल्पनाकार उद्भव होता है[3]। शिवशक्ति स्वरूपतः भिन्न है इनका विभाग काल्पनिक है क्योंकि साधना के क्षेत्र में इसकी आवश्यकता होती है। यह निर्वाण शक्ति परबिन्दुरूपा है[४]।

निर्वाण कला के मध्य में सृष्टिस्थिति लयात्मक पर बिन्दु अवस्थित है।[५] बिन्दु परम कुण्डली है उसके मध्य में आकार शून्य साक्षात् शिव हैं।[६]

कुण्डलिनी और निर्वाण शक्ति अभिन्न है। कुलार्णवतन्त्र में आलोच्य बिन्दु को परब्रह्म कहा गया है। निर्वाण तन्त्र के मत में बिन्दु रूप निर्गुण सिद्धि साधन है। इसको कोई ब्रह्मा कहते हैं कोई विष्णु कहते हैं कोई रुद्र कहते हैं किन्तु यह एक ही निरंजन देवता है। आद्याशक्ति से युक्त यह चणकाकार रूप है[७]।

सहस्रार को तुरीय नामक ज्ञान भूमि कहा जाता है[८]

---

१. तस्या मध्यान्तराले शिवपदममलं शाश्वतं योगिगम्यम्।
नित्यानन्दाभिधानं सकलसुखमयं शुद्धबोधस्वरूपम्॥
केचित् ब्रह्माभिधानं पदमिति सुधियो वैष्णवं तल्लपन्ति।
केचित् हंसाख्यमेतत्किमपि सुकृतिनो मोक्षमात्मप्रबोधम्॥

२. निर्वाणशक्तिः परमा सर्वेषां योनिरूपिणी। तस्यां शक्तौ शिवः ज्ञेयं निर्विकारं निरञ्जनम्। अत्रैव कुण्डलनीशक्ति विहरेत् परमात्मना। कंकालमालिनी तन्त्र वचन द्र०। प० नि० ४८ कालीचरण

३. सत्यलोके निराकारा महाज्योति स्वरूपिणी। माययाच्छादितात्मानं चणकाकाररूपिणी। हस्तपादादिरहिता चन्द्र-सूर्याग्निरूपिणी मायाबन्धनमुत्सृज्यद्विधाभित्वा पदोन्मुखी। शिवशक्तिविभागेन जायते सृष्टिकल्पना। प० नि० श्लोक ४८ कालीचरण

४. यन्निर्वाणशक्तिः परबिन्दुरूपेति। प० नि० ४८ कालीचरण

५. तन्मध्ये परबिन्दुञ्चसृष्टिस्थितलयात्मकं।
शून्यरूपं शिवः साक्षात् बिन्दुपरं कुण्डली। ष० नि० ४९ कालिचरण

६. वृत्तः कुण्डलीनी शक्तिर्गुणमयसमन्वितः।
शून्यभागं महेशानि शिवशक्त्यात्मकं प्रिये। ष० नि० ४९ कालीचरण

७. बिन्दुरूपं परं ब्रह्म सहस्रदलसंस्थितम्। ष० नि० ४९ टीका

८. निर्गुणोबिन्दुरूपश्च सिद्धिकारणमेव हि।
केचिद् वदन्ति स ब्रह्मा केचिद् विष्णुः प्रकथ्यते।
केचिद् रुद्रो महापूर्वं एको देवो निरजंनः।
आद्याशक्तियुतोदेवश्चणकाकाररूपकः। नि० त० १०

९. पू० त० पृ० ५१।

निर्वाण तन्त्र में सत्यलोक सहस्रार निर्वाण शक्ति का स्थान है। महर्लोक सालोक्य मुक्ति का स्थान है जन-लोक सारुप्यमुक्ति का स्थान है। तपोलोक सायुज्य मुक्ति का स्थान और उसके उपर निर्वाण।[1]

किसी किसी तन्त्र में सहस्र-दलपद्म की कर्णिका के मध्य में द्वादश दल कमल की स्थिति कही गयी है। यही पद्म गुरु का स्थान है सहस्रार पद्म की कर्णिका के मध्य में एवं उस स्थान के चन्द्र सूर्य मण्डल के समीप द्वादश दल पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के मध्य में हंसपीठ है। हंसपीठ अ, क, प, त्रिकोण के अन्तर्गत ह, ल, क्ष, वर्ण से सुशोभित है। इस हंसपीठ में शिवरूपी अपने गुरु का ध्यान करना चाहिए[2]।

इन सभी स्वरूपों का प्रकाश एकमात्र योगी ही कर सकता है इसी का आच्छन्न रूप से निर्वचन योगवाशिष्ठ है। योग के द्वारा वशिष्ठ देदीप्यमान परम निर्वाण की प्राप्ति। यह इसके द्वारा कही गयी है। महायोग ज्ञान से जो षड् पद्म का का वैभव जानते हैं वे हो अन्तस्तत्व के व्यक्त करने में समर्थ हो सकते हैं। यदि वशिष्ट सद्दश गुरू की कृपा न हो तो बुध श्रेष्ठ ज्येष्ठ राम सदृश व्यक्ति श्री षडपद्म के अन्तस्तत्व के व्यक्त करना में समर्थ नहीं हो सकते[3]।

कुण्डलिनी जागरण का तात्पर्य—योगवासिष्ठ के निर्वाण स्वरूप विश्लेषण प्रसंग में यह विषय यदि निरूपित न किया जाय तो उसका वास्तविक ज्ञान अपूर्ण ही रह जायेगा। प्रत्यभिज्ञ दर्शन के निरूपण प्रसंग में छत्तीस तत्त्वों की अभिव्यक्ति में एक अवस्था शुद्ध तत्व समूह की सीमा में शेष होता है और अशुद्ध तत्त्व की सीमा से आरम्भ होता है। अशुद्ध तत्त्व में प्रकृति का राज्य है। यह रुद्धमुख वलय पाशरुद्ध वक्रवस्तु है इससे बाहर जाने का कोई भी मार्ग नहीं है। अनेक शीतातप आदि से संजष्ट जीव इसमें आवद्ध रहता है और अपने कर्मानुसार सतत् भवचक्र में घूमता रहता है। स्वरूपतः शिवशत्त्वात्मक जीव अपने स्वभाव सुलभ वासना जाल में ऐसा आवद्ध हो जाता है कि उससे मुक्त होना कठिन हो जाता है। रुद्धमुख वलय या वृत्त के उन्मुक्त करने पर ही शुद्धतत्त्वों के राज्य में प्रविष्ट हो सकता है। तपस्या और योग के द्वारा ही जीव को उस वक्रभावापन्न प्रकृति की अवस्था को दूर करना होगा इसी का पारिभाषिक नाम कुण्ड-लिनी जागरण।

प्रकृति को सहज सरल कर शुद्ध तत्त्व में प्रवेश ही यह जागरण है जीव की विस्मृत अवस्था ही कुण्डलिनी की निद्रा है। जीव वस्तुतः शिव या ब्रह्मस्वरूप है। किन्तु आत्म विस्मृत होने से अपना शिवमय या ब्रह्ममय स्वरूप का अनुभव करने में असमर्थ होता है[4]।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने कहा है कि जीव की आत्मा शिव स्वरूप है। मोह और अज्ञान से आच्छन्न होकर वह मूर्च्छित के समान रहता है यह शिव रूपी आत्मा व्योमतत्त्व में अर्थात् विशुद्धचक्र में अर्थात् शिवरूपी शिव या ब्रह्म को न जानने पर आत्मज्ञान के पथ में अग्रसर होना असम्भव है। किन्तु शक्ति भिन्न यह सुप्त शिव को जगाने का कोई अन्य साधन नहीं शक्ति स्वयं निद्रा में अभिभूत हो आधारचक्र जड़ पिण्ड के समान रहती है। इसलिए साधक के लिए प्रथम कर्तव्य है कि सुप्त शक्ति को जाग्रत् कर उसकी सहायता से शवरूपी शिव को प्रवुद्ध करना। मूलधार से विशुद्ध चक्र तक पाँच भौतिकतत्त्वों का केन्द्र है। शक्ति व्यापक रूप से सर्वत्र सुप्त रहती है शक्ति एक एवं अभिन्न है किन्तु चक्र भेद से उसकी पृथक् पृथक् भेद कहा गया है। मूलाधार चक्र में शक्ति के जाग्रत् होने पर उसके प्रभाव

१. सालोक्यं महर्लोकं स्यात्। सारूप्यं जनलोकके। सायुज्यं तपोलोकेषु निर्वाणं हि तदूर्ध्वके। निर्वाण त० ९

२. कर्णिकान्तः पुटेतम द्वादशार्णं सरोरुहे। तेजोमयेकर्णिकान्तश्चन्द्रमण्डलमध्यगे। अकपादि तुरेखिये हलक्षमपभूषिते। हंसपीठे मंत्रमेव स्वगुरुं शिवरूपिणम्। पादुका पंचक कालिचरन टीका १

३. महायोगज्ञानात्परिचितषडंभोजविभवः।
स एवान्तस्तत्त्वो प्रकटनसमर्थो न हि परः।
बुध ज्येष्ठो श्रेष्ठोप्यमिलितकृपानाथकरुणः
षडब्जान्तस्तत्त्वं षसह विभवम् प्रस्फुटयिडम्। ष० नि० कालीचरन टीका

४. पू० त० ६०

से स्वाधिष्ठान चक्र स्थित शक्ति जाग्रत् होती है। इसी प्रकार तृतीय चतुर्थी और पंचम शक्ति का जागरण होता है। एक ही शक्ति जाग्रत् होकर सुषुप्त पद से ऊपर उठती है; क्रमशः अधिक समुज्ज्वल और सुस्पष्ट होती हुयी चरम अवस्था में शक्ति के पूर्ण जागरण काल में पाँचों चक्र मुक्त हो जाते हैं तब जड़ तत्त्व का आभास भी नहीं रहता है। आकाश शक्ति में पूर्ण जागरण के फलस्वरूप शव रूपी शिव जाग्रत् होता है। आत्मा की भी अनादि निद्रा भंग हो जाती है इस स्थिति में शिव शक्ति परस्पर आकृष्ट हो युगल रूप में मिलकर ऊपर उठती है। यह खण्ड मिलन है महामिलन नहीं।

आज्ञा चक्र से सहस्रार तक महामिलन का पथ निर्दिष्ट है[1] कुण्डलिनी के जागने पर उसका ऊर्ध्वगमन षट्‌चक्र मार्ग है इसी को पिण्ड ब्रह्माण्ड मार्ग भी कहा जाता है[2]।

योगाभ्यास ही इसका एकमात्र मार्ग है। कुण्डलिनी जब मूलाधार से ऊपर जाती है! तब क्या मूलाधार को शून्य करके जाती है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार ऐसा अवगत होता है कि वह चक्र को शून्य करके ही जाती है। किन्तु यह विचारणीय है। देह केन्द्र में मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी है जीव देह की प्राणक्रिया तथा जीवन का आधार है। यदि वह देह केन्द्र को छोड़ दे तो देह रक्षा सम्भव नहीं है। कुण्डलिनी जब ऊपर को जाती है तब वह देह के समान होने पर भी नष्ट नहीं होती क्योंकि सहस्रार में मिलन साधन जो अमृत प्रवाहित होती है वही देह की रक्षा करती है।[3]

किसी किसी ने यह भी माना है कि वह मूलाधार को शून्य करके नहीं जाती। स्थितिशील कुण्डलिनी अंशतः गतिशील होकर गमन करती है। प्रपञ्चसार तन्त्र में कहा गया है कि मूलाधार से स्फुरित विद्युत् प्रभा सूक्ष्म रूपा प्रभा मस्तक पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करती है यह प्रभा सभी तेज की मूलभूता अणुतरा है।[4]

पद्मपादाचार्य ने प्रभा शब्द का अर्थ कुण्डलिनी मस्तक किया है। (प्रभाकुण्डलिनीमस्तकम्) इससे यही अनुमान होता है कि भुजगाकार कुण्डलिनी का मस्तक सहस्रार में जाता है और उसका पुच्छ मूलाधार में रहता है। अतः शून्यता का प्रश्न ही नहीं उठता है। मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति असीम और पूर्ण है अतः ऊर्ध्वगमन करने पर पूर्ण रूप का क्षय सम्भव नहीं है अर्थात् स्थितिशील रूप से मूलाधार में और गतिशील रूप से चक्रों में गतिशील होती है।

असीम गतिशील होने पर वलयाकार की स्थिति न रहने पर स्थूल सूक्ष्म एवं कारण तीनों शरीरों का लय हो जाता है यह विदेह मुक्ति की अवस्था है किन्तु व्यष्टिमुक्ति में संसार का लय नहीं होता है। क्योंकि समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि की विदेह मुक्ति होने पर भी सार्धं-त्रिवलयाकार में अवस्थित रहती है अतः संसार भी रहता है। योग ही इसका साधन है गौतमील तन्त्र के अनुसार योगशास्त्र का अर्थ संसार से उत्तीर्ण होने का उपाय और जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही योग है।[5] शारदातिलक[6] कुलार्णव[7] महानिर्वाण[8] आदि ग्रन्थों में योग की यही संज्ञा निर्दिष्ट है। राघवभट्ट ने योग की यह संज्ञा वेदान्त पथ के द्वारा प्रदत्त संज्ञा है।[9]

कुण्डलिनी शक्ति का सामान्य परिचय : यहाँ पर दिया गया है इसके प्राप्ति या जागरण का साधन योग और योगवासिष्ठ के मार्ग का विस्तृत विवरण अन्य भाग की भूमिका से अवगत करें।

---

१. श्री सिद्धमाता की प्रसंग की भूमिका। २. द्र० पातंजलयोगदर्शन १९४।

३. ए० पी० पृ० ३१३।

४. मूलाधारात्स्फुरितडिदाभा प्रभा। सूक्ष्मरूपोद्‌गच्छन्त्यामस्तकमणुतरा तेषां मूलभूता। प्रपञ्चसार तन्त्र १०-७

५. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनो राहुः योगं योगविशारदा॥ गौतमीयतन्त्र द्र० बृहतन्त्रसार पृ० ६४५।

६. ऐक्यं योगात्मनोराहुर्योगयोगविशारदा॥ शा० ति० २५-१

७. न पद्मासनतो योगो न नाशाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगयोगविशारदा॥ पृ० त० ३०-९

८. योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। महातन्त्र : १४-१२३

९. वेदान्तपक्षमासृत्याह ऐक्यमिति। शारदा ति० टीका २५-१

आभार प्रदर्शन

ग्रन्थ की भूमिका आदि में जिनकी कृतियों का उपयोग किया गया है उनके लेखकों का सादर आभार ज्ञापित करता हूँ। अच्युतग्रन्थमाला के अनुवाद से विशेष सहायता मिली है, अतः मैं उसका ऋणी हूँ।

निकट भविष्य में योगवासिष्ठ का पाचवाँ तथा अन्तिम पुष्प भी प्रकाशित करने का प्रयत्न है।

इस चतुर्थखण्ड की भूमिका में निर्वाण की दृष्टि से योगवासिष्ठ में प्रदर्शित कुण्डलिनी-जागरण के विषय की बिभिन्न दार्शनिक दृष्टि से समीक्षा की गई है।

तारा प्रेस के अध्यक्ष भ्रातृकल्प श्री रमाशङ्कर पण्ड्या जी को धन्यवाद देना ही पड़ेगा, क्योंकि ये सदा मेरी प्रेरणा के स्रोत का कार्य करते रहे हैं।

इसके अनुवाद के लिये प्रवृत्ति शुभोदय श्री रविप्रकाश पण्ड्या का एकमात्र आग्रह ही है। इस ग्रन्थ के सम्पादक पुराणेतिहासाचार्य पं० कृपासिन्धु शर्मा, प्राचार्य, ब्रह्मर्षि बलदेव संस्कृत विद्यालय, लक्ष्मीकुण्ड वाराणसी ने अर्थानुसंधानपूर्वक अशुद्धयादि परिमार्जन का महनीय कार्य कुशलतापूर्वक किया है। इसकी प्रेस कापी आदि के निर्माण में पं० अयोध्याप्रसाद त्रिपाठी ने सहायता प्रदान की है। अस्तु, मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ एवं साधुवाद देता हूँ। मेरे अनुजकल्प डा० शशिकान्त दीक्षित की पत्नी श्रीमती इन्दुमती दीक्षित ने भी पुनः-पुनः प्रेरणा दी कि इसका अनुवाद कर हमलोगों के लिये बोधगम्य करायें। अतः इनको हृदय से आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कुसुमलता गोस्वामी एवं पुत्री श्रीमती साधना शर्मा ने मुझे गृहकार्यों से निश्चिन्त कर इस ग्रन्थ के सम्पादन के लिए सहयोग प्रदान किया है, ऐसा इस युग की ललनाओं के द्वारा संभव नहीं है। मेरे लिए एकमात्र हितचिन्तक डा० श्री महेन्द्रकुमार शर्मा, श्री शैलेन्द्रकुमार शर्मा तथा भ्रातृ-पुत्र डा० राधाकान्त गोस्वामी के उज्ज्वल भविष्य के लिए सतत मंगलकामना के साथ इनको आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

सहृदय विद्वज्जन मेरे दोषों पर दृष्टि न देकर रागद्वेष-वैराग्य के साथ गुणग्राहक दृष्टि से ही अध्ययन करेंगे। मेरे जैसे अज्ञजनों से दोष तो पद-पद पर सम्भावित ही हैं।

मकर संक्रान्ति
(२०४८)

विदुषां वशंवदः
महाप्रभुलाल गोस्वामी

निर्वाणप्रकरण पूर्वार्ध

अनन्तर भिक्षु आख्यान का वर्णन किया है। मुनिवरों में दो तरह के मुनि हैं—एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। परमात्मा की भावना से रहित शुष्क क्रिया में बद्धनिश्चय और हठ से सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीतने वाला मुनि काष्ठमौनी है। इस विनाशशील संसार के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर विशुद्धात्मा और परमात्मा में स्थित ज्ञानी न्याययुक्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तृप्त रहता है, वह जीवन्मुक्त मुनि है। मौन को जानने वाले मुनियों ने मौन के चार भेद बताये हैं—वाङ्मौन, इन्द्रिय मौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन। वाणी का निरोध वाङ्मौन, हठपूर्वक विषयों से इन्द्रियों का निग्रह इन्द्रियमौन और चेष्टाओं का त्याग काष्ठमौन कहलाता है। परमात्मा के स्वरूपानुभव में लगे हुए जीवन्मुख के मौन को सुषुप्तमौन कहते हैं। काष्ठमौन में वाङ्मौन आदि तीनों मौनों का अन्तर्भाव है और सुषुप्तमौनावस्था में तुर्यावस्था—जीवन्मुक्तों की उपादेय नहीं वरन् त्याज्य हैं। किन्तु इन तीनों से भिन्न चौथा सुषुप्तमौन में ही जीवन्मुक्तों की स्थिति है। इसमें स्थित जीवात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय वृत्तियाँ अनुकूल में तो हर्षित नहीं होतीं और प्रतिकूल में घृणा नहीं करतीं। ध्यान न करते हुए सभी अवस्थाओं में समभाव से स्थित सुषुप्तमौन है। संसार के और परमात्मा के तत्त्व को यथार्थरूप से जानने पर संदेहरहित स्थिति सुषुप्तमौन है। यह सत्-असत् से रहित स्थिति है, सुषुप्त मौन उत्तम है। जगत् में विकार-रहित, सर्वात्मक तथा सत्ता-सामान्य रूप परमात्मा ही मैं हूँ—इस तरह की ज्ञानावस्था को सौषुप्तमौन कहते हैं। जाग्रतावस्था में सब व्यवहार करता हुआ समाधि में स्थित जीवन्मुक्त देहयुक्त होनेपर भी विदेहस्वरूप ही है।

जड आकाश से अत्यन्त स्वच्छ चेतनस्वरूप परमात्माकाश है और उस परमात्माकाशभाव की प्राप्ति ही परम मोक्ष है। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से ज्ञानी सांख्ययोगी कहे गये हैं। प्राणादि वायुओं के संयमपूर्वक अष्टाङ्गयोग के द्वारा अनामय, आदि-अन्त से रहित परमपद को प्राप्त योग-योगी कहे गये हैं। शान्त पद सभी योगियों के लिये उपादेय है। उस पद को सांख्ययोग द्वारा प्राप्त करते हैं और कुछ लोग इसी देह से अष्टाङ्गयोग के द्वारा प्राप्त करते हैं। सांख्य और योग को जो एक समझता वही ठीक समझता है। सांख्ययोगियों द्वारा प्राप्त अष्टाङ्गयोगियों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। प्राण, मन की वृत्ति तथा वासनारूपी जाल का अत्यन्त अभाव को परम पद समझो। वासना ही चित्त है। वही संसार का कारण है। वह चित्त सांख्य या योग दोनों सांख्य में से किसी एक साधन के द्वारा विलीन होकर संसार की निवृत्ति का कारण होता है। संसार मन के संकल्प से उत्पन्न है। ममता, अहंता, संसृति, उपदेश्य-उपदेशादि, बन्ध और मोक्ष की सत्ता सब संकल्पमात्र हैं। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्त्व का दृढ़ अभ्यास, प्राणों का विलीन होना तथा मनोनाश मोक्ष के साधन हैं।

मनोविनाश जितना शीघ्र होगा उतना शीघ्र कल्याण होगा। परमात्मा के यथार्थज्ञान से सभी पदार्थों का अभाव हो जाता है। वासना का विनाश होने पर प्राण और चित्त का वियोग हो जाता है। मन के विनाश से ही जीवात्मा को परम पद की प्राप्ति होती है; अतः मुनिगण वासना को ही मन जानते हैं। चित्त का स्वरूप वासना ही है। रज्जु में सर्पभ्रम के सदृश मिथ्यारूप इस संसार का स्वयं ही विवेकज्ञान से अच्छी तरह विनाश होता है। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्त्व का दृढ़ अभ्यास, प्राणनिरोध और मनोविनाश—ये जो तीन उपाय हैं, इनमें से किसी एक की सिद्धि हो जाने पर ही दूसरे भी सिद्ध हो जाते हैं। ताड़ के पत्तों से निर्मित पंखे को चलाने को बन्द कर देने पर पवन शान्त हो जाता है, प्राणरूप वायु का स्पन्दन शान्त हो जाने पर मन भी शान्त हो जाता है। वायु के रुकने पर गन्ध का प्रसार भी रुक जाता है, मन का चलना रुक जाने पर प्राण-वायुओं का चलना भी रुक जाता है। सभी प्राणियों के प्राण और चित्त दोनों एक दूसरे भी पुष्प और गन्ध एवं तिल और तेल के समान निरन्तर मिले-जुले रहते हैं। आधार और आधेय के समान अग्नि और उष्णता के समान दोनों में से एक का विनाश हो जाने पर दोनों विनष्ट हो जाते

हैं और अपने विनाश से वे दोनों जीवात्मा के लिए एक महान् मोक्ष नामक कार्य सम्पन्न कर देते हैं। एक ब्रह्मतत्त्व के दृढ़ अभ्यास से द्वैत-वासना से रहित मन शान्त हो जाता है और प्राण भी शान्त हो जाता है। यदि परमपद में चित्त मुहूर्त मात्र भी विश्रान्त हो जाय तो उसे तुम ब्रह्मरूप में ही परिणत समझो। अविद्या का अभाव होने पर विशुद्ध चित्त 'सत्त्व' शब्द से कहा जाता है। जीव के ब्रह्म हो जाने पर चित्त का विनाश हो जाता है तथा विवेकपूर्वक विचार से अविद्या का अन्त होने पर जीवात्मा का मोक्ष है। संसाररूपी स्वप्नविभ्रम के सम्बन्ध में वेताल द्वारा किये गये प्रश्नों को सुनो। विन्ध्याचल के महान् वन में एक विशालकाय वेताल रहता था वह तो प्राणियों को मारने की इच्छा से किसी नगर में गया। पहले वह एक सज्जन नामक राजा के देश में रहता था। उस राजा द्वारा किये गये अनेक योग्य मनुष्यों की बलि के उपहार से वह सुख से रहता था। सामने आये हुए निरपराधी मनुष्य को वह भूख से पीड़ित होने पर भी अकारण नहीं मारता था; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष न्याय के ही पक्षपाती होते हैं। किसी समय न्यायोचित भक्ष्य न मिलने के कारण अरण्यवासी वह वेताल क्षुधा से प्रेरित होकर न्यायप्राप्त मनुष्य का भक्षण करने के लिए नगर के भीतर चला गया। उस नगर में प्रजा-रक्षा के लिये घूमते हुए राजा मिला।

बेताल ने राजा से कहा—"भयंकर बेताल के द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो। कहाँ जा रहे हो? अब तुम मर चुके। आज तुम मेरे भोजन बन जाओ।"

राजा ने उत्तर दिया—"यदि तुम यहाँ बलपूर्वक अन्यायमार्ग से मुझे खा जाओगे तो निश्चय ही तुम्हारे मस्तक के हजारों टुकड़े हो जायँगे।"

बेताल ने कहा—"राजन्! मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा; परन्तु तुम्हें मैं यह न्याय बताता हूं कि तुम राजा हो, इसलिये तुम्हें अर्थियों के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिए। मेरी इस याचना को, जो पूर्ण करने योग्य है, तुम पूर्ण करो। मैं तुमसे जो प्रश्न कर रहा हूँ, इनका उत्तर दो। किस सूर्य की किरणों के ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवन में महागमनरूपी त्रसरेणु स्फुरित होते हैं? एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाता हुआ जीवात्मा पहले के सैकड़ों या हजारों स्वप्नों के अस्तित्व को छोड़ता हुआ भी किस प्रकाशक स्वच्छ वास्तविक स्वरूप का परित्याग नहीं करता? जिस प्रकार केले का खम्भा भीतर के भी भीतर और उसके भी भीतर बार-बार देखने से केवल छिलकामात्र ही रहता है, उसी प्रकार सबके भीतर के भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्मस्वरूप है। ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतों के आधारभूत भुवन, सूर्यमण्डल तथा मेरु—ये सब जो बड़े-बड़े महान् पदार्थ हैं—ये अणुत्व धर्म न छोड़ने वाले ऐसे किस अणु के परमाणु हैं? किस अवयव-रहित परमाणुरूप महागिरि की शिला के भीतर ये भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् हैं? यदि तुम इन प्रश्नों का उत्तर मुझे न दे सकोगे तो तुम्हें खाकर फिर तुम्हारे नगर के प्राणियों को बलपूर्वक पकड़ कर उन्हें यमराज की तरह निगल जाऊँगा।"

"बेताल! यह चराचर जगत्‌रूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पञ्चभूतों की परत से घिरा है—उसके बाद पृथ्वी से दसगुना जल, जल से दसगुना तेज, तेज से दसगुना वायु और वायु से दसगुना आकाश है। ऐसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं, ऐसी बहुत ऊँची एक शाखा है। उस प्रकार की बड़ी-बड़ी हजारों शाखाएँ जहां विद्यमान हैं, ऐसा बड़े आकार वाला एक महान् वृक्ष है। इसी प्रकार के हजारों वृक्ष, जिसमें हैं ऐसा एक वन है। उसी प्रकार के हजारों वन जहाँ पर हैं, ऐसा उन्नत शिखरों से युक्त चारों ओर से परिपूर्ण आकाश वाला एक विशाल पर्वत है। हजारों पर्वतों में अत्यन्त विस्तीर्ण विशाल खोहों वाला एक देश है। हजारों देश जहाँ पर विद्यमान हैं, ऐसा बड़े-बड़े ह्रद और नदियों से युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है। अनन्त द्वीप से चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त एक पृथ्वी है। हजारों पृथ्वी मण्डल वाले एक अत्यन्त विस्तृत महान् भुवन है। असंख्य महान् भुवन वाले विस्तृत आकाश के सदृश एक महान् प्रचण्ड ब्रह्माण्ड है। असंख्य ब्रह्माण्ड वाले एक चञ्चलतारहित असीम जलनिधि है। लाखों सागर के कोमल तरङ्गों वाले स्वरूप में विलास करनेवाला निर्मल महार्णव है। हजारों महार्णव जिसके जलरूप हैं, कोई परिपूर्णाकृति पुरुष है। लाखों पुरुषों की माला जिसके वक्षःस्थल में स्थित है, ऐसा एक परम पुरुष है, वह सभी सत्ताओं में प्रधान है। असंख्य महापुरुष जिसके मण्डल में स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है। ये सब कल्पनाएँ आदित्यरूप ब्रह्म की रश्मियाँ हैं। ब्रह्माण्ड ही इस आदित्य ब्रह्म की दीप्तियों के

त्रसरेणु हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही वह सूर्य है; सारा जगत् इससे प्रकाशित होता है। विज्ञानस्वरूप परम सूर्य है और विस्तृत ब्रह्माण्ड उसी सूर्य की किरणों में स्फुरित होने वाले त्रसरेणु हैं।

"बेताल ! काल की सत्ता, आकाश की सत्ता, जीवात्मा की सत्ता तथा शुद्ध चेतन आत्मा की सत्ता इत्यादि सब सूक्ष्म होने से निर्दोष रज हैं। वे परमात्मारूपी महावायु में कल्पित अनेक विकारों से चञ्चल होकर स्फुरित हैं। 'जगत्' नामक महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाकर जीवात्मा की परम शान्ति को बढ़ानेवाले अपने महान् शुद्ध आत्म-स्वरूप को नहीं छोड़ता। केले के खंभे को छीलने पर भीतर-भीतर केवल पत्ता ही रहता है। परिणामशील यह विश्व में ब्रह्म ही मिलता है। वह आकाश के तुल्य निराकार, अनिर्वचनीय परमात्मा सत्, ब्रह्म, आदि शब्दों से कहा जाता है। सूक्ष्म मन और इन्द्रियों के द्वारा अप्राप्य होने के कारण परमात्मा परमाणु कहा गया है। अनन्त होने के कारण परमात्मा ही मेरु आदि पर्वतों का मूल है। परमाणुस्वरूप होते हुए भी इस परम पुरुष अनन्त परमात्मा में ब्रह्माण्ड, आकाश, भुवन, सूर्यमण्डल और मेरु परमाणु ही हैं, इन्द्रियों से ग्राह्य न होने से परमाणु और सब ओर परिपूर्ण होने से महापर्वत कहा गया है। वास्तव में यह परम पुरुष परमात्मा अवयवरहित है, किंतु दृश्य के सम्बन्ध से अवयवयुक्त दिखायी पड़ता है। जगत् उस विज्ञानस्वरूप परमात्मा के संकल्प से कल्पित हैं। अतः तुम उस अनन्त, शान्त स्वभाव अपार परमपद को अनुभव करो और शान्त हो जाओ।"

इस समाधान को सुनकर शुद्धान्तःकरण बेताल को परम शान्ति प्राप्त हो गयी। निर्दोष आत्मा को समझकर और भयंकर क्षुधा को भूलकर वह शान्तमन बेताल परमात्मा के ध्यान में अचल स्थिर हो गया।

प्रारब्धवश प्राप्त अर्थ से संतुष्ट रहनेवाले प्रयत्नशील पुरुष के दुस्साध्य अर्थ भी भगीरथ राजा प्राप्त कर लेता है। मन के शान्त हो जाने पर वृत्तियाँ तृप्त हो जाती हैं, आनन्दघनस्वरूप सम ब्रह्म में निरन्तर निष्ठा वाले महापुरुष के दुर्लभतर अभीष्ट वैसे ही सिद्ध हो जाते हैं, जैसे भगीरथ का सगरपुत्रों के उद्धार के लिये संजीवन स्वरूप गङ्गा-वतरणरूप अत्यन्त दुर्लभ कार्य सिद्ध हो गया था।

एक धार्मिक भगीरथ नाम का श्रेष्ठ राजा था। वह याचकों की अभीष्ट-सिद्धि के लिये चिन्तामणि के सदृश था। मृदु और शीतल स्पर्शवाला ब्रह्मतत्त्वज्ञानियों के चित्त को आह्लादित करता हुआ द्रवीभूत हो अगस्त्य मुनि द्वारा शोषित सागर को गङ्गा के प्रवाह से उसने पूरा कर दिया। पातालवासी अपने पूर्वजों को गङ्गारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोक में पहुँचाया। गङ्गाजी को यहाँ लाने के उद्देश्य से अपनी तपस्या से ब्रह्मा, शंकर और जह्नु की आराधना कर दृढ़ निश्चय से युक्त भगीरथ ने बार-बार क्लेश सहन किया। इस लोकयात्रा का विचार कर उस राजा को युवावस्था में ही तीव्र वैराग्य से विवेकयुक्त विचार उत्पन्न हुआ। वह राजा विचार करने लगा—'इस संसार में, जिसके प्राप्त हो जाने से दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कर्म को सुकृत समझता हूँ। शेष कर्म तो हैजे की बीमारी है। इस तरह चिन्ता संसार से अत्यन्त भयभीत उद्विग्न-मन राजा भगीरथ ने एक दिन अपने गुरु त्रितल से पूछा—"विभो ! बहुत काल से इन सारहीन संसारिक वृत्तिरूप बड़े-बड़े जंगलों में भटकते हुए हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं। संसार में फँसाने वाले जरा-मरण-मोहादिरूप सब दुःखों का अन्त कैसे होता है ?"

त्रितल ने कहा—चिरकाल से अभ्यस्त अन्तःकरण की समता से उत्पन्न, अखण्ड परमात्मा के ज्ञान से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, परमात्मा सर्वव्यापी उत्पत्ति-विनाश से रहित है।

राजा ने कहा—चिन्मय, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत परमात्मा है तथा देह आदि अन्य कुछ भी नहीं है—कल्पनामात्र है। ज्ञेयस्वरूप परमात्मा के स्वरूप में मेरी अचल समाधि नहीं हो रही है। इसमें क्या कारण है ?

त्रितल बोले—हृदयाकाश में यह चित्त जब ज्ञान से परमात्मा में स्थिर होने पर यह जीव सर्वात्मरूप परमात्मा को प्राप्त कर पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता। आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अहंभाव के शान्त हो जाने पर राग-द्वेष का विनाश कर देने वाला तथा जन्म-मरणरूप संसार-व्याधि की औषध परमात्मा का यथार्थ ज्ञान है।

राजा—शरीर में दीर्घकाल से सुदृढ़ अहंभाव का मैं कैसे त्याग करूँ ?

त्रितल—पौरुष-प्रयत्न से विषयभोगों की भावना का त्याग कर फिर परमात्मा की सत्ता का अनुभव कर अहंकार का बिनाश करो। सम्पूर्ण पदार्थों के त्याग के बिना यह अहंकार बना रहता है। विवेकपूर्वक परित्याग कर तुम निश्चल हो स्थिर होने पर अहंकार की तुम परमपद-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करोगे। तुम अपने देह के अभिमान से रहित होकर सब शत्रुओं में ही भिक्षाटन करने लगो तो तुम उच्च-से-उच्च स्थिति को प्राप्त कर परमपदरूप परमात्मा को प्राप्त करोगे।

गुरुजी के मुख से इस प्रकार का उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मन में निश्चित कर अनुष्ठान में तत्पर हो गये। कुछ दिन व्यतीत होने पर राजा भगीरथ ने एकमात्र सर्वत्याग की सिद्धि के लिए अग्निष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसमें उसने ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओं को समस्त धन दे दिया। उसने सम्पूर्ण धन से खाली तथा चिन्तामग्न मन्त्री, नागरिक, प्रजा आदि से युक्त अपने राज्य को तृण के समान समझ कर सीमा के पास के अपने शत्रु को दे दिया। मननशील राजा भगीरथ एकमात्र कटिवस्त्र धारण कर अपने मण्डल से निकल गया। अपने मण्डल से निकल कर धैर्यवान् राजा भगीरथ ने अपनी राजधानी से बहुत दूर के गाँवों और बनों में निवास किया, वहाँ उसके नाम-रूप को नहीं पहचान सकते थे। इस प्रकार राजा थोड़े ही समय में समस्त एषणाओं से रहित हो उत्तम उपरति के कारण परमात्मा में परम विश्राम को प्राप्त कर लिया। किसी समय राजा भगीरथ घूमता हुआ अपने नगर में चला आया और वहाँ उसने अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियों से भिक्षा की याचना की। उन नागरिकों और मन्त्रियों ने राजा भगीरथ को पहचान लिया और उन विषादयुक्त लोगों ने पूजन-सामग्री से विधिवत् उसकी पूजा की।

'प्रभो ! आप अपना राज्य ग्रहण करें।' शत्रु द्वारा प्रार्थना करने पर भी उस मननशील राजा ने भोजन के सिवा तृणमात्र भी ग्रहण नहीं किया। कुछ दिन वहाँ पर बिताकर वह अन्यत्र चला गया। दूसरे स्थान में विचरण करते हुए शान्तचित्त, स्थिरबुद्धि एवं परम सुखी वह नरेश किसी समय अपने आत्माराम त्रितल नामक गुरु के पास गया। प्रमाण आदि से अपने गुरु का स्वागत-सत्कार कर उनके साथ कुछ काल तक पर्वत, वन, गाँव और नगर में तथा अनेक सत्पुरुषों के बीच निवास किया। अपने पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त सुख और दुःख दोनों का आदर करते थे। समस्त इच्छाओं से रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकरस होकर परम शान्ति को प्राप्त किया।

किसी अन्य देश में विद्यमान पुत्ररहित राजा की मृत्यु हो गयी थी। शासक के अभाव के कारण देश की प्रजा-पालन-मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, उस देश के उदास मन्त्री आदि प्रजावर्ग प्रजा-पालनयोग्य उदार गुण-लक्ष्मी से युक्त किसी एक सुन्दर राजा की खोज में थे। वे मन्त्री आदि प्रजावर्ग भिक्षाचरण में रत, विरक्त, तपस्वी भगीरथ मुनि के पास पहुँचे। वे उनको प्रजापालनयोग्य समस्त शुभ गुणों से युक्त जानकर आदर-सत्कारपूर्वक ले आए और उनको सेना-सहित राज्य पर अभिषिक्त करके राजा बना दिया। उस राज्य का परिपालन करते समय राजा भगीरथ के पास पहले आदर प्राप्त कोसल देश के मन्त्री, पुरोहित आदि प्रजावर्ग भी आए और राजाधिराज भगीरथ से कहा—

"अयोध्या का राज्य छोड़ते समय आप ने सीमा के पास में स्थित अपने जिस शत्रु राजा को राज्यदान से पुरस्कृत किया था, उसकी मृत्यु हो गयी है, अतः अपने पूर्वराज्य की रक्षा करने की दया करें। बिना इच्छा के प्राप्त राज्य का त्याग करना उचित नहीं।"

प्रजावर्ग के प्रार्थना से राजा भगीरथ ने उनकी बात मान ली और वे सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी हो गये। राजा भगीरथ सर्वत्र समभाव रखनेवाले, शान्तचित्त, मननशील, वीतराग एवं मत्सर-रहित थे। उन्होंने अश्वका अन्वेषण करने के लिये भूमि खोदकर सागर के सदृश गर्त निर्माण किया था और कपिल की क्रोधाग्नि से पातालतल में भस्मीभूत हो चुके अपने पितामहों को तारने में गङ्गाजल ही समर्थ है, जब यह बात राजा ने सुनी, तब भूतल पर गङ्गाजी को लाने के लिये जितेन्द्रिय पृथ्वीपति भगीरथ मन्त्रियों के सिरपर समस्त राज्यभार छोड़ तप करने निर्जन वन में चले गये। उस वन में हजार वर्षतक ब्रह्माजी, शंकरजी और जह्नु मुनि की बार-बार आराधना करके वे इस पृथ्वीतल पर गङ्गाजी को ले आये। तभी से ये पुण्यतोया त्रिपथगा गङ्गाजी, जो निर्मल तरङ्ग-मालाओं से रक्षित जगत्पति शशिभूषण शिवजीके मस्तक में सुशोभित तथा महात्माओं के महान् पुण्यों की राशि हैं, आकाशतल से पृथ्वी पर गिरती हैं।

अविचल राजा शिखिध्वजकी तरह शान्तिपूर्वं अपने स्वरूपमें स्थित रहो। शिखिध्वज कौन था और उसने परमपद कैसे प्राप्त किया। सातवें मन्वन्तर की चतुर्थं चतुर्युगी के द्वापर युग में कुरुवंश में महासर्ग में शिखिध्वज नामका राजा था। जम्बूद्वीप में प्रसिद्ध बिन्ध्याचल के समीपवर्ती मालव देश की उज्जयिनी नगरी में वह राजा राज्य करता था। वह कर्मो के अनुष्ठान में लगा रहता था। मितभा भी और अनेक गुणों का खजाना था। बाल्यकाल में ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे। उसके बाद अपने बाहुबल से जितेन्द्रिय शिखिध्वज ने सोलह वर्षतक स्वयं ही दिग्विजय कर निःशङ्क हो धर्म से प्रजा का पालन करते राज्य कर रहे थे।

युवावस्था में उन्होंने अनेक वन और उपवनों में, लीला-सरोवरों में, लतागृहों में विचरण किया। राजा के विवाह के लिये विचार कर मन्त्रियों ने सौराष्ट्र देश के राजा से युवती कन्या की याचना की। राजा शिखिध्वज ने नवीन यौवन से सम्पन्न तथा अपने अनुरूप उस उत्तम कन्या के साथ विधिपूर्वक विवाह किया जो संसार में चूडाला नाम से विख्यात थी। वह भी अपने अनुरूप पति प्राप्तकर प्रसन्न थी। एक दूसरे के प्रति अर्पित चित्तवाले उन दोनों की प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी और वे एकरूप ही हो गये थे। वे समस्त कलाओं के पण्डित एवं श्रृङ्गारादि नवरसरूपी रसायनों से सुशोभित थे।

यह शरीर वर्षाकाल में जल के बूंद की भांति क्षणभर में ही विलीन हो जानेवाला है। विचार करने से जगत् का यह व्यवहार कदली-गर्भ के सदृश निस्सार ही है। दम्पती ने संसाररूपी व्याधि की असली औषध अध्यात्मशास्त्र का दीर्घकाल तक विवेकपूर्वक विचार किया। केवल आत्मज्ञान से संसार रूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णय कर वे दोनों आत्मा का ज्ञान सम्पादन करने में तत्पर हो गये। अध्यात्मज्ञान का ही उन्होंने आश्रय लिया था। उन्होंने अध्यात्मज्ञान में ही दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था। वे एक दूसरे को अध्यात्मज्ञान का ही प्रबोध कराते थे। चूडाला अध्यात्म-विषय को जानने वाले महात्माओं के मुख से श्रवण करके बाह्य शरीर के व्यापारों से उपरत और उज्ज्वल उग्रबुद्धि से युक्त हो अपनी आत्मा के विषय में अहर्निश विचार करने लगी। उसने सोचा—

'अब मैं स्वयं विवेचन कर अपने आपका पता लगाती हूँ कि मैं क्या हूँ तथा यह संसाररूप मोह किसको, कैसे, कहाँ से प्राप्त हुआ है। यह देह तो जड है; इसलिये देह मैं नहीं हूँ, यह अटल निश्चय है। हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रिय-समुदाय भी इस शरीर से अभिन्न अवयवरूप ही है। कभी अवयव और अवयवी में भेद नहीं होता, इसलिये वे भी जड ही हैं। ज्ञानेन्द्रिय समुदाय भी शरीरावयवरूप ही है, इसलिये वह भी जड ही दीख पड़ता है। संकल्पात्मक शक्ति रखने-वाला जो मन है, उसे भी मैं जड ही मानती हूँ क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ मन से ही प्रेरित होती हैं। जैसे गोफन से पाषाण प्रेरित होता है, वैसे ही मन भी बुद्धि के निश्चयों से प्रेरित होता है; इस तरह निश्चयरूपा बुद्धि भी जड ही है, यह अटल निश्चय है। अहंकार भी सारशून्य तथा मुर्दे के सदृश है, इसलिये जड ही है; क्योंकि बुद्धि अहंकार से प्रेरित होती है। अहंकार भी जड ही है, क्योंकि वह जीवात्मा से अध्यस्त है। यह चेतन जीव प्राणवायुरूप उपाधि से उपहित हुआ हृदय में रहता है। वह परमात्मा का अंश होने के कारण परमात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् है। चेतनस्वरूप आत्मा मिथ्या जड विषयों के साथ तादात्म्य एवं संसर्ग का अध्यास करके ही जड जैसा बन जाता है और अपने असली शुद्ध चिन्मय स्वरूप को भूल जाता है। चेतन जीवात्मा की विषयों के साथ एकाग्रता होने पर वह एक क्षण में अपने स्वरूप को भूलकर तत्स्वरूप हो जाता है। विषयों के सम्मुख होने से यह चेतन जीवात्मा जड, शून्य, मिथ्या के समान हो जाता है, तब चिन्मय परमात्मा के द्वारा प्रबोधित किया जाता है।' इस नित्य चिन्मय परमात्मा के जन्म, मरण, सद्गति, असद्गति या नाश की कहीं सम्भावना नहीं है अच्छेद्य, अदाह्य और परम विशुद्ध है। मैं बहुत काल के बाद शान्त होकर सब ओर से परम निर्वाण-पद को प्राप्त हुई हूँ। कुम्हार आदि के द्वारा बनायी गयी मृत्तिका की सेना जैसे मृत्तिका रूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदि से युक्त यह विश्व स्वभावतः परब्रह्मस्वरूप ही है तथा द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एक चैतन्य-स्वरूप ही है। न तो इदं है, न अहं है और न दूसरा है एवं न भाव है और न अभाव ही है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही है।' इस प्रकार परमात्मा के मनन में परायण वह चूडाला यथार्थ ज्ञान के द्वारा उस परमात्मा के वास्तविक

स्वरूप को तत्त्व से जानकर राग, भय, मोह आदि अज्ञान-विकारों के शान्त हो शरत्-काल में आकाश बादलों से रहित होने के समान हो गई है।

इस प्रकार सुन्दर वर्णवाली शिखिध्वज की श्रेष्ठ धर्मपत्नी चूडाला थोड़े ही काल में जानने योग्य परमात्मा को यथार्थ रूप से जान गयी। अपने विवेक के दृढ़ अभ्यास-बल से परमात्मा का यथार्थ अनुभव हो जाने पर वह परम शोभा सम्पन्न हो गई। किसी समय उस सुन्दर अङ्गोंवाली चूडाला को अपूर्व शोभा सम्पन्न देख राजा शिखिध्वज ने हँसते हुए कहा—प्रिये! इस समय तुम वैसे ही अत्यन्त सुशोभित हो रही हो, जैसे तुमने अमृत का सार पी लिया हो। तुम्हारे मन के साथ किसी भी विभवानन्द की वस्तु से उपमा नहीं दी जा सकती।

चूडाला ने कहा—आर्य! इस समस्त विनाशशील संसार का त्यागकर इससे भिन्न सत्-असत्-स्वरूप सर्वात्मक परमात्मा का मैंने आश्रय लिया है, इसीलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। राग और विद्वेष को विनष्ट कर देनेवाली आत्मविषयक बुद्धि और शास्त्रदृष्टिरूपी सखियों के साथ मैं रमण करती हूँ; इसलिये मैं परम शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ।

शिखिध्वज ने कहा—राजपुत्रि! तुम बालबुद्धि हो। तुम बाला हो, मुग्धा हो और चपल हो। अनेक प्रकार के आलाप-विलासों से जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूँ, उसी तरह तुम भी क्रीड़ा करो।

राजा शिखिध्वज ने अपनी प्रिया चूडाला को यह कहकर अट्टहास करते हुए मध्याह्न में स्नान करने के लिए चुडाला के महल से प्रस्थान किया। 'बड़े दुःख का विषय है कि अभी तक राजा अपने स्वरूप में स्थित नहीं हुए हैं। तब वह राजपुत्री आकाश में गमनागमन की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण भोगों की अवहेलना निर्जन स्थान में आकर अकेली ही एकान्त में आसन लगाकर ऊर्ध्वगामी प्राणवायु का निरोध करने के लिए अभ्यास करने लगी'।

इस जगत् में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरह की होती है—उपादेय (ग्रहण करने योग्य), हेय (त्याज्य) और उपेक्षा के योग्य। जो वस्तु साक्षात् या परम्परा से सुख-दायक होती है, वह उपादेय होती है; जो सुख-विघातक होती है, वह हेय होती है एवं जो वस्तु इन दोनों के बीच की होती है, वह उपेक्ष्य होती है—ऐसा अनुभवी लोगों का कहना है। परमात्म-तत्त्वको जानने वाले श्रेष्ठबुद्धि विद्वान् की दृष्टि में जब यह सब परमात्मस्वरूप हो जाता है, तब इन तीनों पक्षों में से कोई भी पक्ष नहीं रहता। जगत् को उपेक्षा-बुद्धि से केवल देखता है और समाधिकाल में उसे नहीं देखता। ऐश्वर्यादि एक ही वस्तु ज्ञानी की दृष्टि में उपेक्षा के योग्य, मूढ़ की दृष्टि में उपादेय और उत्तम वैराग्यसम्पन्न पुरुष की दृष्टि में हेय हो जाती है। आकाशगमन आदि सिद्धियों का क्रम श्रवण करो। साध्य अर्थ से भिन्न पदार्थों की वासनाओं का त्याग करके गुदा आदि द्वारों के संकोच से; सिद्धादि आसन, काया, मस्तक और गर्दन की समता, निश्चलता तथा नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करना आदि योगशास्त्रोक्त क्रियाओं से; भोजन और आसन की पवित्रता से, भलीभाँति योगशास्त्र के परिशीलन से, उत्तम आचरण से, सज्जनों के सङ्ग से, सर्वत्याग से, सुखासन से बैठकर कुछ काल तक प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, क्रोध-लोभ आदि के सर्वथा त्याग से तथा भोगों के त्याग से एवं रेचक, पूरक और कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर प्राणों पर पूर्ण प्रभुत्व हो जाने से योगी के पाँचों प्राण उसी तरह उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजा के सेवक राजा के वश में होते हैं।

प्राणायाम के द्वारा देह में स्थित प्राण-अपान वायु के अपने अधीन हो जाने पर राज्य से लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियाँ सुखसाध्य हो जाती हैं। मण्डलाकार (गोल कुण्डलाकार) से युक्त, मर्म (नाभि) स्थान में समाश्रित, सौ नाड़ियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नाम की नाड़ी है। देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्र, खग, कीट, पतङ्ग आदि सब प्रकार के प्राणियों में वह नाड़ी स्थित है। गुदा से लेकर भौंह के बीच तक सब छिद्रों का स्पर्श करती हुई वह सुषुम्ना नाड़ी मन की वृत्तियों से भीतर चञ्चल और बाहर प्राणादि से स्पन्दयुक्त होकर सदा स्थित रहती है। वह कुण्डलाकार वाहिनी है, इसलिए कुण्डलिनी नाम से कही गयी है। वह सब प्राणियों की परमा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी शक्तियों की सत्तास्फूर्ति की निर्वाहक होने से सबको वेग प्रदान करने वाली है। वही अपने मुख से प्राणवायु को ऊपर फेंकती है और अपान को नीचे खींचती है; इसलिए सदा साँस खींचती हुई स्पन्दन में हेतु बनी वह ऊपर की

ओर मुंह करके कुपित सर्पिणी की तरह स्थित रहती है। यह कोमल स्पर्शवाली कुण्डलिनी कमल में भ्रमर की तरह देह में जैसे-जैसे स्फुरित होती है, वैसे-वैसे अन्तःकरण में ज्ञान होता है। उस कुण्डलिनी में हृदयकोश की समस्त नाड़ियाँ सम्मिलित हैं। वे सब नाड़ियाँ सागर में नदियों की तरह उसी से बारंबार उत्पन्न होती हैं तथा उसी में विलीन होती जाती हैं। प्राणरूप से उसके ऊर्ध्वगमन में उत्सुक होने तथा अपानरूप से अधः प्रवेश की ओर उन्मुख होने से एक वही सम्पूर्ण ज्ञानों की साधारण बीज कही गयी है।

यह सत्य, नित्य, चेतन, विकारशून्य और अनामय जीवात्मा अपनी कल्पना से पञ्चभूतों के रूप से स्थित होता है। पूर्वकृत कर्मों के अनुसार जीवात्मा की कल्पना से पञ्चभूत मनुष्यादि देहभाव की, तिर्यङ् देहभाव की, सुवर्णभाव की, देशादिभाव की और द्रव्यादिभाव की प्राप्ति होती है। इस तरह यह संसार केवल पञ्चभूत का विकासमात्र ही है और वह चेतन जीवात्मा ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है।

इस शरीर में आधि (मानसिक) और व्याधि (शारीरिक) रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं? यह समझाकर कहिए।

आधि और व्याधि—ये दोनों दुःख के कारण हैं। औषधादि के द्वारा इनकी निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है तथा ज्ञान के द्वारा इनका समूल नाश होता है। वही मोक्ष कहलाता है। शारीरिक दुःख को व्याधि कहते हैं और वासना-मय मानसिक दुःख को आधि। अज्ञान ही इन दोनों का मूल कारण है। यथार्थ ज्ञान के होने पर इनका अवश्य विनाश हो जाता है। अभिमत पदार्थों की प्राप्ति होने से व्यावहारिक व्याधियाँ तथा आधि (अज्ञान) के क्षय से आधि से उत्पन्न मानसिक व्याधियाँ भी भलीभाँति नष्ट हो जाती हैं।

आधि से व्याधि कैसे उत्पन्न होती है? औषध के अतिरिक्त मन्त्र, पुण्य आदि युक्ति से कैसे नष्ट होती है?

मानसिक पीड़ाओं से चित्त के व्याकुल हो जाने पर शरीर में क्षोभ हो जाता है; इसलिए क्रोधी मनुष्य अपने आगे का उचित मार्ग नहीं देख पाता। वह उचित मार्ग को न देख कर कुमार्ग की ओर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार बाण से घायल हुआ हरिण अपने स्वाभाविक मार्ग को छोड़ कर अन्य मार्ग की ओर दौड़ता है। प्राण-वायु के विषम बहने पर कफ, पित्त आदि के भर आने से नाड़ियाँ विषम स्थिति को प्राप्त हो जाती हैं, जैसे राजा के अव्यवस्थित हो जाने पर वर्णाश्रम की मर्यादा विषम-स्थिति को प्राप्त हो जाती है। प्राण-वायु के संचार का क्रम बिगड़ जाने से खाया हुआ अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता या अतिजीर्णतारूप दोष की प्राप्ति होती है। इस तरह आधि से व्याधि उत्पन्न होती है और आधि के अभाव से व्याधि भी नष्ट हो जाती है। अब प्रकृत प्रसंग को सुनो।

पुर्यष्टक नामक लिङ्गात्मक जीव की आधारभूत कुण्डलिनी को तुम सुगन्ध की आधारभूत पुष्पमञ्जरी की भाँति जानो। पूरक के अभ्यास से जब प्राणी कुण्डलिनी को भर करके यानी कूर्माकार नाड़ी में प्राणवायु को रोक कर समरूप से स्थित होता है, तब मेरु पर्वत के समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा काया की गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है। जिस समय पूरक से पूर्ण शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त लम्बा करके प्राणवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु के निरोध से उत्पन्न गरमी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करने के लिए संवित (कुण्डलिनी) ऊपर की ओर पहुँचायी जाती है। उस समय प्राणवायु को ऊपर खींचने से दण्ड के सदृश लम्बी होकर वह कुण्डलिनी देह में बँधी हुई लता के समान सब नाड़ियों को अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होने के कारण सर्पिणी की भाँति शीघ्र ऊपर चली जाती है। उस समय नाड़ियों में वायु भर जाने से पैर से लेकर मस्तक तक बिल्कुल हलके हुए इस शरीर को कुण्डलिनी इस प्रकार ऊपर उठा ले जाती है, जिस प्रकार पवन से पूर्ण जलगत भाथी मनुष्य को जल के ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियों का आकाशगमन है। इस प्रकार अभ्यास से युक्त आकाशगामी योग से 'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम्।' (योग० विभूति० ४२)। शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से अथवा हलकी वस्तु (रूई आदि) में संयम करने से आकाश में चलने की शक्ति आ जाती है)। अर्थात् आकाश के साथ शरीर का सम्बन्ध रखने के लिए किये गये संयमरूप योग से योगी लोग ऊर्ध्व-गति को प्राप्त करते हैं।

जिस समय दूसरी नाड़ियों में व्यापार को रोक देने वाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से ऊपर की ओर खींच ली गयी कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्राणवायु के प्रवाह से मस्तक के दोनों कपालों की संधिरूप कपाट (किवाड़) के बाहर-बाहर अंगुल स्थान में मुहूर्तभर के लिए स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धों के दर्शन होते हैं। मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।' (योग० विभूति० ३२) (सिर के कपाल में एक छिद्र है, इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, वहाँ जो प्रकाशमयी ज्योति है उसमें संयम करनेवाले को पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में विचरण करने वाले सिद्धों के दर्शन होते हैं।) किन्तु अज्ञान का आश्रय करने वाला मलिन पुरुष इन्द्रियों से या दूसरे किसी अदिव्य उपाय से या इस पृथ्वी पर विचरण करने वाला कोई भी पुरुष वायुस्वरूप आकाशगामी सिद्धों को कभी नहीं देख सकता। परन्तु योग के अभ्यास से मन के संस्कृत हो जाने पर विषयों से दूर संस्थित बुद्धिरूपी नेत्र से स्वप्न की भाँति आकाशगामी सिद्ध दिखायी देते हैं और वे अभीष्ट अर्थों को भी देते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में पदार्थों का अवलोकन होता है, उसी प्रकार सिद्धों के भी दर्शन होते हैं। केवल स्वप्न की अपेक्षा विशेषता यही है कि सिद्धों की प्राप्ति में संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थों की प्राप्ति होती है।

रेचक प्राणायाम के अभ्यासरूप युक्ति से मुख से बाहर-बाहर अंगुलपरिमित देश में प्राण को चिरकाल तक स्थित रखने पर योगी अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है। सारे शरीर में प्रदीप्त उस जाठराग्नि से स्वभावतः शीत-वातात्मक वह शरीर ऐसे ही उष्णता को प्राप्त होता है जैसे सूर्य से तीनों लोक। तारों के आकार के समान तथा हृदय-पद्म में सुवर्ण-भ्रमर के सदृश वह तेज इस शरीर में चारों ओर विचरता है, जो योगियों की चिन्त्य-दशा को प्राप्त है अर्थात् योगी लोग जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकार से उपासित वह तेज प्रकाशस्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजन की दूरी पर स्थित वस्तु भी सदा आँखों के सामने दिखायी देती है। उष्ण-प्रकृति प्राणवायु अग्निस्वरूप है तथा शीतल-प्रकृति अपान वायु चन्द्रस्वरूप है। छाया और घाम की भाँति ये दोनों मुखरूप मार्ग में स्थित रहते हैं। इस संसार में एक, अद्वितीय, शुद्ध, सौम्य, अनिर्देश्य, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और शान्तिमय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। अन्धकार तो परमात्मा में ही आत्म-भावना से—'सर्वव्यापक, निरञ्जन और निर्मल सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं ही हूँ'—इस यथार्थ ज्ञानरूपी सूर्य से ही नष्ट होता है। रेचक के अभ्यासरूप योग से कुण्डलिनीरूप घर से बाहर निकल कर ज्यों ही दूसरे शरीर में जीव का सम्बन्ध करता है, वैसे ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है। जीवरहित यह देह चेष्टाओं से रहित होकर काठ और मिट्टी के ढेले के सदृश पड़ा रहता है। जैसे सिंचन करने वाला पुरुष जलपूर्ण कुम्भ से जिस वृक्ष और लता को सींचने की इच्छा करता है, उसे ही सींचता है, वैसे ही अपनी रुचि के अनुसार देह, जीव बुद्धि स्थावर और जङ्गम सबमें उनकी सम्पत्ति का भोग करने के लिए जीव को प्रविष्ट किया जाता है।

उक्त प्रणाली से परदेह में सिद्धिश्री का उपभोग कर स्थित योगी यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहा तो उसमें पुनः प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा तो दूसरे शरीर में जब तक उसकी रुचि रहती है, तब तक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है। योगरूप ऐश्वर्य से सम्पन्न चेतन जीवात्मा सदा प्रकट, दोषशून्य परमात्म-तत्त्व को जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है, वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है। वास्तव में अनावरणता रूप उत्तम पद ही यथार्थ पद है, यों अनुभवी लोग कहते हैं।

योग का अभ्यास करने वाली वह राजरानी सती-साध्वी चूडाला अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गयी। मोह आदि दोषों तथा त्रिविध तापों का उपशम हो जाने से उसका हृदय गङ्गाजी की भाँति निर्मल और शीतल हो गया। चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को अनेक बार यत्नपूर्वक ज्ञानामृतका उपदेश करती, परन्तु उनकी समझमें कुछ भी नहीं आता। इतनी बड़ी सिद्ध योगिनी चूडाला के प्रयत्न से भी जब राजा शिखिध्वज ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके, तब भला, अन्य साधारण व्यक्ति को ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

गुरुद्वारा उपदेश प्राप्त करने का क्रम केवल शास्त्र-मर्यादा का पालन मात्र है। ज्ञान-प्राप्ति का कारण तो शिष्य की विश्वासयुक्त विशुद्ध प्रज्ञा ही है; क्योंकि जानने योग्य ब्रह्मशास्त्रों के श्रवण से अथवा किसी पुण्यकर्म से नहीं जाना जाता, उसे तो आत्मा ही जानता है।

यदि ऐसी ही बात है कि गुरूपदेश आत्मज्ञान में कारण नहीं है तो जगत् में जो यह क्रम प्रचलित है कि आत्मज्ञान का कारण गुरूपदेश है, यह कैसे उचित होगा ?

इस विषय में एक दृष्टान्त देखिये—विन्ध्याचल के जंगली प्रदेश में एक किरात रहता था। वह धन-धान्यसम्पन्न होने पर भी अत्यन्त कृपण था। एक बार वह उस जंगली मार्ग से कहीं जा रहा था कि उसकी एक कौड़ी किसी घास-फूस से ढके हुए स्थान में गिर पड़ी। कृपण-शिरोमणि तो वह था ही; अतः उस एक कौड़ी को वह तीन दिनों तक चारों ओर सारे घास-फूसों को उलट कर खोजने का प्रयत्न करता रहा। उसके मन में बारम्बार ऐसी कल्पना उठ रही थी कि यदि यह कौड़ी मिल जाती तो समयानुसार इस एक से चार, चार से आठ, आठ से सौ, सौ से हजार और हजार से कई हज़ार कौड़ियाँ हो जातीं। उस समय सहस्त्रों मनुष्य उस कृपण का उपहास कर रहे थे; परंतु वह उनकी तनिक भी परवा न करके उस वन में आलस्यरहित होकर रात-दिन खोजता ही रहा। तदनन्तर तीन दिनों तक अथक परिश्रम करने के पश्चात् उसे उस जंगल में एक महान् चिन्तामणि प्राप्त हुई, जो पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल-सी आकार प्रकार एवं प्रकाशवाली थी। उसे पाकर किराटका हृदय प्रसन्न हो गया और वह आनन्द-पूर्वक घर लौट आया। वह चिन्तामणि जगत् के सम्पूर्ण ऐश्वर्य के समान थी। उसकी प्राप्ति हो जाने से वह सुख-शान्ति पूर्वक रहने लगा। ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियों से अतीत है और शास्त्रोपदेश से इन्द्रिय सम्बन्धी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिये गुरूपदेश से आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् आत्मज्ञान में उपदेश कारण नहीं है। फिर भी गुरूपदेश के बिना आत्मतत्त्व की प्रप्ति हो भी नहीं सकती; वह कृपण कौड़ी की खोज न करता तो चिन्तामणि की उपलब्धि उसे कैसे होती ? इसलिये जैसे चिन्तामणि की प्राप्ति में कौड़ी की खोज कारण है, वैसे ही इस महान् अर्थरूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति में गुरूपदेश पूर्णतया कारण न होने पर भी कारणता को प्राप्त है।

एक दिन चूडाला महल में बैठी हुई थी, तब राजा उससे मधुर वाणी में बोले 'प्रिये ! मैंने बहुत दिनों तक राज्य का उपभोग किया और विभवपूर्ण पदों को भी भोग लिया। अब मुझे वैराग्य हो गया है, अतः मैं वन जाना चाहता हूँ; क्योंकि वनवासी मुनि पर सांसारिक सुख, दुःख, आपत्ति, सम्पत्ति—ये कोई भी अपना अधिकार नहीं जमा सकते। न तो उन्हें देशके विनाश से मोहपूर्वक दुःख होता है और न संग्राम में प्रजाजनों का क्षय ही करना-कराना पड़ता है; अतः मैं वनवासी मुनियों के सुख को राज्य-सुख की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानता हूँ।'

चूडाला बोली—जैसे वसन्त ऋतु में पुष्प की शोभा होती है और शरद् ऋतु में पुष्प भला मालूम देता है, उसी तरह जिस कार्य के करने का अवसर प्राप्त हो, उसी का सम्पादन करने से उसकी शोभा होती है, अप्राप्तकाल के कार्य में नहीं। इसलिये जिनके शरीर बुढ़ापे से जर्जर हो गये हैं, उन्हीं के लिये वन का आश्रय लेना उचित है, आप जैसे युवकों के लिये नहीं। इसी कारण आपका यह विचार मुझे पसंद नहीं है। जब वृद्धावस्था आने पर हम दोनों के सिर के बाल श्वेत पुष्प की भाँति सफेद हो जायँगे, उस समय हम दोनों एक साथ वन को चलेंगे।

शिखिध्वज ने कहा—मेरे अभीष्ट कार्य में विघ्न मत डालो। अब तुम मुझे यहाँ से दूर एकान्त वन में गया हुआ ही समझो।

अपनी उस चन्द्रवदनी प्राणप्रिया से ऐसा कहकर जितेन्द्रिय राजा शिखिध्वज स्नान करने के लिये उठकर चल दिये और स्नान करके उन्होंने अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्यों का सम्पादन किया। जब सायंकाल हुआ, तब पुनः संध्याकालीन समस्त कृत्यों को पूरा करके वे अपनी प्रिय पत्नी चूडाला के साथ शय्या पर सो गये। आधी रात के समय जब सारे देश में सन्नाटा छा गया, सारी जनता गाढ़ निद्रा में लीन हो गयी और कोमल बिछावन से युक्त पलंग पर सोयी हुई चूडाला भी गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गयी तब जिस पलंग के आधे बिस्तर पर पत्नी सोयी हुई थी, उस पलंग से राजा उठ खड़े हुए और 'हे राजलक्ष्मि ! तुम्हें नमस्कार है' यों कहकर अकेले ही अपने राजमहल से चल पड़े। तत्पश्चात् वे मन्दराचल के तटवर्ती एक कानन में जा पहुँचे, जो मनुष्य के लिये अति दुर्गम था। वहाँ उन्होंने एक चौरस एवं शुद्ध स्थान में, जो जल से घिरा हुआ, शीतल, हरी-हरी घासों से आच्छादित होने के कारण श्याम, स्निग्ध तथा फलों से लदे हुए

वृक्षों से सम्पन्न था, मञ्जरीयुक्त लताओं से बाँधकर अपने लिये एक पर्णशाला बना ली। दिन के प्रथम प्रहर में प्रातः काल उन्होंने संध्यापूर्वक जप और दूसरे प्रहर में पुष्प आदि का संचय कर लेने के बाद स्नान और देवार्चन किया। तत्पश्चात् कुछ जंगली फल, कन्दमूल और कमलदण्ड आदि खाकर उन जितेन्द्रिय नरेश ने जप परायण हो अकेले ही रात बितायी। इस प्रकार मन्दराचल की तलहटी में अपने द्वारा बनायी गयी पर्णशाला के भीतर बैठकर जप करते हुए मालव-नरेश शिखिध्वज खेदरहित होकर दिन बिताने लगे। वे अपने पूर्वानुभूत नित्य नूतन राजसी भोग विलासों का कुछ भी स्मरण नहीं करते थे।

आधी रात के समय जब राजा शिखिध्वज महल से निकल कर दूर चले गये, तब अकस्मात् चूडाला की नींद टूटी। वह तत्काल उठकर शय्या पर बैठ गयी और चिन्ताग्रस्त होकर विचार करने लगी—

'दुःख की बात है, जो मेरे पतिदेव राज्य का परित्याग करके घर से वन को चले गये; अतः अब मेरा यहाँ रहना किस काम का? मैं भी उनके समीप ही जाऊँगी; क्योंकि ब्रह्मा ने स्त्रियों के लिये पति को ही एकमात्र गति निर्धारित किया है।' इस प्रकार सोच-विचार कर चूडाला पति का अनुगमन करने के लिये उठ खड़ी हुई और झरोखे के रास्ते निकल कर आकाश में जा पहुँची। वहाँ आकाश मण्डल में स्थित होकर उसने अपने पति को निर्जन वन में भटकते देखा। फिर वह उनके भविष्य के विषय में पूर्णरूप से विचार करने लगी। उसने योग बल से राजा को जैसे, जिस निमित्त से, जिस देश और काल में जितने कार्य का जिस रीति से सम्पादन तथा जिस प्रकार निर्वाण की प्राप्ति आदि करनी होगी, उन सभी अवश्यंभावी विषयों का योग के द्वारा अनुभव किया और फिर उन्हीं के अनुकूल आचरण करने के लिये वह ऐसा सोचकर आकाश से लौट पड़ी कि दैव का यही निश्चित विधान मालूम पड़ता है कि कुछ काल के बाद ही मैं इनके समीप जाऊँ, अतः अभी मेरा वन में जाना ठीक नहीं है।

दूसरे दिन उसने ऐसी घोषणा करा दी कि 'किसी विशेष कारण वश महाराज इस समय बाहर गये हुए हैं।' इस प्रकार समस्त पुरवासीजनों को आश्वासन देकर सुन्दरी चूडाला वहाँ रहने लगी। जैसे धान की रखवाली करनेवाली स्त्री समयानुसार पके हुए धान के खेत की रक्षा करती है, वैसे ही वह समतापूर्वक अपने स्वामी की शासन प्रणाली के अनुसार राज्य की देख-भाल करने लगी।

बहुत वर्षों तक उस महाशैल की तलहटी में निवास करते हुए राजा शिखिध्वज वृद्धावस्था को प्राप्त हो गये। इधर चूडाला अपने पति की रागादि वासनाओं के परिपाक को लक्ष्य करके उतने काल तक प्रतीक्षा करती रही। जब वन में रहते हुए जरावस्था से युक्त राजा शिखिध्वज के बहुत वर्ष व्यतीत हो गये, तब पति के प्रति अपने कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर चूडाला के मन में ऐसा विचार उदय हुआ कि अब मेरे लिये पति के समीप जाने का समय आ गया है। वह मन्दराचल की उपत्यका में जाने के लिये तैयार हो गयी और रात्रि के समय अन्तःपुर से निकलकर आकाश-मार्ग से उड़ चली। वह वायुमण्डल में होकर यात्रा कर रही थी।

चुडाला देवपुत्र के रूप में वहाँ आई। 'देवपुत्र नमस्कार है, इस आसन पर विराजमान हों' ऐसा कहकर राजा शिखिध्वज ने ब्राह्मण कुमार के वेष में आयी हुई अपनी प्रियतमा पत्नी को शास्त्रविधि के अनुसार अर्घ्य, पाद्य, पुष्प और माला आदि समर्पित किये।

तत्पश्चात् ब्राह्मण कुमार के वेष में चूडाला बोली—सज्जन शिरोमणे! आपने शान्त मन से निर्वाण-प्राप्ति के लिये फल की कामना से रहित उत्कृष्ट तप का संचय तो कर लिया है आपने जो धन-धान्य-सम्पन्न राज्य का परित्याग करके महावन का आश्रय लिया है, आपका यह शान्त व्रत तलवार की धारके समान है।

शिखिध्वज ने कहा—भगवन्! आपके लोकोत्तर चिन्ह स्वरूप सौन्दर्य से ही ज्ञात हो रहा है कि आप कोई देवता हैं, इसी से सब कुछ जानते हैं। इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? मेरी प्रियतमा भार्या वर्तमान है। आजकल वह मेरे राज्य का संचालन कर रही है। आप कौन हैं? किसके पुत्र हैं? और मुझपर कृपा करके कहाँ से और किस लिये यहाँ पधारे हैं?

ब्राह्मण कुमार बोला—राजन्! आपके प्रश्नानुसार मैं सारी बातें कहता हूँ, सुनिये। इस जगन्मण्डल में मुनिवर नारद रहते हैं। उनका हृदय परम विशुद्ध है। उनके शरीर का वर्ण पुण्यलक्ष्मी के कमनीय मुख में सुशोभित कर्पूर के तिलक के सदृश गौर है। किसी समय वे देवर्षि मेरुगिरि की कन्दरा में ध्यानावस्थित थे। उस गुहा के समीप ही उत्ताल तरङ्गों वाली गङ्गाजी बह रही थी, जिसका जल मेरुगिरि के सौन्दर्य से उद्भासित हो रहा था, जिससे वे हार की तरह सुशोभित हो रही थी। उसी गङ्गा नदी के तट पर एक बार ध्यान से विरत होने पर नारद मुनि बैठे थे, तब तक उन्हें कङ्कणों की झनकार से युक्त जलक्रीड़ा की कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ी। सुनते ही उनके मन में कुछ कुतूहल उत्पन्न हो गया और उन्होंने यह जानना चाहा कि यह क्या है? फिर तो कौतुकवश चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर उन्हें नदी में रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं का दल दिखायी पड़ा, जो जलक्रीड़ा से निवृत्त होकर बाहर निकल रही थी। भींग जाने के कारण उनके समस्त अङ्ग ऊपर से नीचे तक दीख रहे थे और ये परस्पर एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित हो रहे थे, जिससे वे एक दूसरी के लिए दर्पण-सी बन गयी थीं। एक ही स्थान पर एकत्रित चन्द्रमण्डल के कलापुञ्ज की भाँति उस कमनीय नारीदल को देखकर जब सहसा नारदमुनि का चित्त क्षुब्ध हो उठा, तब उनका वीर्य स्खलित हो गया।

तदनन्तर नारदमुनि ने अपने मनरूपी उन्मत्त गजराज को विशुद्ध बुद्धिरूपी सुदृढ़ आलान में बाँध दिया और उस स्खलित हुये वीर्य को, जो प्रलयकालीन अग्नि के ताप से पिघले हुए चन्द्रद्रव के सदृश तथा पारद और सुवर्ण आदि शम्भु के दिव्य वीर्य के समान था, अपने पास ही पड़े हुए एक अद्भुत कान्तिमान् स्फटिक कुम्भ में स्थापित कर दिया। फिर उन्होंने उस कुम्भ को अपने संकल्पजनित दूध से परिपूर्ण कर दिया, कुछ ही दिनों में वह घटस्थित शुभ गर्भ वृद्धि को प्राप्त हो गया। फिर तो जैसे मास चन्द्रमा को तथा वसन्त ऋतु पुष्पों को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार समय आने पर उस घट ने एक कमलदल-सदृश नेत्रोंवाले बालक को जन्म दिया। कुम्भ से वह बालक सम्पूर्ण होकर निकला था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो क्षीरसागर से दूसरा क्षयरहित पूर्ण चन्द्रमा निकला हो। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान वह कुछ ही दिनों में बढ़कर बड़ा हो गया। उसका शरीर अनुपम सौन्दर्य से युक्त था। जब वह जातकर्म आदि सभी संस्कारों से सम्पन्न हो गया, तब मुनिवर नारद ने अपना सारा विद्याधन उस बालक में उसी प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे एक पात्र में रखा हुआ धन दूसरे पात्र में उँड़ेल दिया जाता है। वह सम्पूर्ण वाङ्मय का विशिष्ट ज्ञाता हो गया। इस प्रकार मुनिवर नारद ने उसे अपना प्रतिबिम्ब-सा बना दिया।

तदनन्तर नारदजी अपने पुत्र को साथ लेकर ब्रह्मलोक को गये और वहाँ उससे अपने पिता ब्रह्माजी के चरणों में अभिवादन करवाया। प्रणाम कर चुकने के बाद ब्रह्माजी ने अपने पौत्र से परीक्षार्थं वेदादि शास्त्रों के विषय में प्रश्न किये और उनका समुचित उत्तर पाने पर उन्होंने उसे पकड़कर अपनी गोद में बैठा लिया। फिर तो, उन कमलयोनि ने उस कुम्भ नाम वाले पौत्र को केवल आशीर्वाद देकर सर्वज्ञ तथा ज्ञान का पारगामी विद्वान् बना दिया। साधुशिरोमणे! वह कुम्भ मैं ही हूँ। कुम्भ से उत्पन्न होने के कारण मेरा ही नाम कुम्भ पड़ा है। मैं नारदमुनि का पुत्र और पद्मजन्मा ब्रह्मा का पौत्र हूँ। ब्रह्मलोक ही मेरा घर है। वहीं मैं अपने पिता जी के साथ सुखपूर्वक निवास करता हूँ। चारों वेद मेरे सुहृद् हैं। मैं किसी कार्यवश नहीं, बल्कि कौतुकवश स्वेच्छानुसार सभी लोकों में विचारता हूँ। जब मैं भूलोक में विचरण करता हूँ, उस समय मेरे पैर भूतल पर नहीं पड़ते, धूलिकण अङ्गों का स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी मलिन नहीं होता। आज मैं आकाश मार्ग से जा रहा था कि सामने आप दिखायी पड़ गये, इसलिये यहाँ चला आया हूँ।

शिखिध्वज ने कहा—आपके वचनों से अमृत टपक रहा है, अतः आपके साथ आज मेरा समागम हो गया, इससे अब मैं धर्मात्माओं की गणना में सर्वप्रथम गिना जाऊँगा। साधु-समागम से चित्त को जैसी शान्ति उपलब्ध होती है, वैसी शान्ति राज्य-लाभ आदि कोई भी पदार्थ नहीं दे सकते; क्योंकि सत्सङ्ग होने पर सामान्य रूप से अपरिमित ब्रह्मानन्द रूप सुख प्रकट होने लगता है, जिससे कल्पनाजनित सुख प्रदान करने वाले रागादि दोषों का विचार ही नष्ट हो जाता है।

देवपुत्र के वेष में चूडाला बोली—साधुश्रेष्ठ! छोड़िये इस कथा को। मैंने तो आपके प्रश्नानुसार अपना सारा वृत्तान्त आपको बता दिया। अब आप मुझे अपना परिचय दीजिए—आप कौन हैं? इस पर्वत पर क्या कर रहे हैं? आपको अरण्यवास करते कितना समय बीत गया और इससे आप अब कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं?

शिखिध्वज ने कहा—भगवन् ! आप तो स्वयं ही देवकुमार हैं, अतः लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्त के पूर्ण ज्ञाता हैं। मेरे विषयों में भी आप सब कुछ यथार्थ रूप से जानते ही हैं, संक्षेप में अपना वृत्तान्त कहा। मैं संसार-भय से भीत हो गया हूँ अतः इस वन में निवास करता हूँ। मुझे सबसे बड़ा भय तो इस बात का है कि कहीं संसार में मेरा पुनर्जन्म न हो जाय।

देवपुत्र के रूप में चूडाला बोली—साधो ! पहले किसी समय मैंने अपने पितामह ब्रह्माजी से ऐसा प्रश्न किया था—'प्रभो ! ज्ञान और कर्म—इन दोनों में जो एकमात्र श्रेयस्कर हो, उसे मुझे बताने की कृपा कीजिए।'

तब ब्रह्माजी ने कहा—बेटा ! ज्ञान और कर्म में ज्ञान ही परम श्रेयस्कर है; क्योंकि उससे भलीभाँति कैवल्य-स्वरूप परमात्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है; परन्तु पुत्र ! जिन्हें ज्ञान-दृष्टि की प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिए कर्म सबसे बढ़कर है ज्ञानसम्पन्न के लिए सभी कर्म व्यर्थ है।

देवपुत्र के रूप में चूडाला कहती है—राजर्षे ! इस प्रकार जब वे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ज्ञान को ही परमोत्कृष्ट श्रेय बतलाते हैं, तब आप उस ज्ञान से रहित क्यों हैं ? भूपाल ! 'इधर कमण्डलु है, इधर दण्डकाष्ठ है, इधर कुश की चटाई है'—ऐसे अनर्थों से परिपूर्ण इस संसार में क्यों सुख मान रहे हैं ? राजन् ! मैं कौन हूँ ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है और किस उपाय से इसकी शान्ति होगी ?—इन प्रश्नों पर किसलिए आप विचार नहीं करते ? क्यों अज्ञानी बने बैठे हैं ?

शिखिध्वज ने कहा—देवकुमार ! बहुत काल के पश्चात् आज आपने मुझे प्रबुद्ध कर दिया। अहो ! इतने दिनों तक साधु-समागम का परित्याग करके मैं जो वन में निवास करता रहा, यह मेरी मूर्खता का परिचायक है। भगवन् ! जिसे आप सर्वोत्तम समझते हों और जिसे जान लेने पर फिर शोक नहीं करना पड़ता तथा जिसको प्राप्त करके मैं मुक्त हो जाऊँगा, उस परब्रह्म-तत्त्व का मुझे शीघ्र ही उपदेश दीजिए।

देवपुत्र के रूप ये चूड़ाला बोली—राजर्षे ! यदि आप मेरे वचनों को सुनने की श्रद्धा रखते हों तब तो मैं अपनी जानकारी के अनुसार उस ब्रह्म का उपदेश करूँगा, अन्यथा कुछ भी नहीं कहूँगा। मैं आप से यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ उपदेश देंगे, मैं उसे वेद के विधि-वाक्य की भाँति निश्चय ही तुरन्त ग्रहण कर लूंगा।

देवपुत्र के रूप में चूडाला बोली—जैसे छोटा शिशु अपने पिता के वचन को बिना ननु-नच किए प्रमाणबुद्धि से स्वीकार कर लेता है, वैसे ही आप भी मेरे इन वचनों को ग्रहण कीजिए। सुनिए, मैं एक ऐसे मनोहर कथानक का वर्णन करूँगा, जो आपके चरित्र के सदृश है। एक श्रीसम्पन्न पुरुष था, जो कलाओं का ज्ञाता, अस्त्र-विद्या में निपुण और व्यवहार करने में भी चतुर था। उसे परमपद का ज्ञान नहीं था। तब वह अनन्त प्रयत्नों से उपलब्ध होनेवाली चिन्तामणि की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या में प्रवृत्त हुआ। उस दृढ़निश्चयी पुरुष के कुछ काल तक महान् प्रयत्न करने पर चिन्तामणि प्रकट हुई। इस प्रकार उस उत्तम मणिराज के प्राप्त होने पर वह यह निश्चय नहीं कर सका कि यह चिन्तामणि ही है। तब घोर दुःख और परिश्रम से उपलब्ध हुई उस चिन्तामणि की उपेक्षा करके वह अपने विस्मययुक्त मन से विचार करने लगा—'यह चिन्तामणि है या नहीं है; क्योंकि यदि चिन्तामणि होती तो यह मेरे सामने प्रत्यक्ष नहीं होती। मैं इसका स्पर्श करूँ या न करूँ; कहीं ऐसा न हो कि यह मेरे छूने से अदृश्य हो जाय। निश्चय ही इतने ही समय में उस वास्तविक मणिराज की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि शास्त्रों का कथन है कि उसके लिए जीवनपर्यन्त प्रयत्न करना पड़ता है। भला, मेरी ऐसी उत्कृष्ट भाग्य-सम्पत्ति कहाँ हो सकती है, जो इतने थोड़े काल में सम्पूर्ण सिद्धियों को प्रदान करनेवाली उस चिन्तामणि को मैं पा लूँ।' मेरी तपस्या तो बहुत थोड़ी है। मैं साधुओं में एक तुच्छ मनुष्य हूँ और दुर्भाग्य का एकमात्र पात्र हूँ। ऐसी स्थिति में सिद्धियाँ मेरे निकट कैसे आ सकती हैं।'

इस प्रकार वह मूर्ख तर्क-वितर्क के हिंडोले में झूलता हुआ बहुत देर तक विचार करता रहा। अन्ततोगत्वा उसने उस मणि के ग्रहण करने का विचार छोड़ दिया; क्योंकि मूर्खता के कारण उसकी बुद्धि मूढ़ हो गयी थी। ऐसा नियम भी है कि जो वस्तु जिसे समय (प्रारब्ध के कारण) प्राप्तव्य नहीं होती, वह उसे उस समय पा नहीं सकता।

देखो न, उस दुर्बुद्धि ने प्राप्त हुई चिन्तामणि की भी उपेक्षा कर दी। इस प्रकार जब वह तर्क-वितर्क करता ही रह गया, तब वह मणि उड़कर वहाँ से अदृश्य हो गयी; क्योंकि अवहेलना करनेवाले को सिद्धियाँ उसी प्रकार छोड़ देती हैं, जैसे धनुष से छोड़ा हुआ बाण प्रत्यञ्चा का परित्याग कर देता हैं। सिद्धियाँ जब आती हैं, तब वे सभी अभीष्ट पदार्थों को देती रहती हैं, परन्तु अवहेलना करने पर जब वे वापस जाने लगती हैं, उस समय वे उस पुरुष की बुद्धि का विनाश कर डालती हैं।

विन्ध्यगिरि के किसी वन में एक हाथी रहता था, जो बड़े-बड़े यूथपतियों के यूथ का भी अधिपति था। उसके दोनों दाँत बहुत सफेद और बहुत लम्बे थे तथा वज्र की ज्वाला के समान चमकीले एवं तीक्ष्ण थे। एक बार एक महावत ने उसे चारों ओर से लोहे की शृङ्खला से जकड़ कर वैसे ही बाँध दिया, जैसे मुनिवर अगस्त्य ने विन्ध्याचल को और उपेन्द्र ने असुरराज बलि को बाँध दिया था। बँधा तो वह था ही, ऊपर से उसके गण्डस्थलों पर शस्त्रों की मार भी पड़ रही थी, जिससे वह धैर्यशाली गजराज भीषण यन्त्रणा भोग रहा था। उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। इस प्रकार लोहे की जंजीर में बँधे हुए उस गजराज को जब तीन दिन बीत गये, तब उसे बड़ा खेद हुआ और उस बन्धन को तोड़ डालने के लिए तैयार होकर उसने चिग्घाड़ना शुरू किया। फिर तो चार ही घड़ी में घोर प्रयास करके उस हाथी ने अपने दोनों दाँतों से बन्धन को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसका शत्रु महावत दूर से ही उसकी बन्धन-छेदन-क्रिया को देख रहा था। जब उस हाथी का बन्धन टूट गया, तब वह महावत पहले एक ताड़वृक्ष पर चढ़कर वहीं से अंकुश द्वारा उस हाथी वश में करने के लिए उसके सिर को लक्ष्य करके कूद पड़ा; परन्तु उसके पैर हाथी के सिर पर नहीं पहुँच सके, जिससे वह घबरा कर भूमि पर गिर पड़ा।

अपने शत्रुभूत महावत को सामने गिरा हुआ देखकर उस गजराज के हृदय में करुणा उत्पन्न हो गयी। वह सोचने लगा—'यदि मैं इस गिरे हुए को पैरों से कुचल दूँ तो इससे मेरा कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होगा।' विचार कर हाथी ने अपने शत्रुभूत उस महावत के प्राण नहीं लिए। अब वह हाथी वहाँ से जंगल की ओर चला गया, तब महावत उठ बैठा। उसका शरीर और बुद्धि—दोनों स्वस्थ थे। हाथी के जाने के साथ-ही-साथ उसकी व्यथा भी दूर हो गयी। इतने ऊँचे ताड़वृक्ष की चोटी से गिरने पर भी उसका अङ्ग-भङ्ग नहीं हुआ था। वह पैदल चलने में बड़ा उत्साही था। इस प्रकार जब उस हाथी के शत्रु महावत का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ और हाथी उसके हाथ से निकल गया, तब उसे महान् दुःख हुआ। वह पुनः यत्नपूर्वक वन में झाड़ियों में छिपे हुए उस हाथी की खोज करने लगा। चिरकाल के पश्चात् इसे वही गजराज मिला, जो एक जंगल में वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम कर रहा था। तब उस धूर्त महावत ने, जहाँ वह हाथी बैठा था, उसके समीप ही हाथी के फँसाने योग्य एक गोलाकार गड्ढा खोदकर तैयार किया और ऊपर से उसे कोमल लताओं से ढक दिया।

कुछ ही दिनों के बाद जब वह हाथी वन में विहार कर रहा था कि गड्ढे में जा गिरा। तब उस महावत ने गड्ढे में गिरे हुए उस हाथी को पुनः सुदृढ़रूप से बाँध दिया, जो आज भी भूगर्भ में पड़ा दुःख भोग रहा है। यदि वह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रु को पहले ही मार डालता तो आज उसे शत्रु द्वारा गर्तबन्धनरूप दुःख की प्राप्ति नहीं हुई होती। जो मनुष्य मूर्खतावश वर्तमान क्रियाओं द्वारा आगामी काल का शोधन नहीं कर लेता, वह विन्ध्यगिरिनिवासी गजराज की भाँति ही दुःख का भागी होता है। वह हाथी 'मैं शृङ्खलाबन्धन से मुक्त हो गया हूँ' इतने मात्र से ही सन्तुष्ट हो गया; परन्तु दूर चले जाने पर भी वह पुनः अज्ञानवश बन्धन में पड़ गया। अतः उससे छुटकारा पाने के लिए परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण त्रिलोकी को परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिए।

देवपुत्र के रूप में चूडाला बोली—मैंने आप को जो विचित्र कथा सुनायी उसका रहस्य भी सुनिए। उसमें जो वह शास्त्रार्थकुशल किन्तु तत्त्वज्ञान में मूर्ख चिन्तामणि का साधक बतलाया गया है, वह तो आप ही हैं। अकृत्रिम सर्वस्व-त्याग को चिन्तामणि समझिए, जो सम्पूर्ण दुःखों का अन्त करनेवाली है। शुद्ध बुद्धिपूर्वक आप उसी का साधन कर रहे हैं। वास्तविक शुद्ध सर्वत्याग से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, कृत्रिम त्याग से नहीं। यद्यपि आपने स्त्री-पुत्र, धन-दौलत और बन्धु-बान्धवों सहित सम्पूर्ण राज्य का परित्याग कर दिया है और अपने देश से बहुत दूर आकर इस आश्रम

में अपना निवासस्थान बनाया है तथापि आपके इस सर्वस्व-त्याग में अभी अहंकार का त्याग शेष रह गया है। अभी आपके मन में ऐसी धारणा बनी हुई है कि यह सर्वस्वत्याग वह महान् अभ्युदयशाली परमानन्द नहीं है। वह तो इससे भी उत्कृष्ट कोई दूसरी महान् वस्तु है, जो चिरकाल की साधना से उपलब्ध होती है। ऐसी चिन्ता करने से धीरे-धीरे जब आपके संकल्प-ग्रहण में पर्याप्त वृद्धि हो गयी, तब वह त्याग कहीं अन्यत्र चला गया। चिन्ता ही चित्त है। संकल्प तो उस चित्त का दूसरा नाम है।

आशा लोह की जंजीर से भी बढ़कर भयंकर, विशाल और सुदृढ़ होती है; क्योंकि लोह तो काल पाकर पुराना होने पर नष्ट भी हो जाता है, परन्तु आशा-तृष्णा तो दिनों-दिन बढ़ती ही चली जाती है। आज भी आप इस अत्यन्त भयंकर तथा दुःखदायक तपरूपी गर्त में बँधे हुए पड़े हैं। आप गज हैं, आशाएँ जंजीर हैं, अज्ञान शत्रुभूत महावत है, उग्र तपस्या का आग्रह ही गर्त है, भूतल विन्ध्यगिरि है। अब आप जैसा करना उचित समझें, वैसा ही कीजिये।

देवपुत्र के रूप में चूडाला ने कहा—चूडाला बड़ी नीतिनिपुण तथा ज्ञेय वस्तु के ज्ञान से सम्पन्न है, उसने उस समय जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसे आपने क्यों नहीं स्वीकार किया ? वह तत्त्वज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ है तथा जो कुछ कहती और करती है, वह सब सत्य ही होता है; अतः आपको उसके कथन का आदर-पूर्वक पालन करना उचित था। यदि आपने चूडाला के वचन का आदर नहीं किया तो सर्वत्याग का ही पूर्णरूप से आश्रय क्यों नहीं लिया ?

राजा शिखिध्वज बोले—मैंने राज्य छोड़ा, घर छोड़ा, धन-धान्यसम्पन्न देश छोड़ा, पत्नी भी त्याग दी; फिर भी आप कहते हैं सर्वत्याग क्यों नहीं किया—इसका क्या कारण है ?

देवपुत्र के रूप में चूडाला ने कहा—धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बन्धु-बान्धव—ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग हुआ कैसे ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, उसका त्याग तो अभी हुआ ही नहीं। उसका पूर्णरूप से परित्याग कर देने पर ही आप सर्वत्यागी शोकरहित हो सकेंगे।

राजा शिखिध्वज बोले—अच्छा, यदि आप ऐसा मानते हैं कि यह सारा राजपाट मेरा नहीं है तो पर्वत, वृक्ष और लताओं से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण वन तो मेरा है न ? मैं इसीका परित्याग कर रहा हूँ।

कुम्भ ने कहा—यह पर्वत का तट, वन, गर्त, जल और वृक्ष के नीचे की भूमि—ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, वह तो अभी बिना त्यागा हुआ ही पड़ा है। उसका पूर्णरूप से त्याग कर देने पर ही आप परम अशोक-पद को प्राप्त कर सकेंगे।

शिखिध्वज बोले—अच्छा, यदि ये वन आदि सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो बावली और चबूतरा आदि से युक्त यह मेरा आश्रम ही मेरा सर्वस्व है, इसका अभी त्याग किये देता हूँ।

कुम्भ ने कहा—ये जो वृक्ष, बावली (जलाशय), चबूतरा, गुल्म, आश्रम और लताओं की पंक्तियाँ हैं, इनमें से कुछ भी आपका नहीं है; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ ? अभी तो आपका सबसे उत्तम भाग पड़ा ही है, आपने उसका त्याग किया ही नहीं। उसका पूर्णरूप से त्याग कर देने पर ही आपको उत्कृष्ट अशोक-पद मिल सकेगा।

शिखिध्वज बोले—ठीक है, यदि ये सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो ये पात्र आदि तथा मृगचर्म, दीवाल और कुटीर आदि ही मेरे सर्वस्व हैं। मैं इन्हीं को छोड़ रहा हूँ। ऐसा कहकर शिखिध्वज ने भाण्ड आदि समस्त सामग्रियों को आश्रम से निकालकर एक जगह स्थापित किया, फिर सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके अग्नि प्रज्वलित की और उन सभी वस्तुओं को उस आग में डालकर वे पुनः अपने आसन पर बैठ गये। तत्पश्चात् उन्होंने अक्षमाला तथा मृगचर्म को भी उसी आग में झोंक दिया और कमण्डलु एक श्रोत्रिय ब्राह्मण को दे दिया; क्योंकि ऐसा नियम है कि अपनी जो उत्तम वस्तु हो, उसे या तो किसी महात्मा को दे दे अथवा अग्नि में जला दे। फिर राजा ने अपनी कोमल चटाई को भी चित्तशुद्धि तथा चेतन ब्रह्म में विश्राम-प्राप्ति के लिए उसी धधकती आग में फेंक दिया। फिर बोले—'कुम्भ! जो वस्तु त्याज्य है, उसे सदा त्याग देना चाहिए। मैं निष्क्रिय होने के लिए अपनी क्रियोपयोगी सारी वस्तुओं का त्याग कर रहा हूँ; क्योंकि अयोग्य वस्तु को कौन ढोता फिरे।'

राजा शिखिध्वज ने अपनी सूखी फूस की कुटिया को, जो अपने अज्ञानी मन के मिथ्याभूत संकल्प द्वारा कल्पित थी, जलाकर भस्म कर दिया। उन मौनी राजा की बुद्धि समतायुक्त हो गयी थी और मन उद्वेगरहित हो गया था, अतः उन्होंने वहाँ जो कुछ भी सामग्री शेष रह गयी थी, उस सबको क्रमशः जला दिया। यहाँ तक कि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी लँगोटी और भोजनपात्र तथा भोजन आदि को भी फूंक दिया। जब सूखी लकड़ी के साथ-साथ वे बर्तन आदि सारे पदार्थ आग में जल रहे थे, उस समय जिनका देहमात्र शेष रह गया था।

शिखिध्वज ने कहा—आश्चर्य है, चिरकाल के पश्चात् आपने अपने ज्ञानोपदेश द्वारा मुझे प्रबुद्ध कर दिया, जिससे अब मैं वस्तु-विषयक वासना का परित्याग करके सर्वत्यागी होकर स्थित हूँ तथा केवल, शुद्ध, सुख से सम्पन्न और ज्ञानवान् हो गया हूँ। जिसमें ममता-संकल्पप्रयुक्त संग्रहक्रम वर्तमान है, ऐसी यह सामग्री किस काम की। अब तो नाना प्रकार के बन्धनों के हेतुभूत विषय ज्यों-ज्यों प्रक्षीण होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों मेरा मन परमानन्द में निमग्न होता जा रहा है। मुझे शान्ति मिल रही है। मैं परमानन्दस्वरूप को प्राप्त हो रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ; अतः अब मैं पूर्ण सुखी हूँ। मेरे सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो गये; क्योंकि मैंने सर्वत्याग कर दिया। महान् त्याग करने के कारण अब दिशाएँ ही मेरे लिए वस्त्र हैं और दिशाएँ ही मेरे लिए घर हैं। यहाँ तक कि मैं स्वयं ही दिशाओं के समान स्थित हूँ। अब बताइए और क्या शेष रह गया है?

कुम्भ ने कहा—अभी भी आपने सभी वस्तुओं का पूर्णतया त्याग नहीं किया है, अतः सर्वत्यागजन्य परमानन्द की प्राप्ति का व्यर्थ ही अभिनय मत कीजिए। अपने सर्वोत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग किया ही नहीं, जिसके पूर्णतः त्याग करने से ही आपको परम अशोक-पद की प्राप्ति हो सकेगी।

शिखिध्वज बोले—अब तो सर्वत्याग में मेरा यह शरीर, जो रक्त-मांसमय तथा इन्द्रिय से युक्त है, शेष रह गया है; इसलिए अब मैं पुनः उठकर बिना किसी विघ्न-बाधा के इस शरीर को गढ्ढे में गिराकर विनष्ट कर दूंगा और सर्वत्यागी हो जाऊँगा।

कुम्भ ने कहा—बेचारे निरपराध शरीर को आप क्यों महान् गर्त में गिराना चाहते हैं? आप तो उस अज्ञानी बैल के सदृश प्रतीत होते हैं, जो कुपित होने पर अपने बछड़े को ही मारता है। यह बेचारा शरीर तो जड, तुच्छ और मूकात्मा है। सादा ध्यानस्थ-सा बना रहता है। इसने आपका कोई अपराध भी नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही आप इसका त्याग मत कीजिए। जैसे वायु द्वारा स्पन्दन (फलादिका पतन) होने पर फलवान् वृक्ष का कोई अपराध नहीं माना जाता, उसी प्रकार सुख-दुःख आदि का अनुभव-स्थान होने मात्र से शरीर को अपराधी नहीं कहा जा सकता। स्पन्दनशील वायु ही बलपूर्वक फल, पल्लव और पुष्पों को गिराती है, फिर बेचारे साधु स्वभाव वृक्ष का क्या अपराध? इसी प्रकार साधु शरीर ने साधु आत्मा का कौन-सा अपराध किया है? साथ ही, शरीर का त्याग कर देने पर भी आपका सर्वत्याग निष्पन्न तो होगा नहीं; फिर व्यर्थ ही आप इस निरपराध शरीर को गढ्ढे में क्यों फेंक रहे हैं? देह का त्याग कर देने पर सर्व-त्याग सिद्ध नहीं होता। जैसे उन्मत्त गजराज वृक्ष को तहस-नहस कर देता है, उसी तरह जिसके द्वारा यह शरीर क्षुब्ध हो उठता है, उस पापात्मा का यदि आप पूर्णतया त्याग करते हैं तभी आप महान् त्यागी हैं। उस पापात्मा का परित्याग कर देने पर देहादि समस्त पदार्थों का अपने-आप त्याग हो जाता है। यदि उसका त्याग नहीं हुआ तो गर्त में गिरकर नष्ट हुआ भी शरीर उस पापात्मा से बारंबार उत्पन्न होता रहेगा।

शिखिध्वज बोले— इस शरीर का संचालन करने वाला वह पापात्मा कौन है? जन्मादि कर्मों का बीज क्या है और किसका त्याग कर देने पर सर्वत्याग सम्पन्न होता है?

कुम्भ ने कहा—शरीर अथवा राज्य का त्याग कर देने से तथा कुटिया जलाकर भस्म कर देने से सर्वत्याग सम्पन्न नहीं होता, वह तो सर्वात्मक एवं सर्वव्यापी संकल्प द्वारा सबके एक मात्र कारण भूत सर्वात्मा का परित्याग कर देने पर ही निष्पन्न होगा।

शिखिध्वज बोले—अच्छा यह बतलाइए आपने जिस सर्वथा एवं सर्वदा त्याग ने योग्य, सर्वगत एवं सर्वात्मक वस्तु का नाम लिया है, वह सर्वात्मा किसे कहते हैं?

कुम्भ ने कहा—आप चित्त को ही भ्रम, चित्त को ही पापात्मा पुरुष और चित्त को ही जगज्जाल समझिए। यह चित्त ही 'सर्व'—सर्वात्मा कहलाता है। जैसे वृक्ष का बीज वृक्ष ही होता है, उसी तरह मन ही राज्य, देह और आदि समस्त वस्तुओं का बीज है। अतः सबके बीज भूत उस मन का परित्याग कर देने पर सबका त्याग स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। राज्यादि समस्त वस्तुओं का त्याग कर देने पर एकमात्र विज्ञानात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। पहले आप सारी वस्तुओं का परित्याग कर दीजिए। तदनन्तर जिस मन से उनका त्याग किया है, उस मन का भी लय कीजिए; फिर त्याग-अभिमान रूपी मल से भी रहित होकर जीवन्मुक्त स्वरूप हो जाइए।

राजा शिखिध्वज ने कहा—मुने! आपके वचन से चित्त का स्वरूप वासनामय है, यह तो जानता हूँ, परन्तु उसका परित्याग वज्र को निगल जाने की अपेक्षा भी अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

कुम्भ बोले—साधो! इस चित्त का सर्वथा नाश ही संसार का भी नाश है, वही चित्त का अच्छी प्रकार से त्याग है—ऐसा दीर्घदर्शी महात्माओं ने कहा है। शाखा, फल और पल्लवों से युक्त चित्तरूपी वृक्ष का अहंकार ही बीज है।

राजा शिखिध्वज ने कहा—चित्त का मूल क्या है, अङ्कुर क्या है और इसका कौन-सा खेत है, इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह मूल सहित कैसे उखाड़ कर फेंक दिया जाता है?

कुम्भ बोले—यह अहंकार ही इस चित्तरूपी वृक्ष का बीज (मूल) है, इसे आप जान लीजिए। परमात्मा की माया ही इस मायामय संसार का खेत है। इसलिए इस चित्त का भी वह परमात्मा की माया ही खेत है। इस प्रथम उत्पन्न मूल से अनात्म देह में आत्मविषयक निश्चय (बुद्धि) ही इसका अंकुर है। जो निराकार निश्चयात्मक समझ है, वही बुद्धि कही जाती है। इस बुद्धि नामक अंकुर की जो संकल्पस्वरूप स्थूलता उत्पन्न होती है, उसका चित्त और मन नाम पड़ा हुआ है। ये इन्द्रियाँ ही इस चित्तरूपी वृक्ष की दूर तक फैली हुई लंबी विस्तृत शाखाएँ हैं और जन्म-मरणात्मक हजारों अनर्थों के कारण शुभ और अशुभ रूप फलों से परिपूर्ण जो तुच्छ विषयभोग हैं, वे इसकी बड़ी-बड़ी अवान्तर शाखाएँ हैं। इस तरह के इस कठिन चित्तरूपी वृक्ष की शाखाओं का (विषयभोगों में आसक्ति का) वैराग्य से प्रतिक्षण छेदन करते हुए आप उसके अहंकाररूप मूल को उखाड़ फेंक देने वाले सच्चिदानन्द परमात्मा के चिन्तन में पूर्ण प्रयत्न कीजिए।

राजा शिखिध्वज ने कहा—चित्तरूपी वृक्ष की शाखा आदि का छेदन करता हुआ मैं उसके मूल को अशेष रूप से किस तरह उखाड़ फेकूँ?

कुम्भ बोले—फल और स्पन्दन आदि से युक्त विविध वासनाएँ चित्तरूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं। तीव्र विवेक-वैराग्य के द्वारा वे वासनारूपी शाखा में नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि जिसका मन किसी विषय में आसक्त नहीं है, जो मौनी और तर्क-वितर्क से रहित है तथा जो न्याय से प्राप्त हुए कार्य का शीघ्र सम्पादन कर लेता है, उस पुरुष का चित्त नष्ट हो जाता है। जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से चित्तरूपी वृक्ष की शाखाओं को काटता रहता है वह मूल का भी उच्छेद करने में समर्थ हो जाता है। चित्त वृक्ष की शाखाओं का छेदन करना तो गौण है और मूल का छेदन करना प्रधान है, इसलिए आप अहंकार रूप मूल का उच्छेद करने में तत्पर हो जाइये। मुख्य रूप से इस चित्तरूपी वृक्ष को मूल सहित जला डालिए। ऐसा करने पर अचित्तता हो जायगी।

राजा शिखिध्वज ने कहा—अहंभावात्मक चित्तरूपी वृक्ष के बीज (मूल) को जलाने में कौन-सी अग्नि समर्थ होगी?

कुम्भ बोले—'मैं कौन हूँ' इस विषय का विवेक-विचार पूर्वक यथार्थ ज्ञान ही चित्त रूपी वृक्ष के मूल को जलाने की अग्नि कही गयी है।

राजा शिखिध्वज ने कहा—इस विषय में मैंने अनेक बार अपनी बुद्धि से अच्छी तरह विचार कर लिया है—मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादि से मण्डित जगत् ही हूँ। जड़ होने के कारण पर्वत का तट, विपिन, पत्र, स्पन्दन आदि और देहादि मैं नहीं हूँ तथा मांस, हड्डी और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ। मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न ज्ञानेन्द्रिय हूँ। जड़ होने के कारण मन-बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। जैसे नेत्र दोष से आकाश में प्रतीत होने

वाला वृक्ष आकाश से भिन्न नहीं है, वैसे ही परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, परमात्मा के ही स्वरूप हैं। इस तरह अहंकार रूपी मल का परिमार्जन जानता हुआ भी मैं अन्तर्यामी परमात्मा को नहीं जान सका हूँ। इसलिए मैं रात-दिन चिन्ता से जल रहा हूँ। इस चित्तरूपी वृक्ष के बीज अहंकार रूप मल का त्याग करना मैं नहीं जानता हूँ; क्योंकि बार-बार त्याग करने पर भी मैं उससे छुटकारा नहीं पा सका हूँ। शरीर आदि में अहंताभिमान रूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदि का परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ। वह जिस उपाय से शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये। यह अहंभाव जीवात्मा को विषयों की ओर आकृष्ट करता है, जिससे दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिए उस दुःख की शान्ति के लिए विषय-भोगरूपी दृश्य वर्ग का जिस उपाय से अभाव होता हो, वह मुझसे कहिए। जिस पदार्थ का प्रत्यक्षात्मक कोई एक स्वरूप उपलब्ध हो रहा है, वह असत्-स्वरूप कैसे है ? हाथ पैर आदि से संयुक्त तथा क्रिया-फल रूप विलास आदि से समन्वित हमलोगों से सदा अनुभूत होनेवाला यह शरीर मिथ्या कैसे है ?

कुम्भ ने कहा—इस संसार में वास्तव में जिस कार्य का कारण विद्यमान नहीं है, वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है। विना कारण के यह शरीर रूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्य का बीज नहीं है, उसकी उत्पत्ति कहाँ कभी होती है ? अर्थात् कभी नहीं। बिना कारण के जो कार्य सामने सत् की भाँति प्रतीत होता है उसे मृगतृष्णा जल के सदृश, देखने वाले मनुष्य के भ्रम से उत्पन्न (मिथ्या) समझिए। मिथ्या भ्रम से विद्यमान शरीर आदि को आप अविद्यमान ही जानिए क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्य को भी यह मृगतृष्णा-जल प्राप्त नहीं होता है। शरीर आदि अस्थिपञ्जर रूपी यह काय अगम्य होने के कारण वह अनिवर्चनीय, अति उत्तम और विलक्षण पदार्थ है। वह सर्वस्वरूप परमात्मा सबका आत्मा है।

राजा शिखिध्वज बोले—हाथ, पैर आदि से युक्त प्रतिदिन दिखायी देनेवाले इस शरीर का भला पिता कारण कैसे नहीं है ?

कुम्भ ने कहा—कारण रूप पिता का भी अभाव होने से वास्तव में पिता भी कारण नहीं है। जो पदार्थ असत् से उत्पन्न होता है, वह असत् ही है। कार्यभूत पदार्थों का कारण बीज कहा जाता है। इसलिए जिस कार्य का कारण नहीं है, वह कार्य भी कारणरूप बीज का अभाव रहने से नहीं है। मनुष्य को जो उसका ज्ञान होता है वह तो बिलकुल विभ्रम है। अवश्य ही जो वस्तु बीजरूप कारण से रहित है, वह है ही नहीं। अतः उसका जो मनुष्य को ज्ञान होता है, वह नेत्र-दोष से दीखनेवाले दो चन्द्रमा, मरुभूमि में जल और वन्ध्यापुत्र के समान बुद्धि का भ्रम ही है—मिथ्या है।

राजा शिखिध्वज ने कहा—अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, आकाश की तरह निराकार, अविनाशी, शान्त, परब्रह्म परमात्मा सृष्टि के आदिरचयिता ब्रह्मा का कारण क्यों नहीं है ?

कुम्भ बोले—वास्तव में शुद्ध निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है; क्योंकि निर्विकार होने से उसमें कारणत्व और कार्यत्व का अभाव है। इसलिए वस्तुतः ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। वह तर्क का विषय नहीं है; अतः वह अविज्ञेय है। जो अतर्क्य, अविज्ञेय, शान्त, विकारशून्य और कल्याणरूप है, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किससे और किस समय होगा ? अतः यह जगत् वास्तव में किसी से उत्पन्न नहीं है और न इसकी सत्ता ही है। इसलिए आप न कर्ता हैं और न भोक्ता हैं; किन्तु सब कुछ शान्त, अजन्मा, कल्याणमय ब्रह्म ही है। वास्तव में कारण की सत्ता ही नहीं है। इसलिए यह जगत् किसी का भी कार्य नहीं है; क्योंकि कारण का स्वरूप न रहने से जो कार्यस्वरूप दिखायी देता है, वह केवल भ्रम से ही है। किसी का कार्य न होने से इस सृष्टि का तीनों कालों में अत्यन्त अभाव है। यह जगत् जब किसी भी कारण का कार्य नहीं है, तब अनायास समस्त पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने पर फिर ज्ञान किसका और जब ज्ञान का ही अभाव सिद्ध हो गया, तब अहंकार का कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिए आप शुद्ध मुक्त ही हैं। फिर बन्धन और मोक्ष की बात ही क्या है ? स्वयं परमात्मा के ही रहने से 'सब ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थ-भावना से जनित ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा केवल चिन्मय ब्रह्म के ही प्रकाशित हो जाने पर

फिर शोक कहाँ ? फिर तो, शोक का अत्यन्त अभाव हो जाता है। समस्त द्वैत का बाध हो जाने पर एक ब्रह्मरूप ही रह जाता है। वह ब्रह्म विशुद्ध, कारणशून्य, शाश्वत एवं आदि और मध्य से रहित है।

'देह आदि मैं हूँ' इस तरह की भावना अत्यन्त विनाशकारक बन्धन के लिए होती है तथा 'देहादि रूप मैं नहीं हूँ' इस तरह की भावना विशुद्ध मोक्ष के लिये होती है। अहंकार-ज्ञान का अभाव मोक्ष है तथा अहंकार-ज्ञान ही बन्धन है। इसलिये 'मैं वह साक्षात् ब्रह्म ही हूँ, अहंकार मैं नहीं हूँ' इस प्रकार के शुद्ध कैवल्यात्मक बोध से युक्त होकर आत्मवान् हो जायें। जिस तरह समुद्र में तरङ्ग आदि वास्तव में जलमात्र ही है, उसी तरह ब्रह्म में संसार और संसार के पदार्थ परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर एकमात्र परमात्मस्वरूप ही हैं। यह सृष्टि ही सृष्टि शब्द के अर्थ से रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है; क्योंकि यही शाश्वत परब्रह्म 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है। समस्त शब्द और उनके अर्थ की भावना का जहाँ अभाव है, वह शुद्ध, नित्य, चेतन, अनन्त परमात्मा ही ब्रह्म शब्द से कहा जाता है; क्योंकि परमात्मा का यथार्थ अनुभव हो जाने पर जब शब्द और उनके अर्थरूप संसार का ज्ञान नहीं रहता तब एक अजर, शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। वहाँ वाणी की भी गति नहीं है।

जैसे सागर जलरूप से एक है, उसी तरह यह सारा जगत् चिन्मात्रस्वरूप होने के कारण एक ही वस्तु है; अतः जैसे तरङ्गें शुद्ध जल को ही उछालती हैं, वैसे ही बुद्धिवृत्तियाँ उसी चिन्मात्र को स्पन्दित करती हैं। श्रुतियाँ जिसका ब्रह्म, चिन्मात्र, अमल और सत्त्व आदि नामों द्वारा गान करती हैं, उसी को मूढ़ लोग जगद्रूप से देखते हैं। इस संसार का स्वरूप तो चेतन परमात्मा का स्पन्दनमात्र हैं, इसलिये यथार्थ दृष्टिवालों के लिए तो इसका विनाश हो हो जाता है; परन्तु जिन्हें यथार्थदृष्टि की प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे पुरुषों को रज्जु में सर्पभ्रान्ति की भाँति यह भ्रमरूप से ही प्रतीत होता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के दोषरहित होने पर एक ही चन्द्रमा दृष्टिगोचर होता है, उसी तरह निरन्तर शास्त्रों के अभ्यास और सत्पुरुषों के सङ्ग से जब समय पाकर चित्त शुद्ध हो जाता है, तब एकमात्र चेतन परमात्मा के स्वरूप का अनुभव होता है। आप आदि मध्य से रहित स्व-स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। देहादि रूपों में आपका भेदभाव नहीं रह गया है, आप महान् चेतनस्वरूप हो गये हैं और आपका शोक नष्ट हो गया है, अतः अब आप अपने उसी पद में प्रविष्ट हो स्थित रहें।

कुम्भ के उस प्रकार कहने पर राजा शिखिध्वज हाथ में फूल लेकर कुम्भ को प्रणाम करने के लिये प्रतिवचन बोलना ही चाहते थे कि तब तक कुम्भ अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार कुम्भ के अन्तर्हित हो जाने पर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसी विस्मयोत्पादक घटना का विचार करते हुए चित्रलिखित-से अवाक रह गये। फिर वे यों सोचने लगे—'अहो ! ब्रह्मा की लीला बड़ी विचित्र है, जो कुम्भ के व्याज से मुझे सदा अभ्युदयस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। अहो ! उन देवकुमार ने मुझको अत्यन्त ही सुन्दर एवं युक्तियुक्त उपदेश दिया, जिसके प्रभाव से चिरकाल से मोहनिद्रा में व्याकुल पड़ा हुआ मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ।' आपको महानन्दस्वरूप परमपद में विश्राम की प्राप्ति हो गयी न ? इस भेदमय दुःख से सर्वथा रहित हो गये हैं न ? भोग की नीरसता का विचार करके आपातरमणीय संकल्पों से आपका प्रेम एकदम निर्मूल हो गया है न ? आपका मन हेय और उपादेय की अवस्था को अतिक्रान्त कर गया है न ? वह शान्त, शमसम्पन्न होने से समतायुक्त और प्रारब्धानुसार प्राप्त पदार्थों में उद्वेगशून्य होकर ही स्थित रहता है न ?

शिखिध्वज बोले—चिरकाल के पश्चात् थोड़े ही समय में मैं निर्विकार होकर पूर्ण विश्राम को प्राप्त हो गया हूँ। मुझे सम्पूर्ण प्राप्तव्य पदार्थ उपलब्ध हो चुके हैं। अब मैं पूर्णतया तृप्त हो गया हूँ। जिस ब्रह्म का मुझे न तो ज्ञान ही था और न जिसकी प्राप्ति ही हुई थी, उसे मैंने जान लिया और प्राप्त भी कर लिया तथा छोड़ देने योग्य संसार का त्याग भी कर दिया। अब मेरा मन वासनारहित हो गया है और मैंने परमात्मस्वरूप परम तत्त्व का आश्रय भी ले लिया है। अब मेरे मेरे लिये कुछ भी शेष नहीं रह गया है। अब तो मैं सांसारिक वासनाओं से शून्य, मोह और भय से रहित, वीतराग, नित्य ज्ञानस्वरूप, सर्वत्र समतापूर्ण, सर्वथा सौम्य, सर्वात्मक, सारी कल्पनाओं से मुक्त, आकाशमण्डल के समान निर्मल तथा एकरूप होकर स्थित हूँ।

कुम्भ और शिखिध्वज तत्त्वज्ञानी तो थे ही। इस प्रकार की आध्यात्मविषय की विचित्र कथाएँ कहते हुए तीन मुहूर्त—छः घड़ी उस वन में बैठे रहे। तत्पश्चात् किसी दूसरे शिखर पर जाकर वहाँ के सरोवर पर तथा आनन्ददायक

वन में विचरण करने लगे। इस प्रकार उस महावन की उन वनवीथियों में वैसा आचरण करते हुए तथा परस्पर वैसी कथाओं को कहते-सुनते हुए उन दोनों के आठ दिन बीत गये। तब कुम्भ ने राजा से कहा—'राजन्! आओ अब हमलोग इस पर्वत पर किसी दूसरे वन में चलें।' राजा ने कुम्भ की बात स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों वहाँ से चल पड़े।

कुम्भ ने कहा—'मैं स्वर्ग जा रहा हूँ और सायंकाल होते-होते वहाँ से निश्चय ही लौट आऊँगा; क्योंकि आपका सङ्ग मुझे स्वर्ग से भी बढ़कर सुखप्रद है।' 'अच्छा, आप शीघ्र ही लौटियेगा।' राजा के ऐसा कहने पर कुम्भ उस वनप्रान्त से उड़कर शरत्कालीन मेघ के सदृश आकाश में जा पहुँचे। वहाँ आकाशमार्ग से जाते हुए कुम्भ ने राजा के ऊपर पुष्पाञ्जलि छोड़ दी। राजा शिखिध्वज भी जाते हुए कुम्भ की ओर तब तक टकटकी लगाये देखते ही रहे, जब तक वे उनकी आँखों से ओझल नहीं हो गये।

उधर आकाश में राजा शिखिध्वज की आँखों से ओझल होते ही सुन्दरी चूडाला ने कुम्भ-शरीर का परित्याग कर दिया और वह पुनः अपने पूर्वरूप में आ गयी। फिर आकाशमार्ग से चलकर वह स्वर्ग के समान रमणीय अपने नगर में जा पहुँची और अदृश्यरूप से अपने अन्तःपुर में, जो सुन्दरी स्त्रियों से खचाखच भरा था, प्रवेश कर गयी। वहाँ झटपट सारा राज्यकार्य सँभालकर वह पुनः राजा शिखिध्वज के समक्ष आ गयी। पर आज उसके चेहरे पर उदासी छायी थी। यों उदास-मन कुम्भ को सामने देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़े हो गये। उनका भी चित्त उदास हो गया, फिर वे आदरपूर्वक यों कहने लगे—'आपको नमस्कार है। आप तो उदास-से दीख पड़ते हैं। आप कुम्भ तो हैं न? इस उदासी को छोड़िये और इस आसन पर विराजिये। जिन्हें वेद्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो चुका है तथा जो अपने स्वरूप में स्थित हो गये हैं; ऐसे सन्त-महात्मा लोग हर्ष-विषादजनित स्थिति का उसी प्रकार आश्रय नहीं ग्रहण करते, जैसे कमलपत्र जल का।'

तब कुम्भ ने कहा—जैसे जब तक तिल है, तब तक तेल रहता है, उसी तरह जब तक देह है, तब तक उसकी अच्छी-बुरी दशा भी होती है। परन्तु योग से चित्त की जो समता होती है, वही देह की अच्छी-बुरी दशाओं द्वारा प्राप्त दुःख से रहित होना है। तत्त्वज्ञानी लोग तो, जब तक प्राप्त हुए अन्तिम देह का पतन नहीं हो जाता, बुद्धि आदि की समता तथा हाथ-पैर आदि के संचालन से तब तक ईश्वरीय विधान के अनुसार समय बिताते रहते हैं।

शिखिध्वज बोले—आप तो तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं। देवता होते हुए भी आपको ऐसी उदासी किस करण से प्राप्त हुई—यह बतलाने की कृपा कीजिये।

तब कुम्भ ने कहा—जब मैं यहाँ से चला, तब आपको पुष्पाञ्जलि समर्पित करके आकाश को लाँघता हुआ स्वर्ग में जा पहुँचा। वहाँ पिताजी के साथ महेन्द्र के सभाभवन में क्रमानुसार बैठा था। जब सभा-विसर्जन का समय आया और पिताजी ने मुझे जाने की आज्ञा दी, तब मैं उठ कर यहाँ आने के लिये स्वर्ग से चल पड़ा और नभोमण्डल में आ पहुँचा। आगे बढ़ने पर मैंने देखा कि सजल जलधरों के मध्य से होकर मुनिवर दुर्वासा बड़े वेग से इधर ही आ रहे हैं। वे भूतल पर स्थित गङ्गाजी की ओर बड़ी तेजी से दौड़े जा रहे थे। तब मैंने भी आकाशमार्ग से ही आगे जाकर उन मुनिश्रेष्ठ को अभिवादन किया और कहा—'नीले मेघ के सदृश वस्त्र धारण करने के कारण आप अभिसारिका नारी की तरह लग रहे हैं।' यह सुनकर दुर्वासाजी मुझे शाप देते हुए बोले—'जाओ, इस दुर्वचन के कारण आज से तुम प्रत्येक रात्रि में स्तन और केश आदि स्त्री-चिह्नों से युक्त होकर हाव-भाव आदि विलासोंवाली कमनीया रमणी के रूप में बदल जाया करोगे।' वृद्ध ब्राह्मण दुर्वासा के मुख से निकले हुए उस अशुभ वचन को सुनकर, जब तक मैं कुछ थोड़ा विचार करने लगा, तब तक वे मुनि अन्तर्धान हो गये। इसी कारण से मेरा मन उदास हो गया है और मैं सीधे आकाश-तल से यहाँ चला आया हूँ। इस प्रकार मैंने अपना सारा वृत्तान्त आपको सुना दिया। अब मैं रात्रि में स्त्री हो जाऊँगा। भला, रात्रि में मैं इस स्त्रीत्व का निर्वाह कैसे कर सकूँगा? अहो! संसार में होनहार की बड़ी विलक्षण गति है। हाय! रात में जब मेरा स्त्रीरूप हो जायगा, उस समय मैं लज्जापरवश होकर गुरुजनों, देवताओं और ब्राह्मणों के सामने निर्बाधरूप से कैसे रह सकूँगा?

शिखिध्वज बोले—देवपुत्र ! जगत् में जो कुछ भी दुःख अथवा सुख प्राप्त होते हैं, वे सभी प्रारब्धानुसार शरीर के लिए ही होते हैं। उनमें से किसी का भी आत्मा पर प्रभाव नहीं पड़ता। आप तो शास्त्र को भूषण की तरह धारण करने वाले हैं, इसलिये किसी भी कार्यफल के विषय में विचार करना आपके लिए उचित नहीं है। फिर, यदि आप जैसे विवेकी पुरुष भी यों विचार करने लगेंगे तो अन्य अविवेकी जनों के खेद-नाश का क्या उपाय होगा ? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि खेद का विषय उपस्थित होने पर कुछ खेदोचित वचन कहना चाहिए—इसी अभिप्राय से आपने ऐसा कहा है।

जब चन्द्रोदय का समय आया, तब उन दोनों मित्रों ने उठकर संध्या-वन्दन किया और फिर जप-कर्म समाप्त करके वे लताओं के एक समूह में जा बैठे। वहाँ जब कुम्भ धीरे-धीरे स्त्रीरूप में परिवर्तित होने लगे, तब वे सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वज से गद्गद वाणी में बोले—मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपके सामने मैं लज्जा के साथ-ही-साथ स्त्रीभाव को प्राप्त होता जा रहा हूँ।

दो घड़ी तक विचार करने के पश्चात् राजा शिखिध्वज इस प्रकार कहने लगे—'अहो ! दुःख की बात है। ये कुम्भमुनि, जो महान् सत्त्वसम्पन्न थे, वे ही अब सुन्दरी स्त्री बन गये। आप तो तत्त्वज्ञानी हैं। दैव की गति भी आपसे छिपी नहीं है; अतः इस अवश्यम्भावी घटना के विषय में विचार मत कीजिए। ये जो अवश्यम्भाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ हैं, सभी तत्त्वज्ञानियों के केवल शरीर पर ही प्रभाव डाल पाती हैं, उनके अन्तःकरण पर नहीं; परन्तु ये ही अविवेकियों के केवल शरीर पर ही नहीं, अन्तःकरण तक पहुँच जाती हैं।'

कुम्भ ने कहा—ठीक है, ऐसा ही हो। अब मैं रात्रि के समय अपने स्त्री-भाव को स्वीकार कर लेता हूँ और इसके लिए चिन्ता भी नहीं करूँगा; भला, दैव का उल्लङ्घन कौन कर सकता है।

जब प्रातःकाल हुआ, तब कुम्भ ने उस युवती स्त्री के स्वरूप का परित्याग कर दिया और अपना वही कुम्भरूप धारण कर लिया। इस प्रकार वह राजरानी सुन्दरी चूडाला अपने पति के पास पहले कुम्भरूप से उपस्थित हुई, तत्पश्चात् स्त्रीरूप धारण करके आयी। वह रात्रि में कुमारी-धर्म से युक्त होकर और दिन में कुम्भ रूप धारण करके अपने मित्र एवं स्वामी शिखिध्वज के साथ वनप्रान्तों में विचरण करती थी। योगबल से उसका गमनागमन कहीं रुकता नहीं था। इस प्रकार वह नारी चूडाला पुष्पमालाओं एवं हारों से विभूषित होकर अपने मित्र एवं प्रियतम पति के साथ कैलास, मन्दर, महेन्द्र, सुमेरु और सह्यगिरि के शिखरों पर स्वेच्छानुकूल विचरण करती रही।

कुछ ही दिनों के बीतने के बाद कुम्भरूपधारिणी सती चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वज से इस प्रकार बोली—मैं प्रतिदिन रात्रि के समय स्त्री ही बनकर रहता हूँ, इसलिए मैं अपने इस प्रकार के स्त्री-धर्म को सफल बनाना चाहता हूँ। इसके लिए विवाह द्वारा अपने को किसी योग्य पति के हाथों सौंप देने का मेरा विचार है। इस विषय में त्रिलोकी में केवल आप ही मुझे पतिरूप से पसन्द आ रहे हैं, अतः विवाह-विधि से आप सर्वदा रात्रि के समय पत्नीरूप में मुझे स्वीकार कीजिए। चारों ओर से सारी वस्तुओं में इच्छा, अनिच्छा तथा तज्जनित फल का त्याग करके हमलोग इच्छा-अनिच्छा से रहित हो गये हैं, अतः इस अभीष्ट कार्य को आप अवश्य सम्पन्न करें।

तब शिखिध्वज बोले—इस विवाहकार्य के करने से मुझे शुभ अथवा अशुभ—किसी प्रकार के फल की सम्भावना नहीं दीख रही है, अतः आपको जैसा रुचे, वैसा ही कीजिए।

कुम्भ ने कहा—यदि ऐसी बात है तो आज यह श्रावणमास की पूर्णिमा है, अतः आज ही शुभ लग्न है; क्योंकि कल ही मैंने विवाहसम्बन्धी सारी गणना कर ली थी। आज रात में सम्पूर्ण कलाओं से परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमा के उदय होने पर हम दोनों का विवाह होगा। उठिये और हम दोनों बन के भीतर से अपने विवाह के लिये चन्दन और पुष्प आदि सामग्री एकत्र करें।

यों कहकर कुम्भ उठे और राजा शिखिध्वज के साथ-साथ पुष्पों को चुनने तथा सामग्रियों के सञ्चय करने में गये। इस प्रकार एक सुन्दर गुफा में सारी विवाह-सामग्री जुटाकर वे दोनों प्रेमी मित्र मन्दाकिनी नदी में स्नान करने के

लिये गये । वहाँ नहा-धोकर उन लोगों ने देवताओं, पितरों और ऋषियों का पूजन किया; क्योंकि जैसे उन्हें क्रियाजनित फल की इच्छा नहीं थी, उसी प्रकार शास्त्रविहित क्रिया का त्याग भी उन्हें पसन्द नहीं था । तदनन्तर कल्पवृक्ष के उज्ज्वल वर्ण के वल्कल वस्त्र पहनकर तथा फल खाकर वे दोनों क्रमशः विवाह-स्थान में आये । फिर सूर्यास्त होने पर उन्होंने सन्ध्या-वन्दन की विधि पूरी की और मन्त्र-जप तथा अघमर्षण आदि भी किया । इतने में ही कुम्भ स्त्री रूप में परिणत हो गये । तब वे सोचने लगे कि 'यह वधू तो मैं बन गया । अब मुझे अपना शरीर वर को दे देना चाहिए; क्योंकि समयोचित कृत्य का पालन अवश्य करना चाहिये । यह मैं वधू हूँ और आप मेरे मनोनीत वर सामने उपस्थित हैं । यह आपके परिणय का समय है, अतः आइये और मुझे ग्रहण कीजिए ।' यों विचार कर वह वर के समीप, जो सामने वनवेदी के निकट स्थित तथा उगते हुए सूर्य के समान तेजस्वी थे, गयी और बोली—'मैं आपकी भार्या हूँ । मेरा नाम मदनिका है । मैं आपके चरणों में यह स्नेहपूर्वक प्रणाम करती हूँ । नाथ ! अब आप शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अग्नि प्रज्वलित करके मेरा पाणिग्रहण कीजिये ।'

उन दोनों ने वेदी के समीप खड़े हुए खम्भों को फूल से लदी हुई लताओं से सजाया । फिर उस वेदी के मध्य-भाग में अग्नि की स्थापना करके उसे चन्दन की लकड़ियों से प्रज्वलित किया । जब लपटें निकलने लगीं, तब दक्षिण क्रम से उसकी प्रदक्षिणा की । तत्पश्चात् उस अग्नि के सामने पल्लव के आसन पर पूर्वाभिमुख हो दोनों आसीन हो गये । उन दोनों वर-वधू की अद्‌भुत शोभा हो रही थी । शिखिध्वज ने उठकर स्वयं ही उस कान्ता मदनिका का पाणिग्रहण किया । मङ्गलस्वरूप दम्पती ने उस अग्नि की प्रदक्षिणा की । उन दोनों ने परस्पर एक-दूसरे को अपना हृदय, जो प्रेम के लिए लोलुप तथा सर्वोत्तम ज्ञान से पूर्ण था, समर्पित कर दिया । उन्होंने अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा की और उसमें लाजा-होम किया । इस प्रकार समान रूप से सन्तुष्ट हुए वर-वधू ने एक-दूसरे द्वारा पकड़े गये अपने हाथ हो छुड़ा लिया । तदनन्तर उन दोनों प्रेमियों ने वहाँ से उठकर एक सुन्दर कन्दरा में, जिसका उन्होंने पहले से ही स्वयं निर्माण कर रखा था और जिसमें चमकीले दीपक जल रहे, प्रवेश किया । और वे दोनों पुष्पशय्या पर बैठ गये । फिर तो, परस्पर प्रेम भरे तरह-तरह के मनोहर वाग्विलासों से, समयोचित आलिङ्गन आदि कृत्यों से, प्रेमयुक्त व्यवहारों से तथा नये-नये सुखोपभोग से उस उत्तम दम्पति की वह लम्बी रात एक मुहूर्त के समान बीत गयी ।

इस प्रकार वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज उस महेन्द्राचल की गुफा में स्वयं विवाहित होकर देवतुल्य परम प्रेमी दम्पती बन गये । दिन में तो वे परम प्रेमी मित्र बन जाते थे और रात में प्रिय पति-पत्नी हो जाते थे । प्रभा और दीपक की तरह वे परस्पर घुले-मिले रहते थे, अलग तो कभी होते ही नही थे । इस प्रकार जब धीरे-धीरे कुछ मास व्यतीत गये, तब देवपुत्र का स्वरूप धारण करनेवाली चूडाला ने विचार किया कि अब मैं नाना प्रकार के उत्तम-उत्तम उपभोगों-द्वारा राजा शिखिध्वज की परीक्षा करूँगी, जिससे इनका चित्त कभी भी भोगों में अनुरक्त नहीं होगा । ऐसा सोचकर चूडाला ने अपनी माया के बल से उस वनस्थली में देवगणों तथा अप्सराओं के साथ पधारे हुए इन्द्र को दिखलाया । परिवार सहित इन्द्र को अपने निकट आया हुआ देखकर वनवासी राजा शिखिध्वज उनकी विधिवत् पूजा करके पूछा—आपने इतनी दूर से यहाँ आने का कष्ट क्यों उठाया ? आप जिस प्रयोजन से यहाँ पधारे हैं, उसे बतलाने की कृपा कीजिए ।

इन्द्र ने कहा—आपके गुणाधिक्य रूपी सूत्र ने हमारे हृदय को बाँधु रखा है, जिससे खिचकर हम आकाश से यहाँ आ गये हैं । अब उठिए और स्वर्ग चलिये; क्योंकि वहाँ यूथ-के-यूथ देवता तथा देवाङ्गनाएं आपके गुणों को सुनकर विस्मय-विमुग्ध हो रहे हैं और वे सब-के-सब आपके शुभागमन की प्रतीक्षा में बैठे हैं । इसलिए आप पादुका, गुटिका, खड्ग और पारद आदि रसों को भी लेकर सिद्धमार्ग से स्वर्ग लोक में चलना स्वीकार कीजिये । आप जीवन्मुक्त तो हैं ही, अतः देवलोक में पधार कर आप अनेक प्रकार के भोगों का उपभोग करें, इसी कारण मैं आपके पास आया हूँ । आपके समान जो संत-महात्मा हैं, वे न तो प्राप्त हुई लक्ष्मी का तिरस्कार द्वारा अपमान करते हैं और न अप्राप्त की कामना ही करते हैं । जैसे भगवान् नारायण के शुभागमन से त्रिलोकी पवित्र हो जाती है, वैसे ही आप बिना किसी विघ्न-बाधा के स्वर्ग पधारे और वहाँ सुख पूर्वक विहार करें, जिससे स्वर्ग पवित्र हो जाय ।

शिखिध्वज बोले—मैं तो सभी देशों को स्वर्ग-सा ही मानता हूँ; क्योंकि मैं जिस परमात्मा को स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सत्ता सदा सर्वत्र वर्तमान है; अतः मेरे लिए कहीं पर भी एक देशी स्वर्ग नहीं है। मैं सभी जगह संतुष्ट रहता हूँ और सभी स्थानों में विचरण करता हूँ। मेरे मन में किसी प्रकार की इच्छा तो है नहीं, अतः मैं सर्वत्र आनन्द से परिपूर्ण रहता हूँ। इन्हीं सब कारणों से एक स्थान में स्थित रहने वाले किसी ऐसे एक देशी स्वर्ग में जाने की तो मैं इच्छा ही नहीं करता इसलिए मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगा।

इन्द्र ने कहा—जिन्हें ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गयी है, उनके लिये भोगों का उपभोग करना और न करना बराबर है; अतः आपके लिए भोगों का सेवन करना उचित है। देवराज इन्द्र के यों कहने पर भी जब राजा मौन ही रहे, तब इन्द्र ने पुनः कहा—'जब आपकी ऐसी ही धारणा है, तब मैं ही यहाँ से चला जाता हूँ।' यों कहकर 'आपका कल्याण हो' यह अशीर्वाद देते हुए इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये। देवराज के अदृश्य होते ही उनके साथ का देवसमूह भी क्षण भर में अदृश्य हो गया।

इन्द्र-दर्शन को माया का उपसंहार करके चूडाला मन-ही-मन विचार करने लगी—'बड़े सौभाग्य की बात है, जो विषय भोगों की लालसा इन नरेश के मन को आकृष्ट करने में समर्थ न हो सकी। इन्द्र के आने पर भी ये निर्विकार शान्त ही रहे। इनके शरीर के अवयवों की स्थिति पूर्ववत् समान रही तथा बिना किसी प्रकार के क्षोभ एवं अवहेलना के इन्होंने इन्द्र के साथ उचित व्यवहार भी किया। अतः अब मैं पुनः एक ऐसे माया प्रपञ्च की रचना करूँगी, जिसमें राग-द्वेष की प्रधानता रहेगो और जो बुद्धि का अपहरण करने वाला होगा। फिर उसके द्वारा आदरपूर्वक इनकी परीक्षा करूँगी।' ऐसा निश्चय करके रात्रि में चन्द्रोदय होने पर उसने उस वन में सुन्दरी मदनिका का रूप धारण कर लिया। उस समय जब राजा शिखिध्वज नदी के तट पर संध्यावन्दन तथा जप-कर्म में तत्पर होकर ध्यानस्थ थे और शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी, तब मदनिका काम-मद से विह्वल हुई-सी संतानक वृक्षों के एक लताकुञ्ज में प्रविष्ट हुई। वह कुञ्ज सघन पुष्प गुच्छों से सुशोभित था तथा वन देवियों के शुद्ध अन्तःपुर-सा प्रतीत होता था। वहाँ पुष्पहारों से सजी हुई मदनिका ने अपने संकल्प से एक पुष्पशय्या तैयार की और उस पर मायानिर्मित एक सुन्दर जार पुरुष को लेकर उसके गले से लिपट कर लेट गयी।

उधर जप कर्म समाप्त होने पर जब राजा शिखिध्वज उस स्थान से उठे और एक कुञ्ज से दूसरे कुञ्ज में मदनिका का अन्वेषण करने लगे, तब उन्हें उस लता गृह में मदनिका दीख पड़ी। उसके गले से एक मनोहर जार पुरुष लिपटा हुआ था। उस पुरुष के कंधे लम्बे केशों से आच्छादित थे और शरीर में चन्दन का अनुलेप लगा हुआ था। उसके सिर की सजावट शय्या पर इधर-उधर के परिवर्तन एवं परस्पर के मर्दन से अस्त-व्यस्त हो गयी थी। वह मदनिका की भुजा को, जिसकी कान्ति सुवर्ण की-सी थी तथा जो मोड़ने के कारण दो भुजा-सी लग रही थी, तकिया बनाकर उसपर अपना कान, नेत्र प्रान्त, कपोल और केश रखकर लेटा हुआ था। तदनन्तर राजा ने पुनः देखा—उन दोनों स्त्री-पुरुष के मुख परस्पर एक दूसरे से सटे हुए हैं और उनपर मुसकराहट खेल रही है। शयन करते समय उनके पुष्पहार हिल रहे हैं। वे कामवेग से आतुर और व्याकुल हैं। परस्पर आलिङ्गन के बहाने वे एक-दूसरे को अपना प्रेम समर्पित कर रहे हैं। वे एक दूसरे के उन्मुख, समान आनन्द से परिपूर्ण तथा प्रबल काममद से भरपूर हो गये हैं। यह सब देखकर भी राजा शिखिध्वज के मन में जरा-सा भी क्रोध-विकार उत्पन्न नहीं हुआ, उलटे वे परम संतुष्ट हुए और कहने लगे—'ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दमग्न हैं।' सहसा राजा को आया हुआ देखकर जब दोनों डर गए, तब राजा ने कहा—'भय मत करो। तुम दोनों स्वेच्छानुसार सुखपूर्वक जैसे सोये हो, वैसे ही सोए रहो। मैं इसमें विघ्न नहीं डालूंगा।' यों कहकर राजा वहाँ से चले गये।

दो ही घड़ी के बाद चूडाला उस प्रपञ्च का उपसंहार करके लतागृह से बाहर निकली। उस समय उसका शरीर प्रियतम के साथ सम्भोग करने के कारण प्रफुल्लित दीख रहा था था। बाहर आकर उसने देखा कि राजा शिखिध्वज एकान्त में एक सुन्दर शिला पर बैठे हैं। उनकी समाधि लग गयी है, जिससे उनके नेत्र थोड़े खुले हुए हैं। तब सुन्दरी मदनिका राजा के निकट गयी और क्षण भर तक चुपचाप खड़ी रही। उस समय लज्जा के कारण उसका मुख

नीचे झुक गया था और उसकी कान्ति मलिन हो गयी थी तथा मन खिन्न था। क्षण भर के बाद जब राजा शिखिध्वज ध्यान से विरत हुए, तब मदनिका को पास ही खड़ी देखा। उसे देखकर उनकी बुद्धि में जरा-सा भी क्षोभ नहीं हुआ। वे उससे अत्यन्त मधुर वाणी में कहने लगे—क्या किसी ने शीघ्र ही तुम्हारे सुख में विघ्न डाल दिया ? तुमने सुख का उपभोग तो किया है न ? इसमें लज्जित होने की क्या बात है; क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं, वे सभी सुख के लिए ही तो प्रयत्न करते हैं अतः तुम जाओ और पुनः अपनी प्रणयगर्भित चेष्टाओं से अपने उस प्रियतम को संतुष्ट करो। तुम्हारे इस कार्य से मेरे मन में किसी प्रकार की उद्विग्नता नहीं है। यहाँ मेरे और कुम्भ में तो राग का लेशमात्र भी नहीं रह गया है, अतः हम दोनों तो वीतराग हो चुके हैं। तुम तो हम लोगों से भिन्न एक तीसरी नारी हो, जो महर्षि दुर्वासा के शाप से उत्पन्न हुई हो; अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।'

तब मदनिका बोली—आपका कथन बिल्कुल सत्य है; परन्तु मैं क्या करूँ, स्त्रियों का स्वभाव ही बड़ा चञ्चल होता है। उनमें पुरुषों की अपेक्षा काम का वेग भी अठगुना बताया जाता है; अतः आप मुझ पर क्रोध न करें। जब आप संध्या वन्दन तथा जप कर्म में रत हो गये, तब रात्रि के समय इस गहन कानन में उस कामी पुरुषने मुझे पकड़ लिया। उस समय मैं दीन अबला कर ही क्या सकती थी। स्त्रियों का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे अपने काम वेग को रोक नहीं सकतीं। एक तो मैं अबला नारी, दूसरे नव युवती और मूढ़ हूँ; इसी कारण मुझसे यह महान् अपराध हो गया। अब आप मुझे क्षमा करें; क्योंकि क्षमा करना साधु पुरुषों का स्वभाव ही है।

शिखिध्वज ने कहा—तुम्हारे इस कृत्य से मेरे अन्तःकरण में क्रोध तो तनिक-सा भी नहीं है, परन्तु मैं अब तुम्हें अपनी वधू के रूप में केवल इस कारण से स्वीकार करना नहीं चाहता कि साधु पुरुष इस कर्म की घोर निन्दा करेंगे। इसलिए अब हम दोनों पहले की तरह मित्र भाव से वीतराग होकर वन प्रान्तों में नित्य साथ-साथ ही सुखपूर्वक विचरण करेंगे।

इस प्रकार राजा शिखिध्वज समत्व भाव में स्थित हो गये, उन्हें रागद्वेष की भावनाओं से निर्मुक्त देखकर चूडाला प्रसन्न हो विचारने लगी—'अहो ! शिखिध्वज अब सर्वोत्कृष्ट समता को प्राप्त हो गए हैं। राग से शून्य हो जाने के कारण अब इनमे क्रोध का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं है। अब ये सचमुच जीवन्मुक्त हो चुके हैं। तभी तो जिन्हें स्वयं इन्द्र प्रदान कर रहे थे, वे उत्तमोत्तम भोग, इनको विचलित नहीं कर सके तथा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ, सुख, दुःख, आपत्ति और सम्पत्ति भी इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ न हो सकी। एक जीवन्मुक्त में जितनी निर्दोष महान् ऋद्धियाँ बतायी जाती हैं, वे सब-की-सब इस समय अकेले इन्हीं का आश्रय ले रही हैं, अतः ये दूसरे नारायण की तरह जान पड़ते हैं। इसलिए अब मैं इस कुम्भ रूप का परित्याग करके चूडाला ही बन जाऊँगी और इन्हें अपने सारे वृत्तान्त का स्मरण दिलाऊँगी।' यों विचार कर चूडाला ने तुरन्त ही मदनिका के शरीर को छोड़कर वहीं अपने को चूडाला के रूप में प्रकट कर दिया। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो चूडाला मदनिका के उसी शरीर से निकली है। तत्पश्चात् वह योग धारण से युक्त होकर राजा के सामने सुशोभित हुई। राजा ने प्रेमपरवशता के कारण निर्दोष अङ्गोंवाली उस कमनीया मदनिका को ही अपनी प्रियतमा भार्या चूडाला के रूप में स्थित देखा। उस समय चूडाला भूमि तल से प्रकट हुई लक्ष्मी (सीता) के समान सुशोभित हो रही थी तथा रत्नमञ्जूषा से निकली हुई रत्नप्रभा की भाँति उद्दीप्त हो रही थी। इस रूप में राजा शिखिध्वज ने अपनी प्राण प्रिया को सामने उपस्थित देखा।

अपनी प्यारी पत्नी चूडाला को देखकर आश्चर्य के कारण राजा शिखिध्वज के नेत्र प्रफुल्लित हो उठे। तब वे आश्चर्ययुक्त वाणी से इस प्रकार बोले—'तुम अपने शरीर से, व्यवहार से, मन्द-मुसुकान से, अनुनय-विनय से तथा पत्नी सम्बन्धी विलास से ऐसी उपलक्षित हो रही हो, मानो मेरी भार्या चूडाला की ही प्रतिमूर्ति हो।'

चूडाला ने कहा—हाँ, ऐसा ही समझिए, निस्संदेह मैं चूडाला ही हूँ। आज मैंने अपने पहले के स्वाभाविक शरीर से साक्षात् आपको प्राप्त किया है। इस वन में मैंने जो कुम्भ आदि के देहनिर्माण द्वारा मायाप्रपञ्च प्रकट किया था, वह तो केवल आपको प्रबुद्ध करने के लिये ही था। जब आप मोहवश राज्य का परित्याग करके तपस्या के लिये वन

में चले आये, तभी से मैं आपको ज्ञानसम्पन्न बनाने के लिये प्रयत्न कर रही थी। इस कुम्भवेष से मैंने ही आपको प्रबुद्ध किया है। मैंने माया द्वारा जो कुम्भ, मदनिका आदि के शरीर का निर्माण किये थे, उसका एकमात्र प्रयोजन आपको प्रबुद्ध करना ही था। वास्तव में कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं है। यदि मेरी बातों पर विश्वास न आता हो तो आप जानने योग्य परमात्मा को जान चुके हैं, अतः ध्यान लगाने से आप यह सारा दृश्य अविकल रूप से देख सकेंगे। इसलिये अब शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिये।

चूडाला के ऐसा कहने पर राजा आसन लगाकर बैठ गये और ध्यान द्वारा उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त अच्छी तरह से जान लिया। मुहूर्तमात्र के ध्यान से ही राजा ने राज्य-परित्याग से लेकर चूडाला के साक्षात्कारपर्यन्त अपने विषय में जितनी घटनाएँ घटी थीं, उन सबको प्रत्यक्षरूप से देख लिया। तत्पश्चात् समाधि भंग होने पर हर्षातिरेक से राजा के नेत्रकमल विकसित हो उठे, भुजाएँ रोमाञ्च के कारण उज्ज्वल हो गयीं। उन्होंने तुरन्त ही दोनों ही भुजाओं को फैलाकर अपनी प्रियतमा पत्नी चूडाला का गाढ़ आलिङ्गन किया। उस समय स्नेह घनीभूत होकर टपक रहा था, आँखों से प्रेमाश्रु झर रहे थे और प्रेम स्फुरित हो रहा था। शिखिध्वज ने कहा—तुम बालचन्द्रमा के सदृश सुन्दरी हो, फिर भी तुमने अपने पति के लिये चिरकाल तक कितना दारुण कष्ट उठाया है। मैं बस दुस्तर भवकूप में डूब रहा था, तुमने अपनी जिस सत्त्वमयी बुद्धि के आश्रय से मेरा उससे उद्धार किया है, तुम्हारी उस बुद्धि की उपमा भला, किससे दी जा सकती है? वह अनुपमेय है। अलौकिक सौन्दर्यवाली नारियों में धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री और करुणा आदि उत्तम रूपवती मानी जाती हैं; परंतु तुम तो उन सभी में मुख्य प्रतीत हो रही हो। तुमने घोर प्रयत्न करके मुझे ज्ञानसम्पन्न बनाया है। इस उपकार के बदले में ऐसा कौन-सा कार्य करूँ जिससे तुम्हारा मन प्रसन्न हो। जो कुलीन स्त्रियाँ होती हैं, वे उद्योगपरायण होकर अनादि काल से चले आते हुए अत्यन्त गहन से भी गहन मोहरूपी सागर में पड़े अपने पति का उद्धार कर ही लेती हैं। यहाँ तक कि कुलाङ्गनाएँ अपने पति के लिए सखा, भ्राता, सुहृद्, भृत्य, शिक्षक, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ बन जाती हैं। अतः जिनमें इहलोक तथा परलोक—दोनों का सम्पूर्ण सुख प्रतिष्ठित है, उन कुलाङ्गनाओं का सभी प्रयत्नों द्वारा सर्वदा सम्यक्रूप से आदर-सत्कार करना चाहिये। रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रत्नों से विभूषित तुम पतिव्रता सती हो तुम्हारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं और संसार-सागर से पार हो चुकी हो—ऐसी दशा में तुम्हारे इस उपकार का प्रतिशोध मैं कैसे कर सकूँगा।'

तब चूडाला बोली—बारंबार शुष्क क्रियाजाल में फँसकर जब आपका आत्मा व्याकुल हो जाता था, तब उसे देखकर मैं आपके लिए अत्यन्त चिन्तातुर हो जाती थी; इसलिये आपके आत्मा को ज्ञानसम्पन्न बनाकर मैंने अपना ही तो स्वार्थ सिद्ध किया है—(अपनी ही चिन्ता का तो नाश किया है। इसमें आपका क्या उपकार किया।) आप तो व्यर्थ ही इस बात को लेकर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं।

शिखिध्वज ने कहा—ठीक है, तुम जिस प्रकार के शुभ स्वार्थ का सम्पादन कर रही हो, वैसा ही स्वार्थ सभी कुलाङ्गनाएँ सिद्ध करें।

चूडाला बोली— 'यह करूँ, यह न करूँ, इसे प्राप्त करूँ' इस प्रकार की बुद्धि की अपक्व दशाजनित कोमलता-रूप जो स्थिति थी, उसका आप क्या अपने अंदर उपहास करते हैं? क्योंकि जैसे आकाश में पर्वत नहीं दीख पड़ते, उसी प्रकार आप में वे पहले के तुच्छ तृष्णाओं का समूह तथा कुत्सित संकल्परूपी कल्पनाएँ अब दृष्टिगोचर नहीं हो रही हैं। अब आपका कैसा स्वरूप बन गया है? किस वस्तु में आपकी निष्ठा है और आप क्या चाहते हैं? अपनी पिछली शारीरिक चेष्टाओं को कैसा देखते हैं?

शिखिध्वज ने कहा—जिस-जिसके अन्दर तुम हो, उसी-उसी के अन्दर मैं उपस्थित हूँ। मैं इच्छा और स्पृहा से तथा एकदेशता से रहित हो गया हूँ, आकाश के समान निर्मल हूँ, शान्त हूँ और वास्तविक परमार्थस्वरूप परमात्मा हूँ। मैं समस्त वस्तुओं की निष्ठा से मुक्त एकमात्र चिन्मय परमात्मस्वरूप हूँ। जो 'तत्' वस्तु—सच्चिदानन्दघन ब्रह्म वही मैं हूँ। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कह सकता। अब मैं शान्त, अपने ब्रह्मस्वरूप में स्थित, कोमल, प्रयत्नशील, आसक्ति और एकदेशता से रहित, सर्वव्यापक और वास्तव में सबसे अतीत निर्मल आकाश की तरह स्थित हूँ।

चूडाला बोली—आप तो महान् सत्वसंपन्न तथा मेरे हृदयवल्लभ हैं। आपकी बुद्धि अगाध है। बताइये, ऐसी दशा में अब आप क्या चाहते हैं ?

शिखिध्वज ने कहा—चित्त के इच्छा और आसक्ति से रहित हो जाने के कारण मैं प्रारब्धानुसार न्यायतः प्राप्त वस्तु की न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ। अतः अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।

चूडाला बोली—सर्वत्र अद्वैत का बोध होने से हम लोगों के अज्ञान का विनाश हो गया है, अतः अब निर्मल रूप में स्थित हैं। इस समय राज्य-शासन द्वारा क्रमशः अपनी अवशिष्ट विदेहमुक्त हो जायेंगे। इसलिये अब आप अपने नगर में लौट चलिये और राजकाज सँभालिये। रमणियों की भूषणस्वरूपा मैं आपकी पटरानी होकर रहूँगी।

शिखिध्वज ने कहा—तुमने अपनी निर्विकार बुद्धि से जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। हमें राज्य के ग्रहण अथवा त्याग से क्या प्रयोजन है। हम लोग सांसारिक सुख-दुःख की चिन्ता और मत्सर से रहित मत्सरशून्य और ब्रह्म-स्वरूप में स्थित हुए यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार निवास करेंगे।

इस प्रकार वहाँ उन दोनों निर्दोष एवं प्रेमी पति-पत्नी के बहुत देरतक परस्पर वार्तालाप करते हुए सायंकाल हो गया। तब उन दोनों ने उठकर अपना दैनिक कार्य संपन्न किया। वे दोनों जीवन्मुक्त तो थे ही, अतः स्वर्ग की सिद्धि का अनादर करके सर्वथा समचित्त हो वे दोनों एक ही शय्या पर बैठ गये। उनकी वह रात्रि तरह-तरह की प्रेमभरी चेष्टाओं की पूर्ति में ही बीत गयी।

प्रातःकाल होने पर वे प्रेमी दम्पति उस सुन्दर कन्दरा में बिछे हुए कोमल एवं चिकने पत्तों के आसन पर उठकर बैठ गये। उस समय चूडाला ने कहा—आपका यह शान्त तेज-स्वरूप केवल मुनियों के योग्य है, अतः इसका परित्याग करके अब आपको इन्द्रादि अष्ट लोकपालों के समान तेजस्वी रूप धारण करना चाहिये।

उस वन में चूडाला के यों कहने पर राजा शिखिध्वज ने 'ठीक है, ऐसा ही करूँगा' यों कहकर महाराज का स्वरूप धारण कर लिया और अपनी प्रिया चूडाला से कहा—'तुम्हे चाहिये कि क्षणभर में ही अपने सत्यसंकल्प से महान् वैभव से युक्त विशाल सैन्यदल एकत्र कर दो।' अपने पति की यह बात सुनकर सुन्दरी चूडाला ने ज्यों ही सेना का संकल्प किया, त्यों ही उन दोनों ने देखा कि एक विशाल सेना सामने प्रत्यक्ष खड़ी है, जिसने उस कानन को ठसाठस भर दिया है। वह हाथी-घोड़ों से भरी-पूरी है तथा पताकाओं से आकाश को पूर्ण-सा कर रही है। जिसकी तुरहि आदि के शब्द पर्वतों की गुफाओं तथा गहन कोटरों को प्रतिध्वनित कर रहे हैं। तब उस सेना में, जिसके चारों ओर राजा लोग मण्डलाकार में खड़े थे तथा हृष्ट-पुष्ट सामन्त जिसकी रक्षा कर रहे थे, ऐसे एक मदस्रावी गजराज की पीठ पर वे राज-दम्पति सवार हुए। अपनी प्रियतमा महारानी सहित महाबली राजा शिखिध्वज ने पैदल सैनिकों तथा रथों से खचाखच भरी हुई उस विशाल सेना के साथ उस वन से प्रस्थान किया। थोड़े ही समय के बाद अपनी पुरी में जा पहुँचे।

अपनी पुरी में पहुँचने पर जय-जयकार के तुमुल नाद से जब राजा के सम्मानित सामन्तों को पता लगा कि महाराज पधार रहे हैं, तब वे उनके स्वागत के लिये सेना लेकर नगर से बाहर निकले। वहाँ राजा ने नमस्कार करते हुये प्रजावर्ग का भलीभाँति सम्मान किया। इस प्रकार सात दिनों तक नगर में बड़े धूमधाम के साथ उत्सव मनाकर राजा अपने अन्तःपुर में निवास करते हुए राज्य का पालन करने लगे।

शिखिध्वज के भय और विषाद नष्ट हो गये थे। मान और मात्सर्य से वे रहित हो गये थे तथा वे न्याययुक्त प्राप्त शास्त्रोक्त स्वाभाविक कर्मों का सम्पादन करने वाले थे। भोगों में उनकी वैराग्यबुद्धि हो गयी थी और वे सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टि से युक्त हो गये थे। इस प्रकार उपर्युक्त बोध के द्वारा उन्होंने मृत्यु को—जन्म-मरण को जीतकर दस हजार वर्षों तक एकछत्र राज्य किया था।

देवताओं के आचार्य बृहस्पति के पुत्र कच ने राजा शिखिध्वज की तरह ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। कच का अभी बाल्यकाल समाप्त होकर यौवन आरम्भ हुआ था कि वह संसार-सागर को पार जाने के लिये कटिबद्ध हो गया।

कच ने पिता से पूछा कि इस संसाररूपी जाल से कैसे बाहर निकल सकता हूँ ?

बृहस्पति बोले—अनर्थरूप हजारों मगरों के निवासस्थान इस संसार-सागर से किसी प्रकार के उद्वेग के बिना किये गये सर्व-त्याग से तत्काल ही प्राणी बाहर निकल जा सकता है। अपने पिता का यह वचन सुनकर कच सब परित्याग कर एकान्त वन में चला गया। पुत्र के जाने से बृहस्पति को चित्त में जरा भी उद्वेग नहीं हुआ; क्योंकि जो महान् होते हैं, उनका मन संयोग और वियोग—दोनों में सुमेरु पर्वत के सदृश अचल रहता है। वन में जाने के अनन्तर उसे जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महारण्य में कच ने अपने पिताजी का दर्शन किया। कच ने पहले अपने पिता की विधिपूर्वक पूजा की, फिर उन्हें प्रणाम किया। बृहस्पति ने भी अपने पुत्र का आलिङ्गन किया। इसके बाद कच ने बृहस्पति से कहा—पिताजी! मैंने जो सर्वत्याग किया है, उसका आज आठवां वर्ष है, किन्तु मुझे अभी तक निर्मल शान्ति प्राप्त नहीं हुई।

'सभी का त्याग करो' यह कहकर बृहस्पति आकाश में जाकर अदृश्य हो गये। कच ने अपने शरीर पर से वल्कल आदि का भी परित्याग कर दिया और शरद काल के आकाश की तरह वह दिगम्बर हो गया। वह अनावृत्त दिशाओं में रहने लगा। उसने किसी एक जङ्गल में फिर अपने गुरु उन्हीं पिताजी का दर्शन किया। भक्ति से उसने अपने पिताजी का पूजन-अभिवादन आदि किया। पिता ने भी अपने पुत्र का आलिङ्गन किया। अनन्तर कच दुःखित होकर गद्‌गद वाणी से पूछने लगा—मैंने सबका त्याग कर दिया, कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदि का भी त्याग कर दिया। तथापि अपने आत्मपद में मेरी स्थिति नहीं हुई। अब मैं क्या करूँ?

'चित्त ही सब कुछ है; अतः उसी का त्यागकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। सर्वज्ञ लोग चित्त-त्याग को ही सर्वत्याग कहते हैं'। पुत्र से ऐसा कहकर बृहस्पति शीघ्रता से आकाश में उड़ गये। कच त्याग के उद्‌देश्य से चित्त की खोज करने लगा। खोज करने पर भी जब उसे चित्त की प्राप्ति नहीं हुई, तब उसने विवेक-पूर्वक विचार किया कि 'देह आदि जो भी कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता। इसलिये बेचारे अपराध-शून्य देह आदि का मैं व्यर्थ ही क्यों त्याग करूँ? इस परि-स्थिति में अब चित्तस्वरूप महाशत्रु को जानने के लिये पिताजी के पास ही जाता हूँ। उसे जानकर मैं उसका त्याग करूँगा।

कच स्वर्ग में चला गया तथा बृहस्पति के पास जाकर उसने स्नेह-पूर्वक वन्दना और प्रणाम किया। फिर, एकान्त में उसने उनसे पूछा—'भगवान्! चित्त क्या है? इसका आप मुझे उपदेश दीजिए और चित्त का स्वरूप भी बतलाइए, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ।'

बृहस्पति ने कहा—चित्त-तत्त्वज्ञ अपने अहंकार को ही चित्त जानते हैं; यह भीतरी अहंभाव ही चित्त कहा जाता है।

कच ने कहा—अहंभाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है। मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव-सा है कि किसी प्रकार सिद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए इसका त्याग कैसे होगा?

बृहस्पति ने कहा—पुत्र! अहंकाररूप चित्त का त्याग तो फूलों के मर्दन से भी और नेत्रों के मिलन से भी अत्यन्त सुलभ हैं; जो वस्तु केवल अज्ञान से उत्पन्न होती है, उसका परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से विनाश हो जाता है। जैसे मिथ्या भ्रम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी वास्तव में कुछ नहीं है। असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, एक, आदि और अन्त से रहित, चैतन्यमात्र, सभी ओर से निर्मल, आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभवरूप परमात्मा ही सत्य वस्तु हैं। सभी जगह और सभी प्राणियों में निरन्तर सब ओर से प्रकाश करनेवाला वही एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा प्रकाशित होता है।

मिथ्यापुरुष को तुम अहंकार ही जानो। वह शून्य आकाश में माया से उत्पन्न है मायामय आकाश के एक कोने में यह जगत् स्थित है, वह स्वयं सृष्टि के आदि में भी असीम, असत् और शून्यरूप ही रहता है। उस मायाकाश के अन्दर प्राणियों से अत्यन्त अगम्य परमब्रह्म परमात्मा विराजमान है और उसी ब्रह्मरूप मायाकाश से आरम्भ में अहंकार का वैसे ही उदय होता है, जैसे आकाश से शब्द और वायु से स्पन्दन का उदय होता है। वह अहंकार ही मायापुरुष और मिथ्यापुरुष है; क्योंकि माया से जो अहंकार उत्पन्न हुआ है, वह असत् एवं मिथ्यारूप ही है। केवल ब्रह्म ही जगत् के

रूप में प्रकाशित हो रहा है। आदि, मध्य और अन्त से तथा उत्पत्ति और विनाश से रहित वह परमात्मा एक, अद्वितीय, सत्य, परमपद-स्वरूप और शान्तिमय है।

किसी समय सुमेरु पर्वत के अग्निसदृश उत्तरीय शिखर पर समस्त परिवार के साथ भगवान् शङ्कर विराजमान थे। उमापति से साधारण आत्मज्ञानी भृङ्गीश ने अञ्जलि बाँधकर पूछा—'महाराज ! इस क्षणभङ्गुर जगद्रूपी घर के अन्दर समग्र चिन्ताज्वर से मुक्त होकर निश्चलरूप से मैं कैसे स्थित रह सकता हूँ ?'

शङ्कर ने कहा—तुम समस्त महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो जाओ।

भृगीरा ने कहा—किन लक्षणों की प्राप्ति पर पुरुष महाकर्त्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो सकता है ?

भगवान् शङ्कर बोले—अहंता, पाप और मात्सर्यरहित जो मननशील पुरुष उद्वेगरहित हो शास्त्रविहित क्रियाओं का अनुष्ठान करता है; जो कहीं पर भी स्नेह नहीं रखता, साक्षी के सदृश निर्विकार रहता है और जो न्याययुक्त प्राप्त कार्य का निष्कामभाव से आचरण करता है वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। उद्वेग और हर्ष से रहित जो पुरुष निर्मल समबुद्धि से शोकजनक परिस्थितियों में शोक नहीं करता और हर्षजनक परिस्थितियों में हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो ज्ञानवान् मुनि अपने प्रारब्ध से जिस समय जो भी कोई न्यायोचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समय उस कार्य को आसक्तिरहित हो करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जन्म, स्थिति और विनाश में तथा उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों में जिसका मन सम ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो किसी की अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्ध के अनुसार न्याययुक्त प्राप्त हुए सारे पदार्थों का उपभोग करता है; जो पुरुष अहंकार से रहित और परमात्मा में स्थित होने के कारण न्यायपूर्वक इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करता हुआ भी ग्रहण नहीं करता, कर्मों का आचरण करता हुआ भी आचरण नहीं करता एवं पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी उपभोग नहीं करता, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष बुद्धि की खिन्नता से रहित होकर साक्षी के सदृश समस्त लोकव्यवहारों का किसी प्रकार की इच्छा के बिना अनुभव करता है, वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है। जैसे समुद्र नाना नदियों के जल को समान रूप से ग्रहण करता है, वैसे ही जो मनुष्य न्याय से प्राप्त बड़े-बड़े सुख-दुःखों को समान रूप से ग्रहण करता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष कड़ुए, खट्टे, नमकीन, तीते, मीठे, खारे स्वादु या अस्वादु भी न्याय से प्राप्त अन्न को समान बुद्धि खा लेता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है।

काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, सुख, दुःख, जन्म और मृत्यु का जिसने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त संशयों, वाणी, मन और शरीर की सभी चेष्टाओं तथा सम्पूर्ण सांसारिक निश्चयों का जिस पुरुष ने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। यह जितनी भी सम्पूर्ण दृश्यरूप मन की कल्पना दिखायी दे रही है, उसका जिस पुरुष ने अच्छी तरह से त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है।

अपने राज्य का परिपालन करते हुए इक्ष्वाकु नामक राजा किसी समय एकान्त में जाकर अपने मन में स्वयं यह विवेकपूर्वक विचार करने लगे कि 'बुढ़ापा, मृत्यु, क्षोभ, सुख, दुःख तथा भ्रम से युक्त इस दृश्य-प्रपञ्च का हेतु क्या है।' इस प्रकार विचार करते हुए ब्रह्मलोक से आए हुए सभा में बैठे हुए अपने पिता प्रजापति मनु से पूछा—'यह सृष्टि कहाँ से आयी है, इसका स्वरूप कैसा है तथा कब किसने इसकी रचना की है ?'

मनु बोले—यह जो कुछ जगत् दिखाई दे रहा है, वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह आकाश में प्रतीत होनेवाले गन्धर्वनगर की भाँति तथा मरुस्थल में प्रतीत होनेवाले जल की भाँति मिथ्या है। किन्तु जो अविनाशी परब्रह्म है, वही 'सत्' और 'परमात्मा' इत्यादि नामों से कहा जाता है। तुम निर्वासनारूप अस्त्र से वासनारूप कर्म-वन को काटकर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ब्रह्मभाव प्राप्तकर शोकरहित हो जाओ। तुम सदसद्वस्तु के विवेकरूप विचार से युक्त होकर समस्त कल्पनाओं से रहित हो जाओ तथा समस्त विशाल भवनों को परमात्मा के स्वरूप से परिपूर्ण समझो। जन्म-मरणरूप रोग से रहित होकर परब्रह्म परमात्मा के आनन्द का अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक स्थिर रहो और समता तथा शान्ति से युक्त होकर निर्भय चेतन ब्रह्मस्वरूप बन जाओ।

सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की संगति से अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिए। यही योगी के योग की पहली भूमिका 'श्रवण' भूमिका है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' नामक दूसरी भूमिका है। संसार के संग से रहित होकर परमात्मा के ध्यान में नित्य स्थित रहना 'निदिध्यासन' नामक तीसरी भूमिका है। जिसमें वासना का अत्यन्त अभाव है, वह ब्रह्म साक्षात्कार से अज्ञान आदि निखिल प्रपञ्च की निवृत्ति करनेवाली 'बिलापनी' नाम की चौथी भूमिका है। इस 'ब्रह्मवित्' पुरुष को संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। विशुद्ध चिन्मय आनन्दस्वरूप की प्राप्ति पाँचवीं भूमिका है। इस भूमिका में जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुष के सदृश रहता है। अर्धसुप्त पुरुष को संसार की जैसी प्रतीति होती है, वैसी ही इस 'ब्रह्म-विद्वर' जीवन्मुक्त पुरुष को होती है। छठीं भूमिका में एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा का ही अनुभव रहता है, संसार का अनुभव ही नहीं रहता। जैसे सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य को संसार की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही इस 'ब्रह्मविद्वरीयान्' योगी को जाग्रत अवस्था में भी संसार की प्रतीति नहीं होती। इसे स्वसंवेदनरूप शान्तिमय 'तुर्यावस्था' कहते हैं। केवल विदेह-मुक्तिरूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है। यह अवस्था समता, स्वच्छता और सौम्यतारूप है। तुर्यातीत सप्तम भूमिका में स्थित योगी को 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं। इसमें गाढ़ सुषुप्ति की तरह संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। छठी भूमिका में स्थित योगी को तो दूसरे के द्वारा जगाये जाने पर प्रबोध होता है। किन्तु सातवीं भूमिका में स्थित योगी मुर्दे की भाँति दूसरे के द्वारा जगाये जाने पर भी नहीं जागता; क्योंकि वह जीता हुआ ही मुर्दे के तुल्य है। वह जीता है तो भी थोड़े समय ही जीता है। मरने पर उसकी आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है, तब उसको भी विदेहमुक्त कहते हैं। यह तुर्यातीत अवस्था परम मुक्तिरूप हैं।

इन सातों में पहले की तीन भूमिकाएँ हैं, वे जाग्रद्रूप ही हैं और जो चौथी भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गयी है; क्योंकि उसमें जगत् स्वप्न के सदृश प्रतीत होता है। आनन्द के साथ एकात्मभाव हो जाने से पाँचवीं भूमिका अर्ध-सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थों के ज्ञान से रहित एकमात्र छठी भूमिका तुर्य शब्द से कही जाती है। तुर्यातीत शब्द से कहलाने वाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणी से परे है तथा स्वप्रकाश परब्रह्मरूप ही है।

महासर्ग के आरम्भ में प्राणी उस परमात्मा से निकलकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के जन्मों का अनुभव करते हैं। परमात्मा से निकलने के बाद उन जीवों के अपने-अपने जो कर्म हैं वे ही सुख और दुःख के कारण होते हैं तथा अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्पन्न हुआ जो संकल्प है वही शुभाशुभ कर्मों का कारण होता है। ये इन्द्रियाँ जिस-जिस विषय की ओर निरन्तर दौड़ती हैं, उस-उस विषय में पुरुष राग के द्वारा बँध जाता है। इसलिए उन विषयों में राग न करनेवाला पुरुष ही मुक्त होता है। अतएव तृण से लेकर देवादि शरीर तक के जितने स्थावर-जङ्गमरूप विनाशशील पदार्थ हैं, उनमें तुमको रुचि नहीं करनी चाहिए। तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो और जो कुछ दान करते हो, उन सब क्रियाओं में तुम वास्तव में न कर्ता हो और न भोक्ता हो; क्योंकि तुम उन सबसे मुक्त और शान्त स्वरूप हो। जो महात्मा पुरुष हैं, वे न तो अतीत के विषय में शोक करते हैं और न भविष्य के विषय में चिन्ता ही करते हैं। वे तो वर्तमान काल में जो कुछ न्याययुक्त कर्म प्राप्त हो जाता है, उसी का उचित रूप में सम्पादन करते हैं। तृष्णा, मोह, मद आदि जितने त्याज्य भाव हैं, वे सब मन में ही स्थित रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को अपने विवेक-विचारयुक्त मन के द्वारा ही मनसहित उनका विनाश कर देना चाहिये; क्योंकि जैसे अति तीक्ष्ण लोहे से लोहा काटा जाता है, वैसे ही सब भ्रमों की शान्ति के लिए अति तीक्ष्ण विवेक-विचार युक्त मन से दोष सहित मन काटा जाता है।

जो असक्त, सम और स्वच्छ स्वरूप स्थित है वही तुर्य है। जिसमें जीवन्मुक्त पुरुषों की स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है तथा जो व्यवहार काल में साक्षीरूप है, वही तुर्यावस्था कही जाती है, संकल्पों का अभाव रहने के कारण यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञान का अभाव होने से यह न सुषुप्त ही है अर्थात् यह इन तीनों अवस्थाओं से अतीत है। ज्ञान के द्वारा सामने दिखायी देने वाले इस जगत् की जो निवृत्ति है, परमात्मा में स्थित एवं

भली-भाँति प्रवुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषों की उसी अवस्था को तुर्यपद कहते हैं। अहंकार का त्याग होने पर और चित्त के विलीन हो जाने पर जब समता की उत्पत्ति हो जाती है, तब उसे तुर्यावस्था कहते हैं। दृष्टान्त के द्वारा इसको बता रहा हूँ। किसी एक विस्तृत घने जंगल में महामौन धारण करके बैठे हुए किसी एक अद्भुत मुनि को देखकर एक व्याघ्र ने उनसे पूछा—'मुने! मेरे बाण के द्वारा घायल एक मृग इधर आया था, वह कहाँ चला गया?' 'सखे! हम जंगल के निवासी मुनि समता और शीलवान् होते हैं। व्यवहार का कारण जो अहंकार है, वह हमलोगों में नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक किसी भी अवस्था को मैं नहीं जानता। इन अवस्थाओं से अतीत एकमात्र तुर्यपद में ही, जहाँ दृश्य का अभाव है, मैं स्थित रहता हूँ।' मुनि श्रेष्ठ के इस वचन सुनकर वह व्याघ्र उनके अर्थ को न समझकर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चला गया। इसलिए तुर्य से श्रेष्ठ अन्य कोई अवस्था नहीं है। कल्पना से रहित सच्चिदानन्द परमात्मा ही तुर्य है और वही यहाँ विद्यमान है, उसके सिवाय अन्य कुछ नहीं है।

जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता हुआ अन्त में मनुष्य-जन्म में भाग्योदय होने पर विवेकी बन जाता है। वह सोचता है 'मैं वैराग्यवान् बनकर किस तरह संसार सागरको तैर जाऊँ'। इस प्रकार के विचार में जब प्राणी तत्पर होता है, तब उसके हृदय में भोगों और सांसारिक संकल्पों में हर समय वैराग्य रहता है। वह सत्संग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना आदि उत्तम क्रियाओं का अनुष्ठान करता है और उन्हीं में प्रसन्न रहता है। तुच्छ व्यर्थ चेष्टाओं में उसे निरन्तर वैराग्य रहता है। वह दूसरों के दोषों को प्रकट नहीं करता और स्वयं यज्ञ, दान, तप, सेवा-पूजा आदि पुण्य कर्मों का ही सेवन करता है। वह किसी के भी मन में उद्वेग न पहुँचाने वाले शास्त्र विपरीत कर्म से सदा डरता रहता है और सांसारिक विषय भोगों की कभी अभिलाषा नहीं करता। वह स्नेह और प्रणय से पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश-कालोचित वचन बोलता है। वह मन, कर्म एवं वाणी से सत्पुरुषों का संग और सेवा करता है। जिस किसी जगह से ज्ञानदायक शास्त्रों को प्राप्त करके उनका विवेक-विचार पूर्वक स्वाध्याय करता है। संसार-सागर को तैर जाने के लिये इस प्रकार के विचार से सम्पन्न पुरुष प्रथम 'शुभेच्छा' नामक भूमिका को प्राप्त होता है। इसमें उसे आत्मोद्धार के सिवा और कोई भी इच्छा नहीं रह जाती। इसी को 'श्रवण' भूमिका भी कहते हैं।

इसके बाद अधिकार की प्राप्ति होने पर 'विचार' नामक दूसरी योगभूमिका में प्रवेश होता है। उस समय श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मों में तत्पर रहने वाले पुरुषों में से, जिन्होंने अध्यात्म-शास्त्रों की प्रशस्त व्याख्या करने के कारण अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है, उन श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय लेकर उनके उपदेशानुसार साधन करता है। वह अध्यात्मशास्त्र का श्रवण करके कार्य और अकार्य के स्वरूप को तत्त्वतः जान लेता है। मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभ को उसी तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप केंचुल को। उपर्युक्त यथार्थ निश्चय से युक्त पुरुष सत्-शास्त्र, गुरु और सज्जनों की सेवा से ब्रह्मविषयक रहस्य को विवेक-विचार-पूर्वक यथार्थरूप से पूर्णतया जान लेता है और उसके अनुसार मनन करता है। वह अध्यात्मविषयक शास्त्रों के वाक्यार्थ में अपनी बुद्धि को निश्चलतापूर्वक स्थापित करता है, तपस्वियों के आश्रमों में निवास करता है, अध्यात्मशास्त्रों की कथाओं का मनन करता है तथा निन्दनीय संसार के विषय-भोगरूप पदार्थों से वैराग्य करके पत्थर की चट्टानरूपी शय्यापर आसीन हो अपनी आयु बिताता है। अध्यात्म-विषयक सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मननरूप अभ्यास से तथा निष्काम पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से उस पुरुष को अध्यात्मविषयक यथार्थ दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस भूमिका का नाम 'विचारणा' है। इसी को 'मनन' भी कहते हैं।

तीसरी भूमिका में पहुँचकर विवेकी पुरुष दो प्रकार के असङ्ग का अनुभव करता है। उसके इस भेद को समझो। यह असङ्ग दो तरह का है—एक सामान्य और दूसरा श्रेष्ठ (विशेष)। 'मैं न कर्ता हूँ और न भोक्ता ही; मैं सांसारिक कर्मों के लिये बाध्य नहीं हूँ और न दूसरों के लिये बाधक हूँ।' इस प्रकार के निश्चय से विषय भोगों की आसक्ति से रहित होना ही सामान्य असङ्ग है। 'सुख या दुःख की प्राप्ति पूर्वकर्म के अनुसार निश्चित और ईश्वर के अधीन है अर्थात् ईश्वर के विधान के अनुसार होती है। इसमें मेरा कर्तृत्व कैसा? ये विस्तृत विषयभोग अन्त में संताप देने वाले होने के कारण महारोग हैं तथा ये सांसारिक सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं। संयोग का अन्त में वियोग निश्चित है और

ये मन के सारे विकार बुद्धि की व्याधियाँ हैं। सब पदार्थों को ग्रास बना लेने के लिए काल सदा तैयार रहता है।' इस तरह अध्यात्मविषयक वचनों के अर्थ में संलग्न चित्तवाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों में जो आन्तरिक मिथ्यात्व की भावना है, वह भी सामान्य असङ्ग कहलाता है। इस पूर्वोक्त अभ्यास योग से, महापुरुषों की संगति से, दुर्जनों की संगति के त्याग से आत्मज्ञान के प्रयोग से तथा लगातार अभ्यास योग द्वारा अपने पुरुष-प्रयत्न से संसार सागर के पार, सबके सार, परम कारणभूत परमात्मा के ध्यान की स्थिति हस्तकमलवत् दृढ़रूप से खूब स्पष्ट हो जाने पर जो नाम रूप की भावना से रहित होकर 'न मैं कर्ता हूं, न ईश्वर कर्ता है, न प्रारब्धकर्ता है'—यों शान्त और मौन रूप से स्थित रहना है वही श्रेष्ठ (विशेष) असङ्ग कहलाता है। तथा जो शान्त, आदि-अन्त से रहित सुन्दर सच्चिदानन्द घन ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है। यही श्रेष्ठ असङ्ग नामक तीसरी भूमिका है। इसी को 'निदिध्यासन' भी कहते हैं। इस भूमिका में स्थित पुरुष सम्पूर्ण संकल्पों की कल्पनाओं से शून्य होकर परमात्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है।

तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गयी हैं; क्योंकि इन भूमिकाओं में यथावत् भेदबुद्धि रहने से यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत्काल की तरह ही दिखायी पड़ता है। इन तीनों भूमिकाओं में योगयुक्त पुरुषों में केवल आर्यता (श्रेष्ठता) का उदय होता है, जिसे देखकर मूढ़बुद्धि पुरुषों को भी मुक्त होने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। जो मनुष्य शास्त्र-विहित कर्तव्यकर्मों का भली-भाँति सम्पादन करता है तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों को सर्वथा नहीं करता है एवं सदाचार में स्थित रहता है, वह आर्य कहा गया है। श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आचारित, शास्त्रोक्त तथा मन को प्रिय और हितकर यथोचित व्यवहारों को जो ग्रहण करता है, वह आर्य कहा गया है। योगी की वही आर्यता प्रथम भूमिका में अङ्कुरित, द्वितीय भूमिका में विवेक के द्वारा विकसित तथा तृतीय भूमिका में संसार के असङ्ग और परमात्मा के ध्यानरूप फल से फलित होती है। इस तीसरी भूमिका (आर्यता) की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ संकल्पयुक्त भोगों का चिरकालतक उपयोगकर पुनः योगी ही होता है। क्रमशः तीनों भूमिकाओं का अभ्यास करने से अज्ञान के नष्ट हो जाने पर वास्तविक ज्ञान का उदय होने के बाद जब चित्त पूर्ण-चन्द्रोदय के सदृश हो जाता है, तब चौथी भूमिका में पहुँचे हुए युक्तचित्त योगीलोग सम्पूर्ण जगत् में विभाग से तथा आदि और अन्त से रहित समभाव से परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अनुभव करते हैं। द्वैत के सर्वथा शान्त हो जाने पर जब अद्वैत ही अचल रह जाता है तब चौथी भूमिका में गये हुए योगीलोग समस्त संसार को स्वप्न के समान अनुभव करते हैं। इसलिए पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं को तो जाग्रत् कहते हैं और चौथी भूमिका को स्वप्न कहते हैं।

जो पुरुष पञ्चम भूमिका में पहुँच गया है, वह केवल सत्स्वरूप ब्रह्म बनकर रहता है। इस अर्धसुषुप्त पञ्चम भूमिका को प्राप्त करके पुरुष समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्व में नित्य स्थित हो जाता है। पाँचवीं भूमिका में स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्ति से रहता है। बाह्य व्यापार में लगा हुआ भी निरन्तर चारों ओर से शान्त होने के कारण तन्द्रा में स्थित के सदृश दिखायी देता है। वह कभी तो बाहरी व्यवहार करता है और कभी अटल समाधि में स्थित रहता है। इस भूमिका में वासनाशून्य होकर अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्या नाम की छठी भूमिका में चला जाता है। उस भूमिका में निर्विकल्प होने के कारण योगी द्वैत और अद्वैत की भावना से रहित हो जाता है। वह चिज्जड-ग्रन्थि से और संदेह से रहित हो जाता है। वह वासनाओं से रहित जीवन्मुक्त योगी चित्रलिखित प्रदीप की भाँति निर्वाण को न प्राप्त हुआ भी निर्वाण को प्राप्त हुआ सा स्थित रहता है। (उसको बाहरी ज्ञान नहीं रहता। किंतु दूसरों के चेष्टा करने पर बाह्य ज्ञान हो सकता है।) वह जीवन्मुक्त योगी बाहर और भीतर से शून्य आकाश में स्थित घट की तरह बाहर-भीतर संसार से रहित रहता है तथा सागर में परिपूर्ण घट के समान बाहर-भीतर ब्रह्म से परिपूर्ण रहता है। तदनन्तर छठी भूमिका में स्थित हुआ वह योगी सातवीं भूमिका में पहुँचता है। सातवीं योग-भूमिका विदेहमुक्तता कही गयी है। वह शान्तस्वरूप, वाणी से अगम्य और सभी भूमिकाओं की सीमा है।

शैव उसे शिव कहते हैं, वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं और सांख्यवादी उसे प्रकृति और पुरुष का यथार्थ-ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक रूपों से सप्तम भूमिका की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेशयोग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया ही जाता है। इस भूमिका में स्थित योगी को दूसरों

के द्वारा चेष्टा करने पर भी संसार का ज्ञान नहीं होता। ये सात भूमिकाएँ हैं। इनके अभ्यासयोग से मनुष्य सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो जाता है। धीरे-धीरे चलनेवाली अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करने में सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतों से ख्याति को प्राप्त करनेवाली तथा अनन्त अनर्थों को पैदा करनेवाली एक हथिनी है। उसे यदि किसी तरह मार दिया जाय तो मनुष्य इन उपर्युक्त समस्त भूमिकाओं में विजयी बन सकता है। वह मन्दोन्मत्त हथिनी जब तक पराक्रम से जीत नहीं ली जाती, तब तक कौन ऐसा वीर योद्धा है, जो उपर्युक्त भूमिका-सम्पत्तिरूपी समरभूमियों में प्रवेश करने में भी समर्थ हो।

'मुझे यह मिल जाय,' ऐसी जो 'इच्छा' है, उसी का नाम हथिनी है। वह शरीररूपी जंगल में रहती है और मत्त होकर अनेक तरह के शोक, मोह आदि विकारों को उत्पन्न करने में लगी रहती है। मतवाले इन्द्रियों के समूह ही उसके उग्र प्रकृति के बच्चे हैं। वह जीभ से मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मरूपी दो दाँतों से युक्त वह मनरूपी गहन स्थान में लीन रहती है। चारों ओर दूर तक फैले हुए वासनाओं का समूह ही इस हथिनी का मद है। संसार की स्मृतियाँ इसकी युद्धभूमियाँ हैं। यहाँ पर पुरुष बार-बार जय और पराजय का अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी लोभी मनुष्यों को मारती है। वासना, इच्छा, मनन, चिन्तन, संकल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नाम हैं। यह अन्तःकरणरूपी कोश के अन्दर रहती है। बहुत दूर तक फैली हुई तथा सब पदार्थों में निवास करनेवाली इस इच्छा-रूपी हथिनी पर अवहेलनापूर्वक 'धैर्य' नामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्र से प्रहार करके सब प्रकार से विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

'यह वस्तु मुझे इस प्रकार प्राप्त हो जाय ?' यह इच्छा जब तक अन्तःकरण के भीतर प्रकट रहती है, तभी तक यह महाभयंकर कुत्सित संसाररूपी महाविष से उत्पन्न विषूचिकारूपी महामारी बनी रहती है। 'यह मुझे मिल जाय' यह जो संकल्परूप इच्छा है, बस, यही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञान का सार है।

संसारचक्र के आवर्तरूपी भ्रम में यदि भ्रमण करना नहीं चाहते तो सारे काम्यकर्मों को छोड़कर केवल ब्रह्म में आसक्त हो जाओ। ब्रह्म में प्रीति न होकर जब तक बाह्य विषयों में आसक्ति है, तभी तक विकल्प से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखायी देता है। जैसे जल के तरङ्गयुक्त होने पर ही समुद्र अपने तट की ओर जाकर उससे टक्कर खा कर विक्षिप्त होता है, जल के निश्चल रहने पर तो वह केवल जलरूप हो दिखायी देता है। इसी प्रकार ब्रह्म में चित्त की स्थिरता होने पर केवल ब्रह्म ही दिखायी देता है। किन्तु जैसे समुद्र की तरङ्गों से तृण विचलित रहते हैं, वैसे ही जो हर्ष और शोक से विचलित हो जाते हैं, वे लोग श्रेष्ठ नहीं माने जाते। वह सारा जीवसमूह हर्ष-विषाद आदि अवस्थारूप झूले पर निरन्तर आरूढ है। इसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि रूप छः झूलों में झुलाकर काल क्रीडा करता है। अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो ? इस तरह क्रीडा करनेवाला काल ही अनेक उपायों से एक के पीछे एक अनेक सृष्टियों को उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है। जब देवगण भी दुष्ट काल के पिण्ड से छुटकारा नहीं पाते, तब क्षणभङ्गुर विनाशशील शरीरों की तो बात ही क्या ? इसीलिये अनेक तरङ्गों से युक्त इस जगत् को क्षणभङ्गुर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी शोक नहीं करता। अतः तुम अमङ्गलरूप शोक को छोड़ दो, कल्याणकारी वस्तुओं का विचार करो और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा का चिन्तन करो। जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओं के ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रों में विश्वासपूर्वक प्रामाण्य बुद्धि रखते हैं, उन पुरुषों के ऊपर परमात्मा का परम अनुग्रह होता है।

इस प्रकार के लक्षणों से युक्त, प्रकृति के सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों से अतीत, सर्वव्यापक और सर्व-स्वरूप ब्रह्म का निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करते हुए सदा ध्यान करना चाहिए। इस रीति से परब्रह्म-विषयक अभ्यास करनेवाले पुरुष का मन ब्रह्म में विलीन हो जाता है और मन के विलीन हो जाने पर उसे स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है।

सब लोग श्रीरामचन्द्रजी में विश्वास कीजिए। परमरूप परब्रह्म परमात्मा ये ही हैं। इन्होंने ही विश्व के कल्याण के लिए विष्णुरूप से क्षीरसागर का मन्थन किया था। गूढ़ अभिप्राय से भरे उपनिषदादि शास्त्रों के तत्त्वगोचर साक्षात् परब्रह्म ये ही हैं। परिपूर्णपरानन्द, समस्वरूप, श्रीवत्स के चिह्न से सुशोभित भगवान् विष्णुरूप यही श्रीरामचन्द्रजी जब भक्ति से भलीभाँति प्रसन्न होते हैं, तब सब प्राणियों को परम पुरुषार्थरूप मोक्ष देते हैं। कुपित होकर यही श्रीराम-

चन्द्रजी शिवरूप से संसार का संहार करते हैं और यही ब्रह्मारूप से विनाशशील संसार की रचना करते हैं। यही विश्व के आदि, विश्व के उत्पादक, विश्व के धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं। यही भगवान् ऋक्, यजुः, सामवेदमय हैं, तीनों गुणों से परे अति गहन यही हैं और शिक्षा, कल्प आदि छः अङ्गों से समन्वित वेदात्मा अद्भुत पुरुष भी यही हैं। विश्व का पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् यही हैं, विश्व के रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसार का संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् शिव भी यही हैं। ये अजन्मा होते हुए भी अपनी योगमाया के सम्बन्ध से अवतार लेते हैं। ये सबसे महान् हैं। ये सदा जागते रहते हैं और रूपरहित हुए भी ये विश्वरूप हैं। ये भगवान् ही इस विश्व को अपने संकल्प से धारण करते हैं। ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा हुए हैं। वह दशग्रीव रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्त से चिन्तन करेंगे। क्षीरसागर में शयन करनेवाले विष्णुभगवान् ही श्रीराम-चन्द्रजीके रूप में अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। अपनी इन्द्रियों को रोक रखनेवाले योगी लोग ही श्रीरामचन्द्रजी को वस्तुतः जानते हैं। हमलोग तो इनके इस सगुण साकार स्वरूप का ही निरूपण या दर्शन करने में समर्थ हैं। हमलोगों ने ऐसा सुना है कि ये ही भगवान् श्रीरामचन्द्र जी रघुवंश के पापों का सर्वथा विनाश करने वाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहार में लगाइये।

भुशुण्डीजी का उपदेश—पूर्वकाल में लोकालोकान्तर पर्वत की चोटीपर एक विद्याधर रहता था। उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं थीं। इसके कारण उसे बड़ा खेद था। वह सूख-सा गया था। यद्यपि उसे आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं था, तथापि वह श्रेष्ठ और विचारशील था। उसने अनेक प्रकार से तप किए थे, यम और नियमों का पालन किया था। इससे उसकी आयु कभी क्षीण नहीं होती थी। इसलिए वह पहले चार कल्पों तक जीवित रहा। चौथे कल्प के अन्त में उचित कारण-सामग्री जुट जाने अर्थात् चिरकाल से अभ्यस्त तप और नियम आदि का प्रभाव पड़ने से उसके भीतर विवेक का उदय हुआ। उसने सोचा—बारम्बार जन्म, बारम्बार मरण और बारम्बार वृद्धावस्था की प्राप्ति न हो, इसका क्या उपाय है? अबतक संसारबन्धन से मुक्त न होने के कारण मुझे लज्जा होती है; अतः ऐसी कौन-सी एक वस्तु है, जो सदा निर्विकारभाव से स्थित रहती है। यों सोचकर पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा स्थूल शरीर—इन अठारह अवयवों से युक्त अपनी पुरी को चिरकाल तक धारण करने से विरक्त-चित्त होकर वह विद्याधर कुछ पूछने के लिए मेरे पास आया। अब उसे संसार में कोई रस नहीं मिल रहा था। मेरे समीप आकर उसने बड़े आदर के साथ मुझे नमस्कार किया, तब मैंने भी उसका आतिथ्य सत्कार किया। अवसर पाकर उसने यह उत्तम बात कही।

भुशुण्डजी! जो परम उदार, दुःखहीन, क्षय और वृद्धि से वर्जित तथा आदि और अन्त से रहित है, उस पावन पद का आप मुझे शीघ्र उपदेश दीजिए। इतने समय तक मैं जडस्वरूप बनकर मोह की प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ था। अब तीव्र वैराग्य के कारण अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से मैं जाग उठा हूँ। मन के महान् रोग काम से मैं बहुत पीड़ित हूँ। अज्ञान की वृत्तियों और दुर्वासनाओं में पड़कर क्षुब्ध हूँ। मेरी चेष्टाओं का अन्त होना बहुत कठिन हो रहा है। अहंभाव के रूप में स्थित जो मोह है, उससे आप मेरा शीघ्र उद्धार कीजिए। पहले सहस्रों बार उपभोगों में लाए हुए शब्दादि विषयों से ही अत्यन्त तुच्छ सुख के लिए जो इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क स्थापित किया जाता है, वह अपने आपको धोखा देना है। ऐसी विडम्बनाओं से बारम्बार ठगे जाकर मनुष्य चिरकाल से अत्यन्त खिन्न रहते हैं। विषय-भोग आरम्भ में रमणीय प्रतीत होते हैं। किन्तु वे क्षण में ही नष्ट हो जाने वाले हैं। उनमें शीघ्र ही विकार पैदा हो जाता है। वे संसारबन्धन के हेतु हैं; अतएव बड़े भयंकर हैं। मेरा नेत्र सुन्दर रूप निहारने के लिए अत्यन्त चञ्चल तथा सुन्दरी नारी का मुँह देखने के लिए लालायित रहता था। यह घ्राणेन्द्रिय संसार में अनर्थ प्राप्ति के लिये चारों ओर दौड़ रही है। तेज दौड़नेवाले घोड़े की भाँति इसे रोक नहीं पाता हूँ। रसना शास्त्र के अनुसार भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके चिरकाल से नाना प्रकार के रसों का आस्वादन कर रही है। इसने मुझे गजराजों और गीदड़ों से भरे हुए दुःख के पहाड़ों पर चढ़कर बड़ा तंग किया है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड किरणों तपते हुए सूर्य के ताप को रोकना असम्भव है, उसी प्रकार त्वगिन्द्रिय में जो दूसरों के आलिङ्गन की लम्पटता आ गयी है, उसे रोक नहीं सकता।

विषयों की इन दुरन्त वनश्रेणियों में इन्द्रियरूपी लुटेरों ने मुझे चिरकाल तक उसी तरह ठगा है, जैसे धूर्त

किसी भोले-भोले बच्चों को ठग लेते हैं। मतवाले हाथी ऐरावत के कुम्भस्तयल को विदीर्ण कर देना सरल है; परन्तु कुमार्ग में प्रवृत्त हुई अपनी इन इन्द्रियों को रोकना सरल नहीं है। जो लोग जितेन्द्रिय तथा महान् सत्त्वगुण से सम्पन्न हैं, वे ही इस मूलभूत मनुष्य कहे जाने योग्य हैं।

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! किसी समय की बात है, कहीं किसी कल्पवृक्ष में उसकी युगल शाखा में ब्रह्माण्डरूपी गूलर का फल प्रकट हुआ। उसके भीतर तीनों लोकों के स्वामी देवताओं के राजा इन्द्र निवास करते थे। वे गुरु के उपदेश और अपने अभ्यास से अविद्या के आवरण का नाश करके महात्मा हो गये थे। अपने अन्तःकरण में सदा परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते रहते थे। पूर्वापर का ज्ञान रखने वाले विद्वानों में उनका सबसे ऊँचा स्थान था। एक समय प्रभावशाली भगवान् नारायण और शिव आदि, अपने लोकातीत परमधाम में विराजमान थे, उस समय देवराज इन्द्र ने अकेले ही अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निज्वाला को धारण करने वाले महापराक्रमी असुरों के साथ युद्ध किया, उसमें उनकी पराजय हुई और उन्हें तुरन्त ही युद्धभूमि से भागना पड़ा। शत्रु उनके पीछे पड़ गये थे; अतः वे बड़े वेग से दसों दिशाओं में भागते फिरे। उन्हें कहीं भी ऐसा आश्रम नहीं मिला, जहाँ वे विश्राम ले सकें। इतने में ही उनके शत्रुओं की दृष्टि कहीं इधर-उधर चली गयी। उस समय इन्द्र को छिपने के लिए थोड़ा-सा अवसर मिल गया। उन्होंने अपने संकल्प-जनित स्थूल साकार रूप को शान्त करके अपने अन्तःकरण के भीतर ही सूक्ष्मभूत विलीन कर दिया और अत्यन्त अणुरूप होकर बाहर सूर्य की किरणों में स्थित किसी त्रसरेणु के भीतर संकल्पमात्र प्रवेश किया, वहाँ उन्हें शीघ्र ही विश्राम प्राप्त हुआ। फिर तो उन्हें युद्ध की बात भूल गयी और वहाँ से बाहर निकलने का संकल्प भी निवृत्त हो गया। वहाँ उन्होंने अपने रहने के लिए एक घर की कल्पना की और क्षणभर में उन्हें अनुभव हुआ कि घर का निर्माण हो गया और उसमें रह रहे हैं। उस संकल्पकल्पित भवन के भीतर एक कमल के आसन पर बैठकर उसी तरह आनन्द का अनुभव करने लगे, जैसे अपने स्वर्गीय सदन में सिंहासन पर बैठकर किया करते थे।

उस घर में रहते हुए इन्द्र ने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जिसके परकोटे और महल मणि, मोती तथा मूँगे आदि से बने हुए थे। उस नगर के भीतर जाकर देवराज ने जब इधर-उधर दृष्टिपात किया, तब उन्हें एक देश दिखायी दिया, जब अनेकानेक पर्वत, ग्राम, गोशाला, नगर और कानों में सुशोभित था। वैसे ही संकल्प से युक्त इन्द्र ने एक विशाल लोक का अनुभव किया, जिसमें बहुत-से पर्वत समुद्र, पृथ्वी, नदियाँ, नरेश और उनके राज्य की सीमाएँ दृष्टिगोचर होती थीं। वह लोकक्रिया तथा काल आदि की कल्पनाओं से युक्त था। इसके बाद उसी तरह के संकल्प का आनन्द लेने वाले देवेन्द्र ने वहाँ तीनों लोकों को देखा, जो पाताल, पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य और पर्वत आदि अनेक पदार्थों से भरे-पूरे थे। फिर उसी त्रिलोकी में भोगराशि से विभूषित हुए इन्द्र देवराज के पद पर प्रतिष्ठित हुए। कुछ काल के बाद उन्हें एक पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम कुन्द था। वे प्रशंसा के योग्य देवराज इन्द्र जीवन के अन्त में शरीर का परित्याग करके मोक्ष को प्राप्त हो गये। इसके बाद उनके पुत्र कुन्द त्रिलोकी के राजा हुए। फिर वे भी अपने एक पुत्र को जन्म देकर जीवन के अन्त में काल के अधीन हो परमपद को प्राप्त हुए। कुन्द का पुत्र भी पिता की ही भाँति दीर्घकाल तक राज्य करने के पश्चात् अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बिठाकर जीवन के अन्त में परमपद को प्राप्त हो गया। इस प्रकार उस देवराज इन्द्र के सहस्रों पौत्र राज्य पर प्रतिष्ठित हुए और काल के गाल में चले गये।

उन्हीं इन्द्र के कुल में कोई उत्तम गुणों से सम्पन्न कान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ, जो देवराज के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। बृहस्पति के उपदेश से इन्द्र के उस वंशज को आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कराने वाला ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर तो उसे जानने योग्य आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया। वह प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ प्राप्त होता, उसी में संतोष करता था। इस प्रकार रहते हुए उस इन्द्रवन्शी देवराज ने तीनों लोकों का राज्य किया।

ज्ञान-बल से सुशोभित होने वाले उन देवेन्द्र के मन में किसी समय ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि 'मैं भलीभाँति ध्यान लगाकर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करूँ।' ऐसा विचार कर वे एकान्त में बैठ गए और बाहर-भीतर के सम्पूर्ण विक्षेपों से रहित शान्त-चित्त हो ध्यान-समाधि लगाकर परब्रह्म के स्वरूप को विचार-दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न है। सर्व-वस्तु-स्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सब प्रकार से सर्वदा सर्वमय है।

सबके साथ सर्वत्र विद्यमान है और सबमें व्यापक है। उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं; क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से रहित होता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से युक्त है। आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला है तथा निर्गुण होकर भी गुणों को भोगने वाला है। वह चराचर सभी प्राणियों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है। अचर और चररूप भी वही है। सूक्ष्म होने के कारण वह जानने में नहीं आता है। वह अति समीप में है और दूर में भी है। चन्द्रमा और सूर्य के रूप में वही है। उसी ने पृथ्वी का रूप धारण कर रखा है और वही पर्वत तथा समुद्र के रूप में है, वह सर्वत्र सारभूत एवं गुरु है। वही आकाश रूप से विद्यमान है। सर्वत्र संसृति और जगत् के रूप में भी वही है। वह सभी स्थानों में मोक्ष रूप से विद्यमान है। सभी जगह वह चिन्मय तत्त्वरूप से स्थित है। वह सर्वत्र सभी पदार्थों के रूप में है और वास्तव में सब ओर से सबसे रहित है।

तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि जगत् अहंकार का कार्य है। अहंकार के भीतर जगत् कल्पित है और जगत् के अन्दर अहंकार व्यापक है। जो पुरुष संकल्प-शून्यता रूप ज्ञान से जगत् के बीजभूत अहंभाव का मार्जन कर देता है, वह जगत् रूपी मल को जल के द्वारा ही पूर्ण रूप से धो देता है। अतः अहंता नाम की भी कोई वस्तु कहीं नहीं है। वह अवास्तविक होने के कारण खरगोश के सींग की भाँति असत् एवं बिना कारण के ही प्रकट हुई है।

अहंभावना ही दुःख नामक सेमर के वृक्ष का मुख्य बीज है। उस अहंभावना के समान ही 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि भी उक्त वृक्ष का आदि कारण है; क्योंकि वही रागादिरूपिणी शाखाओं के विस्तार का कारण है। पहले बीजरूपिणी अहंभावना फिर वृक्षरूपिणी अहंभावना होती हैं। फिर वृक्षरूपिणी ममभावना होती है। तत्पश्चात् शाखारूपिणी इच्छा राग की प्रवृत्ति होती है। यह इच्छा ही इदंपदार्थ के रूप में सैकड़ों अनर्थों को उत्पन्न करने वाली तथा संसार-भ्रम का धारण-पोषण करने वाली है।

जीव के स्वरूप, स्वभाव तथा विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए वसिष्ठ जी ने कहा जो वास्तव में न परम अणुरूप कहा जा सकता है और न स्थूल, शून्य या अन्य कुछ ही, वरं जो चिन्मय, स्वानुभवरूप और सर्वव्यापक है, वही जीव कहा जाता है। जिस-जिस पदार्थ का जो भाव—असाधारण स्वरूप है, उसके रूप में उस-उस पदार्थ में स्थित होकर जो तदाकार भासित होता है, उसे तुम जीव समझो; क्योंकि बारम्बार देखने पर उन पदार्थों के आकार में उसी का अनुभव होता है। जीव जहाँ जिस प्रकार जो संकल्प करता है, वहाँ वह तत्काल वैसा ही आकार धारण कर लेता है। जैसे चलना या हिलना-डुलना आदि चेष्टा वायु का स्वभाव है, उसी प्रकार विचित्र वस्तुओं का अनुभव रूप संसार जीव का स्वभाव ही है।

सर्व प्रथम परब्रह्म परमात्मा से मनोमय रूप से उदित विराट् पुरुष हिरण्यगर्भ प्रकट हुआ। अतः वह आकाश के समान विशद, शान्त, नित्य, अनन्त स्वरूप और प्रकाशमय है। वह अद्वितीय विराट् पुरुष सबसे उत्कृष्ट परमेश्वर रूप है। वह पञ्चभूतात्मक न होने पर भी पञ्चभूतात्मक-सा भासित होता है। वह अपने संकल्प से कल्पित अनेक कल्पों में तथा क्षणभर में स्वेच्छानुसार स्वयं प्रकट होता है और बारम्बार प्रकट होकर फिर स्वयं ही अदृश्य हो जाता है। वह आकाश स्वरूप, सर्वव्यापी, अनन्त परमेश्वर स्थूल, सूक्ष्म, व्यक्त एवं अव्यक्तरूप हो सबके बाहर-भीतर स्थित है। वह वास्तव में किंचिद्रूप न होने पर भी व्यवहार काल में किंचिद्रूप अवश्य है।

उस विराट् पुरुष के मूर्तामूर्त-स्वरूप के आठ अङ्ग हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रिय सहित प्राण, छठीं इन्द्रिय मन और अहंकार। उसी पुरुष ने चार मुखों से युक्त होकर शब्द और अर्थ की कल्पना से युक्त इन ऋक् आदि चारों वेदों का गान किया है। उसी ने शास्त्रीय सदाचार की मर्यादा स्थापित की है, जो आज भी यथावत् रूप से चली आ रही है। ऊपर अनन्त आकाश उस पुरुष का मस्तक है। नीचे का भूतल आदि उसके पैरों का तलवा है। मध्यवर्ती आकाश उसका उदर है तथा यह ब्रह्माण्ड मण्डप उसका शरीर है। अनन्त लोक-लोकान्तर उस पुरुष के पार्श्वभाग हैं। जल रक्त है। पर्वत मांसपेशियाँ हैं और सदा अविच्छिन्न भाव से बहने वाली नदियाँ उसकी नाड़ियाँ हैं। समुद्र रक्त के आधार (रक्त-संचय की पेशियाँ) हैं। द्वीप ही कोशों को आवेष्टित करनेवाली आँतें हैं। दिशाएँ फैली हुई भुजाएँ हैं। तारिकाएँ रोमावली हैं। उनचास वातस्कन्ध प्राणवायु हैं। सूर्यमण्डल प्रचण्ड नेत्र है और बड़वानल उसका पित्त है। चन्द्रमण्डल संकल्पात्मक

मन है तथा परब्रह्म ही सारभूत आत्मा है। चन्द्रमारूपी मन ही शरीररूपी वृक्ष का मूल, कर्मरूपी विटपका बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थों का उत्पादन एवं संवर्धन करने से आनन्द का कारण है। इस प्रकार भाँति-भाँति के आचारों से युक्त विराट् पुरुष सहस्रों बार प्रकट हो चुके हैं तथा सैकड़ों महाकल्प बीत चुके हैं, भविष्य में होने वाले हैं और इस समय भी विद्यमान है। जो ब्रह्म से अभिन्न है; अतएव जिसका महान् सम्बन्ध अनन्त काल तक बना रहता है, उस अनुभव रूप अधिष्ठान-सत्ता के द्वारा परम विराट् पुरुष सब देश-काल में स्थित रहता है।

जो दृश्य शोभा के पारदर्शी ज्ञानी पुरुष परादृष्टि (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें इस विस्तृत दृश्यप्रपञ्च के विद्यमान होने पर भी इसका भान नहीं होता (वे सबको परब्रह्म ही समझते हैं)। जो परादृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें दृश्य-प्रपञ्च का भान न होने के कारण उनकी चेष्टा भी वास्तव में चेष्टा नहीं होती। ज्ञानी पुरुष दृश्य-दर्शन के अभिमान से बँधते नहीं।

पहले की बात है, मङ्कि नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो बड़े कठोर व्रत का पालन करते थे। उन्हें मेरे उपदेश से किस प्रकार निर्वाणपद की प्राप्ति हुई, यह बताता हूँ, सुनो। एक समय राजा अज के किसी कार्य से बुलावे पर आकाशमण्डल से इस पृथ्वी पर आया। नगरी अयोध्या को आते समय मैं भूतल पर विचरता हुआ किसी ऐसे विशाल वन में आ पहुँचा, जहाँ बड़ी कड़ाके की धूप पड़ रही थी। वह सारा जंगल धूसर हो रहा था। वहाँ तपी हुई बालू के कण खूब चमक रहे थे। उस वन का कहीं ओर-छोर नहीं दिखायी देता था। वहाँ कहीं-कहीं निकृष्ट श्रेणी के गाँव के चिह्न दृष्टिगोचर होते थे। उस जंगल में अपने सामने एक पथिक दिखायी दिया, जो श्रम से थककर इस प्रकार कह रहा था।

जैसे दुष्ट पुरुषों का पापपूर्ण सङ्ग संताप देनेवाला ही होता है, इसी प्रकार प्रचण्ड आतप से तपते हुए सूर्यदेव इस समय सब ओर से खेद ही प्रदान कर रहे हैं। मेरे सारे मर्मस्थल मानो जलते जा रहे हैं। इस धूप में आग-सी जल रही है। सारी वन-श्रेणियाँ तप्त हो उठी हैं। इनके पत्ते और फूल सिकुड़ गये हैं। इसलिये यह सामने जो छोटा-सा गाँव दिखायी दे रहा है, मैं पहले इसी में प्रवेश करता हूँ। वहाँ शीघ्रतापूर्वक थकावट दूर करके तीव्र गति से अपना रास्ता लूँगा। वह सामने के छोटे-से गाँव में, जहाँ किरातों की बस्ती थी, ज्यों ही घुसने लगा त्यों ही मैंने उससे यह बात कही—'सुन्दर शरीरवाले साथी! जान पड़ता है, तुम्हें वीतराग अकिंचन पुरुषों के संचरण योग्य मार्ग का ज्ञान नहीं है। मरुभूमि के मार्ग में मिले हुए इस महान् जंगल के राही! तुम्हारा स्वागत है। नीचे के मार्ग से चलनेवाले राहगीर! मनुष्य देश के इस मार्ग पर, जहाँ जनसमुदाय से भरे हुए गाँव का अभाव है, थोड़ा-सा विश्राम कर लेने पर भी चिरस्थायी विश्राम प्राप्त नहीं कर सकोगे। तुम सकाम कर्म के पथ पर चल रहे हो। इस सकाम-कर्मोपासना द्वारा दक्षिणमार्ग से स्वर्गादि लोकों में जाकर कुछ काल तक मनोनुकूल सुख भोगने पर भी वहाँ देहाभिमान से बँधे रहने के कारण चिरस्थायी परमानन्दस्वरूप मोक्ष नहीं पा सकोगे। पामरों के आवासस्थान इस गाँव में देहाभिमानियों के निवासस्थान इस शरीर में विश्राम नहीं मिल सकता। जैसे नमकीन पानी पीने से प्यास बढ़ती ही है, घटती नहीं, उसी प्रकार यहाँ सुखभोग की इच्छा बढ़ती है, परन्तु पूरी नहीं होती। यहाँ रहनेवाले प्राणी काम, धन की आसक्ति और द्वेष आदि में ही पुरुषार्थ की पराकाष्ठा समझते हैं। इनके विचार जले हुए हैं। इसलिए ये आपातरमणीय सकाम कर्मों में ही रमते रहते हैं, जिससे उनमें कुलीनता के कारण विस्तार को प्राप्त होनेवाली, उदार, शीतल तथा ब्रह्मानन्द से सुशोभित होनेवाली विवेकयुक्त बुद्धि नहीं होती। जैसे मधुमिश्रित विष के कण पलभर के लिये स्वाद में मीठे होते हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण अपनी ओर से विराग उत्पन्न कर देते हैं और अनिवार्यरूप से मृत्युदायक होते हैं, उसी प्रकार ग्राम्य सुखभोग क्षणभर के लिये मधुर प्रतीत होते हैं किन्तु दूसरे ही क्षण विराग पैदा कर देने तथा प्रायः मार डालने वाले होते हैं (अतः इनके उपभोग से तुम्हें चिर विश्राम की उपलब्धि नहीं हो सकती)।' जब मैंने ऐसी बात कही; तब उसे इतनी शान्ति मिली, मानो उसने अमृतमय जल से स्नान कर लिया हो। तत्पश्चात् वह मुझसे बोला—आप कौन हैं? आप भीतर से पूर्णकाम आत्मज्ञानी महात्मा लगते हैं। इस जगत् को शान्तभाव से देख रहे हैं। क्या आपने अमृत का पान किया है? कृपा करके आप अपना यथार्थ परिचय दीजिये; क्योंकि साधु पुरुषों के हृदयरूपी सरोवर स्वच्छ एवं गम्भीर होते हैं। दर्शनमात्र से ही

मित्रता करनेवाले आप-जैसे महात्माओं के सामने आ जाने पर ही समस्त प्राणी कमलों के समान विकसित और आश्वस्त होते हैं। प्रभो ! मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन मोहवश संसार-भ्रमजनित दुःख को मिटाने में समर्थ नहीं है। अतः आप मुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देने की कृपा द्वारा अनुगृहीत कीजिये।

तब मैंने कहा—मैं आकाशवासी वसिष्ठ मुनि हूँ। राजर्षि अज के किसी आवश्यक कार्य से मैं इस मार्ग पर उपस्थित हुआ हूँ। अब तुम विषाद न करो; क्योंकि मनीषी पुरुषों के मार्ग पर आ गये हो और प्रायः संसार-सागर के दूसरे तट पर आ पहुँचे हो। जो महात्मा नहीं है, उसकी बुद्धि और वाणी इस तरह के वैराग्य-वैभव से उदार नहीं होती तथा उसकी आकृति भी इतनी शान्तिपूर्ण नहीं दिखायी देती। तुम उपदेश पाने के योग्य हो। अतः अपना पूर्व वृत्तान्त बताओ।

मङ्कि मेरे चरणों में साष्टाङ्ग प्रमाण करके नेत्रों में आनन्द के आँसू भरकर मार्ग में चलते हुए ही इस प्रकार बोले—भगवन् ! जैसे नेत्र बारंबार दसों दिशाओं की ओर दृष्टिपात करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी संत-महात्मा की खोज के लिए अनेक बार दसों दिशाओं में भ्रमण किया; परन्तु संशय का विनाश करनेवाला कोई श्रेष्ठ महापुरुष मुझे नहीं मिला। आज आपको पाकर मैंने समस्त शरीरों के भी सार इस ब्राह्मणशरीर का फल पा लिया।

पहले-पहल इन्द्रियों से जो विषयों का उपभोग होता है उसी को संवेदन कहते हैं। विषयों के नष्ट हो जाने पर उनका बारम्बार चिन्तन ही भावन कहा गया है। बारम्बार विषय-चिन्तन से जो चित्त में विषयों का दृढ़ संस्कार जम जाता है, उसका नाम वासना है। उस वासनाओं के कारण मृत्युकाल में भावी शरीर के लिए जो स्मृति होती है, उसको कलना कहते हैं।

ब्रह्मन् ! संवेदन, भावन, वासना और कलना—ये चार ही शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ इस संसार में अनर्थ पैदा करने वाले हैं। ये सभी मिथ्या होने के कारण निष्प्रयोजन हैं, तथापि अविद्या से विस्तार को प्राप्त हो रहे हैं। भगवन— इन दो को समस्त दोषों का आश्रय समझो। इनमें भी भावन है, उसी में सारी आपत्तियाँ निवास करती हैं—यह संसारमार्ग बड़ा गहन है। इस पर वासना का आवेश लेकर चलते हुए प्राणी के ऊपर विचत्र परिणामवाले अनेक प्रकार के घटना-चक्र आते रहते हैं। जो विवेकी है, उसका संसारभ्रम वसन्त के अन्त में ग्रीष्म ऋतु के ताप से सूख जाने वाले पृथ्वी के रस की भाँति वासनासहित नष्ट हो जाता है। यहाँ अद्वितीय विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाश में शून्यरूपता को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार असीम परमात्मा में चैतन्य सत्ता के सिवा और कोई वस्तु नहीं है।

प्रिय विप्रवर ! आकाश के समान निर्मल आत्मा में मन को विलीन करके स्थित हुए ज्ञानयोगी को नाम और रूप की प्रतीति ही नहीं होती। स्वरूपस्थिति के लिए उसके द्वारा किया गया अभ्यास जबतक दृढ़ नहीं हो जाता, तभीतक उसे अपने मन में स्वप्न-विचार के समान नामरूप का भान होता है। जब अहंता की रेखा मिट जाती है, तब वह अपने स्वरूपमात्र में स्थित हो सहज शान्ति से सुशोभित होता है। परमात्मा मोक्षस्वरूप, मन से रहित, मौनी, कर्ता, अकर्ता और शीतल है। वह ज्ञानस्वरूप एवं शान्त ही है। वह दृश्य-प्रपञ्च से शून्य होता हुआ ही सर्वत्र परिपूर्ण है।

समस्त वस्तुओं की अपेक्षा (इच्छा) ही सुदृढ़ बन्धन है और उसकी उपेक्षा ही मुक्ति है। जो मुक्ति में विश्राम कर रहा है, उसे किसी वस्तु की इच्छा हो सकती है। तत्त्वज्ञानी विद्वान् केवल अपने यथार्थ स्वरूप में ही स्थित रहता है। उसकी सारी इच्छायें और चेष्टायें शान्त हो जाती हैं तथा उसकी सब उत्कण्ठाएँ दूर हो जाती हैं। उसे अपने शरीर का भी भान नहीं होता।

उत्तरार्द्ध में निर्वाण को प्राप्ति के लिए विभिन्न तर्कों एवं कथाओं को प्रदर्शित कर संसार को मिथ्या रूप सिद्ध करते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्म की स्थापना की गई है। जगत् को चेतन स्वरूप प्रतिपादन योगवासिष्ठ की महती देन है। अग्रिम प्रकरणों में इन विषयों का वर्णन किया गया है।

विषय-सूची

निर्वाण पूर्वार्द्धं

निर्वाण उत्तरार्द्ध

श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिप्रणीतकुसुमलताख्यभाषानुवादालङ्कृतः
आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्धे

६३

वसिष्ठ उवाच

स कदाचिद्ददर्शाऽथ रुद्रं रुद्रपुरे खगः ।
वैरिञ्चनलिनीनाललीलालाभेन लीलया ॥ १ ॥
तत्र बुद्धिरभूत्तस्य रुद्रोऽहमिति निश्चिता ।
प्रतिबिम्बवदादर्शे द्रागित्येव हि बिम्बिता ॥ २ ॥
रुद्रभूतवपुस्तत्र तनुं तत्याज तामसीं ।
गन्धः पवनतां गच्छन् कुसुमस्तबकं यथा ॥ ३ ॥
स रुद्रो रुद्रभवने विजहार यथेच्छया ।
तैस्तैः शिवपुराचारैर्गणकोटिगरिष्ठया ॥ ४ ॥
रुद्रस्त्वनुत्तमज्ञानविलासैकतया तया ।
स्वमशेषं च वृत्तान्तमपश्यत् प्राक्तनं धिया ॥ ५ ॥
निरावरणविज्ञानवपुः स भगवांस्तदा ।
उवाच स्वयमेकान्ते स्वस्वप्नशतविस्मितः ॥ ६ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं तता विश्वविमोहिनी ।
असत्यैवाऽपि सद्रूपा मरुभूमिषु वारिवत् ॥ ७ ॥

६३

श्री वसिष्ठजी ने कहा—वह हंसपक्षी अनायास ही ब्रह्मदेव के आसनभूत कमलिनी के नाल में लीला प्राप्त करने से ब्रह्मदेव का वाहनरूप सामीप्य एवं मुक्तिरूप पद के प्राप्त करने से किसी एक समय ब्रह्मदेव के साथ रुद्रपुर में पहुँचा और वहाँ उसने भगवान् रुद्र को देखा ॥ १ ॥

वहाँ पर भगवान् शङ्कर में ज्ञान, योग, ऐश्वर्य आदि सम्पूर्ण गुणों का आधिक्य देखने से उस हंस को 'मैं भी रुद्राहम्भावना से रुद्ररूप हो जाऊँ' इस प्रकार दृढ-बुद्धि हो गई। इसपर कहते हैं—'प्रतिबिम्ब०' से उसकी वह इच्छित रुद्रता दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह प्रतिबिम्बरूप ही थी। अर्थात् जीवन्मुक्त, अतएव वासनाशून्य उस हंस को रुद्रत्व की इच्छा ही कैसी होगी और उस वासना के अभ्यास से देहत्याग के साथ पुनः उसका रुद्रशरीर धारण भी कैसे होगा ? यदि इसपर कहो कि 'भरतस्य त्रिजन्मभिः' इस न्याय के अनुसार नाना देहों से भोग्य प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट रहने से वह देहान्तर धारण कर सकता था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर रुद्रविषयक अहम्भाव धारण करने का जो वर्णन किया गया है, वह निरुपयोगी हो जायगा। इसी प्रकार भगवान् रुद्र के ईश्वर होने के कारण रुद्ररूपता में कर्मफलत्व भी नहीं आ सकता ? यह वर्णित रुद्रभाव मुख्य रुद्रभाव नहीं है, किन्तु प्रतिबिम्ब के समान सारूप्यमुक्ति ही है और वह कर्मोपासना का फल भी हो सकती है। तथा च, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है ॥ २ ॥

वहाँ पर उस हंस ने रुद्रभावनावश रुद्रशरीर धारणकर अपने उस पूर्ववर्ती हंस शरीर का जैसे गन्ध पवनरूपता को प्राप्तकर पुष्पगुच्छों का त्याग कर देता है वैसे ही त्याग कर दिया ॥ ३ ॥

वह रुद्र उस रुद्रभवन में गाणपत्यपद की प्राप्ति के कारण उन शिवपुर के आचारों से यथेच्छ विहार करने लगा ॥ ४ ॥

वहाँ पर परम श्रेष्ठ ज्ञान एवं ऐश्वर्य आदि के विलासों से प्रसिद्ध रुद्र भगवान् के साथ समता प्राप्त उस अलौकिक बुद्धि से उस रुद्र ने अपने पूर्वतन सम्पूर्ण वृत्तान्तों का भी अवलोकन कर लिया ॥ ५ ॥

उस समय आवरणरहित, एकमात्र ज्ञानाकार भगवान् रुद्ररूप अपने सैकड़ों स्वप्नों से आश्चर्यचकित होते हुए अपने मन में ही कहा ॥ ६ ॥

यह महान् आश्चर्य है कि चारों ओर फैली हुई यह माया विश्व को मोहित करने वाली है। मरुभूमि में जल की तरह यह स्वयं असद्रूपा ही है; फिर भी सद्रूप-सी भासित हो रही है ॥ ७ ॥

इति प्रथममाज्ञातं चिद्रोऽहं चित्ततां गतः ।
सर्वसंपन्नसर्वज्ञगगनादिविभावनात् ॥ ८ ॥
यदृच्छया स्थितो जीवो भूततन्मात्ररञ्जितः ।
कस्मिंश्चिदभवत् सर्गे भिक्षुरक्षुभितोऽभितः ॥ ९ ॥
तेनाऽवयवबन्धेन बहिः स्वैरविहारिणी ।
लीला विलुलिताकारा यदा रम्येति भावतः ॥ १० ॥
सर्वभावोपमर्देन तदभ्यासवशात्तदा ।
तामेव सोऽन्वभूद्भिक्षुस्त्यक्त्वाऽन्यं मननोदयम् ॥ ११ ॥
चमत्कृतिश्चेतसि या रूढा सैव विजृम्भते ।
वल्ली त्यजति नैदाघी पीतमप्यम्बु माधवम् ॥ १२ ॥
स भिक्षुर्जीवटो भूत्वा जन्तुर्जरठवासनः ।
तेषु देहेषु बभ्राम रन्ध्रेष्विव पिपीलिका ॥ १३ ॥

आह ! मुझे स्मरण आ गया कि सर्वप्रथम प्राक्तन पारमार्थिक स्थिति से मैं चिद्रूप ही था । अनन्तर मायावश चित्तरूपता को प्राप्त किया । उस तरह के सङ्कल्प से ही मैं सम्पूर्णरूप से सम्पन्न हो चिदंश में सर्वज्ञ और गगन आदि की भावना से जडांश में गगन आदि विभागवान् भी हो चुका हूँ ॥ ८ ॥

अनन्तर मेरा स्वेच्छा से व्यष्टि-समष्ट्यात्मक लिङ्ग देह में चिदात्मरूप से प्रवेश होने पर—स्थूलभूतों तथा सूक्ष्मतन्मात्राओं से और उन देहों से अभेदाभ्यास होने के कारणतद्गत वासनाओं के वैचित्र्य से चित्रपट की तरह रञ्जित होता हुआ मैं जीवरूप होकर स्थित हुआ और अनादिकाल से जन्म-परम्पराओं का अनुभव कर रहा वह जीव भी किसी एक सर्ग में वैराग्य एवं समाधि में पटुता होने के कारण चारों ओर से विषयों के क्षोभ से रहित संन्यासी हो गया ॥ ९ ॥

बँधे हुए पद्मासन से स्थिरता रखनेवाले उस भिक्षु ने, स्थूल देह के अवयव तथा लिङ्गदेह के अवयव प्राण, इन्द्रिय आदि के निरोध द्वारा बाहर देवता आदि विषयों में चित्त की स्वैर विहार करने वाली मानस-पूजा आदि-रूप लीला 'यह सुन्दर है' यह भावना की ॥ १० ॥

इस भावना के जैसे अविकलरूप से प्रारम्भ की, वैसे ही वह (भिक्षु) उसके अभ्यासवश तत्-तत् विरुद्ध सम्पूर्ण भावों को दबाकर, दूसरे मननोदय को छोड़कर उसी लीला का अनुभव करने लगा ॥ ११ ॥

क्योंकि पीछे जो चमत्कृति चित्त में आरूढ होती है, वही पूर्व चमत्कृति को दबाकर विजृम्भित होती है, उष्णता-चमत्कार से व्याप्त लता वसन्तकालीन पीये हुए

आत्मनि द्विजभक्तत्वात् सोऽपश्यद्द्विजतामथ ।
भावाभावविपर्यासे बलवानेव वर्धते ॥ १४ ॥
सामन्ततामवापाऽसौ विप्रः सन्ततचिन्तिताम् ।
सातत्येन रसः पीतः फलतामेति पादपे ॥ १५ ॥
राज्यार्थं धर्मकार्याणां कर्तृत्वात् सोऽभवन्नृपः ।
स कामुकतया राजा सुरस्त्रीत्वमवाप ह ॥ १६ ॥
लीला लोचनलोभेन सा मृगी रसशालिनी ।
बभूव वासनामोहश्चाहो दुःखाय जन्तुषु ॥ १७ ॥
मृगी सा बत चित्तस्था बभूव विपिने लता ।
अवश्यम्भावि लवनं लतिका नु बभूव ह ॥ १८ ॥
अन्तःसंज्ञाचिराभ्यस्तं भ्रमरत्वमथाऽऽत्मनि ।
साऽपश्यत् सावमर्देन सदा तद्भावभाविता ॥ १९ ॥

भी जल को अर्थात् हरेपन के चमत्कार को छोड़ देती है अर्थात् उसे दबाकर विजृम्भित होती है ॥ १२ ॥

अपनी दृढ़ वासनाओं से युक्त भिक्षुरूप वह जीव जीवटनामधारी होकर उन योनियों में वैसे ही घूमने लगा जैसे चींटी छिद्रों में घूमती-फिरती है, "जरठवासन" शब्द से अनर्थ वासनाओं की प्राप्ति सूचित है ॥ १३ ॥

अनन्तर द्विज में अनुरक्ति होने के कारण वह जीवट से द्विज हो गया; क्योंकि भाव और अभाव का वैपरीत्य सिद्ध करना हो, अर्थात् उद्भूत भावना को अनुद्भूत और अनुद्भूत भावना को उद्भूत बनाना हो, तो जो भी वासना समूह अभ्यास, पाटव आदि से दृढ़ीभूत होगा, वही दूसरे का तिरोभाव कर स्वयं कार्यरूप से उत्पन्न होगा ॥ १४ ॥

उसके बाद उस ब्राह्मण ने जिसका वह सदा चिन्तन करता था उस सामन्तता को प्राप्त की, निरन्तर पीया गया पानी वृक्ष में फलरूप से परिणत होता है ॥ १५ ॥

अनन्तर राज्य के लिए धर्मानुष्ठान करने से वह चक्रवर्ती सम्राट् हो गया । उसके बाद धर्मसञ्चय से समन्वित कामुक-वृत्ति होने के कारण वह राजा देवाङ्गना बन गया है ॥ १६ ॥

मृग के लोचन-सौदर्य के लोभ से चञ्चल हुई वह देवाङ्गना रञ्जित मृगी हो गई। अहो ! प्राणियों में वासना-मोह एकमात्र दुःख के लिए ही है ॥ १७ ॥

खेद है कि वासनारूप चित्त में स्थित वह मृगी लता की वासना से अरण्य में लतारूप हो गई और उस लता ने यह समझ लिया कि मेरा छेदन अवश्यम्भावी है ॥ १८ ॥

इसके बाद भ्रमर की भावना से भावित वह लता,

स वारणखुरक्षोदमनुभूयाऽथ भावितम् ।
भूयो भूयः प्रबभ्राम महासंसृतिसंभ्रमान् ॥ २० ॥
संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहमहं स्थितः ।
अस्मिन् संसारसंरम्भे स्वमनोमात्रसंभ्रमे ॥ २१ ॥
एवमत्यन्तचित्रासु संसारारण्यभूमिषु ।
बह्वीष्वहमतिभ्रान्तस्त्वशून्यास्विव भूरिशः ॥ २२ ॥
कस्मिंश्चिदभवं सर्गे त्वहं जीवटनामकः ।
कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणश्रेष्ठः कस्मिंश्चद्वसुधाधिपः ॥ २३ ॥
हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः ।
हरिणो देहयन्त्रादौ दशामहमिमां गतः ॥ २४ ॥
अत्र वर्षसहस्राणि चतुर्युगशतानि च ।
समतीतान्यनन्तानि दिनर्तुचरितानि च ॥ २५ ॥
मम प्रथममेव प्राक्चलितस्य परात्पदात् ।

छेदन तथा मर्दन से समन्वित लतादेह से अपनी देह में भीतरी वासना से चिराभ्यस्त भ्रमरत्व देखने लगी ॥१९॥

अनन्तर वह भँवरा स्वयं भावित हाथी के खुर के आघात का अनुभव कर महासंसार के भ्रमरों में पुनः-पुनः 'भूयो भूयः' पद से बीच के हाथी, भँवरा, हंस आदि नब्बे जन्मों का भी उसे स्मरण हुआ, घूमने लगा ॥ २० ॥

अपने मनोमात्र से कल्पित इस संसाररूप संरम्भ सौ जन्म धारणकर वही मैं भिक्षु रुद्ररूप होकर स्थित हुआ ॥ २१ ॥

इस प्रकार अत्यन्त विचित्र तथा सत्य-सी प्रतीत हो रही अनेक संसाररूप अरण्य-भूमियों में मैंने अनेकबार दीर्घकाल तक भ्रमण किया ॥ २२ ॥

किसी सर्ग में जीवटनामधारी हुआ, किसी में ब्राह्मण-श्रेष्ठ हुआ, किसी सर्ग में पृथिवीपति राजा भी हुआ ॥२३॥

किसी सर्ग में पद्मवन में हंस होकर विन्ध्य के कच्छ में हाथी और हिरन हुआ। इस प्रकार देहरूप यन्त्र में तथा मनोरूप यन्त्र में मैं पूर्व वर्णित दशा को प्राप्त करता रहा ॥ २४ ॥

आदि सर्ग से लेकर चिदेकरस परम पद से च्युत हुए मेरे आजतक इस संसार में हजारों वर्ष, सैकड़ों चार युग एवं अनन्त दिन, ऋतु आदि के चरित बीत गये ॥ २५ ॥

परम पद से पहले ही विचलित अपनी पूर्व भिक्षु-अवस्था में रूढ़ भी तत्त्वज्ञान के योग्य श्रवण, मनन आदि के अभ्यास रूप योग्यता-क्रम का प्रमादवश उल्लङ्घन कर मैं पुनः-पुनः जन्म-परम्परा से ब्रह्मदेव का हंस बन गया, वही मेरा प्राक्तन अभ्यास-क्रम भगवान् रुद्र का सान्निध्य

तत्त्वज्ञानितया रूढो भिक्षुत्वे योग्यताक्रमः ॥ २६ ॥
भूयो भूयोऽप्यतिक्रम्य गतश्च ब्रह्महंसताम् ।
स एव प्राक्तनोऽभ्यासः फलितः सङ्गमोदयात् ॥ २७ ॥
दृढाभ्यासो य एवाऽस्य जीवस्योदेत्यविघ्नतः ।
सोऽत्यन्तमरसेनाऽपि तमेवाऽऽश्वनुधावति ॥ २८ ॥
काकतालीययोगेन कदाचित् साधुसङ्गमात् ।
अशुभो भावनाभ्यासो जीवस्य विनिवर्तते ॥ २९ ॥
सङ्गत्यधिगतं चैष केवलं स्वोदयं प्रति ।
प्राक्तनो वासनाभ्यासो ह्यातुरुद्यममीक्षते ॥ ३० ॥
यच्चेहाऽभ्यस्यतेऽजस्रं यच्च देहान्तरेऽपि च ।
जाग्रत्स्वप्नेष्वसदपि तत्सदित्यनुभूयते ॥ ३१ ॥
तत्तदर्थक्रियाकारि दुःखाय च सुखाय च ।
उदेति भावनं तस्माद्भावनाभावनं जयः ॥ ३२ ॥

पाने से रुद्ररूप में तत्त्वज्ञानरूप फल के साथ सफल हो गया ॥ २६–२७ ॥

इस जीव के निर्विघ्नतापूर्वक शास्त्रीय साधनों में जो दृढ़ अभ्यास उदित होता है, वह अत्यन्त नीरस हजारों जन्मों के व्यवधानों से युक्त होता हुआ भी शीघ्र उस जीव के ही पीछे-पीछे दौड़ता है ॥ २८ ॥

काकतालीय न्याय से कभी महात्माओं का अचानक समागम प्राप्त हो जाने से जीव का यह अशुभ भावनाभ्यास भलीभाँति नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

दुर्वासना-जल को छोड़ने की इच्छा वाले पुरुष का यह पूर्व सद्वासना का अभ्यास विरुद्ध अनेक जन्मों के व्यतीत हो जाने पर अपने उद्भव के प्रति सत्सङ्गति से प्राप्त सत्पुरुषों के प्रयत्न की एकमात्र अपेक्षा रखाता है ॥ ३० ॥

इस देह में तथा दूसरे देह में भी जाग्रत् एवं स्वप्न में निरन्तर अभ्यस्त परमार्थतः असद्रूप भी वह सद्रूप से अनुभूत होता है। मिथ्यार्थ विषय देवतोपासना स्वरूप प्रयत्न भी जहाँ जाग्रत् एवं स्वप्न काल में सत्यतानुभव के योग्य देवताभाव आदि फल उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं; वहाँ पर श्रवण आदि प्रयत्न, जो परमार्थतः सत्यवस्तु-विषयक हैं, प्रमाणगम्य परमार्थ-सत्यस्वभाव के लाभ के लिए समर्थ होंगे—इसमें कहना ही क्या? यही सूचित करने के लिए श्लोक में 'असदपि' कहा गया है ॥ ३१ ॥

देवता शरीर और उनके भोग आदि अर्थक्रिया के जनक अनात्म चिन्तन दुःख और सुख के लिए ही उदित होते हैं। अतः भावना की अभावना करना ही सम्पूर्ण अनर्थों पर विजय पाना है ॥ ३२ ॥

भावनैव स्वमात्मानं देहोऽयमिति पश्यति ।
असत्तामात्रविस्तारं गुल्मकत्वमिवाऽङ्कुरः ॥ ३३ ॥
भावना प्रेक्ष्यमाणैषा न किञ्चिदिह शिष्यते ।
न च विद्यत एवेति तद्भ्रमेणाऽलमस्तु नः ॥ ३४ ॥
भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
असंवेदनमात्रैकं मार्जनायाऽलमस्तु नः ॥ ३५ ॥
असन्मयी स्वरूपैषा परं सत्तैव लालनी ।
वर्तते चेद्विनोदाय किञ्चित् सा न करिष्यति ॥ ३६ ॥
तत्तान्सर्वान् स्वसंसारानुत्थायाऽऽलोकयाम्यहम् ।
सम्यगालोकदानेन तेभ्य एकीकरोम्यहम् ॥ ३७ ॥
इति संचिन्त्य रुद्रोऽसौ तं सर्गं प्रजगाम ह ।
यत्र भिक्षुर्विहारस्थः सुप्तः शव इव स्थितः ॥ ३८ ॥

जैसे अङ्कुर एकमात्र असद्रूप विस्तार से युक्त शाखा-प्रशाखावाली लतारूपता को देखता है वैसे ही भावना ही अपनी आत्मा को 'यह देह है' इस प्रकार वैसे देखती है ॥ ३३ ॥

यह भावना तत्त्वदृष्टि से भली-भाँति देखी जाने पर यहाँ पर कुछ भी नहीं शेष रहती। अथवा वह कुछ है ही नहीं, अतः उस प्रकार भ्रम करना हमें उचित नहीं है ॥ ३४ ॥

आकाश के वर्ण के समान उत्पन्न इस जगत्सम्बन्धी हम लोगों के भ्रम के परिमार्जन के लिए एकमात्र असंवेदन ही पर्याप्त होगा ॥ ३५ ॥

बाधित होने से असद्रूप, अधिष्ठानसत्तास्वरूप एकमात्र कौतुक का साधन यह जगदाकार भावना, प्रातिभासिक सत्ता के कारण हैं, तो वह विनोद के लिए ही है। वह अणुमात्र भी अनर्थ की जननी न होगी ॥ ३६ ॥

इसी कौतुकवश मैं नाना प्रकार के अपने उन संसारों को जाकर देखता हूँ और उन्हें तत्त्वज्ञान के प्रदान द्वारा उपाधि से पृथग्भूत अपनी आत्मा को एक कर देता हूँ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विचार कर यह रुद्र उस सर्ग में चला गया, जहाँ मठस्थित भिक्षु, मृतक की तरह निद्रा में स्थित था ॥ ३८ ॥

अनन्तर उस रुद्र ने उस जीवटनामधारी भिक्षु को जगाकर स्वचित्तांश चित्त एवं अपने अंशभूत चिदाभास-स्वरूप तत्त्वज्ञ जीव से संयुक्त किया और वह भिक्षु भी अपने भ्रम का स्मरण करने लगा (रुद्रांश जीवों के प्रवेश की कल्पना, उनका सत्यसङ्कल्प एवं विचित्र भोगों के

बोधयित्वाऽथ तं भिक्षुं चेतसा चेतनेन च ।
योजयामास सस्मार भिक्षुरप्यात्मनो भ्रमम् ॥ ३९ ॥
रुद्रमात्मानमालोक्य जीवटादिमयं तथा ।
बोधादविस्मयार्होऽपि स भिक्षुर्विस्मयं ययौ ॥ ४० ॥
अथ रुद्रस्तथा भिक्षुर्द्वावेवोत्थाय जग्मतुः ।
क्वाऽपि जीवटसंसारं चिदाकाशैककोणगम् ॥ ४१ ॥
तत्र तद्भुवनं गत्वा तद्द्वीपं तच्च मण्डलम् ।
विषयं तत्पुरं तच्च तं च पाणावसिग्रहम् ॥ ४२ ॥
सुप्तं ददृशतुर्नष्टसंज्ञं जीवटकं शवम् ।
स्थापयित्वा वपुर्भावं प्रभान्तं भवभूमिषु ॥ ४३ ॥
तं प्रबोध्य नियोज्याऽऽशु चेतसा चेतनेन च ।
एकरूपास्त्रिरूपास्ते रुद्रजीवटभिक्षुकाः ॥ ४४ ॥

जनक अवशिष्ट अदृष्ट के बल से बाधित हुए भी जीवट से लेकर रुद्रपर्यन्त सभी शरीरों तथा उनके प्रपञ्चों की कल्प-पर्यन्त अनुवृत्ति हो सकती है, इसलिए भिक्षु के जागरण से हम लोगों के स्वाप्निक प्रपञ्च की तरह उन शरीरों एवं उनके प्रपञ्चों का निरनुवृत्तिरूप बाध नहीं होगा) ॥ ३९ ॥

अपने आपको रुद्ररूप तथा जीवट आदि के शरीररूप में भी देखकर तत्त्वज्ञान होने के कारण आश्चर्य करने के अयोग्य भी वह भिक्षु आश्चर्यचकित हो गया ॥ ४० ॥

अनन्तर वह रुद्र और भिक्षु दोनों ही उठकर चिदा-काश के एक कोने में स्थित कहीं ब्रह्माण्डान्तर में चले गये ॥ ४१ ॥

उस जीवट के संसाररूप ब्रह्माण्डान्तर में लीलो-पाख्यान में वर्णित रीति से प्रवेशकर उसके भूलोक में जाकर वहाँ भी उस जीवट के स्थानभूत द्वीप को और उस मण्डल को, उस मण्डल के अन्तर्गत देश को, उस पुर को और उस घर को तथा उस घर में स्थित हाथ में तलवार धारण किये हुए जीवट को देखा ॥ ४२ ॥

वह शव की तरह सुप्त और नष्टसंज्ञ होकर पड़ा था, उन दोनों ने देखा। वहाँ पर स्थित लोगों के लिए स्वयं दर्शन के अयोग्य होने के कारण रुद्र एवं भिक्षु के शरीर के भाव को (जीवटबोधनाभिप्राय को) तथा रुद्र के कोटि सूर्य के समान प्रभा के अन्तरूप सम्पूर्ण अपने प्रभाव को अन्तर्धान शक्ति से छिपाकर वे जीवट के संसृति प्रदेशों में पहुँचे ॥ ४३ ॥

वहाँ उस जीवट को जगाकर शीघ्र ही उसे स्व-चित्तांश चित्त से एवं स्वांशचिदाभासरूप तत्त्वज्ञ जीव से

बोधवन्तोऽप्यबुद्धाभा विस्मिता अप्यविस्मिताः ।
बभुस्तूष्णीं स्थिताश्चित्रकृताकारा इव क्षणम् ॥ ४५ ॥
अथ जग्मुश्च ते सर्वे क्वचिद्व्योमनि संस्थितम् ।
विप्रसंसारमारब्धं परिभूतसङ्घुमम् ॥ ४६ ॥
ते तत्र भुवनं गत्वा तद्द्वीपं तच्च मण्डलम् ।
विषयं तच्च तं ग्रामं प्रापुस्तं ब्राह्मणालयम् ॥ ४७ ॥
विप्रं ते तदृशुः सुप्तं कलत्रवलितं गृहे ।
कण्ठे गृहीतं ब्राह्मण्या बहिर्जीवमिव स्थितम् ॥ ४८ ॥
तं प्रबोध्य नियोज्याऽऽशु चेतसा चेतनेन च ।
तत्स्थास्ते बहवोऽप्यन्ये सविस्मयविविस्मयाः ॥ ४९ ॥
अथ जग्मुश्चिदाकाशकचितं चेतितं चितेः ।
सामन्तं नृपसंसारं भ्रमणाभोगसुन्दरम् ॥ ५० ॥

संयुक्त बनाकर के भीतर एकस्वरूप और बाहर तीन रूपवाले वे रुद्र, जीवट तथा भिक्षु तत्त्वदर्शन हो जाने से परमार्थतः तत्त्वज्ञ होते हुए भी अज्ञानी एवं विस्मयरहित होते हुए भी विस्मय से चकित होकर चित्रलिखित पुरुषों के समान क्षणभर तक चुपचाप स्थित रहे ॥ ४४-४५ ॥

उसके बाद वे तीनों चिदाकाश में कहीं अध्यस्त, चारों ओर प्राणियों से शब्दायमान और जीवट के चित्त के परिणामस्वरूप विप्र के संसार में चले गये ॥ ४६ ॥

वे उस भूलोक में जाकर विप्र के स्थानभूत द्वीप में और उसके मण्डल में, मण्डलान्तर्गत देश एवं उस ग्राम में तथा वहाँ पर भी उस ब्राह्मण के घर पहुँचे ॥ ४७ ॥

उस ब्राह्मण के घर में अपने पोष्य वर्गों से समन्वित बाहर निकले हुए प्रियतम प्राण की तरह स्थित तथा ब्राह्मणी द्वारा कण्ठ-प्रदेश में आलिङ्गित सोये हुए उस ब्राह्मण को उन लोगों ने देखा ॥ ४८ ॥

उसे जगाकर और स्वचित्तांश चित्त एवं स्वांशचिदाभास स्वरूप तत्त्वज्ञ जीव से शीघ्र संयुक्तकर वहाँ पर वे और बहुत से दूसरे भी परमार्थतः विस्मयरहित होते हुए भी आश्चर्यचकित होकर स्थित हुए ॥ ४९ ॥

अनन्तर रुद्र, भिक्षु, जीवट और ब्राह्मण ने चिदाकाश में शोभित, चित्ताकार से विवृत्त चिति के परिणामस्वरूप और भ्रमण तथा सर्वविध भोगों से रमणीय सामन्तरूप राज-संसार के लिए प्रस्थान किया ॥ ५० ॥

अनन्तर वे सब उस सामन्त के भूलोक को, उसके द्वीप को तथा उसके मण्डल को पहुँच गये। वहाँ पर उन्होंने पलंगरूप कमलपर सोये हुए मदयुक्त उस मण्डला-

ततस्ते भुवनं प्राप्तास्तद्द्वीपं तच्च मण्डलम् ।
सामन्तं ददृशुर्मत्तं सुप्तं पर्यङ्कपङ्कजे ॥ ५१ ॥
हेमावदातं हेमाङ्ग्या निहितं कुचकोटरे ।
भ्रमर्येवाऽन्वितं पद्मकोशसुप्तं मधुव्रतम् ॥ ५२ ॥
कान्ताभिरभ्यावलितं मञ्जरीभिरिव द्रुमम् ।
दीपजालकमध्यस्थं रत्नौघ इव काञ्चनम् ॥ ५३ ॥
तं प्रबोध्य नियोज्याऽऽशु चेतसा चेतनेन च ।
तत्स्थास्ते बहवोऽप्येके सविस्मयविविस्मयाः ॥ ५४ ॥
अथ ते राजसंसारं जग्मुस्तत्र विबोध्य तम् ।
चेतसैवमथाऽन्यासु भ्रेमुः संसारभूमिषु ॥ ५५ ॥
प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते ।
समाजग्मुर्विरेजुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥ ५६ ॥

धीश को देखा ॥ ५१ ॥

वह सामन्त सुवर्ण के समान देदीप्यमान देहवाला था। सुवर्णाङ्गी पट्टमहिषी द्वारा अपने कुचरूप कोटर में वह ऐसा आलिङ्गित था, जैसे भ्रमरी से आलिङ्गित कमलकोश में सोया हुआ भँवरा ॥ ५२ ॥

वह सामन्त अनेक रमणियों से वैसे ही वेष्टित था जैसे मञ्जरियों से वृक्ष वेष्टित रहता है और दीपकों के समूहों के बीच वह ऐसा स्थित था, जैसे रत्नसमूहों के बीच सुवर्ण ॥ ५३ ॥

उन सबों ने उसे जगाकर और अपने चित्त एवं तत्त्वज्ञ जीव से शीघ्र संयुक्त बनाकर वे रुद्र आदि तथा अन्य भी बहुत से वहाँ पर स्थित जन विस्मयरहित होकर भी विस्मय से युक्त हुए ॥ ५४ ॥

अनन्तर वे चक्रवर्ती राजा के संसार में गये और उसे जगाकर अपने चित्त एवं चेतन से संयुक्त किया। इस प्रकार उसे रुद्ररूप बनाने के बाद आतिवाहिक देह से ही अन्य संसार भूमियों में उन लोगों ने भ्रमण किया। इस बीच में उन्हें जो सोते हुए मिले, उनको तो केवल जगाया और पूर्वोक्त प्रकार से स्वात्मरूप बनाया तथा जो मर गये थे, उन्हें तो जिलाया भी एवं पूर्वोक्त प्रकार से स्वात्मरूप बनाया ॥ ५५ ॥

अन्त में वे सभी ब्रह्मदेव के हंसरूप वासना से युक्त चित्त के परिणामस्वरूप ब्रह्महंस के संसार में पहुँचकर रुद्ररूप हो गये। इस प्रकार रुद्र के चित्त एवं चेतन के अंशों से ही चित्त एवं चेतन से युक्त होने से तथा ज्ञान ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न होने से ही उत्तम शतरुद्ररूपता को प्राप्त कर शोभित होने लगे ॥ ५६ ॥

एकसंविद्भिन्नतनु चित्रचेष्टितवेष्टितम् ।
एकरूपमनेकाभं रूपं तत्पारमेश्वरम् ॥ ५७ ॥
रुद्राणां तच्छतमथ निरावरणचिन्मयम् ।
सर्वसंसारसम्बन्धि स्थितं सर्वजगत्स्थितम् ॥ ५८ ॥
शतरुद्रशतानीह सन्ति राम ! महान्ति हि ।
एतदेकादशं विद्धि संसारं प्रति संस्थितम् ॥ ५९ ॥
यो योऽभितः स जीवस्य संसारः समुदेति हि ।
तत्राऽप्रबुद्धा जीवौघाः पश्यन्ति न परस्परम् ॥ ६० ॥
मिलन्ति हि मनोबुद्धास्तरङ्गा इव वारिधौ ।
अप्रबुद्धास्तु तन्मात्रनिष्ठा लोष्टवदास्थिताः ॥ ६१ ॥
यथा द्रवत्वाद्वीच्यम्बु त्वन्योन्यं संमिलत्यलम् ।
तथा प्रबुद्धा जीवौघा मिथश्चित्त्वान्मिलन्त्यलम् ॥ ६२ ॥
प्रत्येकमुदिते चैते संसारे जीवराशयः ।
चिद्धातोः सर्वगत्वेन त्वसत्याः सत्यवत्स्थिताः ॥ ६३ ॥
यद्यदाखन्यते भूमेस्तत्तन्नाम यथा नभः ।
सर्वगायाश्चितेर्यद्यदुह्यते तत्तथैव चित् ॥ ६४ ॥
सर्वप्रपञ्चभूतानि यथाऽनुभवसीह हि ।
तथेह सर्वभूतात्म चित्त्वं सर्वत्र विद्यते ॥ ६५ ॥
यच्छालभञ्जिका वृक्षे शैले श्वभ्रे गतेऽन्तकम् ।
प्रेक्ष्यते तद्वदेकात्मा तथा चिति जगत्स्थितम् ॥ ६६ ॥
अवेदने परे शुद्धे वेदनं यज्जगत्स्थितम् ।
अकारणमचैतन्यं शून्यत्वेन यथा नभः ॥ ६७ ॥
विद्यते वेदनं दृश्यबन्धो मोक्षस्त्ववेदनम् ।
यदेव रुचिरं ते स्यात्तदेवाऽऽशु दृढीकुरु ॥ ६८ ॥
सर्गासर्गौ बन्धमोक्षौ वेदनावेदनात्मकौ ।
अभिन्नौ बोधनाच्चोभौ यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६९ ॥

परमेश्वर सम्बन्धी वह रुद्र का रूप ज्ञान से तो एक है, पर शरीर से भिन्न-भिन्न है, चित्र-विचित्र चेष्टाओं से वेष्टित है, एकरूप भी है और अनेकरूप भी है ॥ ५७ ॥

अनन्तर प्रातिभासिक संसार के आधारभूत, सम्पूर्ण जगत् और उसके भीतर स्वयं अन्तर्यामीरूप से स्थित वे शतरुद्र आवरणशून्य चैतन्यरूप होकर स्थित हुए ॥५८॥

आजतक यहाँ बहुत से बड़े-बड़े सौ शतरुद्र वाले संसार हो गये हैं। भिक्षु-रुद्र से कल्पित सौ जगत् के बीच में यह आप और मेरे द्वारा अनुभूयमान सामने स्थित जगत् ग्यारहवां भ्रामर रुद्र का संसार है, यह आप समझें ॥ ५९ ॥

कथित लक्षण वाले जीव से जो संसार चारों ओर उदित होते हैं, उन संसारों में अज्ञानी जीव-समूह निश्चय ही परस्पर एक दूसरे को नहीं देख पाते ॥ ६० ॥

मन से प्रबुद्ध तत्त्वज्ञ, समुद्र में तरङ्ग की तरह जीवों के साथ मिलते ही हैं और अज्ञानी लोग तो अपने आश्रम-मात्र में रहकर मिट्टी के ढेले की तरह स्थित रहते हैं ॥ ६१ ॥

प्रबुद्ध हुए जीव-समूह, चिद्रूप होने के कारण, परस्पर एकरूप से वैसे ही भली-भाँति मिल जाते हैं जैसे द्रवत्व के कारण तरङ्ग और जल परस्पर एकरूप से अच्छी तरह मिल जाते हैं ॥ ६२ ॥

प्रत्येक जीव के लिए उत्पन्न संसार में ये जीव चित्सार ब्रह्म के सर्वव्यापी होने से, परमार्थतः असद्रूप होने पर भी सद्रूप से स्थित हैं ॥ ६३ ॥

पृथिवी का जो भाग खोदा जाता है, वह सब आकाश-रूप से ही अविशिष्ट रह जाता है; सर्वव्यापी इस चिति से जो तत्त्वज्ञान के द्वारा दूर किया जाता है, अर्थात् मिथ्या समझा जाता है वह सब कुछ एकमात्र चिद्रूप ही रह जाता है ॥ ६४ ॥

विभाग सहित सम्पूर्ण पञ्चभूतों का यहाँ भी सम्पूर्ण भूतसत्तारूप चितितत्त्व ही सर्वत्र वैसे ही विद्यमान है जैसे आप सर्वत्र अनुभव करते हैं, इसका भी आप अनुभव करें ॥ ६५ ॥

एकात्मा सम्पूर्ण जगद्रूप से दिखाई देता है और चिद्रूप उस एकात्मा में जगत् भी वैसा ही स्थित वैसे ही दिखाई देता है जैसे वृक्ष में, पर्वत में, शिलास्तम्भ में शिल्पियों द्वारा टाँकी के छेदन से तत्-तत् आकार की प्रतिमा के अनुकूल गड्ढा बनाने पर जब वे वृक्ष आदि पुरुष, हाथी, घोड़े, आदिका आकार परिच्छेद प्राप्त कर लेते हैं तब वे ही—पुरुष आदि विचित्र मूर्त्तियों के रूप में—हम लोगों को दिखाई देते हैं ॥ ६६ ॥

अविषय, शुद्ध ब्रह्म में जो अविषयता का आपादन अर्थात् अन्यथा ज्ञान है, वही 'जगत्' इत्याकारक परिच्छेद का निमित्त होकर स्थित है। चिदेकरस उस ब्रह्म में जगदाकार जो अचैतन्य अर्थात् जड़ता है, वह निर्निमित्त ही है; अतः वह आकाश जैसा शून्य रूप से स्थित है ॥ ६७ ॥

ब्रह्म में अन्यथा ज्ञान ही दृश्यों से बन्ध है और अन्यथा ज्ञान न होना ही मोक्ष है। इन दोनों में आपको जो भी अच्छा लगे, उसे ही शीघ्र दृढ़ करें ॥ ६८ ॥

सर्ग और सर्ग का अभाव एवं बन्ध और मोक्ष दोनों क्रमशः वेदन अन्यथाज्ञान तथा अवेदन अन्यथाज्ञान स्वरूप हैं। ये दोनों अपने साक्षिभूत प्रत्यगात्मा से अभिन्न ही हैं। अतः आप जैसा चाहें, वैसा करें ॥ ६९ ॥

असंवित्तेस्तु यन्नाऽस्ति तन्नाशे का कदर्थना ।
तूष्णींभावेन यत्प्राप्यं प्राप्तमेवाऽऽशु विद्धि तत् ॥ ७० ॥
यद्वै वेदनमात्रात्म तदज्ञाऽवेदनक्षयम् ।
तद्वेदनं वेदनाया यदिष्टं तत्समाचरेत् ॥ ७१ ॥
वीचिर्यथाऽम्भसः स्पन्दो जगच्चैव तथा चितौ ।
एतावन्मात्र एवाऽत्र भेदो यद्रघुनन्दन ! ॥ ७२ ॥
देशकालस्वरूपेषु सत्सु वीच्यादिताऽम्भसि ।
जगदादौ तु देशाद्या असन्तो जगतीक्षिताः ॥ ७३ ॥
आभास्वरं त्रिजगदित्यतिभाति भास्वत्
स्वं वेदनं विदनमेव चितेः स्वरूपम् ।
वाचि स्थितं भवति चैतदुपोह भेद-
क्लिष्टं प्रशान्तवचनस्तु शिवः परात्मा ॥ ७४ ॥
संवेदनं सर्व इतीह शब्दा-
दर्थादभिन्नौ न कदाचिदेतौ ।
वीच्यम्भसौ द्वे इति नोचितोक्ति-
र्यस्याऽज्ञतायां त्विदमेव युक्तम् ॥ ७५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्रीयकथनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

एकमात्र न देखने से जो अपनी सत्ता नहीं रखता, ऐसे अनर्थ के नाश के लिए प्रयास ही क्या है ? और जो सुख निश्चेष्ट होकर स्थित रहने से पाया जा सकता है, वह भी शीघ्र प्राप्त ही है; वहाँ भी प्रयास की अपेक्षा नहीं है, यह आप जानें ॥ ७० ॥

जो जगद्रूप एकमात्र अन्यथा ज्ञान स्वरूप है, निश्चित है कि वह उस प्रकार का ज्ञान न करने से क्षीण हो जाता है। उस जगद्रूप वेदना का साक्षीरूप जो प्रत्यक् चैतन्य है, वह प्राप्त ही है। अतः आपको जो इष्ट हो, उसे करें ॥ ७१ ॥

हे रघुनन्दन ! वैसे चिति का स्पन्द ही जगत् है। जैसे जल का स्पन्द तरङ्ग है, यहाँ पर इतना ही और वैलक्षण्य है कि देश और काल के स्वरूपों की स्थिति रहते ही जल में तरङ्ग आदि रूपता देखी गई है और यहाँ जगद्रूप विवर्त के उपादान ब्रह्म में तो देश आदि पहले न रहते हुए बाद में आरोपित हुए ही कार्यरूप जगत्कोटियों में देखे गये हैं ॥ ७२, ७३ ॥

स्वप्रकाश आत्मरूप चैतन्य वही अविद्या के आवरण से थोड़े प्रकाश-सा सम्पन्न तीनों जगत्स्वरूप अन्यथा प्रतिभासित होता है। उसका पारमार्थिक स्वरूप चिद्रूप ज्ञात ही है, न कि जड़। उस प्रकार उपसंहृत हुआ भेद क्लिष्ट वाणी में ही स्थित होता है। वाणी जहाँ बिलकुल शान्त हो चुकी है, ऐसा वह परम शिव ही परमात्मा है ॥ ७४ ॥

आत्मचिति और सम्पूर्ण जगत् ये दोनों शब्दतः और अर्थतः अभिन्न ही हैं, कभी-भी इनमें द्वैत संभव नहीं है। आत्मा की अज्ञता-दशा में ही द्वैतज्ञान युक्त है, ज्ञान-दशा तो वीचि और जल ये दोनों भिन्न हैं, यह कथन युक्त नहीं है ॥ ७५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में जीवटउपाख्यान में स्वप्नशतरुद्रीयकथन नामक कुसुमलता का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

६४

श्रीराम उवाच

जीवटब्राह्मणादीनां हंसादीनां मुनीश्वर ! ।
भिक्षुस्वप्नशरीराणां सम्पन्नं किमतः परम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

रुद्रेण सह संभूय प्रबुद्धाः सर्व एव ते ।
मिथश्च दृष्टसंसारा रुद्रांशाः सुखिनः स्थिताः ॥ २ ॥

६४

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनीश्वर ! जीवट ब्राह्मण आदि और हंस आदि भिक्षु के स्वप्न शरीरों की उसके बाद क्या स्थिति हुई ? स्वप्नकालीन शरीर के सदृश उनका बाध हुआ या आगे उनका व्यवहार भी चलता रहा ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—रुद्र के साथ मिलकर वे सभी तत्त्वज्ञ हो गये और रुद्र के अंशस्वरूप वे एक दूसरे के पूर्वोत्तर संसार को देखते हुए कृतकृत्य होकर अपूर्व सुखानुभव करते हुए अवस्थित हो गये ॥ २ ॥

तेन रुद्रेण तां मायामवलोक्य यथोदिताम् ।
स्वांशास्तामेव संसारस्थितिं ते प्रेषिताः पुनः ॥ ३ ॥

श्रीरुद्र उवाच

गच्छताऽऽशु निजं स्थानं तत्र भुक्त्वा कलत्रकैः ।
कञ्चित् कालं समं भोगान् मत्सकाशमुपैष्यथ ॥ ४ ॥

भविष्यथ मदंशा ये गणा मत्पुरभूषणाः ।
ततो महाप्रलयतो यास्यामस्तत्परं पदम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रस्तेषां सोऽन्तरधीयत ।
अन्त्यसंसारसंख्यानं रुद्राणां मध्यमाययौ ॥ ६ ॥

प्रययुः स्वास्पदं तेऽपि जीवटब्राह्मणादयः ।
स्वकलत्रैः समं देहं क्षपयित्वाऽथ कालतः ॥ ७ ॥
रुद्रलोकं समासाद्य भविष्यन्ति गणोत्तमाः ।

कौतुकप्रदर्शन के लिए पहले प्रवृत्त रुद्र ने पूर्वोदित उस माया का अवलोकन कर फिर अपने अंशभूत उन रुद्रों को उसी जीवट आदि की संसार-स्थिति की ओर भेज दिया ॥ ३ ॥

श्रीरुद्र ने कहा—मेरे अंशभूत रुद्रो ! तुम लोग इसी समय अपने-अपने स्थान की ओर जाओ। वहाँ जाकर कलत्रादि परिवार के साथ कुछ काल तक विविध भोगों का उपभोग कर मेरे पास फिर लौट आओ ॥ ४ ॥

तुम लोग मेरे अंशस्वरूप गण हो, मेरे नगर के भूषण हो जाओ। पीछे चलकर हम सब लोग दो परार्द्ध वर्षों की समाप्ति में अविद्या लेश के साथ प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर उस परम पद को प्राप्त हो जायेंगे ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार कह कर वह भगवान् आदिरुद्र उनके समाने ही अन्तर्हित हो गये। उन अंशभूत सब रुद्रों के उस समय अन्तिम रुद्रसंसार का जो साक्षिभूत चैतन्य था, वही साक्षी चैतन्य प्रत्येक मध्यवर्ती जीवट आदि के संसार में, जागरण में स्वप्न-साक्षी के सदृश प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

भद्र, आदिरुद्र की आज्ञा के अनन्तर वे जीवट-ब्राह्मण आदि अपने-अपने स्थान की ओर चल दिये। अब काल पाकर अपने कलत्र आदि परिवारों के साथ जीवनयापन कर देह नष्टकर रुद्रलोक प्राप्तकर बड़े-बड़े गण हो जायेंगे। जो कभी आकाश में तारों के आकार में परिणत हुए हम लोगों को दिखाई देते हैं ॥ ७-८ ॥

श्रीराम ने कहा—एक भिक्षु के सङ्कल्परूप वे

कदाचिद्व्योम्नि दृश्यन्ते तारकाकारकारिणः ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

भिक्षुसङ्कल्परूपास्ते जीवटब्राह्मणादयः ।
कथं सत्यत्वमायाताः सङ्कल्पार्थे क्व सत्यता ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

सङ्कल्पसत्यता त्वंशे त्यज सङ्कल्पसत्यताम् ।
तत्र यन्नास्ति तन्नास्ति यतः सर्वात्म तत्पदम् ॥ १० ॥
यत्स्वप्ने दृश्यते यच्च सङ्कल्पैरवलोक्यते ।
तत्तथा विद्यते तत्र सर्वकालं तदात्मकम् ।
तद्देशकालात्मतया गत्वा देशान्तरं यथा ॥ ११ ॥
देशाद्देशान्तरं यद्वन्नो गत्यात्मादिकं विना ।
न लभ्यते तथा स्वप्नो विना तत्र न लभ्यते ॥ १२ ॥
सर्वमस्ति चितः कोशे यद्यथाऽऽलोकयत्यसौ ।
चित्तथा तदवाप्नोति सर्वात्मत्वादविक्षतम् ॥ १३ ॥

जीवट-ब्राह्मण आदि कैसे सत्यस्वरूप बन गये ? काल्पनिक अर्थों में सत्यता कहाँ देखी गई है ? ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—सङ्कल्प की जो सत्यता है वह तो अधिष्ठानभूत चैतन्यांश में ही है। इसलिए विवेकपूर्वक अध्यस्त अंश में सङ्कल्प की सत्यता छोड़ दीजिए। सत् और असत् से संवलित व्यावहारिक अर्थ में जो सद्भिन्न रूप पूर्वोत्तर काल में नहीं रहता वही तीनों काल में अस्तित्व से रहित है और अधिष्ठानभूत वह परम पद तो सभी काल में स्थित है, क्योंकि वह सर्वात्मक है। भोग-जनक अदृष्ट से उत्तेजित उन साङ्कल्पिक पदार्थों में अधिष्ठान की सत्यता से ही सत्यत्व है स्वतः नहीं ॥ १० ॥

जो स्वप्न में दिखाई पड़ती है और जो सङ्कल्पों द्वारा दिखाई पड़ती है सब काल में सद्रूप अधिष्ठान होकर तत्-तत् देश-कालरूप से तत्-तत् स्थान में निरन्तर विद्यमान वह चैतन्यात्मक वस्तु है; इसमें दृष्टान्त है—जाकर प्राप्त किया गया देशान्तर ॥ ११ ॥

तत्-तत् देश-कालरूप से परिणत स्वप्न भी जाग्रत् और सुषुप्ति या स्वप्नान्तर में कारण सामग्री के बिना वैसे ही उपलब्ध नहीं होता जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान यानी मथुरा आदि स्थान से पटना आदि स्थान-गमन, स्वस्थ मन, चक्षु आदि इन्द्रियों की पटुता, दिवसरूप आदि काल, उपदेष्टा विवेकी पुरुष आदि हम लोगों की कारण-सामग्री के बिना उपलब्ध नहीं होता ॥ १२ ॥

चिति के कोश में, कोशसदृश समस्त वासनाओं के आकर भूत अज्ञान में सब कुछ भरा पड़ा है, इस-

सङ्कल्पः स्वप्नकस्त्वङ्ग यया च दशयाऽऽप्यते ।
परमभ्यासयोगाभ्यां विना त्वेतन्न लभ्यते ॥ १४ ॥
येषां तु योगविज्ञानदृष्टयः फलिताः स्थिताः ।
सर्वं सर्वत्र पश्यन्ति त एते शङ्करादयः ॥ १५ ॥
इदमग्रगतं वस्तु तथा सङ्कल्पितं मया ।
नाऽऽप्यं यतोभयभ्रंशं स प्राप्नोत्युभयाश्रयात् ॥ १६ ॥
सर्वं ह्यभिमतं कार्यमेकनिष्ठस्य सिद्ध्यति ।
दक्षिणां ककुभं गच्छन् कः प्राप्नोत्युत्तरां दिशम् ॥१७॥
सङ्कल्पार्थपरैरेव सङ्कल्पार्थोऽवगम्यते ।
अग्रस्थार्थपरैरग्रे संस्थितोऽर्थोऽवगम्यते ॥ १८ ॥
अग्रस्थे बुद्धिसंस्थे यः सङ्कल्पं प्राप्तुमिच्छति ।
तदाऽसावेकनिष्ठत्वाभावात्तन्नाशयेद्द्वयम् ॥ १९ ॥

लिए भोगजनक अदृष्ट से प्रदीप्त वासनाओं द्वारा चिति जिस रूप से जिस वस्तु की कल्पना करती है उस रूप से सम्पूर्ण विषयों को दृश्य रूप से प्राप्त कर लेती है, क्योंकि वह सर्वात्मक ही है ॥ १३ ॥

जिस उपाय से सङ्कल्प, स्वप्न आदि एक साथ दिखाई पड़ते हैं उस उपाय को आप सुनिये। उत्तम अभ्यास और योग के विना उनका एक साथ अवलोकन नहीं मिल सकता है ॥ १४ ॥

जिनकी समाधि और अध्यात्मशास्त्र ज्ञान से जनित दृष्टियाँ फलित होकर स्वयं ही स्थित हैं वे ये शङ्कर आदि, सब वस्तु को सर्वत्र देखते रहते हैं ॥ १५ ॥

यह सामने यद्यपि वस्तु उपस्थित है और सङ्कल्पित भी है तथापि एकाग्रता के न रहने से उसे मैं प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि सङ्कल्पित और असङ्कल्पित दोनों का आश्रयण करने से चित्त दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाता है, कहीं एक जगह स्थिर नहीं हो पाता ॥ १६ ॥

अभीष्ट सब कार्य एकनिष्ठ पुरुष को ही प्राप्त होते हैं, अन्यनिष्ठ को नहीं। दक्षिण दिशा की ओर जा रहा कौन पुरुष उत्तर दिशा को प्राप्त कर सकता है? ॥ १७ ॥

सङ्कल्पित अर्थों पर आरूढ़ पुरुष ही सङ्कल्पित अर्थ प्राप्त करते हैं और सामने स्थित अर्थों पर आरूढ़ हुए पुरुष सामने स्थित अर्थों को जानते हैं ॥ १८ ॥

जो पुरुष सामने स्थित और बुद्धि में स्थित दोनों वस्तुओं में सङ्कल्प प्राप्त करने की इच्छा करता है यह एकनिष्ठता न रहने से उस समय उन दोनों का नाश कर देता है ॥ १९ ॥

तस्मादेकार्थनिष्ठत्वाद्भिक्षुजीवेन रुद्रताम् ।
प्राप्य सर्वात्मना लब्धं तथा सर्वं तथास्थितेः ॥ २० ॥
भिक्षुसङ्कल्पजीवास्ते प्रत्येकं तज्जगत् पृथक् ।
पश्यन्ति चैते नाऽन्योन्यं रुद्रज्ञानादृते ततः ॥ २१ ॥
अप्रबुद्धाः प्रजायन्ते जीवा जीवान्तबोधिनः ।
तदिच्छयाऽऽशु तद्रूपा बहुरूपाश्च ते इह ॥ २२ ॥
इह विद्याधरोऽयं स्यामहं स्यामिह पण्डितः ॥ २३ ॥
इत्येकध्यानसाफल्यं दृष्टान्तोऽस्यां क्रियास्थितौ ।
एकत्वं च बहुत्वं च मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव वा ॥ २४ ॥
देवत्वं मानुषत्वं च देशकालक्रियाक्रमैः ।
तुल्यकालमलङ्कर्तुं धारणाध्यानयत्नतः ॥ २५ ॥
सर्वशक्त्यः स्वरूपत्वाज्जीवस्याऽस्त्येकशक्तिता ।
अनन्तश्चाऽन्तपृक्तश्च स्वभावोऽस्य स्वभावतः ॥ २६ ॥

इसी से एकनिष्ठा के कारण भिक्षुक जीव ने प्रसिद्ध रुद्र की तरह रुद्ररूपता प्राप्त कर सब कुछ सर्वात्मरूप से प्राप्त किया, क्योंकि इसकी भी स्थिति प्रसिद्ध रुद्र की स्थिति के सदृश ही थी ॥ २० ॥

वे अट्ठानबे मध्यवर्ती जीवट आदि भिक्षु सङ्कल्परूप जीव प्रत्येक भिन्न-भिन्न रूप से अवस्थित थे और उनका अपना संसार भी अलग था, इसलिए वे अपने में रुद्रत्व सामान्य ज्ञान के बिना एक दूसरे का साक्षात्कार नहीं कर पाते थे ॥ २१ ॥

भद्र, एकमात्र रुद्र की इच्छा से ही वे सङ्कल्पजीव तत्त्वज्ञान से रहित और जीवों के संसार विशेषों को जानने वाले होते हैं तथा उसी की इच्छा से वे यहाँ शीघ्र रुद्ररूप और अनेकरूप हो जाते हैं ॥ २२ ॥

यहां मैं यह विद्याधर हो जाऊँ, यहाँ मैं पण्डित हो जाऊँ, इस प्रकार की इच्छा ही उनके तत्-तत् रूप हो जाने में कारण है ॥ २३ ॥

इस प्रकार किसी एक वस्तु की तदाकार भावना सफल हो जाती है। दूसरे भी जीवों की प्रसिद्ध तत्-तत् व्यवहार स्थिति में यह भिक्षु सङ्कल्परूप सृष्टि ही दृष्टान्त है। देश, काल और क्रिया के क्रम से या एक साथ धारणा, ध्यान एवं प्रयत्न के अनुसार एकत्व, मूर्खत्व, पाण्डित्य, देवत्व और मनुष्यत्व प्राप्त किया जा सकता है ॥ २४-२५ ॥

परमार्थतः अनन्त होने से इस जीव में समग्र शक्तियां विद्यमान हैं और एक-एक देहाभिमानरूप परिच्छेद से श्लिष्ट हो जाने के कारण इससे एक कार्यमात्र की भी

सविकासः ससङ्कोचोऽर्हिसस्तेन चिदात्मनः ।
यदिच्छति तदस्याऽङ्ग जन्तुः सम्पद्यते स्वयम् ॥ २७ ॥
स्वयं सम्पादितैरेभिर्देशकालक्रियाक्रमैः ।
योगिन्यो योगिनश्चेह तिष्ठन्त्यन्यत्र यत्र च ॥ २८ ॥
इह वाऽमुत्र भोगेन दृष्टमेतदनेकशः ।
कार्तवीर्यो गृहे तिष्ठन् सर्वेषां भयदोऽभवत् ॥ २९ ॥
विष्णुः क्षीरोदधौ तिष्ठन् जायते पुरुषो भुवि ।
पश्वर्थं यान्ति तिष्ठन्त्यो योगिन्यो योगिनीगणे ॥ ३० ॥
शक्रः स्वर्गासने तिष्ठन् याति यज्ञार्थमुर्विकाम् ।
सहस्रमेकं भवति तथा चाऽऽस्मिञ्जनार्दनः ॥ ३१ ॥
नृणां शतानि भक्तानां मानुष्यं याति तन्नतैः ।
एकः सहस्रं भवति तथा चैष जनार्दनः ॥ ३२ ॥
अंशावतारलीलाभिः कुरुते जागतीं स्थितिम् ।
एकः कान्तासहस्राणि तुल्यकालं निमेषवत् ॥ ३३ ॥
एवं ते भिक्षुसङ्कल्पा जीवटब्राह्मणादयः ।
रुद्रविज्ञानवशतः स्वसङ्कल्पपुरीं गताः ॥ ३४ ॥
तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान्प्राप्य रुद्रपुरं ततः ।
गणतामावसन्तस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः ॥ ३५ ॥
नित्यं प्रफुल्लनवकल्पलतालयेषु
रुद्रेण साकमुरुरत्नगुलुच्छकेषु ।
नानाजगत्सु च तदा शिवपत्तनेषु
विद्याधरीष्वमरमौलिधराश्च रेजुः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे गणत्वप्राप्तिर्नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

शक्ति विद्यमान है, इसलिए शक्ति स्वभाव के अनुसार जीव में तत्-तत् कार्यस्वभाव व्यवस्थित ही है ॥ २६ ॥

हे प्रिय ! इसीलिए प्राणियों के कर्मानुसार स्वर्ग और नरक आदि सैकड़ों अर्थानर्थों की सृष्टिरूप से विकासवान् तथा सब प्राणियों के संहार द्वारा प्रलयरूप से संकोचवान् यह परमात्मा हिंसाजनित विषमता आदि दोषों से शून्य है, क्योंकि जीव समुदाय स्वयं जिसकी इच्छा करता है इस चिदात्मा के सङ्कल्प से सद्रूप हो जाता है; इससे कुछ भी किसी का जगदीश्वर अनिष्ट नहीं करता ॥ २७ ॥

स्वयं सम्पादित इन तत्-तत् देश और काल के अनुसार प्राणियों के अनुग्रह और निग्रह रूप क्रीडा आदि अधिकार-पूर्ण क्रियाक्रमों से योगिनियां और योगी वे सब अपने घर में या अन्यत्र जहां भी चाहते वहां स्थित रहते हैं ॥ २८ ॥

इस लोक में अथवा परलोक में एक साथ वे प्रारब्ध भोग से स्थित रहते हैं। इस प्रकार की योगियों का चरित्र अनेक जगह देखा गया है। भगवान् दत्तात्रेय के प्रसाद से प्राप्त योग के प्रभाव से घर में ही बैठे हुए कार्तवीर्य ने सब आततायियों के ऊपर तत्-तत् स्थान में पहुंच कर शासन किया ॥ २९ ॥

क्षीरसागर में सोये हुए भगवान् विष्णु पृथिवी पर जन्म आदि व्यापारों से व्यवहार करते हैं। स्वर्ग में योगिनियों के समुदाय में विराज रही योगिनियां पशु, पेय आदि उपहार ग्रहण करने के लिए पृथिवी पर जाती हैं ॥ ३० ॥

स्वर्ग के आसन पर विराजमान ही इन्द्र यज्ञ के लिए पृथिवी पर जाते हैं। इस रामावतार में भगवान् जनार्दन चौदह हजार राक्षसों का नाश करने के लिए हजार रूप के होते हुए भी फिर एक रूप-धारण कर लेते हैं ॥ ३१ ॥

भगवान् जनार्दन भक्तजनों कों नमस्कारपूर्वक प्रार्थनाओं के वशीभूत होकर सैकड़ों भक्तजनों के ऊपर अनुग्रह करने के छिए यदुकुल में मनुष्य बनकर आते हैं और कुरु-सभा में दुर्योधन आदि को मोहित करने के लिए स्वयं एक होते हुए भी अनेक रूप हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

भगवान् जनार्दन अपने अंशरूप अवतार-लीलाओं से जगत् की स्थिति बनाये रखते हैं और स्वयं एक ही होकर एक काल में सोलह हजार रमणियों के साथ उस प्रकार विहार करते हैं जिस प्रकार विदेहरूप को प्राप्त हुए राजा निमि सब प्राणियों के नेत्रों में रहकर एक साथ निमेष करते हैं ॥ ३३ ॥

इस रीति से भिक्षु के सङ्कल्पस्वरूप जीवट, ब्राह्मण आदि भगवान् रुद्र की अनुमति से अपने सङ्कल्परूप नगर में चले गये ॥ ३४ ॥

वहाँ पर चिर कालतक विविध भोगों का उपभोग कर अनन्तर रुद्र नगरी प्राप्त कर गणरूप में रहते हुए वे सबके सब परिवार सहित रहने लगे ॥ ३५ ॥

वे सब गण भगवान् रुद्र के साथ अनेक रत्नमय गुच्छों ने युक्त विकसित नवीन कल्पलताओं के घरों में, अनेक भुवनों में और कैलास, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक आदि कल्याणमय नगरों में विहार करते हुए तथा गीत, वादित्र, नाट्य आदि में कुशल विद्याधरियों के बीच में देवताओं द्वारा नमस्कृत होते हुए उस समय खूब सुशोभित हुए ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में गणत्वप्राप्ति नामक कुसुमलता का चौसठवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

६५

वसिष्ठ उवाच

ईषद्दृष्टो यथा तेन भिक्षुणा चेतसि भ्रमः ।
भूतं प्रयत्नमेवैष पृथक्कृत्वा सुपश्यति ॥ १ ॥
सर्वस्याऽऽभासजीवस्य मृतिजन्ममयी स्थितिः ।
भवत्येव चिदाकाशरूपिण्येवाऽऽकृति गता ॥ २ ॥
पृथक्कृत्यैक्यमभ्येति स्वात्मा संसारखण्डकम् ।
सर्व एव मृतो जन्तुः पृथक्स्वप्ननिभात्मकम् ॥ ३ ॥
एवं ततस्वरूपोऽपि देही चाऽऽमोक्षमाकुलः ।
जीवयूथं मया तुभ्यं कथितं कथयाऽनया ॥ ४ ॥
परात्प्रस्पन्दितात्मेति न भिक्षू राम ! केवलम् ।
मोहान्मोहान्तरं याति जीवोऽहरहरेव नः ॥ ५ ॥
पर्वताग्रपरिभ्रष्टो ह्यधोऽध उपलो यथा ।
परमात्मपरिभ्रष्टो जीवः स्वप्नमिमं दृढम् ।
पश्यत्यस्मादपि स्वप्नाद्याति स्वप्नान्तरं पुनः ॥ ६ ॥
स्वप्नात्स्वप्ने विनिपतन् मृषैवेदं दृढं किल ।
परिपश्यति जीवोऽन्तर्मायया जर्जरीकृतः ॥ ७ ॥
क्वचित् केनचिदेवेह कदाचिदपि वा स्वयम् ।
देहनाम्नोऽहमित्यन्तो मुच्यते स्वं प्रपद्यते ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

अहो नु विषमो मोहो जीवस्याऽस्योपजायते ॥ ९ ॥
यथा सुप्तस्य स्तोकेन नानाकारविकारया ।
मिथ्याज्ञानोग्रयामिन्या मायया निपतत्यलम् ।
अहो नु खलु वैषम्यं भीमं निजवदुच्यते ॥ १० ॥
भगवन् ! सर्वदा सर्वं सर्वत्रैव जगत्स्थितौ ।
त्वया सम्भवतीत्युक्तं यथा तच्चाऽनुभूयते ॥ ११ ॥
एवं गुणविशिष्टात्मा तन्मोहात्मा स भिक्षुकः ।
क्वचिदस्ति न वाऽस्त्यन्तरालोक्य कथयाऽऽशु मे ॥१२॥

६५

श्री वसिष्ठजी ने कहा—उस भिक्षु ने अपने चित्त में जिस भ्रम को आपाततः विचारा, भिक्षु उसी भ्रम को अपने प्राक्तन शुभाशुभरूप प्रयत्न को ही फलावस्था में अपने से पृथक्-सा कर स्पष्ट देखता है ॥ १ ॥

सभी जीवों की मरण एवं जन्ममय स्थिति ही अन्य आकार को प्राप्त एकमात्र चिदाकाशरूप ही होती है ॥२॥

इस संसारखण्ड को पृथक् कर अपनी आत्मा पर-ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करता है और सभी मृत जीव मरणकाल में उद्बुद्ध अपने कर्म को स्वप्न के सदृश अपने से पृथक् जगद्रूप में देखते हैं ॥ ३ ॥

भिक्षु की आत्मा के समान अपरिच्छिन्न स्वरूप भी आत्मा देहपरिच्छिन्न के समान होकर मोक्षपर्यन्त दुःखी रहता है, इस विषय से मैंने इस भिक्षु की कथा से आप से अनेक जीवों का वृत्तान्त कह दिया है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी ! सभी जीव पूर्णस्वरूप परमात्मा के प्रस्पन्दस्वरूप हैं, केवल भिक्षु ही नहीं है । जीव एक मोह से दूसरे मोह को प्राप्त करता है, यह हम लोगों को प्रतिदिन स्वप्न में अनुभव सिद्ध है ॥ ५ ॥

जैसे पर्वत के अग्रभाग से बिछड़ा हुआ पत्थर का टुकड़ा नीचे की ओर बराबर गिरता ही जाता है वैसे ही परमात्मा से अलग जीव इस दृढ़ स्वप्न को देखता है । यही बात नहीं, किन्तु इस स्वप्न से भी फिर दूसरे स्वप्न की ओर उस तरह जाता है ॥ ६ ॥

एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में गिर रहा जीव असत्य भूत इस स्वप्नात्मक जगत् को भीतर अज्ञान से जर्जर होकर देखता है ॥ ७ ॥

जन्मादि दुःख का किसी कारण विशेष से किसी भी समय वहाँ कहीं पर स्वयं अनुभव करता है । देह नामक अहमभिमान ही स्वयं बद्ध और मुक्त होता है अर्थात् उक्त अभिमान ही बन्ध है और स्वात्मलाभ ही मोक्ष है ॥ ८ ॥

श्रीरामजी ने कहा—महान् आश्चर्य है कि इस जीव को विषम मोह होता है ॥ ९ ॥

यह महान् आश्चर्य है जैसे साधारण श्रम आदि हेतुओं से सोये हुए पुरुष के मन में स्वप्न मायावश भीषण दुःखादि सङ्कट उत्पन्न होता है, वैसे ही मिथ्या ज्ञानात्मक उग्र रात्रिरूपी माया से जीव में भयङ्कर विषमता आ जाती है और उसको जीव सत्य कहता है ॥ १० ॥

हे भगवन् ! जैसे आपने कहा कि इस जगत्स्थिति में सदा सर्वत्र सब कुछ संभव है, ठीक वैसा ही मैं भी अनुभव करता हूँ ॥ ११ ॥

इस प्रकार के गुणों से युक्त तथा जीवटादि का मोह-भूत वह भिक्षु कहीं है या नहीं ? इस विषय में हृदय के अन्दर विचार कर मुझसे कहिये ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

अद्य रात्रौ समाधिस्थस्त्रिलोकीमठिकामिमाम् ।
भिक्षुरेकोऽस्ति नाऽस्तीति प्रेक्ष्य प्रातर्वदाम्यहम् ॥१३॥

वाल्मीकिरुवाच

मुनौ चैवं कथयति बहिर्मध्याह्नडिण्डिमः ।
उदभूत्प्रलयक्षुब्धघनगर्जितमांसलः ॥ १४ ॥
तत्यजुः पादयोस्तस्य पुष्पाञ्जलिपरम्पराः ।
नृपाः पौरा विटपिनः पुष्पं वातधुता इव ॥ १५ ॥
पूजयित्वा मुनिश्रेष्ठानुदतिष्ठन् स्वविष्टरात् ॥ १६ ॥
सभा तदनु सोत्तस्थौ सप्रणामपरम्परा ।
क्रमेण ह्यस्तनेनैव जग्मुः खेचरभूचराः ॥ १७ ॥
स्वास्पदेषु यथाशास्त्रमहर्व्यापारमादृताः ।
सर्वे सम्पादयामासुर्निजधर्मं क्रमोचितम् ॥ १८ ॥
चिन्तयन्तो मुनिप्रोक्तं महीचरनभश्चराः ।
ज्ञानं क्षपां क्षणमिव निन्युः कल्पमिवाऽपि च ॥ १९ ॥
प्रातः पुनः प्रसृतकार्यपरम्परेऽस्मिन्
जाते जने खचरभूचरभूतसङ्घः ।
आख्यानलोकरचनेन तथैव तस्था-
वन्योन्यसंवदनपूजितपूज्यलोकः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विद्योत्तरविस्मयवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—आज रात में समाधिनिष्ठ मैं इस त्रिलोकीरूपी मठिया का निरीक्षण कर प्रातःकाल में उस तरह का एक भिक्षुक है कि नहीं, यह कहूँगा ॥ १३ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—मुनिवर वसिष्ठजी के इस प्रकार कहते ही बाहर मध्याह्नकाल की सूचक डिण्डिम वाद्य की ध्वनि हुई। वह ध्वनि प्रलयकाल के विक्षुब्ध मेघों के गर्जन-सी पुष्ट थी ॥ १४ ॥

जैसे वायु से कम्पित वृक्ष पुष्प बिखेर देते हैं वैसे ही उस समय महाराज वसिष्ठजी के चरणों में राजाओं और नागरिकों ने पुष्पाञ्जलियों की परम्परा बिखेर दी ॥१५॥

अनन्तर अन्य श्रेष्ठमुनियों की पूजा कर वे सब अपने-अपने आसन से उठ कर खड़े हो गये ॥ १६ ॥

अनन्तर वह सारी सभा परस्पर प्रणामों के साथ उठ कर खड़ी हो गई और पहले दिन के क्रम के अनुसार भूचर-खेचर सब अपने-अपने स्थान को चले गये ॥ १७ ॥

सबने अपने आश्रम में शास्त्रानुसार तत्पर होकर अपना आह्निक धर्म यथाक्रम पूरा किया ॥ १८ ॥

मुनिद्वार कहे गये शास्त्र के विचार में तत्पर भूचर-खेचर सबने कल्पतुल्य भी रात क्षणभर की तरह बिता दी ॥ १९ ॥

भूचर-खेचर आदि प्राणिसमूह रात बिताकर प्रातःकाल, सब लोग अपने-अपने कार्यों में तत्पर हो गये थे, दशरथ जी की सभा में आकर पहले दिन की तरह फिर व्याख्यान सुनने के लिये योग्य सभा पद्धति का निर्माण कर परस्पर संभाषण एवं पूज्य लोगों की पूजा करते हुए बैठ गये ॥ २० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में विद्योत्तर-विस्मय वर्णन नामक कुसुमलता का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

६६

वाल्मीकिरुवाच

वसिष्ठमुनिसंयुक्ता विश्वामित्रादिसंयुताः ।
स्थिताः खेचरसिद्धौघा विश्रान्ता नृपनायकाः ॥ १ ॥
सरामलक्ष्मणा सैव तथैवाऽथ सभा बभौ ।
सौम्या समसमाभोगा शान्तवातेव पद्मिनी ॥ २ ॥

६६

महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा—मुनि वसिष्ठजी से युक्त और विश्वामित्र आदि ऋषियों से समन्वित आकाशचारी सिद्धगण पहले बैठ गये, अनन्तर राजा लोग और उनके बाद सामान्त आदि नायक बैठ गये ॥ १ ॥

अनन्तर श्रीराम जी और लक्षण के साथ वह सभा पहले की तरह ही सौम्य होकर शोभायमान हुई। वह ऐसी अच्छी लगती थी मानो वायु के सम्बन्ध से रहित चिक्कन बराबर आकृतिवाला छोटा सरोवर हो ॥ २ ॥

अनवेक्ष्य वचः प्रश्नमुवाचाऽथ मुनीश्वरः ।
बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा हि साधवः ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

राजन् ! रघुकुलाकाशशशाङ्करघुनन्दन ! ।
ह्यो मया ज्ञाननेत्रेण स भिक्षुः प्रेक्षितश्चिरम् ॥ ४ ॥
ध्यानेनाऽहं चिरं भ्रान्तस्तादृग्भिक्षुदिदृक्षया ।
द्वीपानि सप्त विपुलां कुलशैलसपर्वताम् ॥ ५ ॥
यावत्कुतश्चिदप्येवं भिक्षुर्लब्धो न तादृशः ।
कथं किल मनोराज्यं बहिरप्युपलभ्यते ॥ ६ ॥
ततस्त्रिभागशेषायां रात्र्यां पुनरहं धिया ।
उत्तराशान्तरं यातो वेलावात इवाऽर्णवम् ॥ ७ ॥
जिननामैष तत्राऽस्ति श्रीमान् ! जनपदो महान् ।
वल्मीकोपरि तत्राऽस्ति विहारो जनसंश्रयः ॥ ८ ॥

अनन्तर मुनिराज श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी के नूतन प्रश्न की प्रतीक्षा न कर पहले दिन किये गये प्रश्न का उत्तर देने की प्रतिज्ञा के अनुसार कहना आरम्भ कर दिया, क्योंकि स्वभावतः दयाशील महात्मा लोग अधिकारी जनों को हठात् बोध दिया ही करते हैं ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे प्रकाशमान रघुकुलरूप आकाश के पूर्णचन्द्र श्रीरामजी ! कल मैंने अपने ज्ञानचक्षु से उस भिक्षु का चिरकाल तक अन्वेषण कर अन्त में अवलोकन किया ॥ ४ ॥

ध्यान से उस तरह के भिक्षु का अवलोकन करने की अभिलाषा से सातों द्वीप, कुलशैल एवं पर्वतों से मण्डित विपुल भूमण्डलपर दीर्घकाल तक मैंने भ्रमण किया ॥५॥

किसी तरह से मनःकल्पित वस्तु बाहर भी उपलब्ध हो सकती है या नहीं ? इस तरह का विचार कर मैं तबतक लगातार पर्यटन करता रहा, जबतक कि किसी ओर से वैसा भिक्षु मुझे प्राप्त न हुआ ॥ ६ ॥

आखिर में तृतीयांश रात्रि के शेष रह जानेपर समुद्र की ओर तटवर्ती वायु के सदृश मैं उत्तर प्रदेश की ओर जा पहुँचा और मन से मैंने विचार किया ॥ ७ ॥

उस दिशा में वल्मीक नामक एक प्रदेश के ऊपर आगे जाकर एक दूसरा बड़ा प्रसिद्ध जिननामक रम्य जनपद है और उस बड़े देश में 'विहार' नामक एक स्थान है, जहाँ पर अनेक जन निवास करते हैं ॥ ८ ॥

तस्मिन्विहारे स्वकुटीकोशे कपिलमूर्धजः ।
भिक्षुर्दीर्घदृशो नाम स्थित एव समाधये ॥ ९ ॥
एकविंशतिरात्रं च तस्यैवं स्थितिशालिनः ।
दृढार्गलं गृहं ध्यानभङ्गभीता विशन्ति नो ॥ १० ॥
भृत्याः प्रियाः किल तथा संतिष्ठति स भिक्षुकः ।
अद्यैव तस्य संवेत्तुं नियतेरीदृशी स्थितिः ॥ ११ ॥
रात्रयो ध्याननिष्ठस्य गतास्तस्यैकविंशतिः ।
स तु वर्षसहस्राणि तथा चित्तेन भूतवान् ॥ १२ ॥
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे भिक्षुरेवं पुराऽभवत् ।
अद्य त्विह द्वितीयोऽस्मिंस्तृतीयो नोपलभ्यते ॥ १३ ॥
मया तु पुनरन्विष्य चेतसा चतुरात्मना ।
तादृग् भिक्षुस्तृतीयोऽन्यो जगत्पद्मोदरालिना ॥ १४ ॥
अस्मात्सर्गात्ततो लब्धस्तृतीयस्तादृशाशयः ।
अथाऽन्ये लीलया सर्गा मया संप्रेक्षितास्ततः ॥ १५ ॥

उस विहार स्थान में समाधि की सिद्धि के लिए अपनी कुटी के भीतर 'दीर्घदृश' नाम का एक भिक्षु है, जिसके केश बिलकुल पीले पड़ गये हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार समाधि में स्थिति वाले उस भिक्षु की आज इक्कीसवीं रात है। उसकी कुटिया दृढ़ सिक्कड़ों से बन्द है। उसके प्रिय नौकर भी ध्यानभङ्ग के भय से उसके भीतर प्रवेश करने की चेष्टा नहीं करते थे। केवल वह भिक्षु उसी प्रकार की समाधि में लगा हुआ है। आज ही उसके विदेहकैवल्य की प्राप्ति का अन्तिम समय है, क्योंकि आयुष्यनियन्ता विधाता की ऐसी ही उसके लिए स्थिति है ॥ १०, ११ ॥

ध्याननिमग्न उस भिक्षु की अब तक इक्कीस रातें ही बीती हैं। चित्त के द्वारा इक्कीस रातों को ही उसने हजारों वर्ष के रूप में समझ लिया है ॥ १२ ॥

इस प्रकार का भिक्षु पहले किसी समय हो चुका था और इस कल्प में उस प्रकार का यह द्वितीय है। इन दोनों को छोड़कर कोई तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा ॥१३॥

जब तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा तब मैंने चतुर चित्त से इस जगद्रूप कमल के अन्दर भ्रमर के समान खूब परिभ्रमण किया और उस परिभ्रमण में मैंने एक अन्य तीसरा ही भिक्षु पाया ॥ १४ ॥

किन्तु इस सर्ग में नहीं; इसलिए इस सर्ग से भिन्न दूसरे अनेक सर्गों का लीलावश जब मैंने अवलोकन किया तब उन्हीं सर्गों में मुझे तीसरा भिक्षु मिला, जो ठीक पहले के समान स्वभाववाला ही है ॥ १५ ॥

यावत्तस्मिश्चिदाकाशकोशशायिनि सर्गके ।
तृतीयो विद्यते भिक्षुर्ब्राह्मश्च सदृशक्रमः ॥ १६ ॥
एवं तेनैव तेनैव सन्निवेशेन भूरिशः ।
भविष्यन्त्यभवन्सर्वे पदार्थाः सर्गसन्ततौ ॥ १७ ॥
अस्यां सभायामपि ये मुनयो ब्राह्मणास्तथा ।
भाव्यमेवं समाचारैस्तैरन्यैरप्यनेकशः ॥ १८ ॥
नारदेनाऽमुना भाव्यं पुनरन्येन चाऽमुना ।
एवं कलनकर्मभ्यां युक्तेनाऽन्येन भूरिशः ॥ १९ ॥
एवं जन्मादिना भाव्यं व्यासेनाऽपि शुकेन च ।
शौनकेन पुनर्भाव्यं क्रतुना पुलहेन च ॥ २० ॥
अगस्त्येन पुलस्त्येन भृगुणाऽङ्गिरसाऽपि च ।
एत एव तथाऽन्ये च एवं रूपक्रियास्पदम् ।
चिराच्चिराद्भविष्यन्ति मायेयं वितता यतः ॥ २१ ॥
सदृशाचारजन्मानस्त एवाऽन्ये च भूरिशः ।

चैतन्याकाश के एक कोने में लीन, जिस परिमाण के उस सर्ग में तृतीय भिक्षु विद्यमान है वहां वहां के ब्रह्मा द्वारा निर्मित भुवनपद्धति इसी भुवनपद्धति के सदृश है ॥ १६ ॥

उसी तरह उसी अवयवविन्यास से अनेक पदार्थ होंगे और हो भी चुके हैं । इस सृष्टिपरम्परा में इसी क्रम से सब पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १७ ॥

इस सभा में जो मुनि और ब्राह्मण हैं वे भी भिक्षु के समान आचरणवाले या अपने समान आचरणवाले होंगे तथा दूसरे भी अनेक मुनि सदृश आचरणवाले या भिक्षु सदृश आचारण वाले होंगे ॥ १८ ॥

यह भिक्षु आगे चलकर नारद के रूप में हो जायगा और नारद भी दूसरे के रूप में हो जायेंगे, इस प्रकार ज्ञान और चरित्र से युक्त अन्य के रूप में यह हो जायगा, इस प्रकार अनेक उस-उस रूप में हो जाते हैं ॥ १९ ॥

इसी प्रकार जन्मादि के द्वारा व्यास भी होंगे, शुक भी होंगे, फिर शौनक भी होंगे, क्रतु भी होंगे और पुलह भी होंगे ॥ २० ॥

अगस्त्य, पुलस्त्य, भृगु और अङ्गिरस—ये एवं दूसरे इस प्रकार के स्वरूप और क्रिया के आश्रय चिर काल के बाद होंगे, क्योंकि यह माया बड़ी व्यापक है ॥ २१ ॥

जैसे जल में तरङ्ग आती जाती रहती है वैसे ही सृष्टि में समान आचार और जन्मवाले वे ही और अनेक दूसरे भी बारबार उस प्रकार आते-जाते रहते हैं ॥ २२ ॥

भूयो भूयो विवर्तन्ते सर्गेष्वप्स्विव वीचयः ॥ २२ ॥
अत्यन्तसदृशाः केचित्केचिदर्धसमक्रमाः ।
केचिदीषत्समाः केचिन्न कदाचित्पुनस्तथा ॥ २३ ॥
एवमेषाऽतिवितता महतामपि मोहिनी ।
क्षणे नेहाऽस्ति नो कर्म प्रतिपत्तिर्हि जृम्भते ॥ २४ ॥
क्वैकविंशत्यहोरात्रा अनन्ताकृतयोऽनघ ! ।
क्व तासामुपलम्भोऽलमहो भीमा मनोगतिः ॥ २५ ॥
प्रतिभामात्रमेवेदमित्थं विकसितं स्थितम् ।
नानाकलहकल्लोलं जले प्रातरिवाऽम्बुजम् ॥ २६ ॥
जातं संवेदनादेव शुद्धादिदमशुद्धिमत् ।
संसारजालमखिलं सार्चिर्वह्निकणादिव ॥ २७ ॥

प्रत्येकमेवमुदितः प्रतिभासखण्डः
खण्डान्तरेष्वपि च तस्य विचित्रखण्डः ।

कोई तो अत्यन्तसदृश, कोई अर्धसदृश, कोई स्वल्प-सदृश, कोई असदृश पदार्थ किसी समय बारबार उसी रूप में उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २३ ॥

इस प्रकार यह बड़े-बड़े लोगों को भी मोह में डालने वाली अति विस्तृत और न देह चेष्टारूप निरवयव कालात्मा में न मानस चेष्टा रूप ही है, क्योंकि यह केवल भ्रान्ति ही जृम्भित हो रही है ॥ २४ ॥

हे पापशून्य ! कहाँ इक्कीस अहोरात्र और कहाँ अनन्त जीवट आदि आकृतियाँ और उनकी उपलब्धियाँ ? अहो, यह मनोवृत्ति बड़ी भयङ्कर है ॥ २५ ॥

जैसे प्रातःकाल में जल में कमल वैसे ही यह जगत् केवल प्रतिभास स्वरूप और इस प्रकार विकसित होकर स्थित है, जैसे उक्त काल में अनेक तरह के भ्रमरों के कलह और जलकल्लोल विद्यमान रहते हैं, वैसे इस प्रतिभासात्मक जगत् में भी अनेक तरह के जीव कलह और विषयानुभवजनित कल्लोल विद्यमान रहते हैं ॥ २६ ॥

उसी प्रकार समस्त अशुद्धियों से निर्मुक्त विशुद्ध संवित्ति रूप परम ब्रह्म से ही अशुद्धात्मक यह सारा संसारजाल वैसे ही उत्पन्न हुआ है जैसे अग्नि कण से अर्चियों से युक्त महान् अग्नि उत्पन्न होता है ॥ २७ ॥

प्रत्येक जीव के मन में भी चित्र-विचित्र प्रति-भासात्मक जगत्खण्ड वैसे ही आविर्भूत होते हैं, जैसे इस भिक्षु के मन में चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक अनेक

सर्वे स्वयं ननु च तेऽपि मिथो न मिथ्या सर्वात्मनि स्फुरति कारणकारणेऽस्मिन् ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवटोपाख्याने भिक्षुसंसृतिकथनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

जगत्खण्ड आविर्भूत हुए और उन-उन जीवों के मन में उदित हुए भिन्न-भिन्न जीवांशों में भी चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक जगत् अन्य-अन्य उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार उत्तरोत्तर माया लम्पट जीव के लिए जगत्स्थिति कहीं शान्त ही नहीं हो सकती है। वे पहले के जगत् खण्ड और उन जगत्-खण्डों के अन्तर्गत दूसरे जगत्खण्ड अपनी-अपनी व्यवहार की दृष्टि से सत्यरूप हैं और सर्वात्मक चैतन्य स्वरूप, कारणों के भी कारण इस परमात्म तत्त्व के तादात्म्य रूप से प्रस्फुरित होने पर तो सत्य रूप नहीं ही हैं ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में जीवट उपाख्यान में भिक्षुसंसृतिकथन नामक कुसुमलता का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

६७

दशरथ उवाच

मुनिनायक ! तं भिक्षुं गत्वा सम्बोधयन्त्वमी ।
नरा मत्प्रहिताः शीघ्रं चाऽऽनयन्तु कुटीगतम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

राजंस्तस्य महाभिक्षोः स देहः प्राणवर्जितः ।
क्लेदो वैवर्ण्यमायातो नाऽसौ जीवितभाजनम् ॥ २ ॥
तस्य भिक्षोस्तु जीवोऽसौ भूत्वा पद्मजसारसः ।
जीवन्मुक्तः स्थितो भूयो नाऽसौ संसृतिभाजनम् ॥ ३ ॥
तद्गृहे मासपर्यन्ते बलान्निष्कासितार्गलाः ।
अन्तराले तु तिष्ठन्ति भृत्या भिक्षुदिदृक्षवः ॥ ४ ॥
ततो नष्टाङ्गसन्धानं कायं निष्काल्य ते जले ।
त्यक्ष्यन्त्यन्यं करिष्यन्ति भिक्षुमक्षुण्णमानसम् ॥ ५ ॥
अनेनैवं स देहेन भिक्षुर्मुक्तो व्यवस्थितः ।
कथं प्रबोध्यते नष्टं तद्विहारे शरीरकम् ॥ ६ ॥
एषा गुणमयी माया दुर्बोधेन दुरत्यया ।
नित्यं सत्यावबोधेन सुखेनैवाऽतिबाह्यते ॥ ७ ॥

६७

राजा दशरथजी ने कहा—हे मुनिनायक ! आप आज्ञा दें, जिससे कि मेरे भेजे हुए ये मन्त्री आदि जन कुटी में स्थित भिक्षु के पास जाकर समाधि से उसे जगा कर और यहाँ ले आएँ ॥ १ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे राजन् ! उस भाग्यवान् भिक्षु की वह देह प्राणरहित हो गई है, प्राणों को पकड़ कर शरीर में रखने वाला अन्नरस उसका सूख गया है, अतः अब वह किसी तरह जीवनशक्ति का भाजन नहीं रह गया ॥ २ ॥

उस भिक्षु का तो जीव अब ब्रह्मदेव का सारस बनकर जीवन्मुक्त होकर अवस्थित है। अतः फिर वह संसार का भागी नहीं हो सकता है। अर्थात् उस शरीर में भोगोपयोगी प्रारब्ध बच जाता तो मेरा सत्यसङ्कल्प काम करता, परन्तु वह नहीं है ॥ ३ ॥

उसकी कुटी में मास के आखिरी दिन में उसकी आज्ञा के अनुसार सिक्कड़ खोलने वाले, बाहर द्वार के अन्तराल में भिक्षु शरीर देखने की इच्छा कर रहे उसके भृत्य बैठे हुए हैं अर्थात् उस भिक्षु ने अपने सेवकों को यह आज्ञा दी है कि कोई मासभर घर का सिक्कड़ मत खोले, अतः उन सेवकों द्वारा दृढ़ सुरक्षित होने के कारण आपके मन्त्री आदि वहाँ जाकर कुछ भी नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

अनन्तर मास के अन्त में अङ्गों की सन्धियों से शिथिल हुए शरीर को कुटी से बाहर निकल कर वे भृत्य उसे जल में डूबा देंगे और कुटी के भीतर उसके शरीर के सदृश पत्थर-प्रतिमारूप, दृढ़ और मनःकल्पित देवतारूप दूसरे भिक्षु की प्रतिष्ठा करेंगे ॥ ५ ॥

इस शरीर से मुक्त होकर अवस्थित उस भिक्षु के भला प्राण, चेष्टा आदि व्यापारों से शून्य (मृत) उस शरीर को किस तरह प्रबोधित करेंगे ॥ ६ ॥

भ्रान्तियों की जननी यह त्रिगुणात्मिका माया विक्षेप शक्ति से किसी भी तरह पार नहीं की जा सकती है। सदा से ही यह एकमात्र सत्यतत्त्व के साक्षात्कार से सुखपूर्वक दूर की जा सकती है ॥ ७ ॥

असत्येव कृतारम्भा हेम्नः कटकता यथा ।
प्रतिभासविपर्यासमात्रकारणकोदया ॥ ८ ॥
परमात्मनि वाचेयमित्थं मायाऽनुमीयते ।
तरङ्गालीव पयसि प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ ९ ॥
ज्ञो हि दृश्यतया दीर्घस्वप्नात् स्वप्नान्तरं व्रजेत् ।
एवं जीवत्वमायाति विवेकात् सर्वमात्मदृक् ॥ १० ॥
यो यस्य प्रतिभासः स्यादात्मैव स स्वबोधतः ।
स एवोदेति संसारः करञ्जवनगुल्मदृक् ॥ ११ ॥
प्रत्येकं भूतमुदितं कृतं संसारमण्डलम् ।
भिक्षोः स्वप्नान्तर इव परां भङ्गिमिवाऽम्भसः ॥ १२ ॥
प्रस्तुतः पद्मजादेव जगत्स्वप्नो यथोदितः ।
तथैवाऽस्वच्छचित्तोत्थो रूढः सर्वजनं प्रति ॥ १३ ॥

स्वरूप से असद्रूप माया जगद्रूप कार्य का निर्माण करती है। प्रतिभास की विपरीतरूपता के कारण उससे जगद्रूप विभ्रम का वैसे ही उदय होता है जैसे सुवर्ण की कटकरूप से विपरीतरूपता होती है ॥ ८ ॥

यह माया परमात्मा से मिथ्यास्वरूप अनुमित है, इस प्रकार की अनुमित यह माया केवल तत्त्वसाक्षात्कार से जल में तरङ्गों की तरह तत्क्षण विलीन हो जाती है ॥ ९ ॥

अविवेक के कारण परमात्मा एक दीर्घस्वप्न से दूसरे दीर्घस्वप्न की ओर जाकर जीवरूप बन जाता है और अपने विवेक से सबको अपना स्वरूप समझकर चिन्मात्र-रूप हो जाता है ॥ १० ॥

अपने तत्त्वसाक्षात्कार से वह आत्मस्वरूप ही बन जाता है और अपने तत्त्वज्ञान के न रहने से वही प्रतिभास करञ्जतन के पौधों के सदृश, संसाररूप से उदित हो जाता है ॥ ११ ॥

जैसे भिक्षु के स्वप्न के अन्दर एक स्वप्न से दूसरा स्वप्न और जल में एक तरङ्ग से दूसरा तरङ्ग उदित होता है वैसे ही प्रत्येक प्राणि समुदाय के प्रति यह संसार मण्डल भ्रान्ति से उदित होता है ॥ १२ ॥

जैसे प्रस्तुत जगद्रूप स्वप्न हिरण्यगर्भ से ही उदित है वैसा ही समस्त व्यष्टि जनों के प्रति अस्वच्छ चित्त से उत्पन्न जगत्-स्वप्न अवस्थित है अर्थात् समष्टि हिरण्यगर्भ का यह जगद्रूप सर्ग केवल मनोनिर्मित होने के कारण जब स्वप्नरूप ही सिद्ध है तब व्यष्टिजीव का भी यह सर्ग स्वप्नरूप ही सिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं। परन्तु केवल अस्वच्छ चित्त से उत्पन्न होने के कारण व्यष्टि को वह दीर्घ एवं स्थिर-सा भासमान है ॥ १३ ॥

पितामहवदाभाति सर्गः स्वप्नविलासवत् ।
प्रत्येकमुदितस्तेन ब्रह्माण्डानीव कोटिशः ॥ १४ ॥
स्फुरन् यथा तथा वाऽस्मिञ्जीवः पश्यति विभ्रमम् ।
हृदयेऽयं समर्थं च स्वप्नवद्दीर्घमान्तरम् ॥ १५ ॥
चित्सत्तामात्रमासाद्य प्रतीतिच्युतमात्रतः ।
जरामरणदुःखानां क्वचिद्भाजनतां गतः ॥ १६ ॥
पातालं ब्रह्मलोकं वा चित्तत्सुकृतशालिनी ।
चित्तांशस्पन्दमात्रेण कृत्वा कृत्वेव संस्थिता ॥ १७ ॥
चित्स्पन्दरूपिणी जीवनामरूपं गताऽऽत्मनि ।
अन्यत्र च विलुठति गत्वा संभ्रमहारिणी ॥ १८ ॥
चित्तेति परमात्मा न परमात्मा न वा न किम् ।
जीवदेहादिनाम्नोऽस्य प्रतिबिम्बादिवाऽर्हता ॥ १९ ॥

पितामह के चित्त के समान चित्तशुद्धि होनेपर तो यह सृष्टि स्वाप्निक विलास के समान असद्रूप चारों ओर से भासमान है और उस तरह के भान से जाना जाता है। इसी से यह निश्चय है कि यह प्रत्येक सर्ग ब्रह्माण्डों के समान करोड़ों रूपों में उदित हुआ है ॥ १४ ॥

यह जीव व्यष्टि-प्रपञ्चरूप से, समष्टि-प्रपञ्चरूप से अथवा साधारण-प्रपञ्चरूप से या प्रत्येक असाधारण-प्रपञ्च-रूप से चाहे जिस किसी रूप से स्फुरित हो, इस हृदय में प्रतिभान के समर्थ, दीर्घ भीतरी विभ्रम को देखता है, इसलिए वह स्वप्न की तरह मिथ्या ही है ॥ १५ ॥

अपने पारमार्थिक स्वरूप से च्युत यह जीव एकमात्र चितिसत्ता का अवलम्बनकर किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की देहों में जरा, मरण आदि दुःखों का भागी बन जाता है ॥ १६ ॥

उस स्वप्न में चित्र-विचित्र कर्मों वाली यह जीवचिति अपने चित्तांश के स्पन्दमात्र से नीचे पाताललोक या ऊपर ब्रह्मलोक की रचनाकर भोगों का उपभोग करने के समान स्थित है ॥ १७ ॥

परमात्मचिति ही प्राण की कल्पना से उसके अधीन स्पन्द से युक्त होकर उसी के द्वारा जीव नामक स्वरूप में परिणत होती है। जीवरूप में परिणत वह उसी प्रकार अपने भीतर देहाकार भ्रम और बाहर विषयाकार भ्रम को धारण करती हुई इधर-उधर लुढ़कती फिरती है ॥ १८ ॥

चित्तरूप-उपाधि के आकार भ्रान्तिमात्र के अपराध से यह प्रत्यगात्मा क्या ब्रह्म नहीं है? या ब्रह्म ही क्या प्रत्य-

ब्रह्मण्येव परं ब्रह्म जगद्दृष्ट्यैव संस्थितम् ।
शुद्धाकाशमिवाऽऽकाशे जले जलमिवाऽमलम् ॥ २० ॥
लोको ब्रह्मण एवाऽयं जगद्रूपेषु तिष्ठति ।
बिभेत्यन्यतया बोधात् प्रतिबिम्बादिवाऽर्भकः ॥ २१ ॥
स्पन्देऽस्पन्दीकृते चेह स्वतः संज्ञा विलीयते ।
साऽप्यलं परिणामेन लीयतेऽग्नौ घृतं यथा ॥ २२ ॥
चित्स्पन्द एव चित्स्पन्दे सर्वात्मनि विजृम्भितः ।
स्पन्दास्पन्दौ जृम्भणादि कल्पितं नाऽत्र वास्तवम् ।२३।
न स्पन्दोऽस्तीह नाऽस्पन्दो नैकता वाऽपि न द्विता ।
शुद्धं चिन्मात्रसर्वस्वं यथैवाऽस्ति तथा स्थितम् ॥ २४॥

गात्मा नहीं है ? और दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान ब्रह्म में भी औपाधिक जीव नाम की, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहनाम की योग्यता क्या नहीं है ? इस चिति का भ्रान्तिवश जीव आदि नामभेद भले ही हो, फिर भी यह परमात्मा ही है, क्योंकि हजारों अध्यासों से अधिष्ठान का भेद नहीं हो सकता, अतः परमपुरुषार्थ फल जीव-ब्रह्मैक्य ही हैं, अभेद होनेपर भी उपाधिवश सब कुछ सम्भव है । 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन इति, तान्येतस्य कर्मनामान्येव' ॥ १९ ॥

इस प्रकार ऐक्यदर्शन होने के कारण व्यवहारदृष्टि से भी जब परब्रह्म ब्रह्म में ही स्थित है तब परमार्थदृष्टि से समूल उपाधि का बाध होनेपर वैसे ही 'ब्रह्म-ब्रह्म में स्थित है' जैसे आकाश में शुद्धाकाश स्थित है, जल में विमल जल स्थित है ॥ २० ॥

जीव आत्मभूत अभय ब्रह्म के मूर्त-अमूर्त-स्वरूप जगद्रूपों में स्थित है, इसलिए इसमें अन्यथाभ्रम की संभावना ही नहीं है, 'आत्मा से अन्य ज्ञान भय का कारण है' भ्रम करके यह वैसे ही डरता है, जिस प्रकार बालक परछाईं से डरता है ॥ २१ ॥

भेदज्ञान में बुद्धि का स्पन्दन कारण है, अतः समाधि के अभ्यास द्वारा बुद्धिस्पन्द के स्पन्दरहित कर देनेपर भेदबुद्धिस्वरूप संज्ञा अपने-आप ही बुद्धि में विलीन हो जाता है और वह बुद्धि भी पूर्णब्रह्माकार चरमसाक्षात्काररूप अपने परिणाम के द्वारा, अग्नि में हवन किये गये घी के समान उसीसे दीप्त ब्रह्म में विलीन हो जाती है ॥ २२ ॥

सर्वात्मक चितिस्पन्द में ही चितिस्पन्दरूप जगत् विकसित है । इसमें स्पन्दन, स्पन्दनाभाव, विजृम्भण आदि कल्पित हैं, तात्त्विक नहीं है ॥ २३ ॥

सारेण तु विचारेण सर्वशब्दार्थयोः समे ।
चिन्मात्रमेव ज्ञातेऽयं नाऽस्तीत्यपि न विद्यते ॥ २५ ॥
भेदवेदनयोदेति भेदः प्रकृतिलाञ्छनम् ।
अभेदबोधादखिले गलिते शिष्यते परम् ॥ २६ ॥
नानातैवाऽस्य बोधेन स बोधस्त्वनवेक्षणात् ।
पृच्छकं चैवमस्त्येव तस्मान्निःशङ्कता परा ॥ २७ ॥
ततः स्वप्नो न जागर्तिर्न सुषुप्तिर्न तुर्यता ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति नाऽन्यथाकल्पनात्मकम्।२८।
शान्तिरेका जगन्नाम्नी शान्तिरेवमवस्थिता ।
अबोधोऽसत्य एवाऽतः क्व द्रष्टृदृश्यदर्शनम् ॥ २९ ॥

तत्त्वदृष्टि से देखने पर न स्पन्द है और व अस्पन्द ही है । न एकत्व है और न द्वित्व ही है । किन्तु एकमात्र चैतन्य स्वरूप से वह स्थित है ॥ २४ ॥

उत्तम विचार से सर्वशब्द और उसके अर्थों को एकरस स्वभाव जान लेने पर एकमात्र चैतन्य ही परमार्थतः सत्य रह जाता है । उस समय अभावस्वरूप भी यह नहीं रहता, फिर भाव की कथा तो कोसों दूर है ॥ २५ ॥

भेदबुद्धि से ही माया कलङ्करूप भेद उदित होता है और अभेदबुद्धि से सबके शान्त हो जाने पर एकमात्र परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ २६ ॥

स्वरूप के अज्ञान से ही नानारूप हैं । आप अज्ञान स्वरूप नानात्व को न देखे तो पूर्ण चिद्रूप ही हैं । इस विषय में जिसे चाहें, पूछिए । यही परमार्थ सत्य है । इसलिए आपकी, मेरी और अन्य की सर्वथा निःशङ्कता सिद्ध ही है अर्थात् वस्तु की सत्ता जैसी है वह उसी रूप में हैं, कोई भी उसे बदल नहीं सकता है ॥ २७ ॥

इसी निःशङ्कता से यह सिद्ध होता है कि परमार्थतः न तो स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यता है, न बन्ध है, न मोक्ष है और न अन्यथा कल्पनास्वरूप जगत् ही है अर्थात् उसी निःशङ्कता की सामर्थ्य से जाग्रत् आदि सभी अवस्थाओं के द्वैत का बाध प्रवृत्त हुआ है ॥ २८ ॥

अज्ञान से ही द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटीरूप जगत् की सत्ता है । जब वह अज्ञान ही असत्य है तब शुद्धात्मस्वरूप वह शान्ति ही एकमात्र 'जगत्' नाम की है, क्योंकि वह शान्ति ही चारों ओर से व्याप्त करती है 'गच्छति' इस व्युत्पत्ति के द्वारा ही 'जगत्' नाम से व्यवस्थित है । द्रष्टा दृश्य, दर्शन रूप त्रिपुटी कहाँ है अर्थात् अत्यन्त अप्रसिद्ध

स्पन्दोऽप्यस्पन्द एव स्यान्निःसङ्कल्पतया च ते ।
न स्पन्दास्पन्दयोर्भिन्ना सङ्कल्परहितैव चित् ॥ ३० ॥
द्वैतैक्यविकला रूपसङ्कल्पश्चिदभावनात् ।
स च भावनमात्रेण गतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ३१ ॥
चिच्चन्द्रबिम्बे सङ्कल्पकलङ्कः स्फुरतीव यः ।
नाऽसौ कलङ्कस्तद्विद्धि चिद्घनस्य घनं वपुः ॥ ३२ ॥
चिद्घनस्य न सन्नाऽसन्स्थीयतां यत्तते पदे ।
इत्यदोषमहाबोधसारसङ्ग्रहणं कुरु ॥ ३३ ॥
चिच्चन्द्रबिम्बासङ्कल्पकलङ्कामृतविग्रहः ।
त्वया भव्येन संस्पृष्टो भावाभावक्षयात्मना ॥ ३४ ॥
भावाभावादिकलनां नीत्वा चिन्मयतां चितः ।
समोल्लासविलासान्तः समाश्वस यथासुखम् ॥ ३५ ॥
स्पन्दास्पन्दौ कल्पनाकल्पना वा
चित्ताम्नायो विद्धि नामाऽब्धिनाम्ना ।
सर्वाकारा निर्वृतिः शान्तिसत्ता
पूर्णापूर्णे ह्येकमेवाऽऽस्थितेति ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

है, इसलिए वह शान्ति 'जगत्' नाम की नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

आपके सङ्कल्पशून्य ही सिद्ध हो जाने से स्पन्द भी स्पन्दशून्य ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि सङ्कल्पशून्य चिति स्पन्द और अस्पन्द से भिन्न नहीं है ॥ ३० ॥

चिति के अदर्शन से द्वैतता और एकतारूप सङ्कल्प का उदय होता है और वह सङ्कल्प चिति के दर्शन मात्र से नष्ट हो जाता है और द्वैतता और एकता से रहित ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ३१ ॥

चितिरूपी चन्द्रबिम्ब में एक तरह का सङ्कल्परूपी कलङ्क स्फुरित है, वह कलङ्क नहीं है; किन्तु चिदैकरस का घन शरीर है, यह आप जान लें ॥ ३२ ॥

आप चिद्घन के विस्तृत पद में स्थित हो जायें, क्योंकि आपके पूर्णरूप में स्थित हो जाने से सङ्कल्पादि आपके साथ एकता को प्राप्तकर अलग अपना अस्तित्व नहीं रखेगा । आपके रूप से तो अपना अस्तित्व रखते ही हैं, इसी युक्ति से आत्मा के साथ सम्पूर्ण वस्तुओं में एकत्व का सम्पादन करने वाले निर्दोष महा बोधसार का आप भली-भाँति अवलम्बन करें ॥ ३३ ॥

हे चिच्चन्द्रबिम्ब ! हे असङ्कल्प कलङ्क ! भावाभावनाशस्वरूप भव्य बने हुए आपके द्वारा स्पृष्ट सब पदार्थ अमृतरूपी शरीरवाला हो जाता है । अहो ! आपका कैसा माहात्म्य है ? ॥ ३४ ॥

आप चिति की भाव और अभाव स्वरूप कल्पना को चिन्मयरूप बना कर तथा अपने हृदय में उल्लास और विलास को एक के रूप में करके सुखपूर्वक विश्राम करें ॥ ३५ ॥

स्पन्द और अस्पन्द या सङ्कल्प और विकल्प इत्यादि चित्त की भ्रान्ति का जितना भेद है सर्वाकारात्मक सुखैकरस शान्ति सत्ता ही उस-उस आकार से अवस्थित है । इसलिए आप आनन्दसागर नामक स्वरूप से स्थित होकर ये पूर्ण और अपूर्ण जो दो दशाएँ हैं, इन्हें अपना एक ही रूप समझें ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में ब्रह्मैक्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता का सड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६७ ॥

६८

वसिष्ठ उवाच

सुषुप्तमौनवान् भूत्वा त्यक्त्वा चित्तविलासिताम् ।
कलनामलनिर्मुक्तस्तिष्ठाऽवष्टब्धतत्पदः ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठमौनं च वेद्म्यहम् ।
सुषुप्तमौनं मौनेश ब्रह्मन् ! ब्रूहि किमुच्यते ॥ २ ॥

६८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—आप सुषुप्तमौन हो चित्त की विलासिता को छोड़कर तथा कल्पनारूपी मल से निर्मुक्त हो उस परम पद में अवस्थित हो जायें ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! वाङ्मौन, इन्द्रियमौन और काष्ठमौन तो मैं जानता हूँ लेकिन हे मौनेश ! सुषुप्तमौन किसे कहते हैं, यह मुझे कृपाकर कहिये ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्विविधः प्रोच्यते राम ! मुनिर्मुनिवरैरिह ।
एकः काष्ठतपस्वी स्याज्जीवन्मुक्तस्तथेतरः ॥ ३ ॥
अभावितायां शुष्कायां क्रियायां बद्धनिश्चयः ।
हठाज्जितेन्द्रियग्रामो मुनिः स्यात् काष्ठतापसः ॥ ४ ॥
यथाभूतमिदं बुद्ध्वा भावितात्माऽऽत्मनि स्थितः ।
लोकोपमोऽपि तृप्तोऽन्तर्यः स मुक्तमुनिः स्मृतः ॥ ५ ॥
एतयोर्यो भवेद्भावः शान्तयोर्मुनिनाथयोः ।
चित्तनिश्चयरूपात्मा मौनशब्देन स स्मृतः ॥ ६ ॥
चतुष्प्रकारमाहुस्तं मौनं मौनविदो जनाः ।
वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठं सौषुप्तमेव च ॥ ७ ॥
वाङ्मौनं वचसां रोधो बलादिन्द्रियनिग्रहः ।
अक्षमौनं परित्यागश्चेष्टानां काष्ठसंज्ञकम् ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! मुनिवरों ने दो तरह के मुनि बतलाये हैं—एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त ॥ ३ ॥

आत्मतत्त्व के पर्यालोचन से शून्य शुष्क आत्मानुभव रस से शून्य कृच्छ्रचान्द्रायणादि क्रिया में बद्धनिश्चय और हठात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीतनेवाला मुनि काष्ठतापस कहा गया है ॥ ४ ॥

यथार्थ में संसार क्या है, यह अच्छी तरह जानकर जो आत्मज्ञानी आत्मा में अवस्थित व्यवहार में अन्य तपस्वियों के समान रहने पर भी नित्य निरतशियानन्द स्वाद से भीतर तृप्त रहता है वह जीवन्मुक्त कहा गया है । ५ ॥

इन दोनों शान्तात्मा श्रेष्ठ मुनियों का चित्तनिश्चय-रूपात्मकभाव मौन शब्द से कहा गया है ॥ ६ ॥

मौनविद् लोगों ने मौन चार प्रकार का बतलाया है—वाङ्मौन, इन्द्रिमौन, काष्ठ मौन और सुपुप्त मौन ॥ ७ ॥

वाणी का निरोध वाङ् मौन, हठात् इन्द्रियों का निग्रह इन्द्रिय मौन और चेष्टाओं का त्याग काष्ठ संज्ञक मौन कहलाता है ॥ ८ ॥

यद्यपि पञ्चम मनो मौन भी संभव है तथापि वह काष्ठतापस, मरण, मूर्च्छा और सुषुप्ति में ही संभव है, अन्य किसी दूसरे काल में नहीं । इसलिए मौनवेत्ताओं ने उसकी गणना अलग नहीं की है । आत्मतत्त्वानुभव में जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है उसे सुषुप्त मौन कहते हैं ॥ ९ ॥

मनोमौनं पञ्चमं च तन्मृतौ काष्ठतापसे ।
भावे सुषुप्तमौनाख्यं जीवन्मुक्तोऽनुजीवति ॥ ९ ॥
त्रिषु मौनविशेषेषु विषयः काष्ठतापसः ।
सुषुप्तमौनावस्थायां सा तुर्या सैव मुक्तधीः ॥ १० ॥
वाङ्मौनं मौनमित्येतत्सिद्धं तच्च मनः किल ।
मलिनं जीवबन्धाय तत्रस्थः काष्ठतापसः ॥ ११ ॥
अस्मत्संस्मरणं वाऽपि दृश्यं वाङ्मयमस्पृशन् ।
अपश्यन्नेव पश्यन्हि काष्ठमौनी तु तिष्ठति ॥ १२ ॥
प्रस्फुरच्चित्तकलनमेतन्मौनत्रयं स्मृतम् ।
भवन्ति मौनिनस्तत्र न तज्ज्ञास्तत्स्थलीलया ॥ १३ ॥
नाऽत्रोपादेयताज्ञानमेतन्मौनत्रये किल ।
लीलया कथितं तेन तज्ज्ञाः कुप्यन्तु वा न वा ॥ १४ ॥

वाङ्मौन आदि तीनों मौन विशेषों में काष्ठतापस विषय (अधिकृत) है और सुपुप्त वह जो चतुर्थी अवस्था है यही जीवन्मुक्तों से स्थिति रखने वाली मुक्तधी कहलाती है ॥ १० ॥

यद्यपि वाङ् मौन मौन है, यह भलीभाँति सिद्ध है तथापि वह मलिन मनो रूप ही है अर्थात् मलिन मन का दृढ़ निश्चय रूप है; इसलिए वह जीव बन्धन के लिए समर्थ है, इसमें कुछ संदेह नहीं है । अतः काष्ठतापास भी जीव बन्धन के लिए ही स्थिति हुआ है । अर्थात् यद्यपि तीनों मौनों में मौनतत्त्व सिद्ध है तथापि वे मलिन मन का जो दृढ़ निश्चय है तत्स्वरूप ही हैं, इसलिए वे तीनों जीव के बन्धन के लिए ही समर्थ हैं ॥ ११ ॥

काष्ठ मौनी समाधि में बलपूर्वक मनोनिग्रह कर अपने हृदय के अन्दर अहंभाव के अनुसन्धान का स्पर्श न कर और बाहर भी रूप एवं वाम प्रपञ्च का स्पर्श न कर तथा अज्ञान से आवृत हुए आत्मा का अवलोकन न कर सुषुप्तिवत् अविनाशी आत्मदृष्टि का अभाव न होने से भस्म से ढकी हुई अग्नि की तरह साक्षिमात्र ज्योति से अवलोकन करता हुआ अवस्थित रहता है ॥ १२ ॥

यह जो तीन प्रकार का मौन कहा गया है वह व्युत्थान काल में प्रस्फुटित हो रहे चित्त का चलन ही है । उस काल में तीनों मौनी स्थित रहते हैं तथा उसके जानने वाले तो चित्त का बाध हो जाने से वहाँ पर स्थित विरोध और व्युत्थानादि की लीला से नहीं ठहर पाते ॥ १३ ॥

वहाँ की निरोध और व्युत्थानादि की लीला से या पूर्णात्मस्थिति की लीला से तीनों मौन बन्धन स्वरूप

इदं सुषुप्तमौनं तु जीवन्मुक्तमिति स्थितम् ।
अपुनर्जन्मनो जन्तोः शृणु श्रवणभूषणम् ॥ १५ ॥
नाऽत्र संयम्यते प्राणस्त्रिविधो नाऽपि योज्यते ।
नोल्लस्यन्ते न ग्लायन्ते समस्तेन्द्रियसंविदः ॥ १६ ॥
नानाताकलनेयं च न वल्गति न शाम्यति ।
चेतो न चेतो नाऽचेतो न सन्नाऽसन्न चेतरत् ॥ १७ ॥
अविभागमनभ्यासं यदनाद्यन्तमास्थितम् ।
ध्यायतोऽध्यायतश्चैतत् सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ १८ ॥
यथाभूतमिदं बुद्ध्वा जगन्नानात्वविभ्रमम् ।
यथास्थितमसन्देहं सौषुप्तं मौनमेव तत् ॥ १९ ॥
अनेकसंविद्रूपात्मशिवेनैवेदमाततम् ।
इत्यास्थितमनन्तं यत्सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २० ॥
आकाशं नैव चाऽऽकशं सर्वमस्ति च नाऽस्ति च ।
इति चित्तं समं शान्तं यत्तन्मौनं सुषुप्तवत् ॥ २१ ॥
सर्वशून्यं निरालम्बं शान्तिविज्ञप्तिमात्रकम् ।
न सन्नाऽसदिति यस्यामासितं मौनमुत्तमम् ॥ २२ ॥
भावाभावदशादेशविशेषैर्विततोत्थितैः ।
संविदो यदनाभासस्तन्मौनं परमं विदुः ॥ २३ ॥
अत्यन्तमसतैवाऽन्तश्चेतसाऽवृत्तिरूपिणा ।
यदनावर्तनं संविद्वृत्तेस्तन्मौनमक्षयम् ॥ २४ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्योऽस्ति न मनो न च मानसम् ।
इति संविदसंवित्तिरविच्छिन्नाऽतिमौनिता ॥ २५ ॥

होने के कारण त्याज्य हैं, यह जो मैंने कहा है, इससे भले ही तत्स्वरूप का ज्ञान रखने वाले लोग क्रुद्ध हों या न हों; किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन तीनों मौनों में उपादेयता बुद्धि बिलकुल नहीं है। अर्थात् पूर्णात्म स्थिति की लीला से पूर्वोक्त तीनों मौन बन्धन स्वरूप ही हैं, इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए—इस बुद्धि से वे भले ही क्रुद्ध हो या वे पूर्वोक्त मौन चिदानन्द के विलास ही हैं, इस बुद्धि से भले ही क्रुद्ध न हों; फिर भी उनमें यहाँ उपादेयता बुद्धि तो नहीं ही है ॥ १४ ॥

यह सुषुप्तमौन तो जीवन्मुक्तों के अनुभव पथ में स्थित है। इसमें स्थिति रखनेवाले जन्तु का पुनर्जन्म नहीं होता, इसलिए उसके श्रवण का यह भूषण है। आप भी इसे सुनिये ॥ १५ ॥

इस सुषुप्त मौन में न तो तीन तरह के प्राणों का निरोध किया जाता है और न संयोजन। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय संवित्तियाँ न तो अपने विषयों के लाभ से उत्पन्न हर्ष से उल्लसित होती हैं और न विरोध जन्य क्लेश से ग्लानि को ही प्राप्त होती हैं। अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार के सिद्ध हो जाने पर इसकी भी अनायास ही सिद्ध हो जाती है, अतः पूर्वोक्त मौन में जो क्लेश होता है उसकी इसमें अपेक्षा नहीं है ॥ १६ ॥

इस अवस्था में यह अनेकता की कल्पना न तो उत्थत होती है और न शान्त ही होती है चित्त ज्ञान से बाधित होने से न चित्त रूप रहता है, न अचित्त रहता है तथा न सत्, त असत् और न अन्य रूप ही रहता है ॥ १७ ॥

विभाग करने वाले विकल्प के नाश से विभाग शून्य अभ्यास की अपेक्षा से रहित, अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप होने से आदि और अन्त से शून्य ध्यान कर रहे या न कर रहे पुरुष का अवस्थित रूप सुषुप्तमौन कहा जाता है ॥ १८ ॥

संसार रूपी अनेक विभ्रमों के अधिष्ठानभूत इस आत्मतत्त्व को यथार्थ रूप से जानकर सन्देहरहित अवस्थित रूप वही सुषुप्त मौन है ॥ १९ ॥

अनेक तरह के संविद्रूपों शिव आत्मा से यह सारा जगत् परिपूर्ण है, इस तरह के ज्ञान से युक्त अनन्त अवस्थान वही सुषुप्त मौन कहा जाता है ॥ २० ॥

यह सम्पूर्ण जगत् चिदाकाश का विवर्त होने से आकाश रूप, मूर्तिमान् होने से आकाश स्वरूप से भिन्न, अधिष्ठान सत्ता की सद्रूप से प्रतीत होने से अस्तित्व से युक्त है। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठान रूप से सत् और कल्पित होने से असत् है। ब्रह्म से अलग जगत् की सत्ता नहीं है, यह निश्चय कर एकाकार, निर्विकार अवस्थित चित्त वही सुषुप्त के तुल्य मौन कहा गया है ॥२१॥

सर्व शून्य, आलम्बन रहित, शान्ति स्वरूप, विज्ञानमात्र तथा जीवन्मुक्त दशा में न सद्रूप और न असद्रूप अवस्थान स्थिति को ही उत्तम मौन कहा गया है ॥२२॥

वितत रूप अज्ञान से उत्पन्न भावाभाव स्वरूप दशा तथा देश विशेषों से अविवर्त है, संवित् परम मौन हैं ॥ २३ ॥

बाधित होने के कारण अत्यन्त असत् तथा बाह्याकार वृत्ति से शून्य चित्त से जो संविद्वृत्ति का भीतर अनावर्तन (अपरिवर्तन) है उसे अक्षय मौन कहते हैं ॥ २४ ॥

जिस दशा में 'न मैं हूँ, न अन्य है, न मन है और न मन का विकल्प है'—इस तरह के तत्त्वज्ञान से बाधित चित्त का जो संवित् से अविच्छिन्न (निरन्तर—लगातार) अप्रतिभास को अतिमौनिता यानी उत्तममौनिता कहते हैं ॥ २५ ॥

अहमस्मि जगत्यस्मिन् स्वस्ति शब्दार्थमात्रकम् ।
सत्तासामान्यमेवेति सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २६ ॥
यस्मात् संविदमेव स्यात् स्वान्यादिकलना कुतः ।
अनन्तमेव सौषुप्तं सर्वं मौनमतस्ततम् ॥ २७ ॥
सुषुप्तमौनमेवेदमनन्तत्वात् प्रबोधवत् ।
तुर्यमेवाऽमलं विद्धि तुर्यातीतमथाऽपि च ॥ २८ ॥
सौषुप्तैकसमाधानस्तथा तुर्यसमाधिकः ।
तुर्यातीतसमाधिर्वा जाग्रत्यपि भवन्ति वै ॥ २९ ॥
तुर्यस्थ एव सकलामलशान्तिवृत्ति-
र्जाग्रत्यपि व्यवहरन्निपुणं समन्तात् ।
नित्यं सदेह उत वाऽपि विदेह एव
ब्रह्मन्नभो भवत एव किलाऽस्ति साधो ! ॥३०॥
ओमित्युदस्तभववासनमेकमास्व
न त्वं न चाऽहमपि नाऽन्यदिहाऽस्ति सत्यम् ।
सर्वं च विद्यत इतीह किलाऽऽन्तराभं
ज्ञस्तिष्ठ चिद्गगनकोशकलैकनिष्ठः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे महामौनयत्नोपदेशो नामाऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस जगत् में अनामय, शब्दार्थ मात्र=सर्वात्मक तथा सत्ता सामान्य स्वरूप मैं ही हूँ—इस तरह की ज्ञानस्थित को सौषुप्त मौन कहते हैं ॥ २६ ॥

यह आत्म संवित् अमा सर्वबाधक स्वाकार चरम वृत्ति का भी ग्रास कर लेती है, इसलिए इसमें अपनी, दूसरे की या भेद की कल्पना ही कहाँ ? अतः सब कुछ व्याप्त अनन्त सौषुप्त मौन ही है ॥ २७ ॥

प्रबोधयुक्त इस सुषुप्त मौन को ही अनन्त होने से निर्मल तुर्य पद या तुर्यातीत पद समझें ॥ २८ ॥

सौषुप्तैक समाधि, तुरीय समाधि या तुर्यातीत समाधि—ये तीनों ही क्रमशः जाग्रत और स्वप्नावस्था में स्थित तत्त्वज्ञानी को हुआ करती हैं। अर्थात् सात प्रकार की ज्ञान भूमिकाएँ कही जा चुकी हैं। उनमें समाधि भेद स्वरूप जो अन्तिम तीन भूमिकाएं हैं वे जाग्रत् और स्वप्नावस्था में स्थित भी तत्त्वज्ञानियों को क्रमशः हुआ करती हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मभूत हे साधो ! जाग्रदवस्था में चारों ओर भली-भाँति व्यवहार सम्पन्न अथवा सब व्यवहारों को छोड़ कर के समाधि में स्थित देहयुक्त जीवन्मुक्त सम्पूर्ण निर्मल शान्ति वृत्ति से युक्त तुरीयावस्था में ही स्थिति एवं विदेह स्वरूप ही है। यह स्थिति उसी की है जो स्थूल और सूक्ष्म आकारों के बाध से निर्मल आकाश स्वरूप हो गया है अथवा यह स्थिति आपकी ही है, क्योंकि आप निर्मल आकाश स्वरूप से स्थित हो चुके हैं। संस्कृत टीका में इसका विवरण इस प्रकार है—'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' अर्थात् तुरीय उस पद का नाम है जो स्वप्नावस्था में मनोविरचित विषयज्ञान से शून्य है, जागरित आवस्था में इन्द्रियजन्य विषयज्ञान शून्य है, जाग्रत् और स्वप्न की सन्धि में बोध रहित सुषुप्तावस्था में होने वाले जाग्रत् और स्वप्न के ज्ञानों के धनी भाव से शून्य है, युगपत् सर्व विषयों के ज्ञातृत्व से शून्य है, ज्ञानाभाव रूप नहीं है, ज्ञानेन्द्रिय का अविषय है, अर्थ क्रियारहित है, कर्मेन्द्रिय का अगम्य है, अननुमेय है, अन्तःकरण वृत्ति का अविषय है, शब्दशक्ति का अविषय है, जिसमें जाग्रदादि अवस्थाओं में एक आत्मा ही है, इस प्रकार का ज्ञान ही प्रमाण है, जहाँ प्रपञ्च का अभाव विद्यमान है, जो विक्रिया रहित है, आनन्द स्वरूप है, भेदशून्य है, स्वयं संख्या शून्य होता हुआ भी विश्वतैजसप्राज्ञ रूप तीन पादों की अपेक्षा चौथे रूप से शास्त्रवेत्ताओं के द्वारा कल्पित है। 'मैं' इस प्रतीति का विषय वह आत्मा मुमुक्षुजनों को साक्षात् करने योग्य है ॥ ३० ॥

'ॐ' इत्यादि माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार विराट् आदि पादमात्राओं के प्रविलापन से सांसारिक वासनाओं का उच्छेद कर आप एक तुरीयपदरूप हो जाइये। इस संसार में न आप, न मैं और न कोई दूसरी वस्तु ही सत्य है। इस संसार में सब कुछ विद्यमान है, इस प्रसिद्धि को नाडी के भीतर अनुभूयमान स्वप्न की तरह मिथ्या समझ कर जीवन्मुक्त हो आप चिदाकाशकोश की कला में स्थित हो जायें ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में महामौनयत्नोपदेश नामक कुसुमलता का अड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

६८

श्रीराम उवाच
कुतः शतत्वमायातं रुद्राणां मुनिनायक ! ।
ये गणास्ते तु ये रुद्रा उत नेति वदाऽऽशु मे ॥ १ ॥
वसिष्ठ उवाच
स्वप्नानां भिक्षुणा दृष्टं शतं शतशरीरकम् ।
सर्वमुद्देशतो ज्ञातं तत उक्तं न तन्मया ॥ २ ॥
य आकाराश्च ते स्वप्ने तत्तद्गणशतं स्मृतम् ।
तदेतद्रुद्रशतकं रुद्रा अपि गणा विधौ ॥ ३ ॥
श्रीराम उवाच
एकस्माद्भगवंश्चित्तात् कथं चित्तशतं कृतम् ।
तत्स्वप्नकृतरुद्रेण दीपाद्दीपशतं यथा ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच
निरावरणसद्भावा यद्यथा कल्पयन्ति हि ।
तत्तथाऽनुभवन्त्येव रसावरणसंविदः ॥ ५ ॥
सर्वात्मनः सर्वगत्वाद्यद्यथा यत्र भाव्यते ।
तथाऽनुभूयते तत्र तत्तथा ज्ञतया धिया ॥ ६ ॥
श्रीराम उवाच
कपालमालाभरणो भस्मशाली दिगम्बरः ।
श्मशाननिलयो ब्रह्मन् ! कामुकश्च किमीश्वरः ॥ ७ ॥
वसिष्ठ उवाच
महेश्वराणां सिद्धानां जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ।
न क्रियानियमोऽस्तीह स ह्यज्ञस्यैव कल्पितः ॥ ८ ॥

६९

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! आपने पहले कहा था कि वे भिक्षु के सङ्कल्पस्वरूप जीवट आदि सौ रुद्र हो गये, उनमें शतरुद्रता कैसे आई ? अर्थात् वे सौ रुद्र कैसे हुए ? क्या गणों के साथ परिगणन करने से या उन गणों से अतिरिक्त रुद्रों की गणना करने से ? जो आपके द्वारा गण कहे गये थे क्या वे ही रुद्र भी कहे गये थे या नहीं ? यह आप शीघ्र मुझसे कहें ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भिक्षु ने शतशरीररूप सौ स्वप्न देखे थे, उन्हें आपने मेरे द्वारा पहले कहे गये तत्-तत् जन्मादि प्रस्ताव से जान ही लिया था; इसीलिए मैंने नामतः विशेषरूप से नहीं कहा ॥ २ ॥

भिक्षु के स्वप्न में जो जीवटादि आकार देखे गये थे वे ही शत गण कहे गये हैं। वे ही भोग और ऐश्वर्य के द्वारा रुद्रतुल्य होने तथा रुद्र के अंशस्वरूप होने से रुद्र कहे गये हैं (इसमें यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि रुद्र की सेवा करने वाले पार्षद गण कहे जाते हैं, तब वे मुख्य-रुद्र गण कैसे हुए ? क्योंकि स्वामिभाव और भृत्यभाव—इन दोनों का एकत्र रहना सर्वथा असम्भव है। किञ्च, यह निश्चित है कि शततमरुद्र के मुख्य होने के कारण वह तो गण हो नहीं सकता फिर सौ गण हुए, यह कहना भी ठीक नहीं बनता है) सौ रुद्र होते हुए भी सबके सब पूर्वसिद्ध ईश्वरकोटिभूत रुद्र की परिचर्याविधि में गण ही हैं, क्योंकि उनकी कर्मफलस्वरूप भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति उसी के अधीन है ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—भिक्षु के स्वप्नकृत रुद्र ने एक ही दीप से सौ दीप की तरह एक चित्त से सौ चित्त कैसे कर दिये ? ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ज्ञानैश्वर्य से आवरण शून्य तथा योगरूप ऐश्वर्य से सत्य सङ्कल्प वाले महानुभाव जो जिस प्रकार सङ्कल्प करते हैं उनका वैसा ही—सङ्कल्पित अर्थ के लाभ के लिए भूमानन्द को स्वीकार करनेवाली सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्वनामक माया प्रतिबिम्बत संवित्ति के बल से—अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

सर्वात्मस्वरूप आत्मा के सर्वगामी होने से जिस वस्तु की जहां कहीं जैसे भावना की जाती है, उसकी वहीं पर वैसे ही जीवन्मुक्तता बुद्धि से अनुभव किया जाता है ॥६॥

इस तरह के ऐश्वर्य के रहते हरि, हर आदि मनुष्य योनियों में अवतार तथा श्मशान में निवास आदि का कष्ट क्यों करते हैं ? अपने लिए सर्वदा सुख की कल्पना क्यों नहीं करते ? इस अभिप्राय से श्रीरामजी पूछते हैं—'कपाल०' इत्यादि से।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! सर्वविध शक्तियों से सम्पन होते हुए भी भगवान् शङ्कर जी भस्मशाली, कपालमाला भूषण से युक्त, दिगम्बर, श्मशानवासी तथा महाकामी क्यों बने हुए रहते हैं ? अपने लिए शुभदायक सुन्दर कल्पना क्यों नहीं करते ॥ ७ ॥

महाराज श्रीवसिष्ठजी ने कहा—महेश्वर, सिद्ध तथा जीवन्मुक्त शरीरियों के लिए इस संसार में क्रिया विषयक कोई नियम नहीं बना है। क्योंकि वे लोग विधिवाक्यों के दास नहीं हैं यानी विधि-निषेध वाक्यों से वे परे हैं। वह क्रियाविषयक नियम तो अज्ञ जनों के लिए ही कल्पित हुआ है अर्थात् शास्त्रीय, मङ्गलात्मक तथा सुखभोग फल-

अज्ञस्तु दितचित्तत्वात् क्रियानियमनं विना ।
गच्छन्न्यायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि ।। ९ ।।
सुज्ञास्त्विष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु ।
यतेन्द्रियत्वाद्बुद्धत्वान्निर्वासनतया तथा ।। १० ।।
काकतालीयवद्रूढां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा ।
न कुर्वन्त्यपि वै किञ्चिन्नैषां क्वचिदपि ग्रहः ।। ११ ।।
काकतालीयतो विष्णुरेवंकर्मोदितः पुरा ।
एवंकर्मा त्रिनयन एवंकर्माऽम्बुजोद्भवः ।। १२ ।।
न निन्द्यमस्ति नाऽनिन्द्यं नोपादेयं न हेयता ।
न चाऽऽत्मीयं न च परं कर्म ज्ञविषयं क्वचित् ।। १३ ।।
अग्न्यादीनां यथौष्ण्यादि सर्गादौ रूढिमागतम् ।
हरादीनां तथा कर्म द्विजातीनां च जातयः ।। १४ ।।
सर्गे प्ररूढिमायाते सङ्केतवशतः पृथक् ।
अनुभूतिफलाश्चर्याः कल्पिताः कल्पिताः स्वयम् ।।१५।।
विदेहमुक्तविषयं तुर्यमौनमलो मया ।
नोक्तं तव परं मौनं सदेहस्य रघूद्वह ! ।। १६ ।।
खादप्यतितरामच्छमात्माकाशं चिदात्मकम् ।
तत्प्राप्तिः परं श्रेयः सा कथं प्राप्यते श्रृणु ।। १७ ।।
सम्यग्ज्ञानावबोधेन नित्यमेकसमाधिना ।
संख्ययैवाऽवबुद्धा ये ते स्मृताः सांख्ययोगिनः ।। १८ ।।
प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ।। १९ ।।

वाली क्रियाएँ ही करनी चाहिए, अन्य नहीं, ऐसा कोई नियम उनके लिए नहीं बना हुआ है, अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध मङ्गलस्वरूप जो क्रियाएँ हैं, वे ही तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में अत्यन्त अमङ्गलरूप हैं, क्योंकि अशुभ कर्मों के अभाव से दुःख की सामग्री के रहते भी दुःखदायक भोगों की उत्पत्ति नहीं होती और उनकी दृष्टि में सभी पदार्थ सुखरूप ही मालूम पड़ते हैं ॥ ८ ॥

राग, द्वेष, लोभ आदि हजारों दोषों से चित्त के खण्डित हो जाने के कारण अज्ञानी पुरुष क्रिया के नियम के बिना मात्स्यन्याय[1] से जन्मपरम्पराजनित नरक आदि नानाविध दुःख प्राप्त करता है ।। ९ ।।

आत्मज्ञानी पुरुष जितेन्द्रिय, ज्ञानी तथा वासना रहित होने के कारण इष्टानिष्ट वस्तुओं की न तो वह कभी अभिलष के कारण वस्तुओं में निमग्न होता है और न अनभिलषित वस्तुओं से उद्विग्न होता है ।। १० ।।

ज्ञानी लोग सदा काकतालीय न्याय से अकस्मात् प्रादुर्भूत क्रिया करते और नहीं भी करते हैं, क्योंकि इन लोगों को किसी में भी आग्रह नहीं होता ॥ ११ ॥

काकतालीय न्याय से ही भगवान् विष्णु ने पूर्ण में मनुष्यादि जन्मोचित कर्म का सम्पादन किया । ऐसे ही भगवान् शङ्कर और ब्रह्मा ने भी किया ।। १२ ।।

कर्म कोई न निन्द्य है, न अनिन्द्य है और न उपादेय है । किसी कार्य में न हेयता है । ऐसा कोई भी कर्म न आत्मीय है और न परकीय, जो सिद्धपुरुषों का विषय हो अर्थात् जो सिद्ध-महात्माओं को फँसावे ।। १३ ।।

भगवान् शङ्कर आदि के कर्म तथा द्विजातियों के भी तत्-तत् जाति के योग्य कर्मों के विधान दृढ़ता को वैसे ही प्राप्त हो चुके हैं जैसे सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के उष्णता आदि प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं (मुख्य ईश्वर की इच्छास्वरूप अनादि नियति ही कर्मों की व्यवस्थापिका है) ।। १४ ।।

लेकिन अज्ञानी लोगों की दिनचर्याएँ आदि क्रियाओं की तरह सृष्टि के आदि में अभिव्यक्त होती हुई भी नियत नहीं हैं । वे सृष्टि के प्रौढ़ होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तत्-तत् वर्ण विभागों के संकेत के वश से अलग-अलग ऐहिक और पारलौकिक सुख-दुःखादि की अनुभूतिस्वरूप फल देनेवाली हैं । जिनमें कुछ तो शास्त्रीय हैं और कुछ स्वाभाविक हैं, जो कि राग-द्वेष आदि के कारण स्वयं प्राणियों द्वारा कल्पित हुई हैं । बस, यही दोनों में वैषम्य है ।। १५ ।।

हे रघूद्वह ! प्रसिद्ध चार प्रकार के मौनों से परे जो तुर्य मौन है, वह विदेह मुक्तों का विषय है और आप हैं संदेह, इसलिए आपसे वह मैंने नहीं कहा । अब कहता हूँ सुने ॥ १६ ॥

आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ चित्स्वरूप आत्माकाश है और उस आत्माकाश भाव की प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है । वह कैसे प्राप्त की जाती है, इसे आप सुनिये ॥ १७ ॥

भली-भाँति ज्ञान के अवबोध और नित्य एक समाधि से जो विवेक विचार प्रयुक्त राजयोग के द्वारा ज्ञानी हुए हैं वे सांख्ययोगी कहे गये हैं ।। १८ ।।

प्राणादि वायु के शान्त हो जाने पर पूर्ववर्णित हठ योग से अनामय, आदि अन्त से रहित परमपद को प्राप्त योगयोगी कहे गये हैं ॥ १९ ॥

1. मात्स्यन्याय से आशय यह है कि बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हैं, अतः, यही दुःख की सांसारिक परम्परा है ।

उपादेयं तु सर्वेषां शान्तं पदमकृत्रिमम् ।
तत्केचित्संख्यया प्राप्ताः केचिद्योगेन देहतः ॥ २० ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं परं योगैस्तदेव हि ॥ २१ ॥
यत्र प्राणमनोवृत्तिरत्यन्तं नोपलभ्यते ।
वासनावागुरोत्क्रान्ता तद्विद्धि परमं पदम् ॥ २२ ॥
वासनं चित्तमेवाऽऽहुः कारणं तद्धि संसृतेः ।
तदकारणतामेति विलीयोभयकर्मसु ॥ २३ ॥
मनः पश्यति वै देहं बालो वेतालकं यथा ।
स्वात्मानं विलयं नीत्वा न भूयस्तं प्रपश्यति ॥ २४ ॥
मनो मुधैवाऽभ्युदितमसदेवाऽनवेक्षणात् ।
स्वप्ने स्वमरणाकारं प्रेक्ष्यमाणं न विद्यते ॥ २५ ॥
मनोभवस्तु संसारः क्व ममाऽहं क्व संसृतिः ।
उपदेश्योपदेशादि बन्धमोक्षौ च तत्कृतः ॥ २६ ॥
एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
मनोविनिग्रहश्चेति मोक्षशब्दार्थसङ्ग्रहः ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

यदि हि प्राणविलयो मुने ! मोक्षस्य कारणम् ।
मृता एव विमुच्यन्ते तन्मन्ये सर्वजन्तवः ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनः प्रशमनं वरम् ।
साध्यं विद्धि तदेवाऽऽशु यथा भवति तच्छिवम् ॥ २९॥

वह शान्त, अकृत्रिम पद दोनों तरह के योगियों के लिए उपादेय है अर्थात् फलीभूततत्त्व साक्षात्कार से प्राप्तव्य है। कुछ लोगों ने उस पद को राजयोग द्वारा प्राप्त किया है और कुछ लोगों ने इसी देह से हठयोग के द्वारा प्राप्त किया है ॥ २० ॥

सांख्य और योग को जो एक देखता है, वही देखता है जो सांख्य और योग को एक समझता है वस्तुतः वही विद्वान् है, क्योंकि जो उत्कृष्ट स्थान सांख्यों से प्राप्त किया जाता है वही योगों से भी प्राप्त किया जाता है ॥ २१ ॥

प्राण और मन की वृत्ति जहाँ बिलकुल उपलब्ध नहीं होती और जो वासनारूपी जाल से निर्मुक्त है वही परमपद स्थिति है, प्राण और मन इन दोनों की भी वृत्तियों के आत्यन्तिक विलय से उपलक्षित होने के कारण उभय-वासनारूपी जाल से छुटकारा प्राप्त स्थिति ही परमपद है, यह आप जान लीजिये ॥ २२ ॥

संसार बाहर की इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण आदि की चेष्टाएँ है, वासनापुञ्ज स्वरूप मन ही उनका कारण कहा गया है। वह मन सांख्य या योग दोनों में किसी एक से विलीन हो तत्त्वज्ञानरूप से परिणत हो कर इन्द्रिय और प्राण दोनों के व्यापारों में अकारण बन जाता है। इस तरह एक-एक से दोनों के फल की सिद्धि हो जाती है; अतः सांख्य और योग—इन दोनों का समुच्चय नहीं वरन् विकल्प ही है ॥ २३ ॥

जैसे बालक वेताल को वैसे मन देह को देखता है विनष्ट करके तो मन फिर उसे नहीं देखता अर्थात् देह में अहन्तादर्शनपूर्वक ही सब संसृतियाँ उत्पन्न होती हैं और अहन्ता दर्शन में मन कारण है। मन की शान्ति हो जाने पर सब तरह की संसृतियों की शान्ति हो जाती है ॥ २४ ॥

आत्मदर्शन के अभाव से असद्रूप मन मिथ्या ही उदित होता है। स्वप्न में अपनी मृत्यु के समान दिखाई देता हुआ भी यह विद्यमान नहीं है ॥ २५ ॥

यह संसार मन से उत्पन्न है। ज्ञान से मन का नाश हो जाने पर उसके कार्य ममता, अहन्ता, संसृति उपदेश्य उपदेशादि, वन्ध और मोक्ष कहाँ और किससे उत्पन्न हो सकते हैं। ज्ञान मन का नाश होनेपर उसके कार्य अहन्ता, ममता आदि बन्धन से लेकर मोक्षपर्यन्त सब कल्पनाएँ बाधित हो जाती हैं ॥ २६ ॥

अब उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारियों के भेद से तीन मोक्ष के साधन हैं, यह शास्त्रार्थों के तात्पर्यसङ्ग्रह द्वारा दिखलाते हैं—'एक०' इत्यादि से।

एक परब्रह्म का दृढ अभ्यास, प्राणों का विलय तथा मन का विनिग्रह—यही मोक्ष शब्द के अर्थ का संग्रह है ये ही तीन मोक्ष के साधन हैं ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! प्राण का नाश ही यदि मोक्ष का कारण है तब तो मैं समझता हूँ कि मरे हुए सभी प्राणी मुक्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—इन तीनों उपायों में मनोविनाश ही मुख्य साध्य है। मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा, यह आप जान लीजिये अर्थात् तीनों उपाय मन के विनाश द्वारा ही मोक्ष के कारण होते हैं, मरण में मनोनाश या प्राण नाश नहीं होता, किन्तु वहाँ पर मूर्च्छा काल में, विलीन सैन्धव की तरह अविद्या में वासना रूप से उनकी स्थिति रहती है और उत्क्रमण काल में फिर उनका आविर्भाव हो जाता है। एवं 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रा-

यदा निर्वाणनं प्राणास्त्यजन्तीदं शरीरकम् ।
तदाऽनुभूय तन्मात्रैर्यान्ति व्योमनि सङ्गमम् ॥ ३० ॥
वासनासात्मकान्येव विद्धि तन्मात्रकाणि वै ।
तदात्मकैर्मनोवद्धिः प्राणैः श्लिष्यन्ति नेतरैः ॥ ३१ ॥
सवासनास्तूत्पद्यन्ते प्राणा मुञ्चन्ति देहकम् ।
तद्वद्योमवायुसंश्लेषं यान्ति दुःखाय गन्धवत् ॥ ३२ ॥
मनः साम्बुरिवाऽम्भोधौ न शाम्यति सवासनम् ।
नाऽमनस्काः सम्भवन्ति प्राणाः सूर्य इव त्विषः ॥३३ ॥
न जहाति मनः प्राणान् विना ज्ञानेन कर्हिचित् ।
तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्गमिव तित्तिरिः ॥ ३४ ॥
ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्राणात्स्पन्दं च नाऽऽदत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥३५॥
ज्ञानात् सर्वपदार्थानामसत्त्वं समुदेत्यलम् ।
ततोऽङ्ग वासनानाशाद्वियोगः प्राणचेतसोः ॥ ३६ ॥
ततो न पश्यति मनः प्रशान्तं देहतां पुनः ।
स्वनाशेन पदं प्राप्तं वासनैव मनो विदुः ॥ ३७ ॥
चेतो हि वासनामात्रं तदभावे परं पदम् ।
तत्त्वं सम्पद्यते ज्ञानं ज्ञानमाहुर्विचारणम् ॥ ३८ ॥
इत्यस्याः संसृते राम ! पर्यन्तः सम्प्रवर्तते ।
स्वयं विवेकमात्रेण रज्जुसर्पभ्रमाकृतेः ॥ ३९ ॥
एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिद्ध्यन्ति परस्परम् ॥ ४० ॥

मति' इस श्रुति से तथा तृणजलायुका का दृष्टान्त होने से विलीन प्राण चक्षु आदि द्वारों से निकल नहीं सकते। यदि शङ्का हो कि स्थूल देहरूप आश्रय न होने के कारण बाहर में निकले हुये प्राणों का विलय हो जायगा तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि बाह्याकाश में साथ-साथ निकली हुई भूतमात्राओं से तात्कालिक व्यवहार योग्य देह की कल्पना हो सकती है ॥ २९ ॥

जब प्राण इस शरीर का परित्याग करते हैं तब वासना एवं कर्म से होने वाले भावी देह स्वरूप का अनुभव कर बाह्याकाश में उसी देह के उत्पादन में समर्थ भूतमात्राओं से वे सम्बन्ध करते हैं ॥ ३० ॥

जीव वासना मात्र स्वरूप वे भूतमात्राएँ हैं और उक्त वासना वाले मनो विशिष्ट प्राणों से ही वे सम्बद्ध होती हैं, दूसरों से नहीं, अतः भूततन्मात्राएँ बाहर के जीवों के प्राणों के साथ सम्बद्ध क्यों नहीं होती है इस शङ्का का प्रकृत में कुछ भी अवसर नहीं है ॥ ३१ ॥

दूसरे शरीर में जो प्राण उत्पन्न होते हैं, वे पूर्व शरीर की वासनाओं से युक्त उत्पन्न होते हैं और पूर्व देह का जो परित्याग करते हैं, वे भी भावी देह की वासनाओं से युक्त हो परित्याग करते हैं। जैसे पुष्पों की गन्ध तिल में प्रविष्ट होकर तेल के साथ श्लिष्ट हो जाती हैं। वैसे ही देहान्तर में उसके हृदयाकाश और उसके अन्तर्गत वायुओं से श्लिष्ट होते हैं, इसी प्रकार यन्त्र निष्पीडन दुःख की तरह केवल दुःख ही है ॥ ३२ ॥

वासना युक्त मन कभी भी वैसे ही नष्ट नहीं होता है जैसे समुद्र में डूबा हुआ जल युक्त घट जनों द्वारा न देखा गया भी नष्ट नहीं होता। प्राण मन के विना वैसे ही कभी उत्पन्न नहीं होते जैसे सूर्य किरणों के बिना नहीं रहता ॥ ३३ ॥

ज्ञान बिना मन प्राणों को वैसे ही कभी नहीं छोड़ता, जैसे तित्तिर पक्षी तृण के बिना पहले तृण के अङ्ग को नहीं छोड़ता ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञान से वासना रहित हो ज्ञान रूप अपने नाश को मन प्राप्त करता है और प्राण से स्पन्द को प्राप्त नहीं करता। परिशेष में शान्ति ही अवशिष्ट रहती है ॥३५॥

हे प्रिय ! ज्ञान से सभी पदार्थों में असत्यत्व भलीभाँति पहले सिद्ध हो जाता है और अनन्तर वासना के विनाश से प्राण और चित्त का विनाश हो जाता है ॥३६॥

अनन्तर प्रशान्त मन फिर देहरूपता नहीं देखता है अपने मन के विनाश से ही पूर्ण पद प्राप्त कर लेता है, अतः मुनिगण वासना को ही मन जानते हैं ॥ ३७ ॥

चित्त का स्वरूप केवल वासना ही है, चित्त का बोध हो जाने पर उत्तम स्थिति प्राप्त हो जाती है। तत्त्वज्ञान भी वासना के साथ-साथ सभी पदार्थों का बाध करके आत्मतत्त्व रूप बन जाता है और आत्मतत्त्व भी अविचल ज्ञान रूप ही है, यह अनुभवी विद्वानों का मत है ॥ ३८ ॥

हे रामभद्र, इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि रज्जु में सर्प भ्रम के सदृश मिथ्या रूप इस संसार का स्वयं ही विवेकज्ञानमात्र से अच्छी तरह विनाश हो जाता है ॥ ३९ ॥

श्रवण आदि से एक अर्थ = अद्वय तत्त्व का अभ्यास, प्राण-निरोध और मनोविनाश—इन तीन उपायों से किसी एक की ही सिद्धि हो जाने पर एक दूसरे सिद्ध हो जाते हैं ॥ ४० ॥

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथाऽनिलः ।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥ ४१ ॥
प्राणः शरीरविलये प्रयाति व्योमवायुताम् ।
यथावासितमेवेदं सर्वं पश्यति तत्र वा ॥ ४२ ॥
यथा विदेहाः पश्यन्ति प्राणा व्योमनि देहकम् ।
समनस्कास्तथाचारं सर्वं चाऽनुभवन्ति ते ॥ ४३ ॥
शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति ।
तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ॥ ४४ ॥
अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी ।
कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इव स्थिते ॥ ४५ ॥
मनसः स्पन्दनं प्राणः प्राणस्य स्पन्दनं मनः ।
एतौ विहरतो नित्यमन्योन्यं रथसारथी ॥ ४६ ॥
आधाराधेयवच्चैतावेकाभावे विनश्यतः ।

जब प्राण रूप वायु का स्पन्दन शान्त हो जाने पर मन भी अपने आप वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे ताल के पत्तों से निर्मित पंखे का स्पन्दन शान्त हो जाने पर अपने आप जैसे पवन शान्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

शरीर का विलय हो जाने पर बाह्याकाश में अवस्थित वायु में मिल जाने के कारण प्राण बाह्याकाशस्थ वायु रूप हो जाते हैं और बाह्याकाश में वासनानुसार ही इन सब पदार्थों को देखते हैं। अर्थात् देह के अस्तित्व में जब प्राण का उत्क्रमण हो तब आपका यह क्रम भले ही रहे परन्तु शाप, छेदन आदि से जब देह का अस्तित्व ही न हो तब कौन-सा क्रम माना जायगा ! ॥ ४२ ॥

बाह्याकाश में देहशून्य प्राण मन से युक्त होकर कर्म जनित वासना रूप जैसे पशु-पक्षी, मनुष्य आदि शरीरों को देखते हैं, वैसे ही व्यवहारों का भी अनुभव करते हैं ॥ ४३ ॥

मन का चलन रुक जाने पर प्राण-वायुओं का चलन भी वैसे ही रुक जाता है जैसे वायु का चलन रुक जाने पर गन्ध रुक जाती है ॥ ४४ ॥

जैसे आक्रान्तकसुमसुगन्धवाले तिल और तेल एक दूसरे से निरन्तर मिले-जुले रहते हैं वैसे ही सब प्राणियों के प्राण और चित्त दोनों एक दूसरे से निरन्तर मिले-जुले रहते हैं ॥ ४५ ॥

मन का चलन ही प्राण है और प्राण का चलन ही मन है, क्योंकि रथ और सारथि की तरह वे दोनों एक दूसरे के स्पन्दन का सम्पादन करते हैं ॥ ४६ ॥

आधार और आधेय के समान अर्थात् अग्नि और

कुरुतश्च स्वनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः ।
तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ ४८ ॥
विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय ।
मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ॥ ४९ ॥
यदेवाऽतितरां श्रेयोऽनुपलम्भोपलम्भयोः ।
द्वयोरप्यसतोस्तत्र शेषे वाऽपि स्थिरो भव ॥ ५० ॥
एकस्मिन् सुदृढे तत्त्वे तावद्भावं विभावयेत् ।
भावोऽभावत्वमायाति स्वभ्यासाद्यावदाततम् ॥ ५१ ॥
प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव ।
विलीयते सह प्राणैः परमेवाऽवशिष्यते ॥ ५२ ॥
यदेकतानं भवति चेतस्तद्भवति क्षणात् ।
शान्ताशेषविशेषौघं चिराभ्यासस्वभावतः ॥ ५३ ॥

उष्णता के सदृश दोनों में से किसी एक का विनाश हो जानेपर मन और प्राण दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाश के द्वारा वे दोनों एक महान् मोक्षनामक कार्य सम्पादन कर देते हैं ॥ ४७ ॥

अद्वय ब्रह्मतत्त्व के घनीभूत दृढ़ अभ्यास से वासनाशून्य मन पर्याप्तरूप से शिथिल हो जाता है और इससे प्राण भी शिथिल हो जाता है, क्योंकि प्राण का स्वभाव मन के साथ मिल जाना ही है ॥ ४८ ॥

असीम आत्मतत्त्व का विचारकर पहले आप मन को आत्मरूप बनाइये उस आत्मतत्त्व में मन के लय से वह आत्मरूपता ही स्थिर हो जाती है ॥ ४९ ॥

अज्ञान और अज्ञानबाधक ब्रह्माकारवृत्ति की भी निवृत्ति हो जानेपर अत्यन्त कल्याणरूप चिन्मात्र अवशिष्ट उस चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म में आप प्राणधारण द्वारा स्थिर हो जाएँ ॥ ५० ॥

एक सुदृढ आत्मत्तत्त्व में जब तक कि वह वृत्तिधारा अभ्यासजनित अन्तिम साक्षात्कार से पूर्व अभावरूप न बन जाय तब तक तदाकारवृत्तिधारा करनी चाहिये ॥ ५१ ॥

निग्रहवृत्ति से पुरुषों का चित्त, आहारक्षय से शरीरक्षय की तरह स्वयं ही प्राणों के साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है ॥ ५२ ॥

चित्त जिस वस्तु में रम जाता है, तद्रूप ही वह शीघ्र बन जाता है, अतः दीर्घकालतक आत्मतत्त्व के अभ्यासस्वभाव से वह समस्त विशेषों से शान्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन योग के पाँच अङ्गों से पहले

अविद्येयं तु नास्तीति बुद्ध्या युक्तियुतं धिया ।
ज्ञानादेव परावाप्तिस्तदभ्यासस्ततः परम् ॥ ५४ ॥
चित्ते शान्ते शाम्यतीयं संसारमृगतृष्णिका ।
जरामुपगते मेघे मिहिका तन्मयी यथा ॥ ५५ ॥
चित्तमात्रमविद्येति कुरु तेनैव तत्क्षयम् ।
तद्रूपं राम ! चित्तात्मा नाऽभावो हि परं पदम् ॥५६॥
मुहूर्तमेव निर्वाणं यदि चेतः परे पदे ।
तत्तत्परिणतं विद्धि तत्रैवाऽऽस्वादमागतम् ॥ ५७ ॥
यदि सांख्येन विश्रान्तं चेतो योगेन वाऽपि ते ।
क्षणं तत्सत्त्वतां यातं न भूय इह जायते ॥ ५८ ॥
चेतो विगलिताविद्यं सत्त्वशब्देन कथ्यते ।
दग्धसंसारबीजं तन्न ददात्यन्तरं पुनः ॥ ५९ ॥
कश्चिद्विगलिताविद्यः सत्त्वस्थः शान्तवासनः ।
परं शून्योपमं सद्यो ज्योतिः पश्यति शाम्यति ॥ ६० ॥
विगलितात्मपदं विगलन्मनः
सुभग सत्त्वमितीह हि कथ्यते ।
न पुनरेति कलामलिनं पदं
कनकतामिव ताम्रमुपागतम् ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे प्राणमनःसंयोगविचारणं नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

मन के बाह्याकार का विनाश हो जानेपर, अनन्तर धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों से ब्रह्मैकाग्रता की प्राप्ति द्वारा निर्विकल्पक समाधि के परिपाक से ब्रह्मरूपता की सिद्धि हो जाती है ॥ ५३ ॥

श्रवण और मनन से पहले 'समस्त द्वैतप्रपञ्च अविद्या-रूप ही है, यह सर्वथा असत् है, तत्त्वज्ञान से ही आत्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है', इसका तबतक परिज्ञान करे जबतक कि प्रमाणप्रमेय के असम्भावनादि दोष निरस्त न हो जायँ। अनन्तर ध्यान, धारण आदि से ज्ञानाभ्यास करना चाहिए (अन्यथा अश्रुत अज्ञाततत्त्व में ध्याना-भ्यास नहीं हो सकता है ॥ ५४ ॥

जैसे शरत्-काल में मेघमण्डल के शिथिल हो जानेपर मेघमण्डल से आगत तन्मय कुहरा विलीन हो जाता है वैसे ही चित्त के शान्त हो जानेपर यह संसाररूपी मृग-तृष्णा उस प्रकार विलीन हो जाती है ॥ ५५ ॥

हे रामजी ! अविद्यारूप केवल चित्त का ब्रह्माकार से परिणत चित्त से ही उसका विनाश करें। चित्त के क्षय का असली स्वरूप चित्ताधिष्ठान आत्मा ही है, शून्यता नहीं; इसलिए चित्त का अभाव परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता है ॥ ५६ ॥

यदि चित्त मुहूर्तमात्र भी परम पद में विश्रान्त हो जाय, तो वह ब्रह्मरूप में ही परिणत हो गया, यह आप जान ले। अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान से पृथक् स्वरूप नहीं होता है इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही निरतिशय स्वप्रकाश और आनन्द का अनुभव कर रहा वह कभी-भी व्युत्थान नहीं चाहता "ज्ञानाभूतरतो येन सकृदास्वादितो भवेत्। विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैव धावति ॥" जिस मन ने एक वार भी ज्ञानरूपी अमृतरस का पान कर लिया है वह मन सब कार्य छोड़कर वहींपर दौड़ता है ॥ ५७ ॥

यदि आपका चित्त सांख्योपाय से या योगोपाय से क्षणमात्र भी परमपद से विश्रान्त है तो वह सत्त्वरूप वन गया फिर वह इस संसार में नहीं आयेगा ॥ ५८ ॥

विगलित अविद्या वाला विशुद्ध चित्त सत्त्वशब्द से कहा जाता है। जिसमें संसारबीज वासना दग्ध हो गई है वह चित्त फिर कभी-भी ब्रह्मरूपता से विच्छिन्न नहीं होता ॥ ५९ ॥

कोई ऐसा है जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, जो सत्त्वभाव में अवस्थित वासनारहित हो चुका है जो अज्ञा-नियों की दृष्टि में शून्योपम और ज्ञानियों की दृष्टि में ज्योतिःस्वरूप है, परमतत्त्व को देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

हे सुन्दर भाग्यवान् ! तीनों उपायों के अभ्यास से जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति रूप भ्रान्ति और तज्जनित अन्य-अन्य दर्शनों से रहित तथा अविद्या के विनाश से दग्ध वस्त्र के सदृश प्रतिभास मात्र रूप से स्वयं अविशिष्ट मन जीवन्मुक्तावस्था में 'सत्त्व' कहा जाता है। वह वासना रूप बीज शक्ति के विनष्ट हो जाने से राग-द्वेष, अभिमान आदि कलाओं से मलिन संसार पद को वैसे ही प्राप्त नहीं करता है। जैसे पारस मणि के सम्बन्ध से सुवर्ण रूपता को प्राप्त ताम्र फिर कलङ्क रूप कला से मलिन ताम्ररूपता को प्राप्त नहीं करता है ॥ ६१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में प्राणमनसंयोगविचार नामक कुसुमलता का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

७०

वसिष्ठ उवाच

जीवोऽजीवो भवत्याशु याति चित्तमचित्तताम् ।
विचारादित्यविभ्रान्तो मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १ ॥
मृगतृष्णाजलमिव मनोऽहन्तादि दृश्यते ।
असदेव मनागेव तद्विचारात् प्रलीयते ॥ २ ॥
संसृतिस्वप्नविभ्रान्तौ वेतालोदाहृतानिमान् ।
प्रश्नानाकर्णय शुभान् प्रसङ्गात् स्मृतिमागतान् ॥ ३ ॥
अस्ति विन्ध्यमहाटव्यां वेतालो विपुलाकृतिः ।
स किञ्चिन्मण्डलं गर्वादाजगाम जिघांसया ॥ ४ ॥
स वेतालोऽवसत्पूर्वं कस्मिंश्चित् सज्जनास्पदे ।
बहुबल्युपहारेण नित्यतृप्ततया सुखी ॥ ५ ॥
निर्निमित्तं निरागस्कं पुरोऽप्यभ्यागतं न सः ।
क्षुधितोऽपि नरं हन्ति सन्तो हि न्यायदर्शकाः ॥ ६ ॥
स कालेनाऽटवीगेहो जगाम नगरान्तरम् ।
न्याययुक्त्या जनं भोक्तुं क्षुधा समभिचोदितः ॥ ७ ॥
तत्र प्राप स भूपालं रात्रिचर्याविनिर्गतम् ।
तमाह घनघोरेण शब्देनोग्रनिशाचरः ॥ ८ ॥

वेताल उवाच

राजंल्लब्धोऽसि भीमेन वेतालेन मयाऽधुना ।
क्व गच्छसि विनष्टोऽसि भव भोजनमद्य मे ॥ ९ ॥

राजोवाच

हे रात्रिचर ! निर्न्याय्यं मां चेदत्सि बलादिह ।
तत्ते सहस्रधा मूर्धा स्फुटिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

वेताल उवाच

न त्वामद्म्यहमन्यायं न्यायोऽयं हि मयोच्यते ।
राजाऽसि सकलाशाश्च पूरणीयास्त्वयार्थिनाम् ॥ ११ ॥

७०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—तत्त्वविचार से जीव तत्काल अजीव रूप हो जाता है और चित्त अचित्त रूप हो जाता है, इसलिए विचार रूप उपाय से उत्पन्न कार्य-कारण रूप अविद्या का विनाश मोक्ष है, यह तत्त्वज्ञानियों के द्वारा कहा जाता है ॥ १ ॥

मृगतृष्णा जल की तरह असद्रूप ही मन तथा अहन्ता आदि प्रपञ्च क्षणभर के लिए ही दिखाई पड़ते हैं और उक्त विचार से विलीन हो जाते हैं ॥ २ ॥

इस संसाररूपी स्वप्न विभ्रम में वेताल द्वारा किये गये प्रसंगवश स्मृतिगोचर इन उत्तम प्रश्नों का आप श्रवण कीजिये ॥ ३ ॥

विन्ध्याचल की महाटवी में एक दीर्घाकृति वेताल था। किसी समय वधयोग्य अज्ञानी जनों में अनादर के कारण उनको मार डालने की इच्छा से वह किसी मण्डल में गया ॥ ४ ॥

वह वेताल पहले किसी एक सज्जन नामक राजा के देश में रहता था। उस किरात राज्य में ककड़ी की तरह राजा द्वारा किये गये अनेक वध्यजनों के बलियों के उपहार से सदा तृप्त किसी प्रकार के विक्षेप के बिना समाधि सुख में चूर रहता था ॥ ५ ॥

सामने आये हुए भी निरपराधी पुरुष को वह क्षुधित होने पर भी किसी कारण के बिना मारता नहीं था, क्योंकि सन्त पुरुष न्याय के ही दर्शक होते हैं ॥ ६ ॥

किसी समय की बात है कि जङ्गल में मारने योग्य जन उसे प्राप्त न हुए। उस समय अरण्यवासी वह वेताल क्षुधा से प्रेरित हो न्याय प्राप्त मनुष्य का भक्षण करने के लिए नगर के भीतर चला गया ॥ ७ ॥

उस नगर में, मध्य रात में दुष्ट जनों के परिज्ञान और चोर आदि के विनाश के लिए कर्तव्यार्थ निकाला हुआ राजा उसे मिला। उस राजा से यह उग्र निशाचर घनघोर शब्द से कहने लगा ॥ ८ ॥

वेताल ने कहा—हे राजन् ! इस समय मुझ भयङ्कर वेताल के द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो। कहाँ जा रहे हो ? अब तुम मर गये। आज तुम मेरा भोजन बन जाओ ॥ ९ ॥

राजा ने कहा—हे निशाचर ! बलपूर्वक यदि यहाँ अन्याय्य मार्ग से मुझे खा जाओगे तो तुम्हारा मस्तक हजारों टुकड़ों में फट जायगा, इसमें तुम्हें सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ १० ॥

वेताल ने कहा—मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा, परन्तु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिए तुम्हें अर्थियों के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिए ॥ ११ ॥

ममैतामर्थितां राजन् ! सम्भवार्थां प्रपूरय ।
प्रश्नानिमान् मयोक्तांस्त्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥
कस्य सूर्यस्य रश्मीनां ब्रह्माण्डान्यणवः कृशाः ।
कस्मिन्स्फुरन्ति पवने महागगनरेणवः ॥ १३ ॥
स्वप्नात् स्वप्नान्तरं गच्छञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
त्यजन्न त्यजति स्वच्छं कः स्वरूपं प्रभास्वरम् ॥ १४ ॥
रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवं पुनः पुनः ।
अन्तरन्तस्तथान्तश्च तथा कोऽणुः स एव हि ॥ १५ ॥
ब्रह्माण्डाकाशभूतौघसूर्यमण्डलमेरवः ।
अपरित्यजतोऽणुत्वं कस्याऽणोः परमाणवः ॥ १६ ॥
कस्याऽनवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः ।
शिलान्तर्निबिडैकान्तरूपमज्जा जगत्त्रयी ॥ १७ ॥
इति कथयसि चेन्न मे दुरात्मं-
स्तदिह निगीर्य भवन्तमात्मघातिन् ! ।
फलमिव तव मण्डलं ग्रसेयं
प्रसभमुपेत्य जगद्यथा कृतान्तः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
वेतालप्रश्नो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

हे राजन् ! मेरी इस अबाधित अर्थिता को आप ठीक तरह से पूर्ण कीजिये। मैं जिन प्रश्नों को कह रहा हूँ इनका भली-भाँति व्याख्यान कीजिए अर्थात् यदि यह राजा अज्ञानी होगा तो उसमें सैंकड़ों अपराध मिल सकते हैं और यदि ज्ञानी होगा तो वह अपराध कर ही नहीं सकता। अपि च सैंकड़ों अपराध होने पर भी ज्ञानी की रक्षा करनी चाहिए, ऐसा मन में निश्चयकर वेताल राजा की परीक्षा करने के लिए प्रश्नोत्तर की प्रार्थना करता है ॥ १२ ॥

भद्र, किस सूर्य की किरणों के ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवन में महागगनरूपी त्रसरेणु परिस्फुटित होते हैं ॥ १३ ॥

एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जा रहा पुरुष पहले के सैंकड़ों या हजारों स्वप्नों की सत्यता छोड़कर भी प्रकाशक स्वच्छ सत्यात्मस्वरूप का परित्याग वह नहीं करता है ॥ १४ ॥

जैसे केले का खम्भा भीतर के भी भीतर और उसके भी भीतर बार-बार (देखने से) केवल वल्कलमात्र ही रहता है, दूसरा नहीं, वैसे ही सब के भीतर के भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्मस्वरूप है ? ॥ १५ ॥

ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतों के आधारभूत भुवन, सूर्य-मण्डल तथा मेरु—ये सब बड़े-बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं ये अणुत्व धर्म न छोड़ने वाले ऐसे किस अणु की (सूक्ष्म की) अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र पदार्थ हैं ? ॥ १६ ॥

किस वस्तुतः निरवयव परमाणु महागिरि की अर्थात् स्वयं सूक्ष्म होते हुए भी महान् पर्वत की शिला के भीतर यह त्रिजगती है, जिसका सार घनीभूत अव्यभिचरित सत्तामात्र है ॥ १७ ॥

हे देहात्मबुद्धे ! हे आत्मघातक ! यदि इन छः प्रश्नों का उत्तर मुझे न दोगे, तो तुम्हें पहले, फल की तरह निगलकर फिर तुम्हारे मण्डलस्थ जनों को बलपूर्वक ग्रास कर उन्हें वैसे निगल जाऊँगा, जैसे यमराज जगत् को निगल जाता है ॥ १८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में वेतालप्रश्न नामक कुसुमलता का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

७१

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवति वेताले वक्तुं प्रश्नान्विहस्य सः ।
उवाच वचनं राजा दन्तांशुधवलाम्बरः ॥ १ ॥

राजोवाच

आस्ते कदाचिच्चेदं हि ब्रह्माण्डमजरं फलम् ।
उत्तरोत्तरं दशगुणभूत्वक्परिवेष्टितम् ॥ २ ॥

७१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ऐसा कहकर वेताल के चुप होनेपर हँसकर वस्त्र और आकाश दाँतों की किरणों से धवल उस राजा ने कहा ॥ १ ॥

राजा ने कहा—किसी समय यह तुम्हारा और मेरा आधार जीर्णताशून्य ब्रह्माण्डरूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पृथिवी, जल आदि आवरणों से वेष्टित था ॥ २ ॥

तादृशानां सहस्राणि फलानि यत्र सन्ति हि ।
अत्युच्चैस्तादृशी शाखा विपुलाचलपल्लवा ॥ ३ ॥
तादृशानां सहस्राणि शाखानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृशोऽस्ति महावृक्षो दुर्लक्ष्यो विपुलाकृतिः ॥ ४ ॥
तादृशानां सहस्राणि यत्र सन्ति महीरुहाम् ।
तादृशं वनमत्युच्चैरनन्ततरुगुल्मकम् ॥ ५ ॥
तादृशानां सहस्राणि वनानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति बृहच्छृङ्गमत्युच्चैर्भरिताकृति ॥ ६ ॥
तादृशानां सहस्राणि शृङ्गाणां यत्र सन्त्यथ ।
तादृशोऽस्त्यतिविस्तीर्णो देशो विपुलकोटरः ॥ ७ ॥
तादृशानां सहस्राणि देशानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति बृहद्द्वीपं महाह्लदनदीयुतम् ॥ ८ ॥
तादृशानां सहस्राणि द्वीपानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महापीठं विचित्ररचनान्वितम् ॥ ९ ॥

वैसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं और उन्हींके अनुरूप चंचल पल्लवों की तरह भुवनों से युक्त वहाँपर बड़ी-बड़ी हजारों शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा पामरों द्वारा दुर्लक्ष्य विपुलाकृति एक महान् वृक्ष है अर्थात् १–यह ब्रह्माण्ड, २–ऐसे-ऐसे सैकड़ों ब्रह्माण्ड जिनके पेट में हैं—ऐसी पञ्चीकृत महाभूत, ३–ये महाभूत जिसके पेट में हैं वह गन्धतन्मात्रा, ४—७, उत्तरोत्तर गन्धादिमात्राओं को पेट में रखने वाली रसादिमात्राएँ, ८–तन्मात्राओं को उदर में रखने वाला हिरण्यगर्भ का मन, ९–अतीत और अनागत अनन्त पदार्थों को पेट में रखने वाली भूतमात्राओं की राशियाँ, १०–इनको पेट में रखनेवाले कल्पकाल, ११-१३, इनको उत्तरोत्तर गर्भ में रखनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के आयुकाल, १४—इन अनन्तकोटि पदार्थों में सत्तास्फूर्ति व्यवहार का प्रवर्तक मायाशबल ब्रह्म—इन चौदह पदार्थों का निर्देश है। राजा की हँसी का यह आशय है कि ब्रह्माण्डों में त्रसरेणुत्व जो तुमने कहा, वह तो अत्यन्त साधारण बात कही, किन्तु कही जानेवाली कल्पना के अनुसार जिनके गर्भ में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनमें भी त्रसरेणुत्व है ॥ ३, ४ ॥

इसी प्रकार के हजारों वृक्षों से युक्त एक वन है, जिसमें ऊँचे-ऊँचे असीम वृक्ष और गुल्म विद्यमान हैं ॥५॥

और उसी प्रकार के हजारों वनों से समन्वित उन्नत शिखरों से युक्त चारों ओर से परिपूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है ॥ ६ ॥

वैसे हजारों पर्वतों वाला अत्यन्त विस्तीर्ण विपुल कोटरवाला एक देश है ॥ ७ ॥

वैसे हजारों देश जहां पर विद्यमान हैं ऐसा बड़े-बड़े ह्लद और नदियों से युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है ॥ ८ ॥

वैसे अनन्त द्वीप जिसमें हैं चित्र-विचित्र नामादिक रचनाओं से युक्त ऐसा एक महीपीठ है ॥ ९ ॥

तादृशानां सहस्राणि पृथ्वीनां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महास्फारं महाभुवनडम्बरम् ॥ १० ॥
तादृशानां सहस्राणि जगतां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महच्चाऽण्डं चण्डमम्बरपीठवत् ॥ ११ ॥
तादृशानां सहस्राणि यत्राऽण्डानि करण्डकाः ।
तादृशोऽस्ति गतस्पन्दो विपुलाब्धिश्च सागरः ॥ १२ ॥
तादृक्सागरलक्षाणि तरङ्गो यत्र पेलवः ।
तादृशः स्वविलासात्मा निर्मलोऽस्ति महार्णवः ॥ १३ ॥
तादृगब्धिसहस्राणि यस्योदरजलान्यथ ।
तादृशोऽस्ति पुमान्कश्चिदत्युच्चैर्भरिताकृतिः ॥ १४ ॥
तादृशानां नृणां लक्षैर्यस्य मालोरसि स्थिता ।
प्रधानं सर्वसत्तानां तादृशोऽस्ति परः पुमान् ॥ १५ ॥
तादृशानां सहस्राणि पुरुषाणां महात्मनाम् ।
स्फुरन्ति मण्डले यस्य स्वतनूरुहजालवत् ॥ १६ ॥

उस प्रकार के हजारों महीपीठ जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक अत्यन्त विस्तृत महाभुवनरूप प्रपञ्च है ॥ १० ॥

उस तरह के असंख्य महाभुवन जिसमें विद्यमान हैं ऐसा विस्तृत आकाशपीठ के सदृश एक महान् प्रचण्ड अण्डा है ॥ ११ ॥

इस-इस तरह के असंख्य अण्डरूपी करण्डक जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चञ्चलतारहित असीम जलनिधि—एक सागर है ॥ १२ ॥

उस तरह के लाखों सागर जिसमें कोमल तरङ्गरूप हैं, ऐसा एक अपने स्वरूप में विलास करने वाला निर्मल महार्णव है ॥ १३ ॥

उस प्रकार के हजारों महार्णव जिसके उदर के जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णाकृति पुरुष (विष्णु) है ॥ १४ ॥

ऐसे-ऐसे लाखों पुरुषों की माला जिसके वक्षःस्थल में अवस्थित है ऐसा एक परम पुरुष सब सत्ताओं का प्रधान अर्थात् आधारभूत अधिष्ठान (रुद्र) है ॥ १५ ॥

इस प्रकार के महान् आत्मशाली असंख्य पुरुष जिसके मण्डल में शरीररोम जाल के सदृश स्फुरित एक महान् आदित्य है। पराग दृष्टिवाले जीवों में रुद्र से

तादृशोऽस्ति महादित्यः शतमन्यासु दृष्टिषु ।
या एताः कलनाः सर्वास्ता एतास्तस्य दीप्तयः ॥ १७ ॥
अस्याऽऽदित्यस्य दीप्तीनां ब्रह्माण्डास्त्रसरेणवः ।
मया चित्सूर्य इत्युक्तः सर्वमेतत्तपत्यसौ ॥ १८ ॥
विज्ञानात्मैव परमो भास्करो भाविताशयः ।
इमे ये भुवनाभोगास्तस्यैव त्रसरेणवः ॥ १९ ॥
विज्ञानपरमार्कस्य भासा भान्ति भवन्ति च ।
इमा जगदहर्लक्ष्म्यः क्वचिल्लक्ष्म्यो रवेरिव ॥ २० ॥
विज्ञानमात्रकचितात्मनि जन्तुजाते
त्रैलोक्यमण्डपमणेरविकासभाजि ।
चिज्जन्मनोर्भवनसम्भ्रमतावलेखाः
सन्तीह रे नहि मनागपि शान्तमास्स्व ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त होनेवाले जो कोटि-कोटि प्रतिभास हैं ये ही सब प्राणियों को प्रत्यक्ष इस आदित्य की रश्मियाँ हैं जैसे साधारण पुरुष के शरीर में उत्पद्यमान रोम अत्यन्त छोटे हैं, उनके स्वल्पतम परिमाण की शरीर-परिमाण से तुलना नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही व्यापक-शरीर आदित्यवत् प्रकाशमान आत्मा से उत्पद्यमान असंख्य पुरुष रोम के सदृश अत्यन्त छोटे हैं, उनके परिमाण की उस आत्मारूपी आदित्यपरिमाण से तुलना नहीं हो सकती, यह बतलाने के लिए 'स्वतनूरुहजालवत्' कहा ॥ १६-१७ ॥

इसी आदित्य की दीप्तियों के ब्रह्माण्ड त्रसरेणु हैं। मैंने तुमसे जिस सूर्य को कहा था वह यही चित्सूर्य है और इसके प्रभाव से सारा जगत् प्रकाशित होता है ॥ १८ ॥

असंख्य पदार्थ जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा विज्ञान स्वरूप परम सूर्य विस्तृत ब्रह्माण्ड है, जो उसी सूर्य के त्रसरेणु हैं ॥ १९ ॥

सर्वोत्तम विज्ञानरूपी सूर्य की दीप्ति से ही, कहीं साधारण सूर्य से दिन लक्ष्मियों के सदृश, ये जगद्रूपी दिवालक्ष्मियाँ स्फूर्ति और सत्ता प्राप्त करती हैं ॥ २० ॥

हे वेताल ! मैंने जिस मायाशवल ब्रह्म का वर्णन किया है, उस त्रैलोक्य मण्डपमणि के अर्थात् सूर्य के पारमार्थिक स्वरूपभूत, मुख्य अधिकारियों में शास्त्रजनित अखण्डाकार साक्षात्कारमात्र से स्वात्मरूप से प्रकाशित अनधिकारी जन्तुओं में स्पष्टरूप से अप्रकाशित इस प्रत्यगात्मा में, अग्नि विस्फुलिङ्ग के सदृश काल्पनिक जीव जगत् की पृथक् सत्ता और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि असंख्य संभ्रमों के उल्लेख हैं। वास्तव में परमार्थ दृष्टि से तो परमात्मा में भ्रम का तनिक भी अवकाश नहीं है, इसलिए तुम निरर्थक प्रश्नों का आडम्बर छोड़ दो ॥ २१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णन नामक कुसुमलता का एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

७२

राजोवाच

कालसत्ता नभःसत्ता स्पन्दसत्ता च चिन्मयो ।
शुद्धचेतनसत्ता च सर्वमित्यादि पावनम् ॥ १ ॥
परमात्ममहावायौ रजः स्फुरति चञ्चलम् ।
कुसुमाङ्ग इवाऽऽमोदस्तदतद्रूपकं स्वतः ॥ २ ॥

७२

राजा ने कहा—कालसत्ता, आकाशसत्ता, क्रियाशक्ति-प्रधान सूत्रात्मा की सत्ता तथा क्रियाशक्तिप्रधान चेतन से निर्मुक्त जो चिदाभासरूप शुद्ध चेतन है, उसकी चिन्मयी सत्ता—इत्यादि सब सूक्ष्म होने से निर्दोष रज हैं, वह परमात्मारूपी महावायु में कल्पित अनेक विकारों से चंचल होकर स्फुरित होता है। (पदार्थों में अनुगत सत्ता-रूप परमात्मा के रहने से परमात्मारूपी महावायु में कालादि की सत्ता कैसे स्फुरित होती है ? अभिन्न में आधाराधेय भाव का व्यपदेश कैसे हुआ ?) जैसे पुष्प स्वयं अपने अङ्ग में आमोद नामक भेद की (सुगन्ध की) अपने ही द्वारा कल्पना कर पुष्पों में आमोदरूपवाला वह आधेयरूप से अवस्थित है वैसे ही परमात्म सत्ता ही अपने में कालादिसत्ता के भेद की कल्पना करके अवस्थित है अर्थात् 'कस्मिन् स्फुरति पवने महागगनरेणवः' इस द्वितीय

जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजत् ।
रूपं त्यजति नो शान्तं ब्रह्म शान्तत्वबृंहणम् ॥ ३ ॥
रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवान्तरान्तरम् ।
अन्तरन्तस्तथेदं हि विश्वं ब्रह्म विवर्त्यपि ॥ ४ ॥
सद्ब्रह्मात्मादिभिः शब्दैर्यदेताभिर्विगीयते ।
शून्यमव्यपदेश्यं तेन तत्किञ्चिच्च किञ्चन ॥ ५ ॥
या या विभाव्यते सत्ता सा साऽनुभवनिर्मितान् ।

प्रश्न का समाधान है, उसमें 'महागगनरेणवः' इस पद में स्थित गगनशब्द से तुम प्रसिद्ध आकाश का ग्रहण करो अथवा 'महत्' पद से विशेषित होने के कारण गौणीवृत्ति से महाकालस्वरूप चित्संवलित महाकाश का ग्रहण करो या स्पन्दशक्ति प्रधान सूत्रात्माकाश का ग्रहण करो अथवा उससे निर्मुक्त शुद्धचिदाभासस्वरूप जीवाकाश का ग्रहण करो या और किसी दूसरे का ग्रहण करो, फिर भी उन सभी विकल्पों में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण तत्-तत् सत्ता का ही तुमने महागगनरेणुरूप से वर्णन किया है ॥ १-२ ॥

'जगत्' नामक महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जा रहा वह स्वप्नगत दोषों से शून्य अर्थात् असङ्ग ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म बोधमात्र से ही शान्ति बढ़ाने वाले अपने रूप को नहीं छोड़ता है ॥ ३ ॥

ब्रह्म में विवर्तनशील तथा अवान्तर कारणों में परिणामशील यह विश्व ज्यों-ज्यों भीतर-भीतर देखा जाता है, त्यों-त्यों उसमें ब्रह्ममात्र वैसे ही मिलता जाता है जैसे केले का स्तम्भ भीतर-भीतर ज्यों-ज्यों नोंचा जाता है त्यों-त्यों उसमें केवल पत्र ही मिलता जाता है अतः वह अणु है ॥ ४ ॥

विवर्तभूत जगत् में निमित्त वह परमात्मा सत्, ब्रह्म आत्मा आदि शब्दों से कहा जाता है और सर्वधर्मातीत होने से 'शून्यम् अव्यपदेश्यम्' आदि शब्दों से कहा जाता है, इसलिए कुछ है और कुछ नहीं भी है। अर्थात् विषय और अविषय दोनों है अर्थात् विवर्तभूत जगत् के बृंहण आदि में निमित्त होने से ही वह परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों का विषय है, वस्तुतः वह सब धर्मों से शून्य होने के कारण सत्, ब्रह्म आत्मा आदि शब्दों का विषय नहीं है ॥ ५ ॥

जो-जो सत्ता विभावित होती है अर्थात् पटसत्ता तन्तु-सत्ता में, तन्तुसत्ता कपास की सत्ता में, कपास की सत्ता कपास के फल की सत्ता में, फल की सत्ता गुल्म की सत्ता में और गुल्म की सत्ता बीज, मिट्टी, जल आदि की सत्ता

रम्भास्तम्भवदेतावच्चिन्मात्रममलं ततम् ॥ ६ ॥
सूक्ष्मत्वादप्यलभ्यत्वात्परमात्मा परोऽणुकः ।
अनन्तत्वादसावेव प्राप्तो मेर्वादिमूलताम् ॥ ७ ॥
अणोरप्यत्यनन्तस्य पुंसोऽस्य जगदाद्यपि ।
परमाणुवदाभाति प्रतीतत्वादरूपवत् ॥ ८ ॥
परोऽणुरेषोऽलभ्यत्वात् पूरकत्वान् महागिरिः ।
सर्वावयवरूपोऽपि निरस्तावयवः पुमान् ॥ ९ ॥

पर्यवसित होती है। जिस-जिस सत्ता की भावना की जाती है वह सब तत्-तत् अनुभव से निर्मित आकारों को छोड़ कर अन्त में केले के स्तम्भ के तुल्य तत्-तत् अनुभवरूप चिन्मात्र में ही पर्यवसित होती है, इसलिए जगदाकार से वही एक निर्मल चिन्मात्र वस्तु विस्तृत हुई है ॥ ६ ॥

अनन्त होने के कारण परमात्मा ही मेरुपर्वतपर्यन्त ब्रह्माण्ड आदि का आधार हुआ है अर्थात् सूक्ष्म तथा अलभ्य होने के कारण परमात्मा परमाणुस्वरूप है। इस तरह परमात्मा के सूक्ष्म होने पर भी हानि नहीं आती, इसलिए ब्रह्माण्डादि भी उस परमात्मा की दृष्टि से उस परमात्मा की अपेक्षा अतिपरिच्छिन्न होने के कारण परमाणु प्राय ही है ॥ ७ ॥

परमाणुस्वरूप होते हुए भी अनन्तात्मक इस परमात्मा के ब्रह्माण्ड से लेकर मेरुपर्यन्त पाँचों पदार्थ परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म उन आकारों की वृत्तियों से परिच्छिन्न चितिकणों से परिच्छेद्य होने के कारण स्वाप्निक ब्रह्माण्ड की तरह स्वरूपरहित हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म नाडियों के छिद्रों में भासमान होने के कारण परमाणु के सदृश हैं ॥८॥

चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्राह्य न होने से यह परमात्मा परमाणु है, लेकिन पूरक होने से चारों ओर से व्याप्त महापर्वत है अर्थात् परमात्मा असल में न तो रूपादिमान् होकर महान् है और न रूपादिस्वरूप ही है, इसलिए चक्षु आदि इन्द्रियों से उसका किसी तरह भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस स्थिति में परमाणु में इन्द्रियग्राह्यत्व के सदृश इसमें इन्द्रियग्राह्यत्व नहीं है, यह बतलाने के लिए परमात्मा को 'परमाणु' कहा गया है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ परमात्मा की सत्ता न हो, सभी जगह परमात्मा की सत्ता है, इसलिए सबसे बड़ा होने के कारण महान् कहा गया है, यह परमात्मा अध्यारोपदृष्टि से मूर्त और अमूर्त सर्वविध पदार्थों का अवयवस्वरूप होता हुआ भी 'नेति-नेति' इस अपवाद से अवयवों से शून्य है ॥ ९ ॥

अस्य वै ज्ञप्तिमात्रस्य मज्जामात्रं जगत्त्रयम् ।
विज्ञानमात्रमध्यं हि साधो ! विद्धिजगत्त्रयम् ॥ १० ॥
विज्ञानमात्रकलनाकलितं जगन्ति
शान्तस्वभावसुकुमारमनन्तरूपम् ।
वेतालबालक ! पदं तदलङ्घनीय-
मेवं स्वयं समनुभावय शान्तमास्स्व ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे वेतालप्रश्नभेदो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

हे साधो ! यह जगत्त्रयी ज्ञानमात्र परमात्मा की केवल मज्जा है, क्योंकि हृदयाकाशरूप •विज्ञानमात्र का मध्य मज्जा की तरह प्रसिद्ध है, यह समझ लो ॥ १० ॥

हे अज्ञानी वेताल ! ये जगत् विज्ञानस्वरूप आत्मा के अनेकविध कौशलों का विलास है। अनन्तस्वरूप, शान्त स्वभाव एवं अत्यन्त सुकुमार उस मदुक्त आत्मविज्ञान का तुम खण्डन नहीं कर सकते, इसलिए मेरे वचनों के अनुसार तुम स्वयं आत्मा को अपने अनुभव पर आरूढ़ करो और दर्प छोड़कर शान्त हो जाओ ॥ ११ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में वेतालप्रश्नभेद नामक कुसुमलता का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

७३

वसिष्ठ उवाच

इति राजमुखाच्छ्रुत्वा वेतालः शान्तिमाययौ ।
भावितात्मतया तत्र विचारोचितया धिया ॥ १ ॥
उपशान्तमना भूत्वा मत्वैकान्तमनिन्दितम् ।
बभूवाऽविचलध्यानी विस्मृत्य विषमां क्षुधाम् ॥ २ ॥
एतद्राम ! मयोक्तं ते वेतालप्रश्नजालकम् ।
एवं क्रमेण चिदणौ तेनेदं संस्थितं जगत् ॥ ३ ॥
चिदणोः कोशगं विश्वं विचारेण विलीयते ।
कायो वेतालकस्येव शिष्यते यत्पदं तु तत् ॥ ४ ॥
संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनाऽन्तरात्मना ।
स्वभावापतितं कुर्वन्निरिच्छन् तिष्ठ शान्तधीः ॥ ५ ॥
आकाशविशदं कृत्वा मनसैव मनो मुने ! ।
तिष्ठैकशमशान्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६ ॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ।
राज्ञो भगीरथस्येव दुःसाध्यमपि सिद्ध्यति ॥ ७ ॥

७३

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—राजा के मुख से इन प्रश्नों का समाधान सुनकर वेताल शान्त हो गया, क्योंकि विचारदक्ष बुद्धि से उसने अनुमान कर लिया कि राजा में तत्त्वज्ञान विद्यमान है ॥ १ ॥

भद्र, मनोविकारों से निर्मुक्त हो अनिन्दित आत्मा का मननकर और विषयक्षुधा भूलकर वह निश्चल समाधि में निरत हो गया ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी ! आपको मैंने इन वेताल प्रश्नों को राजा द्वारा वर्णित क्रम से ही चिद्रूपी अणु में यह समस्त जगत् विद्यमान है ॥ ३ ॥

चिद्रूपी अणु के एक कोश में अवस्थित यह विश्व विचार के द्वारा वैसे ही विलीन हो जाता है जैसे बालक द्वारा भ्रान्ति से कल्पित वेताल शरीर विलीन हो जाता है और जो परमार्थभूत ब्रह्मतत्त्व पद बच जाता है ॥ ४ ॥

अविचल अन्तरात्मा से अतिरिक्त विषयों की ओर चित्त को हटा कर परमात्मा में प्रतिष्ठित कर शान्त बुद्धि आप सर्वविध इच्छाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हो जायँ ॥५॥

हे मननशील ! मन से ही मन को आकाश के समान विशद बना कर वस्तु में समस्त वृत्तियों का लयकर उपरत चित्त और सर्वत्र ब्रह्मदर्शन से युक्त होकर स्थित हो जायँ ॥ ६ ॥

मूढ़ता से शून्य निश्चल बुद्धि होकर आप स्थित रहें। देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त अर्थ से सन्तुष्ट रहने वाले प्रयत्नशील पुरुष के लिए, भगीरथ राजा की तरह दुःसाध्य अर्थ भी प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् शरीर की रक्षा के लिए अपने पूर्व कर्म के अनुसार जो भी कुछ प्राप्त हो जाय, उससे शरीर की रक्षा मात्र करनी चाहिए और उसी प्राप्त अर्थ में सदा सन्तोष करना चाहिए ॥ ७ ॥

सम्पूर्णशान्तमनसः परितृप्तवृत्ते-
र्नित्यं समे सुखमयात्मनि तिष्ठतोऽन्तः ।
सिद्ध्यन्ति दुर्लभतरा अपि वाञ्छितार्था
गङ्गावतार इव सागरखातवस्तु ॥ ८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे वेतालाख्यानं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

पूर्ण रूप से शान्त मन जिसकी पर्याप्त रूप से वृत्ति आनन्दघन स्वरूप सम ब्रह्म में निरन्तर निष्ठा रहने पर उस महापुरुष को अन्त में दुर्लभतर भी अभीष्ट अर्थ वैसे ही सिद्ध होते हैं, जैसे शान्त्यादिगुण विशिष्ट भगीरथ को सगर पुत्रों के लिए और समुद्र के लिए सञ्जीवन-मणिप्राय गङ्गावतरण रूप अत्यन्त दुर्लभ अर्थ सिद्ध हुआ ॥ ८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में वेतालाख्यान नामक कुसुमलता का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

७४

श्रीराम उवाच

यथा चित्तचमत्कृत्या राज्ञो गङ्गावतारणम् ।
भगीरथस्य सम्पन्नं तन्मे कथय भो प्रभो ! ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

आसीद्भगीरथो नाम राजा परमधार्मिकः ।
भुवः समुद्रयुक्ताया मण्डलीतिलकोपमः ॥ २ ॥
सङ्कल्पानन्तरं प्राप्ता यथाभिमतमर्थिनः ।
चन्द्रप्रसन्नवदनादस्माच्चिन्तामणेरिव ॥ ३ ॥
साधूनां यो व्यवस्थार्थं धनान्यविरतं ददौ ।
तृणमात्रमुपादत्ते क्वचिच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ४ ॥
वज्रसारमिव प्रोतमुज्ज्वलन्नेमि योऽभिनत् ।
अधोमणिरयोयन्त्रं सर्वदुर्जनचेष्टितम् ॥ ५ ॥
अधूमवह्निदेहश्रीः श्रान्तोऽपि दैन्यमप्यलम् ।
तमोऽहरन्नृणां नैशं द्युमणिर्वेश्मनामिव ॥ ६ ॥
किरन्नग्निकणासारमभितः स्वप्रतापजम् ।
मध्याह्नसूर्यकान्ताग्निरिव ज्वलति योऽरिषु ॥ ७ ॥

७४

श्रीरामजी ने कहा—हे प्रभो ! राजा भगीरथ को चित्त की पूर्णतादि रूप चमत्कृति से गङ्गावतरण रूप दुःसाध्य अर्थ भी जिस तरह सिद्ध हुआ वह मुझ से कहिए ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—चारों समुद्रों से युक्ति पृथिवी का अत्यन्त धार्मिक तिलक के समान एक भगीरथ नाम का राजा अपनी कोशल मण्डली में था ॥ २ ॥

चन्द्रमा की तरह प्रसन्न मुखवाले, चिन्तामणि के सदृश अभीष्ट अर्थों को प्रदाता इस राजा से याचक गण अपने सङ्कल्प के उत्तर काल में समीप गमन, शब्दोच्चारण आदि परिश्रम के बिना अभीष्ट अर्थ प्राप्त कर लेते थे ॥ ३ ॥

यह साधुओं की रक्षा के लिए निरन्तर धन देता था, आयस्थानों में से अपने धर्म के अनुसार प्राप्त तृण को भी लेता था। वह अर्थियों के लिए तो कामधेनु के समान था ॥ ४ ॥

वज्र के समान कठिन पदार्थों को छेदन करने वाली ऊपर की मणि लोहे में बँधी दूसरी नीचे की मणि को—अपनी कान्ति से यन्त्रचक्रनेमि को चमकाती हुई—छेद कर तागे में गूथने के योग्य जैसे बना देती है, वैसे ही राजा भगीरथ ने अत्यन्त बलशाली भी सब दुर्जनों के देशों पर आक्रमण कर उनके मण्डलों को अपने प्रताप से उज्ज्वल एवं रथनेमि से चिह्नित बनाते हुए उनके शस्त्रास्त्रों को छीन कर उनके पैरों बेड़ी पहनाकर उनकी काली करतूतों को एक तरह से नष्ट कर उन्हें गुण युक्त बनाया था ॥५॥

जैसे रात की अन्धकार रूपी दरिद्रता का सूर्य धारण करता है वैसे ही धूम्र रहित अग्नि के समान शरीर की कान्ति से युक्त वह राजा प्रजाओं की रक्षा के लिए रात-दिन चारों ओर खूब घूमने-फिरने से स्वयं थका हुआ भी मनुष्यों के अधर्म में प्रवृत्ति की हेतुभूत घर की अन्धकार स्वरूप दरिद्रता का पूर्ण रूप से अपहरण करता था ॥६ ॥

जैसे मध्याह्न काल में सूर्यकान्तमणि उत्पन्न अग्नि तृणादि के ऊपर प्रज्ज्वलित रहती है वैसे ही अपने प्रताप से जनित अग्नि किरणों की चारों ओर घनघोर वृष्टि कर वह शत्रुओं के ऊपर प्रज्वलित रहती है ॥ ७ ॥

मृदुशीतलसंस्पर्शो यः समाह्लादयन्मनः ।
सुज्ञानां द्रवति स्निग्धस्येन्दोरिन्दुमणिर्यथा ॥ ८ ॥
जगद्यज्ञोपवीतस्य स्वर्गपातालवाहिनः ।
गङ्गावाहस्य येनाऽस्यां तृतीयः पूरितो गुणः ॥ ९ ॥
अगस्त्यशोषितोम्भोधिर्गङ्गापूरेण पूरितः ।
येन दुष्पूरभूतोऽपि महासार्थोऽर्थिनामिव ॥ १० ॥
गङ्गासोपानपद्धत्या येन पातालवासिनः ।
योजिता ब्रह्मणो लोके बान्धवा लोकबन्धुना ॥ ११ ॥
ब्रह्माणं शङ्करं जह्नुं तपसाऽऽराधयंश्च यः ।
भूयो भूयो ययौ खेदमशून्याध्यवसायिनः ॥ १२ ॥
यौवने वर्तमानस्य तस्य भूमिपतेरपि ।
प्रविचारयतो लोकयात्रां पर्याकुलामिमाम् ॥ १३ ॥
सुविरागचमत्कारविचारकणिकोदभूत् ।
वयस्यपि च तारुण्ये दैवाद्वल्ली मराविव ॥ १४ ॥

जैसे स्निग्ध चन्द्रमा की सन्निधि में चन्द्रकान्तमणि पिघल जाती है वैसे ही मृदु और शीतल स्पर्श वाला वह ब्रह्मतत्त्वज्ञानियों की सन्निधि में उनके चित्त को आह्लादित करता हुआ पिघल जाता था ॥ ८ ॥

उसने स्वर्ग और पाताल में बहने वाले गङ्गा के प्रवाह रूपी जगत् के यज्ञोपवीत का तीसरा तन्तु इस पृथिवी पर गङ्गा के अवतारण से पूरा किया ॥ ९ ॥

जैसे सब दिशाओं में एक छोर से दूसरे छोर तक भटक रहे दुष्पूरभूत भी याचकों के समूह को धन से पूरा किया वैसे ही उसने अगस्त्य मुनि से शोषित सागर को गङ्गा के प्रवाह से उस तरह पूरा किया ॥ १० ॥

संसार के प्राणियों के द्रोही तथा ब्रह्मशाप से भस्मीभूत होने के कारण अधोगति को प्राप्त अपने भाइयों को उस लोकबन्धु ने गङ्गारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोक में पहुँचाया ॥ ११ ॥

अपनी तपस्या से ब्रह्मा, शङ्कर और जह्नु को प्रसन्न रख वह अविच्छिन्न दृढ़ निश्चय से युक्त अपने मन से बार-बार क्लेश को प्राप्त किया ॥ १२ ॥

युवावस्था में वर्तमान आप के ही समान भयङ्कर इस लोकयात्रा का खूब विचार कर रहे उस राजा को युवावस्था में ही, अचानक मरुस्थल में लता की तरह उत्तम वैराग्य रूपी चमत्कार से परिपूर्ण विचार की कणिका उत्पन्न हुई ॥ १३, १४ ॥

वह राजा एकान्त में असमञ्जस में पड़कर व्याकुल होकर के इस संसार-यात्रा का प्रतिदिन विचार करने

एकान्ते चिन्तयामास महीपतिरसाविति ।
जगद्यात्रामिमां नित्यमसमञ्जसमाकुलम् ॥ १५ ॥
पुनर्दिनं पुनः श्यामा दानादानशतं पुनः ।
तदेव भुक्तविरसं लक्ष्यते कर्म कुर्वताम् ॥ १६ ॥
येन प्राप्तेन लोकेऽस्मिन्न प्राप्यमवशिष्यते ।
तत्कृतं सुकृतं मन्ये शेषं कर्म विषूचिका ॥ १७ ॥
पुनः पुनः पर्युषितं कर्म कुर्वन्न लज्जते ।
मूढबुद्धिरबुद्धिस्तु कः कुर्यात् किल बालवत् ॥ १८ ॥
अथैकदोद्विग्नमनाः कदाचित्त्रितलं गुरुम् ।
एकान्तं संसृतेर्भीतः समपृच्छद्भगीरथः ॥ १९ ॥

भगीरथ उवाच

अन्तःशून्यासु सुचिरं भ्रमत्संसारवृत्तिषु ।
अरण्यानीषु चैतासु भृशं खिन्ना वयं विभो ! ॥ २० ॥
जरामरणमोहादिरूपाणां भवकारिणाम् ।
भगवन् ! सर्वदुःखानां कथमन्तः प्रजायते ॥ २१ ॥

लगा— ॥ १५ ॥

फिर दिन और फिर वही रात, फिर वही सैकड़ों दान देना और लेना तथा सभी प्राणियों का वही मुक्त और नीरस कर्म दिखाई पड़ता है जिसे वे पुनः पुनः करते हैं; कोई अपूर्व कर्म नहीं दिखाई पड़ता, जिसका परम पुरुषार्थ फल हो ॥ १६ ॥

इस संसार में जिसके प्राप्त हो जाने से दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ शेष नहीं रहता, मैं उसी कर्म को सुकृत समझता हूँ। अवशेष कर्म तो विसूचिका अर्थात् फल प्राप्ति के साधन भूत किये गये कर्मों का फल विसूचिका की तरह अशुद्धि से ग्रस्त दुःख ही है ॥ १७ ॥

पुनः पुनः पर्युषित कर्म कर रहा मूढबुद्धि प्राणि लज्जित नहीं होता। बुद्धिशून्य कोई प्राणी तो अवश्य ही बालक की तरह बार-बार एक ही कर्म करता रहेगा ॥ १८ ॥

अनन्त संसार से अत्यन्त डरे हुए उद्विग्न मन एक दिन राजा भगीरथ ने अपने गुरु तिलक से पूछा ॥ १९ ॥

भगीरथ ने कहा—हे विभो ! जीवों के सारहीन राग, द्वेष आदि से युक्त सांसारिक व्यवहारों में सदा उन व्यवहारों के फलभूत इन स्वर्ग-नरक-मनुष्यादि स्वरूप बड़े-बड़े जङ्गलों में भटक रहे हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं ॥ २० ॥

हे भगवन् ! संसार में फँसने वाले जरा-मरण-मोहादि रूप सब दुःखों का अन्त कैसे होता है ? ॥ २१ ॥

त्रितल उवाच

चिरसाम्यात्मनोत्थेन निर्विभागविलासिना ।
राजन् ! ज्ञेयावबोधेन पूर्णेन भरितात्मना ॥ २२ ॥
क्षीयन्ते सर्वदुःखानि त्रुटयन्ति ग्रन्थयोऽभितः ।
संशयाः समतां यान्ति सर्वकर्माणि चाऽनघ ! ॥ २३ ॥
ज्ञेयं विदुरथाऽऽत्मानं संशुद्धं ज्ञप्तिरूपिणम् ।
स च सर्वगतो नित्यं नाऽस्तमेति न चोदयम् ॥ २४ ॥

भगीरथ उवाच

चिन्मात्रं निर्गुणं शान्तमस्ति निर्मलमच्युतम् ।
देहादि नेतरत्किञ्चिदिति वेद्मि मुनीश्वर ! ॥ २५ ॥
किं तत्र प्रतिपत्तिर्मे स्फुटतामेति नेतरा ।
एतावन्मात्रसंवित्तिः स्यामहं भगवन् कथम् ॥ २६ ॥

त्रितलने कहा—हे पापशून्य राजन् ! साधन चतुष्टयसम्पन्न श्रवण, मनन आदि उपायों के द्वारा चिर काल से अभ्यस्त विक्षेप और वैषम्य से शून्य समाधि से तथा अनादि सिद्ध ब्रह्माकारवृत्ति से आविर्भूत विशेष रहित स्फुरित अखण्ड और व्याप्त प्रत्यक् तत्त्व के अवबोध से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, चारों ओर से ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, सब संशय तथा सब कर्म सम हो जाते हैं ॥ २२, २३ ॥

अनन्तर हे राजन् ! तत्त्वज्ञानियों ने शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही ज्ञेय बतलाया है और वह आत्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है। न तो वह अस्त होता है और न उदय को ही प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

भगीरथ ने कहा—हे मुनीश्वर ! यह तो मैं भलीभाँति जानता हूँ कि चिन्मात्र, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत आत्मा है तथा देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्यापर्यन्त अन्य कुछ भी आत्मा नहीं है ॥ २५ ॥

किन्तु हे भगवन् ! सत् और असत् के विवेकज्ञान के मध्य में पहली सदात्मबोधरूपा (अर्थात् सत्स्वरूप आत्मा के बोध में जो मेरा ज्ञान है वह हस्तगत अमलक की (आवर्त) तरह बिलकुल स्पष्ट नहीं है, अर्थात् स्थिर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं है। इसमें क्या कारण है ? मैं किस उपाय से सम्पूर्ण विक्षेपों की शान्ति से युक्त केवल चिन्मात्रानुसन्धानमय होऊँ ? उस उपाय को बतलाइये ॥ २६ ॥

राज्यादि में अभिमान होने से तत्-तत् विषयों में चित्त के बराबर दौड़ते रहने के कारण भगीरथ को विक्षेप होता है, इसलिए अभिमान आदि के प्रबल होने से ही उन्हें स्पष्ट आत्मज्ञान नहीं हो पाता, यह निश्चय कर के भगीरथ के गुरु त्रितल जी महाराज गीतोक्त अमानित्वादि साधनों का उपदेश देते हैं—'ज्ञानेन' इत्यादि से।

त्रितल उवाच

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वमेति चेतो हृदम्बरे ।
ततः सर्ववपुर्भूत्वा भूयो जीवो न जायते ॥ २७ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ २८ ॥
आत्मनोऽनन्ययोगेन तद्भावनमनारतम् ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ २९ ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं तदतोऽन्यथा ॥ ३० ॥
रागद्वेषक्षयाकारं संसारव्याधिभेषजम् ।
अहंभावोपशान्तौ तु राजन् ! ज्ञानमवाप्यते ॥ ३१ ॥

श्रीत्रितल ने कहा—हृदयाकाश में यह चित्त अमानित्वादि ज्ञान से ज्ञेय में स्थिर हो जाता है। उसके अनन्तर पूर्णस्वभाव होकर यह जीव फिर उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् पूर्णस्वभाव से च्युत नहीं होता ॥ २७ ॥

विषयों में आसक्ति का अभाव; पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि विषयों में ममता का अभाव तथा इष्ट या अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति में निरन्तर हर्ष और विषाद का अभाव और समचित्तता हो जाती है ॥ २८ ॥

अनन्ययोग से यानी अभेद भाव से (आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मातिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकार की अभेदभावना से) अविच्छिन्न आत्मा में निरन्तर ब्रह्मभावना, पवित्र निर्जन देश का सेवन, पामर अज्ञानियों की सभा में अनास्था तत्त्वज्ञान के साधन हैं ॥ २९ ॥

आत्मज्ञान के साधन वेदान्तशास्त्र में तत्परता, तत्त्वज्ञान का फलभूत जो मोक्षरूप अर्थ है उसकी सिद्धि के लिए प्रक्रिया का निरन्तर अनुसाधन, ये सब तत्त्वज्ञान के साधन होने से ज्ञानरूप कहे गये हैं। इनसे भिन्न विषयज्ञानसाधन आत्मज्ञान के उत्पादक न होने के कारण अज्ञान कहे गये हैं ॥ ३० ॥

हे राजन् ! अहंभाव की शान्ति हो जाने पर ही रागद्वेष का विनाश कर देनेवाला तथा संसाररूपी व्याधि का भेषज आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञान के जितने साधन हैं, उन सबकी प्राप्ति में मूल अहन्ता की शान्ति ही है। यदि अहंभाव बना रहे तो कोई भी पुरुष अमानित्व आदि साधनों की प्राप्ति नहीं कर सकता है ॥ ३१ ॥

भगीरथ उवाच

शरीरेऽस्मिंश्चिरारूढो गिरौ तरुरिव स्वके ।
अहंभावो महाभाग ! वद मे त्यज्यते कथम् ॥ ३२ ॥

त्रितल उवाच

पौरुषेण प्रयत्नेन त्यक्त्वा भोगौघभावनाम् ।
गत्वा विकसितां सत्तामहङ्कारो विलीयते ॥ ३३ ॥
यन्त्रणापञ्जरं यावद्भग्नं लज्जादि नाऽखिलम् ।
अकिञ्चनत्वशेषेण स्फुटा तावदहङ्कृतिः ॥ ३४ ॥
सर्वमेतद्धिया त्यक्त्वा यदि तिष्ठसि निश्चलः ।
तदहङ्कारविलये त्वमेव परमं पदम् ॥ ३५ ॥
शान्ताशेषविशेषणो विगतभीः संत्यक्तसर्वैषणो
गत्वा नूनमकिञ्चनत्वमरिषु त्यक्त्वा समग्रां श्रियम् ।
शान्ताहङ्कृतिरस्तदेहकलनस्तेष्वेव भिक्षामटन्
मामप्युज्झितवानलं यदि भवस्युच्चैस्त्वमुच्चैरसि॥३६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

भगीरथ ने कहा—हे महाभाग ! पर्वत में दीर्घकाल से सुदृढ़ वृक्ष की तरह अपने शरीर में दीर्घकाल से सुदृढ़ अहंभाव मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ॥ ३२ ॥

त्रितल ने कहा—ज्ञानाभ्यासरूपी पौरुष प्रयत्न से विविध तुच्छ लौकिक विषयों की भावना का पहले परित्याग कर, फिर विषयाभिलाषा का अभाव होने से परिस्फुट शुद्ध आत्माकारता की प्राप्ति कर व्यवस्थित पुरुष में अहंभाव विलीन हो जाता है ॥ ३३ ॥

'राज्य का परित्याग कर देने से जनता मेरा आदर नहीं करेगी, शत्रु लोग हँसेंगे, सबका अभिलषित पूर्ण करने वाला मैं लोगों से कैसे भिक्षा मांगूँगा, खराब अन्न, पान आदि का व्यवहार कैसे जीऊँगा' इत्यादि चिन्ता से जनित लज्जा, अभिमान आदि से बना घर में नियन्त्रणा-रूपी पिजँड़ा जबतक सर्वत्याग से पूरी तरह टूट-फूट नहीं जाता, तब तक यह अहङ्कार विकसित रहती है ॥३४॥

विवेकबुद्धि से यदि उन सबका परित्यागकर तुम निश्चल होकर स्थित रहोगे, तो अहङ्कार का विलय हो जानेपर तुमहीं स्वयं परमपदस्वरूप=ब्रह्मरूप में जाओगे ॥ ३५ ॥

छत्र, चामर आदि समस्त राजचिह्न रहित लज्जा के भय से निर्मुक्त समस्त धनादि की इच्छाओं का परित्याग अकिञ्चन भाव को प्राप्तकर और शत्रुओं के लिए ही सर्वविध ऐश्वर्य का परित्यागकर अहम्भाव से निवृत्त हो गये हो, तुम अपने देह के अभिमान से रहित हो उन सब शत्रुओं में ही भिक्षार्थ अटन कर रहे हो, परिपूर्णभाव की प्राप्ति के कारण मुझ गुरु को भी प्रश्नों से मुक्तकर दे रहे हो, तो समस्त मुमुक्षुगुणों से ऊँचे होकर सर्वोपरि ब्रह्म स्वरूप मुक्त ही हो ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भगीरथोपदेश नामक कुसुमलता का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७४ ॥

७५

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्य गुरोर्वक्त्रादित्याकर्ण्य भगीरथः ।
मनस्याहितकर्तव्यः स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥ १ ॥
ततः कतिपयेष्वेव वासरेषु गतेषु सः ।
अग्निष्टोममखं चक्रे सर्वत्यागैकसिद्धये ॥ २ ॥
गोभूम्यश्वहिरण्यादि ददौ धनमशेषतः ।
द्विजेभ्यो निजबन्धुभ्यो गुण्यगुण्यविचारयन् ॥ ३ ॥
दिवसत्रयमात्रेण सर्वमेव परित्यजन् ।
असुमात्रावशेषोऽसावासीद्राजा भगीरथः ॥ ४ ॥

७५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर उन गुरुजी के मुख से यह उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मन में कर्तव्य निश्चित कर अपने कार्य में तत्पर हो गये ॥ १ ॥

अनन्तर कुछ ही दिन के व्यतीत हो जानेपर राजा भगीरथ ने एकमात्र सर्वत्याग की सिद्धि के लिए अग्निष्टोम यज्ञ का अर्थात् विश्वजित् तक के सभी सोमसंस्थाओं का अनुष्ठान किया ॥ २ ॥

बिलम्ब हो जाने के भय से उससे गुणी और अगुणी का कुछ विचार न कर ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओं को गौ, पृथ्वी, घोड़े, सुवर्ण आदि समस्त धन दे दिये ॥ ३ ॥

तीन दिनों में ही सब कुछ दे डालनेवाले उस भगीरथ राजा के पास प्राणमात्र ही शेष बच गये थे ॥ ४ ॥

अथ सर्वार्थरिक्तं तत्खिन्नप्रकृतिपौरकम् ।
सीमान्तिने तृणमिव राज्यं स्वमरये ददौ ॥ ५ ॥
आक्रान्ते द्विषता राज्ये मुनिः सद्मनि मण्डले ।
अधोवासोवशेषोऽसौ निर्जगाम स्वमण्डलात् ॥ ६ ॥
यत्र न ज्ञायते नाम्ना यत्र न ज्ञायते मुखात् ।
यत्र ग्रामेष्वरण्येषु दूरेषूवास धैर्यवान् ॥ ७ ॥
इत्यल्पेनैव कालेन प्रशान्तसकलैषणः ।
परमेण शमेनाऽसावाप विश्रान्तिमात्मनि ॥ ८ ॥
भ्रमन् द्वीपानि भूपीठे कदाचित्कालयोगतः ।
अवशः शत्रुणाऽऽक्रान्तं स्वमेव प्राप तत्पुरम् ॥ ९ ॥
नानागारांश्च तत्राऽसौ प्रवाहपतितांश्च तान् ।
पौरांश्च मन्त्रिणश्चैव शमी भिक्षामयाचत ॥ १० ॥
विविदुस्ते नृपं पौरा मन्त्रिणश्च भगीरथम् ।
पूजयामासुरथ तं सविषादाः सपर्यया ॥ ११ ॥

अनन्तर उसने समस्त अर्थों से रहित तथा खिन्न मन्त्री, नागरिक, प्रजा आदि से युक्त अपना राज्य सीमा की समाप्ति में स्थित पास के अपने शत्रु को तृण की तरह दे दिया ॥ ५ ॥

महल, मण्डल और राज्यपर शत्रु के अधिकार करने पर मननशील यह राजा एकमात्र कौपीन धारण कर अपने मण्डल से निकल गया ॥ ६ ॥

धैर्यवान् उस राजाने ऐसे दूर के अरण्य और गाँवों में निवास किया जहाँपर देख लेनेपर भी जनता यह नहीं जानती थी कि यह भगीरथ नामवाला राजा है, और न जनता के मुख से वह राजा अपना नाम ही सुनता था ॥ ७ ॥

इस प्रकार राजा ने थोड़े ही समय में समस्त एषणाओं से निर्मुक्त होकर उत्तम शमता के कारण आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त करली ॥ ८ ॥

इस भूपीठ के अनेक द्वीपों पर चक्कर लगा रहा वह किसी समय काल की महिमा से परवश होकर शत्रु द्वारा आक्रान्त उस अपने ही नगर में आया ॥ ९ ॥

वहाँ जितेन्द्रिय राजा ने क्रम प्राप्त उन अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियों से भिक्षा की याचना की ॥ १० ॥

उन नागरिकों और मन्त्रियों ने राजा भगीरथ को जान लिया और उन्होंने विषादयुक्त होकर पूजन-सामग्री से विधिवत् उनकी पूजा की ॥ ११ ॥

हे प्रभो ! 'आप अपना राज्य ले लीजिये' इस प्रकार शत्रु के द्वारा प्रार्थना करनेपर भी उस समस्त राज्य का परित्याग करनेवाले मननशील राजा के जिसने भोजन के सिवा तृणमात्र का भी ग्रहण नहीं किया ॥ १२ ॥

प्रभो ! राज्यं गृहाणेति प्रार्थितोऽप्यरिणा मुनिः ।
नाऽऽदत्तेनादृताशेषस्तृणमप्यशनादृते ॥ १२ ॥
कतिचिद्दिवसांस्तत्र नीत्वाऽन्यत्र जगाम सः ।
भगीरथोऽयं हा कष्टमिति लोकेन शोचितः ॥ १३ ॥
अथाऽन्यत्रोपशान्तात्मा परिविश्रान्तधीः सुखी ।
आत्मारामं कदाचित्तु स प्राप त्रितलं गुरुम् ॥ १४ ॥
स्वमेव स्वागतं कृत्वा तेन सार्धं भगीरथः ।
कञ्चित्कालमुवासाऽद्रौ वने ग्रामे पुरे जने ॥ १५ ॥
समतामुपयातौ तौ गुरुशिष्यौ समौ स्थितौ ।
कलयामासतुः स्वस्थौ विनोदं देहधारणम् ॥ १६ ॥
किमयं धार्यते देहः किंवाऽनेनोज्झितेन नः ।
यथाक्रमं यथाचरं तिष्ठत्वेष यथास्थितम् ॥ १७ ॥
इति निश्चित्य तिष्ठन्तौ तौ वनाद्वनगामिनौ ।
अनानन्दं परानन्दं नाऽसुखं न च मध्यमम् ॥ १८ ॥

वहाँ पर कुछ दिन बिताकर वह अन्यत्र चला गया। लोगों ने उस समय क्या ये भगीरथ राजा हैं, ये ही हम लोगों को छोड़कर चले गये, अहो महान् कष्ट है, इस प्रकार उनके विषय में शोक किया ॥ १३ ॥

अनन्तर दूसरे स्थानों में विचरणशील शान्तचित्त, एकमात्र आत्मामय मन को कर के परम सुखी उस राजा ने किसी समय अपने आत्मारामी त्रितल नामक गुरु को प्राप्त किया ॥ १४ ॥

प्रणाम आदि से अपने गुरु का समर्चन कर उनके साथ में कुछ समय तक पर्वत, वन, गाँव, नगर में अनेक सत्पुरुषों के साथ निवास किया ॥ १५ ॥

ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए वे दोनों गुरु-शिष्य एकरूप से स्थित और अपने स्वरूप में स्थित वे दोनों 'देहधारण एक कौतुकमात्र है' इस प्रकार विचार करते थे ॥ १६ ॥

इस शरीर के धारण करने में हम लोगों की कौन-सी भलाई है अथवा यदि यह परित्यक्त हो जाय, तो इससे हम लोगों की कौन-सी हानि है ? यह शास्त्रोक्त क्रम और वृद्धप्राप्त आचार का अनुसरण कर भले ही यथावस्थित रहे ॥ १७ ॥

यों विचारकर अवस्थित हुए वे एक वन से दूसरे वन में जा रहे गुरु-शिष्य विषयानन्दों से निर्मुक्त दुःखरहित तथा सुखदुःख की मध्यवर्ती अवस्था से भिन्न ऐसे परानन्द को प्राप्त कर रहे थे ॥ १८ ॥

धनानि वाजिविभवाद्यैश्वर्यं चाऽष्टधोदितम् ।
सिद्धैरर्पितं तुष्टैर्मेनाते जर्जरं तृणम् ॥ १९ ॥
स्वकर्मणैव देहोऽयं यावत्सत्त्वमनिच्छया ।
धारणीय इति स्वेन कर्मणैवाऽथ तस्थतुः ॥ २० ॥
अभिननन्दतुरागतमुत्तमौ
निजसमाचरणक्रमजं मुनी ।
सुखमसौख्यमभीप्सितवर्जितौ
समसमेऽतिसमौ शमिनौ स्वतः ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भगीरथनिर्वाणं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

वे दोनों उत्तम, धन घोड़े आदि वैभवों को तथा चरितों से सन्तुष्ट ब्रह्मा आदि सिद्धों द्वारा दिये गये अणिमादि आठ तरह के ऐश्वर्यों को जंजर तृण के सदृश तुच्छ मानते थे ॥ १९ ॥

प्रारब्ध कर्म के अनुसार आयु रहने तक अनिच्छा से भी यह धारण करना चाहिए, ऐसा निश्चय कर वे अपने कर्म में स्थित थे ॥ २० ॥

वे उत्तम दोनों मुनि अपने पूर्व के आचरणक्रम से उत्पन्न यथासमय प्राप्त सुख और दुःख दोनों का अभिनन्दन करते थे। वे सभी इच्छाओं से रहित थे और सम से भी समरूप ब्रह्म में एकरसस्वरूप होकर ब्रह्मस्वभाव से ही परम शान्ति से समन्वित हो गये थे ॥ २१ ।

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भगीरथनिर्वाण नामक कुसुमलता का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

७६

वसिष्ठ उवाच

अथैकदा पुरे श्रेष्ठे कस्मिंश्चिन्मण्डलान्तरे ।
अनपत्यं नृपं मृत्युरहन् मत्स्य इवाऽऽमिषम् ॥ १ ॥
तत्र प्रकृतयः खिन्ना नष्टदेशक्रमा नृपम् ।
अन्विष्यन्ति स्म संयुक्तं गुणलक्ष्म्या विशालया ॥ २ ॥
तं भगीरथमासाद्य स्थिरं भिक्षाचरं मुनिम् ।
परिज्ञाय समानीय सैन्ये चक्रुर्महीपतिम् ॥ ३ ॥
भगीरथः क्षणेनैव प्रावृषीवाऽम्बुना सरः ।
वलितः सेनया गुर्व्या झटित्याशिश्रिये गजम् ॥ ४ ॥
भगीरथो जगन्नाथो जयतीति जनारवैः ।
नीरन्ध्रतामुपाजग्मुर्गिरीन्द्राणां महागुहाः ॥ ५ ॥
तत्र तं पालयन्तं तद्राज्यं राजानमादृताः ।
आजग्मुः प्राक्प्रकृतयः प्राहुरित्थं नृपाधिपम् ॥ ६ ॥

प्रकृतय ऊचुः

राजन्नस्माकमधिपो यस्त्वया स पुरस्कृतः ।
मृत्युना विनिगीर्णोऽसौ मत्स्येनेवाऽऽमिषं मृदु ॥ ७ ॥

७६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जैसे क्षुद्र मत्स्य को महामत्स्य मार डालता है वैसे ही किसी एक अन्य मण्डल में विद्यमान किसी एक उत्तम नगर में पुत्ररहित राजा को मृत्यु ने मार डाला ॥ १ ॥

देश की पालन मर्यादा नष्ट हो जाने से ऐसे उस देश के उदासीन अमात्य-जन आदि प्रजावर्ग के पालन योग्य उदार गुण-लक्ष्मी से युक्त किसी एक सुन्दर राजा का अन्वेषण कर रहे थे ॥ २ ॥

वे आमात्यादि प्रकृतिवर्ग भिक्षाचरण में निरत स्थिर भगीरथ मुनि के पास आकर 'प्रजापालनयोग्य समस्त शुभ गुणों से यह समन्वित है' यह निश्चयकर वहाँपर आये हुए सैन्य में अभिषेककर उसे महीपति बना दिया ॥ ३ ॥

राजा भगीरथ भी बड़े सैन्य से वैसे ही परिवृत्त हो गये और तत्काल ही हाथीपर चढ़ गये जैसे वर्षाकाल में सरोवर क्षणभर में ही जल से परिवृत्त हो जाता है ॥ ४ ॥

जगत्-स्वामी महाराज भगीरथ की जय हो, जय हो, जनों के इस जयघोषों से पर्वतराजओं की बड़ी-बड़ी गुफाएँ व्याप्त हो गई ॥ ५ ॥

वहाँपर उस राज्य का परिपालन कर रहे राजा भगीरथ के पास आदर युक्त पहले के अयोध्यावासी मन्त्री पुरोहित आदि प्रकृतियाँ आईं और राजाधिराज से इस प्रकार कहने लगीं—अर्थात् उसी समय दैववश कोशल-राज्य का अपहरण करनेवाला राजा मर गया, इसलिए आयोध्यावासी जन भी भगीरथ के पास आकर प्रार्थना करने लगे ॥ ६ ॥

प्रकृतियों ने कहा—हे राजन् ! राज्य छोड़ते समय अपने शत्रु राजाको राज्य दान से पुरस्कृत किया था। वैसे ही उसे मृत्यु ने निगल लिया, जैसे कोमल छोटे मत्स्य को महामत्स्य निगल जाता है ॥ ७ ॥

तत्तत्पालयितुं राज्यं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
अप्रार्थितोपयातानां त्यागोऽर्थानां च नोचितः ॥ ८ ॥
वसिष्ठ उवाच
इति संप्रार्थितो राजा तदङ्गीकृत्य तद्वचः ।
सप्तसागरचिह्नायाः स बभूव भुवः पतिः ॥ ९ ॥
समः शान्तमना मौनी वीतरागो विमत्सरः ।
प्राप्तकार्यैककरणः स तिरोहितविस्मयः ॥ १० ॥
पातालतलनष्टानां सागराकारकारिणाम् ।
पितामहानां गङ्गाम्बु शुश्रुवे तारणक्षमम् ॥ ११ ॥
तदा किल स्वर्गनदी वहति स्म न भूतले ।
पितॄणां भूतविख्योऽभूत्तेन गङ्गाजलाञ्जलिः ॥ १२ ॥
भगीरथेन च महीमवतारयितुं दिवः ।
गङ्गां गृहीतो नियमस्ततः प्रभृति भूभृता ॥ १३ ॥
ततो राज्यं परित्यज्य मन्त्रिणां भूपतिः शमी ।
तपसे कार्यकार्येहो जगाम विजनं वनम् ॥ १४ ॥
तत्र वर्षसहस्रैश्च समाराध्य पुनः पुनः ।
ब्रह्माणं शङ्करं जह्नुं भुवि गङ्गामयोजयत् ॥ १५ ॥
ततः प्रभृत्यमलतरङ्गभङ्गिनी
जगत्पतेः शशिविभृदङ्गसङ्गिनी ।
नभस्तलान्निपतति गां त्रिमार्गगा
महात्मनामिव बहुपुण्यसंततिः ॥ १६ ॥
स्फुरत्तरङ्गभङ्गिनी स्वफेनपुञ्जहासिनी
प्रसन्नपुण्यमञ्जरीयुतेव धर्मसन्ततिः ।
भगीरथे महीपतौ यशःप्रचारवीथिका
तदा हि सा त्रिमार्गगा मही तले बभूव ह ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
गङ्गावतरणं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस कारण ये अपने पूर्व राज्य की रक्षा करने के लिए आप दया करें बिना अभिलाषा के प्राप्त अर्थों का त्याग करना उचित नहीं है ॥ ८ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार प्रकृति वर्ग से भलीभाँति प्रार्थित राजा भगीरथ उनके वचन तथा उक्त राज्य को स्वीकार कर सात समुद्रों के चिह्नों से युक्त पृथिवी का राजा हुआ ॥ ९ ॥

वह सर्वत्र समभाव रखता था। उसके मन में शान्ति विराजमान थी। उसकी वाणी मित, हित और सत्य थी। उसकी समस्त विषयों से प्रीति हट गई थी। उसमें मत्सर का तो नाम-निशान नहीं था। प्राप्त कार्यों को एकमात्र कर डालना ही उसका स्वभाव था। बड़े-बड़े कौतुकपूर्ण अर्थों में उसे तत्त्वज्ञान के कारण कभी आश्चर्य बुद्धि होती ही नहीं थी ॥ १० ॥

अश्व का अन्वेषण करने के लिए भूमि खोदकर सागर के सदृश गर्त निर्माण जिनका स्वभाव था और जो कपिल के उद्दाम क्रोधाग्नि से पातालतल में भस्मीभूत अपने पितामहों का तारण करने में गङ्गाजल ही स्नान और जलाञ्जलि प्रदान द्वारा समर्थ है, प्राकृत जल नहीं उसने जनपरम्परा से इस प्रकार वचन सुना ॥ ११ ॥

उस समय इस भूतल पर गङ्गाजी नहीं बहती थीं। इसीलिए भगीरथ के द्वारा ही दूसरों के पितरों के लिए गङ्गाजल की अञ्जली देना प्रसिद्ध हो गया ॥ १२ ॥

उक्त जनश्रुति जिस दिन उसके कान में आई, उसी दिन से पृथिवीपालक राजा भगीरथ ने गङ्गाजी को स्वर्ग से पृथिवी पर लाने के लिए कठोर नियम धारण किया ॥ १३ ॥

अनन्तर भूतल पर गङ्गाजी को लाने के लिए कठोरतम उपाय का अवलम्बन करने के लिए सचेष्ट जितेन्द्रिय पृथिवीपति भगीरथ मन्त्रियों के सिर पर समस्त राज्य भार छोड़कर तप के लिए निर्जन अरण्य में चला गया ॥ १४ ॥

अरण्य में हजार वर्षतक ब्रह्माजी, शङ्करजी और जह्नु की बार-बार आराधना कर उसने इस पृथिवी तलपर गङ्गाजी का सम्बन्ध कराया अर्थात् गङ्गाजी को अवतीर्ण किया ॥ १५ ॥

तब से निर्मल तरङ्गमालाओं से रञ्जित, जगत्पति शशिभूषण शिवजी के मस्तक में सुशोभित तथा स्वर्गवासियों की बड़ी पुण्यसन्ततिरूपा यह पुण्यतोया त्रिपथगा गङ्गाजी आकाशतल से पृथिवीपर गिरती हैं ॥ १६ ॥

उसी समय से चञ्चल तरङ्गमालाओं से सुशोभित, अपने फेनपुञ्जरूप हास से युक्त, प्रसन्न पुण्यरूपा मञ्जरी से समन्वित तथा धर्म की सन्ततिस्वरूप यह त्रिमार्गगामिनी गङ्गा इस पृथिवीपर पृथिवीपति भगीरथ के लिए समुद्रपर्यन्त कीर्ति प्रसारणार्थ एकतरह की वीथिका ही बन गई हैं ॥ १७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
गङ्गावतरण नामक कुसुमलता का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७६ ॥

७७

वसिष्ठ उवाच

एतामवष्टभ्य दृशं भगीरथधिया धृताम् ।
समः स्वस्थो यथाप्राप्तं कार्यमाहर शान्तधीः ॥ १ ॥
इदं पूर्वं परित्यज्य क्रोडीकृत्य मनःखगम् ।
शान्तमात्मनि तिष्ठ त्वं शिखिध्वज इवाऽचलः ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

कोऽसौ शिखिध्वजो नाम कथं वा लब्धवान् पदम् ।
एतन्मे कथय ब्रह्मन् ! भूयो बोधविवृद्धये ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्वापरेऽभवतां पूर्वमिदानीं च भविष्यतः ।
तेनैव संनिवेशेन दम्पती स्निग्धतां गतौ ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

यत्पूर्वमासीद्भगवंस्तदिदानीं तथैव हि ।
भविष्यति किमर्थं वै वद मे वदतां वर ! ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

जगन्निर्माणनियतेरस्या ब्रह्मादिसंविदः ।
ईदृश्यवस्थितिर्नित्यमनिवार्यस्वभावजा ॥ ६ ॥
यदन्यद्बहुशो भूत्वा पुनर्भवति भूरिशः ।
अभूत्वैव भवत्यन्यः पुनश्च न भवत्यलम् ।
अन्यत्प्राक्संनिवेशाढ्यं सादृश्येन विवल्गति ॥ ७ ॥
सदृशा विषमाश्चैव यथा सरसि वीचयः ।
ता एवान्याश्च दृश्यन्ते व्यवस्थाः संसृतौ तथा ॥ ८ ॥
तस्माद्राजेव भूयोऽपि वक्ष्यमाणकथेश्वरः ।
भविष्यति महातेजास्तद्वृत्तान्तमिमं शृणु ॥ ९ ॥
द्वापरे पूर्वमभवदतीते सप्तमे मनौ ।
चतुर्युगे चतुर्थे तु सर्गेऽस्मिन्कुरुणां कुले ॥ १० ॥
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धस्य विन्ध्यस्याऽदूरसंस्थिते ।
मालवानां पुरे श्रीमाञ्छिखिध्वज इतीश्वरः ॥ ११ ॥

७७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—महाराज भगीरथ ने पीछे के राज्यकाल में जिस विचारपूर्ण बुद्धि से दृष्टि धारण की थी, उसी दृष्टि का अवलम्बन कर आप शम, स्वस्थ और प्रशान्तबुद्धि होकर प्रारब्धवश प्राप्त कार्यों का निर्वाह करें ॥ १ ॥

पहले इस अपने वैभव का परित्याग कर और मनरूप पक्षी का हृदय में निरोध कर अविचल शिखिध्वज की तरह आप शान्तिपूर्वक अपने स्वरूप में स्थित रहें ॥ २ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह शिखिध्वज कौन था और उसने परम पद कैसे प्राप्त किया ? ज्ञान बुद्धि के लिए उसका चरित्र फिर मुझसे कहिए ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—पहले कल्प में द्वापर में पति-पत्नी का एक जोड़ा था । अब इस अट्ठाईसवें चतुर्युग के अग्रिम द्वापर में उसी रूप का वही एक दूसरे के प्रति स्निग्ध प्रेम रखनेवाला फिर पति-पत्नी का दूसरा जोड़ा उत्पन्न होगा ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! पूर्व में जिस रूप का था, वह उसी रूप का फिर कैसे होगा ? हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! आप उसका कारण मुझसे कहें । अर्थात् भूत और भविष्य काल की वस्तुओं के सादृश्य में क्या हेतु है ? ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस जगत् के निर्माण में नियतिरूप ब्रह्मादि की सत्यसङ्कल्परूपा संविद् है, उसकी अनिवार्यस्वभावजनित ऐसी ही निरन्तर स्थिति है अर्थात् नियति का अनिवार्य स्वभाव ही उनके सादृश्य में कारण है ॥ ६ ॥

एक ही आम्र के वृक्ष में पहले अनेक फल उत्पन्न होकर फिर कालान्तर में उसी रूप के अनेक फल उत्पन्न होते हैं और उसी आम्र के स्कन्ध पर वट अभूतपूर्व ही उत्पन्न होता है । काट दिये जानेपर तो फिर वहां नहीं उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

ऐसी स्थिति में शिखिध्वज आदि की संसार में वैसी ही स्थिति है जैसे सरोवर में तरङ्ग सदृश, विसदृश एवं पूर्व के तरङ्ग अन्यरूप दिखाई पड़ते हैं ॥ ८ ॥

इसलिए भूतकालीन शिखिध्वज राजा के सदृश दूसरा महातेजस्वी राजा फिर भी होगा । कही जानेवाली कथा का वही नायक है । उसका यह वृत्तान्त आप सुनें ॥ ९ ॥

अतीत काल के साँतवें मनु की चतुर्युगी के द्वापर युग में कुरुवंश में इसी सृष्टि में शिखिध्वज नाम का राजा था ॥ १० ॥

जम्बुद्वीप में प्रसिद्ध विन्ध्याचल के समीप में स्थित मालव देश की उज्जैनी नगरी में वह ऐश्वर्यसम्पन्न शिखिध्वज नाम से प्रसिद्ध होकर समस्त देश का नियन्त्रण करता था ॥ ११ ॥

धैर्यौदार्यदशायुक्तः क्षमाशमदमान्वितः ।
शूरः शुभसमाचारो मौनी गुणगणाकरः ॥ १२ ॥
आहर्ता सर्वयज्ञानां जेता सर्वधनुष्मताम् ।
कर्ता सकलकार्याणां भर्ता पूर्ववपुर्भुवः ॥ १३ ॥
पेशलस्निग्धमधुरो विदग्धः प्रीतिसागरः ।
सुन्दरः शान्तसुभगः प्रतापी धर्मवत्सलः ॥ १४ ॥
वदिता विनयार्थानां दाता सकलसम्पदाम् ।
भोक्ता सत्सङ्गसहितः सुश्रोता सकलश्रुतेः ॥ १५ ॥
वेदाऽसौ माननाशून्यः स्त्रैणं तृणवदस्पृशन् ।
पितरि स्वर्गमापन्ने बाल एवोत्तमौजसा ॥ १६ ॥
कृत्वा षोडशवर्षाणि स्वयं दिग्विजयं वशी ।
नूनं साम्राज्यसम्पत्त्या भूमण्डलमयोजयत् ॥ १७ ॥
अतिष्ठद्विगताशङ्कं पालयन्धर्मतः प्रजाः ।
स धीमान्मन्त्रिभिः सार्धं यशसा शुक्लयन् दिशः ॥१८॥

वह धैर्य औदार्य आदि धर्मों से युक्त था, उसमें क्षमा, शम, दम, विद्यमान थे । वह वीर था, शुभ कर्मों के अनुष्ठान में निरन्तर लगा रहता था, आत्मश्लाघा आदि दोषों से रहित वह समस्त गुणगणों का आकर था ॥ १२ ॥

वह समस्त यज्ञों का निरन्तर अनुष्ठान करता था, उसने बड़े-बड़े धनुर्धारियों का दर्पदलन किया था, वापी, कूप तडाग आदि लोकोपयोगी अनेक शुभ कार्यों का निर्माण किया था और पूर्वरूप पृथ्वी का पालन करता था ॥१३॥

वह देखने में कोमल, सम्बन्ध में स्निग्ध और वाणी में मधुर, लोक और शास्त्र में निष्णात प्रेम का समुद्र था । वह सुन्दर, शान्त, भाग्यवान्, प्रतापी और धर्मवत्सल था ॥ १४ ॥

दूसरों के लिए विनय आदि शिक्षाप्रद वाक्यों का प्रयोग करता, अर्थियों को अभीप्सित समस्त अर्थसम्पत्तियाँ देता था । वह उत्तम अर्थों का भोक्ता, सत्संग से युक्त और समस्त वेद-शास्त्रों का उत्तम श्रोता था ॥ १५ ॥

शिखिध्वज सब कुछ जानता था, किन्तु उसमें विज्ञता का तनिक भी अभिमान नहीं था । उसने स्त्रीव्यसन आदि का तो तृणवत् त्याग कर दिया था ॥ १६ ॥

बाल्यकाल में ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे । पितृहीन तभी से अपने बाहुबल से जितेन्द्रिय उस शिखिध्वज ने सोलह वर्षतक स्वयं ही दिग्विजयकर अखिल भूमण्डल को अपनी साम्राज्यसम्पत्ति में परिणत कर दिया था ॥ १७ ॥

अनन्तर समस्त चोर आदि प्रजापीडक शत्रुओं की शङ्का से निर्मुक्त धर्म से प्रजा का पालक वह बुद्धिमान् शिखिध्वज मन्त्रियों के साथ अपने यश से दिशाओं को धवलित कर स्थित था ॥ १८ ॥

अथ गच्छत्सु वर्षेषु वसन्ते प्रोल्लसत्यलम् ।
पुष्पेषु जृम्भमाणेषु स्फुरत्सु शशिरश्मिषु ॥ १९ ॥
मञ्जरीजालदोलासु विटपान्तःपुरान्तरे ।
रजःकर्पूरधवले वलद्दलकपाटके ॥ २० ॥
आमोदविलसत्पुष्पगुलुच्छकवितानके ।
गायत्सु गहनेषूच्चैर्मिथुनेष्वलिनां मिथः ॥ २१ ॥
आवाति मधुरे वायौ शशिशीकरशीतले ।
कदलीकन्दलीकच्छतलपल्लवलासिनि ॥ २२ ॥
कान्तां प्रतिबभूवाऽस्य वसच्चेतः समुत्सुकम् ।
क्षीबं कुसुमसम्भारसौगन्ध्यमधुरासवैः ॥ २३ ॥
मनो नाऽन्यास्पदं चक्रे सवसन्तमिवोदितम् ।
उद्यानवनदोलासु लीलाकमलिनीषु च ॥ २४ ॥
कदा प्रणयिनीं मुग्धां हेमाब्जमुकुलस्तनीम् ।
करिष्ये कामिनीमङ्के पर्यङ्के कुङ्कुमाङ्किताम् ॥ २५ ॥

अनन्तर उसके बाल्यकाल के वर्ष समाप्त हो गये और यौवनकाल के वर्ष प्रारम्भ हो गये । इधर वसन्त ऋतु ने भी अपना स्वरूप भली-भाँति विकसित किया । वन-उपवन में फूल खिल रहे थे, आकाश में चांदनी खिल रही थी । वृक्षों की शाखारूप अन्तःपुर के भीतर रजरूपी कर्पूर से धवलित; संवरणशील पत्ररूप कपाटों से युक्त तथा आमोद से विलसित पुष्प-गुच्छों के चँदुए से युक्त था—विद्यमान मञ्जरियों के हिंडोलों पर भ्रमरों के जोड़े मिलकर गहनतम गीत गा रहे थे । शशी और शीकरों से शीतल तथा कदली और कदलियों के कच्छतल एवं पल्लवों पर नृत्य कर रहा मधुर वायु चारों ओर बह रहा था । ऐसे समय में इस शिखिध्वज का किसी एक समस्त रमणीगुणोपेत पूर्वश्रुत चूडाल में अनुरक्त चित्त कमनीय कामिनी के प्रति उत्कंठित हो उठा । वसन्तयुक्त वन के सदृश कुसुमसमूहों के सौगन्ध्यरूप मधुर आसवों से मत्त उसका रागपल्लवित मन रमणी को छोड़कर दूसरे किसी भी विषय में नहीं लगता था । उसकी उत्सुकता इतनी बढ़ गई कि रात-दिन यह चिन्तन करता था—हेमकमलों के मुकुलों के सदृश स्तनवाली मुग्ध उस प्रणयिनी कामिनी को मैं कब लीलार्थ निर्मित सरोवरों में, उद्यान-वन के हिंडोलों पर और पर्यङ्क पर अपने अङ्क में उसे कुङ्कुमाङ्कित करूँगा ॥ १९-२५ ॥

कदाकमलवल्लीनां दोलास्वलिरिवाऽलिनीम् ।
आलोलां तां निवेक्ष्यामि बालां भुजलतानुगाम् ।।२६ ।।
मृणालहारकुन्देन्दुवृन्दवल्लचभिलाषिणी ।
मत्कृते मदनातप्ता कदा स्यादिन्दुसुन्दरी ।। २७ ।।
इति चिन्तापरो भूत्वा कुसुमावचयोन्मुखः ।
विजहार वनान्तेषु कुसुमोपवनेषु च ।। २८ ।।
वनोपवनलेखासु लीलाकमलिनीषु च ।
वल्लीवलयगेहेषु विविधोद्यानभूमिषु ।। २९ ।।
वनोपवनविन्यासवर्णनावलितासु च ।
श्रृङ्गाररसगर्भासु कथास्वरमतोन्मनाः ।। ३० ।।
हृदि हारलसत्कायविलोलालकवल्लरीः ।
कुमारीः पूजयामास सुवर्णकलशस्तनी ।। ३१ ।।
एतन्मन्ये विदुर्भव्या मन्त्रिणो नृपनिश्चयम् ।
इङ्गिताकारवेदित्वमेव मन्त्रिपदं परम् ।। ३२ ।।

अलिनी को अलि के सदृश, अतिचपल उस बाला को कमल वल्लियों के दोलाओं पर, मैं अपनी भुजलता में अनुगत कब करूँगा ।। २६ ।।

मृणाल, हार, कुन्द और इन्दु सदृश प्रस्फुरित लता घरों के रूप से पुञ्जीतभूत वल्लियों की अभिलाषिणी होकर मेरे लिए वह इन्दु सुन्दरी कान्ता कब मदनसन्तप्त होगी ? अर्थात् मेरे समान उस बाला को भी स्वाभि-लाषाजनित सन्ताप कब होगा, जिससे कि हम दोनों का संघटन शीघ्र हो जाय ।। २७ ।।

इस प्रकार की चिन्ता से व्याकुल हो कुसुमों के संग्रह में उन्मुख हो वनों में और कुसुमपूर्ण उपवनों में विहार करने लगा ।। २८ ।।

उसने अनेक वन और उपवनों में, लीलासरोवरों में, लतागृहों में तथा विविध उद्यान-भूमियों में विहार किया ।। २९ ।।

उन्मना होकर उसने वन और उपवन के गुण वर्णन में सम्बद्ध और श्रृङ्गार रस से परिपूर्ण कथाओं में रमण किया ।। ३० ।।

उसने सुवर्णकलश के सदृश स्तनवाली, हार से चमक रहे शरीर तथा चञ्चल मञ्जरियों से युक्त कुमारियों को अपने मन में बड़ा ऊँचा स्थान दिया ।। ३१ ।।

चतुर मन्त्रियों ने राजा के इस प्रकार के अभिप्राय को जान लिया, क्योंकि चेष्टा और आकृति से अभिप्राय जान लेना ही मन्त्री का दोषों से निर्मुक्त लक्षण है ।।३२।।

अनन्तर राजा के विवाह के लिए विचारशील

अथ तस्य विवाहाय मन्त्रिवर्गो विचारयन् ।
सुराष्ट्राधिपतेः कन्यां ययाचे यौवतान्विताम् ।। ३३ ।।
नवयौवनसम्पन्नां भार्यात्वे विधिनोत्तमाम् ।
उपयेमे स तामात्मसदृशीं प्रतिमामिव ।। ३४ ।।
चूडालेति भुवि ख्याता नाम्ना नृपतिसुन्दरी ।
सा तं भर्तारमासाद्य रेजे फुल्लेव पद्मिनी ।। ३५ ।।
नीलनीरजनेत्रान्तां चूडालां स शिखिध्वजः ।
स्नेहाद्विकासयामास सूर्यो देवो यथाऽब्जिनीम् ।। ३६ ।।
अवर्धत तयोः प्रीतिरन्योन्यार्पितचेतसोः ।
हावभावविलासाढ्यैरङ्गैर्नवलतेव सा ।। ३७ ।।
सुमन्त्र्यर्पितसर्वार्थः स सुखी सुस्थितप्रजः ।
राजहंस इवाऽब्जिन्या रेमे दयितया तया ।। ३८ ।।
अन्तःपुरेषु दोलासु लीलाकमलिनीषु च ।
उद्यानेषु विहारेषु लतापुष्पगृहेषु च ।। ३९ ।।

मन्त्रियों ने सौराष्ट्र देश के राजा से युवतीसमूह से मण्डित कन्या की याचना की ।। ३३ ।।

राजा शिखिध्वज ने नवीन वय से सम्पन्न तथा प्रतिमा के सदृश स्वानुरूप उस उत्तम कन्या को विधि-पूर्वक भार्यारूप में स्वीकार किया ।। ३४ ।।

राजा शिखिध्वज की सुन्दरी (पत्नी) पृथिवीतलपर चूडाला नाम से विख्यात थी। वह अपने अनुरूप पति प्राप्तकर विकसित पद्मिनी के सदृश, प्रकाशमान हो रही थी ।।३५।।

जैसे भगवान् सूर्यदेव कमलिनी को विकास द्वारा प्रसन्न रखते हैं वैसे ही वह शिखिध्वज राजा नीलकमल सदृश नेत्रवाली उस चूडाला को स्नेह से प्रसन्न रखता था ।। ३६ ।।

एक दूसरे के प्रति अर्पित चित्तवाले उन दोनों की प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। हाव, भाव, विलास आदि श्रृङ्गार चेष्टाविशेषों से परिपूर्ण अङ्गों के कारण वह चूडाला सुन्दर नवीनलता के समान शोभती थी ।। ३७ ।।

शिखिध्वज राजा को राजचित्तानुवर्ती अनुरक्त मन्त्रियों के द्वारा सभी उपभोग सामग्री समय-समय पर समर्पित की जाती थी या धार्मिक मन्त्रियों द्वारा उसके याचकों को अभिलषित अर्थों की पूर्ति की जाती थी, उसकी प्रजा सुव्यवस्थित थी, परम सुखी वह राजा कमलानी के साथ राजहंस के समान उस दयिता के साथ रमण करता था ।। ३८ ।।

अन्तःपुर में, दोलाओं में, लीलासरोवरों में, उद्यानों में, विहारों से, लता और पुष्पों से शोभित घरों में,

कदम्बवनलेखासु चन्दनागुरुवीथिषु ।
मन्दारदामलोलासु कदलीकन्दलीषु च ॥ ४० ॥
पुरान्तेषु वनान्तेषु दिगन्तेषु सरस्सु च ।
जङ्गलेषु जनान्तेषु जम्बूजम्बीरजातिषु ॥ ४१ ॥
बभूवाऽऽह्लादकं सर्वं तयोरन्योन्यचेष्टितम् ।
सद्वर्षयोर्धुरवरैर्द्युभूम्योरिव कान्तयोः ॥ ४२ ॥
नित्यमेवाऽवियुक्तत्वात्प्रियत्वाच्चेष्टितस्य च ।
मिथः कलाकलापस्य कोविदो तौ बभूवतुः ॥ ४३ ॥
स्वरूपमेकमेवैतौ दधतुर्मित्रतां गतौ ।
अन्योन्यहृदयस्थत्वादिव सङ्क्रान्तमक्षतम् ॥ ४४ ॥
सर्वशास्त्रार्थवैदग्ध्यं चित्राद्यपि मुखात्प्रभोः ।

कदम्बवन की श्रेणियों में, चन्दन और अगुरु से सुगन्धित वीथियों में, मन्दारमाला-सी चञ्चल कदली और कन्दलियों में, नगर-प्रान्तों में, वन-प्रान्तों में, दिगन्तों में, सरोवरों में तथा जामुन, नीबू एवं जाति वृक्षों से युक्त निर्जन वनों में उस कमनीय दम्पती की प्रमोदजनक सभी ऐसी परस्पर चेष्टाएँ हुईं, जैसी बैलों द्वारा हल से जोते गये खेतों के लिए लाभदायक वृष्टि वाले, मेघ एवं शस्य सम्पत्ति से कमनीय आकाश और पृथिवी की लोक प्रमोद-जनक अन्योन्य चेष्टाएँ होती हैं ॥ ३९-४२ ॥

निरन्तर एक दूसरे की चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं । एक दूसरे से शिक्षाग्रहण और एक दूसरे की समान-अर्थिता होने से वे दोनों अवशेष कलाओं के विज्ञाता हो गये थे ॥ ४३ ॥

परस्पर अत्यन्त मित्रता के कारण वे दोनों एक दूसरे के हृदय में बस जाने के कारण दो देहों में सङ्क्रान्त अविनाशी एक ही जीवस्वरूप धारण करते थे । अर्थात् सब गुणों की समानता होने से और अनुराग के कारण तद्रूपता आ जाने से वे दोनों मानों एक ही जीव थे ॥ ४४ ॥

कुछ नियत कालतक अपने स्वामी के मुख से अध्ययन समाप्त कर समस्त शास्त्रार्थ में वैचक्षण्य और तत्-तत् शिल्प-शास्त्रों के पण्डितों के मुख से चित्रकला आदि में भी चातुर्य प्राप्त कर चूडाला अशेष अर्थों में उसी तरह पण्डिता हो गई थी जैसे बटु 'द्वादश वर्षपर्यन्त वेद के लिए ब्रह्मचर्य है' इस शास्त्र से निर्धारित नियत कालतक गुरुमुख से अध्ययन द्वारा समस्त शास्त्रार्थ में वैचक्षण्य प्राप्त कर पण्डित हो जाता है ॥ ४५ ॥

चूडाला के मुख से इस शिखिध्वज ने भी नृत्य, वाद्य

बालः कालादिवाऽगृह्य साऽऽसीत्सर्वार्थपण्डिता ॥ ४५ ॥
नृत्यवाद्यादि यावच्च चूडालावदनादसौ ।
अशिक्षत बभूवाऽथ कलानामतिकोविदः ॥ ४६ ॥
अमावास्यामिवेन्द्वर्कावन्योन्यविलसत्कलौ ।
मिथो हृदयसंस्थौ तौ द्वावप्यैक्यमुपागतौ ॥ ४७ ॥
तौ संस्थितावेकरसावन्योन्यदयितावुभौ ।
पुष्पामोदाविवाऽभिन्नौ भूतलस्थौ शिवाविव ॥ ४८ ॥
वैदग्ध्यसुन्दरमती सर्वशास्त्रार्थपण्डितौ ।
कार्यार्थं च भुवं प्राप्तौ कमलाकमलाधवौ ॥ ४९ ॥
स्नेहात्प्रसन्नमधुरौ समविज्ञातवादिनौ ।
अनुवृत्तिपरावास्तां लोकवृत्तान्ततद्विदौ ॥ ५० ॥

आदि जितने कलाकौशल हैं उन सब की शिक्षा ग्रहण कर कलाओं का पारङ्गत महाविद्वान् हो गया ॥ ४६ ॥

एक दूसरे के हृदय में स्थित हो रहे वे दोनों भी वैसे ही एकरूप हो गये थे जैसे अमावस्या प्राप्त कर सूर्य और चन्द्र एक दूसरे में अपनी-अपनी कला का संमिश्रण कर एकरूप हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

वे दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रेमी, मिले हुए दूध और पानी की तरह हो अवस्थित थे और पुष्प और सुगन्ध की तरह अभिन्न स्वरूप वे भूतल पर अवतीर्ण गौरी और शङ्कर के सदृश लगते थे । भगवान् शङ्कर का अर्धनारीश्वर नाम है, चूडाला और शिखिध्वज भी स्वरूपतः, स्वभावतः, एक दूसरे से मिलजुल गये थे, इसलिए वे भी ठीक भगवान् शङ्कर और गौरी से मिश्रित अर्धनारीश्वर स्वरूप के जैसे लगते थे ॥ ४८ ॥

उन दोनों की बुद्धि लोक और शास्त्र के चातुर्य से अत्यन्त परिष्कृत थी । समस्त शास्त्रीय विषयों में उनके पाण्डित्य की धाक थी । केवल किसी एक खास कार्य के लिए, कमला और कमलापति की तरह पृथिवी पर वे दोनों अवतीर्ण हुए थे ॥ ४९ ॥

वे दोनों स्नेह से प्रसन्न और माधुर थे । पूछे गये संन्दिग्ध विषयों के और शास्त्ररहस्यों के निर्णयार्थ एक ही काल में उन दोनों का एक ही ज्ञानतत्त्व के कहने का स्वभाव था । निरन्तर वे दोनों एकसाथ गुरु, द्विज और विद्वानों की अनुवृत्ति करते थे । उनसे प्रिय, हित, विनय आदि सदाचार का व्यवहार करते थे । वे दोनों ही लोक-वृत्तान्त एवं एकमात्र शास्त्र से बोधित होने वाले धर्म-रहस्य का परिपक्व परिज्ञान रखते थे ॥ ५० ॥

कलाकलापसम्पन्नौ लसद्रसरसायनौ ।
शीतलस्निग्धमुग्धाङ्गौ शशाङ्कौ द्वाविवोदितौ ।। ५१ ।।
रेजे लसच्च रतिभोगविलासकान्त-
मन्तःपुरेषु मिथुनं तदनुत्तमश्रि ।
ब्रह्माण्डखण्डकुहरेष्विव राजहंस-
युग्मं विकासि मदमन्मथमन्दचारि ।। ५२ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालोपाख्याने शिखिध्वजविलासकथनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ।। ७७ ।।

वे समस्त कलाओं से परिपूर्ण थे । शृङ्गारादि नवरस-रूपी रसायनों वे दीप्तमान् थे । उनका अङ्ग शीतल, स्निग्ध और मोहक था, मानो दो चन्द्रमा उदित हुए हों इस प्रकार वे शोभायमान थे ।। ५१ ।।

जैसे ब्रह्माण्डखण्डरूप सत्यलोक के गम्भीर सरोवरों में चमक रहा मद एवं मन्मथ से मन्द-मन्द गमन कर रहा राजहंस का जोड़ा शोभित होता है वैसे ही जिनकी शोभा अनुपम थी तथा जो रतिभोगों के विलासों से कमनीय थे। उन चूड़ला और शिखिध्वज दोनों का मनोहर जोड़ा अन्तःपुर में शोभित हो रहा था ।। ५२ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में चूडालोपाख्यान में शिखिध्वजविलासकथन नामक कुसुमलता का सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ७७ ।।

७८

वसिष्ठ उवाच

एवं बहूनि वर्षाणि मिथुनं निर्भरस्पृहम् ।
रेमे यौवनलीलाभिरमन्दाभिर्दिने दिने ।। १ ।।
अथ यातेषु बहुषु वर्षेष्वावृत्तिशालिषु ।
शनैर्गलिततारुण्ये भिन्नकुम्भादिवाऽम्भसि ।। २ ।।
तरङ्गनिकराकारभङ्गुरव्यवहारिणि ।
पातः पक्वफलस्येव मरणं दुर्निवारणम् ।। ३ ।।
हिमाशनिरिवाऽम्भोजे जरा निपतनोन्मुखी ।
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ।। ४ ।।
प्रावृषीव लता तुम्बी तृष्णैका दीर्घतां गता ।
शैलनद्या रय इव सम्प्रयात्येव यौवनम् ।। ५ ।।
इन्द्रजालमिवाऽसत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति ।
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः ।। ६ ।।
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवाऽऽमिषम् ।
बुद्बुदः प्रावृषीवाऽप्सु शरीरं क्षणभङ्गुरम् ।। ७ ।।
रम्भागर्भ इवाऽसारो व्यवहारो विचारगः ।
सत्वरं युवता याति कान्तेवाऽप्रियकामिनः ।। ८ ।।

७८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनेक वर्षों तक दृढ़ प्रेम से सम्पन्न उस दम्पती ने दिन-पर-दिन होने वाली यौवन की अमन्द लीलाओं से रमण किया ।। १ ।।

अनन्तर एक के पीछे एक इस प्रकार आवृत्तिशील अनेक वर्ष बीत गये और फूटे हुए घड़े से जल की तरह धीरे-धीरे क्षीण हो रहा तारुण्य देखकर उन्होंने विचार किया ।। २ ।।

तरङ्ग समूहों के समान अतिचपल आकृति वाले, भङ्गुर शरीर से व्यवहार कर रहे जीव का, पक्व फल के पतन की तरह देहवियोग किसी भी प्रकार हटाया नहीं जा सकता ।। ३ ।।

कमल पर हिमरूपी वज्र की तरह इस देह पर अब जरा गिरने के लिए उन्मुख हो ही रही है, क्योंकि करतल से जल की तरह निरन्तर आयु गलती ही जाती है ।। ४ ।।

वर्षाकाल में कटु तुम्बी लता के सदृश एकमात्र भोग और उसके साधनों की तृष्णा बढ़ती जाती है और पर्वत नदी के वर्षाकालिक पूर की तरह वेगपूर्वक यौवन बहता ही जाता है ।। ५ ।।

यह जीर्ण स्थितिवाल शरीर आदि जीवन, इन्द्रजाल के सदृश, असत्य ही है और धनुष से छूटे हुए बाणों के सदृश विषय सुख दूर-दूर भागते जा रहे हैं ।। ६ ।।

जैसे आमिष के ऊपर झपट-झपट कर गीध उसे नोचते हैं वैसे ही आध्यात्मिक आदि दुःख और तृष्णा चित्त के ऊपर झपट-झपट कर उसे नोचते हैं और यह शरीर वर्षाकाल में जल के बुद्बुद के सदृश क्षण भर में ही विलीन हो जानेवाला है ।। ७ ।।

विचारकोटि में प्रविष्ट यह व्यवहार कदली गर्भ के सदृश निःसार ही ठहरता है और सपत्नी चाहनेवाली पुरुष की प्रियतमा के सदृश यह यौवनावस्था शीघ्र छोड़कर भागती जाती है ।। ८ ।।

बलादरतिरायाता वैरस्यमिव पादपम् ।
तदिह स्याच्छुभाकारं स्थिरं किमतिशोभनम् ।
यदासाद्य पुनश्चेतो दशासु न विदूयते ॥ ९ ॥
इति निर्णीय युग्मं तत्संसारव्याधिभेषजम् ।
चिरं विचारयामास शास्त्रमध्यात्मसम्मतम् ॥ १० ॥
आत्मज्ञानैकमात्रेण संसृत्याख्या विषूचिका ।
संशाम्यतीति निश्चित्य तावास्तां तत्परायणौ ॥ ११ ॥
तच्चित्तौ तद्गतप्राणौ तन्निष्ठौ तद्विदाश्रयौ ।
तदा तदर्चनपरौ तदीहौ तौ विरेजतुः ॥ १२ ॥
तत्रैवाऽतिघनाभ्यासौ बोधयन्तौ परस्परम् ।
तत्प्रीतौ तत्समारम्भावन्योन्यं तौ बभूवतुः ॥ १३ ॥
अथ साऽविरतं राम ! रमणीयपदक्रमान् ।

वृक्ष में रसशोषण के सदृश हठात् इष्ट विषयों के अलाभ से जनित दौर्मनस्य प्राप्त होता है, इसलिए इस संसार में ऐसी कौन वस्तु है जो शुभाकृति, सुस्थिर एवं अत्यन्त सुन्दर हो और जिसकी प्राप्ति कर यह चित्त फिर जन्म-मरण आदि दशाओं में पीडित न हो ॥ ९ ॥

उस दम्पती ने इस प्रकार विचारकर यह निश्चित किया कि संसाररूपी व्याधि का असली औषध अध्यात्म-शास्त्र ही है, इसलिए उसी का दीर्घकालतक विचार किया ॥ १० ॥

केवल आत्मज्ञान से ही संसाररूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णय कर वे दोनों आत्मा का ज्ञान सम्पादन करने के लिए तत्पर हो गये ॥ ११ ॥

अध्यात्मशास्त्र में ही उनका चित्त लग गया था, प्राण भी उसी में थे, उनकी निष्ठा उसी में थी, अध्यात्म-शास्त्रवेत्ता की ही उन्होंने शरण ली थी, उसी की अर्चना में निरत रहते थे, उनकी इच्छा भी अध्यात्मशास्त्र की ही रहती थी और उस समय इस संसार से वे दोनों विरक्त हो उठे थे ॥ १२ ॥

उन्होंने अध्यात्मशास्त्र का दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था, वे एक दूसरे को अध्यात्मशास्त्र का ही स्मरण कराते थे, उनकी प्रीति उसी शास्त्र में थी एवं परस्पर उनका समस्त आरम्भ श्रवण, प्रबोधन आदि उसी में होता था ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी ! अनन्तर वह चूडाला—अध्यात्मशास्त्र के मुख से संसार दुःख समुद्र से पार करने में समर्थ सुन्दर आत्मज्ञानोपयोगी रमणीय पदक्रमों से संयुक्त शास्त्रार्थों

श्रुत्वाऽध्यात्मविदां वक्त्राच्छास्त्रार्थांस्तारणक्षमान् ॥ १४ ॥
इत्थं विचारयामास स्वमात्मानमहर्निशम् ।
अव्यापृता व्यापृता वा धिया धवलयेद्धया ॥ १५ ॥
प्रेक्षे तावत्स्वमात्मानं किमहं स्यामिति स्वयम् ।
कस्याऽयमागतो मोहः कथमभ्युत्थितः क्व वा ॥ १६ ॥
देहस्तावज्जडो मूढो नाऽहमित्येव निश्चयः ।
आबालमेतत्संसिद्धं मतौ चैवाऽनुभूयते ॥ १७ ॥
कर्मेन्द्रियगणश्चाऽस्मादभिन्नावयवात्मकः ।
अवयवावयविनोर्न भेदो जड एव च ॥ १८ ॥
बुद्धीन्द्रियगणोऽप्येवं जड एवेति दृश्यते ।
प्रेर्यते मनसा यस्माद्यष्टयेव भुवि लोष्टकः ॥ १९ ॥

का निरन्तर श्रवण कर, बाह्य शरीर के व्यापारों का परित्यागकर और धवल उग्र बुद्धि से युक्त हो अपनी आत्मा के विषय में इस प्रकार अहर्निश विचार करने लगी ॥ १४-१५ ॥

अब मैं स्वयं विवेक कर अपनी आत्मा को देखती हूँ कि मैं क्या हूँ अर्थात् इस कार्यकरण-संघातरूप शरीर में चेतन होने वाला ऐसा कौन पदार्थ है, यह संसाररूप मोह किसको प्राप्त होता है। जिसको मोह प्राप्त होता है, वही उसके निवारण में समर्थ होगा, परन्तु वह कौन है ? किस हेतु से कहाँ मोह प्राप्त है ? मोह का मूल क्या है ? क्योंकि मूल का ज्ञान होने पर ही मूलोच्छेद के उसे मोह का निरास अनायास सिद्ध हो जाता है ॥ १६ ॥

देह तो जड़ और अत्यन्त मूढ़ है, इसलिए वह चेतन नहीं हो सकती, यह दृढ़ निश्चय साधारण बालक को भी अवगत है और मैं स्थूल हूँ, मैं गौर हूँ, इत्यादि बुद्धिवृत्ति होने पर ही देहादि का अनुभव होता है, स्वतः नहीं, इसलिए उसमें जड़ता स्वतः सिद्ध ही है ॥ १७ ॥

हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियसमुदाय भी इस शरीर से अभिन्न अवयवरूप ही हैं। कभी अवयव और अवयवी में भेद नहीं होता है। इसलिए शरीररूप अवयवी के सदृश वह भी जड़ ही है ॥ १८ ॥

ज्ञानेन्द्रिय समुदाय भी शरीरावयवरूप ही है, इसलिए वह भी जड़ ही है, यह दीख पड़ता है, क्योंकि मन आदि से जड़ देह आदि में प्रेरणा मिलने के कारण उनके साथ संयोगयोग्य द्रव्यरूपता होने से पृथिवी पर ढेले की प्रेरक यष्टि के सदृश, उनमें जड़ता ही हैं ॥ १९ ॥

मनश्चैवं जडं मन्ये सङ्कल्पात्मकशक्ति यत् ।
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः ॥ २० ॥
बुद्धिनिश्चयरूपैवं जडा सत्तैव निश्चयः ।
खातेनेव सरिन्नूनं साऽहङ्कारेण बाह्यते ॥ २१ ॥
अहङ्कारोऽपि निःसारो जड एव शवात्मकः ।
जीवेन जन्यते यक्षो बालेनेव भ्रमात्मकः ॥ २२ ॥
जीवश्च चेतनाकाशो वातात्मा हृदये स्थितः ।
सुकुमारोन्तरन्येन केनाऽपि परिजीवति ॥ २३ ॥
अहो नु ज्ञातमेतेन चेत्योल्लेखकलङ्किना ।
जीवो जीवति जीर्णेन चिद्रूपेणाऽऽत्मरूपिणा ॥ २४ ॥
चेत्यभ्रमवता जीवश्चिद्रूपेणैव जीवति ।

सङ्कल्पात्मक शक्ति रखने वाले मन को भी मैं जड़ ही मानती हूँ। मन भी बुद्धि के निश्चयों से वैसे ही प्रेरित होता है जैसे गोफन से पाषाण प्रेरित होता है ॥ २० ॥

इस तरह निश्चयरूपा बुद्धि जड़ता स्वभाव से ओत-प्रोत है, यह अटल निश्चय है। अहङ्कार से वह बुद्धि वैसे ही बहती है जैसे दो तटों के मध्यवर्ती ढालू प्रदेश से नदी बहती है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २१ ॥

अहङ्कार भी सार शून्य तथा मुर्दे के सदृश्य जड़ ही है; क्योंकि बालक द्वारा जनित भ्रमरूप यक्ष के सदृश प्राणयुक्त चिदाभास द्वारा वह उत्पन्न है ॥ २२ ॥

चेतनाकाश और प्राणरूप उपाधि से युक्त हो हृदय में रहता है। वह भीतर से इतना सुकुमार है कि दूसरे अपने अन्तर्यामी दिव्य चैतन्य से दीप्त हो जीता है ॥ २३ ॥

अहो, मैं समझ गई साक्षी का स्वरूप धारण कर विषयों का प्रकाशन स्वरूप इस चेतन का चेत्योल्लेख इस कलङ्क से दूषितप्राय हो करके यह सबको जान लेता है और अनादिभूत चैतन्यरूप से ही यह जीव प्रस्फुरित होता रहता है ॥ २४ ॥

यह जीव चेत्यभ्रमों से युक्त चैतन्य से वैसे ही परिचालित होता है जैसे आमोद पवन से और नदी का वेग पुष्करिणी से परिचालित होता है ॥ २५ ॥

मिथ्याभूत जड़ विषयों के साथ संसर्गाध्यास और तादात्म्याध्यास जड़ जैसा बन जाता है और अपने वास्तविक चैतन्य शरीर आत्मा और तादात्म्याध्यास से ही प्रकाशमान धवल स्वरूप का वैसे ही परित्याग कर देता है, जैसे तप्तजल या समुद्र जलमें गिरा हुआ पावक अपने भास्वर प्रकाशमान स्वरूप का परित्याग कर देता है

आमोदः पवनेनेव खातेनेव सरिद्रयः ॥ २५ ॥
असत्यजडचेत्यांशचयनाच्चिद्वपुर्जडम् ।
महाजलगतो ह्यग्निरिव रूपं स्वमुज्झति ॥ २६ ॥
सद्वाऽसद्वा यदाभाति चित्समाधौ सति स्वतः ।
स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति क्षणात् ॥ २७ ॥
एवंचिद्रूपमप्येतच्चेत्योन्मुखतया स्वयम् ।
जडं शून्यमसत्कल्पं चैतन्येन प्रबोध्यते ॥ २८ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला केनैषा चित्प्रचेतनी ।
इति सञ्चिन्तयामास चिरायेत्थं व्यबुद्धचत ॥ २९ ॥
अहो नु चिरकालेन ज्ञातं ज्ञेयमनामयम् ।
यद्वै विज्ञेयतां कृत्वा न कश्चिद्धीयते पुनः ॥ ३० ॥

अर्थात् सत्तांश में चैतन्यभिन्नता के सदृश प्राप्त 'घट सत् है, पट सत् है' इस प्रकार की सत्ता अचित् घटादि विषयों के साथ एकता का अनुभव करती है और घटादि का लय होने पर 'घट नष्ट हो गया' इस प्रकार सत्ता के अभाव का भी अनुभव करती है ॥ २६ ॥

चाहे वह सद्रूप हो या असद्रूप हो विषयों के साथ एकाग्रता होने पर वासनावेष्टित होकर स्वतः दीख पड़ता है, वही एक क्षण में पूर्ण स्वरूप का परित्यागकर तत्स्वरूप हो जाता है ॥ २७ ॥

परमार्थतः चित्स्वरूप होकर भी अविद्या के आवरण से अध्यासपरम्परया जड़ शून्य और असत्सदृश उत्पन्न जगत् का स्वरूप बुद्धि में अनावृत स्वभाव चैतन्य से ही तत्तदाकार वृत्तिव्याप्ति एवं मूलाविद्यारूप आवरण के सङ्ग द्वारा जाना जाता है ॥ २८ ॥

इस प्रकार पहले विचार कर फिर उस चूडाला ने यह सोचा कि किस उपाय से मूल विद्या के आवरण से रहित चिति दृश्यस्वप्न का परित्याग कर प्रबुद्ध होकर और अनन्तर दीर्घकाल के बाद आत्मतत्त्व को उसने पहचाना ॥ २९ ॥

अहो, दीर्घकाल के बाद मैंने जिसे जान लेने पर पुरुष फिर पुरुषार्थ से च्युत नहीं होता अथवा किसी भी काम्य अर्थ की हानि नहीं होती, उसकी प्राप्ति से ही समस्त कामनाओं की परिपूर्ति हो जाती है। ऐसी सर्वविध उपद्रवों से शून्य ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया, अथवा दुःख का साधन समझकर किसी पदार्थ का परित्याग किये बिना ही उस समय सभी पदार्थों में आनन्दात्मक परब्रह्म रूपता ही प्राप्त हो जाती है ॥ ३० ॥

एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः ।
असन्तः सर्व एवाऽह्नो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः ॥ ३१ ॥
महाचिदेकेवाऽस्तीह महासत्तेति योच्यते ।
निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी ॥ ३२ ॥
शुद्धसंवेदनाकारा शिवं सन्मात्रमच्युतम् ।
सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा ॥ ३३ ॥
सा ब्रह्मपरमात्मादिनामभिः परिगीयते ।
चेत्यचेतनचित्तादि नाऽस्या भिन्नं न मानतः ॥ ३४ ॥
तयैषा चेत्यते चिच्छ्रीः सैषाऽऽद्या चिदिति स्मृता ।
अचेत्यं यदिदं चित्त्वं तत्तस्या रूपमक्षतम् ॥ ३५ ॥
मनोबुद्धीन्द्रियाद्यर्थरूपैः सैव विजृम्भते ॥ ३६ ॥

अहो स्वयं असत्स्वरूप और नेत्र पर अङ्गुली रखने पर दिखाई दे रहे द्वितीय चन्द्रमा के समान ये मन, बुद्धि इन्द्रिय आदि पदार्थ हैं, वे चिद्विलास को परिच्छिन्न बना देने में केवल कारण रूप ही हैं अर्थात् वे भ्रान्ति मात्र से परिकल्पित हैं ।। ३१ ॥

यह कलङ्कों से शून्य, समान रूप विशुद्ध और अहङ्कारवर्जित स्वरूप वाली आवरणादि से निर्मुक्त अकेली महाचिति ही इस संसार में सब काल में अपना अस्तित्व रखती रखती है । जिसको महासत्ता भी कहते हैं ।। ३२ ।।

शुद्ध विज्ञान स्वरूप भूमानन्द रूप होने से वह परम मङ्गलात्मक सन्मात्र रूप है। भूमानन्द रूप स्वभाव से वह कभी भी च्युत नहीं होती। मूलविद्या रूप आवरण के भङ्ग से एक बार उसका यदि साक्षात्कार हो जाय, तो वह फिर कदापि आवृत नहीं होती । इसलिए नित्य उदयवती कही जाती है ॥ ३३ ॥

ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से उसी का सर्वत्र गान किया जाता है। इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु चेत्य आदि त्रिपुटी समूह नहीं है; क्योंकि ये त्रिपुटी साक्षी रूप उसी से प्रकाशित होती है। यह साक्षी स्वरूपा चिति किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि त्रिपुटी प्रवृत्ति के पहले ही वह स्वयंसिद्ध है, अतः वह आद्या चिति कही गई है। चेत्यशून्य चिद्रूपता उसका अविनाशी रूप है ॥ ३४, ३५ ॥

मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थों के स्वरूपों से वह चिति ही विवर्तित होती है ।। ३६ ॥

मन, बुद्धि आदि विवर्तों से चैतन्यात्मा जब प्रमातृ को प्राप्त करता है, तब उसमें तरङ्ग कणों के कल्लोलों के सदृश यह जगद्रूप भूत-भौतिक पदार्थों की अस्तिता

तरङ्गकणकल्लोलकलनेयं चिदात्मनि ।
जगद्रूपपदार्थानां सत्ता स्फुरति मातरि ॥ ३७ ॥
यदिदं तत्परं रूपं तस्याः खलु महाचितेः ।
शुद्धचिन्मणिवत् सा हि सेयं समसमोदिता ॥ ३८ ॥
अनन्ययैव या शक्त्या जगज्जृम्भिकया स्थिता ।
सत्ता मायातिरेकेण नाऽन्या सम्भवतीह हि ॥ ३९ ॥
विचित्रतेव भाण्डानां ननु हेमतया यथा ।
सा तथोदेति तद्रूपमात्मानं चेतति स्वयम् ॥ ४० ॥
स्वचित्तेन द्रवत्वेन तरङ्गादित्वमम्बुषु ।
महाचितौ जगच्चित्तादुदेतीवाऽनुदेत्यपि ॥ ४१ ॥

स्फुरित होती है ॥ ३७ ॥

यह जगत्सत्ता का प्रसिद्ध रूप ही अधिष्ठानभूत महाचिति का दूसरा स्वरूप है, क्योंकि वह सत्ता रूप चिति स्फटिकमणि के सदृश जगत् का प्रतिबिम्ब असङ्ग होकर ही धारण करती है और यह जगत्सत्ता तो व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थों में अपने-अपने अधिष्ठान के अनुसार उदित है ।। ३८ ।।

जगत् का निर्माण करने वाली ब्रह्माभिन्न शक्ति के रूप में अधिष्ठान सत्ता विद्यमान है, उसी से जगत्-सत्ता अतिरिक्त के समान भासमान है, यहाँ माया से अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता का संभव ही नहीं है अर्थात् इन कारण से जगत् की सत्ता का अधिष्ठास सत्ता से पृथक् निरूपण न हो सकने के कारण यह केवल माया रूप ही है ।।३९।।

इसीलिए नाम, रूप विशेषों का प्रलय होने पर जगत्-सत्ता माया शबल ब्रह्मात्मना ही अवस्थित रह जाती है और माया का बाध होने पर आनन्दैकरस स्वरूप सन्मात्रात्मक आत्मतत्त्व का वह स्वयं अनुभव करती है ।

जैसे अलंकार आदि विचित्रता अलङ्कारों का विनाश हो जाने पर सुवर्ण सत्तात्मना ही उदित होती है, वैसे ही जगत् का विलय हो जाने पर जगत् की सत्ता मायाशबल ब्रह्मात्म रूप से उदित होती है और माया का बाध हो जाने पर सच्चिदानन्द रूप आत्मसत्ता का स्वयं अनुभव करती है ॥ ४० ॥

महाचिति में वास्तव में अनुदित भी जगत् आदि समष्टिचित्त के कारण वैसे ही उदित होते हैं, जैसे स्वप्न तथा इन्द्रजाल आदि में द्रवरूप से परिणत अपने चित्त से सिद्ध समुद्र के जल में तरङ्ग आदि वास्तव में अनुदित भी उदित होते हैं ॥ ४१ ॥

तदात्मैव यथा यातो रूपवान् जलधौ द्रवात् ।
एवं चिन्मात्रमेवाऽहमनहम्भावमाततम् ॥ ४२ ॥
न तस्य जन्ममरणे न तस्य सदसद्गती ।
न नाशः सम्भवत्यस्य चिन्मात्रनभसः क्वचित् ॥ ४३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं चिदादित्योऽतिनिर्मलः ।
अहो नु चिरकालेन शान्ताऽस्मि परिनिर्वृता ॥ ४४ ॥
निर्वामि भ्रमनिर्मुक्तमासे निर्मन्दराब्धिवत् ।
असदाभासमत्यच्छमनन्तमजमच्युतम् ॥ ४५ ॥
आत्माकाशमनाबाधममलं परमं चिरम् ।
अनन्तमिदमाकाशं फलौघाश्चाऽफलादिकाः ॥ ४६ ॥
सुरासुरयुतं विश्वमेतन्मयमकृत्रिमम् ।
पुंस्त्वकर्ममयी सेना सर्वं मृन्मात्रकं यथा ॥ ४७ ॥
द्रष्टृदृश्यमयी सत्ता चिन्मात्रैक्यमयी तथा ।
इदमैक्यमिदं द्वित्वमहं नाऽहमितीति च ॥ ४८ ॥
क इव भ्रमसंमोहः कथं कस्य कुतः क्व वा ।
स्वमनन्तमनायासमुपशान्ताऽस्मि संस्थिता ॥ ४९ ॥
निर्वाणपरिनिर्वाणा गतमासे गतज्वरम् ।
अचेतनं चेतनं वा योऽयमाभाति चेतति ॥ ५० ॥
भासमानात्मतद्रूपं खं महाचिति संस्थितम् ।
नेदं नाऽहं न चाऽन्यच्च न भावाभावसम्भवः ।
शान्तं सर्वं निरालम्बं केवलं संस्थितं परम् ॥ ५१ ॥
इत्थं विचारणपरा परमप्रबोधाद्-
बुद्ध्वा यथास्थितमिदं परमात्मतत्त्वम् ।
संशान्तरागभयमोहतमोविलासा
शान्ता बभूव शरदम्बरलेखिकेव ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चूडालाप्रबोधो नाम अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

चिन्मात्र ही में जगद्रूप से सम्पन्न हूँ, परमार्थतः मुझसे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है; इस प्रकार अहंभाव का भी परिशेष न रहने से अनहंभाव चिन्मात्र वैसे ही विस्तीर्ण है जैसे स्वप्न में चिद्रूप आत्मा ही जलधि में द्रव के कारण चित्त कल्पित जल रूप से तरङ्ग आदि रूपवान् पदार्थ होता है, आत्मा से अतिरिक्त वहां कुछ नहीं रहता है ॥ ४२ ॥

इस चिन्मात्रस्वरूप आकाश के जन्म, मरण, सद्गति असद्गति (स्वर्ग-नरक) या नाश का कहीं सम्भव ही नहीं है ॥ ४३ ॥

अहो, यह आत्मा काटने से दाह के योग्य नहीं है, यह चितिरूपी आदित्य अतिनिर्मल है। मैं दीर्घकाल के बाद शान्त होकर चारों ओर से परम सुखी हुई हूँ ॥४४॥

अब मैं सर्वविध भ्रमों से निर्मुक्त विचरण कर रही हूँ, मन्दराचल से शून्य प्रशान्त सागर के सदृश अवस्थित हूँ। ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त जितने भी प्राणियों के कर्मफल हैं, जितने भी उनके साधनभूत व्यापार हैं एवं जो भी निष्फल वृथा चेष्टाएँ हैं, वे सब अनन्त आकाशस्वरूप चैतन्यात्मा के स्वरूप हैं; जो दृश्याभास से शून्य, अत्यन्त स्वच्छ, अनन्त, अज, अच्युत, कालपरिच्छेद से शून्य, देश और वस्तुकृत परिच्छेद के शून्य, आकाशरूप, निर्मल, बाधरहित और परम है ॥ ४५-४६ ॥

जैसे कुम्भकार आदि पुरुष से बनाई गई मृत्तिका की सेना मृत्तिकारूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदि से युक्त यह विश्व अकृत्रिम परब्रह्मस्वरूप ही है ॥ ४७ ॥

उसी प्रकार द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एकमात्र चैतन्यरूप ही है। यह ऐक्य है, यह द्वैत है, यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, इत्यादि भ्रमजनित मोह है कौन चीज; वह किस तरह हुआ, किसको हुआ और कहाँ से आया? अर्थात् यह सब मिथ्या ही है। अपने अन्दर अनन्त पारमार्थिक स्वरूप की अनायास प्राप्तिकर अब शान्त होकर अवस्थित हूँ ॥ ४८-४९ ॥

अब मैं मोक्ष सुख में अच्छी तरह विश्रान्त हूँ, संसार रूप ज्वर से रहित भूले हुए हार की प्राप्ति के सदृश प्राप्त स्वरूप में अब बैठ गई हूँ। जो भी अचेतन या चेतन कुछ जगत् प्रकाशित होता है अथवा जो भी कुछ उसके भोक्तारूप से प्रकाशित हो रहा है वे दोनों भासमान आत्मा से अभिन्न ब्रह्म तद्रूप आकाशस्वरूप ही हैं। न तो इदं है, न अहं है और न दूसरा है एवं न तो भाव और अभाव का संभव है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मरूप ही होकर स्थित है ॥ ५०-५१ ॥

जैसे शरत्-कालीन आकाश की लेखा शान्त हो जाता है वैसे ही इस प्रकार आत्मा के विचार में परायण वह चूडाला मोहरूपी निद्रा का आत्यन्तिक विनाश हो जाने के कारण यथास्थित इस परम आत्मतत्त्व का भली-भाँति परिज्ञान कर राग, भय, मोह आदि अज्ञान विलासों के शान्त होने से शान्त हो गई ॥ ५२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में
चूडालाप्रबोध नामक कुसुमलता का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७८ ॥

७९

वसिष्ठ उवाच

दिनानुदिनमित्येषा स्वात्मारामतया तया ।
नित्यमन्तर्मुखतया बभूव प्रकृतिस्थिता ॥ १ ॥
नीरागा निरुपासङ्गा निर्द्वन्द्वा निःसमीहिता ।
न जहाति न चाऽऽदत्ते प्रकृताचारचारिणी ॥ २ ॥
परितीर्णभवाम्भोधिः शान्तसन्देहजालिका ।
परमात्ममहालाभपरिपूर्णान्तरात्मना ॥ ३ ॥
विश्रान्ता सुचिरं श्रान्ता घनमक्षयपदान्तरे ।
सर्वोपमातीततया जगामाऽव्यपदेश्यताम् ॥ ४ ॥
इति सा भामिनी तस्य चूडाला वरवर्णिनी ।
स्वल्पेनैव हि कालेन ययौ विदितवेद्यताम् ॥ ५ ॥
यथाऽयमागतः कश्चिज्जागतः स्पन्दविभ्रमः ।
तथा विलीयते सर्वं तत्त्वज्ञानवति स्वयम् ॥ ६ ॥
अदृष्टसकले शान्ते पदे विश्रान्तिमेत्य सा ।
रराज शरदच्छाभ्रमालेव गतसंभ्रमा ॥ ७ ॥
अनाकुला समालोकमसम्बन्धात्मनाऽऽत्मनि ।
जरद्गवीव शैलाग्रं सतृणं प्राप्य संस्थिता ॥ ८ ॥
स्वविवेकघनाभ्यासवशादात्मोदयेन सा ।
शुशुभे शोभना पुष्पलतेवाऽभिनवोद्गता ॥ ९ ॥
अथ तामनवद्याङ्गीं कदाचित् स शिखिध्वजः ।
अपूर्वशोभामालोक्य स्मयमान उवाच ह ॥ १० ॥
भूयो यौवनयुक्तेव मण्डितेव पुनः पुनः ।
अधिकं राजसे तन्वि ! जगद्राजवती यथा ॥ ११ ॥

७९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—यह चूडाला दिनक्रम से अभ्यास द्वारा अपने स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित हो गई, क्योंकि वह निरन्तर अन्तर्मुखवृत्ति से युक्त और प्रसिद्ध आत्माराम से सम्पन्न थी। अर्थात् इस प्रकार विचार से उत्पन्न तत्त्वज्ञान की—अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर भूमिकाओं में प्रतिष्ठा हुई ॥ १ ॥

उसके रागादि दोष निकल गये थे। उसका समीपस्थ किन्हीं पदार्थों से संग नहीं था, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से वह निर्मुक्त हो चुकी थी, वह स्वर्गादि की इच्छाओं से और तदनुकूल चेष्टाओं से विरत हो चुकी थी, वह न किसी पदार्थ का ग्रहण करती थी और न किसी का परित्याग करती थी। केवल समयानुसार प्राप्त आचारमात्र का निर्वाह करती थी ॥ २ ॥

संसाररूपी महासमुद्र को वह तैर गई थी, सन्देहरूपी जाल उसके कट गये थे। उसका प्रत्यगात्मा परमात्मा के महान् लाभ से परिपूर्ण हो गया था ॥ ३ ॥

दीर्घकाल से संसार में भ्रमण करने से श्रान्त वह चूडाला ज्ञानलब्ध आनन्दघन परमपद में अब विश्राम कर रही थी। संसार की सभी उपमाओं से परे व अव्यपदेश्य हो गई थी ॥ ४ ॥

इस प्रकार सुन्दरवर्णवाली उस शिखिध्वज की उत्तम पत्नी वह चूडाला स्वल्प काल में ही विदितवेद्य बन गई ॥ ५ ॥

[अल्पकालिक बोध से अनादि महत्तम भ्रम की निवृत्ति कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादि से ।]

तत्त्वज्ञानी पुरुष में सबको अकस्मात् ही निःशेषरूप से निवृत्ति वैसे ही हो जाती है जैसे अनिर्वचनीयस्वरूप स्पन्दविभ्रम अज्ञानी में अकस्मात् ही आ जाता है ॥ ६ ॥

जहाँपर समस्त द्वैत दृष्ट नहीं होता, ऐसे सर्वोपद्रवशून्य परमपद में विश्रान्ति पाकर वह चूडाला भ्रमशून्य हो शरत्कालीन स्वच्छ मेघपङ्क्ति के सदृश शोभायमान हुई ॥ ७ ॥

जैसे बूढ़ी गाय दुःखपूर्वक चढ़ने योग्य, तृण और जल से युक्त तथा आतप एवं चन्द्रिका से युक्त शैल शिखर को विधिवश प्राप्तकर स्वस्थ होकर स्थित रहती है वैसे ही चूडाला भी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओं में एकरूप से प्रकाशित हो रहे प्रत्यगात्मा को जाग्रदादि अवस्थाओं से सम्बद्ध न होनेवाले स्वभाव से प्राप्तकर उसी आत्मा में अनाकुलतापूर्वक स्थित हुई ॥ ८ ॥

अपने विवेक की दृढ़ाता के अभ्यास से आत्मतत्त्वदर्शन जन्य पूर्णानन्द स्वरूप के आविर्भाव से वह नवीन उत्पन्न सुन्दर पुष्पलता के सदृश शोभायमान होने लगी ॥९॥

अनन्तर किसी समय उस पवित्र अपूर्वशोभासम्पन्न चूडाला को देखकर विस्मय से प्रसन्नमुख वह शिखिध्वज कहने लगा ॥ १० ॥

हे तन्वि ! इस समय तुम पुनः यौवन सम्पन्न के समान तथा पुनः पुनः आभूषणों से वैसे ही अधिक शोभायमान हो गए जैसे पूर्णचन्द्र से युक्त पृथ्वी शोभायमान होती है ॥ ११ ॥

प्रपीतामृतसारेव लब्धालभ्यपदेव च ।
आनन्दापूरपूर्णेव राजसे नितरां प्रिये ! ॥ १२ ॥
उपशान्तं च कान्तं च दधाना सुन्दरं वपुः ।
अभिभूयेन्दुमायासि श्रियं कामपि कामिनि ! ॥ १३ ॥
अभोगकृपणं शान्तमूर्जितं समतां गतम् ।
गम्भीरं च प्रशान्तं च चेतः पश्यामि ते प्रिये ! ॥ १४ ॥
तृणीकृत्य त्रिभुवनं पीताखिलजगद्रसम् ।
अनन्तोड्डामरं सौम्यं मनः पश्यामि ते प्रिये ! ॥ १५ ॥
न केनचिन्महाभागे ! विभवानन्दवस्तुना ।
चेतस्तव तुलामेति मरुक्षीराब्धिसुन्दरम् ॥ १६ ॥
तैरेव बालकदलीमृणालाङ्कुरकोमलैः ।
अङ्गैः स्थितिमनुप्राप्तैर्वृद्धिं यातेव लक्ष्यसे ॥ १७ ॥
तथा तेनैव तेनैव सन्निवेशेन संस्थिता ।
अन्यतामुपयाताऽसि लतेव ऋतुपर्यये ॥ १८ ॥

हे प्रिये ! जैसे तुमने अमृत का सार पी लिया हो या अलभ्य पद की तुमने प्राप्ति कर ली हो। आनन्दप्रवाह से तुम परिपूर्ण हो गई हो । इस समय तुम वैसे ही परिपूर्ण-रूप से शोभित हो रही हो ॥ १२ ॥

हे कामिनि ! शान्तिसम्पन्न तथा कातिपूर्ण सुन्दर शरीर धारण कर रही तुम चन्द्रमा का भी तिरस्कार कर किसी अपूर्व शोभा की ओर जा रही हो ॥ १३ ॥

हे प्रिये ! इस समय भोग के कार्पण्य से रहित, शान्त विवेक से बलिष्ठ, समता को प्राप्त, गम्भीर और चञ्चलता रहित तुम्हारा चित्त मैं देख रहा हूँ ॥ १४ ॥

हे प्रिये ! त्रिभुवन को तृण बना कर जगद्रसायन का पान करने वाला, अनन्त, उच्चतायुक्त तथा सौम्य तुम्हारा मन मैं देखता हूँ॥ १५ ॥

हे महाभागे ! मरु और क्षीरसागर के सदृश सुन्दर तुम्हारा मन किसी भी विभवानन्द की वस्तु से उपमित नहीं होता है ॥ १६ ॥

अचपलता को प्राप्त उन्हीं अवयवों से, जो बालकदली, मृणाल एवं बालाङ्कुर के सदृश कोमल हैं, तेज की अधिकता से वृद्धिगत हो गई हो ॥ १७ ॥

जैसे शिशिर ऋतु का अतिक्रमण हो जानेपर लता प्राक्तन अवयवों से युक्त अन्यरूप हो जाती है वैसे ही उन प्राक्तन अवयवों से अवस्थित होती हुई भी तुम अन्यरूप हो गई हो ॥ १८ ॥

क्या तुमने अमृत तो नहीं पी ली है या किसी

किं त्वया पीतममृतं प्राप्तं साम्राज्यमेव वा ।
अमृत्युमेव सम्प्राप्ता प्रयोगायोगयुक्तितः ॥ १९ ॥
राज्याच्चिन्तामणेर्वापि त्रैलोक्याद्वा त्वयाऽधिकम् ।
अप्राप्तं किमनुप्राप्तं नीलोत्पलविलोचने ! ॥ २० ॥

चूडालोवाच

नाकिञ्चित्किञ्चिदाकारमिदं त्यक्त्वाऽहमागता ।
न किञ्चित्किञ्चिदाकारं तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥२१॥
इदं सर्वं परित्यज्य सर्वमन्यन्मयाऽऽश्रितम् ।
यत्तत्सत्यमसत्यं च तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥ २२ ॥
यत्किञ्चिद्यन्न किञ्चिच्च तज्जानामि यथास्थितम् ।
यथोदयं यथानाशं तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥ २३ ॥
भोगैरभुक्तैस्तुष्यामि भुक्तैरिव सुदूरगैः ।
न हृष्यामि न कुप्यामि तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ।२४।

साम्राज्य की ही तो प्राप्ति नहीं कर ली है या रसायन आदि के प्रयोग तथा मन्त्र आदि की सिद्धि, राजयोग आदि उपायों से क्या अमृत्यु को ही लाभ नहीं कर लिया है ? ॥ १९ ॥

हे नीलकमल के सदृश नेत्रवाली ! क्या तुमने राज्य, चिन्तामणि और त्रैलोक्य से भी ऊँचा कोई अप्राप्त प्रदार्थ तो प्राप्त नहीं कर लिया है ? ॥ २० ॥

चूडाला ने कहा—मैंने इस मूढ़ जनों से प्रसिद्ध सम्पूर्ण देहात्मरूपता का परित्याग कर तत्त्वज्ञान से अशेष नाम-रूपाकारों से निर्मुक्त, परम ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लिया है । मन्त्र, रसायनादि साधनों से तुच्छ तत्तत् सिद्धयाकार को मैंने प्राप्त नहीं किया इसलिए मैं दिव्यातिदिव्य श्री-सम्पन्न होकर स्थित हूँ ॥ २१ ॥

इस समस्त परिच्छिन्न वस्तु का परित्याग कर अपरिच्छिन्न अबाधित मूर्त और अमूर्त से रहित अन्य सब वस्तु का मैंने आश्रयण किया है, इसलिए कान्तिमती होकर मैं अवस्थित हूं ॥ २२ ॥

सृष्टि का अतिक्रमण न कर सृष्टि दृष्टि से दृश्यमान किञ्चित् परिच्छिन्न वस्तु और प्रलय दृष्टि से दृश्यमान न किञ्चिद्रूप वस्तु है उसको कूटस्थभूमानन्द स्वभाव से स्थित हैं यह मैं जानती हूँ, इसलिए शोभायुक्त होकर मैं स्थित हूँ ॥ २३ ॥

भुक्त भोगों के सदृश दूरवर्ती अभुक्त भोगों से भी मैं सन्तुष्ट रहती हूँ । न तो मैं कुपित होती हूँ और न मैं हृष्ट होती हूँ, इसलिए मैं श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ ॥ २४ ॥

एकैवाऽऽकाशसंकाशे केवले हृदये रमे ।
न रमे राजलीलासु तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥ २५ ॥
आत्मन्येव हि तिष्ठामि ह्यासनोद्यानसद्मसु ।
न भोगेषु न लज्जासु तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ २६ ॥
जगतां प्रभुरेवाऽस्मि न किञ्चिन्मात्ररूपिणी ।
इत्यात्मन्येव तुष्यामि तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ २७ ॥
इदं चाऽहमिदं नाऽहं सत्या चाऽहं न चाप्यहम् ।
सर्वमस्मि न किञ्चिच्च तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ २८॥
न सुखं प्रार्थये नाऽर्थं नाऽनर्थं नेतरां स्थितिम् ।
यथाप्राप्तेन हृष्यामि तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ २९ ॥
तनुविद्वेषरागाभिः प्रज्ञाभिः शास्त्रदृष्टिभिः ।
रमे सह वयस्याभिस्तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ ३० ॥
पश्यामि यन्नयनरश्मिभिरिन्द्रियैर्वा
चित्तेन चेह हि तदङ्ग न किञ्चिदेव ।
पश्यामि तद्विरहितं तु न किञ्चिदन्तः
पश्यामि सम्यगिति नाथ ! चिरोदयाऽस्मि ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालात्मलाभो नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

एकमात्र आकाशसदृश विमल अद्वितीय केवल हार्द ब्रह्म में अकेली ही मैं रमण करती हूँ । राजलीलाओं में कभी रमण नहीं करती, इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ ॥ २५ ॥

आसन, उद्यान और घरों में देह के स्थित होने पर भी मैं पूर्णात्म रूप में ही स्थित रहती हूँ । कभी-भी भूषण, सम्मान आदि शारीरिक-मानसिक भोगों में या उनकी अप्राप्ति से जनित लज्जा में स्थित मैं नहीं रहती हूँ' इसीसे मैं शोभायुक्त होकर स्थित हूँ ॥ २६ ॥

समस्त भुवनों की नियामिका हूँ, तुच्छ विषय रूप नहीं, इस प्रकार विचार कर मैं अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहती हूँ; इसलिए शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ ॥ २७ ॥

ये देह आदि अधिष्ठान दृष्टि से मेरे स्वरूप ही हैं और आरोपित दृष्टि से मेरे स्वरूप नहीं हैं । मैं पारमार्थिक दृष्टि से सत्य स्वरूप हूँ और अपारमार्थिक दृष्टि से मैं नहीं भी हूँ । मैं सर्वस्वरूप हूँ और किञ्चित् स्वरूप भी नहीं हूँ; इस विचार से मैं श्रीसम्पन्न बनकर बैठी हूँ । इसका विवरण देते हुए संस्कृत व्याख्या में कहा है—अधिष्ठान वस्तु में भ्रम का आरोप होता है । जैसे रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत का । रज्जु और शुक्ति—ये दोनों अधिष्ठान हैं, क्योंकि इन्हीं में सर्प और रजत का भ्रम होता है । देखिये शेषनागविरचित परमार्थसार—'मृगतृष्णायामुदकं शुक्तौ रजतं भुजङ्गमो रज्ज्वाम् । तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तमखिलं जगद्रूपम् ॥' वेदान्तशास्त्र में आरोप का अर्थ है—(१) मिथ्याध्यास, (२) झूठी कल्पना, (३) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के धर्म की कल्पना । जैसे—असङ्ग जीवात्मा में कर्तृत्व धर्म का आरोप । (४) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के आरोप से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान ॥ २८ ॥

मैं सुख नहीं चाहती, अर्थ नहीं चाहती, अनर्थ का परिहार नहीं चाहती और दूसरी किसी प्रकार की भी स्थिति नहीं चाहती । प्रारब्धवश प्राप्त किसी भी अर्थ से सन्तुष्ट रहती हूँ, इसी से मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ ॥ २९ ॥

राग और विद्वेष को क्षीण कर देनेवाली आत्मबुद्धि और शास्त्रदृष्टिरूपी सखियों के साथ मैं खेल करती हूँ इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ ॥ ३० ॥

हे प्रिय ! हे नाथ ! इस जगत् में नयन रश्मियों से एवं अन्य इन्द्रियों से या चित्त से जो कुछ भी मैं देखती हूँ वह अनृत रहता ही नहीं, यानी वह सब कुछ सत्य ही रहता है । उन इन्द्रियादि दृश्य पदार्थों से भिन्न निष्प्रपञ्च वस्तु को मैं अपने भीतर देखती हूँ । मैं बाहर-भीतर अबाधित वस्तुस्वरूप निरन्तर देखती रहती हूँ, अतः परमाभ्युदयरूप अपूर्व शोभा से मैं शोभित हूँ ॥३१॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में चूडालात्मलाभ नामक कुसुमलता का उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

८०

वसिष्ठ उवाच

एवमात्मनि विश्रान्ता वदन्तीं तां वराननाम् ।
अबुद्ध्वा तद्गिरामर्थं विहस्योवाच भूपतिः ॥ १ ॥

शिखिध्वज उवाच

असम्बद्धप्रलापाऽसि बालाऽसि वरवर्णिनि ! ।
रमसे राजलीलाभी रमस्वाऽवनिपात्मजे ! ॥ २ ॥
किञ्चित्त्यक्त्वा न किञ्चिद्यो गतोऽप्रत्यक्षसंस्थितम् ।
त्यक्तप्रत्यक्षसद्रूपः स कथं किल शोभते ॥ ३ ॥
भोगैरभुक्तैस्तुष्टोऽहमिति भोगान् जहाति यः ।
रुषेवाऽऽसनशय्यादीन् स कथं किल शोभते ॥ ४ ॥
भोगाभोगे परित्यज्य खे शून्ये रमते तु यः ।
एक एवाऽखिलं त्यक्त्वा स कथं किल शोभते ॥ ५ ॥
वसनाशनशय्यादीन् सर्वान्सन्त्यज्य धीरधीः ।
यस्तिष्ठत्यात्मनैवैकं स कथं किल शोभते ॥ ६ ॥
नाऽहं देहोऽन्यथा चाऽहं न किञ्चित्सर्वमेव च ।
एवं प्रलापो यस्याऽस्ति स कथं किल शोभते ॥ ७ ॥
यत्पश्यामि न पश्यामि तत्पश्याम्यन्यदेव यत् ।
प्रलाप इत्यसन् यस्य स कथं किल शोभते ॥ ८ ॥
तस्माद्बालाऽसि मुग्धाऽसि चपलाऽसि विलासिनि ! ।
नानालापविलासेन क्रीडामि क्रीड सुन्दरि ! ॥ ९ ॥
प्रविहस्याऽट्टहासेन शिखिध्वज इति प्रियाम् ।
मध्याह्ने स्नातुमुत्थाय निर्जगामाङ्गनागृहात् ॥ १० ॥
कष्टं नाऽऽत्मनि विश्रान्तो मद्वचांसि न बुद्धवान् ।
राजेति खिन्ना चूडाला स्वव्यापारपराऽभवत् ॥ ११ ॥

८०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार अपनी शोभा की अधिकता में कारण बतला रही, अपने स्वरूपभूत आत्मा में विश्रान्त कान्तवदन उस चूडाला की तरह हँस कर उसके वचनों का भाव न जानकर राजा शिखिध्वज ने कहा ॥ १ ॥

शिखिध्वज ने कहा—हे सुन्दरी ! हे राजपुत्रि ! तुम प्रौढ़ नहीं अभी बाला हो—दूसरे को समझाने में उपयोगी वाक्य बोलने में अपटु हो, इसीलिए असम्बद्ध प्रलाप करती हो। तुम जिन राजलीलाओं से रमण करती हो उन्हीं से रमण किया करो ॥ २ ॥

आकारसामान्य का परित्याग कर कभी-भी प्रत्यक्ष न होनेवाली निराकार प्रत्यक्ष और अस्तित्व से शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है ॥ ३ ॥

आसन, शय्या आदि के परित्याग के समान भोगों का 'अभुक्त भोगों से ही मैं तुष्ट हूँ' इस बुद्धि से जो पुरुष क्रोध से परित्याग करता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ॥ ४ ॥

साक्षात् भोजन और मित्र, भृत्य प्रभृति का भोजन—इनका परित्याग कर तथा भोजनसाधन धनादि समस्त वस्तुओं का परित्याग कर जो एक शून्य आकाश में ही पिशाचवत् रमण करता है, वह शोभित होता है; यह कहना कैसे संगत हो सकता है ॥ ५ ॥

क्रोधी की तरह धैर्यमात्र का अवलम्बन कर शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा आदि का सहन करने वाला पुरुष वसन, अशन, शय्या आदि सर्वविध साधनों का परित्याग कर अकेला स्वरूप से ही स्थित कैसे शोभित हो सकता है ? ॥ ६ ॥

मैं देह नहीं हूँ, मैं कुछ और ही हूँ, घटादि पदार्थ हैं ही नहीं, सब कुछ परिपूर्णात्मक है—इस प्रकार जिसका प्रलाप है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? ॥ ७ ॥

जो मैं इन्द्रिय वृत्तियों से यह देखती हूँ उसे पारमार्थिकरूप से नहीं देखती हूँ। जिसे मैं पारमार्थिकरूप से देखती हूँ वह कोई और ही चीज है। इस प्रकार के प्रलाप को त्यागे बिना वह कौन है, जो शोभित हो सकता है ॥ ८ ॥

इसलिए हे सुन्दरी ! तुम बाला मुग्धा और चपल हो। हे विलासिनि ! जैसे अनेक प्रकार के आलापविलासों से जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूँ, वैसे ही तुम भी क्रीड़ा करो ॥ ९ ॥

राजा शिखिध्वज ने अपनी प्रिया चूडाला के प्रति अट्टहास से हँस कर मध्याह्न में स्नान करने के लिए उठकर चूडाला के घर से प्रस्थान किया ॥ १० ॥

बड़े दुःख का विषय है कि अभी तक राजा अपने स्वरूप में स्थित नहीं हुआ है। मेरे वचनों को भी वह न समझ सका—इस विचार से खिन्न वह चूडाला अपने कार्य में संलग्न हो गई ॥ ११ ॥

तदा तथाङ्ग तत्राऽथ तादृगाशययोस्तयोः ।
ताभिः पार्थिवलीलाभिः कालो बहुतिथो ययौ ॥ १२ ॥
एकदा नित्यतृप्ताया निरिच्छाया अपि स्वयम् ।
चूडालाया बभूवेच्छा लीलया खगमागमे ॥ १३ ॥
खगमागमसिद्ध्यर्थमथ सा नृपकन्यका ।
सर्वभोगाननादृत्य समागम्य च निर्जनम् ॥ १४ ॥
एकैवैकान्तनिरता स्वासनावस्थिताङ्गिका ।
ऊर्ध्वगप्राणपवनचिराभ्यासं चकार ह ॥ १५ ॥

हे प्रिय रामभद्र ! अनन्तर वहीं पर भिन्न-भिन्न आशयों से समन्वित उन दोनों का समय भी पहले की पार्थिवलीलाओं से बहुत काल चला गया ॥ १२ ॥

एक समय नित्यतृप्त और निरीह चूडाला को लीलावश आकाश में देवताओं के सदृश गमनागमन करने की स्वयं इच्छा हुई ॥ १३ ॥

अनन्तर वह राजकन्या आकाश में यथेष्ट संचार की सिद्धि के लिए सर्वविध विषयों का अनादर कर निर्जन स्थान में आई ॥ १४ ॥

स्वयं अकेली ही एकान्त में निरत तथा अपने आसन के ऊपर उचित अङ्गों से अवस्थित हो ऊर्ध्वगामी प्राण पवन का दीर्घ आकाशसंचार की सिद्धि के अनुकूल भ्रूमध्य आदि देश में निरोध करने के लिए अभ्यास करने लगी ॥ १५ ॥

[खेचरसिद्धि में हेतुभूत क्रिया के प्रसङ्ग से श्रीरामभद्र सामान्य क्रिया में निमित्त की जिज्ञासा में आक्षेप करते हैं—'यदिदम्' इत्यादि से ।]

श्रीरामजी ने कहा—यह जो कुछ स्थावर और जङ्गम जगत् दिखाई देता है वह सब क्रिया से ही उत्पादित मालूम होता है (क्योंकि कर्ता आदि कारकों की क्रिया के बिना किसी की उत्पत्ति देखी नहीं जाती है, ऐसी स्थिति में यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि क्रियानामक स्पन्द की उत्पत्ति किससे हुई ? उसकी उत्पत्ति सक्रिय से होगी, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि इस समाधान में आत्माश्रय और अनवस्था दोनों दोष स्थित हैं । यदि कूटस्थ से उसकी उत्पत्ति होती है, यह कहकर समाधान करें, तो उसमें व्याघात, अविराम और फलानवस्था—ये तीन दोष आ जायेंगे ।) स्पन्दशून्य क्रियानामक वस्तु की उत्पत्ति अनुभवपथ पर कैसे आती है ? ॥ १६ ॥

श्रीराम उवाच

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
स्पन्दच्युतं क्रियानाम्नः कथमित्यनुभूयते ॥ १६ ॥
कस्य स्पन्दविलासस्य घनाभ्यासस्य मे वद ।
ब्रह्मन् ! खगमनाद्येतत्फलं यत्नैकशालिनः ॥ १७ ॥
आत्मज्ञो वाऽप्यनात्मज्ञः सिद्ध्यर्थं लीलयाऽथवा ।
कथं संसाधयत्येतद्यथा तद्वद मे प्रभो ! ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

त्रिविधं सम्भवत्यङ्ग साध्यं वस्त्विह सर्वतः ।
उपादेयं च हेयं च तथोपेक्ष्यं च राघव ! ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन् ! आकाशगमन आदि सिद्धियाँ घनाभ्यस्त किस प्रयत्नशाली स्पन्द विलास के फल हैं, यह मुझ से कहिये ॥ १७ ॥

हे प्रभो ! अनात्मज्ञ पुरुष अपनी सिद्धि के लिए अथवा जो आत्मज्ञ हैं वे एकमात्र लीला के लिए किस क्रम से इन सिद्धियों को सिद्ध करते हैं, वह यथावत् मुझ से कहिये ॥ १८ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे प्रिय राघव ! इस जगत् में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरह की होती है—उपादेय, हेय और उपेक्ष्य, ग्रहणबुद्धि की विषय वस्तु उपादेय और प्रवृत्ति की विषय है । त्याग बुद्धि की विषयवस्तु हेय है, यह निवृत्ति की विषय है । उपेक्षा बुद्धि की विषयवस्तु उपेक्ष्य है यह उपेक्षा का विषय होती है । आशय यह है कि आपने क्रिया की उत्पत्ति के विषय में आत्माश्रय, अनवस्था आदि दोषों का उद्भावन किया है वह तब घटता, जब केवल क्रिया स्वरूप की सिद्धि के लिए कारकों की उपेक्षा होती । परन्तु यहाँ बात वैसी नहीं है । बात यह है—क्रियासाध्य फल के लिए कारकों की अपेक्षा होती है । फल की उत्पत्ति के लिए प्रवृत्त हुए कारक नान्तरीयकरूप से क्रिया का अवलम्बन करते हैं । इसी क्रिया के आधार पर फल में साध्यता और कारकों में साधनता कही जा सकती है । इस प्रकार साध्य और साधन से दोनों से विलक्षण क्रिया साध्य में अपेक्षित साधनों से भिन्न किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करती, इसलिए क्रिया में सक्रिय कारण हैं या कूटस्थ ? इस विकल्प का प्रसङ्ग ही नहीं आता, इस आशय से वसिष्ठजी ने आगे के प्रश्नों के समाधान में गौण-मुख्यसाधारण क्रियासाध्य को विभागपूर्वक कहा है ॥१९॥

आत्मभूतं प्रयत्नेन उपादेयं च साध्यते ।
हेयं सन्त्यज्यते ज्ञात्वा उपेक्ष्यं मध्यमेतयोः ॥ २० ॥
यद्यदाह्लादनकरमादेयं यच्च सन्मते ! ।
तद्विरुद्धमनादेयमुपेक्ष्यं मध्यमं विदुः ॥ २१ ॥
सन्मतेर्विदुषो ज्ञस्य सर्वमात्ममयं यदा ।
त्रय एते तदा पक्षाः सम्भवन्ति न केचन ॥ २२ ॥
केवलं सर्वमेवेदं कदाचिल्लीलया तया ।
उपेक्षापक्षनिक्षिप्तमालोकयति वा न वा ॥ २३ ॥
ज्ञस्योपेक्षात्मकं नाम मूढस्याऽऽदेयतां गतम् ।

प्रयत्नपूर्वक अपने अनुकूल उपादेय अर्थ का निष्पादन किया जाता है। अपने प्रतिकूल जानकर हेय वस्तु का प्रयत्नपूर्वक त्याग किया जाता है। हेय और उपादेय दोनों के बीच का अर्थ उपेक्ष्य होता है ॥ २० ॥

हे सन्मते ! साक्षात् या परम्परया सुख के अनुकूल जो वस्तु होती है वह उपादेय होती है और जो सुखविघातक वस्तु होती है वह हेय होती है एवं इन दोनों के बीच की जो वस्तु होती है वह उपेक्ष्य होती है, ऐसा अनुभवी लोगों का कहना है ॥ २१ ॥

सन्मति तत्त्वज्ञ विद्वान् की दृष्टि में जब ये सब आत्मस्वरूप हो जाता है तब इन तीनों पक्षों में से कोई भी पक्ष नहीं रहता है ॥ २२ ॥

किसी ज्ञानी उस लीला से ही इस समस्त जगत् को उपेक्षापक्ष में रखकर केवल देखता है और नहीं भी देखता अर्थात् तीसरे कल्प के मानने में भी कोई दोष नहीं है ॥ २३ ॥

एक ही वस्तु ज्ञानी की दृष्टि में उपेक्षात्मक, मूढ़ की दृष्टि में उपादेयात्मक और उत्तम वैराग्यसम्पन्न पुरुष की दृष्टि में हेयात्मक हो जाती है। अर्थात् एक ही वस्तु एक पुरुष के बोध, राग और वैराग्य अवस्था के भेद से तीन प्रकार की हो जाती है । हे रामभद्र, आकाश गमन सिद्धि आदि का क्रम कैसा है, उसे आप अब सुनिये ॥ २४ ॥

[सिद्धि के तारतम्य में तथा चिरकालिक एवं अचिरकालिक प्रयत्न की आवश्यकता में उपाय बतलाते हैं—'देश'० इत्यादि से ।]

देश, काल, क्रिया एवं द्रव्य की उपेक्षा रखने वाली सब तरह की सिद्धियाँ भूतल को वसन्त के सदृश, जीव को

हेयं स्फारविरागस्य शृणु सिद्धिक्रमः कथम् ॥ २४ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यसाधनाः सर्वसिद्धयः ।
जीवमाह्लादयन्तीह वसन्त इव भूतलम् ॥ २५ ॥
मध्ये चतुर्णामेवैषां क्रियाप्राधान्यकल्पना ।
सिद्ध्यादिसाधने साधो ! तन्मयास्ते यतः क्रमाः ॥२६॥
गुटिकाञ्जनखड्गादिक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
तत्राऽसतां च दोषोऽत्र विस्तारः प्रकृतार्थहा ॥ २७ ॥
रत्नौषधितपोमन्त्रक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
आस्तामेव किलैषोऽपि विस्तारः प्रकृतार्थहा ॥ २८ ॥

मोहित करती हैं ॥ २५ ॥

हे साधो ! सिद्धि आदि के साधन में जो चार हेतु हैं उनमें श्रीशैल आदि में अनुष्ठित योग आदि क्रियायों में उत्कर्ष के अनुसार ही होते हैं। अर्थात् ये जो देश आदि सिद्धि के चार साधन हैं उनमें श्रीशैल आदि उत्तमोत्तम देश आदि चार साधनों के मिल जाने पर शीघ्र सिद्धियों का लाभ हो जाने से योग, मन्त्र, जप आदि क्रियाओं में दूसरे देश में अनुष्ठित क्रियाओं की अपेक्षा प्रधान उत्कर्षक की कल्पना होती है और तदनुसार ही फलोत्कर्ष भी होता है ॥ २६ ॥

उड्डामरतन्त्र, योगिनीकल्प आदि बड़े-बड़े अनेक ग्रन्थों में आकाशगमन आदि के साधन ये भी प्रसिद्ध हैं—सिद्धगुटिका, सिद्धाञ्जन, सिद्धखड्ग, सिद्धपादुका आदि। 'कथं संसाधयत्येतत्' यह जो आपने प्रश्न किया है उसका अभिप्राय यदि उन क्रियाक्रमों का निरूपण करने में है, तो अविस्तृत कथन से उनका निरूपण न हो सकने के कारण कथन का विस्तार अवश्य करना होगा। उससे सिद्धियों के विषय में जिज्ञासा न रखनेवाले अतत्त्वज्ञ श्रोताओं की दैववश इच्छा हो जायगी और उनमें वे प्रवृत्ति करने लग जायँगे, अनर्थ हो जायगा। आपके लिए भी आत्मश्रवण में विघ्नरूप हो जाने से विघातक ही है, इसलिए उसका निरूपण उचित नहीं है ॥ २७ ॥

मणि, औषधि, तप, मन्त्र और क्रिया से होने वाली सिद्धि के क्रम का निरूपण भी दूर ही रहे, क्योंकि उसका विस्तारपूर्वक निरूपण करना भी प्रकृत आत्मतत्त्वरूप अर्थ का विघातक ही है अर्थात् यही न्यायमणि मन्त्र आदि से होनेवाले सिद्धि क्रम के निरूपण में तथा श्रीशैल आदि सिद्धदेश में निवास से सिद्ध होनेवाले सिद्धिक्रम के निरूपण में भी लगाना चाहिए ॥ २८ ॥

श्रीशैले सिद्धदेशे च मेर्वादौ वा निवासतः ।
सिद्धिरित्यपि विस्तारः कृतार्थ प्रकृतार्थहा ॥ २९ ॥
तस्माच्छिखिध्वजकथाप्रसङ्गपतितामिमाम् ।
प्राणादिपवनाभ्यासक्रियां सिद्धिफलां शृणु ॥ ३० ॥
अन्तस्था ह्यखिलास्त्यक्त्वा साध्यार्थेतरवासनाः ।
गुदादिद्वारसङ्कोचान् स्थानकादिक्रियाक्रमैः ॥ ३१ ॥
भोजनासनशुद्धया च साधुशास्त्रार्थभावनात् ।
स्वाचारात् सुजनासङ्गात् सर्वत्यागात् सुखासनात् ! ।३२।
प्राणायामघनाभ्यासाद्राम ! कालेन केनचित् ।
कोपलोभादिसंत्यागाद्भोगत्यागाच्च सुव्रत ! ॥ ३३ ॥

हे कृतार्थ श्रीरामजी ! सिद्धदेश के नाम से प्रसिद्ध श्रीशैल अथवा मेरु पर्वत पर निवास करने वाले पुरुष को सिद्धि होती है—इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना सिद्धियों में तुच्छत्व बुद्धि रखनेवाले पुरुषों के लिए प्रकृत आत्मचिन्तनरूप अर्थ का विघातक ही सिद्ध होगा ॥२९ ॥

इसलिए श्रीरामजी, शिखिध्वज की कथा के प्रसङ्ग से प्राप्त सिद्धिरूपी फल से युक्त इस प्राणादि वायु की अभ्यास क्रिया का आप श्रवण करें। अर्थात् यदि इनका सामान्य वर्णन भी नहीं तो प्रश्न निरर्थक हो जायगा। इस विचार से श्रीरामचन्द्रजी को किसी तरह का दुःख न हो, इसलिए प्रस्तुत ज्ञान की दृढ़ता में उपयोगी, आनुषङ्गिक आकाशगमादि सिद्धियों में साधनभूत वर्णन कथा से सम्बद्ध प्राणायाम संक्षेप से सुनते हैं ॥ ३० ॥

हे सुव्रत ! साध्यार्थ और साधनार्थ अखिल अन्तस्थ वासनाओं का त्यागकर गुदा आदि द्वारों के सङ्कोच से, सिद्धादि आसन, काय, मस्तक और गर्दन की समता, निश्चलता तथा नासिका के अग्रभाग में अवलोकनादि योगशास्त्रोक्त क्रियाक्रमों से; भोजन और आसन की शुद्धि से, भलीभाँति योगशास्त्र के परिशीलन से, उत्तम आचार से, सज्जनों के सङ्ग से, सर्वत्याग से, सुखासन से, कुछ कालतक प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, क्रोध, लोभ आदि के बिलकुल त्याग से तथा भोगों के त्याग से रेचक, पूरक और कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर प्राणों का स्वामी हो जाने के कारण योगियों के सब प्राण वैसे ही उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजा के नौकर ॥ ३१–३४ ॥

हे राघव ! देहस्थ वायु के ऊपर अपना नियन्त्रण हो जाने से राज्य से लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियां सबको

त्यागादाननिरोधेषु भृशं यान्ति विधेयताम् ।
प्राणाः प्रभुत्वात्तज्ज्ञस्य पुंसो भृत्या इवाऽखिलाः ॥३४॥
राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः ।
देहानिलविधेयत्वात् साध्याः सर्वस्य राघव ! ॥ ३५ ॥
परिमण्डलिताकारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।
आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ॥ ३६ ॥
वीणाग्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसन्निभा ।
लिप्यार्धोंकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ॥ ३७ ॥
देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रखगादिषु ।
कीटादिष्वब्जजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ॥ ३८ ॥

सुखसाध्य हो जाती हैं। अर्थात् प्राणों के ऊपर अपना सब नियन्त्रण हो जाने पर उनसे सम्बद्ध सिद्धियां भी अपने अधीन हो जाती हैं ॥ ३५ ॥

चारों ओर से फैली हुई शाखाओं से परिवेष्टित मण्डलित आकार से युक्त, मर्मस्थान में समाश्रित, सौ नाडियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका सुषुम्ना नाम की नाडी है (आँतों की नाडियों से बिलकुल घिरी होने से उसका नाम आन्त्रवेष्टनिका है)। अर्थात् देहस्थ वायु के अपने अधीन हो जाने सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, यह जो कहा गया, इसका उपपादन करने के लिए सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई बहत्तर हजार शाखाओंवाली प्रधान सौ नाडियों की आश्रित, मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सात चक्रों में प्रविष्ट होकर निकली हुई तथा मूलाधार में साढ़े तीन वलय वेष्टन के भीतर सोई हुई कुण्डलिनी की शक्ति से सम्पन्न सुषुम्ना नाडी का वर्णन किया है ॥ ३६ ॥

[मूलाधार में स्वान्तर्गत कुण्डलिनी के स्थान की अनुकूलता से उसका वर्णन करते हैं—'वीणा०' इत्यादि से।]

वीणादण्ड के मूलभाग में प्रसिद्ध रेखास्वरूप तन्त्री के मूल में परिवर्तनरूप आवर्त होता है उसके तुल्य अथवा जल परिवर्तन स्वरूप आवर्त उसके तुल्य, द्रविडाक्षर में लिखकर देखने में ॐकार के पूर्वार्द्ध के समान और नागरी लिपि में तो ॐकार के उत्तरार्द्ध के समान तथा कुण्डल एवं आवर्त के तुल्य वह सुषुम्ना नाडी स्थित है ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामजी, देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्र, खग आदि में, कीट, पतङ्ग आदि से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब प्रकार के प्राणियों में वह नाडी उदित है। अर्थात् यह केवल मनुष्य के ही शरीर में होती हो, यह बात नहीं है, किन्तु सभी जीवों के शरीर में यह एक-सी ही होती हैं ॥ ३८ ॥

शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला ।
सिता कल्पाग्निविगलदिन्दुवद्बद्धकुण्डली ॥ ३९ ॥
ऊरोर्भ्रूमध्यरन्ध्राणि स्पृशन्तो वृत्तिचञ्चला ।
अनारतं च सस्पन्दा पवमानेन तिष्ठति ॥ ४० ॥
तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन् कदलीकोशकोमले ।
या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ॥ ४१ ॥
सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकरवाहिनी ।
प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ॥ ४२ ॥
अनिशं निःश्वसद्रूपा रूषितेव भुजङ्गमी ।

शीतजन्य पीड़ा के निवारण के लिए कुण्डली मारकर सोये हुए सर्पराज के शरीर की तरह बद्धमण्डल, शुभ्र तथा प्रलयाग्नि से गल रहे चन्द्रमा के समान बद्धकुण्डली वह नाडी है ।। ३९ ।।

गुदा से लेकर भौंह के बीच तक सब छिद्रों का स्पर्श कर रही वह सुषुम्ना नाडी मन की वृत्तियों से भीतर चञ्चल और बाहर प्राणादि से स्पन्दयुक्त होकर सदा अवस्थित रहती है ॥ ४० ॥

[उसके मूल में साढ़े तीन वलय के आकार से युक्त कुण्डलिनी संज्ञावाली चिच्छक्ति है, यह दर्शाते हैं— 'तस्या०' इत्यादि से ।]

उसके आभ्यन्तर में कदलीकोश के सदृश मूलाधार में वीणा के मूल में दुर्लक्ष्य तारों के वेग से विलास कर रही-सी परम-सूक्ष्म पराशक्ति नाम की सकल शब्दों की मूलभूत शब्द ब्रह्मात्मिका स्फूर्ति प्राणसङ्ग से नाभि, हृदय और कण्ठ प्रदेशों में उत्तरोत्तर को अत्यन्त व्यक्त होकर देखती हुई मध्यमा, वैखरी इत्यादि भेदों वाली है ।।४१।। संस्कृत व्याख्या में कहा गया है—

'चैतन्यसर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति यद्विदुः ।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥' इत्यादि ।

साम्ब ने भी कहा है—

'या सा मित्रावरुणसदनादुश्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते ।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितं मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥'

वह कुण्डलाकारवाहिनी है, इसलिए, कुण्डली नाम से कही गई है। वह सब प्राणियों की परमा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सब शक्तियों की सत्ता-स्फूर्ति की प्रवृत्ति में निर्वाहक होने से वेग प्रदान करने वाली है ॥ ४२ ॥

संस्थितोर्ध्वीकृतमुखी स्पन्दनाहेतुतां गता ॥ ४३ ॥
यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् ।
तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः ॥ ४४ ॥
यथा कुण्डलिनी देहे स्फुरत्यब्ज इवाऽलिनी ।
तथा संविदुदेत्यन्तर्मृदुस्पर्शवशोदया ॥ ४५ ॥
स्पर्शनं मृदुनाऽन्योन्यालिङ्गिका तत्र यन्त्रयोः ।
यथा संविदुदेत्युच्चैस्तथा कुण्डलिनी जवात् ॥ ४६ ॥
तस्यां समस्ताः सम्बद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवाऽऽपगाः ॥ ४७ ॥

वही अपने मुख से प्राणवायु को ऊपर फेंकती है और अपान को नीचे खींचती है, इसलिए सदा साँस खींचती हुई स्पन्दन में हेतु ऊपर की ओर मुँह करके क्रुद्ध साँपिन की तरह अवस्थित रहती है ।। ४३ ।।

जब हृदय में स्थित प्राणवायु कुण्डलिनी से आकृष्ट होकर अपानवृत्ति द्वारा कुण्डलिनी पद को प्राप्त करता है तब अपञ्चीकृत भूतों से जनित अन्तःकरण में विद्यमान जीवसंवित् स्मृति, सङ्कल्प, अध्यवसाय, अभिमान, राग आदि वृत्तियों के भेदों से अन्दर उदित होती है ।। ४४ ।।

प्राण और बुद्धि को ज्ञान और क्रिया शक्ति प्रदान करने वाली कुण्डलिनी कोमल स्पर्शवाली विषय सन्निकर्ष वाली चक्षु आदि इन्द्रियों से उदय प्राप्त कर कमल में भ्रमर की तरह, देह में जिस तरह के भजक के अदृष्ट या दृष्ट सामग्री के वैचित्र्य स्फुरित होती है वैसे-वैसे अन्तःकरण में तत्-तत् इन्द्रियों से अर्थ विशेषों में स्फूर्ति-स्वरूप तत्-तत् फलभोगादिरूप में संवित् उदित होती है ।। ४५ ।।

चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ जैसे-जैसे विषयस्पर्श प्रथम उत्पन्न होता जाता है वैसे-वैसे कार्यकरणसंघातरूप यन्त्र के प्रेरक वृत्ति द्वारा बाहर निकले हुए प्रमाता की बाह्य विषयों के साथ परस्पर आलिङ्गन कराने वाली संवित् कुण्डलिनी अत्यन्त स्पष्ट होती जाती है ।। ४६ ।।

उस कुण्डलिनी में हृदयकोश की समस्त नाड़ियां सम्मिलित हैं। वे नाड़ियां, सागर में नदियों की तरह उसी से बारम्बार उत्पन्न होती हैं तथा उसी में विलीन हो जाती हैं। अर्थात् मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी की सब नाड़ियां चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रवर्तन में द्वार हैं ।। ४७ ।।

नित्यं पातोत्सुकतया प्रवेशोन्मुखया तथा ।
सा सर्वसंविदां बीजं ह्येका सामान्युदाहृता ॥ ४८ ॥

श्रीराम उवाच

आकल्पादनवच्छिन्ना चित्संवित्सर्वमस्ति हि ।
तस्मात्कुण्डलिनीकोशात्केनार्थेनोदयः स्फुटः ॥ ४९ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वदा सर्वं चित्संविद्विद्यतेऽनघ ! ।
किन्त्वस्या भूततन्मात्रवशादभ्युदयः क्वचित् ॥ ५० ॥
सर्वत्र विद्यमानापि देहेषु तरलायते ।
सर्वगोऽप्यातपः सौरो भित्त्यादौ वै विजृम्भते ॥ ५१ ॥

[वे कैसे बारबार उसी से उत्पन्न होती हैं तथा उसी में विलीन हो जाती हैं, यह कहते हैं—'नित्यम्' इत्यादि से ।]

प्राणरूप से उसके ऊर्ध्वगमन में उत्सुक होने तथा अपानरूप से अधःप्रवेश की ओर उन्मुख होने से सम्पूर्ण ज्ञानों की एक वही साधारण बीज कही गई है ॥ ४८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—वस्तु और काल से अपरिच्छिन्न सर्वात्मक चितिसंवित् कुण्डलिनीकोश से सब तरह की संवित् का स्फुट उदय कैसे और किसलिए होता है अर्थात् अपरिच्छिन्न चिति का—मूलाधार नाडीमूल में परिच्छिन्न कुण्डलिनी नामक अपने अंश से—उदय कैसे और किसलिए होता है ॥ ४९ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप ! सब जगह सदा चितिसंवित् होने पर भी भूततन्मात्राओं के कारण इसका उदय कहीं पर ही होता है । अर्थात् देशकृत परिच्छेदाभाव वस्तुकृत परिच्छेदाभाव में अन्तर्भूत होने से कालकृत परिच्छेदाभाव भी वस्तुकृत परिच्छेदाभाव में अन्तर्भूत ही है, फिर उसका पृथक् उपादान व्यर्थ है । यदि यह कहा जाय कि स्पष्टीकरण के लिए उसका अलग उपादान किया गया है, तो देशकृत परिच्छेदाभाव में भी यह कह सकते हैं—इस प्रकार तीनों के अनुवाद के व्याज से निराकार और निर्विषयक चिति की—जीवाकारस्वरूप से या घटादिविषयकस्वरूप से—अभिव्यक्ति बतलाने के लिए 'तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः' इत्यादि पूर्वकथित अर्थ की विस्तार से व्याख्या करने की इच्छा कर महाराज वसिष्ठजी ने स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों के आकार में परिणत भूतों से सापेक्ष ही चिति की विशेषाभिव्यक्ति कही है ॥ ५० ॥

सर्वत्र विद्यमान सूर्य का आतप भित्ति, दर्पण, जल आदि में विशेष रूप से अवभासित होता है वैसे ही सर्वत्र देहों में विद्यमान रहती हुई भी चितिसंवित् बुद्धि के चाञ्चल्य से चञ्चल रूप में अवभासित होती है ॥ ५१ ॥

क्वचिन्नष्टं क्वचित्स्पष्टं क्वचिदुच्छन्नतां गतम् ।
वस्तु वस्तुनि दृष्टं तत्तत्सङ्गावैर्विजृम्भितम् ॥ ५२ ॥
एतद्भूयः क्रमेणाऽहं शृणु वक्ष्यामि तेऽनघ ! ।
देहे स्वे च यथोदेति भृशं संविन्मयक्रमः ॥ ५३ ॥
चेतनाचेतनं भूतजातं व्योम तथाऽखिलम् ।
सर्वं चिन्मात्रसन्मात्रं शून्यमात्रं यथा नभः ॥ ५४ ॥
तद्धि चिन्मात्रसन्मात्रमविकारं स्वनामयम् ।
क्वचित्स्थितं संविदेव भूततन्मात्रपञ्चकम् ॥ ५५ ॥
तत्पञ्चधा गतं द्वित्वं लक्षसे त्वं स्वसंविदम् ।
अन्तर्भूतविकारादि दीपाद्दीपशतं यथा ॥ ५६ ॥

वह चितिवस्तु कहीं मिट्टी, पत्थर आदि वस्तुओं में अविद्यारूपी जड़ता से तिरोहित हो जाने के कारण गरम जल में छोड़े गये ठण्ढे जल की तरह अदृष्ट है । कहीं देव, मनुष्य आदि लिङ्गों में तो वह स्पष्ट अभिव्यक्त है और कहीं वृक्षादिलिङ्गों में विवेक ज्ञान से शून्य तथा तत्-तत् पदार्थों की सत्तारूप से विजृम्भित है ॥ ५२ ॥

हे पापशून्य ! पशुओं से लेकर स्थावर आदि देहों में तथा मनुष्यादि शरीर में जिस तारतम्य से संविन्मयक्रम उदित होता है, यह फिर मैं आप से क्रमशः कहता हूँ, आप भलीभाँति सुनें ॥ ५३ ॥

[स्थूल और सूक्ष्म भूतों के अभ्यास का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिए उपोद्घात द्वारा सब के अधिष्ठान, सच्चिदेकरस, समस्त प्रपञ्च और उसके धर्मों से शून्य उस आत्मतत्त्व का सबसे पहले निर्देश करते हैं—'चेतना०' इत्यादि से ।]

यह सम्पूर्ण चेतन और अचेतन भूतों का समूह तथा आकाश जो कुछ भी भासमान है वह सब असङ्ग, विभु और सूक्ष्म चिन्मात्र वैसे ही है जैसे आकाश शून्य मात्र है ॥ ५४ ॥

वह सन्मात्र, चिन्मात्र, विकार शून्य और अनामय संविद् ही कहीं माया द्वारा कल्पित एक देश में भूत और पञ्चतन्मात्राओं के रूप से अवस्थित है । अर्थात् उस चिन्मात्र के उसी तरह से स्थित रहने पर माया द्वारा कल्पित एक देश में आकाशादि सूक्ष्म भूतों का अभ्यास होने से वही भूतन्मात्र रूप से अवस्थित है ॥ ५५ ॥

जैसे एक दीप से सौ दीप लक्षित करते हैं वैसे ही प्राण, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—इस पञ्च-

स्वसत्तामात्रकेणैव सङ्कल्पलवरूपिणा ।
पञ्चकानि व्रजन्तीह देहत्वं तानि कानिचित् ॥ ५७ ॥
कानिचित्तिर्यगादित्वं हेमादित्वं च कानिचित् ।
कानिचिद्देशतादित्वं द्रव्यादित्वं च कानिचित् ॥ ५८ ॥
एवं हि पञ्चकस्पन्दमात्रं जगदिति स्थितम् ।
चित्संविदत्र सर्वत्र विद्यते रघुनन्दन ! ॥ ५९ ॥
केवलं पञ्चकवशाद्देहादौ चेतनाभिधा ।
जडस्पन्दाभिधा क्वाऽपि स्थावरादौ जडाभिधा ॥ ६० ॥

प्रकार प्राप्त लिङ्गशरीर में प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश कर सम्पन्न जन्मादि विकार तथा जाग्रदादि अवस्थाओं के भेद जिसमें अन्तर्भूत हैं, स्वसंविद्रूप जीवभाव को आप उस तरह लक्षित करते हैं ॥ ५६ ॥

इस संसार में देवमनुष्यादि आकार की वासनाओं के अनुसार कुछ सङ्कल्प स्वरूप अपनी सत्तामात्र से लिङ्गारम्भ से परिशिष्ट कुछ ऐसे भी तन्मात्रपञ्चक ही केवल पञ्चीकरण द्वारा स्थूल देवभाव को प्राप्त होते हैं ॥ ५७ ॥

कोई तन्मात्रपञ्चक पशु-पक्षी आदि तिर्यग्देहभाव को प्राप्त होते हैं; कोई सुवर्ण, रजत और खर्पर से उपलक्षित ब्रह्माण्डभाव तथा उसके अन्तर्गत भुवनादि भोग्यभाव को प्राप्त होते हैं, कोई देशादिभाव को और कोई द्रव्यादिभाव को प्राप्त होते हैं ॥ ५८ ॥

हे रघुनन्दन ! इस तरह संसार पञ्चतन्मात्र का केवल स्पन्दनमात्र ही सिद्ध है और वह चितिसंवित् ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है ॥ ५९ ॥

किन्तु केवल चैतन्याभिव्यञ्जक प्राण, मन, बुद्धि, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय स्वरूप प्राणादिपञ्चक के कारण लिङ्ग शरीर की प्रधानता से मनुष्यादि देहों में मुख्य चेतन नामवाली, कहीं (तिर्यगादि में) लिङ्ग और स्थूल देह की प्रधानता में समता होने से जड़ चेतन नामवाली और स्थावरादि में तो लिङ्ग शरीर के अन्तःसंवेदनमात्र होने से बाहर मनुष्यों द्वारा चैतन्य की भावना न होने से वह चितिसंवित् केवल जड़नामवाली प्रसिद्ध है ॥ ६० ॥

यह चितिसंवित् नर, तिर्यक् और स्थावरादि देहरूप पञ्चकों में क्रम से चञ्चल, कुछ चञ्चल तथा अत्यन्त जड़ता से युक्त वैसे ही बिलकुल निश्चल स्थित रहती है जैसे दिन में पिघला हुआ घी का समुद्र सायंकाल में शीतल पवन के स्पर्श से तटपर धीरे-धीरे गाढ़ हो जाने से निश्चल होकर द्रवस्थान में तरङ्ग के समान चञ्चल, कुछ घनीभूत प्रदेश में कुछ चञ्चल और अत्यन्त घनीभूत प्रदेश में स्थल

यथा स्तब्धः स्थितो वीचिरिव स्थलमिवाऽऽस्थितः ।
पञ्चकेषु तथैतच्चिल्लोलरूपा जडान्विता ॥ ६१ ॥
इतः सौम्य इतो लोलः किमब्धिरिति नो यथा ।
विकल्पादौ तथैवैतत्पञ्चकं हि जडाजडम् ॥ ६२ ॥
देहादिपञ्चकं जीवः स्पन्दः शैलादिकं जडम् ।
स्थावराद्यनिलस्पन्दि स्वभाववशतोऽनघ ! ॥ ६३ ॥
वाचः पर्यनुयोक्तव्याः स्वभावाद्रघुनन्दन ! ।
शीतोष्णादि हिमाग्न्यादि वाक्चेति परिदृश्यते ॥ ६४ ॥

की तरह अचल स्थित रहता है ॥ ६१ ॥

[स्थावरादिभाव में भी चिति की चिद्रूपता में वैसे ही कुछ भी क्षति नहीं होती अर्थात् जैसे कहीं घनीभाव होने से चाञ्चल्य के अभाव में भी सागर के सागरत्व में क्षति नहीं होती ।]

सागर कहीं से शान्त और कहीं से चञ्चल रहे, तो क्या वह सागर नहीं कहा जाता ? अर्थात् वह जैसे सागर ही कहा जाता है, वैसे ही सुर, नर, पशु, पक्षी आदि योनियों में चञ्चलता का न्यूनाधिक भाव होने पर भी चैतन्य सब जगह अक्षत है, क्योंकि यह सम्पूर्ण भूततन्मात्र पञ्चक जड़ और अजड़ है। यह जड़ाजड़ विकल्प, चिति में अध्यस्त भूततन्मात्रपञ्चक का धर्म है, चिति का धर्म नहीं है; क्योंकि वह चिति तो निर्धर्मक है ॥ ६२ ॥

हे पापशून्य ! देहादि आकार में परिणत पञ्चक—प्राणधारण के अधीन स्पन्दन और चैतन्य के कारण—जीव कहलाता है, उससे स्पन्द होता है और शैल आदि तो केवल जड़ ही हैं। स्थावरादि शरीर तो बाहर की वायु से चेष्टावान् होते हैं तथा अन्तःकरण ही चेतन है, स्वभाव के ही वश से होते हैं अर्थात् भूततन्मात्रपञ्चक में स्वभाव के वश से इस तरह के अनेकों विकल्प देखे गये हैं ॥ ६३ ॥

हे रघुनन्दन ! यदि आप यह आक्षेप करें कि जो स्वभाव यानी स्वात्मक भाव है वह विरुद्ध विकल्पात्मक कैसे हो सकता है, क्योंकि विरोध परसापेक्ष और स्वभाव स्वापेक्ष होता है। यह कहें कि अपना भाव ही स्वभाव है, तो भी वह स्वमात्रसापेक्ष ही हुआ, परसापेक्ष नहीं; इस लिए वह परसापेक्ष विकल्प का स्वरूप या निमित्त कैसे हो सकेगा ? इस प्रसङ्ग में मैं आपसे यह पूछता हूँ कि स्वभाव को छोड़कर पहले आपको वाणियों के विषय में ही आक्षेप करना चाहिए, क्योंकि वे चित्-जड़ादिशब्द स्वरूप हैं। अपने पुनरुक्ति दोष की निवृत्ति के लिए वे

गृहीतवासनांशनां पुष्टाभावविकारिणाम् ।
स्थितयः पञ्चकानां हि योज्याः पर्यनुयोजने ॥ ६५ ॥
वासनास्तु विपर्यस्ता इतो नेतुमितश्च ताः ।
पुंसा प्राज्ञेन शक्यन्ते सुखं पर्यनुयोजितुम् ॥ ६६ ॥
अशुभे वा शुभे वाऽपि तेन पर्यनुयोज्यते ।
प्रबुद्धवासनं चान्यत्पञ्चकं सुप्तवासनम् ॥ ६७ ॥
यत्र पर्यनुयोगस्य फलं समनुभूयते ।
तत्र तं संप्रयुञ्जीत नाऽऽकाशं मुष्टिभिः क्षिपेत् ॥ ६८ ॥
तृणाग्रनिष्ठा मेर्वाद्याः पञ्चकानां हि राशयः ।
विवेकनिष्ठा कीटाद्या एते स्थावरजङ्गमाः ॥ ६९ ॥

स्वार्थ की व्यावृत्ति करती हुईं चैतन्य और जाड्य को विरुद्ध बनाती हैं । शीतोष्णादि धर्मपरक और हिम-पावकादि धर्मिपरक सम्पूर्ण वाणियाँ भी, इसी तरह की सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं ॥ ६४ ॥

वासनांश का ग्रहण करने वाले परिपुष्ट विरुद्ध-विकारों से युक्त पञ्चकों की स्थिति के विषय में ही आक्षेप करने में आपको अधिक योग देना चाहिए अर्थात् वाणी के विषय में भी आपको आक्षेप न करना चाहिए, क्योंकि वह वासनाकल्पित विकल्प की तरह पञ्चकार्थानुवादी होने के कारण पराधीन बन चुकी है । किन्तु तत्-तत् विरुद्ध विकल्पभाव से वासनांश का ग्रहण करने वाले विकारयुक्त लिङ्गात्मक पञ्चकों की केवल स्थिति के विषय में ही आक्षेप करना चाहिए ॥ ६५ ॥

अथवा उन पञ्चतत्त्वों की स्थिति का कोई अपराध नहीं है, क्योंकि वे पूर्व-पूर्व हजारों विरुद्ध विकल्पों की वासनाओं का अनुसरण करने वाली हैं; इसलिए चित्त को इधर-उधर दौड़ाने में समर्थ तथा चारो ओर बिखरी हुई वासनाओं के ही विषय में विरुद्ध विकल्प कल्पनाओं की जड़ खोज रहे बुद्धिमान् पुरुष आनन्दपूर्वक आक्षेप कर सकते हैं, स्वभावादि के विषय में नहीं ॥ ६६ ॥

तिर्यक् स्थावर आदि अशुभ भाव में सुप्तवासना युक्त एवं शुभभाव में प्रबुद्धवासनायुक्त अन्य पञ्चक अवस्थित रहता है, इसलिए वासना ही पञ्चकों की स्थिति में कारण है, या आक्षेप कर सकते हैं ॥ ६७ ॥

जिस वासना के विषय में आक्षेप करने से उसका क्षयरूप फल अच्छी तरह अनुभूत हो उसी के विषय में आक्षेप करना चाहिए, मुट्ठी में धूलि उठाकर आकाश में नहीं फेंकना चाहिए ॥ ६८ ॥

यही कारण है कि वासना का क्षय हो जाने पर पूर्णात्म लाभ होने से मेरु आदि सुवर्ण की राशियां भी तृणाग्र के समान तुच्छ मालूम पड़ती हैं और विवेकनिष्ठ ये सब स्थावर-जङ्गम आदि भी कीट, पतङ्ग आदि के समान अत्यन्त तुच्छ समान होने लगते हैं ॥ ६९ ॥

प्रसुप्तवासनाः केचिद्यथा स्थावरजातयः ।
प्रबुद्धवासनाः केचिद्यथा नरसुरादयः ॥ ७० ॥
सवासनाविलाः केचिद्यथैते तिर्यगादयः ।
प्रक्षिप्तवासनाः केचिद्यथैते मोक्षगामिनः ॥ ७१ ॥
अथ स्वास्वेव संवित्सु मनोबुद्धयादिकाः कृताः ।
हस्तपादादिसंयुक्तैः संज्ञा पञ्चकराशिभिः ॥ ७२ ॥
तिर्यगादिभिरप्यन्यैरन्याः संज्ञाः प्रकल्पिताः ।
स्थावरादिभिरप्यन्यैरन्यायाः संविदः कृताः ॥ ७३ ॥
इति साधो ! स्फुरन्तीमे चित्राः पञ्चकराशयः ।
रूपैराद्यन्तमध्येषु चलाचलजडाजडैः ॥ ७४ ॥

और इनमें कोई जैसे स्थावरादि जाति प्रसुप्त वासना वाले हैं और कोई जैसे नर सुर आदि प्रबुद्ध वासना वाले हैं ॥७०॥

कोई जैसे ये पशु-पक्षी आदि वासनाओं के कारण अस्वच्छ चित्त से युक्त हैं और कोई जैसे ये मोक्षगामी, वासनाओं को त्याग चुके हैं ॥ ७१ ॥

वासना की विचित्रता से ही देव, नर आदि पञ्चतत्त्व समूह, आकाश तथा भूमिपर गमन आदि विचित्र व्यवहार के योग्य हस्त, पाद आदि तथा इनसे कल्पित कर्मेन्द्रियों से युक्त देव, नर आदि पञ्चकराशियों द्वारा अपनी-अपनी संवित् में मनुष्यादि व्यवहार के योग्य मद, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना, त्वक् आदि आभ्यन्तर और बाह्य करणरूप संज्ञाएँ की गई हैं, अतएव प्रत्येक प्राणी में विचित्र स्वभाव की वे संज्ञाएँ दिखाई देती हैं ॥ ७२ ॥

पशु आदि ने अन्य संज्ञाओं की ही कल्पना की है अर्थात् चार पैर दो सींग तथा एक पुच्छ की । पक्षियों ने चोंच, पाँख, पोंछ और पैरों की; साँपोंने फण, भोग और पूँछ की तथा कृमि, कीट, दंश, मशक आदि ने अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार व्यवहार के योग्य अवयवादि संज्ञाओं की कल्पना की है । इसी तरह स्थावरादि दूसरों ने भी अन्यान्य संविदों की कल्पनाएँ की हैं ॥ ७३ ॥

हे साधो ! काल्पनिक स्वरूप से आदि, अन्त और मध्य में विकारी और जड़ तथा अधिष्ठानसद्रूप से अचल और अजड़ रूप से ये विचित्र भूतपञ्चकों की राशियाँ स्फुरित हो रही हैं ॥ ७४ ॥

एषामेकोऽभिसङ्कल्पः परमाणुर्महीपते ! ।
बीजमाकाशवृक्षाणां सर्गाणां तेष्विमानि तु ॥ ७५ ॥
इन्द्रियाणि च पुष्पादि विषयामोदवर्ति हि ।
इच्छा भ्रमर्यो राजन्त्यो मञ्जर्यश्चञ्चलक्रियाः ॥ ७६ ॥
लोकान्तराणि स्वच्छानि गुल्मा मूलं सुमेरवः ।
पल्लवा नीलजलदा लता लोला दिशो दश ॥ ७७ ॥
वर्तमानानि भूतानि भविष्यन्ति च यानि तत् ।
जयन्ति तान्यसंख्यानि फलानि रघुनन्दन ! ॥ ७८ ॥
पञ्चबीजास्त एते हि राम ! पञ्चकपादपाः ।
स्वयं स्वभावाज्जायन्ते स्वयं नश्यन्ति कालतः ॥ ७९ ॥
स्वयं नानात्वमायान्ति चिरं जाड्यात्स्फुरन्ति च ।
स्वविविक्ताः शमं यान्ति तरङ्गा इव वारिधौ ॥ ८० ॥
इतो यान्ति समुत्सेधमितो यान्ति शमं स्वयम् ।
एते जाड्यविवेकाभ्यां तरङ्गा इव तोयधौ ॥ ८१ ॥
ये विवेकवशमालयं गता
राम ! पञ्चकविलासराशयः ।
ते न भूय इह यान्ति संस्थितिं
प्रभ्रमन्ति जगतीतरे मुहुः ॥ ८२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेनिर्वाणप्रकरणे
पञ्चकविलासो नामाऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

हे महीपते ! समष्टिविषयक होने से इनमें एक का सर्वत्र अभिव्याप्त सङ्कल्पात्मक कोई एक परमाणु ही सृष्टि रूपी आकाश वृक्षों का बीज है और उन सृष्टि रूपी आकाश वृक्षों में ही ये भूतपञ्चक हैं । अर्थात् इस प्रकार अनन्त पञ्चक भेदों का वर्णन कर उनमें कर्मोपासनाओं के समूहों के अनुष्ठान के फलस्वरूप समष्ट्यहंभाव को प्राप्त हुए किसी एक का कोई एक सङ्कल्प परमाणु ही इस संसार रूपी आकाश-वृक्षों का बीज यह सूचित किया है ॥ ७५ ॥

[सृष्टियों में जो आकाशवृक्षता कही गई है, उसका—फूल और गन्ध आदि की कल्पना द्वारा—उपपादन करते हैं—'इन्द्रियाणि' इत्यादि से ।]

उनमें इन्द्रियाँ विषय रूपी सुगन्ध प्रधान पुष्प आदि हैं, इच्छाएँ भौरियाँ हैं और चंचल कर्मेन्द्रियों की क्रियाएँ मञ्जरियों के रूप में शोभित होती हैं ॥ ७६ ॥

स्वच्छ स्वर्गादि लोकान्तर विटप हैं, सुमेरु सहित सभी पर्वत मूल हैं । काले बादल पल्लव हैं और दसों दिशाएँ चञ्चल लताएँ हैं ॥ ७७ ॥

हे रघुनन्दन ! वर्तमान और भविष्य चार प्रकार के शरीर सब उस वृक्ष के अनन्त फल के रूप में विराजमान हैं ॥ ७८ ॥

हे श्रीराम जी ! इस तरह ये पञ्चबीज तथा पञ्चवृक्ष अपने विवेकशून्य आत्मा से स्वयं उत्पन्न होकर समय पाकर स्वयं नष्ट भी हो जाते हैं ॥ ७९ ॥

ये स्वयं नाना भाव को प्राप्त जड़ता के कारण चिर काल तक स्फुरित होते रहते हैं और समुद्र में तरङ्ग की तरह अपने से विवेक दृष्टि से दृष्ट होने पर शान्त हो जाते हैं ॥ ८० ॥

ये सब जड़ता के कारण एक ओर वैसे ही उन्नति को प्राप्त और दूसरी ओर विवेक के कारण स्वयं नष्ट हो जाते हैं जैसे समुद्र में तरङ्ग एक ओर उत्पन्न होते हैं और दूसरी ओर स्वयं नष्ट हो जाते हैं ॥ ८१ ॥

हे श्रीराम जी ! पञ्चक विलास की राशियाँ निर्वासन नाशपर्यन्त विवेक के वश में चली गई हैं वे इस संसार में पुनः जन्म-मरण देहधारणादि रूप संस्थिति को प्राप्त नहीं होती और दूसरी पञ्चक विलास की राशियां तो निरन्तर इस संसार में भ्रमण किया करती हैं ॥ ८२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में पञ्चकविलास नामक कुसुमलता का अस्सीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

८१

वसिष्ठ उवाच

एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।
प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ॥ १ ॥
साऽन्तः कुण्डलिनी स्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।
कलोक्ता कलनेनाऽऽशु कथिता चेतनेन चित् ॥ २ ॥
जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मनः स्थिता ।
सङ्कल्पाच्चैव सङ्कल्पा बोधाद्बुद्धिरिति स्मृता ॥ ३ ॥
अहङ्कारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।
स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ॥ ४ ॥
अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ॥ ५ ॥
अधस्त्वपानरूपैव मध्ये सौम्यैव सर्वदा ।
पुष्टाप्युदानरूपैव पुंसः स्वस्थैव तिष्ठति ॥ ६ ॥
सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नान्न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ ७ ॥
समस्तैवोर्ध्वमायाति यदि युक्त्या न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ ८ ॥

८१

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम जी ! स्थूल शरीरात्मक पञ्चक के मूलाधार उस कुण्डलिनी में, इस लिङ्गात्मक पञ्चक का उपादान कारणभूत सूक्ष्म सदा पांच प्राण वायुओं के रूप से स्फुरित होता है अर्थात् 'यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् । तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः ॥' हृदय में जब प्राणवायु कुण्डलिनीस्थान तक पहुँच जाती है, तब भीतर में भूत और तन्मात्रा की बीजभूमि संवित् उदित होती है । इससे बुद्धिशक्तियों में स्फूर्तिपदातृत्व का उपपादन करते समय 'भूततन्मात्रबीजभूः' इस अंश को स्पष्ट समझाने के लिए जो स्थूल और सूक्ष्म पञ्चभूतों का विचार किया गया था, उसकी सङ्गति दिखलाते हुए आकाशगमनादि सिद्धियों में बीजभूत प्राणाभ्यास में उपयुक्त, प्रस्तुत कुण्डलिनी में प्राणादि की उत्पत्ति का प्रकार यह है ॥ १ ॥

वह कुण्डलिनी प्राणरूप से अन्दर स्फुरित होकर वायु के धर्म से तथा अपने धर्म से स्पन्द, स्पर्श और संवित्—इन तीन रूपों की निर्मल कल्पनास्वरूप बनकर शीघ्र सङ्कल्प करने से कला और चेतन से चित् कही गई है ॥ २ ॥

जीवन धारण करने से वह जीवस्वरूपता को प्राप्त है तथा मनन करने से मन रूप से वह स्थित है । सङ्कल्प करने से सङ्कल्पा और बोध करने से बुद्धि कहीं गई है ॥ ३ ॥

यह अहङ्कार करने के कारण अहङ्कार स्वरूपता को प्राप्त कर पुर्यष्टक नामधारिणी यह कुण्डलिनी देह में सर्वोत्तम जीवशक्ति रूप से स्थित है ॥ ४ ॥

अपानवायु होकर वह सदा नीचे की ओर बहती है । वह समान नाम से नाभि के बीच में तथा उदान नाम से ऊपर स्थित रहती है ॥ ५ ॥

[वृत्तिभेद का यानी भिन्न-भिन्न स्थानों में उसके रहने का प्रयोजन कहते हैं—]

अधोदेश में बहने से वह अपानस्वरूप है । मध्यदेश में अपान और उदान से स्वयं खींची जा रही भी वह सदा निश्चल ही रहती है तथा इन दोनों से अवष्टब्ध रहने के कारण ही वह बलवती होती हुई भी पुरुष के लिए उदान-स्वरूपा होकर स्वस्थ ही रहती है, अर्थात् लिङ्ग का बाहर उत्क्रमण नहीं कराती । उसके भिन्न-भिन्न देश में रहने का प्रयोजन केवल अपान आदि ही समझना चाहिए । प्राणरूप से अन्दर स्फुरित हुई वह कुण्डलिनी वायुधर्म और स्वधर्म से स्पन्द, स्पर्श और संवित्—इन तीन रूपों की कल्पना-स्वरूप बनकर कला, चित्, जीव, मन, सङ्कल्प, बुद्धि, अहङ्कार, पुर्यष्टक, लिङ्ग—इत्यादि नामों को कलनादि-व्यापारोपाधियों से प्राप्त करती है ॥ ६ ॥

यदि सामान्यवृत्ति उसे न पकड़ रक्खे, तो अपानवृत्ति से विशेष प्रयत्वपूर्वक खूब खींचने पर भी वह जीवसंवित् अधोमार्ग से बाहर निकल जाती है और बलपूर्वक उसके निकल जाने से तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है ॥ ७ ॥

यदि युक्ति के द्वारा सामान्यवृत्ति से धारण न की जाय, तो वह पूरी जीवसंवित् सर्वप्रयत्न से ऊपर चली जाती है बलपूर्वक उसके निकल जाने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है ॥ ८ ॥

सर्वथाऽऽत्मनि तिष्ठेच्चेत्त्यक्त्वोर्ध्वाधो गमागमौ ।
तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्मारुतरोधतः ॥ ९ ॥
सामान्यनाडीवैधुर्यात् सामान्यव्याधिसम्भवः ।
प्रधाननाडीवैधुर्यात् प्रधानव्याधिसम्भवः ॥ १० ॥

श्रीराम उवाच

किंविनाशाः किमुत्पादाः शरीरेऽस्मिन् मुनीश्वर ! ।
आधयो व्याधयश्चैव यथावत् कथयाऽऽशु मे ॥ ११ ॥

वसिष्ठ उवाच

आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम् ।
तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्तत्क्षयो मोक्ष उच्यते ॥ १२ ॥
मिथः कदाचिज्जायेते कदाचित्सममेव च ।
पर्यायेण कदाचिच्च आधिव्याधी शरीरके ॥ १३ ॥

सभी प्रकार से अन्तर्वायु के विरोध से ऊपर नीचे का गमनागमन छोड़कर यदि सामान्य वृत्ति से जीवसंवित् शरीर में स्थित रहे, तो जन्तु की सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती है। अर्थात् प्राण और अपान वायु के गतिनिरोधक के अभ्यास से सब अङ्गों के अन्दर सामान्य वृत्ति के ऊपर विजय होनेपर सम्पूर्ण व्याधियों का नाश किया जा सकता है तथा मृत्यु पर भी विजय पायी जा सकती है ॥ ९ ॥

सामान्य नाड़ियों के व्यापार का अभाव होनेपर अन्न-रस की अपरिपक्वता से सामान्य रोगों की उत्पत्ति होती है अर्थात् एक सौ प्रधान नाड़ियां हैं और सामान्यनाड़ियां उनकी शाखाएँ हैं, उनमें अन्नरस पहुँचाने वाली समानवृत्ति वाली नाड़ी का कफ और पित्त बढ़ जाने से जहाँपर व्यापार रुक जाता है वहींपर वायुओं से वैषम्य आ जाने के कारण अन्नरस को खींच लेने से छोटे और बड़े रोगों की उत्पत्ति होती है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनीश्वर ! इस शरीर में शारीरिक और मानसिक रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं ? यह शीघ्र मुझे भलीभाँति आद्यो-पान्त कहें ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—आधि और व्याधि—ये दोनों दुःख के कारण हैं और औषध आदि से इनकी निवृत्ति से सुख की प्राप्ति होती है तथा ज्ञान द्वारा इनका समूलनाश ही मोक्ष कहा जाता है ॥ १२ ॥

शरीर के अन्दर आधि और व्याधियां कदाचित् पर-स्पर एक दूसरे का कारण बन जाने से उत्पन्न होती हैं, कदाचित् एक साथ और कदाचित् सुख के बाद क्रम से उत्पन्न होती हैं ॥ १३ ॥

देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम् ।
मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ॥ १४ ॥
अतत्त्वज्ञानवशतः स्वेन्द्रियाक्रमणं विना ।
हृदि तानवमुत्सृज्य रागद्वेषेष्वनारतम् ॥ १५ ॥
इदं प्राप्तमिदं नेति जाड्याद्वा घनमोहदाः ।
आधयः सम्प्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव ॥ १६ ॥
भृशं स्फुरन्तीष्विच्छासु मौर्ख्ये चेतस्यनिर्जिते ।
दुरन्नाभ्यवहारेण दुर्देशाक्रमणेन च ॥ १७ ॥
दुष्कालव्यवहारेण दुष्क्रियास्फुरणेन च ।
दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च ॥ १८ ॥
क्षीणत्वाद्वा प्रपूर्णत्वान्नाडीनां रन्ध्रसन्ततौ ।
प्राणे विधुरतां याते काये तु विकलीकृते ॥ १९ ॥

शारीरिक दुःखों को व्याधि और वासनामय मानसिक दुःख को आधि कहते हैं। यह जान लेना चाहिए कि अज्ञान ही इन दोनों का मूलकारण है। तत्त्वज्ञान होनेपर इनका नाश अनिवार्य है ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञान और इन्द्रियनिग्रह के अभाव से चित्त में निश्चलतारूप स्वास्थ्य की हेतु सूक्ष्मता का त्यागकर राग-द्वेष में फँस जाने से तथा यह प्राप्त हो गया लेकिन यह अभी प्राप्त नहीं है—इस तरह रात-दिन चिन्ता करने से जड़ता के कारण महामोहदायिनी मानसिक व्यथाएँ वैसे ही प्रवृत्त होती हैं, जैसे वर्षा ऋतु में पत्थर और ओले ॥ १५, १६ ॥

[अब शारीरिक व्याधियों की उत्पत्ति में कारण बत-लाते हैं।]

पुनः पुनः प्रबल इच्छाओं के स्फुरित होने से, मूर्खता से, चित्त के न जीतने से, दुष्ट अन्न खाने से तथा श्मशान आदि निकृष्ट जगहों में निवास करने से शरीर में व्याधि होती है ॥ १७ ॥

आधी रात प्रदोषादि काल में भोजन से एवं मैथुनादि व्यवहार से, दुष्कर्म करने से, दुर्जनों की सङ्गतिरूप दोष से तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदि की मन में शङ्का करने से शरीर में व्याधि प्रवृत्त होती है ॥ १८ ॥

छिद्रों में अन्नरस का प्रवेश न होने से, नाड़ियों के क्षीण होने से, अथवा छिद्रों में अन्नरस, वात आदि का द्विगुणित प्रवेश हो जाने से, नाड़ियों के परिपूर्ण हो जाने से कफ, पित्त आदि के प्रकोप से, प्राण के व्याकुल होने से तथा चोर आदि के द्वारा शरीर के विकल हो जाने से अनेक दोषों के द्वारा अस्वस्थता के कारण शरीर के

दौस्थित्यकारणं दोषाद्व्याधिर्देहे प्रवर्तते ।
नद्याः प्रावृण्निदाघाभ्यामिवाऽऽकारविपर्ययः ॥ २० ॥
प्राक्तनी चैहिकी वाऽपि शुभा व्याप्यशुभा मतिः ।
यैवाऽधिका सैव तथा तस्मिन्योजयति क्रमे ॥ २१ ॥
आधयो व्याधयश्चैव जायन्ते भूतपञ्चके ।
कथं शृणु विनश्यन्ति राघवाणां कुलोद्वह ! ॥ २२ ॥
द्विविधो व्याधिरस्तीह सामान्यः सार एव च ।
व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥ २३ ॥
प्राप्तेनाऽभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः ।
आधिक्षयेणाऽऽधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम् ॥२४॥
आत्मज्ञानं विना सारो नाऽऽधिर्नश्यति राघव ! ।
भूयो रज्ज्ववबोधेन रज्जुसर्पो हि नश्यति ॥ २५ ॥
आधिव्याधिविलासानां राम ! साराधिसंक्षयः ।
सर्वेषां मूलहा प्रावृण्नदीव तटवीरुधाम् ॥ २६ ॥

आकार का विपर्ययरूप रोग वैसे ही देह में प्रवृत्त होता है, जैसे वर्षा और गरमी में नदियों के आकार का विपर्यय ॥ १९–२० ॥

पूर्वजन्म या इस जन्म की शुभ या अशुभ इन दोनों में जो बुद्धि अधिक होती है वही उस व्याधि के क्रम में नियुक्त करती है ॥ २१ ॥

हे रघुकुल में श्रेष्ठ ! इस तरह भूतपञ्चक में आधि और व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अब वे कैसे नष्ट होती हैं ? वह भी सुनिये ॥ २२ ॥

इस संसार में दो तरह की व्याधियाँ होती हैं—एक सामान्य अर्थात् कोमल और दूसरी सार अर्थात् दृढ़त्तर। इनमें क्षुधा, तृष्णा, स्त्री-पुत्र आदि की लालसा से उत्पन्न व्यवहार सामान्य व्याधि कही गई है तथा जन्मादि विकारों की जड़ सार (दृढ़तर) व्याधि कही गई है ॥ २३ ॥

अभिमत पदार्थों की प्राप्ति होने से क्षुधा, तृष्णा तथा स्त्री-पुत्र आदि जनित व्यावहारिक व्याधियाँ तथा आधि के क्षय से आधिभव मानसिक व्याधियाँ भी भली-भाँति नष्ट हो जाती हैं ॥ २४ ॥

हे राघव ! आत्मज्ञान के बिना जन्मादि विकारों की सार व्याधि नष्ट नहीं होती, क्योंकि रज्जु के भली-भाँति जानने से ही रज्जु का सर्प नष्ट होता है ॥ २५ ॥

हे श्रीरामजी ! सम्पूर्ण आधि और व्याधियों के विलासों को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाला वैसे ही जन्मादि विकारों की मूल अज्ञान रूपी व्याधि का क्षय है जैसे वर्षाकाल की नदी अपसे तट के सभी वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकती है ॥ २६ ॥

अनाधिजा व्याधयस्तु द्रव्यमन्त्रशुभक्रमैः ।
चिकित्सकादिशास्त्रोक्तैर्नश्यन्त्यन्यैरिहाऽथवा ॥ २७ ॥
स्नानमन्त्रौषधोपाया वक्तुश्चाऽधिगतानि च ।
त्वया चिकित्साशास्त्राणि किमन्यदुपदिश्यते ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच

आधेः कथं भवेद्व्याधिः कथं च स विनश्यति ।
द्रव्यादितरया युक्त्या मन्त्रपुण्यादिरूपया ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

चित्ते विधुरिते देहः सङ्क्षोभमनुयात्यलम् ।
तथाहि रुषितो जन्तुरग्रमेव न पश्यति ॥ ३० ॥
अनवेक्ष्य पुरो मार्गममार्गमनुधावति ।
प्रकृतं मार्गमुत्सृज्य शरार्तो हरिणो यथा ॥ ३१ ॥
संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः ।
देहे गजप्रविष्टेन पयांसीव सरित्तटे ॥ ३२ ॥

सामान्य व्याधियाँ तो आयुर्वेदोक्त औषधियों तथा मन्त्रादि शुभ कर्मों से अथवा वृद्धों की परम्परा से कथित औषधों से नष्ट होती हैं ॥ २७ ॥

लोलार्क आदि तीर्थों में स्नान, मन्त्र, औषध आदि उपाय, वृद्धजनों से प्राप्त हुई औषधियाँ तथा आयुर्वेदशास्त्र तो आप स्वयं खूब जानते हैं। मैं इनसे अतिरिक्त और क्या आपको उपदेश दूँ ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—आधि से कैसे व्याधि उत्पन्न होती है और औषध से भिन्न मन्त्र, पुष्प आदि रूप युक्ति से वह कैसे नष्ट होती है ? अर्थात् मानसिक पीड़ा से व्याधियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं और उनकी कैसे चिकित्सा की जाती है ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—मानसिक पीड़ाओं से चित्त के व्याकुल होनेपर शरीर अत्यधिक क्षुब्ध होता है, इसीलिए क्रोधी जन्तु अपने आगे का प्रशस्त मार्ग नहीं देख पाता है ॥ ३० ॥

जैसे बाण से घायल हुआ हरिण अपने प्रकृत मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग की ओर दौड़ता है वैसे ही सम्मुख मार्ग को न देखकर (मन) कुमार्ग की ओर दौड़ता है ॥ ३१ ॥

जैसे हाथी के प्रवेश से क्षुब्ध हुए जल नदी के तट में विरुद्ध मार्ग में बहते हैं। वैसे ही मानसिक पीड़ाओं से संक्षुब्ध हुए प्राणवायु अपनी समता को छोड़कर शरीर में विरुद्ध मार्ग में बहते हैं ॥ ३२ ॥

असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम् ।
असम्यक् संस्थिते भूपे यथा वर्णाश्रमक्रमाः ॥ ३३ ॥
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम् ।
प्राणाविधुरिते देहे सर्वतः सरितो यथा ॥ ३४ ॥
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा ।
दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसञ्चारदुष्क्रमात् ॥ ३५ ॥
यथा काष्ठानि नयति प्राचीदेशं सरिद्रयः ।
तथाऽन्नानि नयत्यन्तः प्राणवातः स्वमाश्रयम् ॥ ३६ ॥
यान्यन्नानि निरोधेन तिष्ठन्त्यन्तःशरीरके ।
तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः ॥ ३७ ॥
एवमाधेर्भवेद्व्याधिस्तस्याऽभावाच्च नश्यति ।
यथा मन्त्रैर्विनश्यन्ति व्याधयस्तत्क्रमं शृणु ॥ ३८ ॥
यथा विरेकं कुर्वन्ति हरीतक्यः स्वभावतः ।
भावनावशतः कार्यं तथा यरलवादयः ॥ ३९ ॥

जैसे राजा के अव्यवस्थित हो जानेपर वर्णाश्रम की मर्यादा विषम स्थान में पहुँच जाती है वैसे ही प्राणवायु के विषम बहने पर कफ, पित्त आदि के भर जाने से विषम स्थान में नाडियाँ पहुँच जाती है ॥ ३३ ॥

प्राणवायु की विषमता द्वारा शरीर के विह्वल कर दिये जानेपर नदी के स्रोत की तरह कोई नाडियाँ तो अत्यधिक पूर्ण हो जाती हैं और कोई बिलकुल खाली पड़ जाती हैं ॥ ३४ ॥

प्राणवायु के सञ्चार का क्रम बिगड़ जाने से भोजन किया गया अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता या अतिजीर्णतारूप दोष को ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

जैसे नदी का वेग पूर्व दिशा में काष्ठ को पहुँचा देता है । वैसा ही समान नामक प्राणवायु भुक्त अन्नों को रस बनाकर सम्पूर्ण शरीर में अपनी-अपनी जगहों में ठीक तरह से पहुँचा देता है ॥ ३६ ॥

जो निरोध से अन्न के भीतर स्थित रहते हैं वे ही व्याधि रूप में परिणत हो जाते हैं, क्योंकि धातु की विषमतारूप में परिणाम कर देना उनका स्वभाव है ॥३७॥

इस तरह आधि से व्याधि उत्पन्न होती है और आधि के अभाव से व्याधि भी नष्ट हो जाती है । कैसे मन्त्रों से व्याधियाँ विनष्ट होती हैं यह क्रम भी आप सुनें ॥ ३८ ॥

वायु, अग्नि, पृथिवी, जल आदि के बीजरूप यरलव आदि मन्त्रों के वर्ण भी मान्त्रिक भावना के वश से नाडियों में रोगाकार परिणत अन्नरसों का उत्सारण, पाचन आदि कार्य वैसे ही करते हैं जैसे हर्रे के फल स्वभावतः विरेचन करते हैं ॥ ३९ ॥

शुद्धया पुण्यया साधो ! क्रियया साधुसेवया ।
मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव काञ्चनम् ॥ ४० ॥
आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव ! ।
पूर्णेन्दावुदिते ह्यत्र नैर्मल्यं भुवने यथा ॥ ४१ ॥
सत्वशुद्ध्या वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः ।
जरयन्ति तथाऽन्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति ॥ ४२ ॥
आधिव्याध्योरिति प्रोक्तौ नाशोत्पत्तिक्रमौ त्वयि ।
कुण्डलिन्याः कथायोगादधुना प्रकृतं शृणु ॥ ४३ ॥
पुर्यष्टकपराख्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥ ४४ ॥
तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्य स्थीयते समम् ।
तदैति मैरवं स्थैर्यं कायस्याऽऽपीनता तथा ॥ ४५ ॥
यदा पूरकपूर्णान्तरायतप्राणमारुतम् ।
नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं घर्मक्लमं श्रमम् ॥ ४६ ॥

हे साधो ! जैसे कसौटी से सुवर्ण वैसे ही शुद्ध और पवित्र साधुसेवनरूप क्रिया से मन निर्मलता को प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

हे राघव ! जैसे पूर्णचन्द्रमा के उदित होनेपर इस भुवन में निर्मलता बढ़ता है वैसे ही चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द बढ़ता है ॥ ४१ ॥

सत्त्व की (अन्तःकरण की) शुद्धि से प्राणवायु अपने क्रम से बहते हैं और अन्न का परिपाक करते हैं, इससे सब व्याधियां नष्ट हो जाती हैं ॥ ४२ ॥

कुण्डलिनि के कथाप्रसङ्ग से आधि और व्याधि के नाश तथा उत्पत्ति के क्रम का वर्णन मैंने आप से इस तरह कर दिया, अब आप प्रकृत प्रसङ्ग सुनें ॥ ४३ ॥

पुर्यष्टकनामक लिङ्गात्मक जीव की आधारभूत कुण्डलिनी को आप सुगन्ध की आधारभूत पुष्पमञ्जरी की तरह जानें ॥ ४४ ॥

पूरक के अभ्यास से जब प्राणी कुण्डलिनी को भर कर घूर्माकार नाड़ी में प्राणवायु को रोक कर समरूप से स्थित रहता है तब मेरुपर्वत के समान स्थिरता अर्थात् मैरवी सिद्धि तथा काय की गुरुता अर्थात् गरिमा नामक सिद्धि उसे प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

जब पूरक से पूर्ण शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक लम्बा कर प्राणवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु के निरोध से उत्पन्न ताप और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करने के लिए संवित् कुण्डलिनी ऊपर की ओर पहुँचाई जाती है ॥ ४६ ॥

सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।
नाडीः सर्वाः समादाय देहबद्धा लतोपमाः ।। ४७ ।।
तदा समस्तमेवेदमुत्प्लावयति देहकम् ।
नीरन्ध्रं पवनापूर्णं भस्त्रेवाऽम्बुगता नरम् ।। ४८ ।।
इत्यभ्यासविलासेन योगेन व्योमगामिना ।
योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चैर्दीना इन्द्रदशामिव ।। ४९ ।।
ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।
बहिरूर्ध्वं कपाटस्य द्वादशाङ्गुलमूर्द्धनि ।। ५० ।।
रेचकेन प्रयोगेण नाड्यन्तरनिरोधिना ।
मुहूर्तं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ।। ५१ ।।

श्रीराम उवाच

दर्शनं कीदृशं ब्रह्मन्! नयनांशुगणं विना ।

प्राणवायु को ऊपर खींचने से दण्ड की तरह लम्बी हो कुण्डलिनी देह में बँधी लता के समान सब नाड़ियों को अपने साथ में लेकर अधिक अभ्यास होने के कारण साँपिन की तरह शीघ्र ऊपर चली जाती है ॥ ४७ ॥

जैसे पवनपूर्ण जलगत भाथी नर को जल के ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियों का आकाशगमन है वैसे ही उस समय नाड़ियों में वायु भर जाने से अवकाशरहित पैर से लेकर मस्तक तक बिल्कुल हलके इस शरीर को कुण्डलिनी इस तरह ऊपर उठा ले जाती है ।। ४८ ।।

जैसे भिखारी लोग किसी पुण्य के योग से इन्द्रपदवी को प्राप्त करता है वैसे ही इस अध्यासरूप विलास समन्वित आकाशगामी योग से अर्थात् अकाश के साथ शरीर का सम्बन्ध रखने के लिए किये गये संयमरूप योग से योगी ऊर्ध्व गति को ऐसे प्राप्त हो जाते हैं, तात्पर्य यह है कि "कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमाप्तेश्चाकाशगमनम् ।।" जैसे गरीब आदमी किसी पुण्य के योग से इन्द्रपदवी प्राप्त कर मारे आनन्द के उड़ने लगता है वैसे ही योगी लोग अपने योग के बल से आकाश में जाकर आनन्द से उड़ने लगते हैं ॥ ४९ ।।

दूसरी नाडियों के व्यापार को रोक देने वाले रेचक प्राणायाम ऊपर की ओर खींची गई कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्राणवायु के प्रवाह से मस्तक के दोनों कपालों की सन्धिरूप कपाट के बाहर-बाहर अङ्कुल के षोडशान्तनामक स्थान में मुहूर्तभर के लिए स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धों का दर्शन होता है अर्थात् 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' ।। ५०-५१ ।।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! हम लोगों की

अदिव्यानामिन्द्रियाणां तत्त्वमेवं कथं भवेत् ।। ५२ ।।

वसिष्ठ उवाच

न केन च महाबाहो ! भूचरेण नभस्वतः ।
अदिव्येनाऽऽश्रिताज्ञानैर्दृश्यन्ते पुरुषेन्द्रियैः ।। ५३ ।।
विज्ञानाद्दूरसंस्थेन बुद्धिनेत्रेण राघव ! ।
दृश्यन्ते व्योमगाः सिद्धाः स्वप्नवत्स्वार्थदा अपि ।। ५४।।
स्वप्नावलोकनं यद्वत्तद्वत्सिद्धावलोकनम् ।
केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता ।। ५५ ।।
मुखाद्बहिर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ।। ५६ ।।

इन्द्रियों से अदिव्यता के कारण ही सन्निकर्ष रहने पर भी जब सिद्धों का दर्शन नहीं होता तब चाक्षुषप्रभासन्निकर्ष के बिना षोडशान्तनामक स्थान में केवल प्राणधारण से सिद्धों का दर्शन कैसे होगा और फिर वह किस तरह का होगा ? ।। ५२ ।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो ! अज्ञान का आश्रयण करनेवाले मलिन पुरुषेन्द्रियों से या दूसरे किसी अदिव्य उपाय से इस पृथिवीपर विचरण करनेवाला कोई भी पुरुष वायुस्वरूप आकाशगामी सिद्धों को कभी नहीं देख सकता है ॥ ५३ ॥

हे राघव ! योग के अभ्यास से मन के संस्कृत हो जाने के कारण विषयों से दूर संस्थित बुद्धिरूपी नेत्र से स्वप्न की तरह आकाशगामी सिद्ध दिखाई देते हैं और वे अभीष्ट अर्थों को भी देते हैं ॥ ५४ ॥

सिद्धों का भी अवलोकन वैसे ही होता है जैसे स्वप्न में पदार्थों का अवलोकन होता है । यही विशेष है कि सिद्धों की प्राप्ति में संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥ ५५ ॥

रेचक प्राणायाम के अभ्यासरूप युक्ति से मुख से बाहर-बारह अङ्गुलपरिमित देश में प्राण को चिरकाल तक स्थित रखने पर योगी अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है । अर्थात् परकाय प्रवेश की सिद्धि प्राप्त करते हैं ।। ५६ ।।

['केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता' यह जो आपने कहा, उसमें स्वभाव ही कारण है, यह कहना चाहिए, और आप ही पहले अनेक बार 'घटस्य पटता दृष्टा' इत्यादि श्लोकों से यह भी कह चुके हैं कि मायामय

श्रीराम उवाच

वद स्वभावस्य कथं ब्रह्मन्नचलसंस्थितिः ।
वक्तारः सानुकम्पा हि दुष्प्रश्नेऽपि न खेदिनः ।। ५७ ।।

वसिष्ठ उवाच

शक्तिर्या तु स्वभावाख्या यथा स्फुरति चाऽऽत्मनः ।
सर्गादिषु तथैवाऽसौ स्थितिं यातीति निश्चयः ।। ५८ ।।
अवस्तुत्वादविद्याया वस्तुशक्तिरपि क्वचित् ।
भिद्यते दृश्यते ह्यङ्ग वसन्ते शारदं फलम् ।। ५९ ।।
सर्वमेवमिदं ब्रह्म नानानानातया स्थितम् ।
जृम्भते व्यवहारार्थं केवलं कथितस्थिति ।। ६० ।।

होने के कारण सम्पूर्ण जगत् की स्थिति अनियत है, तो फिर इस विषय में आप कृपाकर बतलाइये कि एकमात्र स्वभाव की स्थिति नियत कैसे है ? यह श्रीरामचन्द्र जी पूछते हैं ।]

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! एक स्वभाव की चिरकालतक अचल स्थिति कैसे रहती है ? क्योंकि अपने शिष्यों के ऊपर दया रखने वाले प्रवचनशील महात्मा कठिन प्रश्न पूछने पर भी खेद नहीं करते ।। ५७ ।।

[सत्यसङ्कल्प परमेश्वर की सृष्टिकाल में सङ्कल्पप्रयुक्त वस्तुस्वभाव की नियति भी सृष्टिकाल तक ही नियत रहती है, फिर प्रलय होनेपर वह नहीं रहती—इस तरह सम्पूर्ण पदार्थों के स्वभाव की नियति के भङ्ग में किसी तरह का विरोध नहीं है, इस आशय से अपने पूर्वोक्त का स्मरण दिलाते हुए महाराज वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देते हैं ।]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वह सर्ग के प्रलय तक वैसे ही स्थित रहती है जैसे सत्यसङ्कल्प परमात्मा की स्वभाव-नामक शक्ति जो सर्गादि में जिस तरह स्फुरित होती है, यह निश्चय है ।। ५८ ।।

हे प्रिय ! अविद्या के अवस्तुरूप होने से वस्तुओं की शक्ति भी कहीं अर्थात् कामरूपदेश आदि भिन्न-भिन्न स्वरूप की होती है, वसन्त ऋतु में शरत्कालीन व्रीहि आदि फल भी दिखाई देता है ।। ५९ ।।

अनेक और एकरूप अनियत स्वभाव से स्थित यह सब कुछ ब्रह्म ही है । (ब्रह्मस्वभाव से ही यह सम्पूर्ण जगत् निश्चित एकरूप वाला है) प्राणियों के कर्म और उनके फलोपभोग-व्यवहार के लिए केवल अज्ञात ब्रह्म ही कुछ काल तक नियत स्थिति धारण करके जृम्भित अर्थात् विकसित होता है ।। ६० ।।

श्रीराम उवाच

सूक्ष्मच्छिद्रादिगत्यर्थं पूरणार्थं च खस्य वा ।
अणुतां स्थूलतां वाऽपि कायोऽयं नीयते कथम् ।। ६१ ।।

वसिष्ठ उवाच

काष्ठक्रकचयोः श्लेषाद्यथा छेदः प्रवर्तते ।
द्वयोः संघर्षणादग्निः स्वभावाज्जायते तथा ।। ६२ ।।
मांसं कुयन्त्रजठरे स्थितं श्लिष्टमुखं मिथः ।
ऊर्ध्वाधःसम्मिलत्स्थूलद्वयम्भःस्थैरिव वैतसम् ।। ६३ ।।
तस्य कुण्डलिनी लक्ष्मीर्निलीनान्तर्निजास्पदे ।
पद्मरागसमुद्गस्य कोशे मुक्तावली यथा ।। ६४ ।।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—योगी, सूक्ष्म छिद्रों में गमन करने के लिए इस देह को अणु तथा आकाश को पूर्ण करने के लिए इस देह को स्थूल कैसे बना डालते हैं ? ।। ६१ ।।

[अगले सर्ग में इस प्रश्न का उत्तर विस्तारपूर्वक बतलाने की अभिलाषा रखते हुए उसकी भूमिकारूप से वहीं पर देह में अग्निषोमव्याप्ति का निरूपण करने के लिए प्राण और अपानवायु के सङ्घर्ष से मध्य में जठराग्नि की निष्पत्ति में दृष्टान्त देते हैं ।]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्राण और अपान वायु के सङ्घर्ष से जठराग्नि स्वभावतः वैसे ही उत्पन्न हो जाती है जैसे लकड़ी और आरे के सङ्घर्ष से लकड़ी के दो हिस्से हो जाते हैं ।। ६२ ।।

जैसे ऊपर आकाश में स्थित तथा नीचे जल में निमग्न परस्पर जुट रहे अपने दो हिस्सों से युक्त नीचे जल से और ऊपर वायु से खींचा जा रहा बेंतों का कुञ्ज है वैसे ही कुत्सित इस देहरूपयन्त्र के उदर-प्रदेश में नाभि के ऊपर तथा नीचे मिल रहे अतएव परस्पर जुट रहे मुख वाले आमाशय और पक्वाशयरूपी दो भाथी के सदृश स्थूल मांस काँपता हुआ ऐसे स्थित है अर्थात् प्राण और अपानवायु के संघर्ष की उपपत्ति के लिए परस्पर एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं ।। ६३ ।।

जैसे पद्मराग के बक्स के भीतर मुक्तावली विलीन रहती है वैसे ही उस मांस के नीचे के हिस्से में स्थित जो भाथी के सदृश एक भाग है उसके मूलभागस्वरूप मूलाधार में सब कार्यकारणसंघात की प्राणप्रद होने से लक्ष्मी के सदृश पूर्वोक्त कुण्डलिनी भीतर उस तरह निलीन रहती है ।। ६४ ।।

आवर्तफलमालेव नित्यं सलसलायते ।
दण्डाहतेव भुजगी समुन्नतिविवर्तिनी ॥ ६५ ॥
द्यावापृथिव्योर्मध्यस्था क्रियेव स्पन्दधर्मिणी ।
संविन्मधुविबोधार्को हृत्पद्मपुटषट्पदी ॥ ६६ ॥
तत्सर्वं शक्तिपद्मादि बाह्येनाभ्यन्तरैस्तया ।
हृदि व्याधूयते वातैः पत्रवृन्दमिवाऽभितः ॥ ६७ ॥
यद्वद्व्योम स्फुरत्यङ्ग स्वभावात्तत्र वायवः ।
बलवन्मृदु यत्किञ्चिद्भृशं कवलयन्ति तत् ॥ ६८ ॥
वातैराहन्यमानं तत्पद्मादि तरलायते ।
हृद्यन्यान्येति कार्येण पल्लवादि यथा तरोः ॥ ६९ ॥

जपकाल में आवर्तित की जा रही रुद्राक्षमाला की तरह वह सदा सरसराती रहती है अर्थात् प्राणोद्गिरण के द्वारा कम्पन से अव्यक्त ध्वनि करती है तथा दण्ड से आहत साँपिन की तरह वह ऊर्ध्वमुख से परिवर्तन किया करती है ॥ ६५ ॥

पृथिवी और आकाश के मध्य में प्राणियों की ऊर्ध्व और अधोगति के लिए विहित और निषिद्ध क्रिया की तरह प्राण और अपान वायु की ऊर्ध्व और अधोगति का साधन होने से वह स्पन्द-धर्मिणी है अर्थात् संचरणशील है; चाक्षुषादि संविद्रूपी मधु का अर्थात् रूपादिविषयों से आस्वाद का परिज्ञान कराने में सूर्य है और हृदय रूपी कमल सम्पुटक के भीतर की वह भ्रमरी है ॥ ६६ ॥

जैसे चारों ओर बाहर के पवन द्वारा वृक्षों के पत्तों समूह कम्पित किये जाते हैं वैसे ही ज्ञान और कर्मेन्द्रिय आदि की सभी शक्तियाँ, हृदय कमल एवं नाडी समूह आभ्यन्तर के वातों के द्वारा हृदय में चारों ओर उस तरह कम्पित किये जाते हैं ॥ ६७ ॥

स्फुरित विशाल बाह्याकाश में बलवान् काष्ठ, पाषाण आदि तथा कोमल पत्तों और तृण आदि को जैसे वायु स्वभावतः जीर्ण बना डालती हैं वैसे ही हृदयाकाश में भी प्राणवायु भुक्त अन्नादि को जीर्ण परिपक्व बना डालती हैं ॥ ६८ ॥

हृदयपद्म तथा नाडीरूपी भाथी प्राणवायु से आहत होकर लोहार की भाथी की तरह कम्पित होती है, काँप रही उस भाथी के भीतर प्रविष्ट अन्न का पहले रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से त्वचा, त्वचा से मेदा, मेदा से मज्जा, मज्जा से डड्डियाँ और हड्डियों से शुक्र तैयार होता है । इस तरह विचित्र ढंग से अन्य पदार्थ की अन्य परिणत वैसे ही होती है जैसे वसन्त ऋतु में वृक्ष के भीतर प्रविष्ट पृथिवी के रस की पल्लव, मञ्जरी, पुष्प और फल आदि की होती है ॥ ६९ ॥

देहेष्वाजरणं सर्वरसानां पवनोऽन्वहम् ।
जनयत्यग्निमन्योन्यसङ्घर्षाद्विनवेणुवत् ॥ ७० ॥
स्वभावशीतवातात्मा देहस्तेनौष्ण्यमेत्यथ ।
उदितेन स सर्वाङ्गे भुवनं भानुना यथा ॥ ७१ ॥
सर्वतो विचरेदस्मिस्तत्तेजस्तारकाकृति ।
हृत्पद्महेमभ्रमरो योगिनां चिन्त्यतां गतम् ॥ ७२ ॥
तत्प्रकाशमयं ज्ञानं चिन्तितं सत्प्रयच्छति ।
येन योजनलक्षस्थं वस्तु नित्यं हि दृश्यते ॥ ७३ ॥
तस्याग्नेर्वाडवस्येव जलं संशुष्कमिन्धनम् ।
मांसपङ्कजखण्डाढ्यं हृत्सरःकोशवासिनः ॥ ७४ ॥

देह में प्राणवायु प्रतिदिन सब रसों के अन्तिम धातु जबतक शुक्र तैयार नहीं हो जाता तबतक, परस्पर सङ्घर्ष में अग्नि उत्पन्न करने वाले जङ्गली बाँस की तरह अग्नि उत्पन्न करती है अर्थात् उन सातों धातुओं के स्थान में उत्तरोत्तर परिणाम की सिद्धि के लिए परस्पर एक दूसरे के सङ्घर्ष से जठराग्नि की अभिव्यक्ति होती है ॥ ७० ॥

जैसे सूर्य से तीनों लोक उष्णता को प्राप्त करता है । वैसे ही सारे शरीर में प्रदीप्त उस जठराग्नि से स्वभावतः शीत-वातात्मक वह शरीर उष्णता को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

[अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त उसी जाठराग्नि की योगी हृदय-कमल में तारों के आकार से उपासना करते हैं ।]

तारों के आकार के समान तथा हृदय पद्म में सुवर्ण भ्रमर के समान वह तेज इस शरीर में चारों ओर विचरण करता है, योगियों की यही चिन्त्य दशा की प्राप्ति अर्थात् योगी लोग उपासना करते हैं ॥ ७२ ॥

चिद्रूप से उपास्यमान यही तेज व्यवहित और दूर-दूर के सम्पूर्ण पदार्थों को देखने की सामर्थ्य उत्पन्न करता है ।

उपासित वह तेज प्रकाशस्वरूप ज्ञान को प्रदान करता है, इस प्रकाश की प्राप्ति से लाख योजन की दूरी पर स्थित वस्तु सदा आँखों के सामने दिखाई देती हैं ॥७३॥

मांसरूपी सरोवर के भीतर रहनेवाली उस जठराग्नि का भी जलने योग्य इन्धन शरीर में वर्तमान वैसे ही अन्नरस रूप जल है जैसे बड़वाग्नि का इन्धन समुद्र का जल है ॥ ७४ ॥

यदच्छं शीतलत्वं च तदस्याऽऽत्मेन्दुरुच्यते ।
इतोन्दोरुत्थितः सोऽग्निरग्नीषोमौ हि देहकः ॥ ७५ ॥

सर्वं तूष्णात्मकं किञ्चित्तेजोऽर्काग्न्यभिधं विदुः ।
शीतात्मकं तु सोमाख्यमाभ्यामेव कृतं जगत् ॥ ७६ ॥

विद्याविद्यास्वरूपेण सर्वं सदसदात्मना ।
जगद्वा येन निर्वृत्तं तदेवैवं विभज्यते ॥ ७७ ॥

संवित्प्रकाशं विद्यादि सूर्यमग्निं विदुर्बुधाः ।
अतज्जाडचं तमो विद्याद्याहुः सोमं मनीषिणः ॥ ७८ ॥

श्रीराम उवाच

वह्निर्वाय्वात्मनः सोमादुदेतीति मुनीश्वर ! ।
सोमस्योत्पत्तिमधुना वद मे वदतां वर ! ॥ ७९ ॥

[देह में स्थित इन्धनभूत चन्द्रांश का लक्षण से विभाग कर के 'यह शरीर अग्नि और सोम स्वरूप है' यह कहते हैं—'यद०' इत्यादि से ।]

इस शरीर में स्वच्छता और शीतलता वर्तमान है, उसकी आत्मा चन्द्रमा है, वे चन्द्रमा के अंश हैं चन्द्रमा से वह अग्नि उत्पन्न है, इसलिए यह शरीर अग्नि और चन्द्र-स्वरूप है। अर्थात् इस प्रकार शरीर का सोम स्वरूप है ॥ ७५ ॥।

[अर्थात् शरीर के बाहर भी संसार में प्रकाश और गर्मी से तथा शीतता और जड़ता से अग्नि और चन्द्र का ज्ञान करना चाहिए, कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादि से ।]

बाहर दृश्यमान उष्णस्वरूप को तेज, सूर्य या अग्नि के नाम से विद्वान् लोग जानते हैं तथा शीतात्मक दृश्यमान वस्तु चन्द्र नाम से जानते हैं। इन्हीं दोनों से यह संसार बनाया गया है ॥ ७६ ॥

अथवा विद्या और अविद्या स्वरूप, सद् और असद् रूप ब्रह्म सम्पूर्ण जगद्रूप है, वही इस तरह अग्नि और सोम के रूप से विभक्त किया गया है अथवा चित् और जड़—इन दोनों से मिला हुआ, सत् और असत् स्वरूप, अविद्याशबल ब्रह्म ही जगद्रूप है, अतः वही इस तरह प्रकाश और जड़स्वरूपता के कारण अग्नि और चन्द्र के रूप से विभक्त है ॥ ७७ ॥

आत्मतत्त्वरूप संवित्प्रकाश तथा बाह्य पदार्थों के प्रकाश को विद्वान् लोग सूर्य और अग्नि कहते है तथा असत् जड़ता, तम, अविद्या आदि को मनीषिगण चन्द्रमा कहते हैं ॥ ७८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ मुनीश्वर ! आपके कथन से और प्रत्यक्ष अग्नि और सूर्य आदि की उत्पत्ति वायु के अधीन देखी भी जाती है, इससे वायुस्वरूप चन्द्रमा से अग्नि उत्पन्न होती है, यह तो मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया; अब आप कृपाकर सोम की उत्पत्ति मुझसे कहें ॥ ७९ ॥

वसिष्ठ उवाच

अग्नीषोमौ मिथः कार्यकारणे च व्यवस्थिते ।
पर्यायेण समं चैतौ प्रजीवेते परस्परम् ॥ ८० ॥
जन्माङ्गबीजाङ्कुरवत्तथा दिवसरात्रिवत् ।
स्थितिश्छायातपसमा केवला सैतयोर्भवेत् ॥ ८१ ॥
तुल्यकालोपलम्भासावित्थं छायातपस्थितिः ।
केवलैकोपलम्भाढचा स्थितिर्दिवसरात्रिवत् ॥ ८२ ॥
कार्यकारणभावश्च द्विविधः कथितोऽनयोः ।
सद्रूपपरिणामोत्थो विनाशपरिणामजः ॥ ८३ ॥
एकस्माद्यद्द्वितीयस्य सम्भवोऽङ्कुरबीजवत् ।
कार्यकारणभावोऽसौ सद्रूपपरिणामजः ॥ ८४ ॥
एकनाशे द्वितीयस्य यद्भावो दिनरात्रिवत् ।
कार्यकारणभावोऽसौ विनाशपरिणामजः ॥ ८५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अग्नि और सोम अर्थात् चन्द्रमा परस्पर कार्यकारणरूप से व्यवस्थित हैं। वे दोनों क्रमशः या एक साथ परस्पर एक दूसरे के उपजीवक हैं ॥ ८० ॥

इन दोनों की उत्पत्ति में बीज और अङ्कुर की तरह परस्पर एक दूसरा उपादान कारण तथा दिन और रात के तुल्य परस्पर एक दूसरा निमित्तकारण है। परन्तु इन दोनों की स्थिति तो छाया और आतप के समान परस्पर एक दूसरे की हत्या करने वाली है ॥ ८१ ॥

एक ही समय में इन दोनों की उपलब्धि यदि हो तो इन दोनों की स्थिति छाया और आतप के समान समझनी चाहिए और यदि केवल एक ही उपलब्धि हो तो रात और दिन के समान इनकी स्थिति समझें ॥ ८२ ॥

इन दोनों में कार्यकारण भाव भी दो तरह का कहा गया है—एक सद्रूप परिणाम से उत्पन्न और दूसरा विनाशरूप परिणाम से उत्पन्न है ॥ ८३ ॥

जहाँ पर अङ्कुर से बीज की तरह एक से दूसरे की उत्पत्ति होती है। वह कार्य कारणभाव सद्रूप परिणाम से उत्पन्न कहा जाता है ॥ ८४ ॥

जहाँ एक का नाश होने पर दूसरे की दिन और रात की तरह उत्पत्ति होती है। वह कार्य-कारणभाव विनाश रूप परिणाम से उत्पन्न कहा जाता है ॥ ८५ ॥

सद्रूपपरिणामस्य मृद्घटक्रमसंस्थितेः ।
अक्षोपलम्भादितरत्प्रमाणं नोपयुज्यते ॥ ८६ ॥
विनाशपरिणामस्य दिनरात्रिक्रमस्थितेः ।
अभावोऽप्येकवस्तुस्थो गतो मुख्यप्रमाणताम् ॥ ८७ ॥
अनास्था नास्ति कर्तृत्वमित्याद्यायुक्तिवादिनः ।

[प्रथम पक्ष में, कार्य की उत्पत्तिदशा में कारण की सत्ता विद्यमान रहती है, इसमें 'अयं घटः मृदात्मकः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण दिखलाते हैं—'सद्रूप० इत्यादि से ।]

क्रमशः मिट्टी से घट की जो स्थिति होती है, उस स्थितिरूप सद्रूप परिणाम को जानने में इन्द्रियोपलब्धि के सिवा—इन्द्रियसन्निकर्ष के सिवा—अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रमाण उपयुक्त नहीं है। अनुमान आदि से उसकी सिद्धि सम्भव नहीं है क्योंकि सिद्ध साधन दोष होगा। इसीलिए कहा गया है कि हाथी को देखने के बाद उसकी चीत्कार से अनुमान नहीं करते हैं। किन्तु, अन्य मत में अनुमानरसिक सिषाधयिषा रहने पर सिद्ध का अनुमान करते हैं ॥ ८६ ॥

[इसी प्रकार दूसरे पक्ष में भी, कार्य की उत्पत्ति-दशा में कारण की सत्ता विद्यमान नहीं रहती, इसमें 'हम दिन में रात की उपलब्धि नहीं करते' इत्यादि अनुपलब्धि प्रमाण निखलाये हैं—'विनाश०' इत्यादि से ।]

दिन और रात के क्रम की स्थिति तत्-रूप विनाश परिणाम में मुख्य प्रमाण एक वस्तु मात्र का ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से अविरुद्ध अभाव ही है। अर्थात् विनाशरूप परिणाम में एकमात्र अनुलब्धि ही प्रमाण है ॥ ८७ ॥

आस्था नहीं है, इसलिए कर्तृत्व भी नहीं है, इत्यादि दुर्युक्तिपूर्वक बोलने वाले स्वयं अपने अनुभव का अपलाप करते हैं, उनका तिरस्कार के साथ कान पकड़कर विद्वानों की भरी सभा से बाहर कर देना चाहिए, क्योंकि उनके मत में भी अनास्थादि युक्ति बुद्धि अकर्तृत्वादि बुद्धि उत्पन्न करती है, यह कार्य कारणभाव अन्त में निकल हो जाता है। इसका [विवरण संस्कृत टीका के अनुसार अच्युतग्रन्थ-माला में इस प्रकार कहा गया है—जो वस्तु कार्य का सम्पादन करती हुई दिखाई पड़ती है, उसे ही कारण कहते हैं और कारण से कार्यकर्तृत्व कार्याभिनिवेशरूप आस्था के रहते ही देखा जाता है। केवल प्रकाशन कर उपक्षीण हुए दिन में रात के निर्माण के लिए आस्था नहीं है, इसलिए दिन में रात्रि-निर्माण कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही रात में भी दिन निर्माण कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता—इस स्थिति में अभावपरिणाम से कार्यकारण भाव का समर्थन करना बिलकुल निर्मूल है। इसी रीति से अचेतन मिट्टी आदि में भी घटादि के निर्माण करने की आस्था नहीं रह सकती, क्योंकि वह आस्था तो चेतन का धर्म है। किञ्च, पैरों से खूब नहीं रौंदे गये मृत्पिण्ड से घट की निष्पत्ति कभी नहीं होती। पैरों से रौंदने पर तो मृत्पिण्ड नष्ट ही हो जाता है, इसलिए कौन वस्तु सद्रूप से परिणत होगी। यह तो आप कह नहीं सकते कि उस मिट्टी के पिण्ड और घट से अलग एक तीसरी ही दोनों में अनुगत मिट्टी नाम की चीज है। किञ्च, यदि आप यह कहें कि बीज तो अङ्कुर पैदा करेगा ही चाहे वह भले ही किसी एक जगह रख दिया गया हो, नष्ट होना चाहता हो, नष्ट हो रहा हो या बिलकुल नष्ट ही हो गया हो; तो इसमें आपका प्रथम धक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आपके मत से कठोर मे रखा हुआ बीज भी अङ्कुर पैदा करने लगेगा। दूसरा और तीसरा भी नहीं बनता, क्योंकि जो स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, वह दूसरा बच्चा पैदा करेगा—यह आपकी कौन-सी युक्ति है? अब रह गया एक चौथा पक्ष, वह तो संसार में सब के अनुभव से बाधित है; इसलिए यह सिद्ध है कि किसी से किसी की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, किन्तु स्वभावतः सब पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। इसमें पूर्वापर का अवलोकन करने से अविवेकियों को ही कार्यकारण-भाव के विषय में विकल्प होते हैं, विवेकियों को नहीं, अतः दुर्युक्तिपूर्वक बोलनेवालों को स्वानुभव विरोध के उद्भावन से ही विद्वत्समाज से निकालकर बाहर कर देना चाहिए] ॥ ८८ ॥

अवज्ञया बहिष्कार्याः स्वानुभूत्यपलापिनः ॥ ८८ ॥
प्रत्यक्षवदभावोऽपि प्रमैव रघुनन्दन ! ।
अग्न्यभावोऽपि शीतस्य प्रमाणं सर्वजन्तुषु ॥ ८९ ॥
अग्निर्धूमतया भागाद्यां प्रयाति पयोदताम् ।
सद्रूपपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९० ॥

हे रघुनन्दन ! प्रत्यक्ष के समान अभाव भी प्रमाण है, क्योंकि यह सब जन्तुओं को भली-भाँति विदित है कि शीत के परिज्ञान में तेज का अभाव भी प्रमाण होता है ॥ ८९ ॥

धूमरूप से विभक्त हो जाने के कारण अग्नि चन्द्रात्मक जलरूपता को प्राप्त हो जाती है, उसमें सद्रूप परिणाम से

अग्निर्नष्टतया शैत्यादसावेव प्रयाति यत् ।
विनाशपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९१ ॥
सप्ताम्बुधिपयः पीत्वा धूमोद्गारेण वाडवः ।
पयोदतां प्रयातेन तदेव जनयत्यलम् ॥ ९२ ॥
अर्कः पीत्वा निशानाथमामावास्यं पुनः पुनः ।
उद्गिरत्यमले पक्षे मृणालमिव सारसः ॥ ९३ ॥
पीत्वाऽमृतोपमं शीतं प्राणः सोममुखागमे ।
अभ्रागमात्पूरयति शरीरं पीनतां गतः ॥ ९४ ॥
जलमप्युदयां भोगे प्रयात्यर्कस्य रश्मिताम् ।

अग्नि चन्द्र का कारण है। अर्थात् शरीर के बाहर जगत् में सद्रूप परिणाम से चन्द्र का कारण अग्नि है ॥ ९० ॥

नष्ट होने से शीतलता को प्राप्त होने के कारण वही अग्नि वायुरूपता की प्राप्त होती है। वहाँ भी विनाशरूप परिणाम से अग्नि ही चन्द्र का कारण है ॥ ९१ ॥

वडवानल सातों समुद्र का जल पीकर धूम के उद्गिरण द्वारा मेघ बन कर उसी मेघरूप से फिर सातों समुद्र में जलात्मक चन्द्र को ही उत्पन्न करता है। सद्रूपपरिणाम से अग्नि और चन्द्र—ये दोनों परस्पर एक दूसरे के कारण हैं, इनका एक-एक जगह उदाहरण देते हैं ॥ ९२ ॥

जैसे सारस कमलदण्ड को खाकर उगल देता है वैसे ही सूर्यात्मक तेज अमावास्या तक चन्द्रमा को बारबार यानी बिलकुल पीकर शुक्लपक्ष में उस तरह उगिल देता है ॥ ९३ ॥

मुख के समान सुशोभित चन्द्रमा से युक्त वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के आने पर गरमी से युक्त वायु पृथिवी का अमृत के तुल्य शीतल जल पीकर वर्षा ऋतु में मेघ के आगमन से स्थूल होकर वृष्टि से जगत् के शरीर को परिपूर्ण कर देता है। अथवा—आध्यात्मिक प्राण ही सोम-मुख से अन्नपानादि का उदर में आगमन होने पर अमृत के तुल्य उनका रस पीकर परिपुष्ट होकर अभ्र के समान व्याप्त सम्पूर्ण नाडियों में आगमन करके शरीर को भर देता है। यही इसका पुनः सोम परिणाम है—यह अर्थ हैं अथवा 'सोम सुखागमे' इस पाठ में तो अग्नि-स्वरूप यजमान रूपी प्राणयज्ञ में अमृत के तुल्य शीतल सोमरस का पान करके अन्त में धूमादिमार्ग से स्वर्ग पहुँचने में चन्द्रमा के समीप आकाशरूपी मार्ग की सन्धि मिल जाने से चन्द्रमा को प्राप्त करके चन्द्रस्वरूप बन जाता है और कलाओं से अपना शरीर भर लेता है, वही इसका

सद्रूपपरिणामेन तज्जलं वह्निकारणम् ॥ ९५ ॥
नाशात्मकतया तोयमौष्ण्यत्वादेति ह्यग्निताम् ।
विनाशपरिणामेन तत्तोयं वह्निकारणम् ॥ ९६ ॥
अग्नेर्विनाशे सद्रूप-परिणामो निशाकरः ।
इन्दोर्विनाशे सद्रूपपरिणामो हुताशनः ॥ ९७ ॥
हुताशो नाशमागत्य सोमो भवति वै तथा ।
दिवसो नाशमागत्य रात्रिर्भवति वै यथा ॥ ९८ ॥
तमःप्रकाशयोच्छायातपयोर्दिनरात्रयोः ।
मध्ये विलक्षणं रूपं प्राज्ञैरपि न लभ्यते ॥ ९९ ॥

पूर्णिमा के दिन पुनः स्थूल बना हुआ सोमपरिणाम है, यह अर्थ है ॥ ९४ ॥

सूर्य की किरणों से जलपान किया जाता है, यह माना जाय, तो भी इस कल्पना में यह मानना चाहिए कि जल सूर्य की किरणता को सद्रूपपरिणाम से प्राप्त करता है, इसलिए वह जलरूप चन्द्रमा अग्नि का कारण है। अर्थात् वायु पृथिवी का रस नहीं सोखता, किन्तु सूर्य की किरणें ही उसे पी जाती है, क्योंकि रात में भी उनकी उष्णरूप से सत्ता रहती ही है ॥ ९५ ॥

नाशात्मकरूप से उष्णस्वरूप होने के कारण जल भी अग्निरूप हो जाता है, अतः विनाशपरिणाम से वह जल-रूप चन्द्रमा अग्नि का कारण है। उसमें शैत्य और द्रवत्व का नाश तथा उष्णता और रुक्षता की उत्पत्ति उस अंश में विनाशपरिणाम भी है इसलिए यह उदाहरण दोनों परिणामों का है॥ ९६ ॥

अग्नि के विनाश में सद्रूप परिणाम चन्द्रमा है तथा चन्द्रमा के विनाश में सद्रूप परिणाम अग्नि है अर्थात् सर्वत्र अग्नि और चन्द्र स्वरूप परिणाम में उभय रूप सङ्कीर्णता भी सूक्ष्म दृष्टि से अच्छी तरह देखी जा सकती है ॥ ९७ ॥

पावक नाश को प्राप्त होकर वैसे ही चन्द्र हो जाता है जैसे दिन नाश को प्राप्त होकर रात हो जाता है ॥९८॥

तम और प्रकाश, छाया और आतप तथा दिन और रात के बीच में विलक्षण सद्रूप ब्रह्म बड़े-बड़े बुद्धिमानों को प्राप्त नहीं होता है ॥ ९९ ॥

[तप और प्रकाश की जो सन्धि है, वह तो उभय विलोपात्मक एक शून्य रूप ही हैं, अतः उसमें उन दोनों से विलक्षण तीसरा कोई रूप नहीं रहता, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—'सन्धि' इत्यादि से ।]

सन्धिरप्यविलोपः स्यादेतयोरेव तद्वपुः ।
भावाभावैर्यथैकास्थानिष्ठावेतौ तथैव हि ॥१००॥
द्वाभ्यां चैतन्यजाड्याभ्यां भूतानि प्रस्फुरन्ति हि ।
यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रा महीतले ॥१०१॥
चिद्रूपजडरूपाभ्यामारब्धेयं जगत्स्थितिः ।
जलामृताभ्यां मिश्राभ्यां शीता तनुरिवैन्दवी ॥१०२॥
प्रकाशमनलं सूर्यं चिद्रूपं विद्धि राघव ! ।
जडात्मकं तमोरूपं विद्धि सोमशरीरकम् ॥१०३॥
चित्सूर्ये निर्मले दृष्टे नाम नश्येद्भवोदयम् ।
व्योमसूर्ये बहिर्दृष्टे यथा कृष्णनिशातमः ॥१०४॥

तम और प्रकाश दोनों की सन्धि भी अशून्य स्वरूप ही है, क्योंकि यह सन्धि इन दोनों का ही परस्पर संलग्न स्वरूप है। शून्य वस्तुओं की सन्धि नहीं होती और न सद्रूप वस्तुओं में निमित्त रहित शून्यता ही रहती है। वे दोनों सन्धि में वर्तमान कैसे हैं जैसे भाव और अभाव रूप से निरूपित तम और प्रकाश के दो-दो स्वरूप एक वस्तु रूप होने से एक स्थान में वर्तमान हैं वैसे ही वे दोनों सन्धि में भी वर्तमान हैं, अणु मात्र भी अन्यथाभूत नहीं हैं; अर्थात् परस्पर निरूपण करने से भावरूप तथा परस्पर सापेक्ष निरूपण करने से अभाव रूप तम एवं प्रकाशाभावस्वरूप एक ही वस्तु है और इसी तरह प्रकाश एवं अन्धकाराभाव भी एक वस्तु है ॥ १०० ॥

चेतनता और जड़ता इन दोनों से संसार के जीव वैसे ही स्फुरित हो रहे हैं जैसे पृथिवी पर तम और प्रकाश से रात और दिन हो रहे ॥ १०१ ॥

चिद्रूप और जडरूप से यह जगत् की वैसे ही स्थिति जैसे मिश्रित जल और अमृत से चन्द्रमा की शीतल देह निर्मित है ॥ १०२ ॥

हे राघव ! अग्नि, प्रकाश या सूर्य को आप चिद्रूप समझिये तथा चन्द्रमा को जडात्मा और तमोरूप जानें अर्थात् प्रकाश और अप्रकाश रूप से आविर्भूत चित् और जड़ इन दोनों के अंशों से ही जगत् अग्नि और चन्द्रस्वरूप है ॥ १०३ ॥

निर्मल चित्सूर्य के अन्दर दिखाई पड़ने पर जगत् के मूल कारण अज्ञान का वैसे ही नाश हो जाता है जैसे बाहर आकाश में सूर्य के दिखाई पड़ने पर काली रात का अन्जकार नष्ट हो जाता है अर्थात् बाहर सूर्य के उदय से जैसे तम की निवृत्ति होती है वैसे ही अन्दर चरमवृत्ति से चिदादित्य के उदय से जगत् के बीजभूत अज्ञानरूप तम की निवृत्ति होती है ॥ १०४ ॥

सोमदेहे जडे दृष्टे चिन्निजे सत्यवद्भवेत् ।
निशीथे विलसत्यब्जे यथा सौरप्रभाभरः ॥१०५॥
सोमं प्रकटयत्यग्निश्चिद्देहस्य चिरं प्रभाम् ।
स्वसंविन्मयमिन्दुश्चिद् देहस्थं रूपमर्कजम् ॥१०६॥
चिन्निष्क्रियात्वनामा सा केवला नोपलभ्यते ।
आलोक इव दीपेन देहेनैवाऽवगम्यते ॥१०७॥
चितश्चेत्योन्मुखत्वेन लाभः सैव च संसृतिः ।
निश्चेत्यायाः शुभो लाभो निर्वाणं वा तदेव हि ॥१०८॥
अन्योन्यलब्धसद्भावयावेवं कुड्यप्रकाशवत् ।
अग्नीषोमाविमौ ज्ञेयौ सम्पृक्तौदेहदेहिनौ ॥१०९॥

प्रत्यगात्मा के जड़ सोमात्मक देह के अन्दर दृष्ट हो जाने पर जड़ देहतादात्म्य से स्फुरित हो रही चिति शरीर गुणरूपता को प्राप्त हो गुणान्तरों के सदृश शरीर गुणसत्ता से सत् होती हुई भी अपनी सत्ता से वैसे ही असत् के ही समान हो जाती है जैसे आधी रात में कमल के अन्दर चन्द्र के विलास करने पर कमल के अन्दर प्रवेश कर स्फुरित हो रहा सूर्य प्रभा समूह चन्द्र धर्म चन्द्रिकत्व रूप से सम्पन्न होकर चन्द्रसत्ता से सत् हो अपनी सत्ता से असत्-सा हो जाता है ॥ १०५ ॥

चन्द्रमण्डल में प्रविष्ट सूर्य प्रभारूप अग्नि जलमय चन्द्रबिम्ब को प्रकाशमय करता है और देह में जीवभास से प्रविष्ट चिति जीवनपर्यन्त देह को अहम्भावादिरूप से प्रकाशित करती है, इस प्रकार एक दूसरे का सम्मेलन होने पर तादात्म्याध्यास से सूर्यमण्डल-जनित प्रभा-मण्डलात्मक चन्द्रस्वरूप हो जाता है और चिति अपने संवित्स्वरूप 'अहं मनुष्यः, अहं चेतनः' इत्यादि अनुभव के अनुसार देहस्वरूप हो जाती है ॥ १०६ ॥

[इससे भी चिति को देह धर्मों का भ्रम हो जाता है, यह कहते हैं—'चिन्निष्क्रिया०' इत्यादि से ।]

क्रिया और उपाधि से शून्य केवल चिति उपलब्ध नहीं होती है। देह द्वारा ही चिति का वैसे ही भान होता जैसे दीप द्वारा प्रकाश का भान होता है ॥ १०७ ॥

अज्ञान से आवृत चिति को विषयों की ओर उन्मुख होने से अनर्थ प्राप्ति होती है, वही अनर्थ प्राप्ति संसृति (संसार) है तथा विषयशून्य चिति का स्वरूप ही शुभ, लाभ या मोक्ष है ॥ १०८ ॥

भित्ति और सूर्य प्रकाश के समान परस्पर मिले रहने के कारण सद्रूप से वाग्व्यवहार के विषय देह और देही (चिति) ये दोनों अग्नि और चन्द्रस्वरूप हैं ॥ १०९ ॥

अतिशायिनि निर्वाणे जाड्ये चैवाऽतिशायिनि ।
अग्नीषोमस्य चैवाऽङ्ग स्थितिर्भवति केवला ॥११०॥
प्राणोऽग्निरुष्णप्रकृतिरपानः शीतलः शशी ।
छायातपवदित्येतौ संस्थितौ मुखमार्गगौ ॥१११॥
अपाने शीतले सत्तामेत्युष्णः प्राणपावकः ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शे स च तस्मिंस्तथैव हि ॥११२॥
चिदग्निः पद्मपत्रस्थं सोमं वाचात्मकं त्विषा ।
जनयत्यनुभूत्येह कुड्यालोकं यथा बहिः ॥११३॥

हे प्रिय श्रीरामचन्द्रजी, उपाधि की निवृत्ति से आत्यन्तिक आनन्द का आविर्भाव होनेपर अग्नि की तथा आत्यन्तिक जाड्य का आविर्भाव होनेपर चन्द्र की केवल स्थिति होती है ॥ ११० ॥

छाया और आतप की तरह मुखरूप मार्ग में स्थित ये दोनों उष्ण प्रकृति प्राणवायु अग्नि स्वरूप है तथा शीतल प्रकृति अपानवायु चन्द्रस्वरूप है अर्थात् प्राण और अपानवायु अग्नि और चन्द्र स्वरूप है ॥ १११ ॥

अपानवायु के शीतल होने पर उष्ण प्रकृति प्राणरूप अग्नि अपनी सत्ता को प्राप्त होती है और दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह प्राणवायु के उष्ण होने पर अपान भी सत्ता को प्राप्त करता है ॥ ११२ ॥

जिस तरह बाहर भित्ति प्रकाश को सूर्य उत्पन्न करता है वैसे ही मूल प्राण कुण्डलिनीरूप चिदग्नि मूलाधार से लेकर कण्ठपर्यन्त चार दलवाले कमल में स्थित परा से लेकर वैखरी पर्यन्त वाणीरूप चन्द्रमा को अर्थ प्रकाशनरूप शक्ति से उत्पन्न करती है ॥ ११३ ॥

मनुष्यों के अर्थात् व्यष्टिदेहों के सर्ग में भी वही संवित् व्यष्टयाकार से अग्नि और चन्द्र नाम की वैसे ही प्राप्त हो गई है जैसे सर्ग के प्रारम्भ में मायाशबल कोई ब्रह्म-संवित् शीतोष्णरूप ब्रह्माण्डाकार से अग्नि और चन्द्र नाम को प्राप्त हो गई है ॥ ११४ ॥

[ठीक है, ब्रह्माण्ड की तरह अग्नि और चन्द्रस्वरूप शरीर भी रहे, लेकिन उससे कौन कार्य सिद्ध होगा ? इस पर कहते हैं—'यत्र' इत्यादि से ।]

जहाँ मुख से बाहर सूर्य से ग्रस्त हुई ध्रुवा नामक सोम की (अपान की) सोलहवीं कला पाप सूर्य से उगिल दी गई कलाओं से पूर्ण होकर क्षण भर में, पूर्व दिशा में पूर्णिमा के चन्द्र की तरह एक बित्ते की तैयार हो जाती है वहीं पर बाह्य कुम्भक से आप स्थिर हो जाइये । [संस्कृत व्याख्या के अनुसार अच्युत ग्रन्थमाला की टिप्पणी में

संसृत्यादौ यथा काचित्संविच्छीतोष्णरूपिणी ।
अग्नीषोमाभिधां प्राप्ता सैव सर्गे नृणामिह ॥११४॥
यत्र सोमकला ग्रस्ता क्षणं सूर्येण षोडशी ।
मुखाद्वितस्तिमात्रं स्यात्तत्र बद्धपदो भव ॥११५॥
नूनं सूर्यपदं प्राप्तो यत्र सोमो हृदम्बरे ।
नूनं केवलया स्थित्या तत्र बद्धपदो भव ॥११६॥
उष्णमग्निश्चिदादित्यः शैत्यं सोम उदाहृतम् ।
यत्रैतौ प्रतिबिम्बस्थौ तत्र बद्धपदो भव ॥११७॥

कहा है कि जैसे आकाश में कृष्णपक्ष में अग्निस्वरूप सूर्य चन्द्रमा की शीतल पन्द्रह कलाओं का प्रतिपदादितिथियों में क्रमशः ग्रासकर केवल एक ध्रुवा नामक कला छोड़ देता है। उसके बाद शुक्लपक्ष में फिर क्रमशः उष्ण कलाएँ उगिल देता है, उनसे क्रमशः पूर्ण होती हुई ध्रुवा नाम की कला पूर्ण चन्द्रस्वरूप हो जाती है, वैसे ही हृदय में स्थित प्राणरूपी सूर्य अपानरूपी चन्द्र की मुख और नासिका द्वारा प्रविष्ट हुई शीतल पन्द्रह कलाओं का ग्रास करके मुख से बाहर ध्रुवा नामक केवल एक कला को छोड़कर फिर उन उष्ण कलाओं को उगिल देता है। उनसे परिपूर्ण होती हुई ध्रुवा नाम की कला बाहर चन्द्र स्वरूप हो जाती है जिसका दूसरा नाम अपान है। बाहर प्राण और अपान की जो सन्धि है वह पूर्णिमा तथा हृदय में अमावस्या कहलाती है। अन्तराल देश में इडा और पिङ्गला की प्रत्येक ऊपर नीचे स्थित शाखाओं की छः नाड़ियों में प्राणरूपी सूर्य के प्रवाह से दो अयन होते हैं। मेष, वृष आदि बारह महीने और इन दोनों के बीच में संक्रान्तियाँ होती हैं। अपानरूपी चन्द्र के प्रवाह से चैत्र, वैशाख आदि महीने, विष्कम्भ आदि योग तथा भिन्न-भिन्न नाम के पर्व हुआ करते हैं—यह योगियों को प्रत्यक्ष है] ॥ ११५ ॥

जहाँ हृदयाकाश में कलाग्रास द्वारा क्रमशः ग्रसित चन्द्रमा सूर्य के स्थान में पहुँच कर अमावस्या आने पर, केवल शुद्धचिद्रूप ध्रुवा नाम की कलात्मक स्थिति से स्थित रहता है वहां पर अन्तःकुम्भक से आप स्थिर हो जाइये ॥ ११६ ॥

[अर्थात् अब अर्धरेचक या अर्धपूरक से मध्य में दोनों ओर से प्राण के निरोध द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब की तरह उनकी तुल्यरूपता कहकर धारणा कहते हैं ।]

जहाँ चित्सूर्य उष्ण और अग्निस्वरूप तथा चन्द्रमा शीतल कहा गया है। अर्धरेचक और अर्धपूरक से अन्तराल

शरीरे सोमसूर्याग्निसङ्क्रान्तिज्ञो भवाऽनघ ! ।
तत्र सङ्क्रान्तिकाला हि बाह्यास्तृणसमाः स्मृताः ॥११८॥
संक्रान्तिमुत्तरमथायनमङ्ग सम्य-
क्कालं तथा विषुवतौ यदि देहवातैः ।
अन्तर्बहिष्ठमिव वेत्सि यथाऽनुभूतं
तच्छोभसेऽत्र न पुनः परमभ्युपेतः ॥११९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अग्नीषोमविचारणं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

में ये दोनों अग्नि और चन्द्र या प्राण और अपान प्रतिबिम्बरूप में स्थित हैं, वहाँ पर आप स्थिर हो जाइये ॥ ११७ ॥

हे पापशून्य ! इस शरीर में भी अपान की शीतता का जठराग्नि से ग्रास होने पर चन्द्रमा की अग्निसङ्क्रान्ति होती है और प्राण की उष्णता का बाह्य शीतता से ग्रास होने के कारण अग्नि की वैसे ही चन्द्रसङ्क्रान्ति होती है जैसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरत् ऋतुओं में क्रमशः शीत का उष्णता से ग्रास हो जाने के कारण सोम की अग्नि सङ्क्रान्ति होती है और शरत्, हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओं में क्रमशः उष्णता का शीत से ग्रास हो जाने के कारण अग्नि की चन्द सङ्क्रान्ति होती है एवं इन दोनों की सन्धि में सूर्य की मेषादि सङ्क्रान्ति होती है । आप इनके विशेषज्ञ हो जायें, क्योंकि इस शरीर के अन्दर मुख्य संक्रान्तिकाल ये हैं, बाह्यसंक्रान्तिकाल तो तृण के समान कहे गये हैं ॥ ११८ ॥

बाहर प्रसिद्ध संवत्सर में स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदि की तरह इस शरीर के अन्दर भी स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदि को देह के प्राण और अपानवायु के द्वारा स्थित यदि आप योगाभ्यास के कारण प्रत्यक्ष अनुभूत घट, पटादि के समान भली-भाँति जानने पर योगियों की कथाओं में शोभायमान है । यदि मेरे उपदेश के ऊपर ध्यान न देकर कहीं अन्यत्र प्रवृत्त हैं, तो फिर आप शोभायमान नहीं हैं ॥ ११९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में अग्नीषोमविचारण नामक कुसुसलता का एकासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

८२

वसिष्ठ उवाच

अणुतां स्थूलतां वाऽपि यथा गच्छति योगिनाम् ।
देहो नाम तथा सम्यग्वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ १ ॥
हृद्यब्जचक्रकोशोर्ध्वं प्रस्फुरत्याऽऽनलः कणः ।
हेमभ्रमरवत्सान्ध्यविद्युल्लव इवाऽम्बुदे ॥ २ ॥
स प्रवर्द्धनसंविरया वात्ययेवाऽऽशु वर्द्धते ।
संविद्रूपतया नूनमर्कवद्याति चोदयम् ॥ ३ ॥
सन्ध्याभ्रप्रथमार्काभो वृद्धिमभ्यागतः क्षणात् ।
गालयत्यखिलं साङ्गं देहं हेम यथाऽनलः ॥ ४ ॥

८२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—योगियों की नेह अणुता या स्थूलता को जिस तरह प्राप्त होती है, उसे मैं अच्छी तरह कहूँगा, आप सुनें ॥ १ ॥

[उनमें सबसे पहले, अणुत्व की प्राप्ति के लिए देह का विलोप कर देना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए हृदय-कमल-नाल के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा हृदयाकाश से प्रवेश कर नाभि के ऊपर जलती हुई जठराग्नि की—हृदय कमल के छत्ते में परमात्मा की आसन स्वरूप—शिखा दिखलाते हैं—'हृद्यब्ज०' इत्यादि से ।]

हृदय में कमल चक्र की कर्णिका के ऊपर अग्नि का चमकता है, वैसे ही जिस तरह सुवर्ण का भ्रमर या सायंकाल को बादल में बिजली की रेखा चमकती है ॥ २ ॥

झंझावात के सदृश प्रवर्द्धन के उपायभूत ज्ञान से संविद्रूप अग्निकण वैसे ही शीघ्र बढ़ता है और वह बढ़कर लौकिक अग्निकण की तरह देह को जलाता नहीं, किन्तु संविद्रूप होने से सूर्य के समान देह को अतिशय प्रकाश से युक्त बना देता है । जैसे लौकिक अग्निकरण झंझावात से शीघ्र वृद्धि प्राप्त करता है और सारे शरीर में व्याप्त होकर उसे जला देता है ॥ ३ ॥

जैसे सुवर्ण को अग्नि जला देती है, वैसे ही प्रातःकाल में आकाश में प्रथम उदित सूर्य की कान्ति के समान क्षणभर में ही वृद्धि को प्राप्त वह अग्निकण हाथ, पैर आदि अङ्गों के साथ सम्पूर्ण शरीर को गला देता है, अर्थात् पार्थिव गन्ध और कठिनता को जल में उपसंहृत कर देता है ॥४॥

जलस्पर्शासहो युक्त्या गलयेत्प्रपदादपि ।
बाह्य एवाऽनलस्पर्शात् स्वान्ते वस्तुविशेषतः ॥ ५ ॥
स शरीरद्वयं पश्चाद्विधूय क्वाऽपि लीयते ।
विक्षोभितेन प्राणेन नीहारो वात्यया यथा ॥ ६ ॥
आधारनाडीनिर्हीना व्योमस्थैवाऽवशिष्यते ।
शक्तिः कुण्डलिनी वह्नेर्धूमलेखेव निर्गता ॥ ७ ॥
क्रोडीकृतमनोबुद्धिमयजीवाद्यहङ्कृतिः ।
अन्तःस्फुरच्चमत्कारा धूमलेखेव नागरी ॥ ८ ॥
बिसे शैले तृणे भित्तावुपले दिवि भूतले ।
सा यथा योज्यते यत्र तेन निर्यात्यलं तथा ॥ ९ ॥
संविक्तिः सैव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम् ।
रसेनाऽपूर्णतामेति तन्त्रीभार इवाऽम्बुना ॥ १० ॥

पैर के अग्रभाग तक को वह युक्ति से गला देता है अनन्तर शोषण युक्ति से अपने अग्नि स्वभाव के कारण जल स्पर्श को न सह सकनेवाला वह पावक अपनी उष्णता के बल से द्रवत्वोपसंहाररूप युक्ति से जल को भी सुखा देता है और देह से बाहर हुआ वह मनोरूप आतिवाहिक देहमात्र में अवस्थित रहता है ॥ ५ ॥

जैसे झंझावात से निहार विलीन हो जाता है वैसे ही पार्थिव तथा जलमय दोनों शरीरों को गलाकर वह अग्नि पीछे विक्षोभित प्राणवायु के द्वारा उपसंहृत हो कहीं विलीन हो जाती है ॥ ६ ॥

जैसे अग्नि से निकली हुई धूम की रेखा आकाश में अवस्थित हो जाती है वैसे ही उस समय कुण्डलिनी शक्ति भी मूलाधारस्थ सुषुम्ना नाड़ी से हीन होकर सुषुम्ना के संस्कार से युक्ति अतिवाहिक देहाकाश में अवस्थित हो जाती है ॥ ७ ॥

जैसे नगर की धूम रेखा शोभायमान होती है वैसे ही आतिवाहिक देहाकाश में स्थित मन, वृद्धि, जीव आदि से घटित जिस शरीर में अहङ्कार को संकलित करनेवाली तथा आभ्यन्तर में स्वेच्छाविहारशक्ति एवं चित्-चमत्कार से युक्त वह कुण्डलिती शोभित होती है ॥ ८ ॥

कमलनाल, पर्वत, तृण, भित्ति, पत्थर, स्वर्ग और भूतल आदि जिस किसी जगह जिस रीति से प्रविष्ट होकर निकल जाने के लिए उद्युक्त की जाती है उस जगह उस रीति से वह प्रविष्ट होकर ठीक तरह निकल जाती है ॥ ९ ॥

जिस तरह कूप में ढील दिया गया मोट पूर्ण हो जाता है वैसे ही वही कुण्डलिनी शक्ति अर्थात् योगी की जीवशक्ति अग्नि में पहले उपसंहार जलभाग को जब छोड़ देती है तब पुनः रस से पूर्ण हो जाती है ॥ १० ॥

रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याऽऽशु तत्तथा ।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम ! यथाकृतिम् ॥ ११ ॥
दृढभाववशादन्तरस्थीन्याप्नोति सा ततः ।
मातृगर्भनिषण्णेषु सुसूक्ष्मेवाऽङ्कुरस्थितिः ॥ १२ ॥
यथाभिमतमाकारं प्रमाणं वेत्ति राघव ! ।
जीवशक्तिरवाऽप्नोति सुमेर्वादितृणादि च ॥ १३ ॥
श्रुतं त्वया योगसाध्यमणिमाद्यर्थसाधनम् ।
ज्ञानसाध्यमिदानीं त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ १४ ॥
एकं चिन्मात्रमस्तीह शुद्धं सौम्यमलक्षितम् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शान्तं न जगन्न जगत्क्रिया ॥ १५ ॥
तच्चिचनोत्यात्मनात्मानं सङ्कल्पोन्मुखतां गतम् ।
यदा तदा जीव इति प्रोक्तमाविलतां गतम् ॥ १६ ॥

पहले उपसंहृत पार्थिव भाग को जिस आकार में परिणत करने के लिए रस से परिपूर्ण वह कुण्डलिनी भावना करती है, योगशक्ति से वैसा ही आकार बनाकर शीघ्र उसे धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

जैसे माता के गर्भ में विद्यमान कललों में स्थित अस्थि, हाथ, पैर आदि अङ्कुरों की आधारभूत अगम्य अत्यन्त सूक्ष्म बीजशक्ति प्राप्त हो जाती है वैसे ही उसके बाद वही कुण्डलिनी दृढ़ भावना के वश भीतर हड्डी आदि को इस तरह प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

हे राघव ! अपनी इच्छा के अनुसार वह जीवशक्ति सुमेरु आदि के समान महान् या तृण आदि के समान लघु आकार या परिमाण की भावना करती है वैसी ही भावनानुसार सुमेरु आदि या तृणादिरूप हो जाती है ॥ १३ ॥

योग से साध्य अणिमादि अर्थात् योगसिद्धि के अनुसार कहे गये स्थूल जौर सूक्ष्म भावप्राप्तिक्रमों का उपसंहार कर उनसे विलक्षण प्रकृत में परमोपयोगी ज्ञानसाध्य क्रम का श्रवण कराते हैं। पदार्थों का साधन आप सुन चुके, अब श्रवण भूषण ज्ञानसाध्य क्रम आप सुनें ॥ १४ ॥

एक, शुद्ध,सौम्य, अलक्षित, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और शान्त चिन्मात्र वस्तु इस संसार में है और न यह जगत् है न इसकी कोई क्रिया है ॥ १५ ॥

वह चिन्मात्र के द्वारा अध्यास से अपने को स्वयं सङ्कल्प की ओर उन्मुख करने पर कलुषता को प्राप्त हुआ 'जीव' कहा जाता है ॥ १६ ॥

असत्यमेव सङ्कल्पभ्रमेणेदं शरीरकम् ।
जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिवोद्धतम् ॥ १७ ॥
यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः ।
सङ्कल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥ १८ ॥
शान्तिमायाति देहोऽयं सर्वसङ्कल्पसंक्षयात् ।
तदा राघव ! निःशेषं दीपस्तैलक्षये यथा ॥ १९ ॥
निद्राव्यपगमे जन्तुर्यथा स्वप्नं न पश्यति ।
जीवो हि भाविते सत्ये तथा देहं न पश्यति ॥ २० ॥
अतत्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः ।
निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात् ॥ २१ ॥
अनात्मनि शरीरादावात्मभावनमङ्ग यत् ।
सूर्याद्यालोकदुर्भेदं हार्दं तद्दारुणं तमः ॥ २२ ॥
आत्मन्येवाऽऽत्मभावेन सर्वव्यापि निरञ्जनम् ।

जैसे मूढात्मा बालक उद्धत यक्ष को सङ्कल्प भ्रम से देखता है वैसे ही वही जीव असत्य ही इस शरीर को सङ्कल्प भ्रम से देखता है ॥ १७ ॥

जिस तरह शरत्काल में मेघ क्षीण हो जाता है वैसे ही जब ज्ञानदीप से उत्तम प्रकाश हो जाता है तब इस जीव का सङ्कल्प मोह उस तरह क्षीण हो जाता है ॥१८॥

हे राघव ! जिस तरह तैल का क्षय होने पर दीपक शान्त हो जाता है वैसे ही सब सङ्कल्प के क्षय से यह स्थूल शरीर सर्वथा शान्ति को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

सत्य का साक्षात्कार होने पर जीव वैसे ही देह को नहीं देखता जैसे निद्रा का नाश होने पर प्राणी स्वप्न नहीं देखता ॥ २० ॥

अतत्त्वभूत शरीर आदि में तत्त्व की भावना से यह जीव देह से आवृत होकर स्थित रहता है और एक ब्रह्मतत्त्व की भावना से देहशून्य श्रीमान् और सुखी रहता है ॥ २१ ॥

हे प्रिय ! अनात्म शरीर आदि में आत्मा की भावना है हृदयगत भयङ्कर तम है। उसे सूर्य आदि के प्रकाश से दूर नहीं किया जा सकता है ॥ २५ ॥

आत्मा में ही आत्मभावना से 'सर्वव्यापक, निरञ्जन और निर्मल चिन्मात्र में ही हूँ' इस ज्ञानरूपी सूर्य से ही नष्ट होता है ॥ २३ ॥

इस ज्ञानसिद्धि के दृढ़ हो जाने पर भी जीवन्मुक्त महात्माओं को ऐच्छिक विनोद के लिए स्थूल सूक्ष्म प्रातिभासिक देह की कल्पना सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'अन्ये च' इत्यादि से।

चिन्मात्रममलोऽस्मीति ज्ञानादित्येन नश्यति ॥ २३ ॥
अन्ये च विदितात्मानो भावयन्ति यथैव यत् ।
तत्तथैवाऽऽशु पश्यन्ति दृढभावनया तया ॥ २४ ॥
दृढभावानुसन्धानाद्विमूढा अपि राघव ! ।
विषं नयन्त्यमृतताममृतं विषतामपि ॥ २५ ॥
एवं यथा यदेवेह भाव्यते दृढभावनात् ।
भूयते हि तदेवाऽऽशु तदित्यालोकितं मुहुः ॥ २६ ॥
सत्यभावनदृष्टोऽयं देहो देहो भवत्यलम् ।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥ २७ ॥
अणिमादिपदप्राप्तौ ज्ञानयुक्तिरिति श्रुता ।
भवता साधुना राम ! युक्तिमन्यामिमां शृणु ॥ २८ ॥
रेचकाभ्यासयोगेन जीवः कुण्डलिनीगृहात् ।
उद्धृत्य योज्यते यावदामोदः पवनादिव ॥ २९ ॥

अन्य तत्त्वज्ञानी महात्मा लोग जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना करते हैं, वे उस पदार्थ को उसी रीति से शीघ्र अपनी उस दृढ़ भावना के बल से देख लेते हैं ॥२४॥

हे राघव ! दृढ़ भावना के अनुसन्धान से विमूढ़ (विषकीट आदि) प्राणी भी विष को अमृत के समान आहाररूप में पहुँचा देते हैं और अमृत को भी यानी अमृत के समान दुग्ध, अन्न आदि को भी 'इनमें विष मिला है' इस दृढ़ भावना में विष बना डालते हैं। तात्पर्य यह है कि विष को अमृत समझकर पी जाते हैं और अमृत को भी विष समझ कर छोड़ देते हैं ॥ २५ ॥

इस तरह दृढ़ भावना से जिस प्राणी के द्वारा जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना की जाती है, शीघ्र वह प्राणी उसी रीति से वही बन जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी इसके अनेक उदाहरण इस संसार में देखे गये हैं ॥ २६ ॥

सत्य की भावना से देखा गया यह शरीर ठीक शरीर हो जाता है और असत्य की भावना से देखा गया यही ब्रह्माकाशता को प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

अणिमादि पद की प्राप्ति में साधु-स्वभाव आपने इस प्रकार से ज्ञानयुक्ति तो सुन ली, अब आप यह दूसरी युक्ति अर्थात् दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होकर भोगप्राप्ति कैसे होती है, यह युक्ति सुनें अर्थात् यह ब्रह्माकाशता ही इसकी निरतिशय अणिमादि सर्वसिद्धियाँ हैं ॥ २८ ॥

रेचक के अभ्यासरूप योग से कुण्डलिनीरूप घर से बाहर निकल कर दूसरे शरीर में वैसे ही जीव सम्बद्ध किया जाता है जिस तरह पवन से पुष्प में से मोद खींचकर घ्राणेन्द्रिय में सम्बद्ध किया जाता है ॥ २९ ॥

त्यज्यते विरतस्पन्दो देहोऽयं काष्ठलोष्टवत् ।
देहेऽपि जीवेऽपि मतावासेचक इवाऽऽदरः ॥ ३० ॥
स्थावरे जङ्गमे वाऽपि यथाऽभिमतयेच्छया ।
भोक्तुं तत्सम्पदं सम्यग्जीवोऽन्तर्विनिवेश्यते ॥ ३१ ॥
इति सिद्धिश्रियं भुक्त्वा स्थितं चेत्तद्वपुः पुनः ।
प्रविश्यते स्वमन्यद्वा यद्यत्तात विरोचते ॥ ३२ ॥
देहादयस्तथा बिम्बान् व्याप्नवत्याखिलानथ ।
संविदा जगदापूर्य सम्पूर्णं स्थीयतेऽथवा ॥ ३३ ॥
ज्ञात्वा सदाभ्युदितमुज्झितदोषमीशो
यद्यद्यथा समभिवाञ्छति चित्प्रकाशः ।
प्राप्नोति तत्तदचिरेण तथैव राम !
सम्यक् पदं विदुरनावरणत्वमेव ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालोपाख्याने अणिमादिलाभयोगोपदेशो नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

यह शरीर परित्यक्त हो जाता है, जीवरहित यह देह विभिन्न चेष्टाओं से निवृत्त होकर काठ और मिट्टी के ढेले के सदृश जड़ हो जाती है। अपनी रुचि के अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जङ्गम सबमें भी उनकी सम्पत्ति का भोग करने के लिए अपना जीव वैसे ही करता है और उनमें आदर करता है जैसे सिंचन करने वाला पुरुष अपने हाथ में लिये हुए जलपूर्ण कुम्भ से जिस वृक्ष और लता को सींचने की इच्छा करता है उसे ही सींचता है ॥ ३०-३१ ॥

इस प्रकार परदेह में सिद्धिश्री का उपभोगकर अवस्थित योगी का यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहता है तो उसमें प्रविष्ट हो जाता और यदि नहीं रहा है तो दूसरे शरीर में अपनी रुचि के अनुसार उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

अथवा परदेह में उपभोग के बाद योगी अपने अन्तःकरण में विपुलता सम्पादन कर समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थावर-जङ्गम समस्त देह आदि प्रतिबिम्बोपाधि, उन स्थावर आदि उपाधियों में पड़े हुए प्रतिबिम्बभूत जीव बिम्बभूत चैतन्य की उपाधिरूप सत्त्व आदि गुण एवं सत्त्वादि गुणों से युक्त चैतन्यरूप बिम्ब—इन सभी को व्याप्त करने वाली अपनी आत्मसंवित्ति से पूर्णात्मना होकर स्थित रहता है ॥ ३३ ॥

योगरूप ऐश्वर्य की विभूति से सनातन उदित स्वप्रकाशस्वरूप सर्वविध दोषशून्य आत्मतत्त्व को जनकर जैसा चाहता है वह वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है, इसलिए तत्त्वज्ञ लोग छोटी छोटी सिद्धियों को अधिक महत्त्व नहीं देते, किन्तु अनावरणतारूप निरतिशयानन्द उत्तम पद को ही महत्त्व देते हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में चूडालोपाख्यान में अणिमादिलाभयोगोपदेश नामक कुसुमलता का बयासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८२ ॥

८३

वसिष्ठ उवाच

अणिमादिगुणैश्वर्ययुक्ता सा नृपभामिनी ।
एवं बभूव चूडाला घनाभ्यासवती सती ॥ १ ॥
जगामाऽऽकाशमार्गेण विवेशाऽम्बुधिकोटरम् ।
चचार वसुधापीठं गङ्गेवाऽमलशीतला ॥ २ ॥
क्षणमप्यगता भर्तुर्वक्षसश्चेतसस्तथा ।
सर्वेषूवास राज्येषु लक्ष्मीरिव जगत्सु च ॥ ३ ॥

८३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्राणधारणादि के घनाभ्यास से सम्पन्न वह राजपत्नी सती चूड़ाला अणिमादि सिद्धियों के गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गई ॥ १ ॥

मोहरूप कालुष्य और तीनों तापों का नाश हो जाने से गङ्गा की तरह विमल और शीतल वह चूडाला कभी आकाश मार्ग से गमन करती थी, कभी समुद्र के कोटर में प्रवेश करती थी तथा अपनी इच्छा के अनुसार कभी इस पृथिवी के ऊपर विचरण करती थी ॥ २ ॥

वह अपने पति के वक्षःस्थल तथा चित्त से क्षणभर के लिए भी अलग नहीं होती थी तथा सब राज्यों एवं सम्पूर्ण भुवनों में लक्ष्मी की तरह निवास करती थी ॥ ३ ॥

आकाशगामिनी श्यामा विद्युत्प्रारम्भभूषणा ।
बभ्राम मेघमालेव गिरिमालामहीतले ॥ ४ ॥
काष्ठं तृणोपलं भूतं खं वातमनलं जलम् ।
निर्विघ्नमविशत्सर्वं तन्तुर्मुक्ताफलं यथा ॥ ५ ॥
मेरोरुपरि शृङ्गाणि लोकपालपुराणि च ।
दिग्व्योमोदररन्ध्राणि विजहार यथासुखम् ॥ ६ ॥
तिर्यग्भूतपिशाचाद्यैः सह नागामरासुरैः ।
विद्याधराप्सरःसिद्धैर्व्यवहारं चकार सा ॥ ७ ॥
यत्नेन तं च भर्तारमात्मज्ञानामृतं प्रति ।
बहुशो बोधयामास चूडाला न विवेद सः ॥ ८ ॥
कलाविदग्धा मुग्धा च बालेयं गृहिणी मम ।
इत्येवं केवलं राजा स चूडालां विवेद ताम् ॥ ९ ॥

बिजली के उन्मेष की तरह चमक रहे आभूषणों से युक्त श्यामा चूडाला आकाशगामिनी हो उस तरह घूमती-फिरती थी, जैसे गिरिमालाओं से युक्त पृथिवीपर श्यामा मेघमाला घूमती है ॥ ४ ॥

काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि और जल में निर्विघ्न हो उसने मोतियों में सूत की तरह प्रवेश किया ॥ ५ ॥

सुमेरु पर्वत के ऊपर चोटियों पर, लोकपालों के नगरों में तथा दिशा और आकाश के उदर में जितने भुवन-छिद्र प्रसिद्ध हैं उन सबों में उसने सुखपूर्वक विहार किया ॥ ६ ॥

पशु-पक्षी, भूत, पिशाच आदि; नाग, देव, असुर, विद्याधर; अप्सरा और सिद्ध पुरुषों के साथ उसने सम्भाषण आदि व्यवहार किये ॥ ७ ॥

बड़े यत्न के साथ, अनेक बार उस चूडाल ने अपने स्वामी को ज्ञानामृत का उपदेश दिया, परन्तु वह कुछ भी समझ न सका ॥ ८ ॥

उस चूडाला के विषय में केवल इतना ही वह राजा शिखिध्वज जानता था कि सपूर्म्ण कलाओं में विदग्धा, मुग्धा तथा यह मेरी गृहिणी है ॥ ९ ॥

इतना लम्बा समय निकल जानेपर भी इस तरह वेदाध्ययन करते समय बालक वेदविद्या को गुणशालिनी अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थों में अनुकूल अर्थप्रकाशन आदि गुणों से शोभित नहीं जान पाता है वैसे ही अनेक अणिमादि सिद्धिरूप गुणों से सुशोभित उस चूडाला को वह राजा नहीं जान पाया ॥ १० ॥

एतावतापि कालेन तामेवं गुणशालिनीम् ।
बालो विद्यामिव नृपश्चूडालां न विवेद सः ॥ १० ॥
साऽप्यलब्धात्मविश्रान्तेस्तां सिद्धिश्रियमात्मनः ।
दर्शयामास नो राज्ञः शूद्रस्येव मखक्रियाम् ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

महत्याः सिद्धयोगिन्यास्तस्या अपि शिखिध्वजः ।
यत्नेन प्राप नो बोधं बुद्धचतेऽन्यः कथं प्रभो ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

उपदेशक्रमो राम ! व्यवस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव राघव ! ॥ १३ ॥
न श्रुतेन न पुण्येन ज्ञायते ज्ञेयमात्मनः ।
जानात्यात्मानमात्मैव सर्पः सर्पपदानि व ॥ १४ ॥

जैसे शूद्र को यज्ञक्रिया नहीं दिखलायी जाता है वैसे ही आत्मविश्रान्ति शून्य राजा को उस चूडाला ने भी अपनी अणिमादि सिद्धियों की वह अलौकिकश्री उस तरह नहीं दिखलायी ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे प्रभो ! बहुत बड़ी सिद्ध योगिनी उस चूडाला के यत्न से भी जब राजा शिखिध्वज को ज्ञान प्राप्त न हो सका, तब भला दूसरे को कैसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है ? ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! गुरुजी द्वारा उपदेश प्राप्त करने का क्रम तो केवल 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (आत्मविज्ञान के लिए गुरु के ही समीप पहुँचे) इत्यादि शास्त्रीय मर्यादा का पालनमात्र ही है, अतः वह अनधिकारी पुरुष में हठात् ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता । हे राघव ! ज्ञान का कारण तो शिष्य की विशुद्ध बुद्धि ही है ॥ १३ ॥

तर्कादि अनात्मशास्त्रों में प्रवीणता, किसी पुण्य से अर्थात् चित्तशुद्धि के अङ्गभूत श्रौत कर्मवर्ग से अपना तत्त्व भूत ज्ञेय ब्रह्म नहीं जाना जाता अर्थात् इतर वस्तुओं की तरह विषयीभूत नहीं किया जाता । आशय यह है कि कैसे काम्य पुण्य कर्मों से बिना विचार के ही स्वर्ग मिल जाता है, वैसे हजारों पुण्य कर्म करने पर भी बिना आत्मविचार के ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । किन्तु तर्कादि अनात्मशास्त्रों में प्रवीणता तथा निष्काम पुण्य कर्म—इन दोनों से आत्मविचार के उत्पन्न हो जानेपर चरमवृत्ति में आरूढ़ हुआ आत्मा ही आत्मा को वैसे जानता है जैसे सर्प सर्पबिल को जानता है ॥ १४ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते वाऽथ मुने ! कथमेतज्जगत्स्थितौ ।
क्रमो गुरूपदेशाख्यः स्वात्मज्ञानस्य कारणम् ॥ १५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्यन्तकृपणः कश्चित्किराटो धनधान्यवान् ।
अस्ति विन्ध्याटवीकक्षे कुटुम्बी ब्राह्मणो यथा ॥ १६ ॥
तस्यैकदा निपतिता गच्छतो विन्ध्यजङ्गले ।
एका वराटिका राम ! तृणजालकसंवृते ॥ १७ ॥
कार्पण्यात् स प्रयत्नेन सर्वं तृणतुषादिकम् ।
कपर्दिकार्थमभितो दुधाव दिवसत्रयम् ॥ १८ ॥
कपर्दिकाः स्युर्भवता चत्वारोऽष्टौ च कालतः ।
ततः शतं सहस्रं च सहस्रे चेति चेतसा ॥ १९ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे मुने ! ऐसी स्थिति विद्यमान रहने पर आप ही कहें कि इस जगत् की स्थिति में स्वात्म ज्ञान का कारण गुरूपदेश का क्रम है, यह कैसे उपपन्न होगा ॥ १५ ॥

[स्थूलारुन्धतीन्याय से शिष्य की बुद्धि को आत्मा में व्यस्त कर गुरु का उपदेश ज्ञान का कारण होता है, यह कहने के लिए महाराज वसिष्ठजी किराटोपाख्यान कहते हैं—'अत्यन्तकृपणः' इत्यादि से ।]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीराम जी, जैसे कोई एक सपरिवार ब्राह्मण रहता हो वैसे ही विन्ध्याचल के प्रदेश में धनधान्य से सम्पन्न अत्यन्त कृपण कोई एक किराट देहाती बनिया रहता था ॥ १६ ॥

हे श्रीरामजी ! विन्ध्याचल के जंगल में जाते हुए उसकी एक कौड़ी किसी तृणसमूहों से संवृत स्थान में गिर पड़ी ॥ १७ ॥

अपनी कृपणता के कारण उस एक कौड़ी के लिए यह बड़े प्रयत्न से तीन दिन तक चारों ओर तृण-फूस आदि सबकी सफाई करता रहा ॥ १८ ॥

यदि यह कौड़ी मेरे हाथ में आ जाय तो इस एक कौड़ी से मैं कोई चीज खरीद लेता और उसे बेच डालता, उस खरीद और बिक्री से चार कौड़ियाँ मेरे पास हो जाती । उनसे फिर समय पाकर आठ, उनसे सौ, सौ कौड़ियों से हजार और फिर उनसे दो हजार कौड़ियां मेरे पास आ जातीं ॥ १९ ॥

अपने चित्त से विचार करता हुआ वह कृपण रात-दिन आलस्यरहित होकर जङ्गल में उस एक कौड़ी की

कलयन् जङ्गले दीनो रात्रिदिवमतन्द्रितः ।
जनहाससहस्राणि बुबुधे न परन्तु सः ॥ २० ॥
ततो दिनत्रयस्याऽन्ते तेन तस्माच्च जङ्गलात् ।
पूर्णेन्दुबिम्बप्रतिमो लब्धश्चिन्तामणिर्महान् ॥ २१ ॥
तं प्राप्य तुष्टहृदयः समागम्य गृहं सुखम् ।
प्राप्ताखिलजगद्भूतिः शान्तसर्वतया स्थितः ॥ २२ ॥
एवं यथा किराटेन कपर्दान्वेषणेन तत् ।
रत्नं लब्धं जगन्मूल्यमहोरात्रमखेदिना ॥ २३ ॥
तथा श्रुतोपदेशेन स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
अन्यदन्विष्यते चाऽन्यल्लभ्यते हि गुरुक्रमात् ॥ २४ ॥
ब्रह्म सर्वेन्द्रियातीतं श्रुतादीन्द्रियसंविदः ।
तेनोपदेशादनघ ! नाऽऽत्मतत्त्वमवाप्यते ॥ २५ ॥

खोज करता रहा । उसने मनुष्यों के हजारों हास्यों की तनिक भी परवा न की ॥ २० ॥

अनन्तर तीन दिन के कड़े परिश्रम के अन्त में उसी जङ्गल में उसने पूर्ण चन्द्रबिम्ब के सदृश एक महान् चिन्तामणि की प्राप्ति की ॥ २१ ॥

उस चिन्तामणि को ले करके सन्तुष्ट हृदय हो घर आकर वह कृपण किराट सांसारिक सम्पूर्ण भोग समूहों की प्राप्ति हो जाने तथा अपने सब दारिद्र्यादि अनर्थों की समाप्ति हो जाने के कारण सुख-पूर्वक स्थित रहने लगा ॥ २२ ॥

इस तरह रात-दिन घोर परिश्रम के साथ खेदरहित किराट ने जिस तरह एक कौड़ी खोजने में चिन्तामणि रत्न पाया, जिसका मूल्य जगत् ही है ॥ २३ ॥

उसी प्रकार के श्रुतोपदेश से स्वात्मज्ञान भी प्राप्त किया जाता है । गुरु के उपदेश क्रम से दूसरे शब्दजन्य परोक्ष ज्ञान का अन्वेषण होता है और दूसरे नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

हे पापशून्य ! ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियों से अतीत है और उपदेश से तो मात्र शब्द-श्रवण एवं श्रवण-जन्य शाब्दबोध आदि इन्द्रिय सम्प्रयोज्य चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती है । गुरु के उपदेश से जो शब्दवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें अत्यन्त स्वच्छ चरमवृत्ति में नित्य अपरोक्ष ब्रह्म का जो स्फुरण होता है वह तो शिष्यों की स्वच्छ बुद्धि और ब्रह्मस्वभाव प्रयुक्त ही होता है। इसलिए गुरु के उपदेश से आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जाता अर्थात् आत्मज्ञान में उपदेश कारण नहीं है ॥ २५ ॥

गुरूपदेशं च विना नाऽऽत्मतत्त्वागमो भवेत् ।
केन चिन्तामणिर्लब्धः कपर्दान्वेषणं विना ॥ २६ ॥
तत्त्वस्याऽस्य महार्थस्य गुरूपकथनं गतम् ।
अकारणं कारणतां मणेरिव कपर्दकः ॥ २७ ॥
पश्य राघव ! मायेयं मोहनी महतामपि ।
अन्यदन्विष्यते यत्नादन्यदासाद्यते फलम् ॥ २८ ॥
अन्यत्करोति पुरुषः फलमन्यदेव
प्राप्नोति यत्त्रिषु जगत्स्ववलोक्यते च ।
तस्मादनन्तरभवस्य जगद्भ्रमस्य
श्रेयोऽतिवाहनमसङ्गमनिच्छयैव ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे किराटोपाख्यानं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

[तथापि 'आचार्यवात् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुति से गुरु का उपदेश आवश्यक है, यह कहते हैं।]

फिर भी गुरु के उपदेश के बिना आत्मतत्त्व की प्राप्ति भी नहीं होती है, क्योंकि कौड़ी की खोज के बिना चिन्तामणि की प्राप्ति किसने की अर्थात् किसी ने भी नहीं की है ॥ २६ ॥

जैसे चिन्तामणि का कदर्पक कारणता को प्राप्त है वैसे ही इस महान् अर्थरूप तत्त्व में गुरु का उपदेश कारण न होकर भी कारणता को प्राप्त हो गया है। भाव यह है कि कौड़ी के अन्वेषण की तरह मनन के द्वारा गुरु का उपदेश, कारण न होकर भी, अवश्य फल के दर्शन से कारणता को प्राप्त है ॥ २७ ॥

हे राघव ! देखे यह माया महात्माओं को भी मोहित करनेवाली है। बड़े यन्त्र से अन्य वस्तु का अन्वेषण किया जाता है और फल प्राप्त होता दूसरा ही कुछ है ॥ २८ ॥

इस तरह कारण न हो कर भी गुरूपदेश आदि आत्मलाभ में कारण बन गया है। आत्मलाभ हो जाने पर तो प्रारब्ध शेष से जो कुछ जागतिक भ्रम अवशिष्ट रहता है उसका एकमात्र उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

मनुष्य बड़े परिश्रम के साथ अन्य कार्य का सम्पादन करता है और उस कार्य का अन्य ही फल उसे प्राप्त होता है। तीनों जगत् में ऐसा ही देखा और सुना जाता है, इसलिए आत्मलाभ के बाद प्रारब्ध रहने से उपस्थित जागतिक भ्रम को असङ्ग और अनिच्छा से ढोते चलना ही कल्याणप्रद है ॥ २९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में विकटोपाख्यान नामक कुसुमलता का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

८४

वसिष्ठ उवाच

**ततः शिखिध्वजो राजा तत्त्वज्ञानपदं विना ।
आजगाम परं मोहं तमोन्धत्वमिवाऽप्रजः ॥ १ ॥
दुःखाग्निदीपितमना मनागपि विभूतिषु ।
तास्वभीष्टोपनीतासु न रेमेऽग्निशिखास्विव ॥ २ ॥
एकान्तेषु दिगन्तेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
आजगाम रतिं जन्तुर्मुक्तेषुर्व्याधतो यथा ॥ ३ ॥
राघव ! त्वमिवाऽशेषाः सान्त्वानुनयबोधनैः ।
प्रार्थितः कार्यते भृत्यैर्महीपो दिवसक्रियाः ॥ ४ ॥**

८४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जैसे सन्ततिशून्य पुरुष शोकादि रूप तम से अन्धता को प्राप्त करता है वैसे ही अनन्तर राजा शिखिध्वज तत्त्वज्ञानरूप विश्रान्ति स्थान के बिना परम मोह को प्राप्त किया ॥ १ ॥

दुःखरूप अग्नि से सन्तप्त हृदय वह शिखिध्वज सामन्त आदि प्रियवर्ग द्वारा लाई गईं रत्नादि बहुमूल्य सम्पत्तियों में, अग्निशिखा की तरह तनिक भी रमण नहीं करता था ॥ २ ॥

वह राजा एकान्त दिगन्तों में, निर्झरों में और गुहाओं में निवास के लिए वैसे ही प्रेम करने लगा जैसे व्याध द्वारा बाण छोड़े जाने पर भी भाग्यवश घायल न हुआ हरिण व्याध से डरकर एकान्त स्थल में निवास के लिए प्रेम करता है ॥ ३ ॥

हे राघव ! तुम्हारे समान सान्त्वना, अनुनय एवं एवं बोधन से भृत्यों द्वारा प्रार्थित वह राजा समस्त दिवस कर्म का सम्पादन करता था ॥ ४ ॥

नित्यमुद्दामवैराग्यः परिव्राडिव शान्तधीः ।
खिद्यते च महाभोगान् स भोक्तुं च श्रियं स्थितः ॥५॥
ददावतितरां दानं गोभूमिकनकादिकम् ।
देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च स्वजनेभ्यश्च मानद ! ॥ ६ ॥
चचार च तपः कर्तुं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् ।
परिबभ्राम तीर्थानि वनान्यायतनानि च ॥ ७ ॥
स तथापि विशोकत्वं न मनागपि लब्धवान् ।
अनिधानां खनन् भूमिं निधानार्थी निर्वि यथा ॥ ८ ॥
रात्रिदिवं महानेष शुष्यत्येव कृशानुना ।
चिन्तया चिन्तयामास संसारव्याधिभेषजम् ॥ ९ ॥
चिन्तापरवशो दीनो राज्यं स्वस्य विषोपमम् ।
महाविभवमप्यग्रे नाऽपश्यत्खिन्नया धिया ॥ १० ॥
अथैकदैकान्तगतां चूडालामङ्कमागताम् ।
इदं मधुरया वाचा समुवाच शिखिध्वजः ॥ ११ ॥

प्रतिदिन उसका वैराग्य तीव्रतम होने लगा था, वह एक तरह से संन्यासी के समान स्थित था, उसकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी, इसलिए बड़े-बड़े भोग और विषयों का उपभोग करने में उसका चित्त खिन्न हो जाता था ॥ ५ ॥

हे मानद ! उसने गो, भूमि, सुवर्ण आदि का देवताओं, ब्राह्मणों और स्वजनों को खूब दान दिया ॥६॥

तप करने के लिए कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों का आचरण किया। उसने तीर्थों में, वनों में और आश्रमों में परिभ्रमण किया ॥ ७ ॥

वह राजा तप एवं अरण्यादि भ्रमण करने पर भी थोड़ी भी शोकशून्य स्थिति को वैसी ही प्राप्त नहीं कर सका जैसे निधि चाहने वाला पुरुष निधिशून्य भूमि को खोदकर निधि प्राप्त नहीं करता है ॥ ८ ॥

वह महान् भी राजा शिखिध्वज रात-दिन की चिन्तारूपी अग्नि से सूखने लगा और संसाररूपी व्याधि का औषध विचारने लगा ॥ ९ ॥

चिन्तापरवश होकर वह दीन बन गया। अपना राज्य उसे विष के समान मालूम पड़ने लगा। समाने बड़े-बड़े रखे गये विषयों को भी खिन्न बुद्धि के कारण वह नहीं देख पाता था ॥ १० ॥

अनन्तर एकान्त में स्थित और अङ्कारूढ़ चूडाला से वह शिखिध्वज राजा मधुर शब्दों से यह कहता है ॥११॥

शिखिध्वज ने कहा—चिरकाल तक राज्य का उपभोग किया। तरह-तरह के विभवपूर्ण पदों का भी भोग किया।

शिखिध्वज उवाच

भुक्तं राज्यं चिरं कालं भुक्ता विभवभूमयः ।
अधुनाऽस्मि विरागेण युक्तो गच्छामि काननम् ॥ १२ ॥
न सुखानि न दुःखानि नाऽऽपदो न च सम्पदः ।
क्रोडीकुर्वन्ति तन्वङ्गि ! मुनिं वननिवासिनम् ॥ १३ ॥
न देशभङ्गसंमोहो न सङ्ग्रामे जनक्षयः ।
राज्यादप्यधिकं मन्ये सुखं वननिवासिनाम् ॥ १४ ॥
स्तबकस्तनधारिण्यो रक्तपल्लवपाणयः ।
मञ्जरीजालहारिण्यो लोलशुभ्राम्बुदांशुकाः ॥ १५ ॥
स्वपरागाङ्गरागिण्यः कृतकौसुममण्डनाः ।
आसेव्याकाञ्चनशिलानितम्बतटशोभिताः ॥ १६ ॥
तरङ्गमौक्तिकप्रोतसरिन्मुक्तालतावृताः ।
लतावयस्यावलिता मुग्धमुग्धमृगात्मजाः ॥ १७ ॥
स्वभावोद्दामसौगन्ध्या वितीर्णफलभोजनाः ।
षट्पदश्रेणिनयनाः पुष्पापूरलताङ्गिकाः ॥ १८ ॥

इसलिए अब मैं विराग से युक्त अरण्य की ओर जाता हूँ ॥ १२ ॥

हे तन्वङ्गि ! न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ अरण्य निवासी मुनि को कुछ कर पाती हैं ॥ १३ ॥

उन्हें देश के विनाश से न तो कोई मोह होता है और न सङ्ग्राम में जन का क्षय ही होता है, इसलिए अरण्यवासी मुनियों के सुख को राज्य की अपेक्षा भी मैं अधिक मानता हूँ ॥ १४ ॥

हे वरानने ! हमें तुम्हारे सदृश वनपङ्क्तियाँ ही रमण कराती हैं, वे स्तबकरूप स्तन धारण करती हैं, रक्तपल्लव ही उनके हाथ हैं, नानाविध मञ्जरियाँ ही उनके हार हैं, चञ्चल धवल मेघ ही उनके चीनाम्बर हैं ॥ १५ ॥

अपना पराग ही उनका अङ्गराग है, कुसुमों से अपना अलङ्कार निर्माण करती हैं। उपभोग करने योग्य सुवर्ण शीलारूप नितम्बतटों से वे सुहावनी लगती हैं ॥ १६ ॥

वे तरङ्गरूप मोतियों से पिरोयी गई सरित्‌रूपी मुक्तालताओं से परिवृत रहती हैं, उनके चारों ओर लतारूपी सखियाँ शोभायमान रहती हैं, उनके शिशु मुग्ध-मुग्ध मृग हैं ॥ १७ ॥

हे स्वभावतः ही उत्कट सौगन्ध से परिपूर्ण रहती हैं, क्षुधितों को भोजन के लिए निरन्तर फल प्रदान करती हैं, भ्रमरपङ्क्तियाँ ही उनके नेत्र हैं, कुसुमपूर्ण लताएँ ही उनके बाहु आदि अङ्ग हैं ॥ १८ ॥

आस्वाद्यस्यन्दतां याताः शीतलामलगात्रिकाः ।
रमयन्ति त्वमिव मां वनवीथ्यो वरानने ! ॥ १९ ॥
यथा विविक्तमेकान्ते मनो भवति निर्वृतम् ।
न तथा शशिबिम्बेषु न च ब्रह्मेन्द्रसद्मसु ॥ २० ॥
अस्मिन् सन्मन्त्रणे तन्वि ! न विघ्नं कर्तुमर्हसि ।
भर्तुर्विघटयन्तीच्छां न स्वप्नेऽपि कुलस्त्रियः ॥ २१ ॥

चूडालोवाच

प्राप्तकालं कृतं कार्यं राजते नाथ ! नेतरत् ।
वसन्ते राजते पुष्पं फलं शरदि राजते ॥ २२ ॥
जराजरठदेहानां युक्तो वनसमाश्रयः ।
न यूनां त्वादृशामेव तेनैतन्मे न रोचते ॥ २३ ॥
यौवनेन महाराज ! न यावद्वयमुज्झिताः ।
पुष्पौघेणेव तरवस्तावच्छोभामहे गृहे ॥ २४ ॥
पुष्पधाना पुष्पमितजरसा सह काननम् ।
समं गृहाद्गमिष्यामो हंसा इव सरोवरात् ॥ २५ ॥
अप्राप्तकालं नृपतेः प्रजापालनमुज्झतः ।
राजन्यस्यैव रन्ध्रस्य महदेनो भविष्यति ॥ २६ ॥
अप्राप्तकारिणं भूपं रोधयन्ति च वै प्रजाः ।
रोधयन्ति ह्यकार्येभ्यः प्रभुं भृत्याः परस्परम् ॥ २७ ॥

शिखिध्वज उवाच

अलमुत्पलपत्राक्षि ! विघ्नेनाऽभिमतस्य मे ।
विद्धि मां गतमेवेतो दूरमेकान्तकाननम् ॥ २८ ॥
बाला त्वमनवद्याङ्गि ! नाऽऽगन्तव्यं वनं त्वया ।
पुंसामपि हि मृद्वङ्गि ! दुर्विगाह्यो वनाश्रयः ॥ २९ ॥
समर्था न वनावासे योषितः कठिना अपि ।
कानने पुष्पमञ्जर्यः सोढुं शस्त्रालिमक्षमाः ॥ ३० ॥
भवत्या पालयन्त्येह राज्ये स्थातव्यमुत्तमे ! ।
कुटुम्बभारोद्वहनं पत्यौ याते व्रतं स्त्रियः ॥ ३१ ॥

तुम्हारे अधर के सदृश पान के योग्य तरङ्गपूर्ण झरनों के रूप में परिणत हुई वे निरन्तर शीतल और निर्मल गात्रों से अत्यन्त कमनीय लगती हैं, इसलिए हे सुमुखि, अब वनराजियां ही तुम्हारे सदृश मुझे रमण कराती हैं ॥१९॥

विरक्त मन जैसा एकान्त में सुखानुभव करता है वैसा न तो शशिबिम्बों में और न ब्रह्मा एवं इन्द्र के आश्रय स्थानों में सुखानुभव करता है ॥ २० ॥

हे तन्वि ! वन जाने के उत्तम विचार में तुम किसी प्रकार की बाधा मत पहुँचाओ, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ स्वप्न में भी पति की इच्छा का विघटन नहीं करती हैं ॥ २१ ॥

चूडाला ने कहा—हे नाथ ! जिसके लिए समय आ चुका हो वही कार्य यदि किया जाय तो शोभित होता है, दूसरा नहीं । फूल वसन्त में ही शोभता है और फल शरत्काल में ही भला लगता है ॥ २२ ॥

वृद्धावस्था से ठिठुरे हुए शरीरवाले पुरुषों के लिए ही वन का आश्रय लेना उचित है, परन्तु आपके सदृश युवकों के लिए यह कदापि युक्त नहीं है, इसलिए आपका यह विचार मुझे पसन्द नहीं है ॥ २३ ॥

महाराज, पुष्पसमूहों से वृक्षों की तरह हम लोग यौवनरहित जब तक नहीं होते, तबतक घर में ही विराजमान रहें ॥ २४ ॥

पुष्पों को धारण करनेवाली लताओं के मस्तक पर झूम रहे सफेद फूलों से उपमित बुढ़ापा के साथ हम दोनों के मस्तक के केश पुष्प युक्त लताओं के समान जब बिलकुल सफेद हो जायँगे, तब हम दोनों एक ही साथ, सरोवर से हंसों की तरह गृह से निकलकर जंगल में चलेंगे ॥ १५ ॥

हे राजन् ! राजा को बिना समय आये प्रजापालन का त्याग करने पर राज्य विनाश निमित्तक बहुत बड़ा पाप लगेगा ही ॥ २६ ॥

समय प्राप्ति के बिना कार्य करनेवाले राजा को प्रजाएँ अवश्य ही रोकती हैं और अकार्यों से भृत्य अपने स्वामी को तथा स्वामी भृत्यों को परस्पर रोकती ही हैं ॥ २७ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे कमलपत्र के समान नयनो वाली ! मेरे अभिमत कार्य में विघ्न मत डालो। अब तुम मुझे यहाँ से दूर एकान्त जङ्गल में गया हुआ ही समझो ॥ २८ ॥

हे अनिन्दित अङ्गवाली ! तुम अभी बिलकुल बच्ची हो, तुम्हें जङ्गल में नहीं आना चाहिए, क्योंकि हे कोमलाङ्गि ! जङ्गली प्रदेश में प्रवेश पुरुषों के लिए भी अतिकठिन है ॥ २९ ॥

कठोर अङ्गवाली स्त्रियाँ भी जङ्गल के निवास में किसी तरह समर्थ नहीं हो सकती हैं। क्या उपवन में उत्पन्न पुष्पमञ्जरियाँ शस्त्रों को सहन कर सकती हैं अर्थात् नहीं ॥ ३० ॥

हे उत्तमे ! प्रजाओं का भलीभाँति पालन करती हुई तुम राज्य में स्थित रहना, क्योंकि पति के चले जानेपर कुटुम्ब के भार का उद्वहन करना स्त्रियों का धर्म है ॥ ३१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा दयितां राजा तामिन्दुवदनां वशी ।
उत्तस्थौ स्नातुमखिलं दिनकार्यं चकार च ॥ ३२ ॥
अथोज्झितप्रजाचेष्टो रविरस्ताचलं ययौ ।
शिखिध्वजो वनमिव समस्तजनदुर्गमम् ॥ ३३ ॥
संहृत्य विततं रूपं तमेवाऽनुययौ प्रभा ।
नाथं भवननिष्क्रान्तं चूडालेवाऽनुरागिणी ॥ ३४ ॥
आययौ यामिनी श्यामा भुवनं भस्मधूसरम् ।
धृतव्योमापगं शर्वं संश्लेषा यमुनेव सा ॥ ३५ ॥
दिक्षु संध्याभ्रदन्तासु स्थितासु कृतमण्डलम् ।
तमालबालकाङ्कासु ज्योत्स्नाहासोदयाङ्कितम् ॥ ३६ ॥
गच्छतोरपरं पारं दम्पत्योर्मैरवं पदम् ।
देवोद्यानमयं रन्तुं दिनश्रीदिननाथयः ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शशिमुखी उस अपनी दयिता से यह कहकर जितेन्द्रिय राजा शिखिध्वज स्नान करने के लिए उठ गया और उसने अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्यों का सम्पादन किया ॥ ३२ ॥

अनन्तर जैसे राजा शिखिध्वज अपनी सम्पूर्ण प्रजाओं की चेष्टाओं का त्यागकर समस्त प्रजारूपी दुर्गम जङ्गल को छोड़कर चल पड़े है वैसे ही सब प्रजाओं की चेष्टाओं का त्यागकर भगवान् सूर्य अस्ताचल को उस तरह चल पड़े ॥ ३३ ॥

अपने व्यापक रूप का उपसंहार कर अनुरागिणी प्रभा भी भगवान् सूर्य के पीछे-पीछे वेसे ही चली गई, जैसे राजमहल से निकले हुए अपने स्वामी के पीछे-पीछे अनुरागिणी चूडाला चली गई ॥ ३४ ॥

जैसे अपनी प्रियसखी गङ्गा को धारण किये हुए भगवान् शङ्कर के पास स्वयं काम से वशीभूत होकर आलिङ्गन करने की इच्छा से मानो यमुना आ गई हो वैसे ही भस्म से धूलि से धूसर भुवन के पास श्यामा (काली) रात्रि उस प्रकार आ गई ॥ ३५ ॥

दिशायें—सन्ध्याकालीन मेघरूपी दाँतों से युक्त तथा तमालरूपी बच्चों को अपनी गोद में लेकर यमुना के चरित्र के अवलोकन से मानो चाँदनीरूपी हाव से समन्वित हो गई ॥ ३६ ॥

चारों ओर घेरा बाँधकर—स्थित होनेपर, दिनश्री और दिननाथरूपी दम्पतियाँ देवताओं के उद्यानमय मेरु पर्वत के उत्तरार्ध में रमण करने के लिए चले गये ॥३७॥

आगच्छतोरिदं पारं ह्यघतीक्ष्णकरोज्झितम् ।
निशानिशानायकयोर्दम्पत्योर्मैरवं पुनः ॥ ३८ ॥
तारागणोऽथ ददृशे विकीर्णो व्योमकुट्टिमे ।
मुक्तो मङ्गललाजानां दिग्वधूभिरिवाऽञ्जलिः ॥ ३९ ॥
चन्द्रानना तमःश्यामा श्रान्ता कुसुमहासिनी ।
यामिनी यौवनं प्राप सरोजमुकुलस्तनी ॥ ४० ॥
कृतसन्ध्यासमाचारः सह चूडालयेष्टया ।
सुष्वाप शयने भूयो मैनाक इव सागरे ॥ ४१ ॥
अथाऽर्धरात्रसमये देशे निःशब्दतां गते ।
घननिद्राशिलाकोशनिलीने सकले जने ॥ ४२ ॥
स तस्यां सम्प्रसुप्तायां शयने कोमलांशुके ।
भृशं निद्राविमूढायां भ्रमर्यामिव पङ्कजे ॥ ४३ ॥
तत्याज दयितां सुप्तामङ्काद्राजा शिखिध्वजः ।
स्वैरं स्वैरं मुखं राहोर्दिशं चान्द्रप्रभामिव ॥ ४४ ॥

धर्मरूपी पापों एवं तन्निमित्तक तीक्ष्ण किरणों से त्यक्त निशा और निशानायकरूपी दम्पति मेरु पर्वत के इस पार में विहार करने के लिए आ गये ॥ ३८ ॥

दिशारूपी स्त्रियों द्वारा फेंकी गई माङ्गलिक लावों की तरह आकाशरूपी उपत्यका के ऊपर बिखये हुए तारों के गण दीख पड़े ॥ ३९ ॥

चन्द्ररूपी आनन से सुशोभित, अन्धकार से श्याम-वर्णा, अपने प्रिय चन्द्र के अन्वेषण तथा उनके उदय की प्रतीक्षा से श्रान्त कुमुद आदि कुसुमों से हासवती तथा कमल कुड्मलरूपी स्तनों से सुशोभित रात्रि ने अपनी युवावस्था के फल को प्राप्त किया ॥ ४० ॥

जैसे मैनाक पर्वत समुद्र में सदा के लिए स्थित हो जाता है वैसे ही सन्ध्याकालीन सब कार्यों का सम्पादन कर वह राजा शिखिध्वज अपनी प्रिय-पत्नी चूडाला के साथ शयनस्थान में गाढ़ निद्रा में सो गया ॥ ४१ ॥

इसके बाद आधी रात के समय जब सारा देश निःशब्द हो गया तथा सघननिद्रारूपी पाषाणकोश के भीतर सकल जन विलीन हो गये ॥ ४२

तब उस राजा शिखिध्वज ने कमल के ऊपर सोई हुई निद्रा से अत्यन्त विमूढ़ भ्रमरी के समान कोमल वस्त्रों से सुसज्जित पलंगपर सोई हुई उस चूडाला के निद्रा से अत्यन्त विमूढ़ हो जानेपर धीरे-धीरे अपनी गोद से सोई हुई प्रिया को जैसे राहु का मुख पूर्व दिशा से चन्द्रमा की प्रभा को त्यागता है वैसे ही त्याग दिया ॥ ४३-४४ ॥

उत्तस्थौ शयनाल्लीनवधूकार्धाञ्चलांशुकात् ।
सलक्ष्मीकान्तिलोलोर्मेर्हरिः क्षीरार्णवादिव ॥ ४५ ॥
वीरक्रमार्थं यामीति तत्रैवाऽनुचरव्रजम् ।
योजयित्वा जगामाऽसौ पुरान्निर्गत्य पूर्णधीः ॥ ४६ ॥
राज्यलक्ष्मि नमस्तुभ्यमित्युक्त्वा मण्डलाद्गतः ।
विवेशोग्रामरण्यानीमेको नद इवाऽर्णवम् ॥ ४७ ॥
घनान्धकारगुल्माढ्या क्षुद्रभूतौघकर्कशा ।
साऽरण्यानीनिशा सार्धं समं तेनाऽतिवाहिता ॥ ४८ ॥
प्रातः शून्यामरण्यानीं स नीत्वा विततं दिनम् ।
सममर्केण कस्याञ्चिद्विशश्राम वनावनौ ॥ ४९ ॥
भानावदृश्यतां याते तत्र स्नानादिपूर्वकम् ।
किञ्चित्फलादिकं भुक्त्वा तां निनाय तमस्विनीम् ॥५०॥
पुनः प्रातः पुराण्युच्चैर्मण्डलानि गिरीन्नदीः ।
जवादुल्लङ्घयामास राजा द्वादशशर्वरीः ॥ ५१ ॥

जिसके ऊपर बिछाये गये चादर के आधे हिस्से पर उसकी प्रिय पत्नी गाढ़ निद्रा में सोई हुई थी वह राजा उस पलंग से, वैसे ही उठ गया; जैस लक्ष्मी की कान्तियों से युक्त चञ्चल तरङ्गों से समन्वित क्षीरसागर से भगवान् विष्णु उठ जाते हैं ॥ ४५ ॥

चोर आदि दुष्ट लोगों को पकड़ने के लिए 'मैं बाहर जा रहा हूँ' यह कह कर अपने अनुचरों को भी उसी कार्य में नियुक्त कर वह निःस्पृह राजा शिखिध्वज नगर से निकल कर चला गया ॥ ४६ ॥

हे राज्यलक्ष्मि ! तुम्हें नमस्कार है, यह कहकर वह अकेला अपने मण्डल से चला और चलते-चलते एक बहुत बड़े भयङ्कर जङ्गल में जैसे नद महासमुद्र में प्रवेश करता है । वैसे ही प्रविष्ट हो गया ॥ ४७ ॥

घनान्धकार और गुल्मों से पूर्ण तथा क्षुद्र जीवों से अत्यन्त कर्कश उस बड़े जङ्गल तथा रात्रि को उसने साथ-साथ पार किया ॥ ४८ ॥

सवेरा होने पर वह उस शून्य बड़े जङ्गल में खूब चलता रहता रहा । चलते-चलते सम्पूर्ण विस्तृत दिन व्यतीतकर भगवान् सूर्यदेव के साथ ही कहीं जङ्गल की भूमि में उसने विश्राम किया ॥ ४९ ॥

भगवान् भास्कर के अदृश्य हो जाने पर वहां स्नान, सन्ध्यावन्दन आदि कर लेने के बाद कुछ फलादि खा कर उसने वह रात व्यतीत की ॥ ५० ॥

फिर प्रातःकाल होनेपर बड़े वेग से चलकर वह राजा

ततो मन्दरशैलस्य तटस्थं जनदुर्गमम् ।
प्राप काननमत्यन्तदूरस्थजनतापुरम् ॥ ५२ ॥
रटत्प्रणालसलिलवापीबलितपादपम् ।
शीर्णवेद्यालयज्ञातभूतपूर्वद्विजाश्रमम् ॥ ५३ ॥
क्षुद्रप्राणिविनिर्मुक्तसिद्धसेव्यलतालयम् ।
आपूर्णपादपलतं प्राणवृत्तिकरैः फलैः ॥ ५४ ॥
तत्रैकस्मिन् समे शुद्धे स्थले सलिलमालिते ।
शीतले शाद्वलश्यामे स्निग्धे सफलपादपे ॥ ५५ ॥
स मञ्जरीभिर्वल्लीभिः स चकारोटजालयम् ।
प्रावृट्कालः सविद्युद्भिर्नीलाभ्रैरिव पञ्जरम् ॥ ५६ ॥
मसृणं वैणवं दण्डं फलभोजनभाजनम् ।
अर्घपात्रं पुष्पभाण्डमक्षमालां कमण्डलुम् ॥ ५७ ॥
कन्थां शीतापनोदाय वृसीं चैव मृगाजिनम् ।
आनीयाऽयोजयत्तस्मिन्मठिकामन्दिरे नृपः ॥ ५८ ॥

शिखिध्वज बड़े-बड़े नगरों, मण्डलों, पर्वतों तथा नदियों को बारह दिन में लाँघ गया ॥ ५१ ॥

अनन्तर वह मन्दराचल के तटपर स्थित मनुष्यों से दुर्गम एक वन में पहुँचा, जहाँ से जनसमूह और नगर बहुत ही दूर स्थित थे ॥ ५२ ॥

जहाँ पर वापियों द्वारा, जिससे बाँसों की नालियों से शब्दपूर्वक जल बह रहे थे, अत्यन्त बलवान् बनाये गये असंख्य वृक्ष उपस्थित थे; जीर्णशीर्ण वेदियों और घरों से सहज में यह अनुमान हो रहा था कि यहाँ पर पहले ब्राह्मणों के अवश्य ही अनेक आश्रम थे ॥ ५३ ॥

वह स्थान क्षुद्र जन्तुओं से शून्य, सिद्ध लोगों से सेवनीय लताघरों से समन्वित तथा प्राणवृत्ति करनेवाले फलों से नीचे से ऊपर तक परिपूर्ण वृक्षों और लताओं से भरा हुआ था ॥ ५४ ॥

उसी जङ्गल में किसी एक चौरस, शुद्ध, जल से वेष्टित, शीतल, हरे-हरे घासों से युक्त प्रदेशों से श्याम, स्निग्ध तथा फलसम्पन्न वृक्षों से युक्त स्थान में मञ्जरी सहित लताओं से जैसे वर्षाकाल बिजली सहित नील मेघों से पञ्जर बनता है वैसे ही उस राजा ने एक पर्णशाला रूपी घर बनाया ॥ ५५-५६ ॥

चिक्कन बाँस का दण्ड, फल-भोजन पात्र, अर्घपात्र, कमण्डलु, रुद्राक्ष की माला, शीत से अपनी रक्षा के लिए कन्था, और व्रतियों का आसन मृगचर्म—ये सब वस्तुएँ लाकर उस राजा ने अपने मठिकारूपी मन्दिर में रख दीं ॥ ५७, ५८ ॥

यत्किञ्चिदन्यद्वा वस्तु योग्यं तापसकर्मणि ।
तत्तत्र स्थापयामास जगतीव क्रमं विधिः ॥ ५९ ॥
संध्यापूर्वं जपं प्रातः प्रहरे स तदाऽकरोत् ।
पुष्पोच्चयं द्वितीये तु स्नानं देवार्चनं ततः ॥ ६० ॥
पश्चाद्वनफलं किञ्चिद्वनकन्दं बिसादि च ।
भुक्त्वा जप्यपरो भूत्वा निनायैको निशां वशी ॥ ६१ ॥
इति दिवसमखेदं मन्दरोपान्तकच्छे
विरचित उटजेऽन्तर्मालवेशो निनाय ।
नवनृपतिविलासं तं न सस्मार कं वा
स्फुरति हृदि विवेके राज्यलक्ष्म्यो हरन्ति ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजप्रव्रज्या नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

इनके अतिरिक्त और भी दूसरी वस्तु जो तापसकर्मोपयोगी मालूम पड़ी, जैसे विधाता अपने द्वारा सृष्ट ब्रह्माण्ड में व्यवहार साधनों को स्थापित करता है वैसे ही राजा ने लाकर अपनी कुटिया में स्थापित की ॥ ५९ ॥

उसने दिन के प्रथम प्रहर में प्रातःकाल सन्ध्यापूर्वक जप, द्वितीय प्रहर में पुष्प आदि का संचय और उसके बाद स्नान, देवार्चन आदि कार्य किये ॥ ६० ॥

अनन्तर जङ्गली फल, कन्दमूल तथा कमलदण्डादि खाकर जप में तत्पर हो जितेन्द्रिय उस राजा ने अकेले रात बितायी ॥ ६१ ॥

इस प्रकार मन्दराचल के तट पर विरचित पर्णशाला के भीतर स्थित उस मालवेश शिखिध्वज ने खेदशून्य होकर जपादि करते हुए अनेक दिन व्यतीत किये। उसने अपने पूर्वानुभूत नूतन राजविलासों का तनिक भी स्मरण नहीं किया, क्योंकि हृदय में विवेक के स्फुरित होनेपर राज्यलक्ष्मियाँ वाञ्छाजनन द्वारा क्या किसी दरिद्र को भी अपने वश में कर सकती हैं? अर्थात् वे किसी भी विवेकी को वश में नहीं कर सकतीं ॥ ६१, ६२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजप्रव्रज्या नामक कुसुमलता का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

८५

वसिष्ठ उवाच

एवं शिखिध्वजः पूर्वमठिकायां वने स्थितः ।
इदानीं शृणु चूडाला सा किं कृतवती गृहे ॥ १ ॥
तत्राऽर्धरात्रसमये दूरं याते शिखिध्वजे ।
हरिणीग्रामसुप्तेव चूडाला बुबुधे भयात् ॥ २ ॥
अपश्यत्पतिनिर्हीना शयनं शून्यतां गतम् ।
अभास्करमपूर्णेन्दु शान्तशोभमिवाऽम्बरम् ॥ ३ ॥
उत्तस्थौ किञ्चिदाम्लानवदना खेदशालिनी ।
कुसिक्तेव महावल्ली निरुत्साहाऽङ्गपल्लवा ॥ ४ ॥
न प्रसन्ना न विमला बभूवाऽऽकुलतां गता ।
दिनश्रीरिव नीहारधूसरा सा व्यतिष्ठत ॥ ५ ॥
क्षणं शय्योपविष्टैव चिन्तयामास चिन्तया ।
कष्टं राज्यं प्रभुस्त्यक्त्वा वनं यातो गृहादिति ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह राजा शिखिध्वज पूर्ण अपेक्षित वस्तुओं से अपनी जङ्गल की कुटिया में स्थित था तब उस चूडाला ने घर में क्या किया यह आप सुनें ॥ १ ॥

उस आधी रात के समय राजा शिखिध्वज के बहुत दूर निकल जानेपर, गाँव में सोई हुई हरिणी की तरह वह चूडाला भय से अचानक जाग गई ॥ २ ॥

पति से त्यक्ता उस चूडाला ने सूर्य से शून्य तथा अपूर्ण चन्द्रमा से युक्त आकाश की तरह अपने शून्य शयन को शोभाहीन देखा ॥ ३ ॥

किंचित् मलिनवदन, खेदयुक्त तथा उत्साहीन, अङ्गरूपी पल्लवों से युक्त वह चूडाला, क्षार और कर्दम आदि से मिश्रित जल से सींची गई महावल्ली की तरह अपने विस्तर से उठी ॥ ४ ॥

व्याकुल नीहार से धूसर दिन की शोभा की तरह वह चूडाला न प्रसन्न और न विमल अवस्थित थी ॥ ५ ॥

अपनी शय्यापर बैठी हुई ही चिन्ता से व्याकुल उस चूडाला ने क्षणभरतक विचार किया कि—बड़े दुःख की बात है कि आज मेरे पति राज्य छोड़कर घर से जङ्गल में चले गये ॥ ६ ॥

तन्मयेहाऽद्य किं कार्यं तत्समीपं व्रजाम्यहम् ।
भर्तैव गतिरुद्दिष्टा विधिना प्रकृता स्त्रियः ॥ ७ ॥
इति सञ्चिन्त्य भर्तारमनुगन्तुं समुत्थिता ।
चूडाला वातरन्ध्रेण निर्गत्याऽम्बरमाययौ ॥ ८ ॥
बभ्रामाऽम्बरमार्गेण वातस्कन्धेन योगिनी ।
कुर्वती सिद्धसार्थस्य मुखेनाऽन्येन्दुविभ्रमम् ॥ ९ ॥
ददर्शाऽथ यथायातं रात्रौ खड्गधरं पतिम् ।
भ्रमन्तमेकमेकान्ते वेतालसमयोदितम् ॥ १० ॥
तादृशं पतिमालोक्य स्थित्वा गगनकोटरे ।
भविष्यच्चिन्तयामास सर्वं भर्तुरखण्डितम् ॥ ११ ॥
यथा येन यदा यत्र यावत्कार्यं यथोदयम् ।
यथा च निर्वृतिः स्फारा गन्तव्या तेन राघव ! ॥१२॥
अवश्यं भवितव्यं तद्भर्तुर्दृष्ट्वा पुरः स्थितम् ।
तदेव संवादयितुं गमनात्सा न्यवर्तत ॥ १३ ॥

इसलिए अब मुझे यहाँ क्या करना है, मैं भी अपने स्वामी के समीप चलूँ, क्योंकि शास्त्र द्वारा पति ही स्त्री का प्रथम शरणस्थान विहित है। क्योंकि पति के न रहने पर ही पुत्र आदि को स्त्री के लिए स्थान कहे गये हैं ॥ ७ ॥

इसप्रकार विचार कर अपने पति के समीप जाने के लिए चूडाला उठी और वह छोटी खिड़की के रास्ते निकलकर आकाश में चली गई ॥ ८ ॥

सिद्ध समूहों को अपने मुख से द्वितीय चन्द्रभ्रान्ति पैदा करती हुई वायु द्वारा उस योगिनी ने आकाशमार्ग से यात्रा की ॥ ९ ॥

अनन्तर रात में खड्ग लेकर जा रहे तथा एकान्त स्थान में वेतालों के घूमने योग्य समय में रात में प्रकाशमान अकेले भ्रमण कर रहे अपने पति को उसने देखा ॥ १० ॥

आकाश कोटर में स्थित हो उस तरह अकेले निर्जन वन में भटक रहे अपने स्वामी को देखकर वह चूडाला भली-भाँति अपने स्वामी के भविष्य के सब पदार्थों के विषय में विचार करने लगी ॥ ११ ॥

हे राघव ! जैसे, जिस निमित्त से, जिस देश और जिस काल में, जितने कार्य का जिस रीति से अभ्युदय और जिस प्रकार निरतिशय भूमानन्द विश्रान्ति प्राप्त करनी होगी ॥ १२ ॥

जो कुछ अपने पति का अवश्य भवितव्य था, सबको योगबल से प्रत्यक्ष देखकर वह चूडाला उसी के अनुकूल आचरण करने के लिए आकाश से लौट आई ॥ १३ ॥

आस्तां ममाऽद्य गमनं कालेनाऽतिचिरेण हि ।
मयाऽस्य पार्श्वे गन्तव्यं नियतेरेष निश्चयः ॥ १४ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला प्रविश्याऽन्तःपुरं पुनः ।
सुष्वाप शयने शम्भोः शिरसीवैन्दवी कला ॥ १५ ॥
केनचित्कारणेनाऽसौ गतः सम्प्रति भूपतिः ।
इति पौरं जनं सर्वमाश्वास्याऽतिष्ठदङ्गना ॥ १६ ॥
राज्यं ररक्ष भर्तुस्तत्क्रमेण समदर्शनात् ।
यथा कालेन केदारं पक्वं कलमगोपिका ॥ १७ ॥
तयोस्तदावहत्कालो दम्पत्योः स्थितयोस्तथा ।
अदृष्टान्योन्यमुखयो राज्यकाननपालयोः ॥ १८ ॥
जगामाऽथ दिनं पक्षो मासोऽथ ऋतुवत्सरः ।
शिखिध्वजस्य विपिने चूडालायाः स्वमन्दिरे ॥ १९ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन वर्षाण्यष्टादशाङ्गना ।
चूडालोवास सदने वनगुच्छे शिखिध्वजः ॥ २० ॥

अब आज मेरा गमन न होगा, क्योंकि नियति का यह निश्चय है अति चिरकाल के बाद मुझे अपने पति के पास जाना पड़ेगा ॥ १४ ॥

इस प्रकार सोचकर चूडाला ने पुनः अपने अन्तःपुर में प्रवेश कर, भगवान् शङ्कर के मस्तक पर चन्द्रकला की तरह अपने विस्तर पर आकर सो गई ॥ १५ ॥

यह राजा इस समय किसी कारण विशेष से कहीं बाहर चले गये हैं इस रूप में सभी नागरिक जनों को आश्वासन देकर वह अङ्गना निश्चिन्त हो गई ॥ १६ ॥

वह चूडाला समदृष्टि से अपने स्वामी के उसी क्रम से वैसे ही राज्य की रक्षा करने लगी जैसे धान की रखवाली करनेवाली स्त्री समय से पके हुए धान के खेत की रक्षा करती है ॥ १७ ॥

उस समय एक दूसरे का मुख न देखनेवाले, राज्य और जङ्गल के पालन में तत्पर उन दोनों स्त्री और पुरुष का काल व्यतीत हो रहा था ॥ १८ ॥

राजा शिखिध्वज का जङ्गल में तथा चूडाला का अपने घर में दिन के बाद पक्ष, पक्ष के बाद मास और मास के बाद ऋतु और वर्ष बीतता चला जा रहा था ॥ १९ ॥

यहाँ अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? अट्ठारह वर्ष तक अङ्गना चूडाला ने अपने सदन में और राजा शिखिध्वज ने वन के गुच्छों में निवास किया ॥ २० ॥

अथ यातेषु बहुषु वर्षेषु जरसाऽऽवृते ।
शिखिध्वजे महाशैलतटकोटरवासिनि ॥ २१ ॥
भर्तुः कषायपाकं तदालक्ष्य पालितं चिरात् ।
तदा तस्याऽथ यातेषु वर्षेषु जरसा वने ॥ २२ ॥
तदा तस्यात्मकार्यस्य भवितव्यतया तथा ।
भर्तुः समीपगमने मम कालोऽयमित्यथ ॥ २३ ॥
सञ्चिन्त्य मन्दरोपान्तं गन्तुं बुद्धिं चकार सा ।
चचारान्तःपुराद्रात्रौ ततार नभसः पथम् ॥ २४ ॥
जगाम वातस्कन्धेन गच्छन्ती खे ददर्श सा ।
कल्पवृक्षांशुकच्छन्नरत्नस्तबकभूषिताः ।
नन्दनोद्याननिलया रक्ताः सिद्धाभिसारिकाः ॥ २५ ॥
परामृष्टेन्दुशकलान्प्रालेयकणवर्षिणः ।
सिद्धोत्तमात्तसौगन्ध्यान् स्पर्शयामास मारुतान् ॥ २६ ॥
चन्द्रबिम्बामृताम्भोधेर्महावीचिपरम्पराम् ।
अपश्यन्निर्मलज्योत्स्नामम्बरान्तरतां गता ॥ २७ ॥

इसके बाद अनेक वर्षों के लगातार व्यतीत हो जाने पर महाशैल तट के कोटर में निवासी राजा शिखिध्वज की वृद्धावस्था आ गई ॥ २१ ॥

अपने स्वामी की रागादि वासनाओं के पाक को दृष्टि में रखकर चूडाला ने उतने दिनों की खूब प्रतीक्षा की। इसके बाद वृद्धावस्था से युक्त राजा शिखिध्वज के अनेक वर्ष वन में जब व्यतीत हो गये ॥ २२ ॥

तब पति के बोधनरूप आत्मकार्य की वैसी भवितव्यता से उसका यह विचार हुआ कि मेरा यही समय पति के समीप गमन का है ॥ २३ ॥

ऐसा सोचकर उसने मन्दराचल के वन में जाने के लिए सोचा और रात में अन्तःपुर से निकलकर आकाश मार्ग में उड़ गई ॥ २४ ॥

वह वायुमण्डल में होकर गई। आकाशमार्ग जाती हुई उसने कल्पवृक्ष के वस्त्रों से आच्छन्न तथा रत्नस्तबकों से विभूषित, नन्दन वन की निवासिनी अपने प्रेमियों में अनुरक्त सिद्धों की अभिसारिकाओं का अवलोकन किया ॥ २५ ॥

चन्द्रकलाओं का स्पर्शी हिमकण के वर्षी, उत्तम सिद्धों के द्वारा मन्दार माला, हरिचन्दन, कस्तूरी आदि की सुगन्धता का ग्रहण करने वाले मारुतों का उसने स्पर्श किया ॥ २६ ॥

आकाश के बीच में जातर चन्द्रविबम्ब रूपी पीयूष सिन्धु की महातरङ्गों की परम्पराभूत निर्मल ज्योत्स्ना

मेघान्तरेण गच्छन्ती मेघलग्नाश्च विद्युतः ।
अवियुक्ताः स्वभर्त्रा सा भूयो भूयो व्यलोकयत् ॥ २८ ॥
उवाच चाऽऽत्मनैवाऽहो यावज्जीवं शरीरिणाम् ।
न स्वभावः शमं याति ममाऽप्युत्कण्ठितं मनः ॥ २९ ॥
कदा मृगेन्द्रस्कन्धं तं प्रणयप्रवणं पुनः ।
पश्यामि कान्तमित्युक्तं ममाऽप्युत्कण्ठते मनः ॥ ३० ॥
मञ्जरीजालवलितास्तरुं वल्लयः स्वकं पतिम् ।
न मुञ्चन्ति क्षणमिति ममाऽप्युत्कण्ठते मनः ॥ ३१ ॥
यथेयमग्रजा कान्तमेति सिद्धाभिसारिका ।
तथा कदाऽहमेष्यामि ममाऽपीति मनः स्थितम् ॥३२॥
इमे मन्दाश्च मरुत एते च शशिनः कराः ।
वनराजय एताश्च ममाप्युत्कण्ठयन्त्यहो ॥ ३३ ॥
हे चित्ताज्ञ ! मुधैवाऽन्तः किं त्वं ताण्डवितं स्थितम् ॥३४॥
सा व्योमनिर्मला साधो ! क्व ते याता विवेकिता ।
अथवा चित्त भर्तारं स्वं प्रत्युत्कण्ठसे सखे ! ॥ ३५ ॥

का उसने अवलोकन किया ॥ २७ ॥

मेघों के भीतर से जा रही उस चूडाला ने मेघों में संलग्न तथा अपने स्वामी से अवियुक्त विद्युतों का बार-बार अवलोकन किया ॥ २८ ॥

और अपने मन-ही-मन वह बोलने लगी—अहो, जीवनपर्यन्त देहधारियों का स्वभाव कभी शान्त नहीं होता है। आज मेरा भी मन उत्कण्ठित ही हो गया है ॥ २९ ॥

अहो ! विवेकादि के द्वारा बोधित भी मेरा मन आज उत्कण्ठित हो रहा है कि प्रेम में प्रवण तथा मृगेन्द्र की तरह स्कन्धवाले अपने कान्त को मैं पुनः कब देखूँगी ॥३०॥

मञ्जरियों के जालों से वेष्टित लताएँ अपने वृक्षरूपी पति को क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़ती, इसलिए भी मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है ॥ ३१ ॥

मैं भी कब अपने कान्त के पास वैसे ही जाऊँगी ? इसी विचार में मेरा भी मन लगा हुआ है जैसे देवयोनि में उत्पन्न यह सिद्धाभिसारिका अपने कान्त के पास जा रही है ॥ ३२ ॥

ये मन्द-मन्द पवन, ये चन्द्रकिरण और ये वन की पंक्तियाँ मुझे भी उत्कण्ठित कर रही हैं ॥ ३३ ॥

हे अज्ञ चित्त ! व्यर्थ ही हृदय में ताण्डवित होकर तूं क्यों स्थित है ॥ ३४ ॥

हे साधो ! तुम्हारी आकाश की तरह निर्मल विवेशिता कहां चली गई ? अथवा हे सखे चित्त ! तुम्हारा

तिष्ठोत्कण्ठाभिवलितं किं समुत्कण्ठितेन मे ।
किं वृथोत्कण्ठसे वामे भर्ता यातो जरां भवेत् ॥ ३६ ॥
तपस्वी कृशगात्रश्च भवेन्निर्वासनस्तथा ।
मनो राज्याद्यभोगेभ्यो मन्येऽस्यामूलतां गतम् ॥ ३७ ॥
वासनालतिका प्रावृण्नदी नदगता यथा ।
एकान्तरत एकात्मा नीरसः शान्तवासनः ॥ ३८ ॥
मन्ये भवति मे भर्ता शुष्कवृक्षसमस्थितिः ।
तथापि चित्त कोत्कण्ठा भवतोत्कण्ठयान्वितम् ॥
मतिमुद्बोध्य योगेन श्लेषयिष्याम्यहं पतिम् ॥ ३९ ॥
प्रमृष्टकलनं भर्तुः समीकृत्य मनो मुनेः ।
राज्य एव नियोक्ष्यामि निवत्स्यावः सुखं चिरम् ॥४०॥
अहो नु चिरकालेन मनोरथमिमं शुभम् ।
अहमासादयिष्यामि यद्भर्ता समचिन्तितः ॥ ४१ ॥

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि तुम अपने स्वामी के प्रति उत्कण्ठित हो रहे हो ॥ ३५ ॥

हे चित्त ! तुम उत्कण्ठा से परिपूर्ण होकर बैठे रहो, तुम्हारे उत्कण्ठित होने से मेरा क्या ? हे स्त्री शरीर ! जिसके आलिङ्गन के लिए समुत्सुक हो रहे हो, वह तुम्हारा स्वामी तुम्हारी तनिक भी परवा न कर अब बिलकुल वृद्ध हो गया होगा ॥ ३६ ॥

वह तपस्वी कृश शरीर तथा वासनाशून्य हो गया होगा। मैं समझती हूँ, अब उसका मन राज्यादि के अभोग के लिए निर्मूल हो गया होगा ॥ ३७ ॥

तथा उसकी वासना रूप लति का महान् आत्मा में यिल कर अब वैसे ही उससे पृथक् नहीं रहती होगी। जैसे वर्षा काल की क्षुद्र नदी महानद में मिल कर उससे पृथक् नहीं रहती, वह एकान्त में शासक्त अत एव एकात्मा हो गया होगा, उसकी इच्छाएँ समाप्त हो गई होंगी तथा वह वासनाओं से शून्य हो गया होगा ॥ ३८ ॥

मैं मानती हूँ, यद्यपि मेरा स्वामी अब शुष्क वृक्ष के समान हो गया होगा अर्थात् वह बिलकुल बोधशून्य हो गया होगा, तथापि हे चित्त तुम्हें उत्कण्ठित होने की कोई आवश्यकता नहीं है ? क्योंकि मैं योग से स्वामी की बुद्धि को तत्त्वज्ञ बना कर प्रारब्ध शेषोपभोग की उत्कण्ठा से युक्त उन्हें तुम्हारे साथ संश्लिष्ट करा दूँगी, तुम उत्कण्ठा मत करो ॥ ३९ ॥

मैं अपने मुनि हुए स्वामी के मन को सम बना कर राज्य करने में ही नियुक्त करूँगी और उसके बाद हम

समग्रानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ।
यत्समानमनोवृत्तिसङ्गमास्वादने सुखम् ॥ ४२ ॥
इति चिन्तयती व्योम्ना चूडालोल्लङ्घ्य पर्वतान् ।
देशानब्दान् दिगन्तांश्च प्राप मन्दरकन्दरम् ॥ ४३ ॥
अदृश्यैव नभःस्थैव प्रविवेश वनान्तरम् ।
वात्येव पादपलतास्पन्दवेद्यगमागमा ॥ ४४ ॥
वनैकदेशे कस्मिंश्चित्कृतपर्णोटजे पतिम् ।
दृष्ट्वा योगेन बुबुधे देहान्तरमिवाऽऽस्थितम् ॥ ४५ ॥
हारकेयूरकटककुण्डलादिविभूषितः ।
अभवन्मेरुकान्तिर्यस्तमेवाऽत्र ददर्श सा ॥ ४६ ॥
कृशाङ्गं कृष्णवर्णं च जीर्णपर्णमिव स्थितम् ॥ ४७ ॥
कज्जलाम्बुभरस्नातं भृङ्गीशमिव निस्पृहम् ।
चीराम्बरधरं शान्तमेकाकिनमवस्थितम् ॥ ४८ ॥

दोनों सुख से चिर काल तक निवास करेंगे ॥ ४० ॥

अहो ! बहुत दिनों के बाद मैं इस शुभ मनोरथ को प्राप्त करूँगी, क्योंकि मैं अपने स्वामी को तत्त्व बोध से अपने ही समान आभ्यन्तर और बाह्य अर्थों में विचार युक्त करा दूँगी ॥ ४१ ॥

जो समान मन की वृत्तियों के सङ्गम के आस्वादन का समग्र आनन्द समूहों के ऊपर स्थित है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार चिन्तन कर रही चूडाला आकाश मार्ग से पर्वतों, देशों, मेघों तथा दिगन्तों को लाँघ कर मन्दराचल की कन्दरा में जा पहुँची ॥ ४३ ॥

जैसे वृक्षों और लताओं के स्पन्द से अनुमेय गमनागमन वाली बात्या वैसे ही अदृश्य रूप से आकाश में स्थित ही वह चूडाला जङ्गल के मध्य में उस तरह प्रविष्ट हो गई ॥ ४४ ॥

वन के किसी एक कोने में पर्ण कुटी बना कर ठहरे हुए अपने पति को देखकर उसने समाहित चित्त से अन्य शरीर में स्थित के समान समझा ॥ ४५ ॥

जो पहले हार, केयूर, कटक और कुण्डल आदि से शिभूषित सुमेरु के समान कान्तियुक्त था। उसको यहाँ उस चूडाला ने कृशगात्र, कृष्णवर्ग और जीर्णपत्र के समान अवस्थित देखा ॥ ४६-४७ ॥

काजलमय जल में स्नान किये हुए—जैसे भगवान् शङ्कर के प्रसिद्ध द्वारपाल भृङ्गीश के सदृश इच्छाओं से शून्य, अवस्थित वल्कल वस्त्रधारी, शान्त, अकेले जमीन

स्थलीनिषण्णं पुष्पाणि ग्रथयन्तं जटाङ्कितम् ।
तमालोक्याऽनवद्याङ्गी चूडाला पीवरस्तनी ॥ ४९ ॥
किञ्चिज्जातविषादेवमुवाचाऽऽत्मनि चेतसा ।
अहो नु विषमं मौर्ख्यं तदनात्मज्ञतात्मकम् ॥ ५० ॥
एवंविधाः समायान्ति दशा मौर्ख्यप्रसादतः ।
अयं स राजा लक्ष्मीवान्यतो मेऽतिप्रियः पतिः ॥ ५१ ॥
हृदि मोहघनक्षुण्णामिमामभ्यागतो दशाम् ।
तदवश्यमिहाऽद्यैव नाथं विदितवेद्यताम् ।
नयाम्यत्र न संदेहो भोगमोक्षश्रियं तथा ॥ ५२ ॥
इदं रूपं परित्यज्य रूपेणाऽन्येन केनचित् ।
सकाशमस्य गच्छामि बोधं दातुमनुत्तमम् ॥ ५३ ॥
बालेयं मम कान्तेति मदुक्तं न करोत्यलम् ।
तस्मात्तापसरूपेण बोधयामि पतिं क्षणात् ॥ ५४ ॥
भर्ता कषायपाकेन परिपक्वमतिः स्थितः ।
चेतस्यस्याऽद्य विमले स्वं तत्त्वं प्रतिबिम्बति ॥ ५५ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला बभूव द्विजदारकः ॥ ५६ ॥

पर बैठकर देवताओं और अतिथियों की पूजा के लिए फूलों की माला गूँथ रहे, जटाओं से चिह्नित उस अपने पति को देखकर सर्वाङ्गसुन्दरी तथा स्थूल स्तनवाली चूडाला कुछ उदास की तरह होकर अपने मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगी कि अज्ञानभरी कैसी विषम मूर्खता है ॥ ४८-५० ॥

मूर्खता के प्रसाद से ऐसी ही दशाएँ आया करती हैं। यह लक्ष्मीवान् राजा मेरा अतिशय प्रिय पति हृदय में गाढ़ मोह से आहत इस दशा में आ गया ॥ ५१ ॥

इसलिए इस पर्णकुटी में आज ही अवश्य अपने नाथ को आत्मज्ञानी बनाऊँगी तथा भोग और मोक्षश्री दिलाऊँगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ५२ ॥

इस रूप को छोड़कर किसी दूसरे रूप से सर्वोत्तम ज्ञान देने के लिए अब मैं इनके समीप चलती हूँ ॥ ५३ ॥

यदि मैं इसी रूप से इसके पास जाती हूँ तो यह मेरी कान्ता है, यह समझकर मेरा कहना अच्छी तरह नहीं करेगा, इसलिए तपस्वी के रूप से सामने जाकर क्षणभर में ही पति को समझती हूँ ॥ ५४ ॥

अब मेरा स्वामी रागादि वासनाओं के परिपाक से परिपक्वमति है। इसके विमल चित्त में आत्मतत्त्व भली-भाँति प्रतिबिम्बित होगा, यह विचारकर चूडाला ब्राह्मण बन गई ॥ ५५, ५६ ॥

ईषद्ध्यानाद्गतान्यत्वं क्षणादम्बुतरङ्गवत् ।
पपात विपिने तस्मिन्द्विजपुत्रकरूपिणी ॥ ५७ ॥
भर्तुरध्याजगामाऽग्रं मन्दस्मितलसन्मुखी ।
ददर्श द्विजपुत्रं तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ५८ ॥
वनान्तरादुपायातं तपोमूर्तिमिवाऽऽस्थितम् ।
द्रवत्कनकगौराङ्गं मुक्ताहारविभूषितम् ॥ ५९ ॥
शुक्लयज्ञोपवीताङ्गं शुक्लाम्बरयुगावृतम् ।
कमण्डलुधरं कान्तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ६० ॥
व्याप्तप्रकोष्ठद्विगुणेनाऽक्षसूत्रेण चारुणा ।
भूमावलग्नगात्रेण किष्कुमात्रेण च स्थितम् ॥ ६१ ॥
कुन्तलव्याप्तमूर्धानं सालिमालमिवाऽम्बुजम् ।
भासयन्तं प्रदेशं तं शारीरैर्दीप्तिमण्डलैः ॥ ६२ ॥
कुण्डलाभूषितमुखं नवमर्कमिवोदितम् ।
शिखासम्प्रोतमन्दारं शृङ्गस्थेन्दुमिवाऽचलम् ॥ ६३ ॥
कान्तोपशान्तवपुषमूर्जितं विजितेन्द्रियम् ।
हिमाभभस्मतिलकं भूषितालोकसुन्दरम् ॥ ६४ ॥

पूर्वोक्त अग्नि और चन्द्र की धारणरूप किञ्चित् ध्यान एक ही क्षण में जलतरङ्ग की तरह पुरुष रूप को प्राप्त किया और ब्राह्मणकुमार का रूपधारण कर वह चूडाला उसी जंगल में जा गिरी ॥ ५७ ॥

मन्द मुसकान से शोभित मुखवाली वह चूडाला अपने स्वामी के आगे आ गई और शिखिध्वज ने अपने सामने आकर खड़े हुए उस ब्राह्मण कुमार को देखा ॥ ५८ ॥

एक दूसरे जङ्गल से आए हुये मूर्तिमान् तप की मूर्ति के समान स्थित पिघले हुए सुवर्ण के समान गौराङ्ग, मोतियों के हार से विभूषित, शुक्ल यज्ञोपवीत से विराजमान शुक्ल दो वस्त्रोंसे आवृ त, कमण्डलुधारी तथा अत्यन्त कान्ति समन्वित जो समाने आकर खड़ा था ॥५९, ६०॥

मणिबन्ध से नीचे द्विगुण बाह्य प्रदेश को व्याप्त करने वाली, हस्तप्रमाण, बहुत लम्बी न होने के कारण भूमि में न लगी हुई सुन्दर अक्षमाला से सुशोभित, भ्रमरों की माला से व्याप्त कमल की तरह सिर के बालों से व्याप्त मस्तक वाले, शरीर के दीप्तिमण्डलों से उस प्रदेश को प्रकाशित कर रहे, कुण्डलों से विभूषित मुखवाले, नवीन उदित सूर्य के समान, अपनी शिखा में मन्दार की माला पिरोये हुए, अतएव जिसके शिखर पर चन्द्रमा स्थित है ऐसे पर्वत की तरह स्थित, कान्त तथा उपशान्त शरीरधारी, बलशाली, जितेन्द्रिय, हिम के समान कान्ति

मेरुहेमतटीलीनपूर्णेन्दुमिव चञ्चलम् ।
तमालोक्य द्विजसुतं समुत्तस्थौ शिखिध्वजः ॥ ६५ ॥
देवपुत्रागमधिया सम्परित्यक्तपादुकः ।
देवपुत्र ! नमस्कार इदमासनमास्यताम् ॥ ६६ ॥
इत्यस्य दर्शयामास पाणिना पत्रविष्टरम् ।
ददौ च द्विजपुत्रस्य पुष्पमुष्टिं करोत्करे ।
चन्द्रः कुमुदखण्डस्य प्रालेयमिव पल्लवे ॥ ६७ ॥
हे राजर्षे ! नमस्तुभ्यमिति द्विजसुतोऽवदत् ।
गृहीत्वा कुसुमान्यस्माद्विवेश पत्रविष्टरे ॥ ६८ ॥

शिखिध्वज उवाच

देवपुत्र ! महाभाग ! कुत आगमनं कृतम् ।
दिवसः सफलो मन्ये यत्त्वामद्याऽस्मि दृष्टवान् ॥ ६९ ॥
इदमर्घ्यमिदं पाद्यं पुष्पाणीमानि मानद ! ।
इमा प्रग्रथिता माला गृह्यन्तां भद्रमस्तु ते ॥ ७० ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा पाद्यमर्घ्यं च मालां पुष्पाणि चाऽनघ ! ।

से युक्त, भस्म तिलक से सुशोभित; अतएव भूषित आलोक की तरह सुन्दर तथा सुमेरु पर्वत की सुवर्ण तटी में अवस्थित गङ्गा प्रवाह में प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्रमा की तरह चञ्चल उस ब्राह्मणकुमार को देखकर राजा शिखिध्वज उठ खड़ा हो गया ॥ ६१—६५ ॥

देवपुत्र के आगमन को बुद्धि से अपनी खड़ाऊँ छोड़ कर राजा शिखिध्वज ने कहा—हे देवपुत्र ! आपको नमस्कार है, यह आपके लिए आसन है, कृपाकर इसपर बैठें ॥ ६६ ॥

इस प्रकार अपने हाथ से उसको पत्रनिर्मित आसन दिखलाया और वैसे ही ब्राह्मणकुमार के करतल में पुष्पमुष्टि दी जैसे कुमुद-खण्ड के पल्लव में चन्द्रमा हिमकणजाल ॥ ६७ ॥

उस ब्राह्मणकुमार ने भी कहा—हे राजर्षे, तुम्हें नमस्कार है और कुसुम गुच्छा को लेकर पत्रनिर्मित आसन पर बैठ गया ॥ ६८ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे महाभाग देवपुत्र ! आप कहाँ से आए हैं ? आज आपका दर्शन प्राप्तकर मैं आज का दिन सफल समझता हूँ ॥ ६९ ॥

हे मानद ! यह अर्घ्य है, यह पाद्य है, ये फूल हैं और ये गूँथी हुई मालाएँ हैं, ग्रहण करें आपका कल्याण हो ॥ ७० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे पापशून्य ! इस प्रकार कहकर

शिखिध्वजस्तद्दिष्टायै ददौ देव्यै यथाखिलम् ॥ ७१ ॥

चूडालोवाच

सुबहूनि परिभ्रान्तो भूतलायतनान्यहम् ।
त्वत्तः पूजा यथा प्राप्ता मयेयं न तथाऽन्यतः ॥ ७२ ॥
पेशलेनाऽनुरूपेण प्रश्रयेणाऽमुनाऽनघ ! ।
मन्येऽहं नूनमत्यन्तचिरंजीवी भविष्यसि ॥ ७३ ॥
शान्तेन मनसोदारमारादुन्मुक्तकल्पनम् ।
निर्वाणार्थं तपः साधो ! कच्चित्संभृतवानसि ॥ ७४ ॥
असिधारासमं सौम्य ! शान्तव्रतमिदं तव ।
स्फीतं यद्राज्यमुत्सृज्य महावननिषेवणम् ॥ ७५ ॥

शिखिध्वज उवाच

जानासि भगवन् ! सर्वं देवस्त्वं कोऽत्र विस्मयः ।
श्रियैव लोकोत्तरया ज्ञायसे चिह्नरूपया ॥ ७६ ॥
एतान्यङ्गानि ते चन्द्राद्घटितानीति मे मतिः ।
अथवा किं समालोकादमृतेनेव सिञ्चसि ॥ ७७ ॥

ब्राह्मण कुमार वेषधारी उस अपनी प्रियतमा को राजा शिखिध्वज ने अर्घ्य, पाद्य, माला और पुष्पादि शास्त्रोक्त विधि से दिये ॥ ७१ ॥

चूडाला ने कहा—हे राजर्षे ! इस भूतल पर मैंने अनेक जगहों में परिभ्रमण किया परन्तु जैसी पूजा मैंने तुम से प्राप्त की, वैसी किसी दूसरे से नहीं प्राप्त की थी ॥७२॥

हे अनघ ! तुम्हारे इस कोमल अनुरूप विनय से मैं समझता हूँ कि तुम निश्चय अत्यन्त चिरजीवी होगे ॥७३॥

हे साधो ! क्या जहाँ फल की कामना बहुत दूर फेंक दी गई है, शान्त मन से उदार तप तुमने मोक्ष के लिए सञ्चित किया है ? ॥ ७४ ॥

हे सौम्य ! तुमने अपने विस्तृत राज्य को छोड़ कर इस महा जङ्गल का सेवन किया है। वह क्रोध शून्य, वनस्थ यतियों का व्रत तलवार की धार के ऊपर चलने के समान कठिन है ॥ ७५ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे भगवन् ! आप देव हो, सब कुछ जानते हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अपने लोकोत्तर चिह्न युक्त सौन्दर्य से ही आप महा प्रभावशाली मालूम पड़ते हो ॥ ७६ ॥

मेरी बुद्धि तो यह कह रही है कि ये आपके सब अङ्ग अमृतमय चन्द्रमा से विरचित हैं अथवा मेरा अधिक कहना व्यर्थ है, आप अपने सम्यक् वीक्षण और देह की कान्ति से मानो अमृत से मुझे सींच रहे हो ॥ ७७ ॥

अस्ति मे दयिता कान्ता पाति मद्राज्यमद्य तत् ।
तवेव तस्या दृष्टानि तान्यङ्गानीह सुन्दर ! ॥ ७८ ॥
उपशान्तं च कान्तं च वपुरापादमस्तकम् ।
शृङ्गं शुभ्राम्बुदेनेव पुष्पेणाच्छादयाऽमुना ॥ ७९ ॥
निष्कलङ्केन्दुसङ्काशमङ्गमादित्यतेजसा ।
मन्ये ते ग्लानिमायाति सुमनः पत्रपेलवम् ॥ ८० ॥
देवार्चनायोपरिचितमिदमित्थं सितं मया ।
अङ्ग त्वदङ्गसङ्गेन तत्प्रयातु कृतार्थताम् ॥ ८१ ॥
जीवितं याति साफल्यं स्वमभ्यागतपूजया ।
देवादप्यधिकं पूज्यः सतामभ्यागतो जनः ॥ ८२ ॥
तत्कस्त्वं कस्य पुत्रस्त्वं किमायातोऽस्यनुग्रहात् ।
एतन्मे संशयं छिन्धि विमलेन्दुसमानन ! ॥ ८३ ॥

ब्राह्मण उवाच

राजन्मे शृणु वक्ष्यामि यथापृष्टमखण्डितम् ।
को नाम परिपृच्छन्तं विनीतं वञ्चयेत्पुमान् ॥ ८४ ॥

हे सुन्दर ! मेरी प्रियपत्नी है, जो आजकल मेरे उस राज्य की रक्षा कर रही है उसके समान आपके ही वे अङ्ग मुझे यहाँ दीख पड़े हैं ॥ ७८ ॥

मस्तक से लेकर पैर तक यह आपका उपशान्त तथा कमनीय शरीर है, इसे आप मेरे द्वारा दी गई माला से, शुभ मेघ से मेरुशिखिर की तरह ढक दीजिये ॥ ७९ ॥

कलङ्कशून्य चन्द्रमा के समान तथा पुष्पदल की तरह कोमल आपका यह अङ्ग सूर्य के तेज से ग्लानि को प्राप्त हो रहा है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ८० ॥

हे सुन्दर !यह ऐसी सफेद फूल की माला मैंने देवार्चन के लिए गूँथी है, वह आपके अङ्ग के सङ्ग से कृतार्थता को प्राप्त हो जाय ॥ ८१ ॥

अपने निकट आये हुए अतिथि की पूजा से जीवन सफल हो जाता है, क्योंकि सज्जनों को अभ्यागत जन देवता से भी अधिक पूज्य हैं। अर्थात् अतिथि पूजन देवार्चन से भी बढ़कर है, इसलिए अकेला अतिथि पूजन ही जन्म साफल्य में हेतु है, फिर आपकी पूजा में तो मुझे दोनों की प्राप्ति एक साथ हो गयी ॥ ८२ ॥

हे विमलचन्द्र के तुल्य मुखवाले ! मेरे द्वारा समर्पित पूजा ग्रहण कर आप मेरे इस सन्देह को दूर करें कि आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और इस दीन के ऊपर दया कर कहाँ से किसलिए आये हैं ॥ ८३ ॥

ब्राह्मण ने कहा—हे राजन् ! जैसा आपने मुझसे पूछा है वह सब मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनें। भला ऐसा कौन पुरुष है, जो एक विनम्र प्रश्नकर्ता को धोखा दे ॥ ८४ ॥

अस्त्यस्मिञ्जगतीकोशे शुद्धात्मा नारदो मुनिः ।
पुण्यलक्ष्म्या मुखे कान्ते कर्पूरतिलकोपमः ॥ ८५ ॥
स कदाचिन्मुनिर्देवो गुहायां ध्यानमास्थितः ।
तत्र हेमतटे गङ्गा वहत्पुरुतरङ्गिणी ॥ ८६ ॥
मेरुलक्ष्म्या स्फुरद्रूपा भाति हारलता यथा ।
एकदा नारदमुनिर्ध्यानान्ते स सरित्तटे ॥ ८७ ॥
ध्वनद्वलयमश्रौषील्लीलाकलकलारवम् ।
किमेतदित्यसौ किञ्चिज्जातप्रायकुतूहलः ॥ ८८ ॥
हेलयाऽऽलोकयन्नद्यामपश्यल्ललनागणम् ।
रम्भातिलोत्तमाप्रायं निर्यातं जललीलया ॥ ८९ ॥
क्रीडन्तं त्यक्तवसनं देशे पुरुषवर्जिते ।
काञ्चनाम्भोजमुकुलसङ्काशैः स्तनमण्डलैः ॥ ९० ॥
परिवेल्लितमन्योन्यं फलकान्तं द्रुमं यथा ।
द्रुतहेमरसापूरनिर्भराभोगभासुरैः ।
कुर्वन्तमुरुभिः काममन्दिरस्तम्भसञ्चयम् ॥ ९१ ॥

पुण्यलक्ष्मी के कमनीय मुख में सुगन्धित कर्पूर के तिलक के समान गौराङ्ग शुद्धात्मा नारदमुनि इस जगती कोश में हैं ॥ ८५ ॥

वह देवमुनि नारद सुमेरु पर्वत की गुहा में किसी समय ध्यानावस्थित थे। वहीं सुमेरुतट में विशाल तरङ्ग वाली गङ्गाजी बहती हैं ॥ ८६ ॥

मेरु के सौन्दर्य से प्रकाशमान रूपवाली वह गङ्गा हारलता की तरह भासित होती हैं। उसी गङ्गा नदी के तटपर एक समय ध्यान के अन्त में नारदमुनि ने शब्द कर रहे कङ्कणों से युक्त जलक्रीड़ा की कोलाहल ध्वनि सुनी और यह क्या सुनाई दे रहा है उसे सुनकर कुछ कौतूहल उत्पन्न हुआ ॥ ८७, ८८ ॥

कौतुक से नदी की ओर देखकर उन्होंने जलसेचनादि क्रीडा कर जल से निकले हुए रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं का समूह देखा ॥ ८९ ॥

मानो वे स्वर्णकमल के कुड्मलों के समान स्तनमण्डलों से अलङ्कृत वह पुरुषरहित प्रदेश में वस्त्र छोड़कर क्रीड़ा कर रहा था ॥ ९० ॥

परस्पर एक दूसरे से मिल जाने के कारण वह फलों से सुशोभित वृक्ष की तरह प्रतीत हो रहा था, पिघले हुए सुवर्णरस के प्रवाहातिशय के सदृश कान्तिसंस्थान से प्रकाशमान जंघाओं से अपने काममन्दिर के लिए मानो खम्भों का सञ्चय कर रहा था ॥ ९१ ॥

निर्मलीकृतचन्द्रेण व्याप्तां व्योमविलासिनीम् ।
लावण्यरसपूरेण तर्जयन्तमिवाऽऽपगाम् ॥ ९२ ॥
प्राकारैरमरोद्यानरथचक्रैर्मनोभुवः ।
उत्पथार्पितगङ्गाम्बुनितम्बतटसेतुभिः ॥ ९३ ॥
सर्वत्र दृष्टसर्वाङ्गं विश्वरूपमिव स्थितम् ।
प्रतिबिम्बितसर्वाङ्गमन्योन्यादर्शतां गतम् ॥ ९४ ॥
कालकल्पतरोर्वर्षविटपात्पक्षपल्लवात् ।
विविधर्तुलताजालाद्दिनश्रीकलिकाकुलात् ॥ ९५ ॥
आलोकपुष्परजसो जाताद्गगनकानने ।
स्फुरज्जलखगप्रोतात्सप्ताब्ध्येकालवाडकात् ॥ ९६ ॥
स्तनस्तबकवृन्देषु स्पर्धयाऽतिरसान्वितम् ।
उद्धृत्योद्धृत्य सम्पूर्णदलिताम्भोजपल्लवम् ॥ ९७ ॥
आलोलालककेशाक्षितारकादिमधुव्रतम् ॥ ९८ ॥

मानो वह अपने जल की निर्मल चन्द्रमा से सर्वत्र व्याप्त व्योमविलासिनी मन्दाकिनी को भी अपने देहलावण्य रसप्रवाह से तिरस्कृत कर रहा था ॥ ९२ ॥

नन्दनवन में कामदेव की क्रीडा के साधनभूत रथ के चक्रभूत नितम्बतटरूप सेतुओं से प्रवाह का निरोध हो जाने के कारण वह गङ्गाजल को भी उलटे मार्ग में पहुँचा रहा था ॥ ९३ ॥

उस यूथ में विद्यमान प्रत्येक अप्सरा इतनी निर्मल थी कि एक दूसरे लिए दर्पण बन गई थी। अतएव उनके समस्त अङ्ग चारों ओर एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हो गये थे। सभी जगह उनके समस्त अङ्ग दिखाई पड़ते थे ॥९४॥

कालात्मारूपी कल्पतरु के प्रभव आदि साठ संवत्सर ही शाखा हैं, पक्ष ही पल्लव हैं, विविध ऋतु उसकी लताएँ हैं, दिनश्री उसकी कलिकाएँ हैं, आलोक ही कुसुम-रज हैं, गगनकानन में नन्दन वन में वह चमकीले जलमय शरीरवाले देवरूपी पक्षियों से चारों ओर व्याप्त है, सात समुद्र ही उसकी क्यारियाँ हैं, ऐसे कल्पतरुरूप व्यापक विष्णु से उत्पन्न विश्वरूप के समान वह ललनागण स्थित था 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्' इसमें प्रसिद्ध कालात्मा भगवान् से उत्पन्न विश्वरूप से वह स्थित था। [समस्त सङ्कल्पित फलों का दाता होने से गीतोक्त कालात्म भगवान् का कल्पतरुरूप से वर्णन करते हैं] ॥ ९५, ९६ ॥

एक दूसरे के स्तनरूपी स्तबकों में तथा कमलमुकुलों में समान सौन्दर्य का अनुभव होने के कारण उत्पन्न स्पर्धा से नालदण्ड से उखाड़ कर हिलाने के कारण अतिरसपूर्ण कमल-पल्लवों को उस यूथ ने विदलित कर दिया था ॥ ९७ ॥

उसके मुखरूपी कमलों में चञ्चल लट, दीर्घकेश, अक्षितारे तथा ललाट से गूँथे हुए नीलमणि भ्रमररूप से शोभायमान थे ॥ ९८ ॥

अमृतापद्विघाताय कोशसञ्चयकारिभिः ।
दुष्प्रापे भूतसङ्घानां विकसत्कनकाम्बुजे ॥ ९९ ॥
पद्मिनीपल्लवाच्छन्ने गुप्ते मेरोर्गुहान्तरे ।
शीतले स्वर्धुनीतीरे तोयोन्मृष्टमले सुरैः ॥१००॥
चन्द्रबिम्बकलापूरमेकत्रैवोपसंहृतम् ।
स्त्रैणमालोक्य तत्कान्तं सहसैव मनो मुनेः ।
अनाश्रितविवेकांशं बभूवाऽऽनन्दितं स्फुरत् ॥१०१॥
आनन्दवलिते चित्ते क्षुब्धे प्राणानिले स्थिते ।
बभूव तस्य हृष्टस्य मदनस्खलितं तदा ॥१०२॥
फलं रसापूर्णमिव ग्रीष्मान्त इव तोयदः ।
प्रत्यग्रपादपच्छिन्नलतावृन्त इवोत्तम ॥१०३॥
अवश्यायकणस्पन्दी शशाङ्क इव वा मुनिः ।
बिसं द्विधापातमिव गलत्साररसोऽभवत् ॥१०४॥

अमृतनिधि का सञ्चय करना ही जिनका स्वभाव है, ऐसे देवताओं द्वारा—अमृत का अपहरण करने वाले राहु आदि द्वारा—सम्भावित विपत्ति का विनाश करने के लिए एकान्त सुमेरुगुहा के अन्दर; जो गुहा साधारण प्राणि की अगम्य, खिल रहे सुवर्ण कमल के सदृश सुशोभित, पद्मिनी के पल्लवों से ढकी, शीतल गङ्गाजी के किनारे पर विद्यमान तथा उसके जल से क्षालितमल थी;—मानो एकत्र बटोरे गए चन्द्रबिम्ब की कलाओं के पुञ्जरूप से स्थित उन सुन्दर स्त्रियों का अवलोकन कर तत्काल ही मुनि का मन उनमें आसक्त हो गया और विवेक की मात्रा का परित्याग कर प्रमत्त हो स्फुरित होने लगा ॥ ९९-१०१ ॥

जब मुनि का चित्त आनन्द से सराबोर हो गया और चित्तविकृति के कारण प्राणवायु में क्षोभ हुआ, तब जैसे रस से परिपूर्ण फल, ग्रीष्म की समाप्ति में मेघ तथा विच्छिन्न शाखा मूलवाला नवीन वृक्ष अपने स्थान से स्खलित हो जाता है वैसे ही उस हृष्ट चित्त नारद का वीर्य उस प्रकार स्खलित हो गया ॥ १०२-१०३ ॥

जैसे द्विधा खण्डित मृणालतन्तु गलितशुक्र (सार) होता है वैसे ही जलकण बरसाने वाले चन्द्रमा के समान वह मुनि उस प्रकार गलितशुक्र हुए ॥ १०४ ॥

शिखिध्वज उवाच

तादृशोऽपि बहुज्ञोऽपि जीवन्मुक्तोऽप्यसौ मुनिः ।
निरिच्छोऽपि निरागोऽपि न किञ्चिदुपमोऽप्यलम्॥१०५॥
स बाह्याभ्यन्तरं नित्यमाकाशविशदोऽपि च ।
नारदोऽपि कथं ब्रह्मन् ! मदनस्खलितोऽभवत् ॥१०६॥

चूडालोवाच

सर्वस्या एव राजर्षे ! भूतजातेर्जगत्त्रये ।
देवादेरपि देहोऽयं द्वयात्मैव स्वभावतः ॥१०७॥
अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकम् ।
सर्वमेव जगत्यङ्ग सुखदुःखमयं स्मृतम् ॥१०८॥
तृप्त्यादिना पदार्थेन केनचिद्वर्धते सुखम् ।
आलोक इव दीपेन महाम्बुधिरिवेन्दुना ॥१०९॥
क्षुधादिना पदार्थेन दुःखं केनचिदेव हि ।

राजा शिखिध्वज ने कहा—नारद जी लोक में विख्यात भी हैं, सर्वज्ञ भी हैं, जीवन्मुक्त भी हैं, निरीह भी हैं, रागरहित भी हैं, मुनियों में उनकी बराबरी का कोई है भी नहीं है ॥ १०५ ॥

हे ब्रह्मन् ! वह बाहर और भीतर आकाश के सदृश विशद भी हैं, फिर ऐसे मुनि दर्शनमात्र से विकृतिचित्त होकर स्खलित वीर्य कैसे हुए ॥ १०६ ॥

चूडाला ने कहा—हे राजर्षे ! तीनों जगत् में सभी भूतजाति का, देव आदि का भी यह शरीर स्वभावतः दो रूपवाला ही है अर्थात् प्रबलतर प्रारब्ध से तत्त्वज्ञानियों की भी विवेकमात्रा तिरोहित हो जाती है, इसलिए किसी समय देहधर्मों के वशवर्ती वे हो ही जाते हैं ॥ १०७ ॥

हे प्रिय ! इस जगत् में चाहे अज्ञानी हों या ज्ञानी । अपने विनाश तक सभी शरीर सुख-दुःखात्मक ही कहे जाते हैं ॥ १०८ ॥

जैसे दीपक से आलोक और चन्द्रमा से महासागर बढ़ता है वैसे ही तृप्ति आदि के साधन किसी पदार्थ से सुख उस प्रकार बढ़ता है ॥ १०९ ॥

जैसे मेघरूपी पट से रात में अन्धकार बढ़ता है वैसे ही क्षुधा आदि किसी पदार्थ से दुःख बढ़ता है, इन सब विषयों में केवल स्वभाव ही एकमात्र कारण है ॥ ११० ॥

एक निमेष मात्र के लिए भी सत्य निर्मल स्वरूप यदि विस्मृत हो जाय, तो वर्षाकाल में मेघ के सदृश यह दृश्यरूप अनर्थ उल्लसित हो उठता है अर्थात् जब ज्ञानियों को भी क्षणभर आत्मविस्मृति होनेपर ऐसी अनर्थ परम्परा आती है तब अज्ञानियों की तो बात ही

तमो मेघपटेनेव स्वभावो ह्यत्र कारणम् ॥११०॥
स्वरूपे निर्मले सत्ये निमेषमपि विस्मृते ।
दृश्यमुल्लासमाप्नोति प्रावृषीव पयोधरः ॥१११॥
अनारतानुसन्धानादप्युन्मेषमविस्मृते ॥११२॥
यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रौ स्थितिं गतौ ।
तथैव सुखदुःखाभ्यां शरीरं स्थितिमागतम् ॥११३॥
एवं हि सुखदुःखे द्वे जन्मकारणदर्शनात् ।
अज्ञस्य गाढतां याते पटे कुङ्कुमवद्दृढम् ॥११४॥
तज्ज्ञस्य त्वङ्ग लगतो मनागपि न तद्वशात् ।
यथा शुभाशुभौ रागादिनाऽऽक्रान्ततरौ मणेः ॥११५॥
पुरःस्थवस्तुभावेन रञ्जनां स्फटिको यथा ।
तज्ज्ञस्तथा नैति बोधाज्जीवन्मुक्तमतिर्मुनिः ॥११६॥

क्या है ॥ १११ ॥

सतत आत्मतत्त्व का अनुसन्धान करने से जब उन्मेष भी आत्मतत्त्वस्वरूप विस्मृत नहीं होता, तब यह दृश्यरूपी पिशाच चित्त में उल्लसित नहीं होता है । अर्थात् किसी समय भी दृश्य उल्लषित न हो जाय, इसलिए निरन्तर ही समाधि से अपने स्वरूप का स्मरण करते रहना ही चाहिए ॥ ११२ ॥

सुख और दुःख से यह शरीर अपनी स्थिति वैसे ही किये हुए है जैसे अन्धकार और प्रकाश के कारण दिन और रात अपनी-अपनी स्थिति प्राप्त किये हुए हैं ॥११३॥

[अर्थात् इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में प्रारब्ध फलभोग एक-सा होने पर भी राग-अरागजनित विशेष ही है ।]

जैसे पट में केसर दृढ़रूपता को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार देह में ही आत्मरूपता का अवलोकन करने से सुख-दुःख दोनों अज्ञानियों में ऐसी दृढ़ता को प्राप्त हो गये हैं ॥ ११४ ॥

हे प्रिय ! जैसे स्फटिक मणि में केसर आदि रङ्गों का सम्बन्ध होने पर भी केसर आदि रङ्ग नहीं लगते वैसे ही आत्मतत्त्व ज्ञान के प्रभाव से तत्त्वज्ञानी में तनिक भी ये सुख-दुःख उस प्रकार नहीं लगते ॥ ११५ ॥

आत्मतत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त मुनि बोध के प्रभाव से समीप में पदार्थों के रहने पर भी उनसे सुख-दुःख आदि का सम्बन्ध वैसे ही प्राप्त नहीं करता है जैसे समीप में विद्यमान जपाकुसुम आदि रञ्जक द्रव्यों के कारण स्फटिक मणि लालिमा आदि कुछ काल के लिए धारण करता है ॥११६॥

वस्तुनः श्लेषमात्रेण घनरञ्जितमेति धीः ।
गतेऽपि वस्तुनि दृढं बुद्धिर्या परितापिता ॥११७॥
गतेऽपि कुङ्कुमे वस्त्रं तदीयमनुरञ्जनम् ।
न जहाति यथा मूढस्तथा विषयरञ्जनम् ॥११८॥
अनेनैव क्रमेणैतो बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ।
भावनातानवं मोक्षो बन्धो हि दृढभावना ॥११९॥

शिखिध्वज उवाच

स्वोत्पत्तिकारणप्राप्तौ कथं दुःखं सुखं च वा ।
अभ्युदेतीति वद मे दूरस्थानामपि प्रभो ! ॥१२०॥
अत्युदारमतीवाऽच्छं बह्वर्थं वचनं तव ।
श्रोतुं तृप्तिं न गच्छामि मयूरोऽभ्ररवेष्विव ॥१२१॥

चूडालोवाच

स्वोत्पत्तिकारणं हृद्यं लब्ध्वा कायाक्षिपाणिभिः ।

अज्ञानियों की बुद्धि वस्तुओं के हट जाने पर भी सन्तप्त रहती है, इसलिए वस्तुओं के सम्बन्धमात्र से उनकी बुद्धि दृढ़ आसक्त हो जाती है, यह निश्चित ही है ॥११७॥

वस्तु का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर भी विषयों का अनुराग वैसे ही अज्ञानी नहीं छोड़ता है जैसे केसर का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर भी वस्त्र उसका रङ्ग नहीं छोड़ता है ॥ ११८ ॥

इसी क्रम से ये बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थित हैं। विषय भावना का विनाश ही मोक्ष है और विषयों की दृढ़ भावना ही बन्ध है ॥ ११९ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे प्रभो ! दूरस्थ या समीपस्थ राज्य या पुत्र आदि के लाभ से सुख और उनके विनाश से दुःख होता है। सुख और दुःख की उत्पत्ति में हेतुभूत इष्टप्राप्ति और इष्टविनाश रूप कारण का लाभ होने पर उत्पद्यमान सुख और दुःख जीव में कैसे आ जाते हैं ? यह मुझे से कहें ॥ १२० ॥

आपका वचन अनेक अर्थो से परिपूर्ण, अत्यन्त उदार और अति अतिस्पष्टार्थक होता है, इसलिए धनगर्जन में मयूर की तरह आपके वचनों के श्रवण से तृप्ति ही नहीं होती ॥ १२१ ॥

चूडाला ने कहा—समीप स्थल में शरीर, चक्षु, हाथ आदि साधनों से तथा दूर स्थान में अनुमान आदि साधनों से अपनी उत्पत्ति के कारणभूत अभीष्ट वस्तु का लाभ कर अपने व्यापक स्वरूप को न जनानेवाली यह बाला सुखसंवित्ति अपने आप ही उल्लसित होती है ॥ १२२ ॥

सुखसंविदियं बाला नूनमुल्लसति स्वतः ॥१२२॥
हृद्गता क्षोभमायाता जीवं कुण्डलिनीगतम् ।
जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहे स्थितिं गताः ॥१२३॥
प्राणावपूरिता नाडीर्जीव आक्रामति स्फुरन् ।
संस्पर्शैकप्रबुद्धात्मा रसो द्रुमलता इव ॥१२४॥
सुखप्रबोधसञ्चारे दुःखबोधागमे तथा ।
जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहस्थितिं गताः ॥१२५॥
सुखिनः प्रस्फुरत्येषा धीरताऽऽशु न दुःखिनः ।
ये हि मार्गाः सुवेषस्य कुवेषस्य न ते शुभाः ॥१२६॥
यावत्प्रमाणं जीवोऽयं संशाम्यत्यपरिस्फुरन् ।
तावत्प्रमाणमेवैनं मुक्तं मुक्तमवेहि वै ॥१२७॥
यावत्प्रमाणमधिकं स्फुरति क्षुब्धमारुतम् ।
तावत्प्रमाणमेवैनं बद्धं बद्धमवेहि मे ॥१२८॥

बुद्धि में अवस्थित आत्मसुख संवित्ति बुद्धि के क्षोभ से स्वयं क्षुब्ध होकर कुण्डलिनीगत जीव के प्रति स्वयं ही अग्निविस्फुलिङ्ग के सदृश आविर्भूत हो जाती है। जीव के लिए देह में अवस्थित नाडियाँ पृथक् रूप से नियत हैं ॥ १२३ ॥

जैसे मूल में सींचा गया जल नाली द्वारा समस्त द्रुमलताओं के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही प्राण से पूरित उन नाड़ियों के अन्दर, विषयस्पर्श से प्रबुद्ध स्फुरण-शील जीव प्रविष्ट हो जाता है ॥ १२४ ॥

सुखसंवित्ति के संचरण में तथा दुखसंवित्ति के आगमन में देह में विद्यमान नाड़ी मार्ग अलग-अलग ही जीव के लिए नियत हैं ॥ १२५ ॥

निरन्तर सुखानुभव करनेवाले राजा आदि में यह स्वस्थता जैसी स्फुरित होती हैं, दुःखानुभव करनेवाले पुरुष में वैसी स्फुरित नहीं होती। शोभन वेषवाले राजा आदि के लिए कपूर चन्दन आदि से सुगन्धित जल से सींचे गये मनोहर मार्ग होते हैं वे अशोभन वेषवाले निम्न श्रेणी के जीवों के लिए नहीं होते हैं ॥ १२६ ॥

जिस समय यह जीव उन तरलतर नाड़ी मार्गों में प्रविष्ट न होकर अस्फुरणशील हो जाता है, उस दशा में ही सर्वविध प्रपञ्च दुःखों से निर्मुक्त इसे मुक्त जानें ॥१२७॥

जबतक तरलतर नाड़ी मार्गों में प्रविष्ट न होकर क्षुब्ध-प्राण हो सदा स्फुरित होता रहता है तभीतक सर्व-विध प्रपञ्च दुःखों से बद्ध इसे बद्ध जानें ॥ १२८ ॥

सुखदुःखकलास्पन्दो बन्धो जीवस्य नेतरः ।
तदभावे हि मोक्षः स्यादिति द्वेधा व्यवस्थितिः ॥१२९॥
सुखदुःखदशे यावदानीते नेन्द्रियैः शठैः ।
तावत्सुखसमः सौम्यो जीवस्तिष्ठति शान्तवत् ॥१३०॥
सुखमालोक्य वा दुःखमक्षातीतश्चलद्वपुः ।
समुल्लसति जीवोऽन्तर्दृष्टेन्दुमिव तोयधिः ॥१३१॥
जीवः क्षुभ्यति दृष्टेन संविदाङ्ग सुखादिना ।
आमिषेणेव मार्जारो मौर्ख्यमेवाऽत्र कारणम् ॥१३२॥
शुद्धेन बोध्यबोधेन स्वात्मज्ञानमयात्मना ।
सुखदुःखादि नास्तीति तेनाऽसौ याति सौम्यताम् ।१३३।
न तत्सुखादि नो तन्मे मुधा चाऽयमहं स्थितः ।
इति जीवः प्रबुद्धो हि निर्वाणं याति शाम्यति ॥१३४॥

सुख और दुःख के अनुभव के लिए चित्त का बाहर स्पन्दन जीव का बन्ध है, दूसरा नहीं, इसलिए इस स्पन्दन का अभाव हो जानेपर जीव का मोक्ष हो जायगा, इस प्रकार संसरण और असंसरण द्वारा बन्ध और मोक्ष की दो तरह व्यवस्थिति है ॥ १२९ ॥

इन शठ इन्द्रियों द्वारा जबतक सुख और दुःख की अवस्था लायी नहीं जाती तबतक जीव शान्त के समान सुखपूर्ण और सौम्य रहता है ॥ १३० ॥

जैसे चन्द्र को देखकर समुद्र उल्लसित होता है वैसे ही सुख और दुःख को देखकर यह स्वप्रकाशात्मा जीव चञ्चलरूप हो उस प्रकार भीतर उल्लसित हो उठता है ॥ १३१ ॥

हे प्रिय ! इस सुख आदि की सामग्री से या सुख-साधन धन आदि में प्रियत्व के ज्ञान से जीव, आमिष से मार्जार की तरह जो क्षुब्ध हो उठता है, इसमें कारण केवल अपने स्वरूप को न जानना ही है ॥ १३२ ॥

विशुद्ध, स्वात्मज्ञान स्वरूप अवश्य ज्ञातव्य आत्मा के बोध से सुख और दुःख आदि का अस्तित्व हट जाता है, इसलिए उसी से यह जीव विश्रान्ति की ओर जा सकता हैं ॥ १३३ ॥

न तो वास्तव में वे सुख आदि हैं, न वे मुझको लगते ही हैं। निरर्थक ही यह मैं उनके चक्कर में आकर स्थित हूँ, इस प्रकार तत्त्वज्ञान से जब जीव प्रबुद्ध हो जाता है तब वह मुक्ति प्राप्त करता है और शान्त हो जाता है ॥ १३४ ॥

सुख आदि कोई वस्तु नहीं है इसलिए वे आत्म-

सुखाद्यवस्त्वतद्रूपमित्यन्तर्बोधसंविदा ।
न तदुन्मुखतां याति जीवः शाम्यति केवलम् ॥१३५॥
सर्वमेव चिदाकाशं ब्रह्मेति घननिश्चये ।
स्थितिं याते शमं याति जीवो निःस्नेहदीपवत् ॥१३६॥
दीपवच्छममायाति सुखादिस्नेहसंक्षये ॥१३७॥
सर्वमेवमिति ज्ञानाज्जीवोऽद्वित्वविभावनात् ।
सर्वमाकाशमेवेति बुद्ध्वा क्षोभं न गच्छति ॥१३८॥
जीवस्याऽनेन शून्यस्य कः किल क्षोभविभ्रमः ।
जीवनेदृग्विधेनैव यथा प्रथमसर्गतः ।
स्वयं संविदितो मार्गस्तेनैवाऽद्याऽपि गच्छति ॥१३९॥

शिखिध्वज उवाच

सुखसञ्चारयोग्यासु जीवे सरति नाडिषु ।
देवपुत्र ! भवत्येव तद्वीर्यच्यवनं कथम् ॥१४०॥

स्वरूप कभी नहीं हो सकते, इस प्रकार के भीतरी आत्म-बोधरूप संवित्ति से जब जीव सुखादि की ओर नहीं देखता है तब वह विशुद्ध रूप से शान्त हो जाता है ॥ १३५ ॥

यह सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, इस प्रकार का अखण्ड निश्चय जब दृढ़ हो जाता है तब, तेलशून्य दीपक की तरह, जीव निर्वाण को प्राप्त करता है ॥१३६॥

सुख आदि स्नेह का विनाश हो जाने पर दीपक के के समान जीव शान्त हो जाता है ॥ १३७ ॥

यह दृश्यमान समस्त जगत् ब्रह्मस्वरूप है, इस प्रकार की अखण्डाकार वृत्ति से जनित भावना से पुरुष सम्पूर्ण जगत् में शून्यरूपता का अनुभव कर कदापि क्षोभ को प्राप्त नहीं करता है ॥ १३८ ॥

अद्वितीय ब्रह्मभावना के कारण भेदशून्यत्व कौर बन्ध-शून्यत्वस्वरूप से जाने गये जीव में क्षोभविभ्रम हो ही कैसे सकता है ? हे प्रिय ! इस प्रकार के कल्पित प्रथम जीवात्मा हिरण्यगर्भ ने ही 'सब जीवों के रूप में मैं संसारी होऊँगा एवं अपने तत्त्वज्ञान से मैं क्रमशः मुक्त भी हो जाऊँगा' इस तरह की अपनी कल्पना से बन्ध और मोह मार्ग की कल्पना कर आदि सर्ग से जो प्रथा चलाई है, उसी का यह व्यष्टि जीव भी अनुकरण करता है ॥१३९॥

श्रीशिखिध्वज ने कहा—हे देवपुत्र ! सुखपूर्वक संचरण करने योग्य नाडियों में जब जीव संचरण करता है, तब उसका वीर्य गिरता ही कैसे है ? आशय यह है कि इस सामान्य प्रश्न के व्याज से प्रकृत में नारद जी का वीर्य-क्षरण कैसे हुआ ? यह विशेष प्रश्न पूछा गया है ॥ १४० ॥

चूडालोवाच

जीवः क्षोभयति क्षुब्धः प्राणादिपवनावलिम् ।
संविदाज्ञांशमात्रेण सेनामिव महीपतिः ॥१४१॥
वातस्पन्देन मेदोन्तर्मज्जासारश्च संस्थितः ।
त्यजत्याशु प्रसौगन्ध्यं रजः पत्रफलादिकम् ॥१४२॥
चलितं तत्त्वधो याति गर्जादिव घनादि खे ।
देहनाडीप्रणालेन याति शुक्रं बहिः स्वतः ॥१४३॥

शिखिध्वज उवाच

देवपुत्र ! महाज्ञोऽसि वेत्सि पूर्वां जगत्स्थितिम् ।
ज्ञायसे वचनादेव स्वभावोऽहि किमुच्यते ॥१४४॥

चूडालोवाच

आद्य सर्गे यथा सद्यः स्फुरितं ब्रह्म ब्रह्मणि ।
घटावटपटाद्यात्म तथैवाऽद्य व्यवस्थितम् ॥१४५॥
काकतालीयवद्वारिबुद्बुदोत्पत्तिनाशवत् ।
घुणाक्षरवदुच्छूनं तं स्वभावं विदुर्बुधाः ॥१४६॥
अस्मिन्स्वभाववशतो जगति प्ररूढे
देहा भ्रमन्ति परितो विविधा विकाराः ।
प्रक्षीणवासनतया न भवन्ति केचिद्
भूयो भवन्ति च पुनस्त्वितरे घनास्थाः ॥१४७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे सुखविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

चूडाला ने कहा—स्त्रीपिण्ड के अवलोकन के बाद रागवासना के उद्बुद्ध हो जाने के कारण क्षुब्ध जीव, सेना को राजा के समान, अधिष्ठानभूत भोक्तृचैतन्य की सम्मति मात्र से प्राण आदि वायुओं को क्षुब्ध कर देता है ॥१४१॥

अनन्तर मेद, अस्थि आदि के अन्दर संचरण करने करने वाले व्यान वायु की प्रेरणा से समस्त अङ्गों में विद्यमान भेद का अन्तर्गत सारभूत सार मज्जासार उत्तम सौगन्ध्य के समान अर्थात् अनुगत रजोभाग को, सूक्ष्म अंश को तत्क्षण वैसे ही छोड़ देता है, जैसे डंठल से तोड़ा गया पत्र, फल आदि अपने अन्दर स्थित जलभाग को अन्दर के वायुस्पन्द से छोड़ देता है ॥ १४२ ॥

जैसे आकाश में विद्यमान मेघ आदि पुरोवात से वर्षणोन्मुख होकर नीचे भूतल पर आते हैं वैसे ही वह छोड़ा गया सूक्ष्म अंश सब अङ्गों से विचलित होकर नाडियों द्वारा नीचे मूलाधार स्थान तक आता है। फिर मूलाधार में आने के बाद नाडी द्वारा स्वभावतः ही बाहर निकल जाता है ॥ १४३ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे देवपुत्र ! वचनों से ज्ञात होता है कि आप बड़े ही तत्त्वज्ञानी हैं, आत्मज्ञान होने के पूर्व की जो संसार की स्थिति थी, उसे भी तर्कादि से आप जानते हैं, इसलिए आप कृपाकर बताएँ कि 'स्वभाव' शब्द से क्या कहा जाता है ॥ १४४ ॥

चूडाला ने कहा—सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि के उत्पादान के लिए उन्मुख ब्रह्म अपने आप में जिस घट, कुण्ड, पट आदि रूप से प्रस्फुरित हुआ था, उसी रूप से आज भी व्यवस्थित हैं। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि के उत्पादन में उत्सुक ब्रह्म प्राणियों के प्राक्तन कर्मों के अनुसार जिस-जिस धर्मवाले जिस-जिस पदार्थ के रूप से अपने आप में स्फुरित होता है, उस उस पदार्थ का उस उस धर्म से युक्त रहना ही स्वभाव शब्द का अर्थ है ॥ १४५ ॥

वर्तमान समय में घट आदि में स्वभाव का वैचित्र्य कारण-सामग्री के वैचित्र्य से कदाचित् हो सकता है, परन्तु सृष्टि के आरम्भ में तो कारण-समाग्री का निरूपण हो ही नहीं सकते, इसलिए 'तालवृक्ष के नीचे कौए के आगमन काल में भी दैववश तलफल का गिरना और तत्काल उसका मर जाना जैसे अदृष्ट-जनित है, वैसे ही वह सब आद्यवैचित्र्य अदृष्टाधीन है।

काकतालीय न्याय के मान या जल में बुलबुले की उत्पत्ति और विनाश के समान या घुणाक्षर के समान सर्गारम्भ में घट, पट, आदि चित्र-विचित्र पदार्थों के रूप में जिस किसी वस्तु विशेष से ब्रह्म प्रस्फुरित हुआ, उसी को विद्वान् स्वभाव कहते हैं। [इस श्लोक में वर्तमान-कालिक प्रत्येक वस्तु में जो नियत स्वभाव वैचित्र्य है, उसमें सामग्री की इयत्ता का निरूपण नहीं कर सकते] ॥ १४६ ॥

उक्त अनिर्वचनीय स्वभाव के बल से उत्पन्न इस जगत् में अण्डज आदि चार प्रकार के विविध विकारात्मक देह यत्र-तत्र चारों ओर घूम रहे, उनमें कोई ज्ञानवान् देह समस्त वासनाओं के क्षीण हो जाने के कारण फिर जन्म धारण नहीं करते किन्तु अज्ञानियों की भोगों में ही दृढ़ आस्था होने से अज्ञान युक्त देह फिर धारण करते हैं ॥ १४७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में सुखविचार-योगोपदेश नामक कुसुमलता का पचासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥

८६

चूडालोवाच

आत्मस्वभाववशतो जातं जगदिदं महत् ।
स्थितिं वासनयाऽभ्येत्य धर्माधर्मवशे स्थितम् ॥ १ ॥
वासनाह्रासमानीय धर्माधर्मैर्न गृह्यते ।
ततो न जायते जन्तुरिति नो दर्शनं मुने ! ॥ २ ॥

शिखिध्वज उवाच

अत्युदारं महार्थं च वक्षि त्वं वदताम्वर ! ।
अनुभूतिमुपारूढं गूढं च परमार्थवत् ॥ ३ ॥
त्वद्वाक्यविभवेनाऽद्य श्रुतेनाऽनेन सुन्दर ! ।
पीतेनेवाऽमृतेनाऽहमन्तर्यातोऽस्मि शीतताम् ॥ ४ ॥
तत्समासेन तां तावदात्मोत्पत्तिं वदाऽऽशु मे ।
ततः श्रोष्यामि यत्नेन ज्ञानगर्भां गिरं तव ॥ ५ ॥
तेन पद्मजपुत्रेण मुनिना नारदेन तत् ।
क्व कृतं वीर्यमार्येण कथयाऽद्य यथास्थितम् ॥ ६ ॥

चूडालोवाच

ततो निबध्नता तेन मनो मत्तमतङ्गजम् ।
विवेकविपुलालाने शुद्धया धीवरत्रया ॥ ७ ॥
तद्वीर्यं कल्पकालाग्निगलितेन्दुद्रवोपमम् ।
रसानां पारदादीनां दिव्यानामनुरञ्जनम् ॥ ८ ॥
मुनिना पार्श्वगे कुम्भे स्फाटिके विलसद्रुचौ ।
अद्भुते विद्रुताकारं चन्द्रे चन्द्र इवार्पितम् ॥ ९ ॥
तत्र शैले बृहत्कान्ते स्थूलः पार्श्वेषु चाऽभितः ।
गम्भीरकुक्षिः सुदृढश्चोपलाहननक्षमः ॥ १० ॥
सङ्कल्पितेन क्षीरेण स कुम्भस्तेन पूरितः ।
अमृतापूरभिन्नेन विधिनेवाऽमृतार्णवः ॥ ११ ॥
तत्र मासादुगतो वृद्धिं मुनिमन्दाहुतिक्रमः ।
अमृताब्धौ शुभो गर्भ इन्दोरिन्दुरिवाऽनुजः ॥ १२ ॥

८६

चूडाला ने कहा—मैंने प्रलय पर्यन्त सब वस्तुओं में रहने वाले जिस स्वभाव का वर्णन किया है तथा माया-शबल आत्मा के जिस स्वभाव की श्रुतियों में प्रसिद्धि है, उस स्वभाव के वश से यह असीम जगत् उत्पन्न हुआ है। केवल वासना से अपना अस्तित्व प्राप्त कर पुण्य-अपुण्य कर्म के अधीन होकर वह स्थित रहता है ॥ १ ॥

हे मुने ! अनेक तरह की ये वासनाएँ हैं, उनका विनाश कर देने से प्राणी धर्म या अधर्म के फंदे में नहीं फंसता और उससे वह इन संसार में उत्पन्न नहीं होता यह हम लोगों का अनुभव है ॥ २ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—वक्ताओं में श्रेष्ठ ! आप का वचन अत्यन्त उदार भाव से भरा, अर्थ रखनेवाला, गूढ़, अनुभवपर तत्क्षण चढ़ जाने वाला और पारमार्थिक है ॥ ३ ॥

हे सुन्दर ! जैसे अमृत का पान करने पर आत्मा के अन्दर शान्ति का अनुभव होता है वैसे ही आपके वचन वैभवों के सुनने से मैं अपनी आत्मा के भीतर उत्तम शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ ॥ ४ ॥

इसलिए आप अपनी प्रसिद्ध उत्पत्ति के विषय में मुझसे कुछ कहें अनन्तर प्रयत्नपूर्वक आपकी ज्ञानगर्भित वाणी का मैं श्रवण करूँगा ॥ ५ ॥

कमलयोनि ब्रह्माजी के पुत्र, नारदमुनि ने उस निर्गत वीर्य का किस स्थान में स्थापन किया ? यह भी भलीभाँति आज मुझसे कहें ॥ ६ ॥

चूडाला ने कहा—हे मुने, तदनन्तर अपने मनरूपी उन्मत्त हाथी को विशुद्ध बुद्धिरूपी सुदृढ़ चर्मरज्जु से विशाल विवेकरूपी गजबन्धन-स्तम्भ में बाँध रहे नारदजी ने उस द्रवीभूत वीर्य को—कल्पकाल की अग्नि से गलित चन्द्र के द्रव के सदृश और पारद, सुवर्ण आदि शम्भु के दिव्य वीर्य सदृश पास में पड़े हुए कान्तिमान् अद्भुत स्फटिक कुम्भ में वैसे ही स्थापित किया, जैसे चन्द्र में दूसरा चन्द्र स्थापित किया जाय ॥ ७-९ ॥

उस विशाल कमनीय मेरुपर्वत पर पड़ा हुआ वह कुम्भ कक्ष के अधोभागों में चारों ओर विपुल, गम्भीर पेटवाला, सुदृढ़ तथा पत्थर पर टक्कर लग जाने पर भी न टूटनेवाला था ॥ १० ॥

जैसे अपने सङ्कल्प से रचित पृथक् अमृत-प्रवाह से ब्रह्माजी ने ब्रह्मलोक के अमृत-सागर को भर दिया था वैसे ही नारदमुनि ने उस कुम्भ को सङ्कल्पजनित उस क्षीररूप वीर्य से भर दिया ॥ ११ ॥

कुछ ही दिनों में उस घट में स्थित, हवन आदि क्रियाओं में नारद मुनि को मन्द कर देनेवाला वह शुभ गर्भ, अमृत-सागर में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के सदृश बढ़ने लगा ॥ १२ ॥

इन्दुं मास इवाऽऽपूर्णं कालेन सुषुवे घटः ।
गर्भं कमलपत्राक्षं प्रसूनमिव माधवः ॥ १३ ॥
परिपूर्णसमस्ताङ्गःकुम्भाद्गर्भो विनिर्ययौ ।
इन्दुः सूक्ष्मादिवाऽम्भोधेरपरः क्षयवर्जितः ॥ १४ ॥
दिनैः कतिपयैरेव वृद्धिमभ्याजगाम सः ।
अप्रमेयाङ्गसौन्दर्यः शुक्लपक्षे शशी यथा ॥ १५ ॥
सर्वसंस्कारसम्पन्ने स तस्मिन्नारदो मुनिः ।
भाण्डाद् भाण्ड इवाऽशेषं विद्याधनमयोजयत् ॥ १६ ॥
दिनैः कतिपयैरेव विज्ञाताशेषवाङ्मयम् ।
चकारैनं मुनिवरः प्रतिबिम्बमिवाऽऽत्मनः ॥ १७ ॥
तेनाऽराजत पुत्रेण मुनिना मुनिनायकः ।
रत्नाद्रौ प्रतिबिम्बेन सन्ध्योदित इवोडुराट् ॥ १८ ॥
अथैनं पुत्रमादाय ब्रह्मलोकं स नारदः ।
जगामाऽथ स्वपितरं ब्रह्माणं चाऽभ्यवादयत् ॥ १९ ॥

समय आनेपर उस घटने कमलपत्र के समान नेत्र वाले गर्भ का उस प्रकार प्रसव किया, जिस प्रकार मास परिपूर्ण चन्द्रमा का और वसन्त कुसुमों का प्रसव करती है ॥ १३ ॥

जैसे घटादिपरिच्छिन्न क्षीरसागर से क्षयवर्जित दूसरा चन्द्रमा निकलता है वैसे ही कुम्भ से वह गर्भ समस्त अङ्गों से परिपूर्ण होकर निकला ॥ १४ ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों में अप्रमेय अपूर्व सौन्दर्यो के साथ वह कुछ ही दिनों में शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की तरह बढ़ गया ॥ १५ ॥

जब उसके सभी जातकर्म आदि संस्कार के बाद जैसे एक पात्र से दूसरे पात्र में धन डाला जाता है वैसे ही नारदजी ने उस बालक में विद्यारूपी धन दिया ॥ १६ ॥

थोड़े ही दिनों में उसने सभी विद्यास्थानों का भली-भाँति ज्ञान कर लिया । मुनिश्रेष्ठ नारदजी ने उस बालक को ठीक अपने प्रतिबिम्ब के समान बना डाला ॥ १७ ॥

पुत्ररूपी दूसरे मुनि के साथ मुनिनायक नारदजी वैसे ही जैसे स्फटिक पर्वत में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के साथ सन्ध्याकाल के पूर्णचन्द्र सुशोभित होते हों सुशोभित होने लगे ॥ १८ ॥

अनन्तर नारदजी अपने पुत्र को लेकर ब्रह्मलोक में गये और अपने पिता ब्रह्माजी को उससे अभिवादन कराया ॥ १९ ॥

अभिवादन के बाद पौत्र को ब्रह्माजी ने लेकर उससे

कृताभिवन्दनं ब्रह्मा पौत्रमादाय तं तदा ।
अभिवादितवेदादि स्वयमङ्के न्यवेशयत् ॥ २० ॥
अथाऽऽशीर्वादमात्रेण सर्वज्ञं ज्ञानपारगम् ।
पौत्रं तं कुम्भनामानं चकार कमलोद्भवः ॥ २१ ॥
साधो ! सोऽहमयं कुम्भः पौत्रोऽहं पद्मजन्मनः ।
पुत्रोऽहं नारदमुनेः कुम्भनामाऽस्मि कुम्भजः ॥ २२ ॥
निवसाम्यब्जजपुरे पित्रा सह यथासुखम् ।
चत्वारः सुहृदो वेदा मम लीलाविलासिनः ॥ २३ ॥
मातृष्वसा मे गायत्री मम माता सरस्वती ।
ब्रह्मलोके मम गृहं पौत्रस्तत्राऽस्मि सुस्थितः ॥ २४ ॥
यथाकाममशेषेण जगन्ति विहराम्यहम् ।
लीलया परिपूर्णत्वान्न तु कार्येण केनचित् ॥ २५ ॥
धरां पतति मे पादौ पततो न महीतले ।
रजः स्पृशन्ति नाऽङ्गानि ग्लानिं नाऽऽयाति मे वपुः॥२६॥

सब वेदादि शास्त्रों के विषय में परीक्षार्थ प्रश्न पूछे। उनका समुचित उत्तर सुनकर उसे अपने गोद में स्वयं बैठा लिया ॥ २० ॥

अनन्तर ब्रह्माजी ने उस कुम्भनामक पौत्र को केवल आशीर्वाद से सर्वज्ञ और तत्त्वज्ञान में परिनिष्ठित बना डाला ॥ २१ ॥

हे साधो ! वह जो ब्रह्माजी का पौत्र कुम्भ हुआ, वही यह तुम्हारे सामने उपस्थित है । मैं ही नारदजी का पुत्र कुम्भ नाम का हूँ और कुम्भ से उत्पन्न हुआ हूँ ॥ २२ ॥

मैं ब्रह्मलोक में पिताजी के साथ सब सुखों से पूर्ण होकर रहता हूँ । क्रीडा के समय विलास कर रहे चार वेद मेरे मित्र हैं ॥ २३ ॥

मेरी मौसी गायत्री है, मेरी माँ सरस्वती है, मेरा घर ब्रह्मलोक में है, वहीं भगवान् ब्रह्मा का पौत्र होकर मैं सुस्थिर रहता हूँ ॥ २४ ॥

इच्छा के अनुसार सब लोक में मैं विहार करता हूँ। सब इच्छाओं से परिपूर्ण होने के कारण घूमने में मेरा प्रयोजन केवल लीला ही है । मैं किसी कार्यविशेष से विहार नहीं करता हूँ ॥ २५ ॥

जब मैं भूलोक में विचरण करता हूँ तब मेरे पैर भूमि में नहीं लगते और अङ्ग धूलिकणों का स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी ग्लानि को नहीं प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

अद्याऽऽकाशमथाऽऽगच्छन् दृष्टवांस्त्वामहं पुरः ।
इह तेनाऽऽगतोऽस्म्यङ्ग सर्वं कथितवानिति ॥ २७ ॥
एषोऽहमित्यखिलमेव यथानुभूतं
ते वर्णितं ननु मया वनवासतज्ज्ञ ! ।
सन्तो हि संकथनमार्यजनोत्तमेषु
निर्मान्त्यलं सुभग ! संव्यवहारदक्षाः ॥ २८ ॥

वाल्मीकिरुवाच
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे कुम्भजननकथनं नामषडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

॥ सप्तदशो दिवसः॥

हे प्रिय ! आज मैं जब आकाशमार्ग से जा रहा था, तब मैंने आपको सामने देखा, इसलिए यहाँ मैं आ गया और आप से पूर्व का सब वृतान्त कहा ॥ २७ ॥

वनवास के गुणों को तथा उसके फल चित्तशुद्धि को जानने वाले हे महात्मन् ! आपने जो कुछ पूछा, उन सब का मैंने अनुभव के अनुसार आप से वर्णन किया । हे भाग्यशालिन् ! उत्तम आर्यजनों के प्रश्न करने पर सत्पुरुष संभाषण करते ही हैं, क्योंकि वे आर्यजनों के साथ प्रश्न और उत्तर करने के व्यवहार में बड़े ही दक्ष होते हैं ॥ २८ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—वसिष्ठ मुनि के इस प्रकार कहनेपर दिवस बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चले गये, वसिष्ठ मुनि को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए सभा स्नानार्थ चली गई और रात बीत जानेपर सूर्य की किरणों के साथ ही सभामण्डप में वह फिर आ गई ॥ २९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में कुम्भजननकथन नामक कुसुमलता का छियासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

॥ सत्रहवाँ दिन ॥

८७

शिखिध्वज उवाच

सर्गे स्फुरद्भिर्मत्पुण्यैर्मन्ये सम्प्रेषितो भवान् ।
अलक्ष्यैः सम्भृतैरद्रौ बृहद्वातैरिवाऽम्बुदः ॥ १ ॥
अद्य तिष्ठाम्यहं साधो ! धन्यानां धुरि धर्मतः ।
अमृतस्यन्दिवचसा यत्त्वयाऽस्मि समागतः ॥ २ ॥
न केचन तथा भावाश्चेतः शीतलयन्ति मे ।
राज्यलाभादयोऽप्येते यथा साधुसमागमः ॥ ३ ॥
निरर्गलरसो यत्र सामान्येन विजृम्भते ।
मुक्तरागादिमननं तत्कल्पनसुखावहम् ॥ ४ ॥

८७

राजा शिखिध्वज ने कहा—संसार में अनुष्ठित अनेक जन्मों के पुण्य एक साथ परिपक्व हो जाने के कारण फलदान के लिए स्फुरित मेरे संचित अप्रत्यक्ष पुण्यों के द्वारा ही सचमुच इस मन्दराचल पर्वत पर, पूर्वी वायु द्वारा मेघ के समान आप भेजे गये हैं, यह मैं मानता हूँ ॥ १ ॥

हे साधो ! अमृत बहाने वाली वाणी बोलने वाले आपके साथ मेरा समागम हुआ है । अतः आज तो मैं बड़े-बड़े धर्मानुष्ठान से धन्य पुरुषों में सबसे प्रथम स्थान में अवस्थित हूँ ॥ २ ॥

सज्जनों का समागम अन्तरात्मा में जैसी शान्ति पहुँचाता है, वैसी शान्ति ये राज्यलाभ आदि बड़े कोई भी पदार्थ नहीं पहुँचाते हैं ॥ ३ ॥

साधु पुरुषों का समागम होनेपर तत्काल ही धनी, दरिद्र आदि सब में सर्वसाधारण रूप से अपरिमित ब्रह्मानन्दरूप सुख—स्फुरित होने लग जाता है । राग-द्वेष आदि का विचार ही नहीं रहता । राज्यलाभ आदि में तुच्छ सुख है, यहाँ अपरिमित आनन्द की संभावना ही नहीं है और न सर्वसाधारण को वह सुलभ ही है ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं वादिनि सैवाऽस्य वाक्यमाक्षिप्य भूपतेः ।
भूयः प्रोवाच चूडाला मुनिदारकरूपिणी ॥ ५ ॥

चूडालोवाच

आस्तामेषा कथा तावत् सर्वं ते वर्णितं मया ।
त्वं मे कथय हे साधो ! कस्त्वमद्रौ करोषि किम् ॥ ६ ॥
कियत्पर्यवसानेयं भवतो वनवासिता ।
सत्यं कार्यं च नोऽसत्यं वक्तुं जानन्ति तापसाः ॥ ७ ॥

शिखिध्वज उवाच

देवपुत्रोऽसि जानासि सर्वमेव यथास्थितम् ।
लोकवृतान्ततज्ज्ञोऽसि किमन्यत्कथयाम्यहम् ॥ ८ ॥
संसारभयभीतत्वान्निवसामि वनान्तरे ।
जानतोऽपि हि मामार्य ! कथयाम्येव ते मनाक् ॥ ९ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—शिखिध्वज इस प्रकार कह ही रहे थे कि उस राजा के वाक्य को रोककर नारद मुनि के बच्चे के रूप में विद्यमान चूडाला बोलने लगी ॥ ५ ॥

चूडाला ने कहा—हे साधो ! मेरी प्रशंसार्थ जो कुछ वचन आप कह रहे हैं, उसे रहने दें। आपने जो कुछ पूछा, उसका मैंने वर्णन किया। अब मुझसे कहिए कि आप हैं कौन और इस पर्वत पर क्या कर रहे हैं ?॥ ६ ॥

आपका यह अरण्यवास कितने काल से है अर्थात् आपको अरण्यवास करते-करते कितना समय बीत गया। वनवास से कौन कार्य सिद्ध करना चाहते हैं, यह सत्य-सत्य कहिए, छिपाइए मत, क्योंकि तपस्वी लोग तो असत्य बोलना जानते ही नहीं हैं ॥ ७ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—आप देवपुत्र हैं, सब कुछ ठीक-ठीक जानते हैं। लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्त के भी ज्ञाता हैं, दूसरी कौन-सी बात आप से मैं कहूँ ॥८॥

हे आर्य ! केवल संसाररूपी भय से भीत हो मैं इस वन के अन्दर रहता हूँ। आप तो मुझे जानते ही हैं, फिर भी मैं आप से संक्षेप से कुछ कह रहा हूँ ॥ ९ ॥

मैं शिखिध्वज नामक राजा हूँ, राज्य छोड़कर यहाँ निवास कर तप कर रहा हूँ। हे तत्त्वज्ञ ! मैं संसार में पुनर्जन्म से अत्यन्त डर गया हूँ ॥ १० ॥

पहले सुख फिर दुःख, पहले मरण फिर जन्म—यह पुनः उत्पन्न हुआ ही करता है। इसलिए हे तत्त्वज्ञ ! संसार से सन्तप्त हो इन वनवीथियों में तप कर रहा हूँ ॥ ११ ॥

शिखिध्वजोऽहं भूपालस्त्यक्त्वा राज्यमिहाऽऽस्थितः ।
भृशं भीतोऽस्मि तत्त्वज्ञ ! संसृतौ जन्मतः पुनः ॥१०॥
सुखं पुनः पुनर्दुःखं पुनर्मरणजन्मनी ।
भवतस्तेन तप्येऽहं तत्त्वज्ञ ! वनवीथिषु ॥ ११ ॥
भ्रमन्नपि दिगन्तेषु चरन्नपि परं तपः ।
नासादयामि विश्रान्तिमेकां निधिमिवाऽधनः ॥ १२ ॥
अयत्नोऽप्यफलोऽप्येको ह्यपूर्णोऽप्यस्तसङ्गतिः ।
शुष्याम्यत्र वने साधो ! घुणक्षुण्ण इव द्रुमः ॥ १३ ॥
इमामखण्डितां सम्यक् क्रियां सम्पादयन्नपि ।
दुःखाद् गच्छामि दुःखौघममृतं मे विषं स्थितम् ॥ १४॥

चूडालोवाच

पितामहमहं पूर्वं कदाचित्पृष्टवानिदम् ।
यत्क्रियाज्ञानयोरेकं श्रेयस्तद् ब्रूहि मे प्रभो ! ॥ १५ ॥

चारों ओर दिशाओं में घूम भी रहा हूँ, फिर भी मैं शान्ति वैसी ही नहीं प्राप्त कर रहा हूँ जैसे निर्धन निधि प्राप्त नहीं करता है ॥ १२ ॥

यहाँ पर मेरा प्रयत्न कुण्ठित है, मैंने कोई फल भी प्राप्त नहीं किया है, मैं असहाय भी हूँ, राज्यकाल की साधुसङ्गति आदि से वञ्चित हूँ, फिर भी इस वन में, घुन से क्षीण वृक्ष की तरह सूख रहा हूँ ॥ १३ ॥

उपवास, देवता और अतिथि की पूजादि रूप यह नियतक्रिया ठीक-ठीक रूप से करते-करते भी दुःख से दूसरे अनेक दुःखों की ओर जा रहा हूँ। शास्त्रानुमोदित क्रिया विश्रान्तिरूप अमृत की हेतु होने पर भी उसे न देकर मेरे लिए विष बनकर स्थित है, उसमें क्या कारण है, यह कहिए कर्मसमुच्चित उपासना का अवलम्बन किया है पर उससे विश्रान्ति न मिलकर दुःखपरम्परा ही मिल रही है,मेरे लिए कर्मसमुच्चित उपासना विष ही बनकर स्थित है अतः उसके विषरूप बनने में क्या हेतु है ॥१४॥

चूडाला ने कहा—किसी समय पहले मैंने अपने पितामह ब्राह्माजी से यह प्रश्न किया था कि हे प्रभो ! ज्ञान और कर्म—इन दोनों में जो कोई एक मुक्ति का कारण हो, उसे मुझ से कहें। अर्थात् कर्मसमुच्चित उपासना से मुक्ति होती है, यह जो राजा को भ्रम हो गया है, वह जबतक निवृत्त नहीं किया जाता, तबतक आत्मा का उपदेश देने पर भी आत्मा तत्त्व को नहीं जानेगा इसलिए भ्रमनिवारणार्थ अपने को जिस क्रम का पितामह ने उपदेश दिया था, उसको कहा गया है ॥ १५ ॥

ब्रह्मोवाच

ज्ञानं हि परमं श्रेयः कैवल्यं तेन वेत्त्यलम् ।
कालातिवाहनायैव विनोदायोदिता क्रिया ॥ १६ ॥
अलब्धज्ञानदृष्टीनां क्रिया पुत्र ! परायणम् ।
यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ ॥ १७ ॥
वासनामात्रसारत्वादज्ञस्य सफलाः क्रियाः ।
सर्वा एवाऽफला ज्ञस्य वासनामात्रसंक्षयात् ॥ १८ ॥
सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः ।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव ॥ १९ ॥
ऋत्वन्तरे यथा याति विलयं पूर्वमार्तवम् ।
तथैव वासनानाशे नाशमेति क्रियाफलम् ॥ २० ॥

ब्राह्माजी ने कहा—उत्तम आत्मतत्त्व का कारण ज्ञान ही परमश्रेय केवल उसी से भलीभाँति आत्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है। श्रुतियों में कथित क्रियाएँ तो कालयापनार्थ विनोद मात्र के लिए ही है। स्वर्गादि सुखभोगरूप विनोद के लिए यद्यपि क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, किन्तु परिणाम में स्वर्गभोग के विरस होने के कारण वह मुख्य पुरुषार्थ नहीं हो सकता है, अतः दूसरे प्रकार के भयङ्कर अनर्थों की उत्पत्ति के निवारणार्थ आयुष्यकालयापन करने के लिए ही श्रुति में क्रिया का उल्लेख किया गया है ॥ १६ ॥

पौत्र भी पुत्ररूप होता है, इस अभिप्राय में ब्रह्मा जी कहते हैं—हे पुत्र ! जिन जीवों को ज्ञानरूपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई हैं, उन लोगों के लिए क्रिया ही सबसे बढ़ कर अवलम्बन है। जिसके पास में पट्ट अम्बर (महर्घ पट्ट) नहीं रहता, क्या वह साधारण कम्बल नहीं छोड़ सकता है ? प्रकृत जिज्ञासु होकर उपस्थित होने से विद्यावंश की श्रेष्ठता को सूचित करते हुए पुत्र यह सम्बोधन ब्रह्मा जी ने किया है ॥ १७ ॥

ज्ञानी की क्रियाएँ निष्फल हैं (जन्म-मरण अदि के चक्कर में उसे नहीं डालती), क्योंकि उसकी समस्त वासनाएँ नष्ट होचुकी हैं और जो अज्ञानी है उसके सभी कर्म सफल हैं (जन्म-मरण के चक्कर में उसे डालते ही हैं), क्योंकि कर्मों की सफलता में प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई हैं ॥ १८ ॥

शुभ या अशुभ सभी क्रियाएँ वासना के अभाव में निष्फल ही हो जाती हैं। फलदान में तत्पर भी अशुभ क्रियाएँ सेचन के अभाव से सफल शुष्क लता के सदृश, शुष्क ही है। अर्थात् जिस ज्ञानी में प्रारब्ध फलक भी

न स्वभावेन फलति यथा शरलताफलम् ।
क्रियानिर्वासना पुत्र ! फलं फलति नो तथा ॥ २१ ॥
सयक्षवासनो बालो यक्षं पश्यति नाऽन्यथा ।
सदुःखवासनो मूढो दुःखं पश्यति नाऽन्यथा ॥ २२ ॥
आकारभासुराऽप्युच्चैर्न ददाति फलं क्रिया ।
शुभाशुभा वा तज्ज्ञस्य फुल्ला शरलता यथा ॥ २३ ॥
वासना चेह नाऽस्त्येव साऽहङ्कारादिरूपिणी ।
असत्यैवोदिता मौर्ख्यान्मरुभूमाविवाऽम्बुधिः ॥ २४ ॥
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेतिभावनात् ।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाऽम्बुधिर्मरौ ॥ २५ ॥

क्रियाएँ बाधितानुवृत्ति के कारण सफल शुष्क लता के सदृश रहती हैं, उस ज्ञानी में अनारब्धफलक क्रियाएँ शुष्क रहती हैं, इसमें तो कहना ही क्या ? जहाँ बड़े-बड़े वृक्ष दग्ध हो जाते हों, वहाँ साधारण तृण के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥ १९ ॥

वासना का विनाश हो जानेपर सभी क्रियाएँ वैसे ही फल विहीन विलीन हो जाते हैं जैसे दूसरी ऋतु में पहले की ऋतु में होनेवाले नीहार आदि विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

हे पुत्र ! वासनाशून्य क्रिया स्वभाव से वैसे ही कोई फल नहीं देती जैसे काश की लता स्वभाव से ही कोई फल नहीं देती ॥ २१ ॥

[सुख-दुःख के भोग के लिए मैं योग्य हूँ, इस प्रकार की वासना ही, बालभ्रान्ति में हेतु यक्षवासना के सदृश, तत्-तत् सुख आदि में कारण है, यों कहते हैं—]

बालक के यक्ष की वासना से युक्त रहने पर वह यक्ष को देखता है, अन्यथा नहीं, बस इसी तरह पुरुष के दुःख आदि की वासना से युक्त रहने पर ही दुःख आदि का अनुभव करता है, अन्यथा नहीं ॥ २२ ॥

उन्नत और आकार-प्रकार से धवल शुभाशुभ क्रियाओं के रहने पर भी जैसे विकसित धवल शरलता फल नहीं देती है वैसे ही आत्मज्ञानी को वह फल नहीं देती है ॥२३॥

जैसे मरुभूमि में असत्यरूप से जल उदित होता है वैसे ही अज्ञानदशा में भी वासना वास्तव में नहीं रहती है परन्तु मूर्खता के कारण अहङ्कार आदि का रूपधारण कर असत्यरूप से उदित हुई है ॥ २४ ॥

'सब कुछ ब्रह्मरूप ही है' इस भावना से जिसकी अज्ञानरूपिणी मूर्खता विनष्ट हो जाती है, जैसे मरुभूमि के

वासनामात्रसंत्यागाज्जरामरणवर्जितम् ।
पदं भवति जीवोऽन्तर्भूयो जन्मविवर्जितम् ॥ २६ ॥
सवासनं मनो ज्ञेयं ज्ञानं निर्वासनं मनः ।
ज्ञानेन ज्ञेयमभ्येत्य पुनर्जीवो न जायते ॥ २७ ॥

चूडालोवाच

ज्ञानमेव परं श्रेय इति ब्रह्मादयोऽपि ते ।
प्राहुर्महान्तो राजर्षे ! त्वं किमज्ञानवान् स्थितः ॥ २८ ॥
इतः कमण्डलुरितो दण्डकाष्ठमितो वृसी ।
इत्यनर्थविलासेऽस्मिन् रमसे किं महीपते ! ॥ २९ ॥
कोऽहं कथमिदं जातं कथं शाम्यति चेति भो ।
राजन्नाऽवेक्षसे कस्मात्किमज्ञ इव तिष्ठसि ॥ ३० ॥
कथं बन्धः कथं मोक्ष इति प्रश्नानुदाहरन् ।
पारावारविदां पादान् कस्माद्राजन्न सेवसे ॥ ३१ ॥

स्वरूप को जानने वाले प्राज्ञ पुरुष को मरुभूमि में जल-सागर की भ्रान्ति नहीं होती है वैसे ही उसको वासना उत्पन्न नहीं होती है ॥ २५ ॥

वासनामात्र के त्याग से ही जरा और मरण से रहित तथा पुनर्जन्म से रहित परमार्थ वस्तुरूप जीव बन जाता है ॥ २६ ॥

वासनायुक्त मन ज्ञेय है और वासनाशून्य मन ज्ञान है, यह जानना चाहिए। ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य ब्रह्म वस्तु की प्राप्ति हो जानेपर पुनः जन्मधारण नहीं करता है ॥ २७ ॥

चूडाला ने कहा—हे राजर्षे ! प्रसिद्ध ब्रह्मा आदि भी जब ज्ञान के ही परम मोक्ष का साधन होने से कल्याणरूप निःसंदिग्ध कहते हैं, तब आप ज्ञान छोड़कर 'तप ही मोक्ष का हेतु है' इस प्रकार का निश्चय कर क्यों स्थित हैं ॥ २८ ॥

हे महीपते ! यहाँ दण्ड है, यहाँ कमण्डलु है, यहाँ आसन है इत्यादि विचार से अनर्थों से पूर्ण इस संसार में क्यों भ्रान्त हो रहे हैं ? ॥ २९ ॥

हे राजन् ! मैं कौन हूँ, यह अनर्थात्मक जगत् किस तरह उत्पन्न हुआ, इसकी शान्ति किस उपाय से होगी, इस तरह विचार न कर केवल अज्ञानी की तरह क्यों रहते हैं ॥ ३० ॥

विचार के सदृश गुरु के पास जाना, उनकी सेवा करना, उनसे आत्मा के विषय में प्रश्न करना आदि भी उपादेय हैं ।

यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ, मोक्ष किस उपाय से

दुःस्पन्दसंविदा शैलकोटरे क्रिययाऽनया ।
जीवितं क्षिपयन् किं त्वं शिलाकीटवदास्थितः ॥ ३२ ॥
साधूनां समदृष्टीनां परिप्रश्नेन सेवया ।
सङ्गमेन च सा युक्तिर्लभ्यते मुच्यते यया ॥ ३३ ॥
साधुनैव समं ग्रासं भुञ्जानो वनकोटरे ।
तिष्ठाऽवष्टब्धदुश्चेष्टो धराविवरकीटवत् ॥ ३४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कान्तया देवरूपिण्या तयैवं प्रतिबोधितः ।
अश्रुपूर्णमुखो वाक्यं शिखिध्वज उवाच ह ॥ ३५ ॥

शिखिध्वज उवाच

अहो नु बोधितोऽस्म्यद्य चिरात्सुरसुत ! त्वया ।
मौर्ख्यादार्यसमासङ्गं मुक्त्वाऽहमवसं वने ॥ ३६ ॥
अहो नु मे क्षयं यातं मन्ये पापमशेषतः ।
यत्त्वमेव समागत्य सम्प्रबोधयसीह माम् ॥ ३७ ॥

होगा इत्यादि प्रश्न करते हुए आप पर तत्पदार्थ और अपर त्वंपदार्थ को एकरूप से जानने वाले तत्त्वज्ञ गुरुओं के पास जाकर उनके चरणों की सेवा क्यों नहीं करते हो ॥ ३१ ॥

व्रत, उपवास, शीत, उष्ण आदि सुख-दुःखात्मक प्रवृत्ति में उत्सुक आत्मचैतन्य जिसमें रहता है, ऐसी इस तपरूप क्रिया से पर्वतकोटर में, शास्त्र के कीट के समान आप अपनी आयु क्यों व्यतीत कर रहे हैं ? ॥ ३२ ॥

समदृष्टि अर्थात् ब्रह्मज्ञ साधु पुरुषों के पास आत्म कल्याणार्थ प्रश्न, उनकी सेवा तथा समागम करने से वह अभीष्ट विश्रान्ति सुखदायिनी ज्ञानयुक्ति प्राप्त हो जाती है, जिससे तत्काल संसारबन्धन से पुरुष मुक्त हो जाता है ॥३३॥

तपश्चर्या आदि बहिर्मुख दुःखप्रद चेष्टाओं से विरत होकर आप गुरुजी के साथ ही आहार ग्रहण करते हुए इस वन कोटर में, धराछिद्र में रहने वाले कीट के समान, निश्चल होकर स्थित रहिए ॥ ३४ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—देवता का रूपधारण कर स्थित उस कान्ता (चूडाला) द्वारा प्रबोधित वह राजा शिखिध्वज आँसुओं से पूर्ण मुख होकर यह कहने लगा ॥ ३५ ॥

शिखिध्वजने कहा—आश्चर्य है कि बहुत समय के बाद आज आपके द्वारा मैं जगाया गया हूँ। मूर्खता से ही साधुसमागम छोड़कर मैं इतने समय तक वन में भटकता रहा ॥ ३६ ॥

अहो; मेरा सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गया है मैं यही मानता हूँ, क्योंकि आप ने ही यहाँ आकर मुझे जगाया है ॥ ३७ ॥

गुरुस्त्वं मे पिता त्वं मे मित्रं त्वं मे वरानन ! ।
शिष्यो नमस्करोम्यद्य पादौ तव कृपां कुरु ॥ ३८ ॥

यदुदारतमं वेत्सि यस्मिन् ज्ञाते न शोच्यते ।
भवामि निर्वृतो येन तद्ब्रह्मोपदिशाऽऽशु मे ॥ ३९ ॥

घटज्ञानादयो ज्ञाने विभागाः सन्त्यनेकशः ।
ज्ञानानां परमं ज्ञानं कतरत्तारकं भवेत् ॥ ४० ॥

चूडालोवाच

यद्युपादेयवाक्योऽहं राजर्षे ! तद्वदामि ते ।
यथाज्ञानमिदं किञ्चिन्न वक्ष्ये स्थाणुकाकवत् ॥ ४१ ॥

अनुपादेयवाक्यस्य वक्तुः पृष्टस्य लीलया ।
व्रजन्त्यफलतां वाचस्तमसीवाऽक्षसंविदः ॥ ४२ ॥

शिखिध्वज उवाच

यद्वक्षि तदुपादेयं मया विधिरिव श्रुतेः ।
अविचारितमेवाऽऽशु सत्यमेतद्वचो मम ॥ ४३ ॥

चूडालोवाच

यथा बालः पितुर्वाक्यं मुक्तहेतूपपादनम् ।
आदत्ते हि तथैव त्वं गृहाणैतद्वचो मम ॥ ४४ ॥

श्रवणानन्तरं बुद्ध्या शुभमित्येव भावयन् ।
शृणु गीतमिव त्यक्त्वा हेत्वर्थित्वं वचो मम ॥ ४५ ॥

स्वचरितसदृशं तथोदयन्त्या-
　चिरसमयेन विबोधनं च बुद्धेः ।
भवभयसुतरं महामतीनां
　शृणु कथयामि कथाक्रमं मनोज्ञम् ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधो नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

हे सुन्दरानन ! आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मेरे मित्र हैं, शिष्य-रूप मैं आपके चरणों को प्रणाम करता हूँ, मेरे पर कृपा करें ॥ ३८ ॥

जिस उदारतम वस्तु को आप जानते हैं, जिसका ज्ञान हो जानेपर प्राणी पुनः शोक नहीं करता है मैं जिससे सुख में विश्रान्ति लाभ करूँ उस ब्रह्मरूप वस्तु का मुझे उपदेश दें ॥ ३९ ॥

ज्ञान में घटज्ञान, पटज्ञान आदि अनेक तरह के भेद पाये जाते हैं, इसीलिए आपने 'ज्ञान ही कल्याणकारक है' इससे जो परम तारकज्ञान कहा है वह घटज्ञानादि में कौन ज्ञान है ? ॥ ४० ॥

चूडाला ने (कुम्भने) कहा—हे राजर्षे ! यदि मेरे वाक्य उपादेय अर्थात् मेरे वाक्य में श्रद्धा है, तो तारक-ज्ञान जैसा है, वैसा ही मैं तुमसे कहूँगा, यदि मेरे वाक्य में तुम्हें श्रद्धा नहीं है, तो मैं नहीं कहूँगा, क्योंकि श्रद्धाशून्य जनों के सम्मुख कहा गया उत्तम वाक्य भी ठूँठ के सामने कहे गये कौए के शब्द के समान निरर्थक एवं निन्दनीय होता है । अतः तुम्हें पहले श्रद्धालु हो जाना चाहिए ॥ ४१ ॥

जिसके वाक्य में श्रोता को श्रद्धा नहीं रहती ऐसे लीलावश पूछे गये वक्ता के वाक्य उसी प्रकार निष्फल हो जाते हैं जिस प्रकार अन्धकार में इन्द्रियों के सम्बन्ध निष्फल हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—आप जो कुछ भी कहेंगे, उसे मैं तत्काल वैसे ही ग्रहण कर लूँगा जिस तरह श्रुति की 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि निर्दोष प्रामाण्य से निश्चित विधि शिष्ट पुरुषों द्वारा निःसन्देह गृहीत की जाती है यह मेरा वाक्य आप सत्य ही जानिये ॥ ४३ ॥

चूडाल ने कहा—आप मेरे इन वचनों को वैसे ही ग्रहण कीजिए जैसे बालक हेतुओं से उपपत्तिशून्य अपने पिता के वचनों को प्रमाण बुद्धि से ग्रहण करता है ॥ ४४ ॥

सुनने के बाद 'इसमें मेरा हित ही है' इस प्रकार की बुद्धिपूर्वक भावना आप तर्कवाद का परित्याग कर 'मधुर गीत की तरह' मेरे इन वचनों को प्रीति से सुनिये और उनको प्रामाण्यबुद्धि से ग्रहण कीजिए ॥ ४५ ॥

आपके चरित के समान मैं एक ऐसा मनोहर कथा-क्रम कहता हूँ जो मन्दमतियों की भी चिरकाल के बाद विचारोदय द्वारा उदय को प्राप्त कर रही बुद्धि को बोध देनेवाला है तथा महामतियों को तो शीघ्र ही संसार के भय से पार कर देनेवाला है, आप उसे सुनिये ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजावबोध नामक कुसुमलता का सतासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

८८

चूडालोवाच

अस्ति कश्चित्पुमान् श्रीमान् स्थानं नित्यविरुद्धयोः ।
गुणलक्ष्म्योरशेषेण यथाऽब्धिर्वाडवाम्बुनोः ॥ १ ॥
कलावानस्त्रकुलो व्यवहारविचक्षणः ।
सर्वसङ्कल्पसीमान्तो न तु जानाति तत्पदम् ॥ २ ॥
अनन्तयत्नसंसाध्ये स चिन्तामणिसाधने ।
प्रवृत्तो वाडवो वह्निरब्धिसंशोषणे यथा ॥ ३ ॥
तस्य यत्नेन महता कालेनाऽध्यवसायिनः ।
सिद्धचिन्तामणिः किं वा न सिद्ध्यत्युद्यतात्मनाम् ॥४॥
प्रवृत्तिमुद्यमं प्रज्ञां प्रयुङ्क्ते चेदखेदवान् ।
अकिञ्चनाऽपि शक्तत्वं समवाप्नोत्यविघ्नतः ॥ ५ ॥
मणिमग्रे स्थितप्रायं हस्तप्राप्यं ददर्श सः ।
मेरावुदयशृङ्गस्थो मुनिरिन्दुमिवोदितम् ॥ ६ ॥
बभूव मणिराजेन्द्रे न तु निश्चयवानसौ ।
राज्ये द्रागिति सम्प्राप्ते सुदीन इव पामरः ॥ ७ ॥
इदं सञ्चिन्तयामास मनसा स्मयशालिना ।
सम्प्राप्तोपेक्षया दीर्घदुःखसम्भ्रमशालिना ॥ ८ ॥
अयं मणिर्मणिर्नाऽयं मणिश्चेत्तद्भवेन्न सः ।
स्पृशामि न स्पृशाम्येनं कदाचित्स्पर्शतो व्रजेत् ॥ ९ ॥
नैतावतैव कालेन मणीन्द्रः किल सिद्ध्यति ।
यत्नेन जीवितान्तेन सिद्ध्यतीत्यागमक्रमः ॥ १० ॥
कृपणः कूणितेनाक्ष्णा लोलालातलतोपमम् ।
रत्नालोकं प्रपश्यामि द्विचन्द्रत्वमिव भ्रमात् ॥ ११ ॥

८८

चूडाला ने कहा—कोई एक श्रीमान् पुरुष था। एक दूसरे के स्थान में न रहनेवाले अत्यन्त विरुद्ध गुण और लक्ष्मी का वह आश्रय था अर्थात् उसके पास औदार्य, वैराग्य, सर्वस्वत्याग आदि उत्तम गुण और धनधान्यादि प्रचुर सम्पत्तियाँ थीं। संसार में गुण और सम्पत्ति दोनों का एक ही स्थान विरल है। जहाँ गुण रहता है वहां सम्पत्ति नहीं रहती और जहाँ सम्पत्तियाँ रहती हैं वहां गुण नहीं रहते। इसलिए वह वडवाग्नि और जल इन परस्पर विरुद्ध दोनों के आश्रय सागर के सदृश प्रतीत हो रहा था ॥ १ ॥

चौसठ कलाओं में अभिन्न अस्त्रविद्या में पटु, व्यवहार-शास्त्र में विचक्षण और सङ्कल्पित समस्त कार्यों में पारङ्गत था अर्थात् वह जिन कार्यों का सङ्कल्प करता था, उन्हें तत्काल ही पूर्ण कर डालता था। उसके लिए कोई असाध्य कार्य न था। इतना सब होते हुए भी वह परमपद को नहीं जानता था ॥ २ ॥

अनन्तर तप, जप, देवतास्तवन आदि अनन्त उपायों से सिद्ध होनेवाले चिन्तामणि की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या में वह वैसे ही प्रवृत्त हुआ जैसे वाडवाग्नि समुद्र का पूरी तरह से शोषण करने में प्रवृत्त हुआ था ॥ ३ ॥

दृढ़ निश्चयवाले उस पुरुष के तीव्र प्रयत्न से थोड़े ही समय में चिन्तामणि उसके सामने उपस्थित हो गया। उद्योगी पुरुषों के लिए ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध न हो जाय ॥ ४ ॥

दुःख को न गिनता हुआ यदि पुरुष उत्तम बुद्धि का अवलम्बन कर प्रवृति और उद्यम करता है, तो वह दरिद्र होता हुआ भी निर्विघ्नातापूर्वक पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

जैसे मेरु पर्वतपर उदय शिखर के ऊपर स्थित मुनि उदित चन्द्रमा को देखता है वैसे ही सामने उपस्थित हाथ से ग्रहण करने योग्य चिन्तामणि को उसने देखा ॥ ६ ॥

जैसे दरिद्रतम पामर तत्काल प्राप्त राज्य के विषय में निश्चय नहीं कर सकता है वैसे ही बड़े-बड़े मणिराजों के ईश्वर उस चिन्तामणि के विषय में वह निश्चय न कर सका ॥ ७ ॥

दीर्घकाल के दुःख से भ्रान्त तथा विस्मय से युक्त मन से प्राप्त चिन्तामणि की भी उपेक्षा कर उसने यह विचार किया ॥ ८ ॥

क्या यह चिन्तामणि है या चिन्तामणि नहीं है। यदि चिन्तामणि होता, तो मुझे वह प्रत्यक्ष ही नहीं होता। क्या मैं इसे छूऊँ या न छुऊँ? यदि मैं इससे छूऊँ, तो भाग्यहीन मेरे स्पर्श से यह अदृश्य हो जायगा ॥ ९ ॥

इतने थोड़े समय में ही मणियों का राजा चिन्तामणि सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि इतिहासपरम्परा यही है कि जीवनपर्यन्त यत्न करने से ही चिन्तामणि सिद्ध होता है ॥ १० ॥

मैं कृपण हूँ, इसलिए भ्रान्तिसङ्कुचित नेत्र से चञ्चल आलातचक्र में कल्पित लता के समान रत्नप्रकाश को भ्रम से दो चन्द्रमा की तरह देखता हूँ ॥ ११ ॥

कुत एतावतो स्फीता भाग्यसम्पन्ममाऽऽगता ।
अधुनैव यदाप्नोमि मणीन्द्रं सर्वसिद्धिदम् ॥ १२ ॥
केचिदेव महान्तस्ते महाभाग्या भवन्ति हि ।
येषामल्पेन कालेन भवन्त्यभिमुखाः श्रियः ॥ १३ ॥
अहमल्पतपाः साधुवराको मानुषः किल ।
सिद्धयः कथमायान्ति मामभाग्यैकभाजनम् ॥ १४ ॥
एवं विकल्पसङ्कल्पैश्चिरमज्ञः परामृशन् ।
न मणिग्रहणे यत्नमकार्षीन्मौर्ख्यमोहितः ॥ १५ ॥
न यदा येन लब्धव्यं न तत्प्राप्नोत्यसौ तदा ।
चिन्तामणिरवाप्तोऽपि दुर्धिया हेलयोज्झितः ॥ १६ ॥
इति तस्मिन्स्थिते यातो मणिरुड्डीय सिद्धयः ।
त्यजन्ति ह्यवमन्तारं शरो गुणमिवोज्झितः ॥ १७ ॥

मेरी इतनी विपुल भाग्यसम्पत्ति कहाँ है कि जिससे मैं समस्त सिद्धियों के दाता चिन्तामणि को इतने थोड़े समय में ही प्राप्त कर लूँ ॥ १२ ॥

ऐसे बड़े भाग्यवान् महात्मा थोड़े ही होते हैं, जिनके सामने सम्पत्तियाँ स्वल्प समय में उपस्थित हो जाती हैं ॥ १३ ॥

मैं तो अल्प तपवाला हूँ, साधुओं में तुच्छ मनुष्य हूँ इसलिए भाग्यरहित मेरे यहाँ सिद्धियाँ कैसे आ सकती हैं ॥ १४ ॥

उस प्रकार सङ्कल्प-विकल्पों से दीर्घकाल तक विचार-विमर्श कर रहे उस अज्ञानी पुरुष ने मूर्खता से मुग्ध होकर मणि लेने में कुछ भी यत्न नहीं किया ॥ १५ ॥

जिस समय जिसको प्राप्त होने योग्य जो वस्तु नहीं रहती उस वस्तु को उस समय वह नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः प्राप्त हुआ भी चिन्तामणि दुर्बुद्धि के कारण उपेक्षा से उसने छोड़ दिया ॥ १६ ॥

इस प्रकार अज्ञानजनित विचारविमर्श में जब वह पुरुष स्थित था अन्त में वह मणि उड़कर वहाँ चला गया, क्योंकि अवहेलना कननेवाले को सिद्धियाँ छोड़ देती हैं, जैसे धनुष से निर्मुक्त बाण डोरी को छोड़ देता है ॥ १७ ॥

[आपने तो कथा के आरम्भ में कहा था कि वह पुरुष व्यवहार में निपुण था, फिर मणि प्राप्तिकाल में उसकी वह निपुणता कहाँ चली गई।

सिद्धियों की प्राप्ति होने पर पुरुष को विचक्षणता आती हैं और उपेक्षा करने वाले पुरुष के पास आकर भी वह

हत्वा प्राज्ञपदं पुंसः संयान्ति किल सिद्धयः ।
आगताः संप्रयच्छन्ति सर्वं यान्त्यसहत्यलम् ॥ १८ ॥
पुमान् भूयः क्रियायत्नं चक्रे रत्नेद्रसाधने ।
नोद्विजन्ते स्वकार्येषु जना अध्यवसायिनः ॥ १९ ॥
ददर्शाऽथ कचद्रूपं काचखण्डमखण्डितम् ।
हसद्भिर्वञ्चकैः सिद्धैः पुरस्कृतमलक्षितैः ॥ २० ॥
अयं चिन्तामणिरिति मूढस्तस्मिन् सवस्तुताम् ।
बुबुधे मोहितो ह्यज्ञो मृदं हेमेति पश्यति ॥ २१ ॥
अष्टौ षष्ठं द्विषं मित्रं रज्जुं सर्पं स्थलं जलम् ।
चन्द्रौ द्वौ कुरुते चित्तगतो मोहोऽमृतं विषम् ॥ २२ ॥
तं दग्धमणिमादाय प्राक्तनीं च श्रियं जहौ ।
सर्वं चिन्तामणेरस्मात् प्राप्यते किं धनैरिह ॥ २३ ॥

वापस चली जाती हैं तथा वापस जाती हुई वे सिद्धियाँ पुरुष में रहने वाली विचक्षणता का विनाश भी कर देती हैं। इस विषय में प्राचीन उक्ति प्रसिद्ध है कि—

'न देवा दण्डमादाय दण्डयन्त्यपराधिनम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति तेनाऽसौ दण्ड्यते स्वतः ॥']

देवता दण्ड लेकर अपराधी पुरुष को दण्ड नहीं देते, किन्तु उसकी बुद्धि हर लेते हैं, इससे स्वयं ही वह दण्डित हो जाता है ॥ १८ ॥

पुनः वह पुरुष चिन्तामणि के साधन में कर्म और यत्न करने लगा, क्योंकि अटल निश्चय वाले लोग अपने कार्यों में उद्विग्न नहीं होते हैं ॥ १९ ॥

अनन्तर चमकीला अखण्डित कांच का टुकड़ा उसने देखा। वह टुकड़ा परिहास में तत्पर वञ्चक अलक्षित सिद्धों ने उसके सामने रख दिया था ॥ २० ॥

यह चिन्तामणि है, ऐसा निश्चय कर उस अज्ञानी पुरुष ने उसमें उपादेयता जान ली, क्योंकि मोहग्रस्त अज्ञानी मिट्टी को सोने के रूप में देखता है ॥ २१ ॥

चित्त में रहने वाला अज्ञानस्वरूप मोह किसी समय आठ पदार्थों को छः, शत्रु को मित्र, डोरी को सर्प, स्थल को जल, एक चन्द्र को दो चन्द्र और अमृत को विष बना देता है ॥ २२ ॥

उस दरिद्र ने मणि को लेकर अपनी पूर्व की सारी सम्पत्ति छोड़ दी, क्योंकि मोहवश उसने यह समझ लिया कि अब इस चिन्तामणि से ही अब कुछ प्राप्त हो जायगा, इन सम्पत्तियों से क्या प्रयोजन है? ॥ २३ ॥

देशोऽयमसुखो रूक्षो जनैः पापिभिरावृतः ।
किं तद्गेहं गतप्रायं किं नाम मम बन्धवः ॥ २४ ॥
दूरं गत्वा यथाकामं सुखं तिष्ठामि सम्पदा ।
इत्यादाय मणिं मूढः शून्यकाननमाययौ ॥ २५ ॥
तत्र काचकणेनाऽसौ तेन तामापदं ययौ ।
कज्जलाद्रेरिव निभा मौर्ख्यस्यैवाऽङ्ग या समा ॥ २६ ॥
दुःखानि मौर्ख्यविभवेन भवन्ति यानि
नैवाऽऽपदो न च जरामरणेन तानि ।
सर्वापदां शिरसि तिष्ठति मौर्ख्यमेकं
कृष्णं जनस्य वपुषामिव केशजालम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये मणिकाचोपाख्यानं नाम अष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

यह देश, सुख से शून्य, स्नेही जनों से रहित और पापात्मा जीवों से आवृत है, जीर्ण-शीर्ण वह घर भी निष्प्रयोजन हैं और मेरे बन्धु भी क्या हैं? इनसे कोई लाभ नहीं है ॥ २४ ॥

दूर जाकर यथेच्छ सुखपूर्वक सम्पत्तियों से युक्त होकर रहूँगा, इस प्रकार विचार कर उस कांचखण्ड को लेकर निर्जन अरण्य में वह मूढ़ चला गया ॥ २५ ॥

हे प्रिय! वहाँ जङ्गल में जाकर उस कांच के खण्ड से वह मूढ़ ऐसी विपत्ति में फँस गया, जो कज्जल पर्वत की कान्ति के समान गहरी नीलिमा से युक्त और मूर्खता के अनुरूप थी ॥ २६ ॥

मूर्खता के विभव से जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे दुःख सर्वस्वनाश आदि बड़ी-बड़ी आपत्तियों से या मरण से भी नहीं होते हैं, क्योंकि तत्त्ववेत्ताओं को सैकड़ों आपत्तियों के आने पर भी दुःख दिखाई नहीं देता और सोने के पलंगों पर सो रहे राजाधिराज को भी मूर्खता के कारण सैकड़ों दुःख दिखाई देते हैं, जैसे पुरुष के सिर पर काला केशजाल अवस्थित रहता है वैसे ही सम्पूर्ण आपत्तियों के सिर पर एकमात्र मौर्ख्य अवस्थित रहता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में मणिकाचोपाख्यान नामक कुसुमलता का अठासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥

८९

चूडालोवाच

अथेममपरं रम्यं वृत्तान्तं शृणु भूमिप! ।
परं प्रबोधनं बुद्धेः साधो! सदृशमात्मनः ॥ १ ॥
अस्ति विन्ध्यवने हस्ती महायूथपयूथपः ।
आगस्त्या शुद्धया बुद्ध्या विन्ध्येनेवोदितः स्वतः ॥ २ ॥
वज्रार्चिर्विषमौ दीर्घौ तस्याऽऽस्तां दशनौ सितौ ।
कल्पानलशिखातुल्यौ सुमेरून्मूलनक्षमौ ॥ ३ ॥
स बद्धो लोहजालेन हस्तिपेन किलाऽभितः ।
मुनीन्द्रेणेव विन्ध्याद्रिरुपेन्द्रेणेव वा बलिः ॥ ४ ॥
निबद्धो यन्त्रणामाप शस्त्रकुम्भादितो गजः ।
तां जगाम व्यथां धीरो नवाग्नौ पुरमेति याम् ॥ ५ ॥

८९

चूडाला ने कहा—हे पृथिवी रक्षक! अब यह दूसरा सुन्दर उपाख्यान आप सुनें। हे साधो! यह आपके ही अनुरूप तथा बुद्धि को भली-भाँति स्फूर्ति देनेवाल है ॥१॥

विन्ध्याचल के अरण्य में बड़े-बड़े झुण्डपतियों के झुण्डों का स्वामी एक हाथी रहता था। दीर्घकाल तक आज्ञा का परिपालन करने के कारण अनुग्रह युक्त अगस्त्य महामुनि की बुद्धि से अपने पूर्व उन्नतरूप से प्रकट वह विन्ध्याचल ही लगता था ॥ २ ॥

उसके दो धवल दीर्घ दाँत वज्र की ज्वाला के समान तीक्ष्ण थे, वे महाप्रलय की अग्निशिखा के समान पर्वतराज सुमेरु को भी उखाड़ फेंकने में समर्थ थे ॥ ३ ॥

जैसे अगस्त्य ने विन्ध्याद्रि को और उपेन्द्र ने बलि-राज को बाँध रखा था वैसे ही पीलवान् ने चारों ओर से लोहमय जाल से उसको बाँध रखा था ॥ ४ ॥

लोहजाल में बाँधा गया तथा अङ्कुश आदि शस्त्रों से गण्डस्थल में पीडित बड़ी यन्त्रणा को प्राप्त धीर उस हाथी ने जैसे महादेवजी की वाणाग्नि लगने पर त्रिपुरासुर व्यथा ने प्राप्त की थी वही व्यथा प्राप्त की ॥ ५ ॥

रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः ।
अयःसमुद्गके यस्मिन् निनाय दिवसत्रयम् ॥ ६ ॥
खेदान्निगडनिर्भेदे यत्नवान् स मतङ्गजः ।
चकार किङ्किणीक्वाणं मुखोद्घातैरथाऽन्यदा ॥ ७ ॥
दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्यां मुहूर्तद्वितयेन सः ।
बभञ्ज शृङ्खलाजालं स्वर्गार्गलमिवाऽसुरः ॥ ८ ॥
तं तस्य निगडच्छेदमपश्यद् दूरतो रिपुः ।
बलेः स्वर्गावदलनं हरिर्मेरुतलादिव ॥ ९ ॥
तस्य विच्छिन्नपाशस्य मूर्ध्नि तालतरो रिपुः ।
पपात क्रमतः स्वर्गं हरिर्मेरोर्बलेरिव ॥ १० ॥
स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः ।
पपातोर्व्यां फलं पक्वं वाताहतमिवाऽऽकुलः ॥ ११ ॥
तं पुरः पतितं दृष्ट्वा महेभः करुणां ययौ ।
स्फुरत्स्फारगुणाः सन्तः सन्ति तिर्यग्गतावपि ॥ १२ ॥

दूरी के कारण उसका शत्रु पीलवान् उसे नहीं देख रहा था, इस दशा में उस हाथी ने लोहमय जाल में तीन दिन व्यतीत किये ॥ ६ ॥

अनन्तर तीन दिनों के बाद अत्यन्त खेद से वह हाथी जाल तोड़ने का प्रयत्न करने लगा और मुख के उन्नत आघातों से घण्टी के सदृश ध्वनि करने लगा ॥ ७ ॥

जैसे बलिराज ने स्वर्गपुरी अमरावती के कपाट के सिक्कड़ को छिन्न-भिन्न कर दिया था वैसे ही दो मुहूर्तों में बड़े प्रयत्न से उस हाथी ने अपने उन समर्थ दो दाँतों से उस शृङ्खलाजाल को छिन्न-भिन्न कर दिया था ॥ ८ ॥

जैसे श्रीहरि ने मेरुतल से बलिका स्वर्ग-छेदन देखा था वैसे ही दूरे से शत्रु ने उसका वह जाल-छेदन देखा ॥ ९ ॥

जैसे क्रम से मेरुपर्वत से भगवान् वामन बलि के सिर पर गिरे थे। वैसे ही फन्दा विच्छिन्न उस हाथी के सिर पर वह शत्रु ताल वृक्ष के ऊपर पहले चढ़कर फिर वहीं से गिरा, अर्थात् बलिराज के यज्ञ में तीन पैर मात्र भूमिका प्रतिग्रह कर पहले पैर से समस्त पृथिवी, दूसरे से स्वर्ग—इस प्रकार क्रमशः तीसरे पैर की पूर्ति के लिए मेरु से बलि के सिर पर भगवान् वामन जैसे गिरे, वैसे ही पीलावान् क्रमशः पहले तालवृक्ष पर चढ़ा और फिर हाथी के सिरपर गिरा, यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

गिरते हुए अपने चरणकमलों से हाथी का सिर न प्राप्त कर व्याकुल पृथिवी पर वैसे ही गिरा; जैसे वायु से आहत पका फल पृथिवी पर गिरता है ॥ ११ ॥

सामने गिरे हुए उस शत्रु को देखकर महान् हाथी करुणा से भर गया, क्योंकि तिर्यक् योनियों में जाने पर भी सन्त लोग प्रकाशशील अपने विशुद्ध गुण से युक्त ही रहते हैं ॥ १२ ॥

पतितं दलयामीति किंनाम मम पौरुषम् ।
वारणोऽपीति कलयन्न जघान स तं रिपुम् ॥ १३ ॥
केवलं निगडव्यूहं विदार्याऽभिजगाम ह ।
विततं सेतुमुत्सार्य विपुलौघ इवाऽम्भसः ॥ १४ ॥
दयामाश्रित्य मातङ्गो भङ्क्त्वा जालं जगाम ह ।
विदार्य मेघसङ्घातं नभसीव दिवाकरः ॥ १५ ॥
गते गजे समुत्तस्थौ हस्तिपः स्वस्थदेहधीः ।
गजेनैव समं तस्य व्यथा दूरतरं गता ॥ १६ ॥
प्रोच्चलत्तालशिखरात् स तथा पतितोऽपि सन् ।
न भेदमाप दुर्भेदा मन्ये देहा दुरात्मनाम् ॥ १७ ॥
वर्धते प्रावृषीवाऽभ्रं कुकार्येष्वसतां बलम् ।
आसीदधिकमुत्साही स च चङ्क्रमणे तदा ॥ १८ ॥
वारणारिरसिद्धाङ्गो गतेभो दुःखमाययौ ।
आगत्योपगतेऽन्तर्धिं निधान इव वर्धनः ॥ १९ ॥

गिरे हुए को मार डालने पर उसमें मेरा क्या पुरुषार्थ है? इस प्रकार उस हाथी ने विचारकर उस शत्रु को नहीं मारा ॥ १३ ॥

जैसे विस्तृत पुल का विदारण कर जल का महान् प्रवाह चला जाता है वैसे ही एकमात्र लोहमय जल का विदारण कर वह चला गया ॥ १४ ॥

जैसे आकाश में मेघों का भेदन कर सूर्य चला जाता है। वैसे ही दया का आश्रय कर शृङ्खला जाल का भेदन कर हाथी चला गया ॥१५ ॥

जब हाथी चला गया तब पीलवान् स्वस्थमति होकर उठा। उसकी व्यथा हाथी के साथ-साथ ही दूर भाग गई ॥ १६ ॥

उत्तुङ्ग ताल वृक्ष के शिखर से उस तरह गिरने पर भी वह सिर, पैर आदि अंगों से विकृत न हुआ। मेरी दृष्टि में दुष्ट चेताओं की देह दुर्भेद्य ही होती है ॥ १७ ॥

वर्षाकाल में मेघों के समान कुकर्मों में असत् पुरुषों का बल बढ़ता है। वह पैरों से चलने में अत्यन्त उत्साही था ॥ १८ ॥

हाथी का शत्रु वह पीलावान् अपने उपायों में निष्फल था और उसके हाथ से हाथी चला गया जैसे हाथ में निधि के आकर चले जाने पर व्यापारी वैश्य दुःखी होता है वैसे ही वह दुःखी हुआ ॥ १९ ॥

सोऽन्वियेष गजं यत्नाद्गुल्मकान्तरितं वने ।
पयोदपिण्डितं भोक्तुं राहुरिन्दुमिवाऽम्बरे ॥ २० ॥
चिरेणाऽऽलभतेभेन्द्रं कस्मिंश्चित् कानने स्थितम् ।
विश्रान्तं तं तरुतले समरादिव निर्गतम् ॥ २१ ॥

अथ यत्र स्थितो नागस्तत्र तद्बन्धनक्षमम् ।
परया राजसामग्र्या गजलम्पटभूमया ॥ २२ ॥

स खातवलयं चक्रे हस्तिपः काननेऽभितः ।
सर्वदिक्कं विधिर्भूमौ समुद्रवलयं यथा ॥ २३ ॥

उपर्यस्थगयद्वाललतौघेन स तं शठः ।
शून्यतातन्तुजालेन शरत्काल इवाम्बरम् ॥ २४ ॥

दिनैः कतिपयैरेव वारणो विहरन् वने ।
तस्मिन्निपतितः खाते शुष्काब्धाविव पर्वतः ॥ २५ ॥

जैसे खा जाने के लिए आकाशमण्डल में मेघों में छिपे हुए चन्द्रमा का राहु अन्वेषण करता है वैसे ही अन्त में बहुत परिश्रम से वह अरण्य में झाड़ियों में छिपे हुए हाथी का अन्वेषण करने लगा ॥ २० ॥

बहुत काल के बाद युद्ध-भूमि से निकले हुए के समान किसी एक जङ्गल में स्थित वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा वही गजेन्द्र उसको फिर मिला ॥ २१ ॥

अनन्तर जहाँ वह हाथी खड़ा था, वहीं पर समीप में अनेक गजलम्पट जनों से युक्त उत्तम गड्ढा खोदने की राजसामग्री से उस पीलवान् ने गजबन्धन में समर्थ चारों ओर गोल जङ्गल में गड्ढे का निर्माण किया। भूमि में ब्रह्माजी द्वारा निर्मित सर्वदिग्व्यापी गोल समुद्र के समान वह गोल गड्ढा लगता है ॥ २२, २३ ॥

जैसे शरत्काल शून्यतापिधायक शुभ्र मेघपटल से आकाश को ढँक देता है। वैसे ही उस वञ्चक पीलवान् ने उस गड्ढे को कोमल लताओं से उस प्रकार ऊपर से ढँक दिया ॥ २४ ॥

कुछ ही दिनों के बाद वन में विहार कर रहा वह हाथी, शुष्क सागर में पर्वत की तरह उस गड्ढे में गिर गया ॥ २५ ॥

गजरूप रत्न के आश्रय तथा पातालतल के सदृश अतिभीषण वलयाकार के समान कुएँ के शुष्क सागर गड्ढे के नीचे भाग में पुनः उस पीलवान् ने उस हाथी को सुदृढ़ रूप से इस तरह बाँध दिया कि आज भी बलि के सदृश भूगर्भ में दुःखपूर्वक अवस्थित है ॥ २६, २७ ॥

व्रजन् पर्याकृतौ कूपे पातालतलभीषणे ।
खातशुष्काब्ध्यधो भागे गजरत्नसमुद्गके ॥ २६ ॥
इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः ।
तिष्ठत्यद्याऽपि दुःखेन भूसद्मनि यथा बलिः ॥ २७ ॥

अहनिष्यत्पुरैवाऽसौ यद्यग्रे पतितं रिपुम् ।
तन्नाऽलप्स्यत्ततो दुःखं गजः खातनिबन्धनम् ॥ २८ ॥

मौर्ख्यादागामिनं कालं वर्तमानक्रियाक्रमैः ।
अशोधयन्नरो दुःखं याति विन्ध्यगजो यथा ॥ २९ ॥

मुक्तोऽस्मि शृङ्खनिगडादिति तुष्टो हि वारणः ।
दूरस्थोऽपि पुनर्बद्धो मौर्ख्यं क्व च न बाधते ॥ ३० ॥

मौर्ख्यं हि बन्धनमवेहि परं महात्मन् !
बद्धो न बद्ध इति चेतसि तद्विमुक्त्यै ।

यदि पहले यह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रु को मार डालता, तो कूपबन्धनरूप दुःख को नहीं प्राप्त करता ॥ २८ ॥

मूर्खता के कारण जो पुरुष वर्तमान समय में शास्त्रीय क्रियाक्रमों से भविष्य काल का शोधन नहीं करता है वह विन्ध्यगज के सदृश दुःखा पाता है। अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषको इसी समय शास्त्रीय पुरुष प्रयत्नों से दुःखोत्पादक बीजों का दूरीकरण कर आगमी कालका शोधन करना चाहिए ॥ २९ ॥

मैं शृङ्खलाबन्धन से निर्मुक्त हो गया, इस बुद्धि से सन्तुष्ट हाथी दूर भाग जाने पर भी फिर अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ गया। मूर्खता कहाँ बाधा नहीं पहुँचाती। अर्थात् जबतक सब दुःखों का मूल अज्ञान नष्ट नहीं होता, तबतक सैकड़ों प्रयत्नों से किया गया दुःख विनाश भी व्यर्थ ही है ॥ ३० ॥

[इससे अज्ञान ही मूलभूत बन्ध है, उसकी निवृत्ति अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान से ही होती है।]

हे महात्मन् ! 'सदा बन्धनशून्य भी मैं बद्ध हूँ' इस प्रकार के चित्तगत मौर्ख्य को ही आप सबसे बढ़ा-चढ़ा बन्धन समझें। अतः उससे विमुक्त होने के लिए आत्मा से उत्पन्न आध्यात्मिक आदि समस्त तीनों जगत् को आत्मस्वरूप ही समझें। इस तरह समझने पर आत्मातिरिक्त किसी वस्तु के न रहने से पुरुष नित्यमुक्त हो जाता है। जिसे इस तरह का ज्ञान नहीं है और जो मूर्खता में ही अवस्थित रहता है उस पुरुष के लिए तो स्वयं आत्मा

आत्मोदयं त्रिजगदात्ममयं समस्तं मौर्ख्ये स्थितस्य सहसा ननु सर्वभूमिः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे हस्तिकोपाख्यानं नाम एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

ही तत्काल समस्त बन्धनों के बीजों की भूमि हो जाती है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में हस्तिकोपाख्यान नामक कुसुमलता का नवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

९०

शिखिध्वज उवाच

मणिसाधकविन्ध्येभबन्धनाद्यमरात्मज ! ।
सूचितं यत्कथाजालं पुनर्मे प्रकटीकुरु ॥ १ ॥

चूडालोवाच

वाक्यार्थदृष्टेर्निष्पत्त्या हृद्गृहे चित्तभित्तिषु ।
शृणु स्वयं कथां चित्रां चित्रमुन्मीलयामि ते ॥ २ ॥
योऽसौ शास्त्रार्थकुशलस्तत्त्वज्ञाने त्वपण्डितः ।
रत्नसंसाधकः प्रोक्तः स त्वमेव महीपते ! ॥ ३ ॥
तज्ज्ञो भवसि शास्त्रेषु रविर्मेरुतटेष्विव ।
तत्त्वज्ञाने तु विश्रान्तो न त्वं दृषदिवाम्भसि ॥ ४ ॥
विद्धि चिन्तामणिं साधो ! सर्वत्यागमकृत्रिमम् ।
तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः ॥ ५ ॥
सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ ! ।
सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत् ॥६॥
सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो ! संसाध्यतस्तव ।
खर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥ ७ ॥
सन्त्यक्तं भवता राज्यं सदारधनबान्धवम् ।
ब्रह्मणेव जगत्सर्गव्यापारः स्वनिशागमे ॥ ८ ॥

९०

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे अमर पुत्र ! चिन्तामणि के साधक तथा विन्ध्याचल के हाथी के बन्धन आदि की कथा जो आपने सूचित की थी, उसे पुनः मुझसे कहें क्योंकि वह मेरे चरित्र से कुछ साम्य रखती है, पूर्वोक्ति से आपने सूचित किया है कि वह मेरे ज्ञान का उपाय-स्वरूप है ॥ १ ॥

चूडाला ने कहा—आपके हृदयरूपी घर में चित्तरूपी भित्तियों के ऊपर मैंने वाक्यार्थज्ञानसम्पादन से विचित्र कथारूपी चित्र की केवल रेखा ही खींच दी थी, अब उसे मैं व्याख्यारूपी विचित्र वर्णों से (रंगों से) रङ्ग रहा हूँ। आप स्वयं सुनें ॥ २ ॥

हे राजन्, शास्त्रार्थ में कुशल, किन्तु तत्त्वज्ञान में अपण्डित जिस चिन्तामणिरत्न के साधक का मैंने आपसे वर्णन किया है वह आप ही हैं अर्थात् उन कथाओं में सर्व प्रथम 'अस्ति कश्चित् पुमान् श्रीमान्' कोई एक श्रीमान् पुरुष था इत्यादि से मैंने जिस चिन्तामणिसाधक का आपसे वर्णन किया है, वह आप ही हैं ॥ ३ ॥

जैसे भगवान् सूर्य सुमेरु के तटों के विषय में तत्त्वज्ञ हैं वैसे ही आप शास्त्रों के विषय में तो तत्त्वज्ञ हैं ही, किन्तु आत्मतत्त्वज्ञान में वैसे विश्रान्त नहीं हैं, जैसे जल में पत्थर विश्रान्त नहीं है ॥ ४ ॥

हे साधो ! अकृत्रिम सर्वत्याग को ही आप चिन्तामणि जानें। सम्पूर्ण दुःखों के विनाशक उसी चिन्तामणि को तो आप सिद्ध कर रहे हैं ॥ ५ ॥

हे निष्पाप ! शुद्ध सर्वत्याग से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि सर्वत्याग ही साम्राज्य आत्यन्तिक पूर्णकामता है। चिन्तामणि से क्या होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं होता है ॥ ६ ॥

हे साधो ! जो जगत् के प्रसिद्ध ऐश्वर्य-परम्पराओं से लेकर हिरण्यगर्भ के पद तक के ऐश्वर्य भी तुच्छ कर देने वाला तथा जो विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञान का उदयकारक है आपका वह सर्वपरित्याग साधना के द्वारा सिद्ध हो चुका है ॥ ७ ॥

जैसे अपनी रात आनेपर ब्रह्मा जागतिक सृष्टि के व्यापार का परित्याग कर देते हैं वैसे ही आपने स्त्री, धन और बन्धुओं के साथ अपने सम्पूर्ण राज्य का परित्याग कर दिया है ॥ ८ ॥

स्वदेशस्याऽतिदूरस्थमागतोऽसि ममाश्रमम् ।
भुवोऽन्तमिव विश्रान्त्यै वैनतेयः सकच्छपः ॥ ९ ॥
केवलं सर्वसन्त्यागे शेषिताऽहंमतिस्त्वया ।
मृष्टाखिलकलङ्केन स्वसत्तेवाऽनिलेन खे ॥ १० ॥
मनोमात्रे हृदस्त्यक्ते जगदायाति पूर्णताम् ।
त्यागात्यागविकल्पैस्त्वं खमम्भोदैरिवाऽऽवृतः ॥ ११ ॥
नाऽयं स परमानन्दः सर्वत्यागो महोदयः ।
कोऽप्युच्चैरन्य एवाऽसौ चिरसाध्यो महानिति ॥ १२ ॥
चिन्तयेति गते वृद्धिं सङ्कल्पग्रहणे शनैः ।
वात्ययेव वनस्पन्दे त्यागः प्रोड्डीय ते गतः ॥ १३ ॥
त्यागिता स्यात्कुतस्तस्य चिन्तामप्यावृणोति यः ।

जैसे कच्छप, गज आदि भोजन के साथ गरुड भगवान् विश्रान्त के लिए पृथिवी की अन्त सीमा में आ गये थे वैसे ही स्वदेश से बहुत दूर में स्थित आप मेरे आश्रम में विश्रान्त के लिए आ गये हैं ॥ ९ ॥

जैसे मेघ, नीहार आदि सब कलङ्कों को धो डालने वाला शरत्कालीन वायु आकाश में अपनी सत्ता बचाता है वैसे ही आपने सर्वत्याग में केवल अभिमानरूप अविद्या को ही बचा रखा है ॥ १० ॥

हृदय से मनोमात्र के त्यक्त होनेपर सारा संसार पूर्णानन्द ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, लेकिन आप तो मेघों से आवृत आकाश की तरह त्याग और अत्याग के विकल्पों से आवृत हैं, क्योंकि 'मैंने सब कुछ छोड़ दिया' यह अभिमान तो अभी आप में बचा ही है। अर्थात् अहङ्कार का परित्याग हो जानेपर अवशिष्ट रहा पूर्णानन्दस्वरूप परम-पुरुषार्थ अपने-आप हृदय में साक्षात् स्फुरित होने लगता है, इसलिए सर्वत्याग ही मोक्ष सिद्ध हुआ। परमानन्द ही चिन्तामणि है। चिन्तामणि मिल जानेपर उसकी उपेक्षा करके किसी और दूसरी वस्तु का अन्वेषण नहीं करना चाहिए ॥ ११ ॥

विकल्पवश के ही कारण सर्वत्याग होनेपर भी आप को अभीतक अविश्वास बना हुआ है कि यह सर्वत्याग प्रसिद्ध महोदय स्वरूप और परमानन्दस्वरूप नहीं है। महान् तो कोई बहुत उन्नत चिरकालसाध्य अन्य ही है ॥ १२ ॥

इस चिन्ता से सङ्कल्पग्रहण की वृद्धि हो जानेपर आपका वह सर्वत्याग उड़कर कहीं उस तरह चला गया, जिस तरह आँधी से जङ्गली वृक्षों के हिल जाने पर उनके

पवनस्पन्दयुक्तस्य निःस्पन्दत्वं कुतस्तरोः ॥ १४ ॥
चिन्तैव चित्तमित्याहुः सङ्कल्पेतरनामकम् ।
तस्यामेव स्फुरन्त्यां तु चित्तं त्यक्तं कथं भवेत् ॥ १५ ॥
चित्ते चिन्तागृहीते तु त्रिजगज्जालकेक्षणात् ।
कथमासाद्यते साधो ! सर्वत्यागो निरञ्जनः ॥ १६ ॥
सङ्कल्पग्रहणेनाऽन्तस्त्यागः प्रोड्डीयते गतः ।
शब्दसंश्रवणेनाङ्ग यथा ग्रामविहङ्गमः ॥ १७ ॥
निश्चिन्तत्वं परं सर्वं त्याग आदाय ते गतः ।
आमन्त्र्याऽपूजितो जन्तुः स दुःखं न करोति किम् ॥ १८ ॥
सर्वत्यागमणावेवं गते कमललोचन ! ।
तपः काचमणिर्दृष्टस्त्वया सङ्कल्पचक्षुषा ॥ १९ ॥

पक्षी वहाँ से उड़कर कहीं अन्यत्र निर्वात प्रदेश में आश्रय पाने के लिए चले जाते हैं ॥ १३ ॥

उस पुरुष का त्याग भला कैसे सिद्ध हो सकता है, जो चिन्ता को तनिक भी अपनाता है। पवन के स्पन्द से युक्त वृक्ष में निश्चलता कैसे हो सकती है ॥ १४ ॥

चिन्ता को ही चित्त कहते हैं, इसी का दूसरा नाम सङ्कल्प है। उस चिन्ता के स्फुरित रहते चित्त का त्याग कैसे हो सकता है। अर्थात् चित्त त्याग ही मुख्य सर्वत्याग है, लेकिन चिन्ता के रहते चित्त का त्याग अत्यन्त कठिन है। चित्त ने तो अपने सङ्कल्प द्वारा जगत् को ही बटोर लिया है, इसलिए हे राजन् ! अभी आपने किसी का भी त्याग सिद्ध नहीं किया ॥ १५ ॥

हे साधो ! तीनों जगत् के जाल के आधारभूत चित्त के क्षण भर में ही चिन्ता से गृहीत हो जानेपर निरञ्जन सर्वत्याग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥ १६ ॥

आपका त्याग आन्तरिक सङ्कल्प के ग्रहण से उड़कर वैसे ही चला गया है। जैसे गाँव के पक्षी कबूतर आदि शब्द श्रवण से उड़कर कहीं चले जाते हैं ॥ १७ ॥

आपका त्याग पूजित न होने से आपकी उत्कृष्ट सारी निश्चिन्तता लेकर चला गया, क्योंकि निमन्त्रण देकर बुलाया गया प्राणी पूजित न होने पर क्या वह दुःख नहीं देता है ? तात्पर्य यह है कि उड़कर भाग रहा त्याग सर्व त्याग के फल निश्चिन्तता को लेकर मानो चला गया ॥ १८ ॥

हे कमललोचन ! इस तरह सर्वत्याग रूपी चिन्ता-मणि के चले जाने पर आपने अपने सङ्कल्प रूपी नेत्र से तपरूपी कांच को चिन्तामणि देखा ॥ १९ ॥

त्वया तस्मिंस्तपस्येव दुःखे दृष्टिभ्रमोदिते ।
ग्राह्यैकभावना बद्धा जलेन्दौ शशिनो यथा ॥ २० ॥
अवासनमनासक्त्या कृताऽनन्ता सवासना ।
आद्यन्तमध्यविषमा दुःखायैव तपःक्रिया ॥ २१ ॥
अमितानन्दमुत्सृज्य सुसाध्यं यः प्रवर्तते ।
मिते वस्तुनि दुःसाध्ये स्वात्महा स शठः स्मृतः ॥२२॥
सर्वत्यागं समारभ्य न चैष साधितस्त्वया ।
तथा दुःखैकताज्ञानबद्धेन वनसद्मनि ॥ २३ ॥
राजबन्धाद्विनिष्क्रम्य प्रसरद्दुःखपूरितात् ।
वनवासाभिधैः साधो ! बद्धोऽसि दृढबन्धनैः ॥ २४ ॥
द्विगुणा एव ते चिन्ताः शीतवातातपादयः ।
बन्धनादधिकं मन्ये वनवासमजानताम् ॥ २५ ॥
चिन्तामणिर्मया प्राप्त इत्यलं बुद्धवानसि ।
न लब्धवान्भवान्साधो ! स्फटिकस्याऽपि खण्डिकाम् ।२६।
इत्येतदङ्ग मणियत्नकथासमानं
सम्यङ् मया प्रकथितं तव पद्मनेत्र ! ।
तद्बोध्यमेवममलं स्वयमेव बुद्ध्वा
यद्वेत्सि तत्परिणतिं नय चित्तकोशे ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चिन्तामणिसाधकवृत्तान्तविवरणं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

अपने दुःख के हेतु होने से दुःख रूप उस तप में ही 'मुझे यही ग्राह्य है' ऐसी दृढ़ भावना वैसे ही बाँध ली है जैसे दृष्टि के भ्रम से उदत हुए जल में प्रतिबिम्बत चन्द्रमा में सत्यचन्द्रमा की भावना बाँध ली जाती है ॥ २० ॥

पहले वासना से शून्य सर्वत्याग का अनासक्ति योग से उपक्रम कर पीछे वासना युक्त अत्यन्त तप की आप की क्रिया बिलकुल व्यार्थ है, क्योंकि आदि में गृह, धन, दार आदि के त्याग से अन्त में फल की आसक्ति से और मध्य में वनवास, शीत आदि के सहन से वह तपकर्म भयङ्कर हो गई है, अतः एकमात्र दुःख के लिए ही है ॥ २१ ॥

अपरिमित आनन्द देने वाले और सुसाध्य सर्वत्याग को छोड़कर परिमित और दुःखसाध्य तप आदि वस्तु में पुरुष प्रवृत होने वाला शठ, अपरिमित आत्मस्वरूप का विघातक होने से, आत्मघाती कहा जाता है ॥ २२ ॥

वनवास से तपस्याजन्य दुःखों से तथा दुःखों से तथा एकता के प्रयोजक अज्ञान से बंधे हुए आपने सर्वत्याग का आरम्भ कर इसे फिर सिद्ध नहीं किया ॥ २३ ॥

हे साधो ! प्रतिदिन आगे बढ़ रहे दुःखों से भरे राज्य रूप बन्धन से भली-भाँति निकल कर आप वन वास नामक दृढ़ बन्धनों से बँध गये हैं ॥ २४ ॥

शीत, वात, आतप आदि की आपको द्विगुण चिन्ता है। इसलिए मैं तो ऐसा समझता हूँ कि पहले से अनुभव न रखने वाले सुकुमार पुरुषों का वनवास राज्यादि बन्धन से भी अधिक दुःखदायी है ॥ २५ ॥

मैंने चिन्तमणि पाया, यह तो आप अच्छी तरह समझ चुके हैं, किन्तु अभी तक आपने स्फटिक का एक टुकड़ा भी नहीं पाया है ॥ २६ ॥

हे पद्मनेत्र महीपते ! इस तरह चिन्तामणि के प्रयत्न की कथा के समान आपके चरित्र को मैंने अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। अब आप मेरे कहने के अनुसार स्वयमेव अपनी बुद्धि से निर्मल उस बोध्य वस्तु का तत्त्वतः विचार कर सर्वत्याग या तप—इनमें चिन्तामणि के समान जिसे निर्दोष समझें, उसे अपने चित्तकोश के भीतर रख कर फलप्राप्ति पर्यन्त परिणति में पहुँचें ॥२७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में चिन्तामणि-साधकवृत्तान्तविवरण नामक कुसुमलता का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९० ॥

९१

चूडालोवाच
इदानीं राजशार्दूल ! वस्तु सम्प्रतिपत्तये ।
शृणु विन्ध्येभवृत्तान्तविवृतिं स्मयकारिणीम् ॥ १ ॥

९१

चूडाला ने कहा—हे राजशार्दूल ! पूर्ण तत्त्वबोध के लिए अब आप विन्ध्याचल के हाथी के वृत्तान्त की विस्मय उत्पन्न करने वाला विवरण सुनिये ॥ १ ॥

योऽसौ विन्ध्यवने हस्ती सोऽस्मिन् भूमितले भवान् ।
यौ वैराग्यविवेकौ तौ द्वौ तस्य दशनौ सितौ ॥ २ ॥
यश्चाऽसौ वारणाक्रान्तितत्परो हस्तिपः स्थितः ।
तदज्ञानं तवाऽऽक्रान्तितत्परं तव दुःखदम् ॥ ३ ॥
अतिशक्तोऽप्यशक्तेन दुःखाद्दुःखं भयाद्भयम् ।
हस्ती हस्तिपकेनेव राजन् ! मौर्ख्येण नीयसे ॥ ४ ॥
यल्लोहवज्रसारेण वारणः परियन्त्रितः ।
तदाशापाशजालेन भवानापदमावृतः ॥ ५ ॥
आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला दृढा ।
कालेन क्षीयते लोहं तृष्णा तु परिवर्धते ॥ ६ ॥
यद्द्वन्द्वे प्रेक्षते वैरी गजमारादलक्षितः ।
प्रेक्षते त्वां तदज्ञानं क्रीडार्थं बद्धमेककम् ॥ ७ ॥
यद्भग्नं गजः शत्रोः श्रृङ्खलाजालबन्धनम् ।

विन्ध्य वन में रहने वाले जिस हाथी का मैंने आप से पहले वर्णन किया था, वह इस पृथिवी तल पर आप ही हैं। उस हाथी के सफेद दो दाँत ही आपके वैराग्य और विवेक हैं ॥ २ ॥

हाथी पकड़ने में तत्पर वह पीलवान् आपकी आक्रान्ति में तत्पर आपको दुःख देने वाला आपका अज्ञान हैं ॥३॥

हे राजन् ! आप अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हाथी के सदृश रहते हुए भी दुर्बल मौर्ख्य रूपी पीलवान् के द्वारा एक दुःख से दूसरे दुःख में तथा एक भय से दूसरे भय में पहुँचाये जा रहे हैं ॥ ४ ॥

जो लोह वज्रसार से हाथी बाँधा गया था, वह आशापाश जाल से पैर से लेकर मस्तक तक आवृत बाँधे गये आप ही हैं ॥ ५ ॥

आशा तो लोहे की जंजीर से भी बढ कर भयङ्कर, विशाल और दृढ़ है, क्योंकि समयानुसार लोहे की जंजीर टूट जाती है, परन्तु तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है ॥६॥

'रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः' (दूरी के कारण न देख रहा उसका शत्रु पीलवान् जब चिन्तन कर रहा था, तब उस हाथी ने) इससे सूचित उसके चिन्तन का उदाहरण देते हैं—

जो एकान्त में छिप कर शत्रु पीलवान् हाथी का चिन्तन कर रहा था वह आपका अज्ञान ही एकान्त में अकेले बँधे हुए क्रीडा के लिए आपका चिन्तन कर रहा था ॥ ७ ॥

तत्त्याज भवान् भोगभूमिं राज्यमकण्टकम् ॥ ८ ॥
कदाचित्सुकरं शस्त्रश्रृङ्खलाबन्धभेदनम् ।
न त्वस्य मनसः साधो ! भोगाशाविनिवारणम् ॥ ९ ॥
यदिभे पाटयत्युच्चैर्बन्धं हस्तिपकोऽपतत् ।
त्वयि त्यजति तद्राज्यमज्ञानपतितं कृतम् ॥ १० ॥
यदा विरक्तः पुरुषो भोगाशां त्यक्तुमिच्छति ।
तदा प्रकम्पतेऽज्ञानं छेद्ये वृक्षे पिशाचवत् ॥ ११ ॥
यदा विवेकी पुरुषो भोगान् संत्यज्य तिष्ठति ।
तदा पलायतेऽज्ञानं छिन्ने वृक्षे पिशाचवत् ॥ १२ ॥
भोगौघे नूनमुन्मुक्ते पतत्यज्ञानसंस्थितिः ।
पादपे क्रकचच्छिन्ने कुलायस्तद्गतो यथा ॥ १३ ॥
यदा वनं प्रयातस्त्वं तदा ज्ञानं क्षतं त्वया ।
पतितं सन्न निहतं मनस्त्यागमहासिना ॥ १४ ॥

जो अपने शत्रु के श्रृंखला जाल बन्धन को हाथी ने तोड़ दिया, वह आपने भोग-भूमि अकण्टक अपने राज्य का त्याग कर दिया है ॥ ८ ॥

हे साधो ! कदाचित् शस्त्र और श्रृङ्खला बन्धन का भेदन सहज में हो सकता है, परन्तु भोगों की आशा का निवारण इस मन से सहज में नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

हाथी के दृढ़ बन्धन तोड़ देने पर जो पीलवान् गिर पड़ा था वह आपके राज्य छोड़ देने पर अज्ञान ही गिरा था ॥ १० ॥

जब विरक्त पुरुष भोगों की आशा छोड़ देना चाहता है तब अज्ञान, काटे जा रहे वृक्ष के ऊपर रहने वाले पिशाच की तरह खूब काँपने लगता है ॥ ११ ॥

जब विवेकी पुरुष भोगों का बिलकुल त्याग कर बैठ जाता है तब अज्ञान, वृक्ष कट जाने पर पिशाच की तरह भाग जाता है ॥ १२ ॥

वृक्ष के आरा से कट जाने पर उसके ऊपर बना हुआ चिड़ियों का घोंसला गिर जाता है वैसे ही भोग समूह के उन्मुक्त होने पर अज्ञान की संस्थिति वैसे गिर जाती है ॥ १३ ॥

जिस समय आप जङ्गल को चले, उसी समय आपने अज्ञान को घायल कर दिया, लेकिन घायल होकर गिरे हुए उसको आपने तत्त्वज्ञान के द्वारा मन के त्यागरूपी खड्ग से मारा नहीं। अर्थात् उसी समय आपको चूडाला के उक्तिश्रवण के बाद तत्त्वज्ञान के लिए एक बहुत सुन्दर अवसर मिला था, लेकिन आपने उसे खो दिया ॥ १४ ॥

तेन भूयः समुत्थाय स्मृत्वा परिभवं कृतम् ।
तपःप्रपञ्चखातेऽस्मिन् गहने त्वं नियोजितः ॥ १५ ॥
तदैवाऽऽघातयिष्यस्त्वं यद्यज्ञानं तथागतम् ।
राज्यत्यागविधौ तत्त्वां नाऽहनिष्यत्क्षयं गतम् ॥ १६ ॥
यत्खातवलयस्तेन वैरिणा हस्तिनः कृतः ।
तत्तपोदुःखमखिलमज्ञानेन तवार्पितम् ॥ १७ ॥
या तस्य राजराजश्रीर्गजारेर्नृपसत्तम ! ।
सा त्ववज्ञाननृपतेश्चिन्ताभ्यन्तरचारिणी ॥ १८ ॥
त्वं गजेन्द्रस्त्वयं साधो ! दीर्घे वनेऽगजोऽपि सन् ।
अज्ञानवैरिणा तेन निक्षिप्तस्तरसाऽभितः ॥ १९ ॥
यत्खातवलयो बाललताभिरवगुण्ठितः ।
आवृतं तत्तपोदुःखमीषत्सज्जनवृत्तिभिः ॥ २० ॥
इत्यद्याऽपि तपःखाते दुःखे ह्यस्मिन् सुदारुणे ।
स्थितोऽसि पातालतले नृप ! बद्धो यथा बलिः ॥ २१ ॥
गजस्त्वमाशा निगडानि वैरी
मोहो निखातः पुनरुग्रबन्धः ।
महीतलं विन्ध्य उदन्त इत्थं
त्वदीय उक्तः कुरु यत्करोषि ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे हस्तिकाख्यानतात्पर्यविवरणं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

यही कारण है कि उस अज्ञान ने फिर उठकर आपके द्वारा की गई अपनी पराजय का स्मरण करके इस विस्तृत तपरूपी गहन गड्ढे में आपको ढ़केल दिया है ॥ १५ ॥

राज्य का त्याग करते समय ही घायल होकर गिरे हुए अज्ञान को यदि आप जान से मार देते तो उसी समय बिलकुल नष्ट वह अज्ञान इस प्रकार आपको तपरूपी गड्ढे में ढकेलकर नहीं मारता ॥ १६ ॥

हाथी के शत्रु उस पीलवान् ने जो गोल गड्ढे का निर्माण किया था, वह आपके अज्ञान ने तपरूपी सम्पूर्ण दुःखों का एक गोल गड्ढा अर्पित किया है ॥ १७ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! उस हाथी के शत्रु की जो उत्तम राजसामग्री है, वह अवज्ञानरूपी राजा की अन्तःकरण में चारों ओर घूमनेवाली चिन्ता है और वह राजा आप हैं ॥१८॥

हे साधो ! गज न होते हुए भी आप उक्त विवेक युक्त गजेन्द्र के सदृश हैं। इस दीर्घ जङ्गल से इस अज्ञातरूपी शत्रु पीलवान् ने आपको तपरूपी गड्ढे में बहुत शीघ्र फेंक दिया है ॥ १९ ॥

कोमल लताओं से जो गोल गड्ढा ढका है वह आपका तपोदुःख ही शान्ति आदि गुणों और सज्जनों के समागमों से थोड़ा-सा आवृत है ॥ २० ॥

हे राजन् ! जैसे पातालतल में राजा बलि बंधकर अवस्थित हैं वैसे ही आज भी अतिदारुण और दुःखदायक तपरूपी खन्दक में आप बँधे हुए अवस्थित हैं ॥ २१ ॥

आप गज हैं, आशाएँ जंजीर हैं, शत्रु पीलवान् है मोह, उग्र तपस्या में आग्रह गड्ढा है, विन्ध्याचल यह महीतल है। इस तरह आपका वृत्तान्त मैंने हाथी के आख्यान द्वारा कह दिया है। इसे अच्छी तरह जानकर तपस्यारूपी गड्ढे से निकल कर उस अपने शत्रु के नाश के लिए जो कुछ कर सकते हैं, उसे शीघ्र कर देरी न करें ॥ २२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में हस्तिकाख्यानतात्पर्य विवरण नामक कुसुमलता का इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९१ ॥

९२

चूडालोवाच

**यदुक्तं नयशालिन्या तया विदितवेद्यया ।
तदा चूडालया ज्ञानं तत्कस्मान्नोररीकृतम् ॥ १ ॥
सा हि तत्त्वविदां मुख्या यद्यद्वक्ति करोति च ।
तत्सर्वं सत्यमेवाऽङ्ग तदनुष्ठेयमादराद् ॥ २ ॥**

९२

चूडाला ने कहा—ज्ञेय वस्तु का अच्छी तरह ज्ञान नितिकुशल उस चूडाला ने जिस ज्ञान का आपको उपदेश दिया, आपने उसे क्यों नहीं स्वीकार किया ? ॥ १ ॥

वह तत्त्वविज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ है। वह जो कहती और करती है, वह सब सत्य ही रहता है, अतः आपको आदर के साथ उसका अनुष्ठान करना चाहिए था ॥ २ ॥

अथ चेद्वचनं तस्यास्त्वया नाऽनुष्ठितं नृप ! ।
तत्सर्वसम्परित्यागः कस्मान्न निपुणीकृतः ॥ ३ ॥

शिखिध्वज उवाच

राज्यं त्यक्तं गृहं त्यक्तं देशस्त्यक्तस्तथाविधः ।
दारास्त्यक्तास्तथाप्यङ्ग सर्वत्यागो न किं कृतः ॥ ४ ॥

चूडालोवाच

धनं दारा गृहं राज्यं भूमिश्छत्रं च बान्धवाः ।
इति सर्वं न ते राजन् ! सर्वत्यागो हि कस्तव ॥ ५ ॥
तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषमायास्यसि विशोकताम् ॥ ६ ॥

शिखिध्वज उवाच

राज्यं चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं वनमेव मे ।
शैलवृक्षादिगुल्माढ्यं तदप्येतत्त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति राम ! वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रणोदितः ।
निमेषान्तरमात्रेण वशी वीरः शिखिध्वजः ॥ ८ ॥
प्रममार्ज वनास्थां तां कृतः सुदृढनिश्चयः ।
प्रावृडोघस्तटगतां रजोलेखामिवाऽऽत्मना ॥ ९ ॥

हे नृप ! यदि आपने उस चूडाला के कथन का पालन नहीं किया, तो फिर सर्वत्याग का ही पूर्णरूप से आश्रय क्यों नहीं लिया अर्थात् 'आत्मबुद्धया चिरं जीवेद् गुरुबुद्धया विशेषतः । परबुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयङ्करी ।' इस वचन के अनुसार स्त्रीबुद्धि की उपेक्षाकर अपनी बुद्धि के निश्चित सर्वत्याग को ही यदि आपने महत्त्वपूर्ण समझा, तो फिर आपने उसीको स्थिर क्यों नहीं किया ? ॥ ३ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे प्रिय ! यद्यपि राज्य छोड़ा, घर छोड़ा, उसी प्रकार सारा देश छोड़ दिया, स्त्री भी छोड़ दी, तथापि आप कहते हैं कि आपने सर्वपरित्याग नहीं किया, यह क्यों ? [अर्थात् 'सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव । खर्वीकृतजगत्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥' (हे साधो, साधना कर रहे आपका वह सर्वपरित्याग सिद्ध हो चुका, जो जगत् के प्रसिद्ध हिरण्यगर्भ पदतक के ऐश्वर्यों को भी तुच्छ कर देनेवाला तथा विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है।) इत्यादि से तो आपने ही कहा था कि राज्यादि के परित्यागमात्र से आपका सर्वत्याग सिद्ध हो चुका और जिस राज्य आदि का परित्याग कर दिया है उसको फिर मैंने स्वीकार भी नहीं किया, ऐसी स्थिति में आप बतलाइये कि मैंने सर्वत्याग का पूर्णरूप से अवलम्बन क्यों नहीं किया ?] ॥ ४ ॥

चूडाला ने कहा—हे राजन् ! धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बान्धव—ये सब आपके तो हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग हुआ कौन ? तात्पर्य यह कि जो अपना सम्बन्धी और सब है उसीका त्याग होनेपर सर्वत्याग की सिद्धि होगी, परन्तु राज्यादि तो न आपके सम्बन्धी हैं और न सब हैं, क्योंकि 'राज्य आदि मेरे हैं' ऐसी कल्पना कर रहा अहङ्कार ही अपने को इनका स्वामी मानता है, आत्मा नहीं मानता; अतः आप में सम्बन्धिता न होने से आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता है अर्थात् 'कवलं सर्वत्यागे शेषिगाहंमतिस्त्वया' (आपने सर्वत्याग में केवल अभिमानरूप अविद्या को उस तरह बचा रखा है) इससे तो मैंने पहले ही इसका उत्तर दे दिया है । परन्तु विवेक न होने के कारय यह उसे समझ नहीं सका, इस लिए जङ्गल में निवास, कमण्डलु आदि अवशिष्ट परिग्रह का भी पूर्णरूप से त्याग करा दिये जानेपर किसी तरह विवेक प्राप्त कर अहङ्कारग्रन्थि तोड़कर यह परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हो जायगा—ऐसी सोचती हुई धीरे-धीरे राजा शिखिध्वज की बुद्धि को विचार पथपर उतार रही कुम्भरूपिणी चूडाला ने गूढ़ अभिप्राय से यह कहा है ॥ ५ ॥

हे राजन् ! सबसे उत्तम भाग जो आपका मन या अहङ्कार है वह तो अभीतक अपरित्यक्त ही है । उसका पूर्णरूप से परित्यागकर आप शोकशून्य हो सकते हैं ॥ ६ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—यदि आप मानते हैं कि मेरा राज्य सब कुछ नहीं है तो यह पर्वत, वृक्ष, गुल्म आदि से भरपूर वन ही मेरा इस समय सब कुछ है, इसलिए इसका मैं त्याग करता हूँ [अर्थात् कथित आशय को न जानकर राजा शिखिध्वज चूडाला का यह आशय समझ रहे हैं कि मैंने पहले राज्य आदि का त्याग कर दिया है, इसलिए इस समय राज्यादि का इस समय सम्बन्ध न होने से वे त्याग के पात्र हैं ही नहीं और पर्वत वृक्ष आदि का इस समय सम्बन्ध होने के कारण उनके त्याग के बिना सर्वत्याग की सिद्धि नहीं हो सकती अतः इसका भी त्याग करता हूँ] ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! कुम्भ के वाक्य से प्रेरित होकर उस तरह कह रहे वीर जितेन्द्रिय शिखिध्वज ने जैसे वर्षा का प्रवाह तटगत धूलिलेखा को धो देता वैसे ही दूसरे ही निमेष में उस वनासक्ति को धो डाला क्योंकि ऐसा करने के लिए उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ ८, ९ ॥

शिखिध्वज उवाच

सवृक्षाद्रिवनश्वभ्राद्विपिनादपि वासना ।
परित्यक्ता मया नूनं परित्यागः स्थितो मम ॥ १० ॥

कुम्भ उवाच

अद्रेस्तटं वनं श्वभ्रं सलिलं पादपस्थलम् ।
इत्यादि तव नो सर्वं सर्वत्यागः कथं तव ॥ ११ ॥
तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १२ ॥

शिखिध्वज उवाच

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं स्वाश्रमो मम ।
वापीस्थलोटजयुतस्तमेवाऽऽशु त्यजाम्यहम् ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति राम ! वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रबोधितः ।
निमेषध्यानमात्रेण वशी वीरः शिखिध्वजः ॥ १४ ॥
प्रममार्जाऽऽश्रमास्थां तां संविदा शुद्धया हृदि ।
स्फुरन्तीं स्फुरणेनैव रजोलेखामिवाऽनिलः ॥ १५ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—अनेक जङ्गली वृक्षों, पर्वतों और गड्ढों से युक्त विपिन से भी मैंने अपनी ममता का परित्याग कर दिया है, अब तो मेरा सर्वत्याग सम्पन्न है न ॥ १० ॥

कुम्भ ने कहा—यह पर्वत का तट, वन, श्वभ्र, जल और वृक्षों के नीचे की सुन्दर भूमि—ये सब तो आपके हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ ? ॥११॥

सबसे उत्तम भाग का तो आपने अभी परित्याग ही नहीं किया है, आप भलीभाँति उसका त्याग करके उत्कृष्ट अशोकता को प्राप्त करेंगे ॥ १२ ॥

[यद्यपि त्याग करने के कारण वन आदि आपके सब हैं नहीं, यह मैं मानता हूँ, तथापि आश्रम का अस्तित्व होने से आपका सर्वत्याग सम्पन्न हुआ कैसे, यह कुम्भ मुनि अब मुझसे कह रहे हैं, यों मान रहे राजा शिखिध्वज कहते हैं–'एतच्चेन्मम' इत्यादि से ।]

राजा शिखिध्वज ने कहा—त्याग के कारण यदि ये वन आदि मेरे सब नहीं हैं तो यह जो वापी, स्थल, उटज, आदि से युक्त मेरा अपना आश्रम है, उसका भी अभी मैं त्याग कर देता हूँ ॥ १३ ॥

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीरामजी ! ऐसा कहते हुए कुम्भवाक्य से प्रबोधित जितेन्द्रिय वीर राजा शिखिध्वज ने जैसे अनिल स्फुरणमात्र से धूलिलेखा को धो डालता है वैसे ही निमेषभर ध्यान कर हृदय में स्फुरित हो रही उस आश्रम की अपनी ममता को शुद्ध संवित् से धो डाला ॥ १४, १५ ॥

शिखिध्वज उवाच

सवृक्षोटजवीरुत्काद्वासना स्वाश्रमादपि ।
परित्यक्ता मया नूनं सर्वत्यागः स्थितो मम ॥ १६ ॥

कुम्भ उवाच

वृक्षो वापी स्थलं गुल्ममुटजं व्रततीवृतिः ।
इति किञ्चिन्न ते सर्वं सर्वत्यागः कुतस्तव ॥ १७ ॥
तवाऽस्त्यन्यो परित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १८ ॥

शिखिध्वज उवाच

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं भाजनादि मे ।
चर्मकुड्यकुटीरादि तत्तावत्संत्यजाम्यहम् ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा स समुत्तस्थावविक्षुब्धमतिः शमी ।
विष्टरादवदातात्मा शृङ्गादिव शरद्घनः ॥ २० ॥
कुम्भस्त्वालोकयन्नेव तत्क्रियाः सस्मितः स्वयम् ।
आसने लोककार्येषु स्वस्यन्दन इवांशुमान् ॥ २१ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—वृक्ष, उटज, लता आदि से सम्पन्न इस अपने आश्रम से भी अपनी ममता मैंने छोड़ दी । अब तो मेरा सर्वत्याग सिद्ध हो गया न ॥ १६ ॥

कुम्भ ने कहा—वृक्ष, वापी, स्थल, गुल्म, उटज और ये लताएँ—ये सब तो आपके कुछ भी नहीं हैं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ ? ॥ १७ ॥

सबसे उत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया है, उसका पूर्णरूप से परित्यागकर आप उत्कृष्ट अशोकता को प्राप्त होंगे ॥ १८ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे प्रिय, यदि ये सब मेरे नहीं हैं, तो भाजन आदि तथा मृगचर्म, भीत, कुटीर आदि तो मेरे सब हैं, इन्हीं को पहले छाड़ता हूँ ॥ १९ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—यह कहकर अविक्षुब्ध-मति, शमी तथा शुद्धात्मा वह राजा शिखिध्वज जैसे पर्वत के शृङ्ग से शरत्कालीन मेघ उठता है वैसे ही अपने आसन से उठ गया ॥ २० ॥

अपने आसन पर स्थित वह कुम्भ ऋषि मुसकुराता हुआ जैसे अपने रथ पर अवस्थित हुए भगवान् सूर्यदेव लोक के कार्य को देखते रहते हैं वैसे ही राजा शिखिध्वज की सारी क्रियाएँ देख रहा था ॥ २१ ॥

यत्करोति करोत्वेतदस्यैतत्पावनं परम् ।
इति तूष्णीं स्थितः कुम्भः शिखिध्वजमवैक्षत ॥ २२ ॥
शिखिध्वजस्तु तत्सर्वं भाण्डोपस्करमाश्रमात् ।
एकत्रैवाऽऽनयामास भुवो वार्यब्धिभूरिव ॥ २३ ॥
तत्संस्थाप्येन्धनैः शुष्कैर्ज्वालयामास पावकम् ।
करैः सञ्चारवानर्कः सूर्यकान्तपदं यथा ॥ २४ ॥
भाण्डोपस्करजालं तदग्नौ त्यक्त्वा विवेश सः ।
ध्वंसिकायां जगद्धुत्वा मेरुशृङ्गे यथा रविः ॥ २५ ॥
एतावन्तं मया कालं वृत्ता यत्त्वं पतिप्रिये ! ।
अजातबुद्धिभेदेन तेनैव कृतमस्तु ते ॥ २६ ॥
भ्रान्तौ तु विनिर्वर्तिन्यां नाऽधुनोपकरोषि माम् ।
मन्त्राटव्यां चिरं भ्रान्तं विहृतं कार्यवर्त्मसु ॥ २७ ॥
दृष्टानि धर्मस्थानानि विश्राम्याम्यधुना सखि ! ।
इत्यक्षमालां ज्वलने चिक्षेपोक्त्वा शिखिध्वजः ।

जो यह करता है, यह करे । इसके लिए यही परम पावन है, ऐसा विचार कर चुपचाप अवस्थित हो यह कुम्भ ऋषि राजा शिखिध्वज की ओर देखता रहा ॥२२॥

जैसे समुद्र के उदर की नीची भूमि उन्नत पृथिवी से नदी आदि के जल का संग्रह करता है । वैसे ही राजा शिखिध्वज ने भाडादि उन सब वस्तुओं को अपने आश्रम के भीतर से लाकर उन्हें एक ही जगह उस तरह रख दिया ॥२३॥

जैसे अपनी किरणों से सङ्क्रान्त सूर्य सूर्यकान्तमणि के स्थान में अग्नि को प्रज्वलित कर दिया वैसे ही उन्हें एक जगह करके सूखी लकड़ियों के द्वारा अग्नि को उस तरह प्रज्वलित किया ॥ २४ ॥

जैसे मन्वन्तर के सन्धिप्रलय में भगवान् सूर्यदेव स्वप्रज्वलित अग्नि में संसार का हवन कर सुमेरु शिखर पर आसीन हो गये थे वैसे ही भाण्ड आदि उन सब वस्तुओं को अग्नि में छोड़कर वह अपने आसन पर उस तरह आसीन हो गया ॥ २५ ॥

हे पतिप्रिये ! मेरे इस कार्य से दूसरे को अवश्य क्लेश होगा, ऐसा विचार कर मैंने अपनी स्वार्थ साधन की बुद्धि का कभी उच्छेद न कर तुम्हें इतने समय तक जो परिवर्तन रूपी श्रम में पहुँचाया, उसी से आवश्यकता से अधिक तुम मेरी सेवा कर चुकी हो, अतः उतनी ही रहे ॥ २६ ॥

अब तो तप, जप आदि कर्तव्यरूपी भ्रान्ति के दूर चले जाने पर तुम मेरा उपकार नहीं कर सकती, इसलिए तुम्हें श्रम देना मैं उचित नहीं समझता । मैं तुम्हारे साथ मन्त्ररूपी जङ्गल में तथा क्रिया से साध्य होने वाली छोटी-छोटी सिद्धियों के पथपर बहुत दिनों तक भटकता रहा ॥ २७ ॥

कल्पान्ताग्नाविव व्योमताराली पवनोऽमलाम् ॥ २८ ॥
मया नरमृगेण त्वं चिरं वनमृगाच्च्युतम् ।
अबोधेन धृतं बृस्यामिदमेव मृगाजिनम् ॥ २९ ॥
इदानीं गच्छ तुच्छाय पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
वह्निना व्योमतां गच्छ सतारं व्योम ते समम् ॥ ३० ॥
तद्बृस्यङ्गात्कराभ्यां स धृत्वा चर्माऽजहादिति ।
नृपोऽग्नावम्बुधेर्वातो दववह्नाविवाऽचलात् ॥ ३१ ॥
महावृत्तेन भवता त्वया वारि धृतं मम ।
साधो ! कमण्डलो ! सम्यङ् न ते प्रतिकृतं कृतम् ॥३२॥
सौहृदस्य मनोज्ञस्य सौजन्यस्य स्थिरस्य च ।
साधुत्वस्य च सर्वस्य त्वमेव परमास्पदम् ॥ ३३ ॥
येनैव वह्निना देहं संशोध्याऽभ्यागतोऽसि माम् ।
तेनैव गच्छ हे मित्र ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ॥ ३४ ॥

हे सखि ! मैंने अनेक धर्मस्थान देख लिये, अब विश्राम ले रहा हूं—यह कहकर जैसे प्रलयकालाग्नि में पवन आकाश की नक्षत्रमाला फेंक देता है वैसे ही राजा शिखिध्वज ने अक्षयमाला आग में फेंक दी ॥ २८ ॥

हे मृगाजिन् ! मनुष्यरूपी मृग मैंने जङ्गली मृग से प्राप्त हुए तुम्हें बहुत दिनों तक अपने अज्ञान से इस कुशासन के ऊपर बिछाया, अब यही तुम्हारा उपकार मेरे जीवन में सदा के लिये बना रहे ॥ २९ ॥

अब तुम अपने मूलकारण माया के स्वभाव के लिए चलो, तुम्हारे अवान्तर कारणप्रविलय स्वरूप मार्ग तुम्हें काल्याणदायक हों । तुम सफेद बिन्दुओं से चित्रित हो, अतः अग्नि के रास्ते तुम आकाश स्वरूप में मिल जाओ, यह आकाश भी तुम्हारे ही सदृश सफेद चमकीले तारों से चित्रित है, यह कहकर उस राजा ने कुशासन से उस मृगचर्म को खींचकर अपने दोनों हाथों से अग्नि में वैसे ही छोड़ दिया, जैसे प्रलयकालीन वायु पर्वतों को समुद्र से खींचकर दावाग्नि में छोड़ देता है ॥ ३०, ३१ ॥

हे साधो कमण्डलो ! तुम सुन्दर गोल-मटोल आकार से युक्त बनकर मेरे लिए जल रखते रहे । तुम्हारी इस सुन्दर मैत्री और स्थिर सौजन्य का मैं अच्छी तरह प्रत्युपकार न कर सका—बदला न चुका सका । सम्पूर्ण साधुत्व का परम आस्पद तुम्हीं हो ॥ ३२, ३३ ॥

हे मित्र, जिस अग्निपथ से देह को शोधित कर मेरे पास आये हो, उसी पथ से फिर चले जाओ । हे मित्र ! तुम्हारे मार्ग काल्याणकारी हों ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा श्रोत्रियायैव कमण्डलुमदात्तदा ।
अग्नये महते वाऽपि दातव्यं साधु यद्भवेत् ॥ ३५ ॥
मूर्खस्येव मतिर्गुप्ते नित्यमेव पतस्यधः ।
उचिता ते गतिः सैव बृसीके भस्मतां व्रज ॥ ३६ ॥
इत्युक्त्वाऽऽदाय वृसिकामग्नावेव स मृद्विकाम् ।
शुद्धयर्थमासनार्थं वै चिति तत्याज भासुरे ॥ ३७ ॥
यत्त्याज्यमचिरेणैव त्यक्तव्यं किल तत्सदा ।
विस्तरः क्रियते सद्भिरुपादेये इति स्थितिः ॥ ३८ ॥

शीघ्रमग्नाविदं सर्वं भाण्डजातं त्यजाम्यहम् ।
एकवारं दहत्यग्निर्दाह्यं भवति तुष्टये ॥ ३९ ॥
साधो ! क्रियोपकरणं निष्क्रियाय त्यजाम्यहम् ।
न खेदस्तत्र कर्तव्यो नन्वयोग्यं बिभर्ति कः ॥ ४० ॥
इत्युक्तवान् झटिति भोजनभाजनाद्यं
सर्वं जुहाव वनवासविलासयोग्यम् ।
तद्भाण्डजालमनले सममेव राजा
कल्पान्ततेजसि जगज्ज्वलतीव कालः ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे सर्वत्यागकरणं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

यह कहकर उसी समय राजा शिखिध्वज ने श्रोत्रिय ब्राह्मण को कमण्डलु दे दिया। किसी अच्छी वस्तु को किसी महात्मा को दे देना चाहिए या अग्नि में जला देना चाहिए, ऐसा नियम है ॥ ३५ ॥

हे आसन ! तुम भी सदा अपने से प्रच्छन्न अधोदेश में वैसे ही गिरते हो, जैसे मूर्ख पुरुष की बुद्धि अधोगति के हेतु प्रच्छन्न पाप में गिरती है ? हे आसन् ! तुम्हारी भी वही दाहसन्तापगति उचित है, अतः भस्मरूप हो जाओ, यह कहकर उस राजा ने उस कोमल आसन को चित्त की शुद्धि के लिए तथा ब्रह्म चैतन्य में विश्रान्ति के लिए धधकती आग में छोड़ दिया ॥ ३६–३७ ॥

जो वस्तु त्याज्य है उसका शीघ्र त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि विद्यमान उन सभी वस्तुओं से संग्रह करने योग्य दूसरी वस्तु में भी विस्तार किया जाता है, ऐसी लोक में वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है ॥ ३८ ॥

हे साधो ! मैं इन सभी वस्तुओं को शीघ्र ही आग में छोड़ देता हूँ यदि इन सब को आग एक ही बार में जला देती है, तो मेरे सर्वत्याग रूपी सन्तोष के लिए बिलकुल ठीक है ॥ ३९ ॥

हे साधो कुम्भ ! मैं निष्किय होने के लिए क्रियोपयोगी सभी वस्तुओं को छोड़ रहा हूँ, इसलिए मेरे द्वारा किये गये सर्वत्याग विषय में मित्र, तुम खेद न करना; क्योंकि इस संसार में अयोग्य वस्तु को कौन ढोता-फिरता है ॥ ४० ॥

यह कहकर वनवास विलास के योग्य सम्पूर्ण भोजनपात्र आदि उस भाण्ड समूह को, जैसे धधक रही कल्पान्त की आग में काल सम्पूर्ण संसार को एक ही साथ हवन कर देता है वैसे ही एक ही साथ आग में राजा ने उस तरह हवन कर दिया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में सर्वत्यागकरण नामक कुसुमलता का बानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

९३

वसिष्ठ उवाच

अथोत्थाय ददाहाऽसौ शुष्कं तत्तृणमन्दिरम् ।
अज्ञेन स्वेन मनसा वृथा सङ्कल्पिकल्पितम् ॥ १ ॥
शिष्टं यत्किञ्चिदभवत्तत्सर्वं स शिखिध्वजः ।
असंरब्धमना मौनी क्रमेण समया धिया ॥ २ ॥
ददाह च स चिक्षेप तत्याज च बभञ्ज वा ।
भाण्डजातं स्ववसनं भोजनाद्यपि तुष्टवत् ॥ ३ ॥

श्रीवासिष्ठजी ने कहा—इसके बाद उठकर राजा शिखिध्वज ने अज्ञानी अपने मिथ्याभूत मन से सङ्कल्प कल्पित उस कुटीरूप शुष्क तृण - मन्दिर को जला दिया ॥ १ ॥

जो कुछ वस्तुएँ वहाँ बच गई थीं उन सबको— असंरब्धमना मौनी उस राजा शिखिध्वज ने क्रमशः समान बुद्धि से युक्त होकर जला दिया या इधर-उधर फेंक दिया, किसी को दे दिया या तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया। हे श्रीरामजी, आप से क्या कहूँ, अन्त में उसने अपनी लँगोटी तथा भोजनपात्र को भी नहीं रहने दिया ॥२-३॥

स बभूवाऽऽश्रमस्तस्य दृष्टनष्टजनस्थितिः ।
वीरभद्रबलध्वस्तदक्षयज्ञाश्रमोपमः ॥ ४ ॥
आश्रमात्ते मृगगणास्त्यक्तरोमन्थमुद्ययुः ।
साग्निदाहात् पुरवराद्भीतभीतजना इव ॥ ५ ॥
भाण्डजातं दहत्यग्नौ सह शुष्केन्धनेन तत् ।
केवलाकृतिस्नेहस्तुष्टिमानाह भूपतिः ॥ ६ ॥

शिखिध्वज उवाच

वासनां तत्र संत्यज्य सर्वत्यागी स्थितो ह्यहम् ।
अहो नु चिरकालेन देवपुत्र ! प्रबोधितः ॥ ७ ॥
संपन्नः केवलः शुद्धः सुखेनोद्बोधवाहनम् ।
किं नाम किल वस्त्वेतद्भवेत्साङ्कल्पिकक्रमम् ॥ ८ ॥
यावद्यावत्प्रहीयन्ते विविधा बन्धहेतवः ।
तावत्तावत्समायाति परमां निर्वृतिं मनः ॥ ९ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखितोऽस्मि जयाम्यहम् ।
विबन्धाः प्रलयं याताः सर्वत्यागो मया कृतः ॥ १० ॥
दिगम्बरो दिक्सदनो दिक्समोऽयमहं स्थितः ।
देवपुत्र ! महात्यागात्किमन्यदवशिष्यते ॥ ११ ॥

कुम्भ उवाच

सर्वमेव न सन्त्यक्तं त्वया राजन् ! शिखिध्वज ! ।
सर्वत्यागपरानन्दे मा मुधाऽभिनयं कुरु ॥ १२ ॥
तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
यं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुतवता तेन किञ्चित्सञ्चिन्त्य भूभृता ।
इदमुक्तं महाबाहो ! राम ! राजीवलोचन ! ॥ १४ ॥

शिखिध्वज उवाच

इन्द्रियव्यालसंघातो रक्तमांसमयाकृतिः ।
शिष्यते सर्वसन्त्यागे देहो मे देवतात्मज ! ॥ १५ ॥
तदुत्थाय पुनर्देहं भृगुपातादविघ्नतः ।
विनाशात्मकतां नीत्वा सर्वत्यागी भवाम्यम् ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा देहमग्रस्थे श्वभ्रे त्यक्तुमसौ जवात् ।
करोति यावदुत्थानं तावत्कुम्भोऽप्युवाच ह ॥ १७ ॥

राजा शिखिध्वज के उस आश्रम से, जहाँ अनेक जन पहले देखे गये थे, आज वे सब लोग विलुप्त हो गये; वह वीरभद्र के बल से ध्वस्त दक्ष के यक्ष के आश्रम के समान हो गया ॥ ४ ॥

जैसे अग्निदाह से युक्त किसी श्रेष्ठ नगर से अत्यन्त भयभीत होकर मनुष्य भागने लगते हैं वैसे ही वे मृगों के झुण्ड जुगाली छोड़-छोड़कर आश्रम से भागने लगे ॥५॥

सुखी लकड़ी के साथ जब वह सम्पूर्ण पात्र आदि अग्नि में जल रहा था तब देहमात्रावशिष्ट, स्नेह शून्य सन्तुष्ट राजा ने कहा ॥ ६ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे देवपुत्र ! चिरकाल के बाद आप से ज्ञान पाकर सब वस्तुओं में ममता छोड़कर अब मैं सर्वत्यागी बनकर स्थित हूँ ॥ ७ ॥

अब मैं केवल, शुद्ध सुख से सम्पन्न ज्ञानवान् हो गया हूँ । ममतासङ्कल्प प्रयुक्त संग्रहक्रम सम्पन्न सब सामान किस काम का ? अर्थात् सारहीन पदार्थ के पास में रखने से क्या लाभ है ? ॥ ८ ॥

जैसे-जैसे विविध बन्धन के हेतु विषय छूटते जाते हैं, वैसे मेरा मन परम आनन्द को प्राप्त होता जाता है ॥ ९ ॥

मैं शान्ति प्राप्त कर रहा हूँ, परमानन्द स्वरूप को प्राप्त कर रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ, अतः मैं अब खूब सुखी हूँ । अब मैंने सर्वत्यागकिया है । मेरे विविध बन्धन नष्ट हो चुके ॥ १० ॥

हे देवपुत्र ! देखिये, दिगम्बर दिक्सदन और दिशाओं के समान यह स्थित हूँ । कहिए, महात्याग करने से अब और अधिक क्या शेष है ? ॥ ११ ॥

कुम्भ ने कहा—हे राजन् शिखिध्वज ! अभी आपने सभी पदार्थों का अच्छी तरह त्याग नहीं किया है । सर्व त्यागजन्य परमानन्द में झूंठ-मूठ का अभिनय न करें ॥१२॥

सबसे उत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया है जिसका त्याग कर आप परम निःशेष विशोकता को प्राप्त करेंगे ॥ १३ ॥

महाराज श्रीवासिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो ! हे राजीवलोचन ! श्रीरामजी ! यह सुनकर उस महीपति ने कुछ सोचकर यह कहा ॥ १४ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे देवपुत्र ! इन्द्रियरूपी दुष्ट साँपों के समूह से युक्त तथा रक्त-मांसमय आकारवाला यह मेरा शरीर अभी सर्वत्याग में बाकी रह गया है ॥१५॥

इसलिए फिर उठकर बिना विघ्न के इस शरीर को भृगुपात से विनाशरूपता में पहुँचकर मैं सर्वत्यागी हो रहा हूँ ॥ १६ ॥

महाराज वासिष्ठजी ने कहा—यह कहकर अपना शरीर छोड़ने के लिए सामने स्थित खन्दक में गिरने के

कुम्भ उवाच

राजन्किमिति देहं त्वं निरागस्कं महावटे ।
त्यजस्यज्ञो हि वृषभः कुपितो हन्ति तर्णकम् ॥ १८ ॥
जडो वराको मूकात्मा ध्यानवानवतिष्ठते ।
न कश्चन तवैतस्मिन्मा मुधैव तनुं त्यज ॥ १९ ॥
आत्मन्येवैष मूकात्मा ध्यानवानवतिष्ठते ।
सञ्चाल्यते परेणैव तरङ्गेणेव काष्ठकम् ॥ २० ॥
क्षोभयत्यन्य एवैनं निग्रहार्हो मुहुर्बलात् ।
तपस्विनं यथैकान्तं संस्थितं मत्ततस्करः ॥ २१ ॥
सुखदुःखादिभूत्या हि नाऽपराधि शरीरकम् ।
नाऽऽत्मनः फलवानात्मस्पन्दे वृक्षोऽपराधवान् ॥ २२ ॥
वातः फलशिरःपुष्पपातनं कुरुते स्फुरन् ।
तरुणा साधुना साधोरपराद्धं किमात्मनः ॥ २३ ॥
त्यक्तेनाऽपि शरीरेण किल तामरसेक्षण ! ।
सर्वत्यागो न ते याति निष्पत्तिं विषमो हि सः ॥ २४ ॥
भृगौ केवलमेतत्त्वं निरागस्कं शरीरकम् ।
मुधा क्षिपसि नो देहत्यागे तत्त्यागिता भवेत् ॥ २५ ॥
येनाऽयं क्षोभ्यते देहो मत्तेभेनेव पादपः ।
तत्संत्यजसि चेत्पापं तन्महात्यागवान् भवान् ॥ २६ ॥
तस्मिंस्त्यक्ते भवेत्त्यक्तं सर्वं देहादि भूपते ! ।
नो चेन्निमग्नमप्येतेतद्भूयो भूयः प्ररोहति ॥ २७ ॥

शिखिध्वज उवाच

केनाऽयं चाल्यते देहः किं बीजं जन्मकर्मणाम् ।
कस्मिंस्त्यक्ते परित्यक्तं सर्वं भवति सुन्दर ! ॥ २८ ॥

कुम्भ उवाच

साधो ! न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च ।
न चोटजादिशोषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप ! ॥ २९ ॥

लिए ज्यों ही राजा शिखिध्वज उठकर शीघ्रता से बढ़े, तब कुम्भऋषि ने कहा ॥ १७ ॥

कुम्भ ऋषि ने कहा—हे राजन् ! क्यों इस निरपराधी देह को इतने बड़े भयङ्कर खन्दन में छोड़ रहे हैं। आप तो उस अज्ञानी क्रोधी बैल के समान मालूम पड़ते हैं, जो अपने बछड़े को ही मारता है ॥ १८ ॥

यह बेचारा तपस्वी शरीर तो जड़ और मूक है। इसने आपका कोई अपराध नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही इस शरीर का त्याग न करें ॥ १९ ॥

यह मूकात्मा अपने आत्मा में ही ध्यानवान् होकर अवस्थित रहता है। जैसे तरङ्ग से काष्ठ सञ्चालित किया किया जाता है वैसे ही यह दूसरे के ही द्वारा सञ्चालित किया जाता है ॥ २० ॥

इस आत्मा को भी कोई दूसरा ही बराबार बलपूर्वक उन्मत्त चोर वैसे ही क्षोभ पहुँचता है, जैसे एकान्त में अवस्थित तपस्वी को उन्मत्त चोर बलपूर्वक बारबार क्षोभ पहुँचाता है अतः वही दण्ड देने योग्य है ॥ २१ ॥

सुख, दुःख आदि का उद्भवस्थान होने मात्र से शरीर अपराधी नहीं हो सकता है; क्योंकि फलवान् वृक्ष के वायु द्वारा आत्मस्पन्दन अर्थात् फल आदि का पतन होनेपर फलवान् वृक्ष के अभिमानी आत्मा का कोई अपराध नहीं माना जा सकता है ॥ २२ ॥

स्पन्दनशील वायु ही, फल, ऊपर के पल्लव, पुष्प आदि को बलपूर्वक गिराता है, इसलिये वायु का ही अपराध मानना चाहिए, बेचारे साधु वृक्ष का क्या अपराध है, बस इसी तरह साधु शरीर ने साधु आत्मा का कौन अपराध किया है ? ॥ २३ ॥

हे कमलनेत्र ! शरीर का त्याग करने से भी तुम्हारा सर्वत्याग सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि वह विषम है देहत्यागरूप सर्वत्याग करने पर अधिकारी को देह न मिलने के कारण ज्ञान की सम्भावना ही नहीं हो सकती है, इस लिए उसका त्याग करना सर्वथा अनुचित है ॥ २४ ॥

आप निरपराधी इस शरीर को व्यर्थ ही खन्दक में फेंक रहे हैं, क्योंकि देह छोड़ देनेपर देहक्षोभक अहङ्कार का त्याग नहीं सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

जैसे मत्त हाथी वृक्ष को क्षुब्ध करता है वैसे ही जिसके द्वारा देह क्षुब्ध हो जाती है उस पापात्मा का यदि त्याग करते हैं, तो सचमुच आप बड़े ही त्यागी हैं ॥ २६ ॥

हे भूपते ! उस पाप का परित्याग करने पर ही देह आदि सब कुछ अपने आप परित्यक्त हो जाता है। यदि उसका परित्याग नहीं करते, तो भृगुपात आदि से नाशित भी देह आदि उस देहक्षोभक जन्मादि के हेतु पापात्मा के अहङ्कार से बार-बार उत्पन्न होता ही रहेगा ॥ २७ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे सुन्दर ! यह देह किस के द्वारा चालित होती है, जन्मादि विकारों का बीज क्या क्या है, और किसका त्याग कर देनेपर सब कुछ परित्यक्त हो जाता है ? ॥ २८ ॥

कुम्भ ऋषि ने कहा—हे साधो ! हे राजन् ! देह के त्याग से राज्य के त्याग से और कुटिया नष्ट कर देने से सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता है ॥ २९ ॥

यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे ।
सर्वस्मिन्सम्परित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ ३० ॥

शिखिध्वज उवाच

सर्वं सर्वगतं सर्वहेयं त्याज्यं च सर्वदा ।
सर्वं किमुच्यते ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ! ॥ ३१ ॥

कुम्भ उवाच

साधो सर्वगताकारं जीवप्राणादिनामकम् ।
न जडं नाऽजडं भ्रान्तं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥ ३२ ॥
चित्तमेव भ्रमं विद्धि विद्धि चेतो नरं नृप ।
चित्तं विद्धि जगज्जालं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥ ३३ ॥
राज्यादेरथ देहादेराश्रमादेर्महीपते ! ।
सर्वस्यैव मनो बीजं तरुबीजं तरोरिव ॥ ३४ ॥
सर्वस्य बीजे सन्त्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम् ।
सम्भवासम्भवाद्भूप ! सर्वत्यागो भवेदिति ॥ ३५ ॥

जो समस्त वासनाओं का आश्रय होने के कारण सर्वात्मक है, सब विषयों में जिसकी पहुँच होने के कारण जो सर्वव्यापी है, उस सङ्कल्प के द्वारा सब के एकमात्र कारणभूत सर्वात्मा का परित्याग कर देनेपर सर्वत्याग सिद्ध होगा ॥ ३० ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे सर्वतत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ ! सब जगह छोड़ने योग्य और सर्वदा त्याग ने योग्य सर्वात्मक वस्तु कौन कही जाती है ? उसे करें ॥ ३१ ॥

कुम्भ ऋषि ने कहा—हे साधो ! सर्वव्यापी आकार वाला तथा जीव, प्राण आदि नामवाला अर्थात् चिति की प्रधानता से जीवनामवाला और क्रिया की प्रधानता से प्राणनामवाला चित्त यह सर्व शब्द से कहा गया है । वह चित्त न जड़ है, न अजड़ है, किन्तु अनेक भ्रमों से व्याप्त है ॥ ३२ ॥

चित्त को ही भ्रम जानें, चित्त को ही व्यवहार करने वाला पुरुष समझें और चित्त को ही जगज्जाल जानें। यह चित्त ही सर्वात्मक वस्तु है ॥ ३३ ॥

हे महीपते ! यह मन राज्य आदि, देह आदि तथा आश्रम आदि वैसे ही सबका बीज है जैसे वृक्ष का बीज वृक्ष हैं ॥ ३४ ॥

हे भूप ! सबके बीजभूत मन का त्याग होनेपर सब का सर्वथा त्याग हो जाता है । उसके त्याग से ही सर्वत्याग संभव है और उसके अत्याग से सर्वत्याग संभव नहीं है ॥ ३५ ॥

सर्वधर्मा अधर्मा वा राज्यादि विपिनादि वा ।
सचित्तस्य परं दुःखं निश्चित्तस्य परं सुखम् ॥ ३६ ॥
इदं विवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
देहाद्याकारजालेन बीजं वृक्षतया यथा ॥ ३७ ॥
पादपः पवनेनेव भूकम्पेनेव पर्वतः ।
भस्त्रा भस्त्राभरेणाऽयं देहश्चित्तेन चाल्यते ॥ ३८ ॥
सर्वभूतोपभोगानां जरामरणजन्मनाम् ।
महामुनीनां सुदृढं चित्तं विद्धि समुद्गकम् ॥ ३९ ॥
इदं प्रवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
देहाद्याकारजालेन चित्तं जीवो मनोमयम् ॥ ४० ॥
बुद्धिर्महदहङ्कारां प्राणाश्चेत्यादिभिर्मुने ! ।
क्रियानुरूपैरभिधाव्यापारैः शान्तमुच्यते ॥ ४१ ॥
चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तस्मिंस्त्यक्ते महीपते ! ।
सर्वाधिव्याधिसीमान्तः सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ ४२ ॥

समस्त धर्म या अधर्म, राज्य या जङ्गल आदि—ये सब सचित्त पुरुष के लिए केवल दुःखरूप ही हैं और चित्त हीन पुरुष के लिए तो ये सबके सब परम सुखस्वरूप हैं ॥ ३६ ॥

जैसे वृक्षरूप से बीज परिणत होता है वैसे ही सम्पूर्ण जगत् तथा देहादि आकार के समूहरूप से यह सब चित्त ही परिणत होता है ॥ ३७ ॥

जिस तरह पवन से वृक्ष, भूकम्प से पर्वत और लोहार से भाथी सञ्चालित है, उसी तरह चित्त से यह देह वैसे ही सञ्चालित होती है ॥ ३८ ॥

सम्पूर्ण जीवों के उपयोग, जरा, मरण आदि देह के धर्मों और महामुनियों के शम, दम आदि धर्मों की सुदृढ़ पिटारी आप चित्त को ही जानें ॥ ३९ ॥

जगत् तथा देहादि आकार के समूहरूप से यह सब चित्त ही परिणत है । चित्त ही मनोमय जीव है । अर्थात् अशान्त चित्त ही मनन करने से मनोमय और आभ्यन्तर प्राण की चेष्टा से जीव बनकर बाहर स्थूल शरीर तथा शारीरिक व्यवहारादि आकार के समूहरूप से परिणत होता है ॥ ४० ॥

वही अन्तःकरण शान्त, बुद्धि, महत्, अहङ्कार, प्राण और प्राज्ञात्मा इत्यादि क्रिया के अनुरूप नाम-व्यापारों से लोक कहा जाता है ॥ ४१ ॥

हे महीपते ! चित्त ही सब कुछ है, अतः उसका त्याग करने से समस्त आधि और व्याधि की सीमा का विनाशरूप सर्वत्याग सिद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं त्यागविदां वर ! ।
तस्मिन् सिद्धे महाबाहो ! सत्यं किं नाऽनुभूयते ॥ ४३ ॥
चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।
शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ॥ ४४ ॥
अस्याश्चित्तं विदुः क्षेत्रं संसृतेः सस्यसन्ततेः ।
क्षेत्रे त्वक्षेत्रतां याते शालेः क इव सम्भवः ॥ ४५ ॥
चित्तमेव विचित्रेहं भावाभावविलासिना ।
विवर्ततेऽर्थभावेन जलमूर्मितया यथा ॥ ४६ ॥
चित्तोत्सादनरूपेण सर्वत्यागेन भूपते ! ।
सर्वमासाद्यते सम्यक्साम्राज्येनेव सर्वदा ॥ ४७ ॥
सर्वत्यागस्य विषयो यथैवाऽन्योऽस्ति ते तथा ।
त्वमप्यन्यस्य भवसि त्यागिन् ! गृह्णासि वै नृप ! ॥४८॥
सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम् ।
सर्वमन्तःकृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम् ॥ ४९ ॥
येन सर्वं परित्यक्तं तस्मिञ्छून्येऽपि संस्थितम् ।
जगत्सर्वं त्रिकालस्थं तन्तौ मुक्तावली यथा ॥ ५० ॥
अस्नेहेनेव दीपेन येन सर्वं समुज्जितम् ।
सस्नेहेनेव दीपेन तेन सर्वं प्रकाशितम् ॥ ५१ ॥
स्थितं सर्वं परित्यज्य यः शेतेऽस्नेहदीपवत् ।
स राजते प्रकाशात्मा समः सस्नेहदीपवत् ॥ ५२ ॥
समस्तवस्तुनिष्कासे यथा त्वमवशिष्यसे ।
सर्वत्यागे कृते तादृग्विज्ञानमवशिष्यते ॥ ५३ ॥

हे त्यागविदों में श्रेष्ठ राजन् ! चित्त के त्याग को सर्वत्याग कहते हैं, इसलिए हे महाबाहो ! उसके सिद्ध हो जानेपर परमार्थभूत भूमानन्दस्वरूप सत्य पदार्थ का क्या अनुभव नहीं होता है ॥ ४३ ॥

चित्त के त्यक्त हो जानेपर कार्यविभाग के आविर्भाव की परम्परारूप द्वैत और कारण में तिरोभाव का क्रमरूप ऐक्य भी चारों ओर से लय को प्राप्त हो जाता है और परम शान्त, स्वच्छ तथा निरामय एक पद अवशिष्ट रह जाता है ॥ ४४ ॥

चित्त ही इस संसाररूपी सस्यसन्तति का खेत है। यदि खेत अखेतरूप में परिणत हो जाय तो धान की उत्पत्ति कहाँ से होगी अर्थात् नहीं होगी ॥ ४५ ॥

जैसे जल तरङ्गरूप से परिणत होता है वैसे ही विचित्र चेष्टाओं से युक्त यह चित्त ही भाव और अभाव का आकार धारण कर पदार्थों के रूप से परिणत होता है ॥ ४६ ॥

हे भूपते ! जैसे साम्राज्य से सब कुछ भली-भाँति प्राप्त किया जाता है वैसे ही चित्तनाशरूप सर्वत्याग से सर्वदा सब कुछ अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है ॥ ४७ ॥

हे त्यागिन् ! परिच्छिन्नात्मक आपके सर्व त्याग का विषय जैसे अन्य है, वैसे ही आपको त्याग देने वाले किसी दूसरे त्यागी के त्याग के विषय आप भी हैं। ऐसी दशा में त्याज्य का ही आत्म रूप से आप ग्रहण कर रहे हैं, इसी से आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता है ॥ ४८ ॥

जिसने सर्वत्याग किया है उसने तीनों काल के समस्त जगत् को वैसे ही अपने भीतर कर लिया है जैसे मुक्ताफल सूत को अपने अन्दर कर लेता है अर्थात् अपरिच्छिन्न आत्मा का ग्रहण करने पर तो आप ही सबकी आत्मा ठहरते हैं, इसलिए किसी दूसरे के द्वारा आपका त्याग न होने के कारण त्याज्य कोटि में अप्रविष्ट आप जब सर्वत्याग करने लगेंगे, तब सबको आपने अधीन बना कर ग्रहण कर ही लिया ॥ ४९ ॥

जिसने सर्वत्याग किया है उस शून्य स्वरूप में, तन्तु में मोतियों की तरह, तीनों कालों में अवस्थित सम्पूर्ण जगत् अवस्थित है। अर्थात् सब कुछ छोड़कर सर्वशून्य-स्वरूप त्यागी होनेपर भी उसके द्वारा छोड़ा गया जगत्—अन्य आश्रय न मिलने के कारण—उसी का आश्रयण कर व्यवहारपर्यन्त सत्तास्फूर्ति प्राप्त करेगा इसलिए व्यवहारियों की दृष्टि से त्रिकाल में रहनेवाले सब पदार्थों को वही प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

स्नेहरहित दीपक की तरह निर्वाणपद को प्राप्त अनासक्ति से सबको छोड़ने वाला स्नेहसहित दीपक की तरह प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप सबको प्रकाशित करता है अर्थात् सर्वत्याग होनेपर सबका बाध हो जाने के कारण परमार्थ दृष्टि से आत्यन्तिक स्नेह का क्षय होने से बुझे हुए दीपक का दृष्टान्त तथा सर्वगतस्वरूप की ज्योति से सम्पूर्ण व्यवहारों का प्रकाश होने के कारण व्यवहार दृष्टि से स्नेहसहित दीपक है ॥ ५१ ॥

प्रतीयमान सबका परित्याग कर स्नेहरहित दीपक की तरह निर्वाणपद में अवस्थित सर्वरूप प्रकाशात्मा स्नेह-सहित दीपक की तरह प्रकाशमान रहता है ॥ ५२ ॥

जैसे राज्यादि सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग कर देनेपर अकेले आप अवशिष्ट रह गये हैं वैसे ही सबका त्यागकर देनेपर विज्ञानात्मा ही एक अवशिष्ट रह जाता है ॥ ५३ ॥

समस्तवस्तुदाहेऽपि यथा त्वं नेतरो नृप ! ।
सर्वत्यागत एवाऽङ्ग तथा निर्वाणमुच्यते ॥ ५४ ॥
सर्वत्यागे हि शून्यात्मा आश्रयः सर्वसंविदाम् ।
अनन्तानामुदाराणां खमिवेदं दिवौकसाम् ॥ ५५ ॥
सर्वत्यागरसापाने जरामरणभीतयः ।
न काश्चन प्रबाधन्ते खस्येव व्योमलेखिकाः ॥ ५६ ॥
सर्वत्यागो महत्त्वस्य कारणं निर्मलद्युतेः ।
सर्वं त्यजसि चेद्यस्मादुबुद्धिस्थैर्यं बृहत्तमम् ॥ ५७ ॥
सर्वत्यागः परानन्दो दुःखमन्यत्सुदारुणम् ।
इत्योमित्युररीकृत्य यदिच्छसि तदाचर ॥ ५८ ॥
सर्वं त्यजति यस्तस्य सर्वमेवोपतिष्ठते ।
यथैवाऽम्बु विशत्यग्नौ तथैवाऽऽयाति वारिधौ ॥ ५९ ॥
सर्वत्यागान्तरेवाऽस्ति ज्ञानमात्मप्रसादकम् ।
यच्छून्यं किल भाण्डस्य तत्र रत्नादि तिष्ठति ॥ ६० ॥
सर्वत्यागवशादेव हतकाले कलावपि ।
शाक्येन विगताशङ्कं मुनिना मेरुवत् स्थितम् ॥ ६१ ॥
सर्वत्यागो महाराज ! सर्वसम्पत्समाश्रयः ।
न गृह्णाति हि यत्किञ्चित्सर्वं तस्मै प्रदीयते ॥ ६२ ॥
कृत्वा सर्वपरित्यागं शान्तः स्वस्थो वियत्समः ।
सौम्यो भवसि यद्रूपस्तद्रूपो भव भूपते ! ॥ ६३ ॥
सर्वं परित्यज्य महास्वभाव
त्यजस्यथो येन च तद्विहाय ।
त्यागाभिमानं च मलं विमुच्य
विमुक्तरूपो भव भूमिपाल ! ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजावबोधनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

हे प्रिय ! समस्त वस्तुओं के जल जानेपर भी सर्वत्याग से होनेवाला परम पुरुषार्थरूप मोक्ष भी आपसे वैसे ही भिन्न नहीं होगा, ऐसा हम कहते हैं जैसे आप अन्य नहीं हुए ॥ ५४ ॥

[पुरुषार्थ के परित्यक्त सब प्रपञ्चों से शून्य होनेपर भी सम्पूर्ण संविदों का उसमें अन्तर्भाव है ही, इसलिए उसमें जाड्य की प्रसक्ति नहीं है ।]

समस्त प्रपञ्चों का त्याग कर देनेपर शून्यात्मक वह चितिस्वरूप मोक्ष सम्पूर्ण ज्ञानों का आश्रय उस प्रकार है, जिस प्रकार अनन्त, उदार सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देवताओं का आश्रयस्थान यह आकाश है ॥ ५५ ॥

जैसे असङ्ग और उदासीन आकाश को कोई भी टाँकियां किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचातीं वैसे ही सर्वत्यागरूपी रस का थोड़ा भी आस्वाद लेनेपर पुरुष को जरामरण की भीतियाँ किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचातीं ॥ ५६ ॥

जिससे निर्मल स्वरूपस्फूर्ति प्राप्त होती है उस महत्त्व का कारण सर्वत्याग ही है । आप सबका त्याग कर रहे हैं, इसीलिए आपकी बुद्धि में बहुत दृढ़ स्थिरता आ रही है ॥ ५७ ॥

सर्वत्याग ही परमानन्द है, इसके अतिरिक्त और सब कुछ भयङ्कर दुःखरूप है—इसे विचारपूर्वक 'ॐ' को स्वीकार कर आप उसी का आचरण करें जिसे चाह रहे हैं ॥ ५८ ॥

सबका त्याग करने वाला पुरुष के पास प्रारब्ध द्वारा सम्पूर्ण विभवसमूह उस तरह उपस्थित होता है, जैसे ज्यों-ज्यों बडवाग्नि में जल प्रविष्ट होता है, त्यों-त्यों समुद्र में नदियों से जल आता ही रहता है ॥ ५९ ॥

अज्ञान और उसके कार्य के त्याग के भीतर आत्मप्रसादक ज्ञान अवश्य उपस्थित रहता है । यह प्रसिद्ध है कि पात्र के भीतर जो शून्य स्थान होता है वहीं रत्नादि रहता है ॥ ६० ॥

अत्यन्त पापिष्ठ कलिकाल में भी वेदों से बहिष्कृत होने के कारण अति नीच भी वह शाक्य मुनि सर्वत्याग के कारण ही निःशङ्क होकर सुमेरु के समान अवस्थित था । अर्थात् हे राजन्, तब तो इस पुण्यमय द्वापर काल में वेदमार्ग का अवलम्बन करनेवाले पुण्यतम आपको निःशङ्क होकर आकाश के समान अवस्थित रहना ही चाहिए ॥६१॥

हे महाराज, सर्वत्याग सम्पूर्ण सम्पत्तियों का निवासस्थान है, जो कुछ नहीं लेता उसे सब कुछ दिया जाता है ॥६२॥

हे भूपते ! सबका परित्याग करके शान्त, स्वस्थ और आकाश के समान सौम्य रूप आप तद्रूप ही हो जाइये ॥ ६३ ॥

हे भूमिपाल ! आप पहले त्याज्य पदार्थ का मनसा परित्याग कर, अनन्तर जिस मन से उसका परित्याग कर रहे हैं उस मन का त्यागकर उसके बाद त्यागाभिमानरूप अहङ्कार के मल का भी त्याग कर जीवन्मुक्तरूप हो जायें ॥ ६४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वज-अवबोधन नामक कुसुमलता का तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९३ ॥

९४

वसिष्ठ उवाच

एवं वदति वै कुम्भे चित्तत्यागं मुहुर्मुहुः ।
अन्तर्विचारयन् सौम्यो राजा वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शिखिध्वज उवाच

हृदयाकाशविहगो हृदयद्रुममर्कटः ।
भूयो भूयो निरस्तं हि समभ्येत्येव मे मनः ॥ २ ॥
जानामि चैतदादातुं मत्स्यं जाल इवाऽऽकुलम् ।
त्यागमस्य न जानामि चित्तं द्रव्यमिवोत्तम ! ॥ ३ ॥
चित्तस्याऽऽदौ स्वरूपं मे यथावद्भगवन् वद ! ।
ततश्चित्तपरित्यागं यथावद्वद मे प्रभो ! ॥ ४ ॥

कुम्भ उवाच

वासनैव महाराज ! स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥ ५ ॥
त्यागस्तस्याऽतिसुकरः सुसाध्यः स्पन्दनादपि ।
राज्यादप्यधिकानन्दः कुसुमादपि सुन्दरः ॥ ६ ॥
मूर्खस्य तु मनस्त्यागो नूनं दुःसाध्यतां गतः ।
पामरस्येव साम्राज्यं तृणस्येव सुमेरुता ॥ ७ ॥

शिखिध्वज उवाच

स्वरूपं वेद्मि चित्तस्य वासनामयमाकुलम् ।
त्यागः स मन्ये दुःसाध्यो वज्रनिर्गिलनादपि ॥ ८ ॥
संसृत्यामोदपुष्पस्य दुःखदाहानलस्य च ।
जगदब्जमृणालस्य मोहमारुतखस्य च ॥ ९ ॥
शरीरयन्त्रवाहस्य हृत्पद्मभ्रमरस्य च ।
अयत्नाच्चेतसस्त्यागो यथा भवति तद्वद ॥ १० ॥

कुम्भ उवाच

सर्वनाशोऽस्य यः साधो चेतसः संसृतिक्षयः ।
स एव चित्तसंत्याग इत्युक्तं दीर्घदर्शिभिः ॥ ११ ॥

९४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह चित्त के परित्याग का उपाय कुम्भ ऋषि के. बतानेपर अपने अन्तःकरण में बार-बार विचार कर रहा उस सौम्य राजा शिखिध्वज ने यह वचन कहा ॥ १ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हृदयरूपी आकाश का पक्षी और अन्तःकरणरूपी वृक्ष का बन्दर यह मन बार-बार मेरे द्वारा दूर कर दिये जानेपर भी फिर समीप आ ही जाता है ॥ २ ॥

हे उत्तम ! जैसे जाल व्याकुल मछली को पकड़ लेता है वैसे ही इस चित्त को पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परन्तु इसका त्याग मैं, द्रव्य की तरह इसमें मूर्तत्व का अभाव होने से, नहीं जानता ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! आप मुझे पहले चित्त का स्वरूप ठीक-ठीक कहिये । इसके बाद हे प्रभो ! चित्त के परित्याग की यथावत् विधि बतलाइये ॥ ४ ॥

कुम्भ ने कहा—हे महाराज ! वासना ही चित्त का स्वरूप है, यह जान लें। चित्तशब्द वासना का पर्याय कहा गया है ॥ ५ ॥

उसका त्याग अत्यन्त सरल है केवल औदासीन्य का अवलम्बन करने से सिद्धि होती है, अतएव स्पन्दन की अपेक्षा भी वह सुखसाध्य है, राज्य की अपेक्षा उसमें अधिक आनन्द है और कुसुम की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी है ॥ ६ ॥

जैसे पामर के लिए साम्राज्य और तृण के लिए सुमेरुरूपता प्राप्त करना दुःसाध्य है वैसे ही मूर्ख के लिए तो चित्त का परित्याग करना दुःसाध्य है ॥ ७ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—आपके वचन से चित्त का स्वरूप वासनामय तथा विविध उपद्रवों का जनक है, यह तो जानता हूँ, परन्तु उसका परित्याग वज्र को निगल जाने की अपेक्षा भी अत्यन्त कठिन मानता हूँ, क्योंकि मूर्खता की स्थित में औदासीन्यावलम्बन किसी भी तरह नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

यह चित्त संसाररूपी आमोदयुक्त पुष्प और दुःखरूपी दाहजनक अग्नि है तथा जगद्रूपी कमल का मृणाल है, मोहरूपी वायु का आकाश है ॥ ९ ॥

यह चित्र शरीररूपी यन्त्र का चालक है और हृदयरूपी कमल का भ्रमर है। इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह कहें ॥ १० ॥

कुम्भ ने कहा—हे साधो ! मूलसहित इस चित्त का नाश ही संसार का भी नाश है, वही चित्त का सम्यक् त्याग है । बाह्य पदार्थों के त्याग के समान केवल ममता की निवृत्ति चित्त का सम्यक् त्याग नहीं है—ऐसा अपरिच्छिन्न आत्मदर्शियों ने कहा है ॥ ११ ॥

शिखिध्वज उवाच

चित्तत्यागादहं मन्ये चित्तनाशः सुसिद्धये ।
अभावः शतशो व्याधेः कथमस्याऽनुभूयते ॥ १२ ॥

कुम्भ उवाच

अहंबीजश्चित्तद्रुमः सशाखाफलपल्लवः ।
उन्मूलय समूलं तमाकाशहृदयो भव ॥ १३ ॥

शिखिध्वज उवाच

चेतसः किं मुने ! मूलं कोऽङ्कुरः कोऽस्य सम्भवः ।
का शाखाः के च वा स्कन्धाः कथमुन्मूल्यते च सः ।१४।

कुम्भ उवाच

अहमर्थोदयो योऽयं स चित्तावेदनात्मकः ।
एतच्चित्तद्रुमस्याऽस्य विद्धि बीजं महामते ! ॥ १५ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मुने ! उत्तम सिद्धि के लिए मैं चित्तत्याग से तो अच्छा चित्तनाश ही समझता हूँ, परन्तु सैकड़ों व्याधि मूलस्थान इस चित्त का अभाव कैसे अनुभूत होता है। अर्थात् चित्त एक तरह की व्याधि है और व्याधि का अभाव सैकड़ों बार ममता निवृत्तिरूपी त्याग से किसी तरह दूर हुआ अनुभूत नहीं होता है किन्तु चिकित्सा द्वारा नाश कर देने से ही अनुभूत होता है अतः उसके विनाश के लिए उसके मूल, शाखा और पल्लव आदि सभी को कहें ॥ १२ ॥

कुम्भ ने कहा—शाखा, फल और पल्लवों से युक्त चित्तरूपी वृक्ष का अहं अर्थात् अज्ञात आत्मा ही बीज है। अतः आप समूल उस वृक्ष को उखाड़ फेंकें और अपना हृदय आकाश के समान आवरणशून्य बना डालें ॥ १३ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मुने ! चित्त का मूल क्या है, अङ्कुर क्या है और उसका खेत कौन है। इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह समूल कैसे उखाड़ फेंक दिया जाता है ॥ १४ ॥

कुम्भ ने कहा—हे महामते ! अहमर्थ से—अज्ञातात्मा से—उदित यह हृदय वेदनात्मक अभिमानी प्रसिद्ध ही इस चित्तरूपी वृक्ष का बीज (मूल) है, इसे आप जान लें ॥ १५ ॥

परमात्मपद माया अर्थात् परमात्मा की माया ही इस मायामय प्रपञ्च का खेत है। इस प्रथम उत्पन्न मूल से परिच्छिन्न 'मैं' इस तरह का निश्चयरूप चिदाभास से व्याप्त होने के कारण, अनुभव ही इसका अङ्कुर है ॥१६॥

परमात्मपदं क्षेत्रं क्षेत्रं मायामयस्य तत् ।
एतस्मात्प्रथमोद्भिन्नादङ्कुरोऽनुभवाकृतिः ॥ १६ ॥
निश्चयात्मा निराकारो बुद्धिरित्येव सोच्यते ।
अस्य बुद्ध्यभिधानस्य याऽङ्कुरस्य प्रपीनता ॥ १७ ॥
सङ्कल्परूपिणी तस्याश्चित्तनाम मनोभिधा ।
जीवो मिथ्योपलम्भात्मा शून्यात्मा ह्युपलोपमः ॥१८॥
स्तम्भः कायोऽयमेतस्य स्नाय्वस्थिरसरञ्जितः ।
देशान्तरेऽङ्कुरोद्देशे कालस्पन्दोऽस्य वासना ॥ १९ ॥
शाखा याश्चित्तवृक्षस्य दीर्घा दूरगतास्तताः ।
इन्द्रियाण्यल्पभोगाश्च भावाभावात्मयोनयः ॥ २० ॥
विटपौघा महान्तोऽस्य शुभाशुभफलाकुलाः ।
ईदृशस्याऽस्य चित्तस्य दुर्वृक्षस्य प्रतिक्षणम् ॥
शाखाविलवनं कुर्वन् मूलकाषे भरं कुरु ॥ २१ ॥

[उस अङ्कुर की ही वृद्धि से चित्तरूपी वृक्ष के रूप में परिणति होती है, यह कहते हैं—'निश्चयात्मा' इत्यादिसे।]

निर्विकार निश्चयात्मक जो अनुभव है वही बुद्धि कही जाती है। इस बुद्धिनामधारी अङ्कुर की उत्पन्न सङ्कल्प-स्वरूप पीनता करती चित्त और मन वह नाम है। परमार्थतः विकाररहित होने से सर्वविकार शून्यस्वरूप पत्थर के सदृश तथा मिथ्याभूत चित्त और चित्त के धर्मों के सम्बन्ध का साक्षी इसका साक्षी है ॥ १७-१८ ॥

यानी मूल से लेकर शाखा पर्यन्त मध्य-प्रदेश यह शरीर ही है इसका स्तम्भ वह नाडियों, हड्डियों और रसों (रक्तों) से रञ्जित है। मूलस्तम्भ प्रदेश से आगे के प्रदेश में स्कन्ध शाखा आदि के प्ररोह के लिए अङ्कुरारम्भ करने की इच्छ होने पर वसन्तादि काल की तरह तत्-तत् भोगप्रद कर्मों के परिपाक काल में राग, द्वेष, प्रवृत्ति आदि अङ्कुर, पल्लव आदि के आकार में स्पन्दित रस इसकी वासना है ॥ १९ ॥

इस चित्तरूपी वृक्ष की लम्बी-लम्बी दूरतक पहुँची हुई विस्तृत शाखाएँ तो इन्द्रियां हैं और जन्म-मरणात्मक हजारों अनर्थों के कारण शुभ और अशुभरूप फलों से परिपूर्ण तुच्छ भोग बड़ी-बड़ी अवान्तर शाखाएँ हैं ॥ २० ॥

इस तरह के इस दुष्ट चित्तरूपी इसकी शाखाओं का प्रतिक्षण छेदन (विषय भोगों में असिक्त का छेदन) कर आप उसके मूल को उखाड़ फेंक देनेवाले आत्मदर्शन में प्रयत्नशील हो जायें ॥ २१ ॥

शिखिध्वज उवाच

चित्तद्रुमस्य शाखादेः कुर्वाणोऽहं विकर्तनम् ।
कथं करोमि मूलस्य निःशेषकषणं मुने ! ।। २२ ।।

कुम्भ उवाच

वासना विविधाः शाखाः फलस्पन्दादिनाऽन्विताः ।
अभाविता भवन्त्यन्तर्लूनाः संविद्बलेन ते ।। २३ ।।
असंसक्तमना मौनी शान्तवादविचारणः ।
सम्प्राप्तकारी यः सोऽन्तर्लूनश्चित्तलतो भवेत् ।। २४ ।।
चित्तद्रुमलताजालं पौरुषेण विकर्तयन् ।
यस्तिष्ठति स मूलस्य योग्यो निकषणे भवेत् ।। २५ ।।
गौणं शाखाविलवनं मुख्यं मूलविकर्तनम् ।
चित्तवृक्षस्य तेन त्वं मूलकाषपरो भव ।। २६ ।।
मुख्यत्वेन महाबुद्धे मूलदाहमलं कुरु ।
चित्तकण्टकखण्डस्य भवत्येवमचित्तता ।। २७ ।।

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मुने ! चित्तरूपी वृक्ष की शाखा आदि का छेदन कर मैं उसके मूल का अवशेष-रूप से उत्पाटन किस तरह करूँ ।। २२ ।।

फल और स्पन्दन आदि से समन्वित विविध वसनाएँ चित्तरूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं । असिक्त के परित्याग द्वारा अनुद्बुद्ध की गई वे वासनारूपी शाखाएँ भीतर सदसद्-विचार जनित संवित्ति के बल से विच्छिन्न हो जाती हैं ।। २३ ।।

जिसका मन किसी विषय में आसक्त नहीं है, जिसका अनुचित वाग्व्यापार सर्वदा निवृत्त रहता है, जो जय-पराजय की अभिलाषा से शून्य हो प्रशान्त वाद-विचार में निरत रहता है, जो प्राप्त कार्य को कर देता है उस पुरुष की चित्तरूपी लता भीतर विच्छिन्न हो जाती है ।। २४ ।।

जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से चित्तरूपी लताओं को काटकर स्थित रहता है वह मूल का उच्छेद करने के लिए योग्य हो जाता है ।। २५ ।।

चित्त की शाखाओं का छेदन करना तो गौण है और मूल का छेदन करना प्रधान है, इसलिए आप मूल का उच्छेद करने में तत्पर हो जायें ।। २६ ।।

हे महाबुद्धे ! मुख्यरूप से इस चित्तरूपी करञ्जवन का निःशेष मूलदाह करें ऐसा करने से ही अचित्तता हो जायगी ।। २७ ।।

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मुने ! अहंकारात्मक चित्तरूपी वृक्ष के बीज के दहननामक इस कर्म में कौन-सी अग्नि समर्थ होगी अर्थात् मूलदहन प्रसिद्ध अग्नि से नहीं हो सकता, इसलिए दूसरी अग्नि जानने की इच्छा से राजा पूछते हैं अर्थात् चित्तरूपी दुष्ट वृक्ष के बीज को जलाने में कौन अग्नि समर्थ होगी ।। २८ ।।

कुम्भ ने कहा—हे राजन्, 'मैं यह कौन हूँ' इस तरह का आरम्भ से लेकर आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त स्वात्म-विचार ही चित्तरूपी निकृष्ट वृक्ष के बीज के दहन में अग्नि कही गई है ।। २९ ।।

राजा शिखिध्वज ने कहा—मैंने अनेक बार अपनी बुद्धि से सारे जगत् के विषय में अच्छी तरह विचार कर लिया है—मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादि से मण्डित जगत् ही हूँ ।। ३० ।।

जड़ होने के कारण मैं पर्वत का तट नहीं हूँ, विपिन नहीं हूँ, पत्र, स्पन्दन आदि नहीं हूँ, देहादि मैं नहीं हूँ, मांस नहीं हूँ, हड्डी नहीं हूँ और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ ।। ३१ ।।

मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न ज्ञानेन्द्रिय हूँ । मैं मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ और जड़ होने के कारण न मैं अहङ्कार ही हूँ ।। ३२ ।।

[अहङ्कार में जड़ता नहीं है, इस शङ्का का विवर्तत्व हेतु से निवारण कर रहे राजा शिखिध्वज-जड़ में स्वतः सिद्ध होने की शक्ति न होने से चिति के अध्यास से उसकी सिद्धि होने पर उसमें मिथ्यात्व ही अन्त में चलकर आ जाता है—यह कहते हैं—'कटकत्वम्' इत्यादि से ।]

हे मुने ! चिदात्मा में अहन्ता है यानी चिदात्मा से अलग अहन्त्व कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु चिदात्मा का ही

शिखिध्वज उवाच

अहम्भावात्मनश्चित्तद्रुमबीजस्य हे मुने ! ।
कोऽनलो दहनाख्येऽस्मिन् कर्मण्यर्थकरो भवेत् ।। २८ ।।

कुम्भ उवाच

राजन् ! स्वात्मविचारोऽयं कोऽयं स्यामिति रूपधृक् ।
चित्तदुर्द्रुमबीजस्य दहने दहनः स्मृतः ।। २९ ।।

शिखिध्वज उवाच

मुने ! मया स्वया बुद्ध्या बहुशः प्रविचारितम् ।
यावन्नाऽहं जगन्नोर्वीवनमण्डलमण्डितम् ।। ३० ।।
नाऽद्रेस्तटं न विपिनं न पर्णस्पन्दनादि च ।
जडत्वान्न च देहादि न मांसास्थ्यसृगादि च ।। ३१ ।।
कर्मेन्द्रियाण्यपि न च न च बुद्धीन्द्रियाणि च ।
न मनो नाऽपि च मतिर्नाऽहङ्कारश्च जाड्यतः ।। ३२ ।।
कटकत्वं यथा हेम्नि तथाऽहन्त्वं चिदात्मनि ।
जडं त्वसद्रूपतया तेन तन्नास्ति हे मुने ! ।। ३३ ।।

सन्निवेशनिवासात्मा सर्वार्थादिः परे पदे ।
विद्यते नाऽन्यदन्यत्वान्नभसीव महाद्रुमः ॥ ३४ ॥
जानन्नपीति भगवन्नहन्त्वमलमार्जनम् ।
अन्तर्यज्ज्ञं न जामामि तेन तप्ये चिरं मुने ! ॥ ३५ ॥

कुम्भ उवाच

एतावन्मात्रकं वृन्दं यदि न त्वं महीपते ! ।
जडत्वात्तन्महाबुद्धे ! योऽसि तद्वद मेऽनघ ! ॥ ३६ ॥

शिखिध्वज उवाच

चिन्मात्रमहमच्छात्मवेदनं विदुषां वर ! ।
यत्र भावाः स्वदन्ते ते निर्णीयन्ते च येन वा ॥ ३७ ॥
एवंरूपस्य मे लग्नं नूनं मलमकारणम् ।

विवर्त अहन्त्व है और जड़ शुक्ति-रजत, मृगतृष्णा आदि तो असद्रूप से प्रसिद्ध हैं ही, इसलिए जड़त्व होने से अहन्त्वादि वैसे ही मिथ्या ही हैं जैसे सुवर्ण में कटकत्व है यानी सुवर्ण से अलग कटक कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु सुवर्ण का ही विवर्त कटक है ॥ ३३ ॥

आकाश में आकाश से भिन्न दूसरे महावृक्ष की तरह परमपद चिति में चैतन्य से भिन्न कोई दूसरा ब्रह्माण्ड आदि पदार्थ, अन्यत्व हेतु से नहीं रहता है क्योंकि ब्रह्माण्डादि जड़वर्ग—चौदह भुवन आदि अवयवों का आधार तथा समस्त शब्द आदि विषयों का—कारण है। और चिदात्मा विभाग शून्य सत्ता सामान्यस्वरूप होने के कारण विभक्तस्वभाव नहीं है अर्थात् अविभक्त स्वरूप है ॥ ३४ ॥

हे भगवान् ! हे मुने ! इस तरह अहन्तारूपी मल का परिमार्जन जान कर भी मैं प्रत्यगेकरस साक्षिचैतन्य को नहीं जानता हूँ। यही कारण है कि मैं अधिक दिन से सन्तप्त हो रहा हूँ ॥ ३५ ॥

कुम्भ ने कहा—हे निष्पाप ! हे महीपते ! आप यदि जड़रूप होने के कारण अहङ्कारपर्यन्त दृश्यसमूह स्वरूप नहीं हैं तो हे महाबुद्धे ! आप जिस रूप के हैं उस रूप को मुझसे कहें ॥ ३६ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! मैं उस चिन्मात्र स्वच्छ आत्मसंवेदन का स्वरूपभूत हूँ, जिस अज्ञातृत्व, भोक्तृत्व आदिरूप से प्रसिद्ध अवान्तर कोश परम्परा की अवधिभूत आनन्दैकरस चिन्मात्रस्वरूप के रहते आनन्दशून्य शब्द आदि विषय आस्वादित होते हैं और जिसके बुद्धिवृत्ति पर चढ़ जाने से शब्दादि विषयों में इष्टानिष्ट विभाग निर्णीत होते हैं ॥ ३७ ॥

सकारणं वाऽहमिति यत्एदं च न वेद्म्यहम् ॥ ३८ ॥
असदेतदनात्मीयं प्रमार्ष्टुं मलमात्मनः ।
मुने ! यदा न शक्नोमि तेन तप्ये सुदारुणम् ॥ ३९ ॥

कुम्भ उवाच

ब्रूहि किं तन्महाबाहो ! लग्नं तव मलं महत् ।
स्थितोऽसि येन संसारी सता वाऽप्यथ वाऽसता ॥ ४० ॥

शिखिध्वज उवाच

चित्तद्रुमस्य यद्बीजमहम्भावश्च मे मलम् ।
तच्च त्यक्तुं न जानामि त्यक्तं त्यक्तमुपैति माम् ॥४१॥

कुम्भ उवाच

कारणाज्जायते कार्यं यत्तत्सर्वत्र सम्भवेत् ।
अन्यत्त्वसद्द्विचन्द्राभं दृष्टमेतन्न विद्यते ॥ ४२ ॥

विवेकदृष्टि से पर्यालोचन करने पर शुद्धस्वरूप अहं को देह आदि कोशों में अहमभिमानरूप का मल लग गया है वह सकारण है या अकारण ? उसे मैं नहीं जानता और न परब्रह्म को ही जानता हूँ ॥ ३८ ॥

इस असत्यस्वरूप और आत्मा के साथ किसी तरह का सम्बन्ध न रखनेवाले मल को धो डालने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ, इसलिए दारुणरूप से मैं सन्तप्त हो रहा हूँ ॥ ३९ ॥

कुम्भ ने कहा—हे महाबाहो ! सत्यस्वरूप हो अथवा असत्यस्वरूप हो, जिस मल के प्रभाव से आप संसारी बनकर बैठे हैं आप में वह बड़ा मल क्या है, उसे कहें ॥ ४० ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—वह मल सत्य या असत्य है इसको मैं नहीं जानता हूँ, परन्तु समस्त अनर्थरूप फल देनेवाले चित्तरूपी वृक्ष का वह मूल है, सामान्यरूप से उसे तो मैं जानता ही हूँ, विशेषरूप से भी वह अहंभाव एवं ममभाव रूप है, यह जानता हूँ। इस तरह सामान्य और विशेषरूप से जनता हुआ भी उस मल को छोड़ने का कोई उपाय मैं नहीं जानता हूँ। यद्यपि 'अहं, मम' बुद्धि के अभाव से उस मल का बार-बार मैंने परित्याग किया तथापि उसके मूल का उच्छेद न होने के कारण बार-बार आकर वह मुझे लग जाता है, अतः उस मूल के उच्छेद उपाय मुझसे कहिए, यह निष्कर्ष है ॥ ४१ ॥

कुम्भ ने कहा—हे राजन्, जो कार्य कारण से उत्पन्न होता है वह सर्वत्र ही उत्पन्न होगा और जो कारण के बिना कार्य उत्पन्न होता है वह द्वितीय चन्द्र के समान असत्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि भली-भाँति विचार करने

कारणाज्जायते कार्यमहम्भावाद्भवाङ्कुरः ।
इति कारणमन्विष्य कथयस्व ममाऽधुना ॥ ४३ ॥

शिखिध्वज उवाच

मुनेऽहमिति दोषस्य वेदनं वेद्मि कारणम् ।
तद्यथोपशमं याति तन्मे वद मुनीश्वर ! ॥ ४४ ॥
चितश्चेत्योन्मुखत्वेन दुःखायाऽयमहं स्थितः ।
चेत्योपशमनं ब्रूहि मुने ! तदुपशान्तये ॥ ४५ ॥

कुम्भ उवाच

कारणं कारणज्ञोऽसि वेदनस्य वदाऽऽशु मे ।
ततस्त्वां बोधयिष्यामि कारणाकारणक्रमम् ॥ ४६ ॥
वेद्यवेदनरूपस्य चेत्यसंचेतनस्य मे ।
अकारणं कारणतां यद्यातं तव तद्वद ॥ ४७ ॥

शिखिध्वज उवाच

चेत्यचेतनरूपस्य वेद्यसंवेदनाकृतेः ।
इयं पदार्थसत्तेह देहादिः कारणं मुने ! ॥ ४८ ॥
शरीरादितयोदेति वेदनं वस्तुसत्तया ।
असत्याभासया स्पन्दो यथा पवनलेखया ॥ ४९ ॥
असत्तां वस्तुसत्ताया नाऽवगच्छाम्यहं यथा ।
अहन्त्ववेदनं चित्तबीजं समुपशाम्यति ॥ ५० ॥

कुम्भ उवाच

विद्यते यदि देहादिवस्तुसत्ता तदस्ति ते ।
अभावाद्देहसत्तादेः किंनिष्ठं तव वेदनम् ॥ ५१ ॥

से ऐसे कार्य की सत्ता प्रतीत हो नहीं होती है । आशय यह है कि कूटस्थ होने से सत्य वस्तु कारण हो ही नहीं सकती । असत्य वस्तु कारण है, यह कहना तो असत्यभूत कारण में कार्य उत्पन्न हुआ, इस अर्थ में पर्यवसित होकर कार्य की असत्यता को ही सिद्ध करता है । इस तरह पर्यवसित आत्मा के एकत्वरूप रहस्य को राजा की बुद्धि के अनुसार ही समझानेवाले कुम्भ—लोकप्रसिद्धि के अनुरूप अहङ्कार का कारण आप ही अपनी बुद्धि से खोज कर कहिए ॥ ४२ ॥

अपनी बुद्धि से विचार कर अहम्भावरूप कार्य जिस कारण से होता है उस कारण से अब मुझसे वैसे ही कहिए जैसे अहम्भावरूप कारण से मन आदि रूप संसार का अङ्कुर कार्य उत्पन्न होता है ॥ ४३ ॥

[इस प्रकार पूछे गये राजा ने बहुत देर तक अपनी बुद्धि से अन्वेषण कर यह निश्चय किया कि देहादि आकृतियों का परिज्ञान न होनेपर उनमें अहन्ताभिमान किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए उनका परिज्ञान ही अहन्ताभिमान में कारण है ।]

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मुनीश्वर ! शरीर आदि में अहन्ताभिमानरूप दोष कारण शरीर आदि का परिज्ञान ही हैं, यह मैं जानता हूँ । वह जिस उपाय से शान्त हो जाए, वह उपाय मुझसे कहें ॥ ४४ ॥

चिति को चेत्योन्मुख बनाकर दृश्य की ओर आकृष्ट कर अहम्भाव से अवस्थित ये देह आदि केवल दुःख के लिए ही हैं इसलिए हे मुनीश्वर, चेत्योन्मुखताजनित दुःख की शान्ति के लिए चेत्यवर्ग की जिस उपाय से शान्ति होती हो, वह मुझसे कहें ॥ ४५ ॥

कुम्भ ने कहा—'चिति की चेत्योन्मुखता में देह आदि वेद्य पदार्थ ही कारण है' इस प्रकार का कारणज्ञान आप यदि रखते हैं, तो आप मुझे शीघ्र कहें कि वह आपका अभिमत कारण कौन है । अनन्तर आपका अभिमत कारण जिस क्रम से अकारणरूप ही बन जायगा उस क्रम को मैं आप से कहूँगा ॥ ४६ ॥

सामान्यतः विषयज्ञान का स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञान का स्वरूप इन दोनों के प्रति मिथ्या होने से कारणता के लिए सर्वथा असमर्थ ही विषय कारणता को प्राप्त है, इसलिए यहाँपर अपने अभिप्रेत कारण को कहें ॥ ४७ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मुने ! सामान्यतः विषयज्ञान का स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञान का स्वरूप—इन दोनों के प्रति यह देह आदि बाह्य आध्यत्मिक पदार्थ की सत्ता ही यहाँ कारण है ॥ ४८ ॥

जैसे वायु की लेखा से वृक्षादि में सञ्चलन उत्पन्न होता है वैसे ही असत्यरूप से भासित होनेवाली शरीर आदि वस्तु की सत्ता से ज्ञान ऐसे उत्पन्न होता है ॥ ४९ ॥

अहन्ताज्ञानस्वरूप चित्त का बीज जैसे देहादि सत्ता में असत्त्व जानने पर शान्त होता है वैसे ही देहादि वस्तु में सत्ता का असत्त्व मैं नहीं जानता अतः वह असत्त्व जिस प्रकार जाना जाता हो, उस प्रकार का उपदेश मुझे दीजिए, यही राजा का भाव है ॥ ५० ॥

[इस तरह पूछे गये कुम्भ—विषयाकार से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इस तरह का जो भ्रम राजा शिखिध्वज के हृदय में बैठा हुआ है उसका निवारण करने के लिए देहादि दृश्य पदार्थों में सत्त्व नहीं है, यों प्रतिज्ञा करते हैं—'विद्यते' इत्यादि से ।]

कुम्भ ने कहा—हे राजन् ! यदि देहादि वस्तुओं की

शिखिध्वज उवाच

यस्योपलभ्यते किञ्चित्स्वरूपं कलनात्मकम् ।
असद्रूपं कथं तत्स्यात्प्रकाशः स्यात्कथं तमः ॥ ५२ ॥
हस्तपादादिसंयुक्तः क्रियाफलविलासवान् ।
सदाऽनुभूयमानोऽयं देहो नास्ति कथं मुने ! ॥ ५३ ॥

कुम्भ उवाच

कारणं यस्य कार्यस्य भूमिपाल ! न विद्यते ।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ ५४ ॥
कारणेन विना कार्यं शरीरं न कदाचन ।
विद्यते यस्य नो बीजं तद्द्रव्यं क्वेव जायते ॥ ५५ ॥
अकारणं तु यत्कार्यं सदिवाऽग्रेऽनुभूयते ।
तद्द्रष्टुर्विभ्रमाद्विद्धि मृगतृष्णाजलोपमम् ॥ ५६ ॥

सत्ता रहती तो आप का अभिमत ज्ञान अपने निमित्तभूत देहादि आकारवाला होता अर्थात् देहादि आकार से ज्ञात की उत्पत्ति होती, किन्तु देहादि की सत्ता का अभाव होने से वह ज्ञान किस विषय को लेकर होगा ? देह आदि की सत्ता न होने से उस ज्ञान का विषय कौन होगा ? अर्थात् ज्ञान को निर्विषयक ही मानना होगा ॥ ५१ ॥

[प्रत्यक्ष उपलब्धदेहादि का अपलाप आप कैसे करते हैं ?]

राजा शिखिध्वज ने कहा—प्रत्यक्षात्मक जिस पदार्थ का एक स्वरूप उपलब्ध है वह असत्स्वरूप कैसे है ? अर्थात् सद्रूप से उपलब्ध पदार्थ में असत् की प्रतिज्ञा विरुद्ध है—क्योंकि प्रकाश तम कैसे हो सकता है अर्थात् प्रत्यक्ष उपलब्ध शरीर आदि का अपलाप कैसे हो सकता है ॥ ५२ ॥

हे मुने ! हाथ-पैर आदि से संयुक्त तथा क्रिया-फलरूप विलास आदि से समन्वित सदा हम लोगों से अनुभूत यह शरीर कैसे नहीं है ? ॥ ५३ ॥

कुम्भ ने कहा——हे भूपल ! इस संसार में जिस कार्य का कारण विद्यमान नहीं है वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता है फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है अर्थात् भ्रान्तिग्रस्त उपलब्ध हुए पदार्थों में व्यभिचार होने के कारण एकमात्र उपलब्धि से दृश्य पदार्थों की सत्ता का निर्णय नहीं किया जा सकता, किन्तु कारणों के विद्यमान रहकर जिस कार्य की उपलब्धि होती है उसी की सत्ता मानी जाती है ओर वे कारण इसमें विद्यमान नहीं हैं ॥५४॥

बिना कारण के यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्य का बीज नहीं है उसकी उत्पत्ति क्या कभी कहीं होती है ? ॥ ५५ ॥

बिना कारण के जो कार्य सामने सत् की तरह अनुभूत होता है । उसे मृगतृष्णाजल के समान देखने वाले के विभ्रम से उत्पन्न समझें ॥ ५६ ॥

अविद्यमानमेव त्वं विद्धि मिथ्याभ्रमोदितम् ।
नाऽतियत्नवतोऽप्येतन्मृगतृष्णाम्बु लभ्यते ॥ ५७॥

शिखिध्वज उवाच

असतो द्वीन्दुबिम्बादेर्न युक्तं कारणेक्षणम् ।
वन्ध्यातनयसर्वाङ्गमण्डनं कस्य राजते ॥ ५८ ॥

कुम्भ उवाच

कारणेन विना कार्यं शरीराद्यस्थिपञ्जरम् ।
अविद्यमानमेवेदं विद्धयसम्भवतो नृप ! ॥ ५९ ॥

शिखिध्वज उवाच

हस्तपादादियुक्तस्य शरीरस्य मुनीश्वर ! ।
नित्यमालक्ष्यमाणस्य पिता कस्मान्न कारणम् ॥ ६० ॥

मिथ्याभ्रम से उदित शरीर आदि को आप अविद्यमान ही जानें, क्यों विशेष यत्नशील मनुष्य को भी यह मृगतृष्णाजल लब्ध नहीं होता है ॥ ५७ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—असद्रूप दो चन्द्रबिम्ब आदि के कारण का न दिखाई पड़ना तो ठीक ही है, क्या किसी के सामने बन्ध्या-पुत्र के सारे अङ्गों में आभूषण शोभित होते हैं ? अर्थात् तब क्या देह आदि बन्ध्या-पुत्र की देह की तरह अत्यन्त असत् ही है ॥ ५८ ॥

['अशरीरं शरीरेष्वनस्थेष्ववस्थितम्' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाण होने से तथा वैसा ही विद्वानों का अनुभव होने से एवं कारण का निरूपण न प्रोने से यह आपके द्वारा की गई आपत्ति इष्ट है, ऐसा कुम्भ कहते हैं—'कारणेन' इत्यादि से ।]

कुम्भ ने कहा—हे राजन्, शरीर आदि अस्थिपञ्जर रूपी यह कार्य बिना कारण के ही अनुभूत हो रहा है, इसलिए असंभव अर्थात् किसी से उत्पन्न न होने के कारण इसे अविद्यमान ही जानें ॥ ५९ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुनीश्वर ! हाथ, पैर आदि से युक्त प्रतिदिन दिखाई दे रहे इस शरीर का भला पिता कारण कैसे नहीं हैं ? इतिहास अनुमान, आप्त पुरुषों की उक्ति तथा अनुराग स्थान साभ्यरूप हेतु आदि प्रमाण से इस शरीर का कारण पिता तो अवश्य ज्ञात है, फिर इसका आप कैसे अपलाप करते हैं ? ॥ ६० ॥

कुम्भ उवाच

कारणाभावतो राजन्पिता नाम न विद्यते ।
असतो यत्तु संजातमसदेव तदुच्यते ॥ ६१ ॥
पदार्थानां च कार्याणां कारणं बीजमुच्यते ।
सम्भवत्यङ्ग जगति न बीजेन विनाऽङ्कुरः ॥ ६२ ॥
तस्मान्न कारणं यस्य कार्यस्येहोपपद्यते ।
बीजाभावे हि तन्नास्ति तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ ६३ ॥
अवश्यं खलु यन्नास्ति निर्बीजं तन्मतिभ्रमः ।
द्वीन्दुत्वमरुभूम्यम्बुवन्ध्यापुत्रदशासमम् ॥ ६४ ॥

शिखिध्वज उवाच

पितामहानां पुत्राणां पितॄणां च जगत्त्रये ।
आद्यः पितामहः कस्मात्पूर्वोत्पत्तौ न कारणम् ॥ ६५ ॥

कुम्भ उवाच

आद्यः पितामहो यः स्यात्सोऽपि नास्त्येव भूपते ! ।
कारणाभावतो नित्यं यदा भावो न कस्यचित् ॥ ६६ ॥
कारणस्य स्वबीजस्य नित्याभावात्पितामहः ।
अन्यः स दृश्यमानोऽपि भ्रमादन्यो न विद्यते ॥ ६७ ॥
मृगतृष्णाम्बुद्भ्रान्तिरूप एवाऽवभासते ।
पितामहार्थकारित्वमपि तस्य भ्रमात्मकम् ॥ ६८ ॥
पितामहादेरेतस्य मिथ्याप्रत्ययतः स्थितिः ।
घना तव निवृत्तैव मार्जयिष्याम्यथेतरत् ॥ ६९ ॥

[उसकी भी कोई सत्ता नहीं है, दोनों में एक ही न्याय समानरूप से लगता है, इस गूढ़ अभिप्राय से युक्त कुम्भ ऋषि उसी उत्तर को फिर कहते हैं—'कारणा०' इत्यादि से ।]

कुम्भ ने कहा—हे राजन्, कारण का अभाव होने से सचमुच पिता भी नहीं है । जो पदार्थ असत् से उत्पन्न है वह भी असद्रूप ही कहा जाता है । अर्थात् पिता की भी वही स्थिति है अतः, एक ही न्याय से दोनों आकार हैं ॥ ६१ ॥

कार्यभूत पदार्थों का कारण बीज कहा जाता है । इस संसार में बिना बीज के अङ्कुर नहीं उत्पन्न होता है ॥६२॥

इसलिए जिस कार्य का कारण नहीं उस कार्य को भी बीज का अभाव रहने से उसे नहीं ही माने उसका ज्ञान मनुष्य को होना तो बिलकुल विभ्रम है ॥ ६३ ॥

अवश्य ही बीज शून्य वस्तु नहीं है । अतः उसका मनुष्य को ज्ञान होना वह—दो चन्द्र, मरुभूमि में जल और वन्ध्या-पुत्र की दशा के समान बुद्धि विभ्रम है ॥ ६४ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मुनीश्वर; तीनों लोक में प्रजा उत्पन्न करने वाले दक्ष प्रजापति आदि पितामहों, उसके लड़कों और पिता आदि पूर्वजों की उत्पत्ति में आद्य पितामह हिरण्यगर्भ कारण क्यों नहीं होता है ? अर्थात् सूक्ष्मभूत लिङ्गसमष्टिरूप वह हिरण्यगर्भ पुत्र, पिता और पितामह आदि सम्पूर्ण व्यष्टि और समष्टिरूप स्थूलों की उत्पत्ति में कारण क्यों नहीं है ? ॥ ६५ ॥

कुम्भ ने कहा—हे भूपते ! जब कारण के अभाव में किसी का भी भाव नहीं रहता है अर्थात् किसी की भी सत्ता नहीं रहती है, यह नित्य नियम है तब पितामाह हिरण्यगर्भ जो कारण है, वह भी नहीं है ॥ ६६ ॥

['यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्ति ॥' जो महर्षि रुद्र सम्पूर्ण देवताओं का प्रभव और उद्भव है, विश्व में सबसे श्रेष्ठ तथा जो उत्पन्न हो रहे हिरण्यगर्भ को देखता है वही देव हम लोगों की शुभ स्मृति से संयुक्त करता है इत्यादि मन्त्रवर्णों में उसका उत्पादक तथा उत्पन्न हो रहे उसको कृपादृष्टि से देख रहा ईश्वर कारण प्रसिद्ध ही है, फिर उसका अपलाप कैसे करते हैं ।]

ईश्वर के होनेपर भी माया द्वारा अपने में भेद की उसने कल्पना कर ली है अतः माया द्वारा भ्रम हो जाने के कारण अन्यरूप से दिखाई दे रहा भी वह पितामह उस ईश्वर से अन्य नहीं है । सत्यस्वरूप चिदंशक के परिणामी न होने से वह कारण शून्य है । अन्त में मायांश जड़ को ही उसका कारण कहना पड़ेगा, क्योंकि अविद्यारूप उस अपने कारण का अर्थात् ज्ञान नित्य उदित विद्या द्वारा बाधित होने के कारण उसका ईश्वर में सदा ही अभाव रहता है ॥ ६७ ॥

आपके पितामह की भुवनादिष्ट में अर्थक्रियाकारिता मृगतृष्णा जल की नाईं भ्रान्तिरूप ही अवभासित होती है, क्योंकि वह बिलकुल भ्रमात्मक है ॥ ६८ ॥

पितामह के शरीर तक यह सम्पूर्ण कार्य परम्परा वृत्त मिथ्या है, इस तरह के तुम्हारे यौक्तिक बोध से—उसकी सत्यरूप से अत्यन्त दृढ़ बनाई गई स्थिति बहुत दूर हट गई । अब दूसरा जो प्रतिभासमात्ररूप से अवशिष्ट अंश है उसका भी तत्त्वसाक्षात्कार पर्यन्त आपको उपदेश देकर परिमार्जन करता हूँ ॥ ६९ ॥

तस्माच्चिदात्मकतयाऽऽत्मनि चित्ततोऽयं
नित्यं स्वयं कचति भूमिप ! देवदेवः ।
तेनैव पद्मज इति स्वयमात्मनाऽऽत्मा
प्रोक्तः स्वरूप इति शान्तमिदं समस्तम् ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजावबोधनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

हे भूमिपाल ! मेरी कही गई युक्ति से चिति से व्यतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता न होने से चिद्रूप ही यह देवाधिदेव पूर्वोक्त ईश्वर हिरण्यगर्भ से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सृष्टिपरम्परारूप से स्फुरित होता है, चिन्दात्मकरूप से अपने स्वरूप में ही वह स्फुरित होता है, अणुमात्र भी न तो किसी दूसरे का सम्पादन करता है और न स्वयं किसी दूसरे से सम्पादित होता है। उसी ने स्वयं अपने-आपको आत्मा, स्वरूप, पद्मज आदि नाम और रूपों की कल्पना से सम्पूर्ण रूपों की रचना करके उनका फिर नमस्कार कर व्यवहार कर रहा जो धीर स्थित है। इस तरह पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह समस्त द्वैतप्रपञ्च शान्त ब्रह्मरूप में ही अवस्थित है ॥ ७० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
शिखिध्वज-अवबोधन नामक कुसुमलता का चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९४ ॥

९५

शिखिध्वज उवाच

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्यं भासते भ्रमः ।
अर्थक्रियासमर्थश्च तत्कथं दुःखकारणम् ॥ १ ॥

कुम्भ उवाच

एवं जगद्भ्रमस्याऽस्य भावनं तावदाततम् ।
शिलीभूतस्य शीतेन सलिलस्येव रूक्षता ॥ २ ॥

[पहले यह जो कहा गया था कि यह सारा प्रपञ्च मृगतृष्णा जल के सदृश भ्रान्तिरूप ही प्रतीत होता है, इस पर यह शङ्का होती है कि यह दृष्टान्त देना बिलकुल असङ्गत है, क्योंकि मृगतृष्णाजल से न स्नान होता है या न तो उसका पान ही होता है, किसी तरह उसमें अर्थ-क्रियाकारिता है नहीं और इस प्रपञ्च में तो सब तरह की अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, यों राजा प्रश्न करते हैं—'आब्रह्म' इत्यादि से।]

राजा शिखिध्वज ने कहा—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त प्रतिभासित संसार यदि भ्रमरूप है, तो वह अर्थक्रियासमर्थ और दुःख का कारण कैसे है, भ्रमात्मक वस्तु तो अर्थक्रियासमर्थ और दुःखहेतु नहीं दिखाई पड़ती है ॥ १ ॥

कुम्भ ने कहा—इस सृष्टिरूपी जगत् की भ्रान्ति प्राणियों के प्राक्तन कर्मों की उपभोगरूप प्रयोजन होने से, आपकी कथित प्रणाली के अनुसार अर्थक्रिया सामार्थ्य और दुःख आदि की हेतुता है, क्योंकि सत्यसङ्कल्प परमात्मा की भावना ही अर्थक्रियादिरूप से तथाकथित सृष्टि में परिणत हुई है, इसमें जैसे जल में रूक्षता या पीठ बनने की योग्यता नहीं है, परन्तु शीत के कारण पत्थररूप बर्फरूप जल में, दीर्घकाल के बाद स्फटिक आदिरूप में परिणाम हो जाने पर रूक्षता, पीठ आदि बन जाने की अर्थक्रिया प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार इस भ्रमात्मक सृष्टि के विषय में भी जानना चाहिए अर्थात् सत्यसंकल्प भावना से दृढ़ किया गया मिथ्याभूत अर्थ अर्थ-क्रियासमर्थ और दुःख का उत्पादक होता है, यह बात देव या असुरों की माया से निर्मित शस्त्र, अस्त्र, हाथी, घोड़ा, सेना आदि में जब प्रसिद्ध ही है, तब जगदीश्वर की माया से बनाये गये प्रपञ्च के लिए तो कहना ही क्या ? ॥ २ ॥

[यही कारण है कि ज्ञानाभ्यास के परिपाक क्रम से मूल ज्ञान का शैथिल्य हो जाने पर जगत् की कमशः सूक्ष्मता हो जाने से अज्ञान के साथ-साथ जगत् का भी नाश हो जाता है।]

अज्ञानं शिथिलीभूतमेवं नष्टं विदुर्बुधाः ।
न नाशेन विनोदेति पूर्वसंस्थानविच्युतिः ॥ ३ ॥
तनुत्वं सर्वबोधस्य यत्तदेव हि कारणम् ।
सर्गोपशमसम्पत्तौ प्रतिपन्ने परे पदे ॥ ४ ॥
तानवं दृश्यते यस्य तस्याऽनुक्रमतः स्वयम् ।
पूर्वसंस्थानविगमात्प्रशमोऽप्युपपद्यते ॥ ५ ॥
अनेनैव क्रमेणैवं त्वमादिपुरुषो नृपः ।
भ्रमाकारोदयं विद्धि मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ॥ ६ ॥
एषा पितामहाभावेऽप्यसती भूतसन्ततिः ।
न कदाचन तत्सिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ॥ ७ ॥
अयं भूतोपलम्भो हि मृगतृष्णाम्बिवोदितः ।

यदि ज्ञानादि के अभ्यास से अज्ञान शिथिल होने पर उस प्रकार का अज्ञान जनित भ्रमात्मक संसार भी नष्ट हो जाता है, यह ज्ञानियों का मत है। क्योंकि अज्ञान का विनाश न होने पर जगत्-रूप आकार का विच्छेद किसी भी समय नहीं हो सकता है ॥ ३ ॥

समस्त बाह्याकार वृत्तियों का अपक्षय ही क्रमशः तत्त्वज्ञान के सम्पादन द्वारा परम पद का साक्षात्कार हो जानेपर इस भ्रमात्मक प्रपञ्च की शान्ति में कारण हो जाता है। अर्थात् अज्ञान को शिथिल बना देने में एकमात्र कारण है—इन्द्रिनिरोध के अभ्यास से बाह्यवृत्तियों का शिथिलीकरण लोक में भी अपक्षयपूर्वक ही स्थूल भावों का विनाश प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

व्यवहार में देह आदि का अपक्षय क्रमशः उनका, पूर्व अवयवों के विनाश के क्रम से स्वयं विनाश भी उत्पन्न हो जाता है ॥ ५ ॥

हे नृप ! इसी अज्ञान के नाश क्रम से ही पूर्णता-स्वभाववाले आप आदिपुरुष हैं। अतः यह सारा प्रपञ्च मृगतृष्णा जल की तरह केवल भ्रम के स्वरूप में उदित हो अवस्थित है, यह आप जानें। अर्थात् क्रमशः अज्ञान की शिथिलता द्वारा जगत् का बाध हो जानेपर ही अपने नित्यसिद्धि पूर्णतारूप पुरुषस्वाभाव में प्रतिष्ठा हो जाती है ॥ ६ ॥

वास्तव में जो सृष्टि बनानेवाले आदि ब्रह्मा पितामह हैं उनकी भी सत्ता नहीं है, इसलिए उनके द्वारा निर्मित प्रपञ्च की सत्ता ही कैसे हो सकती है। जो वस्तु असत् वस्तु से सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

हे भद्र, यह जो भूत-सृष्टि दिखाई पड़ती है, यह मृग-

विचाराद्विलयं याति शुक्तौ रजतधीरिव ॥ ८ ॥
कारणाभावतः कार्यमभूत्वा भवतीति यत् ।
मिथ्याज्ञानादृते तस्य न रूपमुपपद्यते ॥ ९ ॥
मिथ्यादृष्टिप्रेक्षितं तु न कदाचन विद्यते ।
मृगतृष्णाम्भसा केन घटकाः परिपूरिताः ॥ १० ॥

शिखिध्वज उवाच

स्रष्टुराद्यस्य परमं ब्रह्म कस्मान्न कारणम् ।
अनन्तमजमव्यक्तमम्बरं शान्तमच्युतम् ॥ ११ ॥

कुम्भ उवाच

हेतुत्वाभावतो ब्रह्म कार्यत्वाभावतस्तथा ।
अद्वैतेनाऽतिगन्तात्मा न च कार्यं न कारणम् ॥ १२ ॥

तृष्णा जल के समान मिथ्या ही उदित है- इसलिए शुक्ति में रजत ज्ञान के समान विचार से ही उसका विलय हो जाता है ॥ ८ ॥

[यही कारण है कि जगत् का स्वरूप भ्रान्ति ही है, दूसरा नहीं—यह कहते हैं—'कारणा०' इत्यादि से ।]

कारण का अस्तित्व न होने से कार्य की सत्ता नहीं हो सकती है। असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति का स्वरूप मिथ्या ज्ञान से अतिरिक्त और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता है ॥ ९ ॥

[इसलिए विचार द्वारा मिथ्यारूप से देखा गया पदार्थ अर्थक्रिया के साथ स्वरूप से भी वंचित हो जाता है ।]

मिथ्याज्ञान के कारण दिखाई पड़नेवाला पदार्थ का किसी काल में भी अस्तित्व नहीं रहता है, क्या किसी ने मृगतृष्णाजल से घड़े भरे हैं ? ॥ १० ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—आदि सृष्टिकर्ता हिरण्य-गर्भ का अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, चिदाकाश, अविनाशी, सर्वोपद्रवशून्य, सर्वातिशायी, निर्विशेष ब्रह्म कारण क्यों नहीं है अर्थात् तब पितामह के प्रति निर्विशेष ब्रह्म ही कारण क्यों नहीं होता ? यदि कहो कि परिणामी होनेपर वह अनित्य हो जायगा, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रमशः सब परिणामों में अनुवृत्ति होने के कारण घटत्वादि रूप जाति के समान उसकी नित्यता आ सकती है ॥११॥

[श्रुति, युक्ति और अनुभव का विरोध होने से हिरण्य-गर्भ का कारण निर्विशेष ब्रह्म नहीं हो सकता, ऐसा कहते है—'हेतुत्वा०' इत्यादि से ।]

कुम्भ ने कहा—हे राजन्, शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है, कूटस्थ का परिणाम न बनने के कारण वह सर्वप्रपञ्च से निर्मुक्त अद्वैत स्वरूप है

अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्म कर्तृ कथं भवेत् ॥ १३ ॥
अकारणत्वात्कार्यत्वरहितं तज्जगद्भवेत् ।
अद्वैतैक्यमनाद्यन्तं तदाद्यमुपलम्भनम् ॥ १४ ॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं यच्छिवं शान्तमव्ययम् ।
तत् कथं कस्य केनैव कर्तृ भोक्तृ कदा भवेत् ॥ १५ ॥
अतो नेदं कृतं किञ्चिज्जगदादि न विद्यते ।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि सर्वं शान्तमजं शिवम् ॥१६॥
कारणाभावतः कार्यं न कस्यचिदिदं जगत् ।
अकारणत्वात् कार्यत्वं भ्रमाद्धि त्विदं जगत् ॥ १७ ॥
अकार्यत्वञ्च नास्त्येतत्सर्ग इत्थं न विद्यते ।
यदा न कस्यचित्कार्यं कारणस्य जगत्तदा ॥ १८ ॥

इस श्रुति से पूर्वत्वरूप कारणत्व का और अपरत्वरूप कार्यत्व का निषेध किया गया है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से द्वैतमात्र का निषेध किया गया है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुति से उसकी अनुवृत्ति का निषेध किया गया है ॥ १२ ॥

[अन्य कारकों की अप्रसिद्धि होने से उनको लेकर इसमें स्वातन्त्र्यरूप अकर्तृत्व भी नहीं आ सकता, यह कहते हैं—'अकर्तृ०' इत्यादि से।]

ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। उसमें न तर्कों का स्थान है और न इन्द्रियवृत्तियाँ ही गमन कर सकती है। अतः ब्रह्म किस तरह कारण बनेगा ॥ १३ ॥

ब्रह्म निर्धर्मक होने से कारण नहीं है, अतः वह कार्यत्वरूप लक्षण या धर्म से शून्य ही होगा। यदि कार्य-कारणात्मक जगत् है, यह मानने पर तो वह जगत् वस्तु कृतपरिच्छेद और देश-काल कृतपरिच्छेद से रहित होकर चिदेकरसस्वरूप ब्रह्म हो गया, फिर जगद्भाव और कार्य-कारणता रही ही कहाँ ॥ १४ ॥

जो अतर्क्य, अविज्ञेय, शान्त, विकारशून्य और कल्याणरूप है उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किससे और किस समय होगा ? ॥ १५ ॥

इसलिए यह जगत् न किसी से कुछ किया गया है और न इसकी सत्ता ही है। परिपूर्णस्वभाववाले आप न कर्ता हैं और न भोक्ता हैं। सर्वत्र आपको सब कुछ शान्त अजन्मा, आनन्दात्मक केवल ब्रह्म ही ब्रह्म शिवात्मक मिलेगा ॥ १६ ॥

पदार्थाभावसंसिद्धिस्तत्सिद्धौ कस्य वेदनम् ।
एवं तु वेदनाभावे नाऽस्त्यहंत्वस्य कारणम् ।
अतः शुद्धो विमुक्तोऽसि कैवोक्तिर्बन्धमोक्षयोः ॥ १९ ॥

शिखिध्वज उवाच

बुद्धोऽस्मि भगवन् ! युक्तियुक्तमुक्तं त्वयोत्तमम् ।
कारणाभावतः कर्तृ नेदं ब्रह्मेति वेद्म्यहम् ॥ २० ॥
कर्त्रभावाज्जगन्नास्ति तेन नास्ति पदार्थदृक् ।
नातश्चित्तादि तद्बीजं नाऽतोऽहन्तादिकिञ्चन ॥ २१ ॥
एवं स्थिते विशुद्धोऽस्मि विबुद्धोऽस्मि शिवोऽस्मि वा ।
नमो मह्यं परं चेत्यं न किञ्चिदिति बोधितः ॥ २२ ॥
पदार्थवेदनादित्थमसदेवाऽवभासते ।
अहमाद्यन्तमेतेन शान्तमासे खकोशवत् ॥ २३ ॥

कारण की सत्ता ही नहीं है, इसलिए यह जगत् किसी का भी कार्य नहीं है। कारण का स्वरूप न रहने से जो कार्यस्वरूप दिखाई देता है वह केवल भ्रम से ही; इसलिए यह जगत् भ्रमात्मक ही है यह समझें ॥ १७ ॥

किसी का कार्य न होने से यह सारी सृष्टि तीनों काल में असत् है। इस रीति से यह जगत् जब किसी भी कार्य का कारण नहीं है तब अनायास समस्त पदार्थों की असत्ता सिद्ध हो जाती है। पदार्थों की असत्ता सिद्ध हो जानेपर फिर ज्ञान किसका, और इस रीति से जब ज्ञान का ही अभाव सिद्ध हो गया तब अहङ्कार का कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिए आप सर्वविध मलों से निर्मुक्त परममुक्त ही हैं। बन्ध और मोक्ष की कथा से आपको क्या प्रयोजन है ? ॥ १८, १९ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे भगवन् ! मैं जान गया। आपने बहुत ही उत्तम और युक्तिसंगत कहा है। कारण न होने से यह ब्रह्म जगत् का उत्पादक नहीं हो सकता है, यह भी जानता हूँ ॥ २० ॥

कर्ता के अभाव से जगत् का अभाव है, जगत् के अभाव से नाम-रूपात्मक दृष्टि का अभाव है, इससे उसके बीज चित्त आदि का भी अभाव है और इसी से अहन्ता आदि किसी की भी सत्ता नहीं है ॥ २१ ॥

इस प्रकार की स्थिति में निर्मल हूँ, सर्वज्ञ हूँ और दिव्यस्वरूप हूँ। मैं अपने आपको ही प्रणाम करता हूँ, क्योंकि चितिस्वरूप से भिन्न दूसरा चेत्यविषय ही नहीं है, यह आपने मुझे बतला दिया ॥ २२ ॥

आपकी बताई हुई युक्ति से विचारपूर्वक सब पदार्थों का स्वरूप जानने से 'अहम्' आदि से लेकर अन्ततक के

जगत्पदार्थप्रविभागदृष्टिः
सदेशदिक्कालकलाक्रियौघा ।
अहो नु कालेन चिरेण शान्ता
ब्रह्मैव शान्तं स्थितमव्ययात्म ॥ २४ ॥

शाम्यामि निर्वामि परिस्थितोऽस्मि
न यामि नोदेमि न चाऽस्तमेमि ।
तिष्ठामि तिष्ठ स्वयथास्थितात्मा
शिवं शुभं पावनमौनमस्मि ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजविश्रान्तिर्नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब असद्रूप ही भासमान हैं, इसलिए सब द्वैत के बाध से मैं आकाशमण्डल की तरह विक्षेपशून्य होकर अवस्थित हूँ ॥ २३ ॥

अत्यन्त आश्चर्य है कि, देश, काल, कला एवं क्रियाओं से युक्त यह जगत् के पदार्थों की विभक्त दृष्टि थी वह दीर्घ काल के अनन्तर शान्त हो गई। अब विकारशून्य केवल ब्रह्म ही बच गया ॥ २४ ॥

अब मैं शान्ति का अनुभव करता हूँ। सब ओर से पूर्ण स्वभाव होकर स्थित हूँ, न जाता हूँ, न उदित होता हूँ और न अस्त होता हूँ। मैं जैसे इस रूप में हूँ वैसे आप भी चिदेकरस यथास्थित आत्मस्वरूप होकर स्थित हो जायें, क्योंकि उस प्रकार की स्थिति में आपका स्वरूप बनकर मैं परम पुरुषार्थरूप शुद्ध वाणी से अगम्य निरतिशय सुख ही बनकर विराजमान हूँ ॥ २५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
शिखिध्वजविश्रान्ति नामक कुसुमलता का पंचानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९५ ॥

९६

वसिष्ठ उवाच

इति ब्रह्मणि विश्रान्तिमवाप्य स शिखिध्वजः ।
मुहूर्त्तमासीत्संशान्तमना निर्वातदीपवत् ॥ १ ॥
निर्विकल्पसमाधानपरेणाऽऽशु विविक्षितम् ।
स्वलीलयेति कुम्भेन झटित्येव प्रबोधितः ॥ २ ॥

कुम्भ उवाच

राजन्नज्ञाननिद्रातः प्रबुद्धोऽसि शिवः स्थितः ।
कार्यं नास्तमयेनैव न चाऽनस्तमयेन ते ॥ ३ ॥
सकृदेव विभातात्मा नष्टानिष्टपदात्मकः ।
कलाकलननिर्मुक्तो जीवन्मुक्तोऽङ्ग साम्प्रतम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कुम्भेन बोधितस्त्वेवं स बभूवाऽवबोधवान् ।
विनिर्गतो रराजोच्चैर्महामोहसमुद्गकात् ॥ ५ ॥

९६

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी, राजा शिखिध्वज ने परब्रह्म में विश्रान्ति पाकर वायुशून्य प्रदेश में स्थिति दीप के समान मुहूर्त कालतक निश्चलरूप से स्थित रहे। अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति का उदय होने से उनका मन तुच्छ बाह्य वृत्तियों से निर्मुक्त होकर प्रसन्न हो गया था ॥ १ ॥

अनन्तर निर्विकल्पसमाधि में तत्पर राजा शिखिध्वज ने अखण्डाकारवृत्तिरूप विकल्प को भी तिरस्कृत कर—क्षीरसमुद्र में पतित जल-बिन्दु के सदृश, अन्तःकरण को ब्रह्मरूप बनाकर ब्रह्म में एकरूप प्रविष्ट होने की इच्छा की, तभी उस अवस्था को समझकर अपनी सहज लीलाभरी वाणी से कुम्भ ने उन्हें तत्काल जगाया ॥ २ ॥

कुम्भ ने कहा—हे राजन्, अब आप अज्ञानरूपी निद्रा से जग गये हैं और निरतिशयानन्दरूप बनकर स्थित हैं, इसलिए अब आपको समस्त दृश्यों के विनाश से कोई मतलब नहीं है। और न उनके अविनाश का ही कोई मतलब है, आशय यह है कि अज्ञान रहनेपर परब्रह्मरूपी आनन्द समुद्र में प्रवेश नहीं हो सकता है। अब अज्ञान का विनाश होनेपर दृश्यों का विनाश हो चाहे न हो, देखा गया ब्रह्म सदा ही अनावृत्त और सुलभ रहता है ॥ ३ ॥

हे प्रिय ! विस्पष्टरूप से एक बार देखा गया आत्मा समस्त अनिष्टकारक वस्तुओं का आश्रय नहीं रहता अर्थात् उस आत्मा में दुःखप्रद प्रपञ्च का सम्बन्ध रहता ही नहीं है। अब आप समस्त कल्पनारूपी कलनों से निर्मुक्त होकर जीवन्मुक्त हैं ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! उस कुम्भ के

विश्रान्तधीः क्षणेनैव पश्यन् दृश्यस्य वस्तुनः ।
असत्तामेव मुक्तात्मा लीलया समुवाच ह ॥ ६ ॥

शिखिध्वज उवाच

ज्ञातप्रायमपीदं तु यत्पृच्छामि तदुच्यताम् ।
भूयो निपुणबोधाय मम मानद ! मोदद ! ॥ ७ ॥
शिवे शान्ते निराभासे पदेऽनुल्लसितात्मनि ।
द्रष्टृदर्शनदृश्याख्यो विश्वात्मा प्रत्ययः कुतः ॥ ८ ॥

कुम्भ उवाच

साधु पृष्टं महाराज ! राजसे वाऽथ भास्वरः ।
एतदेव हि ते शिष्टं ज्ञातुं यत्तदिदं शृणु ॥ ९ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

द्वारा राजा शिखिध्वज को इस तरह समझने पर वह बोध पूर्ण हो गया और महामोहरूपी पिटारी से बाहर निकाल कर सुशोभित होने लगा ॥ ५ ॥

पूर्ण विश्रान्त उसकी बुद्धि व्युत्थान काल में भी क्षण-मात्र में ही उसने समस्त दृश्यों की असत्ता समझ ली थी, उस मुक्तात्मा ने लीला से यानी कुम्भ के परिपक्व बोध के साथ अपने बोध की तुलना करने की लीला से कुम्भ ने कहा ॥ ६ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे मान देने वाले ! हे आनन्ददायक ! ये सब कुछ मेरा एक तरह से ज्ञातप्राय ही हो गये हैं, किन्तु बोध की दृढ़ता के लिए मैं आप से जो कुछ प्रश्न करता हूँ, उसे पुनः मेरे सम्मुख कहिए ॥७॥

ब्रह्मरूप पद निरतिशय सुखरूप, दुःखशून्य और अशुद्ध चेताओं से अगम्य है, उस पद के अविद्या से आवृत होनेपर उसमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन नामक यह विश्वरूप ज्ञान किस कारण से होता है ? क्या वह सत् निमित्त से या असत् निमित्त से होता है । सत् निमित्त से तो हो नहीं सकता है, कारण सत् वस्तु में विकार आदि नहीं रहते, असत् से भी नहीं हो सकता है क्योंकि उस बोध में सत्त्व का परिज्ञान होगा ही नहीं ॥ ८ ॥

कुम्भ ने कहा—हे महाराज ! मैंने पहले जिस आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया था उसे ग्रहण कर अज्ञानरूपी आवरण से निर्मुक्त हो जाने के कारण आप देदीप्यमान शोभायमान हो रहे हैं । अब आपको जानने के लिए जो कुछ बच गया है उसे सुनिये ॥ ९ ॥

[सबसे पहले अभ्यास की सामग्री बतलाने के लिए अध्यारोप कर संस्कार सहकृत अज्ञान शबल अधिष्ठान का दिग्दर्शन कराने वाले कुम्भ मुनि पूर्वसृष्टि का प्रलय

सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ १० ॥
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
महाकल्पविलासान्ते सत्सारमवशिष्यते ॥ ११ ॥
चिन्मात्रममलं शान्तमाभातं परमं नभः ।
समस्तकलनोन्मुक्तं युक्तं परमया धिया ॥ १२ ॥
यदेकोदितमत्यच्छं शान्तमाततमुज्ज्वलम् ।
परमात्मात्मकं तेजस्तिमितं ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १३ ॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं समं शिवमनिन्दितम् ।
ब्रह्मनिर्वाणमापूर्णमापूर्णोदितसंविदा ॥ १४ ॥
अणीयसामणीयश्च स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १५ ॥

दर्शाते हैं—'यदिदम्' इत्यादि से ।]

स्थावर, जङ्गम नानाविध आकार-प्रकार से भरा हुआ जगत् जो दिखाई पड़ता है कल्प की समाप्ति में विनष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

अनन्तर महाकल्प का ताण्डव समाप्त होनेपर एकमात्र प्रसन्न गम्भीर व्यापक रूप सार परब्रह्म-तत्त्व अवशिष्ट रह जाता है, इसे न तो तेज से तुलित किया जा सकता है और न घन अन्धकार से इसकी तुलना की जा सकती सकती है ॥ ११ ॥

वह चिन्मात्र स्वरूप है, उसमें कुछ किसी तरह का मल नहीं है, शान्ति का अधार है, चारों ओर चमकता निरवधि आकाश है, उसमें किसी प्रकार की कल्पना अर्थात् कल्पना की ही नहीं जा सकती । जिसके विषय में मैं कुछ कह रहा हूँ, वह केवल स्वरूप का साक्षात्कार करनेवाली बुद्धि से युक्त होकर प्रकाशित होती है ॥ १२ ॥

अज्ञान काल में प्रतीत अज्ञान आदि मल उसमें नहीं रहते, अतः अत्यन्त स्वच्छ है । क्रोधादिविकार उनमें नहीं रहते, चारों ओर उसकी सत्ता है, उज्ज्वल परमात्मा-स्वरूप वह प्रसन्न ज्ञानरूप तेज है ॥ १३ ॥

उसमें अनुमानादि तर्कों का प्रसर होता नहीं । वह बाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं है, वह सम, शिव और अनिन्दित है जिसको ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं, वह वहीं है । सर्वत्र पूर्णरूप से उदित आत्म-ज्ञान से नितान्त पूर्ण है ॥ १४ ॥

यह छोटे-से-छोटे पदार्थों में सबसे सूक्ष्म है, स्थूल से भी स्थूल पदार्थों में सबसे स्थूल हैं । गुरुतम पदार्थों में सबसे गुरुतम और श्रेष्ठों में सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥

ईदृशं तत्परं सूक्ष्मं तस्याऽग्रे यदिदं नभः ।
अणोः पार्श्वे महामेरुमिव स्थूलात्म लक्ष्यते ॥ १६ ॥
ईदृशं तत्परं स्थूलं यस्याऽग्रे यदिदं जगत् ।
परमाणुवदाभाति क्वचिदेव न भाति च ॥ १७ ॥
विश्वात्मकचनं नाम पदेऽसम्भववेधसः ।
तदहंवेदनं विद्धि विराडात्मा जगत्स्थितम् ॥ १८ ॥
वातस्य वातस्पन्दस्य यथा भेदो न विद्यते ।
शून्यत्वखत्वोपमयोश्चिन्मात्राहन्त्वयोस्तथा ॥ १९ ॥
जलेऽस्ति देशकालान्ते यथोर्म्यादि सकारणम् ।
परेऽस्त्यदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २० ॥
हेम्न्यस्ति देशकालान्ते कटकादि सकारणम् ।

यह इतना ज्यादा अत्यन्त सूक्ष्म है कि इसके समाने यह आकाश अणु के सामन स्थित स्थूलरूप महामेरु के समान स्थूल मालूम पड़ता है ॥ १६ ॥

यह इतना स्थूल है कि उसके सामने यह सारा ब्रह्माण्ड परमाणु के सदृश सूक्ष्मरूप से कहीं पर भासमान और कहीं भासमान भी नहीं है ॥ १७ ॥

मायाशबल अधिष्ठान पद में पूर्व के संस्कारों के उद्‌बोध से उद्‌भूत तत्-तत् प्राणियों के कर्म को अनुसरण करने वाला अध्यासजनित विश्वरूप का प्रकाश नारायण से उत्पन्न हिरण्यगर्भ का अहंभावरूप ज्ञानाध्यास में विषय रूप से स्थित जगत् ही विराड्‌रूपी विषयाध्यास है ॥१८॥

[अध्यास पक्ष में अधिष्ठान की सत्ता ही से कार्य और कारण दोनों में सत्ता का निर्वाह हो जाने के कारण उनमें सत्ता की प्रतीति, ज्ञान से उसका बाध और सत् वस्तु की कूटस्थता अनुपपन्न नहीं हो सकती ।]

शून्यरूपता और आकाशरूपता के सदृश चैतन्यरूपता और अहंरूपता में वैसे ही भेद नहीं है जैसे वायु और वायु का स्पन्दन—इन दोनों में भेद नहीं है ॥ १९ ॥

[यह असत् कार्यवादियों के मत में दीक्षित न हो जाय, इस अभिप्राय से केवल अधिष्ठान सत्ता से ही कार्य की ब्रह्म में त्रैकालिक सत्ता है, यह भी दृष्टान्त देकर बतला रहे कुम्भ विशेष ज्ञातव्य दर्शाते हैं ।]

जैसे देश और काल से परिच्छिन्न (भेद प्राप्त) जल में विद्यमान तरङ्ग आदि जल रूप कारण को लेकर सहेतुक हैं, उनकी जल-सत्ता से अतिरिक्त सत्ता नहीं है, वैसे ही देश और काल से अपरिच्छिन्न ब्रह्म में प्रतीयमान जगत् सहेतुक नहीं है अर्थात् जगत् अकारणक ही है। क्योंकि तरङ्गादिस्थल में अन्तरालिक जल कारणता के

ब्रह्मण्यदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २१ ॥
ईदृशं तद्वरिष्ठं च जगद्राज्यं तदक्षतम् ।
न द्वैतममलं शान्तं जगत्तृणलवायते ॥ २२ ॥
ईदृशं तत्परं श्रेयस्तस्मिन्सति यदीश्वरे ।
जगत्पदार्थसार्थश्रीः सा सत्तामेति वेदनात् ॥ २३ ॥
तत्सारमेकमेवेह विद्यते भूपते ! ततम् ।
एकमेकान्तचित्कान्तं नैकमप्यद्वितावशात् ॥ २४ ॥
तस्माद्द्वितीया कलना काचिन्नाम न विद्यते ।
आत्मतत्त्वमलं भातं तदेवाऽऽपूर्णमक्षयम् ॥ २५ ॥
संस्थितं सर्वदा सर्वं सर्वाकारमिवोदितम् ।
अदृश्यत्वादलभ्यत्वान्न तत्कार्यं न कारणम् ॥ २६ ॥

सदृश यहाँ कोई माध्यमिक अर्थात् मध्यस्थ कारण नहीं है, ब्रह्म तो मूल कारण ही है, अतः निर्हेतुक की पृथक् सत्ता कैसे होगी ? किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती ॥ २० ॥

जैसे देश-काल-परिच्छिन्न सुवर्ण में कटक आदि सुवर्णरूप कारण को लेकर सकारणक होनेपर भी उनकी पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही देशकालादि परिच्छेद से शून्य ब्रह्म में विद्यमान निर्हेतुक जगत् की ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं हो सकती है ॥ २१ ॥

इसी तरह वह सारतत्त्व ब्रह्मरूप श्रेष्ठ है, उसका समस्त जगत् के ऊपर साम्राज्य है, वह अविनाशी, अद्वैत, निर्मल और परम शान्त है, समस्त जगत् उसके सामने तिनके के टुकड़े के सदृश अति तुच्छ है ॥ २२ ॥

इसी प्रकार यह परब्रह्मतत्त्व वस्तु ऐसा कल्याणरूप है कि ईश्वररूप उसी की सत्ता से अस्तित्व लाभकर प्रसिद्ध और यह जगत्पदार्थों की शोभा भी अस्तित्व धारण करती है ॥ २३ ॥

हे भूपते ! कल्पप्रलय के बाद अवशिष्ट रहनेवाली वह सारभूत वस्तु इस समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही है, वह केवल चिन्मात्रस्वरूप है । वह निरुपाधि प्रेम का स्थान है । द्वितीय की सहिष्णुता न होने से एक होनेपर भी एकत्व का आश्रय नहीं है ॥ २४ ॥

इसलिए कोई भी दूसरी कल्पना इस संसार में नहीं है आपको अवगत निर्मल आत्मतत्त्व ही परिपूर्ण और अविनाशी है ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण आकार-प्रकारों से समन्वित होकर उदित वह सर्वस्वरूप होकर सदा ही स्थित रहता है । इन्द्रियों से दृश्य न होने के कारण तथा हाथ आदि से प्राप्य न होने

प्रत्यक्षादेरगम्यत्वात्किमप्येव तदुत्तमम् ।
सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमात्रकम् ॥ २७ ॥
आख्यानाख्यास्वरूपस्य निराभासप्रभादृशः ।
सतो वाप्यसतो वाऽथ कथं कारणता भवेत् ॥ २८ ॥
यद्वै न कस्यचिद्बीजमनाख्यत्वान्न कारणम् ।
न किञ्चिज्जायते तस्मात्प्रमाणादि ततात्मनः ॥ २९ ॥
अकर्तृकर्मकरणं सत्यं चिद्घनमक्षतम् ।
आत्मरूपमनाभासं स्वयं वेदनमक्षतम् ॥ ३० ॥
तस्मान्न जायते किञ्चित्परस्माद्ब्रह्मणो मुने ! ।

के कारण वह न ज्ञान और कर्म से जनित अतिशय का आधार है और न ज्ञान और कर्म का सम्पादक है अर्थात् न वह कार्य है और न कारण है ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों से वेद्य न होने के कारण वह स्वानुभवमात्रगम्य कुछ अनिर्वचनीय निरतिशयानन्दात्मक वस्तु है, वह सबकी आत्मा है और सब इसकी आत्मा हैं और अतिसूक्ष्म, स्वच्छ तथा अनुभवमात्ररूप है ॥ २७ ॥

व्यवहार की दृष्टि में शब्द और शब्दार्थभूत समस्त पदार्थों का ही वह स्वरूप है, अतः अपने आप ही अपना कारण कैसे होगा ? परमार्थदृष्टि में अगम्य अति उत्कृष्ट अद्वितीय प्रकाश का स्वरूपभूत है, अतः अद्वितीय वस्तु कारण किस द्वितीय के लिए होगी ? अपि च व्यवहार में अद्वैत असत् है और द्वैत सत् है, परमार्थ में तो अद्वैत सत् और द्वैत असत् है, ऐसी परिस्थिति में सत् और असत् का परस्पर कार्यकारणभाव हो ही कैसे सकता है ॥ २८ ॥

पारमार्थिक दृष्टि से जो किसी का बीज नहीं और जो शब्दागम्य होने के कारण कारण नहीं होता है उस व्यापक वस्तु से प्रमाण-प्रमेयरूप जगत् कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है ॥ २९ ॥

वह न कर्ता है, न कर्म है और न कारण है। केवल वह सत्य, चिद्घन और विकारशून्य है। आत्मरूप, अन्य-प्रमाणों से अगम्य तथा अविनाशी स्वात्मानुभवरूप भी वही है ॥ ३० ॥

हे मुने ! परब्रह्म से किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती, क्या कोई भी पुरुष किसी तरह से क्या सकारण तरङ्ग आदि को जलादि से पृथक् प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है बस इसी तरह देश-काल के परिच्छेद से शून्य ब्रह्म में अकारणक जगत् भी ब्रह्म से पृथक् नहीं रह सकता है अर्थात् लोक में यह प्रसिद्ध है कि तरङ्ग के प्रति जल कारण है, परन्तु जैसे विमर्शकाल में सकारण तरङ्ग जल से भिन्न नहीं है वैसे ही परिच्छेदशून्य ब्रह्म में विचारकाल में जगत्कारणता नहीं रह सकती है ॥ ३१ ॥

कथं किं लभ्यते केन यथोर्म्यादि सकारणम् ।
परेऽस्तदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ ३१ ॥

शिखिध्वज उवाच

जलादौ यत्तरङ्गादि तत्सकारणमस्ति हि ।
परे जगदहन्तादि नाऽकारणमवैम्यहम् ॥ ३२ ॥

कुम्भ उवाच

इदानीं तत्त्वतो ज्ञातमेतत्सत्यं महीपते ! ।
इदं जगदहन्तादि नेह किञ्चिन्न विद्यते ॥ ३३ ॥
जगच्छब्दार्थरहितं जगदस्ति शिवात्मकम् ।
व्योम्न्येव निर्मितं शान्तं व्योम्ना सूक्ष्मतरेण च ॥३४॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—जल आदि में तरङ्ग आदि तो सकारणक हैं, यह मैं मानता हूँ, परन्तु यह नहीं मानता कि परब्रह्म में अहन्ता आदि जगत् अकारणक है ॥ ३२ ॥

कुम्भ ने कहा—हे महीपते ! आपने सत्य ही कहा है, परन्तु आपने तो अब तत्त्वतः सब कुछ जान लिया है, इसलिए उस वैषम्य का परिज्ञान आप से अलग नहीं रह सकता है। यह अहन्ता आदि जगत् इस ब्रह्म में कुछ अस्तित्व ही नहीं रखता है अर्थात् समुद्र पञ्चीकृत जल का कार्य है, अतः पञ्चीकृत जल के कारण भूतों के द्वारा तथा वायु आदि अन्य निमित्तों के द्वारा जल के परिणामभूत तरङ्ग आदि सकारणक हैं, परन्तु ब्रह्म का तो कोई कारण प्रसिद्ध है नहीं और न कोई उसका सहकारी कारण है। इस तरह वैषम्य तत्त्वज्ञान के पूर्व कोई समझ नहीं सकता, परन्तु आपने तो तत्त्व जान लिया है, अतः आपके लिए वह सुबोध है ॥ ३३ ॥

'जगत्' शब्द का प्रसिद्ध जो अर्थात्मकस्वरूप है, उससे निर्मुक्त परम शान्त कल्याणमय परमात्मा ही जगत् है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। आकाश में सूक्ष्मतर आकाश ने ही उसका निर्माण किया है अर्थात् जैसे आकाश में सूक्ष्मभूत मायारूप आकाश से गन्धर्वादि नगर निर्मित होते हैं, वैसे ही ब्रह्माकाश में भी सूक्ष्मभूत माया जगत् का निर्माण है, वास्तव में कुछ नहीं है सब द्वैत का बाध हो जाने के कारण 'जगत् अकारणक है' ॥ ३४ ॥

यथा नभसि शून्यत्वं तथेदं जगदीश्वरे ।
सदृशं स्वस्वरूपेण न वा रूपेण केनचित् ॥ ३५ ॥
एवंरूपं जगदिदं सम्यग्ज्ञातं शिवं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञानप्रभावेण विषमप्यमृतायते ॥ ३६ ॥
असम्यग्ज्ञातमशिवं जगद्दुःखप्रदं परम् ।
विषबुद्‌ध्याऽमृतमपि भुक्तं विषरसायते ॥ ३७ ॥
ईदृशश्च यथा वेत्ति यद्यदेष चिदीश्वरः ।
तत्तथैवाऽऽशु भवति तादृग्रूपतया शिवः ॥ ३८ ॥
यथा ज्वाला भ्रमाज्जाता विचित्राकारविभ्रमैः ।
तिष्ठत्यनन्यरूपैव ब्रह्मसत्ता तथैव हि ॥ ३९ ॥
यत्परं चित्स्वरूपेण स्थितमात्मनि मन्थरम् ।
तत्तेन देहदेह्यादिर्जगदादीव लक्ष्यते ॥ ४० ॥

परमेश्वर में अविद्यमान जगत् उसकी सत्ता से वैसे ही सत्ता प्राप्त करता है, जैसे आकाश शून्यरूप नहीं है, परन्तु प्रतीयमान विरुद्ध शून्यत्व आकाश की सत्ता से सत्ता प्राप्त करता है, वह चैतन्यैकरूप से सदृश और जड़रूप से विसदृश भी है ॥ ३५ ॥

उस प्रकार के इस जगत् को भलीभाँति जान लेनेपर परम शिवरूप हो जाता है, क्योंकि उत्तमज्ञान के प्रभाव से विष भी अमृत हो जाता है ॥ ३६ ॥

भली-भाँति जगत् को न जानने पर भयङ्कर दुःख देने वाला होता है, विष बुद्धि यदि अमृत में हो जाय, तो वह खाने पर विष के रस में ही परिणत हो जाता है अर्थात् खाने वाले को मार डालता है ॥ ३७ ॥

विद्या की सहायता से या अविद्या की सहायता से युक्त पुरुष जिस प्रकार से जिस वस्तु को चैतन्य परमात्म स्वरूप जानता है, उस पुरुष को उस प्रकार से वह वस्तु तत्काल ही ईश्वरात्मक बन जाती है ॥ ३८ ॥

अन्यान्य रूपों में आविर्भूत भी ब्रह्मसत्ता अपने ही असली रूप से वैसे ही अवस्थित रहती है जैसे नेत्रों के दोष-विभ्रमों से ज्वाला केशोण्ड्र अर्थात् केशगुच्छ आदि रूपों में चित्र-विचित्ररूप से आविर्भूत होने पर वास्तव में वह अपने ही स्वरूप से रहती है ॥ ३९ ॥

चैतन्यस्वरूप से अवस्थित सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म ही अपने विषय में मन्दबुद्धि बनकर उस मन्दबोध के कारण देह, देही आदि जगत् के रूप में लक्षित होता है ॥ ४० ॥

अबोधवश ही इस जगद्रूप से विशुद्ध परम आनन्दरूप परमात्मा ही भासमान है । इससे अहन्ता आदि जगत् को

केवलं परमेवेत्थं परमं भासते शिवम् ।
अतो जगदहन्तादि प्रश्न एवात्र नोचितः ॥ ४१ ॥
यद्वस्तु विद्यमानं सत्प्रश्नस्तत्र विराजते ।
प्रेक्षितं यत्तु नास्त्येव प्रेक्षाप्रश्ने न तत्र किम् ॥ ४२ ॥
सन्निवेशं विना सत्ता यथा हेम्नो न विद्यते ।
तथा जगदहंभावं विना नेशस्य संस्थितिः ॥ ४३ ॥
अकारणत्वान्नास्तीदं ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ।
अजृम्भमाणमेवेदं जगत्त्वेनेव संस्थितम् ॥ ४४ ॥
यन्मया एव तेनैव मिथः सम्प्रेरिताशयम् ।
चमत्कुर्वन्त्यमी भावाः पञ्चके मिथुनौघवत् ॥ ४५ ॥
चिन्मात्र एव चिन्मात्रं चिन्मात्रेणाऽवधीयते ।
नानात्मनैव नानेव स्वात्मज्ञानात्मनात्मवत् ॥ ४६ ॥

लेकर यहाँ प्रश्न करना अनुचित है ॥ ४१ ॥

सत् होकर विद्यमान वस्तु के विषय में प्रश्न करना उचित है, परन्तु भली-भाँति विचारा गया भी जो विद्यमान ही नहीं है उसके विषय में विचारार्थ प्रश्न ही कैसा ? ॥ ४२ ॥

अहम्भाव आदि जगत् की असत्ता-दशा में ईश्वर की स्थिति के विषय में प्रश्न करना भी वैसे ही अयोग्य है जैसे अवयवों की असत्ता-दशा में सुवर्ण की स्थिति के विषय में प्रश्न करना अयोग्य है ॥ ४३ ॥

जगत् का कोई भी कारण नहीं है, अतः तीनों काल में इसकी स्थिति ही नहीं है । केवल अज्ञान के कारण इस जगत् के रूप में ब्रह्म ही स्फुरित होता है । ब्रह्म का स्वरूपतः परिज्ञान न रहने से अपरिज्ञात ब्रह्म ही जड़ जगत् का यह वृहदाकार धारण कर अवस्थित हो जाता है ॥ ४४ ॥

जैसे यौवन में स्त्री-पुरुष के जोड़े काम से प्रेरित होकर पुत्रादि कार्यरूप चमत्कार करते रहते हैं वैसे ही मायाशबल परमात्मा के स्वरूपभूत समस्त पदार्थ उसी से अर्थात् मायाशबल परमात्मा से माया द्वारा परस्पर मिलने के लिए सामग्रीरूप से प्रेरित हो पञ्चभूतात्मक पिण्ड में मायिक ही तत्-तत् कार्यरूप चमत्कार उस प्रकार करते रहते हैं ॥ ४५ ॥

जैसे वही आवृत चैतन्यमात्र स्वात्मज्ञानरूपत्व से व्याप्त होकर परमार्थरूप से चमत्कार करता है वैसे ही आवृत चैतन्यभाव ही मायिक नानारूप से अनेक-सा बनकर तत्-तत् कार्यरूप से उस प्रकार परिच्छिन्न हो जाता है ॥ ४६ ॥

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात्पूर्णानि चक्रिरे ।
भवन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवाऽवशिष्यते ॥ ४७ ॥
चिन्मात्रमेव कचति यच्चिन्मात्रमयात्मनि ।
अकचित्वैव तन्नाम कचितं सर्गवेदनम् ॥ ४८ ॥
अहं चिता चिदेवाऽऽदौ भवतीव स्वयं ततः ।
अभवन्त्येव रूपं स्वमत्यजन्ती निरामयम् ॥ ४९ ॥
तेजोमयमनाद्यन्तं मनोरूपमनन्तकम् ।
सम्राट्संसारमाभासि भवतीव स्वयं वपुः ॥ ५० ॥
पश्यत्यथ सदेवेदं स्वरूपत्वात् सदेव वा ।
भावनाद्भूततामेति दृश्यं भवति च क्षणात् ॥ ५१ ॥
शान्तं जगत्प्रसररूपतया स्वभाव-
शब्दार्थमुक्तमिदमव्यपदेश्यमेकम् ।
वस्तु स्थितं निजचमत्करणावलोक-
रूपं जगत्स्वरहितानुभवात्मतत्त्वम् ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजावबोधनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

प्रलयकाल में केवल वासना छोड़कर जब सब उपाधियाँ विलीन हो जाती हैं, तब मायाशबल ब्रह्म में एकीभूत जीव कल्प के प्रारम्भ में भोगजनक अदृष्ट का परिपाक होने पर फिर अपनी-अपनी व्यष्टि-समष्टि उपाधियों का सृष्टि द्वारा जो उद्धार करते हैं, वह अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप ही कार्यों का माया से उद्धार करते हैं, स्थिति काल में वे जीव अवान्तर कार्यों को ऐहिक आमुष्मिक भोग-साधन जो बनाते हैं, वह भी पूर्ण अपरिच्छिन्न ब्रह्म से पूर्णरूप ही बनाते हैं। अनन्तर जो तत्त्वज्ञान से मुक्त होते हैं, वह भी पूर्ण से ही, माया के अपच्छेद से; पूर्णरूप हो जाते हैं, क्योंकि माया का विनाश हो जानेपर पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। ब्रह्म का परिणाम न होने से माया का ही विकास संसार है। अतः सदा पूर्ण ही था और पूर्ण है, ब्रह्म की दृष्टि सद्रूप से परिपूर्ण है। यह —

“पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते (बृ० ५।१) इस श्रुति का ही विवरण है ॥ ४७ ॥

विकसित या प्रसिद्ध चिन्मात्ररूप वस्तु में चिन्मात्र ही सृष्टिज्ञान होता है, वह वास्तव में प्रथित न होकर ही प्रथित होता है, यह महान् आश्चर्य है ॥ ४८ ॥

अहं स्वरूप संवित् भी सृष्टि के आरम्भ में होने के समान न होती हुई भी भासमान होती है। वह अपने स्वरूप का कभी-भी परित्याग नहीं करता है ॥ ४९ ॥

अहं प्रत्यगात्मरूप चिति ही सृष्टि के आरम्भ में अपना निर्विकार, तेजोमय आद्यन्तशून्य स्वरूप को न छोड़कर और सृष्टि न होती हुई ही स्वयं चैतन्य के द्वारा अनन्त मनोरूप बन जाती है। अनन्तर स्थूलता की कल्पना से आभासशील होकर वह स्वतः स्वयंभू का विराट्-रूप संसार बन जाती है ॥ ५० ॥

अनन्तर व्यष्टि जीव का स्वरूप धारण कर अज्ञान से जगत् में सत्यता ही देखती है और परमार्थ दशा में अधिष्ठान की सत्यता देखती है। पृथ्वी आदि भूतों की भावना से पृथ्वी आदि चार प्रकार के भूत बन जाती है और दृश्यभावना से तत्क्षण दृश्यरूप बन जाती है ॥५१॥

शान्त स्वभाव शब्दों और अर्थों से निर्मुक्त, व्यवहार स्वप्रकाशरूप अनुभवात्मक, अद्वितीय वस्तु माया एवं मायिकावलोकरूप हो जगत् के विस्ताररूप के समान हो अवस्थित है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वज-अवबोधन नामक कुसुमलता का छियानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९६ ॥

९७

कुम्भ उवाच

हेम्न्यस्ति देशकालान्ते इत्थं जन्यजनिक्रमः ।
न किञ्चिज्जायते शान्तान्न किञ्चित्प्रविलीयते ॥ १ ॥

९७

कुम्भ ने कहा—देश और काल से परिच्छिन्न सुवर्ण में इसी तरह का कल्पित जन्यजनक भाव है। अर्थात् कटकादि को लेकर जन्यजनकभाव की उपपत्ति की गई है। शान्त स्वभाव से विचार करनेपर तो न कुछ उत्पन्न होता है न विलीन ही होता है ॥ १ ॥

स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम् ।
शुद्धानुभवमात्रं तत्तस्मादन्यन्न विद्यते ।
किञ्चिज्जगदहन्तादि तदेवाऽनन्तमस्ति हि ॥ २ ॥
शिखिध्वज उवाच
शिवे जगदहन्तादि मुने नास्तीति वेद्म्यहम् ।
सर्गवेदनमाभाति कथमेतद्वदाऽऽशु मे ॥ ३ ॥
कुम्भ उवाच
विस्तारं तदनाद्यन्तं तत्संविदिव तिष्ठति ।
तत्तद्भुवनमत्यच्छं तत्तन्मात्रं जगद्वपुः ॥ ४ ॥
न विज्ञानमयोऽर्थोऽस्ति न बाह्यो नाऽपि शून्यता ।

अपनी ही सत्ता में अवस्थित ब्रह्म न किसी का उपादान कारण है और न किसी का निमित्तकारण है, वह केवल विशुद्ध अनुभवस्वरूप है, अनुभवस्वरूप उससे भिन्न दूसरा पदार्थ नहीं है, अहन्ता आदि के रूप में भासमान जगत् पदार्थ भी असीम ब्रह्मरूप ही है ॥ २ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—आनन्दात्मक चैतन्य में अहन्तादि दुःखप्रचुर जगत् नहीं रहता है, परन्तु उसमें जो सर्गवेदन भासमान होता है, वह किस कारण से होता है, उसे शीघ्र मुझसे कहें ॥ ३ ॥

कुम्भ ने कहा—असीम जगत् का विस्तार करनेवाला अधिष्ठान सद्रूप अनादि अनन्त ब्रह्म सृष्टि के ज्ञान के सदृश बनकर अवस्थित है, अतः उसमें अध्यस्त भुवन विशुद्ध अधिष्ठानसन्मात्रस्वरूप है, इसीलिए वही जगत्-शरीर कहा जाता है अर्थात् अकाश में विस्तृत सूर्य प्रकाश में अध्यस्त गन्धर्वनगर आदि की प्रकाशरूपता जैसे प्रतीत होती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥ ४ ॥

न तो विज्ञानरूप अर्थ है, न बाह्य अर्थ है और शून्यरूप ही अर्थ है, क्योंकि सभी वादियों की कल्पनाएँ ज्ञान के रहते ही हो सकती हैं, ज्ञान के अभाव में नहीं, इसलिए ज्ञान की शून्यता, क्षणिकता, जन्यता, विनाशिता या परिणति कोई भी किसी तरह से नहीं कह सकता, अतः वही सारभूत वस्तु है। चैतन्यसार का जिस तरह से उपपादन किया का सकता है अर्थात् इस विषय में विज्ञानवादी बौद्धों का यह मत है—भुवन आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब भीतरी ज्ञान के परिणामरूप हैं, अज्ञानवश उनका बाह्यार्थवत् ज्ञान होता है, वास्तव में बाह्यार्थरूप है नहीं। गौतम, कणाद आदि पृथ्वी आदि पांच भूतरूप बाह्य अर्थों को परमार्थ में भी सत्यरूप मानते हैं, माध्यमिक का कहना है कि शून्य ही बाह्य-आभ्यान्तर ग्राह्यग्राहकरूप से

वेदनामात्रसारत्वाद्यथा चित्सार उच्यते ॥ ५ ॥
द्रवत्वं सलिलस्येव चिदचित्त्वमकारणम् ।
स्वात्मनीशमनन्तं तद्यथास्थितमवस्थितम् ॥ ६ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छेदाभावतः सत्वभावयोः ।
असत्वात्तेन परमे स्वच्छभावव्यवस्थता ॥ ७ ॥
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत् ।
अनिङ्गितमनाभासमप्रतर्क्यं कथं भवेत् ॥ ८ ॥
अतो न कारणं नैव बीजं ब्रह्म कदाचन ।
कार्यस्य कस्यचिन्नाम तेन सर्गो न विद्यते ॥ ९ ॥

अज्ञानवश स्फुरित होता है, वास्तव में कुछ भी है नहीं ॥ ५ ॥

जैसे जल में द्रवत्व सारभूत वस्तु है, वैसे ही सब पदार्थों की सारभूत वस्तु चैतन्य ही है। यदि चैतन्य नाम की वस्तु नहीं होगी, तो साधक के अभाव से सब जगत् 'है या नहीं है' इस प्रकार के व्यवहार के लिए क्या अयोग्य होगा, यह विचार करने की बात है। इसी तरह रस भूत चिति की अचितिता कारण के बिना निरूपित नहीं की जा सकती। वह अनन्त चिति रूप माया द्वारा अपने स्वरूप में जगत् के आकार से या परमार्थ चैतन्य मात्र रूप से प्रकाशित करने में समर्थ है, अतः वह विद्या युक्त या अविद्या युक्त जैसा भी रहता है, वैसा ही प्रतीति से भी अवस्थित है ॥ ६ ॥

सत्त्व मात्र का स्वभाव स्वच्छ भाव है और सत्त्व का विरुद्ध भाव अस्वच्छ भाव है, अस्वच्छ भाव अपने विरोधी सत्त्व का विनाश करे या न करे—दोनों ओर से उसकी सिद्धि ही नहीं है। अतः सत्त्व और उसके विरोधी अस्वच्छ भाव एवं असत्त्व की, प्रतियोगी और व्यवच्छेद का अभाव होने से अस्वच्छता न होने के कारण पराचिति में स्वच्छ भाव की व्यवस्था स्वभावतः सिद्ध हो जाती है ॥ ७ ॥

यदि प्रशान्त ब्रह्म रूप पद अस्वच्छ जगत् के प्रति कारण बनने के लिए योग्य है, तो श्रुति आदि में निष्क्रिय, अगम्य, अप्रतर्क्य आदि शब्दों से उसको कहा गया है, उसकी उपपत्ति किस तरह होगी ॥ ८ ॥

इन सब युक्तियों से यह निश्चित होता है कि किसी भी कार्य का ब्रह्म न निमित्त कारण है और न उपादान कारण ही है, अतः इस सर्ग का अस्तित्व किसी काल में ही नहीं है ॥ ९ ॥

न चाऽन्यथोपपत्तिर्हि सर्गस्याऽस्योपपद्यते ।
चिन्मात्रकादृते तस्माज्जडसर्गो न विद्यते ॥ १० ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चित्तच्चिद्घनमिवोत्थितम् ।
अहंभावजगच्छब्दशब्दार्थरसरञ्जनम् ॥ ११ ॥
कार्यं न कारणाभावात्पदार्थे तूपपद्यते ।
द्वित्वैक्याद्यात्मकं व्योम पुष्पवत्स्वानुभूतितः ॥ १२ ॥
वस्तुनाशैकनिष्ठत्वान्न वा ज्ञमुपपद्यते ।
उपलम्भकरो नाशो जन्मनस्तस्य वा कुतः ॥ १३ ॥
अथ चैनं सदा सन्तं नित्यं नष्टं च वेत्सि वा ।

चिति के अध्यास के बिना दूसरे किसी भी उपाय से सृष्टि की उपपत्ति नहीं हो सकती ।

चैतन्य के अध्यास के बिना इस सृष्टि की उपपत्ति दूसरे उपाय से ही नहीं हो सकती है जिसके आधार पर उसका उपपादन किया जाय, इससे जड़ सर्ग का अस्तित्व नहीं रहता है ॥ १० ॥

नेत्र के सामने जो नृत्य करता है अर्थात् प्रत्यक्ष होता है वह एक तरह से अज्ञानवश चैतन्यघन ही स्फुरित हो रहा है । वही अहम्भाव, जगत् आदि शब्द और शब्दार्थ-रूप रसों से रञ्जित होकर भासमान होता है ॥ ११ ॥

कारण का अभाव रहनेपर किसी भी पदार्थ में कार्य उत्पन्न नहीं होता है । जगत् में द्वित्व, एकत्व आदि भान आकाशपुष्प के सदृश विकल्पमात्र ही है ॥ १२ ॥

घट, पट आदि जागतिक वस्तु चिद्रूप नहीं हो सकती है क्योंकि जागतिक वस्तुओं का नाश होता है । चिति का नाश चिति से तो नहीं हो सकता है क्योंकि नाशकाल में यदि चिति की सत्ता मान ली तो 'चितिनाश' शब्द का कोई विषय हो नहीं होगा । जड़ वस्तु से भी चिति का नाश नहीं माना जा सकता, क्योंकि जड़वस्तु चितिनाश में समर्थ नहीं है । चिति का नाश भी चिद्रूप ही है, अतः अपने और दूसरे के प्रकाश में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि चिद्रूप चिति विनाश स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगी का प्रकाशक किस तरह हो सकेगा ? अपनी उत्पत्ति और उत्पत्ति पूर्वकालिक प्रतियोगी चैतन्य दोनों के नाश का परिज्ञान वह नहीं कर सकता । अपनी उत्पत्ति और प्रतियोगी के ज्ञान के सिवा उसका नाश स्वयं उत्पन्न हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता है । साक्षी से स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगी का ज्ञान तो नहीं हो सकता है क्योंकि चिति का विषय चिति नहीं होगी, अतः

पदार्थौघं तदेवेत्थमेकरूपेऽपि किं व्यथा ॥ १४ ॥
उपलम्भस्तु यश्चाऽयमेषा चित्तचमत्कृतिः ।
चित्तत्त्वमात्रसत्ताऽस्ति द्वित्वमैक्यं च नास्त्यलम् ॥१५॥
अतः पदार्थसत्ताया अभावे सति भूपते ! ।
असम्भवाद्भावनस्य नाऽहन्ताभावनाऽस्ति ते ॥ १६ ॥
अहम्भावासम्भवतश्चित्तमन्यत्किमुच्यते ।
इति चित्तमहंरूपं नास्त्यतो न च भिन्नता ॥ १७ ॥
निर्वासनः शान्तमना मौनी परनभोमयः ।
सदेहो वा विदेहो वा भावस्थोऽप्यचलोपमः ॥ १८ ॥

उसके वेद्यभूत उत्पत्ति विनाश और जगत् जड़ता ही सिद्ध है, इस प्रकार जगत् में जड़ता सिद्ध हो जानेपर कारण का निरूपण न होने से कारण के बिना यदि उत्पत्ति मानी जाय, तो सदा जन्म और सदा ही विनाश होने लगेगा, क्योंकि जन्म और विनाश का निवारक तो कोई नहीं है ॥ १३ ॥

यदि आप (स्वभाववादी) पदार्थों को प्रमाणशून्य एवं अनुभव विरुद्ध नित्य-उत्पत्ति स्वभाव और नित्य विनाश स्वभाव मानते हैं, तो श्रुतिप्रमाणानुसार एवं विद्वानों के अनुभव से सिद्ध अखण्ड चैतन्यैकरूप स्वीकार करने में आपको कैसी व्यथा है ॥ १४ ॥

यह चित् है और यह अचित् है, इस प्रकार का उपलम्भ केवल चित् की चमत्कृति है, दूसरा कुछ भी नहीं है । संसार में केवल चितितत्त्व की ही सत्ता है । द्वित्व और एकत्व कुछ नहीं है, केवल कल्पनामात्र है ॥ १५ ॥

इससे पदार्थ सत्ता का अभाव होनेपर उनकी भावना की असत्ता अनायास सिद्ध हो जाती है । सम्पूर्ण भावनाओं की असत्ता होनेपर तो आपकी अहम्भावना का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? ॥ १६ ॥

अहम्भाव से फिर शेष क्या बचता ही है ? जिसे कि चित्त कहा जाय । इसलिए चित्त ही अहंरूप है, अहमर्थ से भिन्न दूसरा चित्तनामक पदार्थ नहीं है और जीव-ब्रह्मभेद तथा दृश्य-दृक् का भेद भी नहीं है ॥ १७ ॥

वासना से रहित, शान्त मन से युक्त और बाहर की वाणी से रहित हो जानेपर आप परम चिदाकाशमय हो अवशिष्ट हो जाते हैं, आप सदेह या विदेह होवें या अनेक पदार्थों के बीच में रहें आप पर्वत के समान अटलरूप ही हैं; आप में कुछ भी विक्रिया नहीं है ॥ १८ ॥

सम्बन्धाच्छुद्धचिद्दृष्टेः पदार्थाभावसिद्धितः ।
भावनाभावतश्चित्ते नास्त्येवाऽहमिति स्वयम् ॥ १९ ॥
एवं ब्रह्मेति वेदार्थभावनादनुभूतितः ।
चेतितार्थैकसत्यत्वाच्चिन्ता नाम क्व विद्यते ॥ २० ॥
तेनाऽसि निर्मलमकारणमादिमुक्तं
तद्ब्रह्म शाश्वतमशेषमनेकमेकम् ।
शून्यं निरामयमसत्सदनादिमध्यं
सर्वं जगच्चिदपि ब्रह्म यथास्थितं तत् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजप्रबोधनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

शुद्ध चैतन्यदृष्टि के सम्बन्ध से, जड़ पदार्थ की कदापि सिद्धि न होने से जड़ पदर्थों की भावना का भी अभाव हो जाने से भावनाजनित जीवरूप रहता ही नहीं, केवल स्वयं आत्मा ही अवशिष्ट रहता है ॥ १९ ॥

'सब ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थ भावना से जनित ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा केवल ब्रह्मरूप अर्थ के ही प्रकाशित हो जानेपर चिन्ता का अस्तित्व ही कहाँ रह जाता है ॥ २० ॥

द्वैत का बाध हो जाने के कारण आप ब्रह्मरूप ही हैं, वह ब्रह्म निर्मल, कारण शून्य और आरम्भ से रहित है, वह शाश्वत है, निरामय है, आदि और मध्य से रहित है । एक होता हुआ भी अनेकरूप है, वास्तव जगत् असत् और शून्य है । जगत्प्रतिभासरूप चिति भी अविकृत ब्रह्म ही है, अतः अन्त में यही अवशिष्ट रहता है ॥ २१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में
शिखिध्वजप्रबोधन नामक कुसुमलता का सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९७ ॥

९८

शिखिध्वज उवाच

चित्तं नास्तीति मे बोधो यथा युक्त्या स्फुटं भवेत् ।
तामन्यामथवा ब्रूहि बुद्धं न निपुणं मया ॥ १ ॥

९८

राजा शिखिध्वज ने कहा—चित्त का अस्तित्व ही नहीं है, इस प्रकार का बोध मुझे युक्ति से जिस तरह विस्पष्ट हो, उसे कहें । चाहे वह पूर्वोक्त युक्ति ही हो हो चाहे दूसरी हो, क्योंकि अभीतक चित्त नहीं है, यह हमने दृढ़तापूर्वक नहीं जाना है । [इस विषय को स्पष्ट करते हुए संस्कृत टीका के अनुसार अच्युत ग्रन्थमाला में कहा है प्रकाश के रहते भी रूप आदि का जैसे प्रकाश देखा जाता है, वैसे ही चित्त के रहते ही चिति का या दूसरे पदार्थ का प्रकाश देखा जाता है, अन्यथा नहीं; इस परिस्थिति में यदि ब्रह्माकारवृत्तियुक्त चित्त बाधित हो जायगा, तो दीपनाश होनेपर जैसे अन्धकार हो जायगा । दूसरी बात यह है—जो सचित्त हैं वे ही सचेतन हैं और जो अचित्त हैं, वे चेतन शून्य हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है, अतः जीवन्मुक्त यदि नष्टचित्त होंगे, तो मृत्तिका के सदृश अचेतन ही हो जायँगे, परन्तु वैसा देखा तो जाता नहीं । अपि च चित्त के रहते ही निरतिशयानन्दरूपी परमपुरुषार्थ—शास्त्रफल—का अनुभव किया जा सकता है, चित्त के अभाव में नहीं, अननुभूत कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता । किञ्च, एक प्रश्न भी होता है, वह यह कि क्या ब्रह्माकार चित्त ही चित्त का बाध करेगा या दूसरा ? पहला तो कर नहीं सकता, क्योंकि स्वात्मा में क्रियाविरोध है; यह कहीं नहीं दृष्ट है कि काठ आदि बाह्य वस्तु का दहन कर रही अग्नि अपने आप में भी दाह करे । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा बाधित होनेवाला जगत् उसका बाधक हो नहीं सकता । चित्तवृत्ति से अतिरिक्त लोक में बाधक अप्रसिद्ध होने से सुन्दोपसुन्दन्याय का अवसर भी नहीं लाया जा सकता । ब्रह्म तो अनादि है, अतः वह सबका साधक होने के कारण बाधक नहीं हो सकता, इसलिए चित्त बाध निरर्थक, दुष्कर और सर्वानुभव से विरुद्ध है, इत्यादि आशङ्काओं के निरसन द्वारा बोध की दृढ़ता चाहने वाले राजा शिखिध्वज पूछते हैं] ॥ १ ॥

कुम्भ उवाच

चित्तं नास्त्येव हे राजन्! कदाचित्किञ्चन क्वचित्।
यच्चेदं चित्तवद्भाति तद्ब्रह्माभिधमव्ययम्॥ २॥
अतोऽज्ञानात्मकं यत्तज्जगदेव न विद्यते।
तत्राऽहं त्वं तदित्यादि कल्पिताः कलनाः कुतः॥ ३॥
नास्त्येव जगदेवेदं यच्चेदं किञ्चनोदितम्।
ब्रह्मैवाऽस्तीह सकलं केन तद् बुध्यते कथम्॥ ४॥
महाप्रलयसर्गादावेवेदं नोदितं जगत्।
निर्देशस्त्विदमित्यत्र त्वद्बोधाय मया कृतः॥ ५॥

कुम्भ ने कहा—हे राजन्! चित्तनाम का पदार्थ किसी काल में, किसी देश में या किसी वस्तु रूप में कहीं है ही नहीं और जो यह चित्त-सा मालूम पड़ रहा है, वह ब्रह्म नाम की अविकारी वस्तु ही है अर्थात् समस्त दोषों का परिहार कर जो युक्ति चित्त की बाधक है, उसे कहने के लिए कुम्भ मुनि चित्त का असत्त्व है और चित्त के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का ही केवल सत्त्व है॥ २॥

सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपञ्च अज्ञानात्मक है, इसलिए उसका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञान से बाध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्म में अहम्, त्वम्, तत् इत्यादि कल्पित सजावट कैसे रह सकती है। अर्थात् स्वात्मा में तभी क्रिया विरोध होता, जब कि अज्ञानबाध के सिवा दूसरा कोई चित्तादि का बाध होता, किन्तु ऐसा तो नहीं, क्योंकि अज्ञानबाध ही अज्ञानकार्य आदि की निवृत्तिरूप है, अतः अज्ञानबाध की स्थिति में चित्त का अस्तित्व ही नहीं ठहर सकता। अतएव फिर अन्धत्व आदि दोष हो भी नहीं सकते, क्योंकि अज्ञान ही सर्वान्धित्व का प्रयोजक है; अज्ञान-बाध होनेपर स्वप्रकाश पूर्णानन्द का अवशेष रहने से निरतिशय पुरुषार्थ सिद्ध ही हो जाता है। चित्त के अधीन चैतन्य है भी नहीं, किन्तु अभिव्यक्त चिति के अधीन चैतन्य है, इस प्रकार का चैतन्य जीवन्मुक्तों में, चित्त की नाश होनेपर भी है ही; अतः जीवन्मुक्त अचेतन नहीं हो सकते। चित्त का विनाश हो जानेपर चित्तकृत चित्ति का अभिव्यक्ति भाग जायगी, यह कहना तो सुविचारमूलक हो नहीं सकता, क्योंकि अनभिव्यक्ति अज्ञानरूप आवरण के ही कारण रहती है। जब आवारक अज्ञान ही हट गया, तव चिति की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होने से उसकी अनभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, मेघावरण का विनाश कर वायु द्वारा की गई सूर्याभिव्यक्ति शरत्काल में वायु के न रहने पर क्या नष्ट हो जाती? अर्थात् नहीं, सूर्याभिव्यक्ति बनी ही रहती है, बस यही न्याय प्रकृत में है॥ ३॥

उपादानात्मकादीनां कारणानामभावतः।
अकारणं च भावानामशेषाणां त्वसम्भवात्॥ ६॥
एवमज्ञानबुद्धयात्म जगत्तस्मान्न विद्यते।
तस्माद्यदिदमाभाति भासनं ब्रह्म नेतरत्॥ ७॥
अनाख्येऽनाकृतौ देवे करोतीदमिति त्वसत्।
भाषितं नोपपत्त्याम न सत्यं नाऽनुभूयते॥ ८॥
अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः।
स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम्॥ ९॥

यह उदित जगत् कुछ नहीं है हाँ यदि कुछ है, तो जड़ ब्रह्म ही है, अतः किससे क्या किस तरह जाना जाय॥४॥

प्राकृत प्रलय के उस सृष्टि के आरम्भ में ही यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न नहीं है, इसलिए मैंने 'यह चित्त-सा मालूम' पड़ता है, इत्यादि रूप से जो कहीं-कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोध के लिए ही किया है॥ ५॥

उपादन आदि कारणरूप से प्रसिद्ध का भी अस्तित्व नहीं है, और जितने भावरूप से प्रसिद्ध का भी अस्तित्व नहीं है, इसलिए ब्रह्म कारण नहीं है और जगत् का भी कोई कारण नहीं है॥ ६॥

ज्ञानजनित भ्रान्तिरूप ही जगत् है, इसलिए उसकी किसी काल में सत्ता नहीं है। अतः यह दिखाई देनेवाली भासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं॥ ७॥

नामरहित और रूपरहित ब्रह्म रूप देव के विषय में कहना कि यह देव इस असदात्मक जगत् का निर्माण करता है वह न तो युक्त्यात्मक है, न सत्य है और वैसा न तो लोगों का अनुभव है। अर्थात् यदि सर्ग आदि वास्तव में नहीं हैं, तो 'तदात्मानं स्वयमकुरुत', 'एको वशी सर्व-भूतान्तरात्मा', 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' 'कर्ता भोक्ता महेश्वरः' इत्यादि श्रुतिस्मृति-वचनों का प्रयोजन क्या? यदि यह शङ्का हो, तो उसका समाधान यह है कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति में अपेक्षित निषेध्य का समर्पण कर अद्वैततत्त्व का व्युत्पादन करना ही उनका प्रयोजन है, तत्त्वार्थता उनमें नहीं है॥ ८॥

स्वात्मा ईश्वर निराकार, अनाम और किसी दूसरे से आहत न होने वाला है, इसलिए वह जगत् करता है,

अनेनैव प्रयोगेण राजंश्चित्तं न विद्यते ।
जगदेव न सत्साधो ! कुतश्चित्तादि तद्गतम् ॥ १० ॥
चेतो हि वासनामात्रं वास्ये तु सति वासना ।
वास्यं जगत्तदेवासदतश्चित्तास्तिता कुतः ॥ ११ ॥
यदिदं कचति ब्रह्म स्वयमात्मात्मनात्मनि ।
कृतं तस्यैव तेनैव चित्तमित्यादिनामकम् ॥ १२ ॥
जगद्दृश्यमिदं वास्यं तदेवोत्पन्नमेव नो ।
कारणाभावतः पूर्वमेवातश्चित्तता कुतः ॥ १३ ॥
अतश्चिद्व्योममात्रात्म परमाकाशनामकम् ।
स्फारं वेदनमेवेदं कचत्यस्ति कुतो जगत् ॥ १४ ॥
यत्किञ्चित्परमाकाश ईषत्कचकचायते ।
चिदादर्शेन जातत्वान्न चित्तं नो जगत्क्रिया ॥ १५ ॥
अहं त्वं जगदित्येषा प्रतिपत्तिर्न वास्तवी ।
मिथ्या स्वप्न इवाऽऽभाति नूनं मेऽशेषकारिणी ॥ १६ ॥

इत्यादि तात्पर्यशून्य अर्थवादों की सर्वज्ञ के विषय में उक्ति है, वह केवल उपहास के लिए ही है ॥ ९ ॥

हे राजन् ! इसी प्रयोग से चित्त का अस्तित्व नहीं रहता, हे साधो ! जब जगत् का ही अस्तित्व नहीं है, तब जगत् के अन्तर्गत चित्त का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? ॥ १० ॥

चित्त वासनामात्ररूप है, वासना तब होती है, जब कि वास्य अर्थात् वासना का विषय रहे । परन्तु वासना का कर्म जगत् तो स्वयं असत् है, अतः चित्त का अस्तित्व ही कहाँ ॥ ११ ॥

यह स्वयं ब्रह्मस्वरूप आत्मा अपने ही स्वरूप से अपने में स्फुरित होता है, उसी के चित्त आदि नाम हैं और उसी ने उनकी रचना भी की है ॥ १२ ॥

पहले तो कारण के अभाव से ही यह दृश्य वासना का विषय जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अतः चित्तरूपता कहाँ से आई ? ॥ १३ ॥

अतः केवल चिदाकाशस्वरूप परमाकाश नामक विशुद्ध विज्ञान ही स्फुरित हो रहा है, इसलिए जगत् की सत्ता कहाँ से आई ॥ १४ ॥

परमाकाश स्वरूप चिति दर्पण में अनिर्वचनीय माया रूप थोड़ा-सा जो स्फुरित हो रहा है, वह चिदादर्श के कारण ही उत्पन्न है, अतः वस्तु न चित्त है और न जगत्-क्रिया है ॥ १५ ॥

समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली अहम्, त्वम्, जगत् इत्यादि जो यह ज्ञान होती है, वह वास्तविक नहीं है, किन्तु साक्षीरूप मुझमें स्वप्न के सदृश मिथ्या रूप ही भासमान होती है ॥ १६ ॥

वास्यस्य जगतोऽभावाद्यतो नास्त्येव वासना ।
अतस्तदात्मकं चित्तं कीदृशं क्व कुतः कथम् ॥ १७ ॥
अप्रबुद्धैरवगतं चित्तं दृश्यमिदं जगत् ।
असच्चित्तं निराकारं पूर्वमुत्पन्नमेव नो ॥ १८ ॥
नोत्पन्नं कारणाभावात्सर्गादावेव सर्वदा ।
लोकशास्त्रानुभवतो न च दृश्यस्य वस्तुनः ॥ १९ ॥
अनादित्वमजत्वं वा स्थैर्यं वाऽप्युपपद्यते ।
साकारस्याऽस्य जगतः स्थूलस्य प्रतिघाकृतेः ॥ २० ॥
समस्तकारणाभावाल्लोकशास्त्रानुभूतिभिः ।
युज्यन्ते च निराकर्तुं न महाप्रलयादयः ॥ २१ ॥
शास्त्रानुभववेदार्थसिद्धान्तैस्ते त्रयोऽपि वा ।
प्रलयाश्च न सन्तीति वक्त्युन्मत्तक एव च ॥ २२ ॥
लोकशास्त्राणि वेदाश्च प्रमाणं यस्य नो मतेः ।
असद्बुद्धो ह्यतिमूढः स सज्जनस्तं न संश्रयेत् ॥ २३ ॥

वासना के विषय जगत् की सत्ता न होने से वासना की सत्ता नहीं है, इसलिए वासनात्मक चित्त ही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरह से हो सकता है ? ॥ १७ ॥

जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं है, वे ही चित्त और इस दृश्य जगत् को सद्रूप जानते हैं, वस्तुतः चित् असत् है, उसका कोई आकार नहीं है और न पहले उत्पन्न ही हुआ है ॥ १८ ॥

इसलिए पहले चित्त उत्पन्न नहीं हुआ कि सर्ग के आरम्भ में ही उसे पैदा करने वाला कोई कारण न था । लोक, शास्त्र और अनुभव से दृश्य वस्तु में अनादिता, अजता और स्थिरता की उपपत्ति कभी हो नहीं सकती । साकार, स्थूल तथा प्रतिघातयोग्य आकृति वाले इस जगत् के लोक, शास्त्र और अनुभव से सिद्ध ये महाप्रलय आदि प्रलयान्त विकार हैं, उनका निराकरण करना उचित नहीं है, क्योंकि निराकरण करने में उपपादक जो हेतु हो सकते हैं, वे ही नहीं हैं ॥ १९-२१ ॥

शास्त्र, अनुभव और वेदार्थ सिद्धान्तों के ऊपर दृष्टि-पात करने से वे प्राकृत आदि तीन प्रलय ही नहीं हैं, यह कहने वाला उन्मत्त ही हो सकता है ॥ २२ ॥

जिसकी बुद्धि में लोक, शास्त्र और वेद प्रमाण नहीं हैं, वह केवल लोक का आश्रयण करने वाले असत् चार्वाक आदि से भी अत्यन्त मूर्ख है, अतः सज्जन को उसका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

न च सप्रतिघस्याऽस्य दृश्यस्याऽप्रतिघं क्वचित् ।
कारणं भवितुं शक्तं साकारस्य निराकृति ॥ २४ ॥
इत्थमालक्ष्यमाणं तत्तदेवं सततं मुने ! ।
न च नाऽर्थक्रियाकारि भवेन्नेत्थमिदं जगत् ॥ २५ ॥
तस्मादिदं निरंशस्य चिद्व्योम्नोऽप्रतिघाकृतेः ।
निराकृतेरनन्तस्य पूर्वात्पूर्वनिरंशतः ॥ २६ ॥
ब्रह्मणः सर्वरूपस्य शान्तस्याऽऽत्तस्य यत्समम् ।
स्वत एवाऽऽत्मकचनं सर्गप्रलयरूपधृक् ॥ २७ ॥
स्वकं वपुश्च तेनव ज्ञातं जगदिव क्षणात् ।
क्षणान्तरानुबुद्धं सद्ब्रह्मैवाऽऽस्ते निरात्मनि ॥ २८ ॥
ब्रह्मैवेदमतः सर्वं क्वचिन्न जगदादिधीः ।
क्वाऽचित्तादि क्व चित्तादि क्व द्वैतैक्यादिकल्पना ॥२९॥
सर्वं निरालम्बमजं प्रशान्त-
मनादिरित्यात्म यथास्थितं सत् ।
इदं तु नानेव न चाप्यनाना
यथास्थितं तिष्ठ सुकाष्ठमौनम् ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधनं नाम अष्टनवतितमः सर्गः ॥९८॥

साकार तथा प्रतिघातयुक्त इस दृश्य जगत् का कहीं पर भी निराकार प्रतिघातशून्य ब्रह्म कारण नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

हे मुने ! इस तरह अकारणत्वादिरूप से लक्ष्यमाण ब्रह्म सदा ही तत्स्वरूप है। इस तरह सिद्धान्त का रहते हुए भी व्यवहार में जगत् अर्थ-क्रिया में समर्थ नहीं है, यह भी नहीं है और परमार्थ में जगत् ब्रह्मरूप भी नहीं है, यह भी नहीं हो सकता है ॥ २५ ॥

इससे अंशशून्य, प्रतिघातरहित, चिदाकाश, निराकार, अनन्त, पूर्व से पूर्व होते हुए भी निरंश है ॥ २६ ॥

पूर्णस्वभाव, सदाप्राप्त ब्रह्म का यह समस्वरूप स्वतः अपना कचन है ही, सर्ग प्रलय स्वरूप को धारण करता है ॥ २७ ॥

वह अपना स्वरूप ही सर्ग-प्रलयरूपधारी जगत् के रूप में जब तक अज्ञान रहता है तबतक ज्ञात होता है, यह सृष्टि-श्रुतियों का तात्पर्य है और वही एकक्षण के बाद 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों के अनुसार ज्ञात हुआ सत् ब्रह्मरूप होकर द्वैत-निर्मुक्त स्वभाव में स्थित हो जाता है, यह सृष्टिनिराकरण करने वाली श्रुतियों का तात्पर्य है ॥ २८ ॥

शास्त्रीय बोध से सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, न तो कहीं जगत् आदि का ज्ञान है, न कहीं चित्त का अभाव है, न कहीं चित्त आदि हैं और न कहीं द्वैत-ऐक्य आदि की कल्पना ही है ॥ २९ ॥

समस्त जगत् उपद्रवनिर्मुक्त हो निराधार, अजन्मा, अनादि स्वात्मरूप यथास्थित सद्ब्रह्मरूप ही हो जाता है। यह जो अज्ञानियों द्वारा देखे गये जगत् हैं, वह न नाना है और न अनाना ही है, अतः यथास्थित का व्यवहार कर रहे आप उत्तम काठ के सदृश वाग् आदि व्यवहारों से निर्मुक्त होकर स्थित रहिए ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजावबोधन नामक कुसुमलता का अट्ठानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९८ ॥

९९

शिखिध्वज उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्महामुने ! ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहो विश्रान्तमतिरात्मवान् ॥ १ ॥
ज्ञातज्ञेयो महामौनी तीर्णमायामहार्णवः ।
शान्तोऽहमनहंरूपो ज्ञः स्थितोऽस्मि निरामयः ॥ २ ॥

९९

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे महामुने ! आपकी दया से मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे स्मृति विस्मृत आत्म-साक्षात्कार लब्ध हो गए, मेरा सन्देह दूर हो गया; मेरी बुद्धि विश्रान्त हो गई, मैं आत्मवान् होकर स्थित हूँ ॥ १ ॥

अब मैंने ज्ञेय वस्तु का ज्ञान कर लिया, महामौनी हो गया, मायारूपी महासमुद्र को पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहङ्कारस्वरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सर्वविध विकारों से शून्य होकर अवस्थित हूँ ॥ २ ॥

अहो नु सुचिरं कालं प्रभ्रान्तोऽहं भवाम्बुधौ ।
स्थानमक्षयमक्षुब्धमधुना प्राप्तवानहम् ॥ ३ ॥
एवं स्थिते मुने ! नास्ति साहन्तादिजगत्त्रयम् ।
मूर्खबुद्धमिदं भाति यत्तद्ब्रह्मेति वेद्म्यहम् ॥ ४ ॥

कुम्भ उवाच

जगदेव न यत्राऽऽस्ते तत्राऽहं त्वं विभासनम् ।
इत्थमम्बरसंसारः क्वः कुतः कीदृशः कथम् ॥ ५ ॥
यथास्थितव्यवहृतिर्मौनी शान्तमना मुनिः ।
सौम्यार्णवोदरावर्तपरिस्पन्दवदास्स्व भोः ॥ ६ ॥
ब्रह्मरूपमिदं शान्तमित्थमस्ति यथास्थितम् ।
अहं जगदिदं चेति शब्दार्थात्म नभोमयम् ॥ ७ ॥
इदमाद्यन्तरहितं सर्वसंसारनामकम् ।
चिच्चमत्कृतिनामात्म नभः कचकचायते ॥ ८ ॥

अहो ! बहुत दिनों तक भवसागर में परिभ्रमण करता रहा, परन्तु अभी मैं अक्षुब्ध अक्षय स्थान को प्राप्त कर लिया है ॥ ३ ॥

हे मुने ! इस तरह अवस्थित होने पर मूर्खों से अवबुद्ध अहन्ता सहित ये तीनों जगत् नहीं हैं। जो कुछ यह भासमान हो रहा है उसे मैं ब्रह्मरूप ही मानता हूँ ॥ ४ ॥

कुम्भ ने कहा—आप सत्य कह रहे हैं। जिस चिदाकाश में यह जगत् ही नहीं है वहाँ इस तरह का 'अहं त्वम्' आदि भानात्मक गन्धर्व-नगर का व्यवहार कैसा ? कहाँ, किस निमित्त से और किस प्रकार से हो सकता है ॥ ५ ॥

आप यथा प्राप्त व्यवहार शान्तमना, मौनी मुनि बन कर प्रशान्त सागर के उदर में शान्त आवर्तपरिस्पन्दन के सदृश अवस्थित रहें ॥ ६ ॥

यह सब यथास्थित शान्त ब्रह्म-स्वरूप ही इस प्रकार अवस्थित है। मैं और यह सब जगत्-शब्दार्थ स्वरूप आकाशमय है अर्थात् शून्य ही है ॥ ७ ॥

यह सब संसार आदि और अन्त से शून्य चिच्चमत्कृतिनामक आत्मस्वरूप आकाश ही अपने चाकचाक्य से दीपित हो रहा है ॥ ८ ॥

जगदादि अर्थों के शान्त हो जानेपर एकमात्र ब्रह्म वैसे ही अवशिष्ट रह जाता है जैसे कुण्डल आदि रचनाविशेष दृष्टि के शान्त हो जानेपर सुवर्णमात्र अवशिष्ट रह जाता है ॥ ९ ॥

स्वयं व्यष्टि-अहङ्कार भी वैसे ही सङ्कल्पमात्र है। जैसे समष्टि-अहङ्कारात्मक स्वयम्भू सङ्कल्पमात्र हैं। समष्टि-और व्यष्टिका बन्ध और मोक्ष—ये दोनों क्रमशः अभिमान और अभिमान-परित्याग से जननित आत्म-वेदन के अधीन होकर व्यवस्थित हैं ॥ १० ॥

सन्निवेशदृशः शान्तौ तदस्ति कनकं यथा ।
जगदाद्यर्थसंशान्तौ ब्रह्मेदं विद्यते तथा ॥ ९ ॥
यथा स्वयम्भूः सङ्कल्पः स्वयं नाम तथैव हि ।
एतौ स्ववेदनायत्तौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ॥ १० ॥
अहमित्येव सङ्कल्पो बन्धायाऽतिविनाशिने ।
नाऽहमित्येव सङ्कल्पो मोक्षाय विमलात्मने ॥ ११ ॥
यद्बन्धमोक्षसङ्कल्पशब्दार्थानां सदा सताम् ।
स्वरूपवेदने तत्सत्केवलत्वं च कथ्यते ॥ १२ ॥
अनहंवेदनं सिद्धिरहंवेदनमापदः ।
सोऽहमेवाऽनहमिति शुद्धबोधो भवाऽऽत्मवान् ॥ १३ ॥
असङ्कल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोदयात्मना ।
सङ्कल्पः क्षीयते सिद्ध्यै स्वयमेवाऽसदात्मकः ॥ १४ ॥
अप्रतर्क्ये स्वरूपे हि नास्ति कारणता शिवे ।
कारणाभावतः कार्यपदार्थोऽपि न विद्यते ॥ १५ ॥

'देह आदि मैं हूँ' इस तरह का सङ्कल्प अत्यन्त विनाशी बन्धन के लिए है तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरह का सङ्कल्प विमलात्मक मोक्ष के लिए होता है ॥११॥

सदा क्रमशः हो रहे बन्ध-मोक्ष तथा सङ्कल्पादि शब्दार्थों का साक्षिभूत स्वरूप-ज्ञान वही सद्ब्रह्म और कैवल्य कहा जाता है ॥ १२ ॥

अहङ्कार का ज्ञान का अभाव मोक्ष है तथा अहङ्कार-ज्ञान ही बन्ध है। इसलिए 'मैं वह ब्रह्म ही हूँ, अहं पदार्थ मैं नहीं हूँ' इस तरह के शुद्ध कैवल्यात्मक बोध से युक्त होकर आत्मवान् बनें ॥ १३ ॥

सम्यग् ज्ञानोदय में हेतुभूत सङ्कल्प के त्यागमात्र से मोक्ष की सिद्धि के लिए असदात्मक सङ्कल्प अपने आप ही नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

अर्थात् शुद्ध ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, इससे दृश्य पदार्थों का अभाव है—दृश्य पदार्थों का अभाव निश्चित होने से सङ्कल्प का क्षय हो जाता है, सङ्कल्प के क्षय से अहम्भाव का क्षय हो जाता है और अहम्भाव के क्षय से जीवभावादिरूप संसार का क्षय हो जाता है; उसके बाद एकमात्र ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है।

अप्रतर्क्य स्वरूप शिव में कारणता नहीं है, कारण के अभाव से कार्य पदार्थ भी नहीं है ॥ १५ ॥

पदार्थाभावसंसिद्धौ वेदनं नोपपद्यते ।
कारणाभावतो नित्यमहम्भावस्य नोदयः ॥ १६ ॥
अहम्भावानुदयतः संसारः कस्य कीदृशः ।
संसाराभावतः सर्वं परमेवाऽवशिष्यते ॥ १७ ॥
यदिदं भासते तत्सत्परमेवाऽऽत्मनि स्थितम् ।
परं परे परापूर्णं सममेव विजृम्भते ॥ १८ ॥
तेन निस्तिमितं सर्वं शिलाकीर्णमिवाऽचलम् ।
विद्धि रश्मिमयाकारमिव ब्रह्म जगत्स्थितम् ॥ १९ ॥
पुरः सङ्कल्पके नष्टे सङ्कल्पनगरस्य यत् ।
रूपं तद्विद्धि जगतः खादच्छं सदसन्मयम् ॥ २० ॥
छायापुरुषवत्स्पन्दि शान्तं निर्मननं जगत् ।
जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति ॥ २१ ॥

कार्य पदार्थों के अभाव की सिद्धि होनेपर उनका सङ्कल्प सिद्ध नहीं है और सङ्कल्परूप कारण के अभाव से अहम्भाव का भी उदय नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

अहम्भाव का उदय न होने से किसका कैसा संसार ? और संसार के अभाव से सर्वात्मक केवल परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ १७ ॥

ज्ञान से पहले जगद्रूप से अवभासित परमार्थरूप से ब्रह्म ही परमार्थक रूप से उस तरह से अवस्थित था । तत्त्वबोध से कोई अपूर्व नहीं प्रकट होता, किन्तु परब्रह्म-स्वरूप स्वभाव में स्थित परब्रह्म ही परब्रह्म से अपूर्व स्वरूप ही प्रकट होता है ॥ १८ ॥

सदा एकतत्स्वरूप हेतु से सर्वात्मक वस्तु वज्रशिला से निबिडित (परिपूर्ण) यानी वज्रशिला के उदर की तरह दृढ़ और स्थिर है, उसमें स्थित जगत् वज्रमणि के रश्मिमय हजारों प्रतिबिम्बों के आकारों के सदृश समझें ॥ १९ ॥

सङ्कल्प के नष्ट हो जाने पर सामने स्थित सङ्कल्प नगर का रूप आप आकाश से भी बढ़कर अत्यन्त स्वच्छ सदसन्मय इस जगत् का रूप समझें ॥ २० ॥

जैसे वज्रशिला के उदर में प्रतिबिम्बात्मक पुरुष स्पदनशील न होता हुआ भी स्पन्दित होता है वैसे ही स्पन्दनशील, मनन-रहित शान्त और जगत्-शब्दार्थ से रहित इस जगत् को जो देखता है वही देखता है ॥ २१ ॥

सम्यग् ज्ञान का उदय होनेपर बाह्य रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ निःसार हैं ऐसी आगम-प्रमाण से उत्पन्न स्थिर भावना को विद्वान् लोग निर्वाण की हेतु होने से निर्वाण (मोक्ष) कहते हैं ॥ २२ ॥

रूपालोकमनस्कारा नीरसागमभावना ।
सम्यग्ज्ञानावबोधस्य निर्वाणं तौ विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥
यथाऽस्ति वातो निःस्पन्दो यथाऽस्ति खगतोऽपि वा ।
यथा हेमासन्निवेशमस्ति ब्रह्म जगत्तथा ॥ २३ ॥
नीरसा असदाभासा जगत्प्रत्ययकारिणः ।
रूपालोकमनस्काराः सन्तीमे ब्रह्मरूपिणः ॥ २४ ॥
ऊर्मिशब्दार्थरहितं यादृगम्बु बहून्यपि ।
सर्गशब्दार्थरहितं तादृग्ब्रह्म निसर्गवत् ॥ २५ ॥
सर्ग एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गदृक् ।
सर्गशब्दार्थरहितो वाक्यार्थस्त्वेष शाश्वतः ॥ २६ ॥
ब्रह्मशब्दार्थसम्पत्तौ सर्वशब्दार्थधीः कृता ।
सर्गशब्दार्थसंसिद्धौ ब्रह्म शब्दार्थधीः कृता ॥ २७ ॥

जगत् भी किसी रचना विशेष से शून्य वैसे ही ब्रह्म ही है, ऐसी सम्भावना अवश्य करनी चाहिए जैसे स्पन्दशून्य वायु, दीपादि आकार विशेष से शून्य आकाशगत प्रकाश अथवा कटक आदि रचना विशेष से शून्य सुवर्ण है ॥२३॥

ज्ञान होने पर ब्रह्मरूप जगत् की प्रतीति कराने वाली जगत् के ये बाह्य रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ, नितान्त नीरस असद्रूप से अवभासित हो जाती हैं ॥ २४ ॥

बहुत-सी वस्तुएँ ज्ञान का उदय होने पर सर्ग शब्दार्थ से रहित सर्ग शून्य वैसे ही एकमात्र ब्रह्म ही हैं जैसे समुद्र में अनेक भी तरङ्ग आदि तरङ्ग शब्दार्थ से रहित जल-मात्र ही हैं ॥ २५ ॥

यह सृष्टि ही सृष्टि शब्द के अर्थ से रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है, क्योंकि यही शाश्वत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसी श्रुति का वाक्यार्थ है अर्थात् 'सर्ग' शब्द के अर्थभूत भेद का बाध हो जाने पर सृष्टि और परब्रह्म में ऐक्य ही भासित होता है ॥ २६ ॥

सबका उपबृंहण करता है, इसलिए 'ब्रह्म' है, इस प्रकार ब्रह्मशब्द की अर्थ सम्पत्ति होने पर ही लोक में सर्ग शब्दार्थ की बुद्धि की गई है और सर्ग शब्दार्थ की संसिद्धि होने पर सर्ग नाम और रूप का त्याग इस तरह सर्ग शब्दार्थ की सम्पत्ति होने पर त्रिविध परिच्छेद की निवृत्ति हो जाने से 'बृह' धातु के अनुसार ब्रह्मशब्द का अर्थ निकलता है, इसलिए सर्ग शब्द और ब्रह्मशब्द दोनों एकार्थक ही हैं अर्थात् बृहत्व और बृंहण से ही तो ब्रह्म शब्द बनता है, अतः, उपबृंहण सृष्टि ही है फलतः वह ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है ॥ २७ ॥

समस्तशब्दशब्दार्थभावनाभावनोदयम् ।
शुद्धं तिष्ठति चिद्व्योम ब्रह्मशब्देन कथ्यते ॥ २८ ॥
सम्यग्दर्शनसंसिद्धावुभयोरप्यवेदने ।
यच्छिष्टमजरं शान्तं ततो वाग्विनिवर्तते ॥ २९ ॥

स शान्तसर्वात्मकवेदनौघ-
मस्तीदमेकात्मकस्वस्वरूपम् ।
यथास्थितं सर्वजगत्स्वरूपं
पाषाणरूपं च परं ज्ञरूपम् ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजावबोधनं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

समस्त शब्दभावना और समस्त शब्दार्थ भावना से अभिव्यक्त शुद्ध चिदाकाश ही रहता है वही ब्रह्मशब्द से कहा जाता है। थोड़े भी परिच्छेद का स्वीकार कर लेने पर 'बृह' धातु के अर्थ में संकोच होगा, अतः अशब्द शब्द से जैसे कहा जाता है वैसे ही ब्रह्मशब्द से भी वही कहा जाता है ॥ २८ ॥

जगत्-शब्द के सदृश ब्रह्मशब्द के वाच्यभूत अर्थ को जान लेने के बाद लक्षणा द्वारा अखण्डार्थरूप सम्यग्ज्ञान सिद्ध हो जाने पर अवशिष्ट अज, शान्त आत्मवस्तु रहती है उससे ब्रह्मशब्दादि वाणी भी निवृत्त हो जाती है ॥२९॥

तत्त्व-ज्ञान हो जाने पर यह समस्त जगत्स्वरूप यथा स्थित अतिदृढ़ वज्रपाषाणरूप परब्रह्मस्वरूप ही है और अज्ञान के कारण 'मैं सर्वात्मक हूँ' यह ज्ञान न होने पर भी एकात्मक स्वस्वरूप होकर रहता ही है, इसलिए ब्रह्म और जगत् की एक ही सत्ता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजावबोधन नामक कुसुमलता का निनानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९९ ॥

१००

शिखिध्वज उवाच

एवं चेत्तन्महाबुद्धे ! यादृशं कारणं परम् ।
कार्यं तादृशमेवेदं जगदित्येव वेद्म्यहम् ॥ १ ॥

कुम्भ उवाच

यत्र कारणता तस्य कार्यं तदुपपद्यते ।
यन्न कारणमेवाऽऽदौ तस्मात्कार्यं कुतो भवेत् ॥ २ ॥

नेहाऽस्ति कारणं किञ्चिन्न च कार्यं कदाचन ।
विद्यमानमिदं सर्वं सर्वं शान्तमजं जगत् ॥ ३ ॥

जायते कारणात्कार्यं यत्तत्कारणवद्भवेत् ।
यन्न जायत एवेह तस्मिन् सदृशता कुतः ॥ ४ ॥

१००

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे महाबुद्धे ! यदि ऐसी बात है तो जिस तरह परब्रह्मरूप कारण सत्य है वैसे ही यह जगत् कार्य भी सत्य है, यह मैं जानता हूँ अर्थात् यदि ब्रह्म और जगत् इन दोनों की एक ही सत्ता है तब उसी सत्ता से ब्रह्म की तरह जगत् भी परमार्थ सत्य क्यों नहीं होगा, मिथ्या वस्तु के कारण का तो निरूपण अत्यन्त कठिन है, परन्तु सत्य वस्तु का तुल्यस्वरूप होने के कारण ब्रह्म कारण हो सकता है ॥ १ ॥

कुम्भ ने कहा—जिसमें कारणता है उसका वैसा कार्य हो सकता है। परन्तु जो निर्गुण ब्रह्म है वह तो पहले से ही कारण नहीं है, फिर उससे कार्य कैसे होगा ? ॥ २ ॥

निर्विशेष ब्रह्म में स्थित कोई मायाशबल कारण और कोई उसका कार्य जगत् किसी समय नहीं है। मायादृष्टि से ही माया, मायाशबल और उसके कार्यों की स्थिति रहती है। परमार्थदृष्टि से तो यह सम्पूर्ण विद्यमान जगत् सर्वात्मक शान्त और अज है। तब निर्विशेष ब्रह्म में स्थित मायाशबल ही जगत् का कारण है, 'अविद्यास्तीत्य-विद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते ॥' यानी अविद्या है, यह भी अविद्या में रहकर ही कल्पना की जाती है, ब्रह्मदृष्टि से तो यह अविद्या किसी तरह युक्तिसिद्ध हो ही नहीं सकती ॥ ३ ॥

[अजन्मा होने से इसमें सादृश्य प्रसक्ति अवश्य होगी, यह कहते हैं—'जायते' इत्यादि से ।]

कारण से उत्पन्न कार्य कारण के सदृश होता है। यहाँ जो उत्पन्न नहीं होता है उसमें सादृश्य कहाँ से आयेगा ॥ ४ ॥

बीजमेव न यस्याऽस्ति तत्कथं वद जायते ।
अप्रतर्क्यमनाख्यं च यतस्य क्वेव बीजता ॥ ५ ॥
देशकालवशात्सर्वे हेतुमन्तः प्रमाणगाः ।
अकर्तृब्रह्मविषयः प्रमा कारणयोः कथम् ॥ ६ ॥
अकर्तृकर्मकरणे नास्ति कारणता शिवे ।
तस्मात्तत्कारणं नास्ति जगच्छब्दार्थवेदनम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मैव त्वं स्वरूपं सद्यत्स्थितं धारयस्व तत् ।
असम्यग्दर्शिविषयं तदेव जगदाचितम् ॥ ८ ॥
चिन्मात्रमजरं शान्तं यदेकं तत्प्रमीयते ।
तेनैवाऽयं जगद्ब्रह्म सच्छान्तं बुद्धचते वपुः ॥ ९ ॥
अन्यथैव च यो भावश्चेतसः पृथिवीपते ! ।
स एव नाशः कथितः स्वानुभूतश्च पण्डितैः ॥ १० ॥

जिसका कोई बीज है ही नहीं, वह कैसे उत्पन्न होगा ? जो वस्तु अप्रतर्क्य और अगम्य है, उसमें बीजता ही कैसे रहेगी ? ॥ ५ ॥

देश और काल के वश से सभी पदार्थ कारण से युक्त और प्रमाण से गम्य होते हैं। जिस प्रमाण का कर्ता आदि कारक मात्र का विरोधी ब्रह्म विषय है, उससे हेतु और उपादान कारण की प्रमा उत्पन्न होती है, यह कैसे कह सकते हैं ॥ ६ ॥

कर्ता, कर्म और कारणशून्य परमशिव में कारणता न होने से जगत् शब्दार्थ ज्ञान का वह कारण नहीं है ॥ ७ ॥

शुद्ध आकाशसदृश, सदात्मक निर्विशेष स्थित ब्रह्म वस्तु को आप अपने हृदय में 'मैं यही शुद्ध ब्रह्म हूँ' इस तत्त्वदृष्टि से धारण करे। असम्यग् दर्शियों का विषय वही असीम जगत् है ॥ ८ ॥

चिन्मात्र अधर शान्त एक वस्तु ही प्रमा की विषय होती है, उसी से यह जगत् सत्, शान्त ब्रह्मरूप जाना जाता है अर्थात् चिन्मात्ररूप प्रमा से ही यह जगद्-ब्रह्मरूप बन जाता है और अतत्त्वाकार मन की भ्रान्ति से ब्रह्म जगद्रूप बन जाता है ॥ ९ ॥

हे पृथिवीपते ! चित्त का अन्यथाभाव ही ब्रह्मस्वरूप हानि कही गयी है, और यह पण्डितों से स्वानुभूत है ॥ १० ॥

हे नृप ! नाशस्वभाव उस चित्त को नाशात्मक जाने क्योंकि क्षणभर के लिए भी आत्मस्वरूप विस्मरणरूप वह नाश कल्पकालपर्यन्त विस्मृत चित्त शब्द से कहा जाता है ॥ ११ ॥

चित्तं नाशस्वभावं तद्विद्धि नाशात्मकं नृप ! ।
क्षणनाशो यतः कल्पचित्तशब्देन कथ्यते ॥ ११ ॥
असङ्कल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोदयात्मना ।
सङ्कल्पः क्षीयते सिद्धचै स्वयमेवाऽसदात्मकः ॥ १२ ॥
नाम्नैवाऽङ्गीकृताभावं यदि विश्वं हि कथ्यते ।
विद्यमानं कथं तत्स्यान्नतु तामरसेक्षणः ॥ १३ ॥
हस्तावुत्क्षिप्य यो ब्रूते शूद्रोऽस्मीति भृशं गिरा ।
कथं स विप्रो भवति विप्रत्वं त्वस्य कीदृशम् ॥ १४ ॥
विवृत्तधातुरत्युच्चैर्मृतोऽस्मीति विरौति यः ।
मृतिमेवागतं विद्धि जीवनं तस्य संभ्रमः ॥ १५ ॥
भ्रमाकृति यदस्तीह दृश्यतेऽलातचक्रवत् ।
मृगतृष्णाद्विचन्द्रादिबालवेतालकादिवत् ॥ १६ ॥

सम्यग् ज्ञानोदय के हेतुभूत असङ्कल्पमात्र से असदात्मक सङ्कल्पस्वरूप चित्त स्वयं ही मोक्षसिद्धि के लिए क्षीण हो जाता है अर्थात् असङ्कल्प द्वारा पर्यवसित तत्त्वज्ञान से वह चित्त नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

[ठीक है, सङ्कल्प का नाश हो जाय, फिर भी विश्व की निवृत्ति कैसे होगी, यदि ऐसी आशङ्का की जाय, तो उसका उत्तर यह है कि मिथ्या होने से ही। 'विशति परमात्मन्येकीभवति न वस्त्वन्तरतयाऽवतिष्ठत इति विश्वम्' (जो परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है—एकरूप से मिल जाता है, न कि किसी दूसरी वस्तु के रूप से रहता है उसका नाम है—विश्व) ऐसे विश्व शब्द के निवर्चन को हृदय में रखकर कहते हैं।]

हे कमलनेत्र, विश्वशब्द का अर्थ अपने अधिष्ठान ब्रह्म में प्रविष्ट होनेवाला है—इसके अनुसार यदि अपने नाम से ही अपना अभाव स्वीकार करने वाला यह विश्व कहा जाय तो यह विद्यमान कैसे हो सकता है ? ॥ १३ ॥

दोनों हाथ उठाकर जो उच्च स्वर से पुनः पुनः कहता है कि मैं शूद्र हूँ, तब वह विप्र कैसे हो सकता है और उसका विप्रत्व कैसा है ॥ १४ ॥

सन्निपात से कुपित धातुवाला मनुष्य बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाता है कि मैं मर गया; उसे आप मृत्यु की गोद में सो गया है, उसका जीवन एक भ्रममात्र है यह आप जान लें ॥ १५ ॥

अलातचक्र के सदृश भ्रमाकृति दृश्यमान जगत्, चित्त आदि मृगतृष्णाजल, दो चन्द्र आदि की भ्रान्ति तथा बालकल्पित वैताल आदि की तरह है ॥ १६ ॥

अज्ञानमुच्यते चित्तमसत्सदिव संस्थितम् ।
असंवेदनमज्ञानं ज्ञानं संवेदनं भवेत् ॥ १८ ॥
तत्कथं किल नाम स्यात्सत्यं भ्रमभरात्मकम् ।
अज्ञानभ्रान्तिरेवाऽन्तश्चित्तमित्येव कथ्यते ॥ १७ ॥
अज्ञानसत्त्वसंवित्तेर्ज्ञानात्संवेदनात्क्षयः ।
जलज्ञानं मुधा भ्रान्तिः साधो ! मरुमरीचिषु ॥ १९ ॥
नैतज्जलमिति ज्ञानात्संवित्तेः प्रविलीयते ।
इदं चित्तमिति प्रौढं यदज्ञानमलं हृदि ।
नाऽस्ति चित्तमिति ज्ञानात्तत्समूलं विनश्यति ॥ २० ॥
यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वमज्ञानभ्रमसम्भवम् ।
न सर्पोऽयमितिज्ञानाद्धृदि रूढात्प्रणश्यति ॥ २१ ॥
तथाऽऽत्मनि मनोभूतमज्ञानभ्रमसंभवम् ।
चित्तं नास्तीति विज्ञानाद्धृदि रूढाद्विनश्यति ॥ २२ ॥
चित्तं मनोऽहमित्यन्तर्यावदज्ञानसंभवम् ।
न चित्तमस्ति नो चैवमहङ्कारादिसंयुतम् ॥ २३ ॥

सर्वथा भ्रमपुञ्जस्वरूप को सत्य नाम से कैसे कहा जा सकता ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और चित्तादि शब्दों से कही जाती है। अर्थात् भ्रान्ति के एक बड़े पुञ्जरूप उसे सत् ही मान लीजिए ? ॥ १७ ॥

सत् की तरह अवस्थित असत् अज्ञान ही चित्त कहा जाता है। अज्ञान असंवेदन स्वरूप और ज्ञान संवेदनरूप है ॥ १८ ॥

हे साधो ! संवेदनरूप ज्ञान से अज्ञान में सत्त्वबुद्धि का नाश होता है, मरुमरीचि में जलज्ञान व्यर्थ भ्रान्ति ही है ॥ १९ ॥

यह चित्त है' इस रूप से हृदय में हुआ संवित् का जो प्रौढ़ अज्ञानात्मक मल है वह 'यह चित्त नहीं है' इस ज्ञान से वैसे ही मूल विनष्ट हो जाता है। जैसे मरुमरीचि में हुआ जलज्ञान 'यह जल नहीं है', इस ज्ञान से नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

आत्मा में अज्ञानभ्रम से उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरह के हृदय में रूढ़ विज्ञान से वैसे ही विनष्ट हो जाता है जैसे अज्ञानभ्रम से उत्पन्न हुआ रज्जु में सर्प रूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरह के हृदय में रूढ़ ज्ञान से नष्ट हो जाती है ॥ २१, २२ ॥

चित्त, मन, अहङ्कार आदि सफल पदार्थ हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः इस जगत् में चित्त नहीं और इसी तरह अहङ्कारादि से संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥

विमूढ़ उस संवित् के द्वारा ही सङ्कल्प, चित्त आदि की रचना की गई थी अतः एकान्त निर्मल एक संवित् ही है ॥ २४ ॥

किञ्चिदेव जगत्यस्मिन् संविदेकान्तनिर्मला ।
तया सङ्कल्पचित्तादि कृतमासीद्विमूढया ॥ २४ ॥
अद्याऽसङ्कल्पतः सर्वं परित्यक्तं प्रबुद्धया ॥ २५ ॥
सङ्कल्पेन यदायाति त्वसङ्कल्पेन गच्छति ।
पवनेन महाबाहो ! ज्वालाजालमिवाऽनले ॥ २६ ॥
आत्मतत्त्वैकघनया ततया ब्रह्मसत्तया ।
जगत्सर्वमिति व्याप्तं समुद्र इव वारिणा ॥ २७ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्योऽस्ति न त्वं नैते न चित्तकम् ।
नेन्द्रियाणि न चाऽऽकाशमात्मा त्वेकोऽस्ति निर्मलः ।२८।
घटाद्याकाररूपेण स एवाऽयं विलोक्यते ।
इदं चित्तमयं चाऽहमिति क्वैव कुकल्पना ॥ २९ ॥
न जायते न म्रियते किञ्चिदस्मिञ्जगत्त्रये ।
केवलोऽयं चिदुल्लासः सदसद्भावनात्मना ॥ ३० ॥
सर्वमात्मा परं ब्रह्म सकृत्प्रकटमाततम् ।
द्वित्वैकत्वे न विद्येते न भ्रान्तिर्न च सम्भ्रमः ॥ ३१ ॥

आज प्रबुद्ध संवित् ने सङ्कल्प के अभाव से उन सब का परित्याग कर दिया ॥ २५ ॥

हे महाबाहो ! सङ्कल्प से जो पदार्थ आता है वह सङ्कल्प के अभाव से वैसे ही चला जाता है। जैसे पवन से अग्नि में ज्वालाजाल ऊपर उठता है और उसके अभाव से फिर नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

आत्मतत्त्व से अत्यन्त घनीभूत विस्तृत ब्रह्मसत्ता से यह सारा संसार वैसे ही व्याप्त ग्रस्त है जैसे जल से समुद्र ग्रस्त है ॥ २७ ॥

मैं नहीं हूँ, अन्य नहीं है, न आप हैं, न ये सब पदार्थ हैं, न चित्त है, न इन्द्रियाँ हैं और न आकाश ही है। केवल एक निर्मल आत्मा ही है ॥ २८ ॥

[तब जीवन्मुक्त लोग घटादि-आकार से किसको देखते हैं, इसपर कहते हैं—'घटाद्याकाररूपेण' इत्यादि से।]

घटादि के आकाररूप से एक वह आत्मा ही जीवन्मुक्तों को दिखाई देता है। यह चित्त है, यह मैं हूँ, इत्यादि कुकल्पना उन्हें कैसी होती है ? ॥ २९ ॥

इस त्रैलोक्य में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है। सत् और असत् भावनारूप यह केवल चिति का उल्लास मात्र है ॥ ३० ॥

यह सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही जब एक बार प्रकट था तब द्वित्व और एकत्व नहीं रहता है। भ्रम तथा मृत्यु आदि का भय भी नहीं रहता ॥ ३१ ॥

सर्वेन्द्रियगणाकारे सन्नेवाऽसि सखे ! ततः ।
न दह्यसे महाबुद्धे ! न च क्वचन लिप्यसे ॥ ३२ ॥
न ते विनश्यति सखे न च किञ्चिद्विवर्धते ।
निर्मलाकाशरूपस्य कैवल्यानन्तरूपिणः ॥ ३३ ॥
इच्छानिच्छात्मिके शक्ती येतरापि त्वमेव च ।
न ह्यंशुव्यतिरेकेण शशाङ्क उपलभ्यते ॥ ३४ ॥
अजमजरमनाद्यजस्वभावं
सकृदमलं विलसत्सदैकरूपम् ।
विगलितकलनं कलाख्यलीलं
सदुदितमाद्यमजं तदात्मतत्त्वम् ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजपरमावबोधनं नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

इसलिए हे सखे ! आप सम्पूर्ण इन्द्रियों में ग्राह्य वह्नि आदि के आकारों में सन्मात्रस्वरूप से व्याप्त हैं, इसलिए हे महाबुद्धे ! आप दाहहेतु आध्यात्मिकादि भावों से दग्ध नहीं हो सकते और न आप कहीं लिप्त ही हो सकते हैं ॥ ३२ ॥

हे सखे ! निर्मल आकाशस्वरूप तथा कैवल्यानन्तरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है ॥ ३३ ॥

इच्छा और अनिच्छा स्वरूप शक्तियाँ तथा क्रियाशक्ति भी आप ही हैं, क्योंकि अपनी कलाओं से पृथक् चन्द्रमा उपलब्ध नहीं होता है ॥ ३४ ॥

अजन्मा, अजर, अनादि अजस्वभाव यहाँ पर तीन 'अज' पदों से जन्म, वृद्धि और विपरिणाम रहित खण्डन किया गया है तथा 'सदा एकरूप' इस विशेषण से अन्य विकारों का खण्डन किया गया है, यह समझ लेना चाहिए निर्मल, सदा एकरूप अर्थात् सर्वथा विकारशून्य सकृत् प्रकाशस्वरूप, कलनारहित, अपने स्वरूप का परिचय कराने वाली लीला से युक्त, सन्मात्र से उदित, सम्पूर्ण व्यवहारों से पूर्व सिद्ध अज वस्तु ही आत्मतत्त्व है ॥३५॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजपरमावबोधन नामक कुसुसलता का सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०० ॥

१०१

वसिष्ठ उवाच

इति कुम्भवचो राजा भावयंस्तदकृत्रिमम् ।
स्वयमात्मपदे तस्मिन् क्षणं परिणतोऽभवत् ॥ १ ॥
बभूवामीलितमनोलोचनः शान्तवाङ्मुनिः ।
शिलातलादिवोत्कीर्णो निस्पन्दावयवाकृतिः ॥ २ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण प्रबुद्धं स्फुरितेक्षणम् ।
तमुवाच महाबाहो ! चूडाला कुम्भरूपिणी ॥ ३ ॥

कुम्भ उवाच

कच्चिदस्मिन्पदे स्फारे शुद्धे विततनिर्मले ।
सुतल्पे निर्विकल्पानां सुखं विश्रान्तवानसि ॥ ४ ॥
कच्चिदन्तःप्रबुद्धोऽसि कच्चिद्भ्रान्तिस्त्वयोज्झिता ।
कच्चिज्ज्ञेयं परिज्ञातं दृष्टं द्रष्टव्यमेव वा ॥ ५ ॥

१०१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह अकृत्रिम कुम्भ के उस कथन का विचार करने वाला राजा शिखिध्वज अपने पूर्व भाव को छोड़कर क्षणभर स्वयं उस आत्मपद में प्राप्त हो गया ॥ १ ॥

शिलातल में खोदी गई स्पन्दनशून्य अवयवों से युक्त आकारवाली प्रतिमा की तरह वह राजा मन और नेत्र के व्यापारों को बन्दकर मौन हो मुनि हो गये ॥ २ ॥

हे महाबाहो ! उसके बाद एक मुहूर्त में प्रबुद्ध अतएव विकसित नेत्रवाले उस राजा से कुम्भरूपिणी चूडाला उनसे बोली ॥ ३ ॥

कुम्भ ने कहा—स्फार, शुद्ध, विस्तृत, निर्मल तथा योगियों के सुन्दर तल्पभूत इस निरतिशयानन्द पद में क्या आप विश्रान्त युक्त हैं ॥ ४ ॥

क्या आप अन्तःकरण से प्रबुद्ध हो गये हैं क्या आपने अपनी भ्रान्ति छोड़ दी है क्या आपने ज्ञेय पदार्थ को अच्छी तरह जान लिया है क्या आपने द्रष्टव्य वस्तु देख ली है ? ॥ ५ ॥

शिखिध्वज उवाच

भगवंस्त्वप्रसादेन महाविभवभूमिका ।
महती पदवी दृष्टा सर्वस्योर्ध्वं स्थिता मया ॥ ६ ॥
सतां विदितवेद्यानामहो बत महात्मनाम् ।
अपूर्वैकामृतमयः सङ्गः सारफलप्रदः ॥ ७ ॥
जन्मनापि मया लब्धं यन्नाम न महामृतम् ।
तदद्य त्वत्समासङ्गात्तेनैवाऽऽसादितं स्वयम् ॥ ८ ॥
अनन्तमाद्यममृतं चैतत्कमललोचन ! ।
कथं नाऽऽसादितमभूत्पूर्वमात्मपदं मया ॥ ९ ॥

कुम्भ उवाच

मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते ।
कषायपाके निर्वृत्ते सर्वेन्द्रियगणस्य च ॥ १० ॥
यान्ति चेतसि विश्रान्ति विमला देशिकोक्तयः ।
यथा सितांशुके शुद्धे बिन्दवः कुङ्कुमाम्भसः ॥ ११ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे भगवन् ! आपकी दया से मैंने निरतिशयानन्दरूपी भूमि का तथा हिरण्यगर्भ के आनन्दतक विषयानन्द समूह के ऊपर अर्थात् उत्कर्ष की पराकाष्ठा में अवस्थित उस महती आत्मपदवी को देख ली है ॥ ६ ॥

अहो वेद्य वस्तु को जान लेनेवाले सज्जन महात्माओं का सङ्ग इस अनादि संसार में कभी-भी अनुभूत न होने वाला निरतिशयानन्द है, तत्प्रचुर है, अतः सर्वोत्कृष्ट फल का प्रदाता है ॥ ७ ॥

जिस महा अमृत की प्राप्ति महा अमृतस्वरूप ही मैंने अज्ञानवश सारे जन्म में नहीं की, आज आपके समागम से उसकी मैंने स्वयं अनायास ही प्राप्ति की है ॥ ८ ॥

हे कमललोचन ! अनन्त और आद्य इस अमृतरूपी आत्मपद को मैंने पहले ही क्यों नहीं प्राप्त किया ? ॥९॥

चित्तगत कषायों का वासनाओं का परिपाक न होने से पहले आप ज्ञान प्राप्त न कर सके, इस समय तो तपस्या के द्वारा उनका परिपाक हो जाने से आपने प्राप्त कर लिया है।

कुम्भ ने कहा—जैसे सफेद शुद्ध वस्त्र के ऊपर कुङ्कुम जल के बिन्दु को प्राप्त करती है वैसे ही भोग की इच्छाओं का त्याग कर मन के उपशान्त होकर अवस्थित हो जाने पर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और मन के भोगरूप कषायों का पाक सम्पन्न हो जाने से चित्त में उपदेश की उक्तियाँ उस तरह स्थिति को प्राप्त होती हैं ॥ १०-११ ॥

हे राजन् ! आपके अनन्त स्ववासना स्वरूप कषायों

कषायाणामनन्तानां संभृतानां शरीरकैः ।
स्ववासनास्वरूपाणामद्य पाकस्तवोदितः ॥ १२ ॥
देहान्मलानि सर्वाणि कालेन कमलेक्षण ! ।
साधो वृक्षात्फलानीव पाकेन विगलन्त्यधः ॥ १३ ॥
वासनात्मसु यातेव मलेषु विमलं सखे ! ।
यद्वक्ति गुरुरन्तस्तद्विशतीषुर्यथा बिसे ॥ १४ ॥
कषायपाके सम्पन्ने त्वं मयाऽद्य विबोधितः ।
तेनाऽद्यैव तवाऽज्ञानक्षयो जातो महामते ! ॥ १५ ॥
अद्य पक्वकषायस्त्वमद्यैव ज्ञानसंकथाम् ।
अद्येह सोपदेशस्त्वमद्यैवाऽसि प्रबुद्धवान् ॥ १६ ॥
शुभाशुभानां सर्वेषां कर्मणामद्य संक्षयः ।
सत्सङ्गव्यपदेशेन तव निष्पत्तिमागतः ॥ १७ ॥
यावदस्य दिनस्यैष पूर्वभागो महीपते ! ।
तावच्चेतोऽहंममेति तवाऽज्ञानं बभूव ह ॥ १८ ॥

का, अनेक जन्म के शरीरों द्वारा एकत्र किये गये परिपाक आज उदित हुए हैं ॥ १२ ॥

हे कमललोचन ! हे साधो ! जैसे काल से पककर वृक्षों से उसके फल नीचे गिर जाते हैं वैसे ही काल से पककर लिङ्ग देह से सम्पूर्ण मल गिर जाते हैं ॥ १३ ॥

हे मुनि ! वासनात्मक मलों के शरीर से दूर चले जाने पर गुरु के द्वारा प्रदत्त विमल उपदेश अन्तःकरण में वैसे ही शीघ्र प्रविष्ट हो जाता है जैसे धानुष्क परि-कल्पित मृणालरूप लक्ष्य में बाण प्रविष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

हे महामते ! कषायों का पाक सम्पन्न हो जाने पर आज आप मेरे द्वारा विबोधित आज ही आपके अज्ञान का सर्वथा नाश हो गया है ॥ १५ ॥

आज आपके कषायों का खूब परिपाक हो गया है। आज ही आपने ज्ञानार्थ उपदेश का तात्पर्यरूप से अव-धारण करने से आप इस समय इस संसार में उपदेश से समन्वित हो गये हैं । उपदेश फलस्वरूप साक्षात्कार-ज्ञानवान् भी आप अभी हुए हैं ॥ १६ ॥

हे महीपते ! सत्सङ्ग के बहाने आज आपके शुभ और अशुभ सब तरह के कर्मों का बिलकुल क्षय सम्पन्न हो गया है ॥ १७ ॥

हे महीपते ! जब तक आज के दिन का यह पूर्वभाग अवशेष था, तभी तक आपको चित्त में 'अहं, मम' इत्यादिरूप अज्ञान भी बना हुआ था, यह मुझे खूब मालूम है ॥ १८ ॥

इदानीं मद्वचोबोधाच्चेतसि क्षयमागते ।
हृदयात्संपरित्यक्ते संप्रबुद्धोऽसि भूपते ! ॥ १९ ॥
हृदि यावन्मनःसत्ता तावदज्ञानसंस्थितिः ।
चित्तेऽचित्ततया त्यक्ते ज्ञानस्याऽभ्युदयो भवेत् ॥ २० ॥
द्वित्वैकत्वदृशौ चित्तं तदेवाऽज्ञानमुच्यते ।
एतयोर्यो लयो दृष्टेस्तज्ज्ञानं सा परा गतिः ॥ २१ ॥
प्रबुद्धोऽसि विमुक्तोऽसि त्यक्तं चित्तं त्वया नृप ।
सदसत्तामयत्वं हि त्वया त्यक्तमसत्पदम् ॥ २२ ॥
वीतशोको निरायासो निःसङ्गोऽनन्य आत्मवान् ।
महोदयो मुनिर्मौनी स्वरूपे तिष्ठ निर्मले ॥ २३ ॥

शिखिध्वज उवाच

एवं हि भगवन् ! जन्तोर्मूर्खस्यैवाऽस्ति चित्तभूः ।
प्रबुद्धस्य न तज्ज्ञस्य चित्तं नाम किल प्रभो ! ॥ २४ ॥
जीवन्मुक्तास्तदेते हि विहरन्ति कथं वद ।
अविद्यमानमनसो युष्मदाद्यास्तथा नराः ॥ २५ ॥
इति मे कथयाऽशेषमन्यैः स्ववचनांशुभिः ।
हार्दं तमो मे निपुणमेवंप्रायैः प्रमार्जय ॥ २६ ॥

कुम्भ उवाच

यथा वदसि तत्त्वज्ञ ! तत्तथैव हि नाऽन्यथा ।
चित्तं हि जीवन्मुक्तानां नास्त्यङ्कुर इवाऽश्मनाम् ॥२७॥
पुनर्जननयोग्या या वासना घनवासना ।
सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते ॥ २८ ॥
यया वासनया तज्ज्ञा विहरन्तीह कर्मसु ।
तां त्वं सत्त्वाभिधां विद्धि पुनर्जननवर्जिताम् ॥ २९ ॥
जीवन्मुक्ता महात्मानः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
विहरन्ति गतासङ्गं न चित्तस्थाः कदाचन ॥ ३० ॥
मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते ।
अप्रबुद्धा हि चित्तस्थाः सत्त्वस्थास्तु महाधियः ॥ ३१ ॥

हे भूपते ! आज ही मध्याह्न में मेरे वचनों के ज्ञान से हृदय से बिल्कुल दूर किये गये आपके चित्त के क्षीण होने पर आप प्रबुद्ध हुए हैं ॥ १९ ॥

जब तक हृदय में मन की सत्ता बनी रहती है तब तक अज्ञान की संस्थिति रहती है। अचित्तरूप से अर्थात् निःस्वरूपता बुद्धि से ही चित्त का परित्याग हो जाने पर ज्ञान का अभ्युदय होता है ॥ २० ॥

द्वित्व और एकत्व की दृष्टि ही चित्त है यही अज्ञान कहा जाता है। परम्परा की अभिव्यक्ति से इन दोनों का लय ही ज्ञान है और वही परा गति है ॥ २१ ॥

हे नृप ! अब आप प्रबुद्ध हो चुके हैं विमुक्त हो चुके हैं क्योंकि आत्मा में जगत् की कल्पना का स्थान एक दूसरे के परस्पर अध्यास से सत् और असद्रूप चित्त का आपने परित्याग कर दिया है ॥ २२ ॥

अब आप शोक शून्य, आयास रहित, निःसङ्ग, अनन्य, आत्मज्ञानसम्पन्न और महान् उदय से युक्त मौनी बनकर निर्मल स्वरूप में अवस्थित रहें ॥ २३ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे प्रभो, हे भगवन् ! आपके कहने के अनुसार मूर्ख जन्तु के लिए ही चित्त की भूमि है' प्रबुद्ध हुए के लिए नहीं ॥ २४ ॥

यदि आत्मज्ञानी के लिए चित्त नहीं है तो कृपाकर आप बतलाइये कि अविद्यमान मनवाले जीवन्मुक्त—आप से लेकर और दूसरे पुरुष—इस संसार में कैसे बिहार करते हैं ॥ २५ ॥

हे मुनीश्वर ! आप मुझे अच्छी तरह समझाकर इसको पूर्ण रीति से कहिए और इस तरह की दूसरी अर्थात् सूर्य आदि की किरणों से विलक्षण अपनी वचनरूपी किरणों से मेरे प्रसिद्ध अन्धकार से विलक्षण हृदय के अन्धकार को, भलीभाँति दूर कर दीजिये ॥ २६ ॥

कुम्भ ने कहा—हे तत्त्वज्ञ ! जैसा आप कह रहे हैं, वह वैसा ही है उससे विपरीत तनिक भी नहीं है। जीवन्मुक्तों में चित्त वैसे ही नहीं रहती है जैसे पत्थर में अङ्कुर नहीं रहता है ॥ २७ ॥

पुनः उत्पन्न होने योग्य वर्तमान घनवासना चित्त-शब्द से कही जाती है, वह आत्मज्ञानी में नहीं रहती है ॥ २८ ॥

जिस वासना से तत्त्वज्ञानी यहाँ कर्मों में विहार करते हैं, पुनर्जन्म से रहित उसे आप सत्त्वनामधारिणी जानें। अर्थात् तत्त्वज्ञान से भूना गया आवरण शून्य सत्त्व मनशब्द से वैसे ही नहीं कहा जाता और न वह पुनर्जन्म के समर्थ ही रहता है जैसे भूना हुआ तथा छिलकारहित धान धानशब्द से नहीं कहा जाता और वह अङ्कुर पैदा करने में समर्थ भी नहीं रहता ॥ २९ ॥

जितेन्द्रिय जीवन्मुक्त महात्मा लोग सत्त्व में स्थित होकर आसक्ति छोड़कर विहार करते हैं, चित्त में स्थित होकर वे कभी नहीं रहते हैं ॥ ३० ॥

मूढ़ चित्त को चित्त कहते हैं और प्रबुद्ध चित्त को सत्त्व कहते हैं, अप्रबुद्ध अज्ञानी लोग चित्त में स्थित रहते हैं और महाबुद्धिमान् ज्ञानी लोग सत्त्व में स्थित रहते हैं ॥ ३१ ॥

भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते ।
अप्रबुद्धस्य बन्धोऽस्ति न प्रबुद्धस्य भूपते ! ॥ ३२ ॥
सत्त्ववानसि संजातो महात्यागी स्थितो भवान् ।
अशेषेण त्वया चित्तं त्यक्तमद्येति वेद्म्यहम् ॥ ३३ ॥
समस्तवासनोन्मुक्तो राजन्नद्यैव राजसे ।
आकाशसाम्यमायातं मन्ये तव मुने ! मनः ॥ ३४ ॥
शमं प्राप्तोऽसि परमं सिद्धः समसमस्थितिः ।
अयं हि स महात्यागः सर्वं यत्तत्समुज्झितम् ॥ ३५ ॥
स्वर्गापर्गवित्तादि तपोदानफलाद्यपि ।
प्रबुद्धमेधया साधो धिया परमबोधया ॥ ३६ ॥
तपो नाम कियन्मात्रदुःखक्षयकरं भवेत् ।

हे भूपते ! चित्त पुनः उत्पन्न होता है, लेकिन सत्त्व फिर उत्पन्न नहीं होता है। अप्रबुद्ध को बन्ध होता है, प्रबुद्ध को बन्ध नहीं होता है ॥ ३२ ॥

महात्यागी बनकर आप सत्त्वसम्पन्न हो चुके हैं। आज आपने पूर्णरूप से अपने चित्त का परित्याग कर दिया, यह मैं जानता हूँ अर्थात् आपका भी सत्त्व के बल से ही जीवनपर्यन्त व्यवहार चलता रहेगा ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! हे मुने ! आज ही तो आप सम्पूर्ण वासनाओं से निर्मुक्त होकर सुशोभित हो रहे हैं। अब आपका मन आकाश के समान स्वच्छ हो गया, यह मैं मानता हूँ ॥ ३४ ॥

आप परम शम को प्राप्त कर लिया है। आप सिद्ध होकर सम से भी सम स्थिति में पहुँच गये हैं। आपका पहले का अभिलषित महात्याग यही है कि सर्वस्वरूप उस चित्त का आपने परित्याग कर दिया है ॥ ३५ ॥

हे साधो ! उपदिष्ट अर्थ ग्रहण करने में अतिशय समर्थ परम बोधवती अपनी बुद्धि से किया गया चित्त का परित्याग ही तप, दान आदि तथा उनके फल स्वर्ग, अपवर्ग, धन आदि भी है अर्थात् चित्त के परित्याग में तप, दान, आदि सम्पूर्ण कर्म अन्तर्भूत हैं और उसके फल में धन, स्वर्ग, अपवर्ग आदि सब तप आदि के फल अन्तर्भूत हैं ॥ ३६ ॥

तप कितने दुःखों का नाश कर सकता है, क्योंकि चित्त त्यागरूप समता से प्राप्त ज्ञान का फल मोक्षसुख क्षय से अतिशय निर्मुक्त है अर्थात् उसमें क्षय का अत्यन्ताभाव है अर्थात् तप आदि के फल में ज्ञान के फल का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

क्षयातिशयनिर्मुक्तं यत्सुखं शमतामयम् ॥ ३७ ॥
तत्सत्तद्वस्तु तत्किञ्चिन्न तु स्वर्गादि भङ्गुरम् ।
भावाभावैरुपारूढं स्थितताधिगतवेदनम् ॥ ३८ ॥
स्वर्गो नाम किमानन्दः सोऽपि सन्देहसंस्थितः ।
अप्राप्तस्वात्मसंसिद्धेः क्रियाकाण्डः शुभो भवत् ॥ ३९ ॥
येन नाऽऽसादितं हेम रीतिं किं स परित्यजेत् ।
चूडालादिसमासङ्गाद्भवज्ज्ञत्वं सुखेन ते ॥ ४० ॥
तत्किमर्थमनर्थेऽस्मिन्निमग्नस्त्वं तपोमये ।
आश्रमादिविकल्पांशसाध्यस्याऽद्य कुकर्मणः ॥ ४१ ॥
आद्यन्तावस्य सुमते ! मध्य एव सुखं स्म भोः ।
यतस्ते समयो जातो यस्मिन्परिणमन्ति च ।
तपोरूपा विकल्पांशास्तत्र बद्धपदो भव ॥ ४२ ॥

ज्ञान का फल सत्य और शाश्वत है। जो कुछ थोड़ा-बहुत स्वर्गादि फल है वह सत्य नहीं है, वह क्षणभङ्गुर है। वह आविर्भाव और तिरोभाव से—उत्पत्ति और विनाश से—आक्रान्त होने के कारण भूत और भविष्यत् काल में अनुभूत नहीं होता है, केवल वर्तमानकाल में अवस्थित हुआ ही स्वप्नवत् अनुभूत होता है अर्थात् असत्य और अनित्य वस्तु में सत्य और नित्य वस्तु के अन्तर्भाव की संभावना भी नहीं है ॥ ३८ ॥

स्वर्ग नाम का कौन-सा सुख है ? वह भी तो हजारों अवर्जनीय धर्मकीर्तन आदि अपराधों द्वारा सन्देह से ही स्थित है। जिस पुरुष को आत्मज्ञान की सिद्धि प्राप्त नहीं है उसी को क्रियाकाण्ड शुभफल प्रदान करने वाला होता है अर्थात् तुच्छ और अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख अज्ञानियों को बड़ा लगता है। तत्त्वविदों को नहीं ॥ ३९ ॥

जिसने सुवर्ण की प्राप्ति नहीं की वह क्या पीतल छोड़ देगा ? आपको तो चूडाला आदि की सत्सङ्गति से सुखपूर्वक ज्ञान मिल सकता था अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ होने से अज्ञानियों को तुच्छ स्वर्गादि फल के लिए यत्न करना ठीक ही है ॥ ४० ॥

आप क्यों इस कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तपःक्लेश प्रचुर अनर्थ में अभी तक निमग्न हैं, जो कि वानप्रस्थ आश्रम आदि के अभिमान आदि हजारों विकल्प विक्षेपांशों से साध्य कुत्सित कर्म का ही एक सम्बन्धी है ॥ ४१ ॥

इस तपस्या का आदि भाग आचरणावस्था है और अन्तिम भाग फलक्षयावस्था है, इसलिए इसके आदि और अन्त दोनों भाग दुःखरूप हैं । केवल इसका मध्य जो

चिद्व्योम्नो नभसोऽत्यच्छात्सर्वे भावाः समुत्थिताः ।
तथैव परिदृश्यन्ते तत्रैव विलयं गताः ॥ ४३ ॥
इदं कार्यमिदं नेति सङ्कल्पा ब्रह्मबिन्दवः ।
वन्ध्यं शिखिध्वज त्यक्त्वा पूर्णमेव समाश्रय ॥ ४४ ॥
इष्टं मे प्रार्थयस्वेति यथैव प्रार्थ्यते सखे ! ।
स्त्रिया तथैव न कथं दयितः प्रार्थ्यते स्वयम् ॥ ४५ ॥
सङ्कल्परचितानेतान् भावानापदभासुरान् ।
गृह्णन्ति न महात्मानः प्राज्ञा जलरवीनिव ॥ ४६ ॥
स्वर्गमोक्षादिफलदं यत्किञ्चित्सर्वमेव तत् ।
त्यक्त्वा समसमाभासो योऽस्यसावेव वै भव ॥ ४७ ॥

स्वर्गादि भोगावस्था है उसी में कुछ सुख है तपस्या के द्वारा ही आपके चित्त गत कषायों का परिपाक होने से इस समय तत्त्वज्ञान का समय प्राप्त हुआ है, इसलिए सभी तपोरूप विकल्पांश अविकल्प तत्त्वज्ञान में परिणत होते हैं और जिसके फल से फलवान् भी बनते हैं, उस ज्ञान में आप स्थिर हो जायें। यह है 'विविदिषन्ति तपसा' तत्त्व-ज्ञानप्राप्तिरूप फल से ही आपकी तपस्या की सफलता है ॥ ४२ ॥

[ज्ञान के फल चिदाकाश का लाभ होने से सभी का लाभ हो गया, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् की एक उसी से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, ऐसी श्रुति है, इस आशय से कहते हैं—'चिद्व्योम्नो०' इत्यादि से ।]

आकाश से भी अति स्वच्छ उस चिदाकाश से सभी पदार्थ समुत्पन्न होकर दिखाई पड़ते हैं तथा उसी चिदा-काश में विलीन भी हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

यद्यपि यह कार्य है और यह कार्य नहीं है इत्यादि सभी तरह के सङ्कल्प ब्रह्मरूपी समुद्र के बिन्दु ही हैं तथापि तुच्छ होने से वे निष्फल हैं, इसलिए इन सबको छोड़कर पूर्ण का ही समाश्रयण करें ॥ ४४ ॥

हे सखे ! स्वयं उस पति की ही वैसे ही क्यों नहीं प्रार्थना करती ? जैसे कोई स्त्री, जिसको अभी तक पति प्राप्त नहीं हुआ है, प्राप्त करने योग्य पति के प्रति 'मेरे इष्ट की सिद्धि के लिए थोड़ी-सी प्रार्थना कर दो' इस प्रकार दूसरी प्रार्थना करती है, स्वाधीनतापूर्वक उस पति का लाभ हो जाने पर तो उसके अधीन में रहने वाली वस्तुओं का अपने-आप ही लाभ हो जागया ॥ ४५ ॥

सङ्कल्प से रचित आपत्ति की तरह अरमणीय इन पदार्थों का आत्मज्ञानी महात्मा लोग, जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान, ग्रहण नहीं करते अर्थात् आत्मातिरिक्त अभिलषित पदार्थों में पुरुषार्थता स्वीकार कर, लब्ध होने के कारण ही वे अप्रार्थनीय हैं, वस्तुतस्तु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तुच्छ होने के कारण वे अग्राह्य ही हैं ॥ ४६ ॥

स्वर्ग और मोक्ष आदि फल प्रदान करने वाले कर्म त्याग कर सब में समानरूप मे भासमान आप ही आप निश्चित बने रहिये। अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर स्वर्गादि साधनों के समान अपवर्ग के साधन भी हेय ही हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

सत्त्वं सत्त्वेन नाशेन नाश्यं हि विगतस्पृहः ।
पदार्थौघमिमं गृह्णंस्तिष्ठास्पन्दितचित्तभूः ॥ ४८ ॥
अपरिस्पन्दचित्तस्य संसृतिर्नेह धावति ।
पौरुषप्रभवा साधो ! विपत्तिर्हि मतौ यथा ॥ ४९ ॥
यानि यानीह दुःखानि प्रस्फुरन्ति जगत्त्रये ।
चेतश्चापलजान्येव तानि तानि महीपते ! ॥ ५० ॥
स्थिरं शान्तं गतस्पन्दं यस्य चित्तमचापलम् ।
सदैव स महानन्दी साम्राज्यस्य स भाजनम् ॥ ५१ ॥
अथ चेतसि तत्त्वज्ञ ! स्पन्दास्पन्दौ त्वमेकताम् ।
नीत्वा तिष्ठ यथाकाममैक्यमागत्य शाश्वतम् ॥ ५२ ॥

समस्त अभिलाषाओं को छोड़कर इन सब पदार्थों में सत्त्व का सत्त्वरूप से और नाश्य का नाशरूप से ग्रहण आप अपने चित्त को परिस्पन्दन शून्य बनाकर अवस्थित रहें। चित्त की चञ्चलता के बिना समस्त पदार्थों सद् अंश का सत्त्वरूप से और असद्-अंश का नित्य नष्टस्वरूप से ग्रहण करना चाहिए ॥ ४८ ॥

क्योंकि जैसे विवेकज्ञान का उदय होनेपर स्वाभाविक प्रवृत्तिरूपी पुरुष के अपराध से उत्पन्न विपत्ति प्राप्त नहीं होती है। वैसे ही अपरिस्पन्दित चित्तवाले पुरुष को संसार की प्राप्ति उस तरह नहीं होती ॥ ४९ ॥

हे महीपते ! इन तीनों जगत् में जो दुःख मनुष्यों के निकट पहुँचते हैं वे सभी चित्त की चपलता से ही उत्पन्न हुए रहते हैं ॥ ५० ॥

इसलिए जिसका चित्त स्थिर, शान्त, स्पन्दन शून्य और अचपल है वही पुरुष सदा परमानन्दी है तथा वही आवरणशून्य होने के कारण साम्राज्य का अर्थात् आत्म-साक्षात्कार का भाजन है ॥ ५१ ॥

हे तत्त्वज्ञ ! आप स्पन्द को साक्षिमात्र स्वरूप के अवलोकन से एक बनाकर उस साक्षी को भी शाश्वत ब्रह्मात्मा के साथ एकता में पहुँचकर भूमानन्द भाव से पूर्णकाम होकर अवस्थित रहें ॥ ५२ ॥

शिखिध्वज उवाच

कथमैक्यं विभो ! यातः स्पन्दास्पन्दाविमावुभौ ।
सर्वसंशयविच्छेदकारिन्नेतद्वदाऽऽशु मे ॥ ५३ ॥

कुम्भ उवाच

एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारिवाम्ऽबुधिः ।
तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारिव वीचिभिः ॥ ५४ ॥
ब्रह्मचिन्मात्रममलं सत्त्वमित्यादि नामकम् ।
यद्गीतं तदिदं मूढाः पश्यन्त्यङ्ग जगत्तया ॥ ५५ ॥
चित्स्पन्द एव सर्वस्वं सर्गे तस्माद्धि संसृतिः ।
परिस्पन्दो हि विन्ध्यादिशब्दस्पन्दसमं परम् ॥ ५६ ॥
चितः स एव चेत् स्पन्दस्तथा स्पन्दश्च भावितः ।
एकरूपतया नाम तत्रेदममलं शिवम् ॥ ५७ ॥
सर्गश्चित्स्पन्दमात्रात्मा सम्यग्दृष्टौ विलीयते ।
उदेत्यसम्यग्दृष्टीनां रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ ५८ ॥
सस्पन्दा चित्तदभिधा निःस्पन्दा त्वियमातता ।
तुर्यातीतपदारूढा वाचा वक्तुं न पार्यते ॥ ५९ ॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कसन्तताभ्यासयोगतः ।
कालेनाऽमलतां याते चेतसीन्दाविवोदिता ॥ ६० ॥
एतत्केवलमाभातं स्वानुभूतिभिराततम् ।
कथ्यते स्वानुभूतेषु स्वयं स्वं रूपमात्मना ॥ ६१ ॥
प्राप्तोऽसि सारं स्वमनादिमध्य-
मत्रैव तिष्ठ स्वपदे निविष्टः ।
नो रूपनिर्भेदमहाचिदात्मा
जातोऽसि साधो खलु वीतशोकः ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजबोधनं नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे सम्पूर्ण संशयों का विच्छेद करने वाले विभो ! आप कृपाकर मुझे शीघ्र बतलाइये कि स्पन्द और अस्पन्द ये दोनों की एकता कैसे होती है अर्थात् स्पन्द और अस्पन्द विरुद्ध धर्मवाले इन दोनों को एकत्र कैसे किया जा सकता है ॥ ५३ ॥

[इन दोनों में स्वरूपतः ऐक्य का विरोध होनेपर भी अधिष्ठान साक्षिचिन्मात्ररूप से विरोध नहीं है।]

कुम्भऋषि ने कहा—यह सम्पूर्ण जगत् चिन्मात्रस्वरूप से वैसे ही एक वस्तु है जैसे सागर जलरूप से एक वही अधिष्ठानचिन्मात्र बुद्धिवृत्तियों से वैसे ही स्पन्दित होता है, जैसे शुद्ध जल ही तरङ्गों से स्पन्दित होता है अर्थात् स्पन्दस्वरूप से विवर्तित होता है ॥ ५४ ॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों ने जिसे ब्रह्म, चिन्मात्र, अमल, सत्त्व इत्यादि नामों से कहा है उस ब्रह्म को ही मूढ़ लोग जगद्रूप से देखते हैं ॥ ५५ ॥

इस सृष्टि में सर्वस्व चिति का स्पन्द ही है, क्योंकि उसीसे संसार उत्पन्न होता है। संसार में विन्ध्यादिरूप द्वितीय शब्दस्पन्द के समान है। तात्पर्य यह कि वह केवल नाममात्र का परिस्पन्द है और कुछ नहीं है ॥ ५६ ॥

यदि तत्-तत् साक्ष्यात्मा ही चिति का स्पन्द और अस्पन्द है तथा एकरूप से भावित है तो ऐसी स्थिति में वहाँ केवल यह निर्मल आत्मस्वरूप शिव ही अवशेष रहता है ॥ ५७ ॥

यह सर्ग चिति का स्पन्दमात्रस्वरूप है। यह असम्यक् दृष्टिवाले पुरुषों को भ्रान्ति से, रज्जु में सर्पभ्रम की तरह उदित होता है, अतः सम्यग् दृष्टि से ही इसका विलय होता है ॥ ५८ ॥

स्पन्दनयुक्त चिति सर्गनाम से कही जाती है और स्पन्दन-शून्य चिति तुर्यातीतपद में आरूढ़ है। इस व्यापक चिति को हम वाणी से कहने में पार नहीं पा सकते हैं ॥ ५९ ॥

शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास के योग से तथा सज्जन पुरुषों के सम्पर्क से समय से चित्त के निर्मल बन जाने पर यह चिति वैसे ही उदित होता है जैसे तिमिर दोष के विनाश से नेत्र के निर्मल बन जाने पर नित्य सिद्ध ही चन्द्रकाएँ उदित होती हैं ॥ ६० ॥

जिन लोगों ने स्वयं अपने स्वरूप का अनुभव किया है उन लोगों से अपनी अनुभूतियों के द्वारा ही एकमात्र प्रकाशित इस विस्तृत आत्मस्वरूप का अपने-आप लोक-दृष्टि से वर्णन किया जाता है ॥ ६१ ॥

आदि और मध्य से शून्य स्वरूप को आप प्राप्त आप अपने इसी पद में निविष्ट हो अवस्थित रहिये। भेदक देहादिरूपों का अभाव होने से ही सब देहों में आपका भेद नहीं है। इसीलिए आप महान् चितिस्वरूप तत्त्वबोध से प्रादुर्भूत हैं। इसीलिए हे साधो, आप शोकशून्य हैं अर्थात् आप भी स्वानुभूति की प्राप्ति कर चुके हैं, इसलिए मेरे वचन से केवल उसे स्थिर कर लीजिये ॥ ६२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजबोधन नामक कुसुमलता का एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

१०२

कुम्भ उवाच

इति ते कथितं सर्वं शिखिध्वज ! महीपते ! ।
यथेदमुत्थितं सर्वं यथा च प्रविलीयते ॥ १ ॥
एतच्छ्रुत्वा च बुद्ध्वा च मत्वा च मुनिनायक ! ।
यथेच्छसि तथा तिष्ठ दृष्टे स्पष्टे परे पदे ॥ २ ॥
स्वर्गं गच्छाम्यहं पर्वकालेऽस्मिन्नारदो मुनिः ।
ब्रह्मलोकात् समायातो भवत्यमरसंसदि ॥ ३ ॥
न मां पश्यति चेत्तत्र तत्कोपमुपगच्छति ।
नोद्वेजनीया भव्येन गुरवो हि कदाचन ॥ ४ ॥
त्यक्तसङ्कल्पलेखेन न किञ्चिदभिवाञ्छता ।
त्वया सदैव वस्तव्यं दृष्टिरेषैव पावनी ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति यावत्प्रतिवचः पुष्पहस्तः शिखिध्वजः ।
प्रणामाय ददात्येष तावदन्तर्धिमाययौ ॥ ६ ॥
प्रतिभानगतं वस्तु यथैवाऽन्ते न दृश्यते ।
न दृष्टवांस्तथा कुम्भमग्रे राजशिखिध्वजः ॥ ७ ॥
गते कुम्भे महीपालः परं विस्मयमाययौ ।
तमेव चिन्तयंश्चित्रं चित्रार्पित इवाऽभवत् ॥ ८ ॥
इदं संचिन्तयामास चित्रं विलसितं विधे ।
यत्कुम्भव्यपदेशेन बोधितोऽस्मि चिरोदयम् ॥ ९ ॥
क्व नारदसुतः कुम्भः क्वाऽहं नाम शिखिध्वजः ।
केवलं कालयुक्त्यैव सोऽहं सम्परिबोधितः ॥ १० ॥
अहो नु सम्यक्कथितं देवपुत्रेण युक्तिमत् ।
अहो नु सम्प्रबुद्धोऽस्मि मोहनिद्राकुलश्चिरात् ॥ ११ ॥
क्वाऽहमासं विनिर्मग्नः क्रियाजालकुकर्दमे ।
इदं कार्यमिदं नेति मिथ्याविभ्रमचक्रके ॥ १२ ॥

१०२

कुम्भ ऋषि ने कहा—हे महपते ! हे शिखिध्वज ! जिस तरह यह विश्व उत्पन्न होता है और जिस तरह इसका प्रविलय होता है, वह सब कुछ अध्यारोप और अपवाद से पूर्ण ब्रह्मतत्त्व ही आप से कहा ॥ १ ॥

हे मुनिनायक ! इसको गुरु और शास्त्र से सुनकर तथा अपने विचार से मनन कर भली-भाँति समझ कर साक्षात् दृष्ट तथा आवरण का नाश हो जाने से स्पष्ट परमपद में किसी समय समाधि की प्रधानता से तथा किसी समय व्यवहार से जैसा आप चाहें वैसे ही अवस्थित रहें ॥ २ ॥

मैं इन्द्र की सभा में जा रहा हूँ । इस पर्वकाल में भगवान् नारदमुनि इन्द्र की सभा में ब्रह्मलोक से आ गये होंगे ॥ ३ ॥

यदि वहाँ मुझे वे न देख पायेंगे, तो बहुत क्रुद्ध होंगे । भव्य पुरुष को कभी-भी गुरुजनों को उद्वेजित (क्रुद्ध) नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

सङ्कल्प की लेखा छोड़कर किसी भी वस्तु की अभिलाषा न करते हुए आप सदा आत्मदृष्टि में ही अवस्थित रहें, क्योंकि यही एक परम पवित्र दृष्टि है, जिसका मैंने आपको उपदेश दिया है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार कहकर वह कुम्भ रूपिणी शिखिध्वज जैसे चूडाला—हाथ में फूल लेकर कुम्भ को प्रणामार्थ प्रतिवचन बोलना चाहते हैं त्यों ही—अन्तर्हित हो गई । साध्वी स्त्रियों द्वारा पतिकृत नमस्कार के ग्राह्य न होने से' वह कुम्भरूपिणी चूडाला नहीं चाहती थी कि मेरा स्वामी मुझे नमस्कार करें, इसलिए वह स्वयं प्रणाम कर शीघ्र अन्तर्हित हो गई ॥ ६ ॥

राजा शिखिध्वज ने अपने आगे अवस्थित कुम्भ को वैसे ही नहीं देखा जैसे स्वप्न आदि में प्रतिभा में आयी हुई धानादि वस्तु अन्त में जागने पर दिखाई नहीं देती ॥ ७ ॥

कुम्भ ऋषि के चले जानेपर राजा शिखिध्वज परम विस्मित हुए उसी आश्चर्य को सोचता हुआ वह चित्र-लिखित की तरह स्थित हो गया ॥ ८ ॥

राजा शिखिध्वज ने यह विचार किया कि यह विचित्र लीला विधान की ही है कि कुम्भ के व्याज से सदा अभ्युदय स्वरूप ब्रह्म का मुझे बोध कराया गया ॥ ९ ॥

कहाँ तो नारदमुनि का पुत्र कुम्भ और कहाँ मैं तुच्छ शिखिध्वज ? केवल यह भाग्योदय के संयोग से ही मैं भली-भाँति बोधित हुआ ॥ १० ॥

अहो देवपुत्र ने सर्वाङ्ग सुन्दर कैसा युक्तियुक्त कहा, अहो ! मोहनिद्रा में व्याकुल पड़ा मैं अब चिरकाल के बाद प्रबुद्ध हुआ ॥ ११ ॥

मैं कहाँ क्रियाजालरूप कुत्सित कीचड़ में फँस गया था, यह करना चाहिए, इत्यादि विभ्रम का चक्ररूप ही वही था ॥ १२ ॥

अहो नु शीतला शुद्धा शान्तेयं पदवी निजा ।
रसायनोद्भवाकारा सत्त्वं शीतयतीह मे ॥ १३ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
तृणाग्रमपि नेच्छामि संस्थितोऽस्मि यथास्थितम् ॥१४॥
एवं संचिन्तयन् राजा नूनं निर्वासनाशयः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो मौनमेवाऽवतस्थिवान् ॥ १५ ॥
तस्मिन्नेव ततो मौने निःसङ्कल्पे निराश्रये ।
प्रतिष्ठां निश्चलां प्राप्य स तस्थौ गिरिशृङ्गवत् ॥ १६ ॥
स तत्र संशान्तभयोऽचिरेण
चिरेण विश्रान्तमतिः समात्मा ।
चिरेण सम्प्राप्तनिजामलात्मा
योगेन सुष्वाप ततोऽदितात्मा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजसमाधानं नाम द्व्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

अहो ! यह प्रत्यक्ष की गई आत्मस्वरूप विशुद्ध और शीतल साम्राज्यपदवी अमृतोद्भव सुधार की आकृति से युक्त है। यह वासना शून्य मेरे मन को यहाँ खूब शीतल कर रही है ॥ १३ ॥

मैं शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ, मैं खूब तृप्त हो रहा हूँ तथा एकमात्र सुख से अवस्थित हूँ। तृण का अग्रभाग भी अब मैं नहीं चाहता। मैं जैसा हूँ वैसा ही अपने स्वरूप में अवस्थित हूँ ॥ १४ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यों सोच रहा, वासनाओं से शून्य अन्तःकरण से युक्त वह राजा शिखिध्वज, पत्थर में खुदी प्रतिमा के समान, वागादि चेष्टाओं से रहित होकर समाधि में अवस्थित हो गया ॥ १५ ॥

उसके बाद निर्विकल्पक और उसी समाधि में अचल प्रतिष्ठा प्राप्त वह राजा शिखिध्वज पर्वत के शिखर के सदृश अवस्थित हो गया ॥ १६ ॥

वहाँ वह राजा शिखिध्वज उस समाधि में अपने निर्मल स्वरूप की प्राप्ति कर समरस बन कर चिरकाल के बाद विश्रान्तमति होने से शीघ्र ही समस्त भयों से छुटकारा पाकर चिरकाल से चले आ रहे योग के द्वारा पूरिपूर्णस्वभाव होकर सो गया अर्थात् सुसुप्त की तरह विश्राम करने लगा ॥ १७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजसमाधान नामक कुसुमलता का एक सौ दोवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०२ ॥

१०३

वसिष्ठ उवाच

निर्विकल्पसमाधानात् काष्ठकुड्योपमस्थितिः ।
एवं शिखिध्वजो राजा चूडालामधुना शृणु ॥ १ ॥
शिखिध्वजं तं भर्तारं कुम्भवेषेण तेन सा ।
प्रबोध्याऽन्तर्धिमागत्य ततार तरसा नभः ॥ २ ॥
देवपुत्राकृति व्योम्नि जहौ मायाविनिर्मिताम् ।
विदग्धमुग्धमाकारं स्त्रैणं जग्राह सुन्दरम् ॥ ३ ॥
नभसा स्वपुरं प्राप विवेशाऽन्तःपुरं क्षणात् ।
दृश्या बभूव लोकस्य नृपकर्म चकार च ॥ ४ ॥
वासरत्रितयेनाऽथ पुनरम्बरमेत्य सा ।
बभूव कुम्भो योगेन शिखिध्वजवनं ययौ ॥ ५ ॥

१०३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वह राजा शिखिध्वज निर्विकल्पक समाधि में अवस्थित होने से काष्ठ और भीत के सदृश अवस्थित हो गया, परन्तु उस चूडाला की क्या दशा हुई, अब उसे आप सुनें ॥ १ ॥

उस कुम्भ ऋषि के वेष से वह चूडाला अपने पति उस राजा शिखिध्वज को प्रोबोधित कर स्वयं अन्तर्हित हो आकाश में बड़े वेग से उड़ गई ॥ २ ॥

माया से विरचित देवपुत्र की आकृति को उसने आकाश में ही छोड़ दिया और सुन्दर विदग्ध मुग्ध स्त्री-स्वरूप आकार को धारण कर लिया ॥ ३ ॥

आकाश मार्ग से अपने नगर में पहुँचकर शीघ्र ही अन्तःपुर के भीतर वह प्रविष्ट हो गई। बाद में, सब के सामने प्रकट और प्रजानुरञ्जनरूप राज्यकार्य करने लगी ॥ ४ ॥

अनन्तर तीन दिन के बाद वह फिर आकाश में आकर योग से कुम्भ ऋषि बन गई और कुम्भ ऋषि का वेष धारण कर राजा शिखिध्वज के जङ्गल में आई ॥ ५ ॥

तथा तत्रैव तं भूपमपश्यद्वनभूमिगा ।
निर्विकल्पसमाधिस्थं समुत्कीर्णमिव द्रुमम् ॥ ६ ॥
अहो नु खलु भो दिष्ट्या विश्रान्तोऽयमिहाऽऽत्मनि ।
स्थितः स्वस्थः समः शान्त इत्युवाच पुनः पुनः ॥ ७ ॥
तदेनं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात् ।
इदानीमेव किं देहत्यागमेष करोति वै ॥ ८ ॥
किञ्चित्कालं स्फुरत्वेष राज्येन विपिनेन वा ।
सममेव गमिष्यावस्त्यक्तदेहाविमौ समौ ॥ ९ ॥
तस्योपदेशो विषमः परिणामं न गच्छति ।
अनेनाऽभ्यासयोगेन तावदाबोधयाम्यहम् ॥ १० ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा ।
भूयो भूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम् ॥ ११ ॥
न चचाल शिलेवाऽद्रौ यदा नादेन तेन सः ।
भूयो भूयः कृतेनाऽपि तदा सा तं व्यचालयत् ॥ १२ ॥

जङ्गल की भूमि पर उतरकर चूडाला ने उसी जगह उसी रूप से उस राजा को निर्विकल्पक समाधि में स्थित प्रतिमाकार-निर्मित काष्ठ की तरह निश्चल देखा ॥ ६ ॥

अहो ! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि यह राजा शान्त, सम और स्वरूप से आत्मा से विश्रान्ति लाभकर अवस्थित है, ऐसा उसने पुनः पुनः कहा ॥ ७ ॥

इसलिए इसे परमपद से बोधित कर दूँ—जगा दूँ, क्योंकि प्रारब्ध कर्म के अवशेष रहते अभी यह देह का त्याग क्यों करें अभी इसे देह का त्याग नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

राज्य के साथ जबतक विपिन के भोगजनक कर्म का क्षय नहीं हो जाने तक जङ्गल के साथ कुछ दिन और चेष्टाएँ किया करे। फिर तो हम दोनों देह छोड़कर तुल्यस्वभाव हो एक ही साथ कैवल्य धाम को प्राप्त करेंगे ॥ ९ ॥

मैंने इसको जो पहले उपदेश दिया है वह विषम हो जायगा, क्योंकि उसका अभी देह छोड़ने से परिणाम सप्तम भूमिका में अवस्थित तक परिपाक नहीं हो सकता अतः जीवन्मुक्ति सुखानुभव के लिए इसे जगाना उचित है। इसलिए इस समाधि के अभ्यासयोग से इसे मैं अब उठाती हूँ ॥ १० ॥

इस प्रकार विचार कर उस चूडाला ने अपने स्वामी के आगे वनचरों को भी भयप्रदान करने वाला बार-बार सिंहनाद किया ॥ ११ ॥

पुनः पुनः उस सिंहनाद के करने पर भी वह राजा पर्वत में शिला की तरह जब विचलित नहीं हुआ, तब उस चूडाला ने उसको हाथ से खूब इधर-उधर हिलाया-डुलाया ॥ १२ ॥

चालितः पातितोऽप्येष यदा न बुबुधे नृपः ।
तदा संचिन्तयामास चूडाला कुम्भरूपिणी ॥ १३ ॥
अहो परिणतः साधुः स्वपदे भगवानयम् ।
तदेनं हि कया युक्त्या साम्प्रतं बोधयाम्यहम् ॥ १४ ॥
अथवैनं महात्मानं किमर्थं बोधयाम्यहम् ।
विदेहं बोधमासाद्य तिष्ठत्वेष यथासुखम् ॥ १५ ॥
अहमप्यङ्गनादेहमिमं त्यक्त्वा परं पदम् ।
अपुनर्जननायैव गच्छामीह हि किं समम् ॥ १६ ॥
इति संचिन्त्य देहं स्वं त्यक्तुमभ्युद्यता सती ।
पुनः सञ्चिन्तयामास चूडाला सा महामतिः ॥ १७ ॥
आलोकयामि चैतावदेनं देहं महीपतेः ।
यद्यस्य सत्त्वशेषोऽस्ति बोधबीजं हृदम्बरे ॥ १८ ॥
तत्कालेनैष भगवान् सम्प्रबोधमुपैष्यति ।
मूलकोशरसालीनं पुष्पजालमिव द्रुमे ॥ १९ ॥

हाथ से इधर-उधर खूब हिलाने-डुलाने और गिराने पर भी जब राजा न जाग सका तब कुम्भरूपिणी चूडाला ने सोचा ॥ १३ ॥

अहो ! साधु भगवान् अपने स्वरूप में सप्तभूमिका-प्रवेश तक परिणत हो चुका है, इसको किस युक्ति से अब मैं जगाऊँ ॥ १४ ॥

अथवा इस महात्मा को मैं क्यों जगाऊँ ? विदेहमुक्ति प्राप्तकर सुखपूर्वक अवस्थित ही रहते हैं ॥ १५ ॥

मैं भी अब इस महिला के शरीर को छोड़कर अपुनर्जन्म के लिए साथ ही चली जाऊँ, इस जीवन में कौन-अधिक सुख रखा है ॥ १६ ॥

इस प्रकार सोचकर अपना शरीर छोड़ने के लिए वह सती चूडाला जब बिलकुल तैयार हो गई तब एक बार फिर उसने विचार किया, अवश्य भोक्तव्य उसके शेष प्रारब्ध कर्म को अपनी बुद्धि से देखकर उस चूडाला ने फिर विचार किया,क्योंकि वह एक महा बुद्धिमती थी ॥ १७ ॥

पहले राजा के इस शरीर को तो देख लूँ कि इसमें बोध के बीजभूत वासनाशून्य मन का संस्कारलेशरूप से कुछ शेष प्रारब्ध से बची हुई माया के लेश से उपहित हार्द ब्रह्म में है या नहीं ॥ १८ ॥

जैसे वसन्त के आरम्भ में वृक्ष के मूल प्रदेश में अवस्थित पृथिवी के रस में सूक्ष्म भाव से लीन भावि पुष्प-

तदेवं विहरन् जीवन्मुक्त एव भवत्यलम् ।
मुक्तो भवत्यय यदि मन्ये गच्छामि तत्समम् ॥ २० ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला स्पर्शनेन नयेन च ।
पतिमालोक्य साशङ्कमुवाच वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
अस्त्येव सत्त्वशेषोऽस्य हृदि सम्बोधकारणम् ।
सम्बोधहेतूदयेन सत्त्वशेषं व्यबुध्यत ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

भृशं संशान्तचित्तस्य काष्ठलोष्टसमस्थितेः ।
सत्त्वशेषः कथं ब्रह्मन् ! ज्ञायते ध्यानशालिनः ॥ २३ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रबोधकारणं यस्य दुर्लक्ष्याणुवपुर्हृदि ।
विद्यते सत्त्वशेषोऽन्तर्बीजे पुष्पफलं यथा ॥ २४ ॥
चित्तस्पन्दवियुक्तस्य तस्याऽस्पन्दितसच्चितः ।
द्वित्वैकत्वविहीनस्य समस्याऽचलसंस्थितेः ॥ २५ ॥

समूह उद्भव को प्राप्त करता है वैसे ही उसके उद्भव का समय आने पर यह भगवान् स्वयं प्रबोध को उस प्रकार प्राप्त होगा ॥ १९ ॥

इसलिए मेरे द्वारा प्रबोधित मेरे ही समान जीवन्मुक्त-रूप से विहार करता हुआ यह स्थित रहे। यदि यह मैं समझ लेती हूँ कि यह मुक्त हो गया है तो मैं भी अभी ही इसके साथ चली जाती हूँ ॥ २० ॥

इस प्रकार विचारकर सुन्दरवर्ण वाली, उस चूडाला ने स्पर्शरूप हेतु के द्वारा देह की गरमी जानकर अभी जीता है—अपने पति को आशङ्कापूर्वक देखकर जागने के जो कारण होते हैं उसके लाभ से जान लिया कि इसमें सत्त्व अभी अवशिष्ट है और उसने यह कहा कि इसके हृदय में अभी सत्त्व तो बचा हुआ है ॥ २१, २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा हे ब्रह्मन् ! अत्यन्त शान्तचित्त, काष्ठ और लोष्ट के समान स्थितिवाले ध्यानशाली प्राणी का सत्त्वशेष कैसे जाना जाता है ॥ २३ ॥

[देह में वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय आदि विकारों का अनुदय सत्त्वशेष में हेतु है।]

जिस किसी ध्यानशाली प्राणी में जगाने के कारण हैं उसके हृदय में अणु की तरह अगम्य सत्त्वशेष वैसे ही विद्यमान रहता है जैसे बीज के अन्दर पुष्प और फल दुर्लक्ष्य अणु के सदृश ही विद्यमान रहता है ॥ २४ ॥

चित्त के विकार से शून्य, निश्चल सत्-चिद्रूप बन गये, निर्विकल्प, सर्वस्वरूप और अचल पर्वत की तरह संस्थित उस पुरुष का शरीर, सबमें एकरूप से रहनेवाले आत्मा

कायः समसमाभोगो न ग्लायति न हृष्यति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति सममेवाऽवतिष्ठते ॥ २६ ॥
द्वित्वैकत्वादियुक्तस्य यस्य प्रस्पन्दते मनः ।
तस्य देहोऽन्यतामेति नाऽस्पन्दस्य कदाचन ॥ २७ ॥
चित्तस्पन्दो हि सर्वेषां कारणं जगतः स्थितेः ।
राम ! भावविकाराणां कुसुमानां यथा मधुः ॥ २८ ॥
अस्मिन्प्रयास्यतो देहे चेतसो हि मुहुर्मुहुः ।
हर्षः कोपो न संमोहो वशमेति रघूद्वह ! ॥ २९ ॥
चित्ते प्रशममायाते कायो यः सत्त्ववर्जितः ।
बाधते नाऽम्बरस्येव तस्य भावविकारभूः ॥ ३० ॥
वीच्यादि न यथोदेति समाया जलसन्ततेः ।
तथा न दृश्यते दोषः समाया सत्त्वसन्ततेः ॥ ३१ ॥
सत्त्वस्याऽनुपलम्भोऽस्ति न तस्योपशमादृते ।
यावद्भाति समं तत्त्वं कालाच्छाम्यति केवलम् ॥ ३२ ॥

में सदा तृप्त रहने के कारण, न तो आनन्दित होता है, न ग्लानि को प्राप्त होता है, न अस्त होता है और न उदय को ही प्राप्त होता है, किन्तु समानरूप होकर अवस्थित रहता है ॥ २५, २६ ॥

द्वित्व और एकत्व आदि से युक्त जिस पुरुष का मन चञ्चल रहता है उसीका शरीर अन्यरूपता को प्राप्त होता है, चञ्चलतारहित पुरुष कभी नहीं प्राप्त करता है ॥२७॥

हे श्रीरामजी ! जैसे कुसुमों का वसन्त है वैसे ही जगत् के व्यवहार के हेतुभूत सम्पूर्ण भावविकारों का कारण चित्तस्पन्द है ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, इसलिए इस देसे से देहान्तर में जाने वाले चित्त का इस देह में बार-बार प्रयत्नपूर्वक निगृहीत भी हर्ष, कोप और सम्मोह रोका नहीं जा सकता, यही दूसरे जन्म में हेतु है ॥ २९ ॥

चित्त की शान्ति हो जानेपर निर्वासन चित्त से स्मरण भाव से त्यागी गई भावविकारों की जननी यह देह आकाश की तरह पुरुष को बाधित नहीं करती है। अर्थात् चित्त का अहन्त्वरूप से स्वीकार ही देह में वृद्धि आदि विकारों का कारण है ॥ ३० ॥

समान वासनारहित चित्तसन्ततिदशा में जरा आदि विकार या राग आदि द्वेष वैसे ही नहीं दिखाई पड़ते हैं जैसे समान जलसन्तति में तरङ्ग आदि की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३१ ॥

सत्त्व के उपशम के बिना सत्त्व का अनुपलम्भ नहीं होता है। जब प्रातिभासिक वैषम्य से निर्मुक्त तत्त्व दिखाई

देहे यस्मिस्तु नो चित्तं नाऽपि सत्त्वं च विद्यते ।
स तापे हिमवद्राम ! पञ्चत्वेन विलीयते ॥ ३३ ॥
शिखिध्वजस्य देहोऽसौ निश्चित्तस्तेजसोर्जितः ।
सत्त्वांशेन च संयुक्तस्तेन न ग्लानिभाजनम् ॥ ३४ ॥
तं तथाभूतमालोक्य भर्तुर्देहं वराङ्गना ।
अनुज्झितवतो देहं चिन्तयामास सत्वरम् ॥ ३५ ॥
चित्तत्त्वं सर्वगं शुद्धं प्रविश्याबोधयाम्यहम् ।
भविष्यद्बोधनं कान्तमथ तत्र हि संस्थिता ॥ ३६ ॥
न बोधयामि यद्येनं चिरात्तद्बुध्यते स्वयम् ।
किमेकैवाऽवतिष्ठेऽहमित्येवं बोधयाम्यहम् ॥ ३७ ॥
इति संचिन्त्य चूडाला देहं कारणपञ्जरम् ।
संत्यज्य प्राप चित्तत्वे स्थितिमाद्यन्तवर्जिते ॥ ३८ ॥
तत्र सा चेतनास्पन्दं कृत्वा सत्त्ववतः प्रभोः ।
स्वं विवेश पुनर्देहं स्वं नीडमिव पक्षिणी ॥ ३९ ॥
कुम्भाकृतिरथोत्थाय निविष्टा कुसुमस्थले ।
साम गातुं प्रवृत्ता सा भ्रमरीवृन्दनिःस्वना ॥ ४० ॥
तं सामस्वनमाकर्ण्य चित्सत्त्वगुणशालिनी ।
बुबुधे भूपतेर्देहे वसन्त इव पद्मिनी ॥ ४१ ॥
दृशं विकासयामास तां तदार्क इवाऽब्जिनीम् ।
गृहीतसत्त्वसम्पत्तिः शिखिध्वजमहीपतिः ॥ ४२ ॥
अपश्यत्कुम्भमग्रस्थं सामगायनतत्परम् ।
परेण वपुषा युक्तं सामवेदमिवाऽपरम् ॥ ४३ ॥
अहो बत वयं धन्याः पुनः प्राप्तो मुनिः स्वतः ।
इत्येवोदाहरन् राजा कुम्भाय कुसुमं ददौ ॥ ४४ ॥
दिष्ट्योदिताः स्मो भगवंस्तव चेतसि पावने ।
के नाम वा महासत्त्वाः प्रसादेष्वङ्ग नो स्थिताः ॥४५॥

पड़ता है तभी अवशिष्ट प्रारब्धविनाशकाल में वह पूर्णरूप से विलीन हो जाता है ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामजी, जिस देह में न तो चित्त और न निर्वासन मन ही रहता है वह ताप में हिम की तरह मरण द्वारा विलीन हो जाती है अर्थात् निर्वासन मन का विनाश हो जानेपर मृत देह भी विलीन हो जाती है ॥ ३३ ॥

शिखिध्वज की देह चित्तशून्य तो थी, परन्तु वह ताप से युक्त और निर्वासन मन से युक्त थी, इससे वह ग्लानि की पात्र नहीं थी अर्थात् शिखिध्वज की देह में तो जीवन हेतुओं का चूडाला ने अवलोकन किया है ॥ ३४ ॥

अपने स्वामी की उस तरह से अवस्थित देह को देख कर अपने शरीर का त्याग न कर सुन्दर अङ्गों से सुशोभित उस चूडाला ने शीघ्र विचार किया ॥ ३५ ॥

सर्वव्यापक विशुद्ध चितितत्त्व में प्रविष्ट होकर अर्थात् अपने स्वामी के कार्य में प्रवेश द्वारा स्वामी के ही हार्द ब्रह्म में प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित हो मैं चिरकाल के बाद जागनेवाले अपने स्वामी को जगाती हूँ ॥ ३६ ॥

यदि मैं इसे न जगाउँ तो भी यह चिरकाल के बाद स्वयं जाग जायगा, लेकिन मैं यों अकेली हो क्यों अवस्थित रहूँ, इसलिए इसे जगाती हूँ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विचारकर इन्द्रियपञ्जररूपी अपनी देह को छोड़ कर स्वामी की देह में प्रविष्ट हो आदि और अन्त से वर्जित अपने स्वामी के हार्द ब्रह्मस्वरूप चितितत्त्व में चूडाला स्थित हो गई ॥ ३८ ॥

जैसे अपने घोंसले में चिड़िया प्रविष्ट होती है वैसे ही पहुँचकर सत्त्वसम्पन्न अपने स्वामी की निर्विकल्पक समाधि से जल और दूध की तरह एकरस बनी चेतना का स्पन्दन कर वह चूडाला फिर अपनी देह में उस तरह प्रविष्ट हो गई ॥ ३९ ॥

अनन्तर कुम्भस्वरूपिणी वह चूडाला वहाँ से उठकर कुसुमपूर्ण स्थान में जाकर बैठ गई और वहीं बैठी हुई भ्रमरियों के गुञ्जार को तिरस्कृत कर वह चूडाला सामगान में प्रवृत्त हो गई ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त में पद्मिनी अवबुद्ध होती है वैसे ही उस सामस्वर को सुनकर सत्त्वगुण से सम्पन्न चिदाभास से युक्त राजा की बुद्धि नखाग्र से लेकर मस्तक तक देह में अहंभाव की व्याप्ति से अवबुद्ध हुई ॥ ४१ ॥

सत्त्वसम्पत्ति से युक्त राजा शिखिध्वज ने समाधि में निमीलित अपने नेत्र को वैसे ही विकसित किया जैसे सूर्य कमलिनी को विकसित करते हैं ॥ ४२ ॥

राजा शिखिध्वज ने साम के गान में तत्पर अपने आगे स्थित कुम्भऋषि को दिव्य शरीर से सम्पन्न दूसरे सामवेद की तरह देखा ॥ ४३ ॥

अहो ! हम धन्य हैं कि यह मुनि स्वयं यहाँ पुनः प्राप्त हैं, इतनी बात कह रहे राजा शिखिध्वज ने कुम्भ को पुष्पाञ्जली समर्पित की ॥ ४४ ॥

हे भगवन् ! यह हमारे सौभाग्य की बात है कि आपके पावन चित्त में हम पुनः उदित हुए हैं । अथवा हे मुने, हम अपने भाग्य की क्या सराहना करें, भला ऐसे महासत्त्वशाली कौन हैं, जो अपने आप ही दूसरों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए सदा प्रस्तुत नहीं रहते ? ॥ ४५ ॥

अस्मत्पवित्रीकरणमेवाऽऽगमनकारणम् ।
न चेत्किं चाऽऽगमे ब्रूहि द्वितीयं कारणं भवेत् ॥ ४६ ॥

कुम्भ उवाच

यतः प्रभृति यातोऽस्मि त्वत्सकाशादनिन्दितः ।
ततः प्रभृति चेतो मे त्वयैवेह समं स्थितम् ॥ ४७ ॥
रम्ये स्वर्गे न तिष्ठामि समीपे तव साम्प्रतम् ।
अभीष्टमुद्यदेवाऽङ्ग रम्याणां तत्पुरः स्थितम् ॥ ४८ ॥
त्वादृशो बन्धुराप्तश्च सुहृन्मित्रं तथा सखा ।
विश्वास्यो वाऽपि शिष्यश्च मन्ये जगति नाऽस्ति मे ।४९।

शिखिध्वज उवाच

अहो नु फलितं पुण्यपादपैर्नः कुलाचले ।
यस्माद्भवानसङ्गोऽपि वाञ्छत्यस्मत्समागमम् ॥ ५० ॥
इदं वनमिमे वृक्षा भृत्योऽयमहमादृतः ।
रोचते तेन चेत्स्वर्गस्तदिह स्थीयतां प्रभो ! ॥ ५१ ॥

हे भगवन् ! हमें पवित्र करने के लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है। यदि यह बात न हो, तो फिर आप ही कृपाकर बतलाइये कि यहाँ आपके आने में दूसरा कौन-सा कारण है ॥ ४६ ॥

कुम्भ ने कहा—अनिन्दित होकर मैं आपके यहाँ से जब से गया तभी से मेरा चित्त आपके साथ यहीं स्थित रहा ॥ ४७ ॥

यही कारण है कि मैं रम्य स्वर्ग में भी नहीं ठहर सका और आपके समीप इस समय ठहरा हुआ हूँ। हे महीपते, वहुत-सी रम्य वस्तुओं के बीच में चित्त को जो सबसे अच्छी मालूम पड़ती है वह बड़े उद्योग से प्राप्त होकर सामने स्थित है, बिना उद्योग के कभी नहीं, इस लिए आपके दर्शन के उद्योगवश ही मेरा यहाँ आगमन हुआ है ॥ ४८ ॥

इस जगत् में मेरा आपके समान बन्धु, आप्त, सुहृत्, मित्र, सखा अथवा विश्वसनीय कोई शिष्य भी नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ४९ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—अहो ! आज इस मन्दराचल के ऊपर हमारे पुष्पवृक्ष फल गये, क्योंकि असङ्ग भी आप हमारा समागम चाह रहे हैं ॥ ५० ॥

हे प्रभो ! मुझ में प्रीति होने के कारण यदि आपको स्वर्ग अच्छा नहीं लगता है तो मेरे निकट यहीं रहिये। आपके लिए यह जङ्गल है, ये वृक्ष हैं और यह मैं हूँ उपस्थित आपका आदृत सेवक ॥ ५१ ॥

भवद्वितीर्णया योगयुक्त्या विश्रान्तवानहम् ।
यथा साधो ! तथा मन्ये स्वर्गे विश्रमणं कुतः ॥ ५२ ॥
तामेव संस्थितिं स्वच्छामवलम्ब्य प्रकाशिनीम् ।
विहरेह यथाकामं स्वर्गे भूमितले तथा ॥ ५३ ॥

कुम्भ उवाच

परे पदे महानन्दे कच्चिद्विश्रान्तवानसि ।
इदं भेदमयं दुःखं कच्चित्संत्यक्तवानसि ॥ ५४ ॥
कच्चिदापातरम्येभ्यः सङ्कल्पेभ्यो रतिर्भृशम् ।
निर्मूलतां गता राजन् ! भोगनीरसमेव ते ॥ ५५ ॥
हेयादेयदशातीतं शान्तं शमसमस्थिति ।
यथाप्राप्तेष्वनुद्वेगं कच्चित्तव मनः स्थितम् ॥ ५६ ॥

शिखिध्वज उवाच

त्वत्प्रसादेन भगवन् ! दृष्टा दृश्यातिगा गतिः ।
प्राप्तः संसारसीमान्तो लब्धो लब्धव्यनिश्चयः ॥ ५७ ॥

अर्थात् आपके द्वारा बतलाई गई समाधि से जनित जो सुख है, उससे तृप्त मुझे भी स्वर्ग की इच्छा नहीं होती है।

हे साधो ! आपके द्वारा बतलाई गई योगयुक्ति से जैसे मैं विश्राम ले रहा हूँ, मैं समझता हूँ कि स्वर्ग में भला वैसा विश्राम कहाँ से होगा ! ॥ ५२ ॥

उसी स्वच्छ स्वप्रकाशस्वरूप स्थित का अवलम्बन कर आप यहाँ यथेच्छ स्वर्ग या भूतल में विहार करें। जिस भूमानन्द संस्थिति का आपने मुझे उपदेश दिया है ॥ ५३ ॥

कुम्भ ने कहा—क्या परमानन्द परमपद में आप विश्राम ले चुके, क्या इस भेदमय दुःख का आप भलीभाँति त्याग कर चुके हैं ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! ऊपर से रमणीय दिखाई दे रहे इन सङ्कल्पों से भोगों की नीरसतापूर्वक आपका प्रेम क्या सर्वथा निर्मूल हो गया है ॥ ५५ ॥

आप हेय और उपादेय दशा को अतिक्रान्त कर शम से समस्थिति से युक्त शान्त आपका मन क्या प्रारब्धवश प्राप्त विषयों में उद्वेग शून्य होकर अवस्थित है ॥ ५६ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे भगवन् ! आपकी दया से मैंने दृश्यों को अतिक्रान्त कर चुकी वह गति देख ली, मैंने संसार की सीमा का अन्त पाया और लाभ करने योग्य वस्तु का लाभ कर लिया ॥ ५७ ॥

चिरादतिचिरेणैव विश्रान्तोऽस्मि निरामयः ।
लब्धं लब्धव्यमखिलं तृप्तः संश्चिरसंस्थितः ॥ ५८ ॥
नोपदेष्टव्यमस्माकं किञ्चिदप्युपयुज्यते ।
सर्वत्रैवाऽतितृप्तोऽस्मि संस्थितोऽस्मि गतज्वरः ॥ ५९ ॥
ज्ञातमज्ञातमप्राप्तं त्यक्तं त्यक्तव्यमाश्रितम् ।
तत्त्वं परत्वं सत्त्वं मे त्वस्यैवाऽस्ति न किञ्चन ॥ ६० ॥
निःसंसृतिर्विगतमोहभयो निरागो
नित्योदितः समसमाशयसर्वसौम्यः ।
सर्वात्मकः सकलसङ्कलनावियुक्त
आकाशकोशविशदः सममास्थितोऽस्मि ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे कुम्भपुनरागमनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चिरकाल के बाद थोड़े समय तक ही अर्थात् केवल तीन दिनतक ही निरामय हो मैंने विश्राम किया, प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया, अब मैं तृप्त हो चिरकाल के लिए स्थित हूँ ॥ ५८ ॥

अब हमें किसी तरह का उपदेश देना उचित नहीं है। सर्वत्र ही मैं अतितृप्त हूँ ॥ ५९ ॥

मैंने अज्ञात का ज्ञान कर लिया, अप्राप्त की प्राप्ति कर ली, छोड़ने योग्य वस्तु छोड़ दी तथा मेरा मन वासना-शून्य हो गया और मैंने आत्मा के ही तत्त्वरूपी परत्व का आश्रयण कर लिया। अब मुझ से अतिरिक्त कोई अवशिष्ट नहीं है ॥ ६० ॥

संसार शून्य, मोह और भय से रहित, रागादि दोषों से मुक्त, नित्य प्रकाशरूप, सर्वत्र एकरूप की भावना से युक्त, सब तरह से सौम्य, सर्वस्वरूप, सकल कल्पनाओं से निर्मुक्त आकाशकोश के समान स्वच्छ मैं एकरूप होकर स्थित हूँ ॥ ६१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वालमीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में कुम्भपुनरागमन नामक कुसुमलता का एक सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०३ ॥

१०४

वसिष्ठ उवाच

इत्यध्यात्मविचित्राभिः कथाभिस्तौ परस्परम् ।
आसाते वेद्यवेत्तारौ मुहूर्तत्रितयं वने ॥ १ ॥
तत उत्थाय कस्मिंश्चित्सानौ सरससारसे ।
सरोवरे वने चैव विहृतौ नन्दनेऽवने ॥ २ ॥
तेनाऽऽचारेण ताभिश्च कथाभिस्तौ वने ततः ।
नीतवन्तौ दिनान्यष्टौ तासु काननवीथिषु ॥ ३ ॥
अथ कुम्भ उवाचाऽन्यद्वनं यावो गिराविति ।
तदोमिति नृपो मत्वा तावुभौ प्रविचेरतुः ॥ ४ ॥
वनान्यनेकरूपाणि जङ्गलानि तटानि च ।
सरांसि गुल्मजालानि शृङ्गाणि गहनानि च ॥ ५ ॥
नदीर्देशांस्तथा ग्रामान्नगराणि वनानि च ।
मञ्जुघोषान् गिरीन्कुञ्जांस्तीर्थान्यायतनानि च ॥ ६ ॥

१०४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओं के परस्पर संलाप से वे दोनों तत्त्वज्ञानी तीन मुहूर्त तक वन में स्थित रहे ॥ १ ॥

उसके बाद वहाँ से उठकर फल-फूल आदि के द्वारा रक्षा करने वाले, आनन्ददायक सरस कमल और सारस पक्षियों के जोड़े से सुशोभित किसी पर्वत की चोटी पर जाकर विहार करने लगे ॥ २ ॥

वहाँ से उठकर उस महारण्य की उन वनवीथियों में जीवन्मुक्तों के प्रसिद्ध आचार के अनुसार व्यवहार करते हुए तथा अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओं से परस्पर संलाप करते हुए उन दोनों ने आठ दिन गवाँ दिये ॥ ३ ॥

उसके अनन्तर कुम्भ ने कहा—हे राजन्! चलिए, किसी दूसरे जङ्गल में किसी पर्वत के ऊपर चलें। राजा ने उसे स्वीकार कर लिया, तब वे दोनों वहाँ से चल पड़े ॥ ४ ॥

समानचित्त तथा समान उत्साह वाले वे दोनों अनेक प्रकार के वनों, जङ्गलों, नदी के तटों, अनेक तालाबों, गुल्मसमूहों (कुञ्जों), गहन पर्वत की चोटियों, बहुत-सी नदियों, नाना देशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, मनोहर शब्द वाले पर्वतों, कुञ्जों, तीर्थों और आश्रमों में पहुँचकर

सममेव समस्नेहौ समवेतौ स्थितावुभौ ।
समसत्त्वौ समोत्साहौ संशान्तौ तस्थतुः सदा ॥ ७ ॥
आनर्चतुः पितॄन्देवान्बुभुजाते च राघव ! ।
समं तप्ते च सिक्ते च समबुद्धी बभूवतुः ॥ ८ ॥
तमालवनखण्डेषु मन्दारगहनेषु च ।
दम्पती स्निग्धहृदयौ सुहृदौ तौ विरेजतुः ॥ ९ ॥
इदं गेहमिदं नेति विकल्पकलना मनः ।
न जहार तयो राम ! वात्येव विबुधाचलम् ॥ १० ॥
विचेरतुस्तौ सुहृदौ क्वचिद्धूलिविधूसरौ ।
क्वचिच्चन्दनदिग्धाङ्गौ क्वचिद्भस्मानुरञ्जितौ ॥ ११ ॥
क्वचिद्दिव्याम्बरधरौ चित्राम्बरधरौ क्वचित् ।
क्वचित्पल्लवसंछन्नौ क्वचित्कुसुममण्डितौ ॥ १२ ॥
दिनैः कतिपयैरेव समचित्ततया तया ।

समानस्नेह से युक्त, वे दोनों मिलकर तुल्यचित्तवृत्ति से युक्त होकर परस्पर एक दूसरे से अपना अनुभव कहते थे ॥ ५-७ ॥

हे राघव ! वे दोनों एक ही साथ पितर और देवताओं की पूजा करते थे, वे दोनों भोजन करते थे । सन्तप्त तथा जलार्द्र शीतल प्रदेशों में उन दोनों की बुद्धि समान थी ॥ ८ ॥

स्निग्धहृदय वे दोनों मित्र स्त्री-पुरुष तमालवनखण्डों में और मन्दार के जङ्गलों में विहार करते हुए शोभायमान हुए ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी ! जैसे झंझावात बिबुधाचल सुमेरु पर्वत को नहीं हर सकती है वैसे ही यह घर है, यह घर नहीं है, इस तरह की विकल्प-कलपना उन दोनों के मन को न हर सकी ॥ १० ॥

वे दोनों मित्र कहीं तो धूलि से धूसरगात्र, कहीं चन्दन से चर्चित अङ्ग और कहींपर तो भस्म से विभूपितगात्र होकर विचरण करते-फिरते थे अर्थात् उनमें प्रिय और अप्रिय विकल्प भी नहीं था ॥ ११ ॥

वे दोनों कहीं दिव्य वस्त्र धारण कर कहीं चित्र-विचित्र वस्त्र से शोभित कहीं पल्लवों से आच्छन्न और कहीं कुसुमों से मण्डित विचरण करते थे ॥ १२ ॥

कुछ ही दिनों में समानचित्त हो जाने से तथा उस निर्वासिन मन के कारण उत्कृष्ट हो राजा शिखिध्वज कुम्भ के समान शोभित होने लगा ॥ १३ ॥

अनन्तर देवसन्तान के समान कान्ति से समन्वित

सत्त्वोदात्ततया चैव राजा कुम्भवदाबभौ ॥ १३ ॥
अथ तं सुरगर्भाभं चूडाला सा शिखिध्वजम् ।
दृष्ट्वा शोभामुपगतं चिन्तयामास मानिनी ॥ १४ ॥
अयं पतिरदीनात्मा रम्याश्च वनभूमयः ।
इयं स्थितिरनायासा या न कामेन वञ्चिता ॥ १५ ॥
जीवन्मुक्तधियां भोगं यथाप्राप्तमतिष्ठताम् ।
एकाग्रहात्मिका तुच्छा मूढतैवोदिता भवेत् ॥ १६ ॥
निजः पतिरुदारात्मा निराधिश्च नवं वयः ।
गृहाणि पुष्पजालानि सा हता या न कामिनी ॥ १७ ॥
वनपुष्पलतागेहे स्वायत्ते भर्तरि प्रिया ।
रमते या न निर्दुःखा सा हतैव दुरङ्गना ॥ १८ ॥
रम्यं विवाहितं कान्तं पतिमासाद्य निर्जने ।
स्त्री सती या न रमते तां धिगस्तु दुरङ्गनाम् ॥ १९ ॥

तथा अपूर्व शोभा को प्राप्त उस राजा शिखिध्वज को देखकर मानिनी चूडाला विचार करने लगी ॥ १४ ॥

यह उदारात्मा मेरे स्वामी और दूसरी ओर ये मनोहर कानन की भूमियाँ फिर यह अनायास प्राप्त जो हम लोगों की स्थिति है, अर्थात् काम से रतिमुख से वञ्चित नहीं रह सकती है ॥ १५ ॥

प्रारब्ध से प्राप्त सुख-दुःखों का अनुभव करनेवाले जीवन्मुक्त महात्मा यदि केवल भोग निवृत्त करने में ही आग्रह कर लें, तो उनकी तुच्छ मूढ़ता ही होगी ॥ १६ ॥

यह अपना स्वामी उदारत्मा है, रोगनिर्मुक्त है, इसकी नयी अवस्था है और ये सब कुसुमसमूह घर हैं, इस तरह की सब सामग्रियों के उपस्थित रहते भी जो स्त्री अपने स्वामी में अनुरागवती नहीं होती वह यदि जीवन्मुक्ता है तो अपने स्वामी के उपभोग के विनाश से जनित पाप से नष्ट हो चुकी है और यदि वह जीवन्मुक्ता है, तो लोकसंग्रह के भङ्ग से जनित निन्दा आदि के द्वारा नष्ट हो चुकी है । अर्थात् अधर्म रोग और श्रम आदि के कारणभूत भोगों से लोकसंग्रह के लिए दूर हट जाना चाहिए, यह ठीक है, परन्तु यहाँ उनकी प्रसक्ति ही नहीं है ॥१७॥

वनपुष्पलताओं के घर में स्वाधीन पति के रहते जो प्रिया सुखपूर्वक रमण नहीं करतीं वह दुष्ट अङ्गना मरे हुए के समान है ॥ १८ ॥

सती स्त्री एकान्त स्थान में सर्वाङ्ग सुन्दर रमणीय अपने विवाहित पति को पाकर भी रमण नहीं करती है तो उस महिला को धिक्कार है ॥ १९ ॥

समुज्झता यथाप्राप्तमपि वेद्यविदा सदा ।
अनिन्द्यं स्वमुदारार्थं किं तज्ज्ञेन कृतं भवेत् ॥ २० ॥
तत्किञ्चिद्रचयाम्याशु प्रपञ्चं प्रेक्षया वने ।
येनाऽयं भूपतिर्भर्ता रमते मयि मानदः ॥ २१ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला कुम्भवेषधरा पतिम् ।
प्राह काननगुल्मस्था कोकिलं कोकिला यथा ॥ २२ ॥

कुम्भ उवाच

चैत्रमासस्य शुक्लोऽयं प्रतिपद्दिवसो महान् ।
अद्याऽऽस्थानं महारम्भं स्वर्गे भवति वै हरेः ॥ २३ ॥
सन्निधानं मया तत्र कर्तव्यं पितुरग्रतः ।
यथास्थिता हि नियतिर्न सन्त्याज्या कदाचन ॥ २४ ॥
प्रतिपालयितव्यं मे त्वयेह च वनावनौ ।
क्रीडता नवपुष्पायां समुद्वेगमगच्छता ॥ २५ ॥
आगच्छामि दिनान्तेऽद्य निर्विकल्पं नभस्तलात् ।

उदार अर्थ से भरे यथा प्राप्त भी अनिन्द्य अपने भोग का सदा त्याग कर रहे, वेद्य पदार्थ का ज्ञान रखनेवाले तत्त्वज्ञानी पुरुष ने कौन सा अधिक फल उत्पन्न करता है। यदि यथाप्राप्त अनिन्दित भोग का सदा त्याग कर देता है। अर्थात् यथाप्राप्त भोगों का त्याग कर के ज्ञानी कुछ भी अधिक फल उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ २० ॥

इसलिए मैं अपनी बुद्धि से इस वन में शीघ्र ही कुछ प्रपञ्च की रचना करूँ, जिससे कि यह मानप्रदान करने वाला मेरा पति राजा मुझ में रति सुख का काम कर सके ॥ २१ ॥

इस प्रकार विचारकर जैसे कोकिला अपने पति कोकिल से कहती हो वैसे ही कानन के लता कुञ्ज में बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडाला ने अपने पति से कहा ॥२२॥

कुम्भ ने कहा—हे राजन् ! यह चैत्रमास का शुक्ल पक्ष है और महान् प्रतिपद् दिवस है। आज इन्द्र की समारोहपूर्वक बड़ी सभा स्वर्ग में होगी जहाँ सब देवर्षियों का समागम होगा ॥ २३ ॥

मुझे अपने पिताजी के सामने वहाँ पहुँच कर उनका साक्षात्कार करना ही चाहिए, क्योंकि यथास्थित नियति का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥

नवीन कुसुमों से सुशोभित इस वन-भूमि में किसी तरह के उद्वेग से शून्य विहार करते हुए आप सायंकाल तक मेरी अवश्य प्रतीक्षा करें ॥ २५ ॥

मेरे आत्मसन्तोष के लिए आपका साथ मुझे स्वर्ग से भी बढ़कर प्रिय है। अतः आज सायंकाल को स्वर्ग से

स्वर्गादतितरामेव त्वत्सङ्गो मम तुष्टये ॥ २६ ॥
इत्युक्त्वा मञ्जरीं कुम्भो ददौ मित्राय कौसुमीम् ।
प्रीतये स्वामिव प्रीतिं कान्तां नन्दनवृक्षजाम् ॥ २७ ॥
आगन्तव्यं त्वया शीघ्रमेवं वदति भूपतौ ।
पुप्लुवेऽथ वनाद्व्योम शरन्मुखपयोदवत् ॥ २८ ॥
पुष्पाञ्जलिं जहौ व्योम व्रजन् कुसुमदामजम् ।
विसारि वनवातेन हिमं हैम इवाऽम्बुदः ॥ २९ ॥
शिखिध्वजो व्रजन्तं तं ददर्शाऽऽदर्शनं तदा ।
उन्निद्रोऽब्दं यथा बर्ही धीमत्प्रीतिर्हि दुस्त्यजा ॥ ३० ॥
शिखिध्वजदृशामन्ते व्योम्नि कुम्भवपुर्जहौ ।
शान्तावर्तेव वारिश्रीर्मुग्धा स्वं रूपमाययौ ॥ ३१ ॥
प्राप मञ्जरिताकारकल्पवृक्षोपमं पुरम् ।
स्फुरत्पताकमात्मीयं स्वर्गरम्यं दिवः पथा ॥ ३२ ॥

मैं निश्चित आ जाऊँगा ॥ २६ ॥

इस प्रकार कहकर अपनी प्रीति के समान कल्पतरु के के कुसुम की मनोहर मञ्जरी कुम्भ ने अपने मित्र राजा शिखिध्वज को उसकी प्रसन्नता के लिए दे दी ॥ २७ ॥

यहाँ शीघ्र आना, इस प्रकार राजा शिखिध्वज के कहते ही वह कुम्भ वन से आकाश में, शरत्कालीन निर्जल मेघ की तरह उड़ गये ॥ २८ ॥

जैसे हिमकाल का मेघ हिम को छोड़ देता है वैसे ही आकाश में जा रहे उस कुम्भ वन की वायु से चारों ओर प्रसरणशील पुष्पमाला की पुष्पाञ्जलि को छोड़ दी ॥२९॥

वैसे ही उस समय आकाश में जा रहे अपने मित्र को राजा शिखिध्वज तबतक उन्निद्र होकर वैसे ही देखते रहे जैसे मयूर तबतक मेघ को लगातार देखते ही रहता है जब तक कि वह मेघ उसकी आँखों से ओझल नहीं हो जाता, जबतक कि कुम्भ आँखों से ओझल नहीं हो गये, क्योंकि बुद्धिमानों की प्रीति दुस्त्याज्य होती है, छोड़ते नहीं बनती है ॥ ३० ॥

शिखिध्वज की दृष्टि के बाहर जाकर आकाश में चूडाला ने अपने कुम्भ शरीर का परित्याग कर वह मुग्धा अपने पूर्वरूप में वैसे ही आ गई जैसे आवर्त के शान्त हो जाने पर जलश्री आती है ॥ ३१ ॥

आकाश-पथ से वह चूडाला स्वर्ग के समान रमणीय पताका फहरा रही अपने नगर में पहुँच गई, जहाँ जो मञ्जरीयुक्त आकार वाले कल्पवृक्ष के सदृश मालूम हो रहा था ॥ ३२ ॥

अन्तःपुरमदृश्यैव विवेश ललनाकुलम् ।
मधुमासमहालक्ष्मीर्लसल्लतमिव द्रुमम् ॥ ३३ ॥
राजकार्याणि सर्वाणि तत्र सम्पाद्य सत्वरम् ।
शिखिध्वजस्य पुरतः पपात फलपुष्पवत् ॥ ३४ ॥
तत्र कालद्युतिं मुखं चकाराऽऽखिन्नमानसा ।
इन्दुं सनीहारमिव श्यामा खिन्नमिवाऽम्बुजम् ॥ ३५ ॥
तं दृष्ट्वा तादृशाकारं समुत्तस्थौ शिखिध्वजः ।
बभूव खिन्नचेताश्च समुवाचेदमादृतः ॥ ३६ ॥
देवपुत्र ! नमस्तेऽस्तु विमना इव लक्ष्यसे ।
कुम्भस्त्वं त्यज संरम्भमिदमासनमास्यताम् ॥ ३७ ॥
सन्तो विदितवेद्या ये ते हि हर्षविषादजाम् ।
नाऽऽश्रयन्ति स्थितिं स्वस्थाः पद्मा इव जलार्द्रताम् ।३८।

जैसे अपने अन्तःपुर में अदृश्यरूप से वह चूडाला प्रविष्ट हो गई वैसे ही वनिताओं से परिपूर्ण लताओं से शोभित वृक्ष में वसन्त की महालक्ष्मी प्रविष्ट होती है ॥ ३३ ॥

वहाँ सब राज्यकार्यों का झटपट सम्पादन कर चूडाला, जैसे वृक्ष से फल या पुष्प गिरता है, वैसे ही राजा शिखिध्वज के आगे आकर गिरी ॥ ३४ ॥

अत्यन्त खिन्न मनवाली श्यामा उस चूडाला ने अपने स्वामी की सन्निधि में अपने मुख को वैसे ही श्यामद्युति से युक्त खिन्न बना दिया हिमयुक्त चन्द्र जैसे कमल को खिन्न बना देता है ॥ ३५ ॥

उस तरह के आकार से युक्त उसे देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़ा हो गया और खिन्नचित्त उस राजा ने बड़े आदर के साथ यह कहा ॥ ३६ ॥

हे देवपुत्र ! आपको नमस्कार है । आपके मुख में ग्लानि झलक रही है, अतः आप खिन्न चित्त दीख रहे हैं । आप तो कुम्भ हैं । इस मानसिक ताप को दूर कर इस आसन पर बैठ जाइये ॥ ३७ ॥

जैसे कमल जल की आर्द्रता का आश्रयण नहीं करते, वैसे ही जो अपने स्वरूप में स्थित सन्त महानुभाव वेद्य वस्तु का ज्ञान कर लेते हैं वे हर्ष और विषादजनित स्थिति का आश्रयण नहीं करते हैं ॥ ३८ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार राजा शिखिध्वज के कहने पर आसन पर बैठते-बैठते कुम्भ ने फटे बाँस की ध्वनि के समान विषादभरी वाणी से कहा ॥ ३९ ॥

वसिष्ठ उवाच

तेन क्ष्मापतिनेत्युक्ते कुम्भ आहाऽऽसने विशन् ।
गिरा विषण्णया शीर्णवंशस्वनसमानया ॥ ३९ ॥
यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव ये ।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति न ते तत्त्वविदः शठाः ॥ ४० ॥
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजन् ! बालतयैव ते ।
अवस्थाभ्यः पलायन्ते गृहीताभ्यः स्वभावतः ॥ ४१ ॥
यावत्तिलं यथा तैलं यावद्देहं तथा दशा ।
यो न देहदशामेति सच्छिनत्त्यसिनाऽम्बरम् ॥ ४२ ॥
एष देहदशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः ।
यत्साम्यं चेतसो योगान्न तु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥ ४३ ॥
यावद्देहं यथाचारं दशास्वङ्ग विजानता ।
कर्मेन्द्रियैर्हि स्थातव्यं न तु बुद्धीन्द्रियैः क्वचित् ॥४४ ॥

देह की स्थिति रहने तक आने वाली हर्ष-शोक आदि अवस्थाओं में ज्ञानजनित समचित्तता के कारण कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं में अवस्थित नहीं होते और तत्त्वज्ञानी प्रारब्ध प्राप्त कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं का उद्भव हो जाने मात्र से शठ भी नहीं हो जाते ॥ ४० ॥

हे राजन् ! अतत्त्वज्ञानी मूढ बालचित्त के कारण उनमें समचित्तरूपता का अभाव होने से ही सदृश गृहीत कर्मेन्द्रियों की निग्रहावस्थाओं से अज्ञानस्वभाव से ही च्युत हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

जैसे जबतक तिल है तबतक तेल भी है ही, वैसे ही जबतक देह रहेगी तबतक कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हर्ष और ग्लानि आदि की दशा रहेगी ही । जब देहदशा को प्राप्त नहीं करता वह खड्ग से आकाश का छेदन करता है । अर्थात् ज्ञानियों को भी देहदशा का अतिक्रमण होता ही नहीं, अतः मैं भी उसका अनुकरण करूँ तो क्या दोष है जबतक देह रहेगी तबतक प्रारब्ध युक्त कर्मेन्द्रियों में हर्ष-ग्लानि आदि दशा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में एक-सी रहेगी ही ॥ ४२ ॥

समाधि से चित्त की समता ही देह में प्राप्त दुःखों का सर्वोत्तम परित्याग है । कर्मेन्द्रियों के निग्रह से उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं है अर्थात् ऐसी स्थिति में चित्त की समता से देहगत दुःखों का समाधि के कारण अदर्शन होना ही उनका परित्याग है, जबर्दस्ती कर्मेन्द्रियों के निग्रह से उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं ॥ ४३ ॥

तत्त्वज्ञानी को सभी दशाओं में यथाप्राप्त सदाचार का

परमेष्ठिप्रभृतयः सर्व एवोदिताशयाः ।
देहावस्थासु तिष्ठन्ति नियतेरेष निश्चयः ॥ ४५ ॥
अज्ञतत्त्वज्ञभूतानि दृश्यजातमिदं हि यत् ।
तत्सर्वमेव नियतिं धावत्यम्बु यथाऽम्बुधिम् ॥ ४६ ॥
तज्ज्ञा बुद्ध्यादिसाम्येन पाण्यादिचलनेन च ।
नियतिं यापयन्तीमां यावद्देहमखण्डिताम् ॥ ४७ ॥
अज्ञास्तु सर्वक्षोभेण सुखदुःखदशाहताः ।
नियतिं यापयन्त्यङ्ग देहलक्षैर्विखण्डिताम् ॥ ४८ ॥
इत्थं सुखेषु ननु दुःखदशासु चेत्थं
स्थातव्यमित्यधिगतं यदिहाऽङ्ग जीवैः ।
अज्ञज्ञभूतनिवहस्फुरितस्तदेवं
दुर्लङ्घ्य एष नियतो नियतेर्विलासः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे व्यवहारप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

कर्मेन्द्रियों के द्वारा परिपालन करते हुए ही अवस्थित रहना चाहिए, जबतक कि इस देह की स्थिति बनी हुई है । ज्ञानेन्द्रियों तथा मन आदि से तो सदा समचित्त होकर ही अवस्थित रहना चाहिए, कभी भी वैषम्यभाव को प्राप्त होकर नहीं रहना चाहिए ॥ ४४ ॥

अर्थात् ब्रह्मा आदि सभी उदित हृदय से युक्त जीवन्मुक्त ज्ञानी लोग देह की अवस्थाओं में अवस्थित रहते हैं, यही प्रारब्धकर्मरूप नियति का निश्चय है ॥ ४५ ॥

जैसे जल सागर की ओर दौड़ता है वैसे ही अज्ञ या तत्त्वज्ञ सर्वविध प्राणियों से समन्वित यह दृश्यसमूह नियति की ही ओर दौड़ता है अर्थात् प्रारब्धकर्मरूपी नियति का उल्लङ्घन अज्ञ या तत्त्वज्ञ किसी से नहीं किया जा सकता ॥ ४६ ॥

तत्त्वज्ञानी लोग बुद्धि आदि के साम्य तथा हाथ, पैर के सञ्चालन से प्राप्त एक अन्तिम देह का पतन न होने तक इस नियति को पूर्णतः बिताते चलते हैं ॥ ४७ ॥

परन्तु अज्ञानी सब तरह के क्षोभ से सुख-दुःख की दशाओं में आहत हो लाखों शरीरों के द्वारा नियति को अपूर्णरूप से बिताते चलते हैं ॥ ४८ ॥

इस प्राणी को इस जन्म में इस रीति से सुखों में और इस रीति से दुःख की दशाओं में अवस्थित रहना चाहिए । अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीवों को जैसा ललाटाक्षर प्राप्त है उस विषय में अज्ञ या ज्ञानी सब भूतों में वैसा ही यह नियति प्रारब्धकर्म का नियत विकास है, जो दुर्लङ्घ्य है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में जीवन्मुक्त-व्यवहार प्रतिपादन नामक कुसुमलता का एक सौ चारवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०४ ॥

१०५

शिखिध्वज उवाच

एवं स्थिते महाभाग ! कथमुद्वेगमीदृशम् ।
लब्धवानसि देवोऽपि वद वेद्यविदां वर ! ॥ १ ॥

कुम्भ उवाच

शृणु कार्यमिदं चित्तं मदीयं वसुधाधिप ! ।
कथयामि तवाऽशेषं सर्गे यद्वृत्तमद्य मे ॥ २ ॥
सुहृद्यावेदितं दुःखं परमायाति तानवम् ।
घनं जडं कृष्णमपि मुक्तवृष्टिरिवाऽम्बुदः ॥ ३ ॥
सुहृदा पृच्छता साधु चेतो याति प्रसन्नताम् ।
स्वच्छतोपगतेनाऽऽशु कतकेन जलं यथा ॥ ४ ॥

१०५

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे महाभाग ! हे वेद्यविदों में श्रेष्ठ ! अपने-अपने भाग्यचक्र के अनुसार स्थित जीवों में यद्यपि आप देवता हैं, फिर इस तरह के विषाद के हेतु उद्वेग को किस कारण से आपने प्राप्त किया यह आप मुझसे कहिए ॥ १ ॥

कुम्भ ने कहा—हे भूमिपते ! यह मेरा चित्त के विकृत होने के विषय में आज इस संसार में मेरे लिए जो घटना घटी, उसे पूरी तरह मैं आप से कहता हूँ सुनिये ॥ २ ॥

जैसे भद्र घन, जड़ और काला होते हुए भी मेघ मुक्तवृष्टि हो हलका हो जाता है, वैसे ही सुहृद्जनों में प्रकाशित किया गया दुःख अत्यन्त हलका हो जाता है ॥३॥

जैसे स्वच्छता के लिए प्राप्त हुए कतक-रज के कारण जल स्वच्छता को प्राप्त करता है वैसे ही पूछ रहे मित्र के कारण अन्तःकरण भली-भाँति प्रसन्नता स्वच्छता प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

अहं तावदितो यातो भवते पुष्पमञ्जरीम् ।
दत्वा गगनमुल्लङ्घ्यसम्प्राप्तश्च त्रिविष्टपम् ॥ ५ ॥
ततः पित्रा महेन्द्रस्य सभास्थाने यथाक्रमम् ।
स्थित्वोत्थाय तथोत्थानकालेपित्रा विवर्जितः ॥ ६ ॥
इहाऽऽगन्तुमहं त्यक्त्वा स्वर्गं सम्प्राप्तवान्नभः ।
दिवाकरहयैः सार्धं वहाम्यनिलवर्त्मनि ॥ ७ ॥
अथैकत्र गतो भानुरेकेनाऽन्येन वर्त्मना ।
आगच्छाम्यहमाकाशं सागरापतिताकृतिः ॥ ८ ॥
अथाऽग्रे वारिपूर्णानां मेघानां मध्यवर्त्मना ।
अपश्यं मुनिमायान्तमहं दुर्वाससं जवात् ॥ ९ ॥
पयोधरपटच्छन्नं विद्युद्वलयभूषितम् ।
अभिसारिकया तुल्यं धाराधौताङ्गचन्दनम् ॥ १० ॥
स्थितां सुतरुमुच्छायामापगां वसुधातले ।
वेगेनाऽभिसरन्तं तां तपोलक्ष्मीमिव प्रियाम् ॥ ११ ॥

आपको पुष्पाञ्जलि समर्पित कर यहाँ से पहले निकाला और फिर आकाश को लांघ कर मैं स्वर्ग में पहुँच गया ॥ ५ ॥

वहाँ पहुँचकर पिताजी के साथ महेन्द्र के सभास्थान में क्रमानुसार बैठ गया और अनन्तर उत्थान-समय में पिता जी से अलग हो गया ॥ ६ ॥

मैं उठकर यहाँ आने के लिए स्वर्ग का परित्याग कर आकाशमण्डल में आ गया । मैं सूर्य के घोड़ों के साथ-साथ अपने अनुकूल प्रवहनामक वायु के मार्ग से उसके प्रवाह से ही अभिमत देश में आया ॥ ७ ॥

अपने अभिमत देश में आने के बाद प्रवहनामक वायु द्वारा आगे ले जाये जा रहे भगवान् सूर्य एक ओर गये और मैं दूसरे मार्ग से समुद्र में तैरता हुआ सा आकाश की ओर जा रहा था ॥ ८ ॥

अनन्तर मैंने जलपूर्ण मेघों के मध्यमार्ग से वेगपूर्वक सामने चले आ रहे महान् दुर्वासा मुनि को देखा । ९ ॥

दुर्वासा मुनि को मेघसदृश नीले वस्त्रों ने ही ढांक रखा था और विद्युत् के सदृश चमकीले कङ्कण ने उन्हें सुशोभित किया था । जिस दशा में मैंने उन्हें देखा, उस दशा में वे ठीक अभिसारिका के समान लगते थे । उनके अङ्गों के चन्दन को ओस की धारा ने धो डाला था ॥ १० ॥

भूमिपर सुशोभित तीरस्थ वृक्षों की सुन्दर छाया से समन्वित अपनी प्रिय तपोलक्ष्मी के सदृश अवस्थित

तस्य कृत्वा नमस्कारमुक्तं खे वहता मया ।
मुने! नीलाभ्रवस्त्रस्त्वमभिसारिकया समः ॥ १२ ॥

इत्याकर्ण्य मुमोचाऽसौ मयि मानद ! शापकम् ।
स्तनकेशवती कान्ता हावभावविलासिनी ।
गच्छाऽनेन दुरुक्तेन रात्रौ योषा भविष्यसि ॥ १३ ॥
इति श्रुत्वाऽशुभं वाक्यमुत्थितं जर्जरद्विजात् ।
विमृशामि मनाग्यावत्तावदन्तर्हितो मुनिः ॥ १४ ॥
इत्युद्वेगमनाः साधो ! सम्प्राप्तोऽहं नभस्तलात् ।
एतत्ते कथितं सर्वं सम्पन्नोऽस्मि निशाङ्गना ॥ १५ ॥
अतिवाह्यं दिनान्तेषु स्त्रीत्वमेतन्मया कथम् ।
योषित् स्तनवती रात्रौ वक्तव्यं किं मया पितुः ॥ १६॥
संसृतौ भवितव्यानामहो नु विषमा गतिः ।
अहमप्यद्य यद्दैवाद्यूनामामिषतां गतः ॥ १७ ॥

प्रसिद्ध अवस्थित प्रसिद्ध भागीरथी की और वेग से वे इसलिए दौड़े जा रहे थे कि सन्ध्यावन्दन का समय बीत न जाय ॥ ११ ॥

आकाश में विचरण करते हुए उसे मुनि को नमस्कार कर मैंने कहा कि हे मुनिवर ! नीलमेघ के सदृश वस्त्र धारण करने से आप अँधेरी रात की अभिसारिका के सदृश लगते हैं ॥ १२ ॥

हे मानद, महाराज दुर्वासा ने उस वाक्य को सुनकर मेरे ऊपर शाप छोड़ा, जाओ, तुम इस दुरुक्ति के कारण हाव-भावविलासों से पूर्ण, स्तनकेशवाली कमनीय रमणी आज से प्रत्येक रात में हो जाओगी ॥ १३ ॥

जीर्ण-शीर्ण ब्राह्मण दुर्वासा मुनि के मुख से निकले उस अशुभ वाक्य को सुनकर ज्यों-ही मैं कुछ विचारता वैसे ही वे मुनि अन्तर्हित हो गये ॥ १४ ॥

हे साधो ! इसलिए मैं आकाशतल से ही उद्विग्न-मन होकर यहाँ आया हूँ । आप से मैंने सब कुछ कह दिया कि मैं रात्रि में अङ्गना हो गया हूँ ॥ १५ ॥

यह स्त्रीभाव रात्रियों में मैं कैसे निभा सकूँगा । हा ! मैं रात में स्तनधारिणी योषित् हो जाऊँगा । पिताजी के सामने मैं क्या कहूँगा ॥ १६ ॥

अहो ! इस संसार में भवितव्यों की बड़ी ही विचित्र गति है, क्योंकि मैं भी आज दैव से युवकों के लिए आमिष बन गया अर्थात् गृध्रामिषन्याय से अनेक युवकों में परस्पर कलह को पैदा करनेवाला हो गया ॥ १७ ॥

कष्टं मदपहारेण कलहो जायतेऽधुना ।
दिवि देवकुमाराणां कामाकुलधियामिह ॥ १८ ॥
गुरुदेवद्विजातीनां लज्जापरवशात्मना ।
कथमग्रे मया सम्यग्वस्तव्यं यामिनीस्त्रिया ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा क्षणमेकं सा तूष्णीं स्थित्वा मुनिस्थितौ ।
धैर्यमाश्रित्य कुम्भोऽत्र पुनराह रघूद्वह ! ॥ २० ॥
किमज्ञ इव शोचामि किं मम क्षतमात्मनः ।
यथागतमयं देहो मत्तोऽन्यो नु भविष्यति ॥ २१ ॥

शिखिध्वज उवाच

परिदेवनया कोऽर्थो देवपुत्र ! तथैतया ।
यदायाति तदायातु देहस्याऽऽत्मा न लिप्यते ॥ २२ ॥
कानिचिद्यानि दुःखानि सुखानि विहितानि च ।
तानि सर्वाणि देहस्य देहिनो न तु कानिचित् ॥ २३ ॥
यदि त्वमपि कार्याणामखेदार्होऽपि खिद्यसे ।
तदन्येषामुपायः स्यात् क इवाऽऽगमभूषणः ॥ २४ ॥
खेदे खेदोचितं वाच्यमिति किञ्चित्त्वमुक्तवान् ।
इदानीं समतामेत्य तिष्ठाऽखिन्नो यथास्थितम् ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच

तावेवमादिभिर्वाक्यैरन्योन्याश्वासनं स्वयम् ।
कृत्वा स्थितौ वनस्निग्धौ सुहृदौ खेदिनौ मिथः ॥ २६॥
अथाऽर्कोऽप्यस्य कुम्भस्य स्त्रीत्वमुत्पादयन्निव ।
जगामाऽस्तं जगद्दीपो दीपः स्नेहक्षयादिव ॥ २७ ॥
व्यवहारभरैः सार्धं पद्माः संकोचमाययुः ।
मार्गाश्च पथिकैः सार्धं पान्थस्त्रीहृदयानि च ॥ २८ ॥
दाशवद्विहगान्सर्वान् कुर्वदेकत्र सञ्चितान् ।
तारकारत्नजालाढ्यं भुवनं साम्यतां ययौ ॥ २९ ॥

महान् कष्ट यह हो गया कि अब मेरे अपहरण के लिए यहाँ स्वर्ग में काम व्याकुलमति देवकुमारों का संघर्ष छिड़ जायगा ॥ १८ ॥

गुरुजन, देवता एवं ब्राह्मणों के सामने रात में लज्जा-परवश स्त्रीरूप मैं किस तरह से निराबाध वास कर सकूँगा ॥ १९ ॥

श्रीवासिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! इस प्रकार कहकर यह कुम्भ एक क्षणतक चित्त की एकाग्रता में चुपचाप स्थित हो इस विषय में धैर्यधारण कर फिर बोलने लगा ॥ २० ॥

अज्ञानी की तरह मैं क्यों सोच रहा हूँ, मेरी आत्मा का इससे क्या बिगड़ा। प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त स्त्रीभाव मुझ से अन्य यह शरीर ही अनुभव करेगा। इससे असङ्ग चिन्मात्रस्वरूप मेरी क्षति ही क्या हुई ॥ २१ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे देवपुत्र ! उस तरह की इस परिदेवना से व्यर्थ चिन्ता से कौन अर्थ सिद्ध होने वाला है। प्रारब्धवश जो आता है, उसे आने दीजिए, उससे देह की आत्मा लिप्त नहीं हो सकती है ॥ २२ ॥

सुख या दुःख जो भी कुछ आते जाते हैं उनमें से कोई भी देही आत्मा के देहोपलक्षित चैतन्यात्मा के लिए नहीं हैं ॥ २३ ॥

मुनिवर, अवश्य प्राप्त होनेवाले प्रारब्धकर्म-फलों के विषय में कभी खेद न करनेवाले आप भी यदि खेद करने लग जायँगे,, तो अविवेकी पुरुषों को अविवेक जनित खेद की चिकित्सा के लिए आपके समान शास्त्रीय तत्त्व का अनुभव करानेवाला दूसरा कौन चिकित्सक शरण देगा ॥ २४ ॥

खेद के विषय में खेदोपयोगी कुछ कहना चाहिए, इस अभिप्राय से आपने कुछ कहा, यह मेरा मत है। अब आप समता धारण कर प्रकृतिस्थ हो अखिन्नरूप से स्थित हो जाइयेगा। अर्थात् मैं तो समझता हूँ कि यह आपका खेद नहीं है, किन्तु केवल खेदोचित वाणी का ही लोकाचार का वर्णन करने के लिए उपयोग कर रहे हैं ॥ २५ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—उस तरह के अनेक वाक्यों के द्वारा वे दोनों परस्पर अपने-आप आश्वासन कर स्थित हो गये। उन दोनों को अरण्य से बड़ा प्रेम था, वे एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे और परस्पर एक दूसरे के दुःख से दुःखी रहने वाले थे ॥ २६ ॥

परस्पर आश्वासन ग्रहण करने के बाद कुम्भ में स्त्रीरूपता का उत्पादन कर रहे जगत् के दीपकरूप भगवान् सूर्य भी, तेल के क्षय से दीपक की तरह आस्ताचल की ओर चल दिये ॥ २७ ॥

जगत् के समस्त व्यवहारों के साथ-साथ कमल संकुचित होने लगे, पथिकों के साथ-साथ मार्ग अन्धकार के कारण अस्फुट होने लगे, पथिक और पथिकस्त्रियों के अन्तःकरण वियोग शोकरूप अन्धकार से आक्रान्त होने लगे ॥ २८ ॥

समुद्र के द्वीप में रहने वाले धीवर लोग जालों से पक्षी, मछलियों और समुद्रस्थ रत्नों को एकत्रित करते हैं, इसलिए समुद्रद्वीप में रहने वाले धीवरों के सदृश एक

खं हसदिव ताराढ्यं विकासि कुमुदाकरम् ।
ययावुन्नादचक्राह्वभ्रमद्भ्रमरपेटकम् ॥ ३० ॥
सुहृदौ तावथोत्थाय सन्ध्यामुद्यन्निशाकराम् ।
वन्दयित्वा तथा कृत्वा जप्यं गुल्मान्तरे स्थितौ ॥३१॥
ततः कुम्भः शनैस्तत्र स्त्रैणमभ्याहरन्वपुः ।
शिखिध्वजं पुरःसंस्थं प्रोवाच गलदक्षरम् ॥ ३२ ॥
पतामीव स्फुरामीव द्रवामीवाऽङ्गयष्टिभिः ।
लज्जयैव च ते राजन् ! मन्ये स्त्रीत्वं व्रजाम्यहम् ॥३३॥
पश्येमे परिवर्धन्ते राजन् ! मम शिरोरुहाः ।
प्रस्फुरत्तारकामाला दिनान्ततिमिरा इव ॥ ३४ ॥
पश्येमौ मम जायेते प्रोन्मुखावुरसि स्तनौ ।
कोरकाविव पद्मिन्या वसन्ते गगनोन्मुखौ ॥ ३५ ॥
आगुल्फमेव लम्बानि सम्पद्यन्तेऽम्बराणि मे ।
देहादेव सखे ! पश्य स्त्रिया इव शनैः शनैः ॥ ३६ ॥

जगह सब पक्षियों को बटोर रहा नीचे का भुवन और एक जगह तारकरूपी रत्नों को इकट्ठा कर रहा ऊपर का भुवन—ये दोनों एक दूसरे की समता करने लग गये ॥२९॥

विकसित कुमुदों के आकर हँस रहे पुरुष के सदृश स्थित तारों से परिपूर्ण आकाश की ओर चक्रवाक एवं घूम रहे भ्रमरों के झुण्ड-के-झुण्ड उत्ताल निनादध्वनि करते हुए उड़ने लगे ॥ ३० ॥

वे दोनों मित्र उठकर उदयोन्मुख निशाकर से युक्त सन्ध्या को अभिवादन कर तथा जपकर्म कर एक लता-गृह के भीतर बैठ गये ॥ ३१ ॥

अनन्तर, वहाँ धीरे-धीरे क्रमशः स्त्री के अङ्गों में परिवर्तित होने वाले कुम्भ सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वज से सगद्गद कहने लगे ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! अब मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं अपने शरीर की अङ्ग लताओं के साथ भूमि पर मानो गिर रहा हूँ, स्फुरित हो रहा हूँ और विगलित होने लग गया हूँ। अब मानता हूँ कि आपके सामने लज्जा के साथ ही मैं स्त्रीरूप बनता जा रहा हूँ ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! देखिये, ये मेरे केश—दिन की समाप्ति में बढ़ने वाले घने अँधेरे के समान स्फुरणशील तारों की माला से मालित होकर मोती आदि की मालाओं से समन्वित होकर बढ़ रहे हैं ॥ ३४ ॥

महाराज, देखिये तो सही, वसन्तकाल में गगन की ओर मुख किये कमलिनी के कलियों के सदृश मेरी छाती में ऊर्ध्वमुख स्तन निकल रहे हैं ॥ ३५ ॥

भूषणान्युत रत्नानि माल्यानि विविधानि च ।
पश्येमान्यङ्ग जायन्ते स्वाङ्गेभ्यो वृक्षपुष्पवत् ॥ ३७ ॥
पश्याऽयं स्वयमेवाऽद्य चन्द्रांशुकरशोभनः ।
मूर्ध्नि पट्टांशुको जातो नीहारोऽद्राविवाऽङ्ग मे ॥ ३८ ॥
सर्वाणि कान्तालिङ्गानि जातानि मम मानद ।
हा धिक्कष्टं विषादो मे किं करोम्यङ्गनाऽस्म्यहम् ॥३९॥
हा धिक्कष्टमहो साधो ! स्थित एवाऽहमङ्गना ।
संविदानुभवाम्यन्तर्नितम्बजघने त्विमे ॥ ४० ॥
विपिने कुम्भ इत्युक्त्वा तूष्णीं खिन्नो बभूव ह ।
राजाऽपि च समालोक्य तथैवाऽऽसीद्विषण्णधीः ॥ ४१ ॥
मुहूर्तमात्रेणोवाच शिखिध्वज इदं वचः ।
कष्टं सोऽयं महासत्त्वः सम्पन्ना वरवर्णिनी ॥ ४२ ॥
साधो ! विदितवेद्यस्त्वं जानासि नियतेर्गतिम् ।
अवश्यभाविन्यर्थेऽस्मिन् मा खिन्नहृदयो भव ॥ ४३ ॥

हे सखे ! यह देखिये, मेरी देह से ही स्त्रियों के जैसे धीरे-धीरे एड़ी तक मेरे लिए लम्बे-लम्बे वस्त्र निकल रहे हैं ॥ ३६ ॥

हे सखे ! देखिये, मेरे अङ्गों से ही, वृक्ष से उसके अङ्गों से (शाखाओं से) फूलों की तरह, भूषण, रत्न और विविध मालाएँ निकल रहीं हैं ॥ ३७ ॥

हे प्रिय ! यह देखिये, हिमांशु की किरणों के सदृश मनोहर मेरे मस्तक पर अपने आप ही, पर्वत पर कुहरे की तरह पट्टवस्त्र निकल रहा है ॥ ३८ ॥

हे मानद ! मुझे सभी तरह के स्त्रियों के चिह्न उत्पन्न हो गये, मुझे धिक्कार है, महान् विषाद का अनुभव करता हूँ, क्या करूँ, अब मैं स्त्री बन गया ॥ ३९ ॥

हे साधो ! हाँ धिक्कार है, कष्ट है, अब से पूर्ण स्त्रीरूप ही होकर स्थित हूँ, प्रत्यक्षतः भीतर नितम्ब और मांसल इन जङ्घाओं का मैं अनुभव करता हूँ ॥ ४० ॥

उस तरह कहकर जङ्गल में खिन्न हो वह कुम्भ चुपचाप हो गया। उसे देखकर राजा भी उसी तरह विषादयुक्त होकर अवस्थित थे ॥ ४१ ॥

मुहूर्तकाल तक विचार कर राजा शिखिध्वज ने यह कहा—कष्ट का विषय है कि प्रसिद्ध यह निर्मलचित्त महामुनि कुम्भ सुन्दर अङ्ग वाला रमणी बन गये ॥४२॥

हे साधो ! आप तो जानने योग्य सब कुछ जानते हैं, इसलिए नियति की गति आपसे अपरिचित नहीं है। अतः इस अवश्यंभावी विषय में आप अपने हृदय में खेद न करें ॥ ४३ ॥

आपतन्ति दशास्तास्ताः सुधियां देहमात्रके ।
न चेतस्यधियां त्वेताश्चित्तं यान्ति न देहकम् ॥ ४४ ॥

कुम्भ उवाच

एवमस्त्वनुतिष्ठामि यामिनीस्त्रीत्वमात्मनः ।
न खेदमनुगच्छामि नियतिः केन लङ्घ्यते ॥ ४५ ॥
इति निर्णीय तौ खेदं तं नीत्वा तनुतामिव ।
एकतल्पे निशां तूष्णीं नीतवन्तौ चिरेण ताम् ॥ ४६ ॥
अथ प्रभाते तत्स्त्रैणं वपुरुत्सृज्य यौवनम् ।
बभूव कुम्भः कुम्भाभःकुचप्रोज्झितमूर्तिमान् ॥ ४७ ॥
इति सा राजमहिषी चूडाला वरवर्णिनी ।
कुम्भत्वमास्थिता भर्तुः पश्चात्स्त्रीत्वमुपागता ॥ ४८ ॥
विजहार वनान्तेषु कुमारीधर्मिणी निशि ।
कुम्भरूपधरा चाऽह्नि भर्त्रा मित्रेण संयुता ॥ ४९ ॥
कैलासमन्दरमहेन्द्रसुमेरुसह्य-
सानुष्वविस्खलितयोगगमागमा सा ।
साकं प्रियेण सुहृदा भवता यथेच्छं
स्रग्दामहारवलिता विजहार नारी ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे कुम्भस्य स्त्रीत्वलाभो नाम पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

अवश्यंभाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ तत्त्व-वेत्ताओं को केवल शरीर में ही आती हैं, अन्तःकरण में नहीं और अज्ञानियों को यो ये दशाएँ शरीर में तथा वासनारूप से अन्तःकरण में भी आती हैं ॥ ४४ ॥

कुम्भ ने कहा—आपका कहना सत्य है, अवश्यंभावी प्राप्त अपना स्त्रीपन अब तो रातों में निभा ही लेता हूँ और खेद छोड़ देता हूँ, क्योंकि भाग्यचक्र का उल्लङ्घन कौन कर सकता है ? ॥ ४५ ॥

इस प्रकार निर्णयकर और उस खेद को कुछ हलका-सा बनाकर एक ही शय्या पर उन दोनों ने उस रात्रि को बहुत देर में बिताया । राजा को कुम्भ के ऊपर आई हुई विपत्ति की चिन्ता से और रानी चूडाला को अपने स्वामी के समागम की उत्कण्ठा से निद्रा न आने के कारण उन्होंने रात्रि बहुत देर में बिताई ॥ ४६ ॥

अनन्तर कुम्भ प्रातःकाल में युवती स्त्री के स्वरूप का परित्याग कर कुम्भ सदृश स्तनों से रहित शरीर वाले असली कुम्भ बन गये ॥ ४७ ॥

इस तरह राजारानी वह सुरूपा चूडाला अपने पति के सामने पहले कुम्भ मुनि के रूप में बनी और पीछे स्त्री के रूप में बनी ॥ ४८ ॥

वनों में रात में कुमारी धर्म से युक्त वह चूडाला विचरण करती रही और दिन में कुम्भ का रूप धारणकर मित्र पति के साथ विचरण करती रही ॥ ४९ ॥

कैलास, मन्दराचल, महेन्द्राचल, सुमेरु तथा सह्याद्रि आदि पर्वतों के शिखरोंपर योगबल से अस्खलित गमनागमन कर रही अपने अनुकूल वर्ताव कर रहे प्रिय मित्र पति के साथ वह नारी चूडाला पुष्प मालाओं और हारों से अलङ्कृत होकर इच्छानुसार विहार करती थी ॥५०॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में कुम्भ का स्त्रीत्वलाभ नामक कुसुमलता का एक सौ पाचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०५ ॥

१०६

वसिष्ठ उवाच

ततः कतिपयेष्वेव दिवसेषु गतेषु तम् ।
इदं प्रोवाच भर्तारं कुम्भरूपधरा सती ॥ १ ॥
राजन् ! राजीवपत्राक्ष ! ममेदं वचनं शृणु ।
निशायां प्रत्यहं तावत्स्थित एवाऽहमङ्गना ॥ २ ॥
तदिच्छाम्यङ्गनाधर्मं निपुणीकर्तुमीदृशम् ।
भर्त्रे कस्मैचिदात्मानं विवाहेन ददाम्यहम् ॥ ३ ॥

१०६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर कुछ दिनों के बीत जानेपर वह कुम्भरूपधारिणी चूडाला अपने पति से यह कहने लगी ॥ १ ॥

हे कमलपत्र के सदृश विशाल नेत्रवाले राजन् ! मेरी वाणी आप सुनें प्रतिदिन मैं रात में स्त्री ही बनकर रहता हूँ ॥ २ ॥

इसलिए मैं ऐसे स्त्रीरूप को सफल बनाना चाहता हूँ, अतः किसी स्वामी को मैं उस अपने स्त्रीशरीर को विवाह के द्वारा प्रदान करूँगा ॥ ३ ॥

तद्भवानेव मे भर्ता रोचते भुवनत्रये ।
गृहाण मां विवाहेन भार्यात्वे निशि सर्वदा ॥ ४ ॥
अयत्नोपनतं साधो ! प्रियेण सुहृदा सह ।
स्त्रीसुखं भोक्तुमिच्छामि मा मे विघ्नकरो भव ॥ ५ ॥
क्रमप्रवृत्तमासृष्टेः सुखं साध्यं मनोरमम् ।
प्रकृतं कुर्वतः कार्यं दोषः क इव जायते ॥ ६ ॥
इच्छानिच्छे फले त्यक्त्वा समन्तात्सर्ववस्तुषु ।
वयं न सेच्छा नाऽनिच्छाः कुर्मस्तेनेदमीप्सितम् ॥ ७ ॥

शिखिध्वज उवाच

कृतेनाऽनेन कार्येण न शुभं नाऽशुभं सखे ! ।
पश्यामि तन्महाबुद्धे ! यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ८ ॥
समतां सम्प्रयातेन चेतसेदं जगत्त्रयम् ।
स्वरूपमेव पश्यामि यथेच्छसि तदाचर ॥ ९ ॥

कुम्भ उवाच

यद्येवं तन्महीपाल ! लग्नमद्यैव शोभनम् ।
राकेयं श्रावणस्याऽस्य ह्यः सर्वं गणितं मया ॥ १० ॥

इस त्रिलोक में आप ही एक भर्ता के रूप में मुझे पसन्द पड़ रहे हैं। अतः रात में विवाह द्वारा अपनी भार्या के रूप में मुझे सदा स्वीकार करें ॥ ४ ॥

हे साधो ! अपने प्रियमित्र के साथ अनायास प्राप्त स्त्री सुख भोगने की इच्छा कर रहा हूँ, अतः आप मेरी प्रार्थना का खण्डनकर मेरे विघ्नकारक न बनें ॥ ५ ॥

सृष्टि के आरम्भ से लेकर आजतक देवता, ऋषि आदि सब में चले आ रहे और बिना बाधा के हो रहे इस प्रस्तुत विवाहकार्य को यदि आप करें, तो आपको क्या दोष लगेगा ? ॥ ६ ॥

सब वस्तुओं में इच्छा, अनिच्छा और तज्जनित फलों का चारों ओर से त्याग कर हम लोग न तो इच्छावाले हैं और न अनिच्छावाले हैं, इसलिए इस अभीष्ट कार्य को करें, कुछ भी बिगड़ेगा नहीं ॥ ७ ॥

शिखिध्वज ने कहा—हे सखे ! इस विवाहकार्य को करने से शुभफल या अशुभ फल नहीं देखता हूँ, इससे हे महाबुद्धे ! आप जैसा चाहें, वैसा करें ॥ ८ ॥

समरूप बन गये इस चित्त में मैं ये तीनों जगत् अपना ही रूप जानता हूँ, अतः जैसा चाहें, वैसा करें ॥९॥

कुम्भ ने कहा—हे महीपाल ! यदि यह बात है, तो आज ही शुभ लग्न है। अभी श्रावण की पूर्णिमा है। कल ही मैंने विवाहलग्न आदि सबका गणित कर लिया है ॥ १० ॥

हे महाबाहो ! आज रात में ही जब कि समस्त

रात्रावद्योदिते चन्द्रे परिपूर्णकलामले ।
जन्यत्रो नौ महाबाहो ! द्वयोरेव भविष्यति ॥ ११ ॥
महेन्द्राद्रिशिरःशृङ्गसानावद्य मनोरमे ।
रत्नदीपप्रकाशाढ्ये मणिकन्दरमन्दिरे ॥ १२ ॥
पुष्पभारानतोत्तुङ्गवृक्षराजिविराजिते ।
वनपुष्पलतालास्यनारीनृत्यमनोहरे ॥ १३ ॥
निशि व्योमगतास्तारा भर्ता पूर्णेन्दुना सह ।
आवयोः परिपश्यन्तु कर्णान्तायतलोचन ! ॥ १४ ॥
उत्तिष्ठाऽऽत्मविवाहार्थं कुर्वः काननकोटरात् ।
राजंश्चन्दनपुष्पादिसम्भारं रत्नसंयुतम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा कुम्भ उत्थाय सह तेन महीभृता ।
कुसुमावचयं चक्रे तथा रत्नादिसञ्चयम् ॥ १६ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण रत्नसानौ समे शुभे ।
समालम्भनपुष्पाणां ताभ्यां वै राशयः कृताः ॥ १७ ॥
हाराम्बरमणीन्द्रादिराशयस्त्वपरेऽजिरे ।
सौभाग्यस्येव कामेन कोशाः कालेन सम्भृताः ॥ १८ ॥

कलाओं से परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमा उदित होंगे, तब हम दोनों का गान्धर्वविधि से विवाह होगा ॥ ११ ॥

हे कान तक के लम्बे-लम्बे नेत्रों वाले महाराज ! यह जो मनोरम, महेन्द्र पर्वत के माथे के ऊपर सींग जैसे उन्नत शिखर पर रत्नरूपी दीपकों का पूर्ण प्रकाश पड़ता है, मणिमय कन्दरारूपी पुष्पों के बोझों से झुके हुए ऊँचे-ऊँचे अनेक वृक्षों से सुशोभित अनेक मन्दिर हैं, वह जङ्गली फूलों की लताओं के विलासपूर्ण रमणी-नृत्यों से लुभावना लगता है, उस शिखर पर अपने प्रिय पति पूर्णचन्द्र के साथ आकाशगत तारिकाएँ रात में हम दोनों का विवाह देखें ॥ १२-१४ ॥

हे राजन् ! अब आप उठे, जङ्गल के कोटरों से विवाह के लिए हम लोग रत्नों के साथ चन्दन, पुष्प आदि सामग्री को एकत्र करें ॥ १५ ॥

यह कहकर कुम्भ उठे और उस राजा के साथ फूलों को बिनने तथा रत्न आदि का संचय करने लग गये ॥ १६ ॥

अनन्तर एक मुहूर्त में उन दोनों ने सुन्दर चिकने उस रत्न प्रचुर शिखर पर एक स्थान में देवता, अग्नि आदि का पूजन करने के लिए पुष्पों के ढेर बना डाले ॥ १७ ॥

दूसरे स्थान में भी हार, अम्बर, उत्तम मणि आदि के यथेच्छ ढेर वैसे ही लगा दिये, जैसे पुण्य के परिपाक काल से मानो सौभाग्य के यथेच्छ ढेर लगा दिये गये हों ॥ १८ ॥

तथा जन्यत्रसम्भारं कृत्वा काञ्चनकन्दरे ।
ययतुस्तौ महामित्रे स्नातुं मन्दाकिनी नदीम् ॥ १९ ॥
तत्रैनं स्नापयामास महाराजं महादरात् ।
गजकुम्भोपमस्कन्धं कुम्भो मङ्गलपूर्वकम् ॥ २० ॥
भविष्यद्दयितारूपां भविष्यद्दयितोङ्गनाम् ।
चूडालां स्नापयामास कुम्भरूपधरां प्रियाम् ॥ २१ ॥
पूजयामासतुः स्नातौ तत्र देवपितॄन्मुनीन् ।
यथा क्रियाफलेऽनिच्छौ क्रियात्यागे तथैव तौ ॥ २२ ॥
नित्यज्ञानरसातृप्तौ व्यवस्थायां जगत्स्थितेः ।
चक्राते भोजनं भव्यं तावन्योन्यसमीहितम् ॥ २३ ॥
कल्पवृक्षदुकूलानि परिधाय सितानि तौ ।
फलानि भुक्त्वा जन्यत्रस्थानमाययतुः क्रमात् ॥ २४ ॥
एतावताऽथ कालेन तयोर्जन्यत्रसोत्कयोः ।
प्रियं कर्तुमिवाऽस्ताद्रिं द्रागित्येवाऽविशद्रविः ॥ २५ ॥

इस प्रकार सुवर्ण की गुफा में विवाह की सामग्री एकत्रित कर वे दोनों महामित्र गङ्गा नदी में स्नान करने के लिए चले गये ॥ १९ ॥

वहाँ कुम्भ ने गजराज के गण्डस्थल के सदृश सुदृढ़ कन्धोंवाले महाराज शिखिध्वज को बड़े ही आदर से दही, दूध, अक्षत आदि मङ्गल द्रव्यों से स्नान कराया ॥ २० ॥

भविष्य की दयिता कुम्भ का रूप धारण किये हुई प्रिय अङ्गना चूडाला को भविष्य के स्वामी राजा शिखिध्वज ने भी मङ्गल स्नान कराया ॥ २१ ॥

अनन्तर, स्नान सम्पन्न कर वहाँ पर उन दोनों ने देवता-पितर और ऋषियों की पूजा की। ज्ञानी होते हुए भी उसकी पूजा में इसलिए प्रवृत्ति हुई कि वे जैसे क्रिया-जनित फलों में अनिच्छा रखते थे, वैसे ही क्रियाफलों के त्याग में भी अनिच्छा रखते थे ॥ २२ ॥

शाश्वत आत्मज्ञानरूपी रस से पूरी तरह तृप्त रहनेपर भी इस जगत् की स्थिति की व्यवस्था के लिए उन्होंने सिद्धि के प्रभाव से निर्मित अन्न आदि का भव्य भोजन किया ॥ २३ ॥

अनन्तर धवल, कल्पवृक्ष के वस्त्रों का परिधान वे दोनों कल्पवृक्ष के फल खाकर शास्त्रोक्त क्रम से विवाह की वेदी की ओर बढ़ जाये ॥ २४ ॥

इधर इतने समय से विवाह के लिए उत्कण्ठित उन दोनों का मानो प्रिय करने के लिए तत्काल ही भगवान् भास्कार ने अस्ताचल की ओर प्रस्थान किचा ॥ २५ ॥

अथ संध्याक्रमे वृत्ते कृते जप्याघमर्षणे ।
विवाहदर्शनायैव ताराजाले खमागते ॥ २६ ॥
मिथुनैकसखी यामा कुमुदोत्करहासिनी ।
प्रालेयजालप्रकरं विकिरन्ती समाययौ ॥ २७ ॥
रत्नदीपान् बहून्सानौ कुम्भः सम्यगयोजयत् ।
ज्योतींषीन्द्वर्कयुक्तानि पद्मोद्भव इवाऽम्बरे ॥ २८ ॥
भूषयामास राजानं स्त्रीत्वं गच्छन्निशागमे ।
चन्दनागुरुकर्पूरपूरैर्मृगजकुङ्कुमैः ॥ २९ ॥
हारकेयूरकटकैस्तथा कल्पतलांशुकैः ।
स्रगुद्दामावतंसैश्च माल्यैश्च विविधोचितैः ॥ ३० ॥
तथा कल्पलतागुच्छैर्मन्दारैः पारिजातकैः ।
सन्तानैर्बहुरत्नैश्च मौलिना चेन्दुरूपिणा ॥ ३१ ॥
एतावताऽथ कालेन वधूत्वं कुम्भ आययौ ।
घनस्तनभराक्रान्तो बभूवाऽऽशु विलासवान् ॥ ३२ ॥

अनन्तर उनकी सन्ध्यावन्दन आदि विधि समाप्त हो गई, मन्त्र-जप-अघमर्षण आदि भी उन्होंने कर लिया। इधर उनका विवाह देखने के लिए आकाशमण्डल में समस्त तारे भी आ धमके ॥ २६ ॥

इधर स्त्री-पुरुष के जोड़ों में प्रीति पैदा करानेवाली सखी त्रियामा रात्रि भी कुमुदों के हास से युक्त हो तुषार समूह बरसारती हुई आ गई ॥ २७ ॥

वैसे ही मुनिवर कुम्भ ने भी इधर शिखर पर अनेक जाति के रत्नों से दीपकों की योजना कीं जैसे आकाश-मण्डल में ब्रह्माजी ने चन्द्र और सूर्य से संयुक्त जोतिश्चक्र को योजना की है ॥ २८ ॥

रात्रि के आगमन पर स्त्रीरूप धारण करनेवाले कुम्भ ने राजाको अनेक भूषणों से सजाया। उसे चन्दन, अगुरु और कपूर से मिलित केसर और कस्तूरी से; हार, केयूर और कङ्कणों से; कल्पलता से उत्पादित वस्त्रों से; मालाओं के कारण उत्कृष्ट शोभावाले रत्नगुच्छे आदि उत्तम आभूषणों से; विविध भूषणों के लिए योग कण्ठादि-मालाओं से; कल्पलताओंके गुच्छों से; मन्दार, पारिजात और सन्तान नामक देवतरु के फूलों से; बड़े-बड़े अनेक रत्नों से तथा चन्द्र के सदृश कान्तिमान् चूड़ामणि से खूब सजा दिया ॥ २९–३१ ॥

इतने समय में महामुनि कुम्भ वधूरूप में परिणत हो गये, घन स्तनमण्डल के भार से भरित और तत्क्षण ही विलासी हो गये ॥ ३२ ॥

इदं सञ्चिन्तयामास सम्पन्नोऽयमहं वधूः ।
कामायात्मा मया देयः कार्यं कालोचितं किल ॥ ३३ ॥
इयमस्मि वधूः कान्ता भर्ता त्वं मे पुरः स्थितः ।
गृहाण काम मामेहि कालोऽयं तव हृच्छयः ॥ ३४ ॥
इति संचिन्त्य भर्तारमग्रस्थगहनस्थितम् ।
उदयन्तमिवाऽऽदित्यं रतिः काममिवाऽभ्यगात् ॥ ३५ ॥
अहं मदनिका नाम भार्याऽस्मि तव मानद ! ।
पादयोस्ते प्रणामोऽयं सस्नेहं क्रियते मया ॥ ३६ ॥
इत्युक्त्वा साऽनवद्याङ्गी लज्जावनमितानना ।
लोलालकेन शिरसा प्रणनाम लसत्पतिम् ॥ ३७ ॥
उवाचेदं च हे नाथ ! त्वं मां भूषय भूषणैः ।
क्रमेणाऽग्निं च संज्वाल्य मत्पाणिग्रहणं कुरु ॥ ३८ ॥
राजसेऽतितरां राजन् ! मां करोषि स्मरातुराम् ।
रतेर्विवाहे मदनमभिभूयाऽधितिष्ठसि ॥ ३९ ॥
इन्दोरिवांशुजालानि राजन् ! माल्यानि तानि ते ।

अनन्तर उन्होंने विचार किया कि मैं यह वधू अब बन गया हूँ, अब यह कामरूप वर को शरीर दे देना चाहिए और कालोचित कृत्य अवश्य कर देना चाहिए ॥ ३३ ॥

यह मैं कमनीय बधू हूँ और हृदयस्थ आप भर्ता के रूप में सामने अवस्थित हैं, अतः हे कामरूप ! आप आइये, मुझे स्वीकार कीजिए, यह आपका अवसर है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार मन में विचारकर सामने वनवेदी-प्रदेश में अवस्थित उदीयमान आदित्य के सदृश तेजस्वी भर्ता की ओर, काम की ओर रति के समान बढ़ गई ॥ ३५ ॥

हे मानद ! आपकी मैं मदनिका नाम की भार्या हूँ, आपके चारणों में अनुरागपूर्वक प्रणाम करती हूँ ॥ ३६ ॥

इस प्रकार कहकर निर्दोष अङ्गोंवाली तथा लज्जा से विनम्र मुखवाली उस मदनिका ने चञ्चल केशवाले मस्तक से अपने शोभायमान पति को प्रणाम किया ॥ ३७ ॥

फिर उसने कहा—हे नाथ ! पहले मुझे अलङ्कारों से अलङ्कृत करें। अनन्तर अग्नि प्रज्वलित कर शास्त्रोक्त प्रक्रिया से मेरा पाणिग्रहण कीजिए ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! आप इस समय खूब सुन्दर लग रहे हैं, मुझे कामपीडित कर रहे हैं। अधिक क्या कहूँ, रति के विवाह में प्रसिद्ध कामदेव का भी अपनी शोभा से तिरस्कार कर के स्थित हैं ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! आपकी प्रसिद्ध ये मालाएँ इन्दु की

मेरुगङ्गाप्रवाहाभां धत्ते हारस्तवोरसि ॥ ४० ॥
मन्दारकुसुमप्रोतैः कुन्तलैर्नृप राजसे ।
कनकाब्जमिवोल्लोलैर्भृङ्गैः खचितकेसरैः ॥ ४१ ॥
रत्नांशुजालैः कुसुमैः श्रिया स्थैर्येण तेजसा ।
रत्नस्थानं विभो मेरुमभिभूयाऽवतिष्ठसे ॥ ४२ ॥
एवमादि वदन्तौ तौ भविष्यन्नवदम्पती ।
प्रच्छन्नपूर्वदाम्पत्यौ मिथस्तुष्टौ बभूवतुः ॥ ४३ ॥
महाराज्ञीं मदनिकां महाराजः शिखिध्वजः ।
काञ्चनोपलपर्यङ्के निविष्टोऽभूषयत्स्वयम् ॥ ४४ ॥
अवतंसैस्तथा माल्यैर्मणिरत्नविभूषणैः ।
वस्त्रैर्विलेपनैः पुष्पै रुचिरस्थानकार्पितैः ॥ ४५ ॥
सा बभौ भूषिता तन्वी मदनी मददायिनी ।
गिरिजेव विवाहोत्का कामकान्तेव कामिनी ॥ ४६ ॥
महाराजो महाराज्ञीं भूषयित्वेदमाह ताम् ।
राजसे मृगशावाक्षि लक्ष्मीरिव नवोदिता ॥ ४७ ॥

किरणों-सी मालूम पड़ती हैं और आपके गले का यह हार मेघ पर्वत पर के गङ्गा-प्रवाह की शोभाधारण कर रहा है ॥ ४० ॥

हे नृप ! मन्दर-पुष्पों से गूँथे गये केशों ने आप शोभित हो रहे हैं, केशरों से युक्त चञ्चल भ्रमरों से सुवर्ण कमल शोभते हों ॥४१ ॥

हे प्रभो ! रत्नकिरणों, कुसुमों तथा स्थिर तेजोलक्ष्मी के कारण आप रत्नों के स्थानभूत मेरु पर्वत का भी अतिक्रमण कर अवस्थित हैं ॥ ४२ ॥

जिनका कि पहले से ही गुप्त दाम्पत्य था उस तरह के विविध वर्णन कर रहे वे कुछ ही क्षण में होने वाले दम्पती, एक दूसरे से अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे थे ॥ ४३ ॥

इधर सुवर्णपत्थर के आसनपर बैठे हुए महाराज शिखिध्वज ने महारानी मदनिका को स्वयं खूब सजाया ॥ ४४ ॥

तत्-तत् विभूषण के लिए उपयोगी अङ्गों में समर्पित नानाविध अलङ्कारों से, चमकीले मणि, रत्न आदि विभूषणों से युक्त मालाओं से, वस्त्रों से, अङ्गरागों से तथा फूलों से वह कोमलाङ्गी, मददायिनी मदनिका विवाह के लिए उत्कण्ठित गिरिजा और काम की पत्नी कामिनी रति के सदृश शोभायमान होने लगी ॥ ४५, ४६ ॥

महारानी मदनिका को सजाकर महाराजा शिखिध्वज ने कहा—हे बालमृग के सदृश नेत्रोंवाली ! अब तुम नवोत्पन्न लक्ष्मी की तरह शोभित हो रही हो ॥ ४७ ॥

शक्रेण सह यच्छच्या यल्लक्ष्म्या हरिणा सह ।
यद्गौर्याः शम्भुना सार्धं तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ४८ ॥
पद्मकोशाङ्कुरहृदा लोलनीलोत्पलेक्षणा ।
आमोदशुभझाङ्कारा स्वास्थिता पद्मिनीव सा ॥ ४९ ॥
सुरक्तपल्लवकरा स्तनस्तबकधारिणी ।
त्वमनेकफला मन्ये कामकल्पतरोर्लता ॥ ५० ॥
हिमशीतावदाताङ्गी ज्योत्स्नाप्रसरहासिनी ।
पूर्णेन्दुश्रीरिवोद्युक्ता हृष्टेवाऽऽह्लादयस्यलम् ।
तदुत्तिष्ठ वरारोहे! वेदीं वैवाहिकीं स्वयम् ॥ ५१ ॥

वसिष्ठ उवाच

तत्र पुष्पलताजालैः काण्डं प्रति शिलाङ्कितैः ।
मुक्ताकुसुमजालानां प्रकरैः स्तबकोपमैः ॥ ५२ ॥
चतुर्दिक्कं चतुर्भिश्च नालिकेरमहाफलैः ।
पूर्णकुम्भैस्तथा गङ्गावारिपूर्णैः प्रकल्पितैः ॥ ५३ ॥

इन्द्र के साथ इन्द्राणी का सौभाग्य भगवान् विष्णु के साथ लक्ष्मी का सौभाग्य, शम्भु के साथ गौरी का जो सौभाग्य है वही सौभाग्य मेरे साथ तुम्हारा हो ॥ ४८ ॥

स्तन के सदृश पद्मकोश और अनुराग के सदृश अङ्कुरों से युक्त हृदयवाली; नेत्रों के सदृश चञ्चल नीलोत्पलवाली और आमोदों के कारण मधुर भ्रमरझाङ्कारों वाली तुम विख्यात पद्मिनी के समान हो ॥ ४९ ॥

तुम्हें मैं कल्पतरु वृक्ष की लता ही मानता हूँ, क्योंकि तुम्हारे हाथ ही सुन्दर लाल पल्लव हैं, ये स्तन ही तुमसे स्तवकों के रूप में धारण किये गये हैं और तुम अनेक फलों से लदी हो ॥ ५० ॥

हे सुन्दरी! हे वरारोहे! तुम्हारे अङ्ग हिम के समान शीतल और निर्मल हैं, तुम्हारा हास्य ज्योत्स्ना का अनुकरण कर रहा है—इन सबके कारण तुम उदित पूर्णचन्द्र की शोभा के समान हृष्ट हो सुन्दर आह्लाद दे रही हो। अब चलो, तुम स्वयं ही विवाह की वेदी को अलङ्कृत करो ॥ ५१ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर उन दोनों ने वेदी में लगे हुए खम्भे को फूलवाली लताओं से सजाया। उन लताओं में फलों के गुच्छों की तरह दिखाई पड़नेवाले हीरा, मानिक आदि नव तरह के रत्नपाषाणों के गुच्छे लगाये गये। उसकी चारो दिशाएँ चार नारियल के फलों से तथा गङ्गाजल से परिपूर्ण नवरचित चार घड़ों से सुशोभित की गई थी ॥ ५२, ५३ ॥

उसके बाद वेदी के बीच में बिवाह के लिए अग्नि

ज्वालयामासतुस्तस्या मध्ये चन्दनदारुभिः ।
ज्वलनं ज्वालितज्वालं दक्षिणस्थं प्रदक्षिणम् ॥ ५४ ॥
पूर्वाभिमुखमेवाऽग्नेरग्रे पल्लवविष्टरे ।
नियोज्य दम्पती कान्तौ तयोर्विविशतुः स्वयम् ॥ ५५ ॥
स हुत्वा तिललाजानि पावकाय शिखिध्वजः ।
उत्थायोत्थाय कान्तां स पाणिभ्यां स्वयमाददे ॥ ५६ ॥
अन्योन्यं शोभमानौ तौ भवाविव वने शिवौ ।
चक्रतुर्दम्पती तस्य पावकस्य प्रदक्षिणम् ॥ ५७ ॥
स्वदायं ज्ञानसर्वस्वं हृदयं प्रेमचापलम् ।
ददतुस्तौ मिथोऽन्योन्यस्मितकान्तमुखश्रियौ ॥ ५८ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा लाजांस्त्यक्त्वाऽथ वह्नये ।
भार्यावरौ समं तुष्टौ करौ तत्यजतुः क्रमात् ॥ ५९ ॥
स्मयमानमुखौ कान्तौ चन्द्राविव नवोदितौ ।
पूर्वोपरचिते पुष्पतल्पे विविशतुर्नवे ॥ ६० ॥

की स्थापना कर उसे चन्दन की लकड़ियों से उन्होंने प्रज्वलित किया। ज्वाला के प्रज्वलित हो जाने पर दाहिने ओर स्थित उसकी प्रदक्षिणा की ॥ ५४ ॥

फिर उसके आगे पल्लवों के आसन पर पूर्वाभिमुख होकर वे स्वयं बैठ गये। उस समय वे दोनों दम्पती बड़े ही कमनीय लगते थे ॥ ५५ ॥

दोनों में से उस शिखिध्वज ने स्वयं तिल और लाजा का अग्नि में होमकर बारबार उठ कर अपने हाथों से उस कान्ता मदनिका का परिग्रह किया ॥५६॥

अरण्य में गौरी और शङ्कर की तरह सुशोभित मङ्गलस्वरूप उस दम्पती ने अग्नि की प्रदक्षिणा की ॥ ५७ ॥

एक दूसरे के प्रेम के लिए लोलुप ज्ञानरूप सर्वोपरि धन से परिपूर्ण अपना-अपना हृदय ही उन्होंने एक दूसरे को अपने-अपने दाय के रूप में दान दिया। एक दूसरे के प्रति किये गये स्मित हास से उनके कमनीय मुखमण्डल में विशेष शोभा झलक रही थी ॥ ५८ ॥

उन्होंने अग्नि की पहले तीन प्रदक्षिणाएँ कीं, फिर उसमें लाजाहोम किया। इस वैवाहिक विधि से बराबर सन्तुष्ट हो उस वर-वधू ने एक दूसरे से ग्रहण किया गया अपना-अपना हाथ छुड़ा लिया ॥ ५९ ॥

उनके कान्तिपूर्ण, स्मित कर रहे मुख नवीन उदित दो चन्द्रमा के समान लग रहे थे। अनन्तर पहले से निर्मित नूतन फूलों के पलंगपर वे सोने के लिए चले गये ॥ ६० ॥

एतस्मिन्नन्तरे चन्द्रश्चतुर्भागं नभस्तलात् ।
शनैराक्रमयामास शोभां द्रष्टुमिवाऽनयोः ॥ ६१ ॥
तस्मिंश्च ललनाछिद्रं द्रष्टुं दृष्टिरिवाऽभितः ।
लोलः सञ्चारयामास करानिन्दुर्लतागृहे ॥ ६२ ॥
तैस्तैर्नवकथालापैरिन्दावभ्युदिते त्वथ ।
तावासाञ्चक्रतुः कान्तौ दम्पती सुमुहूर्तकम् ॥ ६३ ॥
अथोत्थाय ज्वलद्रत्नदीपां काञ्चनकन्दराम् ।
स्वयं पूर्वोपरचितां गुप्तां विविशतुः प्रियौ ॥ ६४ ॥
ददर्शतुर्नवं तत्र तल्पं कुसुमकल्पितम् ।
परितो व्याप्तमुत्कीर्णैर्हेमपङ्कजराशिभिः ॥ ६५ ॥
मन्दारादिभिरन्यैश्च पुष्पैर्ग्लानिविवर्जितैः ।
उच्चकैः सुप्रमाणेन निर्मितैः कुसुमैः समैः ॥ ६६ ॥
दीर्घेन्दुबिम्बप्रतिमैस्तुषारस्थलशीतलैः ।
क्षीरोदजलधाराभं ज्योत्स्नासम्पिण्डसुन्दरम् ॥ ६७ ॥
प्रतिबिम्बमनङ्गस्य नतं भित्ताविव स्थितम् ।
सुगन्धमुन्नतं कान्तं चिरादन्यतयोत्थितम् ॥ ६८ ॥
मिथुनं पुष्पराशौ तन्न्यषीदत्परितोऽमले ।
तस्मिन्समसमाभोगे क्षीरोदे मन्दिरो यथा ॥ ६९ ॥
तैस्तैर्मिथः प्रणयपेशलवाग्विलासै-
स्तत्कालकार्यसुभगैः प्रणयोपचारैः ।
सत्कान्तयोर्नवनवेन तयोः सुखेन
दीर्घा मुहूर्त इव सा रजनी जगाम ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे लीलाविवाहो नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इसी बीच चन्द्र ने, आकाश तल से मानो इनकी शोभा देखने के लिए, धीरे-धीरे रात्रि के चतुर्थ भाग पर आक्रमण किया अर्थात् वैवाहिक कृत्य करते-करते रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया ॥ ६१ ॥

चपल चन्द्रमा ने ललना का छिद्र देखने के लिए लतागृह में पुष्पशय्या पर वैसे ही अपनी किरणें फेंकीं जैसे चपल कामुक जन की दृष्टि ललनाओं का छिद्र देखने के लिए एकान्त में अपनी किरणें फेंकती है ॥६२॥

अनन्तर पूर्णरूप से चन्द्र के उदित होने पर सङ्गम के लिए शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे उस सुशोभित दम्पती ने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नवीन वार्तालापों से स्वल्प समय तक विश्राम लिया ॥ ६३ ॥

अनन्तर उठकर उन दोनों प्रेमियों ने सुवर्णमय चमकीले रत्नरूपी दीपक से देदीप्यमान् गुफा में प्रवेश किया कि इस गुफा का पहले से ही उन्होंने स्वयं निर्माण कर रखा था । वह इतनी गुप्त थी कि इसमें चन्द्र के किरणों की गति भी नहीं हो सकती थी ॥ ६४ ॥

प्रवेश करने के बाद उन्होंने वहाँ पर कुसुमों से बना हुआ एक नवीन पलंग देखा । वह चारों ओर खोदे गये सुवर्णमय कमलों से, दूसरे मन्दार आदि अम्लान पुष्पों से शय्या जितनी ऊँची होती है, उतने ऊँचे सुन्दर बराबर सजाये गये शय्या के सदृश लम्बे चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रतीत तुषार-स्थली सदृश शीतल कुसुमों से व्याप्त था । वह सुन्दर तल्प क्षीरसागर की जलधारा के सदृश धवल था, चन्द्रज्योत्स्ना के पिण्ड के समान सुन्दर आह्लाद उत्पन्न करने वाला था, भीत में पड़ा हुआ कामदेव का मानो प्रतिबिम्ब ही था, उसमें सुगन्ध तो भरी पड़ी थी, यथा-प्रमाण ऊँचा था, बड़ा ही रमणीय था । पूर्णरूप से निर्मल उस पुष्पराशि पलंग पर राज छोड़ने के समय से लेकर अभी तक वह भ्रान्तिवश अपने को दम्पती नहीं जान रहा वह नवीन जोड़ा बैठ गया । दोनों को समान रूप से सुखानुभव देने वाले उस पलंग पर क्षीरसागर में मन्दराचल की तरह सुशोभित हो रहे थे ॥ ६५-६९ ॥

परस्पर अनिर्वचनीय प्रेमभरी मनोहर वाणी के विलासों से तथा उस समय के लिए उचित आलिङ्गन आदि प्रणय व्यवहारों से शुभ आचारों से जनित नवीन संभोग सुख से उस निर्मल दम्पती की लम्बी वह रात मुहूर्त के समान बीत गई ॥ ७० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में लीलाविवाह नामक कुसुमलता का एक सौ छःवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०६ ॥

१०७

वसिष्ठ उवाच

अथ सूर्याख्यरङ्गेण रञ्जिते भुवनोदरे ।
शिखिध्वजाङ्गना प्रातर्मदनी कुम्भतां ययौ ॥ १ ॥
एवं महेन्द्रदर्यां तावुभौ कुम्भशिखिध्वजौ ।
स्वयं विवाहिताविष्टौ सम्पन्नौ देवदम्पती ॥ २ ॥
विलेसतुर्विचित्रासु प्रत्यहं वनराजिषु ।
प्रपक्वफलभारासु पुष्पपल्लविनीषु च ॥ ३ ॥
दिवा प्रीततरौ मित्रे यामिन्यामिष्टदम्पती ।
प्रभादीपाविव श्लिष्टौ न वियुक्तौ बभूवतुः ॥ ४ ॥
रेमाते वनकुञ्जेषु गुहासु च महीभृताम् ।
तमालजालखण्डेषु मन्दारगहनेषु च ॥ ५ ॥
सह्यदर्दुरकैलासमहेन्द्रमलयेषु च ।
गन्धमादनविन्ध्याद्रिलोकालोकतटेषु च ॥ ६ ॥
दिनैस्त्रिभिस्त्रिभिर्गत्वा निद्रां गतवति प्रिये ।
चूडाला राजकार्याणि कृत्वा स्वभ्याययौ पुनः ॥ ७ ॥
तौ दिवा सुहृदौ मित्रे दम्पती कुम्भभूमिपौ ।
नानाकुसुमसंवीतौ तस्थतुर्मुदितौ मिथः ॥ ८ ॥
मासमेकं महेन्द्राद्रौ रम्ये सरलसङ्कुले ।
रत्नकुडचे गुहागेहे पूजितौ सुरकिन्नरैः ॥ ९ ॥
हस्तलभ्योदितामोघमन्दारवनमालिते ।
एवं शुक्तिमतः पृष्ठे पक्षं कल्पलतागृहे ॥ १० ॥
मासद्वयं पक्षवतो गिरेर्दक्षिणदिक्तटे ।
पारिजातवने देवपुष्पस्तबकमण्डपे ॥ ११ ॥
जम्बूखण्डतले मेरोः पादे जम्बूनदीतटे ।
जाम्बूनदमये मासं जम्बूफलरसासवैः ॥ १२ ॥
दशोत्तरकुरूणां च मण्डले दिवसानि तौ ।
कोसलेषूत्तरस्थेषु सप्तविंशतिवासरान् ॥ १३ ॥

१०७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—रात बीतने के बाद, जब कि प्रभात में अंशुमाली सूर्य के लाल रङ्ग से समस्त भुवन के रञ्जित करने पर शिखिध्वज की भार्या मदनिका अपने पहले के कुम्भरूप में आ गई ॥ १ ॥

वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज स्वतः विवाहित हो गये और देवताओं के समान भोग सामग्री से पूर्ण होने के कारण वे प्रिय देवदम्पती बन गये ॥ २ ॥

प्रतिदिन पके-पके फलों के भरे समूह और पल्लवों की अनोखी शोभा से परिपूर्ण विचित्र वनपंक्तियों में विलास करते थे ॥ ३ ॥

दिन में तो वे अत्यन्त प्रिय मित्र और रात में प्रिय पतिपत्नी बन जाते थे। प्रभा और दीपक की तरह से इतने मिले-जुले थे कि कभी अलग होते ही नहीं थे ॥ ४ ॥

अरण्य के कुञ्जों में पर्वतों की गुफाओं में, मन्दार-वृक्षों से सघन तमालवृक्षों की झाड़ियों में, सह्याद्रि, दर्दुर, कैलास, महेन्द्र, मलय, गन्धमादन, विन्ध्याचल तथा लोकालोक पर्वत और नदियों के तटों में उन्होंने रमण किया ॥ ५, ६ ॥

तीन दिन बीतने के बाद उसके पति निद्रा के समय वह चूडाला अपने नगर की ओर जाकर वहाँ राजकार्यों का सम्पादन कर फिर वापस आ गई ॥ ७ ॥

वे दिन में स्वच्छहृदय मित्र और रात के प्रिय पति-पत्नी कुम्भ और शिखिध्वज, जो अनेक तरह के पुष्पों से परिवेष्टित होकर परस्पर अत्यन्त मुदित रहते थे ॥८॥

उन्होंने महीने भर अतिशय रमणीय महेन्द्र पर्वत के ऊपर के गुफाघर में निवास किया। उसके चारों ओर चीड़ के ऊँचे वृक्ष थे, उसकी दीवारें रत्नशिलाओं की बनी थीं। वहाँ पर देवता और किन्नर उनका स्वागत किया करते थे ॥ ९ ॥

अनन्तर उन्होंने उसी तरह पन्द्रह दिनों तक हाथों से लेने योग्य, अनेक दुःखों के विनाशक फल, पुष्प आदि से युक्त मन्दारों के कारण वनमाला से मालित शक्तिमान् पर्वत के पृष्ठ के, जो कि कल्पवल्ली के कुञ्ज में निवास किया ॥ १० ॥

दो मासतक मैनाक पर्वत के दक्षिण के तटपर देवताओं के भोग्य फूलों के गुच्छों का मण्डप पारिजात वन में, रहकर विहार किया ॥ ११ ॥

अनन्तर मेरु पर्वत के दक्षिण भाग की ओर स्थित हाथी के जैसे बड़े-बड़े जामुनों के रसरूपी आसवों के कारण जामुनों का नदरूप मासभर निवास किया ॥१२॥

उत्तरी कुरुओं के मण्डल में वे दस दिन रहे और सत्ताईस दिनतक उत्तर के कोसल देश में रहे ॥ १३ ॥

एवमन्येषु देशेषु विचित्रेषु महीभृताम् ।
स्थितवन्तौ महाभागौ सुहृदौ निशि दम्पती ॥ १४ ॥
ततो यातेषु मासेषु शनैः कतिपयेषु सा ।
चूडाला चिन्तयामास देवपुत्रकरूपिणी ॥ १५ ॥
सुरूपभोगभारेण परीक्षेऽहं शिखिध्वजम् ।
मा कदाचन चेतोऽस्य भोगेषु रतिमेष्यति ॥ १६ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला मायया विपिनावनौ ।
आगतं दर्शयामास ससुराप्सरसं हरिम् ॥ १७ ॥
इन्द्रमभ्यागतं दृष्ट्वा परिवारसमन्वितम् ।
यथावत् पूजयामास वनसंस्थः शिखिध्वजः ॥ १८ ॥

शिखिध्वज उवाच

आत्मना किं कृता दूरादभ्यागमकदर्थना ।
देवराज ! यथा तन्मे प्रसादाद्वक्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

इन्द्र उवाच

इमे वयमिहाऽऽयातास्त्वद्गुणातिशयेन खात् ।
हृदि लग्नेन सूत्रेण खगा वनगता इव ॥ २० ॥
उत्तिष्ठ स्वर्गमागच्छ तत्र सर्वे त्वदुन्मुखाः ।
त्वद्गुणश्रवणाश्चर्याः स्थिता देवाङ्गनागणाः ॥ २१ ॥
पादुकागुटिकाखड्गरसादीदमथापि च ।
गृहीत्वा सिद्धमार्गेण स्वीकुरु स्वर्गमण्डलम् ॥ २२ ॥
आगत्य विविधा भोगास्त्वया विबुधसद्मनि ।
जीवन्मुक्तेन भोक्तव्यास्तेन त्वामहमागतः ॥ २३ ॥
विमानयन्ति संप्राप्तां न तिरस्करणैः श्रियम् ।
नाभिवाञ्छन्ति न प्राप्तां त्वादृशाः साधुसाधवः ॥ २४॥
अविघ्नमागतेनाऽद्य सुखं विहरता त्वया ।
स्वर्गः पवित्रतां यातु हरिणेव जगत्त्रयम् ॥ २५ ॥

शिखिध्वज उवाच

सर्वं स्वर्गसमाचारं वेद्मि देवाधिनायक ! ।
किन्तु सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥ २६ ॥
सर्वत्रैव हि तुष्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो ! ।
अवाञ्छनत्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम् ॥ २७ ॥

रात में पति-पत्नीरूप होनेवाले उन महाभाग्यवान् मित्रों ने उसी तरह दूसरे-दूसरे विचित्र देशों में और पर्वतों पर रहकर खूब विहार किया ॥ १४ ॥

अनन्तर धीरे-धीरे कुछ महीनों के व्यतीत होने के वाद देवपुत्र के स्वरूप को धारण करने वाली चूडाला ने विचार किया ॥ १५ ॥

अब मैं सुन्दर-सुन्दर नानाविध उपभोगों से शिखिध्वज की परीक्षा करूँगी । परीक्षा के द्वारा इसकी अनासक्ति कर देने पर यह फिर कभी भोगों में प्रेम नहीं करेगा ॥ १६ ॥

इस प्रकार कर चूडाला ने जङ्गलभूमि में अपनी माया से देवताओं और अप्सराओं के साथ आये हुए इन्द्र को दिखलाया ॥ १७ ॥

अपने परिवार के साथ आगत इन्द्र को देखकर वन में वास किये हुए राजा शिखिध्वज ने पहले उनकी यथा विधि अर्घ्य, पाद्य आदि से पूजा कर प्रश्न किया ॥१८॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे देवराज ! आपने स्वयं इतने दूर से यहाँ आने का परिश्रम क्यों उठाया । जिस प्रयोजन को लेकर आप यहाँ पधारे हों, उसे प्रसन्नता पूर्वक कहें ॥ १९ ॥

इन्द्र ने कहा—हे राजन् ! हम लोगों के हृदय में लगे हुए सूत्ररूपी आपके सद्गुणों के आधिक्य से वशीभूत हो हम यहाँ वैसे ही हैं जैसे हृदय में बँधे हुए सूत्र से वशीभूत हो अरण्य के पक्षी आ जाते हैं ॥ २० ॥

हे राजन् ! उठिये और स्वर्ग चलिये, क्योंकि वहाँपर आपके गुणों के श्रवण से महान् आश्चर्य से चकित देवता और देवाङ्गनाएँ आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ २१ ॥

इन सिद्धपादुका, गुटिका, खड्ग, पारद आदि को स्वीकार कर सिद्धों के मार्ग से आप स्वर्गमण्डल में आने का अङ्गीकार करें ॥ २२ ॥

देवताओं के वासस्थान स्वर्ग में आकर आप जीवन्मुक्त रह कर ही अनेक तरह के सुख का उपभोग करें, इसीलिए मैं आपके समीप आया हूँ ॥ २३ ॥

आपके समान साधु-महात्मा अपने पास आई हुई लक्ष्मी का अस्वीकार कर अपमान नहीं करते और अप्राप्त लक्ष्मी की अभिलाषा भी नहीं करते ॥ २४ ॥

निर्विघ्न सुखपूर्वक विहार कर रहे आपके आगमन से आज ही स्वर्ग वैसे ही पवित्र हो जाय जिस तरह भगवान् नारायण के आगमन से तीनों लोक पवित्र होते हैं ॥२५॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे देवताओं के अधिनायक सभी स्थल स्वर्ग के सदृश ही सुखप्रद हैं; क्योंकि मैं जिस भूमानन्दात्मक परम आत्मा को स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सर्वत्र सत्ता है । मेरे लिए कहींपर परिच्छिन्न स्वर्ग नहीं है ॥ २६ ॥

हे प्रभो ! मैं सभी जगह सन्तुष्ट रहता हूँ, सभी जगह

नियतं किञ्चिदेकत्र स्थितं स्वर्गकमीदृशम् ।
शक्र ! गन्तुं न जानामि त्वदाज्ञां न करोम्यहम् ॥२८॥

शक्र उवाच

साधो ! विदितवेद्यानां परिपूर्णधियां समम् ।
सज्जनाचरितं युक्तं मन्ये भोगोपसेवनम् ॥ २९ ॥
देवेशे प्रोक्तवत्येवं तूष्णीमेव स्थिते नृपे ।
किमितो नापयास्येष त्वमिति प्रोक्तवान् हरिः ॥ ३० ॥
नाऽहमद्यैव कालेन वदतीति शिखिध्वजे ।
कल्याणं तेऽस्तु कुम्भेति वदन्नन्तर्धिमाययौ ॥ ३१ ॥
तद्देववृन्दमखिलं त्रिदशेशयुक्तं
तत्र क्षणादलमदृश्यमभूद्द्वितीयम् ।
कल्लोलराशिरिव वारिनिधौ प्रशान्ते
वाते स्फुरन्मकरफेनफणीन्द्रवृन्दः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शक्रगमनं नाम सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

विहरण करता हूँ। मेरे मन में कोई भी इच्छा नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ, वहाँ सर्वत्र मैं आनन्द से परिपूर्ण रहता हूँ ॥ २७ ॥

हे शक्र ! इन सब बातों से मैं परिच्छिन्न किसी एक स्थान में रहने वाले तुच्छ स्वर्ग के प्रति जाने की सम्भावना ही नहीं कर सकता। अतः मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगा। असम्भव है, विषय के लिए आपको आज्ञा देना ही अनुचित है, अतः आज्ञापालन न करना मेरा अपराध नहीं है ॥ २८ ॥

इन्द्र ने कहा—हे साधो ! जानने योग्य तत्त्वों के ज्ञाता जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गई है, वे भोगें चाहे न भोगें, दोनों ही बराबर हैं। ऐसा होनेपर भी विषयोपभोग सज्जनों ने अपने प्रारब्ध का क्षय करने के लिए किया ही है और मैं भी उसे अच्छा ही मानता हूँ ॥ २९ ॥

इस तरह दूसरी बार इन्द्र के द्वारा राजा से कहने पर स्वर्ग जाने की इच्छा न रहने के कारण राजा शिखिध्वज प्रत्युत्तर न देकर जब चुपचाप मौन ही रहे, यदि आप स्वर्ग के लिए निरपेक्ष ही हैं, तो मैं ही यहाँ से क्यों न चला जाउँ। क्योंकि मेरे आने के प्रयोजन उसकी सिद्धि तो आप से नहीं हो रही है ॥ ३० ॥

उसके बाद जब राजा अपनी अर्ध स्वीकृति दे कर कह रहे थे कि मैं आज तो स्वर्ग नहीं आऊँगा, परन्तु फिर राज्यगद्दी पर बैठकर पहले की तरह आपके शत्रुओं को मारने के लिए स्वर्ग में आ जाऊँगा। आपको राज्यप्राप्ति रूप कल्यण शीघ्र हो' इस प्रकार आशीर्वाद देते हुए देवराज इन्द्र अन्तर्हित हो गये ॥ ३१ ॥

जैसे समुद्र में वायु के अदृश्य हो जाने पर व्याकुल हुए मगर, फेन, सर्प आदि से युक्त तरङ्गसमूह अदृश्य हो जाता है वैसे ही देवराज इन्द्र के अदृश्य हो जानेपर उनके साथ का देवसमूह भी अदृश्य हो गया ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शक्रगमन नामक कुसुसलता का एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०७ ॥

१०८

वसिष्ठ उवाच

तां मायां शममानीय चूडाला समचिन्तयत् ।
दिष्ट्या भोगेच्छया नाऽयं ह्रियते वसुधाधिपः ॥ १ ॥
शान्तः समसमाभोग एवं शक्रसमागमे ।
असंरम्भमहेलं च कृतवान् व्यावहारिकम् ॥ २ ॥
भूय एव प्रपञ्चेन विमृशाम्येव सादरम् ।
रागद्वेषप्रधानेन केनचिद्बुद्धिहारिणा ॥ ३ ॥

१०८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इन्द्र के आने की माया का उपसंहार कर चूडाला सोचने लगी—सौभाग्य का विषय है कि यह भूमिपति विषयभोगों की लालसाओं से आकृष्ट नहीं हुआ ॥ १ ॥

इन्द्र के आने पर भी यह इस प्रकार शान्त रहा और उसके मुख आदि अवयवों की स्थिति भी आकाश के सदृश विशुद्ध रही। इसने इन्द्र का अर्घ्य, पाद्य आदि से पूजन भी किसी तरह के क्षोभ के बिना शिष्टों के जैसा उचितरूप से किया ॥ २ ॥

अब मैं दूसरी बार भी इसकी राग-द्वेष से भरी, बुद्धि में क्षोभ पैदा कराने वाले किसी माया-प्रपञ्च को रचकर आदरपूर्वक परीक्षा करती हूँ ॥ ३ ॥

इति सञ्चिन्त्य सा रात्राविन्दावभ्युदिते वने ।
गृहीतमङ्गनारूपं कान्ता मदनिका सती ॥ ४ ॥
वाते वहति फुल्लाढ्ये मधुरामोदमांसले ।
सन्ध्याजप्यपरे नद्यास्तीरसंस्थे शिखिध्वजे ॥ ५ ॥
सन्तानकलतागेहं नीरन्ध्रैः पुष्पगुच्छकैः ।
शुद्धान्तं वनदेवीनां प्रविवेश मदान्विता ॥ ६ ॥
तत्र सङ्कल्पिते पुष्पशयने माल्यमालिता ।
कण्ठे सङ्कल्पितं कान्तं खिङ्गमादाय संस्थिता ॥ ७ ॥
आगत्याऽन्विष्य कुञ्जात्स प्रददर्श शिखिध्वजः ।
लतागेहे मदनिकां कण्ठे खिङ्गं मनोहरम् ॥ ८ ॥
कुन्तलावलितस्कन्धं समालब्धं च चन्दनैः ।
शयनावृत्तिनिक्षेपपर्याकुलितशेखरम् ॥ ९ ॥

ऐसा विचार कर वह रात्रि में चन्द्रमा का उदय हो जाने पर कमनीय सती मदनिका के रूप में परिवर्तित हो गई ॥ ४ ॥

उस समय अरण्य में खिले फूलों से युक्त वृक्ष और लताओं की समृद्धि से परिपूर्ण, मधुर सुगन्ध से भरपूर मलय पर्वत की वायु बह रही थी, राजा शिखिध्वज भी सन्ध्याकाल के जपकर्म में तत्पर होकर भागीरथी के तट-पर स्थित थे ॥ ५ ॥

सघन फूलों के गुच्छों से युक्त, वन-देवियों के अन्तः-पुररूपी देवतरुओं के छोटे-छोटे लताकुञ्ज में उसने काममद से युक्त होकर प्रवेश किया ॥ ६ ॥

वहाँ मालाओं से अलङ्कृत होकर वह मदनिका सङ्कल्प से रचित पुष्पशय्या पर माया से बनाये गये अपने अनुरूप जिसकी दाढ़ी-मूँछ नहीं निकली थी किन्तु दाढ़ी-मूँछ वाले शिखिध्वज की अपेक्षा अधिक सुन्दर युवा जारपुरुष को लताकुञ्ज में प्रवेश के पहले से ही उसने अपने गले लगाया था लेकर लेट गई ॥ ७ ॥

जप कर्म के अनन्तर सन्ध्या के स्थानकुञ्ज से उठ-कर राजा ने मदनिका को खोजना आरम्भ किया। खोज करने पर उसने लताकुञ्ज में मदनिका को और उसके गले में लगे सुन्दर जारपुरुष को देखा ॥ ८ ॥

उस जार-युवा के कन्धे मदनिका के केशों से और उसके अपने दीर्घ केशों से वेष्टित हो गये थे। उसका सारा शरीर चन्दनों से अवलिप्त था। उसके माथे पर के केश-भूषण शय्या पर बार-बार इधर-उधर परिवर्तन एवं परस्पर के मर्दनों से अस्त-व्यस्त हो गये थे ॥ ९ ॥

हेमाभे द्विगुणाकारबालाबाहूपधानके ।
संसक्तश्रवणापाङ्गकपोलतलकुन्तलम् ॥ १० ॥
मिथुनं तद्ददर्शाऽथ मिथः प्रहसिताननम् ।
अन्योन्यवदनासक्तं छन्नं कल्पलतांशुकैः ॥ ११ ॥
आलोलमाल्यशयनं मदनातुरमाकुलम् ।
अङ्गलग्नच्छलेनाऽऽत्मरागमन्योन्यमर्पयत् ॥ १२ ॥
अभ्युन्मुखं समानन्दमुद्दाममदमन्थरम् ।
परस्पराहतं पुष्पैर्वक्षोभ्यां पीडितस्तनम् ॥ १३ ॥
तदालोक्याऽविकारेण चेतसाऽलं तुतोष सः ।
अहो सुखं स्थितौ खिङ्गावित्याह स शिखिध्वजः ॥१४॥
तिष्ठताऽङ्ग यथाकामं सुखं खिङ्गौ यथास्थितम् ।
विघ्नं माकरवं भीतावित्युक्त्वा निर्जगाम सः ॥ १५ ॥

सुवर्ण के सदृश कान्ति वाले, मोड़ने के कारण आकार में द्विगुण मदनिका के भुजरूपी तकिये पर वह जार अपना कान, आँख का आखिरी भाग, कपोलतल और केश रखकर लेट रहा था ॥ १० ॥

अनन्तर शिखिध्वज ने देखा कि स्त्री-पुरुष दोनों के मुख परस्पर के हास से पूर्ण हैं एक दूसरे का मुख एक दूसरे के मुख से लगा हुआ है। इन्होंने कल्पलता के वस्त्र पहिने हैं ॥ ११ ॥

उन्होंने चञ्चल माल्ययुक्त पुष्पशय्या पर शयन किया काम से आतुर और पूर्ण व्याकुल थे। अपने अङ्गों के आलिङ्ग के बहाने एक दूसरे को अपना प्रेम समर्पण कर रहे थे ॥ १२ ॥

ये एक दूसरे के सामने ही मुख किये हुए हैं, बड़े आनन्द में मस्त प्रबल काममद के कारण इनको बाह्य-वस्तु की ओर कुछ भी ध्यान नहीं है, फूलों से एक दूसरे ताडन कर रहे हैं और छातियों से ही स्तनों का मर्दन कर रहे हैं ॥ १३ ॥

यह सब देखकर राजा क्रोधरूपी विकार से रहित अन्तःकरण से अत्यन्त सन्तुष्ट और उसने यह कहा—बहुत ही आनन्द का विषय है कि ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दपूर्वक अवस्थित हैं ॥ १४ ॥

राजा ने कहा—हे प्रिय ! तुम दोनों अपनी इच्छा के अनुसार सुख से जैसे स्थित हो, उसी तरह स्थित रहो, मैं तुम लोगों के कार्य में विघ्न क्यों डालूँ यह कहकर वे राजा वहाँ से हट गये ॥ १५ ॥

ततो मुहूर्तमात्रेण प्रपञ्चं तमुपेक्ष्य सा ।
निर्ययौ दर्शयन्ती स्वं रतिफुल्लाकुलं वपुः ॥ १६ ॥
उपविष्टं ददर्शैनं नृपं हेम शिलातले ।
समाधिसंस्थमेकान्ते मनाग्विकसितेक्षणम् ॥ १७ ॥
तं प्रदेशमुपागम्य लज्जावनमितानना ।
तूष्णीमासीत् क्षणं खिन्ना म्लाना मदनिकाऽङ्गना ॥१८॥
क्षणाच्छिखिध्वजो ध्यानाद्विरतस्तामुवाच ह ।
अत्यन्तमधुरं वाक्यमिदमक्षुब्धया धिया ॥ १९ ॥
तन्वि किं शीघ्रमेव त्वं विघ्नितानन्दमागता ।
आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित् ॥ २० ॥
भूयस्तोषय तं गच्छ कान्तं प्रणयवृत्तिभिः ।
परस्परेप्सितस्नेहो दुर्लभो हि जगत्त्रये ॥ २१ ॥
अहमेतेन चार्थेन नोद्वेगं यामि मानिनि ! ।

अनन्तर एक मुहूर्तमात्र में उस मायाजाल का उपसंहार कर प्रिय उपपति के साथ संयोग करने के कारण विकसित शरीर को दिखलाती हुई वह चूड़ाला लताकुञ्ज से बाहर निकल आई ॥ १६ ॥

इस राजा को उसने सुवर्ण की शिलापर बैठे हुए देखा। वे एकान्त में समाधि लगाकर बैठे थे, उसके नेत्र कुछ विकसित (खुले हुए) थे ॥ १७ ॥

जहाँ राजा बैठे हुए थे, उस प्रदेश में जाकर लज्जा विनम्र मुख होकर अङ्गना मदनिका क्षणभर चुपचाप खड़ी हो गई। उस समय उसके मन में अपने पापकर्म के लिए भारी खेद था और उसका मुख फीका पड़ गया था ॥१८॥

एक क्षण के बाद ध्यान से उठकर राजा शिखिध्वज उस मदनिका के प्रति क्षोभरहित अन्तःकरण से अत्यन्त मधुर वाक्य बोले ॥ १९ ॥

हे तन्वि ! क्या शीघ्र ही किसी ने तुम्हारे आनन्द में बाधा पहुँचाई, अच्छा, कहो, तुमने आनन्द का उपयोग तो किया न। समस्त प्राणी केवल एकमात्र आनन्द के लिए ही जिस-किसी वस्तु के ग्रहण में प्रयत्न करते हैं ॥ २० ॥

हे विलासिनि, जाओ, फिर उस अपने कान्त को प्रेमभरी चेष्टाओं से सन्तुष्ट करो, क्योंकि तीनों जगत् में परस्पर स्वाभाविक स्नेह बड़ा दुर्लभ होता है ॥ २१ ॥

हे मानिन्, तुम्हारे इस कार्य से मैं किसी तरह के उद्वेग का अनुभव नहीं करता, क्योंकि संसार की वस्तुस्थिति जो जानते हैं, उन्होंने जानना चाहिए—इस संसारमें जो-जो वस्तु इष्टतम (अति प्यारी) है, वह सब वस्तु तुम्हारे सदृश ही है यानी दूसरे के उपभोग के योग्य है।

यद्यदिष्टतमं लोके तत्तदेवं विजानता ॥ २२ ॥
अहं कुम्भश्च तन्वङ्गि ! वीतरागाविहेतरा ।
दुर्वासःशापजा बाला त्वं यदिच्छसि तत्कुरु ॥ २३ ॥

मदनिकोवाच

एवमेष महाभाग ! स्त्रीस्वभावो हि चञ्चलः ।
कामो ह्यष्टगुणः स्त्रीणां न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥
अबलाऽहमनेनाऽस्मि रात्रौ गहनकानने ।
त्वयि सन्ध्याजपपरे किं करोमि वराकिका ॥ २५ ॥
अबला वा कुमारी वा जारेण रतिरोधनम् ।
करोति परिखिन्नेन नाङ्गे स्वे विनिवेशितम् ॥ २६ ॥
स्त्रियः सुन्दरतां याताः पुरः पुंसामसङ्गमे ।
मन्युर्निषेध आक्रन्दः सतीत्वं किं करिष्यति ॥ २७ ॥

इसलिए तुम्हारे कार्य से मेरी कुम्भ में श्रद्धा नष्ट नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

हे कोमलाङ्गि ! मैं और कुम्भ दोनों तो यहां किसी तरह के राग से छूये ही नहीं गये हैं। तुम तो उन दोनों से भिन्न कोई तीसरी दुर्वासा मुनि के शाप से पैदा हुई बाला हो। अतः तुम जो चाहो, वह बे-रोक-टोक कर सकती हो ॥ २३ ॥

मदनिका ने कहा—हे महाभाग ! आप जो कह रहे हैं, वह सब ठीक ही कह रहे हैं, क्योंकि यह स्त्री का स्वभाव ही महान् चञ्चल है। स्त्रियों में आठगुना काम रहता है, अतः महाराज, आप मेरे ऊपर क्रोध न करें ॥ २४ ॥

महाराज, मैं तो अबला हूँ, आप जब सन्ध्या-जप में बैठे हुए थे, तब इस गहन कानन में रात्रि में इस कामी पुरुष ने मुझसे प्रार्थना की। मैं बेचारी दीन अबला क्या कर सकती हूँ ॥ २५ ॥

राजन्, जिसका विवाह हो गया है, वह पति-पराधीन होने के कारण स्वातन्त्र्य बल से हीन ही है—इस तरह की अबला और अविवाहित तारुण्ययुत कुमारी—दोनों भी एकान्त में कामी जन को पाकर रति का निरोध नहीं ही कर सकतीं, यह स्त्रियों का स्वभाव है। यदि दैववश रति में बाधा पहुँची, तो कामी पुरुष अपने शरीर में मन आदि की स्थिरता नहीं करता यानी चञ्चलतर हुए मन आदि मे युक्त वह सन्तप्त होने लगता है ॥ २६ ॥

ऐसी स्त्रियाँ पर-पुरुष का समागम नहीं कर सकतीं, जिनके पास पुरुषों को वश में करने वाला सौन्दर्य नहीं है और जिनके पास वैसा सौन्दर्य है, वे यदि एकान्त में

अबला स्त्री तथा बाला मूढाऽहमपराधिनी ।
क्षन्तुमर्हसि नाथ ! त्वं क्षमावन्तो हि साधवः ॥ २८ ॥

शिखिध्वज उवाच

मन्युर्मम न बालेऽन्तर्विद्यते ख इव द्रुमः ।
केवलं साधुनिन्द्यत्वान्नेच्छामि त्वामहं वधूम् ॥ २९ ॥
सुहृत्त्वेन वनान्तेषु पूर्ववत् सुखमङ्गने ! ।
वीतरागतया नित्यं सममेव रमावहे ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं समतया तत्र स्थिते तस्मिञ्छिखिध्वजे ।
चूडाला चिन्तयामास तत्सत्त्वेनोदिताशया ॥ ३१ ॥
अहो बत परं साम्यं भगवानयमागतः ।
वीतरागतयाऽक्रोधो जीवन्मुक्तोऽवतिष्ठते ॥ ३२ ॥
नैनं हरन्ति ते भोगा न महत्योऽपि सिद्धयः ।
न सुखानि न दुःखानि नाऽऽपदो न च सम्पदः ॥ ३३ ॥
चिन्तिताः सकला एकं प्रयन्त्येनमनिन्दिताः ।
मन्ये महर्धयः कान्ता नारायणमिवाऽपरम् ॥ ३४ ॥
आत्मवृत्तान्तमखिलं तमेनं स्मारयाम्यहम् ।
कुम्भरूपमिदं त्यक्त्वा चूडालैव भवाम्यहम् ॥ ३५ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला चूडालावपुरक्षता ।
दर्शयामास तत्राऽऽशु त्यक्त्वा मदनिकावपुः ॥ ३६ ॥
तस्मान्मदनिकादेहाच्चूडाला निर्गतेव सा ।
बभावस्य पुरो युक्ता निर्गतेव समुद्गकात् ॥ ३७ ॥
तां ददर्शाऽनवद्याङ्गीं पुनः प्रणयपेशलात् ।
कान्तां मदनिकामेव चूडालां दयितां स्थिताम् ॥ ३८ ॥
समुदितामिव माधवपद्मिनी-
मुपगतामिव भूमितलाच्छ्रियम् ।

पर-पुरुष के सामने हो जायें, तो उनका समागम न होने में कोई कारण ही मालूम नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में स्वामी का क्रोध; शास्त्रीय निषेध, जनापवाद, सतीत्व आदि क्या कर सकेंगे, वे क्रोध आदि एकान्त में जार के साथ नाता जोड़ने में बाधक नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

मैं अबला स्त्री हूँ, बाला हूँ, मूर्ख हूँ, मैंने भयङ्कर अपराध किया है; आप क्षमा प्रदान कीजिए, क्योंकि साधु पुरुष क्षमाशील ही हुआ करते हैं ॥ २८ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे बाले ! मेरे अन्तःकरण में तुम्हारे कृत्य से, आकाश में वृक्ष की तरह तनिक भी क्रोध नहीं है। केवल शिष्टजनों की निन्दा के भय से मैं तुम्हें अपनी वधू के रूप में अब नहीं चाहता हूँ ॥ २९ ॥

हे अङ्गने ! अब हम दोनों केवल मित्रता से इन वनप्रान्तों में पहले की तरह रागनिर्मुक्त होकर निरन्तर साथ-साथ ही सुखपूर्वक खेल-कूद किया करेंगे ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वहाँ पर उस तरह अविकृत रूप से जब राजा शिखिध्वज स्थित थे, तब परीक्षित उसके राग-द्वेष की वासनाओं से निर्मुक्त अन्तःकरण से अत्यन्त प्रसन्न वह चूडाला अपने मन में विचार करने लगी ॥ ३१ ॥

अहो ! निश्चय ही ये मेरे भगवान् शिखिध्वज सर्वोच्च समभाव को प्राप्त हैं। राग से निर्मुक्त हो जाने के कारण इनमें क्रोध का तो नामो-निशान नहीं है ये सचमुच जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं ॥ ३२ ॥

इन्द्र के द्वारा जो उत्तमोत्तम भोग और बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ दी गईं किन्तु उन भोगों ने और सिद्धियों ने इनको अपनी ओर तनिक भी नहीं खींचा। इनको न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ ही अपनी ओर खींच सकती हैं ॥ ३३ ॥

मैं जिन्हें जीवन्मुक्तों का लक्षण मानती हूँ, वे सब शान्ति, क्षमा, धीरज, तृप्ति आदि प्रशंसित और कमनीय बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ इस समय अकेले इन्हीं का आश्रयण कर रही हैं। अब मैं इन्हें दूसरे नारायण के रूप में मान रही हूँ ॥ ३४ ॥

बड़े-बड़े विशिष्ट गुणों की स्थिति हो जाने के कारण इन्हें मेरे वृत्तान्त का यदि स्मरण दिलाया जाय, तो बहुत अच्छा हो। अब ये पूर्ण योग्य हैं, इसलिए मैं अपना समस्त वृत्तान्त इन्हें स्मरण कराती हूँ। अब मैं इस कुम्भरूप का परित्याग कर चूडाला बन जाती हूँ ॥ ३५ ॥

ऐसा विचार कर अटल निश्चयवाली चूडाला ने मदनिका के शरीर का त्याग कर राजा को वहाँ पर तत्क्षण ही चूडाला का शरीर दिखाया ॥ ३६ ॥

उस समय ऐसा मालूम पड़ा, मानो मदनिका के शरीर से चूडाला निकली हो और राजा के सामने योग-धारणा से युक्त वह ऐसी शोभने लगी जैसे किसी पिटारी में से निकली हुई कोई रत्नश्री किसी के सामने शोभायमान हो ॥ ३७ ॥

राजा शिखिध्वज ने निर्मल अङ्गों से सुशोभित, स्वामी के चित्त अनुरक्त करने में चतुर, कमनीय मदनिका को ही, अपनी पूर्व-प्रियभार्या चूडाला के रूप में देखा ॥ ३८ ॥

बसन्तकाल में खिली हुई सुन्दर पद्मिनी की तरह या

प्रकटितामिव रत्नसमुद्गका- त्परिददर्श निजां दयितां नृपः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चूडालास्वरूपदर्शनं नाम अष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

आविर्भूत विष्णु की पद्महस्ता लक्ष्मी की तरह रामावतार की समाप्ति हो जानेपर जब श्रीरामचन्द्र विष्णुरूप बन गये थे तब पहले सीता के रूप में भूमि के गर्भ में प्रविष्ट हुई और फिर उससे निकली हुई लक्ष्मी की तरह तथा पिटारी से प्रकट हुई रत्न शोभा की तरह उस राजा ने अपनी भार्या चूडाला को देखा ॥ ३९ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
चूडालास्वरूपदर्शन नामक कुसुमलता का एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०८ ॥

१०९

वसिष्ठ उवाच

अथ तां दयितां दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
शिखिध्वज उवाचेदमाश्चर्याकुलया गिरा ॥ १ ॥
का त्वमुत्पलपत्राक्षि ! कुतः प्राप्तासि सुन्दरि ! ।
किमिहासि कियत्कालं किमर्थमिह तिष्ठसि ॥ २ ॥
अङ्गेन व्यवहारेण स्मितेनाऽनुनयेन च ।
मम जायाविलासेन तत्कलेवोपलक्ष्यसे ॥ ३ ॥

चूडालोवाच

एवमेव प्रभो ! विद्धि चूडालाऽस्मि न संशयः ।
अकृत्रिमेण देहेन लब्धोऽस्यद्य मया स्वयम् ॥ ४ ॥
कुम्भादिदेहनिर्माणैस्त्वां बोधयितुमेव मे ।
प्रपञ्चः शतशाखत्वमिह यातो वनान्तरे ॥ ५ ॥
यदा राज्यं परित्यज्य मोहेन तपसे वनम् ।
त्वमागास्ततप्रभृत्येव त्वद्बोधायाऽहमुद्यता ॥ ६ ॥
अनेन कुम्भदेहेन मयैव त्वं विबोधितः ।
कुम्भादिदेहनिर्माणं त्वां बोधयितुमेव मे ।
मायया न तु कुम्भादि किञ्चित्सत्यं महीपते ॥ ७ ॥
अथो विदितवेद्यस्त्वं ध्यानेनैतदखण्डितम् ।
सर्वं पश्यसि तत्त्वज्ञ ! ध्यानेनाऽऽश्ववलोकय ॥ ८ ॥
अथ चूडालयेत्युक्तो बद्ध्वा परिकरं नृपः ।
आत्मोदन्तं विशेषेण ध्यानेनाऽमलमैक्षत ॥ ९ ॥

१०९

श्रीवासिष्ठजी ने कहा—अनन्तर अपनी पहले की भार्या को देखकर आश्चर्य के मारे राजा शिखिध्वज के नेत्र विकसित हो गये और वह विस्मययुक्त वाणी से यह कहने लगे ॥ १ ॥

कमल के पत्तों के समान विशाल नेत्रवाली हे सुन्दरी ! तुम कौन हो, कहाँ से आई हो, क्या तुम ही कुम्भ आदि का रूप धारण कर वहाँ रहती हो, कितने समय तक यहाँ रहोगी और मेरे पास आने का क्या प्रयोजन है ? ॥२॥

हे सुन्दरी ! अवयवों के गठन से, उनकी चेष्टाओं से, स्मित से, प्रेमभरी वाणी बोलने की शैली से और मेरी भार्या के जैसे तुम्हारे विलास से तुम चूडाला की मूर्ति के ही सदृश देखाई दे रही हो ॥ ३ ॥

चूडाला ने कहा—हे प्रभो ! हाँ ऐसा ही सम्पर्क मैं बिना किसी संशय से चूडाला ही हूँ । स्वाभाविक शरीर से ही मैंने आज आपकी प्राप्ति की है ॥ ४ ॥

इस अरण्य में कुम्भ आदि के शरीरों के निर्माण के द्वारा मेरी माया का प्रपञ्च सैकड़ों शाखा-प्रशाओं के रूप में जो आपके सामने आया है वह केवल आपको बोध देने के लिए ही मैंने रचा था ॥ ५ ॥

मोहवश राज्य छोड़कर तप के लिए वन में आने के बाद से ही मैं आपकी ज्ञान देने के लिए प्रयत्नशील रही ॥ ६ ॥

वैसे ही कुम्भ के शरीर से आपको बोधित किया है । मैंने माया से जिन कुम्भ आदि शरीरों का निर्माण किया था, वह केवल आपको ज्ञान देने के लिए था । वास्तव में कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं थे ॥ ७ ॥

इस समय आप ज्ञेय वस्तु को जान चुके हैं, इसलिए आप योग-धारणा से उसी रूप में सब देख लेंगे । हे तत्त्वज्ञ ! आप शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिए ॥ ८ ॥

चूडाला के द्वारा राजा से वैसा कहने पर योग धारणा के अनुकूल आसन लगाकर ध्यान से अपना विशेष रूप से सब हाल अच्छी तरह से जान लिया ॥ ९ ॥

अभिराज्यपरित्यागाच्चूडालादर्शनावधि ।
सर्वं मुहूर्तध्यानेन चाऽऽत्मोदन्तं ददर्श सः ॥ १० ॥
आराज्यसम्परित्यागाद्वर्तमानक्षणक्रमम् ।
सर्वमालोक्य भूपालो विरराम समाधितः ॥ ११ ॥
समाधिविरतौ हर्षविकासिनयनाम्बुजः ।
विसार्य तरसा बाहू पुलकोज्ज्वलतां गतौ ॥ १२ ॥
गलदङ्गं घनस्नेहं मुञ्चद्बाष्पं स्फुरत्स्पृहम् ।
आलिलिङ्ग चिरं कान्तां नकुलो नकुलीमिव ॥ १३ ॥
तयोरालिङ्गने तस्मिंस्तत्र भावो बभूव यः ।
न स वासुकिजिह्वाभिर्वक्तुं हर्षेण शक्यते ॥ १४ ॥
दिविस्थाविव पङ्केन कृताविव मिलत्तनू ।
शैलाविव समुत्कीर्णौ श्लिष्टावास्तां चिरं प्रियौ ॥ १५ ॥
मुहूर्तेन गलद्घर्मजलौ पुलकपीवरौ ।

राजपरित्याग से लेकर चूडाला के साक्षात्कार तक जितनी अपने लिए घटनाएँ घटीं थीं, सब का राजा ने मुहूर्त मात्र के ध्यान से प्रत्यक्ष ज्ञान कर लिया ॥ १० ॥

राज्यत्याग से लेकर वर्तमान क्षणपर्यन्त की सभी घटनाओं का साक्षात्कार करने के बाद राजा समाधि से विरत हो गये ॥ ११ ॥

समाधि टूटने के बाद हर्ष से विकसित नेत्र कमल वाले राजा ने वेगपूर्वक रोमाञ्चों के कारण उज्ज्वलता प्राप्त किया और हाथों को फैलाकर अपनी कान्ता चूडाला को दीर्घ काल के बाद वैसे ही आलिङ्गन किया, जैसे नकुल नकुली का आलिङ्गन करता है। उस समय उसके अङ्ग विदीर्ण हो रहे थे, घन-स्नेह टपक रहा था, आँसुओं की धारा बह रही थी और अनुराग-स्फुरित हो रहा था ॥ १२, १३ ॥

हर्ष से पूर्ण उनके उस आलिङ्गन में व्यक्त अनिर्वचनीय परमानन्दरूप शृङ्गार रस का शेष भाग भी अपनी जिह्वाओं से वर्णन नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

गीली मिट्टी से बनाये गये मिले जोड़े के समान पाषणशिला पर बनाई गई परस्पर आलिङ्गन की हुई दो श्लिष्ट मूर्तियों के समान परस्पर आलिङ्गन किये हुए वे दोनों प्रीतिपूर्ण पति-पत्नी बहुत देर तक वैसे ही मिलते ही रहे जैसे अमावास्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा एक दूसरे के शरीर में मिले हुए रहते हैं ॥ १५ ॥

एक मुहूर्त के बाद स्वेद जल टपकते हुए रोमाञ्चों से स्थूल अपने हाथों को उस स्निग्ध पति-पत्नी ने धीरे-धीरे कुछ शिथिल किया ॥ १६ ॥

बाहू विश्लथतामीषन्निन्यतुस्तौ शनैः प्रियौ ॥ १६ ॥
अमृतापूर्णहृदयौ सशून्यहृदयोपमौ ।
उन्मुक्तभुजमास्तां तावलक्ष्मस्थितलोचनम् ॥ १७ ॥
घनानन्दक्षणं स्थित्वा तूष्णीं प्रणयपेशलम् ।
कान्तां चिबुकसंलग्नकरः प्रोवाच भूपतिः ॥ १८ ॥
अत्यन्तमधुरस्निग्धः कान्तः स्वकुलयोषिताम् ।
पुण्यश्चरति निष्पन्दः स्वादुर्नामामृतादपि ॥ १९ ॥
कियत्प्रमाणस्तन्वङ्ग्या त्वया बालेन्दुमुग्धया ।
अनुभूतश्चिरं क्लेशो भर्तुरर्थेन दारुणः ॥ २० ॥
एवं दुरुत्तरात्तस्मात्संसारकुहरादहम् ।
उत्तारितो यया बुद्ध्या सा हि केनोपमीयते ॥ २१ ॥
अरुन्धती शची गौरी गायत्री श्रीः सरस्वती ।
समस्ताः पेलवायन्ते तव तन्व्या गुणश्रिया ॥ २२ ॥

उनके हृदय आनन्द मृत से पूर्ण थे, आनन्द के आधिक्य से उनका मन ऐसा जड़ बना था कि उसका परिज्ञान करने में कोई दूसरा हेतु प्रतीत नहीं हो रहा था अतएव वे एक तरह से ठीक शून्य हृदय हो गये थे। अपना-अपना हाथ छुड़ाकर और किसी खास लक्ष्य स्थान में नयनों को न लगाकर वे कुछ काल तक स्थिर रहे ॥ १७ ॥

घने आनन्द से विभोर क्षणभर मौन रहने के बाद राजा शिखिध्वज ने चिबुक पर हाथ लगा कर चूडाला से प्रेम मृदु वाणी कहा ॥ १८ ॥

अत्यन्त मधुर और स्नेह प्रचुर, कुलीन स्त्रियों का अनुराग कितना व्यापक रहता है, इसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सकता है वह बड़ा सुन्दर और अमृत से भी स्वादिष्ट रहता है, साक्षात् पुण्य ही अनुराग के रूप में अनुभूत होता है ॥ १९ ॥

सूक्ष्म अङ्गों वाली तुम बाल चन्द्रमा के समान अत्यन्त मुग्ध हो, अपने स्वामी के हेतु तुमने बहुत दिनों तक कितना बड़ा दारुण क्लेश सहा ॥ २० ॥

इस तरह तुम्हारी जिस बुद्धि के द्वारा दुस्तर उस संसाररूपी अन्धकार से मैं पार करा दिया गया, उसकी उपमा किससे दी जा सकती है ? ॥ २१ ॥

हे कृशाङ्गि ! अरुन्धती, इन्द्राणी, गौरी, गायत्री, लक्ष्मी, सरस्वती आदि बड़ी-बड़ी पुण्यस्त्रियाँ कोमल अङ्गवाली तुम्हारी गुणसम्पत्ति में सब नीचे ही हैं ॥ २२॥

धीः श्रीः कान्तिः क्षमा मैत्री करुणाद्यास्तु सुन्दरि ! ।
कान्तास्वाकारकान्तासु प्रथमेवाऽभिलक्ष्यसे ॥ २३ ॥
परेणाऽध्यवसायेन त्वयाऽहमवबोधितः ।
केन प्रत्युपकारेण परितुष्यति ते मनः ॥ २४ ॥
मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि ।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥ २५ ॥
शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तृणां कुलयोषितः ॥ २६ ॥
सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम् ।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥ २७ ॥
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः ।
लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यासु प्रतिष्ठितम् ॥ २८ ॥
निरिच्छायाः प्रयातायाः पारं संसारवारिधेः ।
कथमस्योपकारस्य करिष्ये ते प्रतिक्रियाः ॥ २९ ॥
मन्ये कुलाङ्गनां लोके लोके सर्वास्त्वयाऽधुना ।
नारीसौजन्यचर्चासु व्यपदेश्या भविष्यसि ॥ ३० ॥

हे सुन्दरि ! स्त्रियों में अपने अलौकिक सौन्दर्य के कारण प्रसिद्ध धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री, करुणा आदि सर्वोत्तम दक्षकन्याओं में भी तुम, सती की तरह, सर्वश्रेष्ठ ही मालूम हो रही हो ॥ २३ ॥

बहुत बड़े सतत प्रयत्न से जो तुमने अलौकिक बोध देकर मेरा उपकार किया है, उसके लिए किस प्रत्युपकार से तुम्हारा मन सन्तुष्ट होगा। तुम कृतार्थ हो, तुम्हारा मन किस प्रत्युपकार से सन्तुष्ट हो सकता है ॥ २४ ॥

अनादिकाल से चले आ रहे अनन्त गहन से भी गहन मोह से संसार में गिरे हुए स्वामी को प्रयत्नशील कुल-स्त्रियाँ ही पार करा देती हैं ॥ २५ ॥

जैसे स्नेहशालिनी ये कुलस्त्रियाँ शक्ति रखती हैं वैसी स्वामियों को संसार-सागर से पार कराने में शास्त्रार्थ, गुरु, मन्त्र आदि शक्ति नहीं रखते हैं ॥ २६ ॥

स्वामी के लिए कुलीन स्त्रियाँ ही सखा, बन्धु, सुहृद, भृत्य, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ हैं ॥ २७ ॥

सब तरह के प्रयत्नों से कुलीन स्त्रियों का निरन्तर पूजन करना चाहिए, क्योंकि इहलोक और परलोक—दोनों का सम्पूर्ण सुख स्त्रियों में ही भली-भाँति निहित है ॥ २८ ॥

कामनाशून्य संसाररूपी महान् दुस्तर सागर से पार हो चुकी तुम्हारे लिए इस महान् उपकार का प्रत्युपकार किस तरह मैं कर सकूँगा ? ॥ २९ ॥

त्वां निर्मितवतो धातुर्गुणजालातिशायिनीम् ।
मन्ये प्रकुपिता नूनमरुन्धत्यादिकाः स्त्रियः ॥ ३१ ॥
सती त्वं रूपसौजन्यगुणरत्नसमुद्गिके ।
एहि मे त्वद्गुणोत्कस्य पुनरालिङ्गनं कुरु ॥ ३२ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीं चूडालां तां शिखिध्वजः ।
आलिलिङ्ग पुनर्गाढं नकुलो नकुलीमिव ॥ ३३ ॥

चूडालोवाच

देव ! शुष्कक्रियाजालपरे त्वय्याकुलात्मनि ।
भूयो भूयो भृशमहं त्वदर्थं दुःखिताऽभवम् ॥ ३४ ॥
तेन त्वदवबोधात्मा स्वार्थ एवोपपादितः ।
मया तदत्र किं देव ! करोषि मम गौरवम् ॥ ३५ ॥

शिखिध्वज उवाच

त्वया यथा वरारोहे ! स्वार्थः सम्पाद्यते शुभः ।
तमिदानीं तथा सर्वाः साधयन्तु कुलाङ्गनाः ॥ ३६ ॥

तुम्हें मैं कुलाङ्गना मानता हूँ, इस लोक में लोक-प्रसिद्ध जितनी कुलाङ्गनाएँ हैं, उनके ऊपर इस समय तुमने विजय पा ली। अबसे स्त्रियों के सौजन्य की जब प्रशंसा होगी, तब तुम्हारी ही सर्वप्रथम गणना होगी ॥ ३० ॥

यह मैं मानता हूँ कि अपनी अपेक्षा उत्तम गुणों में बढ़ जानेवाली तुम्हारी रचना करने वाले ब्रह्माजी के ऊपर निश्चय ही अरुन्धती आदि स्त्रियाँ क्रुद्ध होंगी ॥३१॥

हे रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रत्नों की निधिभूत चूडाले ! तुम पतिव्रता हो, आओ, तुम्हारे गुणों से उत्साहित हुए मेरा तुम फिर आलिङ्गन करो ॥ ३२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ऐसा कहकर राजा शिखिध्वज ने मृग के बच्चे के सदृश विशाल नेत्रवाली उस चूडाला का फिर गाढ़ आलिङ्गन वैसे ही किया, जैसे नकुली का नकुल आलिङ्गन करता है ॥ ३३ ॥

चूडाला ने कहा—हे देव ! शुष्क क्रियाओं के चक्कर में निरत और व्याकुलमति आपको बार-बार देखकर मैं दुःखित होती थी ॥ ३४ ॥

इसलिए आपको तत्त्वज्ञान देकर मैंने वह अपना स्वार्थ ही सिद्ध किया है। इस विषय में व्यर्थ ही आप मेरा गौरव बढ़ा रहे हैं ॥ ३५ ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे वरारोहे ! तुम जैसे शुभ स्वार्थ सिद्ध कर रही हो, वैसे ही अब सभी कुलीन स्त्रियाँ स्वार्थ सिद्ध करें, यह मैं चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

चूडालोवाच

बुध्यसे कान्त ! विश्रान्तो जगज्जालतटे विभो ! ।
अद्य तं प्राक्तनं किञ्चिन्मोहं समनुपश्यसि ॥ ३७ ॥
इदं करोमि नेदं तु प्राप्नोमीदमिति स्थितिम् ।
अन्तर्हससि तां कच्चिद्दशापेलवतां धियः ॥ ३८ ॥
तास्तुच्छतृष्णाकलनास्ताः सङ्कल्पकुकल्पनाः ।
त्वयि नाऽद्यावलोक्यन्ते देव ! व्योम्नीव पर्वताः ॥ ३९ ॥
किं त्वमद्याऽङ्ग सम्पन्नः किंनिष्ठोऽसि किमीहसे ।
कथं पश्यसि पाश्चात्यं देहचेष्टाक्रमं विभो ! ॥ ४० ॥

शिखिध्वज उवाच

सुमनःपूर्णनीलाब्जमालासारविलोचने ! ।
त्वमेव यस्य यस्याऽन्तस्तत्तस्याऽहमुपास्थितः ॥ ४१ ॥
निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि नभःस्वच्छोऽस्मि निस्पृहः ।
शान्तोऽहमर्थरूपोऽस्मि चिरायाऽहमहं स्थितः ॥ ४२ ॥
तां दशामुपयातोऽस्मि यतश्चित्तैकवर्त्मनि ।
प्रतिषेधन्ति सहसा न यां हरिहरादयः ॥ ४३ ॥
न किञ्चिन्मात्रचिन्मात्रनिष्ठोऽस्मि स्वस्थ आस्थितः ।
भ्रमेणाऽहं विमुक्तोऽस्मि संसारेणाऽलिलोचने ! ॥ ४४ ॥
न तुष्टोऽस्मि न खिन्नोऽस्मि नाऽयमस्मि न चेतरत् ।
न स्थूलोऽस्मि न सूक्ष्मोऽस्मि सत्यमस्मि च सुन्दरि! ॥४५॥
तेजोबिम्बात् प्रयातेन भित्तावपतितेन च ।
क्षयातिशयमुक्तेन प्रकाशेनाऽस्मि वै समः ॥ ४६ ॥
शान्तोऽस्मि साम्यनेताऽस्मि स्वस्थोऽस्मि विगताशयः ।
परिनिर्वाण एवाऽस्मि सदृशोऽस्मि पतिव्रते ॥ ४७ ॥
यत्तदस्मि तदेवाऽस्मि वक्तुं शक्नोमि नेतरत् ।
तरङ्गतरलापाङ्गे गुरुस्त्वं मे नमोऽस्तु ते ॥ ४८ ॥
प्रसादेन विशालाक्ष्यास्तीर्णोऽस्मि भवसागरात् ।
पुनर्मलं न गृह्णामि शतध्मातसुवर्णवत् ॥ ४९ ॥

चूडाला ने कहा—हे कान्त ! हे विभो ! अब आप इस जगत्-रूपी जाल के एकदम किनारेपर आकर विश्रान्त हो गये हैं। आज अपना वह पयोव्रत, उपवास आदि पहले का तुच्छ मोह क्या आप देख रहे हैं ? ॥ ३७ ॥

यह करूँ, यह न करूँ, यह प्राप्त करूँ—इस तरह बुद्धि की अपक्वदशाजनित कोमलतारूप स्थिति के प्रति क्या आप अपने मन में अब हँसते हैं कि नहीं ॥ ३८ ॥

हे देव ! जैसे आकाश में पर्वत नहीं दिखाई देते, वैसे अब आप में वे पहले की तुच्छ तृष्णाओं के संग्रह और तुच्छ संकल्परूपी कल्पनाएँ नहीं दिखाई देतीं ॥ ३९ ॥

हे प्रिय ! आज आप किसके स्वरूप बन गये हैं, किस वस्तु में आपकी निष्ठा है, आप क्या चाहते हैं। हे विभो ! आप पहले की शारीरिक चेष्टाओं को सत्य देखते हैं या असत्य अर्थात् तुच्छ देखते हैं ॥ ४० ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा— फूलों से पूर्ण नीलकमल माला का अनुसरण करने वाले नेत्रों से सुशोभित हे चूडाले ! मेरे आत्मस्वरूपभूत तुम जिसके अन्दर अर्थात् मोह, विवेक, तत्त्वज्ञान आदि के अन्दर प्रकाशरूप से विद्यमान हो; उसके अन्दर मैं भी प्रकाशरूप से विद्यमान हूँ इसलिए अब तुम जिस तरह देखती हो, वैसे ही मैं भी देखता हूँ, अपने अनुभव से ही तुम्हें मेरी निष्ठा जान लेनी चाहिए ॥ ४१ ॥

मुझे किसी विषय की इच्छा नहीं है, मेरा कोई अंश नहीं है, मैं आकाश के सदृश अत्यन्त निर्मल हूँ, शान्त हूँ, परमार्थ सत्स्वरूप हूँ, देह आदि में अहंभाव का भ्रम छोड़कर, बहुत काल बीत जाने के बाद वास्तव में, मैं जिस रूप का था, उस रूप का ही बनकर अवस्थित हूँ ॥४२॥

आत्मा में निरन्तर आसक्त चित्तपर ही मैं अवलम्बित रहता हूँ, इसलिए मैंने वह अलौकिक आनन्द की अवस्था प्राप्त कर ली है, जिससे कि हजारों प्रयत्नों से हरि, हर आदि महामहिमशाली देवता भी मुझे अलग नहीं कर सकते हैं ॥ ४३ ॥

हे भ्रमरलोचने ! समस्त परिच्छेदों से निर्मुक्त परिपूर्ण विशुद्ध चिन्मात्र आत्मा में मैं स्थित हो गया हूँ, मैं अब अपने वास्तवरूप में स्थित हो बैठा हूँ और संसाररूपी भ्रम से एकदम अलग हो गया हूँ ॥ ४४ ॥

हे सुन्दरि ! न तो मैं तुष्ट हूँ, न खिन्न हूँ, न कार्य हूँ, न कारण हूँ, न स्थूल हूँ और न सूक्ष्म हूँ, किन्तु मैं केवल जिसका किसी काल में बाध नहीं होता है वही वस्तु ही हूँ ॥ ४५ ॥

हे चूडाले ! सूर्यबिम्ब से निकले हुए तथा भीतपर न गिरे हुए केवल आकाश में फैले हुए, क्षय और अतिशय से रहित विशुद्ध प्रकाश के समान अब मैं बन गया हूँ ॥४६॥

हे पतिव्रते ! मैं शान्त हूँ, जगत् का वैषम्य निकाल कर साम्य प्राप्त किये हूँ, स्वरूपनिष्ठ हूँ, बिना मन का हूँ, व्यापक मोक्ष भी मैं हूँ और सम हूँ ॥ ४७ ॥

तरङ्ग के समान चञ्चल कटाक्षवाली हे प्रिये ! जो 'तत्' वस्तु है, वही मैं हूँ, अब दूसरा कुछ नहीं कह सकता हूँ, तुम मेरी गुरु हो, तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४८ ॥

विशाल नेत्रवाली तुम्हारे प्रसाद से ही मैं भवसागर

शान्तः स्वस्थो मृदुर्यत्तो वीतरागो निरंशधीः ।
सर्वातीतः सर्वगश्च खमिवाऽयमहं स्थितः ॥ ५० ॥

चूडालोवाच

एवं स्थिते महासत्त्व ! प्राणेश ! हृदयप्रिय ! ।
किमिदानीं प्रभो ! ब्रूहि रोचते ते महामते ! ॥ ५१ ॥

शिखिध्वज उवाच

प्रतिषेधं न जानामि न जानाम्यभिवाञ्छितम् ।
यदाचरसि तन्वि ! त्वं कदाचिद्वेद्मि तद्यथा ॥ ५२ ॥
यद्यन्मतं ते सकलं तथाऽस्त्वविकलं प्रिये ! ।
न किञ्चिदनुसन्धातुं जानाम्यम्बरसुन्दरः ॥ ५३ ॥
यदेव किञ्चिज्जानासि तदेव कुरु सुन्दरि ! ।
तदेव धारयिष्यामि प्रतिबिम्बं यथा मणिः ॥ ५४ ॥
चेतसा गलितेष्टेन यथाप्राप्तमनिन्दितम् ।
न स्तौमि न च निन्दामि यदिच्छसि तदाचर ॥ ५५ ॥

चूडालोवाच

यद्येवं तन्महाबाहो ! समाकर्णय मन्मतम् ।
आकर्ण्य जीवन्मुक्तात्मंस्तदेवाहर्तुमर्हसि ॥ ५६ ॥
सर्वत्रैक्यावबोधेन मौर्ख्यक्षयभुवान्विताः ।
निरिच्छास्तावदाकाशविशदाः संस्थिता वयम् ॥ ५७ ॥
यादृगेषणमस्माकं तादृशं तदनेषणम् ।
यत्प्राणानेषणे कोऽत्र चिन्मात्रोऽभ्यसते हि कः ॥ ५८ ॥
तस्मादाद्यन्तमध्येषु ये वयं पुरुषोत्तम ! ।
शेषमेकं परित्यज्य त एवेमे स्थिता वयम् ॥ ५९ ॥
राज्येन साम्प्रतेनेमं कालं नीत्वा क्रमेण वै ।
विदेहतां प्रयास्यामः प्रभो ! कालेन केनचित् ॥ ६० ॥

से पार उतर गया। अब मैं, अग्नि में सौ बार शुद्ध किये सोने के समान फिर मल ग्रहण नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥

शान्त, स्वस्थ, कोमल, स्वरूपस्थिति में अत्यन्त उद्योगी, वीतराग, वासनाशून्य अन्तःकरण से युक्त, सबसे परे और सर्वव्यापक होकर, आकाश की तरह यह मैं तुम्हारे समाने अवस्थित हूँ ॥ ५० ॥

चूडाला ने कहा—हे महासत्त्व ! हे प्राणेश ! हे हृदयेश ! हे प्रभो ! हे महामते ! जब कि आप उस प्रकार की स्थिति में स्थित हैं, तब अब आपको क्या रुचता है, कहिए ॥ ५१ ॥

शिखिध्वज ने कहा—हे तन्वि ! यह अच्छा नहीं लगता, इस प्रकार जिस वस्तु का निरादर किया जाता है, उस वस्तु को मैं नहीं जानता और यह अभीष्ट है, इस प्रकार जिस वस्तु की इच्छा की जाती है उसे भी मैं नहीं जानता। तुम जिस तरह से आचरण करती हो, व्युत्थानकाल में उसे मैं उसी तरह का जानता हूँ ॥ ५२ ॥

हे प्रिये ! जो वस्तु जिस तरह से तुम्हें अभिमत है, वह सब उसी तरह की अविकलरूप से रहे। मैं तो आकाश के सदृश निर्लेप, औदासीन्य और पूर्णतारूप सौन्दर्य से युक्त हो गया हूँ, इसलिए किसी भी वस्तु का अनुसन्धान करना नहीं जानता ॥ ५३ ॥

हे सुन्दरि ! जो कुछ तुम कर्तव्यरूप से जानती हो, उसी को तुम करो। मैं भी जिस तरह मणि अपने भीतर प्रतिबिम्ब धारण करता है उसी तरह उसे अपने हृदय में धारण करूँगा ॥ ५४ ॥

इच्छा, अनिच्छा और उनके विषयों से निर्मुक्त चित्त के कारण मैं प्रारब्धप्राप्त अनिन्दित या निन्दित वस्तु की न स्तुति करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ इसलिए तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥ ५५ ॥

चूडाला ने कहा—हे महाबाहो ! यदि ऐसी बात है, तो पहले आप मेरा मत सुनिये और हे जीवन्मुक्त स्वरूप ! सुनने के अनन्तर उसी का आप आचरण कीजिये ॥५६॥

महाराज, अज्ञान का विनाश करनेवाले सर्वत्र अद्वैत-बोध से सम्पन्न हम लोग सभी तरह की इच्छाओं से निर्मुक्त और आकाश के सदृश विशद होकर अवस्थित हो गये हैं ॥ ५७ ॥

हम लोगों के लिए जैसी अनुपकारक राज्यभोगादि की अपेक्षा है वैसा ही अनुपकारक उनकी उपेक्षा भी है, क्योंकि चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय और मुख्य प्राण अपने-अपने उचित विषयों की यदि अनिच्छा करें, तो उससे आत्मा में कौन-सा उपकार होगा ? अज्ञानियों की तरह देहादि-अध्यास तो है नहीं, जिससे कि विषयों में भोग से देहादि के मलिन हो जाने पर आत्मा भी मलिन हो जायेगा जो तत्त्ववित् है वह तो निष्क्रिय असङ्ग चिन्मात्र स्वरूप ही है, इसलिए ऐसा कौन तत्त्वज्ञानी होगा, जो विषयोपभोगों का अभ्यास करेगा ॥ ५८ ॥

हे पुरुषोत्तम ! प्रारब्ध के केवल उपभोग से आत्मा में मलिनता की प्राप्ति न होने के कारण प्रारब्ध भोग के आरम्भ में, अन्त में और मध्य में हम लोग जिस स्वभाव के हैं, उसी स्वभाव के होकर केवल अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग से विनाशकर स्थित रहें, इससे न तो हम विपरीत हो जायँगे और न दूसरे ही बन जायँगे ॥ ५९ ॥

हे प्रभो ! वर्तमान समय में यह जो अपना अवशिष्ट

शिखिध्वज उवाच

वयमाद्यन्तमध्येषु कीदृशास्तरले वद ।
शेषमेकं परित्यज्य तिष्ठामः कथमेव वा ॥ ६१ ॥

चूडालोवाच

वयमाद्यन्तमध्येषु राजानो राजसत्तम ! ।
मोहमेकं परित्यज्य भवामः पुनरेव ते ॥ ६२ ॥
स्व एव नगरे राजा भव त्वं स्वासने स्थितः ।
ललामो ननु कान्तानां महिषी ते भवाम्यहम् ॥ ६३ ॥
सनृपा मत्तवास्तव्या नृत्यन्नवनवाङ्गना ।
सपताकाध्वनत्तूर्या पुष्पप्रकरिणी पुरी ॥ ६४ ॥
लसद्वल्लया समञ्जर्या रणत्पुष्पालिमालया ।
मधुमासलतालक्ष्म्या चिराद्भवतु सा समा ॥ ६५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति चूडालया प्रोक्तो विहस्य स शिखिध्वजः ।
प्रोवाच मधुरं वाक्यमक्षुब्धं विगतज्वरः ॥ ६६ ॥
एवं चेत्तद्विशालाक्षि ! स्वायत्ता नस्त्रिविष्टपे ।
सिद्धभोगश्रियस्तासु निवसामि न किं प्रिये ! ॥ ६७ ॥

चूडालोवाच

न राजन्! मम भोगेषु वाञ्छा नाऽपि विभूतिषु ।
स्वभावस्य वशादेव यथाप्राप्तेन मे स्थितिः ॥ ६८ ॥
न सुखाय मम स्वर्गो न राज्यं नाऽपि च क्रिया ।
यथास्थितमविक्षुब्धं तिष्ठामि स्वस्थचेष्टिता ॥ ६९ ॥
इदं सुखमिदं नेति मिथुने क्षयमागते ।
सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथासुखम् ॥ ७० ॥

शिखिध्वज उवाच

युक्तमुक्तं विशालाक्षि ! त्वयैतत्समया धिया ।
को वार्थः किल राज्यस्य ग्रहे त्यागेऽपि वा भवेत् ॥७१॥
सुखदुःखदशाचिन्तां त्यक्त्वा विगतमत्सरम् ।
यथासंस्थानमेवेमौ तिष्ठावः स्वस्थतां गतौ ॥ ७२ ॥
इति तत्र कथालापकथनेन तयोर्द्वयोः ।
कान्तयोश्चिरदम्पत्योर्वासरस्तनुतां ययौ ॥ ७३ ॥

आयुकाल है, उसको राज्यभोग से बिताकर क्रमशः कुछ समय के बाद हम लोग विदेह मुक्त हो जायँगे ।। ६० ।।

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे चञ्चले ! प्रारब्धभोग के आदि, मध्य और अन्त में हम लोग किस तरह के हैं और अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग द्वारा विनाश कर किस तरह से स्थित रहेंगे, यह कहो ।। ६१ ।।

चूडाला ने कहा—हे राजश्रेष्ठ ! हम लोग आदि, अन्त और मध्य में राजा ही हैं, इसलिए केवल मोह छोड़कर फिर उस राजा के रूप में ही हो जायँ ॥ ६२ ॥

अपने ही नगर में सिंहासन पर आरूढ़ आप राजा बन जायें और अन्तःपुर की सब स्त्रियों की भूषणरूप मैं आपकी पटरानी बन जाऊँ ।। ६३ ।।

दीर्घकाल के बाद अनेक राजाओं से युक्त, प्रसन्न प्रजा वर्ग से पूर्ण, नाच रही नई-नई अङ्गनाओं से शोभित, ध्वजाओं एवं बज रहे नगाड़ों से व्याप्त और विविध फुलवाड़ियों से सुशोभित कर अब फिर लहलहा रही लता, मञ्जरी एवं गुंजार कर रही मकरन्दासक्त भ्रमर-पंक्तियों से युक्त वसन्त की लता लक्ष्मी के समान अपनी नगरी हो जाय ॥ ६४, ६५ ।।

श्रीवासिष्ठजी ने कहा—चूडाला के इस प्रकार शिखिध्वज से कहने पर वे हँसकर निःशङ्क हो चूडाला से क्षोभ रहित और मधुर वाक्य कहने लगे ।। ६६ ॥

हे विशालाक्षि ! हे प्रिय ! यदि ऐसी ही बात है तो स्वर्ग में हम लोगों को स्वाधीन सिद्ध भोगलक्ष्मियाँ हम लोगों को स्वाधीन मिल रही हैं, उन्हीं में निवास क्यों न करें ।। ६७ ॥

चूडाला ने कहा—हे राजन् ! हमको न भोगों की इच्छा है और न विभूतियों की ही इच्छा है । मेरी स्थिति तो स्वभाव के वश से जो भी कुछ प्राप्त हो उसी के अनुसार रहती है ।। ६८ ॥

मेरे सुख के लिए न तो स्वर्ग है, न राज्य है और न क्रियाकलाप ही है । केवल अपने स्वरूप में स्थिति के अनुकूल व्यापारों से युक्त हो मैं स्थिति के अनुसार किसी तरह के क्षोभ के बिना स्थित रहती हूँ ।। ६९ ॥

यह सुख है और यह दुःख है, इस तरह के द्वन्द्वों का विनाश हो जानेपर उसी के साथ-साथ इस शान्त पद में सुखपूर्वक स्थित हूँ ॥ ७० ॥

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे विशालाक्षि ! निर्विकार बुद्धि से तुमने जो कहा है वह ठीक ही है, क्योंकि राज्य का ग्रहण करें या त्याग करें आत्मा का कौन-सा उपकार होगा ।। ७१ ।।

सुख-दुःख की अवस्थाओं के विषय में चिन्ता का परित्याग कर मात्सर्य से रहित हो हम लोग जिस तरह स्थित हैं उसी तरह अपने स्वरूप में निष्ठ होकर स्थित रहें ॥ ७२ ॥

इस प्रकार वहाँ पर परस्पर वर्तालाप के कारण रमणीय उन दोनों पति-पत्नी का दिन समाप्तप्राय हो गया ।। ७३ ।।

अथोत्थाय दिनाचारं यथाप्राप्तमनिन्दितौ ।
सोत्कण्ठावप्यनुत्कण्ठौ चक्रतुः कार्यकोविदौ ॥ ७४ ॥
स्वर्गसिद्धिमनादृत्य तस्थतुः पूर्णचेतसौ ।
एकस्मिन्नेव शयने तैस्तैः प्रणयचेष्टितैः ।
सा व्यतीयाय रजनी तयोर्जीवद्विमुक्तयोः ॥ ७५ ॥
तद्भोगमोक्षसुखमुत्तमयोः स्वयं स-
माशंसतोः प्रणयवाक्यविलासगर्भम् ।
उत्कण्ठतां प्रणयिनोर्धियमानयन्ती
दीर्घा मुहूर्तवदसौ रजनी जगाम ॥ ७६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालाप्रकटीकरणं नाम नवाऽधिकशत तमः सर्गः ॥ १०९ ॥

अनन्तर उठकर दोषनिर्मुक्त उन दीनों ने शास्त्रविहित सायंसन्ध्या की । परस्पर अभीष्ट भोग के लिए उत्कण्ठित होते हुए भी वासना रहने के कारण उत्कण्ठा से रहित वे तत्-तत् समय में प्राप्त कार्य के ज्ञाता थे ॥ ७४ ॥

स्वर्ग की सिद्धि का अनादर कर पूर्ण चित्त होकर वे दोनों एक ही शय्या पर सो गये और उन प्रणय चेष्टाओं से जीवन्मुक्त दोनों की वह रात्रि व्यतीत हो गई ॥७५॥

परस्पर अनुभव से सिद्ध भोग और भोक्ष रूप सुख वचनों के विलासों के संमिश्रण से प्रशंसा कर रहे उत्तम प्रेमी उस दम्पती की बुद्धि में उत्कण्ठा पैदा करनेवाली वह लम्बी रात भी मुहूर्त की तरह व्यतीत हो गई ॥ ७६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में चूडालाप्रकटीकरण नामक कुसुमलता का एक सौ नववाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०९ ॥

११०

वसिष्ठ उवाच

ततः समुदिते सूर्ये वितमस्यम्बरे स्थिते ।
समुद्गकादिव जगन्मणौ तस्मिन् विनिर्गते ॥ १ ॥
विकसत्यरुणोपान्ते चक्षुषीवाऽम्बुजाकरे ।
आचारेष्विव लोकेषु प्रसृतेष्वर्करश्मिषु ॥ २ ॥
दम्पती तौ समुत्थाय कृतसन्ध्याक्रमौ स्थितौ ।
पत्रासने मृदुस्निग्धे कान्तौ काञ्चनकन्दरे ॥ ३ ॥
अथोत्थायाऽत्र चूडाला रत्नकुम्भं पुरःस्थितम् ।
कान्ता सङ्कल्पयामास पूर्णं सप्ताब्धिवारिभिः ॥ ४ ॥
तेन मङ्गलकुम्भेन तं पूर्वाभिमुखं स्थितम् ।
भार्या भर्तारमेकान्ते स्वराज्येऽभिषिषेच सा ॥ ५ ॥
सङ्कल्पोपगते हैमे स्वभिषिक्तं स्वविष्टरे ।
स्थितं प्रोवाच तन्वी सा चूडाला देवरूपिणी ॥ ६ ॥

११०

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—रात बीत जाने पर पिटारी से निकले हुए जगत् के प्रकाशक मणि के समान प्रसिद्ध सूर्य भगवान् का उदय हुआ ॥ १ ॥

उदय हो जानेपर आकाश बिलकुल अन्धकार से शून्य हो गया—मनुष्यों के लाल-लाल नेत्रों के सदृश कमलों का वन खिलने लगा और सम्पूर्ण लोकों में फैले हुए आचारों की तरह जब सूर्य की किरणें चारों ओर दूर तक फैल गई ॥ २ ॥

वे दोनों स्त्री-पुरुष उठ गये । उठकर सन्ध्याक्रम का सम्पादन करके वे दोनों कञ्चन की गुफा में जाकर कोमल, चिकने तथा मनोहर पत्तों के बनाये गये आसन पर बैठ गये ॥ ३ ॥

अनन्तर उठकर राजा शिखिध्वज की कान्ता चूडाला ने अपने सामने स्थित सात समुद्रों के जल से पूर्ण रत्न-कुम्भ को राज्याभिषेक के लिए संकल्पित किया ॥ ४ ॥

पूर्व की ओर मुँह करके बैठे हुए अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को जल से भरे उस मङ्गल घड़े से राजपत्नी चूडाला ने अपने निष्कण्टक स्वराज्य में अभिषिक्त किया ॥ ५ ॥

सङ्कल्प मात्र से उपस्थित अपने सुवर्ण के सिंहासन पर अभिषिक्त हो बैठे हुए राजा से देवरूपिणी पतले सुन्दर अङ्गोंवाली उस चूडाला ने कहा ॥ ६ ॥

केवलं मौनमुत्सृज्य तेजः शान्तमिदं प्रभो ! ।
अष्टानां लोकपालानां तेजस्त्वं भर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥
चूडालयेति सम्प्रोक्तो वने राजा शिखिध्वजः ।
वदन्नेवं करोमीति महाराजत्वमाययौ ॥ ८ ॥
अथ प्रतीहारपदे तिष्ठन्तीमाह मानिनीम् ।
अद्य देवीपदे राज्ञीं त्वां करोम्यभिषेकिनीम् ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा सरसि स्नाप्य महादेवीपदे तथा ।
अभिषिक्तां नृपः कृत्वा स तामाह निजां प्रियाम् ॥१०॥
प्रिये कमलपत्राक्षि ! क्षणात्सङ्कल्पसम्भवम् ।
महाविभवमुद्दामसैन्यमाहर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥
इति कान्तवचः श्रुत्वा चूडाला वरवर्णिनी ।
सैन्यं सङ्कल्पयामास प्रावृड्घनमिवोद्भटम् ॥ १२ ॥
सैन्यं ददृशतुस्तत्तौ वाजिवारणसङ्कुलम् ।
पताकापूरिताकाशं नीरन्ध्रीकृतकाननम् ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! केवल मुनियों के योग्य इस शान्त तेज को छोड़कर अब आपको शासन करने के योग्य इन्द्रादि अष्टपालों का तेज धारण करना चाहिए ॥ ७ ॥

चूडाला द्वारा वन में यह कहने पर ठीक है, ऐसा ही करता हूँ यह कहकर राजा शिखिध्वज ने महाराज के स्वरूप को धारण कर लिया ॥ ८ ॥

अनन्तर पट्टाभिषेक न होने के कारण द्वारपाल के स्थान पर बड़े विनय के साथ स्थित उस मानिनी चूडाला से राजा ने कहा--हे मनोरमे ! अब तुम्हें महारानी के पद पर अभिषिक्त कर पटरानी बनाता हूँ ॥ ९ ॥

इस तरह कहकर तालाब में स्नान कराकर तथा महारानी के पद पर अभिषिक्त करके राजा ने अपनी उस प्रिया से कहा— ॥ १० ॥

हे कमलपत्र-सी आँखोंवाली प्रिये ! तुम योगसिद्धि के द्वारा अपने सत्यसंकल्प से उत्पन्न, विविध अलङ्कार, शस्त्रास्त्र आदि महाविभव से युक्त बड़ी भारी सेना क्षण-भर में एकत्र कर सकती हो ॥ ११ ॥

अपने स्वामी का यह वचन सुनकर सुन्दर रंगवाली उस चूडाला ने, वर्षाकाल के मेघ के समान, रणोद्भट सैन्य का सङ्कल्प किया ॥ १२ ॥

अनन्तर उन दोनों ने वह सेना देखी, वह हाथी-घोड़ों से व्याप्त थी, पताकाओं से आकाश को भर दिया था और सारे जंगल को अवकाश से शून्य बना दिया था ॥ १३ ॥

तुरही आदि के शब्दों से पर्वत की गुफाएँ तथा गहन-

तूर्यारवध्वनच्छैलगुहागहनकोटरम् ।
मौलिरत्नमहोद्योतविचूर्णिततमःपटम् ॥ १४ ॥
तत्र गन्धद्विपवरे कृतपार्थिवमण्डले ।
रक्षिते हृष्टसामन्तैरारूढो नृपदम्पती ॥ १५ ॥
ततः शिखिध्वजो राजा महिष्या सममिष्टया ।
पदातिरथसम्बाधं कर्षन्नतिबलो बलम् ॥ १६ ॥
चचालाऽचलचालिन्या सेनया स ततो वनात् ।
भिन्दन्निव रसाशैलं वात्ययेवाऽऽशु भौमया ॥ १७ ॥
तस्मान्महेन्द्रशैलेन्द्राच्चलितः स महीपतिः ।
पथि पश्यन्गिरीन्देशान्नदीग्रामान्सजङ्गलान् ॥ १८ ॥
दर्शयन् ! स्वप्रियायास्तमात्मवृत्तान्तसञ्चयम् ।
प्रागल्पेनैव कालेन स्वां पुरीं स्वर्गशोभनाम् ॥ १९ ॥
तत्र ते तस्य सामन्तास्तदागमनमादृताः ।
विविदुर्जयशब्देन निर्जग्मुश्चोदिताशयाः ॥ २० ॥

कोटर प्रतिध्वनित हो रहे थे और मस्तक के रत्नों के महाप्रकाश से अन्धकार के समूह को चूर्ण-चूर्ण बना दिया था ॥ १४ ॥

राजाओं के बनाये गये अनेक समूहों से युक्त उस सेना में, मदगन्ध को दूसरे हाथी नहीं सह सकते, ऐसे एक सुन्दर मदगन्ध वाले हाथी के ऊपर वे राजदम्पती (वे राजा और रानी) सवार हुए ॥ १५ ॥

अनन्तर अपनी प्रियतमा महारानी के साथ महा-बलवान् वह राजा शिखिध्वज पैदल और रथ से व्याप्त उस बड़ी भारी सेना को खींचता हुआ तथा पर्वतों को हिला देनेवाली उस सेना से, भूमि से उठी हुई महावायु जैसी पृथ्वीरूप पहाड़ को भेदन करता हुआ उस वन से शीघ्र चल दिया ॥ १६-१७ ॥

उस महेन्द्र पर्वत से राजा शिखिध्वज ने प्रस्थान किया। रास्ते में पर्वतों, अनेक देशों, नदियों और जङ्गलों के साथ-साथ अनेक गांवों को देख रहे तथा राज्य-परित्याग कर अपने नगर से बाहर निकलने पर देश-वासियों के साथ जो घटनाएँ जहाँ पर अपने ऊपर घटी थीं उन्हें अपनी प्रिया को दिखा रहे राजा शिखिध्वज ने थोड़े ही समय में स्वर्ग के समान सुन्दरी अपनी नगरी में प्रवेश किया ॥ १८, १९ ॥

वहाँ संमानित उन सामन्तों ने जय शब्द से उसके आगमन को जानकर वे उत्कण्ठित चित्त होकर उसकी आगवानी के लिए नगर से शीघ्र बाहर निकल आये ॥ २० ॥

एकतां सम्प्रयातेन तारतूर्यनिनादिना ।
बलद्वयेन तेनाऽसौ विवेश नगरं नृपः ॥ २१ ॥
लाजपुष्पाञ्जलिव्रातैरावृष्टः पौरयोषिताम् ।
वणिङ्मार्गमसौ पश्यन्परम्परमनुत्तमम् ॥ २२ ॥
पताकाध्वजसम्बाधं मुक्ताजालमनोरमम् ।
नृत्यगेयपरस्त्रीकं स्वभूमावचलस्थितम् ॥ २३ ॥
प्रविश्याऽथ गृहं तैस्तैः संयुतं नृपमङ्गलैः ।
सम्यक्सम्मानयामास प्रणतं प्रकृतिव्रजम् ॥ २४ ॥
पुरोत्सवं भृशं कृत्वा दिनसप्तकमुत्तमम् ।
अकरोद्राजकार्याणि स्वानि स्वान्तःपुरे नृपः ॥ २५ ॥
दशवर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा महीतले ।
सह चूडालया राम ! विरतो देहधारणात् ॥ २६ ॥
देहमुत्सृज्य निर्वाणमस्नेह इव दीपकः ।
अपुनर्जन्मने राम ! जगामेति महामतिः ॥ २७ ॥
दशवर्षसहस्राणि समदृष्टितया तया ।
राज्यं तया रमय्यापि निर्वाणं पदमाप्तवान् ॥ २८ ॥
विगतभयविषादो मानसात्सर्यमुक्तः
प्रकृतसहजकर्मा भुक्तनीरागबुद्धिः ।
इति समसमदृष्टिर्मृत्युमार्योऽथ जित्वा
दशशिशिरसहस्राण्येकराज्यं चकार ॥ २९ ॥
भुक्त्वा भोगाननेकान् भुवि
सकलामहीपालचूडामणित्वे
स्थित्वा वै दीर्घकालं
परममृतपदं प्राप्तवान् सत्त्वशेषः ।
एवं रामाऽऽगतं त्वं
प्रकृतमनुसरन् कार्यजातं विशोक-
स्तिष्ठोत्तिष्ठ स्वयं वा
प्रसभमनुभवन् भोगमोक्षादिलक्ष्मीः ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजनिर्वाणं नाम दशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

नगाड़े आदि की उन्नत ध्वनि के साथ तथा एक दूसरे में मिली उन दोनों सेनाओं के साथ वह राजा शिखिध्वज अपने नगर में प्रवेश किया ॥ २१ ॥

नगर की स्त्रियों के द्वारा लाजाञ्जलियों और पुष्पाञ्जलियों के वृष्टि से समन्वित उस राजा ने उत्तरोत्तर अत्यन्त रमणीय व्यापारियों के मार्ग को, देखते हुए छोटी-छोटी पताकाओं तथा ध्वजाओं से खूब सजाये गये अपने राजमहल में जो मोतियों के तोरणों से मनोहर था, जहाँ पर स्त्रियाँ नृत्य और गान कर रही थीं, जो अपने स्थान पर कैलास पर्वत की तरह उन्नत था प्रवेश कर उसने लोक-शास्त्र प्रसिद्ध दही, दूर्वा, अक्षत, शंख, वीणा, छत्र, चँवर आदि राजा के योग्य माङ्गलिक वस्तुओं से युक्त विनीत अपने अमात्य आदि प्रकृति समूह का भली-भाँति सम्मान किया ॥ २२-२४ ॥

सात दिन तक नगर में खूब उत्तम उत्सव कर अपने अन्तःपुर में राजा ने अपने राजकार्यों का सम्पादन किया ॥ २५ ॥

हे श्रीरामजी ! इस पृथिवीतल के ऊपर दश हजार वर्षों तक चूडाला के साथ राज्य कर वह राजा शिखिध्वज इस देह-धारण से विरत हो गया ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! इस शरीर का परित्याग कर पुनः जन्म न लेने के लिए, तेल रहित दीपक की तरह वह महामति राजा शिखिध्वज ने निर्वाण को प्राप्त किया ॥२७॥

उस तरह की समदृष्टि से दश हजार वर्षों तक राज्य कर तथा अपनी प्रिया चूडाला के साथ खूब रमण कर उस राजा ने निर्वाण को प्राप्त किया ॥ २८ ॥

भय और विषाद से रहित मान और मात्सर्य से मुक्त तथा उपस्थित सहज कर्मों का सम्पादन कर भोगों में वैराग्य बुद्धि रखकर सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टि से युक्त उस आर्य शिखिध्वज ने बोध के द्वारा कामस्वरूप मृत्यु को जीतकर दश हजार वर्षों तक जम्बूद्वीप में एकच्छत्र राज्य किया ॥ २९ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! इस तरह सम्पूर्ण राजाओं के मस्तक के चूडामणि दीर्घकाल तक इस भूतल पर नानाविध अनेक भोगों का उपभोग कर सन्मात्ररूप अवशिष्ट वह राजा शिखिध्वज अजर परमपद में अवस्थित था। इसी तरह आप भी प्रारब्ध-प्राप्त प्रकृत कार्यों का अनुसरण कर शोक-शून्य समाधि में स्थित रहें अथवा स्वयं खूब भोग-मोक्ष लक्ष्मी का अनुसरण कर आप सभी व्यवहारों में स्थित रहें। अर्थात् आपकी समाधि और व्युत्थान के फल में कोई भेद नहीं है ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में शिखिध्वजनिर्वाण नामक कुसुमलता का एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११० ॥

१११

वसिष्ठ उवाच

एतत्ते सर्वमाख्यातं शिखिध्वजकथानकम् ।
अनेन गच्छन् मार्गेण न कदाचन खिद्यसे ॥ १ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य रागद्वेषविनाशिनीम् ।
नित्यं नीरागया बुद्धया तिष्ठाऽवष्टब्धतत्पदः ॥ २ ॥
यथा शिखिध्वजो राज्यं कृतवानेवमीदृशम् ।
राम ! व्यवहरन् राज्ये भोगमोक्षमयो भव ॥ ३ ॥
शिखिध्वजक्रमेणैव यथा बोधमवाप्तवान् ।
कचो बृहस्पतेः पुत्रस्तथा बुध्यस्व राघव ! ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

बृहस्पतेर्भगवतः पुत्रोऽसौ भगवान् कचः ।
यथा प्रबुद्धो भगवन् ! समासेन तथा वद ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राजन् ! कथां श्रीमाञ्छिखिध्वजवदेव सः ।
प्रबोधं परमं यातो देवदेशिकजः कचः ॥ ६ ॥
बालभावात् समुत्तीर्णः संसारोत्तरणोन्मुखः ।
कचः पदपदार्थज्ञो बृहस्पतिमभाषत ॥ ७ ॥

कच उवाच

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! कथं संसृतिपञ्जरात् ।
अस्मान्निर्गम्यते ब्रूहि जन्तुना जीवतन्तुना ॥ ८ ॥

बृहस्पतिरुवाच

अनर्थमकरागारादस्मात् संसारसागरात् ।
उड्डीयते निरुद्वेगं सर्वत्यागेन पुत्रक ! ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य कचो वाक्यं पितुः परमपावनम् ।
सर्वमेव परित्यज्य जगामैकान्तकाननम् ॥ १० ॥
बृहस्पतेस्तद्गमनं नोद्वेगाय बभूव ह ।
संयोगे च वियोगे च महान्तो हि महाशयाः ॥ ११ ॥
अथ वर्षेषु जातेषु त्रिषु पञ्चसु सोऽनघ ! ।
पुनः प्राप महारण्ये कस्मिंश्चित् पितरं कचः ॥ १२ ॥

१११

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—यह शिखिध्वज की छोटी-सी कहानी मैंने आपसे आद्योपान्त कही । इस मार्ग का अनुसरण कर आप कभी-भी खिन्न नहीं होंगे ॥ १ ॥

राग और द्वेष को मिटा देनेवाली, शिखिध्वज की वृत्ति का अवलम्बन कर राग-द्वेष से निर्मुक्त बुद्धि से प्रत्यक्ष प्राप्त पारमार्थिक पूर्णानन्द पद से सुशोभित हो निरन्तर स्थित रहें ॥ २ ॥

हे राम ! राजा शिखिध्वज ने जैसे पूर्वोक्त व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकार से आप भी राज्य में व्यवहार करते हुए भोग और मोक्ष से परिपूर्ण रहें ॥ ३ ॥

हे राघव ! शिखिध्वज के सर्वत्यागरूप उपाय से ही जैसे बृहस्पति के पुत्र कच ने ज्ञान प्राप्त किया, वैसे ही आप भी ज्ञान प्राप्त करें ॥ ४ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे भगवन् ! समस्त वैभवों से परिपूर्ण बृहस्पति के पुत्र कच ने जिस क्रम से ज्ञान प्राप्त किया उस क्रम को संक्षेप में मुझसे कहें ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे राजन् ! देवताओं के आचार्य बृहस्पति के पुत्र भगवान् कच ने राजा शिखिध्वज के समान ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया, इसकी कथा आप सुनें ॥ ६ ॥

अभी बाल्यकाल समाप्त कर कच ज्यों ही यौवन काल में आया वैसे ही वह संसार-सागर से पार पाने के लिए कटिबद्ध हो गया । वह पद और पदार्थ का उत्तम ज्ञाता था । उसने अपने पिता बृहस्पति से कहा ॥ ७ ॥

कच ने कहा—हे भगवन् ! हे सब धर्मों का ज्ञान रखने वाले तात ! तन्तु के सदृश हजारों बन्धनों को देनेवाले जीव से युक्त मेरे जैसा जन्तु इस संसाररूपी पिंजड़े से कैसे बाहर निकल सकता है, यह आप कहें ॥८॥

बृहस्पति ने कहा—हे पुत्र ! अनर्थरूप हजारों मगरो के निवासस्थानभूत इस संसाररूपी सागर से किसी तरह के उद्वेग के बिना किये गये सर्वत्याग से तत्काल ही जन्तु निकल जा सकता है ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अपने पिता का परम पवित्र इस वचन को सुनकर कच सभी का परित्याग कर एकान्त बन में चला गया ॥ १० ॥

पुत्र के चले जाने से बृहस्पति के चित्त में उद्वेग नहीं हुआ, क्योंकि महान् व्यक्ति संयोग और वियोग दोनों में सुमेरु पर्वत के सदृश निश्चल मन वाले होते हैं, दोनों दशाओं में महात्माओं के मन में उद्वेग आदि विकार नहीं होते हैं ॥ ११ ॥

हे पापशून्य ! वन में जाने के बाद जब कच के आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महारण्य में उसके चित्त का परिपाकतारतम्य जानकर बचे हुए का त्याग

परिपूज्याऽभिवाद्यैनं समालिङ्गितपुत्रकम् ।
अपृच्छद्वाक्पतिं भूयः स कचः कान्तया गिरा ॥ १३ ॥

कच उवाच

अद्येदमष्टमं वर्षं सर्वत्यागः कृतो मया ।
तथापि तात! विश्रान्तिं नाऽधिगच्छाम्यनिन्दिताम् ।१४।

वसिष्ठ उवाच

एवमार्तवचस्तस्मिन्कचे वदति कानने ।
सर्वमेव त्यजेत्युक्त्वा वाक्पतिर्दिवमुद्ययौ ॥ १५ ॥
गते तस्मिन् कचो देहाद्वल्कलाद्यप्यथाऽत्यजत् ।
गतेन्द्वभ्रार्कतारेण शरद्व्योम्ना समोऽभवत् ॥ १६ ॥
पुनर्वर्षत्रयेणैष कस्मिंश्चित् काननान्तरे ।
तत्याजाऽम्बुदवर्षादि शरदीव नभस्तलम् ॥ १७ ॥
उवासैको दिगन्तेषु शान्तशून्यवपुः श्वसन् ।
दूयमानमनाः प्राप तमेव पितरं गुरुम् ॥ १८ ॥

कराने के लिए ही आये हुए उस कच ने अपने पिताजी को फिर से प्राप्त किया ॥ १२ ॥

कच ने पहले अपने पिताजी की विधिपूर्वक पूजा कर उन्हें प्रमाण किया। बृहस्पति ने भी अपने पुत्र का आलिङ्गन किया। अनन्तर अत्यन्त मधुरवाणी से उस कच ने बृहस्पति से पुनः पूछा ॥ १३ ॥

कच ने कहा—हे तात! मेरे द्वारा सर्वत्याग किये हुए आज आठवाँ वर्ष है, किन्तु निर्मल शान्ति मैं प्राप्त नहीं कर रहा हूँ ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे भद्र! अरण्य में उस तरह के दीन वचन कच के कहने पर 'सभी का त्याग करो' इस प्रकार कहकर बृहस्पति आकाश में अदृश्य हो गये ॥ १५ ॥

वृहस्पति के चले जाने के बाद कच ने अपने शरीर से वल्कल आदि का भी परित्याग कर दिया और यह चन्द्र, बादल, तारे और सूर्य से रहित शरत् काल के सूर्योदयकालीन आकाश की तरह दिगम्बर हो गया ॥ १६ ॥

शरत्-काल में आकाशतल की तरह उसने वर्षाकाल में गुफा आदि का आश्रयण कर मेघवर्षण आदि का परित्याग कर दिया। शरद् आदि ऋतुओं में गुफा आदि का परिहार कर अनावृत दिशाओं में रहने लगा। उसका शान्त और शून्य शरीर वह साँसमात्र ले रहा था। तीन वर्ष के बाद किसी एक जङ्गल में खिन्न-चित्त उसने फिर

कृतपूजाक्रमो भक्त्या समालिङ्गितपुत्रकम् ।
अपृच्छत्स कचो भूयः खेदगद्गदया गिरा ॥ १९ ॥

कच उवाच

तात! सर्वं परित्यक्तं कन्थावेणुलताद्यपि ।
तथापि नास्ति विश्रान्तिः स्वपदे किं करोम्यहम् ॥२०॥

बृहस्पतिरुवाच

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तत्त्यक्त्वा पुत्र! राजसे ।
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा वाक्पतिः पुत्रं पुप्लुवे तरसा नभः ।
अन्वियेष कचश्चित्तं परित्यक्तुमखिन्नधीः ॥ २२ ॥
चिन्तयन्नप्यसौ चित्तं न यदा वेद कानने ।
तदा सञ्चिन्तयामास धियैव पितरं ययौ ॥ २३ ॥
पदार्थवृन्दं देहादि न चित्तमिति कथ्यते ।
तदेतत्किं क्व वा व्यर्थं निरागस्कं त्यजाम्यहम् ॥ २४॥

अपने गुरु उसी पिताजी को प्राप्त किया ॥ १७, १८ ॥

भक्ति से अपने पिताजी का पूजन, अभिवादन आदि किया, पिता ने भी अपने पुत्र का आलिङ्गन किया, अनन्तर खेद के कारण गद्गद वाणी से कच पूछने लगा ॥ १९ ॥

कच ने कहा—हे तात! मैंने सबका त्याग कर दिया। कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदि का त्याग कर दिया है किन्तु अपने आत्मपद में मेरी स्थिति नहीं हुई है अब मैं क्या करूँ? ॥ २० ॥

बृहस्पति ने कहा— हे पुत्र! चित्त ही सब कुछ है, अतः उसीका त्याग कर तुम अपने स्वरूप में विराजमान हो जाओगे। सर्वज्ञ लोग चित्तत्याग को ही सर्वत्याग कहते हैं ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा— पुत्र से इस प्रकार कहकर बृहस्पति शीघ्रता से आकाश में उड़ गये, अनन्तर अन्तः-करण से खेदरहित वह कच छोड़ने के लिए चित्त की खोज करने लगा ॥ २२ ॥

खोज करने पर भी चित्त की प्राप्ति नहीं होनेपर वह सोचने लगा और बुद्धि से ही अपने पिताजी के समीप गया अर्थात् पिताजी का स्मरण किया ॥ २३ ॥

देह आदि जो कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए बेचारे अपराधशून्य देह आदि का मैं व्यर्थ क्यों त्याग करूँ ॥ २४ ॥

पितुः सकाशं गच्छामि ज्ञातुं चित्तं महारिपुम् ।
ज्ञात्वा तत्सन्त्यजाम्याशु ततस्तिष्ठामि विज्वरः ॥ २५॥

वसिष्ठ उवाच

इति सञ्चिन्त्य स कच उज्जगाम त्रिविष्टपम् ।
वाक्पतिं प्राप्य सस्नेहं ववन्दे प्रणनाम च ॥ २६ ॥
अपृच्छच्चैनमेकान्ते किं चित्तं भगवन् ! वद ।
स्वरूपं ब्रूहि चित्तस्य येन तत्सन्त्यजाम्यहम् ॥ २७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

चित्तं निजमहङ्कारं विदुश्चित्तविदो जनाः ।
अन्तर्योऽयमहम्भावो जन्तोस्तच्चित्तमुच्यते ॥ २८ ॥

कच उवाच

त्रयस्त्रिंशन्महाकोटिप्रमाणस्य महामते ! ।
गुरो गीर्वाणवृन्दस्य कथमेतद्वदेति मे ॥ २९ ॥
मन्येऽस्य दुष्करत्यागो न सिद्धिमुपगच्छति ।

अब चित्तस्वरूप महाशत्रु को जानने के लिए पिताजी के पास ही जाता हूँ। जानकर मैं उनका त्याग करूँगा। अनन्तर शीघ्र ही समस्त शोकों से निर्मुक्त हो जाऊँगा ॥ २५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ऐसा विचार कर वह कच स्वर्ग में चला गया तथा बृहस्पति के पास जाकर स्नेह-पूर्वक उनकी वन्दना और प्रणाम किया ॥ २६ ॥

एकान्त में उसने उनसे पूछा—हे भगवन् ! चित्त क्या है, इसका आप मुझे उपदेश दें और चित्त का स्वरूप भी बतायें, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ ॥ २७ ॥

बृहस्पति ने कहा—चित्ततत्त्वज्ञ ! महानुभाव अपने अहङ्कार को ही चित्त जानते हैं, अतः जन्तु का यह भीतरी अहम्भाव ही चित्त कहा गया है ॥ २८ ॥

कच ने कहा—हे तैंतीस करोड़ देवताओं के गुरो ! हे महामते ! अहम्भाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझमें कहें क्योंकि लोक में अहङ्कार की आत्मा के रूप में प्रसिद्धि है, यदि उसका त्याग कर देंगे, तो शून्यता ही हो जायगी ॥ २९ ॥

[और आत्मा का त्याग भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह त्याग का विषय है ही नहीं ।]

हे योगियों में श्रेष्ठ ! मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव है कि किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए इसका त्याग कैसे होगा ? ॥ ३० ॥

बृहस्पति ने कहा—हे पुत्र, अहङ्कार रूप चित्त का त्याग तो फूलों के मर्दन से भी और नेत्रों के मीलन से भी अत्यन्त सुलभ है, अतः इसके त्याग में तनिक भी क्लेश

कथमेष किल त्यक्तुं शक्यते योगिनां वर ! ॥ ३० ॥

बृहस्पतिरुवाच

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।
सुकरोऽहङ्कृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ॥ ३१ ॥
यथैतदेवं तनय ! तथा शृणु वदामि ते ।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति ॥ ३२ ॥
वस्तुतो नास्त्यहङ्कारः पुत्र ! मिथ्याभ्रमो यथा ।
असन्सन्निव सम्पन्नो बालवेतालवत्स्थितः ॥ ३३ ॥
यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याऽप्यहङ्कृतिः ॥३४॥
असदेव यथा द्वित्वं मोहादिन्दौ विलोक्यते ।
तथा स्फुरत्यहङ्कारो न सत्यो वाऽप्यसन्न च ॥ ३५ ॥
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलान्तरम् ।
खादप्यतितरामच्छं विद्यते सर्ववेदनम् ॥ ३६ ॥

नहीं है अर्थात् जब तक उसके साक्षी का परिचय नहीं हो जाता, तब तक उसका परित्याग करना असम्भव है, परन्तु जब साक्षी का परिचय हो जाता है, तब उसका त्याग कर सकते हैं ॥ ३१ ॥

हे पुत्र ! इसका त्याग जैसे सुलभ होता है, उस उपाय को तुम्हें कहता हूँ, सुनो। जो वस्तु केवल अज्ञान से उत्पन्न होती है, उसका ज्ञान से विनाश हो जाता है, यह अहङ्कार शुद्ध साक्षी के अपरिचय रूप मोह ये उत्पन्न हुआ है, अतः साक्षी का परिचय हो जाने पर नष्ट हो जायेगा ॥ ३२ ॥

हे पुत्र ! अहङ्कार भी वास्तव में वैसे ही कुछ है ही नहीं जैसे मिथ्या भ्रम कुछ वस्तु नहीं है अज्ञानियों की दृष्टि से यह वैसे ही असत् होता हुआ उत्पन्न हुआ है, जैसे बालक की दृष्टि से असत् वेताल उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥

अज्ञान से अहङ्कार भी वैसे ही मिथ्या ही भासता है जैसे डोरी में अज्ञान से साँप का मिथ्या ज्ञान होता है अथवा जैसे शुष्क मरु भूमि में अज्ञान से मिथ्या पानी का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

यह अहङ्कार मोह से वैसे ही दिखाई देता है। वह न तो सत्य है, न असत्य ही है और न सत्यासत्य ही है जैसे चन्द्रमा एक ही है, परन्तु उसमें मोह से असत्य द्वित्व दिखाई देता है ॥ ३५ ॥

एक, आदि और अन्त शून्य चैतन्य मात्र, सभी ओर से निर्मल, आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभव रूप आत्मा ही सत्य है ॥ ३६ ॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकाशं सर्वजन्तुषु ।
तदेवैकं कचत्यम्बु विलोलास्वब्धिवीचिषु ॥ ३७ ॥
अत्र कोऽयमहम्भावः कुतो वा कथमुत्थितः ।
क्वाऽप्सु जातो रजोराशिः क्वाऽनलादुत्थितं जलम्॥३८॥
अयं सोऽहमिति व्यर्थं प्रत्ययं त्यज पुत्रक ! ।
तुच्छं परिमिताकारं दिक्कालविवशीकृतम् ॥ ३९ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं स्वच्छं नित्योदितं ततम् ।
सर्वार्थमयमेकार्थचिन्मात्रममलं भवान् ॥ ४० ॥
फलकुसुमदलानां सर्वदिक्संस्थितानां
रस इव जगतां त्वं संस्थितः सर्वदैव ।
विमलतरचिदात्मा नित्यमेवाऽस्यनन्तः
क इव कच ! तवाऽहंनिश्चयो भावमूर्तेः ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे कचोपाख्याने कचप्रबोधो नामैकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

सभी जगह और सभी प्राणियों में निरन्तर सब ओर से प्रकाश करने वाला वही एक आत्मतत्त्व वैसे ही चमकता है, जैसे चञ्चल, समुद्र की तरङ्गों में जल ही जल चमकता रहता है ॥ ३७ ॥

द्राष्टा और दृश्य के बीच में यह अहङ्कार नाम की कौन-सी वस्तु है, किस हेतु से उत्पन्न हुई और उसका स्वरूप क्या है ? कोई कह सकता है ? कोई भी नहीं कह सकता है । क्या कहीं जल में शुष्क धूलिराशि या अग्नि से उत्पन्न जल किसी ने देखा अर्थात् किसी ने भी नहीं । ऐसी स्थिति में द्रष्टा और दृश्यों के बीच में यह अहङ्कार है कौन, किस निमित्त से उत्पन्न हुआ और किस तरह का है, यह कहना अत्यन्त ही विचारणीय है, यानी कह ही नहीं सकते ॥ ३८ ॥

हे पुत्र, यह पिता आदि से उत्पन्न हुआ देह आदि मैं हूँ, तुच्छ, परमिताकार और देश-काल के द्वारा हुए बुद्धि आदि विकारों से परिणत इस व्यर्थ बुद्धि को छोड़ दो ॥ ३९ ॥

देश, काल आदि परिच्छेदों से शून्य, स्वच्छ, निरन्तर उदयस्वभाव, व्यापक सब पदार्थों के रूप से भासमान, निर्मल अद्वय चिन्मात्रस्वरूप तुम हो ॥ ४० ॥

['सर्वार्थमयम्' इस शब्द का सब पदार्थों का सारभूत भी अर्थ है, इसको दृष्टान्तपूर्वक दर्शाते हुए प्रकृत का उपसंहार करते हैं—'फल०' इत्यादि से ।]

चारों दिशाओं में स्थित फल, पुष्प और पत्तों का हेतुभूत एवं सारभूत वृक्षों में रहनेवाला रस है, तुम भी वैसे ही समस्त जगत् का कारणभूत और सारभूत भीतर रहनेवाला सर्वदा ही स्थित, अत्यन्त विमल, अनन्त, नित्य चिदात्मस्वरूप हो । हे कच, अखण्ड-अद्वय सन्मात्रस्वरूप तुम्हारी यह परिच्छिन्न अहंबुद्धि कौन-सी चीज है अर्थात् कुछ नहीं है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में कचोपाख्यान में कचप्रबोध नामक कुसुमलता का एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १११ ॥

११२

वसिष्ठ उवाच

इति प्राप्य परं योगमुपदेशमनुत्तमम् ।
जीवन्मुक्तो बभूवाऽसौ ततो देवगुरोः सुतः॥ १ ॥
निर्ममो निरहङ्कारश्छिन्नग्रन्थिः प्रशान्तधीः ।
कचो यथास्थितो राम ! तथा तिष्ठाऽविकारवान् ॥ २ ॥
अहङ्कारमसद्विद्धि मैनमाश्रय मा त्यज ।
असतः शशशृङ्गस्य किल त्यागग्रहौ कुतः ॥ ३ ॥

११२

श्री वसिष्ठजी ने कहा—श्रीरामजी, देवगुरु से अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ एकरूपता से सम्पन्न कराने वाला उत्तमोत्तम उस प्रकार का उपदेश पाकर उनका पुत्र जीवन्मुक्त हो गया ॥ १ ॥

जिस प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच ममतारहित, अहङ्कारशून्य, मोहरूपी गाँठ से निर्मुक्त और शान्तबुद्धि होकर स्थित रहा, हे रामजी, आप भी निर्विकार होकर वैसे ही स्थित हो जाइए ॥ २ ॥

इस अहङ्कार को आप असत् जानिये, इसका न तो आश्रयण करें और न त्याग ही करें। क्योंकि असत् खरगोश के शृंग का कहीं आश्रयण और त्याग किसी से किया जा सकता हैं अर्थात् खरहे को सींग ही नहीं होती है उसके आश्रयण का प्रश्न ही कहाँ है ॥ ३ ॥

असम्भवत्यहङ्कारे क्व ते मरणजन्मनी ।
नभःक्षेत्रे तथा व्युप्तं केन सङ्गृह्यते फलम् ॥ ४ ॥
निरंशं शान्तसङ्कल्पं सर्वभावात्मकं ततम् ।
परमादप्यणोः सूक्ष्मं चिन्मात्रं त्वमनोमयम् ॥ ५ ॥
यथाऽम्भसस्तरङ्गादि यथा हेम्नोऽङ्गदादि च ।
तदेवाऽतदिवाभासं तथाऽहम्भावभावितः ॥ ६ ॥
अबोधेन जगत्सर्वं मायामयमिव स्थितम् ।
बोधेन सकलं ब्रह्मरूपं सम्पद्यतेऽनघ ! ॥ ७ ॥
द्वित्वैकत्वमती त्यक्त्वा शेषस्थः सुखितो भव ।
मा दुःखितो भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथा ॥ ८ ॥
मायेयमतिदुष्पारा सांसारी गाढतां गता ।
शरदा मिहिकेवाऽऽशु बोधेनाऽऽयाति तानवम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

परमामागतोऽस्म्यन्तस्तृप्तिं ज्ञानामृतेन ते ।
अवग्रहभयाक्रान्तः स्वासारेणेव चातकः ॥ १० ॥
अमृतेनेव सिक्तोऽहमन्तर्गच्छामि शीतताम् ।
उपर्यपि समस्तानां तिष्ठाम्यतुलसम्पदाम् ॥ ११ ॥
न तृप्तिमनुगच्छामि वचांसि वदतस्तव ।
ऐन्दवीनां मरीचीनां चकोरस्तृषितो यथा ॥ १२ ॥
तृप्तोऽपि भूयः पृच्छामि त्वां प्रश्नमिममीश्वरः ।
को नाम तृप्तोऽप्यग्रस्थं न पिबत्यमृतासवम् ॥ १३ ॥
किमुच्यते मुनिश्रेष्ठ ! मिथ्यापुरुषनामकम् ।
वस्त्ववस्तुकृतं जगद्वस्तु जातं वदाऽऽशु मे ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

मिथ्यापुरुषबोधाय शृणु राघव ! शोभनाम् ।
इमामाख्यायिकां हासजननीं मदुदीरिताम् ॥ १५ ॥

[यत्न से जबतक उसका निवारण नहीं किया जायगा, तबतक कैसे जन्म-मरण का भय निकलेगा, इसपर कहते हैं—'असम्भव०' इत्यादि से ।]

जब अहङ्कार ही असम्भव है, तब आपके जन्म-मरण कैसे हो सकता है ? ऐसा कौन है, जो आकाश में पेड़ लगाकर फल बटोरता है । अहङ्काररूपी खेत के रहने पर ही कामादि वासनाएँ अङ्कुरित हो सकती हैं, परन्तु उसका बाध हो जाने पर वे कुछ नहीं कर सकतीं ॥ ४ ॥

जब अहङ्कार का बाध हो जाता है, तब अंशशून्य, सङ्कल्प-विकल्पों से रहित, समस्त पदार्थरूप, व्यापक, परमाणु से भी सूक्ष्म, मन से रहित चिन्मात्रस्वरूप अहं होकर रह जाते हैं ॥ ५ ॥

[उक्त चिन्मात्ररूप मैं अहम्भाव से युक्त होकर किस तरह का हो गया ! इस पर कहते हैं—'यथा' इत्यादि से ।]

जैसे जल के तरङ्ग आदि जलरूप होते हुए भी जल भिन्न की तरह भासमान हैं अथवा जैसे सुवर्ण के कटक आदि सुवर्णरूप होते हुए भी सुवर्ण से भिन्न की तरह भासमान हैं, वैसे ही आप चिन्मात्र होते हुए भी अहम्भाव से युक्त होकर उससे भिन्न की तरह भासमान हो गये हैं ॥ ६ ॥

हे पापशून्य, सम्पूर्ण जगत् आत्मा के अज्ञान से ही मायामय होकर स्थित हो जाता है और आत्मा के ज्ञान से वह सब ब्रह्मरूप में स्थित हो जाता है ॥ ७ ॥

यह कार्य है और यह कारण है—इन दोनों बुद्धियों का त्याग कर उनमें अनुगत सन्मात्र को बचाकर उसी में अपनी स्थिति बनाएँ और सुखी हो जाएँ । जैसे मिथ्यापुरुष अनुगत बची हुई वस्तु में प्रतिष्ठित में होकर दुःखी हुआ, वैसे ही व्यर्थ दुःखी न होएँ ॥ ८ ॥

यह अत्यन्त गाढ़ संसार की माया का पार पाना अत्यन्त कठिन होते हुए भी जैसे शरद् ऋतु कुहरे को काट डालती हैं, वैसे ही उसे आत्मज्ञान शीघ्र काट डालता है ॥ ९ ॥

श्रीरामजी ने कहा—आपके ज्ञानरूपी अमृत से मैं अपने अन्दर वैसे ही परम सन्तुष्ट हो गया हूँ, जैसे वृष्टि के अभाव से भयभीत हुआ चातक दैव से प्राप्त वृष्टि से सन्तुष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

अमृत के सदृश ज्ञान से अभिषिक्त मैं भीतर शीतलता का महान् अनुभव कर रहा हूँ और हिरण्यगर्भ की सम्पत्तिपर्यन्त जितनी उत्तमोत्तम सम्पत्तियाँ हैं उन सबके सिरपर रहने वाली निरतिशय आनन्दरूपी सम्पत्ति के ऊपर मैं अपना आधिपत्य जमा कर स्थित हूँ ॥ ११ ॥

मधुर वचन कह रहे आपकी उक्तियों के आस्वाद से मुझे ऐसी तृप्ति नहीं होती, जैसी चन्द्रमा की किरणों के आस्वाद से तृषार्त चकोर को तृप्ति नहीं होती है ॥ १२ ॥

ज्ञातव्य तत्त्व के ज्ञात से मैं तृप्त तो हूँ, तथापि आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ । कौन ऐसा प्राणी है, जो तृप्त होता हुआ भी सामने पड़े हुए अमृतरूपी पेय को न पीता हो ॥ १३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! मुझसे शीघ्र कहिए कि वस्तु को अवस्तु बना दिया और अवस्तुभूत समस्त जगत् को ऐसी कौन वस्तु मिथ्यापुरुष नामसे कही जाती है ॥ १४ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! मिथ्यापुरुष को

अस्ति कश्चिन्महाबाहो ! मायायन्त्रमयः पुमान् ।
बालपेलवधीमूढो गूढो मौर्ख्येण केवलम् ॥ १६ ॥
स एकान्ते क्वचिज्जातः शून्ये तत्रैव तिष्ठति ।
केशोण्ड्रकमिव व्योम्नि मृगतृष्णेव वा मरौ ॥ १७ ॥
तस्मादन्यन्न तत्राऽस्ति यदस्ति च स एव तत् ।
यच्चान्यत्तत्तदाभासं न च पश्यति दुर्मतिः ॥ १८ ॥
सङ्कल्पस्तस्य सञ्जातस्तत्र वृद्धिमुपेयुषः ।
खस्याऽहं खमहं खं मे खं रक्षामीति निश्चलः ॥ १९ ॥
खं स्थापयित्वा रक्षामि वस्त्विष्टं स्वयमादरात् ।
इति सञ्चिन्तयन् व्योमरक्षार्थं सोऽकरोद्गृहम् ॥ २० ॥
तस्य कोशे बबन्धाऽऽस्थां रक्षितं खं मयेत्यसौ ।
गृहाकाशेन संतुष्टस्ततः स रघुनन्दन ! ॥ २१ ॥
अथ कालेन तत्तस्य गृहं नाशमुपाययौ ।

जानने के लिए वह मेरे द्वारा कही गई और हास्यप्रद है सुन्दर आख्यायिका आप सुनिये ॥ १५ ॥

हे महाबाहो ! कोई एक मायायन्त्र से पूर्ण पुरुष था, वह केवल बालक के समान कोमल बुद्धि से विक्षिप्त और अज्ञान से आवृत्त था ॥ १६ ॥

वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेश में उत्पन्न और उसी शून्य-प्रदेश में रहता था। वह वास्तव में आकाश में केशोण्ड्रक के समान और मरुभूमि में मृगतृष्णाजल के समान मिथ्या ही था ॥ १७ ॥

उस मिथ्यापुरुष को छोड़कर उस स्थान में दूसरा कुछ है नहीं और जो कुछ भी वहाँ पर यदि प्रतीत होता है यदि वह किसी दूसरे को देखता है, तो वह भी उसी की भ्रान्ति से ही देखता है, यह सब होते हुए भी वह 'मैं ही यहाँ सब कुछ हूँ' इस प्रकार नही देखता, क्योंकि वह दुर्मति है ॥ १८ ॥

वहाँ वृद्धि को प्राप्त उस मिथ्यापुरुष को मन में एक सङ्कल्प हुआ, कि इस आकाश का मैं ही कारण हूँ और आकाश मेरा कार्य है, अतः आकाशरूप मैं ही निश्चल होकर उसको व्याप्त कर उसकी रक्षा करता हूँ ॥ १९ ॥

मेरी प्रिय से प्रिय वस्तु आकाश है, अतः उसे कहीं पर रखकर स्वयं मैं ही उसकी बड़े आदर से रक्षा करूँ, इस तरह विचारकर आकाश की रक्षा के लिए उसने एक घर का निर्माण किया ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन ! अनन्तर उस घर से अन्दर उसने यह आस्था स्थिर कर ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और गृहाकाश से वह सन्तुष्ट हो गया ॥ २१ ॥

ऋत्वन्तरेणाऽब्द इव वातेनेव तरङ्गकः ॥ २२ ॥
हा गृहाकाश नष्टं त्वं हा क्व यातमसि क्षणात् ।
हा हा भग्नमसि स्वच्छमित्येवैतच्छुशोच सः ॥ २३ ॥
इति शोकशतं कृत्वा पुनस्तत्रैव दुर्मतिः ।
कूपं चक्रे खरक्षार्थं कूपाकाशपरोऽभवत् ॥ २४ ॥
ततो नाशं स कालेन नीतः कूपोऽपि तस्य वै ।
कूपाकाशे गते शोकनिमग्नोऽसौ ततोऽभवत् ॥ २५ ॥
कूपाकाशप्रलापान्ते कुम्भं शीघ्रमथाऽकरोत् ।
कुम्भाकाशपरो भूत्वा स्वयं निर्वृतिमाययौ ॥ २६ ॥
कुम्भोऽपि तस्य कालेन नाशं नीतो रघूद्वह ! ।
यामेव दिशमादत्ते दुर्भगः सा हि नश्यति ॥ २७ ॥
कुम्भाकाशप्रलापान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
कुण्डं तथैव तेनाऽसौ कुण्डाकाशपरोऽभवत् ॥ २८ ॥

अनन्तर कुछ काल के बाद वह उसका घर वैसे ही नष्ट हो गया, जैसे दूसरी ऋतु से किंवा शरद् ऋतु से मेघ या वायु से छोटे-छोटे तरङ्ग नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

इस प्रकार नष्ट हो जाने पर मिथ्यापुरुष इस प्रकार वह शोक करने लगा, हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे तुम एक ही क्षण में कहाँ चले गये, हा हा, तुम टूट गये, तुम बड़े अच्छे रहे ॥ २३ ॥

इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्यापुरुष ने वहाँ पर आकाश की रक्षा करने के लिए एक कूप का निर्माण किया और उसी कूपाकाश में पहले के-जैसी आस्था बाँधकर रहने लगा ॥ २४ ॥

अनन्तर कुछ समय के बाद उसका वह कूप भी नष्ट हो गया, तब वह महान् शोकसागर में निमग्न हो गया ॥ २५ ॥

कूपाकाश के लिए शोक कर चुकने के बाद उसने तत्काल ही एक घड़े का निर्माण किया और घटाकाश की रक्षा में तत्पर होकर स्वयं उसके अभिमान-सुख को प्राप्त किया ॥ २६ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ ! काल से उसका घर भी नष्ट हो गया। भाग्यहीन जिस किसी दिशा का ग्रहण करता है, वह नष्ट ही हो जाती है ॥ २७ ॥

घड़े के आकाश का शोक कर लेने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए कुण्ड का निर्माण किया और उसी प्रकार उसी अभिमान से कुण्डाकाश की रक्षा के लिए तत्पर हो गया ॥ २८ ॥

कुण्डमप्यस्य कालेन केनचिन्नाशमाययौ ।
तेजसेव तमस्तेन कुण्डाकाशं शुशोच सः ॥ २९ ॥

कुण्डाकाशस्य शोकान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
चतुःशालं महाशालं तदाकाशमयोऽभवत् ॥ ३० ॥

तदप्यस्य जहाराऽऽशु कालः कवलितप्रजः ।
जीर्णपर्णं यथा वातस्ततः शोकपरोऽभवत् ॥ ३१ ॥

स चतुःशालशोकान्ते खरक्षार्थं चकार ह ।
कुसूलमम्बुदाकारं तदाकाशपरः स्थितः ॥ ३२ ॥

तदप्यस्य जहाराऽऽशु कालो वात इवाऽम्बुदम् ।
कुसूलनाशशोकेन तेनाऽसौ पर्यतप्यत ॥ ३३ ॥

एवं गृहचतुःशालकुम्भकुण्डकुसूलकैः ।
तस्याऽपर्यवसानात्मा कालोऽयमतिवर्तते ॥ ३४ ॥

एवं स्थितः स विवशो गगनं गुहायां
गृह्णन् गृहेण गहनेन किलाऽऽत्मबुद्धया ।
दुःखान्तराद्घनतराद्घनदुःखजात
मायाति याति च गतागतिसङ्गमूढः ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे मिथ्यापुरुषोपाख्याने आकाशरक्षणं नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

कुछ काल के बाद वनगज आदि के गिरने से इसका कुण्ड भी उसी प्रकार विनष्ट हो गया; जिस प्रकार तेज से अन्धकार विनाश को प्राप्त हो जाता है। कुण्डाकाश के विषय में भी उसने महान् शोक किया ॥ २९ ॥

कुण्ड के आकाश का शोक करने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए एक ऐसे घर का निर्माण किया, जिसमें चारों दिशाओं में कमरे तथा बीच में एक समाकार कमरा था। फिर उसी के आकाश की रक्षा में तन्मय हो गया ॥ ३० ॥

अनेक प्रजाओं का ग्रास करने वाले उस काल ने इसका भी वैसे ही अपहरण कर लिया, जैसे वायु जीर्ण पत्ते का अपहरण कर लेती है। उससे भी वह शोक निमग्न हो गया ॥ ३१ ॥

उस चतुःशाल घर के शोक के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए मेघाकार कुसूल धान्य रखने का कोठार बनाया और और फिर उसी के आकाश की रक्षा में निरत हो गया ॥ ३२ ॥

उसके उस कुसूल को भी काल ने वैसे ही अपहृत कर दिया जैसे वायु मेघ को अपहृत कर देता है। उस कुसूल विनाश के शोक से वह खूब सन्तप्त हो गया ॥ ३३ ॥

इस प्रकार घर, चतुःशाल, कुण्ड और कुसूल आदि से आकाश की रक्षा कर रहे उस मिथ्यापुरुष का यह कभी समाप्त न होनेवाला काल बीतता ही जाता था ॥ ३४ ॥

इस प्रकार से गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियों से आकाश को आत्मबुद्धि से उदर में पकड़कर स्थित वह मिथ्यापुरुष गमनागमन की आसक्ति से मूढ़ विवश होकर उनके अभिमान से ही घर आदि का निर्माण, रक्षण और विनाश होनेपर एक दुःख से अति कठिन दूसरे दुःख में आता जाता रहता है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में मिथ्यापुरुषोपाख्यान में आकाशरक्षण नामक कुसुमलता का एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११२ ॥

११३

श्रीराम उवाच

मिथ्यानरप्रसङ्गेन किं मायापुरुषः प्रभो ! ।
कथितोऽयं त्वया व्योमरक्षणं च किमुच्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम ! यथाभूतमेतत्प्रकटयामि ते ।
मिथ्यापुरुषवृत्तान्तकथा या कथिताऽधुना ॥ २ ॥

११३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे प्रभो ! मिथ्यापुरुष के प्रसङ्ग से आपने जिस मायामय पुरुष को कहा है उसका क्या अभिप्राय है और उसके द्वारा किये आकाशरक्षण का क्या अभिप्राय है ॥ १ ॥

श्रीवासिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! सुनें, अभी जो मैंने मिथ्यापुरुष की कथा आप से कही है, उसका वास्तविक तात्पर्य आप से प्रकट करता हूँ ॥ २ ॥

मायायन्त्रमयः प्रोक्तो यः पुमान् रघुनन्दन ! ।
एनं त्वं तमहङ्कारं विद्धि शून्याम्बरोत्थितम् ॥ ३ ॥
यस्मिन्नाकाशकोशेऽस्मिन् साधो ! जगदिदं स्थितम् ।
तदनन्तमसच्छून्यं सर्गादौ भवति स्वयम् ॥ ४ ॥
अन्तःस्थितसुदुर्लक्ष्यब्रह्मव्योम्नोऽथ शब्दवत् ।
तस्मादुदेत्यहङ्कारः पूर्वं स्पन्द इवाऽनिलात् ॥ ५ ॥
वृद्धिं यातः स गगने कल्पयत्यात्मतां गतः ।
अनात्मात्माभिधानेन तेनाऽसौ यतते ततः ॥ ६ ॥
अनात्माऽऽत्मैकरक्षार्थं देहान्नानाविधानसौ ।
भूयो भूयो विनाशेऽपि सृजत्याकुलतां गतः ॥ ७ ॥
स एव मायापुरुषो मिथ्यापुरुष एव सः ।

हे रघुनन्दन ! मैंने मायायन्त्रमय जिस पुरुष का उस कथा में उल्लेख किया है, आप इसे अहङ्कार ही जानें, वही मायारूप आकाश में उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

हे साधो ! जिस मायामय आकाश के एक कोने में यह जगत् अवस्थित है, वह स्वयं सृष्टि के पहले भी असीम, असत् और शून्यरूप ही रहता है ॥ ४ ॥

मायाकाश के अन्दर पामरों से अत्यन्त अगम्य परम ब्रह्म अधिष्ठान रूप से प्रतिष्ठित है और आकाश से प्रथम अहङ्कार वैसे ही उदय होता है, जैसे वायु से प्रथम स्पन्दन का उदय होता है ॥ ५ ॥

वास्तव में अहङ्कार आत्मा नहीं है, परन्तु भ्रान्ति से स्वयं अपने को आत्मा समझकर अपने कारणभूत मायाकाश में बढ़ जाता है और अनेक सङ्कल्प-विकल्पों से किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट मानने लगता है। अनन्तर उसी कल्पित 'अहम्' इस अपने अभिधान से इस वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए सदा प्रयत्न करता रहता है ॥ ६ ॥

अनात्मा होते हुए भी आत्मा की रक्षा करने में व्याकुल बुद्धि यह अहङ्कार पूर्व-पूर्व शरीरों का नाश हो जानेपर उत्तरोत्तर काम, कर्म तथा वासना के अनुसार पुनः पुनः अनेक तरह के शरीरों की रचना करता है ॥७॥

वह अहङ्कार ही मायापुरुष है और वही मिथ्यापुरुष है, क्योंकि माया से जो अहङ्कार उत्पन्न है, वह असत् एवं मिथ्यारूप ही है ॥ ८ ॥

कुँआ, कुण्ड, चतुःशाल, घड़ा आदि अर्थात् ऊँच-नीच शरीरों की रचना कर मैंने आत्मा की रक्षा की, इस प्रकार चैतन्ययुत मायामय आत्मा में आत्मभावना कर लेता है ॥ ९ ॥

असदेवोदितो व्यर्थोऽप्यहङ्कारो हि मायया ॥ ८ ॥
कूपकुण्डचतुःशालकुम्भादीन्देहकानसौ ।
कृत्वा रक्षित आत्मेति याति तद्व्योम्नि भावनम् ॥९॥
अहङ्कारस्य तस्याऽस्य नामानीमानि राघव ! ।
शृणु यैर्जगदाकारविभ्रमैर्मोहयत्यसौ ॥ १० ॥
जीवो बुद्धिर्मनश्चित्तं माया प्रकृतिरित्यपि ।
सङ्कल्पः कलना कालः कला चेत्यपि विश्रुतैः ॥ ११ ॥
एवमाद्यैस्तथाऽन्यैश्च नामभिर्बहुतां गतैः ।
सहस्ररूपोऽहङ्कारः कल्पितार्थैर्विजृम्भते ॥ १२ ॥
भूताकाशे तते शून्ये जगन्निर्भित्ति निश्चितम् ।
सुखदुःखान्यनुभवन्मिथ्यैव पुरुषः स्थितः ॥ १३ ॥

हे राघव ! जगदाकाररूप विभ्रमों से क्रियारूप उपाधियों से अहङ्कार आत्मा को मोहित करता है, उसके नानाविधि क्रियाओं के कारण यौगिक नाम को आप सुनें ॥ १० ॥

जीव, बुद्धि, मन, चित्त, माया, प्रकृति सङ्कल्प तथा कलना, काल और कला इत्यादि प्रसिद्ध नामों से एवं दूसरे भी अनेक नामों से हजारों रूपों को धारण कर अहङ्कार कल्पित अर्थों को लेकर इस संसार में अपनी प्रतिष्ठा जमाकर अवस्थित है। अर्थात् प्राणधारण से जीव, बाह्य अर्थों के निश्चय से बुद्धि, उनके मनन से मन, उनके चिन्तन से चित्त, असत्कल्पना से माया, परिणामी स्वभाव से प्रकृति, सङ्कल्पन से सङ्कल्पित अर्थ के आकलन से कलन, कङ्कलिपत अर्थ के विपरिणाम आदि में हेतु होने से काल तथा उसमें एकदेश रूप भेद की कल्पना से कला— यों तत्-तत् क्रियाभेद के कारण अहङ्कार के ये नाम पड़े हैं, यह जान लेना चाहिए ॥ ११, १२ ॥

जब पूर्णात्मा परब्रह्म में अपने से ही प्रथम शून्य स्वरूप भूताकाश विस्तृत हुआ तब उसमें वायु आदि की कल्पनाओं से कल्पित जगत् युक्तिपूर्वक विचार करने से गन्धर्व नगर के समान भित्ति आदि आवरण से शून्य ही है। छिद्ररहित ब्रह्म से ब्रह्म में छिद्ररूप आकाश की पहले उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्यस्वरूप अतिविस्तृत अचल आकाश तदनन्तर चलनात्मा वायु कैसे हो सकता है। नीरूप अनुष्ण वायु में स्वविरुद्ध तेजोरूप कैसे हो सकती है ? दाहस्वभाव उष्ण तेज स्वविरुद्ध जलस्वरूप कैसे हो सकता है ? इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में इस जगत् की कोई नींव है ही उसी में वह पुरुष मिथ्या ही सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ स्थित था ॥ १३ ॥

यथैव मिथ्यापुरुषो रक्षन्व्योमात्मशङ्कया ।
घटाकाशादिषु क्लिष्ट एवं मा क्लेशवान्भव ॥ १४ ॥
आकाशादपि विस्तीर्णः शुद्धः सूक्ष्मः शिवः शुभः ।
य आत्मा स कथं केन गृह्यते रक्ष्यतेऽथवा ॥ १५ ॥
हृदयाकाशमात्रस्य शरीरक्षयसंक्षये ।
व्यर्थं भूतानि शोचन्ति नष्ट आत्मेति शङ्कया ॥ १६ ॥
घटादिषु प्रणष्टेषु यथाकाशाद्यखण्डितम् ।
तथा देहेषु नष्टेषु देही नित्यमलेपकः ॥ १७ ॥
शुद्धचिन्मात्र आत्मायमाकाशादप्यणोरणुः ।
स्वानुभूत्यंशमात्रं हि खवद्राम ! न नश्यति ॥ १८ ॥
न जायते न म्रियते क्वचित् किञ्चित्कदाचन ।
जगद्विवर्तरूपेण केवलं ब्रह्म जृम्भते ॥ १९ ॥
सत्यमेकं पदं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तमिति मत्वा सुखी भव ॥ २० ॥
सर्वापदां निलयमध्रुवमस्वतन्त्र-
मासन्नपातमविवेकमनार्यमज्ञम् ।
बोधादहङ्कृतिपदं सकलं विमुच्य
शेषे सुबद्धपदमुत्तमतां प्रयासि ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे मिथ्यापुरुषोपाख्यानं नाम त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

हे श्रीरामजी ! जैसे आकाश में आत्मबुद्धि की शङ्का से आकाश की रक्षा कर उस मिथ्यापुरुष ने घट आदि का निर्माण कर उनके आकाशों का रक्षण करने में अनेक तरह के क्लेशों का अनुभव किया, वैसे ही आप क्लेशों का अनुभव न करें ॥ १४ ॥

आत्मा तो आकाश से भी बड़ा है, परम शुद्ध है, अत्यन्त सूक्ष्म है, परम कल्याणरूप तथा शुद्ध है । उसको कौन पकड़ सकता है और कौन उसकी रक्षा कर सकता है ॥ १५ ॥

इस शरीर रूप आश्रय का विनाश हो जानेपर आत्मा नष्ट हो गया, इस शङ्का से केवल हृदयाकाश के लिए ये प्राणी निरर्थक शोक किया करते हैं ॥ १६ ॥

देहों के नष्ट हो जानेपर देही का अर्थात् जैसे घट आदि के विनष्ट हो जानेपर घटादि का आकाश कभी नष्ट नहीं होता देहोपलक्षित आत्मा का कभी-भी वैसे ही विनाश नहीं होता ॥ १७ ॥

हे रामजी ! यह आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप आकाश और अणु से भी सूक्ष्म तथा अहङ्कार से निर्मुक्त केवल स्वप्रकाश चित् है, इसलिए आकाश के समान ही उसका नाश नहीं होता है ॥ १८ ॥

कहीं किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल जगदात्मक विवर्तक रूप से वह ब्रह्म ही प्रकाशित है ॥ १९ ॥

हे श्रीराम जी ! आत्मा सत्यरूप है, एक है, प्राप्य स्थान है, शान्त है, आदि, मध्य और अन्त से निर्मुक्त है तथा सत्ता और असत्ता से रहित है, ऐसा निश्चय कर परम सुखी हो जायें ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी ! सम्पूर्ण आपत्तियों के आधार, चञ्चल, पारतन्त्र्य के उत्पादक, तत्क्षण ही नरक में गिराने वाले विवेक के शत्रु निन्द्य, अज्ञान से भरे अहङ्कार स्थान को देह, इन्द्रिय आदि कलाओं के साथ-साथ तत्त्वज्ञान से मूलोच्छेदपूर्वक छोड़कर यदि आप अवशिष्ट विशुद्ध चिन्मात्र स्वरूप में दृढ़तापूर्वक अवस्थित हो जाये, तो सबसे उत्तम स्थान को प्राप्त करेंगे ॥ २१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में मिथ्यापुरुषोपाख्यान नामक कुसुमलता का एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११३ ॥

११४

वसिष्ठ उवाच

परस्माद्ब्रह्मणः पूर्वं मनः प्रथममुत्थितम् ।
मननात्मकमाभोगि तत्स्थमेव स्थितिं गतम् ॥ १ ॥
पुष्पकोश इवाऽऽमोदो महोर्मिरिव सागरे ।
रश्मिजालमिवाऽऽदित्ये मनो ब्रह्मणि राघव ! ॥ २ ॥

११४

श्री वसिष्ठजी ने कहा—सृष्टि के आरम्भ में समस्त कल्पनाओं से पहले सङ्कल्प-विकल्पात्मक इस विशाल जगत् की रचना में समर्थ मन उत्पन्न हुआ । वह परब्रह्म में अभिन्न सत्ता से स्थित हो अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओं का निमित्त बनकर आजतक विद्यमान है ॥ १ ॥

हे राघव, ब्रह्म में मन भी अभिन्न सत्ता से वैसे ही रहता है फूलों में जैसे सुगन्ध, सागर में जैसे बड़े-बड़े तरङ्ग और सूर्य में जैसे किरणें अभिन्न सत्ता से रहती है ॥ २ ॥

तस्याऽदृश्यात्मतत्त्वस्य विस्मृत्यैव गतं स्थितिम् ।
नाऽन्यस्मादागतं राम ! जगद्रज्जुभुजङ्गवत् ॥ ३ ॥
आदित्यव्यतिरेकेण यो भावयति राघव ।
रश्मिजालमिदं ह्येतत्तस्याऽन्यदिव भास्वतः॥ ४ ॥
कनकव्यतिरेकेण केयूरं येन भावितम् ।
केयूरमेव तत्तस्य न तस्य कनकं हि तत् ॥ ५ ॥
आदित्याव्यतिरेकेण रश्मयो येन भाविताः ।
आदित्य एव ते तस्य निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ६ ॥
सलिलव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भावितः ।
तरङ्गबुद्धिरेवैका स्थिता तस्य न वारिधीः ॥ ७ ॥
सलिलाव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भाव्यते ।
अम्बुसामान्यताबुद्धिर्निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ८ ॥
कनकाव्यतिरेकेण केयूरं येन भाव्यते ।
कनकैकमहाबुद्धिर्विकल्पः स उच्यते ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी ! इन्द्रियों से अगम्य उस आत्मतत्त्व के एकमात्र अज्ञान से ही मनने उसमें समस्त जगत् की कारणरूप से स्थिति को प्राप्त है। इसलिए यह जगत् रज्जुसर्प के समान कहीं किसी दूसरे कारण से प्राप्त नहीं हुआ है ॥ ३ ॥

हे राघव ! इन किरणों की आदित्य से अलग भावना करने वाली उस पुरुष के लिए ये किरणें आदित्य से अलग ही हो जाती हैं ॥ ४ ॥

केयूर की सुवर्ण से पृथक्-रूप से भावना करने वाले दृष्टि में सुवर्ण से पृथक ही केयूर प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी भावना में केयूर सुवर्ण नहीं है ॥ ५ ॥

किरणों की आदित्यस्वरूप से ही भावना करने वाले दृष्टि में वे किरणें आदित्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि आदित्य रश्मिभेदों से शून्य ही है, आदित्य और किरणों का परस्पर कोई भेद नहीं है ॥ ६ ॥

तरङ्ग की जलभिन्न रूप से भावना करने वाले के लिए एकमात्र तरङ्गबुद्धि ही स्थित रहती है, जलबुद्धि नहीं ॥ ७ ॥

तरङ्ग की जलभिन्नरूप से भावना करने वाले के लिए एकमात्र तरङ्गबुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरङ्ग के भेद से निर्मुक्त निर्विकल्पक कहा जाता है ॥ ८ ॥

केयूर कनक से भिन्न नहीं है, ऐसी भावना करने वाले पुरुष के लिए वह सामान्य कनकबुद्धिवाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है ॥ ९ ॥

पावकव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाविता ।
तस्याऽग्निबुद्धिर्गलति ज्वालाधीरेव तिष्ठति ॥ १० ॥
ज्वालाजालाभ्रलेखेव रञ्जिता सा तथा स्थितिः ।
तामेवाऽऽस्थां समादत्ते तद्गताऽन्याकुला मतिः ॥ ११ ॥
पावकाव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाव्यते ।
तस्याऽग्निबुद्धिरेकाऽस्ति निर्विकल्पः स उच्यते ॥१२ ॥
यो निर्विकल्पः स महान्सोऽसंक्षीणमहामतिः ।
प्राप्तव्यं तेन सम्प्राप्तं नाऽसौ वस्तुषु मज्जति ॥ १३ ॥
नानातामखिलां त्यक्त्वा शुद्धचिन्मात्रकोटरे ।
संवेद्येन विनिर्मुक्ते संवित्तत्त्वे स्थितो भव ॥ १४ ॥
स्वयमेवाऽऽत्मनैवाऽऽत्मा शक्तिं सङ्कल्पनामिकाम् ।
यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवाऽनिलः ॥ १५ ॥
तदा पृथगिवाभासं सङ्कल्पकलनामयम् ।
मनो भवति विश्वात्मा भावयन् स्वाकृतिं स्वयम् ॥१६॥

ज्वालापङ्क्ति अग्नि से भिन्न है, ऐसी भावना करने वाले पुरुष के लिए अग्निबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है केवल ज्वाला बुद्धि ही रहती है ॥ १० ॥

ज्वालापङ्क्ति के समान ज्वालापङ्क्ति के आकार को प्राप्त बुद्धिवृत्ति ज्वाला में आस्था बाँधती है, ज्वालापङ्क्ति में स्थित चलन, ऊर्ध्वगमन आदि की कल्पना करती है तथा व्याकुल हो जाती है ॥ ११ ॥

ज्वाला की पङ्क्ति अग्नि से भिन्न नहीं है, इस तरह की जो भावना करने वाले के लिए केवल अग्निबुद्धि ही रहती है और वह निर्विकल्पक कहा जाता है ॥ १२ ॥

जो पुरुष निर्विकल्पक ग्राह्य और ग्राहक की द्विधा से निर्मुक्त हो जाता है वही महान् है। उसकी आत्मबुद्धि कभी क्षीण नहीं होती। इस जगत् में प्राप्त करने के योग्य जो कुछ भी है, वह सब उसने प्राप्त कर लिया। वह इन मनके विकल्पों से जनित पदार्थों में सत्यत्वबुद्धि से कभी नहीं फँसता है ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण द्वैतभाव का परित्याग कर विषय-सम्बन्ध से निर्मुक्त चेतनतत्त्वभूत विशुद्ध चिन्मात्र आत्मतत्त्व स्थित हो जाये ॥ १४ ॥

स्वप्रकाश स्वयमात्मा के द्वारा अपने-आप जब, स्पन्दन-शक्ति को वायु के समान, सकङ्कल्पनात्मक शक्ति को उत्पन्न करने पर भिन्न की तरह भासमान सङ्कल्प-कलनात्मक मनरूप हो जाता है और विश्वाकार अपनी आकृति की भावना कर वह समष्टि मन बन जाता है ॥ १५, १६ ॥

तत्सङ्कल्पात्मकं चेतो यथेदमखिलं जगत् ।
सङ्कल्पयति सङ्कल्पैस्तथैव भवति क्षणात् ॥ १७ ॥
कीटत्वमब्जजत्वं च मेरुत्वं मरुतां तथा ।
मनो जीवमहङ्कारबुद्धिचित्तादिनामकम् ॥ १८ ॥
सङ्कल्पतो द्वितकत्वमेत्य चेतो जगत् स्थितिम् ।
तनोति तस्यां तदनु नानातां गच्छति स्वयम् ॥ १९ ॥
सङ्कल्पमयमेवेदं जगदाभोगि दृश्यते ।
न सत्यं न च मिथ्यैव स्वप्नजालमिवोत्थितम् ॥ २० ॥
जन्तोर्यथा मनोराज्यं विविधारम्भभासुरम् ।
ब्राह्मं तथेदं विततं मनोराज्यं विराजते ॥ २१ ॥
यथाभूतार्थभावित्वात्तदेतत्प्रविलीयते ।
परमार्थेन दृष्टं चेत्तदिदं नैव किञ्चन ॥ २२ ॥
दृश्यं त्वपरमार्थेन प्रयाति शतशाखताम् ।
जलमूर्मितरङ्गादिकलनार्हं परिस्फुरन् ॥ २३ ॥

वह विश्वाकार सङ्कल्परूप समष्टिचित्त इस जगत् की जिस रूप से कल्पना करता है उन सङ्कल्पों से तत्क्षण उस रूप का हो जाता है ॥ १७ ॥

वही मन कीटरूप, ब्रह्मरूप, सुमेरुरूप एवं मरुभूमिरूप हो जाता है, उसी के जीव, अहङ्कार, बुद्धि, चित्त आदि नाम हैं ॥ १८ ॥

वही चित्त सङ्कल्प से द्वित्व और एकत्व प्राप्त कर जगत् की व्यवस्था बनाता है और उसके बाद उसी में नानारूप स्वयं हो जाता है ॥ १९ ॥

यह जो जगद्रूप विशाल आकार दृष्ट है, वह सब मनका सङ्कल्प ही है, वह न सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु स्वप्नों के सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है ॥ २० ॥

जैसे साधारण प्राणी का मनोराज्य विविध सामग्री-रचनाओं से सुन्दर है हिरण्यगर्भ का भी यह व्यापक मनोराज्य वैसे ही सुन्दर है ॥ २१ ॥

जगत् परब्रह्मरूप है, इस प्रकार की भावना करने पर प्रसिद्ध यह जगत् विलीन हो जाता है और परमार्थतः जगत् तो कुछ भी नहीं है ॥ २२ ॥

यह दृश्य जगत् को अपरमार्थ दृष्टि से देखा जाय, तो हजारों शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है। जैसे समुद्र जलरूप होता हुआ ही ऊर्मि, तरङ्ग आदि कल्पना योग्य रूप का परिग्रहण कर प्रत्यक्ष समुद्रस्वरूप धारण करता है, वैसे ही हजारों कर्म कर रहा भी पुरुष

यथाम्बुधिर्वपुर्धत्ते स्वाभावेन तथा चितः ।
कुर्वन् कर्मसहस्राणि ह्यणुचित्स्पन्दनादृते ॥ २४ ॥
नाऽपूर्वं कुरुते किञ्चित् किञ्चिद्भेदमतस्त्यजन् ।
गच्छञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्वदन्व्यवहरन्स्वपन् ।
नाऽपूर्वं विद्यते किञ्चित्सत्यमित्येव भावयन् ॥ २५ ॥
यद्यत्करोषि तद्विद्धि चिन्मात्रममलं ततम् ।
ब्रह्म प्रबृंहिताकारं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ २६ ॥
पदार्थजाते सर्वस्मिन्संवित्सारमये स्थिते ।
संविदेवेदमखिलं जगन्नान्याऽस्ति कल्पना ॥ २७ ॥
संवित्स्फुरणमात्रेऽस्मिन् जगज्जालकनामनि ।
इदमन्यदिदं चाऽन्यदिति मिथ्याग्रहः कुतः ॥ २८ ॥
सम्भवादखिलाकारेष्वेकस्या एव संविदः ।
संवेद्यमपि नास्त्येव बन्धमोक्षावतः कथम् ॥ २९ ॥
मोक्षोऽयमेष खलु बन्ध इति प्रसह्य
चिन्तां निरस्य सकलां विफलाभिमानाम् ।

चिदाभासयुक्त मन के स्पन्दन के बिना कूटस्थ चैतन्य का अपूर्व कुछ भी विकार आदि नहीं कर सकता, इसलिए आप भी तुच्छतर दृश्यभेद का त्याग कर जाना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, बोलना, व्यवहार करना, सोना आदि व्यवहार करते हुए भी अभिनव जगद्रूप कुछ सत्य नहीं है, किन्तु पूर्वसिद्ध ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, इस प्रकार की भावना करें और स्थित रहें ॥ २३-२५ ॥

आप जो कुछ करते हैं उसे निर्मल चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही जानें क्योंकि ब्रह्म ही जगत् के रूप में विवर्तित होकर परिबृंहित है। अतः जगत् उससे भिन्न नहीं है ॥ २६ ॥

समस्त पदार्थ चैतन्य-साररूप से ही स्थित होनेपर समस्त जगत् संविद्रूप ही है, यह मानना चाहिए, दूसरी कल्पना नहीं है ॥ २७ ॥

जगज्जाल के नाम से यह केवल संवित् का स्फुरण ही विद्यमान होने से—यह दूसरा है, यह उससे भिन्न है, इत्यादि मिथ्याज्ञान कहाँ से उत्पन्न होगा ॥ २८ ॥

जितने आकार हैं उन सब में एक संवित् का ही अस्तित्व होने से न संवेद्य का अस्तित्व है और न उसके मूल का ही अस्तित्व है, इसलिए बन्ध और मोक्ष ही किस तरह के ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी ! यह मोक्ष है, यह बन्ध है इत्यादि समस्त निष्फल अभिमानरूप चिन्ताओं का यत्नपूर्वक त्याग कर वाक् आदि समस्त इन्द्रियों के ऊपर विजय

मौनी वशी विगतमानमदो महात्मा कुर्वन्स्वकार्यमनहङ्कृतिरेव तिष्ठ ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमार्थोपदेशो नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

पाकर मौनी, जितेन्द्रिय तथा मान और मद से रहित होकर अपने योग्य राज्य आदि कार्यों को करते हुए अहङ्कार रहित आप महात्मा ही बनकर स्थित रहिये ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में परमार्थोपदेश नामक कुसुमलता का एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११४ ॥

११५

वसिष्ठ उवाच

महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवाऽनघ ! ।
सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

किमुच्यते महाकर्ता महात्यागी किमुच्यते ।
किमुच्यते महाभोक्ता सम्यक्कथय मे प्रभो ! ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतद्व्रतत्रयं राम ! पुरा चन्द्रार्धमौलिना ।
भृङ्गीशाय तु सम्प्रोक्तं येनाऽसौ विज्वरः स्थितः ॥ ३ ॥
सुमेरावुत्तरे शृङ्गे पूर्वं शशिकलाधरः ।
अतिष्ठदग्निसंकाशे समग्रपरिवारवान् ॥ ४ ॥
तमपृच्छन्महातेजास्तनुविज्ञानवान् स्थितः ।
भृङ्गीशः प्रणतो राम ! बद्धाञ्जलिरुमापतिम् ॥ ५ ॥

भृङ्गीश उवाच

भगवन् ! देवदेवेश ! सर्वज्ञ ! परमेश्वर ।
यदहं परिपृच्छामि कृपया तद्वदाऽऽशु मे ॥ ६ ॥
संसाररचनां नाथ ! तरङ्गतरलामिमाम् ।
अवलोक्य विमुह्यामि तत्त्वविश्रान्तिवर्जितः ॥ ७ ॥
कमन्तर्निश्चयं कान्तमुररीकृत्य सुस्थितम् ।
अस्मिन् जगज्जीर्णगृहे तिष्ठामि विगतज्वरम् ॥ ८ ॥

ईश्वर उवाच

सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
महाभोक्ता महाकर्ता महात्यागी भवाऽनघ ! ॥ ९ ॥

११५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे पापशून्य निर्मल ! आप पुण्य-पाप आदि की शङ्काओं का परित्याग कर और निर्भय अविनाशी कूटस्थ आत्मभाव का अवलम्बन कर महाकर्ता, महाभोक्ता एवं महात्यागी हो जायें ॥ १ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे प्रभो ! किसे पुरुष महाकर्ता कहा जाता है, किसे महाभोक्ता पुरुष कहा जाता है तथा किसे महात्यागी पुरुष कहा जाता है, यह भली-भाँति मुझसे कहिये ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! पहले भगवान् महादेवजी ने ये तीन व्रत भृङ्गीश से कहे थे और इन्हीं तीनों व्रतों के प्रभाव से भृङ्गीश संसारज्वर से निर्मुक्त हो गया था ॥ ३ ॥

किसी समय की बात है कि सुमेरु पर्वत के अग्नि सदृश उत्तरीय शिखर पर अपने समस्त परिवार से समन्वित भगवान् शङ्कर विराजमान थे ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी ! अपने परिवार के साथ बैठे उमापति से साधारण आत्मज्ञान रखने वाला महान् तेजस्वी विनम्र भृङ्गीश ने भी वहीं पर उपस्थित उसने अञ्जलि बाँधकर पूछा ॥ ६ ॥

भृङ्गीश ने कहा—हे भगवन् ! हे देवताधीशों के स्वामिन् ! हे सर्वज्ञ ! हे परमेश्वर ! जो मैं आप से पूछता हूँ, उसे कृपाकर मुझ से शीघ्र कहें ॥ ६ ॥

हे नाथ ! तरङ्ग के सदृश थोड़े समय में नष्ट हो जाने वाली इस सृष्टि रचना का अवलोकन कर मैं बड़ा मुग्ध हो गया हूँ। यद्यपि साधारणरूप से तत्त्व का परिज्ञान होते हुए भी उससे विश्रान्ति मुझे नहीं मिल रही है ॥ ७ ॥

इस जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण घर के अन्दर विश्रान्ति सुख से रमणीय किस आन्तर निश्चय का अवलोकन कर मैं समग्र चिन्ताज्वर से निर्मुक्त हो निश्चलरूप से स्थित रह सकता हूँ ॥ ८ ॥

ईश्वर ने कहा—हे अनघ ! तुम समस्त शङ्काओं को छोड़कर अविनाशी निर्भय कूटस्थ आत्मभाव का अवलम्बन कर महाभोक्ता, महाकर्ता और महात्यागी हो जाओ ॥ ९ ॥

भृङ्गीश उवाच

किमुच्यते महाकर्ता महाभोक्ता किमुच्यते ।
किमुच्यते महात्यागी सम्यक्कथय मे प्रभो ॥ १० ॥

ईश्वर उवाच

धर्माधर्मौ महाभाग शङ्काविरहिताशयः ।
यः करोति यथाप्राप्तौ महाकर्ता स उच्यते ॥ ११ ॥
रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ १२ ॥
मौनवान्निरहम्भावो निर्मलो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगं महाकर्ता स उच्यते ॥ १३ ॥
शुभाशुभेषु कार्येषु धर्माधर्मैः कुशङ्कया ।
मतिर्न लिप्यते यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ १४ ॥
सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थिते ।
निरिच्छं वर्तते कार्ये महाकर्ता स उच्यते ॥ १५ ॥
उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते यो नोदेति महाकर्ता स उच्यते ॥ १६ ॥
यथार्थकाले मतिमानसंसक्तमना मुनिः ।
कार्यानुरूपवृत्तस्थो महाकर्ता स उच्यते ॥ १७ ॥
उदासीनः कर्तृतां च कर्माकर्माऽऽचरंश्च यः ।
समं यात्यन्तरत्यन्तं महाकर्ता स उच्यते ॥ १८ ॥
स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै ।
शुभाशुभं ह्याचरन् यो महाकर्ता स उच्यते ॥ १९ ॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
सममेव मनो यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ २० ॥
न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदभिकाङ्क्षति ।
भुङ्क्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ २१ ॥

भृङ्गीश ने कहा—हे प्रभो ! किस लक्षण की प्राप्ति हो जाने से पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कहा जा सकता है, उन्हें मुझ से भलीभाँति कहें ॥ १० ॥

हे महाभाग ! आत्मा न तो कर्ता है और न भोक्ता ही है, इस प्रकार के निश्चय से कर्तृत्व आदि शङ्काओं से रहित मनवाला हो समयानुसार प्राप्त धर्म और अधर्म का जो पुरुष अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ ११ ॥

राग-द्वेष पैदा करने वाली चेष्टा और सुख-दुःख की प्रयोजक धर्माधर्मरूप क्रिया को फलाफल की इच्छा से रहित मन से—जो पुरुष एकमात्र लोकसंग्रहार्थ आचरण करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १२ ॥

अहम्भाव से शून्य, निर्मल और मात्सर्यनिर्मुक्त उद्वेग को छोड़कर मुनि की क्रियाओं से युक्त हो मनन आदि क्रियाओं का जो पुरुष अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १३ ॥

प्रारब्ध से अनुष्ठित अश्वमेध आदि सत्कर्म और कलञ्जभक्षण आदि असत्कर्मों की दशा 'मैं धार्मिक हूँ, मैं अधार्मिक हूँ', इत्यादि कुशङ्का से कल्पित धर्म और अधर्म द्वारा जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १४ ॥

जो कहीं पर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षी के समान निर्विकार रहता है और जो प्राप्त कार्य का निरीह होकर व्यवहार करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है ॥ १५ ॥

जो पुरुष उद्वेग और आनन्द से रहित निर्मल समबुद्धि से शोकजनक परिस्थितियों में शोक नहीं करता और हर्ष-जनक परिस्थितियों में हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १६ ॥

अपने प्रारब्ध से जिस समय में जो भी कोई उचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समय में उस कार्य के लिए चेष्टा करने में तत्पर रहने वाला, आसक्ति शून्य बुद्धिमान् मुनि ही महाकर्ता कहा जाता है ॥ १७ ॥

उदासीन होकर विहित और निषिद्ध कर्मों का स्वयं आचरण या दूसरों को आचरण कराने के लिए प्रेरणा हेतु वाला पुरुष—मन में आत्मा के अकर्तृत्व आप के निश्चय से दोनों जगह समभाव से समन्वित रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १८ ॥

जो स्वभाव से ही शान्त है, जो मित्र और शत्रुओं में शुभाशुभ का आचरण करने पर भी समता नहीं छोड़ता, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १९ ॥

जन्म, स्थिति, विनाश आदि भावविकारों में तथा वृद्धि एवं ह्रास से युक्त शरीर में आत्मबुद्धि के कारण जिसका मन एकरूप ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ २० ॥

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो किसी की अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्ध से प्राप्त हुए सुख, दुःख आदि सबका उपभोग करता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २१ ॥

नाऽऽदत्तेऽप्याददानश्च नाचरत्याचरन्नपि ।
भुञ्जानोऽपि न यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥२२॥
साक्षिवत्सकलं लोकव्यवहारमखिन्नधीः ।
पश्यत्यपगतेच्छं यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २३ ॥
सुखैर्दुःखैः क्रियायोगैर्भावाभावैर्भ्रमप्रदैः ।
यस्य नोत्क्रामति मतिर्महाभोक्ता स उच्यते ॥ २४ ॥
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २५ ॥
महान्ति सुखदुःखानि यः पयांसीव सागरः ।
समं समुपगृह्णाति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २६ ॥
अहिंसा समता तुष्टिश्चन्द्रबिम्बादिवांऽशवः ।
नोप यस्माच्चोपयाता महाभोक्ता स उच्यते ॥ २७ ॥
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमुत्तमम् ।

जो पुरुष इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण कर रहा भी अद्वय, असङ्ग आत्मा में निष्ठा के कारण वास्तव में ग्रहण नहीं करता; हाथ, पैर आदि से आदान, गमन आदि का आचरण कर रहा भी जो आत्मबुद्धि से आचरण नहीं करता एवं उपभोग कर रहा भी नित्यतृप्त आत्मा के दर्शन के कारण उपभोग नहीं करता है वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २२ ॥

जो पुरुष खिन्नबुद्धि न होकर उदासीन साक्षी के सदृश समस्त लोकव्यवहारों को किसी प्रकार की इच्छा के बिना देखता रहता है वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २३ ॥

विक्षेप के हेतु सुख-दुःखों से; जय, पराजय आदि क्रिया-योगों से तथा लाभा-लाभों से जो पुरुष चित्त विक्षेप को प्राप्त नहीं होता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २४ ॥

जरा, मरण, आपत्ति, राज्य और दारिद्र्य आदि सबको ब्रह्मदृष्टि से रम्य ही जो पुरुष समझता है वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २५ ॥

जो मनुष्य बड़े-बड़े सुख-दुःखों को भोग लिए समान रूप से वैसे ही ग्रहण करता है जैसे समुद्र भिन्न-भिन्न जलों को समानरूप से ग्रहण करता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २६ ॥

वैसे ही जिस पुरुष से अहिंसा, समता, सन्तुष्टि आदि गुण वस्तुतः उदित न होते हुए भी उदित होते हैं—जैसे चन्द्रबिम्ब से किरणें उदित न होती हुई भी उदित होती हैं वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २७ ॥

कड़ुआ, खट्टा, नमकीन, तीता, अदिव्य, दिव्य,

अधमं योऽत्ति साम्येन महाभोक्ता स उच्यते ॥ २८ ॥
सरसं नीरसं चैव सुरतं विरतं तथा ।
यः पश्यति समं सौम्यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २९ ॥
क्षारे खण्डप्रकारे च शुभे वाऽप्यशुभे तथा ।
समता सुस्थिरा यस्य महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३० ॥
इदं भोज्यमभोज्यं चेत्येवं त्यक्त्वा विकल्पितम् ।
गताभिलाषं यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३१ ॥
आपदं सम्पदं मोहमानन्दमपरं परम् ।
यो भुङ्क्ते समया बुद्ध्या महाभोक्ता स उच्यते ॥३२॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येनेति संत्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३३ ॥
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३४ ॥

सुस्वाद, अस्वादु निकृष्ट भी अन्न जो पुरुष समान बुद्धि से खा लेता है वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २८ ॥

सरस और नीरस तथा सुरत और विरत को जो सौम्य पुरुष एक-सा देखता है वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २९ ॥

क्षारयुक्त तथा चीनी से बनाये गये विभिन्न भक्ष्य पदार्थों से एवं शुभ या अशुभ वस्तुओं में जिस पुरुष की निश्चल समता रहती है, वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ ३० ॥

यह पदार्थ भोजन करने योग्य है और यह भोजन करने योग्य नहीं है, इस तरह की विकल्पभावना को छोड़ करके जो पुरुष अभिलाषाओं से शून्य होकर भोजन करता है वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ ३१ ॥

जो पुरुष आपत्ति, सम्पत्ति, मोह तथा आनन्ददायक उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट अन्न या वस्तु का जो सर्वत्र एकरूप ब्रह्मदृष्टि से उपभोग करता है वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है ॥ ३२ ॥

धर्म, अधर्म, सुख, दुःख तथा जन्म एवं मरण का जिस पुरुष ने निरतिशयानन्द पूर्णाद्वयात्म बुद्धि से त्याग करने वाला महात्यागी कहा जाता है ॥ ३३ ॥

जिस पुरुष ने सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त शङ्काओं, वाणी, मन और शरीर की सभी चेष्टाओं तथा सर्वविध निश्चयों का अपनी बुद्धि से भलीभाँति त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३४ ॥

देहस्य मनसो दुःखैरिन्द्रियाणां मनःस्थितेः ।
नूनं येनोज्झिता सत्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३५ ॥
न मे देहो न जन्माऽपि युक्तायुक्ते न कर्मणी ।
इति निश्चयवानन्तर्महात्यागी स उच्यते ॥ ३६ ॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तःपरित्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३७ ॥
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३८ ॥
इत्युक्तं देवदेवेन भृङ्गीशाय पुराऽनघ ! ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य तिष्ठ राम ! गतज्वरः ॥ ३९ ॥
नित्योदितं विमलरूपमनन्तमाद्यं
ब्रह्माऽस्ति नेतरकलाकलनं हि किञ्चित् ।
इत्येव भावय निरञ्जनतामुपेतो
निर्वाणमेहि सकलामलशान्तवृत्तिः ॥ ४० ॥
अनामयं ब्रह्म समस्तकल्प-
कार्यैकबीजं परमात्मरूपम् ।
बृहच्च तद्बृंहितसर्वभावं खमस्ति
भातीह यदङ्ग किञ्चित् ॥ ४१ ॥
अन्यत्क्वचित्किञ्चिदिदं कदाचि-
न्न संभवत्येव सदप्यसच्च ।
इत्येव साधो ! दृढनिश्चयोऽन्तः
स्थित्वा गताशङ्कविलासमास्स्व ॥ ४२ ॥
अन्तर्मुखः सन्सततं समस्तं
कुर्वन्बहिष्ठं खलु कार्यजातम् ।
न खेदमायासि कदाचिदेव
निराकृताहङ्कृतितामुपैषि ॥ ४३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
व्रतत्रयनिरूपणं नाम पञ्चदशोत्तर शततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

देह, मन, इन्द्रियों तथा मन की स्थिति की सत्ता का तत्-तद् दुःखों के साथ जिसने मिथ्यात्वबुद्धि से परित्याग करने वाला महात्यागी कहा जाता है ॥ ३५ ॥

शरीर मेरा नहीं है, मेरा जन्म भी नहीं हुआ है, इष्ट और अनिष्ट के आचरणरूप विहित और निषिद्ध कर्म भी मेरे नहीं हैं—इस प्रकार अपने हृदय में जिस पुरुष ने दृढ़ निश्चय कर लिया है वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३६ ॥

जिस पुरुष ने धर्म और अधर्म (शारीरिक) तथा वाणी आदि द्वारा चेष्टित (मानसिक) सब विषयों का परित्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३७ ॥

जिस पुरुष ने यह दिखाई दे रही सम्पूर्ण दृश्य कलना का अच्छी तरह से त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३८ ॥

हे अनघ ! देवदेवेश भगवान् शङ्कर ने बहुत दिन पहले भृङ्गीश को इस तरह का उपदेश दिया था। हे रामजी ! आप भी इसी दृष्टि का अवलम्बन कर सांसारिक तापों से शून्य हो अवस्थित रहिये ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामजी ! अज्ञानरूपी अञ्जन से शून्य निर्मल स्थिति को प्राप्तकर आप यह भावना कीजिये कि सदा प्रकाशमान, निर्मलस्वरूप, आदि और अन्त से शून्य केवल परब्रह्म ही अन्त में विद्यमान रहता है, ब्रह्म से अतिरिक्त कल्पनाजनित कुछ भी पदार्थ नहीं है। इस प्रकार की निरन्तर भावना कर कल्पनारूपी मलों से निर्मुक्त वृत्तिवाले हो निर्वाण पद को प्राप्त करे ॥ ४० ॥

हे प्रिय ! इस संसार में दिखाई देने वाले सब कल्पों में प्रसिद्ध कार्य और कारण का मूल कारण निर्विकार परमात्मस्वरूप परब्रह्म ही है। वह बड़े-बड़े अनेक सर्गों से विशाल आकारवाला होने पर भी वास्तव में आकाशरूप ही है, अर्थात् सम्पूर्ण विकल्पों से निर्मुक्त ही हैं ॥ ४१ ॥

हे साधो ! कहीं पर कुछ भी पदार्थ चाहे वह स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो या चाहे कारणरूप हो, सदा एकरस परब्रह्म से भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता है इसलिए आप 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ', इस प्रकार का अपने अन्दर निश्चय करके सर्वप्रथम समाधि के अभ्यास का बल प्राप्त कर स्थित रहे। अनन्तर फिर क्रम से सप्तम भूमिका के ऊपर चढ़कर सम्पूर्ण आशङ्काओं के विलास को छोड़कर बैठ जाइये ॥ ४२ ॥

हे साधो ! यदि आप अन्तर्मुख हो अहङ्कारशून्य स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तो बाहर के समस्त कार्यों का निरन्तर सम्पादन करते हुए भी आप कभी-भी खेद को नहीं प्राप्त करेंगे ॥ ४३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में व्रतत्रयनिरूपण नामक कुसुमलता का एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११५ ॥

११६

राम उवाच

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! चित्तेऽहङ्कारनामनि ।
गलिते वा गलद्रूपे लिङ्गं सत्त्वस्य किं भवेत् ।। १ ।।

वसिष्ठ उवाच

बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम् ।
लोभमोहादयो दोषाः पयांसीव सरोरुहम् ।। २ ।।
मुदिताद्याः श्रियो वक्त्रं न मुञ्चन्ति कदाचन ।
गलत्यहङ्कारमये चित्ते गलति दुष्कृते ।। ३ ।।
वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव त्रुटचन्त्यलं शनैः ।
कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ।। ४ ।।
कामः क्लमं गच्छति च लोभः क्वाऽपि पलायते ।
नोल्लसन्तीन्द्रियाण्युच्चैः खेदः स्फुरति नोच्चकैः ।।५।।
न दुःखान्युपबृंहन्ति न वल्गन्ति सुखानि च ।
सर्वत्र समतोदेति हृदि शैत्यप्रदायिनी ।। ६ ।।
सुखदुःखादयस्त्वेते दृश्यन्ते यदि वा मुखे ।
दृश्यन्त एव तुच्छत्वान्नाऽनुलिम्पन्ति ते मनः ।। ७ ।।
चित्ते गलति गीर्वाणगणस्य स्पृहणीयताम् ।
साधुर्गच्छत्युदेत्यस्य समता शीतचन्द्रिका ।। ८ ।।
उपशान्तं च कान्तं च सेव्यमप्रतिरोधि च ।
निभृतं चोर्जितं स्वच्छं वहतीत्थं महद्वपुः ।। ९ ।।
भावाभावविरुद्धोऽपि विचित्रोऽपि महानपि ।
नाऽऽनन्दाय न खेदाय सतां संसृतिविभ्रमः ।। १० ।।
बुध्यालोकेन साध्येऽस्मिन् वस्तुन्यस्तमितापदि ।
प्रवर्तते न यो मोहात्तं धिगस्तु नराधमम् ।। ११ ।।

११६

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे सर्वधर्मज्ञ ! हे भगवन् ! अहङ्कारनामक चित्त जिस समय नष्ट हो जाता है या नष्ट होने लग जाता है उस समय हुए वासनाशून्य मन का क्या स्वरूप होता है ।। १ ।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! शुभ्र वासनाशून्य मन को परीक्षा करने के लिए दूसरों के द्वारा जबर्दस्ती पैदा कराये गये भी लोभ, मोह आदि दोष मन को वैसे ही लिप्त नहीं कर सकते, जैसे जल कमल को लिप्त नहीं कर सकते हैं ।। २ ।।

हे श्रीरामजी ! ज्ञानाग्नि से विषाद हेतु पापरूप अहङ्कारनामक चित्त के विलीन हो जाने पर प्रसन्नता शोभाएँ मुख को नहीं छोड़ती ।। ३ ।।

वासनाओं की गाँठे छिन्न-भिन्न-सी होकर धीरे-धीरे बिलकुल टूटने लग जाती हैं । क्रोध कम होने लग जाता है और मोह तो निःसन्देह मन्दता को प्राप्त हो जाता है ।। ४ ।।

काम थक जाता है और लोभ तो न जाने कहाँ भाग जाता है, इन्द्रियाँ खूब उल्लसित नहीं होतीं और न खेद ही अधिक स्फुरित होता है ।। ५ ।।

उस समय दुःख बढ़ते नहीं और सुख बलबलाते नहीं हैं । हृदय में ठण्ढक पहुँचानेवाली सब जगह समता उदित होती है ।। ६ ।।

ये सुख, दुःख आदि यदि दिखाई देते भी हैं, तो फिर वे दृष्ट ही होते हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष की दृष्टि में तुच्छ होने के कारण उसके मन को वे लिप्त नहीं कर पाते हैं । भोग कराने वाले प्रबल प्रारब्ध से दुःख और दुःख के चिह्न मालिन्याभास का कभी उदय होने पर भी अगले क्षण में ही मिथ्यात्वबुद्धि से उनके बाधित हो जानेपर ज्ञानी पुरुष के चित्त को वे लिप्त नहीं कर पाते, इसलिए ज्ञानियों के मुखपर जो स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है, उसका विघात नहीं होता है ।। ७ ।।

चित्त गल जाने पर साधु पुरुष देवताओं का भी स्पृहणीय बन जाता है । इस पुरुष के हृदय में शीतल चांदनीरूपी समता उदित होती है ।। ८ ।।

इस तरह के साधु पुरुष स्वभावतः उपशान्त, कमनीय, सेव्य दूसरे की अभिलाषा का विघात न करने वाले विनीत, बलशाली, स्वच्छ और महान् शरीर को धारण करता है ।। ९ ।।

विभव और दरिद्रता से विषम, विचित्र और महान् होता हुआ भी यह संसारविभ्रम गलित-अहङ्कार वाले सज्जनों के प्रति न तो आनन्द के लिए है और न खेद के ही लिए है ।। १० ।।

बुद्धिरूपी प्रकाश से लभ्य इस परमात्मवस्तु में, जिसका लाभ होने पर समस्त आपत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, जो मनुष्य मोह के कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नराधम को धिक्कार है ।। ११ ।।

विश्रान्तिमाप्तुमुचितां चिरमङ्ग दुःख
रत्नाकरं जननसागरमुत्तितीर्षोः ।
कोऽहं कथं जगदिदं च परं च किं स्या-
त्किंभोगकैरिति मति परमोऽभ्युपायः ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे गलितचित्तलक्षणकथनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

हे श्रीरामजी ! दुःखरूपी रत्नों का आकर, जन्म और मरण से युक्त संसारसागर को पार करने की इच्छा रख रहे पुरुष के लिए निरतिशयानन्द आत्मा में चिरकाल तक समुचित विश्रान्ति पाने में 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है, परमात्मतत्त्व कैसा है ? इन तुच्छ भोगों से कौन-सा फल मिलेगा' इस प्रकार निरन्तर अभ्यस्तपूर्ण विचार और वैराग्यरूपिणी मति ही परम उपाय है, इसलिए उसी का आश्रयण करना चाहिए ॥ १२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में गलित-चित्तलक्षणकथन नामक कुसुमलता का एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११६ ॥

११७

वसिष्ठ उवाच

भवतामादिपुरुष इक्ष्वाकुर्नाम भूपतिः ।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यथा मुक्तस्तथा शृणु ॥ १ ॥
इक्ष्वाकुर्नाम भूपालः स्वराज्यं परिपालयन् ।
कदाचिदेकान्तगतो मनसा समचिन्तयत् ॥ २ ॥
जरामरणसंक्षोभसुखदुःखभ्रमस्थितेः ।
अस्य दृश्यप्रपञ्चस्य को हेतुः स्यादिति स्वयम् ॥ ३ ॥
जगतो न विवेदाऽसौ कारणं चिन्तयन्नपि ।
अथैकदाऽपृच्छदसौ ब्रह्मलोकागतं मनुम् ।
पूजितं स्वसभासंस्थं भगवन्तं प्रजापतिम् ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुरुवाच

मां योजयति धाष्टर्येन भगवन्करुणानिधे ! ।
भवत्प्रसाद एवाऽयं भवन्तं प्रष्टुमञ्जसा ॥ ५ ॥
कुतः सर्गोऽयमायातः स्वरूपं चाऽस्य कीदृशम् ।
कियदेतज्जगत्कस्य कदा केनेति कथ्यते ॥ ६ ॥
अहं कथं च विषमादस्मात्संसृतिविभ्रमात् ।
विमुच्येय घनास्तीर्णाज्जालादिव विहङ्गमः ॥ ७ ॥

मनुरुवाच

अहो नु चिरकालेन विवेके सुविकासिनि ।
वितथानर्थविच्छेत्ता सारः प्रश्नस्त्वया कृतः ॥ ८ ॥

११७

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इक्ष्वाकुवंश में समुत्पन्न आपके मूल पुरुष इक्ष्वाकु नामक राजा जैसे जिस प्रकार विचार से मुक्त हो गये, उस विचार को आप सुनिये ॥१॥

अपने राज्य का परिपालन करने वाले इक्ष्वाकु नामक राजा किसी समय एकान्त में जाकर अपने मन से स्वयं यह विचार करने लगे ॥ २ ॥

बुढ़ापा, मृत्यु, संक्षोभ, सुख, दुःख तथा नाना विध भ्रमों से पूर्ण स्थिति वाले इस दृश्य प्रपञ्च का हेतु क्या है ॥ ३ ॥

विचारशील वह राजा जब जगत् के कारण को न समझ सके तब उन्होंने एक दिन ब्रह्मलोक से आये हुए सभा में बैठे तथा पूजित हुए अपने पिता प्रजापति मनु से पूछा ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकु ने कहा—हे भगवन् ! आपकी दया ही आप से धृष्टतापूर्वक पूछने के लिए मुझे प्रेरित कर रही है। हे करुणानिधे ! यह सृष्टि कहाँ से आई है, इसका स्वरूप कैसा है, यह संख्या और परिमाण से कितना बड़ा है, किस भोक्ता तथा स्वामी का यह भोग्य बना हुआ है ? कब किसने इसकी रचना की है ? इत्यादि सब आप वैदिक रीति से अच्छी तरह कहिये। आशय यह है कि वेद आदि के आधार पर चले आ रहे उपदेशपरम्परारूप सम्प्रदाय के अनुसार जो आपको मालूम हुआ हो उसी का आप वर्णन कीजिये, तर्क से नई कल्पना कहने की दया न कीजिये। हे भगवन् ! सघन दूर तक बिछाये गये जाल से पक्षी की तरह इस विषम संसारजाल से मैं किस तरह मुक्त हो सकूँगा ? ॥ ५-७ ॥

श्रीमनु ने कहा—हे राजन् ! अहो चिरकाल के बाद सुन्दर विकासयुक्त विवेक होनेपर तुमने यह ऐसा प्रश्न किया है, मिथ्याभूत अनर्थों का उच्छेद कर देने वाला तथा सब प्रश्नों का सार है ॥ ८ ॥

यदिदं दृश्यते किञ्चित्तन्नास्ति नृप ! किञ्चन ।
यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ॥ ९ ॥
यत्तु नो दृश्यते किञ्चित्तन्न किञ्चिदिव स्थितम् ।
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्यादपि न किञ्चन ॥ १० ॥
अविनाशं तदस्तीह तत्सदात्मेति कथ्यते ॥ ११ ॥
इयं तु सर्वदृश्याढ्या राजन् ! सर्गपरम्परा ।
तस्मिन्नेव महादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता ॥ १२ ॥
भाःस्वभावसमुत्पन्ना ब्रह्मस्फुरणशक्तयः ।
काश्चिद्ब्रह्माण्डतां यान्ति काश्चिद्गच्छन्ति भूतताम् ।
अन्यास्त्वन्यत्वमायान्ति भवत्येवं जगत्स्थितिः ॥ १३ ॥
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवाऽस्ति निरामयम् ।
नैक्यमस्ति न च द्वित्वं संवित्सारं विजृम्भते ॥ १४ ॥
एकं यथा स्फुरति वारि तरङ्गभङ्गै-
रेवं परिस्फुरति चिन्न च किञ्चिदेव ।
त्वं बन्धमोक्षकलने प्रविमुच्य दूरे
स्वस्थो भवाऽभवभयोऽभयसार एव ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुमनुसंवादे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

हे महीपते ! यह जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह गन्धर्वनगर तथा मरुस्थल में जल जैसा अवस्थित है। मिथ्याभूय जगत् का असत्स्वरूप सर्वथा असत् ही है ॥ ९ ॥

साक्षी या इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देने वाली वस्तु किसी भी रूप से, प्रमाण न होने के कारण, अपने उपादान कारण में स्थित नहीं है। षष्ठ मननामक इन्द्रिय से अतीत होने के कारण उसकी सम्भावना भी नहीं है ॥ १० ॥

इस सृष्टि में अविनाशी पर वस्तु स्थित है वही 'सत्', 'आत्मा' इत्यादि नामों से कही जाती है ॥ ११ ॥

हे राजन् ! यह सम्पूर्ण दृश्यों से भरी हुई सृष्टि परम्परा उसी सदात्म स्वरूप महान् दर्पण में प्रतिबिम्ब को प्राप्त हो गई है ॥ १२ ॥

तेज के स्वभाव से उत्पन्न हुई ब्रह्म की स्फुरणशील कोई शक्तियां तो स्थूल समष्टि के अभिमान से ब्रह्माण्ड रूप में विवर्तित हो जाती हैं; कोई पृथिवी आदि के अभिमान से प्राणिरूपता को प्राप्त हो जाती हैं और इनसे अतिरिक्त जो कोई शक्तियां हैं वे अन्यता को यानी चार तरह के प्राणियों के रूप में प्राप्त हो जाती है इसी तरह जगत् की स्थिति होती है ॥ १३ ॥

इस संसार में न तो किसी का बन्ध है और न मोक्ष है, केवल एकमात्र सब विकारों से शून्य ब्रह्म ही है। इसमें न तो ऐक्य है और न द्वित्व ही है, केवल संवित्सार ही विजृम्भित हो रहा है ॥ १४ ॥

चिद्रूप ब्रह्म भी जगत् के नाना भेदों से वैसे ही स्फुरित होता है जैसे एक जल तरङ्ग भेदों से स्फुरित होता है और वह माया मात्र होने से कुछ भी नहीं हैं, इसलिए हे राजन् ! बन्ध और मोक्ष के भ्रम को दूर फेंक कर जिसको संसार का भय है ही नहीं, ऐसा तुम अभय रूप ब्रह्मसार ही हो जाओ ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में इक्ष्वाकुमनुसंवाद नामक कुसुमलता का एक सौ सत्तरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११७ ॥

११८

मनुरुवाच

सङ्कल्पोन्मुखतां याताः सत्यश्चिन्मात्रसंविदः ।
आपस्तरङ्गत्वमिव यान्ति भूमिप जीवताम् ॥ १ ॥
ते जीवाः संसरन्तीह संसारे पूर्वमुत्थिते ।
सुखदुःखदशामोहो मनस्येवाऽस्ति नाऽऽत्मनि ॥ २ ॥

११८

मनु ने कहा—हे महीपते ! जल के तरङ्गरूपता की प्राप्ति के समान ही तत्-तत् संस्कारों से विचित्र अविद्या में शुद्ध चैतन्य की प्रतिबिम्ब स्वरूप संवित्तियाँ सङ्कल्प की ओर उन्मुख होती हुई जीव स्वरूपता को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

उपाधि रूप से आविर्भूत इस संसार में अर्थात् समष्टि और व्यष्टि रूप मन के कार्य में वे जीव चक्कर काटते-फिरते हैं। वस्तुतः सुख-दुःख की दशाओं का मोह मन में रहता है, आत्मा में नहीं ॥ २ ॥

अदृश्यो दृश्यते राहुर्गृहीतेन यथेन्दुना ।
तथाऽनुभवमात्रात्मा दृश्येनाऽऽत्माऽवलोक्यते ॥ ३ ॥
न शास्त्रैर्नाऽपि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः ।
दृश्यते स्वात्मनैवाऽऽत्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया ॥४॥
पथिकाः पथि दृश्यन्ते रागद्वेषविमुक्तया ।
यथा धिया तथैवेते द्रष्टव्याः स्वेन्द्रियादयः ॥ ५ ॥
एतेषु नाऽऽदरः कार्यः सता नैवाऽवधीरणम् ।
पदार्थमात्रताविष्टास्तिष्ठन्त्वेते यथासुखम् ॥ ६ ॥
पदार्थमात्रं देहादि धिया सन्त्यज्य दूरतः ।
आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्ममयो भव ॥ ७ ॥
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा संसारनिबन्धनी ।
न कदाचिदियं बुद्धिरादेया हि मुमुक्षुभिः ॥ ८ ॥
नकिञ्चिन्मात्रचिन्मात्ररूपोऽस्मि गगनादणुः ।
इति या शाश्वती बुद्धिः सा न संसारबन्धनी ॥ ९ ॥

दृश्य अन्तःकरण तथा चरम साक्षात्कार रूप उसके परिणाम के कारण अनुभव मात्र स्वरूप आत्मा भी वैसे ही दिखाई देता है जैसे ग्रसित चन्द्रमा के कारण अदृश्य राहु दिखाई देता है ॥ ३ ॥

परमेश्वर न तो अनेक शास्त्रों के द्वारा दिखाई देता है और न गुरु के द्वारा ही दिखाई देता है वह तो अपनी सत्त्वस्थ अहन्ता-ममता से शून्य बुद्धि से ही अपने आप दिखाई देता है ॥ ४ ॥

अपनी सत्त्वस्थ बुद्धि से ही इन अपनी इन्द्रिय आदि का अवलोकन वैसे ही करना चाहिए जैसे मार्ग में राग-द्वेषशून्य बुद्धि से पथिक देखे जाते हैं ॥ ५ ॥

सज्जनों को इनमें आदर बुद्धि कभी न रखनी चाहिए और न इन्हें उपवास आदि के द्वारा सताना चाहिए पदार्थमात्रता में आविष्ट सुखपूर्वक रहना चाहिए ॥ ६ ॥

हे राजन् ! अपनी बुद्धि से देहादि पदार्थ मात्र का दूर से ही त्याग कर अपने अन्तःकरण को शीतल बनाकर शुद्ध आत्मदृष्टि से आत्मभाव प्रचुर हो जाओ ॥ ७ ॥

'देह मैं ही हूँ' यह जो बुद्धि है वह संसार में फँसाने वाली है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को ऐसी बुद्धि कभी नहीं अपनानी चाहिए ॥ ८ ॥

सर्वथा निष्कलङ्क चिन्मात्र स्वरूप मैं आकाश से भी सूक्ष्म हूँ—यह नित्य बुद्धि संसार में फँसाने वाली नहीं है ॥ ९ ॥

सब वस्तुओं में बाहर और भीतर सब जगह वैसे ही

यथा विमलतोयानां बहिरन्तश्च भावनम् ।
तेजस्तिष्ठति सर्वत्र तथाऽऽत्मा सर्ववस्तुषु ॥ १० ॥
सन्निवेशांशवैचित्र्यं यथा हेम्नोऽङ्गदादिता ।
आत्मनस्तदद्रूपा तथैव जगदादिता ॥ ११ ॥
विनाशवाडवाक्रान्तं भीमं कालमहार्णवम् ।
जगज्जालतरङ्गिण्यो यान्ति भूततरङ्गिकाः ॥ १२ ॥
तथाप्यद्याप्यपूर्णस्य यः पाता कालवारिधेः ।
तमात्मानं महागस्त्यं राजन् ! भावय सर्वदा ॥ १३ ॥
अनात्मन्यात्मतामस्मिन्देहादौ दृश्यजालके ।
त्यक्त्वा सत्वमुपारूढो गूढस्तिष्ठ यथासुखम् ॥ १४ ॥
कुचकोटरसंसुप्तं विस्मृत्य जननी सुतम् ।
यथा रोदिति पुत्रार्थं तथाऽऽत्मार्थमयं जनः ॥ १५ ॥
अजरामरमात्मानमबुद्ध्वा परिरोदिति ।
हा हतोऽहमनाथोऽहं नष्टोऽस्मीति वपुर्व्यये ॥ १६ ॥

आत्मा रहता है जैसे निर्मल जल के बाहर और भीतर सब जगह प्रकाशक तेज रहता है ॥ १० ॥

जगत् तथा इसकी जड़ माया रूप आकार भी आत्मा के ही कलाओं का वैसे ही एक वैचित्र्य है जैसे अङ्गद (केयूर) आदि रूप आभूषणों का आकार सुवर्ण के अवयवों का एक वैचित्र्य है ॥ ११ ॥

विनाश रूपी वाडवाग्नि से आक्रान्त भयंकर काल-रूपी सागर में प्राणिसमूह रूपी तरङ्गों वाली जगज्जाल रूपी नदियां यद्यपि मिल जाती हैं तथापि सम्पूर्ण जगज्जाल का भक्षक होने पर भी आज तक जिसकी तृप्ति न हो सकी, ऐसे काल रूपी सागर का जो पानकर्ता है, उस आत्मस्वरूपी महा अगस्त्य की—हे राजन् ! आप सदा—भावना करते रहिये ॥ १२-१३ ॥

अनात्मभूत इस देहादि दृश्य समूह में आत्मता का त्याग कर अर्थात् इस देहादि दृश्य समूह को आत्मा न समझ कर निर्वासन भाव में उपारूढ़ होकर गूढ़ रूप से सुखपूर्वक स्थित रहें ॥ १४ ॥

आत्मा के लिए यह मनुष्य वैसे ही रोता है जैसे स्तन कोटर के ऊपर सोये हुए बच्चे को भूल कर उसकी मां अपने बच्चे के लिए रोती है ॥ १५ ॥

शरीर के नष्ट हो जाने पर यह प्राणी आत्मा को अजर और अमर न जानकर हा, मैं मर गया, मैं अनाथ हो गया, हा अब तो मैं बिलकुल नष्ट ही हो गया इस प्रकार विलाप करता है ॥ १६ ॥

यथा वारि परिस्पन्दान्नानाकारं विलोक्यते ।
तथा सङ्कल्पवशतश्चिद्ब्रह्म परिबृंहति ॥ १७ ॥
संस्थाप्य सङ्कल्पकलङ्कमुक्तं
चित्तं त्वमात्मन्युपशान्तकल्पः ।
स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ
स्वस्थः सुखी राज्यमिदं प्रशाधि ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
इक्ष्वाकुमनुसंवादे अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

चिद्रूप ब्रह्म ही नाना प्रकार के आकारों में कार्य परम्परा से वैसे ही बढ़ता है जैसे परिस्पन्द के कारण एक ही जल नाना प्रकार के आकारों में दिखाई देता है ॥ १७ ॥

हे पुत्र ! तुम सङ्कल्प रूपी कलङ्कों से निर्मुक्त चित्त को आत्मा में स्थापित कर फिर उपशान्त के समान होते हुए क्योंकि उस समय समूल सम्पूर्ण संसार की उप शान्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध भोग के उपयोगी उसके प्रतिभास का अवशेष रह जाता है। व्यवहार के लिए देहेन्द्रियादि का स्पन्दन होने पर भी उसकी आभास-मात्रता होने से संस्पन्दन शून्य ब्रह्म की तरह इस व्यवहार-पूर्ण भूमि में स्वस्थ और सुखी होकर स्थित रहो और इस राज्य का परिपालन करते रहो ॥ १८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
इक्ष्वाकुमनुसंवाद नामक कुसुमलता का एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११८ ॥

११९

मनुरुवाच

सर्गात्मभिर्विभुः स्पन्दैः क्रीडते बालवत्स्वयम् ।
संहारात्मकशक्त्याऽथ संहृत्याऽऽत्मनि तिष्ठति ॥ १ ॥
स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्याबध्यते यया ।
स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्युन्मुच्यते यया ॥ २ ॥
चन्द्रार्कवह्नितप्तायोरत्नादीनां यथाऽर्चिषः ।
यथा पत्रादि वृक्षाणां निर्झराणां यथा कणाः ॥ ३ ॥
तथेदं ब्रह्मणि स्फारे जगद्बुध्यादिकल्पितम् ।
दुःखप्रदमतज्ज्ञानां तदेवाऽतदिव स्थितम् ॥ ४ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं तात ! विश्वविमोहिनी ।
सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा यदात्मानं न पश्यति ॥ ५ ॥
चिदादर्शमयं सर्वं जगदित्येव भावयन् ।
यस्तिष्ठत्युपशान्तेच्छं स ब्रह्मकवचः सुखी ॥ ६ ॥

११९

श्रीमनु ने कहा—सर्वव्यापक यह परमात्मा प्रसव-धर्मिणी अविद्याशक्ति से अविद्वानों के सामने स्वयं सृष्टि-रूप क्रियाओं से बच्चों की तरह क्रीड़ा किया करता है और विद्वानों के सामने सृष्टिसंहाररूप विद्याशक्ति से समूल सृष्टि का संहार करके कूटस्थ अद्वय आत्मा में सदैव स्थित रहता है ॥ १ ॥

राग से प्रवृत्त इसमें स्वयं ही ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि यह संसार के बन्ध में फँस जाता है तथा स्वयं ही वैराग्य से निवृत्त हुए उसमें ऐसी भी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि यह मुक्ति पा जाता है ॥ २ ॥

चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदि की प्रभा या ज्वाला; वृक्षों के पत्ते आदि तथा झरनों के कण जैसे कल्पित हैं, वैसे ही बृहत् इस ब्रह्म में जगत् की तथा जगत्-ग्राहक बुद्धि की विचित्रता भी कल्पित ही हैं। वही ब्रह्म अब्रह्म-जैसा होकर अज्ञानियों के लिए दुःखप्रद होकर अवस्थित है ॥ ३-४ ॥

हे तात, अहो ! विश्व को मोह में डाल देनेवाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके बल से सम्पूर्ण अङ्गों में (बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों में) भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त भी आत्मा को यह जीव नहीं देख पाता ॥ ५ ॥

यह सारा संसार चिद्रूपी आदर्शमय है, (दर्पण में जैसे नगर आदि प्रातिभासिक हैं वैसे ही ब्रह्म में यह जगत् प्रातिभासिक ही है वास्तविक नहीं है) इस तरह की भावना कर रहा जो प्राणी अपनी सारी इच्छाएँ नष्ट कर मोहरूपी हजारों बाणों से कभी-भी न टूटनेवाले ब्रह्मरूपी कवच पहिने हुए रहता है वही सुखी है ॥ ६ ॥

अहमर्थविमुक्तेन भावेनाऽभावरूपिणा ।
सर्वं शून्यं निरालम्बं चिद्रूपमिति भावयेत् ॥ ७ ॥
इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःखसन्ततेः ।
तस्मिन्साम्याग्निना दग्धे दुःखस्याऽवसरः कुतः ॥ ८ ॥
राजन्नभावनास्त्रेण रम्यारम्यविभागिता ।
पौरुषातिशयेनाऽऽशु स्वेनैवाऽन्तर्विलूयताम् ॥ ९ ॥
अभावनेन भावनं विलूय कर्मकाननम् ।
परं समेत्य तानवं विशोक एव तिष्ठ भोः ॥ १० ॥
भरितभुवनाभोगो भूत्वा विभागबहिष्कृतो
गलितकलनाभासोल्लासो विवेकविलासवान् ।
अधिगतपरानन्दस्पन्दश्चिराय निरामयः
शमसमसितस्वच्छाभोगो भवाऽभयचिद्वपुः ॥११॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुमनुसंवादे एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

अहङ्कार से विमुक्त तथा निर्मम सात्त्विक अन्तःकरण से 'सभी पदार्थ आकाश के सदृश निराधार चिद्रूप ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करे ॥ ७ ॥

यह अच्छा है और यह अच्छा नहीं है, इस प्रकार की भावना ही आपके दुःख के कारण है जब वह भावना सर्वत्र समदृष्टिरूपी अग्नि से जल गई, तब दुःख की प्राप्ति ही कहां ॥ ८ ॥

हे राजन् ! समाधि के अभ्यास से सभी पदार्थों की विस्मृति हो जाती है, इस विस्मृतिरूपी शस्त्र से प्रिया-प्रियरूप विषमता की कल्पना को समदृष्टि की दृढ़ता द्वारा आप स्वयं ही काट डालो, क्योंकि वही राग-द्वेष की हेतु है ॥ ९ ॥

हे राजन् ! तुम पहले समाधि से बाह्य अर्थों की भावना का और उसके हेतु धर्माधर्म के जङ्गल का छेदन करो फिर उत्तम ब्रह्मभाव प्राप्त कर शोकरहित हो जाओ ॥ १० ॥

हे पुत्र ! सबसे पहले तुम सदसद्वस्तु के विवेक के विलास से युक्त होकर समाधि से समस्त बाह्य कल्पनाओं से निर्मुक्त हो जाओ तथा समस्त इन विशाल भुवनों को अपने पूर्ण आत्मा के स्वरूप से ओत-प्रोत कर दो। अनन्तर असीम ब्रह्मरूप सुख के अभ्युदय को प्राप्त होकर उसके साथ एक रूप होते हुए संसाररूप रोग से शून्य होकर पांचवीं और छठी भूमिकाओं में दीर्घकाल तक स्थिर रहो और अन्त में सातवीं भूमिका में विक्षेप विषमता की आत्यन्तिक शान्ति से जनित सम, शुभ्र और निर्मल आकार से युक्त हो तुम निर्भय चैतन्य शरीर बन जाओ ॥ ११ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में इक्ष्वाकुमनुसंवाद नामक कुसुमलता का एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११९ ॥

१२०

मनुरुवाच

शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः ॥ १ ॥
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना ।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका ॥ २ ॥
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥ ३ ॥

१२०

मनु महाराज ने कहा—हे राजन् ! सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की सङ्गति से अपनी बुद्धि बढ़ानी चाहिए, यही योग की या योगी की पहली भूमिका कही गई है अर्थात् प्रथम शास्त्र-श्रवण करना चाहिए ॥ १ ॥

मनन दूसरी भूमिका है, असङ्ग अद्वितीय आत्मा की भावना यानी निदिध्यासन तीसरी भूमिका है और तत्त्व साक्षात्कार से अज्ञान आदि निखिल प्रपञ्च की निवृत्ति करने वाली विलापनी नाम की चौथी भूमिका है, यही चौथी भूमिका अविद्या विलय रूप कही जाती है ॥ २ ॥

समाधि के परिपाक से विशुद्ध संविद्रूप प्रकाशमय आनन्द की स्वरूप भूत पांचवीं भूमिका हैं, इस भूमिका में जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुष के सदृश रहता है; जैसे निद्रा शेष से आधा सोया हुआ पुरुष या आधा जागा हुआ पुरुष बाहर के शब्द आदि को

स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः ॥ ४ ॥
तुर्यावस्थोपशान्ताऽथ मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥ ५ ॥
तुर्यातीता तु याऽवस्था परा निर्वाणरूपिणी ।
सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम् ॥ ६ ॥
पूर्वावस्थात्रयं त्वत्र जाग्रदित्येव संस्थितम् ।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥ ७ ॥
आनन्दैकघनीभावात् सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी ।
असंवेदनरूपाऽथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥ ८ ॥
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा ।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशपदात्मिका ॥ ९ ॥
अन्तःप्रत्याहृतिवशाच्चेत्यं चेन्न विभावितम् ।
मुक्त एवाऽस्यसन्देहो महासमतया तया ॥ १० ॥
यद्भोगसुखदुःखांशैरपरामृष्टपूर्णधीः ।
सशरीरोऽशरीरो वा भवत्येवंमतिः पुमान् ॥ ११ ॥
न म्रिये न च जीवामि नाऽहं सन्नाऽप्यसन्नयम् ।
आत्मारामो नरस्तिष्ठेत्तन्मुक्तत्वमुदाहृतम् ॥ १२ ॥
व्यवहार्युपशान्तो वा गृहस्थो वाऽथवैककः ।
अहं न किञ्चिच्चिदिति मत्वा जीवो न शोचति ॥१३॥
अलेपकोऽहमजरो नीरागः शान्तवासनः ।
निर्मलोऽस्मि चिदाकाशमिति मत्वा न शोचति ॥१४॥
अहमन्तादिरहितः शुद्धो बुद्धोऽजरामरः ।
शान्तः समासमाभास इति मत्वा न शोचति ॥ १५ ॥
तृणाग्रेष्वम्बरे भानौ नरनागामरेषु च ।
यत्तदस्ति तदेवेति मत्वा भूयो न शोचति ॥ १६ ॥

जानते हुए भी भीतर निद्रा सुख में आसक्त होकर उत्तर-प्रत्युत्तर करने की इच्छा नहीं करता वैसे ही व्यवहार दशा में योगी इसी भूमिका में आसक्त होकर बाह्य व्यवहारों से उदासीन ही रहता है ॥ ३ ॥

छठी भूमिका स्वसंवेदन रूप होती है अर्थात् छठी भूमिका का स्वरूप स्वभावतः ही नष्ट न होने वाली ब्रह्माकारानुभववृत्ति है। इसका आकार एकमात्र आनन्द घन है और इसकी स्थिति सुषुप्त पुरुष की सी रहती है ॥ ४ ॥

ब्रह्माकारानुभवात्मक वृत्तिरूप तुर्यावस्था छठी भूमिका भी जिसमें विलीन हो जाती है, ऐसी मुक्ति रूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है, यही अवस्था समता, स्वच्छता और परिपूर्णता रूप है, इसमें केवल पूर्ण स्वप्रकाश स्वरूप परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ५ ॥

सबसे उत्तम मुक्ति रूप जो तुर्यातीत अवस्था है, वह विदेह मुक्ति में पर्यवसित हो जाने पर जीवित योगियों की विषय नहीं होती है ॥ ६ ॥

इन सातों में जो पहले की तीन भूमिकाएँ विद्यमान हैं, वे जग्रद्रूप ही हैं और चौथी जो भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गई है, क्योंकि उसमें जगत् स्वप्न के सदृश रहता है ॥ ७ ॥

आनन्द के साथ एकीभाव हो जाने से पांचवीं अवस्था सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थों के ज्ञान से रहित एकमात्र स्वसंवेदनरूप छठी भूमिका तुर्य शब्द से कही जाती है ॥ ८ ॥

तुर्यातीत शब्द से कहलानेवाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणी से परे है तथा केवल स्वप्रकाश परब्रह्मरूप ही है ॥ ९ ॥

हे राजन्! प्रसिद्ध सप्तम भूमिका के अवलम्बन से दृश्यों का प्रत्यगात्मा में विलय कर तुमने यदि चेत्य की भावना न की तो निश्चय मुक्त ही हो जाओगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं क्योंकि शरीर रहे चाहे शरीर न रहे, इस निश्चय से विषय और विषयसङ्ग से जनित सुख दुःखों से जिसकी बुद्धि आकृष्ट नहीं होती, वह जीवन्मुक्त-मति पुरुष है, वह अटल सिद्धान्त है ॥ १०–११ ॥

मैं न तो मरता हूँ, यह मैं न तो सत् हूँ या न असत् हूँ, ऐसे सुदृढ़ अनुभव से अपने स्वरूप में ही आराम करता हुआ वह पुरुष सप्तम भूमिका में स्थित रहता है। यही उसका मुक्त स्वरूप कहा गया है ॥ १२ ॥

व्यवहार करता हो, चाहे व्यवहार से विरत हो, गृहस्थ हो, चाहे अकेला विचरण करने वाला यति हो, परन्तु पुरुष 'मैं असत् दृश्यरूप नहीं हूँ, किन्तु विशुद्ध चैतन्यरूप हूँ' ऐसा निश्चय करने से सदा शोक से निर्मुक्त ही रहता है ॥ १३ ॥

मैं लिप्त नहीं हूँ, अजर हूँ, नीराग हूँ, वासनाओं से शून्य हूँ और निर्मल चैतन्यरूप आकाश हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोक से छूट जाता है ॥ १४ ॥

मैं अन्त और आदि से रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, शान्त हूँ, सम-विषम सभी पदार्थों में एक रूप से प्रकाशमान हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोक से परे हो जाता है ॥ १५ ॥

अत्यन्त तुच्छ तृणों के अग्रभाग में, असीम आकाश में, अत्यन्त प्रकाशशील सूर्य में, मनुष्यों में, नागों में, देवताओं में जो प्रसिद्ध सन्मात्र स्वरूप है, प्रत्यक् चिन्मात्र

तिर्यगूर्ध्वमधस्तान्मे व्यापको महिमा चितः ।
तस्याऽनन्तविलासस्य ज्ञात्वेति क इव क्षयी ॥ १७ ॥
बद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
यत्सुखाय तदेवाऽऽशु वस्तु दुःखाय नाशतः ।
अविनाभावनिष्ठत्वं प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ॥ १८ ॥
तनुवासनमर्थो यः सेव्यते वा विवासनम् ।
नाऽसौ सुखायते नाऽसौ नाशकाले न दुःखदः ॥ १९ ॥
क्षीणवासनया बुद्ध्या यत्कर्म क्रियतेऽनघ ! ।
तद्दग्धबीजवद्भूयो नाऽङ्कुरं प्रतिमुञ्चति ॥ २० ॥
देहेन्द्रियादिना कर्म करणौघेन कल्प्यते ।
एकः कर्ता च भोक्ता च क इवाऽङ्गोपपद्यते ॥ २१ ॥
भावनां सर्वभावेभ्यः समुत्सृज्य समुत्थितः ।
शशाङ्कशीतलः पूर्णो भाति भासेव भास्करः ॥ २२ ॥
क्रियमाणा कृता कर्मतूलश्रीर्देहशाल्मलेः ।
ज्ञानानिलसमुद्धूता प्रोड्डीय क्वाऽपि गच्छति ॥ २३ ॥
सर्वैव हि कला जन्तोरनभ्यासेन नश्यति ॥ २४ ॥
एषा ज्ञानकला त्वन्तः सकृज्जाता दिने दिने ।
वृद्धिमेति बलादेव सुक्षेत्रव्युप्तशालिवत् ॥ २५ ॥
एक स्फुरत्यखिलवस्तुषु विश्वरूप
आत्मा सरस्सु जलधिष्विव तोयमच्छम् ।
संशान्तसङ्कुलनभूरिकलापमेकं
सत्तांशमात्रमखिलं जगदङ्ग विद्धि ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
सप्तभूमिकाविभागो नाम विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

स्वरूप वही मैं हूँ, इस प्रकार जानकर फिर इस संसार रूप शोक से ग्रस्त नहीं होता हूँ ॥ १६ ॥

ऊपर, नीचे एवं अगल-बगल सर्वत्र चिद्रूप मेरी ही महिमा व्याप्त रूप से विद्यमान है, इस प्रकार असींम विलासों वाले उस परमात्मा की महिमा जानकर कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जन्म-मरण आदि दुःखों से युक्त रहेगा ॥ १७ ॥

दृढ़ आसक्ति लेकर आज्ञानी पुरुष जिस अर्थ का सेवन करता है वह उसे आपाततः सुख देता है । जो ऐसा अर्थ आपाततः सुखजनक होता है वह तत्क्षण ही नाश से दुःखजनक भी हो जाता है । इस रीति से यह बात सिद्ध हो गई कि सुख और दुःख साथ-साथ ही चलते हैं । अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष का भी जीवन विषयोपभोग के अधीन है, अतः विषय का नाश होने पर जैसे अज्ञानी को दुःख प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानी को भी दुःख प्राप्त होगा, ऐसी आशङ्काकर कुछ विषय कहने के लिए विषय का नाश होनेपर अज्ञानी को दुःख की उत्पत्ति किस रीति से होती है ॥ १८ ॥

चतुर्थादि भूमिकाओं में स्वल्प वासना से युक्त हो या सप्तम भूमिका से बिलकुल वासनारहित होकर जो पुरुष जिस अर्थ का सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुष के लिए न सुखजनक होता है और न नाशकाल में दुःखजनक ही होता है ॥ १९ ॥

हे अनघ, वासना निर्मुक्त बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह कर्म जले हुए बीज के सदृश रहता है वह फिर अङ्कुर पैदा नहीं करता ॥ २० ॥

हे प्रिय ! देह, इन्द्रिय आदि भिन्न-भिन्न जो कारण हैं उन्हीं के द्वारा कर्म किये जाते हैं । ऐसी स्थिति में एक कर्ता और एक भोक्ता की उपपत्ति कैसे हो सकती है यानी जो समुदाय कर्म करता है वह समुदाय ही उस कर्म फल का भोक्ता हो सकता है, असङ्ग अद्वितीय एक आत्मा नहीं ॥ २१ ॥

समस्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थों से अहन्ताध्यास को भलीभाँति हटाकर अलग हुआ चन्द्र के सदृश शीतल परिपूर्ण ज्ञानी पुरुष दीप्ति से सूर्य के सदृश चमकने लग जाता है ॥ २२ ॥

देहरूपी सेमल के वृक्ष से की जा रही और की गई कर्मरूपी तूलश्री ज्ञानरूपी वायु से कम्पित होकर न जाने उड़कर कहाँ चली जाती है ॥ २३ ॥

राजन्, जितने अज्ञान के अंश हैं, वे सब यदि बार-बार उनका परिशीलन न किया जाय तो नष्ट हो जाते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ २४ ॥

किन्तु यह ज्ञानकला यदि भीतर एकबार उत्पन्न हो जाय, तो उर्वरा भूमि में बोये गये धन के सदृश बलपूर्वक दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है, नष्ट नहीं होती ॥२५॥

वैसे ही समस्त वस्तुओं में विश्वरूप एक आत्मा वैसे ही स्फुरित होता है, दूसरा नहीं, जैसे सरोवरों या समुद्र में तरङ्ग आदि के रूप में केवल स्वच्छ जल ही जल स्फुरित होता है, अतः हे प्रिय ! यह जो सारा संसार है, उसे तुम तत्त्वज्ञान से अशेष सङ्कल्पों से रहित सत्यरूप अद्वितीय ब्रह्म ही जानो ॥ २६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में सप्तभूमिकाविभाग नामक कुसुमलता का एक सौ बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२० ॥

१२१

मनुरुवाच

यावद्विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः ।
अविवेकेन सम्पन्ना साऽप्याशा हि न वस्तुतः ॥ १ ॥
विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा ।
आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥ २ ॥
ऊर्ध्वादधस्तथाऽधस्तात्पुनरूर्ध्वं व्रजंश्चिरम् ।
मा संसारारघट्टस्य चिन्तारज्ज्वां घटीभव ॥ ३ ॥
इदं ममाऽहमस्येति व्यवहारघनभ्रमम् ।
ये मोहात्परिसेवन्ते अधस्ताद्यान्त्यधः शठाः ॥ ४ ॥
अस्याहमेष मे सोऽयमहमेवं तु यैः किल ।
मोहो बुद्ध्या परित्यक्त ऊर्ध्वादूर्ध्वं प्रयान्ति ते ॥ ५ ॥
स्वप्रकाशं स्वमात्मानमवलम्ब्याऽविलम्बितम् ।
आस्स्व संपूरिताकाशं जगन्ति नृप ! पश्य हे ॥ ६ ॥
यदैवैवं चितो रूपं ततं बुद्धमखण्डितम् ।
तदैव तीर्णः संसारः परमेश्वरतां गतः ॥ ७ ॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णुवरुणा यद्यत्कर्तुं समुद्यताः ।
तदहं चिद्वपुः सर्वं करोमीत्येव भावयेत् ॥ ८ ॥
येषु येषु यदा यद्यद्दर्शनेषु निगद्यते ।
सर्वमेवाऽङ्ग तत्सत्यं चिद्विलासो ह्यनङ्कुशः ॥ ९ ॥
चिन्मात्रत्वं प्रयातस्य तीर्णमृत्योरचेतसः ।
यो भवेत्परमानन्दः केनाऽसावुपमीयते ॥ १० ॥
नाप्यशून्यं न शून्यं च नाऽचिद्रूपं न चिन्मयम् ।
नाऽऽत्मरूपं नाऽन्यरूपं भुवनं भावयन्भव ॥ ११ ॥

१२१

श्री मनु ने कहा—'हे राजन् ! आत्मा को विषय-भोग की अभिलाषा रहने तक उसका जीव नाम रहता है। यह अभिलाषा भी अविवेक के कारण ही उसे होती है, वास्तव में नहीं होती है ॥ १ ॥

जब विवेक से विषयभोग की अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब आत्मा अपना जीव रूप छोड़ कर निर्विकार होकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ॥ २ ॥

हे राजन् ! कर्मवश से ऊपर के लोक से नीचे के लोक में तथा नीचे के लोक से ऊपर के लोक में दीर्घ काल तक अवागमन कर रहे तुम संसाररूपी अरहट्ट की की भोगचिन्तारूपी रज्जु में घड़े के सदृश फँस मत जाओ ॥ ३ ॥

'ये पुत्र, कलत्र आदि मेरे हैं और मैं इन पुत्र, कलत्र आदि का हूँ' इस तरह के मोह से व्यवहाररूपी दृढ़ भ्रम का जो शठ सेवन करते हैं, वे नीचे से भी नीचे की ओर जाते हैं ॥ ४ ॥

'पुत्र' कलत्र आदि का मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कलत्र आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है, मैं ऐसा हूँ' इस तरह का मोह जिन लोगों ने बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया है, वे महानुभाव ऊपर से भी ऊपर की ओर जाते हैं ॥ ५ ॥

हे नृप ! अपने आप ही प्रकाशित हो रहे अपने स्वरूप का शीघ्र ही आश्रयण कर बैठ जाओ और समस्त जगत् को परिपूर्ण चिदाकाशरूप ही देखो ॥ ६ ॥

जिस समय में ही तुम उस प्रकार के पूर्ण तथा अखण्डित चैतन्यात्या का स्वरूप जान जाओगे उसी समय संसार तर जाओगे और परमेश्वररूप हो जाओगे ॥ ७ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु और वरुण जिस-जिस वस्तु का निर्माण करने के लिए उद्यत हैं, उन सबका चिद्रूप मैं ही निर्माण करता हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए ॥ ८ ॥

जो-जो दर्शनशास्त्र हैं, चाहे वे वैदिक हों चाहे अवैदिक, उनमें जिस समय जिस-जिस मत का प्रतिपादन किया जाता है, हे पुत्र, वह सब सत्य ही है, क्योंकि चिद्रू-विलास पर किसी तरह का अङ्कुश नहीं है। अर्थात् ये जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब असत्य हैं, उनमें तत्त्ववित् पुरुष अपनी कर्तृता की कैसे भावना करेगा, ऐसी यदि किसी को आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जितनी कल्पनाएँ हैं, वे आत्मा की सत्यता से सत्य है ॥ ९ ॥

जो पुरुष ब्रह्म चैतन्य स्वरूप बन गया है, अतएव जो संसाररूपी मृत्यु से पार हो चुका है और जिसका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे महापुरुष को जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्द से दी जा सकती है यानी उसकी उपमा हो ही नहीं सकती। निष्कर्ष यह हाथ लगा कि संसार के पार हो जाने से पुरुष को निरुपम परमानन्द की प्राप्ति उत्तम लाभ है ॥ १० ॥

यह जगत् न तो अशून्यरूप है, न शून्यरूप है, न अचिद्रूप है, न चिद्रूप हैं, न आत्मरूप है और न आत्मरूप है, किन्तु अनिर्वचनीय है, यों भावना करते हुए तुम स्थित रहो अर्थात् इस श्लोक के द्वारा ब्रह्म की सत्यता को लेकर यदि आप जगत् को शून्यरूप नहीं मानते, तो द्वैतरूप आपत्ति आ जायगी। यदि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति

एतत्स्वरूपमासाद्य प्रकृतिः परिशाम्यति ।
न देशो मोक्षनमाऽस्ति न कालो नेतरा स्थितिः ॥१२॥
अहङ्कृतेर्विमोहस्य क्षयेणेयं विलीयते ।
प्रकृतिर्भावनानाम्नी मोक्षः स्यादेष एव सः ॥ १३ ॥
प्रशान्तशास्त्रार्थविचारचापलो
निवृत्तनानारसकाव्यकौतुकः ।
निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवः
समः सुखं तिष्ठति शाश्वतात्मकः ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
इक्ष्वाकुमनुसंवादो नाम एकविंशत्यधिक शततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

के आधार पर जगत् को शून्यरूप मानते हैं, तो सबको पैदा करने वाले परमेश्वर की रूपता नहीं बन सकती। अपि च यदि जगत् चैतन्य का रूप नहीं है, तो चैतन्य का रूप नहीं है, तो चैतन्य का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि नीरूप का कहीं पर भी ज्ञान नहीं होता। यदि जगत् को चैतन्य का रूप मान लिया जाय, तो चैतन्य सविकार हो जायगा। अपि च जगत् आत्मरूप न माना जाय, तो असङ्ग आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न हो सकने से आत्मा की सत्ता और स्फूर्ति जगत् में हो नहीं सकेगी। यदि आत्मरूप मानें, तो जगत् का ज्ञान से बाध नहीं हो सकेगा, इत्यादि दोषों का—अनिर्वचनीयतावाद का अवलम्बन कर—परिहार करते हैं ॥ ११ ॥

इस आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप प्राप्त कर यानी प्रत्यक्ष कर अविद्या शान्त हो जाती है। कोई मोक्षनाम का न तो प्रदेश है, मोक्षनाम का न कोई काल है और न कोई स्थिति ही मोक्ष नामवाली है ॥ १२ ॥

यह जो वासनारूपी प्रकृति अविद्या है, वह अहङ्कार-रूपी मोह के विनाश से विलीन हो जाती है और यह अविद्याविलय ही प्रसिद्ध मोक्ष है ॥ १३ ॥

जब योगी पुरुष की अविद्या नष्ट हो जाती है, तब उसकी नाना प्रकार के शास्त्रार्थों के विचार की चञ्चलता नष्ट हो जाती है, काव्य, नाटक आदि विषयों की उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्पविभ्रम विलीन हो जाते हैं। वह केवल समभाव में निष्ठा रखकर ब्रह्मरूप होकर सुखपूर्वक अवस्थित रहता है ॥ १४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में इक्ष्वाकुमनुसंवाद नामक कुसुमलता का एक सौ इक्कीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२१ ॥

१२२

मनुरुवाच

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च स सम्राडिव राजते ॥ १ ॥
वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयन्त्रणयोज्झितः ।
निर्गच्छति जगज्जालात्पञ्जरादिव केसरी ॥ २ ॥
वाचामतीतविषयो विषयाशादशोज्झितः ।
कामप्युपगतः शोभां शरदीव नभस्तलम् ॥ ३ ॥
गम्भीरश्च प्रसन्नश्च गिराविव महाह्लदः ।
परानन्दरसाक्षुब्धो रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ४ ॥

१२२

श्रीमनु ने कहा—जिस किसी पुरुष के द्वारा वस्त्रों से ढँक दिया गया, जिस किसी पुरुष के द्वारा खिला दिया गया तथा जहां-कहीं सो जानेवाला योगी, सम्राट् की तरह सुशोभित होता है ॥ १ ॥

वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों तथा आचारों से रहित और शास्त्रों के नियमन से वर्जित वह संन्यासी जगज्जाल से अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक क्रियाओं के कर्तृत्व की तथा उनके फलभोक्तृत्व की वासनाओं से, पिंजड़े से सिंह की तरह निकल जाता है ॥ २ ॥

एकमात्र निरतिशयानन्द के अनुभव का विषय अर्थात् निरतिशयानन्दरूप अतएव विषयाशादशाओं से निर्मुक्त अर्थात् अत्यन्त विरक्त पुरुष, शरत्-काल में आकाश की तरह किसी निरुपाधिक शोभा को प्राप्त हो जाता है ॥३॥

पर्वत के ऊपर स्थित महाह्लद की तरह गम्भीर और प्रसन्न तथा निरन्तर परमानन्द के आस्वादन से अच्युत योगी अपनी आत्मा में ही अपने स्वरूप से रमण करता रहता है ॥ ४ ॥

सर्वकर्मफलत्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
न पुण्येन न पापेन लिप्यते नेतरेण च ॥ ५ ॥
स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथाऽऽयाति न रञ्जनम् ।
तज्ज्ञः कर्मफलेनाऽन्तस्तथा नाऽऽयाति रञ्जनम् ॥ ६ ॥
विहरञ्जनतावृन्दे देहकर्तनपूजनैः ।
खेदाह्लादौ न जानाति प्रतिबिम्बगतैरिव ॥ ७ ॥
निःस्तोत्रो निर्विकारश्च पूज्यपूजाविवर्जितः ।
संयुक्तश्च वियुक्तश्च सर्वाचारनयक्रमैः ॥ ८ ॥
तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च सः ।
रागद्वेषभयानन्दैस्त्यज्यतेऽपि च युज्यते ॥ ९ ॥
प्रमेये कस्यचिदपि न रोहति महाशयः ।

सम्पूर्ण कर्मों के फलों का त्याग करने वाला नित्यतृप्त और निराश्रय वह योगी पुरुष न तो पुण्य से, न पाप से और न हर्ष-विषाद आदि से ही लिप्त होता है ॥ ५ ॥

ब्रह्मज्ञानी भी कर्मफल से अपने अन्तःकरण में किसी के रंग को वैसे ही धारण नहीं करता जैसे स्फटिक मणि किसी प्रतिबिम्वभूत नील, पीत आदि द्रव्यविशेष से रंजन को प्राप्त नहीं होता अर्थात् प्रतिबिम्बभूत किसी द्रव्य के रंग को धारण नहीं करता ॥ ६ ॥

भिन्न-भिन्न जाति के जनसमूह के व्यूह में विहार कर रहा, भेद और अभिमान से रहित ब्रह्मज्ञानी, प्रतिबिम्ब में किये गये छेदन-पूजन की तरह अपनी देह के छेदन और गन्ध-पुष्प आदि के द्वारा पूजन से खेद और आह्लाद को नहीं जानता। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी देह के छेदन से किसी तरह के खेद का या गन्धादि के द्वारा पूजन से किसी तरह के आह्लाद का अनुभव नहीं करता, कारण कि वह छेदन और पूजन दोनों को देह के प्रतिबिम्ब के समान मिथ्या समझता है ॥ ७ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष पूजित होने पर भी पूजा करनेवाले स्तुति नहीं करता तथा पूजा से रहित हुआ भी वह किसी तरह के विकार को प्राप्त नहीं होता। वह सम्पूर्ण आचारों और सब नीतियों के क्रमों से कभी संयुक्त और कभी वियुक्त रहता है ॥ ८ ॥

उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष से संसार उद्वेजित नहीं होता, भय नहीं करता और आनन्द से वह कदाचित् प्रबल प्रारब्ध रहने के कारण संयुक्त और वियुक्त भी रहता है ॥ ९ ॥

वह महान् आशयवाला ब्रह्मज्ञानी कुशलबुद्धि पुरुष

प्रमेयीक्रियते चापि बालेनाप्युरुराशयः ॥ १० ॥
तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽपि वा ।
मा कदाचन वा राजन्वर्तमानेऽपि वा क्षणे ।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥ ११ ॥
अहंभ्रान्तिर्हि बन्धाय मोक्षो ज्ञानेन तत्क्षयः ॥ १२ ॥
स पूजनीयः स स्तुत्यो नमस्कार्यः स यत्नतः ।
स निरीक्ष्योऽभिवाद्यश्च विभूतिविभवैषिणा ॥ १३ ॥
न यज्ञतीर्थैर्न तपःप्रदानै-
रासाद्यते तत्परमं पवित्रम् ।
आसाद्यते क्षीणभवामयानां
भक्त्या सतामात्मविदां यदङ्ग ॥ १४ ॥

के भी प्रमितिविषय में स्वयं अन्तर्भूत नहीं होता अर्थात् बड़े-बड़े तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष भी तत्त्वतः उस ब्रह्मज्ञानी की इयत्ता जान नहीं सकते। किन्तु व्यवहारतः तो एक छोटा बच्चा भी उसे प्रमिति का विषय बना डालता है यानी थोड़े से भी अनुवर्तन से उसको अपने वश में कर डालता है। इसमें कारण यह है कि शुद्धचित्त होने के कारण वह ब्रह्मवित् अत्यन्त सरल है ॥ १० ॥

हे राजन्! वह ज्ञानी पुरुष अपने शरीर का किसी पुण्य तीर्थ में त्याग कर दे या किसी चाण्डाल के घर में भी जाकर त्याग कर दे अथवा कभी-भी शरीर का त्याग न करे या वर्तमान क्षण में ही त्याग कर दे, फिर भी वह अन्तःकरण शून्य पुरुष ज्ञान प्राप्तिकाल में पहले ही मुक्त और विदेह हो चुका है अर्थात् ज्ञान काल में ही मुक्ति तथा देहादि का बाध हो जाने से ज्ञानी को फिर मुक्ति के लिए किसी तीर्थ आदि की या देह-त्याग की चिन्ता ही नहीं रहती ॥ ११ ॥

अहङ्कार की भ्रान्ति सांसारिक बन्धन के लिए है अर्थात् अहंभ्रान्ति बन्ध है और ज्ञान से अहङ्कार का नाश मोक्ष है ॥ १२ ॥

विभूति और वैभव चाहने वाले पुरुष को यत्नपूर्वक उस ब्रह्मज्ञानी की पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिवादन करना चाहिए ॥ १३ ॥

हे प्रिय पुत्र! जिनके सांसारिक रोग क्षीण हो गये हैं ऐसे जीवन्मुक्त सज्जनों के पूजन से जो परम पवित्र पद ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जाता है यह यज्ञों और तीर्थों से नहीं प्राप्त किया जाता है एवं न तपस्याओं तथा दानों से ही प्राप्त किया जाता है ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान्मनुर्ब्रह्मगृहं ययौ । इक्ष्वाकुरपि तां दृष्टिमवष्टभ्य स्थिरोऽभवत् ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुमनुसंवादे इक्ष्वाकुप्रबोधनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस प्रकार कहकर मनुभगवान् मेरु शिखर के ऊपर चले गये और इक्ष्वाकु भी उस दृष्टि का अवलम्बन कर स्थिर हो गये ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में इक्ष्वाकुमनुसंवाद में इक्ष्वाकुप्रबोधन नामक कुसुमलता का एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२२ ॥

१२३

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते हि भगवञ्जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः ।
अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदांवर ! ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञस्य कस्मिंश्चिदेवांशे भवत्यतिशयेन धीः ।
नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति ॥ २ ॥
मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः ।
कृतमाकाशयानादि का तत्र स्यादपूर्वता ॥ ३ ॥
अणिमाद्यपि सम्प्राप्तं तादृशैरेव भूरिशः ।
यत्नेन साधितत्वात्तैर्नेतरेणाऽऽत्मदर्शिना ॥ ४ ॥
एष एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः ।
सर्वत्रास्थापरित्यागान्नीरागममलं मनः ।
भवेत्तस्य महाबुद्धेर्नासौ वस्तुषु मज्जति ॥ ५ ॥

१२३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवन् ! आपने जीवन्मुक्तों के लक्षणों का वर्णन किया है ऐसी स्थिति में आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष में कौन-सा विशेष रहता है ? ॥ १ ॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष की बुद्धि अन्यसिद्धों के अगम्य विषय में परमात्मतत्त्वांश में ही दृढ़रूप से स्थित हो जाती है, यही कारण है कि नित्यतृप्त शान्तचित्त होकर वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है और कुछ नहीं चाहता अर्थात् उस जीवन्मुक्त पुरुष में अन्य सिद्धों द्वारा अनुभूत न होने वाला निरतिशयानन्द का अनुभव ही विशेष है ॥ २ ॥

मन्त्र की सिद्धि से, तप की सिद्धि से एवं तन्त्र की सिद्धि से युक्त सिद्धों के द्वारा प्राप्त की गईं जो नानाविध आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं उनमें सर्वात्मभाव रखने वाले ज्ञानी के लिए कौन-सी अपूर्व बात है अर्थात् मन्त्र सिद्धि आदि से सिद्ध हुए पुरुषों के रूप से भी मैं ही अवस्थित हूँ, इस तरह की सर्वात्मबुद्धि होने के कारण उन सिद्धों द्वारा प्राप्त आकाशगमन आदि सिद्धियों की भी ज्ञानी ने प्राप्ति कर ही ली है, इसलिए उन सिद्धियों में उसे कुछ भी अपूर्वत प्रतीत नहीं होती ॥ ३ ॥

मन्त्रसिद्धि आदि से युक्त उन्हीं नानाविध सिद्धों ने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति की है उन सिद्धियों की भी आत्मज्ञानी विद्वान् ने अनायास ही प्राप्ति कर ली है, इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है अर्थात् यदि अणिमा आदि सिद्धियों को दूसरे प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनमें अपूर्व शब्द का अर्थ भी घटता है, तथापि अनेक मन्त्रसिद्ध आदि पुरुषों द्वारा उनकी प्राप्ति की गई है; इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है ॥ ४ ॥

इसमें यही विशेष है कि यह मूढ़बुद्धि पुरुषों के समान नहीं रहता यानी तत्त्वज्ञान ही इसमें विशेष है। इस प्रसिद्ध महाबुद्धि का मन सर्वत्र बाह्य वस्तुओं में आसक्ति के परित्याग से निरन्तर रागशून्य तथा निर्मल ही बना रहता है और यह ज्ञानी पुरुष कभी-भी भोग्य विषयों में नहीं फँसता ॥ ५ ॥

एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्तेः संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह- लोमापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥ ६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अज्ञादेर्ज्ञस्य विशेषकथनं नाम त्रयोविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

जिसका स्वरूप समस्त धर्मों से रहित ब्रह्मचैतन्य बन गया है तथा तत्त्वज्ञान से दीर्घकालिक सांसारिक भ्रम की निवृत्ति हो जाने के कारण जो विश्रान्त हो चुका है ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष का इतना ही लक्षण है कि उसमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियों का प्रतिदिन अत्यन्त अपक्षय ही रहता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में आत्मज्ञानी के तत्त्वज्ञान के विशेषकथन नामक कुसुमलता का तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२३ ॥

१२४

वसिष्ठ उवाच

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया ।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥ १ ॥
भूतानि द्विविधान्येव प्रतिसर्गं स्फुरन्ति वै ।
आद्यविस्पन्दजातानि तानि निष्कारणानि वै ॥ २ ॥
ईश्वरात्समुपागत्य पुनर्जन्मान्तराणि च ।
भूतान्यनुभवन्त्यङ्ग स्वकृतैरेव कर्मभिः ॥ ३ ॥
कार्यकारणभावोऽयमीदृशो जन्मकर्मणोः ।
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात् ॥ ४ ॥

१२४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जैसे कोई ब्राह्मण नीच स्त्री की अपेक्षाकर अपने स्वभावसिद्ध सात्त्विक ब्राह्मणधर्म का धीरे-धीरे उल्लङ्घन कर दीर्घकाल से बाद नीचरूपता को अङ्गीकार करता है वैसे ही परब्रह्म परमात्मा भी बुद्धि आदि के सङ्ग से बुद्धिजनित भोग की इच्छा से अपने नित्यसिद्ध पूर्णानन्द स्वभाव का उल्लङ्घन कर जीवरूपता को अङ्गीकार करता है अर्थात् दूसरी सिद्धियों की अपेक्षा आत्मज्ञान का उत्कर्ष इसलिए है कि वह नित्य निरतिशयानन्दानुभवरूप है और प्रत्यगात्मा की निरतिशयानन्दरूपता इसलिए है कि वह ब्रह्मरूप हैं, इस बात को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिए ब्रह्म ही अपने स्वरूप की उपेक्षा से जीवरूप को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

प्रत्येक सृष्टि में दो तरह के उपाधि की प्रधानता से भोग्य और उपहित की प्रधानता से भोक्ता पदार्थ आविर्भूत होते हैं। वे दोनों तरह के पदार्थ माया में रहनेवाले अनादि दो तरह की संस्कार परम्परा का अनुसरण कर रहे हिरण्यगर्भ के प्रथम स्पन्द से उत्पन्न होते हैं और मिथ्यारूप होने के कारण वे किसी प्रकार की असली सामग्री की अपेक्षा नहीं करते। ठीक ही है कि स्वप्न के घट आदि पदार्थ दण्ड, चक्र आदि सामग्री की अपनी उत्पत्ति में अपेक्षा नहीं रखते ॥ २ ॥

उपहित चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्मों से ही प्राणी ईश्वर से निकल कर भिन्न-भिन्न अनेक तरह के जन्मों का अनुभव करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि ईश्वर को जीवरूप बनने में कर्मों की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु जीवरूप बन जाने के बाद शरीर आदि के उत्पादन में पूर्व-पूर्व देह आदि से जनित कर्मों की अपेक्षा होती है। जल में प्रतिबिम्ब पड़ने में सूर्य को चलनादि क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु सूर्य प्रतिबिम्ब को भिन्न-भिन्न तरङ्गों में संक्रान्त होने के लिए या तद्-तत् तरङ्ग आदि गत प्रतिबिम्ब के विकार का अनुभव करने के लिए उपाधिक्रिया की अपेक्षा होती है, यह नियम है। इसी नियम के अनुसार ईश्वर को प्रकृति में कर्म की अपेक्षा नहीं होती ॥ ३ ॥

जन्म और कर्म का परस्पर यह कार्यकारणभाव इसी तरह का है। समस्त जीव परमपिता परमात्मा से निष्कारण ही चले आ रहे हैं ॥ ४ ॥

पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः ।
आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम् ॥ ५ ॥
सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ।
मोक्षस्तु निःसङ्कल्पित्वं तदभ्यासपरो भव ॥ ६ ॥
सावधानो भव त्वं च ग्राह्यग्राहकसम्भ्रमे ।
अजस्रमेव सङ्कल्पदशाः परिहरञ्छनैः ॥ ७ ॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ ८ ॥
अजस्रं यं यमेवार्थं पतत्यक्षगणोऽनघ ।
बद्धयते तत्र रागेण तत्राऽरागेण मुच्यते ॥ ९ ॥
किञ्चिद्यद्रोचते तुभ्यं तद्बद्धोऽसि भवस्थितौ ।
न किञ्चिद्रोचते चित्ते तन्मुक्तोऽसि भवस्थितौ ॥ १० ॥

परम पिता परमात्मा से निकलने के बाद उन जीवों से अपने-अपने जो कर्म हैं वे सुख और दुःख के कारण होते हैं तथा अपने-अपने ज्ञान के अनुसार उत्पन्न हुआ जो सङ्कल्प और विकल्प रहता है वही दुःखादि जनक कर्मों का कारण होता है ॥ ५ ॥

इस संसाररूपी बन्धन का एकमात्र सङ्कल्प ही कारण है, इसलिए आप उसका परित्याग कर दीजिये। और सङ्कल्प का अभाव ही मोक्ष है, इसलिए आप सङ्कल्प विनाश के अभ्यास में तत्पर हो जाये ॥ ६ ॥

शनैः-शनैः निरन्तर सङ्कल्प-विकल्प की अवस्थाओं का परिहार करते हुए आप विषय और इन्द्रियों के विभ्रमों से सावधान हो जाइये, क्योंकि विषय और इन्द्रियों का विभ्रम होनेपर ही किसी में अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता समझकर प्रवृत्ति और निवृत्ति का सङ्कल्प हुआ करता है तथा फिर पुरुष विषय बन्धनों में फँस जाता है, इसलिए सङ्कल्प की जड़ खोदन में सावधान होना परम आवश्यक है ॥ ७ ॥

न तो आप अपने को बाह्य विषयरूप समझिये और न ग्राहक इन्द्रिय आदि रूप ही समझें। आप समस्त विषयों की चिन्ता का परित्याग कर पर सीमा में विद्यमान रहने वाला जो साक्षी स्वरूप है तद्रूप बन जायें ॥८॥

हे निष्पाप रामभद्र ! इन्द्रियों का समुदाय जिस अर्थ की ओर निरन्तर दौड़ता है उस अर्थ में राग द्वारा बद्ध हो जाता है, इसलिए उन अर्थों में राग न करने वाला पुरुष ही मुक्त होता है ॥ ९ ॥

इस संसारस्थिति में यदि आपको कोई चीज अच्छी लगती है, तो आप बद्ध हैं और यदि आपको अपने चित्त में कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है, तो आप मुक्त हैं, यह जान समझें अर्थात् राग और विराग का अलग-अलग स्वरूप बतलाते हुए उनसे क्रमशः बन्ध और मोक्ष होता है ॥ १० ॥

तस्मात्पदार्थनिचयात्सह स्थावरजङ्गमात् ।
तृणादेर्देवकायान्तान्मा किञ्चित्तव रोचताम् ॥ ११ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि तत्र मुक्तमतिः शमी ॥ १२ ॥
सन्तोऽतीतं न शोचन्ति भविष्यच्चिन्तयन्ति नो ।
वर्तमानं च गृह्णन्ति कर्म प्राप्तमखण्डितम् ॥ १३ ॥
मनसि ग्रथिता भावास्तृष्णामोहमदादयः ।
मनसैव मनो रामच्छेदनीयं विजानता ॥ १४ ॥
विवेकेनाऽतितीक्ष्णेन बलादय इवाऽयसा ।
मनसैव मनश्छिन्धि सर्वभ्रमस्य शान्तये ॥ १५ ॥
क्षालयन्ति मलेनैव मलं क्षालनकोविदाः ।
वारयन्त्यस्त्रमस्त्रेण विषं प्रतिविषेण च ॥ १६ ॥

तुच्छातितुच्छ तृण से लेकर उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ-शरीरतक के जितने स्थावर-जङ्गमरूप पदार्थ हैं उनमें से कोई भी आपको रुचिकर न हो ॥ ११ ॥

जो कुछ आप करते हैं, जो कुछ आप खाते हैं, जो कुछ होमते हैं, जो कुछ देते हैं; उन सब क्रियाओं में जितेन्द्रिय और कूटस्थ-आत्मा में प्रविष्टमति हो जानेपर न आप कर्ता होते हैं और न भोक्ता ही होते हैं ॥ १२ ॥

जो उत्तम पुरुष हैं वे न तो गयी-गुजरी वस्तु के विषय में शोक करते हैं, और न भविष्य के विषय में चिन्ता ही करपे हैं। वे तो वर्तमान काल में जो कुछ कर्म प्राप्त हो जाता है उसी को यथावत् अङ्गीकार कर लेते हैं ॥१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! तृष्णा, मोह, मद आदि जितने हेय भाव हैं वे सब मन में ही गुथे हुए रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को अपने मन से ही मन को कुचल देना चाहिए अर्थात् सब बन्धनों पर विजय पाने के लिए एकमात्र मनपर विजय पाना ही उपाय है और मनपर विजय मन से ही हो सकती है ॥ १४ ॥

सब भ्रमों की शान्ति के लिए अतितीक्ष्ण विवेकयुक्त मन से दोष युक्त मन वैसे ही काटा जाता है जैसे अति तीक्ष्ण लोहे से लोहा काटा जाता है ॥ १५ ॥

मल हटाने का विज्ञान रखने वाले विद्वान् लोग मल से ही मल को धो डालते हैं, अस्त्र से अस्त्रों का वारण करते हैं और विष से विष को दूर करते हैं ॥ १६ ॥

जीवस्य त्रीणि रूपाणि स्थूलसूक्ष्मपराणि च ।
तत्राऽस्य यत्परं रूपं तद्भज द्वे परित्यज ॥ १७ ॥
पाणिपादमयो योऽयं देहो भोगाय वल्गति ।
भोगार्थमेतज्जीवस्य रूपं स्थूलमिहाऽऽस्थितम् ॥ १८ ॥
स्वसङ्कल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत् ।
चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामाऽऽतिवाहिकम् ॥ १९ ॥
आद्यन्तरहितं सत्यं चिन्मात्रं निर्विकल्पकम् ।
यत्तद्विद्धि परं रूपं तृतीयं विश्वरूपकम् ॥ २० ॥
एतत्तुर्यपदं शुद्धमत्र बद्धपदो भव ।
संपरित्यज्य पूर्वे द्वे मा तत्राऽऽत्ममतिर्भव ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्थितं त्रिष्वप्यलक्षितम् ।
तुर्यं ब्रूहि विशेषेण विविच्य मुनिनायक ! ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ २३ ॥
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः ।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते ॥ २४ ॥
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नं सङ्कल्पानामसम्भवात् ।
सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाज्जडतास्थितेः ॥ २५ ॥
शान्तसम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत् ।
विलीनं तुर्यमेवाऽऽहुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ २६ ॥
अहङ्कारकलात्यागे समतायाः समुद्भवे ।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ २७ ॥
अथेमं शृणु दृष्टान्तं कथ्यमानं मयाऽधुना ।
प्रबुद्धोऽपि यथा बोधमुपैषि विबुधोपम ! ॥ २८ ॥
कस्मिंश्चित्काननाभोगे महामौनं व्यवस्थितम् ।
दृष्ट्वाऽद्भुतमिदं किञ्चिन्मुनिं पप्रच्छ लुब्धकः ।
पश्चादुपगतो बाणभिन्नं मृगमभिद्रुतम् ॥ २९ ॥

जीव के तीन रूप हैं—एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म और तीसरा पर। उनमें से इसका तीसरा जो पर रूप है उसका तो आप आश्रयण कीजिये और बाकी बचे दो रूपों को मन से काट दो अर्थात् जीव तो मन से वेष्टित रहता है, उसमें से कितना अंश अलग करके मन से काट देना चाहिए, यह बतलाने के लिए जीव के स्वरूपों का विभाग करते हैं ॥ १७ ॥

हाथ-पैरवाला जो यह शरीर भोग के लिए निरन्तर लालायित रहता है वही यहाँ भोगार्थ इस जीव का स्थूल स्वरूप स्थित है ॥ १८ ॥

हे रामजी ! सङ्कल्प प्रचुर रूप धारण करने वाला तथा संसारस्थिति तक रहनेवाला जो चित्त है उस चित्त को ही इस जीव का आतिवाहिक दूसरा रूप समझें ॥१९॥

आदि और अन्त से निर्मुक्त, अबाधित, चैतन्यमात्र, समस्त विकल्पों से निर्मुक्त तथा समस्त विश्व का प्रकाश करनेवाला जो रूप है वही इसका तीसरा रूप है, यह आप जानें ॥ २० ॥

यही परमपवित्र तुर्यपद है इसी में आप अपनी स्थिति बाँध लीजिये, पहले के दो रूपों का परित्याग कर उनमें आत्मबुद्धि मत करें ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में स्थित स्पष्टरूप से न देखा गया तुर्यरूप है उसे विशेषरूप से खूब अच्छी तरह विचार करके कहें ॥ २२ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—अहंभाव तथा सत् और असत् का त्याग करके जो असक्त, सम और स्वच्छ स्वरूप स्थित रहता है वही तुर्यरूप है ॥ २३ ॥

जीवन्मुक्तों में जिसकी अन्तिम स्थिति है, जो स्वच्छ, और शान्त है, जो व्यवहारकाल में 'साक्षी की अवस्था' प्रसिद्ध है वही तुर्यावस्था कही जाती है ॥ २४ ॥

सङ्कल्पों का अभाव रहने से यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञान का अभाव रहने से यह न सुषुप्त ही है ॥ २५ ॥

सामने दिखाई दे रहा यह जगत् है, उसकी ज्ञान से हुई जो निवृत्ति है, उसी को शान्त एवं अच्छी तरह प्रबुद्ध पुरुषों का तुर्यपद कहते हैं, यही संसार अप्रबुद्ध अज्ञानी पुरुषों के लिए स्थिररूप से अवस्थित है ॥ २६ ॥

अहङ्कार का त्याग होनेपर जब समता की उत्पत्ति हो जाती है तब जल में विलीन हुए नमक के टुकड़े के समान चित्त के गल जानेपर तुर्यावस्था उपस्थित हो जाती है ॥ २७ ॥

हे देवोपम श्रीरामजी ! अनन्तर अब आप इस दृष्टान्त को सुनें, जो मैं कह रहा हूँ, उससे प्रबुद्ध आप और अधिक बोध को प्राप्त करेंगे ॥ २८ ॥

किसी एक विस्तृत घने जङ्गल में महामौन धारण कर बैठे किसी एक अद्भुत मुनि को देखकर वाण से विद्ध भागे हुए मृग के पीछे दौड़े जा रहे एक व्याध ने उस मुनि से पूछा ॥ २९ ॥

मुने ! मदीयबाणेन विद्धो मृग इहाऽऽगतः ।
क्व प्रयातो मृग इति प्रत्युवाच स तं मुनिः ॥ ३० ॥
समशीला वयं साधो ! मुनयो वनवासिनः ।
नाऽस्माकमस्त्यहङ्कारो व्यवहारेषु यः क्षमः ॥ ३१ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि करोति हि सखे ! मनः ।
अहङ्कारमयं तन्मे नूनं प्रगलितं चिरम् ॥ ३२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्या दशा वेद्मि न काश्चन ।
तुर्य एव हि तिष्ठेऽहं तत्र दृश्यं न विद्यते ॥ ३३ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा मुनिनाथस्य राघव ! ।
लुब्धकोऽर्थमविज्ञाय जगामाऽभिमतां दिशम् ॥ ३४ ॥
अतो वच्मि महाबाहो ! नास्ति तुर्येतरा दशा ।
निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवाऽस्तीह नेतरत् ॥ ३५ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ।
घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहाऽऽस्थितम् ॥३६॥
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ।
मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ॥ ३७ ॥
यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ।
तदेव योगिनः सर्वे यत्नात्सम्पादयन्ति हि ॥ ३८ ॥
समस्तसङ्कल्पविलासमुक्ते
तुर्ये पदे तिष्ठ निरामयात्मा ।
यत्र स्थिताः साधु सदैव मुक्ताः
प्रशान्तभेदा मुनयो महान्तः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
मृगव्याधीयं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

हे मुने ! मेरे वाण के द्वारा घायल हुआ एक मृग यहाँ आया था, वह कहाँ चला गया ? इस तरह का उस व्याध का प्रश्न सुनकर उस मुनि ने उस व्याध को उत्तर दिया ॥ ३० ॥

हे साधो ! हम जङ्गल के निवासी मुनि सब समान-शीलवाले होते हैं। व्यवहारों में समर्थ जो अहङ्कार रहता है यह हम लोगों में है नहीं ॥ ३१ ॥

हे सखे ! सम्पूर्ण इन्द्रियों का कार्य अकेला अहङ्कार-रूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसन्देह चिर-काल से बिलकुल गलित हो चुका है ॥ ३२ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त नामक किसी भी दशा को मैं नहीं जानता, एकमात्र उसी तुर्यपद में मैं अवस्थित रहता हूँ, जहाँ दृश्य नहीं रहता ॥ ३३ ॥

हे राघव ! उस मुनि सर्वश्रेष्ठ का ऐसा वचन सुनकर वह बहेलिया उसके अर्थ को न समझकर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चला गया ॥ ३४ ॥

इसीलिए मैं कहता हूँ कि हे महाबाहो ! तुर्य से अन्य कोई दशा नहीं है। निर्विकल्पक चित् ही तुर्य है और वही यहाँ पर विद्यमान है, अन्य कुछ नहीं ॥ ३५ ॥

क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त तीनों चित्त के रूप हैं। घोर, शान्त और मूढ़ तीन रूप से अपना चित्त यहाँ पर अवस्थित है ॥ ३६ ॥

जाग्रत् अवस्था का चित्त घोर है, स्वप्न-अवस्था का चित्त शान्त है और सुषुप्त भाव में स्थित है मूढ़ चित्त। रज आदि गुणोंवाली माया का उच्छेद हो जानेपर इन तीनों से हीन हुआ चित्त मृत है ॥ ३७ ॥

जो मृत चित्त है उसमें एकमात्र सत्त्व ही, भस्म में शुक्लता की तरह समरूप से स्थित रहता है। इसी का समस्त योगी जन समाधि के अभ्यास से बड़े यत्न के साथ उपार्जन करते हैं, क्योंकि वैसे चित्त में निर्मलता अधिक रहने से स्वात्म सुख का सदा ही आविर्भाव रहता है। अर्थात् योगियों के अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के लिए, भस्म में शुक्लता की तरह मृतचित्त में केवल सत्त्वांश ही बच जाता है, रज और तम के अंश का तो लेश भी नहीं रहता है ॥ ३८ ॥

समस्त सङ्कल्पों के विलासों से मुक्त उस तुर्यपद में अपनी सांसारिक आत्मा को सब विकारों से शून्य बनाकर आप स्थित रहे जिसमें भलीभाँति स्थित रहकर अनेक बड़े-बड़े मुनिजन भेद को शान्त करके सदा ही मुक्त हो चुके हैं ॥ ३९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में
मृगव्याधीय नामक कुसुमलता का एक सौ चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२४ ॥

१२५

वसिष्ठ उवाच

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्रमम् ॥ १ ॥
शान्त एव चिदाभासे स्वच्छे समसमात्मनि ।
समग्रशक्तिखचिते ब्रह्मेति कलिताभिधे ॥ २ ॥
निर्णीय केचिच्छून्यत्वं केचिद्विज्ञानमात्रताम् ।
केचिदीश्वररूपत्वं विवदन्ते परस्परम् ॥ ३ ॥
सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवाऽनघ ! ।
निर्वाणवान्निर्मननः क्षीणचित्तः प्रशान्तधीः ।
आत्मन्येवाऽऽस्स्व शान्तात्मा मूकान्धबधिरोपमः ॥ ४ ॥
नित्यमन्तर्मुखो भूत्वा स्वात्मनाऽन्तः प्रपूर्णधीः ।
जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव ! ॥ ५ ॥
अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथागतम् ॥ ६ ॥
चित्तसत्ता परं दुःखं चित्तासत्ता परं सुखम् ।
अतश्चित्तं चिदेकात्मा नय क्षयमवेदनात् ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्समम् ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ॥ ८ ॥
संवेदनीयं न सुखं नाऽसुखं न च मध्यमम् ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन दुःखान्तोऽनन्त आप्यते ॥ ९ ॥
आपीनमण्डलशशाङ्कवदन्तरेव
श्रीमद्रसायनमयः सुखमेति तज्ज्ञः ।

१२५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—द्वैत का अपलाप करना ही सकल अध्यात्म शास्त्रों का परम सिद्धान्त है। यहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है, किन्तु शास्त्रों से जिसका परिज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित नित्य अपरोक्ष ब्रह्म ही है। अर्थात् आत्मा को ले करके प्रवृत्त हुए श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि समस्त शास्त्रों का परम सिद्धान्त सम्पूर्ण द्वैत का अपलाप करना ही है, वह द्वैत चाहे जीव का अविद्या के साथ अवस्था-त्रयरूप हो, चाहे ईश्वर का माया के साथ अवकाश आदि प्रपञ्चरूप हो, न कि उनका सिद्धान्त वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करना है; क्योंकि स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा वस्तु के स्वतः सिद्ध होने से उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है ॥ १ ॥

शान्त, चिदाभासरूप, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूप से विद्यमान तथा समग्र शक्तियों से समन्वित 'ब्रह्म' इस कल्पित नाम में ही अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक तरह के सिद्धान्तों की कल्पना करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपस में विवाद करते हैं अर्थात् श्रुति आदि के सिद्धान्तों का परिज्ञान न होने से ही अपनी बुद्धि के वैभव से जगत् के मूल का अन्वेषण करनेवाले वादियों की—'ब्रह्म' शब्द से वाच्य सम्पूर्ण शक्त्यात्मक मायाशबल ब्रह्म के विषय में बुद्धि में विचित्र दोष आ जाने के कारण अनेक तरह की—कल्पनाएँ हुआ करती हैं ॥ २-३ ॥

हे अनघ ! मायापर्यन्त सभी इस दृश्य समूह का परित्याग करके मनके साथ-साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापारों के उपरम से महामौनी बन जाइये। तदनन्तर मनन रहित, क्षीणचित्त और प्रशान्तबुद्धि होकर पूर्णानन्द-रूप चिदात्मा में एकरूप होते हुए गूँगे, अन्धे और बधिर के सदृश शान्तात्मा बनकर आप अपने स्वरूप में ही स्थित रहें ॥ ४ ॥

हे राघव ! अपने आप नित्य अन्तर्मुख तथा अपने अन्दर पूर्णबुद्धि होकर पञ्चमादि भूमिकाओं को जीत लेने के कारण जाग्रदवस्था में स्थित होते हुए भी सुषुप्त-जैसे स्थित होकर आप कर्म करते चलें ॥ ५ ॥

भीतर से सबका परित्याग करते हुए आप बाहर से प्रारब्ध-प्राप्त कार्यों को करते रहें ॥ ६ ॥

हे राघव ! चित्त की सत्ता ही परम दुःख और चित्त की असत्ता ही परम सुख है, चिदेकरूप होते हुए आप प्रिय और अप्रिय का अनुसन्धान न करके चित्त का नाश कर दें ॥ ७ ॥

रम्य या अरम्य वस्तु को देखकर पत्थर के समान समभाव में स्थित रहना चाहिए। बस, इतने ही अपने यत्न से यह संसार जीत लिया जाता है ॥ ८ ॥

संसार-सागर को पार कर जाने की इच्छा रखनेवाले प्राणी को सुख-दुःख और इन दोनों के साधनों की कभी-भी चिन्ता न करनी चाहिए। बस, इतने ही यत्न से अनन्त सुख प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

जिसने तीनों लोकों की सभी वस्तुओं के सार का ज्ञान कर लिया है जो चारो ओर स्वतः फैले हुए प्रकाश

विज्ञातसर्वभुवनत्रयवस्तुसारः कुर्वन्न नाम कुरुते परमभ्युपेतः ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे तुर्ये स्थैर्योपायकथनं नाम पञ्चविंशत्यधिशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

से शोभायमान निरतिशय सुखस्वरूप तथा अमृतमय बन गया है, जो खूब परिपुष्ट हुए मण्डलवाले शशाङ्क के यानी पूर्णचन्द्र के सदृश हो गया है, ऐसा परमात्मस्वरूप को प्राप्त तत्त्वज्ञ अपने अन्दर जीवन्मुक्ति सुख को प्राप्त करता है। प्रारब्ध प्राप्त कार्यों का बाहर से सम्पादन करता हुआ भी वह भीतर से कुछ नहीं करता है ॥ १० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में तुर्य में स्थैर्य का उपायकथन नामक कुसुमलता का एक सौ पचीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२५ ॥

१२६

श्रीराम उवाच

सप्तानां योगभूमीनामभ्यासः क्रियते कथम् ।
कीदृशानि च चिह्नानि भूमिकां प्रति योगिनः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रवृत्तश्च निवृत्तश्च भवति द्विविधः पुमान् ।
स्वर्गापवर्गोन्मुखयोः शृणु लक्षणमेतयोः ॥ २ ॥

कियत्तन्नाम निर्वाणं वरं संसृतिरेव मे ।
इति कर्तव्यकर्ता यः स प्रवृत्त इति स्मृतः ॥ ३ ॥

चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत् ।
अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान् ॥ ४ ॥

असारा बत संसारव्यवस्थाऽलं ममैतया ।
किं कर्मभिः पर्युषितैर्दिनं तैरेव नीयते ॥ ५ ॥

क्रियातिशयनिर्मुक्तं किं स्याद्विश्रमणं परम् ।
इति निश्चयवान्योऽन्तः स निवृत्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥

१२६

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! सातों भूमिकाओं का अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिका में योगी के चिह्न किस तरह के होते हैं ? ॥ १ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—वेदमार्ग में स्थित पुरुष दो तरह के होते हैं—एक प्रवृत्त और दूसरा निवृत्त। प्रवृत्ति मार्ग का पथिक स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला तथा निवृत्ति मार्ग का पथिक मोक्ष का अभिलाषी होता है। स्वर्ग और अपवर्ग की ओर उन्मुख हुए इन दोनों का लक्षण मैं कहता हूँ आप सुनें ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण विषयों से शून्य है, वह प्रसिद्ध निर्वाण पदार्थ चीज ही क्या है ? तात्पर्य यह है कि भोगों में प्रेम रखनेवाले पुरुष उसे कुछ नहीं समझते। थोड़े-बहुत उत्तम या अधम भोगों से सम्पन्न संसार ही मेरे लिए सबसे अच्छा है, यों निश्चय कर वेद प्रतिपादित नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मों को करता है वह पुरुष प्रवृत्त कहा गया है ॥ ३ ॥

जीव भी पहले विषय रसास्वाद को ही सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ अनेक जन्मों के बाद अन्त में भाग्योदय होने पर अध्यात्मशास्त्र के रस का आस्वाद लेकर विवेकी वैसे ही उसमें आसक्त हो जाता है जैसे लवण सागर में स्थित बड़े कछुए की गर्दन अनेक बार कण्ठ के छेद में प्रविष्ट होकर उससे बाहर निकलने पर भी लवण समुद्र के रस का ही अस्वाद लेती तथा उसी को सर्वश्रेष्ठ रस मानती हुई क्षीरसागर के रस को कुछ नहीं जान पाती, किन्तु प्रलयकाल के समय क्षार और क्षीर दोनों सागरों के एक जगह मिलने का अवसर आनेपर दोनों के उदर रूपी छिद्र में ग्रीवा का प्रवेश होनेपर क्षीरसागर के रस का अस्वाद लेकर 'क्षारसागर के रस की अपेक्षा क्षीर-सागर का रस कहीं अधिक स्वादयुक्त है' विवेक सम्पन्न होकर वह ग्रीवा उस क्षीरसागर के रस में ही आसक्त हो जाती है ॥ ४ ॥

संसार की यह व्यवस्था बिलकुल असार है। इस व्यवस्था से मुझे क्या मतलब है, अनुचित परिणामवाले इन कर्मों से ही मैं अपना दिन क्यों गँवाता हूँ ॥ ५ ॥

क्रियाजनित उत्पत्ति, प्राप्ति और विकृतिरूप संस्कारों से निर्मुक्त (कूटस्थ) परम विश्रान्ति का स्थान कौन हो सकता है ? इस प्रकार विचार कर जो अपने अन्तःकरण में 'मुझे इसका अवश्य सम्पादन करना चाहिए'—इस तरह के निश्चय से युक्त पुरुष निवृत्त कहा गया है ॥ ६ ॥

कथं विरागवान् भूत्वा संसाराब्धि तराम्यहम् ।
एवं विचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ।। ७ ।।
विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ।। ८ ।।
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति ।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ।। ९ ।।
मनोऽनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते ।
पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ।। १० ।।
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च ।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ।। ११ ।।
तदाऽसौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम् ।

मैं विरागी बनकर किस तरह संसारसागर को तैर जाऊँ, इस तरह के विचार में तत्पर जब सद्बुद्धि प्राणी होता है तब भोग और उसके साधनों की चिन्ताओं में प्रतिदिन हृदय के अन्दर उसको नीरसता उत्पन्न होती है, चित्तशुद्धि के अनुकूल शौच, सत्सङ्ग, ईश्वरोपासना, जप आदिरूप क्रियाओं में वह पुरुष संसक्त होता है और प्रतिदिन चित्तशुद्धि की वृद्धि से तृष्णा का क्षय हो जाने के कारण वह प्रसन्न होता है ।। ७-८ ।।

ग्राम्य जड़ चेष्टाओं में वह निरन्तर घृणा करने लग जाता है, दूसरों के छिपे हुए दोषों का वह उद्घाटन नहीं करता और स्वयं पुण्य कर्मों का ही सेवन करता है ।।९।।

अपने तथा दूसरों के मन में उद्वेग न पहुँचानेवाले एवं थोड़े परिश्रम से महाफलवाले यम, नियम आदि कर्मों का वह सेवन करता है, पाप से सदा डरता है और भोगों में पाप अवश्य होने के कारण वह उनकी कभी अभिलाषा नहीं करता ।। १० ।।

वह स्नेह और प्रणय से पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश और काल के उपयुक्त वचन बोलता है ।। ११ ।।

जिस समय पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है उस समय वह पहली शुभेच्छा नामक एक भूमिका में प्राप्त होता है तथा मन, कर्म एवं वाणी से शान्ति, दान्ति, ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न सज्जन पुरुषों की सेवा करता है ।।१२।।

किसी जगह से उन सज्जनों की सेवा के अनुकूल धन आदि साधन जुटाकर उनकी सेवा करता हुआ वह उनके मुख से ज्ञानदायक शास्त्रों का यानी पुराणों एवं मोक्ष धर्म का प्रतिपादन करनेवाली अध्यात्म-संहिताओं का श्रवण करता है । संसारसागर को तैर जाने के लिए

मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते ।। १२ ।।
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ।
एवं विचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति ।। १३ ।।
स भूमिकावानित्युक्तः शेषः स्वार्थ इति स्मृतः ।
विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम् ।। १४ ।।
श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयते श्रेष्ठपण्डितान् ।। १५।।
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ।। १६ ।।
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरप्याश्रितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ।। १७ ।।

इस तरह के विचार से सम्पन्न जो पुरुष होता है वह प्रथम भूमिका में प्रविष्ट हुआ कहा गया है, किन्तु उक्त साधनचतुष्टय आदि सम्पत्ति से रहित पुरुष तो अध्यात्मशास्त्रों के अवलोकन में आसक्त होता हुआ भी राग आदि के कारण अनधिकारी पुरुष को ठग-ठग कर उनके द्वारा प्राप्त धनादि से अपना केवल पेट पालन करता है, इसलिए वह वञ्चक कहा गया है । इसके बाद अधिकार की प्राप्ति होने से वह विचार नामक दूसरी योग भूमिका में अवतीर्ण होता है ।। १३-१४ ।।

उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मों में तत्पर रहने वालों के मध्य में अध्यात्म शास्त्रों की प्रशस्त व्याख्या करने के कारण जिन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है ऐसे श्रेष्ठ पण्डितों का आश्रयण करता है अर्थात् श्रवण-मननादि विचार के लिए आत्म-तत्त्व के अनुभव और उपदेश में अत्यन्त कुशल होने के कारण सर्वश्रेष्ठ गुरुओं की शरण में जाता है 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ।।१५।।

स्वयं व्याकरण आदि षडङ्गों का अच्छा ज्ञाता होने के कारण पदों तथा वाच्यलक्ष्य आदिरूप उनके अर्थों एवं लक्षणा, व्यञ्जना आदि उनके विभागों का जिसे खूब ज्ञान हो चुका है---ऐसा विवेकी शिष्य अपने गुरु के मुख से अध्यात्मशास्त्र का श्रवण कर कार्य और अकार्य का विनिर्णय तत्त्वतः ऐसे जान लेता है, जैसे घर का मालिक अपना घर ।। १६ ।।

लोकमर्यादा के अनुसार बाहर जो कुछ भी आश्रित मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभ का आधिक्य रहती है, जिस तरह साँप केंचुल को उसे भी वह उस तरह छोड़ देता है ।। १७ ।।

इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
स रहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १८ ॥
असंसङ्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् ।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवाऽमलाम् ॥ १९ ॥
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलम् ।
तापसाश्रमविश्रामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ २० ॥
संसारनिन्दकैस्तद्वद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो जरयत्यायुराततम् ॥ २१ ॥
वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ २२ ॥
अभ्यासात्सानुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ।
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ॥ २३ ॥
तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुधोऽनुभवति स्वयम् ।

इस प्रकार पूर्वोक्त सद्वासनाओं से वासित अन्तःकरण वाला वह पुरुष, दूसरी भूमिका में पहुँच कर शास्त्र, गुरु और सज्जनों की सेवा से पूर्णपरमतत्त्व को अच्छी तरह जान जाता है ॥ १८ ॥

अनन्तर असङ्ग नामक अन्य तीसरी योग्य भूमिका में वह पुरुष जैसे कान्त अपनी कान्ता की निर्मल पुष्प-शय्या पर वैसे ही प्रविष्ट होता है ॥ १९ ॥

अध्यात्म विषयक शास्त्रों के आत्मा द्वैत रूप 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यार्थ में अपनी बुद्धि को निश्चलतापूर्वक स्थापित कर तपस्वियों के आश्रमों में, विश्रामों से, अध्यात्मशास्त्रों की कथाओं के क्रमों से तथा वैसे ही संसार की निन्दा करने वाले वैराग्य के साधन क्रमों से पत्थर की चट्टान रूपी शय्या पर आसीन हो अपनी सारी आयु गँवाता है ॥ २०–२१ ॥

चित्त के उपशम से शोभित होने वाले तथा असङ्गता के सुख से सौम्य वनवास के विहार से वह नीतिमान् अपने काल को व्यतीत करता है, क्योंकि गाँव में रहने पर अधिक विक्षेप होने के कारण समाधि के अभ्यास का भली-भाँति निर्वाह नहीं हो सकता है ॥ २२ ॥

अध्यात्म विषयक सत्-शास्त्रों के अभ्यास से तथा पुण्यकर्मों के निमित्त से जीव की यह आत्मदृष्टि वस्तुतः विकसित होती है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी ! तीसरी भूमिका में पहुँचकर ज्ञानी पुरुष दो तरह के असङ्ग का स्वयं अनुभव करता है। आप उसके इस भेद को सुनें ॥ २४ ॥

द्विःप्रकारमसंसङ्गं तस्य भेदमिमं शृणु ॥ २४ ॥
द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ।
नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ॥ २५॥
इत्यसञ्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ।
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ॥ २६ ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवाऽत्र मम कर्तृता ।
भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ॥ २७ ॥
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
कालः कवलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ॥ २८ ॥
अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलग्नमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥ २९ ॥
अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
वियोगेनाऽसतामन्तः प्रयोगेणाऽऽत्मसंविदाम् ॥ ३० ॥

यह असङ्ग दो तरह का है--एक पूर्व भूमिका के समान साधारण सामान्य और दूसरा श्रेष्ठ। अपनी देह की क्रियाओं का कर्ता तथा उन क्रियाओं के फलों का भोक्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं निष्क्रिय तथा नित्यतृप्त हूँ। दूसरों की क्रियाओं तथा उनके फलों का भी मैं बाध्य और बाधक नहीं हूँ, क्योंकि मैं व्यापार शून्य हूँ ॥ २५ ॥

इस तरह के निश्चय से दृश्य पदार्थों में संसक्त न होना ही सामान्य असङ्ग कहा गया है। सुख या दुःख सब कुछ पूर्वकर्म से निर्मित और ईश्वर के अधीन है ॥ २६ ॥

इसमें मेरी कर्तृता कैसी ? ये विस्तृत भोग विषय अन्त में परितापी होने के कारण महारोग हैं तथा ये सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं, क्योंकि इनके उपार्जन और रक्षण के लिए मनुष्यों को नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं ॥ २७ ॥

संयोग सब वियोग के लिए ही हैं और ये मानसिक चिन्ताएँ बुद्धि की व्याधियाँ हैं, सब पदार्थों को विनाश के गड्ढे में ढकेल रहा काल तो उन्हें निगल जाने के लिए ही सदा प्रस्तुत रहता है ॥ २८ ॥

इस तरह अनास्था होने से 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थों में संलग्न चित्तवाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों में जो आन्तरिक अभावना है वही सामान्य असङ्ग कहलाता है ॥ २९ ॥

इसी पूर्वोक्त अभ्यासयोग से, महात्माओं की सङ्गति से, दुर्जनों की असङ्गति से, श्रवण-मननात्मक आत्म-विचारों के अन्तःकरण में प्रयोग से तथा लगातार अभ्यास

पौरुषेण प्रयत्नेन सन्तताभ्यासयोगतः ।
करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां दृढम् ॥ ३१ ॥
संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्कृतं मम ॥ ३२ ॥
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३३ ॥
यत्रान्तर्न बहिर्नाधो नोर्ध्वं नाऽऽशासु नाम्बरे ।
न पदार्थे नाऽपदार्थे न जडे न च चेतने ॥ ३४ ॥
आसितं भासनं शान्तमभासं नभसा समम् ।
अनाद्यन्तमजं कान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३५ ॥
सन्तोषामोदमधुरः सत्कार्यामलपल्लवः ।

योग द्वारा अपने पुरुष प्रयत्न से संसार सागर के पार, सबके सार, परम कारणभूत आत्मतत्त्व के—प्रमाण और प्रमेय की असंभावना के निरास द्वारा हस्तामलकवत् दृढ़रूप से खूब—स्पष्ट हो जानेवाली आत्मवस्तु है ॥ ३०-३१ ॥

इस विश्वास का विषय हो जानेपर मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु ईश्वर ही कर्ता है; पूर्वजन्म में किया गया या वर्तमान काल में किया जा रहा मेरा कोई कर्म नहीं है इत्यादि अभाव और उसके प्रतियोगी आदि के विषय में विकल्प करनेवाली शब्दार्थ भावना को भी बहुत दूर फेंक कर जो शान्त मौन रूप से रहता है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहलाता है ॥ ३२–३३ ॥

न भीतर, न बाहर, न ऊपर, न नीचे, न दिशाओं में, न आकाश में, न पदार्थों में, न अपदार्थों में न जड़ में और न चिदाभास में यानी बाहर या भीतर आदि सभी वस्तुओं में आलम्बनशून्य होकर स्थित जो स्वप्रकाशचिद्रूप शान्त, अन्य प्रकाशक से शून्य, आकाश के समान स्वच्छ, एकरस और गम्भीर, आदि-अन्त से रहित तथा जो अत्यन्त कान्त ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है ॥ ३४-३५ ॥

सन्तोषरूपी सुगन्ध से मधुर या सन्तोषजनित हर्ष से मधुर-मकरन्दवाला, उपासना, गुरुशुश्रूषा, श्रवण आदि निष्काम कर्मरूपी निर्मल पल्लवों से युक्त और चित्तरूपी नाल के अग्र भाग में संलीन हुए रागादि वासनाओं से उत्पन्न अनेक तरह के विघ्नरूपी कण्टकों से सङ्कीर्ण विचाररूपी सूर्य के विकास को प्राप्त हुआ यह विवेकरूपी कमल हृदय में रूढ़ होकर असङ्गनामक यह तृतीय

चित्तनालाग्रसंलीनविघ्नकण्टकसङ्कटः ॥ ३६ ॥
विवेकपद्मो रूढोऽन्तर्विचारार्कविकासितः ।
फलं फलत्यसंसङ्गां तृतीयां भूमिकामिमाम् ॥ ३७ ॥
समवायाद्विशुद्धानां सञ्चयात्पुण्यकर्मणाम् ।
काकतालीययोगेन प्रथमोदेति भूमिका ॥ ३८ ॥
भूमिः प्रोदितमात्रा तैरमृताङ्कुरिकेव सा ।
विवेकेनाऽम्बुसेकेन रक्ष्या पाल्या प्रयत्नतः ॥ ३९ ॥
येनांशेनोल्लसत्येषा विचारेणोदयं नयेत् ।
तमेवाऽनुदिनं यत्नात् कृषीवल इवाङ्कुरम् ॥ ४० ॥
एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः ।
द्वितीयां भूमिकां यत्नात् तृतीयां प्राप्नुयात्ततः ॥ ४१ ॥

भूमिकारूप फल फलता है ॥ ३६-३७ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुषों के समवाय से अर्थात् दान, मान, भजन आदि उपायों के द्वारा सम्मेलन से तथा पुण्य कर्मों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका उत्पन्न होती है अर्थात् अनेक जन्मों से संचित सुकृतों के परिपाक तथा इस लोक के पुण्यों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका ही यदि अङ्कुरित हो गई, तो बड़े प्रयत्न के साथ सज्जनों की सङ्गति आदि करके उसकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि यदि वह कहीं रक्षित रह गई तो, फिर वही द्वितीय आदि भूमिकाओं में अनायास परिणत हो जायगी, इसलिए उसी की रक्षा में अधिक यत्न करना चाहिए ॥ ३८ ॥

शुभ प्रवृत्ति में उन्मुख होने के कारण, मेघों से अङ्कुरित भूमि की तरह तत्त्वज्ञानियों से अङ्कुरित उस प्रथम भूमिका की प्रतिदिन विवेकोपदेशरूपी जल के सिञ्चन से इस तरह प्रयत्नपूर्वक रक्षा और पालन करना चाहिए कि वह सूखने न पावे ॥ ३९ ॥

शुभेच्छानामक यह पहली भूमिका चार साधनों के मध्य में वैराग्यरूपी या शान्त्यादिरूपी जिसी अंश से सर्वप्रथम अङ्कुरित होकर उल्लसित होती है उसी अंश को बड़े यत्न के साथ प्रतिदिन अभिवृद्धि में वैसे ही पहुँचाना चाहिए, जैसे कृषक धान आदि के अङ्कुर को अभिवृद्धि में पहुँचाता है ॥ ४० ॥

अन्तःकरण में विचार द्वारा उदय को प्राप्त यह पहली भूमिका ही अन्य भूमिकाओं की उत्पत्ति का स्थान बन जाती है। इसी भूमिका के कारण द्वितीय और तृतीय भूमिका को भी यत्न से विवेकी पुरुष प्राप्त कर सकता है ॥ ४१ ॥

श्रेष्ठाऽसंसङ्गता ह्येषा तृतीया भूमिकाऽत्र हि ।
भवति प्रोज्झिताशेषसङ्कल्पकलनः पुमान् ॥ ४२ ॥

श्रीराम उवाच

मूढस्याऽसत्कुलोत्थस्य प्रवृत्तस्याऽधमस्य च ।
अप्राप्तयोगिसङ्गस्य कथमुत्तरणं भवेत् ॥ ४३ ॥
एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां चेतरां च वा ।
आरूढस्य मृतस्याऽथ कीदृशी भगवन् ! गतिः ॥ ४४ ॥

वसिष्ठ उवाच

मूढस्याऽऽरूढदोषस्य तावत्संसृतिरातता ।
यावज्जन्मान्तरशतैः काकतालीययोगतः ।
अथवा साधुसङ्गत्या वैराग्यं नाभ्युदेति हि ॥ ४५ ॥
वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः ।
ततो नश्यति संसार इति शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ॥ ४६ ॥

यही श्रेष्ठ असङ्गनामक तीसरी भूमिका है। इस भूमिका में वर्तमान पुरुष सम्पूर्ण सङ्कल्प की कल्पनाओं से शून्य हो जाता है ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! असत्कुल में उत्पन्न, कामोपभोग के लिए प्रवृत्त, अधम तथा योगियों के सङ्ग को न प्राप्त मूढ़ पुरुष का उद्धार कैसे होगा ? अर्थात् सत्कुल में उत्पन्न होना आदि जो वेदान्तशास्त्र के अधिकारियों के लक्षण हैं उन सब विशेषणों से रहित, अध्यात्मशास्त्र की कथाओं से सदा विमुख रहने वाले तथा कामोपभोग के लिए ही प्रवृत्तिमार्ग के पथिक बने हुए अधम पुरुषों को किसी दूसरे उपाय से मोक्ष हो सकता है या नहीं ॥ ४३ ॥

हे भगवन् ! पहली, दूसरी, तीसरी या अन्य किसी भूमिका में आरूढ होकर मर गये प्राणी की कैसी गति होती है ? कहें ॥ ४४ ॥

प्रवृद्ध रागादि दोषों वाले मूढ़ पुरुष को काकतालीय योग से अर्थात् दैवगति से सैकड़ों जन्मों के बाद अपने विचार से या साधुओं की सङ्गति से वैराग्य उत्पन्न न होने तक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है ॥ ४५ ॥

वैराग्य उत्पन्न हो जानेपर प्रथम भूमिका का उदय प्राणी को अवश्य होता है अनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रों के अर्थों का संग्रह है—शास्त्रों का परम सिद्धान्त है ॥ ४६ ॥

प्रथमादि भूमिकाओं में पहुँचकर अपना जीवन उत्सर्ग करनेवाले प्राणियों का भूमिकाओं के प्रकर्ष से ही पूर्व

योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥ ४७ ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरुपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥ ४८ ॥
ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगजाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ ४९ ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥ ५० ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः ।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ ५१ ॥
भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम ! जाग्रदिति स्मृतम् ।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं तज्जाग्रदिति दृश्यते ॥ ५२ ॥
उदेति योगयुक्तानामत्र केवलमार्यता ।
यां दृष्ट्वा मूढबुद्धीनामभ्युदेति मुमुक्षुता ॥ ५३ ॥

जन्म का—दुष्कृत नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

अनन्तर वह योगी देवताओं के विमानों में, लोकपालों के नगरों में तथा सुमेरु पर्वत के उपवनों की झाड़ियों में रमणियों, अप्सराओं को साथ लेकर खूब रमण करता है ॥ ४८ ॥

अनन्तर पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों और पापों का भोगसमूहों के नाश हो जाने पर वे योगी पृथिवी पर जन्मग्रहण करते है ॥ ४९ ॥

पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीपात्र सज्जनों के सुरक्षित घर में जन्म लेकर ये लोग योग की वासना से वासित अन्तःकरणवाले होने के कारण योग का ही सेवन करते हैं ॥ ५० ॥

वहाँ पर पूर्वजन्म में की गई भावनाओं से अभ्यस्त योग भूमिकाओं के क्रम का स्मरण करके वे बुद्धिमान् आगे की भूमिका के क्रम का खूब अभ्यास करने लग जाते हैं ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामजी ! ये तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गई हैं, क्योंकि इन भूमिकाओं में यथावत् भेदबुद्धि रहने से यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत् काल की तरह ही दिखाई पड़ता है ॥ ५२ ॥

इन तीनों भूमिकाओं में योगयुक्त पुरुषों को केवल पूज्यता उदित होती है, जिसे देखकर 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्याय से मूढ़बुद्धि पुरुषों को भी मुक्त होने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है ॥ ५३ ॥

कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५४ ॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५५ ॥
प्रथमायामङ्कुरितं द्वितीयायां विकासितम् ।
फलीभूतं तृतीयायामार्यत्वं योगिनो भवेत् ॥ ५६ ॥
आर्यतायां मृतो योगी शुभसङ्कल्पसंभृतान् ।
भोगान्भुक्त्वा चिरं कालं योगवाञ्जायते पुनः ॥ ५७ ॥
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ ५८ ॥
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।

नित्य-नैमित्तिक सब कामों को भली-भाँति करने वाला तथा अकर्तव्यों को न करने वाला जो प्राकृत आचार में स्थित रहता है वह आर्य कहा गया है ॥५४॥

अपने वृद्ध पुरुषों के आचारों के अनुसार, शास्त्रोक्त तथा चित्त को प्रसन्न रखने वाले यथास्थित व्यवहारों का जो ग्रहण करता है वह आर्य कहा गया है ॥ ५५ ॥

योगी का वही आर्यत्व शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका में अङ्कुरित, द्वितीय भूमिका में श्रवण आदि के द्वारा विकास को प्राप्त तथा तृतीय भूमिका में चित्त की एकाग्रतारूप फल से फलित होता है ॥ ५६ ॥

इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ सङ्कल्पजनित उत्तम वासनायुक्त भोगों का चिरकालतक उपभोग कर पुनः योगी ही होता है अर्थात् इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु की प्राप्ति होनेपर निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से पापशून्य योगियों को 'कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उपभोग भी देवलोक आदि में करना पड़ता है, परन्तु यह भोग शुभ सङ्कल्पों से उत्पन्न सब वासनाओं से युक्त होने के कारण, काम्यकर्म का अनुष्ठान करनेवाले पुरुषों की रागादि दुर्वासनाओं के द्वारा अधःपतन का हेतु नहीं होता ॥ ५७ ॥

तीनों भूमिकाओं का अभ्यास करने से अज्ञान के नष्ट हो जानेपर सम्यग्ज्ञान का उदय होने के बाद जब पूर्णचन्द्रोदय के सदृश स्वच्छ चित्त हो जाता है तब चौथी भूमिका में पहुँचे हुए युक्तचित्त योगी सम्पूर्ण जगत् को विभागशून्य, आदि और अन्त से रहित आनन्दैकरस देखते हैं ॥ ५८-५९ ॥

द्वैत के बिलकुल शान्त हो जाने पर अद्वैत के स्थिर

समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ५९ ॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वाप्नवल्लोकांश्चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ६० ॥
भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते ।
विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥ ६१ ॥
सत्तावशेष एवाऽऽस्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ।
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥ ६२ ॥
गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ।
सुषुप्तघन एवाऽऽस्ते पञ्चमीं भूमिकामितः ॥ ६३ ॥

हो जाने पर चौथी भूमिका में गये हुए योगी सब लोकों को स्वप्न के समान देखने लगते हैं ॥ ६० ॥

तीन भूमिकाओं को जाग्रत् कहते हैं, क्योंकि जैसे जाग्रत् में व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इनमें भी व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है और चौथी भूमिका को स्वप्न कहते हैं, क्योंकि जैसे स्वप्न में प्रातिभासिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इसमें भी भान प्रातिभासिक सत्ता से ही होता है। पञ्चम भूमिका के लिए सुषुप्ति पद का प्रयोग होने में कारणभूत सुषुप्ति का सादृश्य बतलाते हैं। शरत् काल में विच्छिन्न मेघ के विलीन हो जानेपर जैसे केवल शुभ्र आकाशरूप बच जाता वैसे ही पञ्चम भूमिका में सम्पूर्ण व्यापरों के विलीन हो जानेपर केवल शुद्ध चिन्मात्र ही बच जाता है। एवञ्च, पञ्चम भूमिका के लिए जो सुषुप्ति शब्द का प्रयोग आता है इसमें कारण यह है कि सुषुप्ति काल में जैसे समस्त व्यावहारिक भान विलीन हो जाते हैं, वैसे ही इस पञ्चम भूमिका में व्यावहारिक और अवशिष्ट प्रातिभासिक त्रुपुटीभान भी विलीन हो जाते हैं, अतः पञ्चम भूमिका एक तरह से सुषुप्ति के सदृश ही ठहरी, इसलिए सुषुप्ति और पञ्चम भूमिका में समानता होने से पञ्चमभूमिका के लिए सुषुप्तिशब्द का प्रयोग यत्र-तत्र श्रुति आदि में किया गया है ॥ ६१ ॥

पञ्चम भूमिका में पहुँचा हुआ पुरुष केवल चैतन्यसत्तारूप बनकर रह जाता है। सुषुप्तरूप अमुख्य नाम से कही जा रही पञ्चम भूमिका प्राप्त कर पुरुष समस्त विकरांशों से निर्मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्व में स्थित हो जाता है ॥ ६२ ॥

पांचवीं भूमिका में पहुँचने वाला द्वैतज्ञान से रहित

अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥ ६४ ॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।
षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम् ॥ ६५ ॥
यत्र नाऽसन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहङ्कृतिः ।
केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ॥ ६६ ॥
निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ॥ ६७ ॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाऽम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवाऽर्णवे ॥ ६८ ॥
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्त्वथ वैष न किञ्चन ।

हो गाढ सुषुप्त के सदृश स्थित रहता है, उसका अपना पूर्णस्वरूप प्रकाशित हो जाता है और भीतर से ज्ञानी रहता है ॥ ६३ ॥

पांचवी भूमिका में स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्ति से सम्पन्न रहता है। बाह्य व्यापार में तत्पर रहते हुए भी निरन्तर चारों ओर से शान्त होने के कारण निद्रालु के समान दिखाई देता है ॥ ६४ ॥

इस भूमिका में वासनाशून्य हो अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्यानाम की अन्य छठी भूमिका में चला जाता है ॥ ६५ ॥

जहाँपर न तो सत्, न असत्, न अहङ्कार और न अहङ्कार का अभाव ही रहता है, किन्तु क्षीणमनन होने के कारण योगी केवल द्वैत और अद्वैत से शून्य ही रहता है ॥ ६६ ॥

अहङ्कार ग्रन्थि के विच्छिन्न हो जाने से उस योगी के सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं और वासनाओं से शून्य जीवन्मुक्त वह योगी निर्वाण को न प्राप्त कर भी देह धारण करते हुए भी अहङ्कार और वासनाओं से शून्य होने के कारण निर्वाण को प्राप्त चित्रलिखित प्रदीप की तरह स्थित रहता है ॥ ६७ ॥

वह जीवन्मुक्त योगी जड़ जगत् के स्वभाव से बाहर और भीतर से शून्य, आकाश में शून्य घट की तरह स्थित रहता है तथा आनन्दपरिपूर्ण स्वभाव होने के कारण बाहर और भीतर से पूर्ण हो सागर में परिपूर्ण घट के समान स्थित रहता है ॥ ६८ ॥

उसके अद्वितीय रूप की संसार-दशा में कभी प्रसिद्धि न होने से वह किसी उत्तम आश्चर्यमय अपूर्व रूप से सम्पन्न रहता है या वास्तविक दृष्टि से तो वह किसी भी

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ॥६९॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु ॥ ७० ॥
कैश्चित्सा शिवमित्युक्ता कैश्चिद्ब्रह्मेत्युदाहृता ।
कैश्चित्प्रकृतिपुंभावविवेक इति भाविता ॥ ७१ ॥
अन्यैरप्यन्यथा नानाभेदैरात्मविकल्पितैः ।
नित्यमव्यपदेश्याऽपि कथञ्चिदुपदिश्यते ॥ ७२ ॥
सप्तैता भूमिकाः प्रोक्ता मया तव रघूद्वह ! ।
आसामभ्यासयोगेन न दुःखमनुभूयते ॥ ७३ ॥
अस्त्यत्यन्तमदोन्मत्ता मृदुमन्थरचारिणी ।
करिणी विग्रहव्यग्रा महादशनशंसिनी ॥ ७४ ॥

रूप से कुछ भी सम्पन्न नहीं रहता है। छठी भूमिका में स्थित होकर वह योगी सातवीं भूमिका में पहुँचता है ॥ ६९ ॥

सातवीं योगभूमिका विदेहमुक्तता कही गई है। वह शान्तस्वरूप, वाणी से अगम्य और संसार की भूमियों की सीमा है अर्थात् वह योगियों के मानस अनुभव से ही एकमात्र गम्य है। जीवित ज्ञानी पुरुष के लिए यदि सातवीं भूमिका ही नहीं है, तो फिर यह योगियों के मानस अनुभव से गम्य कैसे होगी, ऐसा किसी को भ्रम न करना चाहिए, क्योंकि 'सा सीमा भवभूमिषु' इत्यादि से उसमें संसार की भूमियों की सीमारूपता जो बतलाई गई है, उससे विरोध होने लगेगा तथा 'आसामभ्यास-योगेन' इत्यादि से उत्तरोत्तर भूमिकाओं के अभ्यास का जो निर्देश किया गया है, उससे भी विरोध होने लगेगा ॥ ७० ॥

कोई अर्थात् शैव उसे शिव कहते हैं, कोई अर्थात् वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं और सांख्य, योगी उसे प्रकृति से पुरुष का विवेक कहते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पित रूपों से सप्तम भूमिका की भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेश योग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया जाता है ॥ ७१, ७२ ॥

हे रघुकुल श्रेष्ठ ! ये सातों भूमिकाएँ मैंने आप से कह दीं। इनके अभ्यास के योग से मनुष्य दुःख का अनुभव नहीं करता है ॥ ७३ ॥

धीरे-धीरे खूब झूम-झूमकर चलने वाली, अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करने में सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतों से प्रख्याति को प्राप्त कर अत्यन्त अनर्थ को पैदा

सा चेन्निहन्यते नूनमनन्तानर्थकारिणी ।
तदेतासु समग्रासु भूमिकासु नरो जयी ॥ ७५ ॥
करिणी मदमत्ता सा यावन्न विजितौजसा ।
को नाम सुभटस्तावत्संपत्समरभूमिषु ॥ ७६ ॥

श्रीराम उवाच

काऽसौ प्रमत्ता करिणी काश्च ता रणभूमयः ।
कथं निहन्यते चैषा क्व चैषा रमते चिरम् ॥ ७७ ॥

वसिष्ठ उवाच

रामेच्छा नाम करिणी इदं मेऽस्त्वितिरूपिणी ।
शरीरकानने मत्ता विविधोल्लासकारिणी ॥ ७८ ॥
मत्तेन्द्रियोग्रकलभा रसनाकलभाषिणी ।
मनोगहनसंलीना कर्मदन्तद्वयान्विता ॥ ७९ ॥
मदोऽस्या वासनाव्यूहः सर्वतः प्रसरद्वपुः ।

करने वाली एक हथिनी है। यदि वह किसी तरह मार दी जाती है, तो इन समस्त भूमिकाओं में मनुष्य विजयी बन सकता है ॥ ७४, ७५ ॥

वह मदोन्मत्त हथिनी जबतक पराक्रम से जीत नहीं ली जाती, तबतक कौन ऐसा वीर है, जो उससे आक्रान्त क्षुद्र सांसारिक सम्पत्तिरूपी समरभूमियों में प्रवेश करने के लिए समर्थ हो सकता है ॥ ७६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—वह कौन प्रमत्त हथिनी है, वे समरभूमियाँ कौन हैं, कैसे यह मारी जाती है तथा कहाँ यह चिरकालतक रमण करती है ॥ ७७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! मुझे यह प्राप्त हो जाय, ऐसी इच्छा का नाम हथिनी है, वह शरीररूपी जङ्गल में रहती है और मत्त होकर अनेक तरह के शोक, मोह आदि उल्लासों को पैदा करने में तत्पर रहती है ॥ ७८ ॥

मतवाले इन्द्रियों के समूह ही उसके उग्रप्रकृति के बच्चे हैं, वह जीभ से मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्णरूपी दो दाँतों से युक्त वह मनरूपी गहन स्थान में लीन रहती है ॥ ७९ ॥

हे श्रीरामजी ! तारों ओर दूरतक फैल रहे शरीर से युक्त वासनाओं का समूह ही इस हथिनी का मद है और संसारदृष्टियाँ इसकी युद्धभूमियाँ हैं ॥ ८० ॥

यहाँपर पुरुष बार-बार जय और पराजय का अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी कृपण प्राणिसमूहों

संसारदृष्टयो राम ! तस्याः समरभूमयः ॥ ८० ॥
भूयो यत्राऽनुभवति नरो जयपराजयौ ।
इच्छानागी निहन्त्येषा कृपणान् जीवसञ्चयान् ॥ ८१ ॥
वासनेहा मनश्चित्तं संकल्पो भावनं स्पृहा ।
इत्यादिनिवहो नाम्नामस्यास्त्वाशयकोशगः ॥ ८२ ॥
धैर्यनाम्ना वरास्त्रेण प्रसृतामवहेलया ।
नागीं सर्वात्मिकामेतामिच्छां सर्वात्मना जयेत् ॥ ८३ ॥
यावद्वस्त्विदमित्येवमियमन्तर्विजृम्भते ।
तावदुग्रा कुसंसारमहाविषविषूचिका ॥ ८४ ॥
एतावानेव संसार इदमस्त्विति यन्मनः ।
अस्य तूपशमो मोक्ष इत्येवं ज्ञानसङ्ग्रहः ॥ ८५ ॥
प्रसादकारिणी स्वच्छा निरिच्छे विमलाकृतौ ।
तैलबिन्दुरिवाऽऽदर्शे विश्राम्यत्युपदेशवाक् ॥ ८६ ॥

को मारती है ॥ ८१ ॥

वासना, अभिलाषा, मन, चित्त, सङ्कल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नामों का समूह चित्तरूपी कोश के अन्दर रहता है ॥ ८२ ॥

अन्य सभी अस्त्रों का तिरस्कार कर धैर्यनामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्र से बहुत दूरतक फैली हुई तथा सम्पूर्ण विषयों के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त इस इच्छारूपी हथिनी को सब तरह से जीत लेना चाहिए ॥ ८३ ॥

'यह वस्तु मुझे इस रूप में प्राप्त हो जाय' जबतक यह इच्छा अन्तःकरण ने भीतर विकसित रहती है तभी तक यह महाभयङ्कर कुत्सित संसाररूपी महाविष से उत्पन्न महामारी बनी रहती है ॥ ८४ ॥

'यह मुझे मिल जाय' यह सङ्कल्प इतना ही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञानोपदेश-संग्रह है ॥ ८५ ॥

[तृष्णारूपी संसार का नाश ही मोक्षभूमिका के उदय में हेतु होने से मोक्ष है।]

राग आदि पुरुषों के अपराध से म्लान मन में श्रुतियों के अनुकूल आचार्य आदि का उपदेश, कमल के पत्तों के ऊपर जल बिन्दु की तरह तनिक भी नहीं ठहरता है। वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न इच्छारहित विमल आकृतिवाले पुरुष में स्वयं निर्मल अतः दूसरे का चित्त प्रसन्न करने में कारणरूप गुरूपदेशवाक्य, दर्पण में तैल बिन्दु की तरह संक्रान्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

असंवेदनमात्रेण नोदेतीच्छाभवाऽङ्कुरः ।
मनागभ्युदितैवेच्छा छेत्तव्यानर्थकारिणी ।
असंवेदनशस्त्रेण विषस्येवाऽङ्कुरावली ॥ ८७ ॥
इच्छाविच्छुरितो जीवो विजहाति न दीनताम् ॥ ८८ ॥
स्वसंवेदनयत्नस्तु तूष्णीमेवाऽन्तरासनम् ।
अवधानविनिर्मुक्तं सुप्तं शवशतं यथा ॥ ८९ ॥
तां प्रत्याहारबडिशेनेच्छामत्सीं नियच्छत ॥ ९० ॥
इदं मेऽस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
अर्थस्याऽभावनं यत्तत्कल्पनात्याग उच्यते ॥ ९१ ॥
स्मरणं विद्धि सङ्कल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।
तत्र प्रागनुभूतं च नाऽनुभूतं च भाव्यते ॥ ९२ ॥

एकमात्र विषयों की स्मृति का परित्याग कर देने से इच्छारूपी संसार का अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। विषवृक्ष के अङ्कुरों की पङ्क्ति-जैसी अनेक तरह का अनर्थ पैदा करनेवाली, इस इच्छा को तनिक भी बढ़ते ही विषयों के विस्मरणरूप शस्त्र से काट देना चाहिए, इच्छा से व्याप्त जीव अपने अभिलषित अर्थ की सिद्धि के लिए दीनता को कभी नहीं छोड़ सकता ॥ ८७-८८ ॥

सुन्दर असंवेदन में अर्थात् भली-भाँति विषयों का स्मरण न होने में श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने भीतर समस्त व्यापारों से निर्मुक्त होकर अवधानशून्य सोये हुए सैकड़ों मृतकों की तरह बैठा रहे ॥ ८९ ॥

हे श्रीरामजी ! अनर्थ पैदा करनेवाली उस इच्छारूप मछली को आप प्रत्याहाररूपी बंसी में फँसाकर बाँध रखिये ॥ ९० ॥

यह मुझे मिल जाय, इस तीव्र इच्छा को ही उत्तम पुरुष कल्पना कहते हैं और बाह्य पदार्थों का जो विस्मरण है, उसको कल्पना का त्याग कहते हैं ॥ ९१ ॥

हे श्रीरामजी ! सङ्कल्प को ही आप स्मरण समझें और विस्मरण को तो विद्वान् लोग शिवस्वरूप अमझते ही हैं। सङ्कल्प में पहले के अनुभूत पदार्थों की तथा अननुभूत पदार्थों की भावना की जाती है ॥ ९२ ॥

अनुभूत और अननुभूत सब तरह की स्मृति का शीघ्र ही विस्मरण कर काष्ठ के समान मूढ एवं महामति होकर स्थित रहें ॥ ९३ ॥

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्ला-कर यह कह रहा हूँ, लेकिन कोई उसे सुनता नहीं कि सङ्कल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है, उसकी भावना

अनुभूतां नानुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
सर्वमेवाऽऽशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामतिः ॥ ९३ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति तत् ।
असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ९४ ॥
किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
परमं यत्र साम्राज्यमपि राम ! तृणायते ॥ ९५ ॥
गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसङ्कल्पस्तथा स्पन्दः स्वकर्मसु ॥ ९६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
सङ्कल्पनं परो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ ९७ ॥
सर्वमेवमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम् ।
पश्यन् भूतार्थचिद्रूपं शान्तमास्व यथासुखम् ॥ ९८ ॥

तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते अर्थात् सभी प्राणियों को विषयसङ्कल्पों के त्याग के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, इसलिए उनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए, इस अपने समस्त उपदेश-रहस्य को अब परम कारुणिक महाराज वसिष्ठजी चिल्लाकर दृढ़ करने की अभिलाषा से कहते हैं ॥ ९४ ॥

हे श्रीरामजी ! यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्। इस श्रुति से कथित और लोक में भी प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के व्यापारों को छोड़कर केवल चुपचाप बैठा हुआ पुरुष ही उस परम पद को प्राप्त करता है, भूमानन्दरूप परम पद में हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की तरह तुच्छ बन जाता है ॥ ९५ ॥

अपने गन्तव्य स्थान की ओर जाने के लिए अविच्छिन्न चित्तवृत्तिधारा से युक्त पथिक के पैर में जैसे बिना सङ्कल्प के ही स्पन्द प्रतिक्षण होते रहते हैं अर्थात् उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए बे-रोक-टोक उठते जाते हैं, वैसे ही योगी के भी पूर्वजन्म में किये गये अभ्यासरूपी अदृष्ट के वश से ही अनिषिद्ध अपने कर्मों में स्पन्दन होता रहेगा ॥ ९६ ॥

हे श्रीरामजी ! इस विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? संक्षेप से मैं इतना ही कहता हूँ कि सङ्कल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उसका न रहना ही मोक्ष है ॥ ९७ ॥

इस तरह सम्पूर्ण संसार को अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा नित्य-सिद्ध परमार्थ चिद्रूप देखते हुए आप शान्त होकर सुखपूर्वक स्थित रहें ॥ ९८ ॥

अवेदनं विदुर्योगं शान्तमासीनमक्षयम् ।
योगस्थः कुरु कर्माणि निर्वासनोऽथ मा कुरु ।। ।। ९९ ।।
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथाऽसि भो ।।१००।।
शिवं सर्वगतं शान्तं बोधात्मकमजं शुभम् ।
तदेकभावनं राम ! सर्वत्याग इति स्मृतः ।
भावयञ्छ्भदन्तः स्वं कार्यं कर्म समाचार ।।१०१।।
अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यते ।
असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं समाचार ।।१०२।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमार्थस्वरूप-वर्णनं नाम षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ।। १६२ ।।

हे श्रीरामजी ! 'अहं' और 'मम' इस अध्यस्त सम्पूर्ण भेदों के विस्मरण को ही ब्रह्मज्ञानी जीव ब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं और वह योग शान्त, अक्षय और सुदृढ़रूप से स्थित है । आप इस योग में स्थित होकर सब कार्य करते रहें । यदि आप समाधि में तत्पर हो चुके हैं, तो फिर आप कर्म न करें ।। ९९ ।।

विषयों के विस्मरण को ही स्वाभाविक चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें तन्मय होकर जैसे हैं वैसे स्थित रहें ।। १०० ।।

हे श्रीरामजी ! शिव, सर्वगत, शान्त, ज्ञानात्मक, अज और कल्याणरूप ब्रह्म के साथ जो एकत्व की भावना है अर्थात् यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्मस्वरूप है, यह जो परिपूर्ण भावना है यही सर्वत्याग कहा गया है । हे राघव ! आप निरन्तर अपने हृदय के अन्दर उसकी भावना करते हुए अपना कर्तव्य कर्म करते रहें अर्थात् चूडाला द्वारा दिखलाया गया सर्वत्याग भी सम्पूर्ण प्रपञ्चों की निवृत्तिरूप होने के कारण उक्त स्थितिरूप ही है ।। १०१ ।।

हे श्रीरामचन्द्रजी, 'अहं', 'मम' यह मैं हूँ, यह मेरा है यह भावना कर रहा पुरुष दुःख से छुटकारा नहीं पाता तथा 'अहं' 'मम' यह भावना न कर रहा पुरुष मुक्त हो जाता है, अब आपको जो अच्छा लगे वही करें ।। १०२ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में परमार्थस्वरूपवर्णन नामक कुसुमलता का एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। २२६ ।।

१२७

भरद्वाज उवाच

इति वरमुनिनोक्तं ज्ञानसारं पुराणं
सकलमनुनिशम्य श्रीरघूणां कुलाग्र्यः ।
विमलमतिरपृच्छत्किञ्चिदन्यत्स्वयं वा
समसुखपरिपूर्णः पूर्णबोधस्थितोऽसौ ।। १ ।।

स खलु परमयोगी विश्ववन्द्यः सुरेशो
जननमरणहीनः शुद्धबोधस्वभावः ।
सकलगुणनिधानं सन्निधानं रमाया-
स्त्रिजगदुदयरक्षानुग्रहाणामधीशः ।। २ ।।

११७

[श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीरामजी के परस्पर संवाद से वाल्मीकि मुनि रामजी की विश्रान्ति का स्मरण उसे कर स्वयं आप भी पूर्णानन्द आत्मा में विश्रान्त हो उस समय बिलकुल चुपचाप हो गये थे। इस प्रकार की अपने गुरु की स्थिति देखकर भरद्वाज, परमानन्द में अपनी स्थिति न पाकर, आगे और कुछ सुनने की इच्छा से पूछते हैं।]

भरद्वाज ने कहा—हे गुरो ! रघुकुल में सर्वश्रेष्ठ, विशुद्धमति श्रीरामभद्र ने अपने गुरु महाराज वसिष्ठजी के द्वारा अनेक प्रकारों से उपदिष्ट इस अतिप्राचीन अर्थात् आदिम ब्रह्मा से लेकर महर्षियों के सम्प्रदाय में चले आ रहें ज्ञानरूपी सार का श्रवणकर क्या और भी कुछ जिज्ञासु होकर पूछा था। वे उतने ही उपदेश से सम्पूर्ण सन्देहों से रहित एवं तारतम्यशून्य प्रत्यक्ष अनुभूत आत्म-सुख से परिपूर्ण होकर पूर्णज्ञानरूप आत्मा बनकर स्थित हो गये, यह मुझ से कहें ।। १ ।।

असल में श्रीरामभद्र तो महान् योगी, सब के वन्द्य, देवों के स्वामी, जन्म-मरण से रहित, विशुद्धज्ञानमय, समस्त गुणों की ज्ञानमय; समस्त गुणों की खान, समस्त ऐश्वर्यों के आधार तथा तीनों लोकों के उत्पादन, रक्षण एवं अनुग्रह आदि में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र थे । वे केवल लोगों पर अनुग्रह के लिए ज्ञानशास्त्र की प्रवृत्ति करने के

वाल्मीकिरुवाच

इति श्रुत्वा वसिष्ठस्य वाक्यं वेदान्तसङ्ग्रहम् ।
विदिताखिलविज्ञानो रामः कमललोचनः ॥ ३ ॥

शक्तिपातवशोन्मेषप्रकटामलचिद्घनः ।
मुहूर्तमासीदुद्बुद्धश्चैतन्यानन्दसागरः ॥ ४ ॥

प्रश्नोत्तरविभागादिपरिपाटीविवर्जितः ।
आनन्दामृतपूर्णासू रोमकण्टकिताङ्गकः ॥ ५ ॥

महासामान्यरूपत्वाच्चिद्व्यापकतया स्थितः ।

उद्देश्य से स्वेच्छा से ही अपने अज्ञान की कल्पना कर श्रवणार्थ प्रवृत्त हुए, मैं तो आरम्भ से अज्ञानी हूँ, मुमुक्षु हूँ और मेरे पास साधनों की भी कमी है, अतः हम दोनों में महान् अन्तर है, अर्थात् जितना उपदेश रामजी ने सुना उतना तुमने भी तो सुना, यदि तुम्हें सन्देह की निवृत्ति हुई है, तो उन्हें भी सन्देह की निवृत्ति हो गई । यदि नहीं हुई है तो उन्हें भी नहीं हुई, तुम स्वयं ही क्यों नहीं जान लेते, भरद्वाज जी अपने में और श्रीरामभद्र में महान् अन्तर बतलाते हैं । संस्कृत व्याख्या के अनुसार 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद् के महावाक्यों से उत्पन्न जो अखण्ड आकारवाली चित्त की वृत्ति है, उसमें नित्यनिरतिशय आनन्दरूप आत्मतत्त्व का आविर्भाव ही यहाँ 'शक्तिपात' शब्द का अर्थ समझना चाहिए । अथवा योगशास्त्र में वर्णित—सुषुम्ना के मार्ग में षट्चक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी का ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश होकर जो शिवशक्ति का संयोग होता है, यही संयोग 'शक्तिपात' शब्द का अर्थ समझना चाहिए । मन्त्र शास्त्र में शक्तिपात शब्द का अर्थ वर्णित है—गुरुजी की शिष्य के ऊपर जब अत्यन्त दया हो जाती है, तब वे अपनी देह छोड़कर शिष्य की देह में प्रवेश कर जाते हैं, अनन्तर शिष्य-देह की प्रत्येक नाडी का शोधन कर उसकी कुण्डलिनी में सप्तचक्रों में संचारण द्वारा समस्त भुवनों का वृतान्त प्रत्यक्ष दिखलाते हैं, यह दिखलाना ही शक्तिपात है । परन्तु इस मन्त्रशास्त्र वर्णित अर्थ का यहाँ ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि श्रीरामभद्र स्वयं ही ईश्वर हैं, अतः उनमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म स्वतःसिद्ध हैं, इसलिए इन धर्मों की श्रीरामभद्र को न तो कोई आवश्यकता है और न उससे लोकोपकार की सिद्धि ही है ॥ २ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—भरद्वाज, समस्त वेदान्तशास्त्र का जिसमें सङ्ग्रह भरा था, ऐसे वसिष्ठ मुनि के पूर्वोक्त

नित्यमष्टगुणैश्वर्यतृणप्रायमनोरथः ।
न किञ्चिदूचे सम्पन्नः शिवे परिणतः पदे ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

अहो खलु ममाश्चर्यं रामः प्राप्तो महत्पदम् ।
कथमेतादृशी प्राप्तिरस्माकं मुनिनायक ! ॥ ७ ॥

मूर्खाः स्तब्धाश्च किञ्चिज्ज्ञा मादृशाः क्व च पापिनः ।
क्व च ब्रह्मादिभिः प्रार्थ्या दुर्लभा रामसंस्थितिः ॥ ८ ॥

अहो मुनीश्वरगुरो ! कथं विश्राम्यते मया ।
दुष्पारस्य भवाम्भोधेस्तीर्यते तद्वदाऽऽशु मे ॥ ९ ॥

वचनों का श्रवण कर कमललोचन तथा अखिल विज्ञानों के ज्ञाता श्रीरामभद्र मुहूर्त पर्यन्त अपने आत्मस्वरूप में चैतन्य और विकसित हो उठे । शक्तिपात के प्रभाव से उनके अविद्या के पुट खुल गये और उसका निर्मल चैतन्य प्रकाशित हो उठा । उस समय वे अपने आप प्रकाशित हो रहे आत्मानन्द से पूर्ण हो गये थे ॥ ३–४ ॥

उस समय प्रश्न, उत्तर और विभाग उक्त एवं अनुक्त अंश का विवेचन आदि करने की जो पद्धति होती है, इससे विरत हो गये थे । उनका चित्त आनन्दरूप अमृत से पूर्ण हो गया था । उनके अङ्ग रोमाञ्चित हो गये थे ॥ ५ ॥

वे सर्वाधिष्ठान चैतन्य रूप हो गये थे, इससे वे चारों ओर से परिपूर्ण होकर विराजमान थे । अणिमा आदि आठ सिद्धियों की प्राप्ति करने की इच्छाएँ उनमें तृण के तुल्य हो गई थीं । उन्होंने उस समय वसिष्ठजी से कुछ भी नहीं कहा । वे शिवपद में परिणत हो गये थे ॥ ६ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे मुनियों के नायक, अहो, मैं आश्चर्यचकित हूँ कि श्रीरामभद्र तो, महान् आत्मपद प्राप्त कर चुके, परन्तु हम लोगों को उस तरह के आत्मपद की प्राप्ति कैसे होगी । अर्थात् इस प्रकार उत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजी को ज्ञान की प्राप्ति हुई, यह वर्णन कर अब मन्द, मध्यम अधिकारियों को चित्तशुद्धि के लिए विशिष्ट उपासना और मनन के उपायभूत तीन अवस्थाओं के विवेक एवं दृश्य प्रपञ्च के विवेक आदि कहने के लिए उनका उपक्रम करने में हेतु भरद्वाज की उत्कण्ठा आदि का वाल्मीकि जी वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

मेरे जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ, पापी और ब्रह्मा आदि द्वारा चाही जा रही दुर्लभ रामजी की स्थिति कहाँ ? दोनों में बहुत अन्तर है ॥ ८ ॥

हे बड़े-बड़े मुनियों के गुरो ! अहो, मैं किस तरह

वाल्मीकिरुवाच

श्रीरामवृत्तान्तमशेषमादितो
वसिष्ठवाक्यानुगतं निरूपितम् ।
धिया विचार्याऽनु परामृश प्रभो !
मयाऽपि तादृक्कथनीयमत्र ते ॥ १० ॥
अविद्यायाः प्रपञ्चोऽयं नास्ति सत्यमिहाण्वपि ।
विवेचयन्ति विबुधा विवदन्त्यविवेकिनः ॥ ११ ॥
नास्ति भिन्नं चितः किञ्चित्किं प्रपञ्चेन रुध्यसे ।
अभ्यासेन रहस्यानां वयस्य विशदो भव ॥ १२ ॥
प्रपञ्चविषयावृत्तिर्जाग्रन्निद्रेति कीर्तिता ।
सम्प्रबुद्धस्तु यस्याऽन्तश्चित्प्रदीपो निरञ्जनः ॥ १३ ॥
शून्यमूलः प्रपञ्चोऽयं शून्यताशिखरः सखे ! ।

आत्मपद में विश्रान्ति पा सकूँगा और इस दुस्तर संसार-रूपी महासागर के मोहरूपी जल से किस तरह पार हो सकूँगा, यह शीघ्र मुझसे कहें ॥ ९ ॥

वाल्मीकि जी ने कहा—हे शिष्य ! आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण रामवृत्तान्त, जो वसिष्ठजी के वाक्यों में था, उसको मैंने तुमसे कहा । तुम अपनी बुद्धि से पहले विचार कर पीछे उसका अनुसन्धान करो । मैं भी इस प्रसङ्ग में तुमसे—तुम्हारे अनुभव में उपयोगी जो तीन अवस्थाओं के विवेचन आदि वक्तव्य हैं, उन्हें—कहता हूँ, सुनो ॥ १० ॥

यहाँ यह अविद्या का प्रपञ्च तनिक भी सत्य नहीं है अर्थात् समस्त संसाररूप प्रपञ्च एकदम मिथ्या ही है । उसमें अधिष्ठानभूत तत्त्व, अलग कर पण्डित लोग निकाल लेते हैं और अपण्डित लोग उस मिथ्या संसार को लेकर परस्पर कलह करते हैं अर्थात् यह सारा प्रपञ्च मिथ्याभूत अविद्या से उत्पन्न हुआ है, इसलिए प्रपञ्च झूठा है और आखिर में चैतन्यरूप अद्वैत तत्त्व का ही राज रहता है, यह बुद्धिमान् मनुष्य अनायास जान सकता है, ॥ ११ ॥

हे प्रियमित्र! वस्तुतः चैतन्य वस्तु से कुछ भी अलग नहीं है, अतः मिथ्या प्रपञ्च से किसका अवरोध किया जा सकता है । प्रणव, महावाक्य आदि की रहस्य तुमसे आगे जाकर प्रकट करने वाला हूँ, उनके अभ्यास से तुम अपने चित्त को विशुद्ध बना डालो ॥ १२ ॥

प्रपञ्च को ग्रहण करने वाला जागरित व्यापार को निद्रा ही कहते हैं और जिसके भीतर चैतन्य दीपक प्रकाशित रहता है, उसे निरञ्जन साक्षी कहते हैं ॥ १३ ॥

सारशून्यतया मध्येऽप्यनास्था सन्मनीषिणाम् ॥ १४ ॥
अनादिवासनादोषादसन्नेवाऽयमीक्ष्यते ।
गन्धर्वनगराकारः संसारो बहुविभ्रमः ॥ १५ ॥
त्वमनभ्यस्य कल्याणीं चैतन्यामृतकन्दलीम् ।
संमुह्यसि किमध्यास्य वासनाविषवीरुधः ॥ १६ ॥
जाग्रदेतन्न पतितं ज्ञानालम्बसंविदः ।
न सन्त्युपरि सर्वेषां ये निरालम्बसंविदः ॥ १७ ॥
तावद्व्यूढा सुधाकाररसा संविन्महानदी ।
न यावदात्मरूपेण निपुणैरवगाह्यते ॥ १८ ॥
प्राङ्नास्ति चरमे नास्ति वस्तु सर्वमिदं सखे ! ।
विद्धि मध्येऽपि तन्नास्ति स्वप्नवृत्तमिदं जगत् ॥ १९ ॥

हे मित्र ! इस प्रपञ्च का मूल कारण झूठा अज्ञान ही है और अन्त भी झूठा अज्ञान ही है । मध्यकाल में भी विचारने पर इसकी कोई सत्ता न होने के कारण केवल प्रतीति ही रहती है, अतः उत्तम विद्वान् इसमें किसी तरह की आस्था नहीं करते ॥ १४ ॥

अनादि वासना के दोष से असत् यह संसार दिखलाई देता है; उसका गन्धर्व-नगर के सदृश मिथ्यास्वरूप है । यह अनेकविध भ्रमों से भरा पड़ा है जो वस्तु असत् रहती है, वह भी अनादि वासनायुत अविद्या से, गन्धर्व-नगर के सदृश, दिखलाई पड़ती है ॥ १५ ॥

तुम चैतन्यरूप अमृतकन्दली का अभ्यास न कर वासनारूपी विषवल्ली का आश्रयण कर क्यों व्यर्थ मोह में फँसे हो ॥ १६ ॥

जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि पहले चित्तकी स्थिरता के हेतु ज्ञानरूपी आलम्बन का आश्रयण करने के पहले यह जाग्रत् जगत् था ही नहीं और ऊपर की चतुर्थ अवस्था में भी जाग्रत् आदि कुछ नहीं है । यह विषय उन सभी योगियों के अनुभव से सिद्ध है, जो सर्वस्वतन्त्र आत्मज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥ १७ ॥

सुधास्वरूप रस से परिपूर्ण चितिरूपी महानदी जग-त्तरङ्गों से युक्त रहती है, जबतक उसमें आत्मरूप से प्रवेश नहीं किया जाता अर्थात् मुख्य आत्मज्ञान नहीं होता अर्थात् जबतक अज्ञान रहता है, तभीतक चितिरूपी नदी में जगत्-रूपी तरङ्गों का उद्भव होता रहता है ॥ १८ ॥

हे सखे ! समस्त यह जगत् न तो आरम्भ में है और न अन्त में ही है । इसलिए तुम यह भी समझ लो कि मध्य में भी यह है ही नहीं । इस जगत् का सारा वृत्तान्त

अविद्यायोनयो भेदाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव ।
क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥ २० ॥
सुशीतलोदकनदीं विदित्वाऽथ विगाह्यताम् ।
बहिर्भ्रान्तिनिदाघास्ते निर्यान्तु कलितासुखम् ॥ २१ ॥
एकश्चाऽज्ञानजलधिर्जगदाप्लाव्य तिष्ठति ।
ज्येष्ठोऽयमहमित्यूर्मिरविद्यावातसम्भवः ॥ २२ ॥
चित्तस्खलनभेदाली रागाद्याश्च प्रकल्पिताः ।
ममतोत्कलितावर्तः स्वतः स्वैरं प्रवर्तते ॥ २३ ॥
रागद्वेषावतिग्राहौ गृहीतसमनन्तरः ।
ततश्चानर्थपातालप्रवेशः केन वार्यते ॥ २४ ॥
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।
मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिवीचिषु ॥ २५ ॥
कस्तिष्ठति गतः को वा कस्य केन किमागतम् ।
किं नु मज्जसि मायायां पत मा त्वमतन्द्रितः ॥ २६ ॥
तत्त्वमेकं यदात्मेति जगदेतत्प्रचक्षते ।
ततोऽन्यः कस्तवाऽतीतो यस्तात ! विषयः शुचाम् ॥२७॥
बालान्प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत् ।
अविवर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा ॥ २८ ॥
अविविक्तो जनः शोचत्यकस्माच्च प्रहृष्यति ।
तत्त्ववित्तु हसन्नास्ते तस्य मोहो विडम्बनम् ॥ २९ ॥
तच्च सूक्ष्ममिदं तत्त्वं तिरोहितमविद्यया ।
यथा स्थलेषु लोकानां जलेष्वात्मसु संशयः ॥ ३० ॥

ऐसा है, जैसा कि स्वप्न है अर्थात् जो वस्तु आदि और अन्तकाल में नहीं रहती, वह मध्य में भी नहीं रह सकती, क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, वह किसी भी काल में बदल नहीं सकता। यह स्वप्नस्थल में सभी को ज्ञात है, इस तरह की अनुमान शैली प्रदर्शित किया है ॥ १९ ॥

अविद्या से उत्पन्न ये भेद, जल में बुल्लों की तरह, क्षण-क्षण में उत्पन्न होकर एकमात्र ज्ञानरूप समुद्र में विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

उत्तम शान्ति देनेवाली आत्मसंवितिरूपी नदी पहले जानकर फिर उसमें गोता लगाकर वे बाह्यभ्रान्तिरूप गर्मी के काल सुखपूर्वक निकल जाँय ॥ २१ ॥

अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थित है। इस समुद्र में अनादि भ्रान्तिवासनारूप वायु से उत्पन्न हुआ सबसे बड़ा यह 'अहम्' नाम का तरङ्ग है ॥ २२ ॥

उन विषयों में चित्त के गिरने के जो नाना प्रकार हैं, उनके हेतुभूत राग आदि दोष इस समुद्र के छोटे-छोटे तरङ्ग कल्पित किये गये हैं। ममता ही इसमें आवर्त है, यह यथेष्ट जहाँ चाहता है, वहाँ प्रवृत्ति करने लग जाता है ॥ २३ ॥

इस समुद्र में राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरों से पहले तत्काल ही तुम पकड़ लिए जाते हो और अनन्तर अनर्थरूपी पाताल में तुम्हारा प्रवेश निश्चित हो जाता है, यह प्रवेश किसी से भी रोका नहीं जा सकता ॥ २४ ॥

यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो प्रशान्त तथा अमृतरूप तरङ्गों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में ही क्यों नहीं डूबते। व्यर्थ द्वैतरूप मकरों से पूर्ण लवणसागर के तरङ्गों में क्यों डूबते हो ॥ २५ ॥

कौन स्थित है, किसके लिए कौन चला गया, किस हेतु से क्या फल मिला, इस तरह के शोक की हेतु माया-मोह में तुम क्यों गोते लगा रहे हो ? मैं तुमसे कहता हूँ कि ऐसे मोह में विवेकी बनकर गोते मत लगाओ ॥ २६॥

'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वेदान्तवाक्य जब यह कहते हैं कि जो कुछ यह जगत् है, वह सब आत्मरूप एक तत्त्व ही है, तब हे प्रिय, ऐसी कौन दूसरी वस्तु चली गई जो तुम्हारे नाना शोकों की विषय बन बैठी है ॥ २७ ॥

जिनको अज्ञान है, उन बालकों के प्रति तो ब्रह्मा का जगत् के रूप में विवर्त होता है, परन्तु जो पुण्यवान् पुरुष निरन्तर आनन्दरूप आत्मा में अपनी सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित रहने वालों के प्रति ब्रह्म का जगत् के रूप में विवर्त नहीं होता है ॥ २८ ॥

विवेकहीन पुरुष शोक करता है और अकस्मात् प्रसन्न भी होता है, परन्तु तत्त्वज्ञानी निरन्तर हँसता ही रहता है, उसमें जो किसी समय मोह दिखाई पड़ता है, वह केवल अज्ञानियों की चेष्टा का अनुकरण ही है ॥२९॥

प्रसिद्ध सूक्ष्म तत्त्व अज्ञानी लोगों के लिए अविद्या से ढका रहता है, इसलिए उन्हें जल में स्थल और स्थल में जल का जैसे संशय बना रहता है, वैसे ही कल्पित अनात्मा में आत्मा का और आत्मा में अनात्मा का संशय बना रहता है, अतः अज्ञानियों के लिये उक्त बात हो नहीं सकती अर्थात् यह बात अज्ञानियों में नहीं हो सकती, क्योंकि अविद्या से आक्रान्त अज्ञानियों को, जल में स्थल बुद्धि के सदृश, अनात्मा में आत्मबुद्धि रहती है ॥ ३० ॥

पृथिव्यादिमहाभूतपरमाणुमयं जगत् ।
स्थितं यदा तदापीह को गतो योऽनुशोच्यते ॥ ३१ ॥
असतः सम्भवो नास्ति नास्त्यभावः सतः सखे ! ।
आविर्भावतिरोभावा संस्थानानाममी परम् ॥ ३२ ॥
किन्त्वनेकपुरोत्साहा द्विषतामुपगच्छति ।
भज सम्भरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ॥ ३३ ॥
दुरितानि समस्तानि पच्यन्तेऽद्यापि न ध्रुवम् ।
कृतमेवाऽस्य देवस्य पाशा विश्रवतां गताः ॥ ३४ ॥
साकारं भज तावत्त्वं यावत्सत्त्वं प्रसीदति ।

पृथ्वी आदि जितने महाभूत हैं, वे सब परमाणुमय हैं, यह मत यदि मान लिया जाय, तब भी यहाँ ऐसी कौन आत्मा नष्ट हो गई, जिसका शोक किया जाय, क्योंकि परमाणुवाद में भी देह आदि के अनात्मा होने के कारण उनके नाश से आत्मा का नाश तो नहीं होता है ॥ ३१ ॥

हे मित्र ! न तो असद्वस्तु की उत्पत्ति होती है और न सद्वस्तु का अभाव होता है; केवल माया द्वारा विरचित चित्र-विचित्र रचनाओं के ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं अर्थात् अपनी प्रिय वस्तु के नाश से प्राणी को शोक अवश्य होता है। यदि वह प्रिय वस्तु सद्रूप है, तब तो वह कभी नष्ट नहीं हो सकती और यदि असद्रूप है, तो वह कदापि स्थित नहीं रह सकती है, इस तरह दोनों प्रकारों से उस आत्म-वस्तु के नाश की किसी तरह भी सिद्धि न होने के कारण शोक का कोई हेतु है ही नहीं ॥ ३२ ॥

यदि देहादि रचनाविशेष मायिक है, तो फिर ऐन्द्र-जालिक द्वारा दिखाई गई माया की तरह इसे उदासीन और तटस्थ अवभासित होना चाहिए; शोक, मोह आदि दुःखों से पूर्ण हजारों अनर्थ उत्पन्न करने में इसके पास विशेष हेतु क्या है, इसका समाधान यह है ? यह तुम्हारी आशङ्का सत्य है; आधुनिक कोई हेतु इसके पास उपस्थित नहीं है, किन्तु पुण्य और पाप में प्रवृत्तिरूप अनेक पूर्व जन्मों का सञ्चित पुरुष प्रयत्न ही पुण्य-पापनामक विशेष हेतु इसके पास उपस्थित है। उसीसे वह मायिक देह आदि पुण्यादि-फल के भोग के लिए विष के समान मरण-मूर्च्छा आदि हजारों हेतुओं के स्वरूप में परिणत हो जाता है और सैकड़ों बार उपदेश देने पर भी अध्यात्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों का अर्थ पाप के कारण इसके हृदय में स्थान नहीं कर पाता, इसलिए हे मित्र, उस पाप के विनाश के लिए अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के

निराकारे परे तत्त्वे ततः स्थितिरकृत्रिमा ॥ ३५ ॥
इमामुद्दामतमसो जित्वा सत्त्वबलाद्ध्रुवम् ।
यमस्याऽनुसराऽध्वानं विश्वस्तेनाऽन्तरात्मना ॥ ३६ ॥
समाधाय क्षणं पश्य प्रत्यगात्मानमात्मना ।
इयं विभातु सा व्यक्तं प्राग्बुद्धिरजनी तव ॥ ३७ ॥
कृतं पुरुषकारेण केवलेन च कर्मणा ।
महेशानुग्रहादेव प्राप्तव्यं प्राप्यते नरैः ॥ ३८ ॥
नाभिजात्यं न चारित्र्यं न नयो न च विक्रमः ।
बलवन्ति पुराणानि सखे ! कर्माणि केवलम् ॥ ३९ ॥

अर्धनारीश्वर आदि का वेष-धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की तुम उपासना करो ॥ ३३ ॥

अभीतक तुम्हारे समस्त पाप नष्ट नहीं हो गये हैं। प्राणियों द्वारा किये गये पुण्य-पापरूपी कर्म ही इस पशु-पति भगवान् के प्राणीरूपी पशुओं के बन्धन के लिए पाशरूप से विविध श्रुति आदि प्रमाणों के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त हैं ॥ ३४ ॥

तुम साकार देव का तबतक भजन करो जबतक तुम्हारा चित्त विशुद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि उस भजन से विघ्नों द्वारा किसी परह की बाधा न पहुँचाये जाने के कारण निराकार परमतत्त्व में तुम्हारी सहज स्थिति दृढ़ हो जायगी ॥ ३५ ॥

साकार महेश्वर की उपासना से प्राप्त विशुद्ध सत्त्व के बल से हजारों विविध व्यामोहों के द्वारा प्रचण्ड बने अज्ञान की इस व्यामोह-शक्ति को जीतकर गुरु और शास्त्रों के उपदेश में विश्वासयुक्त मन से इन्द्रियों के साथ-साथ मनोनिग्रहरूप योग के मार्ग का अनुसरण करो ॥ ३६ ॥

अनन्तर क्षणभर की समाधि लगाकर अपने से ही प्रत्यगात्मा का अवलोकन करो, ताकि उस प्रत्यगात्मा के दर्शन से तमोगुण से आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात प्रभातरूप में परिणत हो जाय ॥ ३७ ॥

केवल पुरुष प्रयत्नरूप कर्मों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, भगवान् महेश्वर के एकमात्र अनुग्रह से ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति कर लेते हैं ॥ ३८ ॥

महेश्वर के अनुग्रह के बिना केवल कुलीनता, सदा-चारिता, नीति और पराक्रम आदि कुछ भी नहीं काम कर पाते, क्योंकि पूर्वजन्म के कर्म अधिक बलवान् होते हैं। पूर्वजन्मों के कर्मों के अनन्त तथा इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों के अल्प होने के कारण ईश्वर के अनुग्रह के बिना

अप्रतर्क्यात्प्रतीकारात्किमेवमवसीदसि ।
न लुम्पति ललाटस्थामीश्वरोप्यक्षरावलीम् ॥ ४० ॥
क्व चिद्वक्ता क्व वैदग्ध्यं क्व चेयं मोहवल्लरी ।
अचिन्तनीया नियतिर्यदियं द्वन्द्वमाहिता ॥ ४१ ॥
हे भरद्वाज ! मोहं त्वं विवेकेन जहि स्फुटम् ।
असामान्यमिदानीं त्वं ज्ञानं प्राप्स्यस्यसंशयम् ॥ ४२ ॥
दूरमुत्सहते राजा महासत्त्वो महापदि ।
अल्पसत्त्वो जनः शोचत्यल्पेऽपि हि परिक्षते ॥ ४३ ॥

उनके ऊपर विजय नहीं पायी जा सकती, इसलिए ईश्वरानुग्रहरूपी सहायता हृदय में करके ही इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों की प्रबलता पहले सिद्ध की गई है, उसे छोड़कर नहीं सिद्ध होती है ॥ ३९ ॥

ईश्वर की शरण में गये हुए तुम जैसे पुरुष के तर्कों से अगम्य तथा एकमात्र श्रुति से गम्य धर्मादिसहित ज्ञानरूप प्रतीकार से समूल सम्पूर्ण कर्मों के निरासोपाय से क्यों उद्विग्न हो रहे हो, क्योंकि उपासना द्वारा प्रसन्न किया गया ईश्वर भी ललाट के ऊपर लिखे गये अक्षरों को अपने हाथ से स्वयं नहीं मिटा सकता, किन्तु ज्ञानकृत मूलोच्छेदोपाय से ही मिटा सकता है ॥ ४० ॥

कहाँ तो वाणी और मन के अगम्य अखण्ड ब्रह्मात्मा चित्ति को बतलाने वाला गुरु, कहाँ उसके जानने की योग्यतारूप शिष्य का कौशल और कहाँ शम, दम आदि के क्रम से अपने सर्वनाश के लिए परिणत यह मोहरूप वल्लरी ? परन्तु जिसके प्रभाव से यह सारी सामग्री परस्पर एक दूसरे में मिल गई है, वह ईश्वर की इच्छा अचिन्तनीय है अर्थात् गुरु और शास्त्रों में शिष्य को बोध दिलाने की शक्ति, शिष्य में चित्त की शुद्धि से ऊहापोह में अधिक कुशलता के कारण समझने की शक्ति तथा रागादि मूल सहित उखड़ जाने की योग्यतारूप परिपाक आदि सब सामग्रियों का मिलना भी ईश्वर की इच्छारूप नियति के वश ही रहता है ॥ ४१ ॥

हे भरद्वाज ! तुम अपने विवेक से इस मोह का स्पष्ट रूप से त्याग कर दो, फिर तो निःसन्देह तुम असाधारण ज्ञान को प्राप्त कर लोगे अर्थात् ऐसी सामग्री उपलब्ध होनेपर मोह को जीत लेने के लिए खूब उत्साह रखना ही युक्त है, बीच में आकर शोक करना ठीक नहीं ॥४२॥

महाशक्ति सम्पन्न राजा युद्ध आदि महाविपत्तियों में फँस जानेपर भी धन, भृत्य आदि सामग्रियों से सम्पन्न होने के कारण दूसरों के लिए अतर्कित भी पृथिवीपरि-

बोधः पुण्यपराधीनः प्रथते बहुजन्मभिः ।
अनुमीयेत धीरेषु जीवन्मुक्तेषु कार्यतः ॥ ४४ ॥
द्विषद्भूतेन येनैव कर्मणा बन्ध ईदृशः ।
सुहृद्भूतेन तेनैव मोक्षमाप्स्यसि पुत्रक ! ॥ ४५ ॥
सतां सत्कर्मसंवेगः पुराणं प्रणुदन्नयम् ।
वर्षौघ इव भूतानां दावानलमसेचयत् ॥ ४६ ॥
सखे ! संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयीभव ।
नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४७ ॥

पालन, दुष्टनिग्रह, शिष्टपरिपालन आदि कार्य केवल आज्ञा से ही करने में समर्थ होता है, किन्तु अल्पशक्ति सम्पन्न पुरुष तो धनादिक्षतिरूप साधारण एक छोटी-सी आपत्ति आ जानेपर भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर शोक करने लगता है, क्योंकि उसे पार करने में धैर्य आदि सामग्रीरूप हेतु उसके पास नहीं रहता अर्थात् किसी बड़े कार्य में सामग्रीहीन पुरुष को ही शोक करना उचित है, महाराजों की तरह सर्वसम्पन्न तुम्हें शोक करना तो ठीक नहीं ॥४३॥

भगवान् महेश्वर की दया से अनेक जन्मों के बाद आत्मज्ञान प्रकट होता है, यह आत्मज्ञान मुझे भी सामग्री रहनेपर अवश्य होगा, ऐसा प्रत्येक पुरुष को अनुमान कर लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ जीवन्मुक्त धीर पुरुषों में अनेक जन्मों के संचित पुण्य से आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुषों को दृष्टान्त बनकर पुण्य-सामग्री रहने पर मुझे बोध अवश्य ही हो जायगा, यह अनुमान करके सबसे पहले पुण्य कमाने में मनुष्य को प्रवृत्त होना चाहिए ॥ ४४ ॥

हे पुत्र ! विषयों में अनुराग होनेपर शत्रुस्वरूप हुए जिस पुण्यकर्म से तुम्हें इस तरह का बन्धन प्राप्त हुआ है, विषयों में अनुराग न होनेपर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्म से तुम मोक्ष पा जाओगे ॥ ४५ ॥

रागादि दोषों से शून्य सज्जनों का यह सत्कर्मों का संवेग प्राणियों के पूर्वजन्म के पापों को नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापों को ऐसे शान्त कर देता है, जैसे वर्षा का समूह दावानल को शान्त कर देता है अर्थात् अधिक पुण्य के द्वारा पूर्वजन्म के पापों का नाश होनेपर शम, दम आदिरूप अमृत से शीतलता प्राप्त करने वाले पुरुषों को आधिदैविक आदि तीनों तरह के तापों की शान्ति हो जाती है ॥ ४६ ॥

हे सखे ! यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो संसारचक्र के आवर्त में भ्रमण मत करो, (अथवा 'संसारचक्रा-

तावदेतद्विकल्पोत्थमिदं यावद्बहिर्ग्रहः ।
प्रतिकूलोऽब्धिरुल्लोले केवलं निश्चले जले ॥ ४८ ॥
अयं किमन्धकरणस्त्वया शोकोऽवलम्ब्यते ।
निर्वाहयतु सैव त्वां प्रज्ञायष्टिरभङ्गुरा ॥ ४९ ॥
न जातु ते विगण्यन्ते गणनासु गरीयसाम् ।
ये तरङ्गैस्तृणानीव ह्रियन्ते हर्षशोकयोः ॥ ५० ॥
समारूढं दशादोलामहोरात्रमिदं जगत् ।
क्रीडयते षड्विधैः प्रेङ्खैः सखे ! किमिति खिद्यते ॥ ५१॥
सूते संहरति क्षिप्रं पुनः सृजति हन्ति च ।
जगन्ति बहुपर्यायैः काल एव कुतूहली ॥ ५२ ॥

वर्तभ्रमभ्रमम्' इस पाठ के अनुसार—संसारचक्र के आवर्त-रूपी भ्रम में यदि तुम भ्रमण करना नहीं चाहते, तो) सब कर्मों को छोड़ श्रवण आदि उपायों से तुम केवल ब्रह्म में आसक्त हो जाओ ॥ ४७ ॥

हे सखे ! बाह्यविषयों में जब तक आसक्ति है अर्थात् ब्रह्म में जब तक आसक्ति नहीं है तभी तक विकल्प से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखाई देता है। जल के तरङ्ग युक्त होनेपर ही समुद्र अपने तट की ओर जाकर उससे टक्कर खा करके विक्षिप्त होता है, जल के निश्चल रहने पर तो वह केवल जलरूप ही दिखाई देता है ॥४८॥

विवेकज्ञानरूप दृष्टि को ढक देने वाले इस शोक का तुम अवलम्बन क्यों कर रहे हो ? हे मित्र, अभङ्गुर वह प्रज्ञारूपी यष्टि छड़ी ही इस तरह शोक से अन्धे बने हुए तुम्हारा तब तक निर्वाह करे जब तक कि तुम्हारी विवेक-दृष्टि खुल नहीं जाती ॥ ४९ ॥

हर्ष और शोक के आत्मज्ञान के उत्साह के विनाशक तरङ्गों से, तृणों की तरह लोग इस संसारसागर में बहने वाले महात्माओं की गणना में कभी नहीं गिने जाते हैं ॥ ५० ॥

हे सखे ! वह सारा जगत् हर्ष, विषाद आदि अवस्था-रूप झूलेपर निरन्तर आरूढ है। इसे छ ऋतुरूप या काम, क्रोध आदि रूप छः झूलों से झुलाकर काल क्रीडा करता है, अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो अर्थात् खेलवाड़ करने के लिए कल्पित पदार्थों के संयोग और वियोग में खेद करना युक्त नहीं है ॥ ५१ ॥

इस तरह की नानाविध क्रीड़ाओं में उत्कण्ठा रखने वाला एकमात्र काल ही अनेक उपायों से एक के पीछे एक अनेक जगतों को उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता

न विशेषग्रहः कश्चिन्न च कश्चिन्न कश्चन ।
जन्तुष्वभ्यवहार्येषु प्राक्रम्य कालभोगिनः ॥ ५३ ॥
का कथा मर्त्यपिण्डानां निमेषान्तरवासिनाम् ।
अपि देवनिकाया ये तेऽपि दुष्कालगोचराः ॥ ५४ ॥
स्वयं नृत्यसि किं प्रीतो विपत्तौ विकलेन्द्रियः ।
क्षणं निश्चलमासीनः पश्य संसारनाटकम् ॥ ५५ ॥
अस्याऽनेकतरङ्गस्य जगतः क्षणभङ्गिनः ।
न विषीदति मनस्वी भरद्वाज ! मनागपि ॥ ५६ ॥
त्यज शोकममङ्गल्यं मङ्गलानि विचिन्तय ।
चिदानन्दघनं स्वच्छमात्मानं च विभावय ॥ ५७ ॥

है ॥ ५२ ॥

केवल कालरूप सर्प द्वारा बलपूर्वक आक्रमण कर भक्षित किये जाने वाले वस्तुओं को बीच में वास्तव में न कोई विशेष ज्ञान है, न कोई ऐसे ज्ञान का विशेषरूप धर्म है और न कोई ऐसे धर्म का आश्रय ही है। अपने शरीर आदि का भी काल वैसे ही भोजन कर डालता है। अर्थात् जैसे दूसरे प्राणियों के शरीर आदि का काल भोजन कर डालता है। इस नियम को मानकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जो जिसका खाद्य है, उसे वह अवश्य ही खा डालेगा। अब इस तरह का निश्चय हो जाता है, तब शरीर आदि में से अहन्ताभिमान का भी परित्याग हो जाता है और अनन्तर शोक का प्रसङ्ग ही नहीं आता ॥ ५३ ॥

देवयोनि भी दुष्ट काल के पिण्ड से छुटे हुए नहीं हैं। देवताओं को भी जब दुष्ट काल पचा जाता है, तब निमेष पर्यन्त रहने वाले विनाशी शरीरों की तो कथा ही क्या ॥ ५४ ॥

धननाश आदि विपत्तियों में विकृत इन्द्रियों से युक्त हो प्रेमपूर्वक क्यों स्वयं ही नृत्य करने लग जाते हो, क्षरभर चुपचाप बैठकर संसार नाटक तो देखो। अर्थात् वास्तव में तुम सक्षीरूप ही हो, इसलिए तुम्हें दूसरे से केवल संसार नृत्य का कौतुक ही देखना चाहिए, न कि शोक, मोह आदि विकारों से विकृत होकर स्वयं नृत्य करना चाहिए ॥ ५५ ॥

हे भरद्वाज ! अनेक तरङ्गों से युक्त इस जगत् को क्षणभङ्गुर देखकर ज्ञानी पुरुष कुछ भी शोक नहीं करता ॥ ५६ ॥

अमङ्गल देनेवाले शोक को छोड़ दो, मङ्गलमय वस्तुओं का विचार करो और चिदानन्दघन स्वच्छ परमात्मा की भावना करो ॥ ५७ ॥

देवद्विजगुरुश्रद्धाभरबन्धुरचेतसाम् ।
सदागमप्रमाणानां महेशानुग्रहो भवेत् ॥ ५८ ॥

भरद्वाज उवाच

ज्ञातं तव प्रसादेन सर्वमेतदशेषतः ।
न वैराग्यात्परो बन्धुर्न संसारात्परो रिपुः ॥ ५९ ॥
इदानीं श्रोतुमिच्छामि वसिष्ठेनोपपादितम् ।
ज्ञानसारमशेषेण ग्रन्थेनोक्तं पदात्मना ॥ ६० ॥

वाल्मीकिरुवाच

भरद्वाज ! शृणुष्वेदं महाज्ञानं विमुक्तिदम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण भवाब्धौ न निमज्जसि ॥ ६१ ॥
संहृतिस्थितिसंभूतिभेदैर्योऽनेकधा स्थितः ।
एकोऽपि सन्नमस्तस्मै सच्चिदानन्दमूर्तये ॥ ६२ ॥
कृते प्रपञ्चविलये यथा तत्त्वं प्रकाशते ।
तवोपायं प्रवक्ष्यामि सङ्क्षेपाच्छ्रुतिशासनात् ॥ ६३ ॥
पूर्वापरविचारार्हा कथं नष्टा तव स्मृतिः ।
तयैव ज्ञायते सर्वं करामलकवत्स्वयम् ॥ ६४ ॥
स्वयं विचार्य स्वयमेव चेतसा
तत्प्राप्यते येन न शोचते पुनः ।
सत्सङ्गसच्छास्त्रविवेकतः पुन-
र्वैराग्ययुक्तेन विभाव्यमेतत् ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भरद्वाजानुशासनं नाम सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

जो पुरुष देव, द्विज और गुरुजनों के ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रों में प्रामाण्यबुद्धि रखते हैं ऐसे पुरुषों के ऊपर महेश्वर का परम अनुग्रह होता है अर्थात् देव, द्विज आदि के ऊपर श्रद्धा आदि रखने से ईश्वरानुग्रहरूप परम मङ्गल के साधन होने से मङ्गलरूप हैं और ईश्वरानुग्रह साक्षात् ज्ञान का साधन होने से उनसे भी बढ़कर मङ्गलरूप है ॥ ५८ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मैंने पूर्णरूप से सब साधनों का रहस्य जान लिया कि वैराग्य से बढ़कर दूसरा इस संसार में उद्धार करनेवाला बन्धु नहीं है और संसार से बढ़कर दूसरा मारने वाला कोई शत्रु नहीं है ॥ ५९ ॥

अब मैं अनेक वाक्यरूप समस्त ग्रन्थ से महाराज वसिष्ठजी द्वारा कहे गये ज्ञानरूपी रहस्य का सम्पूर्ण सारांश थोड़े शब्दों में सुनना चाहता हूँ, कृपाकर कहें ॥ ६० ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! मुक्ति देनेवाले इस महाज्ञान को तुम सुनो, इसके केवल सुनने से ही फिर संसाररूपी सागर में तुम गोते नहीं लगाओगे ॥ ६१ ॥

देव वास्तव में एक होता हुआ भी अध्यारोप द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप कार्यों से अनेक प्रकार का होकर स्थित सच्चिदानन्दरूप परमात्मा को नमस्कार है। अर्थात् जगत् का लय करने में हेतुभूत अपवाद करने की इच्छा से अध्यारोप द्वारा अनेक प्रकार से स्थित एक ही मङ्गलरूप देव को नमस्कार करते हैं ॥ ६२ ॥

प्रपञ्च का लय करने पर जिस उपाय से परमतत्त्व प्रकाशित होता है उस उपाय को तुम्हें संक्षेप से श्रुतिकथित क्रम का अवलम्बन कर कहता हूँ ॥ ६३ ॥

हे भरद्वाज ! पूर्वापर ग्रन्थ के विचार में पटु तुम्हारी स्मृति कहाँ चली गई, उसीसे स्वयं ही सब कुछ हस्तामलकवत् जाना जा सकता है। अर्थात् अलग-अलग प्रकरणों में कहे गये तत्त्व को सूक्ष्मबुद्धिवाले पुरुष स्वयं ही पूर्वापर के विचार से जान सकते हैं, इस प्रकार समझने की तुम में सुबुद्धि विख्यात थी, परन्तु इस समय वह कैसे नष्ट हो गई, यों कहे जानेवाले अर्थ के ग्रहण में अवधानार्थ भरद्वाज को वाल्मीकि महाराज फटकार सुनाते हैं ॥६४॥

हे भरद्वाज ! पहले अपने अन्तःकरण से तत्त्व का स्वयं ही विचार करना चाहिए, इसीसे वह आत्मवस्तु स्वयं प्राप्त की जा सकती है। इसके प्राप्त होने से पुरुष फिर शोक नहीं करता। सत्संग और सत्-शास्त्र से प्राप्त विवेक से वैराग्य युक्त होकर पुरुष को इसी तत्त्व की बार-बार भावना करे ॥ ६५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भरद्वाज अनुशासन नामक कुसुमलता का एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२७ ॥

१२८

वाल्मीकिरुवाच

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धात्काम्यकर्मणः ।
विषयेन्द्रियसंश्लेषसुखाच्च श्रद्धयान्वितः ॥ १ ॥

मृद्वासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः ।
ओमित्युच्चारयेत्तावन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २ ॥

प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये ।
इन्द्रियाण्याहरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैः शनैः ॥ ३ ॥

देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः ।
यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत् ॥ ४ ॥

विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्राऽऽत्मनि ततः परम् ।
अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे ॥ ५ ॥

मांसादि पार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत् ।
आप्यं रक्तादिकं चाऽऽप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत् ॥ ६ ॥

वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत् ।
पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु ।
श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुर्भोगप्रसिद्धये ॥ ७ ॥

दिक्षु न्यस्याऽऽत्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत् ।
चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत् ॥ ८ ॥

प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत् ।
विष्णौ तथात्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च ॥ ९ ॥

उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत् ।
बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेदेताः करणदेवताः ॥ १० ॥

१२८

वाल्मीकिजी ने कहा—शम, दम, उपरति अर्थात् काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्याग से एवं विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित सुख से विषयासक्ति से शून्य, श्रद्धा से युक्त कोमल असान पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीत कर योगी ॐकार का उच्चारण करता हुआ तबतक दीर्घता से जप करता रहे जबतक मन प्रसन्न न हो जाय ॥ १–२ ॥

अनन्तर अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्राणायाम करे और उसके पीछे विषयों से इन्द्रियों को धीरे-धीरे खींच ले ॥ ३ ॥

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिसकी जिस-जिस उपादान कारण से उत्पत्ति हुई है, उस उसको जानकर श्रुति आदि के द्वारा अनुसन्धान कर पीछे उनके उपादान कारणभूत उन भूतों और देवों में उन सबका लय कर दे ॥ ४ ॥

इस तरह आध्यात्मिक देह, इन्द्रिय आदि भाव को छोड़कर 'उनका कारणभूत देवतासमष्टिरूप अकारार्थ विराट् मैं ही हूँ' इस तरह की भावना से पहले विराट् में स्थित होकर; उसके बाद उसके कारणभूत उकारार्थ सूक्ष्मभूत लिङ्गसमष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भ में उस विराट् का लय करके 'हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित रह जाय। अनन्तर उसके कारणभूत त्रिगुणात्मक माया से उपहित मकारार्थ अव्याकृत में उस हिरण्यगर्भ का भी लय करके 'अव्याकृतस्वरूप मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित हो जाय। उसके पश्चात् सम्पूर्ण जगत् के मूलकारणरूप से उपलक्षित अव्याकृतसहित सबके अधिष्ठानभूत अर्धमात्रा में लक्षित परमकारण शुद्ध ब्रह्म में उस अव्याकृत का भी लय कर आप स्थित हो जाँय ॥ ५ ॥

मांस आदि पार्थिव भाग का पृथिवी में, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जल में तथा जो तैजस भाग है उनका तेज में, उनकी तन्मात्ररूपता जानकर लय कर दे ॥ ६ ॥

वायुभाग का महावायु में और आकाश भाग का आकाश में लय कर दे। इसी तरह घ्राण आदि इन्द्रियों का भी उनके आरम्भक देवतोपाधिभूत सूक्ष्म पृथिवी आदि में लय करके 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध जीव के भोग की प्रसिद्धि के लिए कर्ण आदि गोलकों में प्रवेश द्वारा श्रोत्र आदिरूप इन्द्रियभाव को प्राप्त दिशा आदि देवताओं का क्रमशः उन देवताओं में ही लय कर दे ॥ ७ ॥

अपने श्रोत्रेन्द्रिय का दिशाओं में और स्पर्शेन्द्रिय का विद्युत् में लय कर दे। चक्षुरिन्द्रिय का सूर्य में तथा रसनेन्द्रिय का जल के देवता वरुण में लय कर दे ॥ ८ ॥

प्राण का वायु में, वाणी का अग्नि में और हस्तेन्द्रिय का इन्द्र में लय कर दे। अपने पादेन्द्रिय का विष्णु में तथा गुदा-इन्द्रिय का मित्र में लय कर दे ॥ ९ ॥

उपस्थेन्द्रिय का कश्यप में लय कर उसके बाद मन का चन्द्रमा में लय कर दे। इसी तरह बुद्धि का चतुर्मुख ब्रह्मा में लय कर दे। हे मित्र, इन्द्रियों के अभिमानी देवता ही सब स्थित हैं, इन्द्रियों के नाम से कोई दूसरी वस्तुएँ

इन्द्रियव्यपदेशेन व्यादिश्यन्ते च देवताः ।
श्रुतिवाक्यमनुस्मृत्य न स्वतः प्रकटीकृताः ॥ ११ ॥
एवं न्यस्याऽऽत्मनो देहं विराडस्मीति चिन्तयेत् ॥१२॥
ब्रह्माण्डान्तः स्थितो योऽसावर्धनारीश्वरः प्रभुः ।
आधारः सर्वभूतानां कारणं तदुदाहृतम् ॥ १३ ॥
स यज्ञसृष्टिरूपोऽसौ जगद्वृत्तौ व्यवस्थितः ।
द्विगुणाण्डाद्बहिः पृथ्वी पृथिव्या द्विगुणं जलम् ॥ १४ ॥
सलिलाद् द्विगुणं तेजस्तेजसो द्विगुणोऽनिलः ।
वायोर्द्विगुणमाकाशमूर्ध्वमेकैकशः क्रमात् ॥ १५ ॥

स्थित नहीं है, उनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश द्वारा लय करने का आदेश 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (वाणी बनकर अग्नि मुख में प्रविष्ट हो गई) इस श्रुतिवाक्य को प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ। स्वतः अपने मन से किसी तरह की कोई कल्पना करके मैंने इन अर्थों को तुममें प्रकट नहीं किया है ॥ १०, ११ ॥

इस तरह अपनी देह को उसके कारण में विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे ॥ १२ ॥

['अव्याकृते स्थितः पश्चात्' (अव्याकृत में स्थित होकर उसके पीछे) इसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में ब्रह्मविद्या के इच्छुक पुरुष को पहले उपास्यरूप से कही गई, सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा विराट् पुरुष के हृदयकमल के ऊपर सदा स्थित रहने वाली और ब्रह्मविद्या से घटित अर्ध शरीर से युक्त मायाशबल सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादानकारणरूप ब्रह्म को मुनि को दर्शा रहे महाराज वाल्मीकि मुनि—वही सम्पूर्ण प्राणियों का माता-पिता के रूप से भी कारण है।]

सारे ब्रह्माण्ड के भीतर जो यह अर्धनारीश्वर भगवान् स्थित है वही सम्पूर्ण भूतों का आधार तथा कारण कहा गया है ॥ १३ ॥

वह सबका पिता होने से ही अपने विरचित देव, मनुष्य आदिरूप समस्त जगत् को अन्न-पान आदि के द्वारा जीवित रखने के उपाय में व्यवस्थित होकर हविष् तथा वृष्टि आदि से सबके पोषक श्रौत-स्मार्त यज्ञों की सृष्टिरूप से ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित है। इस ब्रह्माण्ड के घेरे से बाहर द्विगुण पृथिवी है और उस पृथिवी से द्विगुण जल है अर्थात् 'एभिरावरणैरण्डं व्याप्तं दशगुणोत्तरैः' इत्यादिरूप से ब्रह्माण्ड की अपेक्षा उत्तरोत्तर दशगुण अधिक पृथिवी आदि का आवरण यद्यपि पुराणों में सुना जाता है तथापि

व्यस्तेन च समस्तेन व्यापिना ग्रथितं जगत् ।
क्षितिं चाऽप्सु समावेश्य सलिलं चाऽनले क्षिपेत् ॥१६॥
अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ १७ ॥
स्थित्वा तस्मिन् क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरधृक् ।
वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविद्ये तथैव च ॥ १८ ॥
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
ततोऽर्धोऽण्डाद्बहिर्यातस्तत्राऽऽत्मास्मीति चिन्तयेत् ॥१९॥
चतुर्मुखोऽग्रके चायं भूतसूक्ष्मव्यवस्थितः ।
लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याऽव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥२०॥

द्विगुण ही उसे भी समझना चाहिए, क्योंकि चारों ओर से घेर कर पांच कोश की प्रदक्षिणा करने पर जैसे पचीस कोश की प्रदक्षिणा हो जाती हैं वैसे ही एक के पचगुने को दो बार गुण देने से दसगुने की सिद्धि हो जाती है। अथवा पुराणों में जो आवरण कहा गया मिलता है वह अपञ्चीकृत भूतों का आवरण है, किन्तु यहाँ तो पञ्चीकृत भूतों के अभिप्राय से कहा गया है, यों किसी तरह का विरोध नहीं दीखता ॥ १४ ॥

जल से द्विगुण तेज है, तेज से द्विगुण वायु है और वायु से द्विगुण आकाश है। यों क्रमशः एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर द्विगुण हैं ॥ १५ ॥

पञ्चीकृत या अपञ्चीकृत आकाश से यह सारा जगत् ग्रथित है। योगी को चाहिए कि वह पृथिवी का जल में लय करके उस जल को फिर तेज में लीन कर दे ॥ १६ ॥

तेज को वायु में विलीन करके उस वायु को फिर आकाश में विलीन कर दे और आकाश को समस्त स्थूल प्रपञ्चों की उत्पत्ति के कारणभूत हिरण्यगर्भाकाश में विलीन कर दे ॥ १७ ॥

उस हिरण्यगर्भाकाश में एकमात्र लिङ्ग शरीर धारण कर योगी क्षणभर स्थित रहे। वासनाएँ, सूक्ष्म भूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबको पण्डित लोग लिङ्ग शरीर कहते हैं। तदनन्तर स्थूल उपाधि का लय हो जाने से अर्ध शरीर से सम्पन्न हुआ-सा वह योगी ब्रह्माण्डरूपता के अभिमान का त्याग करके उससे बाहर निकल कर सूक्ष्म भूतात्मक लिङ्ग-समष्टि देह में 'मैं ही आत्मरूप अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ हूँ' इस प्रकार चिन्तन करे ॥ ॥ १८–१९ ॥

सूक्ष्म भूतों में अभिमान करके बैठा हुआ यही—ब्रह्माण्ड-प्रविलापन के पहले ब्रह्माण्डगत ऐश्वर्यों का भोग

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ॥ २१ ॥
अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ २२ ॥
निःसम्बन्धा निरास्वादाः सम्भवन्ति ततः पुनः ।
तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
आनुलोम्यात्स्मृता सृष्टिः प्रातिलोम्येन संहृतिः ।
अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् ।
ध्यायेत्तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ॥ २४ ॥

करने के लिए कमल से उत्पन्न अपने शरीर की कल्पना करके—चार मुख वाला था। अपञ्चीकृत भूतों की भी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म उपाधि रूप से अव्याकृत मायांश में तथा उपहित चिदाकार से अव्यक्त में लिङ्ग शरीर को भी विलीन कर बुद्धिमान् योगी स्थित रहे ॥ २० ॥

जिसमें यह समस्त जगत् रहता है वह अव्याकृत और अव्यक्त नाम और रूपों से विनिर्मुक्त है। उसी को सांख्यवादी प्रकृति, वेदान्ती लोग माया तथा नैयायिक परमाणु कहते हैं ॥ २१ ॥

तर्क से विभ्रान्त चित्त वाले बौद्ध लोग उसे संवृति रूप अविद्या कहते हैं। उस अव्याकृत में प्रलय काल में सभी पदार्थ लय को षष्ठ भाव विकार को प्राप्त होकर अनभिव्यक्त स्वरूप को धारण करते हुए उसकी सत्ता से ही अवस्थित रहते हैं ॥ २२ ॥

दूसरी सृष्टि नहीं होने तक परस्पर के सम्बन्ध से शून्य तथा चिति की भोग्यता रूप आस्वाद से रहित होकर उस अव्याकृत स्वरूप में ही स्थित रहते हैं और प्रलय के अनन्तर सृष्टि काल में फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृत से सब उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

अनुलोमक्रम से अर्थात् आकाशादि क्रम से सृष्टि होती है और प्रतिलोम क्रम से अर्थात् सृष्टि के विपरीत क्रम से उसी में सबका संहार होता है। इसलिए तीनों स्थान को विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत या स्थूल, सूक्ष्म और कारण अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को छोड़ कर अविनाशी तुरीय पद का ध्यान उसकी साक्षात् प्राप्ति न होने तक करे। ध्यान से दीप्त हुई साक्षात्कारात्मक वृत्ति से, ध्यान के कर्ता और कारणरूप लिङ्ग का भी प्रविलापन कर निरतिशय परब्रह्म में उस प्रकार प्रविष्ट हो जाय, जिस प्रकार घट के विनष्ट हो जाने पर घटाकाश महाकाश में प्रविष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः ।
अज्ञानं च प्रतिष्ठाः स्युर्लिङ्गमव्याकृते सति ॥ २५ ॥

भरद्वाज उवाच

इदानीं लिङ्गनिगडान्मुक्तोऽहं सर्वथा यतः ।
चिदंशत्वात्प्रविष्टोऽहं चैतन्यानन्दसागरे ॥ २६ ॥
अभेदात्परमात्माऽस्मि सर्वोपाधिविवर्जितः ।
कूटस्थः केवलो व्यापी चिदचिच्छक्तिमानहम् ॥ २७ ॥
घटाभावे घटाकाशकलशाकाशयोर्यथा ।
तमाहुः श्रुतयो बह्व्य एवमेवैक्यमादरात् ॥ २८ ॥

[अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्' इस श्रुति द्वारा दिखाये गये मार्ग से छोड़ कर।]

शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान का आवरण होने पर अव्याकृत के अस्तित्व में सूक्ष्मभूत द्वारा लिङ्ग की उत्पत्ति होती है, किसी हालत में भी अज्ञान के बिना लिङ्ग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अज्ञान ही लिङ्ग का मूल आधार ठहरा। परम्परया स्थूल सूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म और वायु भी उसके आधार हैं। ऐसी दशा में अज्ञान रूप मूल आधार की निवृत्ति हो जाने पर लिङ्ग रूपी निगड का भङ्ग सिद्ध ही हो जाता है अर्थात् 'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति में लिङ्ग का बाध दिखाई नहीं देता, इसलिए कैसे उसकी निवृत्ति होगी, यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तीनों स्थानों का बाध होने पर लिङ्ग का बाध अर्थतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि स्थूलसूक्ष्मभूत और इन्द्रिय आदि में ही लिङ्ग की स्थिति है ॥ २५ ॥

भरद्वाज ने कहा—मैं अब सभी तरह से लिङ्ग रूपी बेड़ी के बन्धन से निर्मुक्त हो गया हूँ और चैतन्य का अंश हूँ, इससे चैतन्य रूपी आनन्दसागर में प्रविष्ट हो गया हूँ ॥ २६ ॥

अंश और अंशवान् में अभेद होने के कारण मैं समस्त उपाधियों से शून्य परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध, व्यापक और चैतन्यरूप हूँ, चैतन्यशक्तिमान् नहीं हूँ ॥ २७ ॥

जैसे एक ही घट का घट और कलश यों भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है इसीसे घटयुक्त आकाश में घटाकाश और कलशाकाश इस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है और वैसे ही एक ही अज्ञान का भिन्न-भिन्न जगत् नाम कल्पित है। इसीसे जगद्-युक्त मुझ में जीव, ईश्वर आदि भिन्न-

यथाऽग्निरग्नौ सङ्क्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत् ।
तदाख्यस्तन्मयो भूत्वा गृह्यते न विशेषतः ॥ २९ ॥
यथा तृणादिकं क्षिप्तं रुमायां लवणं भवेत् ।
अचेतनं जगन्न्यस्तं चैतन्ये चेतनीभवेत् ॥ ३० ॥
यथा वै लवणग्रन्थिः समुद्रे सैन्धवो यथा ।
नामरूपाद्विनिर्मुक्तः प्रविश्यैति समुद्रताम् ॥ ३१ ॥
यथा जले जलं न्यस्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविनष्टा भवन्त्येते गृह्यन्ते न विशेषतः ॥ ३२ ॥
तथाऽहं सर्वभावेन प्रविष्टश्चेतने सति ।
नित्यानन्दे समस्तज्ञे परे परमकारणे ॥ ३३ ॥
नित्यं सर्वगतं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
निष्कलं निष्क्रियं शुद्धं तद्ब्रह्माऽस्मि परं परम् ॥ ३४ ॥

भिन्न व्यवहारों की कल्पना की गई थी। जैसे व्यवहार में एक घट के ही नाश से घट और कलश दोनों की निवृत्ति हो जाने से घटाकाश, कलशाकाश, महाकाश आदि भेद मिट कर शुद्ध आकाशरूप ऐक्य बन जाता है, वैसे ही एकमात्र अज्ञान की ही निवृत्ति हो जाने से सब नामों का भेद मिटकर एकमात्र चैतन्य का साम्राज्य मुझे प्राप्त हो गया है। इसी तरह की एकता के उद्देश्य से ही ब्रह्मभूत हुए मेरे विषय में 'यत्र नान्यत्पश्यति, इत्यादि अनेक श्रुतियाँ बड़े आदर से कहती हैं ॥ २८ ॥

[अर्थात् 'यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् । अविशेषो भवेत् तद्वज्जीवात्मा परमात्मनि ॥' जैसे जल में डाला गया जल, दूध में डाला दूध और घी में डाला गया घी एकरूप हो जाता है वैसे ही परमात्मा में जीव एकरूप हो जाता है।]

चेतन में फेंका गया लीन किया गया अचेतन यह जगत् भी वैसे ही चेतन ही हो जाता है जैसे अग्नि में छोड़ा गया अग्नि उसी की समानता को अर्थात् एकता को प्राप्त होता है और तद्रूप एवं उसी नाम का होकर ही ज्ञात होता है, किसी विशेषरूप से वह ज्ञात नहीं होता तथा जैसे लवणसागर में फेंका गया तृण आदि लवणरूप ही हो जाता है ॥ २९, ३० ॥

जैसे लवणसागर में फेंका गया लवण का ढेला या सिन्धु में फेंका गया सैंधव समुद्र में या सिन्धु में प्रविष्ट होकर अपने नाम-रूप से विनिर्मुक्त हो समुद्ररूपता या सिन्धुरूपता को प्राप्त कर लेता है या जैसे जल में छोड़ा गया जल, दूध में छोड़ा गया दूध और घी में छोड़ा गया घी—ये सबके सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते

हेयोपादेयनिर्मुक्तं सत्यरूपं निरिन्द्रियम् ।
केवलं सत्यसङ्कल्पं शुद्धं ब्रह्माऽस्म्यहं परम् ॥ ३५ ॥
पुण्यपापविनिर्मुक्तं कारणं जगतः परम् ।
अद्वितीयं परं ज्योतिर्ब्रह्माऽस्म्यानन्दमव्ययम् ॥ ३६ ॥
एवमादिगुणैर्युक्तं सत्त्वादिगुणवर्जितम् ।
प्रविष्टं सकलं ब्रह्म सदा ध्यायेत्स्वकर्मकृत् ॥ ३७ ॥
एवमभ्यसतः पुंसो मनोऽस्तं याति तत्र वै ।
मनस्यस्तं गते तस्य स्वयमात्मा प्रकाशते ॥ ३८ ॥
प्रकाशे सर्वदुःखानां हानिः स्यात्सुखमात्मनि ।
स्वयमेवाऽऽत्मनात्मानमानन्दं प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥
न मत्तोऽस्त्यपरः कश्चिच्चिदानन्दमयः प्रभुः ।
अहमेकः परं ब्रह्म इत्यात्माऽन्तः प्रकाशते ॥ ४० ॥

हैं, किसी विशेषरूप से पृथक्रूप से गृहीत नहीं होते वैसे ही सब भाव से नित्य-आनन्दस्वरूप, सर्वसाक्षी, परम-कारण, चिदेकरस परब्रह्म में प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ, पृथक्रूप से मैं गृहीत नहीं होता ॥३१-३३॥

नित्य सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोष रहित, निरञ्जन, निष्फल, निष्क्रिय, केवल शुद्ध वह परब्रह्म मैं ही हूँ ॥३४॥

हेय और उपादेय से निर्मुक्त सत्यस्वरूप, इन्द्रिय रहित, एकमात्र अपने सङ्कल्प से असद्रूप भी इस जगत् की सत्ता के सम्पादन में असमर्थ सद्रूप, केवल शुद्ध परब्रह्म ही मैं हूँ ॥३५॥

पुण्य और पाप से रहित, जगत् का परम कारण, अद्वितीय, आनन्दरूप, अविनाशी और ज्योतिःस्वरूप पर-ब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ३६ ॥

इस तरह सत्य सङ्कल्पादि गुणों से युक्त, माया के सत्त्व आदि गुणों से शून्य, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप ब्रह्म का—अध्यात्म शास्त्रों के श्रवण तथा गुरु की शुश्रूषा आदि में तत्पर एवं अपने वर्णाश्रम धर्म में निष्ठा रखने वाला योगाभ्यासी पुरुष सदा—ध्यान करे ॥ ३७ ॥

इस रीति से परब्रह्म का अभ्यास कर रहे साधक पुरुष का मन उसी ब्रह्म में अस्त हो जाता है और उसके मन के अस्त हो जाने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित होने लग जाता है ॥ ३८ ॥

प्रकाश होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है और आत्मा में सुख अवस्थित होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने-आप अपने आनन्दस्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

मुझ से अतिरिक्त कोई दूसरा चिदानन्दमय प्रभु नहीं है। अकेला मैं ही परब्रह्म हूँ, इस प्रकार आत्मा भीतर से प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥

वाल्मीकिरुवाच

सखे ! संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयीभव ।
नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४१ ॥

भरद्वाज उवाच

त्वयोक्तं सर्वमेवेदं ज्ञानं बुद्धं मया गुरो ! ।
बुद्धिश्च निर्मला जाता संसारो न विलम्बते ॥ ४२ ॥

[अर्थात् इस तरह भरद्वाज के द्वारा कहे गये अनुभव को सुनकर सन्तुष्ट वाल्मीकि मुनि भरद्वाज के अनुभव को दृढ़ करने के लिए अवश्य कर्तव्यरूप से 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्' इत्यादि श्रुति से सिद्ध संन्यास का उपदेश देते हैं ।]

वाल्मीकि मुनि ने कहा—हे मित्र ! संसारचक्र के आवर्त में भ्रमण करते हुए यदि तुम गृहस्थी में विश्रान्ति-सुख की प्राप्ति नहीं कर रहे हो, तो सब कर्मों को छोड़कर एकमात्र ब्रह्म में ही बिना किसी विक्षेप के आसक्त हो जाओ, क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुति के अनुसार यह निश्चित है कि किसी दूसरे व्यापार में तत्पर न रहकर केवल ब्रह्म में आसक्त हुए संन्यासी की ही मूल-सहित भ्रान्ति की शान्ति हो जाती है । तात्पर्य यह कि एकमात्र संन्यासी को ही शान्ति-सुख मिलता है ॥ ४१ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे गुरो, आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया । मेरी बुद्धि एकदम निर्मल हो गई, अब मेरा यह संसार चिरकाल तक नहीं टिक सकता ॥ ४२ ॥

भगवन्, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियों के लिए कैसा कर्म विहित है, यानी क्या उन्हें कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, या निवृत्तिरूप कर्मों का (संस्कृत व्याख्या के अनुसार विश्लेषण करते हुए अच्युत ग्रन्थमाला संस्करण में कवा गया है।) 'पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है' इस न्याय के अनुसार इस श्लोक में भरद्वाज ने दो प्रश्न किये हैं । उनमें पहला यह है—जीवन्मुक्त ज्ञानी को कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, या नहीं । और दूसरा यह है, यदि उसके लिए कर्मों का विधान है तो उसे पहले के सदृश नित्य, नैमित्तिक और काम्य सभी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए अथवा कामनारहित होकर अपने आश्रम के उचित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। यद्यपि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इस पूर्व के श्लोक से प्रतिपादित सर्वकर्मसंन्यास को भरद्वाज ने ज्ञानी के कार्यरूप से सुना ही है, इसलिए इस तरह के

इदानीं ज्ञातुमिच्छामि ज्ञानिनः कर्म कीदृशम् ।
प्रवृत्तं वा निवृत्तं वा कर्तव्यं च न वा प्रभो ! ॥ ४३ ॥

वाल्मीकिरुवाच

तस्माद्यन्न कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः ।
काम्यं कर्म निषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः ॥ ४४ ॥

दोनों प्रश्नों को करना अयुक्त-सा प्रतीत हो रहा है, तथापि (यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति) (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र होम करे) इत्यादि श्रुतियों से जीवनपर्यन्त कर्तव्यरूप से बतलाये गये कर्मों का 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्यों से दीक्षा-करण में परित्याग कर दिये जाने पर भी दीक्षा की समाप्ति हो जाने पर जैसे उनका अङ्गीकार किया जाता है, वैसे ही 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मजिज्ञासा के निमित्त छोड़े गये कर्मों का भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद निमित्त के हट जाने पर फिर अङ्गीकार का प्रसङ्ग आ सकता है । यदि इस विषय में यह शङ्का हो कि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इत्यादि वाक्यों से विद्वानों के लिए ही सब कर्मों का संन्यास विहित है, अतः ज्ञानियों को कर्मानुष्ठान की प्राप्ति ही नहीं हो सकती, तो यह भी शङ्का नगण्य है, क्योंकि जिन लोगों ने पूर्वजन्म में ज्ञान की इच्छा से सब कर्मों का संन्यास किया है, उनको उनसे ही गृहस्थ आदि आश्रमों में तत्त्वज्ञान हो जाता है, ऐसे विशेष पुरुषों के प्रति 'सखे संन्यस्य' इत्यादि से किसी अप्राप्त संन्यास का ही विधान किया गया है, अतः उक्त वाक्य में ज्ञानेच्छा के लिए संन्यासपरिपालन विधान की शक्ति ही नहीं रहती, इससे निष्कर्ष यह निकला कि श्रीभरद्वाज ने जो प्रश्न किये हैं, वे युक्तिपूर्ण हैं, युक्ति से रहित नहीं हैं ॥ ४३ ॥

वाल्मीकि ने कहा—इसलिए सम्पूर्ण कर्मों के त्याग के साथ ब्रह्म में एकमात्र आसक्त हो जाना ही संसारभ्रम के निवर्तक ज्ञान में उपाय है, इस मेरे उपदिष्ट अर्थ का अच्छी तरह ज्ञान कर लेने से तुम्हारे सदृश मुमुक्षु पुरुषों को—वही कर्म करना चाहिए, जिस कर्म का सम्पादन करने पर श्रवण आदि में कोई विघ्नरूप दोष न आ पड़े तथा चित्त में विक्षेप डालने वाले मालिन्य पातकादि और किसी तरह का दूसरा दोष न उपस्थित हो जाय । विशेष करके मुमुक्ष को काम्य, निषिद्ध तथा दृष्टि के विक्षेप में

यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान् ।
संशान्तकरणग्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः ॥ ४५ ॥
देहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्तस्माच्च यः परः ।
सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते ॥ ४६ ॥
कर्तृभोक्त्रादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विप्रमुच्यते ॥ ४७ ॥
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते ॥ ४८ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा ।
विशेत्तुरीयमानन्दं तदा जीवो विमुच्यते ॥ ४९ ॥
जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका ॥ ५० ॥
योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ।
मनस्यस्तं गते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते ॥ ५१ ॥
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।
मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिवीचिषु ॥ ५२ ॥
भज सम्भरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ।
इति ते वर्णितं सर्वं वसिष्ठस्योपदेशनम् ॥ ५३ ॥
अनेन ज्ञानमार्गेण योगमार्गेण पुत्रक ! ।
भरद्वाज ! महाप्राज्ञ ! सर्वं ज्ञास्यसि निश्चितम् ॥ ५४ ॥

साधनभूत कोई कर्म नहीं करना चाहिए । अर्थात् सबसे पहले तुम्हें काम्य निषिद्ध कर्मों का एवं ज्ञानविरोधी विक्षेप आदि दोषों को पैदा करने वाले अन्यान्य कर्मों का त्याग कर शास्त्र के अभ्यास द्वारा ज्ञानी बन जाना चाहिए। इसके बाद तुम स्वयं ही 'ज्ञानी के कर्म कैसे होते हैं' इस प्रश्न का उत्तर जान जाओगे । जब क्रमशः तत्-तत् भूमिका परिपक्व हो जाती है तब तत्-तत् कर्मों की शान्ति जो होती है उसका उसी समय तुम अनुभव कर सकते हो और प्रारब्ध कर्मों की विचित्रता होने के कारण ज्ञानियों की एकरूप से स्थिति दिखाई न पड़ने से 'ज्ञानियों के कर्म प्रवृत्यात्मक ही हैं या निवृत्यात्मक ही हैं'—ऐसा नियम तो कोई नहीं कर सकता ॥ ४४ ॥

मन के गुणों को छोड़कर जब जीव ब्रह्म के गुणों से युक्त हो जाता है तब इसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और यह सर्वव्यापी प्रभु बन जाता है अर्थात् सम्पूर्ण मानसिक गुणों के त्याग से पूर्णानन्द, अद्वय, विशुद्ध, असङ्ग, चिदेकरसत्वादि ब्रह्म के गुणों की प्राप्ति होने पर ही यह जीव ज्ञानी बन सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ४५ ॥

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन चार कोशों से परे जो आनन्दमय कोशात्मा है तथा उससे भी परे जो अधिष्ठान ब्रह्म है वही मैं हूँ, इस तरह जब जीव ध्यान करता है तब मुक्त होता है ॥ ४६ ॥

कर्ता, कार्य और करण; भोग्य, भोक्ता और भोग; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इससे विनिर्मुक्त तथा इनके प्रयोजक सम्पूर्ण देहादि उपाधियों से एवं इनके फलस्वरूप सुख और दुःखों से जब जीव विनिर्मुक्त होता है तब बिलकुल पूर्णरूप से मुक्त होता है ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण भूतों में अनेकों तथा अपने में सम्पूर्ण भूतों को जब जीव अभेदरूप से देखने लगता है तब वह मुक्त होता है ॥ ४८ ॥

जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानों को छोड़ कर जब जीव तुरीय आत्मानन्दरूप में प्रवेश करता है तब मुक्त होता है ॥ ४९ ॥

जाग्रत् और स्वप्नावस्था की बीज तथा सुषुप्ति से रहित जो जीव की परमात्मा में स्थितिरूप चैतन्य-सुखात्मिका तुरीयावस्था है वही योग की निदिध्यासन के परिपाक से जन्म निर्विकल्पक समाधि की अथवा मुख्य अधिकारी के विचारमात्र से जन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान की परिसमाप्ति है, जो सबसे बड़ा सुखात्मक ज्ञान है। मन के अस्त हो जाने पर मनुष्यों को और किसी दूसरी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती ॥ ५०–५१ ॥

हे सखे ! यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो प्रशान्त तथा अमृतमय तरङ्गों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में क्यों नहीं डूबते । व्यर्थ द्वैतरूप मकरों से पूर्ण लवणसागर के तरङ्गों में क्यों डूबते हो ॥ ५२ ॥

हे प्रिय ! अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के वास्ते अर्धनारीश्वर आदि वेष-धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की उपासना करो, यह जो वसिष्ठ महाराज ने तुम्हें उपदेश दिया है, हे महाप्राज्ञ भरद्वाज, उनके इसी ज्ञानमार्ग या योगमार्ग से तुम सब कुछ जान जाओगे, यह बिलकुल निश्चित है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अर्थात् पूर्व में कहे गये महेश्वर की उपासना करके उससे दया प्राप्त कर लेने पर तुम्हें—वसिष्ठजी के द्वारा कहे गये ज्ञानमार्ग से या योगमार्ग से तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद एक के विज्ञान से सबका विज्ञान हो जानेपर तथा सम्पूर्ण संशयों के मूल अज्ञान नाश हो जानेपर सब सन्देहों के विच्छेद से—विश्रान्ति अवश्य होगी ॥ ५३–५४ ॥

परामर्शेन शास्त्रस्य गुरुवाक्यार्थबोधनात् ।
अभ्यासात्सर्वसिद्धिः स्यादिति वेदानुशासनम् ॥ ५५ ॥
तस्मात्त्वं सर्वमुत्सृज्य कुर्वभ्यासे स्थिरं मनः ॥ ५६ ॥

भरद्वाज उवाच

रामः प्राप्तः परं योगं स्वात्मनाऽऽत्मनि हे मुने ! ।
कथं वसिष्ठदेवेन व्यवहारपरः कृतः ॥ ५७ ॥
इति ज्ञात्वाऽहमप्येवमभ्यासार्थं यते तथा ।
तथैव व्यवहारोऽपि व्युत्थाने मे भविष्यति ॥ ५८ ॥

वाल्मीकिरुवाच

यदा परिणतः साधुः स्वस्वरूपे महामनाः ।
विश्वामित्रस्तदोवाच वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ५९ ॥

विश्वामित्र उवाच

हे वसिष्ठ ! महाभाग ! ब्रह्मपुत्र ! महानसि ।
गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम् ॥ ६० ॥
दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः ॥ ६१ ॥
रामोऽप्ययं विशुद्धात्मा विरक्तः स्वात्मनैव हि ।
विश्रान्तिमात्राकाङ्क्षी च संवादात्प्राप्तवान्पदम् ॥ ६२॥
शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।
मलत्रयमपक्वं चेत्कथं बुद्ध्यति पक्ववत् ॥ ६३ ॥
ज्ञानं प्रत्यक्षमेवेदं गुरुशिष्यप्रयोजनम् ।
उभावपि यतो योग्यौ सर्वेषामीदृशामपि ॥ ६४ ॥
इदानीं कृपया रामव्युत्थानं कर्तुमर्हसि ।
पदे परिणतस्त्वं हि कार्याविष्टा वयं यतः ॥ ६५ ॥
स्मरन्कार्यं मम विभो ! यदुद्दिश्याऽहमागतः ।
प्रार्थितश्चातिकष्टेन राजा दशरथः स्वयम् ॥ ६६ ॥

क्योंकि शास्त्रों के विचार से, गुरु के वाक्यों का अर्थ ठीक-ठीक समझने से तथा अभ्यास से सब कार्यों की सिद्धि होती है, यह वेदों का अनुशासन है ।अर्थात् उसमें शास्त्राचार्यों के उपदेश तथा अपने अनुभव की एकार्थनिष्ठता के निश्चय के लिए अर्थचिन्तना वृत्तिरूप परामर्श विचार और शब्दघोषणा वृत्तिरूप एक ही शब्द को बार-बार रटनारूप अभ्यास अवश्य करना चाहिए ॥ ५५ ॥

इसलिए हे भरद्वाज, तुम सब का परित्याग कर केवल अभ्यास में अपना मन स्थिर करो ॥ ५६ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे मुने ! श्रीरामचन्द्रजी तो ब्रह्म में अपने से ही परमयोग को यानी उपाधि के त्याग से ऐक्य को प्राप्त हो गये किन्तु फिर महाराज वसिष्ठजी ने उन्हें व्यवहार में कैसे लगाया ॥ ५७ ॥

यह जानकर मैं भी इसी तरह क अभ्यास के लिए यत्न करूँगा और समाधि से उठने के बाद मेरा भी वैसा ही व्यवहार चलेगा ॥ ५८ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! महामना साधुस्वभाव श्रीरामजी अपने स्वरूप में अवस्थित हो गये, तब ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठजी ने विश्वामित्र कहने लगे ॥ ५९ ॥

विश्वामित्र ने कहा—हे ब्रह्मपुत्र महाभाग वसिष्ठजी, आप महान् हैं । पहले कहे गये शक्तिपात के द्वारा शिष्योद्धारसामर्थ्यरूप अपना गुरुत्व आपने शीघ्र ही हम लोगों को दिखला दिया ॥ ६० ॥

अपने दर्शन स्पर्श और वाक्यभोग से जो कृपा करके शिष्य के शरीर में शिव-स्वरूप परमात्मा का प्रवेश उत्पन्न कर दे, वही गुरु है । अमोघ सङ्कल्पवाले आपके सदृश महापुरुषों की कृपादृष्टि से भी उत्तमशिष्य की कुण्डलिनी के षट्चक्रभेदन द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में परम शिव का प्रवेशरूप तथा जीव की उपाधि के परित्याग से शुद्ध ब्रह्म का प्रवेश रूप शक्तिपात सिद्ध हो जाता है ॥ ६१ ॥

आपके शिष्य श्रीरामचन्द्रजी भी विशुद्धात्मा और स्वयं विरक्त थे, केवल आत्मा में विश्रान्ति चाह रहे थे, अतः आपके संवाद से परम पद को प्राप्त हो गये ॥ ६२ ॥

गुरु-वाक्य श्रवण से होने वाले बोध में शिष्य की बुद्धि ही कारण है । काम, कर्म और वासनारूप तीनों मलों का यदि परिपाक नहीं हुआ है, तो परिपक्व की तरह फिर शिष्य कैसे जान सकता है ॥ ६३ ॥

यह ज्ञान ही गुरु और शिष्य का प्रत्यक्ष प्रयोजन है, क्योंकि यदि गुरु और शिष्य दोनों योग्य होंगे, तो इस तरह के कैवल्यरूपी सब पुरुषार्थों के भी वे भाजन अवश्य होंगे ही । अर्थात् अच्छे बुद्धिमान् शिष्यों की उपस्थिति में शास्त्र सफल हुआ अवश्य देखा गया है ॥ ६४ ॥

हे भगवन् ! हम लोगों के ऊपर दया कर अब आप श्रीरामचन्द्रजी को समाधि से उठा सकते हैं, क्योंकि आप तो परमपद में कृतकृत्य हो चुके हैं, लेकिन हम लोग अभी संसारिक कार्यों में ही फँस हुए हैं ॥ ६५ ॥

हे विभो ! बड़े कष्ट के साथ जिसके लिए मैंने स्वयं राजा दशरथ से प्रार्थना की है और जिस आशय से मैं यहाँ आपके पास आया हूँ उस मेरे निर्विघ्न यज्ञ सिद्धिरूप कार्य का स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजी को अब समाधि से उठाने की कृपा करें ॥ ६६ ॥

तद्वृथा मा कृथाः सर्वं शुद्धेन मनसा मुने ! ।
देवकार्यं चरमोऽन्यदवतारप्रयोजनम् ॥ ६७ ॥
सिद्धाश्रमं मया नीतो रामो राक्षसमर्दनम् ।
करिष्यति ततोऽहल्यामुक्तिं च जनकात्मजाम् ॥ ६८ ॥
परिणेष्यति कोदण्डभङ्गेन कृतनिश्चयः ।
रामस्य जामदग्न्यस्य कर्ता नष्टां गतिं ध्रुवम् ॥ ६९ ॥
पितृपैतामहं राज्यं विगतोऽभयनिस्पृहः ।
वनवासच्छलेनेह दण्डकारण्यवासिनः ।
उद्धरिष्यति तीर्थानि प्राणिनो विविधानि हि ॥ ७० ॥
सीताहरणदौर्गत्यच्छलेन भुवि शोच्यताम् ।
दर्शयिष्यति सर्वेषां रावणादिवधादपि ॥ ७१ ॥
स्त्रीसङ्गिनामथास्वास्थ्यं वानरादेः परावृतिम् ।

हे मुने ! मेरे उस सब कार्य को आप अपने शुद्ध मन से व्यर्थ न बना डालें। श्रीरामचन्द्रजी के समाधि से उठानेपर अन्य भी अवतार के प्रयोजन जो देवताओं के कार्य हैं उनका भी हम लोग सम्पादन कर लेंगे ॥ ६७ ॥

जब मैं श्रीरामचन्द्रजी को अपने आश्रम ले जाऊँगा तब वे राक्षसों का नाश करेंगे और उसके बाद अहल्या को शाप से मुक्त करेंगे। अनन्तर निश्चय कर भगवान् शङ्कर का धनुष तोड़कर जनकदुलारी सीता के साथ अपना विवाह करेंगे और यह भी निश्चित है कि जमदग्नि के लड़के परशुराम की गति को अर्थात् परलोक मार्ग को वे नष्ट कर देंगे ॥ ६८–६९ ॥

इस संसार में पिता-पितामह के राज्य को त्याग कर कर वनवास के बहाने जंगल में पहुँच करके जीवन्मुक्त होने के कारण ही अभय और निःस्पृह होते हुए श्रीरामचन्द्रजी दण्डकारण्य के निवासी मुनियों, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियों का राक्षसों का वध कर भय से उद्धार करेंगे ॥ ७० ॥

सीताहरण प्रयुक्त हुई दुर्गति के बहाने रावण आदि का वध कर इस पृथिवी के ऊपर स्त्री में आसक्त सभी पुरुषों की कैसी दुर्गति होती है, यह दिखलायेंगे और अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी इन्द्र के वरदान द्वारा युद्ध में मरे हुए वानर, ऋक्ष आदि पुनः कैसे जी उठे यह भी प्रदर्शित करेंगे ॥ ७१, ७२ ॥

उसके बाद अग्नि में प्रवेश द्वारा सीता की शुद्धि की इच्छा कर रहे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी शिष्ट पुरुषों में अपने उत्तम चरित्र की माननीयता दर्शायेंगे। अनन्तर राज्य में अभिषिक्त होकर स्वयं जीवन्मुक्त तथा निस्पृह होते हुए

सीताविशुद्धिमन्विच्छँल्लोकानुमतिमात्मनः ॥ ७२ ॥
जीवन्मुक्तो निस्पृहोऽपि क्रियाकाण्डपरायणः ।
भविष्यति गतिं द्रष्टुं ज्ञानकर्मसमुच्चयौ ॥ ७३ ॥
यैर्दृष्टो यैः स्मृतो वाऽपि यैः श्रुतो बोधितस्तु यैः ।
सर्वावस्थागतानां तु जीवन्मुक्तिं प्रदास्यति ॥ ७४ ॥
इति कार्यमशेषेण त्रैलोक्यस्य ममापि हि ।
अनेन रामचन्द्रेण पुरुषेण महात्मना ॥ ७५ ॥
नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं चिरमेधताम् ॥ ७६ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इति श्रुत्वा च ते सर्वे विश्वामित्रेण भाषितम् ।
सिद्धाश्च वरयोगीन्द्रा वसिष्ठप्रमुखाः पुनः ॥ ७७ ॥

कर्म करने के अधिकारी पुरुषों को कर्मानुष्ठान से ही गति मिलती है, यह दिखलाने के लिए क्रियाकाण्ड में तत्पर होंगे एवं ज्ञान उपासना और कर्म दोनों के अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मलोक आदि की गति दिखलाने के लिए उपासना और कर्म दोनों का समुच्चय करेंगे ॥ ७३ ॥

जो लोग भगवान् का दर्शन करेंगे, उनके चरित्र का स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान् के स्वरूप का दूसरों को बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओं में अनुगत अपने भक्तों को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे अर्थात् कर्ममार्ग में प्रवृत्त हो केवल वर्तमान काल के मनुष्य का ही भगवान् उस पृथिवीपर उपकार नहीं करेंगे, बल्कि उत्तरकाल में भी स्मरण, कीर्तन तथा अपने चरित्र के प्रबोधन आदि के द्वारा अपने अनुगत भक्तों को जीवन्मुक्ति-सुख भी प्रदान करेंगे ॥ ७४ ॥

इस तरह तीनों लोक का तथा मेरा भी हित इस महापुरुष महात्मा श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा सम्पूर्णरूप से सम्पन्न होगा ॥ ७५ ॥

हे सत्पुरुष ! आप लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार करें, एकमात्र इनके नमस्कार से ही आप लोग सबको जीत लेंगे अर्थात् आप लोगों को किसी दूसरे साधन की आवश्यकता न होगी। आप लोगों में कोई भी पुरुषश्रेष्ठ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की तरह ही जीवन्मुक्त होकर निर्विकल्पक समाधि में विश्रान्ति पाकर सुखपूर्वक बढ़ता रहे ॥ ७६ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस तरह का विश्वामित्र का भाषण सुनकर वे सिद्ध तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ योगीन्द्र सब श्रीरामचन्द्रजी की उत्तर चरित्ररूप

रामाङ्घ्रिपद्मरजसामादरस्मरणस्थिताः ।
दूरश्रुतोत्तरकथाः कथया मैथिलीपतेः ॥ ७८ ॥
न सन्तुतोष भगवान्वसिष्ठोऽन्ये महर्षयः ।
गुणान् गुणनिधेस्तस्य ब्रुवन्नाकर्णयञ्छ्रुतम् ।
विश्वामित्रमुनिं प्राह वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ७९ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रूहि विश्वामित्र मुने ! रामो राजीवलोचनः ।
कोऽयमभूद्बुधः किं वा मनुष्यो वाऽथ राघवः ॥ ८० ॥

विश्वामित्र उवाच

अत्रैव कुरु विश्वासमयं स पुरुषः परः ।
विश्वार्थमथिताम्भोधिर्गम्भीरागमगोचरः ॥ ८१ ॥
परिपूर्णपरानन्दः समः श्रीवत्सलाञ्छनः ।
सर्वेषां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसादितः ॥ ८२ ॥

दुर्लभ कथा सुनकर पुनः भगवान् श्रीराम के चरणकमल-रज के आदर में यानी नमस्कार में तथा उनके स्मरण में आस्थायुक्त हो गये। मैथिलीपति श्रीराम की कथा सुनने से भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त न हो सके, इसलिए उन सबने दूसरों के द्वारा कहे गये गुण के सागर उनके गुणों का श्रवण किया तथा सुने गये गुणों का दूसरों से वर्णन किया। अनन्तर भगवान् वसिष्ठ ऋषि विश्वामित्र मुनि से कहने लगे ॥ ७७-७९ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे मुने विश्वामित्र जी ! इन श्रोताओं को आप साफ-साफ कहा दीजिये कि ये राजीव-लोचन रघुकुलसमुद्भव श्रीरामचन्द्रजी इस जन्म के पहले देव या मनुष्य क्या थे ? ॥ ८० ॥

विश्वामित्र ने कहा—हे सज्जनो ! आप लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजी में विश्वास कर लें कि परमपुरुष साक्षात् भगवान् वासुदेव ये ही हैं, विश्व के कल्याण के लिए जिन्होंने क्षीरसागर का मथन किया था तथा गूढ अभिप्राय से भरी उपनिषदों के तत्त्वगोचर ये ही हैं अर्थात् किसी अन्य प्रमाण के विषय ये नहीं हैं ॥ ८१ ॥

परिपूर्ण परानन्द, समस्वरूप, श्रीवत्समणि के चिह्न से सुशोभित यही श्रीरामचन्द्र जी भक्ति से भली-भाँति प्रसन्न कर दिये जाने पर सब प्राणियों को सब पुरुषार्थों के प्रदाता होते हैं ॥ ८२ ॥

कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्र जी सबका संहार करते हैं और यही मिथ्या पदार्थों की सृष्टि करते हैं। यही विश्व के आदि तथा विश्व के उत्पादक हैं और यही

अयं निहन्ति कुपितः सृजत्ययमसत्सकान् ।
विश्वादिर्विश्वजनको धाता भर्ता महासखः ॥ ८३ ॥
अयं व्युत्क्रान्तनिःसारमृदुसंसारधूर्तकैः ।
आनन्दसिन्धुर्विततो वीतरागैर्विगाह्यते ॥ ८४ ॥
क्वचिन्मुक्त इवाऽऽत्मस्थः क्वचित्तुर्यपदाभिधः ।
क्वचित्प्रणीतप्रकृतिः क्वचित्तत्स्थः पुमानयम् ॥ ८५ ॥
अयं त्रयीमयो देवस्त्रैगुण्यगहनातिगः ।
जयत्यङ्गैरयं षड्भिर्वेदात्मा पुरुषोद्भुतः ॥ ८६ ॥
अयं चतुर्बाहुरयं विश्वस्रष्टा चतुर्मुखः ।
अयमेव महादेवः संहर्ता च त्रिलोचनः ॥ ८७ ॥
अजोऽयं जायते योगाज्जागरूकः सदा महान् ।
बिभर्ति भगवानेतद्विरूपो विश्वरूपवान् ॥ ८८ ॥

विश्व के धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं ॥ ८३ ॥

जिन्होंने अपने विचार द्वारा निःसार और कोमल कार्यकारणबन्ध रूप संसार का बाध कर दिया है ऐसे संसार की खिल्ली उड़ाने वाले वीतराग यतिगण इसी आनन्द के सागर में गोते लगाते हैं ॥ ८४ ॥

यही परम पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्र जी कहीं पर ज्ञान से मुक्त, कहीं पर तुर्यपदाभिधेय अपने स्वरूप में स्थित अतएव नित्यमुक्त, कहीं पर प्रकृति (माया) के नियामक और कहीं पर माया के भीतर बद्ध हुए-से मालूम पड़ते हैं अर्थात् यही भगवान् श्रीराम चन्द्र जी ज्ञानमुक्त, नित्यमुक्त माया के नियामक तथा माया के भीतर बद्ध चार प्रकार से स्थित हैं ॥ ८५ ॥

यही भगवान् वेदमय शरीरधारी हैं, तीनों गुणों से परे अतिगहन यही हैं और शिक्षा कल्प आदि छः अङ्गों से समन्वित वेदात्मा अद्भुत पुरुष यही हैं ॥ ८६ ॥

विश्व का पालन करने वाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् यही हैं, विश्व के रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसार का संहार करने वाले त्रिलोचन भगवान् महादेव भी यही हैं ॥ ८७ ॥

ये अजन्मा होते हुए भी अपनी मायाशक्ति के सम्बन्ध से जन्म लेते हैं, ये सबसे महान् हैं, मोह रूपी नींद में सोये हुए न रहने के कारण ये सदा जागरूक रहते हैं और रूपरहित होते हुए भी ये भगवान् इस विश्व को धारण करते हैं ॥ ८८ ॥

विजयो विक्रमेणेव प्रकाश इव तेजसा ।
प्रज्ञोत्कर्षः श्रुतेनेव सुपर्णेनाऽयमुह्यते ॥ ८९ ॥
अयं दशरथो धन्यः सुतो यस्य परः पुमान् ।
धन्यः स दशकण्ठोऽपि चिन्त्यश्चित्तेन योऽमुना ॥ ९० ॥
हा स्वर्गममुना शून्यं हा पातालादिहाऽऽगतः ।
तस्याऽऽगमादयं लोको मध्यमः श्रेष्ठतां गतः ॥ ९१ ॥
राम ! इत्यवतीर्णोऽयमर्णवान्तःशयः पुमान् ।
चिदानन्दघनो रामः परमात्माऽयमव्ययः ॥ ९२ ॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामा रामं जानन्ति योगिनः ।
वयं त्ववरमेवाऽस्य रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥ ९३ ॥
रघोरघोच्छेदकरो भगवानिति शुश्रुम ।
वसिष्ठ ! कृपया त्वं हि व्यवहारपरं कुरु ॥ ९४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वाऽवस्थितस्तूष्णीं विश्वामित्रो महामुनिः ।
वसिष्ठस्तु महातेजा रामचन्द्रमभाषत ॥ ९५ ॥

वसिष्ठ उवाच

राम राम ! महाबाहो ! महापुरुष ! चिन्मय ! ।
नाऽयं विश्रान्तिकालो हि लोकानन्दकरो भव ॥ ९६ ॥
यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः ।
तावद्रूढसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम् ॥ ९७ ॥
तस्माद्राज्यादिविषयान्पर्यालोक्य विनश्वरान् ।
देवकार्यादिभारांश्च भज पुत्र ! सुखी भव ॥ ९८ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तोऽपि यदा रामः किञ्चिन्नोचे लयं गतः ।
तदा सुषुम्नया सोऽपि विवेश हृदयं शनैः ॥ ९९ ॥
शक्तिप्राणमनःप्रसक्तिकरणो जीवः प्रकाशात्मको
नाडीरन्ध्रसुपुष्टसर्वकरणः प्रोन्मील्य नेत्रे शनैः ।

ये भी भगवान् श्रीरामचन्द्र जी श्रीगरुड जी से वैसे ही ढोये जाते हैं जैसे पराक्रम से विजय प्राप्त की जाती है, तेज से जैसे भास्वर रूप प्रकाश धारण किया जाता है, जैसे सुने गये शास्त्र से प्रज्ञा में उत्कर्ष प्राप्त किया जाता है ॥ ८९ ॥

ये राजा दशरथ जी धन्य हैं, जिनके पुत्र परम पुरुष साक्षात् भगवान् हुए। वह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्त से अर्थात् यह रावण मेरा दुश्मन है—इस रूप से चिन्तन करेंगे ॥ ९० ॥

अहो विष्णुशरीरधारी इनसे शून्य स्वर्ग की दशा शोचनीय हो गई है, और अहो, शेषमूर्ति श्रीलक्ष्मणजी जो यहाँ पाताल से आ गये हैं, इसलिए उस पाताल की दशा भी अब शोचनीय हो गई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के यहाँ आ जाने से यह भूलोक श्रेष्ठ हो गया है ॥ ९१ ॥

क्षीरसागर में शयन करने वाले विष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रजी के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं ॥ ९२ ॥

अपनी इन्द्रियों को रोक रखने वाले योगीजन ही श्रीरामचन्द्रजी को वस्तुतः जानते हैं, हम लोग तो इनके इस छोटे स्वरूप का ही निरूपण या दर्शन करने में समर्थ हैं ॥ ९३ ॥

हे वसिष्ठजी हम लोगों ने ऐसा सुना है कि वे ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघु के वंश के पापों का उच्छेद करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहार में लगायें ॥ ९४ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस प्रकार कह कर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये, परन्तु महातेजस्वी महाराजवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से कहने लगे ॥ ९५ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! हे महाबाहो ! हे चिन्मय महापुरुष ! यह आत्मा में विश्रान्ति का समय नहीं है। कुछ दिन तक अभी इस संसार के लिए आनन्दकारक बनें ॥ ९६ ॥

उत्तम अधिकार प्राप्त नहीं करते योगी को निर्मल समाधि में बैठ जाना युक्त नहीं होता है ॥ ९७ ॥

इसलिए हे पुत्र ! कुछ कालतक विनाशी राज्य आदि विषयों का अनुभव करके तथा देवताओं के कार्य आदि अपने ऊपर लिये गये अधिकारभार को समाप्त करके पीछे समाधि लगाओ और सुखी रहो ॥ ९८ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—इस तरह महाराज वसिष्ठजी के कहने पर ब्रह्म के साथ ऐक्य को प्राप्त श्रीरामचन्द्रजी बाह्य अर्थों को न सुनने से तथा वाणी आदि इन्द्रियों की चेष्टाओं का उपरम हो जाने से जब कुछ भी न बोल सके तब वसिष्ठ महाराज उनके शरीर में सङ्कल्प द्वारा प्रविष्ट होकर उनकी सुषुम्ना नाड़ी से धीरे-धीरे हृदय कमल में जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उनके विलीन हुए जीवोपाधि लिङ्ग शरीर को घनीभूत बना कर उसे बाहर ऐसे खींच लाये, जैसे बीज के अन्दर प्रविष्ट होकर वायु बीजान्तर्गत अङ्कुर को बाहर खींच लाती है ॥ ९९ ॥

पहले प्राण आदि की बीजभूत आधारशक्ति में, उसके बाद प्राणों का आविर्भाव होनेपर प्राणों में और

दृष्ट्वोत्कृष्टवसिष्ठमुख्यविदुषो
निर्मुक्तसर्वैषणः ।
कृत्याकृत्यविचारणादिरहितः
सर्वान्प्रतीक्ष्य स्थितः ॥१००॥
श्रुत्वा वसिष्ठवचनं गुरुवाक्यमिति स्वयम् ।
श्रुत्वा प्रोवाच भगवान् रामचन्द्रः समाहितः ॥१०१॥

श्रीराम उवाच

न विधेर्न निषेधस्य त्वत्प्रसादादयं प्रभुः ।
तथापि तव वाक्यं तु करणीयं हि सर्वदा ॥१०२॥
वेदागमपुराणेषु स्मृतिष्वपि महामुने ! ।
गुरुवाक्यं चरणौ तस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ॥१०३॥
इत्युक्त्वा चरणौ तस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
शिरसा धार्य सर्वात्मा सर्वान्प्राह घृणानिधिः ॥१०४॥

तत्पश्चात् मन का आविर्भाव होने पर मन में चिदाभासरूप से क्रमशः प्रवेश करने वाला प्रकाशात्मक जीव––प्राणद्वार सम्पूर्ण नाडीरन्ध्रों में प्रवेश करके समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को आविष्कृत करते हुए धीरे से आँखें खोलकर बाहर बैठे हुए अपने पूज्य वसिष्ठ आदि विद्वानों को देख करके स्वयं कृतकृत्य होने के कारण समस्त अभिलाषाओं से शून्य, कृत्य एवं अकृत्य अवश्य कर्तव्य और त्याज्य के व्यवहार के गुण और दोषों की चिन्ता से तथा इनको करने या न करने से होनेवाली हानि और लाभ की चिन्ता से रहित 'अब वे इस तरह मुझसे क्या कहते हैं', इस अभिप्राय से उन सबकी प्रतीक्षा कर स्थित रहा ॥ १०० ॥

अनन्तर हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ! इत्यादि पहले जो कहा गया महाराज वसिष्ठजी का वचन था, वही फिर उन्हीं के द्वारा सुनाया गया, उसे सुनकर एवं यह गुरुवाक्य अनुलङ्घनीय है—इस अपने पिता, भाई तथा बन्धुओं की प्रार्थना को भी सुन करके सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने अवतार का तात्पर्य समझते हुए सावधान होकर कहने लगे ॥ १०१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! आपकी दया से यह जीव अब विधि और निषेध का विषय नहीं रहा, साक्षात् ब्रह्मरूप हो गया है; तथापि आपका वाक्य तो मुझे सर्वदा पालन करना ही होगा ॥ १०२ ॥

हे महामुने ! वेदों, आगमों, पुराणों और स्मृतियों में भी गुरुवाक्य ही विधि कही गई और उसके विरुद्ध आचारण करना निषेध कहा गया है ॥ १०३ ॥

श्रीराम उवाच

सर्वे शृणुत भद्रं वो निश्चयं नः सुनिश्चितम् ।
आत्मज्ञानात्परं नास्ति गुरोरपि च तद्विदः ॥१०५॥

सिद्धादय ऊचुः

रामैवमेव सर्वेषां मनसि स्थितिमागतम् ।
त्वत्प्रसादाच्च सकलं संवादेन दृढीकृतम् ॥१०६॥
सुखी भव महाराज ! रामचन्द्र ! नमोऽस्तु ते ।
वसिष्ठेनाप्यनुज्ञाता गच्छामोऽद्य यथागतम् ॥१०७॥

वाल्मीकिरुवाच

एवमुक्त्वा गताः सर्वे रामसंस्तवने रताः ।
रामचन्द्रस्य शिरसि पौष्पी वृष्टिः पपात ह ॥१०८॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं रामचन्द्रकथानकम् ।
अनेन क्रमयोगेन भरद्वाज ! सुखी भव ॥१०९॥

यों कहकर उस महात्मा वसिष्ठ महाराज के चरणों को अपने सिरपर रखकर सबकी आत्मा करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी बोले अर्थात् परमपुरुषार्थ दानरूप गुरुद्वारा किये गये उपकार की कोई दूसरी निष्कृति न देख रहे श्रीरामजी ने अब अपने सिरपर उनके चरण रखने के बहाने अपने को ही गुरु महाराज को समर्पित करके सबसे उत्कृष्ट ज्ञान की महिमा तथा स्वयं प्रत्यक्ष समनुभूत गुरु के माहात्म्य का वहाँपर उपस्थित सब लोगों को उपदेश दिया ॥ १०४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—आप लोग हमारे इस निर्णय को अच्छी तरह सुन लें, इससे आप लोगों का बड़ा कल्याण होगा। यह हमें बिलकुल निश्चित है कि आत्मतत्त्वज्ञान तथा आत्मतत्त्वज्ञानी गुरु से बढ़कर इस संसार में और कोई दूसरी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है ॥ १०५ ॥

सिद्ध आदि लोगों ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! जैसा आप कह रहे हैं वैसा ही आपकी दया से हम लोगों के मन में स्थित था और अब तो यह सब आपके इस संवाद से बिलकुल दृढ़ हो गया ॥ १०६ ॥

हे महाराज श्रीरामचन्द्रजी ! आप सुखी होये, आपको नमस्कार है। अब हम लोग वसिष्ठजी से भी अनुमति लेकर जहाँ से आये थे वहीं जा रहे हैं ॥ १०७ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस प्रकार कह कर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करते हुए वे सबके सब चल दिये और श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर फूलों की वृष्टि होने लगी ॥ १०८ ॥

इति रघुपतिसिद्धिः प्रोदिता या मया ते
वरमुनिवचनालीरत्नमालाविचित्रा ।
निखिलकविकुलानां योगिनां सेव्यरूपा
परमगुरुकटाक्षान्मुक्तिमार्गं ददाति ॥११०॥
य इमं शृणुयान्नित्यं विधिं रामवसिष्ठयोः ।
सर्वावस्थोऽपि श्रवणान्मुच्यते ब्रह्म गच्छति ॥१११॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे रामव्युत्थानं नाम अष्टविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्धं समाप्तम् ॥

हे भरद्वाज ! श्रीरामचन्द्रजी की यह सब पूरी कथा मैंने तुमसे कह सुनायी, इसी क्रम से तुम भी अपना सब कार्य करते हुए सुखी रहो ॥ १०९ ॥

हे भरद्वाज ! महाराज वसिष्ठजी की वचनपङ्क्तिरूपी रत्नमाला से भूषित यह श्रीरामचन्द्रजी की सिद्धि मैंने तुमसे कही है, वह निखिल कविकुलों और योगियों की सेवा के योग्य है तथा परम गुरु के कृपाकटाक्ष से श्रवणादि के द्वारा सेवित हो, वह मुक्तिमार्ग को देती है ॥ ११० ॥

जो इस वसिष्ठ और श्रीरामचन्द्रजी के संवादप्रकार को प्रतिदिन सुनेगा, वह मोह-मालिन्य-राग-द्वेष-महापातक और उपपातक आदि सब दोषों से युक्त अवस्थाओं में रहते हुए भी एकमात्र श्रवण से ही सब दोषों से मुक्त हो जायगा और शान्त्यादि गुणों की प्राप्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा, फिर अधिकारी पुरुष के लिए तो कहना ही क्या ॥ १११ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में सामव्युत्थान नामक कुसुमलता का एक सौ अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाप्रभुलाल गोस्वामि विरचित-योगवासिष्ठभाषानुवाद में निर्वाणप्रकरण पूर्वार्ध समाप्तं ॥

निर्वाणप्रकरणउत्तरार्द्ध

योगवासिष्ठ में निर्वाणप्रकरण के पूर्वार्द्ध की समाप्ति के बाद उत्तरार्द्ध का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अविद्या या अज्ञान की समाप्ति ही मोक्ष है, अतः अज्ञान ही बन्ध है। अज्ञान की निवृत्ति के लिये समाधि की सात भूमियों का विस्तृत विवरण पूर्वार्द्ध में प्रस्तुत किया गया है। अनन्तर असङ्ग जीवन्मुक्त के स्वरूप आदि का विश्लेषण दिया गया है, उस स्वरूप के निरूपण से पूर्व सामान्य रूप में विविध दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में मोक्ष का दिग्दर्शन आवश्यक है, क्योंकि यह भूमि ही निर्वाण के उत्तरार्ध के लिए सोपान परम्परा होगी।

निर्वाण शब्द निर् उपसर्गक वा धातु से प्रत्यय में निर्वाणोऽवाते इस सूत्र से निष्पन्न है। मुक्ति शब्द 'मुच्लृ मोक्षणे' मुच् धातु क्तिन् प्रत्यय कर निष्पन्न है। मुक्ति शब्द सापेक्ष है अतः किससे मुक्ति या मोक्ष यह आकाङ्क्षा होती है, इसके उत्तर में दुःख से मुक्ति यह कहा जाता है। बन्धन से मुक्ति यह कहने पर कैसा बन्धन यह जिज्ञासा होती है। शरीर का बन्धन मानने पर आत्महत्या से भी मुक्ति की प्राप्ति माननी पड़ेगी, किन्तु यह अभिलषित नहीं है। अतः, शरीर का बन्धन दुःख के कारण होने से दुःख ही बन्धन है। दुःख की निवृत्ति दुःख के कारण की निवृत्ति से होगी। दुःख की निवृत्ति दुःख की उत्पत्ति के तृतीय क्षणों में स्वयं अन्य विशेष गुण की उत्पत्ति से स्वाभाविक ही है, अतः आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति अभिलषित है। साधारण व्यक्ति देह से अतिरिक्त आत्मा को नहीं मानता है, अतः शारीरिक रोगादि प्रयुक्त दुःख वैद्य आदि के द्वारा औषध सेवन से नष्ट कर लेता है, इसी प्रकार मानस दुःख प्रिय वियोग एवं अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने से होता है। प्रिय जनों के मिलनकाल इष्टवस्तु की प्राप्ति से एवं विस्मरण से यह दुःख भी निवृत्त हो जाता है। किन्तु पिता आदि के वियोग से उत्पन्न दुःख अनिवार्य होने से काल से ही शान्त होता है। शरीर के रहने पर प्रिय और अप्रिय का विनाश नहीं हो सकता है, अतः शरीर रहने तक सर्वथा शरीरादि जन्य दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती है। ''न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।''

प्रश्न है आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का, इसीके अन्वेषण में दार्शनिक एवं काव्यकर्ता चिन्तित है। दुःखाभाव ही मोक्ष नहीं है अपितु आनन्द ही मोक्ष है। दुःखाभाव को मोक्ष मानने पर आत्मा जडस्वरूप होगा और यह दुःखाभाव सुषुप्ति में भी सम्भव है, अतः शरीर ग्रहण दुःखसाधन है, शरीरग्रहण जन्म के कारण है, जन्म धर्म और अधर्म के कारण होता है, धर्म और अधर्म राग और द्वेष के कारण होता है, रागद्वेष शरीर में आत्माभिमान रूपी अज्ञान के कारण है यह अहङ्कार या अभिमान तत्त्वज्ञान से निवृत्त होता है। मैं शरीर आदि से अतिरिक्त हूँ— यह ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। उपनिषद् में कहा गया है—

''तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरपक्षः, आनन्द आत्मो (तैतिरीयोपनिषद्) इसलिए सुख ही मुक्ति है।

आनन्द को मोक्ष मानते हुए भी कतिपय दार्शनिक ने मोक्ष में शरीर की स्थिति मानकर शरीरजन्य सुख को ही मोक्ष माना है। वेदान्तियों में द्वैतवादी और विशिष्टा द्वैतवादी ने श्रीमहाविष्णु से अधिष्ठित क्षीरसमुद्र मध्य में स्थित वैकुण्ठ की प्राप्ति को ही मोक्ष माना है। मुक्त पुरुष को कर्मसमन्वितज्ञान से अप्राकृत शरीर की प्राप्ति होती है। उस शरीर से भगवान् के साथ भोग का अनुभव होता है।

कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है—तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतिधावन्ति, शतं मालाहस्ताः, शतमाञ्जनहस्ताः, शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः, शतं कणाहस्ताः तं ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कुर्वन्ति—यह कहकर तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति तं ब्रह्मरसः प्रविशति। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है वैकुण्ठ नामक ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर सङ्कल्प से ही पितर आदि उपस्थित होते हैं—यं यमन्तमभिकामो भवति यः कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयते।"

ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर "तमाह आपो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ—"इमा आपः अमृतरूपा मया भुज्यन्ते तवाप्यसौ लोकोऽमृतोदकलक्षणः" "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" इस सूत्र के द्वारा जगत् के व्यापार से रहित भोग की समता ब्रह्म से होती है यह कहा गया है। द्वैतवादी का यही प्रकार है। वैकुण्ठ में जाने पर जो जिस जातीय अर्थात् मनुष्य, पक्षी आदि रहता है उसी रूप में प्राकृत शरीर रहित होकर भोग करता है।

सांख्ययोगमीमांसक दुःखध्वंस अर्थात् दुःख के आत्यन्तिक विलय को ही मोक्ष माना है।

चार्वाक ने विषयभोग को ही स्वर्ग और शरीर के नाश को मोक्ष माना है। बौद्धों ने क्षणिकविज्ञान सन्तान को आत्मा माना है और वह विषयाकार से कलुषित प्रवृत्ति विज्ञान से दुःख के समान अनुभव करते हैं। जब दुःख-दुःख, स्वलक्षण-स्वलक्षण, क्षणिक-क्षणिक इन तीन भावनाओं से वैराग्य प्राप्त कर निरुपद्रव विज्ञान आलय स्वरूप आत्मा को प्राप्त करते है तब वे मुक्त होते हैं—यह मानते हैं। इनके मत में भी दुःखाभाव ही मोक्ष है, शून्यवादी बौद्ध की दृष्टि में आत्मनाश ही मोक्ष है। जैनी शिलाबद्ध जल में निक्षिप्त अलाबु के समान कर्मबद्ध जीव संसार में परिभ्रमण करता है, वह जिनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन कर बन्धशून्य हो अलावु के समान ऊपर आकर ऊपर ही ऊपर जाता है। सतत ऊर्ध्वगमन ही मोक्ष है।

अद्वैतवेदान्ती आचार्य शङ्कर के मत में सच्चिदानन्दात्मक आत्मस्वरूप ही मोक्ष है। इस ब्रह्म स्वरूप आत्मा में विपरीत देहादि आत्मस्वरूप मानकर सुख-दुःख आदि का सम्बन्ध प्रदर्शन करने वाली अविद्या=अज्ञान ही संसार का मूल है। यह अविद्या ही विविध कामनात्मक स्वरूप को उत्पन्न कराकर मैं शरीर, मन आदि हूँ, मेरे ये पुत्र आदि हैं—इन भ्रमों के द्वारा सुख-दुःखरूपी भवसागर में जीव को निमग्न करती है। जब ज्ञान, निष्काम कर्मानुष्ठान ईश्वर भक्ति, गुरु श्रद्धा आदि से चित्त की निर्मलता पापशून्यता को प्राप्त करता है, एवं वसिष्ठ आदि के समान विशिष्ट गुरु को प्राप्त कर उनके द्वारा तुम संसारी नहीं हो अपितु नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर अपने स्वरूप को जानता है, तब जीवन काल में ब्रह्म स्वरूप मानकर कर्म से लिप्त नहीं होता है, और शरीरपात होनेपर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अतः दुःख का मूल अज्ञान है, इस अज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से होती है। तत्त्वज्ञान "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि ज्ञान ही है। इसी का विस्तृत विवरण इस निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्धे में किया गया है।

निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध

१

श्रीराम उवाच

नैष्कर्म्यात्कल्पनात्यागात्तनुः पतति देहिनः ।
कथमेतदतो ब्रह्मन् ! सम्भवत्याशु जीवतः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

जीवतः कल्पनात्यागो युज्यते न त्वजीवतः ।
रूपमस्य यथातत्त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ २ ॥
अहम्भावनमेवाऽऽहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ३ ॥
पदार्थरसमेवाऽऽहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ४ ॥
इदं वस्त्वित्ति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ५ ॥
स्मरणं विद्धि सङ्कल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।
तच्च प्रागनुभूतं च नाऽनुभूतञ्च भाव्यते ॥ ६ ॥
अनुभूतां नाऽनुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
सर्वमेवाऽऽशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामते ! ॥ ७ ॥
सर्वास्मरणमात्रात्मा तिष्ठाऽऽयातेषु कर्मसु ।
अर्द्धसुप्तशिशुस्पन्द इवाऽभ्यस्तोपपत्तिषु ॥ ८ ॥

१

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! देह, प्राण आदि में अहन्ता, ममता आदि कल्पनाओं के छूट जानेपर सब तरह की क्रियाओं की शान्ति हो जाने से देह को ठीक रखने वाली उसकी पोषक प्राण आदि की चेष्टाएँ उस पुरुष में नहीं रहेंगी। ऐसी स्थिति में उसका शरीर तत्काल गिर जाने से सर्वकल्पनात्यागी पुरुष के लिए कथित व्यवहार आदि हमें कैसे होते हैं ? अर्थात् हे महाराज ! कल्पनाजनित देहधारण आदि व्यवहार सब कल्पनाओं का परित्याग कर देनेपर कैसे सिद्ध हो सकता ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जीवनसम्पन्न पुरुष का कल्पना-त्याग हो सकता है किन्तु जीवनसम्पन्नतारहित का नहीं हो सकता है। कानों के लिए अत्यन्त ही मधुर इस कल्पना-त्याग का स्वरूप जीवन विरुद्ध नहीं है उसका वर्णन कर रह हूँ, उसे आप सुनें। अर्थात् पुरुष का जीवन कल्पनाधीन नहीं है, कल्पनात्याग से शरीरत्याग का प्रसङ्ग हो जायेगा, किन्तु जीवन भोगजनक प्ररब्ध के अधीन है। कल्पनात्याग जीवन के अधीन है, इसलिए अपने उपजीव्य जीवन का कल्पनात्याग कैसे बाध कर सकता है। ऐसी दशा में कल्पनात्याग होसे पर जीवन का न रहना विरुद्ध है ॥२॥

आत्मा को शरीर आदि के समान छोटा मानना ही कल्पना के स्वरूप को जानने वाले विद्वान् की दृष्टि में कल्पना है और आत्मा को आकाश के सदृश आपरिच्छिन्न जानकर अपने पारमार्थिक स्वरूप का निरन्तर अनुसन्धान करना ही कल्पनात्याग कहते हैं ॥ ३ ॥

कल्पना के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान् आत्मा की परिच्छिन्न पदार्थों के समान भावना को ही कल्पना कहते हैं और आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न परमार्थ स्वरूप की भावना को सङ्कल्पत्याग कहते हैं ॥ ४ ॥

उत्तम लोग यह सम्पूर्ण देहादि दृश्य वस्तु परमार्थ-सत्य है—इस अभिमान को ही कल्पना कहते हैं और दृश्य आकाश के कार्य स्वरूप चतुष्टय का विकार है, इसलिए अकेला आकाशरूप अर्थ ही स्फुरित होता है, इस प्रकार अर्थ के पर्यालोचन को सङ्कल्प का त्याग कहते हैं। अर्थात् ये दोनों ही भ्रान्तपुरुष के अनुभव के विरुद्ध होनेपर भी जीवन के विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि जीवित पुरुष की ही भ्रान्ति की निवृत्ति देखी जाती है ॥ ५ ॥

विषयों के स्मरण को आप सङ्कल्प जानें तथा यह भी जान लें कि विषयों के विस्मरण को विद्वान् लोग शिव-स्वरूप समझते हैं। वह स्मरण अनुभूत और अननुभूत दो तरह का कहा जाता है, भूत और भावी दोनों तरह के विषयों का स्मरण होता है ॥ ६ ॥

हे महामते ! अनुभूत दोनों तरह की स्मृतियों का विस्मरण कर तथा अनुमिति आदि अन्य सब वृत्तियों का भी शीघ्र विस्मरण कर अपरिच्छिन्न ब्राह्माकार में लीन होकर आप काष्ठ के तुल्य दृढ़ और निश्चल होकर चिर-काल तक जीवित रहे ॥ ७ ॥

सब पदार्थों के विस्मरण से समन्वित प्रारब्ध प्राप्त कार्यों में आ स्थित रहें, क्योंकि पूर्वजन्म के दृढ़ अभ्यास

निःसङ्कल्पप्रवाहेण चक्रं प्रस्पन्दते यथा ।
स्पन्दस्व कर्मस्वनघ प्राक्संस्कारवशात्तथा ॥ ९ ॥
अविद्यमानचित्तस्त्वं सत्त्वसंस्कारमागतः ।
प्रवाहपतितेष्वेव स्पन्दस्व स्वेषु कर्मसु ॥ १० ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ११ ॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदयं सर्वदुःखहा ।
चिन्तामणिर्विचाराख्यो हृत्स्थोऽपि त्यज्यते जनैः ॥१२॥
अवेदनमसङ्कल्पस्तन्मयेनैव भूयताम् ।
एतावत्परमं श्रेयः स्वयमेवाऽनुभूयताम् ॥ १३ ॥
किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।

मात्र से होनेवाले स्तनपान आदि कर्मों में अर्धसुप्त बालक के स्पन्दन के समान किसी स्मृति की आवश्यकता नहीं रहती है ॥ ८ ॥

सङ्कल्प रहित प्रवाह से अर्थात् किसी प्रयोजन एवं उद्देश के बिना ही एकमात्र पूर्व के संस्कार से कुलाल का चक्र कृतकार्य होनेपर भी वेग नष्ट नहीं हो जाने तक जैसे भ्रमण ही करता है, पापशून्य श्रीरामजी ! आप भी वैसे ही अपने कर्मों में पूर्वजन्म के संस्कार के वश से चेष्टा करते रहें ॥ ९ ॥

क्षीण चित्त से समन्वित वासनाशून्य मन के संस्कार के वेग से अनुगत होकर प्रवाह पतित अपने कर्मों में चेष्टा करते रहें ॥ १० ॥

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, किन्तु कोई उसे सुनता ही नहीं कि सङ्कल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है, अतः उसकी भावना तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते ॥ ११ ॥

अहो ! इस मोह का माहात्म्य तो देखो कि यह सम्पूर्ण दुःखों को छुड़ाने वाला विचारनामक चिन्तामणि हृदय में स्थित रहते हुए भी सभी मनुष्यों से वह चिन्तामणि त्यक्त हो रहा है ॥ १२ ॥

दृश्य-दर्शन निर्मुक्त आत्मतत्त्व ही मुख्य असङ्कल्प है। आप तन्मय हो जायें। यही परम श्रेय है, इसका आप स्वयं अनुभव कर लें ॥ १३ ॥

हे रामजी ! सङ्कल्प की चेष्टा छोड़कर एकमात्र चुपचाप स्थित रहने से ही वह परम पद प्राप्त हो जाता है, उसकी प्राप्ति होने पर यह सम्पूर्ण हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की तरह तुच्छ बन जाता है ॥ १४ ॥

परमं यत्र साम्राज्यमपि राम ! तृणायते ॥ १४ ॥
गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसङ्कल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ १५ ॥
सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत् ।
प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम् ॥ १६ ॥
स्पन्दस्वाऽकृतसङ्कल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशष्पवत् ॥ १७ ॥
रसभावनमन्तस्ते माऽलं भवतु कर्मसु ।
दारुयन्त्रमयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ १८ ॥
नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः ।
आकारमात्रसंलक्ष्या हेमन्ततौ लता इव ॥ १९ ॥

जैसे अपने एकमात्र गन्तव्य स्थान गृह आदि की ओर जाने के लिए तत्पर पथिक के पैर में स्पन्दन बिना सङ्कल्प के ही प्रतिक्षण होते रहते हैं अर्थात् उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए सङ्कल्प रहित होकर बे-रोक-टोक उठते जाते हैं उसी तरह हे श्रीरामजी, आप भी सङ्कल्पशून्य होकर ही अपने कर्मों में स्पन्दन करते चलें ॥ १५ ॥

समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलों को, सोये हुए की तरह सर्वथा भूलकर प्रवाहपतित प्रारब्धानुसार प्राप्त अर्थात् कर्म के लिए सङ्कल्प शून्य होकर स्पन्दन करते चलें ॥ १६ ॥

आप सुख और दुःख की कुछ भी भावना न कर सङ्कल्प निर्मुक्त हो प्रवाहपतित अपने कार्य में चेष्टाशील वैसे बने रहिये जैसे स्वतः सङ्कल्प से विर्मुक्त एक छोटा-सा तृण वायु आदि के प्रवाह में पड़कर दूसरे तृण आदि के साथ संयोग और वियोगरूप कार्य में स्पन्दनशील बनता है ॥ १७ ॥

प्रारब्धप्राप्त कर्म कर रहे आपको भी हृदय के भीतर कर्मों में, विषयसुख में मूर्ख की तरह, रस की भावना (कौतुक बुद्धि) बिलकुल वैसे ही न हो जैसे दूसरों के कौतुक के लिए नृत्य आदि कर रही के समान स्थित कठपुतली को नट के समान शृङ्गार आदि रस की भावना नहीं होती ॥ १८ ॥

समस्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनुभव आपको वैसे ही नीरस मालूम पड़ें, जैसे हेमन्त ऋतु में सिर्फ अपने आकारमात्र से दिखाई दे रही लताएँ नीरस मालूम पड़ती है ॥ १९ ॥

बोधार्कपीतरसया स्पन्दषड्वर्गसत्तया ।
यन्त्रस्पन्दोपमस्तिष्ठ वल्लयेव शिशिरे द्रुमः ॥ २० ॥
चिदान्तररसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ।
स्वयत्नेनेन्द्रियाण्याशु हेमन्तर्तुस्तरूनिव ॥ २१ ॥
सरसेन्द्रियवृत्तेस्ते कुर्वतोऽकुर्वतस्तथा ।
संसारानर्थसार्थोऽयं न कदाचन शाम्यति ॥ २२ ॥
निःसङ्कल्पमरुज्ज्वालायन्त्राम्बुस्पन्दवद्यदि ।
स्पन्दसे तदनन्ताय श्रेयसे परिकल्पसे ॥ २३ ॥
एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम् ।
यदवासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता ॥ २४ ॥
अवासनमसङ्कल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ २५ ॥

बोधरूपी सूर्य द्वारा रसका = भावना का पान किये गये पञ्चकोश संवलित चिदाभास, मनसहित प्राणवर्ग, ज्ञानेन्द्रिय-वर्ग, कर्मेन्द्रियवर्ग, ज्ञानकर्मेन्द्रिय सहित अन्तःकरण और शरीर—इन छः स्पन्दनयुक्त षड्वर्गों की सत्ता से युक्त आप यन्त्रगत स्पन्दन के समान स्थित रहिये, जैसे लता से वेष्टित शिशिर ऋतु में नीरस वृक्ष स्थित रहता है ॥ २० ॥

आवरणशून्य भूमानन्दस्वरूप चिति ही षड्वर्ग जीवन की पुष्टि आदि में हेतुभूत आन्तरिक रस है। स्वभावतः बाह्य विषय-रसों के आस्वाद में प्रवृत्त षड्वर्गों को उधर से अपने यत्न से हटाकर उन्हें अपने जीवन की पुष्टि में हेतुभूत चितिरूपी आन्तरिक रस की ओर ले जा कर वैसे ही जीवित रखिये, जैसे हेमन्तऋतु बाहरी जल के अभाव में भी अपने आन्तरिक रस से ही वृक्षों को जीवित रखती है ॥ २१ ॥

यदि आपकी इन्द्रियवृत्तियाँ बाह्य विषयों की ओर लगी रहेंगी तथा आप उन्हें सरस बनाये रक्खेंगे, तो चाहे आप विषयों का उपभोग करें या न करें, किन्तु आपका यह संसार के अनर्थों का समूह तो कभी-भी शान्त न होगा ॥ २२ ॥

सङ्कल्पशून्य हो यदि आप वायु, अग्निज्वाला, यन्त्र और जल के समान स्पन्द करते रहेंगे, तब आप अनन्त श्रेय के लिए समर्थ हो सकेंगे ॥ २३ ॥

जन्मरूपी ज्वर के निवारण के लिए यही सबसे बढ़कर उत्तम उपाय है कि अपने कर्मों में कर्तृत्व अभ्यस्त वासनारहित हो ॥ २४ ॥

वासनाओं और सङ्कल्पों से शून्य हो प्रारब्ध-प्राप्त कार्यों के अनुसार बर्ताव करने वाले आप चाक के ऊपर घूमने वाले घटादि रचनाविशेष की तरह धीरे-धीरे उत्तरोत्तर उपशमशील हो अपने कर्मों में स्पन्द करते रहे ॥ २५ ॥

मा कर्मफलबुद्धिर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
उभयं वा त्यजैतत्त्वमुभयं वा समाश्रय ॥ २६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
सङ्कल्पनं मनो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ २७ ॥
नेह कार्यं न वा कार्यमस्ति किञ्चिन्न कुत्रचित् ।
सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम् ॥ २८ ॥
पश्यन् कर्मण्यकर्मत्वमकर्मणि च कर्मताम् ।
यथाभूतार्थचिद्रूपः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ २९ ॥
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथाऽसि भोः ॥३० ॥
समे शान्ते शिवे सूक्ष्मे द्वैतैक्यपरिवर्जिते ।
ततेऽनन्ते परे शुद्धे किं केन किल खिद्यते ॥ ३१ ॥

कर्मफल में आपकी आसक्त बुद्धि न हो और कर्मों के त्याग में भी आपकी आसक्ति कर्मत्याग के फल में आसक्ति न हो। इन दोनों का त्याग कर दें या आप इन दोनों का आश्रयण करें। फल में आसक्ति न करने पर कर्म करने या छोड़ देने में कुछ भी विशेषता नहीं रहती है ॥ २६ ॥

इस विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप से मैं यही कह देता हूँ कि सङ्कल्प ही मन का बन्धन है और उसका अभाव ही मुक्ति है ॥२७॥

यहाँ पर न कहीं कोई कार्य है और न कहीं कोई त्याज्य है, किन्तु सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवस्वरूप ब्रह्म ही है, इसलिए आप जैसे हैं वैसे ही स्थित रहें ॥ २८ ॥

सांसारिक सब कार्य निष्क्रिय ब्रह्मरूप हैं और निष्क्रिय ब्रह्मभाव में स्थिति अवश्य करनी चाहिए—इस प्रकार देखते हुए आप परमार्थ चैतन्यरूप हो सुखपूर्वक शान्त बैठे रहे ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी ! विषयों के विस्मरण को ही चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहें ॥ ३० ॥

स्पन्दशून्य होकर चुपचाप बैठे रहना एकमात्र दुःख-दायक है, जैसे कि आम-वात से जड़ बना दिया गया

नोदेतु त्वयि सङ्कल्पो मरुभूमाविवाऽङ्कुरः ।
इच्छा नोदेतु भवति लतिकेवोपलोदरे ॥ ३२ ॥
अवेदनस्य शान्तस्य जीवतो वाऽप्यजीवतः ।
नेह किञ्चित् कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनाऽपि कश्चन ॥ ३३ ॥
यत्कर्माकर्मशान्तेऽन्तः शाश्वताभेदरूपिणि ।
न कर्मणि च कर्माणि न कर्तर्यपि कर्तृता ॥ ३४ ॥
अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यसे ।
असंविदन्विमुच्यसे यदीप्सितं तदाचर ॥ ३५ ॥
अहं ममेति नास्त्यलं यदस्ति तच्छिवं परम् ।
परात्परं त्विदं शिवादशब्दमर्थरूपकम् ॥ ३६ ॥
यद्दृश्यते जगदिदं खलु किञ्चिदेत-
द्धेम्नोऽङ्गदत्वमिव भाति न विद्यमानम् ।
अस्य क्षयं विदुरवेदनमेव पश्चा-
त्सत्यं तदेव परमार्थमथाऽवशिष्टम् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इच्छादिचिकित्सायोगोपदेशो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

शरीर दुःखदायी होता है किन्तु सम, शान्त, शिव, सूक्ष्म, द्वैत एवं ऐक्य से वर्जित, व्यापक, अनन्त और और शुद्ध परब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर कौन किसलिए खिन्न हो सकता है ॥ ३१ ॥

मरुभूमि में अङ्कुर की तरह आप में संकल्प का उदय न हो तथा पत्थर के उदर में लता की तरह आप में इच्छा भी उदित न हो ॥ ३२ ॥

सङ्कल्पशून्य शान्त पुरुष के जीवित रहते या न रहते इस संसार में किये या न किये गये लौकिक या वैदिक कर्म से इस लोक या परलोक के लिए कोई भी फल नहीं होता है ॥ ३३ ॥

आप कर्म और अकर्म इन दोनों के बाध की अवधि हैं ये दोनों आप में एकरूप से मिल चुके हैं, इसलिए कर्माकर्मात्मक सदा अभेदरूप आपके प्रातिभासिक कर्तारूप से विवर्तमान होने पर भी वस्तुतः कर्तृता नहीं है । अर्थात् जिस मनुष्य को कर्म और कर्तृत्व आदि में सत्यत्वबुद्धि रहती है उसी को कर्मफल मिलते हैं, वह तो आप में है ही नहीं ॥ ३४ ॥

अर्थात् यही कारण है कि देहादि में 'अहं, मम' इस तरह का ज्ञान रखने वाले को ही विधि और निषेध शास्त्रों के अधिकार से कर्मकृत बन्धन होता है, दूसरे को नहीं, 'अहं', 'मम' यह मैं हूँ, यह मेरा है यह भावना करने वाले आप सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते तथा 'अहं', 'मम' यह भावना न करने वाले आप मुक्ति पा सकते हैं, अतः इनमें आपको जो अच्छा लगे वही करें ॥ ३५ ॥

'अहं', 'मम' यह सर्वथा नहीं है । जो है सो केवल परम शिव ही है । भूमानन्द शिव से अन्य यह दृश्यरूप प्रातिभासिक जगत् तो अनिर्वचनीय ही है ॥ ३६ ॥

जो यह जगत् दिखाई दे रहा है, वह सुवर्ण की कटक, अङ्गद आदि रूपता के समान केवल प्रतीति मात्र है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है । आत्मा से भिन्न इसका अनुभव न करना ही इसका नाश है । आत्मा के अज्ञान का नाश होने के बाद अवशिष्ट दृश्य-बाध का अधिष्ठान तो ज्ञान का अविषय ही है । इसीको अनुभवी लोग सत्य, एक और परम पुरुषार्थ कहते हैं ॥ ३७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में इच्छादिचिकित्सायोगोपदेश नामक कुसुमलता का एक सौ प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

२

वसिष्ठ उवाच

अद्वैतैक्यं विमननं शान्तमात्मन्यवस्थितम् । यथा पङ्कमयं सैन्यं तथा शिवमयं जगत् ॥ १ ॥

२

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वैतता और एकता से रहित, मननशून्य, शान्त आत्मा ही अपने परमार्थिक स्वभाव में तत्त्व-दृष्टि से अवस्थित है । जैसे मिट्टी की सेना मिट्टीमय है वैसे ही शिव का यह सारा संसार शिवमय है ॥ १ ॥

मनोहङ्कारबुद्धयादिचित्तमेव च तन्मयम् ।
कालाकारक्रियाशब्दशक्तिसन्दर्भसंयुतम् ॥ २ ॥
शिवपङ्कमया एव रूपालोकमनःक्रमाः ।
तन्मयत्वादनन्तत्वादतः किं केन चेत्यते ॥ ३ ॥
मातृमेयप्रमाणादि देशकालौ दिगादि च ।
भावाभावविवर्तादि शिवपङ्कमयात्मकम् ॥ ४ ॥
अहं ममेत्यतः सारान्नेतरत्परमेश्वरात् ।
असंसक्तमतिस्तिष्ठ हा शिलोदरमौनवत् ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

अहं ममेत्यसद्रूपं ज्ञस्याऽभावयतः प्रभो ! ।
अशुभं कर्मणां त्यागादनुष्ठानाच्च किं शुभम् ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

पृच्छामि यदहं तत्त्वं कथयाऽऽशु ममाऽनघ ! ।
यदि जानासि तत्त्वेन कर्म तावत्किमुच्यते ॥ ७ ॥

काल, आकार, क्रिया, नाम और अर्थ से समन्वित मन, अहङ्कार चित्त और बुद्धि आदिरूप सब चित्त चिति से भास्य होने के कारण चिन्मय ही है। अर्थात् जो चिति से भास्य है वह सब चिति का विवर्त होने से चिन्मय—चिति स्वरूप—ही है। सनसे पहले यह जान लेना चाहिए कि चिति का चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख होना रूप मनन चिति से व्याप्त है। अनन्तर विषयों का अभिमान, स्मरण, काम और सङ्कल्प आदि उदित वृत्तियाँ भी चिति से व्याप्त ही उदित होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है तथा चिति और चेत्य का सम्बन्ध रूप काल, विषयों का आकार, उसकी क्रिया—इस प्रकार नाम और अर्थ के सहित सम्पूर्ण अन्तःकरण का संसरण भी सक्षात् साक्षी से वेद्य होने के कारण शिवमय ही है, यह प्रत्येक विद्वान् को जानना चाहिए ॥ २ ॥

बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि के आलोचन तथा मन से क्रम अर्थात् बाह्य सविकल्पक और उपादान आदि बुद्धियाँ एवं उनके विषय सब के सब शिवरूपी पङ्कमय हैं। यों सभी पदार्थों को शिवरूप देखने पर सम्पूर्ण त्रिपुटी रूप से एकमात्र शिव ही दिखाई देता है, शिव से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु इस संसार में देखने में नहीं आती, इस संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त शिवरूप पङ्क ही हैं, इसलिए कौन किससे प्रकाशित होता है। अर्थात् इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय, इन्द्रियों से जनित ज्ञान तथा ज्ञान के जो विषय हैं उनमें भी चिद्व्याप्तिप्रयुक्त ही अपरोक्ष प्रकाश है, इसलिए उनमें भी विवेकी पुरुष शिव-रूपता का ही अवलोकन करते हैं ॥ ३ ॥

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, देश, काल, दिशा आदि तथा भाव और अभाव आदि विवर्त, ये सब शिवपङ्क-मयात्मक ही हैं ॥ ४ ॥

सारभूत परमेश्वर से भिन्न 'अहं' 'मम' इत्यादि विवर्त कुछ भी नहीं है, इसलिए संसक्तमति न हो अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि विषयों में तनिक भी असक्ति न रख आप शिला के उदर में प्रसिद्ध वाणी चेष्टाशून्य मौन के समान स्थित रहिये। अर्थात् 'अहं' 'मम' मैं और मेरा इन दो रूपों से ही सम्पूर्ण विवर्तों का संग्रहकर फिर 'ये सभी वस्तुएँ चिति से व्याप्त है' इस तरह से उनमें चिति-व्याप्ति की भलीभाँति आलोचना करने पर एकमात्र चिति के ही साररूप से बच जाने के कारण उसमें स्थिति सुलभ हो जाती है ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे प्रभो ! 'अहं', 'मम' इत्यादि दृश्यसमूह की असद्रूप से भावना कर रहे ज्ञानी पुरुष को कर्मों के त्याग से क्या अशुभ होता है तथा उनके अनुष्ठान से क्या शुभ होता है अर्थात् अनन्त कोटि जन्मों के सञ्चित पाप और पुण्यरूपी कर्मों का अपरोक्षरूप से भान न होने के कारण शिवमयतावलोकन द्वारा बाध तो सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए जबतक मृत्यु न हो तबतक चेष्टाशून्य हो रहनारूप ही उनका त्याग एकमात्र उनके निवारण में उपाय है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष को कर्म करने से न तो कोई फल मिलने की अपेक्षा है और न नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के त्याग से प्रत्यवाय लगने की ही आशा है, जिससे कि चुपचाप स्थित रहना उससे न हो सकेगा ॥ ६ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप श्रीरामजी ! मैं आपसे पूछ रहा हूँ उसे शीघ्र कहें। यदि वास्तव में आप जानते हों, तो कहें, कर्म किसे कहते हैं ? अर्थात् यदि अज्ञानरूप मूल के साथ आप कर्मों का त्याग कर सकें तो सचमुच आपका नैष्कर्म्य सिद्ध हो जाये। परन्तु मूल का त्याग करना अत्यन्त ही कठिन है, यह दिखलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी—श्रीरामचन्द्रजी मुझसे 'कर्मों का मूल क्या है' इसका निश्चय कर पूछ रहे हैं या यों ही पूछ रहे हैं—इसकी परीक्षा करने के लिए हे श्रीराम जी, आपने कर्मों का स्वरूप कैसा निश्चित किया है, उनका फलात्मक विस्तार कैसा है, उनका मूल क्या है, उनमें नाशयोग्य अंश और उसका उपाय आपने कैसा किया है—यह पूछते हैं ॥ ७ ॥

विस्तारः कर्मणः कीदृङ् मूलं तस्य च किं भवेत् ।
नाशनीयं च निपुणं कथं कथय नाश्यते ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

यन्नाशनीयं निपुणं तन्नूनं च विनाश्यते ।
मूलकाषेण भगवन्न शाखादिविकर्तनैः ॥ ९ ॥
शुभाशुभं नाशनीयं स्वकर्म खलु धीमता ।
मूलकाषविनाशेन तच्च नष्टं भवत्यलम् ॥ १० ॥
कर्मवृक्षस्य वक्ष्यामि ब्रह्मन् ! मूलानि मे शृणु ।
यन्निकाषेण निर्मूलो न स भूयः प्ररोहति ॥ ११ ॥
देहस्तावदयं ब्रह्मन् कर्मवृक्षः समुत्थितः ।
रूढः संसारविपिने विचित्राङ्गलताञ्चितः ॥ १२ ॥
कर्म बीजं तरोरस्य सुखदुःखफलावलेः ।
क्षणतारुण्यकान्तस्य जराकुसुमहासिनः ॥ १३ ॥

कर्म का विस्तार कैसा है, उसका मूल क्या है और उसके किस अंश का नाश किया जाता है ? उसका नाशनीय अंश कौन है ? और वह किस तरह नष्ट होता है यह भी अच्छी तरह कहें ॥ ८ ॥

श्रीराम जी ने कहा—नाशनीय अंश भली-भांति मृलोच्छेदपूर्वक नाश कर देना चाहिए, केवल शाखा आदि को कतर कर नाश नहीं करना चाहिए ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह अपने पुण्य और पाप रूप कर्मों को नष्ट कर दे और मूल उखाड़ कर नाश कर देने से वे बिलकुल नष्ट भी हो सकते हैं अर्थात् कर्म का स्वरूप और उसके नाश का प्रकार, जो अपने को अभिप्रेत है ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन् ! कर्मरूपी वृक्ष के मूल को मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनें। जिनको उखाड़ फेंकने से निर्मूल होकर यह वृक्ष फिर नहीं उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन् ! संसार रूपी वन में बोया गया यह शरीर ही कर्मवृक्ष रूप से उत्पन्न है। यह कर्म रूपी वृक्ष विचित्र हाथ, पैर आदि अङ्गरूपी शाखाओं से सुशोभित है अर्थात् इस दूसरे प्रश्न का भी शरीर का ही कर्मवृक्ष रूप से वर्णन करके समाधान देते हैं ॥ १२ ॥

सुख-दुःख रूपी नानाविध फलों की पङ्क्तियों से समन्वित इस वृक्ष का पूर्व जन्म में किया गया भला या बुरा कर्म ही बीज है। क्षणिक तरुण अवस्था के कारण ही यह कमनीय दिखाई देता है और वृद्धावस्था रूपी फूलों से हँसता है ॥ १३ ॥

प्रत्येक क्षण में काल रूपी उग्र बन्दर हर्ष, विषाद,

मुहूर्तं प्रति कालोग्रमर्कटध्वंसिताकृतेः ।
निद्राहेमन्तजठरलीनस्वप्नदलोद्गतेः ॥ १४ ॥
स्ववार्धकशरच्छान्तशीर्णेहापर्णसन्ततेः ।
जगज्जङ्गलजातस्य कलत्रोपतृणावलेः ॥ १५ ॥
पल्लवावयवा हस्तपादपृष्ठादयोऽरुणाः ।
पत्राणि तनुवृत्तानि सुरेखाणि चलानि च ॥ १६ ॥
अरुणाः पवना लोला मृद्व्यो मसृणमूर्तयः ।
स्नाय्वस्थिदिग्धसरसा अङ्गुल्यो बालपल्लवाः ॥ १७ ॥
मृद्व्यो मसृणतीक्ष्णाग्रा वृत्ता रूढाः पुनः पुनः ।
द्वितीयेन्दुकलाकाराः कलिका नखपङ्क्तयः ॥ १८ ॥
कर्मणः परिफुल्लस्य देहरूपतयेति हि ।
कर्मेन्द्रियाणि मूलानि दष्टानि ग्रन्थिमन्ति च ॥ १९ ॥

रोग, जरा आदि विकार की चेष्टाओं के द्वारा इसकी आकृति को नष्ट करता है। निद्रा रूपी हेमन्त ऋतु के जठर में इसके स्वप्न रूपी पत्तों के निर्गम सङ्कुचित हुए रहते हैं ॥ १४ ॥

अपनी वृद्धावस्थारूपी शिशिर ऋतु के अन्त में इसके चेष्टारूप पत्तों के समूह शान्त और जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। जगत्-रूपी जङ्गल में उत्पन्न इस वृक्ष के समीप में स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्गरूपी बहुत से तृण पैदा हुए हैं ॥ १५ ॥

हाथों और पैरों के पिछले हिस्से तथा ओष्ठ, कान और जीभ आदि इसके लाल-लाल कोमल पल्लव रूप अवयव हैं और हाथों एवं पैरों के तलवे कुछ कठोर होने से कम लालिमा युक्त इसके कृश गोल तथा सुन्दर रेखाओं से युक्त चञ्चल पत्ते हैं ॥ १६ ॥

भीतर में स्थित नाडियों तथा हड्डियों से लिप्त होने के कारण सुन्दर, कोमल और चिकनी मूर्ति लाल अङ्गुलियां ही इसके वायु से कम्पित हो रहे बाल=कोमल किसलय पल्लव हैं ॥ १७ ॥

काटने पर भी पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली कोमल, चिकनी, तीक्ष्ण अग्र भागों से युक्त द्वितीया की चन्द्रकला के आकार वाली इसकी नख-पङ्क्तियाँ ही गोल कलियाँ हैं ॥ १८ ॥

इस तरह देहवृक्ष रूप से उत्पन्न पूर्वजन्म के कर्म की कर्मेन्द्रियाँ ही मूल हैं। इनमें जो छिद्रों से युक्त हैं, वे तो आसङ्ग-कामादि रूवी साँपों से डसे गये हैं और जो बिना छिद्रों के हैं उनमें भी बड़ी-बड़ी गांठें पड़ गई हैं ॥ १९ ॥

स्थिरास्थिग्रन्थिनद्धानि पङ्कमग्नात्मकानि च ।
वासनारसपीतानि निजरक्तरसानि च ॥ २० ॥
गुल्फवन्ति दृढाङ्गानि सुत्वञ्चि मसृणानि च ।
तेषामपि च मूलानि विद्धि बुद्धीन्द्रियाणि हि ॥ २१ ॥
सुदूरमपि जातानि पञ्चस्तम्बानि तानि तु ।
वासनापङ्कमग्नानि रसवन्ति महान्ति च ॥ २२ ॥
तेषां मूलं बृहत्स्तम्भं मनो व्याप्तजगत्त्रयम् ।
पञ्चस्रोतःशिराकृष्टमुक्तानन्तरसद्रवम् ॥ २३ ॥
तस्य मूलं विदुर्जीवं चेत्योन्मुखचिदात्मकम् ।
चेत्यस्य चेतनं मूलं सर्वमूलैककारणम् ॥ २४ ॥
चितेस्तु ब्रह्म मूलं यत्तस्य मूलं न विद्यते ।
अनाख्यत्वादनन्तत्वाच्छुद्धत्वात्सत्यरूपिणः ॥ २५ ॥
सर्वेषां कर्मणामेवं वेदनं बीजमुत्तमम् ।
स्वरूपं चेतयित्वाऽन्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते ॥ २६ ॥
मुने ! चेतनमेवाऽऽद्यं कर्मणां बीजमुच्यते ।
तस्मिन्सति महाशाखो जायते देहशाल्मलिः ॥ २७ ॥
एतच्चेतनशब्दार्थभावनावलितं यदि ।
तत्कर्मबीजतामेति नो चेत्सत्परमं पदम् ॥ २८ ॥
चितिश्चेतनशब्दार्थभावनावलिता यदि ।
तत्कर्मबीजतामेति नो चेदाद्यं परं पदम् ॥ २९ ॥
तस्माद्वेदनमेवेह कर्मकारणमाकृतेः ।
यदेतत्कर्मणां प्रोक्तं त्वयैवोक्तं मुनीश्वर ! ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्य राघव ! सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः ।
कस्त्यागः किमनुष्ठानं यावद्देहमिति स्थितम् ॥ ३१ ॥

दृढ़ हड्डियों की गाँठों से बँधी, नाड़ियों में भरे गये अन्न रसों में डूबी वासना रूपी रस को पी जाने वाली तथा अपने रक्त रूप रस से परिपूर्ण; एड़ी के ऊपर की गांठ से युक्त, दृढ़ अङ्गों वाली, सुन्दर त्वचाओं से समन्वित और चिकनी कर्मेन्द्रियों के भी मूल आप ज्ञानेन्द्रियों को जानें ॥ २०-२१ ॥

ज्ञानेन्द्रियाँ देह से बाहर दूर विषय प्रदेशों में जाकर भी विषयों को पकड़ लेने में अत्यन्त समर्थ हैं, नेत्रगोलक आदि पांच तरह के स्थानों में वे आश्रित हैं और अपने-अपने विषय-वासना रूपी कीचड़ में निमग्न अत एव वासना युक्त हैं तथा उन्हें निगृहीत करना शक्य नहीं है अर्थात् शक्ति से बाहर है ॥ २२ ॥

उन ज्ञानेन्द्रियों का महान् स्तम्भ युक्त मूल यह मन है, इसने तीनों लोक को व्याप्त कर रखा है तथा यही अनन्त रूपादि रस द्रवों को पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्रोत रूपी नाडियों के द्वारा खींच कर उनका उपभोग कर लेने के बाद फिर उन्हें छोड़ देता है ॥ २३ ॥

उस मन का मूल तत्त्व ज्ञानी लोग चेत्य विषय की ओर उन्मुख चिदात्मक जीव को अर्थात् चिदाभास को कहते हैं। चेत्यांश का मूल अविद्या शबल अर्थात् माया शबल चिति है। उस चिदाभास रूप चिति का भी मूल ब्रह्म है, जो सब मूलों का एक कारण है अर्थात् ब्रह्म का कोई मूल नहीं है वह अशब्द, अनन्त, शुद्ध और सत्य स्वरूप है, इसलिए उस ब्रह्म का कोई दूसरा मूल नहीं है ॥ २४–२५ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों के मूल विषयों की ओर उन्मुख चिति है। वह अहङ्कारादि के साथ तादाम्यापन्न हो 'मैं ही सब कुछ करती हूँ' इस प्रकार कर्ता के स्वरूप की भावना कर क्रियात्मक स्पन्द बन उसके फल के लिए प्रवृत्त होती है ॥ २६ ॥

हे मुने ! सब कर्मों का आदि बीज यह चेतन जीव ही है, क्योंकि उसके रहनेपर ही यह बड़ी-बड़ी टहनियों वाला शरीररूपी सेमल का वृक्ष पैदा होता है ॥ २७ ॥

यह जीवचैतन्य जब अहङ्कार आदि से युक्त 'मैं ही चेतन कर्ता हूँ' इस तरह की उद्‌बुद्ध शब्दार्थभावना से समन्वित होता है तब कर्मों की बीजस्वरूप को प्राप्त होता है, अन्यथा यह अपने सत् परम पदरूप से ही स्थित रहता है ॥ २८ ॥

यह चेतन जीव जब चेतनशब्दार्थ की भावना से अर्थात् मैं ही चैतन्यात्मक सब कुछ करता हूँ इस तरह की भावना से वेष्टित होता है तब कर्मों की बीजस्वरूपता को प्राप्त करता है, अन्यथा अपने परम सद्रूप पद में स्थित रहता है ॥ २९ ॥

इसलिए हे मुनीश्वर ! अपने शरीर आदि में अहंरूपता के आकार की भावना ही इस संसार में सब कर्मों का कारण है। यह जो मैंने कर्मों का मूल आपसे कहा है, वह आपने ही पहले मुझसे कहा था, अतः आपके वचन का अवलम्बन कर ही मैंने यह सब आपसे कहा है ॥३०॥

[हे श्रीरामजी, यह जो आपने कर्मों का मूल मुझे सुनाया है, इसका त्याग चुपचाप बैठे रहने या देह का त्याग कर देने से नहीं हो सकता है और न तो कर्मों की निवृत्ति ही आपके द्वारा दिखलाये गये मार्ग से हो सकती है।]

महाराज वसिष्ठजी कहा—हे राघव ! जबतक देहरूप

यच्चेत्यतेऽनु तेनाऽऽशु बहिरन्तश्च भूयते ।
सत्याकारमसत्यं वा भवत्वाहितविभ्रमम् ॥ ३२ ॥
न चेत्यते चेत्तदलं भ्रमादस्माद्विमुच्यते ।
भ्रमः सत्योऽस्त्वसत्यो वा किं विचारणयाऽनया ॥३३॥
एतच्चेतनमेवाऽन्तर्विकसत्युद्भवभ्रमैः ।
वासनेच्छामनःकर्मसंकल्पाद्यभिधात्मभिः ॥ ३४ ॥
प्रबुद्धस्याऽप्रबुद्धस्य देहिनो देहगेहके ।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ ३५ ॥
जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते ।
केवलं कर्मशब्दार्थभावनाभावने सति ।
कर्माकर्मत्वमुत्सृज्य स्वयमेव भवत्ययम् ॥ ३६ ॥
असंभवति संत्यागे कर्मणो यः करोति हि ।
इदं कर्तव्यतात्यागं न किञ्चित्तेन तत् कृतम् ॥ ३७ ॥
बोधादिदन्तासंवित्तेः स्वयं विलयनात्तु यत् ।
जगतस्तं विदुस्त्यागमसङ्गं मोक्षमेव च ॥ ३८ ॥
वेदनं सति संवेद्ये सर्गादावेव वेद्यदृक् ।
नोत्पन्ना विद्यते नैव तस्मात्किं क्वेव वेदनम् ॥ ३९ ॥
वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य रूपं यद्वेदनस्य वै ।
न वेदनं तन्नो कर्म तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते ॥ ४० ॥
चेतनं प्रोच्यते कर्म संसृत्याभ्रविकासितम् ।
अचेतनं विदुर्मोक्षं ज्ञं प्रत्येवोपदेशगोः ॥ ४१ ॥

उपाधि उपस्थित है तबतक वेदनात्मक इस सूक्ष्म कर्म का क्या त्याग और क्या अनुष्ठान हो सकता है ॥ ३१ ॥

[देह के विद्यमान रहते बाह्य और आभ्यान्तर दृश्यों के अध्यास को दूर करना अत्यन्त ही कठिन है।]

देह रहते बाह्य और आभ्यान्तर जिस-जिसकी यह जीवचेतन भावना करता है उसी रूप का यह शीघ्र हो जाता है, चाहे वह सत्याकार हो या विभ्रम से भरा हुआ बिलकुल असत्य ही क्यों न हो ॥ ३२ ॥

यदि भावना नहीं करता, तो यह अच्छी तरह इस संसार के भ्रम से मुक्त हो जाता है। वह भ्रम सत्य हो या असत्य, इस विचार से प्रयोजन क्या है ॥ ३३ ॥

यह जीव चेतन ही वासना, इच्छा, मन, कर्म, सङ्कल्प आदि नाम वाले औपाधिक उत्पन्न भ्रमों से अपने अन्दर संसाररूप से विकसित होता है ॥ ३४ ॥

[तब तो प्रतिबिम्ब की हेतु चित्तरूप उपाधि का ही प्रबोध से निरास करना चाहिए।]

देहरूपी घर के भीतर स्थित प्रबुद्ध हुए या अप्रबुद्ध हुए या अप्रबुद्ध हुए इस जीव का देहपर्यन्त चित्त रहेगा ही, उसका त्याग हो नहीं सकता ॥ ३५ ॥

जीवनधारण कर रहे प्राणियों के चित्त का भला कैसे त्याग हो सकता है। इसलिए चुपचाप बैठे रहने या देह के त्याग से सब कर्मों का कभी त्याग नहीं हो सकता, किन्तु यथा प्राप्त सब व्यवहारों को करते समय भी 'असङ्ग, अद्वितीय, कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप मैं कुछ भी नहीं करता', इस निष्क्रिय आत्मस्वभाव की स्थिति से कर्म-शब्दार्थ की भावना के उत्पन्न न होने पर यत्न के बिना भी कर्म और अकर्मरूपता का विकल्प छूट जाने से यह कर्म-त्याग स्वयं ही हो जाता है ॥ ३६ ॥

[इससे भिन्न किसी दूसरे मार्ग से कर्म का त्याग अत्यन्त कठिन हे।]

इससे अन्य दूसरे कर्मत्याग का संभव न होनेपर जो केवल अपने शरीर से कर्तव्यता त्यागरूप (शास्त्रविहित या लौकिक कर्मों को छोड़कर चुपचाप बैठनारूप त्याग) करता है, उसके द्वारा यह कुछ भी नहीं किया गया समझाना चाहिए ॥ ३७ ॥

बोध होने के बाद दृश्य-प्रतिभास का स्वयमेव लय होने से जो जगत् का अत्यन्ताभाव होता है उसीको असङ्ग त्याग और मोक्ष भी कहते हैं ॥ ३८ ॥

[बोध से तो वेद्य का ही बाध होता है, वेदन का नहीं, फिर उसका बाध कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो उस पर कहते हैं।]

वेद्य-विषयों के रहने पर ही वेदन होता है। यदि सृष्टि के आदि में ही वेद्यदृष्टि उत्पन्न नहीं हो तो फिर वह वर्तमानकाल में तो नहीं है। इसलिए क्या और कहाँ वेदन है अर्थात् तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वेद्यदृष्टि (विषय दृष्टि) न तो उत्पन्न हुई है और न विद्यमान ही है, क्योंकि उपाधि का बाध होनेपर चिदाभास की अलग स्थिति नहीं रहती॥ ३९ ॥

चिदाभासतारूप वेद्योन्मुखता का परित्याग कर अव-शिष्ट वेदन का शुद्ध चिदात्मक रूप द्वैतवेदन नहीं है, क्योंकि वह कर्म-क्रिया नहीं है, जिससे कि 'विद्' धातु से भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर जो 'विद्' धातु का अर्थ होता है वह हो। किन्तु वह शान्त ब्रह्म ही है, ऐसा तत्त्व-ज्ञानी लोग कहते हैं ॥ ४० ॥

चिदाभासात्मक चेतन को तो कर्म-क्रियारूप ही कहा गया है, क्योंकि बुद्धि आदि के व्यापार द्वारा जल में आदि में प्रतिबिम्बत आकाश की तरह वह विकास को प्राप्त है।

त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते ।
यैस्तु संपूज्यते कर्म तन्मूलं तैर्न मुच्यते ॥ ४२ ॥
मूलं स्वकर्मणः संविन्मनसो वासनात्मनः ।
सा चाऽऽदेहं समुच्छेत्तुमृते बोधान्न शक्यते ॥ ४३ ॥
राम ! केवलमेषाऽन्तः कर्ममूलकरा परा ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मसंविदसंवित्त्या स्वयत्नेन निकृन्त्यते ।
येन संविदसंवित्त्या स्वयत्नेन विचार्यते ॥ ४५ ॥
तेन संसृतिवृक्षस्य मूलकाषो वितन्यते ॥ ४६ ॥
अचेतनाकाशमनन्यदेकं
तदेवमस्ति त्विदमर्थहीनम् ।
तद्व्योमरूपं यत एतदेवं
निरामयं चेतनसारमाहुः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मबीजदाहयोगोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

यही कारण है कि अनुभवी विद्वान् लोग मोक्ष को चिदाभासशून्य ही कहते हैं। उन लोगों की विवेकी शिष्य के प्रति इसी तरह की उपदेशवाणी सुनाई देती है ॥ ४१ ॥

जबतक यह शरीर स्थित है तबतक कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। जो लोग कर्मों की पूजा करते हैं वे लोग उसके मूल को नहीं छोड़ते अर्थात् इस तरह यह सिद्ध है कि जबतक सुखपूर्वक व्यवहार होता ही रहेगा ॥ ४२ ॥

अपने कर्म का मूल वासनात्मल मन सम्बन्धी चिदाभास संवित् ही है। उसका उच्छेद इस शरीर के रहने तक ज्ञान के विना हो नहीं सकता है ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामजी ! यही चिदाभास संवित् भीतर अन्य कर्मों के मूल काम, वासना आदि को पैदा करने में तत्पर और श्रेष्ठ है ॥ ४४ ॥

जो तत्त्वज्ञानी चिदाभासरूपा संवित् को मूलज्ञान के साथ अपने यत्न से तत्त्व को समझकर स्वरूप से रहित कर देता है वह उससे उत्पन्न उन दृश्यदर्शनरूप वृत्त्यवच्छिन्न चिदाभासात्मक सूक्ष्म संवित् को अप्रतिसन्धानरूप मूलबाधक अपने यत्न से ही काट देता है। आशय यह है कि उसे काटने के लिए पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् इसलिए मेरे द्वारा कहा गया सबसे बढ़िया कर्मत्याग ही उपाय है ॥ ४५ ॥

चिदाभास को शुद्ध आत्मदृष्टि से विचार कर विचलित करने वाला संसाररूपी वृक्ष का तत्त्वज्ञान के द्वारा सर्वबाधरूपी मूलोच्छेद कर डालता है ॥ ४६ ॥

चिति के आभास से रहित, सजातीय और विजातीय भेदों से शून्य, दृश्य पदार्थों से हीन जो एक आकाश है वह तत्त्व दृष्टि से ब्रह्मरूप ही है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग उसी को हम सब चेतनों का सार (पारमार्थिक रूप) कहते हैं ॥ ४७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में कर्मबीजदाहयोगोपदेश नामक कुसुमलता का एक सौ दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

३

श्रीराम उवाच

अवेदनं वेदनस्य मुनीन्द्र ! क्रियते कथम् ।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
यदा तदैव सुकरं वेदनावेदनं स्वयम् ॥ २ ॥
एतौ वेदनशब्दार्थौ रज्जुसर्पभ्रमोपमौ ।
असत्यावुदितौ विद्धि मृगतृष्णाम्भसा समौ ॥ ३ ॥

३

श्रीरामजीने कहा—हे मुनीन्द्र, वेदन (ज्ञान) पदार्थ को आवेदनरूप कैसे बनाया जा सकता है। न तो असद्वस्तु सत् हो सकती है और न सद्वस्तु का अभाव हो सकता है ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—जिस समय यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि असत् वस्तु की उत्पत्ति और सद्वस्तु का विनाश नहीं होता है उस दशा में वेदन को अवेदन बनाना स्वयं ही सुलभ हो जाता है ॥ २ ॥

संसारदशा में प्रसिद्ध यह वेदनशब्द और इसका अर्थ ये दोनों एक तरह से रज्जुसर्पभ्रम के समान मिथ्या हैं। मिथ्यासामग्री से मिथ्यारूप उत्पन्न और मृगतृष्णाजल के सदृश ये केवल दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥

अबोधस्त्वनयोः श्रेयान् बोधो दुःखाय चैतयोः ।
तस्मात्सदेव बुद्धयस्व माऽसद्बुद्धयस्व राघव ! ॥ ४ ॥
जन्तोर्वेदनशब्दार्थबोधो दुःखकरः परः ।
निष्कृत्य ज्ञप्तिशब्दार्थबोधं तिष्ठ यथास्थितम् ॥ ५ ॥
सर्वावबोधावसरे ज्ञप्तिशब्दार्थयोरिह ।
निर्वाणोदय इत्येव परमोमिति शाम्यताम् ॥ ६ ॥
शुभाशुभात्मकर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना ।
तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ ७ ॥
कर्ममूलनिकाषेण संसारः परिशाम्यति ।
सुविचारितमन्विष्टं यावत् कर्म न विद्यते ॥ ८ ॥
चिद्रूपो बिल्वमज्जान्तश्चित्तसंज्ञां यदात्मनि ।
करोति तद्यथा बिल्वान्न स्वल्पमपि भिद्यते ॥ ९ ॥

हे राघव ! वेदन शब्द और उसके अर्थ का न जानना उत्तम है तथा उनका ज्ञान होना दुःख है, इसलिए आप अविनाशी तटस्थ आत्मस्वरूप को जानिये और त्रिपुटी-भान के अन्तर्गतवृत्ति से युक्त चेतन के आभास को आत्म-रूप न समझें ॥ ४ ॥

प्राणी के लिए सबसे बढ़कर दुःख पैदा करने वाला वेदनशब्द और उसका अर्थ जानना है, इसलिए वेदनशब्द और उसके अर्थ के परिज्ञान को समूल नष्ट कर अपने असल स्वरूप में अवस्थित रहिये ॥ ५ ॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीभान के समय जो व्यावहारिक ज्ञानरूप शब्द और उसका अर्थ प्राप्त होता है उन दोनों की यथायोग्य सर्वार्थरूप कूटस्थ चैतन्य तथा सर्वशब्दरूप 'ओम्' शब्द में लक्षणा कर कूटस्थ चैतन्यमात्र ही आत्मा है और यही मोक्ष का आविर्भाव है, इस प्रकार सुदृढ़ निश्चय कर ज्ञानी पुरुष समस्त विक्षेपात्मक प्रपञ्चों का परित्याग कर व्यवहार करें ॥ ६ ॥

विवेकी पुरुष को अपना शुभाशुभ कर्म विनष्ट कर देना चाहिए । यह विनाश 'शुभाशुभ कर्मों का आत्मा के साथ तनिक भी किसी समय सम्बन्ध नहीं है', इस प्रकार के बोधरूप तत्त्वज्ञान से स्वयं सिद्ध हो जाता है अर्थात् इस प्रकार के ज्ञानरूप व्यवहार से ही ज्ञानी को पूर्वोत्तर शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता और उनका विनाश भी हो जाता है ॥ ७ ॥

मूलसहित कर्मों का विनाश करने से संसार अशेषरूप से शान्त हो जाता है । आत्मतत्त्व भलीभाँति विचारित एवं प्रत्यक्ष करने पर कर्मों का विनाश हो जाता है ॥८॥

चिद्रूप आत्मा भी अपने भीतर चित्तसंज्ञा एवं क्रिया, कारक आदि त्रिपुटी का वैसे ही निर्माण करता है, पर चित्त आदि उससे तनिक भी भिन्न नहीं हैं जैसे बिल्व की मज्जा भीतर बीज आदि का निर्माण करती है, परन्तु बीज आदि जैसे बिल्वभिन्न नहीं रहते ॥ ९ ॥

न यथा सन्निवेशान्तः सन्निवेशस्ततः पृथक् ।
तथा नभोर्थादि पृथङ् न परस्मान्मनागपि ॥ १० ॥
यदेवाऽम्भस्तदेवाऽन्तर्द्रवत्वमपृथग्यथा ।
चित्त्वमेव तथा चित्तं तद्रूपत्वात्तदर्थयोः ॥ ११ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथालोकश्च तेजसि ।
तथा ब्रह्मण्यतद्भावं चित्त्वं चित्तं च विद्यते ॥ १२ ॥
चेतनं कर्म तत्स्वान्तर्निर्मूलं भ्रमयक्षवत् ।
उदेत्यहेतुकं तच्चेन्नोदितं तन्न विद्यते ॥ १३ ॥
चेतनं कर्म तच्चैतद्भाति स्पन्द इवाऽनिलः ।
अहेतुकं यदात्मैतद्बहिरन्तश्च सार्थधीः ॥ १४ ॥
विस्तारः कर्मणां देहः सोऽहन्तात्मा स संसृतिः ।
अचेतनाऽनहंत्वेन शाम्यत्यस्पन्दवातवत् ॥ १५ ॥

चिदाकाश के अन्तर्गत सब भूत और भुवन आदि सन्मात्र ब्रह्मपर चिदाकाश से वैसे ही तनिक भी पृथक् नहीं हैं, जैसे भूलोक की रचना के अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदि की रचना भूमि से पृथक् नहीं है ॥ १० ॥

जो जल है वही उसके अन्तर्गत द्रवत्व भी है । चिति के अन्तर्गत विद्यमान चित्त्व एवं चित्त चिति से पृथक् नहीं है, क्योंकि चित्त्व और चित्त शब्द के जो अर्थ हैं, वे केवल चैतन्यवाचक चितिधातु के ही अर्थ हैं ॥ ११ ॥

ब्रह्म में चित्त्व और चित्त ग्राहकत्व एवं स्मर्तृत्व धर्म से वैसे ही शून्य है जैसे जल में द्रवत्व और तेज में प्रभा ग्राहकत्व-स्मर्तृत्व धर्मों से शून्य है ॥ १२ ॥

'चेतयति इति चित्' अर्थात् जो प्रकाशन करता है वह चित् है इस व्युत्पत्ति से अर्थ का प्रकाश चिति का कर्म ही मालूम पड़ता है । यह कूटस्थ चैतन्य में निर्मूल भ्रमसिद्ध यक्ष के समान किसी कारण के बिना मिथ्यारूप ही प्रतीत होता है, इसलिए चिति में उसकी उत्पत्ति ही नहीं है और न उसका अस्तित्व ही है ॥ १३ ॥

वायु और उसके स्पन्दन की तरह जब चेतन और उसकी अर्थप्रकाशनरूप क्रिया अहेतुक है, तब स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में होनेवाला वह अर्थप्रकाश आत्मचेतनरूप ही है, भिन्न नहीं है । अर्थात् इस रीति से चेतन क्रिया के चेतन से पृथक् न सिद्ध होने पर विषय भी चेतन से पृथक् सिद्ध नहीं है ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण कर्मों का विस्तार यह देह ही है, उसका मूल अहङ्कार है और शाखाएँ संसार है अचेतन रूप चिदाभास-

अचेतनादनन्तात्मा भूत्वा ज्ञोऽप्युपलोपमः ।
संसारमूलकषणं कुरु क्रोडमुखाग्रवत् ॥ १६ ॥
कर्मबीजकलाकोशत्याग एवं कृतो भवेत् ।
नाऽन्यथा राघवाऽन्तस्ते शान्तमस्तु सदास्थितम् ॥१७॥
कर्मबीजकलात्यागे त्वेतस्मादितरात्मनि ।
अविद्यमाने जीवस्य तज्ज्ञैर्विदितवस्तुभिः ॥ १८ ॥
शान्तैर्न गृह्यते किञ्चिन्न च सन्त्यज्यतेऽपि च ।
त्यागादाने न जानन्ति ततस्तैः शान्तमानसम् ॥ १९ ॥
आकाशशून्यहृदयैर्ज्ञैर्यथास्थितमास्यते ।
क्रियते च यथाप्राप्तं नाऽप्येतैः क्रियतेऽपि च ॥ २० ॥
प्रवाहपतितं सर्वं स्पन्दते शान्तमानसम् ।
तेषां कर्मेन्द्रियाण्येवमर्द्धसंसुप्तबालवत् ॥ २१ ॥

रूप क्रिया से शून्य मूलोच्छेदक अनहङ्कार से शाखाओं के सहित यह वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दन शून्य वायु शान्त हो जाता है ॥ १५ ॥

चिदाभासात्मक क्रिया का उच्छेद कर पत्थर के समान निश्चल अनन्त परब्रह्म परमात्मारूप हो संसार के मूल को वैसे ही उजाड़ फेंके जैसे वराह के मुख का अग्रभाग मोथा को समूल उखाड़ फेंकता है। यह नहीं समझना चाहिये कि चिदाभास के उच्छेद से जीव का स्वरूप नष्ट हो गया, किन्तु उसने तो ब्रह्म स्वरूप से अनन्तात्मा होकर अपने अनर्थरूप संसार का मूलोच्छेद कर परम पुरुषार्थ का सम्पादन कर लिया ॥ १६ ॥

हे राघव ! इस प्रकार से ही कर्म बीज के मूल का त्याग किया जाता है, दूसरी रीति से नहीं। इसलिए आप के हृदय में सदा स्थित रहने वाला वेदनात्मक कर्ममूल शान्त हो जाय ॥ १७ ॥

इस कर्मबीज के मूल को त्याग कर देने पर जीव के लिए न चिदाभास की सत्ता रहती है। ऐसी स्थिति में विदिततत्त्व शान्त ब्रह्मज्ञानी न किसी वस्तु का ग्रहण करते हैं और न किसी वस्तु का परित्याग ही करते हैं, क्योंकि उस समय उन्हें त्याग और ग्रहण का परिज्ञान ही नहीं रहती है। अनन्तर वे आकाश के सदृश निर्मल एवं विशद हृदय से युक्त होकर ज्ञानी पुरुष मानसिक विकल्पों से शून्य होकर जैसी उनकी मूल स्थिति है उसी रीति से अवस्थित रहते हैं। जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसे करते हैं और न भी करते हैं ॥ १८-२० ॥

ज्ञानियों की कर्मेन्द्रियाँ किसी प्रकार के मनोविकार के बिना अर्धसुप्त या बालक की तरह वैसे ही स्पन्दित होती हैं जैसे नदी के प्रवाह में पतित तृण, काष्ठ आदि सब कुछ स्पन्दित होता है ॥ २१ ॥

रसे निर्वासने लब्धे रसा अप्यतिनीरसाः ।
नाऽन्तस्तिष्ठन्ति न बहिरज्ञाननिपुणा इव ॥ २२ ॥
कर्मणो वेदनं त्यागः स च सिद्धः प्रबोधतः ।
अवस्तुनेतरेणाऽर्थः किं कृतेनाऽकृतेन वा ॥ २३ ॥
अवेदनमसंवेद्यं यदवासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २४ ॥
अपुनःस्मरणं सम्यक् चिरविस्मृतकर्मवत् ।
स्थितं स्तम्भोदरसमं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २५ ॥
अत्यागं त्यागमिति ये कुर्वते व्यर्थबोधिनः ।
सा भुङ्क्ते तान्पशूनज्ञान्कर्मत्यागपिशाचिका ॥ ॥२६ ॥
समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
नैव तेषां कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ॥ २७ ॥

ब्रह्मानन्द के प्राप्त हो जाने पर भोगलम्पट करण-वृत्तियाँ भी नीरस होकर अपने-अपने विषयों के प्रकाशन में असमर्थ-सी बनकर भीतर या बाहर कुछ भी नहीं कर पाती है ॥ २२ ॥

विज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग है और यह त्याग आत्मबोध से स्वतः सिद्ध हो जाता है। इतर देहादि के स्पन्दन रूप कर्म के करने से या न करने से प्रयोजन ही क्या ? ॥ २३ ॥

विषयों से विनिर्मुक्त, वासनाओं से शून्य, सुदृढ़रूप से स्थित, शान्त, एकरूप, कृत और अकृत के अनुसन्धान से रहित जो आवेदन है वही कर्मत्याग कहा जाता है ॥ २४ ॥

दीर्घकाल से विस्मृत कर्मों के सदृश विषयों का भली-भाँति पुनः-पुनः स्मरण न होना ही कर्मत्याग कहा जाता है। विस्मरण निरन्तर खम्भे के पेट के सदृश ठोस और एकरूप का होना चाहिए ॥ २५ ॥

जो मिथ्या ज्ञानी पुरुष मूलत्याग के बिना केवल इन्द्रिय संयममात्ररूप करते हैं, उन अज्ञानी पशुओं को कर्मत्यागरूप पिशाचिका खा जाती है ॥ २६ ॥

मूलसहित कर्मत्याग के द्वारा ज्ञानी के द्वारा शान्ति के प्राप्त करने पर उन्हें यहाँ कृत-अकृत कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ॥ २७ ॥

समूलमलमुद्धृत्य कर्मबीजकलामिति ।
नित्यमेकसमाधानास्तज्ज्ञास्तिष्ठन्त्यतः सुखम् ॥ २८ ॥
प्रवाहपतिते काय ईषत्स्पन्दा अतन्मयाः ।
घूर्णमाना इव क्षीबा यन्त्रसञ्चारिता इव ॥ २९ ॥
मोक्षलक्ष्म्या विलासिन्या व्यसनोपहता इव ।
अर्द्धसुप्तप्रबुद्धाभाः कामप्यवनिमागताः ॥ ३० ॥
यत्समूलं परित्यक्तं तत्त्यक्तमिति कथ्यते ।
अमूलकाषस्त्यागो यः स शाखालवनोपमः ॥ ३१ ॥
अकृष्टमूलशाखाग्रलवनः कर्मपादपः ।
पुनः शाखासहस्रेण दुःखाय परिवर्धते ॥ ३२ ॥
अवेदनात्मना तेन कर्मत्यागोऽङ्ग सिद्ध्यति ।
क्रमेण नेतरेणाऽत एतदेवाऽऽहरन् भव ॥ ३३ ॥
ये स्वेवं कर्मसन्त्यागमकृत्वाऽन्यत्प्रकुर्वते ।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष कर्म-बीजरूपी अंशों का समूल भलीभाँति उच्छेदकर निरन्तर एकमात्र निर्विकल्पक समाधि में स्थित रहते हैं, इसलिए वे सुख का उपभोग करते हैं ॥ २८ ॥

ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध प्राप्त कार्य में कुछ प्रवृत्त हुए के समान दिखाई देते हैं, परन्तु ये घूर्णमान मदिरोन्मत्त पुरुष के सदृश तथा यन्त्र से सञ्चालित काठ की मूर्त्तियों के सदृश उसके अभिमान से रहित रहते हैं ॥ २९ ॥

जैसे अत्यन्त आसक्तिरूप व्यसन से साधारण पुरुष अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं और किसी अनिर्वचनीय पञ्चम आदि भूमिकाओं में प्राप्त होकर अर्ध-सुप्त एवं अर्धप्रबुद्ध के सदृश रहते हैं, वैसे ही नानाविध विलासों से परिपूर्ण मोक्ष लक्ष्मी से ज्ञानी पुरुष अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं ॥ ३० ॥

जो मूलोच्छेदपूर्वक छोड़ा जाता है वही छोड़ा गया कहा जाता है। और जो मूलोच्छेद के बिना त्याग है, वह शाखाच्छेदन के सदृश ही है ॥ ३१ ॥

मूल के छेदन के बिना केवल शाखाग्र से काटा गया कर्मरूपी वृक्ष फिर हजारों शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से दुःख के लिए बढ़ता ही रहता है ॥ ३२ ॥

अवेदनस्वरूप से ही कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे से नहीं इसलिए बतलाये गये क्रम से उसी के अभ्यास में तत्पर रहें ॥ ३३ ॥

जो पुरुष उस प्रकार का कर्मत्याग न कर दूसरे अत्याग रूपी त्याग को करने में प्रवृत्त रहते हैं वे गगन-ताड़न के लिए ही उद्यत रहते हैं ॥ ३४ ॥

अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं मारयन्ति ते ॥ ३४ ॥
बोधात्मकतया कर्मत्यागः सम्पद्यते स्वयम् ।
दग्धबीजा निरिच्छोच्चैरक्रियैव भवेत्क्रिया ॥ ३५ ॥
बुद्धीन्द्रियैर्हितं कर्म सफलं रसभावनात् ।
वेष्टितव्यं कुदाम्नेव स्पन्दोऽन्यो निष्फलोऽङ्गजः ॥ ३६ ॥
कर्मत्यागे स्थिते बोधाज्जीवन्मुक्तो विवासनः ।
गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वभ्येतु वोदयम् ॥ ३७ ॥
गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याऽप्यरण्यानी विजना सजना पुरी ॥ ३८ ॥
परिशान्तमतेर्ज्ञस्य स्वप्नेऽप्यप्राप्तमानवा ।
निर्मला वितता हृद्या हृद्येव वनभूमिका ॥ ३९ ॥
ज्ञस्य निर्वाणदृश्यस्य निस्पन्दार्था नभोमयी ।
शान्ताशेषविशेषार्था जगदेव महाटवी ॥ ४० ॥

आत्मबोध से कर्मत्याग स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इच्छारहित जीवन्मुक्तों की बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ भी अक्रिया रूप ही हैं, क्योंकि उनका मूलभूत बीज जल चुका है। जिसके तन्तु जल चुके हैं ऐसा वस्त्र वस्त्र के सदृश दिखाई दे रहा भी वास्तविक वस्त्र नहीं है ॥३५।

जैसे रस्सी के द्वारा कूपकाष्ठ जल निकालना, सींचना आदि रूप रस भावना से धान पैदा कर सफल होता है। वैसे ही भोगासक्ति रूप रस की भावना से ही बुद्धि सहित इन्द्रियों के द्वारा निष्पादित कर्म सफल होता है, जैसे वह काष्ठ वृथा चेष्टा से व्यर्थ है वैसे ही अन्य शारीरिक चेष्टा रूप स्पन्द भी निष्फल है ॥ ३६ ॥

ज्ञान से कर्मत्याग के सिद्ध होने पर वासनाशून्य जीवन्मुक्त पुरुष चाहे घर में रहे या जङ्गल में, धनादि सम्पत्ति के नाश से दरिद्र हो या धनादि सम्पत्ति की वृद्धि से अभ्युदय को प्राप्त हो, किन्तु है वह रहता सर्वत्र एक-सा ही है ॥ ३७ ॥

शान्त पुरुष के लिए घर ही निर्जन दूरस्थ जङ्गल है तथा अशान्त पुरुष के लिए निर्जन महान् जङ्गल भी जनसमुदाय से ठसाठस भरी नगरी है ॥ ३८ ॥

परिशान्तमति तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए स्वप्न में भी निर्जन, निर्मल, विस्तृत और अति मनोहर वनभूमि हृदय के अन्दर ही विराजमान है ॥ ३९ ॥

ज्ञानाग्नि से दग्ध दृश्य प्रपञ्च वाले तत्त्वज्ञानी के लिए यह संसार ही स्पन्दन शून्य, आकाशमयी, अशेष-विशेष पदार्थों से शून्य महाटवी है ॥ ४० ॥

अनन्तसङ्कल्पवतो हृदयस्थजगत्स्थितेः ।
हृद्येवाऽऽवर्तते भूमिरज्ञस्याऽखिलसागरा ॥ ४१ ॥
जनस्याऽज्ञस्य दीनस्य विविधद्वन्द्वसङ्कटा ।
सारम्भा विविधाकारा हृद्येव ग्राममण्डली ॥ ४२ ॥
विविधकार्यविकारदशामयी
सपुरपत्तनमण्डलपर्वता ।
मुकुरकोश इव प्रतिबिम्बिता
हृदि भवत्यमला मलिने मही ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपशमयोगोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

अनन्त सङ्कल्पों वाले तथा जगत् की स्थिति को हृदय में रखने वाले अज्ञानी के लिए सम्पूर्ण सागरों के साथ सारी पृथिवी हृदय के अन्दर ही विराजमान है ॥ ४१ ॥

अज्ञानी दीन मनुष्य के लिए विविध द्वन्द्वों से भरी नानाविध कार्यों के आरम्भ से युक्त तथा अनेक तरह के आकारों से समन्वित ग्राम-मण्डली हृदय के भीतर ही विराजमान है ॥ ४२ ॥

अज्ञानी पुरुष के लिए विविध आवश्यक कार्यों से धनोपार्जन, धन-व्यय, दूर देश में प्रवास, कलह आदि से सर्वदा ही लोभ, मोह, शोक, भय, आसक्ति आदि विकारों से पूर्ण छोटे-छोटे कस्बों, बड़े-बड़े नगरों तथा देश-देशान्तरों एवं पर्वतों से युक्त यह सारी पृथिवी मलिन हृदय में वैसे ही प्रतिबिम्बित होती है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में दृश्योपशमयोगोपदेश नामक कुसुमलता का तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

४

वसिष्ठ उवाच

साहन्तादिजगच्छान्तौ बोधे संवित्कलात्मनि ।
संशान्तदीपसङ्काशस्त्यागः सिद्ध्यति नाऽन्यथा ॥ १ ॥
न त्यागः कर्मसन्त्यागो बोधस्त्याग इति स्मृतः ।
अजगत्प्रतिभैकात्मा योऽनहन्तादिरव्ययः ॥ २ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति निःस्नेहदीपवत् ।
शान्ते परमनिर्वाणं प्रबोधात्मेति शिष्यते ॥ ३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे शान्तमित्येव यस्य नो ।
न ज्ञानं तस्य नो शान्तिर्न त्यागो न च निर्वृतिः ॥ ४ ॥
ममेदमयमेवाऽहमित्येतावति यः क्षयः ।
बोधात्मा शिवमाशान्तं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ५ ॥

४

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—चेतन आत्मरूप तत्त्व-बोध होने पर जब अहन्तादि के सहित जगत् शान्त हो जाता है तब तेल समाप्त होने पर जैसे दीप बुझ जाता है वैसे ही सब दृश्यप्रपञ्चों का त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं अर्थात् सम्पूर्ण दृश्यों का त्याग ही दृष्टा आत्मा का मोक्ष है। तेल समाप्त होने पर दीप-निर्वाण के समान तत्त्वज्ञान से सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च के मूल अज्ञान का निर्वाण (नाश) हो जाने पर ही वह सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

कर्मों का त्याग वस्तुतः त्याग नहीं होता है, बोध ही मुख्य त्याग है। जिसमें जगत् का प्रतिभास नहीं है ऐसा परिशिष्ट मुख्य एक आत्मा ही सर्वत्यागरूपी मोक्ष है, यह अविनाशी तथा अहन्तादि विकारों से रहित है ॥२॥

यह देहादि दृश्य प्रपञ्च ही मैं हूँ तथा 'देहादि से सम्बद्ध यह भोग्य जगत् मेरा है', इस तरह के तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास रूप दो बन्धनों के, तेल रहित दीपक की तरह समूल शान्त हो जाने पर सर्वोत्तम बोध ही अर्थात् चैतन्य ही आत्मा है, इस प्रकार का ज्ञान ही शेष रह जाता है. बस इसी का नाम परम निर्वाण मोक्ष है ॥ ३ ॥

यह देहादि रूप मैं हूँ तथा स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं इस प्रकार का अध्यास रूप संसार जिसका शान्त नहीं है उसे न ज्ञान है, न शान्ति है, न त्याग ही है और न मोक्ष रूप सुख ही है ॥ ४ ॥

यह स्त्री, पुत्र, धन आदि मेरे हैं, यह शरीर इन्द्रिय आदि मैं हूँ, इतने अध्यास की निवृत्ति है अध्यस्त पदार्थों के बाध का अधिष्ठान रूप होने से बोध रूप तथा सर्वथा शान्त शिव स्वरूप है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥

अहमंशे विदा क्षीणे सर्वमेव क्षयं गतम् ।
न किञ्चिच्च क्वचित् क्षीणं निर्वाणैकघनं स्थितम् ॥६॥
अहंविदनहंवित्त्वादेव शाम्यत्यविघ्नतः ।
एतावन्मात्रसाध्येयं किमिवेयं कदर्थना ॥ ७ ॥
अहं नाहमिति भ्रान्तिर्न च चित्त्वादृतेऽस्ति सा ।
चित्त्वं चाऽऽकाशविशदमतः क्वैषा भ्रमस्थितिः ॥ ८ ॥
न भ्रमो भ्रमणं नैव न भ्रान्तिर्भ्रामकोऽस्ति वा ।
अनालोकनमेवेदमालोकान्नेदमस्ति ते ॥ ९ ॥
विद्धि चिन्मात्रमेवेदमसद्रूपोपमं ततम् ।
तेनालं मौनमास्वैवं सर्वं निर्वाणमात्रकम् ॥ १० ॥
येनैवाऽऽशु निमेषेण त्वहमित्येव चेतति ।

तत्त्वज्ञान के द्वारा अहमंश के क्षीण हो जाने पर ममता का आधार सारा संसार ही विनष्ट हो जाता है। यथार्थ में कहीं कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि सर्वत्र आनन्दघन एक आत्मा ही स्थित है ॥ ६ ॥

अहङ्कार की भावना करने वाला जीव एकमात्र अहङ्कार की भावना न करने से ही बिना किसी विघ्न के शान्त हो जाता है। यह मुक्ति इतने ही साधन से सिद्ध हो जाती है, इसके लिए अनेक साधनों के सम्पादन में व्यर्थ क्लेश क्यों किया जाय ? ॥ ७ ॥

मैं देहादि नहीं हूँ, किन्तु चिन्मात्ररूप ही हूँ, इस बुद्धि को भी यदि आप द्वैतभ्रमबुद्धि ही कहें, तो यह परमार्थ-चित्स्वभाव को छोड़कर और कुछ नहीं है; क्योंकि चिति-स्वरूप आकाश के समान विशद है, इसलिए इसमें भ्रम की स्थिति ही कहाँ रह सकती है अर्थात् पङ्क के साथ कतकधूलि की तरह अहंबुद्धि के साथ वह भी अपने-आप चिदात्मा में शान्त हो जाती है ॥ ८ ॥

न भ्रम है, न भ्रम का साधन है, न भ्रम का फल है और न भ्रम का आश्रय ही है, सब अज्ञान ही है, इसलिए जब आपको तत्त्वज्ञान हो जायगा तब उसीसे आपमें उनकी सत्ता नहीं रहेगी अर्थात् भ्रम, भ्रमसाधन, भ्रमफल एवं उनके आश्रय सभी अज्ञान के परिणाम हैं, इसलिए अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उनका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता है ॥ ९ ॥

यह दृश्यमान प्रपञ्च को वास्तव में चिन्मात्र ही समझें। स्वरूपतः विस्तृत प्रपञ्च असत् शशशृङ्ग के सदृश ही है, इसलिए आप जगत् के विषय में समस्त वाग्व्यव-हार को छोड़कर चुपचाप बैठे रहें, क्योंकि पूर्वोक्त प्रणाली से सब कुछ परिशिष्ट आत्मस्वरूप ही है ॥ १० ॥

तेनैव नाहमित्येव चेतित्वाऽऽशु न शोच्यते ॥ ११ ॥
अहम्भावनभोर्थेन निर्वाच्याऽऽरूढबाणवत् ।
अजस्रमाशु वा क्षीणं तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥ १२ ॥
सनभोर्थमहन्तां त्वं चेतन्नेवमनारतम् ।
सर्वभावैरनारूढो भव तीर्णभवार्णवः ॥ १३ ॥
स्वभावमात्रविजये स्वयं यस्य न वीरता ।
तस्योत्तमपदप्राप्तौ पशोर्ब्रूहि कथैव का ॥ १४ ॥
षड्वर्गो निर्जितः पूर्वं येनोत्तमविदा स्वतः ।
भाजनं स महार्थानां नेतरो नरगर्दभः ॥ १५ ॥
यस्य स्वान्तर्मनोवृत्तिर्जीयमाना जिताऽथवा ।
विषयः स विवेकानां स पुमानिति कथ्यते ॥ १६ ॥

जिससे निमेषमात्र में शीघ्र अहंबुद्धि उत्पन्न होती है उसी सामग्री से विरुद्ध तत्काल अनहंभाव का उत्पादन कर पुरुष किसी प्रकार के शोक से सन्तप्त नहीं होता है अर्थात् जब अहंभाव का उदय प्राप्त हो तब उसी समय में अहंभाव की विरोधिनी अनहंभावबुद्धि पैदा करनी चाहिए ॥ ११ ॥

इस तरह निरन्तर अत्यन्त सावधानी से पैदा किये गये अनहंभाव से अहंभाव को शीघ्र आकाशपुष्प के सदृश निर्वचनीय बनाकर—रण में धनुष पर चढ़ाये गये अर्जुन-बाण के सदृश अपराङ्मुख हो ब्रह्मरूप लक्ष्य का दृढ़ अवलम्बन कर निरन्तर आप अवस्थित रहें ॥ १२ ॥

इस प्रकार से निरन्तर अहन्ता की आकाश-पुष्प आदि के सदृश भावना कर आप समस्त सांसारिक भावनाओं से निर्मुक्त हो संसारसागर से पार हो जायें ॥ १३ ॥

स्वाभाविक अज्ञानजनित अहंभाव के ऊपर विजय पाने में जिसकी स्वयं वीरता नहीं है उस पशु की उत्तम पद प्राप्ति के लिए कोई चर्चा ही क्या हो सकती है, यह कहें ॥ १४ ॥

जिस उत्तमज्ञानी पुरुष ने सबसे पहले काम, क्रोध आदि छः शत्रुओं के ऊपर विजय पा ली है, वही बड़े अर्थों का भाजन हो सकता है; दूसरा मनुष्यरूपी गदहा उत्तम अर्थों का भाजन नहीं हो सकता है ॥ १५ ॥

जो पुरुष अपने अन्दर की मनोवृत्ति को जीतने वाला या जीत चुका पुरुष विवेकज्ञान का पात्र गिना जाता है और वही 'पुरुष' इस शब्द से कहा जाता है अर्थात् उसी पुरुष ने अपना जन्म सफल बनाया है ॥ १६ ॥

अर्थो दृषदिवाऽम्भोधौ यो य आपतति त्वयि ।
तस्मादेव पलायस्व नाहमित्येव भावयन् ॥ १७ ॥
नाहमस्मीति बुध्वापि सोपपत्तिकमप्यलम् ।
जाननो ज्ञप्तिमात्रं च किमज्ञ इव मुह्यसि ॥ १८ ॥
न ज्ञेयमर्थतोस्तीह हेम्नीव कटकादिता ।
भ्रान्तिमात्रादृते सा च शाम्यत्यस्मरणेन ते ॥ १९ ॥
यो यो भाव उदेत्यन्तस्त्वयि स्पन्द इवाऽनिले ।
नाहमस्मीति चिद्वृत्त्या तमनाधारतां नय ॥ २० ॥
लोभो लज्जा मदो मोहो येनाऽऽदाविति नो जिताः ।
निरर्थकमनर्थेऽस्मिन्स किमर्थं प्रवर्तते ॥ २१ ॥

समुद्र में शिला के सदृश जो विषय आपके लिए प्रारब्धवश प्राप्त हो जायँ, उन विषयों से आप 'वह विषय मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की भावना कर अपना सम्बन्ध ही हटा दें ॥ १७ ॥

मैं देहादि विषय रूप नहीं हूँ, ऐसा जान कर और अनेक तरह की युक्तियों से ज्ञान रूप सुख का अच्छी तरह अनुभव कर क्यों आप अज्ञानी के सदृश मोह में फँसते हैं अर्थात् नहीं ही फँसना चाहिए ॥ १८ ॥

इस आत्मा में युक्ति से विचारने पर देहादि ज्ञेय वस्तु भ्रान्ति को छोड़ कर दूसरी कोई भी वस्तु वैसे ही नहीं है। आपकी वैसी भ्रान्ति केवल विषयों के विस्मरण से ही नष्ट हो जायगी जैसे युक्ति से विचारने पर सुवर्ण में कटक आदि रूपता केवल भ्रान्ति को छोड़ कर कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है ॥ १९ ॥

वायु में क्रिया के सदृश आपके भीतर जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों को आप 'मैं भावरूप नहीं हूँ' इस तरह की भावनावृत्ति से अपने को अनाश्रय बना दो अर्थात् हजारों युक्तियों के प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है केवल 'देहादि मैं नहीं हूँ' अकेली इस भावना का अभ्यास कर लेने पर ही सब भ्रान्तियाँ निकल जायगी ॥ २० ॥

जिस पुरुष ने सबसे पहले अहंभाव का त्यागकर लोभ, लज्जा, मद और मोह के ऊपर विजय नहीं पाई, वह पुरुष नास्तिकता, यथेष्टाचरण आदि के उत्पादक इस अध्यात्मशास्त्र में निरर्थक क्यों प्रवृत्त होता है अर्थात् लोभ आदि दोषों से युक्त पुरुष अध्यात्मशास्त्र का अधिकारी नहीं है। उसे इसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यदि वह प्रवृत्ति करेगा, तो नास्तिक एवं यथेच्छाचारी ही बन जायेगा ॥ २१ ॥

अहन्त्वं पवने स्पन्द इव यस्त्वयि संस्थितम् ।
परमात्मनि तन्नान्यदेतत्स्पन्द इवाऽनिले ॥ २२ ॥
असर्गसंविदा सर्गः परेऽस्तोऽतिविराजते ।
संनिवेशविशेषेण दुरर्थोऽपि हि शोभते ॥ २३ ॥
परमात्मा तु नोदेति नास्तं याति कदाचन ।
न चाऽस्मादन्यदस्तीति को भावोऽभाव एव वा २४ ॥
परं परे पूर्णं पूर्णे शान्तं शान्ते शिवं शिवे ।
इत्येवमात्रं विततं नाहं न च जगन्न धीः ॥ २५ ॥
निर्वाण एव निर्वाणं शान्तं शान्ते शिवे शिवम् ।
निर्वाणमप्यनिर्वाणं सनभोर्थं न वापि तत् ॥ २६ ॥

पवन में स्पन्दन के समान आपमें जो अहन्ता है वह आपके परमात्मस्वरूप बन जाने पर वायु में स्पन्दन के समान आपसे पृथक् नहीं रह सकती है ॥ २२ ॥

कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्र के ज्ञान से परमात्मा में जब संसार एकरूप से मिल जाता है तब वह बहुत ही भला लगता है। माला में भ्रान्ति से कल्पित सर्प आदि भयङ्कर अर्थ जब माला के ज्ञान से मालास्वरूप हो जाते हैं तब मालारूप से कण्ठ में धारण करनेपर सुन्दर लगते ही हैं ॥ २३ ॥

वस्तुतः परमात्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी अस्त ही और जब इस परमात्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब उससे भिन्न कौन भाव और कौन अभाव था, अर्थात् बाध से कल्पित की अधिष्ठान-रूपता न तो उत्पत्तिरूप है और न नाशरूप ही है, किन्तु नित्यसिद्ध आत्मरूप है। अपि च विकार आदि में हेतु एकमात्र क्रिया ही रहती है, ज्ञान नहीं, इसलिए जीव की परमात्मरूपता के बाद द्वैत कभी-भी नहीं हो सकता ॥२४॥

तत्त्वज्ञान से ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञानरूप त्रिपुटी का बाध हो जानेपर त्रिपुटी जनित जीवभाव का विनाश हो जाता है। इससे यही बात स्पष्ट होती है कि 'त्वं' पद का लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप परब्रह्म जो 'तत्' पद के लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप पर स्वभाव में पहले से स्थित है, इसी का तत्त्वज्ञान विस्तार कर देता है, अपूर्व किसी का भी उत्पादन नहीं करता है ॥ २५ ॥

यद्यपि निर्वाण ज्ञान का फल है तथापि वह अपूर्व उत्पन्न हुआ, यह कहना अत्यन्त अप्रसिद्ध है, क्योंकि अन्धकार शून्य सूर्य में अन्धकार निवृत्ति के समान प्रपञ्च शून्य ब्रह्म में प्रपञ्चनिवृत्ति और नित्य शान्त में शान्ति

शस्त्राघाताः प्रसह्यन्ते सह्यन्ते व्याधिवेदनाः ।
नाहमित्येवमात्रस्य सहने का कदर्थना ॥ २७ ॥
जगत्पदार्थसार्थानामहमित्यक्षयोऽङ्कुरः ।
तस्मिन्निर्मूलतां याते जगन्निर्मूलतां गतम् ॥ २८ ॥
बाष्पेणेवाऽहमर्थेन निःसारेणाऽपि सारवत् ।
व्यामलः परमादर्शस्तच्छान्तौ सम्प्रसीदति ॥ २९ ॥
अहमर्थः परे वायौ स्पन्दस्तत्प्रशमे तु तत् ।
अनिर्देश्यमनाभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३० ॥
अहमर्थः पुरो द्रव्यप्रतिबिम्बप्रदश्चितिः ।

कही गयी है, अतः अनर्थ निवृत्तिरूप ज्ञान का कोई अपूर्व फल नहीं है। इसी तरह नित्य सिद्ध निरतिशयानन्द शिव में आनन्द प्राप्तिरूप फल भी कोई अपूर्व पदार्थ नहीं है। इस तरह ज्ञान का फल मानने पर द्वैतापत्ति नहीं आ सकती है। यदि जीवात्मा में बन्ध और ब्रह्म में आकाशादि पदार्थ सत्य होते, तो उनका निर्वाण प्रदीपनिर्वाण के समान अपूर्व होता, लेकिन ऐसा नहीं है। रज्जु में सर्प निर्वाण के समान प्रत्यगात्मा के बन्ध का निर्वाण भी वास्तव में अनिर्वाणरूप ही है। ब्रह्म भी वास्तव में आकाशादि सत्य पदार्थों से युक्त नहीं रहता है, इसलिए उनकी निवृत्ति द्वैत को सिद्ध नहीं कर सकती है ॥ २६ ॥

जब शस्त्रों के आघात सहे जाते हैं, जब व्याधियों की पीड़ाएँ सही जाती हैं, तब 'मैं नहीं हूँ' इतनी भावना को सहने में कौन-सा क्लेश हो रहा है ॥ २७ ॥

जितने जगत् के पदार्थ हैं, उन सबका अविनाशी कारण देहादि में अहंभाव रखना ही है। ज्ञान द्वारा उसका निर्मूलन हो जानेपर यह जगत् तो अपने आप उखड़ जाता है ॥ २८ ॥

परमात्मारूपी दर्पण अहङ्काररूपी निःसार भी मुख-वाष्प से सारवत् मलिन हुआ वैसे ही प्रतीत होता है। अहङ्काररूप निःसार वाष्प के शान्त होनेपर तो परमात्मा निर्मल हो जाता है जैसे निःसार भी मुख बाष्प से परम स्वच्छ दर्पण मलिन हुआ प्रतीत होता है ॥ २९ ॥

परमात्मारूप वायु में अहङ्काररूप स्पन्द है। उसके शान्त होनेपर अनिर्देश्य, अनाभास, अज और अविनाशी अद्वय चिदाकाशमात्र शेष रहता है ॥ ३० ॥

अहङ्कार सामने उपस्थित द्रव्यों का चिति में प्रतिबिम्ब प्रदान करता है। उस अहङ्कार के शान्त हो जाने पर वह चिति निराभास, अनन्त, अज और अविनाशी परमात्मस्वरूप ही रह जाती है अर्थात् बाह्य अनर्थों के

तच्छान्तौ सा निराभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३१ ॥
अहमर्थाम्बुदे क्षीणे परमार्थशरन्नभः ।
परयाऽनन्तया लक्ष्म्या स्वच्छयाऽच्छं विराजते ॥ ३२॥
अहमर्थमलोन्मुक्तमव्यक्तं ताम्रमङ्ग चेत् ।
तत्परं परमाभासं सम्पन्नं हेमकान्तिमत् ॥ ३३ ॥
यथा निरभिधार्थश्रीर्भजत्यव्यपदेश्यताम् ।
तथाऽनहन्ताहन्तेयं ब्रह्मत्वमधिगच्छति ॥ ३४ ॥
अस्त्यहन्त्वे स्थितं ब्रह्म सनामेव पदार्थवत् ।
शान्तवत्सदिवाभासं तद्वत्सव्यपदेशवान् ॥ ३५ ॥

अवलोकन में भी अहङ्कार ही हेतु है ॥ ३१ ॥

अहङ्काररूपी मेघ के छिन्न-भिन्न होनेपर परमार्थरूप शरत्काल का आकाश सर्वोत्तम, स्वच्छ असीम चिति लक्ष्मी से खूब सुन्दर भासित होने लग जाता है ॥ ३२ ॥

विशुद्ध सुवर्णरूप चिरकालिक चैतन्य अहङ्काररूप मल के सम्पर्क से जीवरूपी ताम्रभाव को प्राप्त करता है, परन्तु श्रवणादि उपायरूपी अग्नि में तपकर जब अहङ्काररूपी मल से निर्मुक्त हो जाता है तब वही परम प्रकाशमय कान्तिमान ब्रह्मरूपी सुवर्ण बन जाता है ॥ ३३ ॥

अनहन्ता से ब्रह्म में विलीन हुई अहन्ता भी अव्यपदेश्यता को वैसे ही प्राप्त हो जाती है, जैसे समुद्र में विलीन हुए पदार्थों का स्वरूप अव्यपदेश्यता को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उस समय वह ब्रह्मरूप बन जाती है अर्थात् यदि आप यह कहें कि अहङ्कार की निवृत्ति हो जानेपर किस नाम से मेरा व्यपदेश होगा, तो इसपर मेरा कहना यह कि समुद्र में विलीन सैन्धव आदि पदार्थों की तरह तत्-तत् नाम की निवृत्ति से जैसी अव्यपदेश्यता होती है वैसे ही आपकी भी अव्यपदेश्यता होगी। उस समय आप अनिर्वचनीय ब्रह्मस्वरूप हो जायँगे ॥ ३४ ॥

अपने स्वरूप में स्थित आत्मा किसी नाम से व्यवहृत नहीं होता, परन्तु जब अहन्ता रहती है, तब वह अन्य पदार्थों के सदृश नामवाला-सा बनकर स्थित रहता है और उन-उन लाक्षणिक नामों की कल्पना से वैसे ही व्यवहृत होता है जैसे तरङ्ग आदि धर्मों से शून्य अपने स्वाभाविक स्वरूप से स्थित हुआ जल पूर्व के तरङ्ग आदि रूप से भीतर सत्य-सा प्रतीत होकर तरङ्ग आदि नामों से व्यवहृत होता है और स्वाभाविक जलरूप से स्थित हुआ तरङ्ग आदि नामों से व्यवहृत नहीं होता अर्थात् अहङ्कार-निवृत्ति के बाद ब्रह्म आदि नाम से जो जीव का व्यवहार होता है वह भी अन्थ पद के अर्थ की तरह जीव में अह-

अहमर्थो जगद्बीजं यदि दग्धमभावनात् ।
तदहन्त्वं जगद्बन्ध इत्यादेः कलनैव का ॥ ३६ ॥
सद्ब्रह्म शिवमात्मेति परे नामकलङ्किता ।
उदेत्यहन्ता कुम्भत्वादिव मृद्धा तु विस्मृतिः ॥ ३७ ॥
अहमर्थादियं बीजात्सत्ता बिम्बलतोत्थिता ।
यस्यां जगन्त्यनन्तानि फलान्यायान्ति यन्ति च ॥३८॥
साद्रयब्ध्युर्वीनदी सेयं रूपालोकैषणादिका ।
अहमर्थस्य मरिचबीजस्याऽन्तश्चमत्कृतिः ॥ ३९ ॥
द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्यामोदोऽहमर्थोग्रकुसुमस्य विकासिनः ॥ ४० ॥
अहमर्थः प्रविसृतः प्रकटीकुरुते जगत् ।
सद्रूपालोकमननं प्रवृत्त इव वासरः ॥ ४१ ॥

ङ्काररूप अल्पत्व नाशरूप बृहत्त्व तत्स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना करके ही होता है, वस्तुतः नहीं होता ॥३५॥

अहङ्कार ही जन्ममरणरूप इस संसार का बीज है। भावना के मूल अज्ञान के नाश से जब यह अहङ्काररूपी बीज दग्ध हो जाता है तब जगत् और बन्ध इत्यादि की कल्पना ही कैसे रह सकती है ॥ ३६ ॥

सत्, ब्रह्म, शिव, आत्मा अर्थात् कालत्रयाबाध्य, अपरिच्छिन्न, निरतिशयानन्द, अपरोक्ष चिदेकरस इन स्वभावों से युक्त परमात्मा में सत् आदि चारों स्वभावों के संकोचरूप नाम से कलङ्कित मालिन्ययुक्त, समष्टि-अहन्ता वैसे ही उदित होती है जैसी घटाकारपरिच्छेद से मिट्टी की स्वभावविस्मृति उत्पन्न होती है ॥ ३७ ॥

इसलिए अहङ्काररूपी बीज से यह दृश्यप्रपञ्ची की सत्तारूपी बिम्बलता उदित हुई है, जिसमें व्यष्टिभाव से अनन्त जगत्-रूपी फल उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं ॥ ३८ ॥

इस अहमर्थरूपी मरिच के बीज के भीतर पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी और नदियों के सहित तथा बाह्य इन्द्रियों से होने वाले पदार्थों के पर्यालोचन एवं मन के भीतर रहने वाली काम-सङ्कल्प आदि वृत्तिरूप एषणारूपी चमत्कृति उदित होती है ॥ ३९ ॥

अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सब अहमर्थरूपी विकसित कुसुम की सुगन्ध हैं ॥ ४० ॥

आत्मा में उदित होते ही यह अहङ्कार जगत् को वैसे ही प्रकट करता है जैसे सुमेरु के अपरभाग में सद्रूप दिन

प्रवृत्तेन दिनेनार्थः प्रकटीक्रियते यथा ।
असज्जगदहन्त्वेन क्षणान्निर्मीयते तथा ॥ ४२ ॥
अहमित्यर्थदुस्तैललवो ब्रह्मणि वारिणि ।
प्रसृतो यत्तदाश्वेतत्त्रिजगच्चक्रकं स्थितम् ॥ ४३ ॥
उन्मेषमात्रेणाहन्ता जगन्त्यनुभवत्यहो ।
न निमेषेण दृगिव सत्यानीत्यप्यसन्त्यलम् ॥ ४४ ॥
अहमर्थे प्रविसृते संसारो ह्यनुभूयते ।
नान्तर्भूय परिक्षीणे लोचनस्येव तारके ॥ ४५ ॥
अहमंशे निरंशत्वं नीते शाश्वतसंविदा
शाम्यतीयमशेषेण संसारमृगतृष्णिका ॥ ४६ ॥
स्वसंविद्भावनामात्रसाध्येऽस्मिन्वरवस्तुनि ।
सिद्धमात्रात्मनि स्वैरं मा खेदं गच्छ मा भ्रमीम् ॥४७॥

उदित होते ही सद्रूप पदार्थ का प्रकाश और मनन करता है ॥ ४१ ॥

प्रारम्भ होते ही अहङ्कारभावना क्षणभर में असत् जगत् का वैसे ही निर्माण कर देती है जैसे प्रारम्भ होते ही दिन पदार्थों को प्रकाशित करता है ॥ ४२ ॥

ब्रह्मरूपी जल में अहङ्काररूपी तेल का बिन्दु पड़ते ही जो चारो ओर फैल जाता है वही शीघ्र यह त्रिलोकरूपी चक्र बनकर स्थित हो जाता है ॥ ४३ ॥

अहो, उन्मेषमात्र से यह अहन्ता असद्रूप जगत् को सत्यरूप से वैसे ही अनुभव करती है जैसे खराब आँखें खुली रहकर असद्रूप जगत् को सत्यरूप से खूब अनुभव करती हैं, किन्तु बन्द हो जाते ही नहीं करती है ॥ ४४ ॥

जैसे आँख की पुतली सुसुप्ति, मरण या मूर्च्छा में जब तिरोहित हो जाती है या जब मोक्ष में पूर्णतया विलीन हो जाती है अथवा समाधि में साक्षात्कार द्वारा जब नष्ट हो जाती है तब सांसारिक पदार्थों का अनुभव नहीं कर पाती; वैसे ही अहमर्थ के प्रसृत होनेपर ही यह संसार अनुभूत होता है, अन्यथा अनुभूत नहीं होता है ॥ ४५ ॥

नित्य परमात्मज्ञान से अहमंश के बिलकुल निःशेष कर दिये जानेपर यह संसाररूपी मृगतृष्णा पूर्णरूप से शान्त हो जाती है ॥ ४६ ॥

स्वप्रकाश चिदात्मा की एकमात्रभावना से साध्य स्वतःसिद्ध आत्मरूप इस श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति में हे श्रीराम जी, आप निरंकुश खेद या अहंभावादि भ्रान्ति को प्राप्त न हों ॥ ४७ ॥

स्वयत्नमात्रसंसाध्यादसहायादिसाधनात् ।
अनहंवेदनान्नान्यच्छ्रेयः पश्यामि तेऽनघ ! ।। ४८ ।।
विस्मृत्याऽहन्त्वमास्व प्रविसृतविभवः
पूरिताशेषविश्वो
विष्वक्शैलान्तरिक्षक्षिति-
जलधिमरुन्मार्गरूपोऽमलात्मा ।
स्वस्थः शान्तो विशोकः
करणमलकलावर्जितो निष्प्रपञ्चो ।
निःसञ्चारश्चरात्मा सकलमसकलं
चेति सिद्धान्तसारः ।। ४९ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अहन्तानिरासो नाम चतुर्थः सर्गः ।। ४ ।।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी ! किसी दूसरे सहायक आदि साधन के बिना ही स्वयत्नमात्र से साध्य अनहं-भावना के सिवा मैं दूसरा आपका कोई कल्याणकारक नहीं देखता हूँ ।। ४८ ।।

सबसे पहले व्यष्टि-अहंभाव को भूलकर चारों ओर से पर्वत, अन्तरिक्ष, पृथिवी, समुद्र, वायु तथा उसके मार्ग आकाशरूप हो सम्पूर्ण संसार को परिपूर्ण बना कर अपने विभव का विस्तार कर आन समष्टिभाव से स्थित हो जायें । अनन्तर स्थावर-जंगम सारा संसार ब्रह्मरूप है, इस तरह के ज्ञान से समस्त प्रपञ्चों का बाध करके प्रपञ्च-शून्य, इन्द्रियों, अतःकरण के मलों तथा कलाओं से वर्जित होते हुए स्वस्थ, शान्त, विशोक और निर्मलात्मा होकर स्थित रहें, क्योंकि इस तरह अध्यारोप तथा अपवाद न्याय से निष्प्रपञ्च आत्मरूप से अवशिष्ट रह जाना ही सम्पूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का सार है ।। ४९ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में अहन्तानिरास नामक कुसुमलता का चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।। ४ ।।

५

वसिष्ठ उवाच

स्वभावं स्वं विजित्यादाविन्द्रियाणां सचेतसाम् ।
प्रवर्तते विवेके यः सर्वं तस्याऽऽशु सिध्यति ।। १ ।।
स्वभावमात्रं येनान्तर्न जितं दग्धबुद्धिना ।
तस्योत्तमपदप्राप्तिः सिकतातैलदुर्लभा ।। २ ।।
शुद्धेऽल्पोऽप्युपदेशो हि निर्मले तैलबिन्दुवत् ।
लगत्युत्तानचित्तेषु नादर्शे इव मौक्तिकम् ।। ३ ।।
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मम पूर्वं भुशुण्डेन कथितं मेरुमूर्द्धनि ।। ४ ।।
पुरा भुशुण्डः कस्मिंश्चित्पृष्ट आसीत्कथान्तरे ।
मया कदाचिदेकान्ते मेरोः शिखरकोटरे ।। ५ ।।

५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—सबसे पहले मन के सहित इन्द्रियों के स्वभाव को अर्थात् विषयों की ओर उन्मुख हो रही प्रवृत्ति को जीतकर पीछे नित्यानित्य वस्तु के विवेक आदि साधनों में जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसी के लिए शास्त्र के और आचार्य के उपदेश का सारा फल शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरे के लिए नहीं है ।। १ ।।

जैसे बालू में से तेल निकालना दुर्लभ है । वैसे ही जिस दग्धबुद्धि ने अपने भीतर विषयों की ओर दौड़नेवाले अपनी इन्द्रियों के स्वभाव को नहीं जीत लिया उसको परमपद की प्राप्ति दुर्लभ है, अर्थात् बालू निचोड़ने का श्रम जैसे निष्फल है, वैसे ही चिरकाल से अभ्यस्त हुए भी, श्रवण, मनन आदि इन्द्रियों के स्वभाब को जीते बिना बिलकुल निष्फल है ।। २ ।।

शुद्ध निर्मल वस्त्र आदि में तेलबिन्दु की तरह शुद्ध विमल चित्तवाले मनुष्य में थोड़ा भी उपदेश स्थान प्राप्त कर लेता है जैसे दर्पण के भीतर मोती नहीं प्रविष्ट हो पाता वैसे ही साधनचतुष्टय से रिक्त चित्तवालों में ऐसे नहीं प्रविष्ट हो पाता है ।। ३ ।।

इस विषय में विद्वान् लोग इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं । भुशुण्डजी ने बहुत दिन पहले मुझसे मेरु पर्वत के शिखर पर यह कहा था ।। ४ ।।

पूर्वकाल में कभी मेरु शिखर के एकान्त कोटर में किसी अध्यात्मकथा के प्रस्ताव में श्रीभुशुण्डजी से मैंने यह पूछा था ।। ५ ।।

मुग्धबुद्धिमनात्मज्ञं कं त्वं सुचिरजीवितम् ।
स्मरसीति मया पृष्टेनोक्तं तेनेदमङ्ग मे ॥ ६ ॥
भुशुण्ड उवाच
आसीद्विद्याधरः पूर्वमनात्मज्ञः सुखेदितः ।
लोकालोकान्तरशृङ्गे शुष्क आर्यो विचारवान् ॥ ७ ॥
तपसा बहुरूपेण यमेन नियमेन च ।
अक्षीणायुरतिष्ठत्स पुरा कल्पचतुष्टयम् ॥ ८ ॥
ततश्चतुर्थे कल्पान्ते विवेकस्तस्य चोदभूत् ।
विदूरस्येव वैदूर्यमौचित्याज्जलदोदयात् ॥ ९ ॥
पुनर्मृतिः पुनर्जन्म जरामेति विभावयन् ।
लज्जेऽहं तत्किमेकं स्यात् स्थिरमित्यवमृश्य सः ॥१०॥
मामाजगाम सम्प्रष्टुममष्टादशमयीं पुरीम् ।
स्वामुपोह्य विरक्तात्मा संसाराररसतां गतः ॥ ११ ॥
स मत्समीपमागत्य कृतोदारनमस्कृतिः ।
मत्पूजितोऽवसरत उवाचेदमनिन्दितम् ॥ १२ ॥
विद्याधर उवाच
मृदूनि परितापीनि दृषद्दृढबलानि च ।
छेदे भेदे च दक्षाणि स्वशस्त्राणीन्द्रियाणि च ॥ १३ ॥
पर्याकुलानि मलिनानि विपत्प्रदानि
दुःखोर्मिमन्ति गुणकाननपावकत्वात् ।
हार्दान्धकारगहनानि तमोमयानि
जित्वेन्द्रियाणि सुखमेति च किं ममार्थैः ॥१४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने विद्याधरप्रश्नो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

मैंने भुशुण्डजी से पूछा था कि हे प्रिय ! यह बताओ कि इस संसार में मुग्धबुद्धि तथा आत्मज्ञानशून्य दीर्घजीवी तुम किसे स्मरण करते हो ? मेरे पूछने पर उन्होंने यह कहा ॥ ६ ॥

भुशुण्डजी ने कहा—बहुत दिन पहले एक विद्याधर लोकालोकान्तर पर्वत की चोटीपर रहता था । वह अजित इन्द्रियों से अत्यन्त खेद को प्राप्त अतएव विश्रान्तिरस से हीन, आत्मज्ञानशून्य, विचारवान् तथा आयुर्वृद्धि के हेतुभूत सदाचार से सम्पन्न था अर्थात् इन्द्रियों के अधीन जीवनयापन करता था ॥ ७ ॥

अनेक प्रकार से तप, यम और नियम से परिपूर्ण आयु हो पूर्व काल में वह चार कल्पों तक स्थित रहा ॥ ८ ॥

जैसे बादल के उदय से विदूरभूमि में वैदूर्यमणि होता है वैसे ही अनन्तर चौथे कल्प के अन्त में चिरकाल तक तप, नियम आदि के अनुष्ठान से उसको ऐसे विवेक उदित हुआ ॥ ९ ॥

पुनः जन्म, पुनः मृत्यु तथा पुनः वृद्धावस्था न हो, इसका विचार करते हुए मैं लज्जित हो रहा हूँ । अतः जहाँ ये बिलकुल न हों, ऐसी एक स्थिर कौन-सी वस्तु हो सकती है ॥ १० ॥

इस प्रकार विचार कर पांच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन बुद्धि तथा स्थूल देह इन अठारह अवयवों से युक्त अपनी पुरी को चिरकाल तक धारण करने से श्रान्त तथा संसार के रस से विरक्त वह महात्मा मेरे पास कुछ पूछने आया ॥ ११ ॥

मेरे समीप आकर बड़े आदर के साथ उसने नमस्कार किया । मैंने भी सत्कार से उसे बैठाया । अनन्तर प्रश्न का अवसर पाकर उसने यह अनिदिन्त वचन कहा ॥१२॥

[अपने खेद के हेतुभूत इन्द्रियादिकों के दोषों का विस्तार से आगे चलकर वर्णन करने की इच्छा कर रहे विद्याधर भूमिका बांध रहे हैं ।]

विद्याधर ने कहा—अपने विषयों में शीघ्रानुप्रवेशी होने के कारण अत्यन्त कोमल, प्रवेश के बाद अत्यन्त परितापी और अनन्तर उनका हिलाना-डुलाना अशक्य होने से पत्थर से भी अधिक दृढ़ और बलवान्, छेदन और भेदन में दक्ष अपने शरीर के अन्दर प्रविष्ट बाण आदि शस्त्र और इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥ १३ ॥

ये इन्द्रियाँ हृदय में रूढ़ हैं, तमोमय हैं, अन्धकार से भरे सघन जङ्गल के तुल्य हैं, काम आदि वानरों से व्याप्त हैं एवं प्राण, मन, देह और हृदयस्थ अशनायादि दुःखरूपी छः तरङ्गों से युक्त होती हुई भी दैवात् कहीं अङ्कुरित हुए शम-दमादि गुणरूपी जंगल की दाहक होने से ये विपत्प्रद तथा मलिन हैं । अतः इस तरह की इन्द्रियों को एवं उनके आश्रय मन को जीतकर प्राणी सुखी हो सकता है, सांसारिक इन भोगों से कदापि सुखी नहीं हो सकता । अतः मुझे विद्याधरों के भोगरूपी इन पदार्थों से कोई मतलब अब नहीं है । यही कारण है कि विरक्त जिज्ञासु होकर मैं आपको शरण में आया हूँ ॥ १४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में विद्याधर उपाख्यान में विद्याधर प्रश्न नामक कुसुमलता का पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

६

विद्याधर उवाच

यदुदारमनायासं क्षयातिशयवर्जितम् ।
पदं पावनमाद्यन्तरहितं तद्वदाऽऽशु मे ॥ १ ॥
एतावन्तमहं कालं सुप्त आसं जडात्मकः ।
इदानीं सम्प्रबुद्धोऽस्मि प्रसादादात्मनो मुने ! ॥ २ ॥
मनोमहामयोत्तप्तं क्षुब्धमज्ञानवृत्तिषु ।
मामुद्धर दुरन्तेहं मोहादहमिति स्थितात् ॥ ३ ॥
श्रीमत्यपि पतन्त्याशु शातनाः कातरादयः ।
गुणवत्युग्रपत्रेऽपि तुहिनानीव पङ्कजे ॥ ४ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च केवलं जीर्णजन्तवः ।
न धर्माय न मोक्षाय मशका इव पङ्कजे ॥ ५ ॥
भावैस्तैरेव तैरेव तुच्छालम्भविडम्बनैः ।
चिरेण परिखिन्नाः स्मो विप्रलम्भाः पुनः पुनः ॥ ६ ॥
नान्तोऽस्त्यस्य न च स्थैर्यावस्थाऽविश्रान्तमानसम् ।
भ्रमन्तो भोगभङ्गेषु मरुभूमिष्विवाध्वनः ॥ ७ ॥
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥ ८ ॥
मानावमानपरया दुरहङ्कारकान्तया ।
न रमे वामया तात ! हतविद्याधरश्रिया ॥ ९ ॥

६

विद्याधर ने कहा—आप मुझे उस परमपावन पद का शीघ्र उपदेश दें, जो पूर्णरूप से कृपणता का निवर्तक, दुःखरहित तथा निरतिशयानन्दरूप होने से अति उदार है, आयासहीन तथा क्षय एवं अतिशय से शून्य है, आदि और अन्त से रहित है अर्थात् हे । भगवन्, मैं त्रिविधताप से अत्यन्त सन्तप्त हूँ । अतएव सागर में डूबने की इच्छा कर रहे सन्तप्त सिरवाले पुरुष की तरह अब मुझसे बिलम्ब सहा नहीं जाता ॥ १ ॥

हे मुने ! इतने कालतक जडात्मा बन मैं गाढ़ निद्रा में सोया हुआ था । अब मन की तीव्रतर वैराग्यरूपी प्रसन्नता से जाग गया हूँ ॥ २ ॥

मैं मन के महाभयङ्कर रोग काम से पीड़ित हूँ, अज्ञान की वृत्तियों से दुर्वासनाओं में क्षुब्ध हूँ, मेरे समस्त कर्म दुरुच्छेद्य हैं । अतः अनात्मा में आत्माभिमानाकार से स्थित मोह से मेरा शीघ्र उद्धार करें ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण विद्याओं तथा नानाविध सिद्धियों आदि श्रीसम्पत्तियों से सम्पन्न एवं अनेक प्रकार के गुणों से युक्त विद्याधरों में भी अजितेन्द्रिय होने के कारण आत्मज्ञान-शून्य होने से काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि दुःखशातनाएँ और कातर्य दोष ऐसे शीघ्र गिरते हैं, जैसे लक्ष्मी के आधार बिसतन्तुओं से युक्त उग्र पत्तोंवाले कमल के ऊपर गिरते हैं आशय यह है कि विद्याधर तो सम्पूर्ण विद्याओं के आश्रय होने से अपने विद्याबल से ही समस्त दुःखों को दूर करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि मणि-मन्त्र-रसायनादि की सिद्धियों तथा अणिमादि ऐश्वर्यों से वे युक्त रहते हैं, यह सुना जाता है, तो फिर श्रीसम्पन्न तुममें कामादि दुःख शातनाएँ तथा कातरता और कार्पण्यादि दोष क्यों आकर गिर पड़े ? जिससे कि श्रेष्ठ देवयोनि में उत्पन्न होने से अत्यन्त सबके मान्य होते हुए भी तुम आज निकृष्ट काक-योनि में पैदा हुए भी मेरी शरण में आये हो और मोह से अपने उद्धार का कारण मुझसे पूछ रहे हो ? ॥ ४ ॥

जीर्ण-शीर्ण जीव निरन्तर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं । विषयलोलुप वे जीव कमल में मच्छड़ों के समान न तो धर्म के लिए कोई यत्न करते हैं और न मोक्ष के लिए ही अर्थात् ज्ञान का अभाव रहनेपर धर्मानुष्ठान में अधिकार न होने से देवयोनियाँ मशकादि योनियों के तुल्य ही हैं, अतः अपने वैराग्य के कारणभूत सर्वत्र दोषदर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है ॥ ५ ॥

अत्यन्त तुच्छ सुख के लिए हजारों बार पहले उपभुक्त हुए शब्दादिविषयों से धोखे की टट्टीरूप विषय-इन्द्रिय सम्बन्ध द्वारा बार-बार ठगे गये हम बहुत दिनों से दुःखी हैं ॥ ६ ॥

कहीं एक जगह मन को स्थिर किये बिना मरुस्थल के समान क्षणभंगुर इन भोगों में भ्रमण कर रहे मेरे इस संसारपथ की न तो कहीं चरमसीमा है और न कहीं स्थिरता ही है ॥ ७ ॥

भोग की भूमियाँ आरम्भ में आपाततः रमणीय प्रतीत होती हैं, क्षण में ही विलीन हो जाती हैं, उनसे अनेक तरह के संसार उत्पन्न होते हैं, तत्काल ही उनमें विकार पैदा हो जाता है तथा उनका भीषण परिणाम होता है ॥ ८ ॥

हे तात ! मैं इस तुच्छ विद्याधर सम्पत्ति से सन्तुष्ट नहीं हो रहा हूँ, मैं इसके साथ रमण करना नहीं चाहता, क्योंकि मान और अपमान ही इसमें बड़ी वस्तुएँ हैं ।

दृष्टाश्चैत्ररथोद्यान कुसुमकोमलाः ।
कल्पवृक्षलतादत्तसमस्तविभवश्रियः ॥ १० ॥
विहृतं मेरुकुञ्जेषु विद्याधरपुरेषु च ।
विमानवरमालासु वातस्कन्धस्थलीषु च ॥ ११ ॥
विश्रान्तं सुरसेनासु कान्ताभुजलतासु च ।
हारिहारविलासासु लोकपालपुरीषु च ॥ १२ ॥
न किञ्चिदुचितं साधु सर्वमाधिविषोष्मणा ।
दग्धं भस्मायते तात ! विज्ञातमधुना मया ॥ १३ ॥
रूपालोकनलोलेन वनिताननगृध्नुना ।
सावभासेन दोषाय दुःखं नीतोऽस्मि चक्षुषा ॥ १४ ॥
इदं गुणावहं नेदमिति मुक्त्वा विकल्पनम् ।
रूपमात्रानुसारित्वादवस्तुन्यपि धावति ॥ १५ ॥

दुष्ट अहङ्कार से ग्रस्त जीवों के लिए ही यह अच्छी है और विवेकी पुरुषों के लिए सदा प्रतिकूल है ॥ ९ ॥

जहाँ कल्पवृक्ष-वल्ली द्वारा अनेक तरह की विभव-सम्पत्तियाँ प्रदान की जाती हैं, वैसी कुसुम के सदृश अत्यन्त कोमल मैंने चैत्ररथ की उद्यानभूमियाँ भी देख लीं, वहाँ के समस्त भोगों का उपभोग कर लिया। मेरु के कुञ्जों तथा विद्याधरों के नगरों में मैंने खूब विहार कर लिया। मैंने सर्वोत्तम अनेक जाति के विमानों एवं वायु के स्कन्धों की भूमियों में शीतल-मन्द सुगन्ध हवा में भी इच्छानुसार विहार कर लिया। देवताओं की सेनाओं में, सुन्दर स्त्रियों की भुजलताओं में तथा हारादि से विभूषित कमनीय नायिकाओं के मनोहर विहार चमत्कारों से युक्त लोकपालों की नगरियों में चिरकाल तक विश्राम भी मैंने खूब किया। हे तात ! मैंने अब यह भली-भांति जान लिया कि इनमें कोई भी पदार्थ सुख-दायक नहीं है। मानसिक दुःखरूपी विष की उष्णता से सबके सब दग्ध हो भस्म हुए-जैसे मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥ १०-१३ ॥

रूप देखने में अति चपल, स्त्रियों के मुख देखने की स्पृहा रखनेवाले तथा बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशयुक्त नेत्र ने अपने विषयों के सम्बन्ध द्वारा मन को दूषित करने के लिए मुझे भारी दुःख में ढकेल दिया है ॥ १४ ॥

स्त्री के शरीर में यह वस्त्र, आभूषण, सिन्दूर आदि ही सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, रक्त-मांस आदि नहीं, इस तरह के विवेचन के बिना ही एकमात्र रूप के पीछे-पीछे दौड़ने का स्वभाव होने के कारण नेत्र अवस्तु में भी दौड़ जाता है ॥ १५ ॥

तावदायाति विरतिं न वशं यावदापदाम् ।
नानाबन्धपरं चेतः परानर्थेहितोन्मुखम् ॥ १६ ॥
घ्राणमेतदनर्थाय धावच्चैवाभितः स्फुटम् ।
न निवारयितुं तात ! शक्नोमीह हयं यथा ॥ १७ ॥
गन्धोदकप्रणालेन मुखश्वासानुपातिना ।
वैरिणेवातिदोषेण घ्राणेनास्मि नियोजितः ॥ १८ ॥
चिरं रसनया चाहमनया नयहीनया ।
गजगोमायुगुप्तेषु दुःखाद्रिष्वलमाहतः ॥ १९ ॥
निरोद्धुं न च शक्नोमि स्पर्शलम्पटतां त्वचः ।
ग्रीष्मकालसमिद्धस्य तापमंशुमतो यथा ॥ २० ॥
शुभशब्दरसार्थिन्यो मुने ! श्रवणशक्तयः ।
मां योजयन्ति विषमे तृणेच्छा हरिणं यथा ॥ २१ ॥

विषयों में आसक्ति रखने से दूषित हुआ रागान्ध यह चित्त, प्रदीप के रूप से मोहित प्रेमी पतङ्ग की तरह सर्वोत्कृष्ट मरण आदि अनर्थ के लिए अपने अभिलषित दुर्व्यसनों की ओर झुककर जबतक नानाविध, बन्धन, नरक आदि आपत्तियों के वश में पड़ा रहता है तबतक इसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती ॥ १६ ॥

हे तात ! इस संसार में नानाविध अनर्थों के लिए चारों ओर खूब दौड़ रहे इस घ्राण को अश्व की तरह रोकने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥ १७ ॥

श्लेष्मादि दुर्गन्ध भरे जल बहा रहे अपने बिल में मुखश्वासानुसारी इस घ्राणेन्द्रिय ने मुझे वैसे ही नियुक्त कर दिया है जैसे अतिशय दोषयुक्त कोई प्रबल शत्रु जबर्दस्ती पकड़कर किसी पुरुष को दुर्गन्धपूर्ण जल बहाने वाले नगर के बड़े पनाले में 'तुम इसी में बराबर घूमते रहो' ऐसा आदेश देकर नियुक्त कर देता है ॥ १८ ॥

तथा बहुत दिनों से भक्ष्याभक्ष्य के विचार से हीन इस जिह्वा ने पशुओं में सबसे बलवान् हाथियों और सबसे बुद्धिमान् सियारों से सुरक्षित दुःखों के पहाड़ों पर मुझे पर्याप्तरूप से घायल कर रक्खा है ॥ १९ ॥

जैसे ग्रीष्मकाल के प्रदीप्त सूर्य के ताप को नहीं रोक सकता है वैसे ही त्वगिन्द्रिय की स्पर्शलम्पटता को मैं ऐसे रोक नहीं सकता हूँ ॥ २० ॥

हे मुने ! जैसे कोमल तृण खाने की इच्छाएँ हरिण को तृणों से ढके भयङ्कर कूप में ढकेल देती हैं वैसे ही सुन्दर शब्द का आस्वाद लेने में अभिलाषिणी श्रवण की शक्तियाँ मुझे विषम परिस्थिति में ढकेल देती हैं ॥ २१ ॥

प्रणताः प्रियकारिण्यः प्रह्वभृत्यसमीरिताः ।
वाद्यगेयरवोन्मिश्राः शुभशब्दश्रियः श्रुताः ॥ २२ ॥
श्रियः स्त्रियो दिशश्चैव तटाश्चाम्भोधिभूभृताम् ।
दृष्टा विभवहारिण्यः प्रक्वणन्मणिभूषणाः ॥ २३ ॥
चिरमास्वादिताः स्वादुचमत्कारमनोरमाः ।
प्रह्वकान्ताजनानीताः षड्रसा गुणशालिनः ॥ २४ ॥
कौशेयकामिनीहारकुसुमास्तरणानिलाः ।
निर्विघ्नमभितः स्पृष्टा भृशमाभोगभूमिषु ॥ २५ ॥
वधूमुखौषधीपुष्पसमालम्भनभूमयः ।
अनुभूता मुने ! गन्धा मन्दानिलसमीरिताः ॥ २६ ॥
श्रुतं स्पृष्टं तथा दृष्टं भुक्तं घ्रातं पुनः पुनः ।

आनन्दजनक, नम्र भृत्यजनों से प्रेरित, प्रणतप्राय वाद्य और गाने के शब्दों से मिली-जुली अनेक शुभ शब्दों की शोभाएँ सुन चुका हूँ ॥ २२ ॥

अपने विषयों से सबका मन हरनेवाली तथा मनोहर शब्दों वाले मणियों के आभूषणों से युक्त श्री, स्त्री, दिशाएँ और समुद्रों एवं पर्वतों के मैंने अनेक तट देख लिये हैं ॥ २३ ॥

विनीत स्त्रियों द्वारा लाये गये, मधुर आदि रसों के अनेक चमत्कारों से मनोरम, यथायोग्य मिलने तथा पकाने आदि से चातुर्य के कारण गुणयुक्त सम्पादित षड्रसों का मैंने चिरकाल तक खूब स्वाद चखा है ॥ २४ ॥

रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कान्ताओं, अनेक तरह के हारों, पुष्पशय्याओं तथा शीतल-मन्द-सुगन्ध युक्त पवन का भी मैंने भोगभूमियों में सर्वत्र निर्विघ्नतापूर्वक खूब स्पर्श किया है ॥ २५ ॥

हे मुने ! सुन्दर स्त्रियों के मुख, चन्दन, खस, अगुरु आदि औषधियाँ अनेक तरह के फूल तथा ढेर कपूर, कस्तूरी आदि के मिश्रण मन्द-मन्द बह रही वायु से प्रेरित गन्धों का मैं बहुत अनुभव कर चुका हूँ ॥ २६ ॥

मैंने शब्दादि विषयों का खूब श्रवण, स्पर्श और अवलोकन किया है नानाविध रसों का खूब आस्वाद लिया है तरह-तरह के फूलों को खूब सूँघा है। पुनः पुनः इन विषयों का उपभोग करने से ये सबके सब विषय मेरे लिए सूखे काठ की तरह बिलकुल नीरस हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में ये विषय तो मेरे लिए एक तरह से वमन को खाने के सदृश बन गये हैं, अतः मुझसे शीघ्र कहिये, अब मैं किसका सेवन करूँ ॥ २७ ॥

तृण, गुल्म आदि से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त के परिणाम

संशुष्कविरसं भूयः किं भजामि वदाऽऽशु मे ॥ २७ ॥
भुक्त्वा वर्षसहस्राणि दुर्भोगपटलीमिमाम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं न तृप्तिरुपजायते ॥ २८ ॥
साम्राज्यं सुचिरं कृत्वा तथा भुक्त्वा वधूगणम् ।
भङ्क्त्वा परबलान्युच्चैः किमपूर्वमवाप्यते ॥ २९ ॥
येषां विनाशनं नासीद्यैर्भुक्तं भुवनत्रयम् ।
तेऽपि तेऽप्यचिरेणैव समे भस्मपदं गताः ॥ ३० ॥
प्राप्तेन येन नो भूयः प्राप्तव्यमवशिष्यते ।
तत्प्राप्तौ यत्नमातिष्ठेत्कष्टयाऽपि हि चेष्टया ॥ ३१ ॥
येन कान्ताश्चिरं भुक्ता भोगास्तस्येह जन्तुभिः ।
दृष्टो न कस्यचिन्मूर्ध्नि तरुर्व्योमप्लवश्च वा ॥ ३२ ॥

में दुःखदायक विषयों का मैंने हजारों वर्षों तक अच्छी तरह भोग किया है लेकिन फिर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २८ ॥

चिर कालतक निष्कपट राज्य कर अनेक सुन्दरियों का भोग कर तथा शत्रुओं के सैन्य को खूब चूर्ण-चूर्ण कर भी मनुष्य अपूर्व कौन-सा पदार्थ पा जाता है ? मेरी समझ में तो उसे नई कोई चीज नहीं मिलती है ॥ २९ ॥

जिन हिरण्यकशिपु आदि राजाओं ने तीनों लोक का चिरकाल तक लगातार मनमाना भोग किया तथा जिनके विनाश का साधन इस संसार में कुछ नहीं था, वे सब भी शीघ्र ही भस्मपद को प्राप्त हो नामावशेष हो गये ॥ ३० ॥

जिसके प्राप्त हो जाने से फिर कोई दूसरा प्राप्त करने योग्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता है, कष्टपूर्ण चेष्टा से भी उसकी प्राप्ति मनुष्य को सदा प्रयत्नशील बनना चाहिये ॥ ३१ ॥

जिन पुरुषों ने अत्यन्त रमणीय भोगों का चिरकाल तक इस संसार में खूब भोग किया, उन सब पुरुषों के मध्य में किसी के भी मस्तक के ऊपर पैदा हुआ कल्पतरु वृक्ष आजतक किसी से नहीं देखा गया, जिससे कि वह पुरुष उस कल्पतरु की छाया में सदैव पूर्णकाम होकर विश्राम करता रहे और न उसके पैर में आकाश में उड़ने वाला विमान आदि ही कोई पैदा हुआ देखा गया, जिससे कि वह सदा ही सर्वत्र विहार करता रहे अर्थात् चिरकाल तक नानाविध बड़े भोगों का भोग करने वाले भी पुरुषों में भोगकाल समाप्त हो जानेपर जिन लोगों ने भोग नहीं किया है ऐसे अन्य पुरुषों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं दीखती ॥ ३२ ॥

चिरमासु दुरन्तासु विषयारण्यराजिषु ।
इन्द्रियैर्विप्रलब्धोऽस्मि धूर्तबालैरिवार्भकः ॥ ३३ ॥
अद्य त्वेते परिज्ञाता मया स्वविषयारयः ।
कष्टा इन्द्रियनामानो वञ्चयित्वा तु मां पुनः ॥ ३४ ॥
संसारजङ्गले शून्ये दग्धं नरमृगं शठाः ।
आश्वास्याऽऽश्वास्य निघ्नन्ति विषयेन्द्रियलुब्धकाः ।३५।
विषमाशीविषैरेभिर्विषयेन्द्रियपन्नगैः ।
ये न दग्धा न दृष्टास्ते द्वित्रा एव जगत्यपि ॥ ३६ ॥
भोगभीमेभवलितां तृष्णातरलवागुराम् ।
लोभोग्रकरवालाढ्यां कोपकुन्तकुलाङ्किताम् ॥ ३७ ॥
द्वन्द्वजालरथव्याप्तामहङ्कारानुपालिताम् ।
चेष्टातुरङ्गमाकीर्णां कामकोलाहलाकुलाम् ॥ ३८ ॥
शरीरसीमान्तगतां दुरिन्द्रियपताकिनीम् ।
ये जेतुमुत्थितास्तात ! त एवेह हि सद्भटाः ॥ ३९ ॥

जैसे धूर्त बड़े-बड़े लड़के सुशील छोटे बच्चे को ठग लेते हैं वैसे ही दुःख से त्याज्य होनेवाली इन विषयरूपी महाजंगल की पङ्क्तियों में बहुत दिन पहले ही इन इन्द्रियों ने मुझे ठग लिया है ॥ ३३ ॥

शब्दादि विषयरूप भूत ही मन को बाहर खींचकर अपने भोगों के लिए श्रोत्र आदि भाव से स्थित हैं। इन कष्टदायक इन्द्रियनामवाले अपने विषयरूपी शत्रुओं को आज मैंने अच्छी तरह पहचान लिया। ये विषय और इन्द्रियरूपी शठ व्याधशून्य संसाररूपी जंगल में सन्तप्त नररूपी मुझ मृग को धोखे से फँसाकर पुनः-पुनः आश्वासन दे देकर मार रहे हैं ॥ ३४, ३५ ॥

जिनकी तालु के अन्दर भयङ्कर विष भरा रहता है इन विषयों और इन्द्रियरूपी सांपों से जो नहीं डसे गये हों, ऐसे दो-तीन मनुष्य भी आजतक इस संसार में मुझे नहीं दीख पड़े ॥ ३६ ॥

[इन्हें अवश्य जीतना चाहिये, यह दिखलाने के लिए इन्द्रियों का ही शत्रु की सेनारूप से वर्णन करते हैं।]

हे तात ! इस दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना को जीतने के लिए कमर कसकर खड़े ही इस संसार में सर्वोत्कृष्ट योद्धा हैं। यह दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना भोगरूपी अहङ्कर हाथियों से वलित है, तृष्णारूपी चञ्चल वागुरा से युक्त है, लोभ-रूपी उग्र तलवारों से पूर्ण है, कोपरूपी बरछियों से अङ्कित है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसमूहरूपी रथों से व्याप्त है. अहङ्काररूपी सेनापति से सुरक्षित है, चेष्टारूपी घोड़ों से यह भरी है, कामरूपी कोलाहलों से युक्त है और यह शरीररूपी नगर के सीमान्त को चारो ओर से आक्रान्त कर स्थित है ॥ ३७-३९ ॥

सुसाध्यः करटोद्भेदो मत्तैरावणदन्तिनः ।
नोत्पथप्रतिपन्नानां स्वेन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥ ४० ॥
पौरुषस्य महत्त्वस्य सत्यस्य महतः श्रियः ।
इन्द्रियाक्रमणं साधो ! सीमान्तो महतामपि ॥ ४१ ॥
तावदुत्तमतामेति पुमानपि दिवौकसाम् ।
कृपणैरिन्द्रियैर्यावत्तृणवन्नापकृष्यते ॥ ४२ ॥
जितेन्द्रिया महासत्वा ये त एव नरा भुवि ।
शेषानहमिमान्मन्ये मांसयन्त्रगणांश्चलान् ॥ ४३ ॥
मनःसेनापतेः सेनामिमामिन्द्रियपञ्चकम् ।
जेतुं चेदस्ति मे यत्नो जयामि तदलं मुने ! ॥ ४४ ॥
इन्द्रियोत्तमरोगाणां भोगाशावर्जनादृते ।
नौषधानि न तीर्थानि न च मन्त्राश्च शान्तये ॥ ४५ ॥
नीतोऽस्मि परमं खेदमभिधावद्भिरिन्द्रियैः ।
एक एव महारण्ये तस्करैः पथिको यथा ॥ ४६ ॥

मतवाले ऐरावत का मस्तक फाड़ देना बिलकुल सरल है, किन्तु, कुमार्ग में प्रवृत्त अपनी इन्द्रियों को रोक रखना सरल नहीं है ॥ ४० ॥

हे साधो ! तत्त्वज्ञानियों की भी अपने पौरुष, महत्त्व महाधैर्य और विश्रान्ति सम्पत्ति की अवधि इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करना ही है ॥ ४१ ॥

मनुष्य तभी तक देवताओं की भी मान्यता को प्राप्त करता है जबतक कि तृण की तरह अपनी कृपण इन्द्रियों से विषयों की ओर खींच नहीं लिया जाता ॥ ४२ ॥

जितेन्द्रिय और महासत्त्वसम्पन्न मनुष्य ही इस पृथिवी के ऊपर मनुष्य हैं। शेष इन पुरुषों को तो मैं चलते-फिरते मांस के अनेक यन्त्र समझता हूँ ॥ ४३ ॥

हे मुने ! मनरूपी सेनापति की इन्द्रियपञ्चकरूपी इस सेना को जीतने का यदि कोई उपाय हो, तो कृपाकर बताये, जिससे मैं भली-भाँति इसे जीत सकूँ ॥ ४४ ॥

भोगों की आशा के त्याग के सिवा इन इन्द्रियरूपी भयङ्कर रोगों की शान्ति के लिए न तो कोई औषधियाँ हैं, न कोई तीर्थ हैं और न कोई मन्त्र ही दीखते हैं ॥४५॥

जैसे महाभयङ्कर जङ्गल में अकेले जा रहे पथिक को चोर खेद में पहुँचा देते हैं वैसे ही विषयों की ओर दौड़ रहे इन इन्द्रियों ने मुझे परम खेद में पहुँचा दिया है ॥ ४६ ॥

पङ्कवन्त्यप्रसन्नानि महादौर्भाग्यवन्ति च ।
गन्धिशैवलतुच्छानि पल्वलानीन्द्रियाणि च ॥ ४७ ॥
दुरतिक्रमणीयानि नीहारगहनानि च ।
जनितातङ्कजालानि जङ्गलानीन्द्रियाणि च ॥ ४८ ॥
पङ्कजानि सरन्ध्राणि सुदुर्लक्ष्यगुणानि च ।
ग्रन्थिमन्ति जडाङ्गानि मृणालानीन्द्रियाणि च ॥ ४९ ॥
रूक्षाणि रत्नलुब्धानि कल्लोलवलितानि च ।
दुर्ग्रहग्राहघोराणि क्षाराम्बूनीन्द्रियाणि च ॥ ५० ॥
बान्धवोद्वेगदायीनि देहान्तरकराणि च ।
करुणाक्रन्दकारीणि मरणानीन्द्रियाणि च ॥ ५१ ॥
अविवेकिष्वमित्राणि मित्राणि च विवेकिषु ।
गहनानन्तशून्यानि काननानीन्द्रियाणि च ॥ ५२ ॥

कीचड़ों से पूर्ण, मलिन, महादौर्भाग्ययुक्त, दुर्गन्ध सहित शैवलों तथा तत्तुल्य गन्दे पदार्थों से कुत्सित ये ये छोटी-छोटी तलैयाँ और इन्द्रियाँ एक-सी हैं ॥ ४७ ॥

दुरतिक्रमणीय जाडया और हिमों से गहन तथा अनेक तरह का आतङ्क पैदा करने वाले ये जङ्गल और इन्द्रिय समुदाय एक से हैं ॥ ४८ ॥

पङ्क से उत्पन्न तथा पङ्क के उत्पादक, छिद्रयुक्त, अत्यन्त दुर्लक्ष्य गुण वासना और तन्तु वाले गाँठों से समन्वित और जड़ अङ्गोंवाले ये मृणाल और इन्द्रिय समुदाय तुल्य हैं ॥ ४९ ॥

रूक्ष, रत्नलुब्ध, तरङ्गों से बलित और दुर्ग्रहग्राहों से भयङ्कर, लवणसागर के जल और ये इन्द्रिय समुदाय एक-से हैं। आशय यह है कि सुख स्पर्शवाला न होने के कारण लवणसागर का जल रूक्ष है तथा निष्ठुर होने के कारण ये इन्द्रियाँ भी रूक्ष हैं। रत्नों के लिए लोभी ये इन्द्रियाँ हैं तथा रत्नों से युक्त लवणसागर के जल हैं। काम, क्रोध आदि छः तरङ्गों से युक्त ये इन्द्रियाँ हैं तथा अपने तरङ्गों से युक्त लवणसागर के जल हैं। जिन्हें पकड़ लेना सहज नहीं है, ऐसे अनेक ग्राहों से भयङ्कर तो लवणसागार के जल हैं तथा दुराग्रहरूपी ग्राहों से भयङ्कर ये इन्द्रियाँ हैं ॥ ५० ॥

बान्धवों को उद्वेग पहुँचाने वाले, अन्य शरीर धारण कराने वाले और करुणा से आक्रन्दन कराने वाले ये मरण और इन्द्रिय समुदाय समान हैं ॥ ५१ ॥

अविवेकियों के शत्रु और विवेकियों के मित्र, गहन, निरवधि तथा जनविश्रान्ति शून्य ये कानन और इन्द्रिय गण तुल्य हैं ॥ ५२ ॥

घनास्फोटान्यसाराणि मलिनानि जडानि च ।
विद्युत्प्रकाशान्येतानि भीमाभ्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५३ ॥
क्षुद्रप्राणिगृहीतानि वर्जितानि कृतात्मभिः ।
रजस्तमोभिभूतानि स्वेन्द्रियाण्यवटानि च ॥ ५४ ॥
पातनैकान्तदक्षाणि दोषाशीविषवन्ति च ।
रूक्षकण्टकलक्षाणि श्वभ्राग्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५५ ॥
आत्मम्भरीण्यनार्याणि साहसैकरतानि च ।
अन्धकारविहारीणि रक्षांसि स्वेन्द्रियाणि च ॥ ५६ ॥
अन्तःशून्यान्यसाराणि वक्राणि ग्रन्थिमन्ति च ।
दहनैकार्थयोग्यानि दुर्दारूणीन्द्रियाणि च ॥ ५७ ॥
घनमोहप्रबन्धीनि दुष्कूपगहनानि च ।
महावरकतुच्छानि कुपुराणीन्द्रियाणि च ॥ ५८ ॥

घन आस्फोट वाले अर्थात् मेघों के समान जिनसे भुजाओं का स्फालन तथा गर्जनशब्द होता है, ऐसी तो ये इन्द्रियाँ हैं और भयङ्कर गर्जन करने वाले हैं मेघ, असार, मलिन, जड़ और विद्युत् प्रकाशवाले ये भयङ्कर मेघ और इन्द्रिय समुदाय तुल्य हैं ॥ ५३ ॥

क्षुद्र प्राणियों से गृहीत, महात्माओं से वर्जित तथा रज और तम से अभिभूत अर्थात् बिजली के समान क्षण-भर के लिए सुख का प्रकाश करने वाली इन्द्रियाँ हैं तथा बिजली से जहाँ क्षणभर के लिए प्रकाश हो जाता है ऐसे तो ये हैं मेघ। अपनी ये इन्द्रियाँ और कुपथ समान हैं ॥ ५४ ॥

नीचे गिराने में अत्यन्त निपुण, दोषाशीविषवाले अर्थात् भुजाओं के समान लम्बे-लम्बे विषधरों वाले जीर्ण गड्ढों के मुख हैं तथा नानाविध दोषरूपी साँपों वाली ये इन्द्रियाँ हैं तथा रूखे लाखों कण्टकों से विषयरूपी लाखों रूक्ष काँटों से व्याप्त ये इन्द्रियाँ भी हैं। युक्त जीर्ण गड्ढों के मुख और ये इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥ ५५ ॥

हे महामुने, अपना पेट पालने में प्रवीण, अनार्य, एकमात्र साहस में निरत और अन्धकार में विहरणशील ये राक्षस और इन्द्रियाँ तुल्य ही हैं ॥ ५६ ॥

भीतर में खोखले, असार, वक्र, गांठयुक्त, एकमात्र जलाने में उपयोगी जीर्ण बांस आदि की लकड़ियाँ और इन्द्रियाँ एक समान हैं ॥ ५७ ॥

घनीभूत मोहादि के द्वारा चौर्य, कलह, द्यूत आदि दुर्व्यसनों में प्रबन्धनशील, दुष्टकूपों से गहन तथा महा अवकारों से अर्थात् ढेर के ढेर कतवारों से परिपूर्ण होने के कारण असज्जनों के नगर जैसे तुच्छ बने रहते हैं वैसे

अनन्तेषु पदार्थेषु कारणानि घटादिषु ।
संभ्रमाणि सपङ्कानि चक्रकाणीन्द्रियाणि च ॥ ५९ ॥
आपन्निमग्नमिममेवमकिंचनं त्वं
मामुद्धरोद्धरणशील दयोदयेन ।
ये नाम केचन जगत्सु जयन्ति सन्त-
स्तत्सङ्गमं परमशोकहरं वदन्ति ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने वैराग्यवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

ही वे इन्द्रियाँ भी विषय-वासनारूपी कतवारों (कूड़ा-करकटों) से परिपूर्ण होने के कारण अति तुच्छ बनी हैं। तुच्छ असज्जनों के नगर और ये इन्द्रियाँ समान हैं ॥५८॥

अनन्त घटादि पदार्थों में कारणभूत, भ्रमण और कीचड़ से युक्त ये कुम्हार के चाक और इन्द्रियाँ दोनों समान हैं ॥ ५९ ॥

हे आपत्ति से उबारने वाले भगवन्, इस तरह इन्द्रियों के कारण आपत्ति के सागर में डूबे हुए इस मुझ अकिञ्चन शरणागत का आप दया करके उपदेश से उद्धार करें, क्योंकि इस संसार में आपके जैसे जो कोई दयावान् बड़े तत्त्वज्ञानी रहते हैं उनकी शरणागति परमशोकनाशक होती है, ऐसा सभी शास्त्र तथा सभी लोग बतलाते हैं ॥ ६० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में विद्याधर-उपाख्यान में वैराग्यवर्णन नामक कुसुमलता का छठाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

७

भुशुण्ड उवाच

ततस्तस्य मया ब्रह्मंस्तच्छ्रुत्वा पावनं वचः ।
इदमुक्तं यथापृष्टं सुस्पष्टपदया गिरा ॥ १ ॥
साधु विद्याधराधीश ! दिष्ट्या बुद्धोऽसि भूतये ।
भवान्धकूपकुहराच्चिरेणोत्थानमिच्छसि ॥ २ ॥
पावनीयं तव मती राजते घनरूपिणी ।
विवेकेनानलेनेव कनकद्रवसन्ततिः ॥ ३ ॥
उपदेशगिरामर्थमादत्ते हारि हेलया ।
मुकुरे निर्मले द्रव्यमयत्नेनैव बिम्बति ॥ ४ ॥
यदिदं वच्मि तत्सर्वमोमित्यादातुमर्हसि ।
अस्माभिश्चिरमन्विष्टं नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ ५ ॥
यत्किञ्चित्स्वदतेऽन्तस्ते बुध्यस्वाबोधमुत्सृजन् ।
नासि त्वं चिरमप्यन्तः प्रेक्षितोऽपि न लभ्यसे ॥ ६ ॥

७

भुशुण्ड ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अनन्तर विद्याधर के उस पवित्र वचन को सुनकर प्रश्न के अनुसार मैंने सुस्पष्ट पदों से युक्त वाणी से यह उत्तर दिया ॥ १ ॥

हे विद्याधराधीश ! हर्ष का विषय है कि आज तुम कल्याण के लिए भाग्यवशात् जाग गये हो, चिरकाल के बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपकुहर से आज तुम निकलने की इच्छा कर रहे हो ॥ २ ॥

जैसे अग्नि से व्याप्त सुवर्णद्रव-सन्तति अत्यन्त सुन्दरता से युक्त होकर शोभने लगती है, वैसे ही विवेक से निविड़रूप को व्याप्त हुई तुम्हारी यह पवित्र बुद्धि किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य से शोभित हो रही है ॥ ३ ॥

अतः मुझे विश्वास है कि यह तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणी के अर्थ का बिना किसी प्रयत्न के अवश्य ही आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेगी, क्योंकि निर्मल दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब बिना यत्न के ही पड़ता है ॥ ४ ॥

मैं जो कुछ कहूँगा, उन सबका तुम 'हाँ' कह करके ग्रहण कर लेना, तुम ग्रहण करने में ही समर्थ हो। मैंने इस विषय में चिरकाल तक खूब अन्वेषण किया है, इसमें कुछ भी तुम विचार मत करो ॥ ५ ॥

जो कुछ अहङ्कार आदि तुम्हारे हृदय में दृश्यरूप से प्रकाशित हो रहा है वह सब तुम नहीं हो। 'दृश्यों में ही कोई आत्मा है उसी को ढूँढ़कर मुझे प्राप्त करना चाहिए' इस तरह अपने हृदय में विचार कर आत्मा का चिरकाल तक यदि तुम अन्वेषण करोगे, तो भी तुम आत्मा को प्राप्त नहीं करोगे, इसलिए दृश्यमात्रस्वरूप अज्ञान को छोड़कर तुम दृश्यप्रपञ्च के साक्षी आत्मा अपने को समझो अर्थात् सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च का विवेक हो जाने पर साक्षिस्वरूप शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, यही सम्पूर्ण वेदान्तों का रहस्य है ॥ ६ ॥

नाहं त्वमस्ति न जगदिति निश्चयिनस्तव ।
सर्वमस्ति शिवं तच्च न दुःखाय सुखाय ते ॥ ७ ॥
किमज्ञत्वाज्जगज्जातं जगतोऽथ किमज्ञता ।
विचार्यापीति नो विद्म एकत्वादलमेतयोः ॥ ८ ॥
मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वमवस्तुत्वात्सदप्यसत् ।
यच्चेदं भाति तद् ब्रह्म न किञ्चित्किञ्चिदेव वा ॥ ९ ॥
मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वं नास्ति त्वमथवास्ति च ।
प्रतिभासोऽपि नास्त्यत्र तदभावादतः शिवम् ॥ १० ॥
विश्वबीजमहन्त्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते ।

न मैं हूँ, न तुम हो और न तो यह सारा संसार ही है, यदि ऐसा तुम निश्चय कर लेते हो, तो बस यह समझ लो कि यह समस्त दृश्यप्रपञ्च शिवस्वरूप है और न यह तुम्हारे सुख के लिए है और न दुःख के लिए है । आशय यह है कि यह समझना अनुचित होगा कि द्रष्टा और दृश्यरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च का त्याग हो जाने पर शून्यतापत्ति आ जायगी, क्योंकि सुख-दुःख के वैषम्य के प्रयोजक कल्पित दोषांश की निवृत्ति से वास्तविक परम कल्याण स्वरूप ब्रह्मभाव से परिपूर्ण सभी पदार्थ अवस्थित रहते ही हैं ॥ ७ ॥

क्या सुषुप्ति में अहङ्कारादिभाव से घनीभूत प्रसिद्ध जो अज्ञान है, उसी से जाग्रत् और स्वप्नस्वरूप यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है अथवा पिघले हुए कठिन लाह के समान विलीन हुए जाग्रदादिरूप इस संसार से सुषुप्तिकाल का अज्ञान उत्पन्न हुआ है, इसका बहुत विचार करने पर भी को विनिगमक हेतु न होने से कार्यकारणभाव की व्यवस्था हम नहीं समझ रहे हैं । अतः काठिन्य और द्रवावस्था में घृत के एकत्व की तरह इन दोनों में एकत्व होने से सब कुछ एकमात्र अज्ञान-स्वरूप है, यही हमने अन्त में निश्चय किया है ॥ ८ ॥

मृगतृष्णा जल के समान यह सारा विश्व अवस्तुरूप होने के कारण सद्रूप से प्रतीत होने पर भी असद्रूप है । जो कुछ भी भासित हो रहा है वह सब ब्रह्मरूप ही है । अथवा यों कह सकते हैं कि यह सारा दृश्यप्रपञ्च कुछ भी नहीं है या कुछ है ही अर्थात् यह सारा जगत् ब्रह्म का विवर्त है, इस तरह इस जगत् में ब्रह्मविवर्तता का अवलोकन ही त्याग है । बाधित जगत् को तुच्छ समझने से तो कोई भी ब्रह्मस्वरूप सिद्ध नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानरूपतापत्ति की भावना करने पर तो सम्पूर्ण पदार्थ ही ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं ॥ ९ ॥

मृगतृष्णा जल के समान यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है अथवा कुछ है ही । प्रतिभास्य के अभाव से यहाँ प्रतिभास भी नहीं है तात्पर्य यह है कि जैसे घट का अभाव रहने पर प्रकाश के रहते हुए भी घट प्रकाश नहीं रहता, वैसे ही प्रतिभास्य का अभाव रहने पर प्रतिभास भी नहीं रह सकता । अतः एकमात्र शिवस्वरूप ही यह सारा विश्व स्थित है ॥ १० ॥

साद्रचब्ध्युर्वीनदीशादिजगज्जरठपादपः ॥ ११ ॥
अहन्त्वबीजादणुतो जायतेऽसौ जगद्द्रुमः ।
तस्येन्द्रियरसाढ्यानि मूलानि भुवनानि हि ॥ १२ ॥
तारकाजालकलिका ऋक्षौघः कोरकोत्करः ।
वासनागुच्छविसराः पूर्णचन्द्रः फलालयः ॥ १३ ॥
स्वर्गादयो बृहद्वर्गा महाविटपकोटराः ।
मेरुमन्दरसह्याद्रिगिरयः पत्रराजयः ॥ १४ ॥
सप्ताब्धयोऽग्रसुतयः पातालं मूलकोटरम् ।
युगानि घुणवृन्दानि पर्वाणि गुणपङ्क्तयः ॥ १५ ॥

हे विद्याधर ! इस अहङ्कार को तुम विश्व का बीज समझो । क्योंकि एकमात्र उस अहङ्कार से हो पर्वत, सागर, पृथ्वी, नदीश आदि के सहित यह जगद्रूपी पुराना वृक्ष उत्पन्न होता है अर्थात् इस अनन्तरूप जगत् का प्राति-स्विकरूप से निरास न हो सकने से उसके बीज के दाह से ही उसका निरास हो सकता है, यह कहने के लिए अहङ्कार का जगद्रूपी वृक्ष के बीजरूप से वर्णन किया है ॥ ११ ॥

सूक्ष्म अहङ्काररूपी बीज से वह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और इन्द्रियों के विषयों में आसक्तिरूपी रस से परिपूर्ण नीचे के भुवन उस वृक्ष के मूल हैं ॥ १२ ॥

अश्विनी आदि सत्ताईस तारे इसकी प्रधान कलियाँ हैं, अन्य तारों के समूह इसके अन्य कलियों के समूह हैं, प्राणियों की धर्मादिवासनाएँ इसके फूलों के गुच्छों के समूह हैं और पूर्णचन्द्र फल का गुच्छा है ॥ १३ ॥

महान् लोगों के स्वर्ग आदि लोकवर्ग इसके महान् शाखासमूहों के गर्भप्रदेश हैं । मेरु, मन्दर, सह्य आदि पर्वत इसकी पत्तों की पङ्क्तियाँ हैं ॥ १४ ॥

सातों समुद्र इसके चारों ओर के थाले हैं, पाताल इसका मूलकोटर है, सत्ययुग आदि चारों युग इसके घुण समूह हैं तथा प्रत्येक युग के वर्ष, ऋतु और मास आदि इस वृक्ष के पोर हैं ॥ १५ ॥

अज्ञानमुत्पत्तिमही नरा विहगकोटयः ।
उपलम्भो बृहत्स्तम्भो दवो निर्वाणनिर्वृतिः ॥ १६ ॥
रूपालोकमनस्कारा विविधामोदवृत्तयः ।
वनं विपुलमाकाशं शुक्तिजालं मुखत्वचः ॥ १७ ॥
विचित्रशाखा ऋतव उपशाखा दिशो दश ।
संविद्रसमहापूरो वातस्पन्दो निवर्तनः ॥ १८ ॥
चन्द्रार्करुचयो लोला मज्जनोन्मज्जनोन्मुखाः ।
रम्याः कुसुममञ्जर्यस्तिमिरं भ्रमरभ्रमः ॥ १९ ॥
पातालमाशागणमन्तरिक्ष-
मापूर्य तिष्ठत्यसदेव सद्वत् ।
तस्यानहन्ताग्निहतेहमर्थ-
बीजे पुनर्नास्ति सतोऽपि रोहः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने जगद्वृक्षबीजवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अज्ञान ही इसकी उत्पत्ति की भूमि हैं, अनेक जीव इसके करोड़ों पक्षी हैं, भ्रान्तिज्ञान ही इस वृक्ष का स्तम्भ है अर्थात् सम्पूर्ण शाखाओं के आधारभूत मध्यभाग है तथा तत्त्वबोध से प्रपञ्चनिवृत्तिरूपी मोक्ष ही इसे जलाने के लिए दावाग्नि है ॥ १६ ॥

इन्द्रियों से अर्थों की उपलब्धि अर्थात् विषयों का साक्षात्कार एवं मन से होने वाले सङ्कल्प और विकल्प आदि इस वृक्ष के अनेक तरह के सुगन्धप्रसार हैं । अव्याकृत आकाश इसका विपुल वन है तथा नेत्र, ओष्ठ आदि का विकास ही इसके शक्तिजाल जैसे फूलों का खिलना है ॥ १७ ॥

सब ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसों दिशाएँ उपशाखाएँ हैं, आत्मसंवित् इसके जीवन के लिए रस की धारा है और सूत्रात्मा ही इसका बात स्पन्द है ॥ १८ ॥

प्रतिदिन उदय और अस्त में तत्पर चन्द्र और सूर्य की चञ्चल किरणें ही इसकी रम्य कुसुममञ्जरियाँ है और सूर्य के साथ भ्रमण कर रहा अन्धकार ही भ्रमण कर रहे भ्रमर हैं ॥ १९ ॥

इस तरह का यह संसाररूपी वृक्ष मूल से जड़ से पाताल को, मध्य से सभी दिशाओं और अपने मस्तष्क से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करके वस्तुतः असद्रूप होने पर भी सद्रूप-सा स्थित है । उस अनहंभावरूपी अग्नि से उसका अहङ्काररूपी बीज भुन दिये जानेपर जबतक इस शरीर का पतन नहीं हो जाता तबतक जीवन्मुक्त भोग के लिए प्रतिभास के विद्यमान रहते हुए भी इसके संसाररूपी वृक्ष का जन्मादि के द्वारा पुनः प्ररोह नहीं हो सकता यानी फिर यह अङ्कुरित नहीं हो सकता ॥ २० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में विद्याधर-उपाख्यान में जगद्वृक्षबीजवर्णन नामक कुसुमलता का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

८

भुशुण्ड उवाच

विद्याधर ! धराधारो गिरिकन्दरमन्दिरः ।
दिगन्तराम्बराचारचारसञ्चारचञ्चुरः ॥ १ ॥
ईदृशोऽयं जगद्वृक्षो जायतेऽहन्त्वबीजतः ।
बीजे ज्ञानाग्निनिर्दग्धे नैव किञ्चन जायते ॥ २ ॥
प्रेक्ष्यमाणं च तन्नास्ति किलाहन्त्वं कदाचन ।
एतावदेव तज्ज्ञानमनेनैव प्रदह्यते ॥ ३ ॥

भुशुण्ड जी ने कहा—हे विद्याधर ! जिसका मूलभाग नीचे के सात लोक सहित यह पृथिवी है, जिसकी आलवालसहित वेदि लोकालोकान्तर पर्वतों की कन्दराएँ हैं और जो दसों दिशाओं और आकाश में तिरछे शाखाओं के विस्तार तथा ऊपर की ओर शाखाओं के प्रसार से एवं उन स्थानों में प्राणियों के घूमने से अति चञ्चल है, इस तरह का यह संसार रूपी वृक्ष अहङ्कार-रूपी बीज से उत्पन्न होता है । ज्ञान रूपी अग्नि से बीज के दग्ध हो जाने पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ॥ १, २ ॥

रत्न की परीक्षा की तरह तत्त्वदृष्टि से यह क्या है-इसका अच्छी तरह विचार करके 'यह केवल ब्रह्म ही है' वह निश्चय करने पर वह अहङ्कार कदापि कहीं नहीं रहता, बस यही वह ज्ञान है । इसी से अहङ्कार दग्ध होता है ॥ ३ ॥

अहन्त्वभावाच्चाहन्त्वमस्ति संसारबीजकम् ।
नाहन्त्वभावान्नाहन्त्वमस्तीतिज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
सर्गादावेव सर्गस्य किलास्याभावयोगतः ।
कुतोऽहन्त्वं कुतस्त्वन्त्वं कुतो द्वित्वैक्यविभ्रमः ॥ ५ ॥
समाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं यतन्ते ये स्वयत्नतः ।
सङ्कल्पत्यागमामूलं पदं प्राप्तौ जयन्ति ते ॥ ६ ॥
रन्धनाज्जयमाप्नोति स्वशास्त्रे सूपकृत्कृते ।
विवेकी स्वविवेकित्वं यतनादेव नान्यथा ॥ ७ ॥
चिच्चमत्कारमात्रं त्वं जगद्विद्धीह नेतरत् ।
नाशासु न बहिर्नान्तरेतत्क्वचन विद्यते ॥ ८ ॥

शरीर आदि में अहं भावना करने से संसार का बीज अहङ्कार रहता है और सर्वत्र अनहं भाव करने से वह नहीं रहता, यही सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ ४ ॥

वस्तुतः जब सृष्टि के प्रारम्भ में ही इस सृष्टि के अभाव का योग है तब भला कहां से अहन्ता, कहां से त्वन्ता हो सकता है। द्वित्व और एकत्व का भ्रम ! अर्थात् सत् या असत् से जिसकी उत्पत्ति की ही संभावना नहीं है उसकी भला स्थिति ही कहाँ से हो सकती है, वह तो बहुत दूर कहीं भगा दी गई है ॥ ५ ॥

आगे चल कर वर्णित होने वाले तथा पूर्व में वर्णित हो चुके मूल सहित सङ्कल्प का त्याग करने के लिए उसका उपाय क्रम बतलाने वाले गुरु के वाक्य सुन कर उस गुरु के द्वारा कहे गये क्रम से जो अपने प्रयत्न द्वारा स्वयं यत्न करते हैं वे तत्त्वज्ञान प्राप्ति के बाद सङ्कल्प रहित कैवल्य नामक परम पद को जीत लेते हैं ॥ ६ ॥

विवेकी पुरुष गुरु शास्त्रोक्त मार्ग से अपने प्रयत्न द्वारा ही वैसे ही कैवल्य पद को प्राप्त करता है, दूसरी रीति से नहीं जैसे पाचक अपने पाकशास्त्र का भली-भांति अभ्यास कर लेने पर उस पाकशास्त्र में वर्णित विधि से ही नाना प्रकार के भक्ष्य-भोज्य पदार्थों एवं नाना तरह के रसायनों का पाक बनाने से क्षुधा, तृष्णा, रोग, जरा आदि के ऊपर विजय प्राप्त करता है तथा बड़े-बड़े राजाओं के यहां सम्मान प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

इस संसार को तुम यहाँ एकमात्र चिति का चमत्कार ही समझो, उससे भिन्न कुछ नहीं। यह न तो दिशाओं में है, न बाहर है और न भीतर ही कहीं है अर्थात् यह सारा संसार स्वप्न एवं इन्द्रजाल आदि के सदृश अज्ञात चिति का चमत्कारमात्र है, इस चिति से बाहर कुछ भी नहीं है ॥ ८ ॥

सङ्कल्पोन्मेषमात्रेण जगच्चित्रं विलोक्यते ।
तदनुन्मेषविलयि चित्रकृच्चित्तचित्रवत् ॥ ९ ॥
मण्डपोऽस्ति महास्तम्भो मुक्तामणिविनिर्मितः ।
बहुयोजनलक्षाणि कान्तकाञ्चनचित्रितः ॥ १० ॥
मणिस्तम्भसहस्रेण वृतोऽग्रे प्रोतमेरुणा ।
इन्द्रायुधसहस्राढ्यकल्पसन्ध्याभ्रसुन्दरः ॥ ११ ॥
स्त्रीबालपुरुषादीनां वास्तव्यानामितस्ततः ।
क्रीडार्थं स्थापिता यत्र नानारचनयान्तरे ॥ १२ ॥
भूतबीजपरापूर्णास्तमोरिपुसघुङ्घुमाः ।
तमःप्रकाशचित्राख्या लोकान्तरसमुद्गकाः ॥ १३ ॥

जैसे चित्रकार के चित्त में चित्र दिखाई देता है वैसे ही सङ्कल्प के एकमात्र आविर्भाव से ही यह संसाररूपी चित्र दिखाई देता है और उसके उसके अभाव से इस तरह विलीन हो जाता है अर्थात् यह सारा प्रपञ्च चिति का एकमात्र चमत्कार ही है ॥ ९ ॥

हे विद्याधर, यह संसार मुक्ता और मणियों से विनिर्मित, बड़े-बड़े खम्भों से युक्त तथा सुन्दर सुवर्ण से चित्रित लाखों योजन में बहुत दूरतक विस्तृत सङ्कल्प कल्पित एक महामण्डप है अर्थात् यह नारा सङ्कल्पमात्र कल्पित है, इस कथन को दृढ़ बनाने के लिए संसार में सङ्कल्पद्यूतमण्डप के आकार का कल्पना करते हैं ॥ १० ॥

यह हजारों मणिमय खम्भों से घिरा है, जिसके अग्र-भाग में नीचे मुँह करके पिरोये गये सुमेरु की तरह गुग्गुल लगे हुए हैं। यही कारण है कि कहीं-कहीं हजारों इन्द्रधनुष से व्याप्त-जैसा तथा कहीं-कहीं प्रलयकालीन सन्ध्या के मेघों जैसा सुन्दर दीखता है ॥ ११ ॥

जिसके भीतर इधर-उधर निवास कर रहे स्त्री, बालक तथा पुरुषों की क्रीड़ा के लिए पाताल, स्वर्ग एवं अन्य लोकों के आकार की पेटारियाँ स्थापित की गई है, जो बीच-बीच में जहाँ-तहाँ नानाविध नदियों, पर्वतों, जंगलों, हाथियों, घोड़ों, देवताओं, पक्षियों तथा मनुष्यों आदि की तरह-तरह की रचनाओं से युक्त हैं, वे पेटारियाँ कहीं प्राणियों तथा उनके उपभोग की वस्तुओं से ठसाठस भरी हैं, कहीं अन्धकार के विघातक मणियों, प्रदीपों, सूर्य और चन्द्र आदिकों के द्वारा व्यवहार चलने से शब्दयुक्त हैं एवं कहीं अन्धकारों तथा कहीं प्रकाशों ये उनकी विचित्र तरह-तरह की संज्ञाएँ पडी हैं ॥ १२, १३ ॥

आमोदसुभगालोलजलदावलिपल्लवाः ।
लीलापद्माकरे स्त्रीणां विलूनाः कल्पपादपाः ॥ १४ ॥
बालनिःश्वासचलिताः कन्दुकानि कुलाचलाः ।
सन्ध्याम्बुदाः कर्णपूराश्चामराः शरदम्बुदाः ॥ १५ ॥
कल्पान्तकालजलदास्तालवृन्तपदं गताः ।
भूतलं द्यूतफलकं वितानं तारकाम्बरम् ॥ १६ ॥
भूतशारपरावर्ते द्यूतेऽक्षाः शशिभानवः ।
व्योमाजिरे जगद्भासपणे गृहनिवासिनाम् ॥ १७ ॥
इति सङ्कल्प एवान्तश्चिरभावनया यथा ।
अग्रस्थदृश्योपमया सत्यतामिव गच्छति ॥ १८ ॥
तथैवायं जगद्रूपः सङ्कल्पैः सुसमुत्थितः ।
चिच्चमत्कारमात्रात्म चित्रकृच्चित्तचित्रवत् ॥ १९ ॥

क्रीडालक्ष्मी के आकरभूत जिस मण्डप के भीतर स्त्रियों के शृङ्गार के लिए कर्णफूल आदि अलङ्कार प्रदान करने वाले, सुगन्ध से रमणीय, चञ्चल मेघपङ्क्तिरूपी पल्लवों से युक्त अनेक कल्पवृक्ष लगाये गये हैं ॥ १४ ॥

छोटे-छोटे बच्चों के निश्वास से भी उड़ जाने वाले जहाँ पर कुलपर्वत गेंद बनाये गये हैं, सन्ध्याकालीन मेघ जहांपर दिशारूपी वधुओं के कर्णफूल बनाये गये हैं और शरत्काल के मेघ ही जिनके हाथ में चँवर धरा दिये गये हैं ॥ १५ ॥

जिस मण्डप में कल्प के अन्तकाल के मेघों ने पंखों के स्थान दखल कर लिये हैं, जहाँ यह सम्पूर्णभूतल जुआ खेलने का एक मेज है, जहाँ तारों के सहित आकाश चाँदनी है ॥ १६ ॥

जिस मण्डप के भीतर आकाशरूप चौक में जहाँ संसार के आविर्भाव और तिरोभावप्रत्ययरूप दाँव लगाये जा रहे हैं और खेलने वाले ब्रह्मादि मण्डपस्वामियों के जिस जुए में चार प्रकार के जीवसमुदायोंरूपी शारिफलों का बार-बार जन्म-मरण आदि के द्वारा भ्रमण हो रहा है तथा सूर्य, चन्द्र आदि नवग्रह ही पाशे जहाँ हैं ॥ १७ ॥

इस तरह जैसे सङ्कल्प करने वाले का सङ्कल्प ही अन्तःकरण में चिर काल की भावना से सामने स्थित दृश्य के तुल्य एक तरह से सत्यता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही धाता के सङ्कल्पों से सुसमुत्थित यह जगद्रूपी मण्डप चिति का एकमात्र चमत्कारस्वरूप—चित्रकार के चित्त में बनाये गये चित्र के तुल्य है ॥ १८, १९ ॥

असत्यमेव स्फुरति सर्वमस्ति च नास्ति च ।
असदुत्थित एवायं कुतोऽपीह समुत्थितः ॥ २० ॥

जो कुछ यहाँ स्फुरित हो रहा है वह सब असत्यरूप ही है। वह प्रतिभास से सत्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थरूप से तो बिलकुल है ही नहीं है। यह असत् ही उत्पन्न हुआ है; न जाने कहाँ से माया के हाथी, घोड़े की तरह यहाँ उत्पन्न हो गया है ॥ २० ॥

हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः ।
चिच्चमत्कार एवायमविकल्पनसंक्षयः ॥ २१ ॥

जैसे सुवर्ण में कटक आदि है वैसे ही जिसने अपने उदर कोटर में संसार को धारण कर रखा है ऐसा यह चिति का चमत्कार ही सब कुछ है तथा सङ्कल्प-विकल्प न करने से ही इसका नाश होता है ॥ २१ ॥

अत्यन्तमेव स्वायत्तो यथेच्छसि तथा कुरु ।
यश्चान्नपानदानादावनादरमुपेयिवान् ।
तस्येदं पश्चिमं जन्म न स कर्म समुज्झति ॥ २२ ॥

इस तरह इस संसार की उत्पत्ति और नाश तत्त्वज्ञानियों की अपनी इच्छा के अत्यन्त ही अधीन है अर्थात् तत्त्वज्ञानियों के अपने ऐच्छिक विकल्पों से इसका आविर्भाव तथा अविकल्पों से तिरोभाव होना अत्यन्त ही अपने अधीन है, इसलिए हे विद्याधर, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। जो पुरुष अन्नपानादि ऐहिक भोगसामग्रियों में तथा दान, यज्ञ आदि पारलौकिक भोगसामग्रियों में फलों की अनभिसन्धियों को प्राप्त हो चुका है अर्थात् जो पुरुष इस लोक तथा परलोक के कर्मफलों की इच्छा से शून्य हो चुका है वह कर्मों का कभी त्याग नहीं करता अर्थात् फलप्राप्ति की इच्छा से शून्य होकर वह कर्म करते ही चलता है। हे विद्याधर, ऐसे उस पुरुष का यह अन्तिम जन्म समझो ॥ २२ ॥

प्राप्तो विवेकपदवीमसि पावनात्म-
न्पुण्यां पवित्रितजगत्त्रितयां द्वितीयाम् ।

हे शुद्धबुद्धे, अपने पतन के हेतुभूत अविवेक पद की अपेक्षा न करके तीनों जगत् को पवित्र करने वाली इस दूसरी पुण्यमय विवेकपदवी में तुम प्राप्त हो चुके हो, अतः इस मन से तुम फिर अधःपतन में नहीं गिर सकते हो, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। इसलिए तुम वाणी और मन की चेष्टा से शून्य निर्मल चिन्मात्रपद का अवलम्बन करके मन आदि इस दृश्यसमूह का परित्याग कर दो अर्थात्

नाधःपतिष्यसि पुनर्मनसाऽमुनेति जानामि मौनममलं पदमुत्सृज त्वम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने मायामण्डपवर्णनं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

विवेकज्ञानप्राप्ति से ही तुम्हें मुक्ति अवश्य मिल सकती है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ ॥ २३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में विद्याधर-उपाख्यान में मायामण्डपवर्णन नामक कुसुमलता का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

९

भुशुण्ड उवाच

अबुद्ध्यमानश्चेत्यादिचिद्रूपमपि चानघ ! ।
शान्तचिद्घन एवाऽऽस्व निर्मलाप्स्वन्तरंशुवत् ॥ १ ॥
अचेतनं चेतनान्तश्चेतनादेव विद्यते ।
स्वेऽसादृश्येऽपि सदृशं पयोराशौ यथाऽनलः ॥ २ ॥
सचेतनाचेतनयोर्हेतुश्चित्त्वात्तथैव चित् ।
विनाशोत्पादयोर्वह्निज्वालायाः पवनो यथा ॥ ३ ॥
नाहमस्तीति चिद्रूपं चिति विश्रान्तिरस्तु ते ।
ततो यथा यादृशेन भूयते तादृशो भव ॥ ४ ॥
चिद्रूपः सर्वभावानामन्तर्बहिरसि स्थितः ।
प्रसन्नाम्बुभरस्यान्तर्बहिश्चैव यथा पयः ॥ ५ ॥
नाहमस्तीति चिद्रूपं चितौ चेल्लग्नमङ्ग ते ।
न चान्यच्चेतितं ब्रह्मरूपं केनोपमीयते ॥ ६ ॥
ससुरासुरपातालभूविष्टपमिवोषितम् ।
नानाभावाजवीभावक्रियाकालमिवाऽऽकुलम् ॥ ७ ॥

हे निष्पाप विद्याधर ! विषयों तथा विषयों में रहने वाले क्रिया, गुण, दोष आदि के प्रकाशक चिद्रूप का तनिक भी स्मरण न करते हुए तुम निर्मल जल में प्रविष्ट सूर्य की किरणों की तरह सर्वविध तापशून्य प्रकाशमात्रावशेष होकर बैठें ॥ १ ॥

जाड्यदुःख परिणामित्वादिरूप अपना चिति का असादृश्य रहने पर भी तत्सदृश्य यह सारा दृश्यपप्रञ्च चेतना के कारण ही चेतन के भीतर, समुद्र में अग्नि के सदृश विद्यमान है, अन्यत्र नहीं । तात्पर्य यह है कि यदि अन्यत्र यह विद्यमान होता; तो उससे असम्बद्ध चेतना के द्वारा इसका प्रकाश कभी नहीं होता और ऐसा कोई पदार्थ है नहीं, जो अचेत्यमान सिद्ध हो सके तथा चेतना सक्रिया भी नहीं है, जिससे कि अन्यत्र विषयों में जाकर चैतन्य प्रदान कर सके । यदि वह चेतना सर्वगत मान ली जाती है, तब तो हे विद्याधर, हमारी प्रतिज्ञा सिद्ध हो चुकी, यह तुम समझ लो ॥ २ ॥

जैसे कि अग्निज्वाला के विनाश और उत्पत्ति का हेतु पवन है । वैसे ही चिति अपनी चेतना शक्ति से सचेतन और अचेतन पदार्थों की पूर्व के ही समान हेतु विवर्तोपादान ऐसे हैं, तात्पर्य यह है कि चिति का विवर्त ही चिति का चमत्कार है ॥ ३ ॥

अहम्पदार्थ कुछ नहीं है, यों अहङ्कार के आस्पद अंश का बाध करके प्रत्यक् चिद्रूप को शेष रखकर विकल्प के के हेतुओं के क्षय ही विकल्प निर्मुक्त पूर्ण चिति में तुम्हारी विश्रान्ति हो जाय । शेष बचे प्रारब्ध का क्षय होने पर तो जिस रूप से स्थिति रह सकते हो, उसी रूप से तुम स्थित रहो । अर्थात् इसमें 'अहम्' इस सचेतनांश के त्याग द्वारा ही सचेतन और अचेतन दोनों अंशों के त्याग की सिद्धि हो जाने से चिन्मात्र की अवस्थिति सिद्धि हो जाती है ॥ ४ ॥

समस्त पदार्थों के बाहर और भीतर चिद्रूप से तुम्हीं वैसे ही स्थित दीखते हो जैसे स्वच्छ जल समूह के बाहर और भीतर सब जगह जल ही जल दीखता रहता है । अर्थात् जल से पूर्ण दूध का जल नष्ट हो जाने पर भी जो रूप शेष रहता है उसी के समान तुम्हारा अनुपम ब्रह्मरूप ही शेषरूप से रहता है ॥ ५ ॥

हे विद्याधर, यह अहंपदार्थ बिलकुल नहीं है, यों अहङ्कार का त्याग कर यदि तुम्हारा चिद्रूप चिति में पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाय, तो तुम्हारे सिवा भला ऐसी प्रकाशित कौन-सी दूसरी वस्तु है, जिससे कि किसी अन्य के साथ ब्रह्मरूप तुम्हारी उपमा दी जाय ? ॥ ६ ॥

सुर और असुरों से परिव्याप्त पाताल, पृथिवी और स्वर्ग की तरह स्थित एवं प्रीति, हर्ष, क्रोध, युद्ध, जय, पराजय आदि अनेक भावों से तथा पलायन, अनुधावन

यथा रङ्गमयं कुड्ये जगन्मौनमिव स्थितम् ।
तथा चिच्चित्रकचितं खे कुड्ये चात्मसंस्थितम् ॥ ८ ॥
तेनैव भूयते भूरि यच्चित्तं कचितं स्वतः ।
अचेतनं चेतनं वा यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ९ ॥
चिच्चमत्कृतयो व्योम्नि स्फुरन्त्येता जगत्तया ।
अर्कांशुवदरोन्धिन्यः स्वच्छा विदितवेदिनाम् ॥ १० ॥
तिमिराक्रान्तदृष्टीनां यथा केशोण्ड्रकादि खे ।
स्फुरत्येवं जगद्रूपमनात्मन्येव तिष्ठताम् ॥ ११ ॥
एवं जगत्त्वमहमित्यवबोधरूप-
माभासमात्रमुदितं न च नोदितं च ।
अर्कांशुजालरचना नगराभमत्र
कुडयादि सत्यमिदमस्ति न खे लतेव ॥ १२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने चित्कचनयोगोपदेशो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

आदि अत्यन्त वेगपूर्वक दौड़ने आदि भावों से परिव्याप्त तत्-तत् अणुरूप क्रियाकाल से व्याकुल रङ्गमय चित्र में लिखित जगत्, भित्ति में लिखित मुनिशरीर की तरह जैसे व्यापारशून्य ही स्थित रहता है; वैसे ही मायाशबल चितिरूपी चित्रकार के द्वारा विरचित यह जगद्रूपी चित्र भी शुद्ध चिदाकाशरूपी भित्ति में विकारशून्य अद्वयात्मरूप से ही संस्थित है, जगद्भाव से संस्थित नहीं है ॥७-८॥

अचेतन या चेतन अर्थात् मिथ्या जगद्रूप या परमार्थ सद्ब्रह्मरूप स्वयं चिति में चित्रित सब चेतनरूप हो जाता है। ये दोनों तुम्हारे अधीन हैं, अब इनमें जो तुम चाहो सो करो इच्छा हो तो समाधि लगाओ या न तो उससे विरक्त हो जाओ ॥ ९ ॥

अज्ञानियों की अपेक्षा तत्त्वज्ञानियों में यही विशेष रहता है कि एक के विज्ञान से तत्त्वतः सबका विज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञानियों को, चिदाकाश में स्फुरित हो रही ये चिति की चमत्कृतियाँ कुछ भी वैसे ही बाधा नहीं पहुँचाती है। उन्हें तो बिलकुल स्वच्छ मालूम पड़ती हैं, किन्तु अज्ञानियों को तो अवश्य ही बाधा पहुँचाती हैं जैसे मरुस्थल में महानदी आदि के रूप से दिखाई दे रही सूर्य की किरणें मज्जन, मरण आदि का भय उत्पन्न हो जाने पर उनको तैर जाने का कोई समुचित उपाय न सूझने से मरुस्थल का ज्ञान न रखनेवालों को तट के इधर ही रोक रखती हैं, जिन महापुरुषों को मरुस्थल का असली ज्ञान हो चुका है उन्हें नहीं, उन्हें तो स्वच्छ भासती हैं ॥ १० ॥

संसार में ही अवस्थित रहने वाले अज्ञानी पुरुषों को यह जगद्रूप वैसे ही स्फुरित होता है जैसे ज्ञानी पुरुषों को नहीं वे तो सबको ब्रह्मरूप से ही देखते हैं जैसे तिमिर रोग से आक्रान्त नेत्रों वाले पुरुषों को आकाश में केशोण्ड्रक आदि स्फुरित होते हैं ॥ ११ ॥

हे विद्याधर ! यों 'तुम और मैं' इस प्रकार का अवबोधस्वरूप यह जगत् आभासमात्र पूर्ववर्णित चिति का एकमात्र चमत्कार ही है, अतः यह अज्ञानियों की दृष्टि से ही उत्पन्न हुआ है, ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं। एकमात्र सूर्य की किरणों से जिसकी रचना हुई है ऐसे गन्धर्वनगर के समान इस व्यवहारभूमि में कुड्य आदि जगत् है। जगद्रूप से तो यह सब आकाश में लता की तरह सत्य नहीं है अर्थात् यह जगत् चिति का निरोधक नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस तरह चिति की अपरिच्छिन्नता सिद्ध हो चुकी है ॥ १२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में विद्याधरोपाख्यान में चित्कचनयोगोपदेश नामक कुसुमलता का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

१०

भुशुण्ड उवाच

विद्धि त्वं चेतनादेव चेतनेतरचेतनम् । जलेऽग्निरिव चिज्जाड्ये नातो भिन्ने मनागपि ॥ १ ॥

१०

[ब्रह्म में जगत् की अपलाप सिद्ध करने के निमित्त उसकी जड़ता का खण्डन करने के लिए जड़रूप से अभिमत जगत् की चिद्रूपता का अनुभव कराते हैं— 'विद्धि' इत्यादि से ।]

चेतन से भिन्न के समान इस जगत् के स्फुरण को तुम चेतन से ही उत्पन्न समझो, क्योंकि चेतनता स्फुरण

तद्वेदनावेदनयोरभेदात्स्वस्थमास्यताम् ।
निर्यन्त्रमेव चित्रस्थज्ञप्रिवद्व्योममध्यवत् ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यशेषशक्तित्वादचित्त्वं विद्यते तथा ।
अक्षुब्धे विमले तोये भाविफेनलवो यथा ॥ ३ ॥
न कारणं विनोदेति जलात्फेनलवो यथा ।
न कारणं विनोदेति सर्गादि ब्रह्मणस्तथा ॥ ४ ॥
न च कारणमस्त्यत्र सर्गवृत्तावकारणे ।
नातः सञ्जायते किञ्चिज्जगदादिर्न नश्यति ॥ ५ ॥
अत्यन्तं कारणाभावान्न किञ्चिज्जायते जगत् ।
मरावम्बिवव नास्त्येव दृष्टमप्यग्रतो जगत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मानन्तमजं शान्तमतोऽस्तीदं न सर्गधीः ।
कारणाभावतस्तेन ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ॥ ७ ॥
अतः शिलोदराभोऽसि व्योमकोशोपमोऽपि च ।
ब्रह्मैकघनरूपत्वादजोऽनवयवोऽसि च ॥ ८ ॥
ज्ञोऽसि किञ्चिन्न किञ्चिद्वा निःशङ्कमलमास्यताम् ।
अचेतनाचिदाभासे शाम्यतामात्मनाऽऽत्मनि ॥ ९ ॥
नित्यानन्दतयाऽजस्य कारणं नास्ति कार्यकृत् ।
सर्गाद्यसंभवे तस्माद्यदस्ति तदजं शिवम् ॥ १० ॥
अजो येषां तु चिद्रूपो नास्ति मौर्ख्यविलासिनाम् ।
सर्गनाशे समुत्पन्ने किं तेषां प्रविचार्यते ॥ ११ ॥

रूप ही होती है अर्थात् यदि वह जगद्रूप स्फुरित होता है, तो फिर वह चेतन ही है, चेतन से इतर नहीं है वैसे ही यह जगत् भी चेतन से भिन्न कोई दूसरी वस्तु वैसे ही नहीं है जैसे जल में प्रतिबिम्बित अग्नि जल से भिन्न नहीं है। अतः चैतन्य और जाड्य ये दोनों भिन्न नहीं हैं जल की शीतलता से अलग प्रतिबिम्बभूत अग्नि की गरमी की तरह चैतन्य से तनिक भी अलग जाड्यनाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥ १ ॥

ज्ञान और अज्ञान में अभेद होने से परिच्छेदशून्य चित्रकार के चित्त में बने हुए चित्रस्थ उसके ज्ञान या गन्धर्वनगर के अधिष्ठान आकाश के मध्य के समान स्वस्थ स्थित रहो ॥ २ ॥

जिस तरह अक्षुब्ध निर्मल जल में भविष्यत् फेनलव स्थित रहता है वैसे ही सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म में अचित्त्व उसी तरह रहता है अर्थात् 'प्रलय काल में भी अचिद्रूप जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में ही स्थित रहता है'—ये जो श्रुति और स्मृति में वचन मिलते हैं वे मायाशबल के सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण असत्य पदार्थों में भी ब्रह्मसत्ता की आरोपदृष्टि से ही व्यवहृत हुए मिलते हैं, जैसे कि भविष्य में उत्पन्न होनेवाले जल के स्वल्प फेन में वर्तमानकाल में उपस्थित जल की सत्ता से सत्ताव्यवहार मिलता है ॥ ३ ॥

कारण के बिना ब्रह्म से सर्ग आदि भी वैसे ही उदित नहीं होते जैसे कारण के बिना जल में फेन का लेश उदित नहीं होता है अर्थात् वास्तविक दृष्टि से यों माया के असत्त्व होने के कारण निर्विकार अद्वितीय वस्तु में किसी तरह का क्षोभ और उसका हेतु न होने से जड़सृष्टि की उत्पत्ति की संभावना ही नहीं है ॥ ४ ॥

तथा इस सृष्टिरचना में अकारण ब्रह्म में कोई कारण नहीं है। जगत् आदि कुछ भी इससे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है ॥ ५ ॥

कारण का अत्यन्ताभाव होने से जगत् आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। मरुस्थल में जल की तरह सामने देखा गया भी यह जगत् सर्वथा नहीं ही है ॥ ६ ॥

अज, शान्त और अनन्त ब्रह्म ही सब कुछ है, अतः कारण का अभाव होने से यह निश्चित हो गया है कि सर्गबुद्धि भी नहीं है। यह जगत् आदि कुछ भी नहीं है, इसलिए यह सिद्ध है कि एकमात्र अखण्डित ब्रह्म ही सब कुछ है ॥ ७ ॥

इसलिए तुम शिला के उदर के समान तथा आकाश कोश के सदृश हो। ब्रह्मैकघन स्वरूप होने के कारण तुम अज और अवयवरहित भी हो ॥ ८ ॥

तुम ज्ञानरूप हो, किसी एक विशेषरूप का निश्चय न होने से सब में अनुगत सत्ता सामान्य स्वरूप होने के कारण तुम किञ्चिद्रूप तो अवश्य ही हो तथा विशेष का बाध होनेपर सत्तासामान्य की भी निवृत्ति हो जाने से एवं एकरूप का निश्चय हो जाने से किञ्चिद्रूप भी नहीं हो। बुद्धि तथा चिदाभास शून्य इस आतमा में अपने-आप शान्त हो जाओ ॥ ९ ॥

अज परमात्मा के नित्यानन्द स्वरूप होने के कारण कार्य सम्पादन करनेवाला कोई कारण नहीं है—क्रिया निमित्त कोई फल नहीं है। इसलिए सृष्टि आदि का संभव न होनेपर जो कुछ है, वह सब अज शिवस्वरूप ही है। अर्थात् प्रयोजन की अपेक्षा न होने से भी यह सृष्टि नहीं है ॥ १० ॥

अपनी मूर्खता में विलास करने वाले जिन जीवों की दृष्टि में अजन्मा चिद्रूप नहीं है उनके लिए सृष्टि के नाश या उत्पत्ति के विषय में मोक्षोपाय की चिन्ता बिलकुल

यत्र यत्र परं ब्रह्म तत्र सन्ति जगन्ति हि ।
जगच्छब्दार्थरूपेण मुक्तान्येवं विधानि च ॥ १२ ॥
तृणे काष्ठे जले कुड्ये सर्वत्रैव परं स्थितम् ।
सर्वत्रैव च सर्गौघः परिप्रोतः स्थितो मिथः ॥ १३ ॥
ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते ।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसम्भवात् ॥ १४ ॥
अभावसव्यपेक्षस्य भावस्यासम्भवादपि ।
पदं बध्नन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः ॥ १५ ॥
अस्वत्वाभावयोर्नित्येऽनन्तेऽत्यन्तमसम्भवात् ।
स्वत्वस्वभावेषु सिद्धेषु स्वभावोक्तिर्न तिष्ठति ॥ १६ ॥
नाहन्त्वं लभ्यते साधो ! बुद्ध्यालोके निरीक्षितम् ।
असदेव कुतोऽप्येतद्बालयक्ष इवोदितम् ॥ १७ ॥
मुक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैर्लभ्यते यच्च तत्परम् ।
युक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैः प्रेक्ष्यमाणं विलीयते ॥ १८ ॥
भेदो जगद्ब्रह्मदृशोरभेदः
पर्यायशब्दार्थविलासतुल्यः ।
सङ्कल्पमात्रं कथितो न सत्यो
यथाऽनयोर्वै कटकत्वहेम्नोः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने सर्गापवर्गप्रतिपत्तियोगोपदेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

व्यर्थ है। अर्थात् इस तरह तत्त्व दृष्टि से नित्यमुक्तता की सिद्धि का उपपादान करके इसका स्वीकार न करने पर मूर्खों में नित्यबद्धता की प्रसक्ति अनिवार्य होगी मूर्ख सब नित्यबद्ध अवश्य रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥

जहाँ-जहाँ परब्रह्म है वहाँ-वहाँ जगत् के शब्दार्थरूप से शून्य इस तरह के अनेक जगत् हैं ही। अर्थात् अर्ध-प्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि से जैसी संसार की स्थिति रहती है ॥ १२ ॥

तृण, काष्ठ, जल और भित्ति में सर्वत्र ही परब्रह्म स्थित है तथा सभी जगहों में सृष्टि का समूह परस्पर गुथा हुआ स्थित है ॥ १३ ॥

ब्रह्म का क्या स्वभाव है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त परम ब्रह्मत्त्व में स्वत्व और दोनों का रहना अत्यन्त असंभव है। व्यावर्तक धर्म को स्वभाव कहते हैं। उस स्वभाव की धर्मता अस्वभाव के व्यावर्तक रूप से ही कहनी पड़ेगी, इसलिए यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म का क्या स्वभाव है, क्योंकि उसमें स्वत्वास्वत्व नहीं है ॥ १४ ॥

अभाव की अपेक्षा रखने वाले 'भाव' का भी सम्भव न होने से अनन्त पर ब्रह्म में स्वभाव आदि दुरुक्तियां अपना पैर नहीं जमा सकती है ॥ १५ ॥

नित्य, अनन्त पर ब्रह्म में अस्वत्व और अभाव इन दोनों का अत्यन्त सम्भव न होने से स्वतःसिद्ध अव्यावर्तक स्वत्व और भावों में व्यवहृत 'स्वभाव' शब्द का प्रयोग लोक में नहीं बैठता है। अर्थात् स्वभाव शब्द का तात्त्विक अर्थ लोक में बिलकुल नहीं घटता है। व्यावर्त्य पदार्थ की प्रसिद्धि न रहने से 'स्व' और 'भाव' इन दोनों पदों का संघटन नहीं बैठता ॥ १६ ॥

हे साधो ! बुद्धि से विचार कर देखने पर अहन्ता कहीं नहीं उपलब्ध होती है। बच्चे के सामने वेताल के सदृश असद्रूप ही यह कहीं से आ टपकी है अर्थात् जैसे ब्रह्म में सृष्टि आदि की सिद्धि न होने से वह अद्वय सिद्ध होता है उसी तरह प्रत्यगात्मा जीव में भी अहन्ता आदि की सिद्धि न होने वह अद्वय सिद्ध होता है, यों दोनों तरह से विचार होने पर अखण्डता ही सिद्ध होती है ॥ १७ ॥

अहन्ता के शब्दार्थों से मुक्त उपलब्ध ही पर ब्रह्म है तथा अहन्ता के शब्दार्थों से युक्त उपलब्ध शास्त्र और आचार्य के अनुभव से परीक्षा करके तत्त्व दृष्टि से देखने पर तो विलीन हो जाता है ॥ १८ ॥

जगत् और ब्रह्म दृष्टि में जो भेद प्रतीत हो रहा है वास्तव में वह अभेद ही है। जगत् और ब्रह्म दोनों पर्याय शब्दों के अर्थ विलास के तुल्य हैं। 'राहु का सिर' इस व्यवहार के सदृश सङ्कल्प मात्र ही इस भेद को विद्वानों ने कहा है, सत्य नहीं कहा है। जैसे सुवर्ण और कटक में अभेद है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म इन दोनों में अभेद है इस दृष्टि से जैसे जाड्य चित्स्वभाव को प्राप्त है वैसे ही जीव और जगत् का भेद भी अभेद स्वरूपता को ही प्राप्त है, यही दिखलाने के लिए सुवर्ण और कटक में अभेद दृष्टान्त पहले अनेक बार कहे जा चुके हैं ॥१९॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में विद्याधरोपाख्यान में सर्गापवर्गप्रहिपत्तियोगोपदेश नामक कुसुमलता का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

११

भुशुण्ड उवाच

शस्त्राणि दयिताङ्गानि लग्नान्यङ्गे निरम्बरे ।
यो बुध्यमानः सुसमः स परस्मिन्पदे स्थितः ॥ १ ॥
तावत्पुरुषयत्नेन धैर्येणाभ्यासमाहरेत् ।
यावत्सुषुप्ततोदेति पदार्थोदयनं प्रति ॥ २ ॥
यथाभूतार्थतत्त्वज्ञमाधयोऽग्रगता अपि ।
न मनागपि लिम्पन्ति पयांसीव सरोरुहम् ॥ ३ ॥
शस्त्राङ्गनानभांस्यङ्गलग्नान्यलमसंविदम् ।
अलग्नानीव शान्तात्मा यः पश्यति स पश्यति ॥ ४ ॥
विषं यथा स्वान्तरेव दुर्घुणीभवति स्वयम् ।
न च दुर्घुणता नाम विषादन्याऽस्ति काचन ॥ ५ ॥
स्वरूपमजहत्त्वेवं जीवतामधितिष्ठति ।
तथात्मातत्परिज्ञानमात्रैकप्रविलापिनीम् ॥ ६ ॥
जीवो भवति दुर्घूणोऽमृत्यात्मैव यथा तथा ।
अत्यजन्तो निजं रूपं चिज्जडं रूपमृच्छति ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्यनन्योऽप्यन्याभो दुर्घूणः क्वचिदुत्थितः ।
तत्स्थः स एवास इवाप्यतत्स्थ इव सर्गकः ॥ ८ ॥
विषं विषत्वमजहद्यथा स्वान्तः कृमिः क्रमात् ।
न जायते न म्रियते म्रियतेऽपि च जायते ॥ ९ ॥

११

भुशुण्डजी ने कहा—हे वस्त्रों से अपने शरीर में लगे हुए शस्त्रों के आघात और तरुणी के स्तन आदि भङ्गों का अनुभव करके भी जो बुद्धिमान् पुरुष बिलकुल सम्भाव में स्थित है वही परम पद में स्थित है। जबतक इस तरह की स्थिति नहीं आ जाती तबतक मनुष्यों को इन्द्रियों के ऊपर विजत प्राप्त करने की दृढ़ चेष्टा और आत्मनिष्ठा से विरत नहीं होना चाहिए ॥ १ ॥

बड़े धैर्य के साथ अपने पुरुषप्रयत्न के द्वारा मनुष्य को इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का निरन्तर अभ्यास तबतक करते रहना चाहिए, जबतक शस्त्र और कान्ता, आदि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हो रहे विकारों को मिथ्यात्व बुद्धि से दूर फेंककर एकमात्र स्वात्मसुख विश्रान्तिरूप सुषुप्तता नहीं उदित हो जाती ॥ २ ॥

जैसे कमल को जल नहीं लिप्त कर पाते वैसे ही यथार्थ परमात्मतत्त्व को जानने वाले पुरुष को सामने उपस्थित मानसिक पीड़ाएँ तनिक भी नहीं लिप्त कर पाती। मानसिक पीड़ाओं का संस्पर्श न होना ही दृढ़ तत्त्वज्ञान का लक्षण है, अर्थात् जैसे कि शुक्ति में 'यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति ही है' यह यथार्थज्ञान हो जानेपर उस शुक्ति में रजत के लाभ या हानि जनित किसी तरह को मानसिक पीड़ा नहीं देखी जाती, यह भाव है ॥ ३ ॥

आकाश के सदृश स्वच्छ नाना प्रकार के चमकते हुए शस्त्रों तथा देदीप्यमान अनेक स्त्रियों के असंवित् अर्थात् शरीर में खूब संलग्न हो जानेपर भी उन्हें असंलग्न-सा देखने वाला शान्तात्मा ही यथार्थ देखता है उसीको सचमुच यथार्थ में साक्षात्कारज्ञानवान् समझना चाहिए ॥४॥

अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ब्रह्म भी स्वतत्त्व के एकमात्र परिज्ञान से नष्ट हो जाने वाली जीवरूपता को यानी जीवाकारविवर्तन को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे विष अपने ही स्वरूप में घुण आदि विकारभाव को प्राप्त होता है और व घुणता भी विष से अन्य कोई पदार्थ नहीं होता है जीवता कोई ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है ॥ ५, ६ ॥

जैसे अमरणस्वभाव जड विष अपने विषस्वभाव को न छोड़ कर ही मरणस्वभाव कीटरूप जीव होता है वैसे ही ब्रह्मचिति भी अपने रूप का त्याग न करती हुई मरणस्वभाव जड़रूप को प्राप्त हो जाती है ॥ ७ ॥

विष में कीट के समान ब्रह्म से अनन्य होते हुए भी उससे अन्य के सदृश भासमान यह सृष्टिरूप दुष्ट घुण भी कहीं से आविर्भूत हुआ है। यद्यपि यह उसी में स्थित उसीका रूप है तथापि उससे अन्य और उसमें स्थित नहीं-सा भासता है अर्थात् घुण की तरह उत्पन्न हुए जीव की तरह यह सारा संसार भी उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

अर्थात् जैसे कृमि में विषस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, परन्तु आत्मस्वभावदृष्टि से होते ही हैं; वैसे ही जीव में घी ब्रह्मस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, किन्तु जीवस्पभावदृष्टि से होते ही हैं।

यह आत्मा भी ब्रह्मस्वरूप से न जन्म लेता है और न मरता हैं, किन्तु जीवस्वभाव से वैसे ही जन्म लेता और मरता भी है जैसे विष अपने विषरूप स्वभाव को न छोड़ कर ही अपने अन्दर क्रमशः कृमि होता है तथा विषदृष्टि से न जन्म लेता और न मरता ही है, किन्तु कृमिदृष्टि से मरता है जन्म भी लेता है ॥ ९ ॥

स्वेनैव संविदर्थेन पदार्थामग्नरूपिणा ।
तीर्यते गोष्पदमिव न तु दैवाद्भवार्णवः ॥ १० ॥
सर्वभावान्तरावस्था सर्वभावातिशायिनी ।
अन्तःशीतलता यस्मिंस्तस्मिन्किमिव हेलनम् ॥ ११ ॥
जगत्पदार्थसत्तान्तः सामान्येनाऽऽशु भाविते ।
मनोहङ्कारबुद्ध्यादि कः कलङ्कोऽमलात्मनि ॥ १२ ॥
यथा घटपटाद्यर्थान्पश्यस्येवं शरीरकम् ।
तथाऽहन्त्वमनोबुद्धिवेदनाद्यपि पश्य हे ॥ १३ ॥
जगत्पदार्थसार्थौघमनोबुद्ध्यादिसंस्थितम् ।
ज्ञ एवासंविदंस्तिष्ठ परिनिष्ठितनिष्ठया ॥ १४ ॥
न केनचित्कस्यचिदेव कश्चि-
द्दोषो न चैवेह गुणः कदाचित् ।
सुखेन दुःखेन भवाभवेन
न चास्ति भोक्ता न च कर्तृता च ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरो० यथाभूतार्थवेदनं नामैकादशः सर्गः ११ ॥

देह, इन्द्रिय आदि विषय पदार्थों में अहन्ता-ममता की आसक्ति से अपने स्वरूप को तिरोहित न कर मनुष्य श्रवण, मनन आदि प्रयत्न द्वारा निष्पादित आत्मसाक्षात्कारज्ञान के प्रयोजनभूत अपने से ही इस भवसागर को गाय के खुर के समान तैर जाता है, न कि मुझे इस संसारसागर से दैव पार लगायगा, इस प्रयत्न की उपेक्षा करता है ॥ १० ॥

सम्पूर्ण भावों को मात कर देनेवाली समस्त पदार्थों की सार सुखरूपावस्था तथा सांसारिक सभी तापों की निवृत्ति हो जाने से आन्तरिक शीतलता जिसमें विद्यमान है ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वरूप में किस तरह की अवहेलना हो सकती है ? ॥ ११ ॥

जागतिक सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता के भीतर सन्मात्र ब्रह्मरूप से भावित निर्मल आत्मा में मन, अहङ्कार, बुद्धि आदिरूप भला कौन-सा कलङ्क रह सकता है ? ॥ १२ ॥

हे विद्याधर ! अहन्ता आदि का अभिमान छोड़ कर शरीर को पहले तटस्थरूप से देख लेने के बाद तुम अहन्ता, मन, बुद्धि और ज्ञान आदि को भी वैसे ही तटस्थरूप से ही देखते रहो जैसे घट, पट आदि पदार्थों को तुम तटस्थरूप से देख रहे हो ॥ १३ ॥

सर्वसाक्षिस्वरूप हो तुम बाह्य जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों तथा आन्तरिक मन, बुद्धि आदि का अनुभव न करते हुए अपनी स्वाभाविक स्थिति से बैठे रहो ॥ १४ ॥

उस ज्ञानरूप अवस्था में सम्पत्ति या विपत्ति तथा उससे उत्पन्न सुख या दुःख किसी कारण से भी इस संसार में किसी को कभी भी कोई गुण या दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस दशा में कर्तृता के न रहने से भोक्तृता भी नहीं रहती अर्थात् उस स्थिति में सम्पूर्ण गुण, दोष आदि के विक्षेपों के हेतुओं की शान्ति रहती है ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में विद्याधरोपाख्यान में यथाभूतार्थवेदन नामक कुसुमलता का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

१२

भुशुण्ड उवाच

ख एव व्योम सम्पन्नमिति सङ्कल्पनं यथा ।
भ्रान्तिमात्रमसद्रूपं तथाऽम्भावभावनम् ॥ १ ॥
खे खं जातमिति भ्रान्तेरहं कल्पयिता यथा ।
तथा निर्व्यपदेश्यात्म सदस्त्यसदिवाऽऽततम् ॥ २ ॥

१२

[अर्थात् अविद्या ही अहंभावरूपी सूक्ष्मप्रपञ्चभाव है। उसी की स्थूलरूपता होती है। इस रीति से समस्त विकल्पों के चिति का विवर्तमात्ररूप होने से सबमें एकता है।]

भुशुण्डजी ने कहा—अज्ञात आत्मा में सूक्ष्मप्रपञ्चात्मक असद्रूप अहंभाव की कल्पना करना वैसे ही एकमात्र भ्रान्ति है। जैसे आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार अपने मन से एक दूसरे आकाश की कल्पना कर लेना ही एक ही आकाश में सिर्फ भेद की भ्रान्ति है ॥ १ ॥

अविद्या से आच्छादित होने से असत्-सा प्रतीत हो रहा अतएव शब्दादि से अव्यवहार्य आत्मरूप सद्वस्तु वैसे ही कल्पक है जैसे आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ है, इस भ्रान्ति का कल्पक अहंभाव है ॥ २ ॥

खे खात्मैवास्ति चिद्रूपं तत्स्वकं बुद्धयते वपुः ।
भासते यदिदन्त्वेन नाहमस्मि न चानहम् ॥ ३ ॥
ततश्चिद्रूपमस्तीदृग्यत्र स्थूलं खमप्यलम् ।
अणाविव महामेरुस्तत्संवित्तिर्हि खादिता ॥ ४ ॥
घनस्ततोऽचिदाभासः खादप्यतितरामणुः ।
जानाति यत्स्वभावं तदेतत्सर्गतया स्थितम् ॥ ५ ॥
अहन्ताखादिताद्यात्मविदः प्रसरणं जगत् ।
अम्भोद्रवप्रसरणं यथावर्तादिवेष्टनम् ॥ ६ ॥
अचित्प्रसरणं शान्तमस्पन्दीव जलद्रवः ।
निस्पन्दपवनाकारमाकाशहृदयोपमम् ॥ ७ ॥
न देशकालादिजगत्प्रसरेषु च युज्यते ।

अविद्योपहित चिदात्मा अपने अविद्यारूप शरीर की 'मैं और यह' इत्यादि अभिमन्ता और अभिमन्तव्यरूप से कल्पना करके अवभासन करता है इसलिए अज्ञान से अन्य न अहंभाव है और न अनहंभाव ही है जैसे आकाश में अद्वितीय आकाशात्मा ही है, दूसरे आकाश को तो कल्पक पुरुष का सङ्कल्पावच्छिन्न चिद्रूप अपने सङ्कल्पात्मक शरीर की ही उस रूप में कल्पना करके जानता है ॥ ३ ॥

प्रत्येक को यह समझ लेना चाहिए कि वह चिद्रूप ऐसा है कि जहाँ परमाणु में महामेरु की तरह आकाश भी अति स्थूल है। सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठानभूत वह ब्रह्म परमसूक्ष्म है। उसी अतिसूक्ष्म ब्रह्मचिति की कल्पना आकाश आदि यह स्थूल जगत्-रूप है ॥ ४ ॥

आत्मचिति से अत्यन्त स्थूल आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म अज्ञानरूपी अनादि विवर्त है, जो उस तरह का परमसूक्ष्म चेतन ही 'मैं, यह' इत्यादिरूप अनादि वासना से उत्तरोत्तर स्थूल हुए अपने स्वभाव की कल्पना करके जो सब पदार्थों को जानता है वही यह सब सृष्टिरूप से स्थित है अर्थात् उस ब्रह्म की परम सूक्ष्मरूपता का उपपादन करते हैं ॥ ५ ॥

आत्मा में अहन्ता आदि आध्यात्मिक तथा आकाश आदि आधिभौतिक यह जगत् आत्मचेतन का वैसे ही विस्तृत विवर्तरूप है जैसे आवर्त आदि विकार जलद्रव के प्रसार हैं ॥ ६ ॥

चिति के विवर्त का अभाव ही प्रलय है, जो निश्चल जलद्रव की तरह स्पन्दन शून्य पवन के आकार के सदृश तथा आकाश हृदय के तुल्य है ॥ ७ ॥

इस तरह देश, काल आदि जगत् तथा इसके अवान्तर

घनाच्छून्यान्निराभासाच्चिन्मात्रविसरादृते ॥ ८ ॥
चिन्मात्रे प्रसृते काले व्योम्नि नावि जले स्थले ।
निद्रायां जाग्रति स्वप्ने भवेज्जगदिवोदितम् ॥ ९ ॥
प्रसरणाप्रसरणे न च सम्भवतो विदः ।
खादप्यत्यन्तस्वच्छत्वादक्षोभादेः सदैव हि ॥ १० ॥
ज्ञश्चेतति न भोगादि न चैवात्मन्यसावहम् ।
द्रवत्वमम्भसीवान्तरद्वितीयः परे स्थितः ॥ ११ ॥
धीर्ह्रीः श्रीर्भीः स्मृतिः कीर्तिः कान्तिरित्यादिकं गणम् ।
न पश्यति विसङ्कल्पस्तमसीव पदान्यहेः ॥ १२ ॥
ब्रह्मेन्दुबिम्बस्फुरितचिज्ज्योत्स्नांशामृतद्रवः ।
दिक्कालासम्भवात्सर्गो नेश्वरादतिरिच्यते ॥ १३ ॥

हजारों कार्यरूपी प्रसारों में भी एकमात्र घन, शून्य और निराभास चिति के विवर्त के सिवा थन्य कोई पारमार्थिक रूप उपपन्न नहीं है ॥ ८ ॥

चिति का ही विवर्त होने से काल, आकाश, नौका, जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्न में यह जगत् उदित के सदृश भासता है ॥ ९ ॥

आकाश से भी अत्यन्त अधिक स्वच्छ होने तथा संचलन आदि सब तरह के विकारों से शून्य होने से चिति का विस्तार और संकोच वास्तव में नहीं होता है, अतएव इस संसार की उत्पत्ति और नाश एकमात्र अज्ञान से ही सिद्ध है ॥ १० ॥

ज्ञानस्वरूप आत्मा विषयजनित सुख-दुःख आदि भोगों का अनुभव नहीं करता और न इस आत्मा में 'यह तथा मैं' यह व्यवहार ही रहता है। किन्तु जल में द्रवत्व के समान अद्वितीय आत्मा भीतर अपने कूटस्थस्वभाव में स्थित है। अर्थात् भोगादि विभ्रम चिदाभास को ही होते हैं, कूटस्थ आत्मा को नहीं होते ॥ ११ ॥

जैसे कि अन्धकार में साँप के पैर को नहीं देखता है। वैसे ही सङ्कल्पशून्य आत्मा चिन्ता, लज्जा, हर्ष, भय, स्मृति, कीर्ति तथा इच्छा आदि मन की वृत्तियों के हेतु बाह्य विषयों को नहीं देखता है ॥ १२ ॥

हे विद्याधर, ब्रह्मरूपी चन्द्रबिम्ब से स्फुरित जीव-चिदाभासरूपी ज्योत्स्ना के अंशभूत चाक्षुष आदि ज्ञानमय अमृत का द्रवरूपी यह सर्ग परमेश्वर से भिन्न नहीं है, क्योंकि इस सृष्टि के आधारभूत दिशा और काल इन दोनों का निरवयव और निष्क्रिय ब्रह्म में रहना संभव नहीं है। दिशा के रहनेपर ही मूर्तद्रव्य की क्रिया से सर्ग-काल की कल्पना की जा सकती है और वह क्रिया पहले

आधिमान्यः स्फुरत्येवं परे स्फुरति भासुरम् ।
जगदाद्यात्मकं चित्तं चक्रौघत्वमिवाम्भसि ॥ १४ ॥
मज्जनोन्मज्जनारावैर्विवर्तावर्त्तवेष्टनैः ।
अच्छिन्नानुपदं क्षीणा भाति सर्गसरिच्चिरम् ॥ १५ ॥
यथाऽऽवर्तैः पयो भाति धूमो भाति यथा घनः ।
तथा जडात्मकतया तृतीयः सर्ग एतयोः ॥ १६ ॥
दारुणि क्रकचच्छेदे यथाऽऽवर्तादिकं तथा ।
अदिगादौ परे सर्गस्तदतद्रूपवानयम् ॥ १७ ॥
संसारकदलीस्तम्भाद्विना सङ्कल्पपल्लवम् ।
मृदुनोऽपि दृषत्क्रूरान्न किञ्चिल्लभतेऽन्तरम् ॥ १८ ॥
सहस्रखुरमूर्धाक्षिकरवक्त्रेहितोहितम् ।
नानाद्रितनुदिग्देशसरित्प्रादेशमात्रकम् ॥ १९ ॥
अन्तःशून्यमसारात्म बहुरागोपरञ्जितम् ।
स्फुरद्विरागविहितमार्जनामात्रतर्जनम् ॥ २० ॥
ससुरासुरगन्धर्वविद्याधरमहोरगम् ।
जडात्मपवनस्पन्दि परचेतनचेतितम् ॥ २१ ॥
पटे चित्रमहाराज्यमिव भासुरसुन्दरम् ।
परामर्शासहं चारु विकल्पस्फूर्जितं जगत् ॥ २२ ॥

से तो उपस्थित नहीं है। काल के रहने पर ही दिशा आदि की उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है, लेकिन प्रलय में वह भी नहीं है, कारण कि क्रिया के अतिरिक्त उसका कोई साधक नहीं। पूर्ण कूटस्थ में तो क्रिया का योग ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उन दोनों के अभाव में किसी अन्य का अवकाश नहीं है, इस तरह यह सिद्ध है कि ब्रह्म से अतिरिक्त किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं है ॥ १३ ॥

इस तरह भगवान् परमेश्वर के अपने से अभिन्न जगत् के आकार में सर्व साधारण सच्चिदात्मरूप से खूब चमकते हुए स्फुरित होनेपर देह आदि किसी एक स्थान में विशेष अभिमान करके उसके अनुकूल या प्रतिकूल हेय या उपादेय की कल्पना द्वारा अहङ्कारात्मा ही अन्य की तरह स्फुरित होता है। इस तरह जल में आवर्त समूह की तरह यह सम्पूर्ण जगत्, जीव, बन्ध मोक्ष आदि की कल्पना है, यह एकमात्र भ्रान्त चित्त ही है, अणुमात्र भी और कुछ नहीं है ॥ १४ ॥

मज्जन और उन्मज्जन के शब्दों से तथा विवर्तावर्तरूपी भ्रमणों से पूर्ण बराबर बह रही यह सृष्टिरूपी मरीचि नदी स्फुरित हो रही है, यह तत्त्वसाक्षात्कार से शीघ्र ही चिरकाल के लिए क्षीण हो जाती है। अर्थात् यह सृष्टि भी परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार से शीघ्र ही सदा के लिए वैसे ही क्षीण हो जाती है जैसे मृगतृष्णा की नदी मरु-भूमि के साक्षात्कार से शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

ब्रह्म और मन इन दोनों के मध्य में तीसरीं यह सृष्टि विषयरूप होने से जड़ और सत्यरूप से स्फुरित होने के कारण वैसे ही अजडरूप से भासमान होती है। जैसे आवर्तों से जल या दूर से धूम समूह निबिड मेघरूप से भासता है ॥ १६ ॥

जैसे आरी से लकड़ी चीरने पर आवर्त आदि भासते हैं वैसे ही देश-कालादि से शून्य परमात्मा में यह सृष्टि जड़ और अजड़रूप से भासती है ॥ १७ ॥

मिथ्या होने से अपने स्वरूप से अत्यन्त कोमल तथा अधिष्ठान सत्ता से पत्थर की तरह अतिदृढ़ इस संसाररूपी कदलीस्तम्भ का स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बत कदलीस्तम्भ से तनिक भी असाम्य विवेक दृष्टि से देखने पर नहीं मिलता है। यदि कुछ मिलता भी है तो सिर्फ वह सङ्कल्प कल्पित पल्लववैलक्षण्य ही के कारण अर्थात् सङ्कल्प कल्पित विलक्षण पल्लव के सिवा और कुछ तनिक भी वैसादृश्य इन दोनों में नहीं मिलता है ॥ १८ ॥

हे विद्याधर ! यह रमणीय सारा संसार पट के ऊपर विरचित चित्रगत महाराज्य के सदृश प्रकाशयुक्त, सुन्दर और विकल्प से विस्फूर्जित है। हे विद्याधर, चित्रगत महाराज्य के सदृश ही यह भी परामर्श को, विचार को न सहने वाला यह संस्कार है। इसके अन्दर हजारों पैर, मस्तक, नेत्र, हस्त, मुख तथा इनसे अभिलषित और वितर्कित वस्तुएँ एवं नाना प्रकार के पर्वत, चतुर्विध प्राणियों के शरीर, दिशाएँ और अनेक नदियाँ परमात्मा के माप से प्रादेशमात्र के समान परिच्छिन्न हैं। अनेक प्रकार के रञ्जक द्रव्यों से रञ्जित चित्रगत महाराज्य की तरह यह सारा संसार भी अनेक प्रकार के कामादिरूप रंगों से रञ्जित है। विरुद्ध वर्णवाले मार्जन द्रव्य से परिमार्जन कर देना ही एकमात्र जिसका नाश है चित्र-लिखित महाराज्य की तरह यह सारा संसार भी केवल तीव्रवैराग्यमात्रसे ही परिमार्जित होता है। हे विद्याधर ! सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर तथा महोरग आदि से युक्त जड़ात्मक पवन से स्पन्दनशील तथा द्रष्टाचेतन से चेतित चित्रलिखित महाराज्य की तरह यह सारा संसार भी सुर, असुर, गन्धर्व आदि से युक्त सूत्रात्मा से स्पन्दनशील तथा ब्रह्मचेतन से चेचित है ॥ १९–२२ ॥

स्पन्दात्मनि विकल्पांशे पतिताऽसत्यरूपिणि ।
संवित्प्रसरति भ्रान्तौ तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ २३ ॥
हृल्लेखाजालविसरैः सर्वावर्तविवर्तनैः ।
विसरत्स्नेहसंमिश्रजडानुदयचर्वणैः ॥ २४ ॥
अहमित्यादिचिद्रूपे विकल्पेनोन्मुखी सती ।
न परादव्यतिरिक्तैषा जलत्वादिव तोयता ॥ २५ ॥

अर्थ शून्य तथा बाध्य होने से असत्य स्वरूप स्पन्दनात्मक विकल्पांश में अर्थात् विकल्पात्मक वृत्ति जिसमें उदित होती हैं ऐसे मन में प्रतिबिम्बभाव से पतित संवित् भ्रान्ति में प्रसरणशील होती है, जैसे जल में तैल-बिन्दु ॥ २३ ॥

मन को क्षुब्ध करने वाले कामवासना आदि जल समूहों से निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्तरूप विकारों से समन्वित पुत्र, स्त्री आदि में फैल रहे स्नेह से मिश्रित मिथ्या होने के कारण उत्पन्न न हुए ही इन शब्द-स्पर्श आदि विषयों के बार-बार आस्वादनों के द्वारा जो संवित् प्रसरणशील होती है वही चित्रगत महाराज्यरूप से वर्णित यह संसार है ।२४।

जैसे जलरूपता से भिन्न तोयता नहीं है । तात्पर्य यह है कि भेदक उपाधियों के विकल्प मात्र होने से 'जीव' और 'पर' शब्द का 'जल और 'तोय' शब्द की तरह एक अर्थ में पर्यवसान है वैसे ही यह आदिचिति ही अहंभावादि विकल्पों से बहिर्मुखी हो जीवभाव को प्राप्त करके भी परमात्मा से तनिक भी ऐसे भिन्न नहीं हैं ॥ २५ ॥

अर्थात् उपाधि के अनुप्रवेश द्वारा नाम और रूपों का व्याकरण करने वाले अहमर्थ जीव के ब्रह्ममात्र होने से जीव का भोग्य सर्ग शब्दार्थ भी एकमात्र ब्रह्म ही है ।

यह चिद्रूपी सूर्य स्वात्मा ही है । यह उपाधि में प्रवेश कर 'अहम्' इत्यादि नाम को प्राप्त कर 'सर्ग' इस नाम से कहा जाता है । इसलिए यह सिद्ध है कि वास्तव में चेतन से अन्य न कोई सृष्टि है और न कोई इस सृष्टि का रचयिता ही है ॥ २६ ॥

अर्थात् 'राहुल का सिर' यहाँ पर जैसे राहु और उसके सिर में अभेद सिद्ध है जो राहु है वही तो उसका सिर है, इसी तरह जगत् और चिति में अभेद सिद्ध है । इन दोनों में एकमात्र अविद्या के कारण ही भेद की प्रतीति हो रही है ।

आकाशादि प्रपञ्च की रचनामें चिदात्मा न आकाशदि-रूप से वैसे स्थित है, जैसे स्पन्द रूप अपनी सत्ता में वस्तुतः जलद्रव स्पन्द रहित ही है उसमें स्पन्द की प्रतीति

चिदादित्यः स्व आत्मैव सर्ग इत्यभिधीयते ।
भूत्वाऽहमिति तेनान्यो न सर्गोऽस्ति न सर्जकः ॥ २६ ॥
स्पन्दात्मिकायां सत्तायां यथाऽस्पन्दो जलद्रवः ।
तथा चिदात्मा व्योमत्वे न व्योमत्वादि वेत्ति हि ॥२७॥
देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विदः ।
सर्गात्मकत्वात्तेनाम्बुद्रवसाम्यं न दूरगम् ॥ २८ ॥

तो एकमात्र विकल्प ही है, न इन सब का कर्ता है और न आकाशादि पदार्थों को अपने से भिन्न समझता ही है । आशय यह है कि 'जलं स्पन्दते' (जल स्पन्दित होता है) इस स्थल पर थोड़ा विचार किया जाय । क्या जल ही स्पन्दरूप से स्थित रहता है या अन्य कुछ ? जल से ये भिन्न अन्य कोई स्पन्दनरूप से स्थित रहता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अन्य किसी को यहाँ उपलब्धि नहीं होती । यदि यही मान लिया जाय कि यहाँ कोई अन्य ही स्पन्दित होता है तब तो उस स्पन्दन को जल की ही अपेक्षा है, यह नियम नहीं रह सकता; अतः दूसरा ही स्पन्दित होता है यह प्रतीति होने लगेगी और साथ-साथ यह भी नहीं कह सकते हैं कि यह नियम समवाय के बल पर सिद्ध है, क्योंकि सम्बन्ध की अनवस्था होने से उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती । अब रही बात प्रथम पक्ष की । इस पक्ष में जल स्पन्द का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि स्पन्दात्मा स्पन्द नहीं करता, कारण कि यदि वह स्पन्द, करे, तो उस स्पन्द में कर्तृत्वापत्ति आ जायगी । इसलिए यह सिद्ध है कि जलद्रव अपनी स्पदात्मिका सत्ता में स्पन्द शून्य ही स्थित रहता है ॥ २७ ॥

सृष्टिरूप होने से देश, काल आदि के निर्माणपूर्वक ही चिदात्मा के आकाश आदि विकल्प ज्ञान का हम वर्णन कर रहे हैं, इसलिए जलद्रव का साम्य कहीं दूर चला गया, यह कोई नहीं कह सकता है । अर्थात् जलद्रव की भेद कल्पना में देश और काल का भेदनियामक है । पूर्व-काल और पूर्वदेश में स्थित जल उत्तरकाल और उत्तरदेश में उपलब्ध होता है । उत्तरदेश की प्राप्ति भी क्रियापूर्वक ही वाण आदि में देखी गई है, इसी तरह जल में भी द्रवणक्रियाभेद जी कल्पना कर सकते हैं । परन्तु अद्वितीय ब्रह्म में तो देश और काल किसी का भेद नहीं, अतः आकाश आदि भेद की कल्पना में कोई निमित्त न होने से जल द्रव का साम्य बहुत दूर चला गया । आकाश आदि सृष्टि के विकल्प की असंभावना के ऊपर जो आक्षेप किया जा रहा है, सो क्या आकाश आदि की सर्गात्मक दशा में

मनोहम्भावबुद्ध्यादि यत्किञ्चिन्नामवेदनम् ।
अविद्यां विद्धि यत्नेन पौरुषेणाऽऽशु नश्यति ॥ २९ ॥
अर्द्धं मिथः सङ्कथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतः शिष्टमविद्याया निवर्तते ॥ ३० ॥
चतुर्भागात्मनि कृते इत्यविद्याक्षये क्रमात् ।
समकालाच्च यच्छिष्टं तदनामार्थसन्मयम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

अर्द्धं मिथः सङ्कथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतो भागः कथं तस्या निवर्तते ॥ ३२ ॥
समकाले क्रमाच्चेति मुनिनाथ ! किमुच्यते ।
तदनामार्थसच्चेति सच्चासच्चेति किं वद ॥ ३३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सुजनेन विरक्तेन संसारोत्तरणार्थिना ।
सह चाप्यात्मविदुषा संसृतिं प्रविचारयेत् ॥ ३४ ॥
यतः कुतश्चिदन्विष्य सविरागममत्सरम् ।
जनं सज्जनमात्मज्ञं यत्नेनाऽऽराधयेद्बुधः ॥ ३५ ॥

आक्षेप किया जा रहा है या ब्रह्मदशा में ? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मदशा में आक्षेप किया जा रहा है, तब तो यह आपत्ति हमें इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मभाव में हम किसी तरह का कोई विकल्प स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि सर्गात्मक दशा में आक्षेप किया जा रहा है, तो इसपर हमारा यह कहना है कि सर्गात्मक दशा में तो यह कहना ही पड़ेगा कि वह सृष्टिकाल प्रलय काल से पूर्व है। इस तरह कालविभाग और संसारासंसार देशभेद का भी कल्पना द्वारा निर्माण करके हम चिदात्मा के आकाशादि विकल्पज्ञान का वर्णन कर रहे हैं, अतः किसी को सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है कि जलद्रव का साम्य बिलकुल कहीं दूर चला गया। इस विषय में वार्तिककार की यह उक्ति भी स्मरणीय है—
'अविद्यास्तीत्यविद्यामेवासित्वा प्रकल्प्यते ।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥' २८ ॥

इस तरह विकल्पों के मन, अहङ्कार और बुद्धि आदि से साध्य होने के कारण आकाश आदि सृष्टिभेद के विकल्प समय में इनके असिद्ध होने से विकल्प की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? यह आशङ्का भी अनुपपत्ति आदि हजारों दोषों से पूर्ण एकमात्र अविद्या का स्वीकार कर लेने से ही अनायास परिहृत हो सकती है।

हे विद्याधर, मन, अहंभाव, बुद्धि आदि जो विकल्प ज्ञान है उन सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, वह पुरुष प्रयत्न से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ २९ ॥

विनय, प्रणाम, दान, सम्मान आदि के द्वारा वशीभूत हुए तत्त्वज्ञानियों के साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीत करने के कारण प्रथम भूमिकापर्यन्त अभ्यस्त हुई उत्कट वैराग्य आदि चार साधनों की सिद्धि से पुत्र, स्त्री, धन आदि में ममताध्यास के हेतुभूत इस अविद्या का आधा भाग नष्ट हो जाता है, श्रवण, मनन आदि शास्त्रविचारों से इस अविद्या का विक्षेप शक्तिरूप चौथा अंश प्रमाण और प्रमेय की सम्भावना आदिरूप तथा देहादि में जो अहन्तारूप है वह नष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मात्म साक्षात्कार से उसका बचा हुआ आवरणशक्तिरूप चौथा भाग भी सूर्योदय के बाद अन्धकार की तरह धीरे-धीरे क्रमशः नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त रीति से भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा समकाल में और क्रमशः चार भागों में विभक्त अविद्या के नष्ट कर दिये जाने पर जो अवशिष्ट रहता है वह नामरूप रहित सन्मात्र ही परमपुरुषार्थ है ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—अविद्या का आधा भाग विद्वानों के साथ परस्पर आध्यात्मिक वार्तालाप से, एक चतुर्थांश शास्त्रों के विचारों से एवं दूसरा चतुर्थांश आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से कैसे नष्ट हो जाता है ? कृपाकर कहें ॥ ३२ ॥

अनन्तर 'समकाल में' और 'क्रमशः' यह क्यों कहा जाता है ? तथा 'वह नामार्थरहित सन्मय ही है—यहाँ पर मयट्' प्रत्यय से असदंश को भी लेकर सत् और असत् जो कहा गया है, उसमें असदंश क्या है, वह भी दयाकर कहिये ॥ ३३ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—संसारसागर को तैर जाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त सज्जन पुरुष को आत्मज्ञानी विद्वान् तथा अन्य मुमुक्षु के साथ अपनी बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि यह संसार क्या है, इसका परिणाम, मूल और सार क्या है तथा इसे तैर जाने का कौन-सा उपाय है ? ॥ ३४ ॥

विद्वान् को चाहिये कि वह जहाँ-कहीं से संसारसागर से पार हो जाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त, मत्सररहित आत्मज्ञानी सज्जन पुरुष को यत्नपूर्वक ढूँढ़कर उसकी आराधना करे ॥ ३५ ॥

सम्पन्ने सङ्गमे साधोरविद्यार्धं क्षयं गतम् ।
विद्धि वेद्यविदां श्रेष्ठ ! ज्येष्ठश्रेष्ठदशोदयात् ॥ ३६ ॥
अर्द्धं सज्जनसम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।
चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागं स्वयत्नतः ॥ ३७ ॥
एकोऽभिलाष उत्पन्नो भोगेभ्यश्च निवार्यते ।
तत्क्षये यात्यविद्यायाश्चतुर्थांशः स्वयत्नतः ॥ ३८ ॥
साधुसङ्गमशास्त्रार्थस्वयत्नैः क्षीयते मलम् ।
एकैकेनाथ सर्वैश्च तुल्यकालं क्रमादपि ॥ ३९ ॥
यदविद्याक्षयैकात्म न किञ्चित्किञ्चिदेव च ।
शिष्यते तत्परं प्राहुरनामार्थमसच्च सत् ॥ ४० ॥
ब्रह्मेदं घनमजराद्यनन्तमेकं
सङ्कल्पस्फुरणमविद्यमानमेव ।
बुद्ध्वैवं व्यपगतमानमेयमोहो
निर्वाणं परिविहरन्विशोकमास्व ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने सङ्कल्पसर्गयोरैक्यप्रतिपत्तिर्नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

हे वेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी ! यह आप भली-भाँति जान लें कि सज्जन पुरुष का समागम हो जानेपर अविद्या का आधा भाग तो अन्य सब भूमिकाओं में ज्येष्ठ तथा साधन चतुष्टयसम्पत्ति से श्रेष्ठ शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका प्रतिष्ठा के उदय से ही क्षय को प्राप्त हो गया ॥ ३६ ॥

अविद्या का आधा भाग तो सिर्फ सज्जन पुरुषों के सम्पर्क से ही नष्ट हो जाता है। बाकी बचे दो चतुर्थ भागों में एक भाग को बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रार्थों के पर्यालोचन से तथा दूसरे को अपने आतमसाक्षात्काररूप यत्न से नष्ट कर देना चाहिए ॥ ३७ ॥

संसार-बन्धन से मुक्त होने की कहीं एक उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाने पर उस मुमुक्षु पुरुष को वैराग्य आदि सम्पत्ति ही भोगों तथा उनके साधनों से दूर हटा देती है और भोगों के नष्ट होने से अविद्या का चतुर्थ अंश अपने यत्न से ही नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

सज्जनों की सङ्गति, शास्त्रों की चर्चा और अपने प्रयत्न इन सबकी एक साथ प्राप्ति होने पर सम काल में अर्थात् एक ही साथ तथा एक-एक की प्राप्ति होने पर क्रमशः अविद्या रूपी मल क्षीण हो जाता है ॥ ३९ ॥

अविद्या का क्षय हो जाना ही जिसका एकमात्र अपना स्वरूप है ऐसा जो अविद्या के नाश के बाद अकिञ्चिद्रूप या किंचिद्रूप शेष रहता है वह परमार्थभूत नामार्थ रहित, असत् और सत् भी कहा गया है ॥ ४० ॥

यह परिशिष्ट वस्तु, आनन्दैक घन, जरादि विकार शून्य अनन्त, एक ब्रह्म ही है। जीव और जगद्रूप तो विकल्प का स्फुरण होने से सर्वथा अविद्यमान ही है। इसलिए आप अपने को परमात्मतत्त्व रूप जान कर प्रमाण, प्रमेय आदि त्रिपुटी के मोह से शून्य ब्रह्म ही सर्वातिशायी बृहत् होने से सब ओर से व्याप्त होकर विहार करते हुए शोकशून्य स्थित रहे ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में सङ्कल्प और सर्ग के ऐक्यप्रतिपत्ति नामक कुसुसलता का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

१३

भुशुण्ड उवाच

जगत्प्रसररूपस्य न देश उपयुज्यते ।
न कालो धारणे स्तम्भ आलोकस्याम्बरे यथा ॥ १ ॥
मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम् ।
शान्तं तनु लघु स्वच्छं वातान्तः सौरभादपि ॥ २ ॥
चिच्चमत्कृतिमात्रस्य साधो ! जगदणोः किल ।
वातान्तः सौरभं मेरुरन्यानुभवयोगतः ॥ ३ ॥

१३

भुशुण्ड जी ने कहा—जैसे आकाश में फैले हुए आलोक के धारण में खम्भों की अपेक्षा नहीं है वैसे ही इस मायिक विस्तृत जगद्रूप के धारण में देश और काल की अपेक्षा इस तरह नहीं है ॥ १ ॥

शान्त, पवन के अन्दर स्थित सुगन्ध या प्रकाश से भी अति सूक्ष्म, लघु और स्वच्छ यह त्रिलोकी मन के मनन की रचना मात्र है ॥ २ ॥

हे साधो ! चिति के चमत्कार मात्र रूप से दृष्ट इस जगद्रूपी अणु की अपेक्षा वायु के अन्तर्गत सौरभ भी मेरु की तरह स्थूल है, इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि वायु के

यं प्रत्युदेति सर्गोऽयं स एवैनं हि चेतति ।
पदार्थः सन्निवेशं स्वमिव स्वप्नं पुमानिव ॥ ४ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यद्वृत्तं देवराजस्य त्रसरेणूदरे पुरा ॥ ५ ॥
क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चित्किञ्चित्कल्पद्रुमेऽभवत् ।
कस्यांचिद्युगशाखायां फलं जगदुदुम्बरम् ॥ ६ ॥
ससुरासुरभूतौघमशकाहितघुङ्घुमम् ।
शैलमांसलपातालद्युभूम्युग्रकपाटकम् ॥ ७ ॥
चिच्चमत्कृतिचारूच्चैर्वासनारसपीवरम् ।
विविधानुभवामोदं चित्तास्वादमनोहरम् ॥ ८ ॥
बृहद्ब्रह्मतरुप्रौढसत्ताव्रततिकोटिगम् ।
अहङ्कारमहावृन्तं समालोकसमुज्ज्वलम् ॥ ९ ॥
मोक्षद्वारदिकास्यास्यं सरिदब्धिशिरावृतम् ।

अन्दर स्थित सौगन्ध या सौरभ का, तो अन्य पुरुष भी अपनी घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते हैं, परन्तु यह संसार की सृष्टि तो जिस पुरुष के मन में उदित होती है वही इसका वैसे ही अनुभव करता है, जैसे मनोराज्य के पदार्थ का मनोराज्य साक्षी द्वारा या अपने स्वप्न का स्वप्न द्रष्टा पुरुष स्वयं अनुभव करता है ॥ ३, ४ ॥

पूर्व सिद्ध देश और काल की अपेक्षा न रखने वाले तथा दूसरे के अनुभव में न आने से परम सौम्य रूप इसी विषय का एक बहुत पुराना इतिहास विद्वान् लोग उदाहरण रूप में कहा करते हैं; जो कि त्रसरेणु के उदर में बहुत दिन पहले इन्द्र को अनुभूत हुआ था ॥ ५ ॥

कभी कहीं किसी एक कल्पवृक्ष में सब तरह की कल्पनाओं के आधारभूत माया शबल ब्रह्म में युग की सन्धि रूप शाखा में ब्रह्माण्ड रूपी गूलर का फल पैदा हुआ ॥ ६ ॥

वह फल अन्य फलों से विलक्षण था । वह सुर और असुर आदि अनेक विध भूतों के समूह रूपी मच्छरों की भनभनाहट से युक्त था तथा अनेक शैल रूपी कीलों से जटित दृढ़ पाताल, स्वर्ग और भूमण्डल रूपी दुर्धर्ष कपाटों से समन्वित था ॥ ७ ॥

वह फल चिति की चमत्कृति रूप विचित्र रचना शक्ति से सुन्दर, बहुत बड़ा, वासना रूपी रस से स्थूल, अनेक विध शब्दादि विषयों के अनुभव रूपी सुगन्ध से समन्वित तथा चित्त के आस्वाद से मनोहर था ॥ ८ ॥

महान् ब्रह्म रूपी कल्प तरु में आविर्भूत् सूक्ष्म जगत्

मात्रापञ्चककोशस्थं तरत्तारकसीकरम् ॥ १० ॥
कल्पावसानजरठं काककोकिलगाम्यथ ।
पतितं शान्तिमायातं क्वाप्यन्तावासनं गतम् ॥ ११ ॥
तत्राऽभूदमराधीशः शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
क्षौद्रकुम्भनिषण्णानां क्षुद्राणामिव नायकः ॥ १२ ॥
गुरूपदेशस्वाभ्यासात्स क्षीणावरणोऽभवत् ।
महात्मा भावितान्तात्मा पूर्वापरविदां वरः ॥ १३ ॥
नारायणादिषु ततः कदाचिद्वीर्यशालिषु ।
क्वचिदेव निलीनेषु सत्स्वेकः स सुराधिपः ॥ १४ ॥
शस्त्रज्वालानलोद्गारैरयुध्यत महासुरैः ।
विजितस्तैर्महावीर्यैरतो व्यद्रवदाद्रुतम् ॥ १५ ॥
दिशो दश सुवेगेन दुद्रावाऽभिद्रुतोऽरिभिः ।
न विश्रामास्पदं प्राप परलोक इवाऽधमः ॥ १६ ॥

की सत्ता रूपी करोड़ों लताओं के अन्तर्गत वह फल लगा था और अहङ्कार रूपी महान् बृंत से युक्त वह फल साक्षी चेतन से उज्ज्वल था ॥ ९ ॥

ज्ञान रूपी विकसित मुख वाला, अनेक नदी और समुद्र रूपी नाडियों से आवृत्त, पञ्चतन्मात्रा रूपी कोश में स्थित, ऊपर में तैर रहे नक्षत्रों रूपी हिम कणों से परिपूर्ण, महा कल्प के अवसान में पक कर गिरने में उन्मुख, अनन्तर मूर्ख रूपी कौवों या विवेकी जन रूपी कोकिल से भक्ष्यमान गिरने पर शान्ति को प्राप्त तथा कहीं पर वासना मात्र शेष स्वरूप नाश या ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला वह फल था ॥ १०-११ ॥

जैसे क्षौद्र कुम्भ के भीतर स्थित मधुमक्खियों का स्वामी रहता है वैसे ही उस गूलर के भीतर तीनों भुवन का स्वामी देवताओं का ईश इन्द्र रहता था ॥ १२ ॥

अपने अन्तःकरण में आत्मा का निरन्तर विचार करने वाला पूर्वापर वेत्ताओं में श्रेष्ठ वह महात्मा गुरु के उपदेश तथा अपने अभ्यास से अविद्या रूपी आवरण से रहित हो गया था ॥ १३ ॥

इसके बाद अपने पराक्रम से सुशोभित नारायण आदि जब कहीं क्षीर-सागर में शयन कर रहे थे तब अकेले उस सुरेश्वर ने शस्त्रों की ज्वाला रूपी अग्नि को धारण करने वाले बड़े-बड़े पराक्रमी असुरों के साथ युद्ध किया और बाद में उनसे पराजित हो वह शीघ्र युद्ध-भूमि से भाग गया ॥ १४–१५॥

जैसे पापी पुरुष उत्तम परलोक नहीं प्राप्त करता है वैसे ही शत्रु उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे । शत्रुओं के

तद्भ्रान्तदृष्टिष्वरिषु मनाक् छिद्रमवाप्य सः ।
प्रशमं कायसङ्कल्पं नीत्वा स्वं स्वान्तरे बहिः ॥ १७ ॥
कमप्यर्कांशुकोशस्थं त्रसरेणुं विवेश सः ।
संविद्रूपतया पद्मकोशं मधुकरो यथा ॥ १८ ॥
स तत्राऽऽशु विशश्राम चिरादाश्वासमाययौ ।
अथ विस्मृतसङ्ग्रामो निर्वृत्तिं समुपागमत् ॥ १९ ॥
कल्पितं सद्म तत्राथ स क्षणादनुभूतवान् ।
तस्मिन्सद्मनि पद्मान्ते रेमे स्व इव विष्टरे ॥ २० ॥
गृहस्थः स ददर्शाथ कल्पितं नगरं हरिः ।
मणिमुक्ताप्रवालादिकृतप्राकारमन्दिरम् ॥ २१ ॥
नगरान्तर्गतोऽपश्यत्ततो जनपदं हरिः ।
नानाद्रिग्रामगोवाटपत्तनारण्यराजितम् ॥ २२ ॥
तादृग्प्रतिश्चेतितवान्स शक्रो भुवनं ततः ।

पीछा करने पर दसों दिशाओं में बड़े वेग से भागते हुए उसने कहीं पर भी अपने विश्राम का स्थान नहीं प्राप्त किया ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् जब उसके शत्रुओं की दृष्टि इधर-उधर कहीं थोड़ी देर के लिए भ्रान्त हो गयी तब अपने छिपने का कुछ अवसर पाकर वह अपने स्थूलाकार सङ्कल्प को अपने अन्तःकरण के अन्दर ही सूक्ष्म भूत में विलीन कर अत्यन्त अणु बन कर बाहर सूर्य की किरणों के कोश में स्थित किसी एक त्रसरेणु के भीतर अपने संविद्रूप प्रवेश सङ्कल्प से वैसे ही प्रविष्ट हो गया, जैसे पद्मकोश के भीतर मधुकर प्रविष्ट हो जाता है ॥ १७-१८ ॥

वहां जाते ही वह शीघ्र विश्राम करने लगा। चिरकाल के बाद उसने वहां शान्ति प्राप्त की। अनन्तर बहुत दिनों तक वहीं पड़े रहने के कारण वह अपना संग्राम भूल गया, जिससे बाहर निकलने की उसकी स्मृति भी समाप्त हो गई। वहाँ पर उसने अपने रहने के लिए एक घर की कल्पना की और तत्काल ही उसका अनुभव किया। उस अपने कल्पित घर के भीतर पद्मासन के ऊपर बैठ कर उसने वैसे ही रमण किया, जैसे कि अपने स्वर्ग लोक में स्थित प्रसिद्ध सिंहासन के ऊपर बैठ कर रमण करता था ॥ १९-२० ॥

उस गृह के भीतर स्थित इन्द्र ने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जहाँ पर चहार-दीवारियों से घिरे मणि-मुक्ता और प्रवालों से विरचित अनेक मन्दिर चमचमा रहे थे ॥ २१ ॥

उसके बाद उस नगर के भीतर पहुँच कर इन्द्र ने एक देश देखा, जिस देश के भीतर अनेक प्रकार के पर्वत, ग्राम, गोशालाएँ, नगर और बहुत से जङ्गल विराजमान थे ॥ २२ ॥

साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशान्तं सक्रियाकालकल्पनम् ॥ २३ ॥
तादृग्प्रतिश्चेतितवान् स शक्रस्त्रिजगत्ततः ।
सपातालमहीव्योमविष्टपार्कादिपर्वतम् ॥ २४ ॥
तत्राऽतिष्ठत्सुरेशत्वे स भोगभरभूषितः ।
पुत्रो बभूव तस्याथ कुन्दो नामाथ वीर्यवान् ॥ २५ ॥
ततो जीवितपर्यन्ते त्यक्त्वा देहमनिन्दितः ।
निर्वाणमाययौ शक्रो निःस्नेह इव दीपकः ॥ २६ ॥
कुन्दस्त्रैलोक्यराजोऽभूज्जनयित्वा सुतं निजम् ।
कालेन जीवितस्यान्ते जगाम परमं पदम् ॥ २७ ॥
तत्पुत्रोऽपि तथैवाथ कृत्वा राज्ये सुतं निजम् ।
जगाम जीवितस्यान्ते पावनं परमं पदम् ॥ २८ ॥
एवं पौत्रसहस्राणि समतीतानि सुन्दर ! ।
तत्राद्यापि सुरेशस्य येषां राज्ये स्थितोऽशकः ॥ २९ ॥

अनन्तर उसी तरह के सङ्कल्प से युक्त इन्द्र ने भूलोक का अवलोकन किया, जो अनेक पर्वतों, समुद्रों, भूमियों, नदियों, राजाओं तथा उनकी राज्य सीमाओं से युक्त और क्रिया एवं काल आदि की कल्पनाओं से समन्वित था ॥ २३ ॥

अनन्तर वैसे ही सङ्कल्प से युक्त इन्द्र ने तीनों जगत् का अनुभव किया, जो पाताल, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य, पर्वत आदि अनेक पदार्थों से युक्त था ॥ २४ ॥

अनन्तर अनेक तरह के भोगों परिपूर्ण वह इन्द्र देवताओं के अधीशपन के पद पर देवलोक में अधिष्ठित हो गया और कुछ काल बीत जाने के बाद उसे कुन्द नामक एक महा पराक्रमी पुत्र पैदा हुआ ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् अनिन्दित वह इन्द्र जीवन के अन्त में इस पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग कर तैलरहित दीपक की तरह निर्वाण मोक्ष को प्राप्त किया ॥ २६ ॥

उसका पुत्र कुन्द तीनों लोक का राजा हुआ और पुत्र उत्पन्न कर समय से जीवन का अन्त आने पर वह परम पद को प्राप्त किया ॥ २७ ॥

उस कुन्द का भी लड़का अपने पिता के ही समान बहुत वर्षों तक राज्य कर अपने पुत्र को राज्य सिंहासन बैठाकर जीवन के अन्त में परम पावन पद को प्राप्त किया ॥ २८ ॥

हे सुन्दर ! इस तरह उस सुरेश के हजारों पुत्र-पौत्र

इत्यद्ययावदमरेश्वरवंश एव
सङ्कल्पिते जगति शक्रपदं विधत्ते ।
तस्मिन् क्षतेऽपि गलितेऽपि हतेऽपि नष्टे
क्वाप्यम्बरे दिनकरातपपावनाणौ ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने त्रसरेण्वन्तरसर्गसङ्घवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

आदि हो गये । आज भी जिनके उस राज्य में अंशक नाम का राजा राजसिंहासन पर स्थित है ॥ २९ ॥

हे विद्याधर ! इस प्रकार से, जैसा कि मैंने तुम से वर्णन किया, सूर्य के आतप से पवित्र उस त्रसरेणु के आकाश प्रदेश में कहीं क्षत, गलित, हत या सर्वथा नष्ट हो जाने पर भी इन्द्र के सङ्कल्पित त्रसरेणु के अन्दर स्थित जगत् में उस अमरेश्वर का वंश ही इन्द्र के राज्य का आज भी पालन कर रहा है ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में विद्याधरोपाख्यान में त्रसरेण्वन्तरसर्गसङ्घवर्णन नामक कुसुमलता का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

१४

भुशुण्ड उवाच

तस्य शक्रस्य कुलजः कश्चिदासीत्सुराधिपः ।
तत्रोत्तमगुणः श्रीमान्पाश्चात्या यस्य सा तनुः ॥ १ ॥
अथेन्द्रकुलपुत्रस्य तस्य तत्र बभूव ह ।
प्रतिभाज्ञानसम्प्राप्तिर्बृहस्पतिगिरोदिता ॥ २ ॥
ततो विदितवेद्योऽसौ यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
चकार जगतां राज्यमाज्यपानामधीश्वरः ॥ ३ ॥
युयुधे दानवैः सार्द्धमजयत्सर्वशात्रवान् ।
शतं चकार यज्ञानामज्ञानोत्तीर्णमानसः ॥ ४ ॥
उवास कार्यवशतो बिसबालान्तरे चिरम् ।
अन्यान्यपि च वृत्तान्तशतान्यनुबभूव ह ॥ ५ ॥
कदाचिदासीत्तस्येच्छा प्रबोधबलशालिनः ।
ब्रह्मतत्त्वमवेक्षेऽहं यथावद्ध्यानवानिति ॥ ६ ॥
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन तत एकान्तसंस्थितः ।
सबाह्याभ्यन्तरेऽशेषकारणत्यागशान्तधीः ॥ ७ ॥
सर्वशक्तिपरं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् ॥ ८ ॥
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य संस्थितम् ॥ ९ ॥

१४

भुशुण्डजी ने कहा—उस इन्द्र के कुल में उत्तम गुणों से पूर्ण श्रीसम्पन्न कोई इन्द्र हुआ। उस देवलोक में उसका वह अन्तिम शरीर था ॥ १ ॥

कुछ दिनों के बाद उस देवलोक में इन्द्र के वंश में उत्पन्न लड़के को बृहस्पति की उपदेश वाणी से आतमतत्त्वसाक्षात्कार ज्ञान की प्राप्ति हुई ॥ २ ॥

अनन्तर वेद्यवस्तु का ज्ञान प्राप्त करानेवाले तथा प्रारब्धानुसार प्राप्त कार्यों का सम्पादन करनेवाले देवताओं के उस अधीश्वर ने समस्त जगत् का राज्य किया ॥ ३ ॥

उसने दानवों के साथ युद्ध किया, अपने शत्रुओं को जीता तथा अज्ञान को पार कर चुके मनवाले उस राजा ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये ॥ ४ ॥

उसने अपने किसी कार्यवश कमलदण्ड के कोमल तन्तु के अन्दर चिरकाल तक निवास किया। उस बिसतन्तु के भीतर कल्पित ब्रह्माण्ड में राज्य करना तथा युद्ध में जय-पराजय प्राप्त करना आदि भिन्न-भिन्न सैकड़ों वृत्तान्तों का भी उसने खूब अनुभव किया ॥ ५ ॥

ज्ञान-बलयुक्त उस राजा को कभी अचानक ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं भलीभाँति ध्यान लगाकर माया-शबलित ब्रह्म का स्वभाव देखूँ ॥ ६ ॥

इसके बाद उसने एकान्त में स्थित होकर बाहर और भीतर के सम्पूर्ण विक्षेप कारणों के त्याग से शान्त बुद्धि हो समाधि लगा कर सर्वविध शक्तियों से सम्पन्न, सर्ववस्तुमय, सर्वत्र व्याप्त, सब तरह से सर्वदा सर्वरूप और सब के साथ, सर्वगामी परब्रह्म को देखा, वह अनेक हाथ और पैरों से युक्त था, चारों तरफ जिसकी आँख, मस्तक और अनेक मुख थे, सभी ओर अनेक श्रोत्रेन्द्रियों से युक्त तथा लोक में सबको आवृत करके स्थित था ॥ ७–९ ॥

सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १० ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ ११ ॥
सर्वत्र चन्द्रार्कमयं सर्वत्रैव धरामयम् ।
सर्वत्र पर्वतमयं सर्वत्राब्धिमयं तथा ॥ १२ ॥
सर्वत्र सारगुरुकं सर्वत्रैव नभोमयम् ।
सर्वत्र संसृतिमयं सर्वत्रैव जन्ममयम् ॥ १३ ॥
सर्वत्रैव च मोक्षात्म सर्वत्रैवाद्यचिन्मयम् ।
सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम् ॥ १४ ॥
घटे पटे वटे कुडचे शकटे वानरे नरे ।
धाम्नि व्योम्नि तरावद्रावनिले सलिलेऽनले ॥ १५ ॥
नानाचारविचाराणि विविधावृत्तिमन्ति च ।
परमाण्वंशमात्रेऽपि त्रिजगन्ति ददर्श सः ॥ १६ ॥
मरीचस्यान्तरे तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव चाम्बरे ।

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से निर्मुक्त उनके रूप आदि गुणों के ग्रहण करने की शक्तियों से समन्वित था। सपरमार्थ में सबसे अलग रहकर भी व्यवहार में सबको धारण किये हुए था। निर्गुण रहने पर भी वह सम्पूर्ण गुणों का भोक्ता था ॥ १० ॥

समस्त प्राणियों के बाहर-भीतर स्थित अचर तथा चर, सूक्ष्म होने से अविज्ञेय एवं दूरस्थ होने पर भी वह समीप में ही स्थित था ॥ ११ ॥

सर्वत्र चन्द्र-सूर्यमय, सर्वत्र पृथिवीमय, सर्वत्र पर्वतमय, सर्वत्र सागरमय, सर्वत्र चित्सार, गुरुरूप, सर्वत्र आकाशमय, सर्वत्र संसृतिमय, सर्वत्र जगन्मय, सर्वत्र मोक्षरूप, सर्वत्र आद्यचिन्मय, सर्वत्र सर्वपदार्थमय तथा सर्वत्र वह सबसे रहित था ॥ १२–१४ ॥

घट, पट, वट, शकट, भित्ति, वानर, तेज, गृह, आकश, वृक्ष, पर्वत, वायु, जल और अग्नि आदि सब पदार्थों में तथा परमाणु के एक अंशमात्र में भी नाना प्रकार के प्राणियों के शारीरिक आचारों तथा मानसिक विचारों से युक्त एवं स्वर्ग, नरक आदि के गमनागमनादि से समन्वित उसने तीनों जगत् को देखा ॥ १५–१६ ॥

मरीच के भीतर तीक्ष्णता तथा आकाश के भीतर शून्यता की तरह तीनों जगत् सदसद्रूप चिन्मय परमात्मा में विद्यमान हैं ॥ १७ ॥

इस तरह जीवभाव से शून्य शुद्ध ज्ञान से देखता हुआ इन्द्र पूर्व वासना कल्पित उसी शरीर से क्रमशः ध्यानवान्

त्रिजगत्सत्यसति च विद्यते चिन्मयात्मनि ॥ १७ ॥
इत्येवं भावयन्मुक्तभावया शुद्धसंविदा ।
शक्रः क्रमेण तेनैव तथैव ध्यानवानभूत् ॥ १८ ॥
ध्यानेन सर्वमेकत्र पश्यंश्चिरमुदारधीः ।
ददर्शेममसौ सर्गमस्मदीयं महामतिः ॥ १९ ॥
ततोऽस्मिन् विचरन्सर्गे शक्रान्ते शक्रतां गतः ।
चकार जगतां राज्यं वृत्तान्तशतशोभितम् ॥ २० ॥
विद्याधरकुलाधीश ! इत्यद्यैव स देवराट् ।
तस्येन्द्रस्य कुलोत्पन्न इति विद्धि यथास्थितम् ॥ २१ ॥
ततो हृदयबीजस्थप्राङ्मुख्याभ्यासयोगतः ।
बिसबालनिवासादिवृत्तान्तमनुभूतवान् ॥ २२ ॥
यथैष शक्रः कथितस्त्रसरेणूदरास्पदः ।
बिसबालास्पदश्चैतत्कुलजः कान्तिमानथ ॥ २३ ॥
तथा शतसहस्राणि तत्रेतश्चान्यतश्च खे ।
तादृशव्यवहाराणि समतीतानि सन्ति च ॥ २४ ॥

हो गया ॥ १८ ॥

महामति उदारबुद्धि उस इन्द्र ने ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मायाशबलित ब्रह्म में देर तक देखते हुए हम लोगों के द्वारा अनुभूयमान इस ब्रह्माण्ड को देखा ॥ १९ ॥

अनन्तर हम लोगों के इस ब्रह्माण्ड में पाताल, भूमि आदि लोकों के क्रम से इन्द्र-लोक के भीतर मन से विचरण करता हुआ वह इन्द्र के समीप पहुँचा। वहां इन्द्र को देखते ही 'मैं इन्द्र हूँ' इस संस्कार के उद्बुद्ध होने तथा पूर्व में किये गये सैकड़ों अश्वमेध यज्ञों के फल की प्राप्ति अनिवार्य होने से इन्द्र हो गया और सैकड़ों वृत्तान्तों से शोभित अनेक भुवनों का राज्य किया ॥२०॥

हे विद्याधर कुलाधीश ! इस प्रकार उस त्रसरेणु के अन्तर्गत इन्द्र के कुल में उत्पन्न वह इस ब्रह्माण्ड में भी देवों का राजा बन कर स्थित है, इसे तुम जान लो ॥२१॥

इस ब्रह्माण्ड का इन्द्र बनने के बाद उसने हृदय में बीज के सदृश संस्कार रूप से स्थित पूर्व काल के ज्ञान योगाभ्यास रूप योग से बिसतन्तु के भीतर स्थित अपने प्राक्तन वृत्तान्तों का स्मरण किया ॥ २२ ॥

त्रसरेणु के उदर में बिसतन्तु के भीतर अपना निवास बना कर कान्तिमान् जैसे यह इन्द्र कहा गया है, वैसे ही इधर-उधर उस तरह के सैकड़ों हजारों व्यवहार चिदाकाश में हो चुके हैं और हो भी रहे हैं अर्थात् सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म में सर्वज्ञ सबका सद्भाव होने से इस तरह के सैकड़ों इन्द्र विद्यमान हैं ॥ २३-२४ ॥

वहतीयमविच्छिन्ना चिरायैवं तरङ्गिणी ।
तावद्दृश्यसरित् प्रौढा रूढारूढे च तत्पदे ॥ २५ ॥
इति मायेयमादीर्घा प्रसृता प्रत्ययोन्मुखी ।
सत्यावलोकमात्रातिविलयैकविलासिनी ॥ २६ ॥
यतः कुतश्चिन्मायेयं यत्र क्वचन वाऽनघ ! ।
यथाकथञ्चित्सम्पन्नमात्रैव परिदृश्यते ॥ २७ ॥
अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात् ।
जायते मिहिकेवाऽऽशु प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ २८ ॥
येनायताभिमतदर्शनद्रष्टृदृश्य-
मुक्तस्वभावमवभासनमात्मतत्त्वम् ।
सर्वार्थशून्यमत एव च शून्यरूप-
मेकं खमात्रमिव मात्रविकल्पमेव ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्राण्वाख्याने सर्गसङ्कल्पयोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

आत्म साक्षात्कार न होने तक प्रबल यह दृश्य रूप नदी अविच्छिन्न रूप से चिर काल तक बहती ही रहती है और चौथी भूमिका से लेकर छठी भूमिकाओं तक उस ब्रह्म पद के अर्ध रूढ़ तथा अर्ध अनारूढ़ होने पर बहुत दूर तक लम्बी-चौड़ी फैली हुई यह माया माया-रूप से अनुभव में आ जाती है। एकमात्र विलास में ही तत्पर रहने वाली यह माया केवल सत्य परमात्मा के साक्षात्कार से विलय को प्राप्त होती है ॥ २५-२६ ॥

हे अनघ ! यह माया जिस किसी कारण से जहाँ-कहाँ यथा कथंचित् उत्पन्न हुई दिखाई देती है, अतः इसकी विचित्रताओं के विषय में विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए अर्थात् यह माया है, इसीलिए इसके वैचित्र्य में कोई विशेष हेतु ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है ॥२७॥

मेघ से वृष्टि के सदृश अहंभाव रूप चमत्कार से कुहरे के जैसी यह माया उत्पन्न होती और आत्मा के साक्षात्कार मात्र से क्षण भर में ही शीघ्र नष्ट हो जाती है अर्थात् एक मात्र अहङ्काराध्यास ही इसके वैचित्र्य में निश्चित हेतु है ॥ २८ ॥

सर्वसाक्षि ब्रह्म का रूप परमार्थतः समस्त विकल्पों से रहित ही है, इसीलिए अहङ्कार के अधीन विस्तृत मानस विकल्पों तथा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इस त्रिपुटी रूप इन्द्रिय के विकल्पों से मुक्त स्वभाव जाग्रदावस्था से शून्य होने के कारण वासनामय स्वाप्निक पदार्थों से रहित है। शून्य रूप एकमात्र आकाश की तरह पूर्ण अवभास वाला एक चिद्रूप आत्मतत्त्व ही परिशिष्ट है ॥ २९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में विद्याधरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्राण्वाख्यान में सर्गसङ्कल्पयोरैक्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

१५

भुशुण्ड उवाच

यत्राहन्त्वं जगत्तत्र पूर्वमागत्य तिष्ठति ।
पराण्वन्तरपीन्द्रस्य त्रसरेणूदरे यथा ॥ १ ॥
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अहम्भावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ २ ॥
वासनारससंसिक्तादहंबीजकणादयम् ।
ब्रह्माद्रौ व्योमविपिने जायते त्रिजगद्द्रुमः ॥ ३ ॥
तारकापुष्पनिकरो विलीनाचलपल्लवः ।
सरित्सारशिरापूरो वासनासारतत्फलः ॥ ४ ॥

१५

भुशुण्ड जी ने कहा—हे विद्याधर ! इन्द्र का साम्राज्य आदि प्रपञ्च रहता है वैसे ही जहाँ अहन्ता रहती है वहाँ जगत् पहले ही से आकर ऐसे बैठा रहता है, जैसे त्रसरेणु के भीतर परमाणु के अन्दर रहता है ॥ १ ॥

आकाश के वर्ण के सदृश आविर्भूत इस जागतिक भ्रम का अभिमानकर्ता अहंभाव ही आद्य मूल कहा गया है ॥ २ ॥

वासना रूपी रस से सींचे गये अहंभाव रूपी बीज कण से ब्रह्म रूपी पर्वत के ऊपर अव्याकृत आकाश रूपी विपिन में यह त्रिलोकी रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है ॥३॥

इस वृक्ष के सभी तारे पुष्प समूह हैं, मेघ मिहिका रूपी वन से ढके समस्त पर्वत इसके पल्लव हैं, गङ्गा आदि सब नदियां इसकी नाड़ियों के प्रवाह हैं तथा हे विद्याधर, वासना रूपी बीजांशों से परिपूर्ण नानाविध भोग ही तो इसके सुन्दर फल हैं ॥ ४ ॥

अहन्त्वसलिलस्येदं जगत्स्पन्द उदाहृतः ।
चिच्चमत्करणस्वादुर्वासनाविसरद्रवः ॥ ५ ॥
तारकासीकरासारो नभोऽनन्तनिखातवान् ।
भावाभावमहावर्तो नानागिरितरङ्गकः ॥ ६ ॥
त्रिलोकीविलिखल्लेखो विलोलालोकफेनिलः ।
ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भेदः कपाटापीडपीवरः ॥ ७ ॥
भूपीठदृढडिण्डीरपिण्डश्चिद्घनमद्गुमान् ।
चित्राजवं जवीभावमज्जनोन्मज्जनात्मकः ॥ ८ ॥
जरामरणमोहादिवीचीचयचमत्कृतिः ।
उत्पन्नध्वंसिदेहादिबिन्दुवृन्दैकबन्धुरः ॥ ९ ॥
अहन्त्वपवनस्पन्दो जगदित्यवगम्यताम् ।
अहन्त्वपद्मसौगन्ध्यं जगदित्यवबुध्यताम् ॥ १० ॥
नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दवत्सदा ।

यह जगत् अहङ्कार रूपी सलिल का विलास कहा गया है। चिति के वैषयिक सुख रूपी माधुर्य से परिपूर्ण वासनाओं का प्रसार ही इसका द्रव है ॥ ५ ॥

तारों के समूह रूपी सीकरों की मूसलाधार वृष्टि करने वाला तथा आकाश के कारण अनन्त सरोवरों से परिपूर्ण यह जगत् अहङ्कार रूपी महाजल का विलास है। नाना प्रकार के अनेक पर्वतों रूपी तरङ्गों से समन्वित इसमें सम्पत्तियों और विपत्तियों के अनेक आवर्त उठते रहते हैं ॥ ६ ॥

इसमें चित्रलिखित रेखाओं की तरह तीनों लोक के जन-समूह रूपी रेखाएँ आविर्भूत हो रही हैं तथा सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाशों के कारण वह फेन युक्त हो गया है। इसमें अनेकों ब्रह्माण्ड रूपी बुलबुलों के उद्भेद उपस्थित हैं तथा कपाट की तरह मोक्ष द्वार को रोक रखने वाले मोह से यह अभिवृद्ध है ॥ ७ ॥

भूपीठरूपी दृढ़ समुद्र फेन के पिण्ड से युक्त, अनेक जीवों के कारण जलकाकों से समन्वित तथा उनके नाना प्रकार के बेगपूर्वक ऊपर, नीचे, तिरछे भ्रमणों के कारण यह मज्जन और उन्मज्जनरूप है ॥ ८ ॥

यह जरा-मरण और मोहादिरूपी तरङ्गों के समूहरूप चमत्कार से परिपूर्ण है तथा उत्पत्ति तथा विनाशशील देहादि पदार्थरूपी विन्दुओं के वृन्द से अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥

हे विद्याधर, तुम इस जगत् को अहङ्काररूपी पवन स्पन्द समझो तथा यह भी जान लो कि यह जगत् अहङ्काररूपी कमल की सुगन्ध है ॥ १० ॥

पयो द्रवत्वमिव च वह्निरौष्णमिव च ॥ ११ ॥
जगदस्त्यहमर्थेऽन्तरहमस्ति जगद्धृदि ।
अन्योन्यभाविनी त्वेते आधाराधेयवत्स्थिते ॥ १२ ॥
जगद्बीजमहन्त्वं यो मार्ष्टि बोधादवेदनात् ।
अलं चित्रं जलेनेव तेन धौतं जगन्मलम् ॥ १३ ॥
अहन्त्वं नाम तत्किञ्चिद्विद्याधर ! न विद्यते ।
अकारणमवस्तुत्वाच्छशशृङ्गमिवोदितम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मण्यतितते ऽनन्ते सङ्कल्पोल्लेखवर्जिते ।
अहन्त्वकारणाभावान्न कदाचन सन्मयम् ॥ १५ ॥
अवस्तुन्येति सर्गादौ न सम्भवति कारणम् ।
अतोऽहन्त्वादि नास्त्येव वन्ध्यासुत इव क्वचित् ॥१६॥
तदभावाज्जगन्नास्ति चित्त्वं जगदभावतः ।
शिष्टं निर्वाणमेवाऽतः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ १७ ॥

पवन तथा उससे स्पन्द, जल और उसके द्रवत्व एवं अग्नि तथा उसकी उष्णता के सदृश यह अहङ्कार और जगत् सदा अभिन्नरूप है ॥ ११ ॥

हे विद्याधर ! अहङ्कार के अन्दर यह जगत् तथा उस जगत् के अन्दर अहङ्कार स्थित है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले तथा परस्पर एक दूसरे के अधीन स्थिति वाले हैं ॥ १२ ॥

जो मनुष्य जगत् के बीज इस अहङ्कार को अनहंभावरूप ज्ञान से नष्ट कर देता है मानो वह मल से परिपूर्ण जगद्रूपी चित्र को उसी ज्ञानरूपी जल से बिलकुल धो डालता है अर्थात् यही कारण है कि अहङ्कार के परिमार्जन से जगत् का परिमार्जन हो जाता है ॥ १३ ॥

इसलिए परमार्थ में यह अहंभाव कुछ नहीं है। अवस्तुरूप होने से खरहे के सींग के समान बिना कारण ही यह उदित है अर्थात् तत्त्वदृष्टि से अहङ्कार को असद्रूप देखना ही इसका परिमार्जन है ॥ १४ ॥

सर्वत्र व्याप्त, अनन्त, सङ्कल्पों के उल्लेखों से शून्य ब्रह्म में अहङ्कार का कोई कारण ही नहीं है, अतः वह कभी-भी सद्रूप नहीं है ॥ १५ ॥

कारण रहते भी लोक में अवस्तु के लिए वह कुछ नहीं कर नकता, प्रकृत सर्ग आदि में तो कारण का संभव ही नहीं है। इसलिए वन्ध्या स्त्री के पुत्र की तरह अहंभाव आदि कहीं पर भी नहीं हैं ॥ १६ ॥

अहंभावादिरूप बीज के अभाव से यह जगत् भी नहीं है और इस जगत् के अभाव से कैवल्यरूपी निर्वाण ही चिन्मात्र अवशिष्ट है। अतः शान्त ब्रह्मस्वरूप हो तुम सुखपूर्वक बैठे रहो ॥ १७ ॥

अभावादुपपत्तिस्यादेवं जगदहन्त्वयोः ।
रूपालोकमनस्काराः शान्तास्तव न चेतरत् ॥ १८ ॥
यन्नास्ति तत्तु नास्त्येव शेषं शान्तमसि ध्रुवम् ।
सम्प्रबुद्धोऽसि मा भूयो निर्मूलां भ्रान्तिमाहर ॥ १९ ॥
व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः
शिवमसि शान्तमसीश्वरोऽसि नित्यः ।
खमपि भवति पर्वतोपमानं
जगदपि वा परमाणुरूपमेव ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरनिर्वाणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार उपपत्ति में प्रतिष्ठित जगत् और अहङ्कार के अभाव से बाह्यरूप, आलोक आदि संसार तथा आभ्यन्तर मानसिक संसार सब तुम्हारे शान्त हो चुके। इन दोनों से अतिरिक्त हेय कोई दुःख अब तुम्हें नहीं है, अतः तुम शान्त बैठे रहो ॥ १८ ॥

जो नहीं है वह तो सर्वथा नहीं है ही, अतः विक्षेपादि दुःखरहित शान्त ब्रह्मरूप ही तुम हो। इसमें सन्देह नहीं कि अब तुम अच्छी तरह प्रबुद्ध हो चुके हो, अब फिर तुम निर्मूल भ्रान्ति को मत अपनाओ ॥ १९ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यप्रपञ्च के कल्पनारूपी कलङ्क से शून्य अतएव शुद्ध, शिव, शान्त, नित्य ईश्वररूप ही तुम हो। अध्यारोपदृष्टि से आकाश भी पर्वत के सदृश होता है तथा अपवाददृष्टि से तो ब्रह्माण्ड भी परमाणुरूप आकाश ही हो जाता है ॥ २० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में विद्याधरनिर्वाण नामक कुसुमलता का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

१६

भुशुण्ड उवाच

कथयत्येवमप्येवं स विद्याधरनायकः ।
आसीत्संशान्तसंवित्तिः समाधिपरिणामवान् ॥ १ ॥
प्रबोध्यमानोऽपि मया भूयोभूयस्ततस्ततः ।
न पपात पुरो दृश्ये परं निर्वाणमागतः ॥ २ ॥
स प्राप परमं स्थानं तावन्मात्रप्रबोधवान् ।
केनचिन्नाधिकेनाङ्ग यत्नेनातिशयैषिणा ॥ ३ ॥
अत उक्तं मया राम ! यदि शुद्धे हि चेतसि ।
उपदेशः प्रसरति तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ४ ॥
नाहमित्यस्ति तेनान्तर्मैनं भावय शान्तये ।
एतावदुपदेशोक्तिः परमा नेतराऽस्ति हि ॥ ५ ॥
एषैवाभव्यमनसि पतिता प्रविलीयते ।
उत्ताने मसृणादर्शे मुक्ताफलमिवाऽमलम् ॥ ६ ॥
भव्ये तु शान्तमनसि लगत्यभ्येत्यविच्युतिम् ।
प्रविश्यान्तर्विचाराख्यामर्चिरर्कमणौ यथा ॥ ७ ॥

१६

भुशुण्डजी ने कहा—मैं इस प्रकार कह ही रहा था कि उस विद्याधरनायक का समस्त दृश्यज्ञान शान्त हो गया एवं नीरक्षीर के समान समाधिरूपी चित्त के परिणाम से युक्त हो गया ॥ १ ॥

अनन्तर बार-बार मैंने उसे इधर-उधर से जगाया, लेकिन परम निर्वाणपद को प्राप्त वह फिर शब्दादि विषयों की ओर न गिरा ॥ २ ॥

मुख्य अधिकारी होने के कारण मेरे उतने उपदेश से ही प्रबुद्ध वह परमपदरूप स्थान को प्राप्त कर लिया। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि किसी और अधिक अतिशयशाली यत्न से नहीं ॥ ३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे कि जल में तैलबिन्दु फैलता है वैसे ही इसीलिए पहले मैंने आपसे कहा था कि शुद्ध चित्त में उपदेश ऐसे फैलता है ॥ ४ ॥

आपके चिदेकरस प्रत्यगात्मा में अहङ्कार का-अंश बिलकुल नहीं है, अतः आप अपनी शान्ति के लिए असद्रूप इसकी भावना कभी मत करे बस यही मेरी सर्वोत्तम सारसंग्रहभूत उपदेशवाणी है और कुछ अन्य नहीं ॥ ५ ॥

जैसे कि उलटे चिकने साफ दर्पण में निर्मल मुक्ताफल नहीं ठहर पाता वैसे ही यही अभव्य पुरुष के चित्त में पड़कर नहीं ठहर पाती ॥ ६ ॥

जैसे सूर्यकान्त मणि के भीतर प्रविष्ट होकर सूर्य की किरण अग्निशिखा पैदा करती है वैसे ही भव्य शान्तपुरुष के मन में जाकर शीघ्र लग जाती और खूब चिपक जाती है तथा उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर यह सम्पूर्ण मोहरूपी जंगल को जलाने में समर्थ विचारनामक अग्निशिखा पैदा करती है ॥ ७ ॥

अहंभावनमेवोच्चैर्बीजं दुःखाख्यशाल्मलेः ।
ममेदं तद्वदादीति शाखाप्रसरकारणम् ॥ ८ ॥

अहमादौ ममेत्यन्तस्तत इच्छा प्रवर्तते ।
इदमर्थशतानर्थकारिणी भवभारिणी ॥ ९ ॥

एवंविधा मुनिश्रेष्ठ ! मूढा अपि चिरायुषः ।
भवन्त्यनियमो ह्यङ्ग दीर्घायुष्यस्य कारणम् ॥ १० ॥

अन्तःशुद्धमनस्का ये सुचिरायाभयप्रदम् ।
मनागप्युपदिष्टास्ते प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥ ११ ॥

वसिष्ठ उवाच

मेरुमूर्द्धनि मामेवमुक्त्वा स विहगाधिपः ।
तूष्णीं बभूव मुक्तात्मा ऋष्यमूक इवाम्बुदः ॥ १२ ॥

अहमापृच्छ्य तं सिद्धं विद्याधरमथो पुनः ।
प्राप्त आत्मास्पदं राम ! मुनिमण्डलमण्डितम् ॥ १३ ॥

एतत्तवाद्य कथितं बलिभुक्कथोक्तं
विद्याधरोपशमनं लघुबोधनोत्थम् ।
अस्मिन् भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे
चैकादशेह हि गतानि महायुगानि ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने विद्याधरनिर्वाणं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस संसार के दुःखरूपी सेमर के वृक्ष का महान् बीज अहंभावना ही है तथा उस अहंभावना के समान ही 'यह मेरा है' यह भावना भी इस वृक्ष की मूल है, क्योंकि रागादिरूपी शाखाओं के प्रसार का कारण वही है ॥ ८ ॥

बीजावस्था के स्थान में तो अहंभाव, इसके कार्यभूत वृक्ष के स्थान में ममभाव यह मेरा है, यह भाव तथा इस वृक्ष की शाखाओं के स्थान में इच्छा प्रवृत्त होती है, जो इदमर्थरूप अनेक अनर्थों तथा संसार को प्रदान करने वाली है ॥ ९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! इस तरह मूढ भी कभी-कभी चिरजीवी होते हैं, अतः दीर्घायु का कारण तत्त्वज्ञान है, यह कोई नियम नहीं है ॥ १० ॥

चिरकाल के अभ्यास से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे महानुभाव तो थोड़ा भी उपदेश पाकर अभयप्रद परम पदको (ज्ञान को) प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष के ज्ञान में चिरकालिक अभ्यास ही कारण है, यह नियय तो है ही ॥ ११ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—जैसे कि ऋष्यमूक पर्वत के ऊपर मतङ्ग ऋषि के आश्रम में उनके शाप के भय से मूक होकर मेघ चुप हो जाते हैं वैसे ही मेरु पर्वत के शिखर पर इस तरह मुझसे कहकर विहगों के अधिपति मुक्तात्मा वे भुशुण्डजी चुप हो गये ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी ! तदनन्तर उस सिद्ध भुशुण्डजी से पूछकर उनकी आज्ञा से मैं उस विद्याधर के पास उक्त संवाद के विषय में पूछताछ करने के लिए चला गया। वहां से सारी बातें ठीक-ठीक जानकर मैं फिर मुनिमण्डलमण्डित अपने आश्रम में आ गया ॥ १३ ॥

आज मैंने आपसे काकभुशुण्डजी के द्वारा कही गई कथा से प्रतिपादित विद्याधर की परम विश्रान्ति, जो तत्त्वज्ञान के कारण तत्काल ही उत्पन्न हुई थी, सुनाई। इस वर्णित मेरे विहगेन्द्र भुशुण्डजी के समागम के अनन्तर इस कल्प के ग्यारह दिव्य युग बीत चुके हैं ॥ १४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में विद्याधरोपाख्यान में विद्याधरनिर्वाण नामक कुसुमलता का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

१७

वसिष्ठ उवाच

अनहंवेदनादेवं शुभाशुभफलप्रदा । संसारफलिनी नूनमिच्छान्तरुपशाम्यति ॥ १ ॥

१७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह अहंभाव के ज्ञान से शुभ और अशुभ फल देने वाली तथा संसाररूप फल से परिपूर्ण इच्छा अन्तःकरण में ही शान्त हो जाती है, यह निश्चित है अर्थात् संसृति का मूल काम ही है, इसलिए अनहंभाव द्वारा सबसे पहले उसीकी निवृत्ति करनी चाहिए ॥ १ ॥

अनहंवेदनाभ्यासात्समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
भूत्वा शान्तभवापीडो न नरः परितास्यति ॥ २ ॥

अहन्तापुटकोड्डीनपरबोधबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ३ ॥

अहन्तापुटकोड्डीनब्रह्मवीरबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ४ ॥

अहन्तापुटकोड्डीनो ब्रह्मवीरबलेरितः ।
शरीरयन्त्रपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ५ ॥

अहमर्थहिमं त्वन्तरनहन्ताचिदर्चिषा ।
उड्डीयेव विलीनं सन्न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ६ ॥

अहंरसो विलीनोऽन्तरनहन्ताचिदर्चिषा ।

अनहंभावज्ञान के अभ्यास से ढेला, पत्थर और सुवर्ण को एक-सा समझने वाला मनुष्य सांसारिक पीड़ाओं से शान्त होकर फिर किसी की इच्छा नहीं करता अर्थात् काम का उपरम हो जाने पर लोभ आदि दोषों के क्षय से वैराग्य आदि सम्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण मानसिक दुःखों का क्षय हो जाता है ॥ २ ॥

श्रवण आदि के द्वारा ज्ञाननिर्मथन के अभ्यास से अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्र के पुटक से अग्निज्वाला की नाईं आविर्भूत परब्रह्मसाक्षात्काररूपी बोध के बल से फेंका गया अहमादि दृश्य पदार्थरूपी पाषाण, अग्नियन्त्र द्वारा फेंके गये पाषाण की तरह, उड़कर शीघ्र ही न जाने कहां चला जाता है अर्थात् साधनसम्पन्न पुरुष को श्रवण आदि के द्वारा ज्ञानोदय होने पर ब्रह्म से अतिरिक्त अहमर्थ का; बाध से, असत्त्व ही पर्यवसित होता है ॥ ३ ॥

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत ब्रह्म-साक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया अहमादि दृश्य पदार्थरूपी पाषाण न जाने कहाँ शीघ्र उड़कर चला जाता है अर्थात् अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति में आरूढ़ हुआ ब्रह्म ही अज्ञान, अहङ्कार आदि के निरास में समर्थ है ॥ ४ ॥

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत हुए ब्रह्म साक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया शरीर-यन्त्ररूपी पाषाण उड़कर न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है अर्थात् अज्ञान और अहङ्कार की तरह व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल देह का भी निवर्तक ब्रह्म ही है ॥ ५ ॥

अहमर्थरूप हिम अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि से भीतर विलीन होकर मानो उड़ करके न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥ ६ ॥

शरीरपर्णाद्दुद्वर्णान्न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ७ ॥

शरीरपर्णान्निष्पीतस्त्वहंभावरसासवः ।
अनहन्तार्कमार्गेण परतामधिगच्छति ॥ ८ ॥

शयने कर्दमे शैले गृहे व्योम्नि स्थले जले ।
स्थूला सूक्ष्मा निराकारा रूपान्तरगतापि च ॥ ९ ॥

यत्र तत्र स्थिता सुप्ता प्रबुद्धा भस्मतां गता ।
धृता नीता निमग्ना च दूरस्था निकटा सती ॥ १० ॥

शरीरवटधानान्तःस्थिताहन्त्वनवाङ्कुरा ।
शाखाजालं तनोत्याशु संसाराख्यमिदं क्षणात् ॥ ११ ॥

अहन्त्ववटधानान्तःस्थितदेहबृहद्द्रुमः ।
संसारशाखानिवहं यत्र यत्र तनोत्यलम् ॥ १२ ॥

अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि की ज्वाला से ब्रह्मविद्या के अधिकारी उत्कृष्ट ब्राह्मण आदि वर्ण तथा परिपाक के कारण पाण्डुवर्ण शरीररूपी पत्ते से अहंभाव रूपी रस अन्तःकरण में ही गलकर न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है ॥ ७ ॥

शरीररूपी पत्ते से भलीभाँति पीया गया अहंभावरूपी रसासव अनहन्तारूपी सूर्य की किरण द्वारा अपने कारणभूत सूक्ष्मजलात्मक ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

तत्त्वज्ञान के बिना स्थूल, सूक्ष्म, निराकार, रूपान्तर को प्राप्त सुप्त, प्रबुद्ध, भस्मीभूत, धृत, आनीत, निमग्न, दूरस्थ या निकट में रहकर शयन, कर्दम, शैल, गृह, आकाश, स्थल तथा जल में जहाँ-तहाँ कहीं भी स्थित शरीररूपी वटबीज जिसके भीतर अहंभावरूपी नवीन अङ्कुर उद्भूत है, क्षणभर में ही शीघ्र सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो जाने वाले इस संसाररूपी शाखा समूह का विस्तार कर देती है। अर्थात् तत्त्वज्ञान के बिना तो कहीं कभी किसी अवस्था में भी देह या अहङ्कार का आत्यन्तिक उच्छेद नहीं हो सकता है क्योंकि परस्पर एक दूसरे के बीज होने के कारण परस्पर में उनकी भीतर सत्ता है, अतः जगद्भाव से इन दोनों की सर्वत्र उत्पत्ति है ॥ ९–११ ॥

अहन्त्वरूपी वट बीज के भीतर महान् शरीररूपी वृक्ष स्थित होकर जहाँ-तहाँ संसाररूपी शाखा समूह का खुब विस्तार करते रहता है। अर्थात् इस तरह अहंभावरूपी वट बीज के भीतर शरीररूपी वृक्ष भी स्थित है ॥ १२ ॥

शाखाशतेद्धदलपुष्पफलद्रुमोऽस्ति
बीजोदरे ननु दृशा परिदृश्यतेऽसौ ।
देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्य-
संवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम् ॥ १३ ॥

देहादहन्त्वमनवाप्तवतो विचारै-
श्चिद्व्योममात्रवपुषो वपुषोऽथवोच्चैः ।
नाऽहन्त्वबीजजठरादसतोऽभ्युदेति
संसारवृक्ष इह बोधमहाग्निदग्धात् ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अहन्त्वासत्तायोगोपदेशो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

जैसे बीज के भीतर सैकड़ों शाखाओं से विराजमान दलों- पुष्पों और फलों से समन्वित वृक्ष है, क्योंकि उसके रहने से ही तो अङ्कुरादि के रूप में निकलते हुए उसे सब लोग अपनी आँखों से देखते हैं, वैसे ही अहङ्काररूपी सूक्ष्म सूक्ष्म बीज के भीतर समस्त दृश्यों से युक्त यह देह है, इसे सूक्ष्मबुद्धिरूपी आँखों से विद्वान् पुरुषों ने ही देखा है ॥१३॥

श्रवण आदि विचारों से तत्त्व बोध होनेपर चिदाकाश मात्र शरीरधारी जीवन्मुक्त पुरुष के अहन्ता को न प्राप्त किये हुए विद्यमान भी शरीर से या निरतिशयानन्द पद में प्रतिष्ठित हुए विदेह युक्त पुरुष के बोधरूपी महाग्नि से दग्ध हुए असद्भूत अहन्तारूपी बीज के जठर से यह संसाररूपी वृक्ष फिर कहीं नहीं पैदा होता है ॥ १४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में
अहन्त्वासत्तायोग उपदेश नामक कुसुमलता का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

१८

वसिष्ठ उवाच

मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते ।
स्वसङ्कल्पान्तरस्थैर्यं मृतिरित्यभिधीयते ॥ १ ॥
पश्येमे पुर उद्भ्रान्त इव मन्दरमेरवः ।
आरूढा अपि दिग्वातैः सरिद्बिम्बितशैलवत् ॥ २ ॥
उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत् ।
श्लिष्टाश्लिष्टस्वरूपाः खे मिथः संसृतयः स्थिताः ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

पश्येमे पुर उद्भ्रान्त इति वाक्यार्थमक्षतम् ।
न किञ्चिदवगच्छामि यथावन्मुनिनायक ! ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्राणस्याऽऽभ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याऽऽभ्यन्तरे जगत् ।
विद्यते विविधाकारं बीजस्यान्तरिव द्रुमः ॥ ५ ॥

१८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—पामर ही मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि समस्त वस्तुओं के नाश को मरणरूप से समझते हैं, वह वास्तव में मरणस्वरूप नहीं है। यदि वैसा मान लिया जाय, तो कृतहानि आदि दोषों की प्राप्ति अवश्य होने लगेगी। किन्तु मनुष्यादि शरीरों में आत्मभाव के कारण प्रारब्ध का क्षय होने पर उसके अनुरूप सङ्कल्प के तिरोभाव के बाद देवादिशरीर में अहंभावादि के जनक कर्म की उत्पत्ति हो जाने पर उसके अनुरूप अपने दूसरे सङ्कल्प का, उसके भोजक अदृष्ट क्षय पर्यन्त स्थिर रहना ही, मरण कहलाता है अपने सम्पूर्ण सङ्कल्पों का रूपान्तर में स्थित रहना हीं मृति है ॥ १ ॥

इस तरह तत्-तत् जीवों के सङ्कल्प से कल्पित जगत् के भीतर स्थित हुए ये मन्दराचल और सुमेरु आदि दिशाओं में वायु द्वारा सर्वत्र इधर-उधर उड़ाये जा रहे, नदियों में प्रतिबिम्बत पर्वतों की तरह मेरे आगे दिखाई दे रहे हैं, आप भी देखें ॥ २ ॥

केले के स्तम्भ के भीतर-भीतर छाल-छीलकर देखने से प्राप्त दल के समान एक दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित समान अदृष्टवालों के न मिले हुए भी आकाश में अनेक संसार अवस्थित दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! 'पश्येमे पुरः उद्भ्रान्त' इस वाक्य का पूर्ण अर्थ मैं कुछ भी नहीं जान रहा रहा हूँ, अतः कृपाकर मुझे ठीक-ठीक समझायें ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—यह तो लोक और वेद में सब जगह प्रसिद्ध ही है कि मृत प्राणियों के प्राण आकाश में उत्क्रमण करते हैं तो ऐसी दशा में यदि प्राण हैं; तो उनके भीतर चित्त और चित्त के भीतर विविधाकार जगत् भी वैसे ही विद्यमान हैं, जैसे कि बीज के अन्दर वृक्ष इसकी संभवना कर सकते हैं ॥ ५ ॥

मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ।
सरिज्जलैरिवाम्भोधिजलान्यात्मद्रुतानि हि ॥ ६ ॥
इतश्चेतश्च यान्तीव तेषामन्तर्जगन्त्यलम् ।
व्योमवातविनुन्नानां सङ्कल्पैकात्मकान्यपि ॥ ७ ॥
सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्सङ्कल्पगर्भितैः ।
सर्वा एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समन्ततः ॥ ८ ॥
अत्रैते पश्य पश्यामि सङ्कल्पजगताङ्गणे ।
बुद्धिदृष्ट्या समुह्यन्ते पुरो मन्दरमेरवः ॥ ९ ॥
खवातेऽन्तर्मृतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
मनसाऽन्तर्जगद्विद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ १० ॥
खवातैः खसमाः प्राणा यथोह्यन्ते मनोमयाः ।
उह्यन्ते वै तथैतानि तदङ्गानि जगन्त्यपि ॥ ११ ॥
स भूतान्यम्बरोर्व्यादिवृन्दादि त्रिजगन्त्यपि ।

जैसे स्वरूपतः द्रुत होने के कारण समुद्र के जल नदियों के जल के साथ मिल जाते हैं वैसे ही पुरुष के मर जानेपर उसके शरीर से उत्कारान्त प्राणवायु बाह्याकाश में पूर्ण पवनों के साथ मिल जाते हैं ॥ ६ ॥

अतः आकाश वायु से विशेषतः आकृष्ट उन प्राणों के अन्तर्गत एकमात्र सङ्कल्परूप से स्थित अनेक जगत् भी इधर-उधर खूब भ्रमण करते हुए जो दिखाई दे रहे हैं वे ही मानो वायु द्वारा इधर-उधर उड़ाये जा रहे प्रतीत हो रहे हैं ॥ ७ ॥

स्फुरित हो रहे सङ्कल्पों से परिपूर्ण प्राणवायु के सहित पवनों से इन सब दिशाओं को मैं चारो ओर से परिपूर्ण देख रहा हूँ ॥ ८ ॥

यहाँ मैं देख रहा हूँ कि इस सङ्कल्पकल्पित आँगन में मेरे सामने ये अनेक मन्दराचल और सुमेरु पर्वत उड़ रहे हैं। आप भी अपनी बुद्धि दृष्टि से देखें ॥ ९ ॥

जैसे तिल में तैल स्थित रहता है वैसे ही आकाश में विद्यमान वायु के भीतर मृत प्राणियों के प्राण, उन प्राणों में उनका मन और उसी मन में जगत् को आप स्थित जानें ॥ १० ॥

जैसे आकाश वायु के द्वारा आकाश वायु के समान लघु मनोमय प्राण उड़ाये जा रहे हैं वैसे ही मन के अङ्गभूत ये अनेक जगत् भी उड़ाये जा रहे हैं॥ ११ ॥

चार प्रकार के प्राणियों के तथा आकाश, पृथिवी आदि समूहों के सहित अप्रतिष्ठित ये तीनों लोक भी एक दूसरे देश में वैसे सर्वत्र मेरे सामने उड़ाये जा रहे हैं, जैसे कि गन्ध फैलाई जाती है ॥ १२ ॥

उह्यन्ते चाप्यरूढानि पुरः सर्वत्र गन्धवत् ॥ १२ ॥
तानि बुद्ध्यैव दृश्यन्ते न दृष्ट्या रघुनन्दन ! ।
पुरः सङ्कल्परूपाणि स्वस्वप्नपुरपूरवत् ॥ १३ ॥
सर्वत्र सर्वदा सन्ति सुसूक्ष्माण्येव खादपि ।
कल्पनामात्रसारत्वान्न चोह्यन्ते मनागपि ॥ १४ ॥
तान्येव दृढभावत्वात्स्वेषु लोकेषु तेष्वलम् ।
सत्यान्येव चिदंशस्य सर्वगत्वाद्भवानिव ॥ १५ ॥
प्रतिबिम्बं पुराणीव पुरः प्राणसरिद्रये ।
अरूढान्यपि चोह्यन्ते रूढान्यपि च नैव च ॥ १६ ॥
सौरभाणि समुह्यन्ते वाताङ्गस्थानि राघव ! ।
जगन्ति प्राणसंस्थानि व्योमात्मकमयानि तु ॥ १७ ॥
कुम्भे देशान्तरं नीते यथाऽन्तर्व्योम्नि नान्यता ।
स्पन्दनादिमये चित्ते तथैव त्रिजगद्भ्रमे ॥ १८ ॥

हे रघुनन्दन ! अपने स्वप्न में देखे गये नगर समूह के तुल्य ये सङ्कल्पकल्पित जगत् बुद्धिचक्षु से ही सामने दिखाई देते हैं, चर्मचक्षु से नहीं ॥ १३ ॥

आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म सङ्कल्प कल्पित ये मनोमय जगत् सब जगह सर्वदा ही हैं और कल्पना मात्र सार होने से तनिक भी कहीं नहीं पहुँचाये जाते हैं ॥१४॥

यद्यपि ये नव कल्पना मात्र सार होने से असत्यरूप ही है, अतः कहीं इधर-उधर नहीं उड़ाये जाते, तथापि वे उन तत्-तत् जीवों के भोग्यरूप अपने अपने स्वर्ग, नरक, पृथिवी आदि लोकों में उनका दृढ़भाव होने के कारण एवं सुख, दुःख आदि भोगों की क्रिया में समर्थ दोने के कारण सत्यरूप ही हैं; क्योंकि उनकी सत्यता के सम्पादक अधिष्ठान चिदंश तो सर्वगामी ही है। इसलिए जिस तरह मेरी दृष्टि से श्रवण आदि अर्थ क्रिया में समर्थ मेरे सामने आप सत्यरूप दिखते हैं उसी तरह ये भी दिखते हैं ॥१५॥

सामने स्थित प्राणरूप नदी के वेग में प्रतिबिम्बित नगरों की तरह वासना मात्र होने से अनाविर्भूत हुए अनेक जगह इधर-उधर पहुँचाये जाते हैं ॥ १६ ॥

हे राघव ! जैसे वायु में स्थित सौगन्ध इधर-उधर ले जाये जाते हैं वैसे ही प्राणवायु में स्थित आकाशात्मक जगत् भी इधर-उधर ले जाये जाते हैं ॥ १७ ॥

घट को देशान्तर में पहुँचा देने पर भी जैसे घट के अन्तर्गत आकाश में कोई भेद नहीं है, वैसे ही स्पन्दनमय चित्त में तीनों जगत् का भ्रम रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भ्रम नहीं है अर्थात् यही कारण है कि तीनों

इत्थं न सज्जगत्भ्रान्तिरसत्यैवोदितेव ते ।
न विनश्यति नोदेति केवलं ब्रह्मरूपिणी ॥ १९ ॥
यदि वाप्युदिते वातैस्तत्तदस्या न लक्ष्यते ।
तदन्तःसंस्थितैः स्पन्दो नावि कोशगतैरिव ॥ २० ॥
यथा स्पन्दोऽङ्गलग्नायां नाव्यन्तःसंस्थितैरपि ।
न लक्ष्यते तथा पृथ्व्यां तत्संस्थैस्तन्मयैरपि ॥ २१ ॥
यथाऽयोजनविस्तीर्णं लघौ सद्मानुभूयते ।
यत्तस्य पादपस्तम्भे परमाणौ यथा जगत् ॥ २२ ॥
वस्त्वल्पमप्यतिबृहल्लघुसत्वो हि मन्यते ।

जगत् के भ्रमरूप से चित्त में स्पन्दन और भेद के रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भेद नहीं है ॥ १८ ॥

जैसे मृत प्राणियों के प्राण में स्थित जगत् सङ्कल्पमात्र होने से असद्रूप है, इसी तरह, आपका भी यह जगत् असद्रूप ही है। एकमात्र भ्रान्ति ही उदित हुई-सी है। परमार्थ में तो वह भ्रन्ति भी न तो नष्ट होती है और न उदित ही होती है। अर्थात् तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो वह भ्रान्ति भी एकमात्र ब्रह्मरूपिणी ही है ॥ १९ ॥

जैसे कि नौका में उत्पन्न हो रहे स्पन्द को उसके भीतर बैठे हुए मनुष्य नहीं देखते वैसे ही जगत् और इसकी भ्रान्ति ये दोनों उदित नहीं हैं, यह तो परमार्थ में निश्चित ही है। अथवा व्यवहार दृष्टि से यदि उदित हैं, तो भी वायु द्वारा किये गये इस पृथिवी के तत-तत् भ्रमण, परिवर्तन आदि को इसके भीतर बैठे हुए हम लोग नहीं देख रहे हैं ॥ २० ॥

पृथिवी के भीतर स्थित पार्थिव देहादिमय होते हुए भी हम लोगों को इसकी गति वैसे ही लक्षित नहीं होती जैसे अङ्ग में संलग्न नौका के भीतर स्थित मनुष्यों तथा उसमें जटित कील आदिकों को उसकी गति लक्षित नहीं होती ॥ २१ ॥

भीतर-भीतर अत्यन्त सूक्ष्म भी परमाणु में यह संसार बुद्धि से कल्पना द्वारा वैसे ही अनुभूत होता है जैसे छोटे से वृक्षस्तम्भ में विचित्रव्यूहरचनापूर्वक निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील शिल्पकार की बुद्धि से अल्पत्व की कल्पना द्वारा योजना में दूरतक विस्तीर्ण हुआ घर अनुभूत होता है ॥ २२ ॥

तुच्छ विचारवान् पुरुष छोटी-सी भी वस्तु को बहुत बड़ी मान बैठता है, जैसे कि रत्नों के भण्डार में प्रवृष्ट हुई धनसम्बन्धशून्य मूषिकाएँ रत्नों को बहुत नहीं मानतीं, किन्तु सिर्फ एक अञ्जुलीभर अन्न को ही वहां अपने बड़े भाग्य से प्राप्त हुआ बहुत समझती हैं अथवा छोटे-छोटे

मूषिकाः स्वाञ्जलिद्रव्यं नवपङ्कमिवार्भकाः ॥ २३ ॥
असत्येव स्वरूपेऽस्मिन् जगदाख्ये चिदो भ्रमे ।
लोकान्तराधर्ममयी सा बृहङ्गस्य भावना ॥ २४ ॥
इदं हेयमुपादेयमिदमित्यन्तरज्ञता ।
यस्य तस्य भवायास्ति सर्वज्ञस्याऽपि मूढता ॥ २५ ॥
सचेतनो ह्यवयवी चेतत्यवयवान्यथा ।
स्वान्तरेव ततं जीवस्त्रिजगद्बुध्यते तथा ॥ २६ ॥
संविदात्मपराकाशमनन्तमजमव्ययम् ।
व्योम्नोऽवयवरूपाणि तस्येमानि जगन्ति भोः ॥ २७ ॥

बच्चे पहने हुए अपने बहुमूल्य आभरणों को भी अधिक आदर की दृष्टि से नहीं देखते, किन्तु मृग या पक्षी के आकार के बने हुए नवीन नानाविध रङ्गों से रंगे गये चमकते हुए मिट्टी के पिण्ड को ही अपने खेलने की बहुत बड़ी चीज समझते हैं; जिससे कि वे उस मिट्टी के खिलौने से लुब्ध होकर अपने बहुमूल्य आभरणों को भी उसके बदले में दे डालते हैं अर्थात् परमाणु आदि में बृहद्रूप की कल्पना करके उसमें बृहत् जगत् के समावेश का अनुभव नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

अज्ञान से आवृत चिति के जगन्नामक भ्रम में असद्रूप ही पदार्थ में जीवित को यह लोक, मृत को परलोक तथा उनमें धर्माधर्म फल की जो कल्पना है वह बृद्धि दशा को प्राप्त चित्त की सङ्कल्परूप एकमात्र भावना ही है। भावना को वस्तु का अन्यथाभाव रोक नहीं सकता अर्थात् छोटे में बड़े का समावेश वस्तुतः नहीं हो सकता, भ्रान्ति ही से तो एकता है ॥ २४ ॥

यह वस्तु हेय है और यह वस्तु उपादेय है, इस तरह की भेदभरी अज्ञता जिसके अन्दर उपस्थित है, सर्वज्ञ होते हुए भी उस पुरुष की, व्यवहार चलाने के लिए जबतक प्रारब्ध का बिलकुल क्षय नहीं हो जाता तबतक कुछ न कुछ, मूढ़ता उसके पीछे लगी ही रहती है ॥ २५ ॥

अर्थात् यही कारण है कि सर्वज्ञ रहते हुए भी समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ को अपने अवयवों की भाँति भीतर में ही तीनों जगत् का दर्शन होता है।

समष्टि जीवात्मक हिरण्यगर्भ भी अपने ही भीतर व्याप्त तीनों जगत् का वैसे ही अवलोकन करता है जैसे सचेतन लौकिक व्यष्टि पुरुष अपने हाथ, पैर आदि अवयवों का अपने भीतर ही अवलोकन करता है ॥२६॥

संविदात्मक, परमाकाश अनन्त, अज एवं अविनाशी ईश्वर है। उसी मायोपहित परमाकाशरूप ईश्वर के

सचेतनोऽयःपिण्डोऽन्तः क्षुरसूच्यादिकं यथा ।
बुध्यते बुध्यते तद्वज्जीवोऽज्ञस्त्रिजगद्भ्रमम् ॥ २८ ॥
अचिच्चिद्वाऽपि मृत्पिण्डः शरावोदञ्चनादिकम् ।
यथाङ्गं मनुते जीवस्तथाङ्गं मनुते जगत् ॥ २९ ॥
चिदचिद्वाङ्कुरो देहे वृक्षत्वं मन्यते यथा ।
वृक्षशब्दार्थरहितं ब्रह्मेदं त्रिजगत्तथा ॥ ३० ॥
चिद्वाऽचिद्वा यथाऽऽदर्शो बिम्बितं वाप्यबिम्बितम् ।
नगरं वेत्ति नो वाऽपि तथा ब्रह्म जगत्त्रयम् ॥ ३१ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमात्रमेव जगत्त्रयम् ।
अहन्त्वजगतोस्तेन भेदो नास्त्येतदात्मनोः ॥ ३२ ॥

अवयवस्वरूप ये समस्त जगत् हैं। अर्थात् मायोपहित ईश्वर ही इस तरह देखता है ॥ २७ ॥

जैसे लोहे का रोले के सचेतन होने पर वह भी अपने अन्दर सूक्ष्मरूप से स्थित छुरे, सूई, कैंची आदि अपने भावी विकार को जैसे देख सकता है, वैसे ही समष्टि जीवात्मक ईश्वर भी अपने में लीन किये समस्त संस्कारों से समन्वित होकर तीनों जगत् के भ्रम को देखता है ॥ २८ ॥

अधिष्ठान सद्रूप की प्रधानता से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य की विवक्षा से अचितिरूप मिट्टी का पिण्ड शराव, उदञ्चन आदि को जैसे अपना अङ्ग मानता है वैसे ही समष्टि जीवरूप ईश्वर भी जगत् को अपना अङ्ग मानता है ॥ २९ ॥

जैसे उपहित के प्राधान्य से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य से अचितिरूप अङ्कुर अपनी देह में वृक्षत्व मानता है, वैसे ही वृक्ष शब्दार्थ से रहित ब्रह्म इन तीनों लोकों को अपने में ही स्थित मानता है अन्तर यह है कि जीवसंस्कारोपहितरूप से वृक्षशब्दादि सहित ब्रह्म अपने को मानता है तथा जीवसंस्कार से अनुपहित ईश्वररूप से वह अपने को वृक्षशब्दादि के अर्थ से रहित यानी अनादिसिद्ध विद्या से बाधित मानता है ॥ ३० ॥

[परिणाम दृष्टि से जीव और ईश्वर के सृष्टि और सृष्टि के अभाव काल में जगत् के अवलोकन में दृष्टान्त कहकर विवर्तदृष्टि से भी कहते हैं—'चिद्वा' इत्यादि से]

ब्रह्म भी तीनों जगत् को जीव और ईश्वर की उपाधि से उपहित दृष्टि से जानता है तथा अनुपहित शुद्ध दृष्टि से वैसे ही नहीं भी जानता है। जैसे चिति या अचितिरूप दर्पण बिम्बित या प्रतिबिम्बित नगर को अपने भीतर जानता है ॥ ३१ ॥

देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही ये तीनों जगत् हैं और अहङ्कार भी इन देश, काल आदि के साथ अभेद सम्बन्धाभिमान रखने के कारण देश, काल आदि रूप ही है, अतः देश-कालाकिरूप जगत् और अहङ्कार इन दोनों में भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

कल्पितेनोममानेन यदेतदुपदिश्यते ।
तत्रोपमैकदेशेन उपमेयसधर्मता ॥ ३३ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
अमुञ्चतः पराणुत्वं जीवस्यैतत्स्मृतं वपुः ॥ ३४ ॥
सर्वसंवेदनत्यागे शुद्धसंस्पन्ददे पदे ।
न मनागपि भेदोऽस्ति निःसङ्गोपलकोशवत् ॥ ३५ ॥
यो यो नाम विकल्पांशो यत्र यत्र यथा यथा ।
यदा यदा येन येन दीयते स तथैव चित् ॥ ३६ ॥
अचित्त्वान्नास्ति मनसि सङ्कल्पः ख इवाङ्कुरः ।
चित्त्वात्तु चेतसो विद्धि चितिरेवेह कल्पनम् ॥ ३७ ॥

कल्पित जडात्मक लोहे आदि के उपमानरूप से उपदेश से वहाँ उपमा के केवल एक अंश से उपमेय के साथ समानता है ॥ ३३ ॥

यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् दिखाई देने वाला सब अपनी वास्तविक ब्रह्मभावरूपी परमसूक्ष्मता का त्याग न कर रहे जीव का विवर्तरूप स्थूल शरीर ही है ॥ ३४ ॥

सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान से बाध होनेपर शुद्ध संस्पन्दन प्रदान करनेवाले आत्मपद में निःसङ्ग पाषाणकोश की तरह तनिक भी भेद नहीं है अर्थात् अधिष्ठानदृष्टि से समस्त विवर्तों का ज्ञान से बाध होने पर सब ओर शुद्धात्मा का प्रसार करनेवाले पूर्ण पद में किसी तरह से तनिक भी जीव जगत् का भेद नहीं है ॥ ३५ ॥

अबाध दशा में जो विकल्पांश जहाँ जैसे जब जिस रूप में मूढ़ों से दिया जाता है वह उसी रूप से चिति ही विवर्तित होती है अर्थात् ज्ञान से समस्त पदार्थों का बाध न होने पर सर्वदा सर्वत्र सम्पूर्ण विकल्पों के रूप से ही चिति विवर्तित होती है ॥ ३६ ॥

आकाश में अङ्कुर की तरह चिति का अभाव रहने पर मन में किसी तरह का सङ्कल्प नहीं उठता। चिति के उसमें अधिष्ठित रहने से ही नाना प्रकार के सङ्कल्प मन में उठते रहते हैं, इसलिए हे श्रीरामजी! आप यह जान लीजिये कि इस संसार में जितनी कल्पनाएँ मन में उदित होती हैं वे सबके सब चितिस्वरूप ही हैं अर्थात् मन में भी चिति का अनुप्रवेश रहने से ही विचित्र सङ्कल्पों की सामर्थ्य होती हैं, स्वतः नहीं, इसलिए यह निश्चित

या योदेति विकल्पश्रीरप्रबुद्धाशयं प्रति ।
सर्वगत्वादनन्तत्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३८ ॥
यथोदेति विकल्पश्रीः प्रबुद्धेनोदितैव सा ।
सर्वगत्वादनन्तत्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३९ ॥
सर्वसङ्कल्पकलना सत्येत्याबालमक्षतम् ।
स्वप्नादावनुभूतोऽन्तरर्थः केनापि लभ्यते ॥ ४० ॥
सङ्कल्पो वासना जीवस्त्रयोऽर्था लिखिताश्रिता ।
सोऽनुभूतोऽप्यसत्यः स्यादसत्त्वस्यैव नो सतः ॥ ४१ ॥
असत्यताभिधं सत्यं मुक्त एव भवेच्छिवः ।
साऽतिवाहिकदेहैकपरिक्षयविकासवान् ॥ ४२ ॥

है कि चिति में ही सम्पूर्ण विवर्त की स्वतन्त्रता निहित है ॥ ३७ ॥

अज्ञानी के हृदय में जो विकल्पश्री उदित होती है वह सब चिदाकाश के सर्वगामी और अनन्त होने से सद्रूप नहीं है ॥ ३८ ॥

जैसे अज्ञानी में विकल्पश्री उदित होती है वैसे ही प्रबुद्ध में वह उदित नहीं होती, यह निश्चित है। चिदाकाश के सर्वव्यापक तथा देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य होने के कारण वह सद्रूप नहीं है ॥३९॥

जाग्रत् काल की कल्पनाएँ ही सत्य प्रतीत होती हैं, यह बात नहीं है, किन्तु स्वप्न काल की कल्पनाएँ सत्य रूप प्रतीत होती हैं। यह बात बालक तक जानते हैं। परन्तु हे श्रीराम जी, स्वप्न एवं भ्रान्ति आदि में उपलब्ध हुए गज, रजत आदि पदार्थ किसी के भी द्वारा अपने भीतर सत्य रूप से गृहीत नहीं होते ॥ ४० ॥

जाग्रत् और स्वप्न के सङ्कल्प, वासनामय सुषुप्ति तथा इन दोनों में प्रतिबिम्बित चिद्रूप भोक्ता जीव ये तीनों पदार्थ सत्य कूटस्थ चिति के द्वारा अपने स्वरूप में चित्र की तरह चित्रित हुए हैं, इसलिए चित्र संसार के सदृश यह संसार अधिष्ठान सत्ता से सत्य स्वरूप अनुभूत होता हुआ भी असत्य रूपी जीव की ही दृष्टि में असत्य रूप है, अधिष्ठान सत् की दृष्टि में नहीं, क्योंकि उसके साथ तो उसका स्पर्श ही नहीं है। तात्पर्य यह कि जैसे चित्त में प्रतिबिम्बित या स्वप्न में देखे गये घोड़े, चित्र या स्वप्न के पुरुषों के ही, चढ़ने के काम में आते हैं, इन दोनों के बाहर रहने वाले सत्य पुरुष के चढ़ने के काम में नहीं आते; वैसे ही असत्पुरुष के लिए ही यह असद्रूप संसार भी है, सत्पुरुष के लिए नहीं है ॥ ४१ ॥

सत्य पुरुष में ही यह असद्रूप संसार, अपने अबोध के कारण, भले ही बना रहे, तथापि वह पुरुष तो नित्य-मुक्त ही कहा गया है; क्योंकि जिस तरह तत्त्वज्ञान के पहले सत्य स्वरूप वह ब्रह्म अपनी सत्यता को जगत् में सङ्क्रमित कर स्वयं सत्यत्व नाम को प्राप्त होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान के बाद वह भी बाधित हुए जगत् से अपनी सत्ता को अपने ही में उपसंहृत करके उसके असत्य नाम को भी स्वयं प्राप्त होता है। इसलिए यह निश्चित हैं कि अधिष्ठान मात्र के परिशेष से अन्य दूसरी कोई प्रपञ्च की असत्यता कदापि नहीं कही जा सकती, क्योंकि आतिवाहिक देह के सहित अकेले एक मात्र अपने अज्ञान का परिक्षय होने पर पूर्णता रूप विकास से युक्त प्रत्यगात्मा ही शिव स्वरूप शेष रह जाता है ॥ ४२ ॥

जगन्ति वातैरुह्यन्ते व्योम्नि शाल्मलितूलवत् ।
नोह्यन्ते चोपलानीव न च सन्त्येव कल्पनात् ॥ ४३ ॥
इत्यस्मिन्नखिलपदार्थकोशे
व्योमन्यप्यतिविततें जगन्ति सन्ति ।
अन्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च
नान्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च ॥ ४४ ॥
सर्वत्वात्परमचितेरनन्तरूपा-
ण्यारम्भप्रचुरदिगन्तसंभृतानि ।
लोलाम्बूदरपुरबिम्बभङ्गुराणि
स्वान्तःस्थाविरलमहापुरोपमानि ॥ ४५ ॥

इसलिए सेमल की रूई के समान आकाश में ये जगत् इधर-उधर वायु द्वारा उड़ाये जा रहे हैं, यह उक्ति भी अज्ञानियों की दृष्टि से ही है। परमार्थ में तो कल्पना मात्र होने से न तो ये जगत् हैं और न पत्थर की तरह इधर-उधर उड़ाये ही जा रहे हैं ॥ ४३ ॥

इस वर्णित रीति से अखिल पदार्थ समूहों के कोश भूत अज्ञात प्रत्यगात्म रूप, परमार्थतः सर्वत्र व्याप्त तथा शून्याकाश के सदृश चिदाकाश में अविद्या द्वारा अनन्त जगत् स्थित हैं। वे कितने तो कतिपय जीवों के भोजक अदृष्ट का साम्य होने पर जाग्रत् अवस्था तथा ब्रह्माण्ड की एक परस्पर मिले हुए रहते हैं एवं अदृष्ट का वैषम्य होने पर तो ब्रह्माण्ड भेद और स्वप्नावस्था में परस्पर मिले हुए नहीं भी रहते हैं ॥ ४४ ॥

ब्रह्म के सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण गुण, वस्तु, क्रिया और जात्यादि से अनन्त रूप, नानाविध कार्यों का आरम्भ किये हुए दिगन्तों में संस्थित जनों से परिपूर्ण, चञ्चल जलाशय के भीतर प्रतिबिम्बित नगर के समान

सस्थैर्याण्यपि सततं क्षणक्षयाणि
व्यक्ताक्षाण्यपि सततं निमीलितानि ।
सालोकान्यपि परितस्तमोवृतानि
चिद्रूपार्णवलहरीविवर्तनानि ॥ ४६ ॥

पृथक्स्थितानि व्यतिमिश्रितानि
जलानि चैवाम्बुनिधौ नदीनाम् ।
तारार्कचन्द्रग्रहमण्डलानां
समोदितानां नभसीव भासः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगज्जालकोशसाधर्म्ययोगोपदेशो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

क्षणभङ्गुर अत एव अपने अन्तःकरण में स्थित, सम्पूर्ण सामग्रियों से भरे देव, गन्धर्व आदि के नगरों के समान ये सब संसार हैं ॥ ४५ ॥

अनुवृत्त ब्रह्म के स्वरूप से निरन्तर स्थैर्य युक्त भी व्यावृत्त भाव विकारों के कारण क्षणभङ्गुर एवं जाग्रदवस्था में इन्द्रियों से प्रकट हुए भी तत्त्वतः अप्रकट तथा आत्मज्योति से प्रकाश युक्त होने पर भी उसके अज्ञान रूपी तम से आवृत होने के कारण चारों ओर अन्धकार से आवृत हुए ये संसार चिद्रूपी समुद्र के तरङ्गों के विवर्तन रूप हैं ॥ ४६ ॥

पृथक्-पृथक् रूप से स्थित हुए भी ये सब संसार आत्मा में एक रूप से वैसे ही स्थित हैं जैसे नदी रूपी पात्र में पृथक् रूप से स्थित हुए भी जल सागर में बिल्कुल मिले हुए रहते हैं तथा आकाश में एक ही समय में उदित हुए भी सब तारों के प्रकाश 'यह इसका प्रकाश है' इस प्रकार विवेचन करने अशक्य होने के कारण एक में सर्वथा मिले हुए भी एक के चलने पर दूसरे के न चलने से पृथक् स्थित रहते हैं ॥ ४७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में जगज्जालकोशसाधर्म्ययोग उपदेश नामक कुसुमलता का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

१९

श्रीराम उवाच

मुने ! जीवस्य यद्रूपमाकृतिग्रहणं तथा ।
यथा च परमात्मत्वं स्थानं यच्चास्य तद्वद ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्वसङ्कल्पेन चेत्योक्तं चिदित्यपरनामकम् ।
अनन्तं चेतनाकाशं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥
न पराणुर्न च स्थूलं न शून्यं न च किञ्चन ।
चिन्मात्रं स्वानुभूत्यात्म सर्वगं जीव उच्यते ॥ ३ ॥

अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
न किञ्चिन्मात्रकं चैव सर्वं जीवं विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥

यस्य यस्य पदार्थस्य यो भावस्तेन तत्र तम् ।
स्थितं विद्धि तदाभासं तदात्मैकान्तवेदनात् ॥ ५ ॥

१९

श्रीराम जी ने कहा—हे मुने ! जीव का स्वरूप शास्त्रीय व्यवहार में उपयोगी तथा पारमार्थिक जैसा उसका रूप है, उसकी स्थूल देह की जैसी कल्पना होती है, उसकी परमात्मरूपता जिस प्रकार होती है तथा जो उसका स्थान हो, वह सब हमसे कहें ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्त व्यापक चेतन ब्रह्म ही अपने संकल्प से प्राण द्वारा 'जीव' व्यवहृत होकर तथा चक्षु आदि द्वारा दूसरा 'चित्' नामवाला होकर जीव शब्द से कहा जाता है ॥ २ ॥

जो परम अणुरूप नहीं है, जो स्थूल नहीं है, जो न शून्य स्वरूप है, जो शून्य आकाश के अन्तर्गत है, जो चिन्मात्र, अनुभव स्वरूप है और सर्वत्र व्यापक है, वही जीव कहलाता है ॥ ३ ॥

जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं से भी सूक्ष्म है, जो गुरुतर वस्तुओं में सबसे बढ़-चढ़कर गुरुतर स्थूलतम है, जो तुच्छरूप नहीं है और जो सर्वात्मक है, उसी को पण्डित लोग जीव कहते हैं ॥ ४ ॥

जिस पदार्थ का जो असाधारण स्वरूप है, उस पदार्थ में उस रूप से स्थित उसी जीव को ही आप जानें, इस लिए उस पदार्थ के रूप में जीव ही भासमान होता है क्योंकि बार-बार देखने पर तत्-तत् पदार्थों के आकार में ही उसका अनुभव होता है, यह अकाटच नियम है। अर्थात् घट और चक्षु का सम्बन्ध होने पर चक्षु के द्वारा निकला हुआ अन्तःकरण स्ववृत्ति में सम्बद्ध घटावच्छिन्न

स चेतति यथा यत्र यद्यदाशु तदेव हि ।
तथा तत्र तदा राम ! भवत्यनुभवात्मकम् ॥ ६ ॥
पवनस्य यथा स्पन्दश्चेत्यं जीवस्य वै तथा ।
स्वसंविन्मात्रनिर्णेयं नोपदेशाम यक्षवत् ॥ ७ ॥
यथैवास्पन्दनाद्वातः सन्नेवैत्यसदात्मताम् ।
तथैवाचेतनाज्जीवो जीवन्नेति परां गतिम् ॥ ८ ॥
जीवश्चिद्घनरूपत्वादहमित्येव चेतनात् ।
देशकालक्रियाद्रव्यशक्तीर्निर्माय तिष्ठति ॥ ९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यचर्चितार्चितां स्वयम् ।

जीव चैतन्य को ही 'यह घट प्रकाशित होता है' इस रूप से घटस्वभाव के तादात्म्यरूप से ही अनुभव कराता है ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी ! अतएव समष्टि जीव जहाँ पर जिस रूप से सङ्कल्प करता है, वहाँ पर उस रूप को हो जाता है, क्योंकि समष्टि जीव जो सङ्कल्प करता है, वह सत्य ही होता है और व्यष्टि जीव जैसा रहता है, वैसा ही सङ्कल्प करता है ॥ ६ ॥

समष्टि जीव का चित्र-विचित्र वस्तुओं का अनुभवात्मक संसार वैसे ही स्वभाव सिद्ध है जैसे पवन की संचलन क्रिया स्वभावसिद्ध है यह अपने अनुभव से निर्णय कर लेना चाहिए, बालक की यक्ष-भ्रान्ति के सदृश इसका हम उपदेश से साधन करना नहीं चाहते अर्थात् चित्र-विचित्र समस्त वस्तुओं का समष्टि जीव को भास होता है, वह भासरूप सर्ग पवन के स्पन्द की तरह समष्टि जीव का स्वानुभव सिद्ध स्वभाव है, न कि बालक की यक्ष भ्रान्ति के सदृश उपदेशाभ्यास से उत्पन्न है ॥ ७ ॥

चित्र-विचित्र पदार्थों का प्रकाश न होने से मुक्ति आदि अवस्थाओं में अपना अस्तित्व रहते भी जीव वैसे ब्रह्मरूप बन जाता है जैसे संचलन क्रिया के न होने से अपना अस्तित्व रहते भी वायु असद्रूप बन जाता है अर्थात् मुक्ति, सुषुप्ति और महाप्रलय-काल में बाह्य आभ्यन्तर सभी पदार्थ चेतन में, जीवभाव के रहते भी, शान्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥

जो समष्टिजीव है, वह असल में चैतन्यघन का ही स्वरूपभूत है और 'अहम्' रूप से स्फुरित होता है, इसी से देश, काल, क्रिया और द्रव्य की असीम शक्ति का आविर्भाव कर वह अवस्थित रहता है अर्थात् जीव किस तरह के आकारों को ग्रहण करता है, इसको बतलाने के लिए सबसे पहले अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होकर उत्पन्न तथा समस्त कल्पनाओं के मूलस्तम्भ स्वरूप समष्टि अहङ्कार के अध्यास का दिग्दर्शन कराया गया है ॥ ९ ॥

असत्यां सत्यवत्स्फारां तावन्मात्रशरीरिकाम् ॥ १० ॥
चेतसा ह्यसदाकारां प्रालेयपरमाणुताम् ।
पश्यत्यात्मन्यथात्मत्वे स्वप्ने स्वमरणोपमाम् ॥ ११ ॥
स्वप्नस्वावयवान्यत्वसदृशीं तां विभावयन् ।
विस्मृत्य चेतनां सत्तां तत्तामेवाऽऽशु गच्छति ॥ १२ ॥
एवंरूपो बुद्धयमानः प्रोच्छूनत्वमथात्मनि ।
पश्यत्याशु स्वमात्मानं चन्द्रबिम्बमिव द्रुतम् ॥ १३ ॥
आत्मन्यथैन्दुबिम्बात्मन्यसौ संवित्तिपञ्चकम् ।
काकतालीयवद्भिन्नमुदितं चेतति स्वयम् ॥ १४ ॥

अनन्तर देश, काल, क्रिया और द्रव्य से युक्त अर्थात् संस्काररूप से आविर्भाव होने के कारण युक्त एवं उनसे अयुक्त स्थूलरूप से भलीभाँति आविर्भाव होने के कारण अयुक्त स्वयं असत्य होती हुई सत्य वस्तु के समान स्फुरित हो रही, केवल असत्य स्वरूपवाली समष्टि चित्तरूपता के तथा सूक्ष्मतम जल का सम्बन्ध होने के कारण हिम परमाणु के सदृश, असदाकार परमाणुरूपता का आत्मा में अवलोकन करता हैं अर्थात् आत्मा को परिच्छिन्न समझ बैठता है। अपनी आत्मरूपता के विषय में, स्वप्न में अपने मरण के सदृश तथा स्वप्न में व्याघ्रादिरूपता के दर्शन से प्रतीयमान अपने हाथ, पैर आदि अवयवों की अन्यरूपता के सदृश समष्टि चित्तरूप विष्णुरूपता की भावना करता हुआ चेतन सत्ता को भूलकर उसी की कल्पना के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है ॥ १०–१२ ॥

अनन्तर इस तरह जाना गया चेतन अपने स्वरूप में तत्काल स्थूलरूपता का अर्थात् पञ्चीकरण से स्थूलता सम्पादन कर स्थूल समष्टि विराट्रूप स्थूलरूपता का अनुभव करता है और उसमें अपने समष्टयात्मक द्रव-स्वभाव मन को चन्द्रबिम्ब के सदृश समझने लग जाता है, यही उसकी बुद्धि समष्टिरूप ब्रह्मरूपता है ॥ १३ ॥

अनन्तर चन्द्रविम्ब स्वरूप अपने स्वरूप में काकतालीय न्याय के सदृश अकस्मात् उत्पन्न हुई भिन्न-भिन्न पाँच इन्द्रियों के रूप में यह स्वयं प्रकाशित होने लगता है। विराट् देह में उनके भोग की उपपत्ति के लिए समष्टिलय मत से आदित्य-आदित्यरूप पाँच इन्द्रियों और उनके स्थलभेद की कल्पना है ॥ १४ ॥

पञ्चानां संविदां पञ्च भिन्नान्यङ्गान्यसावथ ।
बुद्धयते तानि तद्रूपरन्ध्राण्यनुभवत्यपि ॥ १५ ॥
स पञ्चावयवः पश्चाद्राजते पुरुषो विराट् ।
अनन्ताकारसंवित्तिरव्यक्तात्मा निरामयः ॥ १६ ॥
मनोमयोऽसावुदितः परस्मात्प्रथमोत्थितः ।
आकाशविशदः शान्तो नित्यानन्दविभामयः ॥ १७ ॥
स चाप्यपञ्चभूतात्मा पञ्चभूतात्मकोपमः ।
विराडात्मैकपुरुषः परमः परमेश्वरः ॥ १८ ॥
स्वयमेवाऽऽशु भवति स्वयमेव विलीयते ।
स्वयमेव प्रसरति स्वयं सङ्कोचमेति च ॥ १९ ॥
स्वसङ्कल्पकृतेनाऽसौ कल्पौघेन क्षणेन च ।
यदृच्छयोदेति पुनः पुनर्भूत्वोपशाम्यति ॥ २० ॥
मनोमात्रैकरूपात्मा प्रकृतेर्देह एष सः ।

इसके बाद पाँच इन्द्रियों के अलग-अलग पाँच स्थानों के रूप में यह अपना अनुभव करता है और उनके स्थानभूत अलग-अलग रूप आदि के उपभोगद्वारों का भी अनुभव करता है ॥ १५ ॥

पीछे आदित्य, दिशा, जल, वायु और पृथिवी रूप पांच इन्द्रिय-स्थान रूप अवयवों से युक्त होकर रूप आदि पांच विषयों का उपभोग कर रहा विराट् पुरुष बन जाता है, यह विराट् पुरुष अनेक मानसिक विकल्पों के कारण अनन्त आकार की कल्पनाओं द्वारा अनन्त आकारों के विज्ञान से युक्त रहता है, इसका स्वरूप अव्यक्त है तथा समस्त विकारों से शून्य है ॥ १६ ॥

यह मनोमयरूप से उदित हुआ हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम परब्रह्म से आविर्भूत है, अतः आकाश के समान विशद, शान्त, नित्य, आनन्द स्वरूप एवं प्रकाशमय है अर्थात् उसके मनोमय रूप होने पर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानैश्वर्य से एवं सब शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण वह जीव और ईश्वर दोनों रूप है ॥ १७ ॥

समस्त प्राणियों का समष्टिरूप अद्वय विराट् पुरुष परमेश्वररूप हैं, और पञ्चभूतात्मा के सदृश भासमान है ॥१८॥

सर्वशक्ति-सम्पन्न होने से वह शीघ्र ही स्वयं आविर्भूत होता एवं स्वयं विलीन हो जाता है, स्वयं विस्तार को प्राप्त होता है तथा स्वयं ही सङ्कोच को भी प्राप्त हो जाता है। अर्थात् ईश्वररूप होने से वह अपने आविर्भाव और तिरोभाव में बिलकुल स्वतन्त्र है ॥ १९ ॥

अपने सङ्कल्प से कल्पित अपने कल्पों में तथा क्षणभर में वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं उदित होता है तथा

एष पुर्यष्टकं प्रोक्तः सर्वस्यैवाऽऽतिवाहिकः ॥ २१ ॥
सूक्ष्मः स्थूलोऽम्बरात्मैष व्यक्तोऽव्यक्तोऽन्तवर्जितः ।
सर्वस्य बहिरन्तश्च न किञ्चित्किञ्चिदेव च ॥ २२ ॥
अङ्गानि राम ! तस्याऽष्टौ मनःषष्ठानि पञ्च च ।
साहंभावानीन्द्रियाणि भावाभावमयानि च ॥ २३ ॥
तेन गीता इमे वेदाः सहशब्दार्थकल्पनाः ।
नियतिः स्थापिता तेन तथाऽद्यापि यथास्थिता ॥ २४ ॥
अनन्तमूर्ध्वं मूर्द्धाऽस्य तथाऽधः पादयोस्तलम् ।
अपराकाशमुदरमिदं ब्रह्माण्डमण्डपम् ॥ २५ ॥
लोकान्तराण्यनन्तानि पार्श्वकाः क्षतजं पयः ।
मांसपेश्यः क्षितिधराः सरितः सन्तताः शिराः ॥ २६ ॥
रक्ताधारा जलधयो द्वीपान्येवाऽऽन्त्रवेष्टनम् ।
बाहवः ककुभः स्फारास्तारका रोमसन्ततिः ॥ २७ ॥

तथा पुनः पुनः उदित हो होकर वह पुनः पुनः शान्त भी हो जाता है ॥ २० ॥

केवल मनोमात्रस्वरूपात्मक यह जीव ही सबके उपादानभूत ईश्वररूप प्रकृति का शरीर है और यही व्याष्टिरूप से सब जीवों का पुर्यष्टक सूक्ष्म शरीर भी कहा गया है ॥ २१ ॥

यही अव्यक्त अनन्त आकाशात्मा परमेश्वर पिपीलीकादि सूक्ष्म देहों में सूक्ष्म, स्थूल पदार्थों में स्थूल, सबके बाहर और भीतर व्यक्ताव्यक्त, परमार्थ में किञ्चिद्रूप न होनेपर भी व्यवहार में किञ्चिद्रूप परिच्छिन्नरूप है ॥२२॥

हे श्रीरामजी ! मूर्त एवं अमूर्तस्वरूप पञ्चज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय सहित प्राण, षष्ठेन्द्रिय मन और अहङ्कार—ये आठ उस पुरुष के अङ्ग हैं ॥ २३ ॥

उसी ने अपने चार मुखों से शब्दर्थों की कल्पना से युक्त इन चारों वेदों का गान किया है। उसी ने शास्त्रीय सदाचार आदि की मर्यादा इस ढंग से स्थापित की है कि आज भी ज्यों की त्यों व्यवस्थितरूप से चली आ रही है ॥२४॥

अनन्त आकाश इस पुरुष का मस्तक है, पृथिवी इसके पैर का तलवा है, मध्याकाश इसका उदर है तथा यह ब्रह्माण्ड इसका शरीर है ॥ २५ ॥

अनन्त लोक इस विराट् पुरुष के पार्श्व के अवयव हैं, जल रक्त हैं, समस्त पर्वत मांसपेशियाँ हैं और निरन्तर बह रही ये नदियाँ इसकी नाडियाँ हैं ॥ २६ ॥

ये सब समुद्र रक्तसञ्चय की पेशियाँ हैं, सभी द्वीप छः कोशों के वेष्टन हैं, दिशाएँ बाहु हैं और ये चमकते तारे रोम समूह हैं ॥ २७ ॥

पञ्चाशदनिलस्कन्धा एकोनाः प्राणवायवः ।
मार्तण्डमण्डलं चण्डं पित्तं जठरपावकः ॥ २८ ॥
शशाङ्कमण्डलं जीवः श्लेष्मा शुक्रं सितं बलम् ।
मनः सङ्कल्पकोशात्म सारात्मा परमामृतम् ॥ २९ ॥
मूलं शरीरवृक्षस्य बीजं कर्मद्रुमस्य च ।
प्रसवात्सर्वभावानामिन्दुरानन्दकारणम् ॥ ३० ॥
यदिन्दुमण्डलं नाम स सम्राड् जीव उच्यते ।
शरीरकर्ममनसां बीजं मूलं च कारणम् ॥ ३१ ॥
अस्मादिन्दुविराड्जीवात्प्रसरन्ति जगत्त्रये ।
जीवा मनांसि कर्माणि सुखान्यत्राऽमृतानि च ॥ ३२ ॥
विराज एते सङ्कल्पा ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
तस्य चित्तचमत्काराः सुरासुरनभश्चराः ॥ ३३ ॥
चित्स्वभावो बुद्धचमानः प्रालेयपरमाणुताम् ।
यदादौ भावयत्याशु तदा तत्रैव तिष्ठति ॥ ३४ ॥
तेनैतदेव जीवस्य स्थानं विद्धि रघूद्वह ! ।
पञ्चावयवमेतत्तच्छरीरमनुभूयते ॥ ३५ ॥
विराड्जीवाच्चन्द्रमसो जीवभूतानि देहिनाम् ।
प्रसरन्त्यन्नजातानि प्रालेयविसरात्मना ॥ ३६ ॥
तान्येव देहिदेहेषु जीवा जीवन्ति जीविषु ।
मनो भूत्वा विचेष्टन्ते कर्मजन्मसु कारणम् ॥ ३७ ॥
एवं विराट्सहस्राणि महाकल्पशतानि च ।
गतान्यथ भविष्यन्ति नानाचाराणि सन्ति च ॥ ३८ ॥
सर्वतोऽनुभवरूपयाऽनया
सत्तयोत्तमपदादभिन्नया ।
अन्तवर्जितमहाङ्गसङ्गया
तिष्ठतीति पुरुषः परो विराट् ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
विराडात्मवर्णनं नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

आवह, प्रवह आदि उनचास पवन इसकी प्राणवायु, मार्तण्ड मण्डल इसकी क्रूर आंखें और बडवानल इसका चित्त है ।। २८ ।।

चन्द्रमण्डल ही इस विराट् पुरुष का जीव, श्लेष्मा, वीर्य, बल चर्बी और सङ्कल्पात्मक मन है तथा ब्रह्म ही साररूप आत्मा है ।। २९ ।।

चन्द्ररूपी मन ही शरीररूपी वृक्ष का बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थों का उत्पादन करने एवं अन्नादिरूप से वर्धन करने से आनन्द का कारण है ।। ३० ।।

जो यह चन्द्र मण्डल है वही सम्राट् जीव कहलाता है। अन्नमय व्यष्टि शरीरों का वह बीज है, प्राण हेतुक सम्पूर्ण कर्मों का मूल है और व्यष्टि मन का वही कारण है । अर्थात् वही विराट् शरीर में जीव है, क्योंकि अन्नरूप उसी से समष्टि प्राणों का धारण होता है ।। ३१ ।।

इस चन्द्ररूपी विराट् जीव से इन तीनों लोकों में सब जीव कर्म, मन, विषयभोग तथा मोक्ष प्रवृत्त होते हैं ।।३२।।

इस चन्द्ररूपी विराट् जीव के सङ्कल्प स्वरूप ही ये ब्रह्मा, विष्णु और भगवान् शङ्कर आदि देवता हैं तथा उसी के चित्त के चमत्काररूप ये सुर, असुर और पक्षी आदि नाना प्रकार के जीव-समुदाय हैं ।। ३३ ।।

सृष्टि के आदि में चन्द्रमा की अत्यन्त सूक्ष्म अमृत कलात्मता को साक्षीरूप से जान रहा विराट् प्रजापति जब देवतादि के शरीराकार का सङ्कल्प करता है, तब शीघ्र वह चतुर्मुखादि शरीर भाव में ही स्वयं सिद्ध की तरह स्थित हो जाता है, तात्पर्य यह कि वह सत्य सङ्कल्प वाला होने से शीघ्र सङ्कल्पितरूप में ही परिणत हो जाता है । अर्थात् चित्तोपहित चिति के विवर्त रूप से चित्त की चमत्कारिता को प्रकट करते हैं ।। ३४ ।।

हे रघूद्वह ! इसलिए चन्द्र मण्डल को ही आप सम्पूर्ण जीव सृष्टिरूप विराट् जीव का स्थान और अपञ्चीकृत पञ्चभूतावयवयुक्त शरीर समझिये इसी का जाग्रदवस्थारूप से सब को अनुभव होता है ।। ३५ ।।

चन्द्रमारूपी विराट् जीव से प्राणियों के जीवन के साधनभूत अन्न आदि सब पदार्थ, जो औषधियों में चन्द्र-कलाओं के प्रसाररूप हैं, सर्वत्र प्रसृत होते हैं ।। ३६ ।।

ये ही जीवित प्राणियों के शरीर में जीव होकर जीते हैं और मन हो करके अनेक जन्मों के कारणभूत कर्म किया करते हैं ।। ३७ ।।

इस तरह नानाविध आचारों से युक्त असंख्य विराट् के शरीर तथा असंख्य महाकल्प बीत चुके हैं, आगे चलकर होंगे और इस समय हैं भी ।। ३८ ।।

ब्रह्म से अभिन्न, अतएव अवधिशून्य एवं महान् व्यष्टि और समष्टि के देहसम्बन्ध से युक्त इस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्ता से ही 'तद्विवर्तो विराट् पुरुषः' इस वर्णित रीति से सब देश और सब कालों में परम विराट् पुरुष इस मायावृत ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है ।। ३९ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में
विराट् आत्मवर्णन नामक कुसुमलता का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। १९ ।।

२०

वसिष्ठ उवाच

सङ्कल्पपुरुषस्त्वेष यद्यत्कल्पयति स्वयम् ।
तत्तथा तादृशं पञ्चभूतात्मा भवतीव खम् ॥ १ ॥
सर्वं राम जगज्जातं तत्सङ्कल्पं विदुर्बुधाः ।
तादृग्रूप पञ्चकात्मविषयोन्मुखमाततम् ॥ २ ॥
जगत्पदार्थसार्थस्य विराट् सर्वस्य कारणम् ।
कारणेन समान्येव कार्याणि च भवन्त्यतः ॥ ३ ॥
यथैष स विराडेवं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
स्वसंविदि प्रसरति बोधवान् न त्वबोधवान् ॥ ४ ॥
आसरीसृपमारुद्रमेवमभ्युदितो भ्रमः ।
अणावप्यद्रिविस्तारो बीजकोश इव द्रुमः ॥ ५ ॥
आसरीसृपमारुद्रं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
पराणावप्यनन्तात्मबोधतो न त्वबोधतः ॥ ६ ।
यादृगेव विराडात्मन्येष विस्तार आगतः ।
तादृगेवेह सर्वस्मिन्नणुमात्रेऽपि भूतके ॥ ७ ॥
परमार्थेन न स्थूलं न सूक्ष्मं किञ्चन क्वचित् ।
यद्यथा विततं यत्र तत्तथाऽऽश्वनुभूयते ॥ ८ ॥
मनश्चन्द्रमसो जातं मनसश्चन्द्र उत्थितः ।
जीवाज्जीवोऽथवैकैषा सत्ता द्रवजलाङ्गवत् ॥ ९ ॥
शुक्रसारं विदुर्जीवं प्रालेयकणसंनिभम् ।
आनन्दोऽचलसन्दोहस्तत एव प्रवर्तते ॥ १० ॥
तं चेतति तदाभासं पूर्णमात्मस्थमात्मा ।
तत्र तन्मयतां धत्ते तेन तन्मयरूपिणी ॥ ११ ॥

२०

श्री वसिष्ठजी ने कहा—पञ्चभूतात्मा विराट् पुरुष स्वयं जिस तरह की कल्पना करता है, उस तरह से ब्रह्मरूप आकाश भी विवर्तभाव को धारण कर लेता है अर्थात् ब्रह्म विराट् पुरुष के सत्यसङ्कल्प के अनुसार ही विवर्त धारण करता है ॥ १ ॥

ब्रह्म पूर्व की उपासना से मिश्रित वासना से सृष्टि के आरम्भ में पञ्चभूतात्मक विराट्-स्वरूप बनकर उपासना के फलभूत पञ्चमहाभूतात्मक विषय-समष्टि का उपभोग करने में तत्पर है, अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत् को विराट् पुरुष का एक सङ्कल्प ही मानते हैं ॥ २ ॥

मिट्टी आदि हेतुओं से उत्पन्न कसोरे आदि मिट्टी के स्वभाव से ही ओत-प्रोत रहते हैं, अतः समस्त जगत् के पदार्थों का कारण विराट् होने से जगत् भी विराट् के स्वभाव से ओत-प्रोत है ॥ ३ ॥

व्यष्टिजीव भी अपने में समस्त जगत् का वैसे ही निर्माण करता है जैसे विराट् पुरुष समष्टिजीव समस्त जगत् का निर्माण करता है क्योंकि मानसिक वृत्ति के अनुसार जब व्यष्टिजीव को बाह्याकार विज्ञान उत्पन्न होता है, तब व्यष्टिजीव भी समष्टिजीव के अनुसार तत्-तत् पदार्थों के स्वरूपज्ञान से युक्त ही रहता है ॥ ४ ॥

तुच्छ से तुच्छ कीटादि तक और बड़े से बड़े रुद्र तक इस तरह का उत्पन्न जगत्-रूप भ्रम ही यह सृष्टि है। जैसे छोटे से बीज में बड़ा वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही छोटे से छोटे अणुरूप आत्मा में मह विशाल पर्वतरूप भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

कीट तक और रुद्र तक जितने व्यष्टिजीव हैं, वे सब अपने में जगत् का निर्माण करते हैं और ये सब परम सूक्ष्म शरीर के रहते हुए भी अनन्त आत्मस्वरूप को समझकर ही, बिना समझे निर्माण नहीं करते हैं ॥ ६ ॥

सभी इन मच्छर आदि सूक्ष्म भूतों में जगत् का विस्तार वैसे ही हुआ है जैसे विराट् आत्मा में इस समस्त जगत् का विस्तार कल्पनावश हुआ है ॥ ७ ॥

परमार्थतः न स्थूल है और न कहीं कुछ सूक्ष्म ही है, परन्तु भ्रान्ति से जहां जो बन जाता है, वहां वह तत्क्षण ही अनुभूत हो जाता है ॥ ८ ॥

मन चन्द्रमा से उत्पन्न है और मनसे चन्द्रमा उत्पन्न है, समष्टि जीव से व्यष्टिजीव उत्पन्न है अथवा समष्टिजीव और व्यष्टिजीव दोनों की सत्ता एक ही है, अतः भेद का अवसर ही नहीं है, इसलिए उसमें कारणत्व का प्रसङ्ग कैसे हो सकता है ? ॥ ९ ॥

सबसे पहले हिमकण के मान तथा शुक्र रूप उपाधि से युक्त जीव होता है, यह मुनियों का मत है। इस शुक्रोपहित जीव से ही माता-पिता के मैथुनकाल में अचल पूर्णानन्द ब्रह्म का भोगाकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ने से रतिरूप आनन्द प्रवृत्त होता है। यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है ॥ १० ॥

उसी ब्रह्म के आभासरूप आनन्द का शुक्रयुत जीवात्मक चैतन्य में स्थित, वीर्यरूप स्वभाव के द्वारा अनुभव करता है, उसी में तादात्म्याध्यासरूप तन्मयता धारण कर चिति तद्रूप बन जाती है ॥ ११ ॥

जीवसंविदथैषान्तर्यदुपायाति पञ्चताम् ।
न तत्र कारणं किञ्चिद्विद्यते न च कार्यता ॥ १२ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छित्तेरभावात्स्वस्वभावयोः ।
स्वभावोक्तिन चैवाऽत्र भवत्यर्थानुसारिणी ॥ १३ ॥
जीवो जीवत्वमेव स्वजीवत्वादेव च स्वतः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन दृश्यते न च वायुवत् ॥ १४ ॥
नीहारेणेव संवीतश्चेत्यवस्तुपरायणः ।

अनन्तर यह जीवचिति उस वीर्य में पञ्चभूतात्मक देहरूपता को धारण करती है, यही इसकी उपहितता है, ऐसी स्थिति में उसमें न तो कोई कारणता है और न कोई कार्यरूपता ही है ।। १२ ।।

अर्थात् यदि उपाधियुक्त स्वरूप में कोई भी कारण नहीं है, तो वह जीवों का अनागन्तुक स्वरूप स्वभावरूप ही माना जायगा, स्वभाव तो किसी का चला जाता नहीं, ऐसी स्थिति में जीवों की मुक्ति ही नहीं होगी, इस प्रकार की नहीं की जा सकती है ।

आप जो इस औपाधिक रूप के विषय में कहते हैं कि वह अनागन्तुक जीव का स्वभाव ही है, वह आपका कथन किसी अर्थ से पूर्ण नहीं है यानी वह कोई मूल्य ही नहीं रखता, क्योंकि स्व और स्वभाव में कोई प्रतियोगी और व्यवच्छेद है ही नहीं । अर्थात् शुद्ध आत्म स्वरूप स्वभाव से कोई भिन्न हो ही नहीं सकता है, अतः भेद का प्रतियोगी नहीं हो सकता, स्वशब्दार्थ से युक्त जो भाव है, यही तो स्वभावशब्द का अर्थ है, यहाँ स्वशब्द का अर्थ यदि शुद्ध आत्मा मान लिया जाय, तो शुद्ध वस्तु अद्वितीय है, अतः न तो वह प्रतियोगी है और न उसका कोई व्यवच्छेद ही है, इसलिए अव्यावर्तक किसी से भिन्नता न करने वाले स्वशब्दार्थ से भिन्न भावशब्दार्थ का निरूपण न हो सकने के कारण स्वशब्दार्थविशिष्ट भावशब्दार्थ का स्वभावार्थ का साधन करना ही नहीं बन सकता है ।। १३ ।।

उपाधि से युक्त जीव भी स्वयं उपहित-स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें जीवत्वरूप उपहितरूपता ही विराजमान है; अतः उपहितरूप को छोड़कर और कोई दूसरा रूप, भावशब्दका अर्थभूत तथा स्वविशेष्यता के लिए योग्यता रखने वाला, भीतर या बाहर यहां दृष्टिगोचर नहीं होता है । यही रूप—जैसे 'वायु बहती है' यहाँ पर क्रियारूप ही वायु का विकल्पवृत्ति से भेद मानकर 'बहती है' कहा जाता है वैसे ही 'जीवो जीवत्वम्' आदि द्वारा—धर्मधर्मिभावरूप भेद मानकर कहा जाता है

जात्यन्ध इव पन्थानं मारुतात्मा न पश्यति ॥ १५ ॥
जगज्जृम्भिकया जीवः स्वमैक्यं द्वित्वमास्थितः ।
स्पन्दशक्त्येव पवन आवृतात्मा न पश्यति ॥ १६ ॥
अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्याविद्यात्मनोऽसतः ।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥ १७ ॥
व्यपगतघनचेतनः समन्ता-
दहमिति नूनमबुध्यमान आस्व ।

अर्थात् स्वशब्दका अर्थ उपाधि से युक्त आत्मा मानने पर भी यह स्वशब्दार्थ से पृथक् भावशब्दार्थ नहीं हो सकता है जिससे कि स्वशब्दार्थ से भावशब्दार्थ में कोई विशेष बात आ जाय ।। १४ ।।

नीहार के सदृश स्वरूप-आच्छादन करने वाले अज्ञान से आवृत आत्मा का भी स्वरूपतः ज्ञान न होकर विपरीत अवलोकन है, वैसे ही जैसे कुहरे से आच्छादित वस्तु का स्वरूपतः ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, वही जीव का स्वरूप है, इसी से विषयात्मक वस्तुओं की ओर उसकी प्रवृत्ति रहती है । जड़ इन्द्रिय आदिरूप अपने को मानकर जन्मान्ध पुरुष जैसे मार्ग को नहीं देखता, वैसे ही अपने स्वरूप को वह नहीं देखता है । अर्थात् यदि नित्य या अनित्य स्वभावभूत जीवस्वरूप नहीं है, तब वह क्या वस्तु है जो संसार में फँस जाती है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह चीज अनिर्वचनीय अज्ञान से आवृत ब्रह्म ही है । अपने विपरीत स्वरूप का अवलोकन ही उक्त वस्तु है और यही संसार में फँसती है, यह कहते हैं ।। १५ ।।

जगत् के रूप में वर्धित अविद्याशक्ति के प्रभाव से तिरस्कृत अपनी एकता की द्वैतरूप में द्रष्टा-दृश्यरूप में कल्पना कर उसी में अभिनिवेश कर जीवात्मा बैठा रहता है । इसीलिए जैसे पवन अपनी स्पन्दनशक्ति नहीं देखता, अविद्याशक्ति से आवृत वह आत्मा अपने स्वरूप को वैसे ही नहीं देखता है ।। १६ ।।

मिथ्या विषयरूप, असत् तथा 'अहम्' रूप अज्ञानरूपी सबसे बड़ी गाँठ का भेदन मोक्ष है, यह मुनियों द्वारा कहा गया है ।। १७ ।।

सबसे पहले आप अज्ञानरूप घनमेघ से छुटकारा प्राप्त चैतन्य प्रकाशरूप बन जाएँ, फिर अपने को अहङ्कार की उपाधि से परिच्छिन्न न समझें अर्थात् शोधित त्वंपदार्थरूप हो जाए, फिर मूर्त, अमूर्त और मूलाज्ञान के बाध से युक्त

अनभिधघनचेतनैकरूपः क्षितसदसत्सदोदितश्च ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवनिर्वाणयोगोपदेशो नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

निरन्तर उदित स्वभाव होकर नामशून्य- आनन्दैकरसघन एकमात्र चेतनरूप शोधित तत्पदार्थरूप हो जाएँ और इस प्रकार होकर आप चारों ओर से पूर्ण बनकर स्थित रहें ॥ १८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में जीवनिर्वाणयोग उपदेश नामक कुसुमलता का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २० ॥

२१

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम ! न ज्ञानबन्धुना ।
अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

किमुच्यते ज्ञानबन्धुर्ज्ञानी चैव किमुच्यते ।
किं फलं ज्ञानबन्धुत्वे ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् ।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ३ ॥
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते ।
बोधशिल्पोजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ४ ॥
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये ।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः ॥ ५ ॥
प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते ।
अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ६ ॥
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु ।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्याऽनवबोधनात् ॥ ७ ॥

२१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! मनुष्य को सदा ज्ञानी ही होना चाहिए, ज्ञानबन्धु (ज्ञान के बहाने सत्कर्मों में श्रद्धा के त्याग से भोगों में लम्पट बनाकर जो अपने को और दूसरे को अनर्थों के द्वारा बाँध देता है, वह ज्ञानबन्धु कहा गया) नहीं होना चाहिए। मैं अज्ञानी ो अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुता को अच्छा नहीं समझता ॥ १ ॥

श्रीरामजी ने कहा—ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और और ज्ञानी कौन कहा जाता है तथा ज्ञानबन्धु होने में कौन फल मिलता है और ज्ञानी होने में कौन फल मिलता है, यह सब आप कृपाकर मुझे बतायें। अर्थात् किस स्वरूप को प्राप्त करके मनुष्यज्ञानबन्धु होता है और किस स्वरूप को प्राप्त कर के ज्ञानी कहा जाता है तथा इन दोनों के फल क्या हैं, यह सब भलीभाँति मुझे बताइयें ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शास्त्रों को केवल अपने भोग के लिए शिल्पी की तरह पढ़ने वाला और उसकी व्याख्या करने वाला परन्तु स्वयं ज्ञान के उपायभूत सधान-चतुष्टय के सम्पादन और मनन आदि में प्रयत्न नहीं करता है वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥ ३ ॥

जिसका शास्त्राभ्यास जनित शाब्दिक बोध भोग-व्यवहारों में वैराग्योपरम आदि फलों से फलित नहीं दीखता वह तत्त्व कथाओं द्वारा दूसरों को ठगने के लिए चातुर्यपूर्ण बोधरूपी शिल्पकारी से अपना जीवन-निर्वाह करने वाला होने से ज्ञानबन्धु कहा गया ॥ ४ ॥

एकमात्र भोजन, वस्त्र आदि से सन्तुष्ट होकर भोजन आदि की प्राप्ति को ही शास्त्राध्ययन फल मानने वाला शास्त्रार्थ कथा का अभिनय करने वालों को नटादि शिल्पियों के समान ही समझना चाहिए ॥ ५ ॥

शास्त्रार्थ ज्ञान के उचित, किये जानेवाले वेदान्त श्रवण में चित्तशुद्धि द्वारा अनुकूल निष्काम अग्निहोत्र आदि घरों में अथवा श्रुतिबोधित अपने अधिकार और कुलाचार आदि के उचित सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने वाला तत्त्वज्ञान का निकटवर्ती होने के कारण ज्ञान-बन्धु कहा जाता है ॥ ६ ॥

आत्मज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं, आत्मज्ञान से भिन्न अन्य ज्ञान सब जगत् और जीव के अधिष्ठानभूत ब्रह्म के बोधरूप न होने से ज्ञानावभास ही हैं ॥ ७ ॥

आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये ।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ ८ ॥
ज्ञानादि तज्ज्ञेयविकाशशान्त्या
विना न सन्तुष्टधियेह भाव्यम् ।
त्वं ज्ञानबन्धुत्वमुपेत्य राम !
रमस्व मा भोगभवामयेषु ॥ ९ ॥
अत्राऽऽहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम् ।
प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ज्ञानविचारो नामैकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

अर्थात् उस तरह के ज्ञानावभास की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहने वालों में अशुभ ज्ञानबन्धुता ही है ।

तुष्ट अभिमान आदि दोष तथा पारलौकिक अनर्थरूप फल के लिए कष्ट चेष्टापूर्वक कर्म करते हुए आत्मज्ञान को न प्राप्त कर अन्य ज्ञानलेश की प्राप्ति से सन्तुष्ट अशुभ ज्ञानबन्धु कहे गये हैं ॥ ८ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर विषयों की अनेक वृत्तिरूप ज्ञान, इन वृत्तियों के कारण एवं आश्रय प्रमाता तथा इनके शब्दादि विषय और इन विषयों के प्रकाश—इन सबकी आत्यन्तिक शान्ति से होनेवाली पूर्णान्दैकरस, स्वप्रकाश, ब्रह्मात्मैक्य की प्रतिष्ठा के बिना अवान्तर भूमिकाओं के लाभ से 'अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ' इस तरह सन्तुष्ट बुद्धि होकर उत्तरोत्तर भूमिकाओं में पहुँचाने वाले प्रयत्नों से मुमुक्षु पुरुष को यहाँ शिथिल नहीं हो जाना चाहिए। हे श्रीरामचन्द्रजी ! आप सम्पूर्ण विद्याओं में कुशल होते हुए भी अध्यात्मशास्त्र को छोड़ कर अन्य शास्त्रों में चातुर्यपूर्ण आसक्ति से ज्ञान की उपेक्षा द्वारा या अनधिकारी पुरुषों में ज्ञानोपदेश देने के कौशल के प्रदर्शन के द्वारा ज्ञानबन्धुता को प्राप्तकर उस ख्याति लाभ आदि के द्वारा भोगरूपी सांसारिक रोगों में रमण न करें अर्थात् जबतक सप्तम भूमिका की स्थिरता नहीं हो जाती तबतक मुमुक्षु को सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिए ॥ ९ ॥

इस संसार में मुमुक्षु पुरुष को अपने आहार की हित, मित और मेध्य भोजन की प्राप्ति के लिए श्रुति-स्मृति तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित अनिन्द्य कर्म करना चाहिए तथा वह आहार भी अपने प्राणों के धारण के लिए ही करना चाहिए एवं प्राणों का धारण तत्त्वजिज्ञासा के लिए करना चाहिए और ऐसे तत्त्व की जिज्ञासा करनी चाहिए, जिससे कि फिर जन्म, मरण आदि दुःख की प्राप्ति न हो ॥ १० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में ज्ञानविचार नामक कुसुमलता का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

२२

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च ।
न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ १ ॥
ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु ।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ २ ॥

२२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—क्रमशः एक के पीछे दूसरी भूमिकाओं के ऊपर चढ़ने से परिपक्व तत्त्वज्ञान से ज्ञातव्य ब्रह्मभाव में दृढ़ निष्ठा हो जाने के कारण जो पुरुष प्रारब्ध फल का भोग करते हुए भी शब्द आदि विषयों को और शब्दादि विषयाकारों में एवं काम-सङ्कल्पादि वृत्तियों में परिणत अन्तःकरण को वस्तुसत् नहीं समझता है क्योंकि तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण उनकी केवल अनुवृत्तिमात्र ही रहती है वह ज्ञानी कहलाता है ॥ १ ॥

ज्ञानी पुरुष अन्तःकरण के भोग विषयों में तथा उसकी चक्षु आदि द्वारा निर्गत ज्ञानात्मक वृत्तियों में साक्षीरूप से स्थित चैतन्यमात्र को यथार्थरूप जानकर बाधित दृश्य को वासनात्मना भी नहीं देखता है वह ज्ञानी है अथवा जिस तत्त्व के ज्ञात होने से चित्त की समस्त वासनाएँ निकल जाती हैं, उस तत्त्व को भली-भाँति जानकर स्थित जिसकी सब प्राणियों के यथेष्ट व्यवहारों में भी अनुज्ञा सम्मति ही देखी जाती हो अर्थात् अपना धन आदि का अपहरण करनेवाले चोरों की प्रवृत्ति का भी जो अनुमोदन करता हो, वह ज्ञानी है ॥२॥

अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्याऽवलोक्यते ।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ ३ ॥
अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥ ४ ॥
प्रवाहपतिते कार्ये कामसङ्कल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥
अकारणं प्रवर्तन्त इव भावा अकारणात् ।
अविद्यमाना अप्येते विद्यमाना इव स्थिताः ॥ ६ ॥
आविर्भावतिरोभावैर्भावाभावभवाभवैः ।

स्वाभाविक एकमात्र स्वात्मलाभ से युक्त जिस पुरुष के व्यवहारों में भीतर से शीतलता बुद्धिमानों द्वारा अनुभूत होती है—वह ज्ञानी कहा जाता है ॥ ३ ॥

जो बोध पुनर्जन्म का हेतु नहीं है वही ज्ञानशब्द के लिए योग्य है, इसको छोड़कर दूसरा जो शब्दज्ञान का चातुर्य है वह केवल अन्न-वस्त्र प्रदान करने वाला है, इसलिए इस तरह का ज्ञान शिल्पज्ञान के सदृश 'जीविका' शब्द के लिए योग्य है, न कि ज्ञानशब्द के लिए अर्थात् पुनर्जन्म का कारण जो अनादि अज्ञान है उसका निवर्तक तत्त्वज्ञान है, दूसरा नहीं है ॥ ४ ॥

प्रारब्ध के प्रवाह में जो भी कार्य आ जाय, उसके लिए जो मनुष्य काम और सङ्कल्प लो छोड़कर तत्पर रहता है एवं शरत्काल के आकाश के समान जिसका हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है वही पण्डित कहा जाता है ।। ५ ॥

ये जो जगत् के नानाविध पदार्थ हैं वे किसी तरह के कारण के बिना ही उत्पन्न होते हैं और कारण के अभाव रहते भी उत्पन्न हैं, इसक्षिए उनका अस्तित्व ही नहीं है। ये सब अविद्यमान ही विद्यमान की तरह स्थित है अर्थात् ये जो ज्ञानी के लक्षण बतलाये गये हैं उनकी युक्तिपूर्णता बतलाने के लिए तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण द्वैतवासनाओं की निवृत्ति कर देता है, इसका समर्थन करते हैं और इसी समर्थन के लिए असत्य अविद्यारूपता हो आखिर में बच जाने के कारण जगत् में न तो किसी तरह की हेतुता है और न सत्ता ही है, यह कहा गया है 'अकारण' इत्यादि से ॥ ६ ॥

कारण के न रहने से अविद्यमान भी वे अविर्भाव, तिरोभाव, सत्ता, असत्ता, उत्पत्ति, नांश आदि विकारों से युक्त हो विद्यमान भासभान स्थित हैं, अनन्तर सृष्टिकाल में कारण के व्यापारों से वे परस्पर कारणता को प्राप्त होते हैं। यह बात सृष्टि के प्रारम्भ में नहीं हो सकती है,

पश्चात् कारणतां यान्ति मिथः कारणकर्मभिः ॥ ७ ॥
असतः शशशृङ्गादेर्मृगतृष्णाम्भसो यथा ।
आलोकनादलभ्यस्य कीदृक् स्यात्किल कारणम् ॥ ८ ॥
असतः शशशृङ्गादेः कारणं मार्गयन्ति ये ।
वन्ध्यापुत्रस्य पौत्रस्य स्कन्धमासादयन्ति ते ॥ ९ ॥
असत्यप्रतिभासानामेतदेवाऽऽशु कारणम् ।
यदनालोकनं नाम समालोकक्षणक्षयम् ॥ १० ॥
परमात्मायते जीवो बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवाऽवतिष्ठते ॥ ११ ॥

क्योंकि प्रलय में बीज और अङ्कुर दोनों का भी अभाव है। अर्थात् आगे के वृद्धि आदि भावविकारों में भी कारण के न रहने से ही असत्त्व समझना चाहिए ॥ ७ ॥

शशशृङ्ग आदि तथा मृगतृष्णाजल के समान विचार से अलभ्य इस जगत् का कारण कैसा होगा ? जो पुरुष असत् शशशृङ्ग आदि के कारण की अन्वेषणा करते हैं, वे वन्ध्यापुत्र के या उसके पौत्र के कन्धे के ऊपर ही मानो चढ़ते रहते हैं।

अर्थात् इस समय दिखाई दे रहा बीज सद्रूप अङ्कुर का कारण है या अङ्कुर का कारण है ? सद्रूप अङ्कुर का कारण तो वह हो नहीं सकता है क्योंकि सत् को कारण की अपेक्षा ही नहीं रहती है असद्रूप का भी कारण नहीं हो सकता है ॥ ८-९ ॥

मिथ्याभूत जो पदार्थ हैं उनका यही एकमात्र कारण है, जिसका कि नाम अनालोकन यानी अज्ञान है और इस अज्ञान का ज्ञान-क्षण में तत्काल ही विनाश हो जाता है अर्थात् द्वैत का निष्कारण अस्तित्व मानने पर अतिमोक्ष-प्रसक्ति एवं मोक्षशास्त्र में अप्रामाण्य आ जायगा, इसलिए इन दोनों दोषों की निवृत्ति करने के लिए किसी कारण की अवश्य कल्पना करनी चाहिए, यदि यह कहिए, तो इस पर यही समाधान हो सकता है कि एकमात्र ज्ञान से निवृत्त होने वाला मिथ्याभूत अज्ञान ही कारण है, यही कल्पना करनी चाहिए, दूसरे किसी सद्रूप की नहीं, क्योंकि सद्रूप वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति न हो सकने के कारण आपका अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग ज्यों-का-त्यों बना रहेगा ॥ १० ॥

यह जीव ! जड़ अहङ्कार, देह आदि को अपने से भिन्न जानकर तत्काल ही तद्रूपत्व के अध्यास-संस्कारों के उद्बोध से उनको आत्मा समझ बैठता है, बस यही इसका संसार है और जब अपने को सभी उपाधियों से विनिर्मुक्त चैतन्य-स्वरूप समझता है तब यही जीव सम्पूर्ण जगत् के

परमात्मैव जीवोऽयं बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
आम्र एव रसापत्तेः प्रयाति सहकारताम् ॥ १२ ॥
चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवाऽवतिष्ठते ।
जीवो जीवितजीर्णेषु जातिजन्मसु जर्जरः ॥ १३ ॥
ये परां दृष्टिमायाता विद्धि तेषामपामिव ।
अरूपालोकमननं स्पन्दमस्पन्दनं सदा ॥ १४ ॥
ये परां दृष्टिमायाता दृश्यश्रीपारदर्शिनः ।
न विद्यमानमप्यस्ति तेषां वेदनमाततम् ॥ १५ ॥
ये परां दृष्टिमायाता विद्धि तेषामपामिव ।

सारभूत निरतिशय आनन्दरूप होकर बैठ जाता है, यही इसका मोक्ष है अर्थात् संसार अज्ञान का कार्य है और तत्त्वसाक्षात्कारक्षण से ही वह विनष्ट हो जाता है अथवा अचेतन यानी बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास—इन तीनो से रहित कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्रस्वरूप अपने को समझकर जीव ब्रह्मस्वरूप बनकर स्थित रहता है और अपने को चेतनरूप बुद्धि, स्थूल देह एवं चिदाभासरूप समझकर तो जीव ही बनकर बैठता है, पूर्णभाव को प्राप्त नहीं करता है । चेतनशब्द के जो तीन अर्थ (बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास हैं, वे व्युत्पत्ति भेद से—(१) जीवः चेत्यते अनेन, (२) जीवः चेत्यते अस्मिन् और (३) चेत्यते इति चेतनम् । अथवा यह जीव अचेतनरूप घटादि विषयों में चक्षु आदि की वृत्तियों से जनित फलसम्बन्ध से शून्य होकर अपने को स्वप्रकाश चैतन्यरूप समझता हुआ परमात्मा बन जाता है और उससे शून्य न हुआ जीव ब्रह्मभावापन्न नहीं होता है ॥ ११ ॥

जैसे कि हेमन्त ऋतु में एक तरह से सोया हुआ आम वसन्त ऋतु में रसावेश के कारण पल्लवित एवं पुष्पित होने के बाद प्रबुद्ध-सा होकर सहकार-शब्दवाच्यता को प्राप्त होता है वैसे ही अहङ्कारादिशून्यरूपता को ही अपनी आत्मा में जान रहा यह जीव जागरूक हो परमात्मरस के आवेश से परमात्मरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

परन्तु चेतन को अपनी आत्मा में ज्ञान का यह जीव तो जीव ही बनकर जीवनों से जीर्ण बन जाने वाले नानाविध योनियों के जन्मों में जर्जर हो कर अवस्थित रहता है ॥ १३ ॥

यह आप जान लें कि जो परादृष्टि को प्राप्त हैं उनकी दृश्य-दर्शनाभिमानशून्य चेष्टाएँ, जलों के नीचे की ओर अभिसरण की तरह, प्रारब्ध कर्म का एकमात्र अनुसरण करने वाली, अतः वे सदा अस्पन्दरूप ही रहती हैं अर्थात्

स्पन्दमस्पन्दनं सर्वमवेदनवशादिह ॥ १६ ॥
अरूपालोकमननवेष्टिता मुक्तदामवत् ।
बुधाः कर्मसु चेष्टन्ते वृक्षपत्रेष्विवाऽनिलः ॥ १७ ॥
ये परां दृष्टिमायाताः संसृतेः पारदर्शिनः ।
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां वसन्निव ॥ १८ ॥
ये बद्धवासना मूढाः कर्म शंसन्ति तेऽनघ ! ।
श्रुतिस्मृत्युचितं तेन विना बोधं प्रयान्ति ते ॥ १९ ॥
इन्द्रियाणि पतन्त्यर्थं भ्रष्टं गृध्र इवाऽऽमिषम् ।
तानि संयम्य मनसा युक्त आसीत तत्परः ॥ २० ॥

यही कारण है कि तत्त्ववेत्ताओं की चेष्टाएँ अभिमानरहित होने से अस्पन्दरूप ही हुआ करती हैं ॥ १४ ॥

दृश्य-सौन्दर्य के पारदर्शी जो परादृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें विद्यमान भी विस्तृत दृश्य-प्रपञ्च का ज्ञान नहीं होता है अर्थात् बाधित दृश्यश्री का दर्शन दृश्यातीत ब्रह्म-दर्शनरूप वैसे ही होता है; जैसे दुग्ध पट का दर्शन पटदर्शनरूप कभी नहीं होता है किन्तु भस्मदर्शनरूप ही होता है अतः उनको द्वैतवेदन नहीं होता ॥ १५ ॥

जो यहाँ ब्रह्मरूपी सर्वोत्कृष्ट दृष्टि को प्राप्त व्यक्ति का स्पन्दन भी, जल की तरह दृश्य प्रपञ्च का ज्ञान न होने से स्पन्दन शून्य ही रहता है ॥ १६ ॥

दृश्य दर्शन के अभिमान से वेष्टित वे नहीं होते हैं इसीलिए मुक्तबन्धन वृषभ के समान वे सांसारिक कर्म-बन्धन के सम्बन्ध से शून्य रहते हैं । तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मों में ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसे वृक्षों के पत्तों में पवन की चेष्टा है । अर्थात् उन्हें कर्म बन्धन के सम्बन्ध का अभाव रहता है ॥ १७ ॥

अर्थात् पारलौकिक कर्मों की अपेक्षा तो उनसे बहुत दूर ही रहती है ।

जैसे गङ्गाजी के तट पर निवास करने वाला कूप की प्रशंसा नहीं करता है वैसा ही इस संसार के पारदर्शी महानुभाव सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टि को प्राप्त कर कर्मों की उस तरह प्रशंसा नहीं करता है ॥ १८ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी ! सांसारिक विषय-वासनाओं में बँधे मूर्ख हुए श्रुति एवं स्मृति से प्रतिपादित उचित कर्म की प्रशंसा किया करते हैं तथा तत्त्वज्ञान के अभाव से उसी कर्म के द्वारा फल का भोग पाते हैं । अर्थात् पुरुषों के लिए तो एकमात्र कर्म ही शरण है ॥ १९ ॥

जैसे नीचे गिरे हुए मांस के ऊपर गृध्र गिरता है ।

नासन्निवेशं हेमास्ति नासर्गं ब्रह्म विद्यते ।
किन्तु सर्गादिशब्दार्थमुक्तं युक्तमतेः शिवम् ॥ २१ ॥
एकान्धकारे सम्पन्ने व्यवहारो युगक्षये ।
निर्विभागो निराभासो यथा ब्रह्मघने तथा ॥ २२ ॥
अभ्रोदरे भ्रमाङ्गानां स्पन्दास्पन्दमयी यथा ।
स्वसंविदात्मिका सत्ता भूतानामीश्वरी तथा ॥ २३ ॥
जलस्यान्तर्जलांशानां द्वैताद्वैतमयो यथा ।
स्वसंविदात्मा सुस्पन्दस्तथा ब्रह्मणि भूतदृक् ॥ २४ ॥
यथाऽम्बरेऽम्बरांशानां द्वैताद्वैतकृताऽऽत्मनि ।
अनन्या सृष्टिराभाति तथाऽनवयवे शिवे ॥ २५ ॥

वैसे ही अज्ञानियों की इन्द्रियाँ अधःपतन के हेतुभूत अर्थों के ऊपर इस प्रकार गिरती हैं। इसलिए विद्वान् को चाहिए कि वह अपनी उन सभी इन्द्रियों का मन से निग्रह कर आत्मज्ञान के सम्पादन में लग जाय और उसी में सदा तत्पर हो स्थित रहे ॥ २० ॥

सृष्टिरूप अर्थ से रहित ब्रह्म भी वैसे ही नहीं रहता है जैसे कटक, केयूर आदि रचना विशेषरूप अर्थों से भिन्न सुवर्ण नहीं रहता है इस प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी का मान-साम्य है। किन्तु तत्त्वज्ञानी को सृष्टि आदि शब्दार्थ से रहित एकमात्र शिवरूप ही वह भासित होता है अर्थात् यद्यपि तत्त्वज्ञानियों को जले हुए पट में अवयव साम्य की तरह बाधिताबाधित जगत् के अवयव साम्य का भान अज्ञानियों की तरह होता है, तथापि तत्त्वज्ञानियों के लिए तो वह एकमात्र ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

सृष्टिशब्दार्थ से रहित होने में प्रलय दृष्टान्त है।

जैसे कल्प के अन्त में एकमात्र अन्धकार के रहते ब्रह्मघन में निर्विभाग और निराभास ही सृष्टि रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञानियों को असद्रूप भी यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही भासता है ॥ २२ ॥

प्रलयकाल में भी भूतों की ईश्वर की स्पन्दमयी सत्ता है, यह सम्भावना वैसे ही करनी चाहिए जैसे आकाश में इधर-उधर चल रहे मेघों के उदर में उदर के अवयवों की अविभाग से उनकी अस्पन्दमयी तथा दिशाओं के विभाग से स्पन्दमयी स्वानुभव चैतन्यरूप ही सत्ता, विरुद्ध धर्मों का एक काल में सम्भव होने के कारण, मानी जाती है ॥ २३ ॥

ब्रह्म में तत्-तत् जीवरूप आभास भी वैसे ही ब्रह्म संविदात्मक ही है जैसे तालाब आदि के भीतर स्थित तरल जल तथा उसके अंशों का स्पन्दन द्वैताद्वैतमय है,

जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत् ।
स्थितमन्योन्यवलितं कदलीदलपीठवत् ॥ २६ ॥
रूपालोकनमस्कारैरन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम् ।
सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः ॥ २७ ॥
जीवो जगत्तयाऽऽत्मानं पश्यत्ययमकारणम् ।
हेमेव कटकादित्वं तदपश्यन्न पश्यति ॥ २८ ॥
जीवन्तोऽपि न जीवन्ति म्रियन्ते न मृता अपि ।
सन्तोऽपि च न सन्तीव पारावारविदः शुभाः ॥ २९ ॥
प्रबुद्धः सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि न पश्यति ।
गृहकर्माणि गेहस्थो गोष्ठभाण्डमना इव ॥ ३० ॥

क्योंकि तरलता के कारण भेद और अभेद का निर्वचन करना अत्यन्त कठिन है ॥ २४ ॥

अवयव रहित ब्रह्मरूप आत्मा में यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्नरूप से वैसे ही विद्यमान है जैसे निरवयव आकाश में दिशाभेदरूप आकाश के अवयवों की अभिन्न सृष्टि भासती है ॥ २५ ॥

इसी प्रकार जगत् के अन्तर्गत अहङ्कार और अहङ्कार के अन्तर्गत जगत्—ये दोनों परस्पर एक दूसरे में, केले के पत्तों के स्तर के समान, वेष्टित हैं ॥ २६ ॥

यह जीव भी अपने अन्तर्गत जगत् को इन्द्रियों तथा मानसिक वृत्तियों से बाहर वैसे ही स्थित-सा देखता है जैसे हिमालय पर्वत अपने छिद्रों से निकले हुए जल को बाहर मानसरोवर आदि रूप में स्थित देखता है ॥ २७ ॥

यह जीव बिना कारण के यानी एकमात्र भ्रान्ति से अपने को जगद्रूप से वैसे ही देखता है जैसे आपाततः भ्रान्ति से सुवर्णपिण्ड में भूत और भावी कटक, केयूर आदि आकार दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सुवर्णमात्र दृष्टि करने पर दिखाई नहीं पड़ते ॥ २८ ॥

इस जगत् के पारावारदर्शी जीवन्मुक्त महापुरुष जीवन धारण करते हुए भी वस्तुतः जीवन धारण नहीं करते एवं मरे हुए नहीं रहते हुए भी वे मरे हुए—जैसे तथा उपस्थित रहते हुए भी नहीं-से रहते प्रतीत होते हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्म में आसक्तचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुष देहयात्रा के निर्वाह के लिए कर्मों को करते हुए भी उन्हें वैसे ही नहीं देखता है जैसे घर के अन्दर स्थित भी पुरुष गोशाला आदि में आसक्तचित्त हो गृहकार्यों को नहीं देखता है ॥ ३० ॥

विराड् हृदि यथा चन्द्रः प्रतिदेहं यथास्थितः ।
जीवो हिमकणाकारः स्थूले स्थूलो लघौ लघुः ।। ३१ ।।
अहमात्मा त्रिकोणत्वमुपगच्छति कल्पनम् ।
असदेव सदाभासं मन्यते चेतनाद्वपुः ।। ३२ ।।
कर्मकोशे त्रिकोणे च शुक्रसारेऽवतिष्ठते ।
देहे जीवोऽहमित्यात्मा स्वामोदः कुसुमे यथा ।। ३३ ।।
अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
विसरत्यखिले ज्योत्स्ना यथा ब्रह्माण्डमण्डपे ।। ३४ ।।
अक्षरन्ध्रप्रणालेन विसृतं वेदनोदकम् ।
व्याप्नोति त्रिजगद्धूमो वियन्मेघतया यथा ।। ३५ ।।

प्रत्येक व्यष्टिदेह में हिमकण के सदृश वीर्यरूप जीव स्थूल में स्थूल एवं लघु में लघु रूप से वैसे ही स्थित है। जैसे ब्रह्माण्ड के हृदय में विराट्जीव चन्द्रमा स्थित है ।। ३१ ।।

पिता के हृदय में वीर्यरूप से अवस्थित अहङ्कारात्मा जीव माता की त्रिकोणाकार योनि में पिता के द्वारा निषिक्त होकर त्रिकोणाकार परिच्छिन्न कल्पना को प्राप्त करता है। अनन्तर उस योनि में स्थित रक्त से मिलकर कललबुद्बुद तथा पिण्ड आदि आकार-क्रम से आविर्भूत हो हो असद्रूप शरीर में सदाकार 'अहम्' इत्याकारक अभिमान को चेतन होने के कारण मानने लग जाता है ।। ३२ ।।

इस प्रकार त्रिकोणाकारोपलक्षित माता के गर्भ में, एकमात्र शुक्र में ही, सत् यानी अस्थि, स्नायु आदि कठिनांशरूप से स्थित रहता है, अपने कर्मों द्वारा निर्मित शरीर में कोशाकार कृमि की तरह बद्ध होकर 'मैं जीव हूँ' इत्याकारक अभिमान से युक्त वैसे ही अवस्थित रहता है, जैसे फूलों में सुगन्ध स्थिर रहता है ।। ३३ ।।

वीर्यकणों के अन्दर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक सारे शरीर में अहंभावरूप से वैसे ही व्याप्त हो जाती है, अर्थात् उसमें भी, चन्द्रकलाओं के चन्द्रविम्ब की तरह, हृदय में स्थित वीर्यकणों के भीतर अहंभाव की स्फूर्तियों की विशेषरूप से व्याप्ति होती है और उसके द्वारा सारे शरीर में सामान्यतः अहंभाव का विस्तार होता है, यह सब अपने एकमात्र अनुभव से ही सिद्ध है व्याप्त हो जाती है अर्थात् जैसे सारे ब्रह्माण्डमण्डप में चन्द्रमा की किरण ।। ३४ ।।

इन्द्रियों के छिद्ररूपी पनाले से बाहर निकला हुआ आभाससहित अन्तःकरणात्मक ज्ञानरूपी जल तीनों लोकों में स्थित सन्निकृष्ट बाह्यपदार्थों को वैसे ही व्याप्त कर लेता है, जैसे धूम मेघरूप से सारे आकाश को व्याप्त कर लेता है ।। ३५ ।।

देहे यद्यप्यशेषेऽस्मिन् बहिरन्तश्च वेदनम् ।
विद्यते तत्तथाऽप्यत्र शुक्रेऽस्ति घनवासना ।। ३६ ।।
जीवः सङ्कल्पमात्रात्मा यत्सङ्कल्पोऽवतिष्ठते ।
हृदि भूत्वा स एवाऽऽशु बहिः प्रसरति स्फुटम् ।। ३७ ।।
यथास्थितां च निश्चित्तां वर्जयित्वा स्थिरोपमाम् ।
न कयाचिदपि स्थित्या शाम्यत्यहमिति भ्रमः ।। ३८ ।।
चिन्तानुचिन्त्यमानाऽपि भावनीयाम्बरोपमा ।
अहंभावोपशमने शमनेन क्रमेण ते ।। ३९ ।।
तज्ज्ञा व्यवहरन्तीह भाव्यभावनवर्जितम् ।
अरूपालोकमननं मौनं दारुनरा इव ।। ४० ।।

यद्यपि समस्त शरीर में बाहर और भीतर सर्वत्र वह ज्ञान रहता है, तथापि इस वीर्य में इसको सबसे अधिक अहमभिमान रहता है ।। ३६ ।।

इसी हेतु से सङ्कल्पात्मक यह जीव हृदय के अन्दर रहकर जिस वस्तु का सङ्कल्प करता है, शीघ्र उसी रूप से बाहर स्पष्ट प्रसृत होने लग जाता है अर्थात् हार्दिक सङ्कल्पपूर्वक ही सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों के व्यवहार प्रवृत्त होते हैं ।। ३७ ।।

स्वभावसिद्ध चित्तवर्जित स्थिर ब्रह्मैकरसस्थितिरूपी ज्ञानदशा को छोड़कर और किसी भी दूसरी स्थिति से 'अहम्' इत्याकारक भ्रम शान्त नहीं होता है अर्थात् इसी कारण से उस जीव का वह अहंभाव चित्त की ब्रह्माकार स्थिति के बिना हजारों अन्य उपायों से भी शान्त नहीं होता है ।। ३८ ।।

मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा निरन्तर चिन्तन की जा रही अपनी ब्रह्मचिन्ता अहंभाव की आत्यन्तिक शान्ति के लिए उत्तरोत्तर भूमिकाओं में निर्विकल्पक समाधि के परिपाक-क्रम से चरम भूमिकातक आकाश के समान आपको बना देनी चाहिए। अतः इतने से ही सन्तुष्ट होकर आप बैठ मत जाइये ।। ३९ ।।

जैसे काष्ठ के पुरुष व्यवहार करते हैं वैसे ही ब्रह्मज्ञानी इस संसार में बाह्य तथा मानसिक दृश्य-दर्शन के अभिमान से शून्य कर्मेन्द्रियों के व्यवहारों से रहित एवं भाव्य और भावन से वर्जित ऐसे व्यवहार करते हैं ।।४०।।

अकिञ्चिद्भावनो यः स्यात्स मुक्त इति कथ्यते ।
जीवन्नाकाशविशदो बन्धशून्य इव स्फुटम् ॥ ४१ ॥
अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
विसरत्यखिले देहे ब्रह्माण्डेऽर्कप्रभा यथा ॥ ४२ ॥
दृङ्नेत्रं स्वदनं जिह्वा श्रुतिः श्रोत्रं भवत्यसौ ।
इत्याद्या वासनाः पञ्च बद्ध्वा तासु निमज्जति ॥ ४३ ॥
चिद्भावोऽक्षतयोदेति मनो भूत्वैकदेशतः ।
सर्वगोऽपि रसो भूमौ यथाङ्कुरतया मधौ ॥ ४४ ॥
यो भावयति भावेषु नेह रूढेष्वभावताम् ।
तस्याऽयत्नवतो दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ ४५ ॥

जिसके अन्दर तुच्छ प्रपञ्च की भावना नहीं है, वह वह जीते-जी आकाश के समान विशाल, शृंखला, आदि के बन्धन से निर्मुक्त हुए के समान स्पष्ट रूप से मुक्त कहा जाता है ॥ ४१ ॥

जैसे सारे ब्रह्माण्ड में सूर्य की प्रभा स्थित है वैसे ही वीर्यकणों के अन्दर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में अहंभाव रूप से इस प्रकार व्याप्त हो जाती है। अर्थात् शुक्रांश के सम्बन्ध के वश से ही समस्त शरीर में अहंभाव का सम्बन्ध भी रहता है ॥ ४२ ॥

चक्षु इन्द्रिय और चक्षुगोलक, स्वदनेन्द्रिय और जिह्वा-स्थान, श्रवणेन्द्रिय और श्रवणस्थान इत्यादि वीर्य में स्थित वह संवित् ही हैं, इसलिए स्त्री आदि का दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि होने पर पहले की रूपादि पाँच वासनाएँ बाँधकर समस्त इन्द्रियों के द्वारा जनित कामोद्दीपन से उनमें निमग्न ही जाती है। अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप से तत्-तत् स्थानों में सम्बन्ध भी शुक्रात्मभूत ही जीव का रहता है ॥ ४३ ॥

जैसे पृथिवी में सर्वगामी भी रस अङ्कुर के रूप से वसन्त ऋतु में उदित होता है वैसे ही अज्ञानावृत चिति की विपरीत भावना ही सबसे पहले मन बनती है, फिर वीर्य में अहंभावरूप एकदेश के द्वारा सारे शरीर में व्याप्त होकर तत्-तत् इन्द्रिय भाव से उदित होती है ॥ ४४ ॥

जो पुरुष इस संसार उत्पन्न मन, अहङ्कार, देहादि जगत्-पदार्थों में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, नेह नानास्ति किञ्चन, अर्थात् आदेशो नेति नेति', इत्यादि श्रुतियों द्वारा दिखलाई गई अभावरूप की भावना नहीं करता है मोक्ष के अनुकूल यत्न से रहित उस पुरुषरूपी गदहे के जन्मादि अनन्त दुःखों की शान्ति कभी नहीं होती है। अर्थात् प्रतिकूल यथार्थ भावना के बिना उस जीव के दुःखों का उपरम नहीं होता है ॥ ४५ ॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायीह स सम्राडिव राजते ॥ ४६ ॥
वासनाभिरुपेतोऽपि समग्राभिरवासनः ।
अन्तः शून्योऽप्यशून्यात्मा खमिव श्वसनान्वितः ॥४७॥
आसने शयने याने स्थितो यत्नैर्न बोध्यते ।
निद्रालुरिव निर्वाणमनोमननिर्वृतः ॥ ४८ ॥
संविन्मात्रं हि पुरुषः सर्वगोऽपि स तिष्ठति ।
स्फुटसारे शरीरस्य यथा गन्धोऽब्जकेसरे ॥ ४९ ॥
संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
आत्मनिष्ठत्वमजगत्परमेत्युपदेशभूः ॥ ५० ॥

जिस किसी के द्वारा वस्त्र आदि से ढँक दिया गया, जिस किसी के द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ कहीं सो जानेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्राट् के समान शोभित होता है। अर्थात् सारे सांसारिक पदार्थों में ब्रह्मरूप की भावना करने वाले पुरुष को तो बाह्य सर्वस्व का त्याग होने पर भी प्रारब्ध के कारण आकृष्ट हुए मनुष्यों के द्वारा भोजन, वस्त्र आदि के मिल जाने से तथा अपने भीतर स्वानन्दामृत-तृप्ति रहने से वैराज पद तक साम्राज्य सुख ही है ॥ ४६ ॥

सम्पूर्ण ब्रह्माकार वासनाओं से अथवा जले हुए वस्त्रों के तन्तुओं के आकार के सदृश जागतिक समस्त वासनाओं से युक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष वासना रहित ही रहता है तथा अन्तःशून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा वह आकाश के सदृश प्राणवायु से समन्वित रहता है ॥ ४७ ॥

षष्ठ आदि भूमिकाओं में प्रविष्ट होने के कारण आसन, शयन या यान में स्थित, निर्वाण दशा को प्राप्त अत एव मानसिक चिन्ताओं से सर्वथा अलग तत्त्वज्ञानी पुरुष, निद्रालू की तरह अनेक तरह के यन्त्रों से जगाने पर भी नहीं जागता है ॥ ४८ ॥

जैसे पद्मकोश में गन्ध स्थित रहता है वैसे ही सर्वत्र व्याप्त संविन्मात्र वह पुरुष शरीर के स्फुट सार वीर्य में अवस्थित रहता है ॥ ४९ ॥

संविन्मात्र ही जीव है और उसी के विस्तार को तत्त्वज्ञानी लोग 'जगत्' समझते हैं अर्थात् यह जगत् है, वह एक मात्र संविद्रूप जीव का विस्तार ही है। जब यह जीव आत्मनिष्ठ हो जाता है तब अजगद्रूप अपने परम पद को प्राप्त हो जाता है, बस यही सर्वोत्कृष्ट उपदेश स्थिति है ॥ ५० ॥

नीरसो भवभावेषु सर्वेषु विभवादिषु ।
पाषाणं हृदयं कृत्वा यथा भवसि भूतये ॥ ५१ ॥
साधो हृदयसौषिर्यमसौषिर्यमिवाऽस्तु ते ।
अचित्त्ववपुषो चित्त्वादुपलस्येव राघव ! ॥ ५२ ॥
तज्ज्ञाज्ञयोरशेषेषु भावाभावेषु कर्मसु ।
ऋते निर्वासनत्वात्तु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ५३ ॥
सत्तैवैषा विदो यत्सा भवत्युन्मिषिता जगत् ।
परं तत्त्वं निमिषिता दृगिवाऽनामकं ततम् ॥ ५४ ॥
दृश्यं विनश्यत्यखिलं विनष्टं जायते पुनः ।
यन्न नष्टं न चोत्पन्नं यत्सद्भवति तद्भवान् ॥ ५५ ॥
भावज्ञप्तिर्हि निर्मूला भाविताऽपि न विद्यते ।
सलिलं मृगतृष्णेव न ददाति भवाङ्कुरम् ॥ ५६ ॥
यथाभूतार्थसंदर्शच्छिन्नाऽहमिति भावना ।
दृष्टाऽपि न करोत्यन्तर्दग्धं बीजमिवाऽङ्कुरम् ॥ ५७ ॥
कर्म कुर्वन्न कुर्वन्वा वीतरागो निरामयः ।
निर्मना नित्यनिर्वाणः पुमानात्मनि तिष्ठति ॥ ५८ ॥
चित्तोपशान्तौ संशान्ताः शान्ता ये भोगबन्धवः ।
न स्वभावपरिक्षीणाश्चित्तमेषां किलाकरः ॥ ५९ ॥

समस्त सांसारिक विभव आदि भाव पदार्थों से विरक्त हो जाये तथा पाषाण के समान अपने हृदय को बना करके ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए जिस रूप से आप तैयार हो रहे हैं वैसे ही सन्नद्ध रहिये ॥ ५१ ॥

हे साधो ! हे राघव ! जैसे अचित्त्व शरीर पत्थर के हृदय का पोलापन अचिद्रूप होने से ही चिति के निवेश के लिए अवकाश भाव रूप अपोलापन प्रसिद्ध है वैसे चिन्मात्र शरीर आपका दहराकाश रूप हृदय सौषिर्य हृदय का पोलापन चिद्रूप होने से ही अचिति के निवेश के लिए अवकाशाभाव रूप चिति से निबिडित अपोलेपन की तरह हो जाये अथवा—हे साधो ! श्रीरामचन्द्रजी, आजतक चिदात्मा के अभिमान से शून्य होने के कारण अचित्व शरीर हुए आपका—अचिद्रूप अज्ञान से स्फटिक पत्थर के अन्दर कल्पित आकाश की तरह—करोड़ों धनादिरूप भोगसामग्रियों के लाभ से भी परिपूर्ण नहीं हो रहा कामरूपी मन-छिद्र अब नित्य निरतिशयानन्द पूर्णात्मा के लाभ से पूर्णकाम हो जाने के कारण, बाधित हुए वास्तविक स्फटिक छिद्र की तरह, एकमात्र आनन्दघन हो जाय ॥ ५२ ॥

तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी—दोनों के सम्पूर्ण भाव और अभाव रूप कर्मों में एकमात्र वासनाभाव के सिवा और कोई दूसरा विशेष नहीं रहता है अर्थात् यही कारण है कि स्फटिक पत्थर में प्रतिबिम्बित मनुष्यों के व्यवहार कर्मों के सदृश ज्ञानी और अज्ञानी—दोनों में प्रतीति साम्य रहने पर भी सत्यत्व वासना भाव कृत विशेष है ॥ ५३ ॥

और इस तरह स्फटिक पत्थर में द्रष्टा पुरुष की दृष्टि की तरह चैतन्य की जो सत्ता है वही वासनाओं से दीपित होकर जगद्रूप हो जाती है और वासनाओं के अभाव से निमिषित शान्त हो कर अपरिच्छिन्न परमतत्त्व-मोक्षरूप हो जाती है, जिसका दूसरा कोई नाम ही नहीं है ॥ ५४ ॥

यह सारा दृश्य प्रपञ्च पहले नष्ट होता है और नष्ट हो पुनः उत्पन्न होता है। परन्तु जो न तो कभी नष्ट हुआ, न उत्पन्न ही हुआ और सद्रूप है वही आप हैं। इस लिए एकमात्र चिति की सत्ता ही नित्य है ॥ ५५ ॥

इस तरह के बोध से मूलाज्ञान का नाश होनेपर अन्वेषण करने पर भी कहीं जगत् भ्रान्ति का अस्तित्व नहीं रहता है और मृगतृष्णा जैसे जल प्रदान नहीं करती है वैसे ही यह संसार में अङ्कुर नहीं प्रदान करती है ॥ ५६ ॥

जैसे दग्ध कर दिया गया बीज अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर पाता है। वैसे ही आत्मपदार्थ के साक्षात्कार से काटी गई अहंभावना दिखाई देने पर भी भीतर में संसार को उत्पन्न नहीं कर पाती ॥ ५७ ॥

वीतराग, मानसिक विकारों से सहित तत्त्वज्ञानी पुरुष चाहे कर्म करे या न करे, इससे उसमें कोई नयी बात नहीं आती है वह तो सर्वदा ही सङ्कल्पशून्य एवं नित्यमुक्त होकर अपनी आत्मा में ही स्थित रहता है। अर्थात् विहित कर्मों का अनुष्ठान करने या न करने पर तत्त्वज्ञानियों के लिए कोई विशेष बात नहीं निकलती है ॥ ५८ ॥

हठयोग से शान्त बने योगी भी चिति की उपशान्ति हो जाने पर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं; क्योंकि उनकी भोग-वासनाएँ बिलकुल मूल से छिन्न नहीं रहती है इसमें कारण यह है कि सम्पूर्ण वासनाओं का आधारभूत उनका चित्त तो बना ही रहता है ॥ ५९ ॥

अघनः केवलालोको बुधो जीवः परायते ।
स एवाऽन्योप्यनन्योन्तरपराह्ण इवाऽऽतपः ।। ६० ।।
एकदेशस्थितात्पुंसो दूरायातस्य चेतसः ।
यद्रूपं सकलं मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ।। ६१ ।।
चारुचिद्व्योम कर्पूरं यच्चमत्कुरुते स्वयम् ।
अनन्तमन्तरव्यक्तं जगदित्येव वेत्ति तत् ।। ६२ ।।
गतभवभ्रमभासुरमक्षयं
शममुपेतमुपेक्षितदीपवत् ।
स्थितमपीह जनं जगदीश्वरा-
दनुगतं ननु भाति मुदा च खे ।। ६३ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुखयोगोपदेशो नाम द्वाविंशः सर्गः ।। २२ ।।

ज्ञानी जीव शोधित त्वंपदार्थ, मूर्ति शून्य, चित्त, देह आदि स्वस्वरूप न हो एवं शुद्ध चैतन्य प्रकाशरूप बनकर ही परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करने के लिए योग्य हो हो जाता है । यही जीव अन्य होकर भी उस परमात्मा से वैसे ही अनन्य है, जैसे मध्याह्न काल में सूर्य का आतप सूर्य से अनन्य है । अर्थात् चित्त, देह आदि रूप से जीव को भिन्न बनानेवाली और उसको संताप देनेवाली है और उसके अभाव में तो यह जीव ब्रह्म से अभिन्न संतापशून्य ही बना रहता है ।। ६० ।।

पुरुष के शरीर से बहुत दूरी पर स्थित सूर्य, चन्द्र आदि मण्डल तक चक्षु आदि के द्वारा गये हुए चित्त की जो वृत्ति है, उसका मध्य में विच्छेद न रहने के कारण देह से लेकर सूर्यादि मण्डल पर्यन्त अविच्छिन्नरूप से अपरोक्ष चिति उसमें अभिव्यक्ति है । यह वृत्ति देहप्रदेश तथा चन्द्रप्रदेश में यद्यपि विषय सहित है, तथापि मध्य भाग में उसका निर्विषयक जो रूप प्रसिद्ध है उसी रूप को परमात्मा का पूर्वरूप समझना चाहिए ।। ६१ ।।

असीम और अनभिव्यक्त सुन्दर चिदाकाशरूप कपूर जो अपने भीतर स्वयं चमत्कार करता है, उसी को वह जगद्रूप से जानता है अर्थात् निर्विषयक चिति का ही यह जगत् एक मायिक चमत्कार है ।। ६२ ।।

यह संसार तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए सांसारिक भ्रम दूर हो जाने से प्रकाशमय, उपेक्षित दीपक की तरह निर्वाण को प्राप्त अक्षय परिपूर्ण ब्रह्म ही भासमान होता है और अज्ञानी को तो परमार्थता आकाश के उदर में स्थित भी यह संसार सर्वनियन्ता परमेश्वर की समस्त नियन्त्रण व्यवस्थाओं से तथा भोग-प्रीतियों से अनुगत ही भासमान होता है । अर्थात् यह जगत् भिन्न-भिन्न दृष्टि-रूप ही है ।। ६३ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में सुखयोग उपदेश नामक कुसुमलता का बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। २२ ।।

२३

वसिष्ठ उवाच

विरागवासनापास्तसमस्तभववासनः ।
उत्थाय गच्छ प्रकृतेरस्या मङ्किरिवाङ्कितः ।। १ ।।
मङ्किर्नामाभवत्पूर्वं ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
स कथं शृणु निर्वाणमाप्तवान्मद्विबोधितः ।। २ ।।
अहं कदाचिदाकाशकोशादवनिमागतः ।
भवत्पितामहार्थेन केनाऽप्युपनिमन्त्रितः ।। ३ ।।
विहरन् भूतलं गच्छंस्त्वत्पितामहपत्तनम् ।
प्राप्तोऽस्मि कामप्यादीर्घामरण्यानीं महातपाम् ।। ४ ।।

२३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भलीभाँति आँखों के सामने दिखाई दे रहे इस स्वाभाविक अज्ञानादिरूप संसार से तत्त्वबोधद्वारा निकलकर आप मङ्कि के सदृश उत्तम लक्षणों से युक्त और वैराग्य की वासना से समस्त सांसारिक वासनाओं से निर्मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करें ।।१।।

प्राचीनकाल में एक उत्तमव्रती मङ्कि नाम के ब्राह्मण थे, मेरे उपदेश, देने पर कैसे उसने निर्वाण पद की प्राप्ति की उसे आप सुनें ।। २ ।।

किसी समय पहले आपके पितामह अज ने किसी यज्ञादिरूपकार्य से मुझे निमन्त्रण दिया था, इसलिए आकाश मण्डल से इस पृथिवी पर मैं आया ।। ३ ।।

आपके पितामह की नगरी अयोध्या में आ रहा मैं पृथिवी पर विचरण करता हुआ महान् आतपों से युक्त किसी एक बड़े महाजंगल में पहुँच गया ।। ४ ।।

पांसुप्रतर्द्दनहतां प्रकचत्तप्तसैकताम् ।
अदृष्टापारपर्यन्तां क्वचिद्राम ! किलाङ्किताम् ॥ ५ ॥
अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनीम् ।
ततां शून्यां महारम्भां ब्रह्मसत्तामिवाऽमलाम् ॥ ६ ॥
अविद्यामिव सम्मोहमृगतृष्णां गतां भ्रमात् ।
जडतामाततां शून्यां दिङ्मोहमिहिकाकुलाम् ॥ ७ ॥
अथ तस्यामरण्यान्यां यावत्प्रविहराम्यहम् ।
तावत्पश्यामि पुरतो वदन्तं पथिकं श्रमात् ॥ ८ ॥

पान्थ उवाच

अहो नु परिखेदाय प्रौढप्रायातपो रविः ।
परितापाय पापोऽयं दुर्जनेनेव सङ्गमः ॥ ९ ॥
सुगलन्तीव मर्माणि स्फुरतीवाग्निरातपे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी ! वह महाजंगल अविच्छन्नरूप से धूलि उड़ाने के कारण धूसर हो रहा था, वहाँ पर तप्त हुई बालुकाएँ खूब चमक रही थीं, उसका ओर छोर कहीं नहीं दिखाई दे रहा था तथा वह कहीं-कहीं निकृष्ट ग्रामों से चिह्नित था ॥ ५ ॥

धूलि आदि के उड़ने से अक्षुब्ध आकाश, झंझावात, आतप, मृगतृष्णा के जल और तप्त हुई पृथिवी की शान्ति से शोभायमान, विस्तृत, शून्य तथा दुर्गम होने के कारण जाने वालों के द्वारा किये गये महान् प्रयत्नों से युक्त निर्मूल ब्रह्मसत्ता की तरह वह महाजंगल था ॥ ६ ॥

मोह पैदा करनेवाली मृगतृष्णा के समान अविद्या के सदृश, भ्रम के कारण जड़ता को प्राप्त, बहुत दूरतक फैला हुआ, प्राणियों के सञ्चार से शून्य तथा दिग्भ्रमरूपी कुहरा से वह व्याप्त था ॥ ७ ॥

उस महाजंगल में पहुँचने के बाद ज्यों ही मैं इधर-उधर विहार करने में प्रवृत्त हो रहा था, उस समय श्रम के मारे एक पथिक को कुछ कहते देखा ॥ ८ ॥

वह पथिक कह रहा था—अहो ! प्रचण्ड आतप युक्त यह सूर्य भी अन्यन्त खेद पहुँचाने के लिए वैसे ही उदित हुआ है जैसे दुर्जन का पापी समागम एकमात्र परिताप लिए ही होता है ॥ ९ ॥

सभी अङ्ग एक तरह से गलते जा रहे हैं, इस आतप में मानो अग्नि प्रदीप्त हो रही है तथा संकुचित हो रहे पल्लवों वाली वनराजियाँ सन्तप्त हो रही है ॥ १० ॥

इसलिए छोटे से इस अगले गाँव में प्रविष्ट हो कुछ देर तक रहूँ । यहीं पर जल्दी थकावट मिटाकर फिर शीघ्रगामी मैं अपना रास्ता पकड़ लूँगा ॥ ११ ॥

सङ्कुचत्पल्लवापीडास्ताप्यन्ते वनराजयः ॥ १० ॥
तत्तावदेवमग्रस्थं ग्रामकं प्रविशाम्यहम् ।
श्रममत्रापनीयाऽऽशु वहाम्यध्वानमाशुगः ॥ ११ ॥
इति सञ्चिन्त्य सोऽग्रस्थं किरातग्रामकं यदा ।
प्रवेष्टुमिच्छति तदा मया प्रोक्तमिदं वचः ॥ १२ ॥
अपरिज्ञातनीरागमार्गमित्र शुभाकृते ।
मरुमार्गमहारण्यपान्थ स्वागतमस्तु ते ॥ १३ ॥
चिरं मनुष्यदेशेऽस्मिन्निर्जनग्राममध्वनि ।
अधराध्वग विश्रान्तिं विश्रान्तोऽपि न लप्स्यसे ॥ १४ ॥
ग्रामे विश्रमणं नैव वर्तते पामरास्पदे ।
तृड्वै लवणपानेन भूय एवाभिवर्धते ॥ १५ ॥

ऐसा विचार कर जब वह आगे स्थित किरातों के एक छोटे-से गाँव में प्रवेश करने की इच्छा कर रहा था, तब तक मैंने उससे यह बात पूछ दी । अर्थात् मैंने उसका भाग्योदय काल जानकर उसके सम्पूर्ण श्रम का मूलोच्छेद करने के लिए आगे कहीं जाने वाली बातें पूछ दीं ॥१२॥

[आशय यह है कि हे अधराध्वग, इस सम्बोधन से उस समय महाराज वसिष्ठजी का आकाशमार्ग से गमन सूचित होता है ।]

हे अकिञ्चन पुरुषों के सञ्चार योग्य मार्ग का परिज्ञान न रखने वाले मरुमार्ग के महाजंगल के पथिक ! हे शुभाकृते ! मेरे मित्र ! यहाँ मेरे दर्शन से सभी दुःखों के मूलका क्षय हो जाने के कारण तुम्हारा स्वागत हो ॥१३॥ हे निम्नमार्ग पथिक ! पूर्व के गाँवों में अन्न-पान-आश्रय आदि के लाभ द्वारा कुछ विश्रान्तिसुख पा जाने पर भी अतिथियों का सत्कार करने वाले पुरुषों से शून्य गाँव में रहकर इस मनुष्य देहरूपी देश में आगे चलकर चिरकाल विश्रान्ति नहीं प्राप्त कर सकोगे । हे अधर कर्म के पथिक, कर्मोपासना से लब्ध होने वाले इस दक्षिणायण-उत्तरायण मार्गरूपी पथ में, स्वर्ग आदि भूमियों में कुछ-कुछ विश्रान्ति को प्राप्त करते हुए भी जन्मसमूह रहित मोक्ष की तरह चिरकाल तक विश्रान्ति न प्राप्त कर सकोगे ॥ १४॥

पामरजनों के निवासस्थान गाँव में कामद्वेष आदिकों के निवास स्थान कर्तृ-करणसंघात के आलय देव-मनुष्य आदि देह में विश्रान्ति सुख नहीं मिलता । अर्थात् विश्रान्ति सुख नहीं मिलता है । यह निश्चित है कि नमक का पानी (नमकीन विषयों के सेवन से विषयाभिलाषा और बढ़ती जाती है ।

एते ग्रामैकशरणाः पल्लवाः स्पन्दभीरवः ।
अयथापथसञ्चारा हरिणा इव जन्तवः ॥ १६ ॥
न स्फुरन्ति विचारेषु प्रज्वलन्त्यनुभूतिषु ।
न त्रस्यन्ति दुराचारादश्मयन्त्रमया इव ॥ १७ ॥
कामार्थरागसद्वेषपरिनिष्ठितपौरुषाः ।
कर्मण्यापातमधुरे रमन्ते दग्धबुद्धयः ॥ १८ ॥
आभिजात्याऽऽततोदारा शीतला रसशालिनी ।
नेह विश्वसिति प्रज्ञा मेघमाला मराविव ॥ १९ ॥
वरमन्धगुहाहित्वं शिलान्तःकीटता वरम् ।
वरं मरौ पङ्गुमृगो न ग्राम्यजनसङ्गमः ॥ २० ॥
निमेषास्वादमधुराः क्षणान्तरविरागिणः ।
मारणैकान्तनिरता ग्राम्या विषकणा इव ॥ २१ ॥

'न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥')
पीने से तृष्णा और बढ़ती जाती है, उससे प्यास नहीं बुझती है ॥ १५ ॥

ये सब पुलिन्दा जाति के जङ्गली जन्तु लोग एक छोटे-से गांव में रहते हैं, जनपद के स्पन्द से बहुत डरते हैं तथा उटपटाङ्ग मार्ग में इधर-उधर मृगों की तरह घूमते-फिरते हैं। अर्थात् ये काम आदि पल्लव की तरह स्नेह-राग से युक्त हैं, विवेक स्पन्द से सदा डरते हैं तथा अशास्त्रीय मार्ग में खूब घूमते हैं ॥ १६ ॥

पत्थर की बनी मूर्तियों की तरह विचारों में स्फुरित नहीं होते यानी मूढ़ होते हैं, अनुभूतियों में खूब जलते हैं तथा दुराचार से वे कभी नहीं डरते अर्थात् विवेकज्ञान होने पर वे काम आदि स्फुरित नहीं होते, तत्त्वज्ञान का अनुभव हो जाने पर ये जलने लगते हैं तथा दुराचार से कभी तनिक भी भय नहीं करते ॥ १७ ॥

काम और अर्थ में ही इनका सम्पूर्ण पौरुष परिनिष्ठित रहता है तथा मुग्ध बुद्धि वे आपात रमणीय कर्मों में ही रमण किया करते हैं ॥ १८ ॥

जैसे मरुस्थल में मेघमाला विश्रान्ति नहीं करता है वैसे ही दोनों कुल की विशुद्धता से विस्तृत, शीतल, उदार, ब्रह्मानन्दैकरसशालिनी प्रज्ञा इन लोगों में ऐसे विश्वास नहीं करती है ॥ १९ ॥

अन्धकारावृत गुहा में अजगर होना अच्छा है, पत्थर के भीतर कीट होना अच्छा है तथा मरुस्थल में पङ्गु मृग होना अच्छा है, परन्तु ग्रामीण=अज्ञान जन का साथ अच्छा नहीं है ॥ २० ॥

वान्ति भस्मकणाकीर्णा जीर्णसंशीर्णसद्मसु ।
तृणपर्णवनव्यग्रा ग्राम्याधार्मिकवायवः ॥ २२ ॥
एवमुक्तेन तेनाहमिदमुक्तस्ततोऽनघ ! ।
मद्वाक्येन समाश्वास्य स्नातेनेवामृताम्भसा ॥ २३ ॥

पान्थ उवाच

भगवन् ! कोऽसि पूर्णात्मा महात्मा कथमात्मवान् ।
पश्यस्यनाकुलो लोकं ग्रामयात्रामिवाऽध्वगः ॥ २४ ॥
किं त्वया पीतममृतं किं त्वं सम्राड्विराडथ ।
सर्वार्थरिक्तोऽपि चिरं सम्पूर्ण इव राजसे ॥ २५ ॥
शून्योऽसि परिपूर्णोऽसि घूर्णोऽसीव स्थिरोऽसि च ।
न सर्वमपि सर्वं च न किञ्चित् किञ्चिदेव च ॥ २६ ॥

निमेषमात्र के लिए आस्वाद में मधुर, क्षणभर में ही बिगाड़ कर देने वाले तथा प्राण लेने में सदा तैयार रहने वाले ये ग्रामीणजन, मधुमिश्रत विषकण के समान हैं ॥ २१ ॥

धूलिधूसर, तृण, पर्ण तथा वन में व्यग्र गाँव में होने वाले ये अधार्मिक जनरूपी चण्डपवन जीर्णशीर्ण घरों में सञ्चार करते हैं ॥ २२ ॥

हे अनघ श्रीरामजी ! इस तरह मेरे कहने के बाद 'मेरा आशय जानकर ये मेरा अवश्य उद्धार करेंगे' इस लिए मेरे वाक्य से भलीभाँति आश्वासन पाकर अमृतरूपी जल से स्नान किये हुए के सदृश उस मङ्कि ने मुझ से यह कहा ॥ २३ ॥

उस पथिक ने कहा—हे भगवन् ! आप कौन हैं ? आप पूर्णात्मा आत्मज्ञानी कोई महात्मा प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि जैसे कोई पथिक ग्रामयात्रा को देखता हो वैसे ही आप अनाकुल हो इस लोक को देख रहे हैं ॥ २४ ॥

क्या आपने अमृत का पान किया है या आप सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर हैं अथवा विराट् पुरुष हैं ? आप सब अर्थों से रहित होते हुए भी परिपूर्ण चन्द्रमा की तरह शोभायमान हैं ॥ २५ ॥

संसारिक दोषदुःखों से शून्य हैं, निरतिशयानन्द होने से आप जीवन्मुक्तों के गुणों से परिपूर्ण हैं, देह आदि का कुछ भी अनुसन्धान न रहने से आप मदघूर्णित से मदोन्मत्त के समान हैं, आप स्थिर से हैं, समष्टि में अपवाद तथा अध्यारोप दृष्टि से आप सब कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ हैं ही ॥ २६ ॥

उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च ।
निवृत्तं चोर्जितं तादृग्रूपं किमिति ते मुने ! ॥ २७ ॥
भूसंस्थोऽपि समस्तानां लोकानामुपरीव खे ।
संस्थितोऽसि निरास्थोऽसि घनास्थोऽसीव लक्ष्यसे ॥२८॥
प्रसृतं न पदार्थेषु न पदार्थात्मनाऽस्ति वै ।
तवेन्दोरिव शुद्धस्य मनोऽमृतमयं स्थितम् ॥ २९ ॥
कलावानकलङ्कोऽन्तःशीतलो भास्वरः समः ।
रसायनभरापूर्णः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ ३० ॥
त्वदिच्छायां तु सदसद्भावं पश्यामि ते चिति ।
संसारमण्डलमिदं स्थितं फलमिवाङ्कुरे ॥ ३१ ॥
अहं तावदयं विप्र शाण्डिल्यकुलसम्भवः ।

[इस प्रकार का मैं हूँ, यह तुमने कैसे जाना, यदि यह कहिये, तो इसका उत्तर यह है कि 'आपके रूप के अवलोकन से ही', यह सूचित करते हुए कहते हैं— 'उपशान्तम्' इत्यादि से ।]

हे मुने ! शान्त, रमणीय, प्रदीप्त, प्रतिघात रहित, सर्वथा निवृत्त तथा समस्त सामर्थ्ययुक्त जो रूप रहता है वैसा यह आपका रूप क्यों भासमान होता है ? ॥२७॥

आप पृथिवी पर स्थित हुए भी समस्त लोकों के ऊपर आकाश में स्थित से हैं । आस्थाशून्य रहते हुए भी आप मेरे समान लोगों का उद्धार करने में सघन आस्था से युक्त से मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥ २८ ॥

चन्द्रमा की तरह विशुद्ध आपका अमृतमय मन चन्द्रमा की किरणों की तरह पदार्थों में प्रसृत नहीं है और न औषधि, वनस्पति, सोम, आज्य, पय, अन्न आदि पदार्थों के रूप से उपभोग के योग्य है; जिससे नष्ट हो जायगा । अतः आपका मन सदा ही परिपूर्ण स्थित है अर्थात् चन्द्रमा से भी बढ़कर आपका मन है ॥ २९ ॥

आप कलावान्, कलङ्कशून्य, भीतर से शीतल, प्रकाशमय, समरूप तथा रसायन प्रवाहपूर्ण, पूर्ण चन्द्रमा के सदृश भासमान हैं अर्थात् आप कलङ्क रहित हैं ॥ ३० ॥

अङ्कुर में काण्ड आदि फल पर्यन्त स्थित वृक्ष के रूप की तरह सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिता आदि गुणों से सम्पन्न आपकी आत्मा में ही यह संसारमण्डल सृष्टि योग्यरूप से स्थित मैं देखता हूँ । परन्तु इस संसारमण्डल की सृष्टि के लिए सत् और असद्भाव को मैं आपकी इच्छा में ही स्थित जानता हूँ । यदि आप चाहें तो आप भी संसार की सृष्टि अवश्य कर सकते हैं, परन्तु आप

मङ्किर्नाम महाभाग ! तीर्थयात्राप्रसङ्गतः ॥ ३२॥
गत्वा सुदूरमध्वानं दृष्ट्वा तीर्थानि संप्रति ।
चिरकालेन सदनमात्मीयं गन्तुमुद्यतः ॥ ३३ ॥
न च मे गन्तुमुद्योगो विरक्तमनसो गृहम् ।
दृष्ट्वा तडित्सकाशानि भूतानि भुवनोदरे ॥ ३४ ॥
भगवन्सत्यमात्मानं कथयेहानुकम्पया ।
गम्भीराणि प्रसन्नानि साधुचेतःसरांसि हि ॥ ३५ ॥
दर्शनादेव मित्रत्वं कुर्वतां महतां पुरः ।
कमलानीव भूतानि विकसन्त्याश्वसन्ति च ॥ ३६ ॥
ममेदं च मनो मोहात्संसारभ्रमसंभवम् ।
मन्ये हातुं न समर्थं स त्वं बोधानुकम्पितैः ॥ ३७ ॥

चाहते नहीं, बस यही तो आप में हिरण्यगर्भ से बढ़कर एक विशेष गुण है । अर्थात् हिरण्यगर्भ के साथ आपका सादृश्य तथा उससे बढ़कर आप में विशेष गुण है ॥३१॥

हे महाभाग ! मैं शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न मङ्कि नामधारी ब्राह्मण हूँ । तीर्थयात्रा करने की इच्छा से बहुत दूर तक जाकर मैंने अनेक तीर्थों के दर्शन किये । अनन्तर अब मैं बहुत देर से अपने घर को जाने के लिए उद्यत हूँ ॥ ३२–३३ ॥

इस ब्रह्माण्ड के उदर में बिजली की चमक के समान क्षणभङ्गुर भूतों को देखकर विरक्त मन मुझे घर जाने की इच्छा नहीं होती है ॥ ३४ ॥

हे भगवन् ! इस दीन के ऊपर दया करके अपना नाम गोत्र आदि कहकर ठीक-ठीक इसे परिचय दें, क्योंकि महात्माओं के चित्तरूपी सरोवर गम्भीर और निर्मल रहते हैं ॥ ३५ ॥

अपने दर्शन से ही मित्र बना लेने वाले आपके सदृश महात्माओं के सामने सभी प्राणी, कमलों की तरह विकसित और आश्वसित हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

कुल विवेकसम्पन्न भी मेरा यह मन अज्ञानजनित प्रबल सन्देह रहने से गुरूपदेश के बिना एकमात्र अपने विचार कौशल से संसार के भ्रम से उत्पन्न दुःख को समूल नष्ट करने में समर्थ नहीं है, यह मैंने बार-बार मनन कर निश्चय कर लिया, इसलिए पूर्ववर्णित मेरा उद्धार करने में सामर्थ्य रखनेवाले आप रहस्यज्ञान के अनुकूल उपदेश की अनुकम्पाओं से मोह जनित मेरे संशयों का उच्छेद कर दुःखनाश करने के योग्य इस मेरे मन को बना दें ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ उवाच

वसिष्ठोऽस्मि महाबुद्धे ! मुनिरस्मि नभोगृहः ।
केनाप्यर्थेन राजर्षेरिमं मार्गमुपस्थितः ॥ ३८ ॥
मागा विषादं पन्थानमागतोऽसि मनीषिणाम् ।
प्रायः प्राप्तोऽसि संसारसागरस्य परं तटम् ॥ ३९ ॥
वैराग्यविभवोदारा मतिरुक्तिरपीदृशी ।
आकृतिः शान्तरूपा च न भवत्यमहात्मनः ॥ ४० ॥
मणिर्मधुरकाषेण यथैति विमलात्मताम् ।
तथा कषायपाकेन चित्तमेति विवेकिताम् ॥ ४१ ॥
किं ज्ञातुमिच्छसि कथं संसारं हातुमिच्छसि ।
उपदिष्टमहं मन्ये सम्पादयति कर्मभिः ॥ ४२ ॥
विमलवासन उत्तममानसः
परिविविक्तमतिर्जनतेजसा ।
पदमशोकमलं खलु युज्यते
जनितितीर्षुमतेरिदमुच्यते ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्क्िनिर्वाणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे महाबुद्धे ! ब्रह्मलोकवासी मैं वसिष्ठमुनि हूँ। राजर्षि अज के याजनादिरूप किसी काम से आ रहा मैं इस मार्ग में उपस्थित हूँ ॥ ३८ ॥

विषाद मत करो, तुम मनीषियों के रास्ते पर अब आ गये हो, प्रायः तुम इस संसार-सागर के दूसरे किनारे लग चुके हो ॥ ३९ ॥

ज्ञानाधिकार प्राप्ति के भाग्य से हीन मनुष्य की वैराग्यविभव से उदार ऐसी मति,उक्ति तथा शान्तस्वरूप आकृति नहीं हो सकती है ॥ ४० ॥

कषायों के परिपाक से चित्त वैसे ही विवेकता को प्राप्त होते हैं जैसे धीरे-धीरे शाणपर घिसने से मणि निर्मल रूपता को प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

हे विप्र, तुम क्या जानना चाहते हो और कैसे संसार को छोड़ना चाहते हो क्योंकि शिष्य गुरु से उपदिष्ट अर्थ को बार-बार परिशीलन करके ज्ञातांश को फिर प्रश्नावधारण आदि कर्मों से सफल बनाता है, वह मैं समझता हूँ, अतः तुम्हें जो अपना अज्ञात और जिज्ञासितांश हो, वह कहो ॥ ४२ ॥

शिष्य रागादिमलशून्य वासना से युक्त रहता है, इसलिए वह उत्तम वैराग्य आदि तीन साधनों से सम्पन्न मानस तथा नित्यानित्य एवं सारासार के विवेक में निपुण मतियुक्त होता है। वही गुरुजनों के उपदेशरूपी तेज से शोकशून्य आत्मतत्त्व पद प्राप्त करने के योग्य है, दूसरा नहीं। इसलिए जन्मादि सम्पूर्ण दुःखों से तैर जाने की इच्छायुक्त बुद्धिवाले तुमसे सम्भाषण आदि कर मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि तुम मेरे उपदेश के अधिकारी अवश्य हो, इसीलिए मैं तुम से कहता हूँ। अतः तुम अपना वृत्तान्त मुझ से बतलाओ ॥ ४३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में मङ्कि उपाख्यान में मङ्किनिर्वाण नामक कुसुमलता का तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

२४

वसिष्ठ उवाच

ममेत्युक्तवतो मङ्क्िर्विनिपत्य स पादयोः ।
उवाचानन्दपूर्णाक्षमिदं मार्गे वहन्वचः ॥ १ ॥

मङ्क्िरुवाच

भगवन् ! भूरिशो भ्रान्ता दिशो दशदृशो यथा ।
मया न तु पुनः साधुर्लब्धः संशयनाशकृत् ॥ २ ॥

२४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—मेरे कहने पर उस ब्राह्मण मङ्कि ने मेरे चरणों पर लोटकर आनन्द जल परिपूर्ण आँखों से युक्त हो मुझे मार्ग में ले चलते हुए यह कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

मङ्कि ने कहा—भगवन् ! संशय के उच्छेद के लिए उपदेश देने में कुशल साधु पुरुष के अन्वेषण में तत्पर हो मैंने दसों दिशाओं में, दृष्टियों की तरह खूब भ्रमण किया, परन्तु संशय का विनाशक कोई सज्जन पुरुष मुझे न मिला ॥ २ ॥

समस्तदेहसाराणां सारस्याद्य फलं मया ।
खिन्नोऽस्मि भगवन् ! पश्यन् दशाः संसारदोषदाः ॥३॥
पुनर्जातं पुनर्नष्टमेवं दुःखभ्रमः सदा ॥ ४ ॥
अवश्यं भाविपर्यंतदुःखत्वात्सकलान्यपि ।
सुखान्येवातिदुःखानि वरं दुःखान्यतो मुने ! ॥ ५ ॥
दृढदुःखवदन्तत्वाद् दुःखयन्ति सुखानि माम् ।
तथा राम ! यथा दुःखमेव मे सुखतां गतम् ।
वयोदशनलोमान्त्रैः सह जर्जरतां गतम् ॥ ६ ॥
उच्चैःपदे पातपरा बुद्धिर्नाध्यवसायिनी ।
सुप्रवालं कुसङ्कल्पाद्गहनं न प्रकाशते ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! आज आपको पा जाने से सुर, असुर, पशु, पक्षी आदि समस्त देहों के सारभूत ब्राह्मण देहों में श्रेष्ठ अपने इस ब्रह्मण शरीर का फल ज्ञानाधिकार सम्पत्ति से मैंने पा लिया। दोषप्रद सांसारिक दशाओं को देखते-देखते खिन्न हो गया हूँ ॥ ३ ॥

बार-बार जन्म और बार-बार मरणरूप संसार सदा इसी तरह दुःख के भ्रम से युक्त है ॥ ४ ॥

हे मुने ! संसार के सभी सुख अन्त में अवश्य दुःखदायी होने से अत्यन्त दुःसह दुःखरूप ही हैं। इसलिए मैं सांसारिक सुखों की अपेक्षा दु;खों को ही अच्छा समझता हूँ।जलचरों से जल की शीतलता जैसे निरन्तर अभ्यास के कारण सह ली जाती है वैसे ही अविच्छिन्न दुःख परम्परा भी सुखाभाव के अधिक अभ्यास के कारण दुःखपूर्वक मनुष्यों से सह ली जाती है ॥ ५ ॥

हे राम ! आखिर में दृढ़ दुःखदायी होने से ये सुख ही मुझे ऐसे दुःखदायी हो रहे हैं, जैसे कि मानो मेरे लिए दुःख ही सुख हो गया हो। दाँत, केश और नाड़ियों साथ मेरी अवस्था भी जीर्ण हो गई। अर्थात् अत्यन्त प्रबल दुःख का अनुबन्धी होने के कारण कोदो खाकर जीवन धारण करने में मनुष्य को जो दुःख है उसकी अपेक्षा विष मिले हुए मिष्टान्न भोजन के आस्वाद जनित सुखों में कम दुःख नहीं है। इसका विचार कर उपभोग जनित सुखों में बुद्धिमान् को अधिक द्वेषबुद्धि रखना ही उचित है ॥ ६ ॥

उत्तरोत्तर भोगों के उत्कर्ष स्थान में अभिलाषाएँ बांधकर बैठी हुई मेरी बुद्धि परम पुरुषार्थ के साधन में किसी तरह का अब उद्योग नहीं कर रही है तथा मेरा मन भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे रागरूपी पल्लवों से पल्लवित तथा अतीत काल के करोड़ों बीत चुके भोग के लिए शोक, मोह आदि कुत्सित सङ्कल्पों के उपस्थित रहने से विवेक ज्ञानशून्य हो गया है, यही कारण है कि वह अपने-अपने दोषादि के साक्षी के विवेक द्वारा प्रकाशित नहीं होता है ॥ ७ ॥

मनःपिप्पलपल्यूलैरिव कुग्रामकोटरम् ।
वासनाङ्गवहैर्गृध्रैर्नित्यं पापीयसी स्थितिः ॥ ८ ॥
कण्टकद्रुमवल्लीव करालकुटिला मतिः ।
आयुरायासशालिन्या यामिन्येव तमोन्धया ॥ ९ ॥
अक्षीवानागतालोकं क्षीणं सन्ततचिन्तया ।
न किञ्चिद्रसमादत्ते नष्टैवापि न नश्यति ।
न पुष्पिता न फलिता तृष्णा शुष्कलतेव नः ॥ १० ॥
कर्म कर्मणि निर्मग्नं वासनाख्यमकर्मणे ॥ ११ ॥
जीवितं च जने जीर्णं नैवोत्तीर्णो भवार्णवः ।
दिनानुदिनमुच्छूना भोगाशा भयदायिनी ॥ १२ ॥

मेरा यह मन पीपल आदि के उड़ रहे सूखे पत्तों आदि के सञ्चय से गन्दे गाँवों के मध्य भाग की तरह हो गया है तथा मेरी जीविका भी नाना विधि भोगवासनारूपी दुर्गन्धों को अपने अङ्ग में धारण करने वाली गृध्र तुल्य इन इन्द्रियों द्वारा निकृष्ट गन्दे गाँव की स्थिति के समान हो गई है ॥ ८ ॥

जैसे दीपक आदि के प्रकाश को प्राप्त किये बिना अन्धकार से आवृत्त रात को आँखें व्यर्थ में गवाँ देतीं हैं। वैसे ही करञ्ज आदि काँटेदार वृक्षलता के समान मेरी बुद्धि महाभयानक तथा कुटिल है एवं आयास युक्त अज्ञानान्धकार से आच्छादित निरन्तर विषयों की चिन्ता से ब्रह्मसाक्षात्काररूपी प्रकाश के बिना ही मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थ में गवाँ दी है। शुष्कलता के सदृश यह तृष्णा न फूलती है, न फलती है, और न विवेकरूपी रस को ही कुछ ग्रहण करती है, बार-बार व्यर्थ होने से यह नष्ट होकर भी नष्ट नहीं होती ॥ ९–१० ॥

जो नित्य-नैमित्तिक कर्म जो मैंने किया है वह पूर्व जन्म के दुष्कर्म की राशि में निमग्न हो गया है तथा भोग वासनारूपी बीज तो उत्तरोत्तर अनर्थ के हेतुभूत काम्य-निषिद्ध कर्म में ही मुझे प्रवृत्त करता है ॥ ११ ॥

पुत्र, कलत्र, बान्धव, भृत्य आदि में आसक्ति रखने से यह जीवन भी जीर्ण हो चला, परन्तु मैं संसारसागर के पार न पहुँचा तथा भयदायिनी मेरी भोगों की आशा दिनों-दिन बढ़ती ही जाती है ॥ १२ ॥

पूर्णापूर्णात्मनि क्षीणाः श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ।
चिन्ताज्वरविकारिण्यो लक्ष्म्याः खलु महापदः ॥ १३ ॥

सम्पन्नमक्षतं सापि विप्रलम्भेन जृम्भते ।
अन्तःस्फुरितरत्नेहं भास्वरं वान्धकोटरम् ॥ १४ ॥

कल्लोलकलिलं शून्यं चेतः शुष्काब्धिदुर्भगम् ।
मामिन्द्रियार्थैकपरं न स्पृशन्ति विवेकिनः ॥ १५ ॥

सकण्टकममेध्यस्थं श्लेष्मातकमिव द्रुमम् ।
असदेव महारम्भं चलदर्जुनवातवत् ।
मनो मरणमप्राप्तं शून्यं दुःखाय वल्गति ॥ १६ ॥

शास्त्रसज्जनसम्पर्कचन्द्रतारकधारिणी ।
अहम्भावोल्लसद्यक्षा क्षीणा नाज्ञानयामिनी ॥ १७ ॥

गड्ढे में उत्पन्न कण्टक वृक्ष की तरह पुत्र, मित्र, पशु, धन आदि से कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण स्वरूप घर में चिन्तारूपी ज्वर से विकार पैदा करने वाली लक्ष्मी से समुत्पन्न महाविपत्तियाँ मैंने निःसन्देह नष्ट कर दीं ॥१३॥

प्रचुर धन आदि से सम्पन्न तथा शस्त्र आदि के द्वारा घायल न हुए पुरुष को भी यह लक्ष्मी बार-बार लुभाकर बहुत दूर तक खींच कर शत्रुओं तथा चोरों आदि के अधीन में पहुँचाती हुई सारी सम्पत्तियों के नाश एवं अस्त्र-शस्त्रों के आघातादि के द्वारा आखिर में दुःख-प्रद बनकर धोखा देने में वैसे ही समर्थ रहती है, जैसे सर्प के मस्तष्क मणि से प्रकाशमय हो रहा अन्धकार युक्त गड्ढा, हृदय के भीतर रत्न लेने की स्फुरित हुई अभिलाषा वाले तथा अपने अन्दर स्थित सर्प को न देखनेवाले पुरुष को अपने भीतर घुसकर साँप के डसने आदि रूप धोखा देने में समर्थ रहती है ॥ १४ ॥

यह मेरा चित्त हजारों आशारूपी तरङ्गों से मलिन, चारों ओर इधर-उधर खूब दौड़-धूप लगाने पर भी अर्थ प्राप्ति से शून्य है, सूखे समुद्र के समान दुष्पूर होने से भाग्यहीन तथा एकमात्र इन्द्रियों के वशीभूत मुझे विवेकी लोग अपने समीप नहीं फटकने देते अर्थात् मेरी उपेक्षा करते हैं ॥ १५ ॥

कण्टकयुक्त, अपवित्र स्थान में रहने वाला भीलावा के वृक्ष के समान असत् होने पर भी बड़े-बड़े कर्मों का आरम्भ करने वाला, अर्जुनवात के समान सदा ही भ्रमण-कारी मेरा यह मन मेरे अनेक बार मर जाने पर भी मृत्यु को प्राप्त नहीं किया अर्थात् अभिलाषितार्थ शून्य हो एकमात्र दुःख के लिए ही दौड़ता फिरता है ॥ १६ ॥

हे मुनिवर, शास्त्र एवं सज्जन महानुभावों की सङ्गति रूप चन्द्रमा और तारों को धारण करने वाली, अहङ्कार-रूपी उल्लसित हो रहे बाल कल्पित यक्ष से युक्त यह मेरी अज्ञान रूपी रात अभी तक क्षीण नहीं हुई है, क्योंकि

अज्ञानध्वान्तमत्तेभसिंहः कर्मतृणानलः ।
उदितो न विचारोऽर्को वासनारजनीक्षयः ॥ १८ ॥

अवस्तु वस्तुवद्बुद्धं मत्तश्चित्तमतङ्गजः ।
इन्द्रियाणि निकृन्तन्ति न जाने किं भविष्यति ॥ १९ ॥

शास्त्रदृष्टिरपि प्राज्ञैर्नाश्रिता तरणाय या ।
साप्यदृष्टिरिवान्ध्याय वासनावेशकारिणी ॥ २० ॥

तदेवमतिसंमोहे यत्कार्यमिह दारुणे ।
उदर्कश्रेयसे तात ! तन्मे कथय पृच्छते ॥ २१ ॥

शाम्यन्ति मोहमिहिकाः शरदीव साधौ
प्राप्ते भवन्ति विमलाश्च तथाऽखिलाशाः ।

अज्ञानान्धकार रूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह तथा कर्म रूपी तृण के लिए अग्नि एवं वासना रूपी रात का विनाशक विवेक रूपी सूर्य का अर्थात् वासना रूपी रात के लिए सूर्य रूप विवेक का अभी उदय नहीं हो पाया है अर्थात् शास्त्रों तथा सज्जनों की सङ्गति आदि उपायों से मन को रोक रखो, यदि ऐसा कहें, तो इस पर मेरा यह कहना है कि ज्ञान फल विवेक रूपी सूर्य के उदय से अज्ञान रूपी रात जब तक बीत नहीं जाती, तब तक शास्त्र तथा सज्जनों के सम्पर्क रूपी चन्द्रमा एवं तारें आत्यन्तिक मन का भ्रम दूर करने में समर्थ नहीं हो सकते ॥ १७–१८ ॥

चित्तरूपी मतवाले हाथी ने अवस्तु को ही वस्तुवत् मान लिया है। ये इन्द्रियाँ मुझे काट रही हैं, न जाने मेरी क्या दशा होगी ? ॥ १९ ॥

सेवादि के द्वारा वश में लाये गये प्राज्ञों या अन्यान्य उपायों से मैंने भवसागर तैर जाने के जिस शास्त्रदृष्टि का आश्रयण नहीं किया है, वह शास्त्रदृष्टि भी वासना में आसक्त कराने वाली हो दृष्टिविघात की तरह मुझे अन्धा बनाने के लिए है ॥ २० ॥

इसलिए इस तरह चारों ओर से अनर्थों के कारण भयङ्कर भारी मोह में फँसे मेरे संसार-सागर से उद्धार पाने में कल्याणकारक जो कर्त्तव्य हो, वह कृपाकर कहें, मैं आप से विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ ॥ २१ ॥

शरत्काल के सदृश निर्मल स्वच्छ ज्ञान विवेकादि ज्योतिर्गणमण्डित साधु गुरु के प्राप्त होने पर आकाश तुल्य

सत्येतिवाग्भवतु साधुजनोपगीता मद्बोधनेन भवता भवशान्तिदेन ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्कीवैराग्यं नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥ २४ ॥

शिष्य के मोहरूपी कुहरे शान्त हो जाते हैं तथा सारी दिशाएँ रूपी आशाएँ मनोरथ धूल आदि मलों रूपी रागादि मलों से रहित हो जाती हैं, यह लोक में प्रसिद्ध साधुजनों के द्वारा कही गई वाणी संसार के शान्तिदायक आपके उपदेश से मेरे लिए सत्य हो ॥ २२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में मङ्कि उपाख्यान में मङ्किवैराग्य नामक कुसुमलता का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

२५

वसिष्ठ उवाच

संवेदनं भावनं च वासना कलनेति च ।
अनर्थायेह शब्दार्थो विगलार्थो विजृम्भते ॥ १ ॥
वेदनं भावनं विद्धि सर्वदोषसमाश्रयम् ।
तस्मिन्नेवापदः सन्ति लता मधुरसे यथा ॥ २ ॥
संसारमार्गे गहने वासनावेशवाहिनः ।
उपयाति विचित्रौघैर्वृत्तवृत्तान्तसन्ततिः ॥ ३ ॥
विवेकिनो वासनया सह संसारसम्भ्रमः ।
क्षीयते माधवस्यान्ते शनैरिव धरारसः ॥ ४ ॥
अस्याः संसारसल्लक्या वासनोत्सेधकारिणी ।
कदल्या वनजालिन्या रसलेखेव माधवी ॥ ५ ॥
संसारान्ध्यतयोदेति वासनात्मा रसश्चितौ ।
यथा वनतया तस्थौ मधुमासरसः क्षितौ ॥ ६ ॥

२५

वसिष्ठजी ने कहा—संवेदन, भावन, वासना और कलना ये चार ही इस संसार में अनर्थ पैदा करने वाले हैं ये जितने शब्दों के अर्थ हैं, वे मिथ्याभूत अर्थों का ही अवलम्बन करते हैं और स्वयं भी मिथ्या हैं, इसलिए वे सब एकमात्र अविद्या से ही स्फुरित होते हैं। पहले पहल इन्द्रियों से जो विषयों का उपभोग ही संवेदन कहलाता है, विषयों के नष्ट हो जाने पर उनका जो बार-बार चिन्तन होता है, वह चिन्तन 'भावन' कहलाता है, बार-बार चिन्तन करने पर चित्त में एक तरह का जो दृढ़ विषय-लाञ्छन उत्पन्न हो जाता है, वही विषयलाञ्चछन वासना कहलाती है और उस वासना से मरणकाल में भावी शरीर के लिए जो स्मरण होता है, उसको कलना कहते हैं। आशय यह है कि मङ्कि मुनि ने अपने संसाररूपी अनर्थ का वर्णनकर जब उसके निरास का उपाय पूछा तब 'उसके बीजों को जाने बिना संसार निरास के उपाय प्राप्त नहीं किये जा सकते' इस अभिप्राय से संसार के चार बीजों का महाराज वसिष्ठजी ने उपदेश दिया है ॥ १ ॥

वेदन और भावन—ये दो तो समस्त दोषों के आश्रय हैं अर्थात् अत्यन्त ही अनर्थरूप हैं, भावन में तो वैसे ही सभी आपत्तियाँ विद्यमान रहती हैं जैसे पुष्प, पल्लव आदि से समृद्ध लताएँ मधुमास के लतारस में विद्यमान रहती हैं। अर्थात् इन चार संसार के बीजों आदि के दो तो अत्यन्त अनर्थ रूप हैं ॥ २ ॥

यह अतिगहन संसारमार्ग है, उसपर वासना के आवेश से चल रहे जीव के प्रति ही चित्र-विचित्र अर्थों के समूहों से परिपूर्ण टेढ़े-मेढ़े अनेक वृत्तान्त आते-जाते रहते हैं ॥ ३ ॥

विवेकी पुरुष का संसारसम्भ्रम तो, वसन्त के अन्त में पृथिवी के रस के समान, धीरे-से वासना के साथ नष्ट हो जाता है। अर्थात् विवेकी पुरुष का—विषयों में दोष भावना और ब्रह्म भावना से इन बीजों का विनाश हो जानेपर वासना के साथ—समस्त संसार नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

इस संसाररूपी कण्टकपूर्ण गुल्म का वासना वैसे ही विस्तार करती है। जैसे वसन्त ऋतु की रसलेखा वन में फैलने वाली कदली का विस्तार करती है। अर्थात् वासना ही आगे का संसार भी बनती है ॥ ५ ॥

जीव-चैतन्य में वासनारूपी रस इस संसाररूप अन्धकार बनकर वैसे ही चिति में होता है जैसे पृथ्वी में मधुमास का रस बनकर स्थित रहता है ॥ ६ ॥

चिन्मात्रादमलाच्छून्यादृते किञ्चिन्न विद्यते ।
नाऽन्यत्किञ्चिदपर्यन्ते खे शून्यत्वेतरद्यथा ॥ ७ ॥
वेदनात्मा न सोऽस्त्यन्य इति या प्रतिभा स्थिरा ।
एषाऽविद्या भ्रमस्त्वेष स च संसार आततः ॥ ८ ॥
अनालोकनसंसिद्ध आलोकेनैव नश्यति ।
असदात्मा सदाभासो बालवेतालवत् क्षणात् ॥ ९ ॥
सर्वदृश्यदृशो बाधे बोधसारतयैकताम् ।
यान्त्यशेषमहीपीठसरित्पूरा इवाऽर्णवे ॥ १० ॥
मृन्मयं तु यथाभाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयादितया चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ११ ॥

द्वैत रहित, निर्मल चैतन्यमात्र वस्तु को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ जगत् में नहीं है, क्योंकि चैतन्य की सत्ता और चैतन्य प्रकाश इन दोनों से ही जगत् की सत्ता और जगत् का प्रकाश होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध बात है। जैसे आकाश शून्यरूपता को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, वैसे ही असीम आत्मा में स्वतः सत्ता-स्फूर्ति को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है ॥ ७ ॥

इस तरह चारों ओर निरन्तर प्रकाशित हो रहा 'चिन्मात्ररूप वेदनात्मा देह-इन्द्रिय आदि से भिन्न नहीं है, इस प्रकार उसकी सत्ता का भान न करानेवाली अनादि प्रतिभारूप भ्रान्ति ही आवरणशक्ति की प्रधानता से अविद्या, विक्षेपशक्ति की प्रधानता से भ्रम और फलरूप से वस्तुतः संसाररूप हुई है ॥ ८ ॥

बालक को वेताल की तरह, सत् की तरह संसार भासित हो रहा है। असद्रूप यह संसार परमात्मतत्त्व के अज्ञान से सिद्ध है। अतः वह परमात्मतत्त्व के ज्ञानरूप प्रकाश से ही क्षणभर में नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

भेद पैदा करने वाली दृश्यरूप उपाधियों का आत्म-तत्त्व के ज्ञान से बाध हो जाने पर सम्पूर्ण दृश्य, पदार्थों के ज्ञान बोधरूप से वैसे ही एकता की प्राप्ति हो जाती हैं, जैसे धरातल के सम्पूर्ण नदियों के प्रवाह सागर में जाकर समुद्ररूप से एकता को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् भेद पैदा करने वाली दृश्यरूप उपाधियों का बाध हो जाने पर सभी ज्ञानों में एकता आ जाती है ॥ १० ॥

सत्-चिन्मात्रमय सांसारिक विषय भी चिति से शून्य वैसे ही उपलब्ध नहीं हो सकते है जैसे मिट्टी के बर्तन मिट्टी से शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते ॥ ११ ॥

तत्त्वज्ञान से ज्ञात वस्तु ज्ञानस्वरूप ही कही जाती

बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते ।
नाऽबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेन नान्यता ॥ १२ ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्येषु प्रत्येकं बोधमात्रता ।
सारस्तेन तदन्यत्वं नाऽस्ति किञ्चित् खपुष्पवत् ॥ १३ ॥
सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति ।
अन्योन्यानुभवस्तेन भवत्वेकत्वनिश्चयः ॥ १४ ॥
यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद्बोधरूपता ।
तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव ॥ १५ ॥
यदा त्वेषा नु दृश्यश्रीर्बोधमात्रैकरूपिणी ।
तदाऽन्येवाप्यनन्यैव सती बोधेन बोध्यते ॥ १६ ॥

है, क्योंकि विरुद्धरूप होने से ज्ञानाभाव ज्ञानरूप से नहीं जाना जाता। इसलिए ज्ञेय और ज्ञान, ये दोनों एकरूप हैं अर्थात् विचार करने पर चिन्मयरूप से स्फुरित हो रहे पदार्थों की चिदैकरसता ही अन्त में चलकर प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इन तीनों में प्रत्येक में एकमात्र बोधज्ञान ही सार है, इसलिए उससे अन्य, आकाश में फूल की तरह कुछ भी नहीं है अर्थात् द्रष्टा आदि त्रिपुटी के बोध से आध्यात्मिक अभेद कहना ठीक नहीं है, कारण उसके मिथ्याभूत होने से एकमात्र अधिष्ठान ज्ञानैकरसता ही उसमें सिद्ध हो सकती है ॥१३॥

जल आदि एक जाति के पदार्थ अपनी जाति के दूसरे जल आदि के साथ मिल जाने पर एकता को प्राप्त करते हैं, यह बात सिद्ध है। इसलिए अनुभव भी परस्पर मिल जाने से एकरूप हो जा सकते हैं, अतः चिदेकत्व निश्चय सिद्ध है अर्थात् एक जाति के पदार्थ ही एक दूसरे में मिल जाने पर एकरूप हो जाते हैं, यह बात जल के साथ जल के मिल जाने पर देखी गई है, इस स्थिति में जगत् जब जगदनुभवरूप है और सभी अनुभव जब एकरूप हैं, तब तो अन्त में चैतन्य की एकता ही सिद्ध हुई ॥१४॥

यदि लकड़ी, पत्थर आदि को बोधरूप ज्ञान स्वरूप न माना जाय, तो उनका शशशृङ्ग के समान कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा अर्थात् काष्ठ आदि दृश्य पदार्थों का स्फुरण के साथ अभेद न मानने पर खरहे के सींग के समान उनका अत्यन्त असत्त्व ही हो जायगा ॥ १५ ॥

यद्यपि अपने सिद्धान्त से यह दृश्य प्रपञ्च एकमात्र बोधरूप होने से बोध से अनन्य सिद्ध ही है, तथापि अज्ञान के कारण अन्य के सदृश होकर बोध से प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं ततम् ।
स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथाऽर्णवः ॥ १७ ॥
मिश्रीभूता अपि ह्येते जतुकाष्ठादयो यथा ।
मिथोऽननुभवे मिश्रा ऐक्यं ह्यनुभवे मिथः ॥ १८ ॥
अन्योन्यानुभवो ह्यैक्यमैक्यं त्वन्योन्यवेदनम् ।
यथाम्भसोः क्षीरयोर्वा न काष्ठजतुनोरिव ॥ १९ ॥
अहमित्येव बन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
एतावन्मात्रके बन्धे स्वायत्ते किमशक्तता ॥ २० ॥

समस्त जगत् में स्थित यह समस्त विस्तृत दृश्य भी वैसे ही बोधरूप ही है जैसे वायु स्पन्दनरूप है और समुद्र जलरूप है, अर्थात् जगत् बोधरूप ही है, बोध से अनतिरिक्त अर्थात् बोधरूप प्रकाशवाला होने से; जो जिससे अनतिरिक्त अभिन्न प्रकाशवाला होता है, वह तद्रूप ही होता है, जैसे वायु का स्पन्दन वायुरूप होता है ॥ १७ ॥

लाख, लकड़ी आदि के परस्पर मिश्रित हो जाने पर भी जैसे भेद का अनुभव होने के कारण उनकी एकता नहीं है, वैसे ही यहाँ पर नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर ऐक्यरूप मिश्रण दिखाई देने से इनमें ऐक्य ही मानना चाहिए अर्थात् यदि यह शङ्का हो कि क्रिया और क्रियावान् एवं अवयव और अवयवी—इन दोनों का तो समवाय सम्बन्ध से केवल सम्मेलन मात्र ही होता है, न कि उनकी आत्यन्तिक एकता होती है, तो इसका समाधान यह है कि लाख और लकड़ी का बाहर से मिश्रण करने पर भी भेद के अनुभव में मिश्रण दिखाई नहीं देता और इस स्थल में मिश्रण दिखाई पड़ता है इसलिए दोनों में विषमता है, और समवायसिद्ध भी नहीं है ॥ १८ ॥

दूध और जल की तरह एकरूप बन जाना ही एकता है। द्रष्टा और दृश्य पदार्थों का भी अन्योन्य ज्ञानरूप ऐक्य विद्यमान ही है; लाख और काठ की तरह अन्योन्य संयोगमात्र नहीं है ॥ १९ ॥

'अहम्' बुद्धि ही बन्धरूप संसार को पैदा करती है और अहम्बुद्धि का अभाव मुक्ति को पैदा करता है। जब इतने बन्धन को अपने अधीन रख सकते हैं, तब भला अशक्ति ही किस बात की ? अर्थात् जब यह सिद्ध है कि सब दृश्य चिन्मात्रस्वरूप हैं और तत्पदार्थ चिति अपरिच्छिन्न व्यापक होने के कारण नित्य मुक्त है, तब त्वं पदार्थ की अहंरूप से परिच्छिन्न बुद्धि ही संसार का कारण और परिच्छिन्न बुद्धि का परित्याग मुक्ति का कारण है यह सिद्ध होता है ॥ २० ॥

चन्द्रद्वयप्रत्ययवन्मृगतृष्णाम्बुबुद्धिवत् ।
किमनुत्थित एवाऽयमसदेवाऽहमुत्थितः ॥ २१ ॥
ममेदमिति बन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
एतावन्मात्रके वस्तुन्यात्मायत्ते किमज्ञता ॥ २२ ॥
यः कुण्डबदरन्यायो या घटकाशयोः स्थितिः ।
स सम्बन्धोऽपि नैवाऽन्यमैक्यं ह्यन्योन्यवेदनम् ॥ २३ ॥
अन्योन्यावेदनं त्वैक्यं भागशो गतमप्यलम् ।
अजडं वा जडं वापि नैकं रूपं विमुञ्चति ॥ २४ ॥

एक चन्द्र में दो चन्द्रमा की बुद्धि या मृगतृष्णा में जल बुद्धि के समान यह असत् अहङ्कार क्या उत्पन्न हुआ है ? अर्थात् उत्पन्न ही नहीं हुआ है ॥ २१ ॥

'यह मेरा है' यह ममता ही बन्धन प्रदान करती है, और 'मैं नहीं हूँ' यह ममता का अभाव मुक्ति प्रदान करता है। जब इतनी वस्तु अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान ही कहाँ रहा अर्थात् अहन्ता का त्याग होने पर ममता स्वयं ही त्यक्त हो जाती है ॥ २२ ॥

जो कुण्डबदर न्याय है अर्थात् जैसी कुण्डे की और बैर की स्थिति है या जैसी घट और आकाश की स्थिति है, आशय यह है कि जिस सम्बन्ध से बैर कुण्ड के अन्दर प्रविष्ट होकर उसको दबा सकता है या घड़ा आकाश को छोटा बना सकता है वह सम्बन्ध भी आत्मा के साथ, जो कि अत्यन्त भिन्न अहङ्कार कल्पना की सामर्थ्य रखता है, नहीं है, ऐसी स्थिति में वास्तविक ऐक्य ही है, वह ऐक्य अन्योन्य वेदनरूप है अर्थात् चन्द्र में द्वैतपन की तरह भेद से अविद्या द्वारा कल्पित भेदरूप आत्मा का जो स्वप्रकाश के बल से स्फुरण है, वह अन्योन्य वेदन-सा हो जाता है अर्थात् असल में असत्य अहङ्कार अन्दर बैठ कर सत्य आत्मा को वैसे नहीं ढ़ँक सकता, जैसे कि भीतर बैठ कर बैर कुण्ड को ढ़ँक सकता है या वैसे न परिच्छिन्न बना सकता है, जैसे कि घड़ा आकाश को परिच्छिन्न बना सकता है ॥ २३ ॥

जड़ और ज्ञान की वास्तविक एकता है और वही आत्मरूप है, यह जैमिनिमतावलम्बी लोग मानते हैं, उनके मत में भी वह ऐक्य जड़वस्तुगत जड़ और ज्ञानगत अजड़ होगा, इस प्रकार किसी एक रूप को वह कभी छोड़ ही नहीं सकता है ऐसी स्थिति में जड़ अंश में उसका स्फुरण न होते हुए भी चिदंश में स्फुरित हो रहा है वह अन्योन्य वेदनरूप निर्विषयक ऐक्य आ ही जाता है ॥२४॥

नाजडं जडतामेति स्वभावा ह्यनपायिनः ।
यच्चाजडं जडं दृष्टं द्वैति तत्रास्ति नैकता ॥ २५ ॥
वासनावेशवलिताः कुविकारशतात्मभिः ।
व्रजन्त्यधोधो धावन्तं शिलाः शैलच्युता इव ॥ २६ ॥
व्यूढानां वासनावातैर्नृतृणानामितस्ततः ।
तान्यापतन्ति दुःखानि तत्र वक्तुं न पार्यते ॥ २७ ॥
भ्रान्त्वा भृशं करतलाहतकन्दुकाभं
लोकाः पतन्ति निरयेषु रसेन रक्ताः ।
क्लेशेन तत्र परिजर्जरतां प्रयाताः
कालान्तरेण पुनरन्यनिभा भवन्ति ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किबोधनं नाम पञ्चविंशतिः सर्गः ॥ २५ ॥

जो अजड़ वस्तु है, वह जड़ता कभी धारण नहीं कर सकती, क्योंकि धर्म स्वभाव कभी भी छुटने वाले नहीं होते। जो आत्मतत्त्व अजड़ है उसे आपने जड़रूप अंशान्तर से देखा, पर वह तो कोई दूसरी ही चीज है, उसकी अजड़ के साथ एकता ही नहीं है, ऐसी स्थिति में अजड़ और बोध की एकता कैसे हो सकती है ? ॥ २५ ॥

सैकड़ों कुत्सित विकारों से, वासनाओं से तथा अभिमानों से भरे लोग बाह्य दृष्टियों से ही आत्मतत्त्व की समीक्षा करते-करते ऐसे नीचे से नीचे की ओर दौड़ते हुए जाते हैं जैसे पर्वत से च्युत हुई पाषाण शिला नीचे से नीचे की ओर दौड़ती हुई जाती है ॥ २६ ॥

इसीलिए स्व-स्व वासनारूपी वायुओं के द्वारा इधर-उधर उड़ाये गये उपनिषद्-दृष्टि से च्युत पुरुषरूपी तिनकों के ऊपर वे सब दुःख, लोक में तथा शास्त्रों से वर्णित हैं, गिरते हैं। कितने गिरते हैं, इस विषय में कोई कह ही नहीं सकता है ॥ २७ ॥

अपनी वासना और अपने-अपने अभिमान के अनुसार राग आदि रसों से रंगे गये लोग करतल से ताडित गेंद के सदृश इधर-उधर खूब घूम-फिरकर नरकों में गिरते हैं। वहाँ पर दीर्घकाल तक तरह-तरह की यातनाओं के क्लेशों से सब ओर से जर्जर होकर कालान्तर में स्थावर कृमि, कीट आदि जन्म लेकर अन्य से हो जाते हैं, फिर मनुष्य जन्म उनके लिए दुर्लभ ही बना रहता है ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में मङ्कि उपाख्यान में मङ्किबोधन नामक कुसुसलता का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

२६

वसिष्ठ उवाच

संसारमार्गगहने पतितस्याऽऽपतन्ति हि ।
वृत्तवृत्तान्तलक्षाणि कीटा इव घनागमे ॥ १ ॥
सर्व एव त्विमे भावाः परस्परमसङ्गिनः ।
अटव्यामुपलानीव भावनैतेषु शृङ्खला ॥ २ ॥
चित्तमान्ध्याय वृत्तान्तद्रुमैर्गहनवत्स्थितम् ।
रसरञ्जनया लोके वसन्त इव काननम् ॥ ३ ॥
अहो बत विचित्राणि वासनावशोऽवशैः ।
भूतकैरनुभवन्ते सुखदुःखानि जन्मसु ॥ ४ ॥

२६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—स्थावर आदि योनिरूप संसार मार्ग में गिरे हुए जीव के ऊपर, मेघ के आने पर लाखों कीटों के आगमन के सदृश, छेदन, भेदन, दहन, क्षुधा आदिरूप लाखों बातें आती रहती हैं ॥ १ ॥

ये जितने संसार के पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरे से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते, जैसे कि जङ्गल में बिखरे हुए पत्थर के टुकड़े। परन्तु उन सबको मिलानेवाली गूँथने में हेतु सिक्कड़ के सदृश भावना ही है अर्थात् इन वृत्तान्तों में एकमात्र भावना ही मूल है ॥ २ ॥

लोक में यह चित्त एक तरह से वसन्तकाल का भयङ्कर अरण्य है, अनेक तरह के वृत्तान्तरूपी वृक्षों को लेकर अन्धकार पैदा करने के लिए गहन-सा बनकर स्थित है, राग आदि दोषरूपी जल से सींचा भी गया है अर्थात् भावना में मूल कारण रागादि दोषों से दूषित, पूर्व की वासनाओं से भरा विवेकशून्य चित्त है ॥ ३ ॥

अहो ! महान् आश्चर्य है कि वासना के बल से पराधीन होकर ये अज्ञानी भूत सब चित्रविचित्र सुख-दुःखों का जन्मों में अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

अहो बताऽतिविषमा वासना यद्वशाज्जनैः ।
अविद्यमानैरेवाऽयं भ्रमोऽन्तरनुभूयते ॥ ५ ॥
आह्लादिनो मृतवतः शुद्धस्याऽऽलोककारिणः ।
शीतलस्याऽखिलार्थेषु ज्ञस्येन्दोश्च किमन्तरम् ॥ ६ ॥
पूर्वापरमनालोच्य यत्किञ्चिदभिवाञ्छतः ।
निर्मर्यादस्य मूढस्य बालस्य च किमन्तरम् ॥ ७ ॥
लब्धमाप्राणपर्यन्तं शुभाशुभमनुज्झतोः ।
आमिषं को विशेषोऽस्ति वद माकरमूढयोः ॥ ८ ॥
सर्व एव त्विमे भावा देहदारधनादयः ।
क्षिप्रमाशुष्कसिकताशरावविशरारवः ॥ ९ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमपि योनिशतेषु ते ।
आकल्पं भ्रमतश्चित्त शान्तिर्नास्ति शमादृते ॥ १० ॥

अहो ! यह वासना अतिविषम है, जिसके वश से मनुष्य मिथ्याभूत द्रष्टा आदि त्रिपुटीरूप अर्थों से अपने भीतर यह संसारभ्रम का अनुभव करने लग जाते हैं ॥५॥

ज्ञानी और चन्द्र—इन दोनों में क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी आह्लाद देनेवाला है, अमृत से पूर्ण है, शुद्ध है, ज्ञानरूप प्रकाश करता है और सभी अर्थों में शान्त है अर्थात् यही कारण है कि संसार-भ्रम को तैर गये तत्त्ववित् पुरुष सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

अज्ञानी मूर्ख और बालक में क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि जो अज्ञानी है, वह पूर्वापरका आगे पीछे का कुछ भी विचार किये बिना जिस किसी की भी इच्छा करने लगता है, उसकी कोई मर्यादा ही नहीं है ॥ ७ ॥

मछली और मूर्ख अज्ञानी में क्या अन्तर है ? ये दोनों मरण पर्यन्त पकड़े हुए आमिषरूपी विषयों कों नहीं छोड़ते, [मछली के पक्ष में वंसी में लगाया गया आमिष और मूर्ख के पक्ष में रागादि विषयरूप आमिष समझना चाहिए] चाहे शुभ हो या अशुभ हो ॥ ८ ॥

शरीर, नारी, धन, आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब शुष्क बालू से बनाये गये कसोरे के समान जल्दी ही नष्ट हो जाने वाले हैं ॥ ९ ॥

हे चित्त ! ब्रह्म से लेकर गुल्म तक सैकड़ों योनियों में कल्पपर्यन्त घूम रहे तुम्हें शम को प्राप्त किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती है ॥ १० ॥

जैसे केवल अपने पैर रखने की जगह पर दृष्टि रखनेवाला गमनकर्ता पुरुष मार्ग की विषमता को नहीं

पर्यालोचनमात्रेण बन्धगन्धो न बाधते ।
गच्छतो मार्गवैषम्यमिवालोकनकारिणः ॥ ११ ॥
तव नाऽवहितं चित्तं कामः कवलयिष्यति ।
सावधानस्य बुद्धस्य पिशाचः किं करिष्यति ॥ १२ ॥
यथेक्षणप्रसरणं रूपालोकनमात्रकम् ।
संवित्प्रसृतिमात्रात्म तथा साहं जगत् स्थितम् ॥ १३ ॥
यथाऽक्षसंवृतिः सर्वरूपालोकशमोऽरिहन् ।
संवित्संवरणं नाम सर्वदृश्यशमस्तथा ॥ १४ ॥
असदेव जगत्साहं शुद्धा संवित्तनोति खे ।
ईषत्प्रसरणेनाऽऽशु स्पन्दनं पवनो यथा ॥ १५ ॥
सदिवाऽसत्यमेवेदमकुर्वत्यन्यमेधते ।
मृदा हेम्नेव कुम्भत्वमपृथग्लभ्यमात्मगम् ॥ १६ ॥

जान सकता है वैसे ही केवल विवेकमात्र से संसार की गन्ध ऐसे निकल नहीं सकती ॥ ११ ॥

यदि तुम्हारा चित्त विवेक और अवधान से युक्त नहीं है, तो उसे कामरूप पिशाच अपने गाल में कर लेगा। परन्तु जो सावधान और सदा जागरूक है, उसके चित्त का वह कामरूप पिशाच क्या करेगा ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १२ ॥

अहङ्कार युक्त जगत् अविवेक और प्रमादयुक्त संवित् का वैसे ही प्रसरणरूप व्यापार मात्र ही है, दूसरा कुछ नहीं जैसे चक्षु का प्रसररूप व्यापार केवल रूप का अवलोकनमात्र ही है, इससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है। अर्थात् अहङ्कार युक्त जगत् केवल विवेक और अप्रमाद से शून्य ज्ञान का विस्तार मात्र है; दूसरा कुछ नहीं है ॥ १३ ॥

हे कामादि शत्रुओं के नाशक ! बहिर्मुख ज्ञान का आवरण यानी बाह्य ज्ञानों को आत्मा की ओर लगाना वैसा ही समस्त दृश्यों की शान्ति है। जैसे आँखों का आवरण सभी रूप के प्रकाश की शान्ति है ॥ १४ ॥

विशुद्ध संवित् अविवेक जनित कुछ साधारण स्फुरण-रूप व्यापार से अज्ञात स्वरूप चिदाकाश में अहङ्कार युक्त असद्रूप जगत् का वैसा ही विस्तार करती है जैसे पवन शीघ्र स्पन्दन का विस्तार करता है ॥ १५ ॥

यह जगत् वास्तव में असत्य है, परन्तु सत् की तरह प्रतीत होता है, वास्तव में ब्रह्मचिति अन्य का निर्माण न करती हुई जगत्-रूप में स्फुरित होती है। जगत् असत्य है, जैसे मिट्टी या सोने में कल्पित घड़ा या कड़ा मिट्टी या सोने से अलग प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि जगत्

शून्यमात्रं यथा व्योम स्पन्दमात्रं यथाऽनिलः ।
जलमात्रं यथोर्म्यादि संविन्मात्रं तथा जगत् ॥ १७ ॥
अव्यवच्छिन्ननिर्भागसंविन्मात्रं जगत्त्रयम् ।
विद्धि शान्तं तथा व्योम यथा वारिणि पर्वतम् ॥१८॥
निर्वाणस्योपशान्तस्य ज्ञस्य सोदेति शीतता ।
अन्तर्यत्रेन्दवोऽप्येते दीप्तज्वलनबिन्दवः ॥ १९ ॥
किं केन कथमेकान्तशान्ताततशिवात्मनि ।
निरालोकेऽपरालोकः शून्ये जगति जन्यते ॥ २० ॥
या सत्ता ब्रह्मशब्दाख्या रूपं सर्वस्य तन्निजम् ।
न यत्र काचिद्बाधाऽस्ति सर्वं तन्मयमव्ययम् ॥ २१ ॥

सत्य होता, तो आत्मा से अलग होकर उपलब्ध होता है ॥ १६ ॥

जगत् भी वैसा ही संविन्मात्र है, जैसे आकाश शून्य-मात्र है, जैसे वायु स्पन्दनमात्र है, जैसे तरङ्ग आदि जल मात्र हैं, अर्थात् जो अलग होकर प्राप्त नहीं होता, उसकी अलग सत्ता नहीं रहती ॥ १७ ॥

आत्मा में प्रतीत ये तीनों जगत् शान्त, आकाशरूप तथा सभी तरह के भेदों से शून्य वैसे ही संवित्स्वरूप आत्मस्वरूप ही हैं जैसे जल में प्रतिबिम्बत पर्वत या पर्वततुल्य तरङ्ग जलरूप ही है ॥ १८ ॥

सभी तरह के विकारों से निर्मुक्त परमशान्त ज्ञानी पुरुष के अन्दर ऐसी सबसे उत्तम शीतलता उत्पन्न हो जाती है, जिसकी तुलना में ये अनेक चन्द्रमा भी प्रदीप्त अग्नि के कणों के सदृश प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् जगत् के स्वरूप को जान रहे ज्ञानी को सांसारिक सन्ताप की प्राप्ति कभी नहीं होती ॥ १९ ॥

जब यह जगत् अत्यन्त शान्त व्यापक प्रकाशरूप शिव स्वरूप शून्य है, तब उसमें दूसरा प्रकाश ही कौन है? वह किस क्रिया या साधन से कैसे उत्पन्न किया जा सकता है? अर्थात् उसमें दूसरे किसी अन्य प्रकाश की प्रशक्ति भी नहीं है ॥ २० ॥

ब्रह्मशब्द से जो सत्ता कही जाती है, वह सत्ता ही सब पदार्थों का निजी स्वरूप है, उसमें किसी तरह की बाधा नहीं है और समस्त जगत् तन्मय है अतएव वह अव्ययरूप है अर्थात् वही सब पदार्थों का किसी काल में बाधित न होने वाला स्वरूप है ॥ २१ ॥

जो ये नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उनमें बाध देखा जाता है, परन्तु उनका बाध या उनकी उत्पत्ति आदि विकृतियाँ जो दिखाई देती हैं, उनके विषय में विचार करने पर भी

यदिदं तु पदार्थत्वं यत्र बाधाऽनुभूयते ।
यद्यच्च बाधनं प्रेक्ष्य तन्न विद्मः खपुष्पवत् ॥ २२ ॥
ज्ञ एवापगतस्वान्तं शान्तमास्व महाश्मवत् ।
असौ न मननं मानमनन्तमजमव्ययम् ॥ २३ ॥
आकाशकल्पे स्वे भावे तिष्ठतोऽङ्गानिवेदनम् ।
भवत्यभ्यासदार्ढ्येन विना स्वप्नविकारवत् ॥ २४ ॥
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चेतति ।
ब्राह्मं कर्तृ जगच्चित्रं न कश्चिद्वा न किञ्चन ॥ २५ ॥
तनोति यत्तदात्मैव तस्य तत्र तथा स्थितम् ।
दृश्याभावादसत् दृश्यं तेन कः क्व करोति किम् ॥२६॥

आकाश-पुष्प के सदृश हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे तुच्छ हैं ॥ २२ ॥

तुम भी मन को हटाकर चुपचाप शान्तिपूर्वक वैसे ही अपने प्रमाता रूप में स्थित रहा जैसे बड़ा पत्थर अपने स्थान में चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठा रहता है। मन के चले जाने पर प्रमातारूप आत्मा नहीं चला जाता, क्योंकि उस मन के चले जानेपर नामरूपात्मक मनन (विकल्प) एवं चक्षु आदि प्रमाण चले जाते हैं, परन्तु प्रमातारूप आत्मा न मनन है और न चक्षु आदि प्रमाणरूप ही है, वह तो असीम, अज और अविनाशी ब्रह्मरूप है। अर्थात् असली बात यह है कि वह सब रूप केवल मन की कल्पना है, अतः मन के शान्त हो जानेपर वह स्वयं अपने-आप विलीन हो जाता है, इसलिए तुम चुपचाप बैठे रहो ॥२३॥

आकाश के सदृश निर्मल आत्मा के अन्दर मन को विलीन कर स्थित योगी को नाम और रूप की प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि नामरूप की प्रतीति तो अपने स्वरूप में स्थिति के लिए अभ्यास जब दृढ़ नहीं रहता, तब स्वप्न के सदृश मन में उत्पन्न होती है ॥ २४ ॥

यह जो हिरण्यगर्भ का मन है, वही जगद्रूपी चित्र का निर्माण करता है, इसके पास न रङ्ग हैं, न चित्र निर्माण की कूची है और न तो कोई चित्र का आधार ही है। इतना होने पर भी उस चित्र को अपने-आप देखने लग जाता है। क्या कहाँ किसी ने स्वप्न में मन के सिवा किसी दूसरे को कर्ता और कार्य देखा है? ॥ २५ ॥

मनोराज्य के समान मन जिसका निर्माण करता हैं, वहाँ सर्वत्र उन वस्तुओं की प्रतीति बनकर स्वयं ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार नामरूपात्मक प्रपञ्च के मन से भिन्न कोई अन्य चीज न होने से कौन, कहाँ किस प्रकार जगत् का निर्माण कर सकता है ॥ २६ ॥

अहं सुखीति सुखिता अहं दुःखीति दुःखिता ।
सर्व एव स्वरूपस्था व्योमात्मानोऽपि पार्थिवाः ॥ २७ ॥
सर्वेषामेव भावानां चिदाकाशात्मनामपि ।
मिथ्यैव स्वप्नशैलानामिव पार्थिवता स्थिता ॥ २८ ॥
अहन्त्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ २९ ॥
हेम्नः कटकशब्दार्थो व्यतिरिक्तो यथास्ति ते ।
व्यतिरिक्ता तथा सत्या नाहन्ताऽस्ति शमात्मनः ॥३०॥
निर्वाणो निर्मना मौनी कर्ताऽकर्ता च शीतलः ।
ज्ञ एव शान्त एवास्ते शून्य एवाऽभिपूरितः ॥ ३१ ॥
निर्वासनास्पन्दपरो यन्त्रपुत्रकगात्रवत् ।
स यथास्थितमेवाऽऽस्ते ज्ञः संव्यवहरन्नपि ॥ ३२ ॥

'मैं सुखी हूँ' इस तरह भासमान सुख, 'मैं दुःखी हूँ' इस तरह भासमान दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय सब मन की कल्पना के शान्त हो जाने पर आत्मरूप हो जाते हैं या शून्यरूप बन जाते हैं अर्थात् सुख-दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय कल्पना का विनाश हो जाने पर शून्यरूप या आत्मरूप हो जाते हैं ॥ २७ ॥

जितने पदार्थ हैं, वे सब यद्यपि परमार्थ में चिदाकाश रूप ही हैं, तथापि उनमें स्वप्न शैल के सदृश पार्थिव रूपता मिथ्या ही स्थित है अर्थात् स्वप्न की तरह पार्थिव विषय भी पार्थिव रूप नहीं हैं, यानी मिथ्या है इस प्रकार की भावना करनी चाहिए ॥ २८ ॥

अहन्ता की लकीर जब ब्रह्मसत्ता में आ जाती है, तभी वह संसारभ्रम रूप विकार पैदा करती है और जब वह लकीर हट जाती है, तभी वह शान्ति प्रदान करती है तथा अपनी स्वरूपावस्था को प्राप्त हो जाती है ॥ २९ ॥

जैसे सुवर्ण निर्मित कटक शब्दार्थ कड़ा तुम्हें सुवर्ण से पृथक् भासमान होता है, पर वह सत्य नहीं है, वैसे ही आत्मा से जनित अहन्ता शान्तात्मा परमात्मा से पृथक् भले ही भासमान हो पर वह सत्य नहीं है ॥३०॥

कर्ता रूप आत्मा वास्तव में चारों ओर से जब परिपूर्ण भाव से लक्षित हो जाता है, तब शान्त ही रहता है। उसमें किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है वह शून्य, मोक्ष रूप, मन रहित, मौनी, अकर्ता रूप और शीतल है ॥ ३१ ॥

आत्मा भी वास्तव में वासनाशून्य होने के कारण वैसे ही स्पन्दन शून्य ही है जैसे किसी यन्त्र से बनाई गयी प्रतिमा वासना शून्य होने के कारण स्पन्दन शून्य है, अर्थात् स्पन्दन के अभिमान से रहित है, अतः व्यवहार कर रहा भी ज्ञानी अपने असल रूप में ही स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

यथा मञ्चकसंस्थस्य स्पन्दते नैव वा शिशोः ।
अङ्गानि स्वानुसन्धानं विनैवं विदितात्मनः ॥ ३३ ॥
निःसम्बोधैकबोधस्य निशेहैषणाशिषः ।
शान्तानन्तात्मरूपत्वादनुसन्धानता कुतः ॥ ३४ ॥
अद्रष्टुरपदृश्यस्याऽदृग्रूपस्याऽपरूपिणः ।
कुतः किलानुसन्धानमनपेक्षस्य पश्यतः ॥ ३५ ॥
अपेक्षैव घनो बन्ध उपेक्षैव विमुक्तता ।
सर्वशब्दान्विता तस्यां विश्रान्तेन किमोप्स्यते ॥ ३६ ॥
पार्थिवत्वे शरीरेऽस्मिन्स्वस्वप्नाङ्ग इवाऽसति ।
भ्रममात्रात्मनि कुतः क्व कस्य किमपेक्षणम् ॥ ३७ ॥
उपशान्तसमस्तेहं विगताखिलकौतुकम् ।
निरस्तवेदनं ज्ञेन विदा केवलमास्यते ॥ ३८ ॥

वैसे ही आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान् में अपने स्वरूपानुभव के सिवा वैसे ही चहल-पहल कोई नहीं जैसे झूले में सोये हुए बालक के अङ्ग चहल-पहल कोई ही नहीं ।३३॥

आशा, चेष्टा, स्नेह और प्रार्थना आदि से शून्य तथा बाह्यवृत्तियों से रहित अखण्ड स्व-स्वरूप परिज्ञान शान्त अनन्त आत्मस्वरूप ही है, अतः उसे शरीर आदि का परिज्ञान कहना कैसे संभव है ? ॥ ३४ ॥

समस्त अभिलाषाओं से मुक्त ज्ञानी पुरुष, द्रष्टा, दृश्य और ज्ञानरूप त्रिपुटी रहित निराकार वस्तु को देख रहा है, अतः, उसको शरीर का अनुसन्धान कैसे हो सकता है ? अर्थात् उक्त स्वरूपानुसन्धान में द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटी नहीं रहती है, इसलिए भी उसको शरीर का परिज्ञान नहीं होता है ॥ ३५ ॥

सर्वान्वित अपेक्षा अर्थात् सभी विषयों की अभिलाषा ही दृढ़ बन्धन है और सभी तरह की इच्छाओं का परित्याग ही मुक्ति है। ऐसी स्थिति में जिसका पूर्णकामता में विश्रान्त हो चुका है, वह क्या चाहेगा ? ॥३६॥

इस शरीर की पार्थिवरूपता होने पर भी यह अपने स्वप्न में शरीराङ्गों के सदृश असत् और केवल भ्रममात्र स्वरूप ही है, अतः अपने शरीर के लिए भी किस बुद्धिमान् को कहाँ, किससे, किसकी इच्छा हो सकती है ? ॥ ३७ ॥

ज्ञानी पुरुष केवल अपने स्वरूप में ही स्थिति रखता

मङ्किनेति श्रुतवता ततो मोदो महानपि ।
अशेषेण परित्यक्तस्तत्रैव त्वगिवाऽहिना ॥ ३९ ॥
प्रवाहापतितं कार्यं कुर्वताऽपास्तवासनम् ।
तेन वर्षशतस्याऽन्ते स्थितमद्रौ समाधिना ॥ ४० ॥
तत्राऽद्ययावत्पाषाणसमधर्मा स तिष्ठति ।
स शान्तकरणो योगी बोध्यमानः प्रबुध्यते ॥ ४१ ॥
एतेन राघव ! विवेकपदेन शान्ति-
मासादयोदयवता मनसा विहर्तुम् ।
मा दीनतां व्रजतु रागमयी मतिस्ते
क्षीणा क्षणादसलिलेव शरद्घनाली ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किनिर्वाणसमाप्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

है, इस स्थिति में उसकी सारी इच्छाएँ विलीन हुई रहती हैं, सारी उत्कण्ठाएँ चली गईं रहती है और शरीर का भान भी नहीं रहता है ॥ ३८ ॥

जैसे सर्प अपनी केंचुल को छोड़ देता है वैसे ही इस तरह के मेरे उपदेश को सुनते ही उस मङ्कि ब्राह्मण ने अपने असीम महान् मोह को भी उसी समय, पूर्णरूप से ऐसे छोड़ दिया अर्थात् मुख्य अधिकारी होने के कारण केवल एक बार उपर्युक्त विषयों के श्रवण से ही मङ्कि की मोहनिवृत्ति हो गई ॥ ३९ ॥

प्रारब्धवश जो भी समय-समय पर कर्तव्य आ जाता था, उसे वह वासना छोड़कर करता हुआ सौ वर्षों के बाद उसी पर्वत पर समाधि में स्थित हो गया ॥ ४० ॥

आज भी उस पर्वत पर पाषाण के समान निश्चल हो वह स्थित है । उसके चक्षु आदि समस्त करण शान्त हो चुके हैं । कदाचित् दूसरों द्वारा जगाये जाने पर वह योगी समाधि से बाहर भी हो जाता है ॥ ४१ ॥

हे राघव ! आप इस मङ्कि ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत उपाय का अवलम्बन कर ज्ञान में उन्नतिशील विवेकी मन से स्वात्मानन्द में विहार करने के लिए शान्ति प्राप्त करें । जिससे आपकी बुद्धि रागयुक्त बनकर, जल रहित शरत् कालीन मेघों के समान विवेक रहित हो दीन न बन जाय ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में मङ्कि उपाख्यान में मङ्किनिर्वाणसमाप्ति नामक कुसुमलता का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

२७

वसिष्ठ उवाच

निर्वाणो भव शान्तात्मा यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
सन्नेवासत्समः सौम्य स्फटिकादिव निर्मितः ॥ १ ॥
एकस्मिन्नेव सर्वस्मिन्संस्थिते विततात्मनि ।
नैकस्मिन्न च सर्वस्मिन्नानाताकलना कुतः ॥ २ ॥

२७

चित्त के स्पन्दन से आत्मा में स्पन्दन का भ्रम होता है, इससे जगत् की सारी विभूतियाँ उत्पन्न होती है, चित्त की शान्ति से आत्मा में स्पन्दन भ्रम की शान्ति होती है और इससे अपने असली स्वरूप में अवस्था होता है ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—आप लौकिक पचड़ों से अलग हो जाएँ, अपनी आत्मा को शान्त बनाएँ और जो भी प्राप्त हो उसका अनुसरण करते चलें । हे सौम्य ! जैसे स्फटिक पत्थर से बनाया गया चाँदनी में स्थित प्रतिमा पुरुष सत् है किन्तु उसमें दृष्टि का निरोध न होसे से असत् के तुल्य ही रहता है वैसे ही आप सत् होते हुए भी आत्मा की अद्वैत दृष्टि का निरोध न करने के कारण असत् के सदृश ही बने रहें ॥ १ ॥

असीम आत्मा का ज्ञान न होने तक स्वयं एक होता हुआ भी सब के रूप में अर्थात् अनेक रूपों में स्थित रहता है, परन्तु ज्ञात हो जानेपर न तो वह एक है और न सर्वात्मक अनेक है अर्थात् न वह व्यष्टिरूप है और न समष्टिरूप ही है, क्योंकि ज्ञान काल में सभी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में उसमें अनेकरूपता की कल्पना ही कहाँ रह सकती है ? ॥ २ ॥

आद्यन्तरहितं सर्वं व्योम चित्तत्त्वनिर्भरम् ।
शरीरोत्पत्तिनाशेषु का चित्तत्त्वस्य खण्डना ।। ३ ।।
स्फुरन्ति हि जडक्रीडाश्चिच्चमत्कारचापलात् ।
अचापलात्प्रतीयन्ते तरङ्गा इव वारिणि ।। ४ ।।
यथा शुभ्राम्बुदे वस्त्रशङ्का न फलभागिनी ।
देहोऽयमहमित्येषा तथा शङ्का न वास्तवी ।। ५ ।।
मा वस्तुनि निमग्नस्त्वं भव भूरिभवप्रदे ।
वस्त्वनन्तसुखायाद्यं भव्यं भावय भूतये ।। ६ ।।
चिद्व्योमानन्तमेवास्मिन्मेयत्ताऽस्ति समात्मनः ।
इत्येव परमं वस्तु वस्तु तत्परमस्तु ते ।। ७ ।।

[प्रत्येक शरीर की उत्पत्ति और विनाश तथा सात बित्ते के नाप से आत्मा का नाप अनुभव में आता है, अतः आत्मा की नानारूपता मान ली जाय, इसमें कौन-सी आपत्ति है ?]

चेतन आत्मवस्तु परिपूर्ण, आदि-अन्त से रहित, व्यापक तथा आकाश के तुल्य निर्मल है, इसलिए शरीर की उत्पत्ति एवं नाश होने पर उसकी उत्पत्ति या विनाश कैसे हो सकता है अर्थात् उसका क्या बन-बिगड़ सकता है ? ।। ३ ।।

भद्र, चिति के चमत्काररूप इस चञ्चल मन की एकमात्र चपलता के कारण ही ये सब जड़ संसार के खेल स्फुरित होते हैं और उसकी चञ्चलता न रहने से आत्मा में वैसे ही दिखाई पड़ते हैं, जैसे जल में तरङ्ग दिखाई पड़ते हैं ।। ४ ।।

वस्तुतः इस देह में कल्पित आत्मरूपता भी वैसे ही कुछ काम में नहीं आती है जैसे शुभ्र मेघों में कल्पित वस्त्ररूपता पहनने के काम में नहीं आती है ।। ५ ।।

आप अनेक तरह के प्रपञ्च को देनेवाली अवस्तु में अर्थात् मिथ्या पदार्थों में न डूबें। मुख्य भव्य अनन्त वस्तु की मुक्तिरूप अनन्त सुख के लिए उपासना करें ।। ६ ।।

चित्-रूपी अनन्त आकाश ही परमार्थ वस्तु है, उसका किसी तरह नाप नहीं हो सकता है। जिनका आत्मा एकरूप बन गया है, उनके लिए यही सबसे बढ़-चढ़कर उत्तम वस्तु है। इसी एक वस्तु में आपका चित्त सदा रमण करे ।। ७ ।।

इस प्रकार के निश्चय से युक्त आप ही अज्ञानरूप बन्धन से निर्मुक्त निरञ्जन हैं। यह निश्चय ध्याता, ध्यान और ध्येय से शून्य अर्थात् त्रिपुटीशून्य है, यह त्रिकाल में भी बाधित होने वाला नहीं है। ध्याता, ध्यान और ध्येय

एवं निश्चयवान्नाम त्वमेवासि निरञ्जनः ।
ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं सत्यं चापि न किञ्चन ।। ८ ।।
द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चित्त एव विभूतयः ।
अतत्तत्संविदो नान्यदध्यानं ध्येयमास्ति च ।। ९ ।।
उद्यति प्रतिपच्चन्द्रे वहति प्रलयानिले ।
आत्मतत्त्वं समं सौम्यं न क्षुभ्यति न शाम्यति ।। १० ।।
यथा नौयायिनः स्थाणुतरुशैलादिवेपनम् ।
यथा शुक्तौ रजतधीस्तथा देहादि चेतसः ।। ११ ।।
यथा देहादि चित्तस्य तथा देहस्य चित्तकम् ।
तथैव जीवः परमे पदे द्वैतमतः कुतः ।। १२ ।।

इसमें कोई भी सत्य नहीं है अर्थात् त्रिकालाबाधित नहीं है ।। ८ ।।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन चित् की ही विभूतियाँ हैं, दर्शन प्रमाण से उत्पन्न तथा वस्तु के अधीन है, पुरुष के अधीन नहीं, इसलिए वृत्ति से अभिव्यक्त परमार्थ चिति की उसमें प्रधानता तथा अज्ञान की बाधकता निवर्तकता ही विद्यमान है, इस परिस्थिति में द्रष्टा आदि परमार्थ चैतन्य की ही विभूति है। ध्यान न तो प्रमाणजन्य है और न वस्तु के ही अधीन है, किन्तु पुरुष की इच्छा का अनुसरण करने वाला है। इस स्थिति में ध्यान आदि क्रिया विशेषरूप होने के कारण अविद्या की विभूतिरूप ही हैं, अतः ध्याता आदि बाधित हो जाते हैं। अन्य बात यह है कि जो जड़ वस्तु है, वह सब ज्ञान से भिन्न पृथक् नहीं दिखाई देती है अतः जितने दृश्य हैं, वे सब दर्शन का ही अनुसरण करने वाले हैं। ध्येय तो ध्यान के बिना भी अलग रहता है, अतः वह ध्यानानुसारी नहीं होता है ।।९।।

आत्मतत्व वैसे ही न तो क्षुब्ध होता है और न सूख जाता है, वह सदा एकरूप और सौम्य रहता है। जैसे प्रतिपदा के चन्द्रमा के उदित होने पर समुद्र क्षुब्ध होता है और जैसे प्रलयकाल की वायु बहने पर समुद्र सूख जाता है। अर्थात् सबसे विशेष तो यह है कि ज्ञान निर्विकार है ।। १० ।।

चिति में यह देह आदि अन्तःकरण को वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे नाव पर यात्रा कर रहे पुरुष को तीरस्थ स्थिर वृक्ष, पर्वत आदि कम्पित हो रहे प्रतीत होते हैं अथवा जैसे शुक्ति में रजत-बुद्धि होती है ।। ११ ।।

जैसे देह आदि चित्त के हैं वैसे ही चित्त भी देहादि का है, इसी तरह जीव भी है, इस परिस्थिति में परम ब्रह्म पद में द्वैत ही कहाँ रहा अर्थात् इस रीति से देह

सर्वमेकमिदं शान्तं ब्रह्म बृंहितवेदनात् ।
न किञ्चिज्जगदाद्यस्ति भ्रान्तिरन्या न विद्यते ॥ १३ ॥
न विद्यते यथा व्योम्नि वनं स्नेहश्च सैकते ।
विद्युच्छशाङ्कबिम्बे च तथा देहादि चेतसि ॥ १४ ॥
अविद्यमान एवाऽस्मिन्मा बिभीहि जगद्भ्रमे ।
एतदेव परं सत्यं विद्धि सत्यविदांवर ! ॥ १५ ॥
जगदस्ति न सत्तेति याऽऽसीद्भ्रान्तिस्तवाद्य सा ।
शान्ता मदुपदेशेन किमन्यद्बन्धकारणम् ॥ १६ ॥
स्थाल्युदञ्चनकुम्भादि यथा मृन्मात्रकं तथा ।
चित्तमात्रं जगदिदं क्षीणं तच्च विचारणात् ॥ १७ ॥
आपत्सु सम्पत्सु भवाभवेषु
शान्तैषणाहर्षविषादसंवित् ।
सौम्यादहम्भावविदा विमुक्तो
यथास्थितं तिष्ठ विलीयमास्स्व ॥ १८ ॥
यथास्थितं वस्त्वधिगम्य राम !
स्थितोऽसि चेद्वा स्वकुलाम्बरेन्दो ।
तद्धर्षशोकैषणदूषणादि
विमुच्य वा तिष्ठ यथेच्छमास्स्व ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुख्ययोगोपदेशो नाम सप्तविंशति सर्गः ॥ २७ ॥

दृष्टि चित्त की कल्पना करती है और जीव दृष्टि देह-चित्त की कल्पना करती है, ये सभी शुद्ध चैतन्य में ही विवर्त हैं ॥ १२ ॥

आत्मतत्त्व के ज्ञान से तो यह सब केवल शान्त ब्रह्म-स्वरूप ही है, दूसरा जगत् आदि पदार्थ कुछ भी नहीं है, और न कोई दूसरी भ्रान्ति ही है ब्रह्म दृष्टि से एकरूपता है ॥ १३ ॥

चित्त में देह आदि वैसे ही नहीं रहते हैं जैसे आकाश में अरण्य नहीं रहता अथवा जैसे बालू में तेल नहीं रहता या जैसे चन्द्रबिम्ब में बिजली नहीं रहती ॥ १४ ॥

हे सत्यज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी ! यह जगत् की भ्रान्ति अविद्यमान ही है, अतः इससे आप भय न करें। यही परम सत्य बात है, यह आप समझें ॥ १५ ॥

अभी तक जो आपको भ्रम रहा कि जगत्-वस्तु की ही सत्ता है और ब्रह्म की सत्ता है ही नहीं, वह आज ही मेरे उपदेश से शान्त हो गया है अब दूसरा बन्धन देने वाला क्या रहा अर्थात् कुछ नहीं ॥ १६ ॥

थाली, पुरवा, घड़ा आदि जैसे केवल मिट्टी ही है, वैसे ही यह जगत् केवल चित्त ही है। यह तो विचार से क्षीण हो चुका है ॥ १७ ॥

अब आप मेरे सौम्य उपदेश से अहङ्कार से पहले अलग हो जाएँ, फिर सम्पत्तियों में इच्छा, हर्ष और आपत्तियों में विषाद से रहित हो जाएँ, वैभवों के उत्कर्ष और अपकर्ष बढ़ने घटने पर भी एक-से रहें। कभी-भी मेरे उपदेश का विस्मरण कर अर्थात् अपने स्वरूपस्थिति की दृढ़ता का परित्याग कर स्थिर मत बैठें ॥ १८ ॥

हे अपने कुलरूप आकाश के चन्द्रमा श्रीरामजी ! यदि आप ब्रह्मात्मा की एकतारूप वस्तु को भलीभाँति जानकर अवस्थित हैं, चित्त में सन्ताप पहुँचानेवाले हर्ष शोक, इच्छा आदि दोषों को छोड़कर रहे या उनका अनुसरण करते रहे, आपको फिर संसार आ ही नहीं सकता है ॥ १९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में मुख्ययोग उपदेश नामक कुसुमलता का सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

२८

श्रीराम उवाच

**बीजाङ्कुराणां पुरुषकर्मणां जन्मकारिणाम् ।
दैवशाब्दार्थयुक्तानां तत्त्वं वद विभो ! पुनः ॥ १ ॥**

२८

श्री रामभद्र ने कहा—हे विभो ! बीजरूप तथा कार्य-रूप पुरुष के कार्यों का—जो जन्मरूप संसारानर्थ के उत्पादक तथा दैव से सम्बद्ध हैं—स्वरूप मुझ से कहें अर्थात् यद्यपि आपने इन कर्मों का तत्त्व पहले यत्रतत्र कहा है, परन्तु फिर भी एक साथ मिलाकर कहें ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

दवकर्मादिपर्यायं घटादि घटतावधि ।
संवित्स्पन्दनमेवेदं लोके पुरुषतां गतम् ॥ २ ॥
संवित्स्पन्दादृते पुंस्त्वं कर्म वा कीदृशं भवेत् ।
घटावटपटाद्यात्मा ह्येतेनैव जगत्कृतम् ॥ ३ ॥
प्रवर्तते जगल्लक्ष्मीः संवित्स्पन्दात्सवासनात् ।
निवर्तते हि संसारः संवित्स्पन्दादवासनात् ॥ ४ ॥
अवासनं हि संवित्तेः स्पन्दमस्पन्दनं विदुः ।
सस्पन्दोऽप्यस्फुरत्स्पन्दो येनाऽऽवर्त्तादिनोह्यते ॥ ५ ॥
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।

वसिष्ठजी ने कहा—घट से लेकर घटत्व तक कार्यरूप और दैव, कर्म आदि कारणरूप जो भी है वह सब चिति का स्पन्दन ही है, और वही लोक में पुरुषरूप बन गया है। आशय यह है कि सबसे पहले दैव का तत्त्व कर्म है, कर्म का तत्त्व पुरुष है, पुरुष का तत्त्व मनोरूप चितिस्पन्दन है और चितिस्पन्दन का तत्त्व चिदात्मा है। यही चिदात्मा प्राथमिक सङ्कल्परूप चितिस्पन्दन से समष्टि-व्यष्टि मनरूप बन जाता है, जिसका कि 'बहु स्यां' प्रजायेय' इस श्रुति में उल्लेख है। इसके बाद लोक में देहाकार के अध्यास से श्रम से पुरुष पुरुष हो जाता है। फिर कर्म करते-करते पुण्य-पापरूप अदृष्टात्मज दैवरूपता प्राप्तकर पुण्य-पाप का भोग करने के लिए घट आदिरूप एवं घटादिगत गुण क्रियारूप से घटत्वादि सामान्यरूप बन जाता है, इसीसे जगत्-रूप विवर्त में आ जाता है, इन सब बातों से सार यह कि दैव, कर्म आदि कारणशब्दरूप और घट से लेकर घटत्वधर्म पर्यन्त कार्यरूप जो है, वह सब तत्त्वदृष्टि से चितिस्पन्द के ही अलग-अलग नाम हैं ॥२॥

भद्र, संवित् के चिति के स्पन्दन के बिना पुरुष का रूप और कर्म कैसे हो सकता है ? संवित् का स्पन्दन ही घट, पट, वट आदि का स्वरूप है। इसी ने समस्त जगत् को उत्पन्न किया है। यही कारण है कि पुरुष के कर्म आदि और घट-पटादि के अस्तित्व या परिज्ञान आदि चिति के अस्तित्व और प्रकाश के ही कारण होते हैं, यह सभी जानते हैं। यदि इन सब को संवित् का चिति का विवर्त न माना जाय, तो न उनका अस्तित्व मालूम पड़ सकता है और न उनका प्रकाश ही हो सकता है, ऐसी स्थिति में उनका स्वरूप कैसा होगा ? अर्थात् असत् ही होगा ॥ ३ ॥

सारे जगत् की यह विचित्र शोभा वासना युक्त

कल्पनांशादृते राम ! सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ ६ ॥
जलवीच्योर्यथा द्वित्वं सङ्कल्पोत्थं न वास्तवम् ।
तथेह चित्परिस्पन्दरूपयोर्जन्तुकर्मणोः ॥ ७ ॥
कर्मैव पुरुषो राम ! पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ ८ ॥
हिमं यत्तद्यथा शैत्यं यच्छैत्यं तद्यथा हिमम् ।
यत्कर्मासौ तथा जन्तुर्यो जन्तुः कर्म तत्तथा ॥ ९ ॥
संवित्स्पन्दरसस्यैव दैवकर्मनरादयः ।
पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥ १० ॥

संवित् के स्पन्दन से उत्पन्न होती है और वासना से निर्मुक्त संवित् के स्पन्दन से निवृत्त होती है ॥ ४ ॥

महात्माओं का यह निश्चय है कि संवित्ति का चिति का स्पन्दन होने पर वासना रहित वह अस्पन्दन ही है। लोक में स्पन्दनशील भी तरङ्ग आदि जब भँवर आदि के द्वारा अपने अन्दर समाविष्ट कर लिये जाते हैं, तब, उनमें स्पन्दन का परिज्ञान नहीं होता है फलतः उनकी अस्पन्दनशीलता ही तर्कित होती है ॥ ५ ॥

हे रामजी ! इस सृष्टि में संवित् और संवित् स्पन्दमय पुरुष एवं कर्म स्पन्द दोनों में कल्पनांश को छोड़कर कुछ भी भेद नहीं है अर्थात् चिति का स्पन्दन की निवृत्ति ही निराकारता है, ऐसी स्थिति में विमर्श करने पर स्पन्द और पुरुष में कोई भेद नहीं है ॥ ६ ॥

सङ्कल्प जनित पुरुष और कर्म का संवित्स्पन्दन का भेद वैसे ही नहीं है जैसे सङ्कल्प से जनित और जल तरङ्ग का भेद वास्तविक नहीं है ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी ! कर्म ही पुरुष है और पुरुष में ही कर्मरूपता है, आप इन दोनों की हिम और शीतता की तरह अभिन्नरूपता ही जानें ॥ ८ ॥

जो हिम है वही जैसे शीतता है और जो शीतता है, वही जैसे हिम है, वैसे ही जो कर्म है वही पुरुष है और जो पुरुष है वही कर्म है, इसलिए किये जाने वाले पुण्य-पापभाविदेह और उस देह से जो भोग्य होने वाला है इन दोनों की पूर्वास्था है ॥ ९ ॥

दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित् के स्पन्दनरूप रस के ही पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए संवित्स्पन्दन से पृथक् कर्म आदि अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते हैं। अर्थात् दैव, कर्म आदि एक ही वस्तु के भिन्न नाम हैं, यह सिद्ध है ॥ १० ॥

स्पन्दात्संविज्जगद्बीजमस्पन्दाद्यात्यबीजताम् ।
अङ्कुरश्च तदेवाऽन्तःस्थितत्वादङ्कुरश्रियः ॥ ११ ॥
चित्त्वं च क्वचिदस्पन्दं क्वचित्स्पन्दं स्वभावतः ।
अनन्तमेकार्णववद्दिक्कालक्रमसंस्थितम् ॥ १२ ॥
संवित्स्पन्दो वासनावानिह बीजमकारणम् ।
भूत्वा कारणतामेति देहादेरङ्कुरावलेः ॥ १३ ॥
तृणवल्लीलतागुल्मबीजान्तरगतेरपि ।
बीजं संवित्स्पन्द एव तस्य बीजं न विद्यते ॥ १४ ॥
न बीजाङ्कुरयोर्भेदो विद्यतेऽग्न्यौष्ण्ययोरिव ।
बीजमेवाऽङ्कुरं विद्धि विद्धि कर्मैव मानवम् ॥ १५ ॥
चित्स्फुरन्ती भूमिकोशे करोति स्थावराङ्कुरम् ।
स्थूलान् सूक्ष्मान् मृदून्क्रूरान् पयोबुद्बुदकानिव ॥१६ ॥
चिता विना धराकोशादत्यन्तपरिपेलवात् ।

स्पन्दन के कारण ही संवित् जगत् की बीज हो जाती है और स्पन्दन के अभाव से अबीजरूप हो जाती है। उसीके अन्दर सूक्ष्मरूप से अङ्कुर भी स्थित है, अतः वही बाहर निकलकर स्थूल अङ्कुररूप हो जाती है ॥११॥

असीम चित्स्वभाव ही ऐसा है कि कहीं पर अपने स्वभाववश देश-काल क्रम में स्थित स्पन्दन से शून्य हो जाता है और कहीं पर स्पन्दनरूप बन जाता है ॥ १२ ॥

संवित् का स्पन्दन वास्तव में अकारण है, किन्तु यहाँ वासना से युक्त हो देह आदि अङ्कुरों का वह कारणरूप बीज बन जाता है ॥ १३ ॥

अन्यान्य अवान्तर तृण, वल्ली, लता, गुल्म आदि के बीजों की जो व्यवस्थित अङ्कुर आदि कार्य करने की प्रवृत्ति है, उसमें भी वही संवित्स्पन्द कारण है, उसका अन्य कोई बीज नहीं है अर्थात् अवान्तर बीजों के रूप में स्थित वही संवित्-स्पन्दन सर्वत्र कारण है, उसी स्पन्दन विशेष-विशेष कार्यों की व्यवस्था के लिए अवान्तर बीजों के रूपों में स्थिति है ॥ १४ ॥

बीज और अङ्कुर में, अग्नि और उष्णता के सदृश, कोई भेद नहीं है। आप बीज को ही अङ्कुर जानिये और कर्म ही को मानव जानिये अर्थात् बीज के अन्दर रहने वाली शक्ति ही अङ्कुर है, यह माननेपर भी शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है ॥ १५ ॥

स्पन्दनशील हो रही चिति ही भूमि में वट आदि वृक्षों के अङ्कुर को स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म पदार्थ कठिन पदार्थ एवं मृदु पदार्थ जल में बुल्लों की तरह बनाती है ॥ १६ ॥

चिति के बिना ऐसा कौन समर्थ है, जो इस पृथ्वीतल से, अत्यन्त मृदु अङ्कुर से वज्र के सदृश दृढ़ प्रवाल आदि को निकाल सके ॥ १७ ॥

अङ्कुराद् वज्रसारांश्च क उल्लासयितुं क्षमः ॥ १७ ॥
प्राणिवीर्यरसान्तःस्था संविज्जङ्गममाततम् ।
तनोति लतिकान्तःस्थो रसः पुष्पफलं यथा ॥ १८ ॥
यदि सर्वगता संविद्भवेन्नातिबलीयसी ।
तत्क उल्लासने शक्तः स्याद्देवासुरभूभृताम् ॥ १९ ॥
जङ्गमानां स्थावराणामेतदाद्यं च बीजकम् ।
संविद्धिस्फुरणमात्रमस्य बीजं न विद्यते ॥ २० ॥
बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ।
ऊर्मिवीचितरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ २१ ॥
द्वित्वं नृकर्मणोर्यस्य बीजाङ्कुरतया तयोः ।
विपश्चित्पशवे तस्मै महतेऽस्तु सदा नमः ॥ २२ ॥
संवित्तेर्जन्मबीजस्य योऽन्तःस्थो वासनारसः ।
स करोत्यङ्कुरोल्लासं तमसङ्गाग्निना दह ॥ २३ ॥

यह चिति प्राणियों के वीर्यरस में स्थित होकर इन असीम जङ्गम वस्तुओं का वैसे ही विस्तार करती है जैसे लतिका में स्थित रस पुष्प और फल का विस्तार करता है, अर्थात् रजवीर्य से शरीरसम्पादन में भी लगाना चाहिए ॥ १८ ॥

यदि सर्वत्र स्थित यह संवित् अत्यन्त बलवती न होती तो, इन देव, असुर एवं राजाओं के निर्माण में कौन शक्तिशाली होता ॥ १९ ॥

स्थावर तथा जङ्गम पदार्थों का यही एक आदि में संवित्स्फुरण कारण है और इसका कोई कारण नहीं है ॥ २० ॥

बीज, अङ्कुर आदि विकल्पों का परस्पर; क्रिया, पुरुष एवं दैव का परस्पर तथा ऊर्मि, वीचि और तरङ्गों का परस्पर कुछ भी नहीं है एवं अधिष्ठान में भी कुछ भेद नहीं है ॥ २१ ॥

ऐसा होनेपर भी पुरुष और कर्म में तथा बीज और अङ्कुर में जिस पुरुष को भेद वास्तविक भासमान हो, उस महान् पण्डितपशु को निरन्तर नमस्कार ही करना चाहिए ॥ २२ ॥

अर्थात् वासना के सम्बन्ध से जनित संसारबीजता वासना के विनाश से नष्ट हो जाती है।

जन्म के कारण संवित्स्पन्दन में जो भीतर का वासनारस है, वही बाहर अङ्कुरित होता है, इसलिए उस वासनारस को असङ्गरूप अग्नि से आप जला दें ॥२३॥

कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जनम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥
अथवा वासनोत्साद एवाऽसङ्ग इति स्मृतः ।
यया कयाचिद्युक्त्याऽन्तः सम्पादय तमेव हि ॥ २५ ॥
ययैव वेत्सि ततया युक्त्या पुरुषयत्नतः ।
वासनाङ्कुरनिर्मूलमेतदेव परं शिवम् ॥ २६ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन यथा जानासि वा तथा ।
निवारयाहंभावांशमेषोऽसौ वासनाक्षयः ॥ २७ ॥
नास्त्येव पौरुषादन्या संसारोत्तरणे गतिः ।
निरहंभावरूपेऽस्मिन्वासनाक्षयनामनि ॥ २८ ॥
आद्यैव संविदस्तीह सोऽङ्कुरो बीजमस्ति तत् ।
तत्कर्म तच्च पुरुषस्तद्दैवं तच्छुभाशुभम् ॥ २९ ॥

पण्डित लोग कहते हैं कि पुरुष कुछ करे चाहे कुछ भी न करे, परन्तु उसका शुभ-अशुभ कार्यों में मन से जो आसक्त न होना ही असङ्ग है ॥ २४ ॥

अथवा वासना का उच्छेद ही असङ्ग है, यह भी पण्डितों का मत है, इसलिए आप वासनोच्छेदरूप असङ्ग का ही जिस किसी युक्ति से भीतर सम्पादन करें। अर्थात् यदि वासना ही सङ्ग है और वासना का उच्छेद ही असङ्ग है, यह मानें तो तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ही वासना को जला दें ॥ २५ ॥

वह युक्ति चाहे पहले कही गई राज-योगरूपा हो या हठ योगरूपा हो, परन्तु पुरुष प्रयत्य से दीर्घकाल तक वह अभ्यस्त होनी चाहिए। आप अपनी वासना का उच्छेद जिस युक्ति से सुनकर समझते हों, उसी से उसका उच्छेद कर दें क्योंकि यह वासनाङ्कुर का उच्छेद ही परम कल्याण है ॥ २६ ॥

पुरुष प्रयत्न से आप जिस तरह की युक्ति जानते हों, उस तरह की दृढ़ अभ्रान्त युक्ति से अहङ्काररूपी अंश का त्याग कर दें क्योंकि यह अहङ्कारांश का त्याग ही वासना का क्षय है। अर्थात् समस्त वासनाओं का चिद्रूपग्रन्थिरूप अहङ्कार ही मूल है, अतः उसीका आप विनाश करें ॥२७॥

वासनाक्षय नामक इस निरहङ्काररूप संसारतरण में अपने पुरुषार्थ के सिवा दूसरा कोई गति है ही नहीं ॥२८॥

असल में यहाँ सबसे मुख्य तो संवित् की ही एकमात्र सत्ता है, वही अङ्कुर है, वही बीज है, वही कर्म है, वही पुरुष है और वही पुण्यपापरूप दैव है अर्थात् अनादि अनन्त प्रत्यगात्मरूप चैतन्य की सत्ता से ही बीज, अङ्कुर आदि की सत्ता है, स्वतः नहीं है ॥ २९ ॥

न बीजमादावस्त्यन्यन्नाङ्कुरो न च वा नरः ।
न कर्म न च दैवादि केवलं चिदुदेति हि ॥ ३० ॥
नो बीजमस्ति न किलाङ्कुरकोऽपि वाऽस्ति
नाप्यस्ति कर्म पुरुषश्च न वास्ति साधो ! ।
एकं तु चित्त्वमुदितं ह्यनयाऽभिधान-
लक्ष्म्या नटः सुरनरासुरशोभयेव ॥ ३१ ॥
इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्म विचारशङ्काम् ।
निर्वासनः सकलसङ्कलनाविमुक्तः
संविद्वपुर्ननु यथाभिमतेच्छमास्स्व ॥ ३२ ॥
प्रशान्तसर्वेच्छमशङ्कमच्छ-
चिन्मात्रसंस्थोऽखिलकार्यकारी ।

सबसे प्रथम न तो कोई चिति के सिवा दूसरा बीज है, न अङ्कुर है, न पुरुष है, न कर्म है और न दैव आदि ही कुछ है, केवल चिति का ही यह सब कुछ विलास है ॥ ३० ॥

[अर्थात बीज आदि की स्वतः सत्ता स्थिर नहीं होने से अतः एकमात्र चिदात्मा ही असत्यभूत बीजादि के आकारों में जगद्रूप बनकर विलास करता है ।]

हे साधो! न तो कोई बीज है और न कोई अङ्कुर ही है। इसी तरह न तो कोई कर्म है और न कोई पुरुष ही है। एकमात्र चित्स्वभाव ही इन बीज, अङ्कुर आदि नामों की शोभा धारण कर वैसे ही विलास करता है जैसे नाटक का पात्र समय-समय पर देव, नर, दानव आदि नामों की शोभा-धारण कर नृत्य करता है ॥ ३१ ॥

हे निर्विकार श्रीरामचन्द्रजी ! निश्चय को अपने मन में स्थिर कर पुरुष, कर्म आदि मिथ्या विचार-जनित शङ्का का बिलकुल परित्याग कर वासनाशून्य, समस्त विकल्पों से रहित एवं चैतन्यमय बन जाए। फिर आप अपनी अभिमत इच्छा के अनुसार समाधिस्थ होकर या व्यवहाररत होकर स्थित रहें। इससे आपका कुछ भी बिगड़ेगा नहीं है ॥ ३२ ॥

हे रामभद्र सब इच्छाओं से निर्मुक्त एवं अशेष शङ्का से रहित हो सब कर्म करते हुए भी आप चैतन्यमात्र में स्थित रहें। एकमात्र अपनी आत्मा में ही रमण करें। समस्त कामनाओं से परिपूर्ण होकर आप निर्भय हो जाएँ

आत्मैकरामः परिपूर्णकामो भवाभयो राम ! शमाभिरामः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शङ्कातत्त्वसिद्धान्तप्रतिपादनं नामाऽष्टाविंशतिः सर्गः ॥ २८ ॥

और परम शान्ति का अवलम्बन कर सब ओर चमकने लग जायें ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में शङ्कातत्त्वसिद्धान्तप्रतिपादन नामक कुसुमलता का अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

२९

वसिष्ठ उवाच

नित्यमन्तर्मुखस्तिष्ठ वीतरागो विवासनः ।
चिन्मात्रममलं शान्तं कर्म सर्वत्र भावयन् ॥ १ ॥
आकाशविशदः प्राज्ञश्चिन्मात्रैकघनस्थितिः ।
समः सौम्यः समानन्दः सब्रह्माबृंहिताशयः ॥ २ ॥
शोकेष्वापत्सु घोरेषु सङ्कटेष्ववटेषु च ।
यथाप्राप्तेषु सर्वेषु खर्वेषून्नतिमत्सु च ॥ ३ ॥
यथाक्रमं यथादेशं कुरु दुःखमदुःखितः ।
बाष्पक्रन्दादिपर्यन्तं द्वन्द्वयुक्तसुखानि च ॥ ४ ॥
समागमेषु कान्तानामुत्सवेषूदयेषु च ।
आनन्दं भज सौम्यात्मा वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ५ ॥
भूतानि मृत्युकार्येषु सङ्ग्रामादिषु निर्दह ।
दावानलस्तृणानीव वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ६ ॥
क्रमागतेष्वखिन्नोऽर्थं बकवच्चिन्तयार्जय ।
अर्थोपार्जनकार्येषु वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ७ ॥
बलाद्विदलयाशेषानरीनरिनिषूदन ।
वातो रिक्तानिवाम्भोदान्वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ८ ॥
जनेषु करुणार्हेषु धैर्यं कुरु महात्मसु ।
आत्मारामममना मौनी वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ९ ॥
मुदितो भव हर्षेषु दुःखेषु भव दुःखितः ।
करुणां कुरु दीनेषु भव वीरेषु वीर्यवान् ॥ १० ॥

२९

श्री वसिष्ठजी ने कहा—शत्रु, मित्र आदि सबके लिए प्रारब्ध से जो कुछ कार्य आ जाय, उसे यथायोग्य करते हुए भी आप निरन्तर अन्तर्मुख ही रहें। राग छोड़ दें। वासनाओं से परे हो जाएँ और सर्वत्र निर्मल, शान्त चैतन्यमात्र की भावना करें ॥ १ ॥

भद्र, आकाश के सदृश विशद हो जाएँ। प्राज्ञ बनें। एक चिन्मात्र में अपनी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) बनाएँ। सम, सौम्य एवं पूर्णानन्द से युक्त हो जाइएँ तथा अपने अन्तःकरण को ब्रह्मसदृश आनन्दरस में सराबोर करें ॥ २ ॥

प्रारब्धवश प्राप्त हुए छोटे-बड़े शोक, आपत्ति, घोर सङ्कट, अवट गर्त आदि सभी प्रसङ्गों में भीतर दुःखी न होकर देशधर्मों के अनुसार एवं क्रमानुसार रुदन-अश्रुपात आदि पर्यन्त दुःखों का और शीतोष्ण आदि से युक्त वस्त्रादिभोगरूप सुखों का अनुभव करते चलें ॥ ३, ४ ॥

कमनीय रमणीय विषयों की प्राप्ति के अवसरों में, उत्सवों में एवं उदयकाल में आप सौम्य शान्त मूर्ति होकर ऐसा आनन्द मनाए, जैसे भोगवासनाओं से आक्रान्त कर्मठ मूढ पुरुष करता है ॥ ५ ॥

वासनाओं से आक्रान्त मूढ़ पुरुषों के सदृश अधार्मिक प्राणियों को मृत्यु के हेतु संग्राम आदि में डालकर जैसे तृण को अग्नि जला डालती है वैसे ही जला दो ॥ ६ ॥

प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राप्त धर्माविरोधी धन आदि के उपार्जन आदि कार्यों का बगुले के सदृश अखिन्न होकर चिन्तन और अर्जन करें, जैसे वासनायुक्त कर्मठ पुरुष करता है ॥ ७ ॥

हे शत्रुनाशक श्रीरामजी! वासनायुक्त मूढ के सदृश आप बलपूर्वक समस्त शत्रुओं का ऐसा विनाश कर दें, जैसे वायु जलशून्य बादलों का विनाश कर देती है ॥ ८ ॥

वासना से आक्रान्त कर्मकुशल मनुष्यों के सदृश करुणापात्र जनों में उदारता का और महात्माओं के विषय में निन्दा न करने का अवलम्बन करें तथा अपनी आत्मा में मन को रमने दें ॥ ९ ॥

हर्ष करने योग्य स्थानों में हर्षित हो जाँय, दुःख करने योग्य स्थानों में दुःखी बनें दीनों पर दया करें और वीरों में वीर बनकर रहें ॥ १० ॥

अन्तर्मुखः सदानन्दः स्वात्मारामतयाऽन्वितः ।
यः करोति शमोदारस्तत्र कर्तासि नाऽनघ ! ॥ ११ ॥
आत्मभावनया साधो ! नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
वज्रधाराऽपि ते राम ! पतिता याति कुण्ठताम् ॥१२॥
सङ्कल्पकलनोन्मुक्ते स्वसंविन्मात्रकोटरे ।
यस्तिष्ठत्यात्मनि स्वैरमात्मारामो महेश्वरः ॥ १३ ॥
न तं भिन्दन्ति शस्त्राणि न दहन्ति हुताशनाः ।
न क्लेदयन्ति वारीणि शोषयन्ति न मारुताः ॥ १४ ॥
सुस्तम्भमजमालिङ्ग्य स्वात्मानमजरामरम् ।
तिष्ठाऽवष्टभ्य धीरात्मा सुस्तम्भमिव मन्दिरम् ॥ १५ ॥
जगद्वृक्षपदार्थौघपुष्पामोदश्रियं पराम् ।
संविदं संविदः स्वस्थामास्वान्तर्मुखमच्युतम् ॥ १६ ॥
अन्तर्मुखतया नित्यं कार्यमाहरतां बहिः ।

अर्थात् कुछ करने पर मूढजनों को तो दोष लगता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष को कुछ करने पर दोष नहीं लगता ।

हे अनघ! जो पुरुष अपनी वृत्तियों को आत्मा के अन्दर लगाकर स्थित रहता है, सदा आनन्द में मग्न रहता है, अपनी आत्मा में ही आराम करता है, तथा जो शान्ति और औदार्य से युक्त है, वह कर्ता नहीं होता है इसलिए विषयों में आप सभी कर्ता नहीं होंगे और न उनसे आपको दोष ही लगेगा ॥ ११ ॥

हे साधो श्रीरामजी ! आत्मा की भावना से निरन्तर अन्तर्मुख वृत्ति बनाकर स्थित हुए आपके ऊपर यदि इन्द्र की भी वज्रधारा गिर जाय, तो भी वह व्यर्थ हो जायगी ॥ १२ ॥

समस्त सङ्कल्प-विकल्पों से निर्मुक्त अपनी संविन्मात्ररूप अन्तरात्मा में, स्वेच्छा से जो स्थित रहता है, वह आत्मारामी महान् ईश्वर ही है ॥ १३ ॥

ऐसे पुरुष को न शस्त्र छेदते, अग्नि नहीं जलाती, जल नहीं भींगाते और पवन नहीं सुखाते हैं ॥ १४ ॥

जिसमें चित्त भलीभाँति प्रकाशित होता है, ऐसे नित्यनिरतिशयानन्दरूप, जन्मशून्य, जरा-मरणरहित, स्वात्माका दृढ़ खम्भोंवाले मन्दिर की तरह—अवलम्बन कर निश्चल होकर स्थित रहें ॥ १५ ॥

जगद्रूपी वृक्ष के पदार्थरूपी पुष्पों की सुगन्ध शोभा के सदृश सारभूत स्वस्थ ब्रह्म संवित्त का आत्मज्ञान का अवलम्बन कर समस्त बाह्यवृत्तियों को सदा अन्तर्मुख बनाकर स्थित रहें ॥ १६ ॥

अन्तर्मुखता से निरन्तर बाहर के कार्यों का सम्पादन

जीवतामपि नोदेति वासना दृषदामिव ॥ १७ ॥
पुनःप्रसरणोन्मुक्तमन्तःसुप्तं मनः कुरु ।
कुर्वन्सर्वाणि कर्माणि कूर्माङ्गवदवृत्तिमान् ॥ १८ ॥
अन्तर्वृत्तिविहीनेन बहिर्वृत्तिमतेव च ।
सुप्तप्रबुद्धप्रायेण कार्यमाचर चेतसा ॥ १९ ॥
बालमूकादिविज्ञानवदन्तस्त्यक्तवासनम् ।
भवतः कुर्वतः कार्यं खवच्चित्तं न लिप्यते ॥ २०
वृत्तित्यागविलीनेन किञ्चित्प्रसरता बहिः ।
अन्तरत्यन्तसुप्तेन चेतसा तिष्ठ विज्वरः ॥ २१
असङ्कल्पकलङ्कायां ज्ञानाच्चित्तक्षयोदये ।
शुद्धायां संविदि स्थित्वा कुरु मा कुरु वाऽनघ ! ॥ २२ ॥
सुषुप्तसमया वृत्त्या जाग्रद्व्यवहरन् व्रजन् ।
गृहाण मा किञ्चिदपि मा वा किञ्चित्परित्यज ॥ २३ ॥

कर रहे प्राणियों में वासना वैसे ही नहीं उत्पन्न होती है जैसे पत्थरों में नहीं होती है ॥ १७ ॥

कछुए के अङ्गों के सदृश भीतर और बाहर के सब वृत्तियों से विरत हो सारे कर्म करते हुए भी आप अपने मन को भीतर लीनकर दें जिससे फिर वह बाहर न निकलने पावे ॥ १८ ;।

अन्दर की सुख-दुःखादि वृत्ति से शून्य, बाहर की घटादि वृत्ति से युक्त के समान तथा प्रायः आधे जगे हुए चित्त से आप कार्य करते चलें ॥ १९ ॥

अन्दर की वासना से शून्य अतएव आकाश के सदृश निर्मल हुआ चित्त कार्य कर रहे आपको वैसे ही बन्धन कारक नहीं होगा जैसे बालक एवं मूक आदि का विज्ञान अन्दर की वासना से रहित होता है ॥ २० ॥

आप समस्त चिन्ताओं को तिलाञ्जलि देकर ऐसे चित्त से युक्त रहें, जो निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास से बाधित हो चुका हो, कुछ-कुछ बाहर की ओर प्रतिभास-रूप से निकल सकता हो तथा भीतर से मर गया हो ॥ २१ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी ! ज्ञान से चित्त का विनाश हो जानेपर बची हुई सङ्कल्परूपी कलङ्क से निर्मुक्त विशुद्ध ब्रह्मचिति में बैठकर आप कुछ करें या न करें दोनों एक हैं ॥ २२ ॥

जागते हुए, व्यवहार करते हुए या जाते हुए भी आप सोये हुए पुरुष के सदृश वृद्धि के कारण न तो अभीष्ट का ग्रहण करें या न अनिष्ट का परिहार ही करें ॥२३॥

जाग्रत्यपि सुषुप्तश्चेज्जाग्रपि च सुषुप्तके ।
जाग्रत्सुषुप्तयोरैक्यात्तदस्त्यसि निरामयः ॥ २४ ॥
एवमाद्यन्तरहितमभ्यासेन शनैः शनैः ।
पदमासादयाद्वन्द्वमतीतं सर्ववस्तुतः ॥ २५ ॥
न च द्वैतं न चैवैक्यं जगदित्येव निश्चयी ।
परमामेहि विश्रान्तिमाकाशविशदाशयः ॥ २६ ॥

श्रीराम उवाच

यद्येवं मुनिशार्दूल ! तदहंप्रत्ययात्मकः ।
भवानेवेह किं तावद्वसिष्ठाख्यः स्थितो वद ॥ २७ ॥

वाल्मीकिरुवाच

राघवे गदति त्वेवं वसिष्ठो वदतां वरः ।
तूष्णीमेव मुहूर्तार्द्धमतिष्ठत्स्पष्टचेष्टितः ॥ २८ ॥
तस्मिन्तूष्णीं स्थिते किं स्यादिति सभ्ये महाजने ।

जागरण की अवस्था में भी यदि आप सब प्रकार की उपाधियों का विलय कर सुषुप्ति अवस्थावाले ही हैं; क्योंकि अज्ञान आवरण उस समय रहेगा ही नहीं जागरण और सुषुप्ति को अलग करने वाले अज्ञान और अज्ञान कार्य का बाध हो जाने पर ये दोनों अवस्थाएँ एक हो जाती हैं और एकता हो जाने पर जो सन्मात्ररूप बच जायगा, वही निर्विकार सन्मात्र-स्वरूप आप हैं ॥ २४ ॥

इस तरह धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा आप आदि-अन्त से रहित ऐसा पद प्राप्त करें, जो समस्त शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों से रहित तथा सब वस्तुओं से परे है ॥ २५ ॥

न तो द्वैतात्मक जगत् है और न एकात्मक ही जगत् है, इस तरह के निश्चय से युक्त हो आप आकाश के सदृश विशद आशय (मन) वाले होकर परम विश्रान्ति प्राप्त करें ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिशार्दूल गुरुवर ! यदि ऐसी बात है, तो अहम्भावरूप वसिष्ठ नाम के आप ही यहाँ स्थित हैं क्या ? आपके व्यवहार कैसे होते हैं यह कहिये, क्योंकि द्वैत के अपलाप से आप में भी अहम्भाव तो रहा नहीं अर्थात् समस्त द्वैत का अपलाप हो जानेपर तो आपका भी अहङ्कार वसिष्ठजी का अहम्भाव नहीं रहेगा इस स्थिति में आपके वक्तापन आदि का व्यवहार कैसे होता है ॥ २७ ॥

वाल्मीकि मुनि ने कहा—जब श्रीरामजी ने ऐसा प्रश्न किया, तब वक्ताओं में अग्रणी महाराज वसिष्ठजी आधे मुहूर्त तक चुपचाप स्थित रहे। उनकी ऐसी चेष्टा स्पष्ट विदित हो रही थी। अर्थात् वसिष्ठजी को तो अहम्भाव

पतिते संशयाम्भोधौ रामः पुनरुवाच ह ॥ २९ ॥
किमर्थं भगवन्स्तूष्णीं भवानहमिव स्थितः ।
न सोऽस्ति जगतां न्यायः सतां यो नोत्तरक्षमः ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

न मे वक्तुमशक्तत्वाद्युक्तिक्षय उपस्थितः ।
किन्तु प्रश्नस्य कोटयास्य तूष्णीमेवाऽनघोत्तरम् ॥३१ ॥
द्विविधो भवति प्रष्टा तत्त्वज्ञोऽज्ञोऽथवापि च ।
अज्ञस्याऽज्ञतया देयो ज्ञस्य तु ज्ञतयोत्तरः ॥ ३२ ॥
एतावन्तमभूत्कालं भवानज्ञाततत्पदः ।
भाजनं सविकल्पानामुत्तराणां महामते ! ॥ ३३ ॥
तत्त्वज्ञस्त्वधुना जातो विश्रान्तः परमे पदे ।
योग्यो न सविकल्पानामुत्तराणामसि स्फुटम् ॥ ३४ ॥

आदि हैं तो नहीं, परन्तु हमारी और श्रोताओं की अज्ञान दृष्टि के ही कारण उन्होंने उसका अवलम्बन किया था, जब सबको तत्त्वज्ञान हो चुका तब तो मेरे प्रश्न का मौन ही उत्तर है, इस आशय से वसिष्ठजी की चुपचाप स्थिति कहते हैं ॥ २८ ॥

महाराज वसिष्ठजी तो मौन धारणकर स्थित रहे और इधर सभ्य महाजन अब क्या होगा, इस संशय-सागर में पड़ गये, वह देखकर श्रीरामभद्र फिर कहने लगे ॥ २९ ॥

हे भगवान् ! मेरे समान आप चुपचाप क्यों स्थित हैं ? जगत् में शिष्यों का ऐसा कोई तर्क ही नहीं है, जो विद्वान् गुरुओं के लिए उत्तरयोग्य न हो ॥ ३० ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे अनघ ! मुझ में कहने की शक्ति नहीं है, इसलिए उत्तर-युक्ति न रही, यह बात नहीं है, किन्तु यह प्रश्न चरम सीमा का होने के कारण चुपचाप स्थित रहना ही इसका उत्तर है ॥ ३१ ॥

प्रश्नकर्ता दो तरह के होते हैं—एक तो तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। इनमें अज्ञानी प्रश्नकर्ता को अज्ञ बनकर उत्तर देना पड़ता है और ज्ञानी को ज्ञानी बनकर उत्तर देना पड़ता है ॥ ३२ ॥

हे महामते ! इतने समय तक तो आप तत्पद को, ब्रह्मात्मा को जानते ही नहीं थे, इसलिए आप सविकल्पक उत्तरों के ही पात्र रहें ॥ ३३ ॥

अब तो आप तत्त्वज्ञ बन गये और परम पद में स्थिति भी अपने प्राप्त कर ली, इसलिए स्पष्ट है कि विकल्पवाले उत्तरों के योग्य नहीं रहे ॥ ३४ ॥

यावान्कश्चित्किलोल्लेखो वाङ्मयो वदतां वर ! ।
सूक्ष्मार्थः परमार्थो वा बहुरल्पतरोऽपि वा ।। ३५ ।।
प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यातीतादिभिर्भ्रमैः ।
स च सर्वोऽन्वितः साधो ! भा इव त्रसरेणुभिः ।। ३६ ।।
उत्तरं सकलङ्कं च तज्ज्ञो नार्हति सुन्दर ! ।
नाकलङ्का च वागस्ति त्वं च तज्ज्ञतरः स्थितः ! ।।३७।।
यथाभूतं च वक्तव्यं ज्ञस्याऽन्तेवासिनो मया ।
यथाभूतं विदुः काष्ठमौनमन्तविवर्जितम् ।। ३८ ।।
अविचारात्ससङ्कल्पं मौनमाहुः परं पदम् ।
तदेव तव तज्ज्ञस्य दत्तः सुन्दर उत्तरः ।। ३९ ।।
यन्मयो हि भवत्यङ्ग पुरुषो वक्ति तादृशम् ।
ज्ञेयमात्रमयश्चाहं वागतीते पदे स्थितः ।। ४० ।।
वागतीतपदस्थोऽहि कथं गृह्णाति वाङ्मलम् ।

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी ! यह जितना वाणीरूप भाषण है, वह चाहे सूक्ष्म अर्थवाला हो, परम अर्थवाला हो, चाहे थोड़ा हो अथवा अधिक हो, परन्तु साधो ! वह सब प्रतियोगी, भेद, संख्या, मुख्यभूत अर्थ, साधन, बाधन, बोध, प्रमाण आदि की कल्पनाओं से ऐसे मिला-जुला रहता है, जैसे जालों के अन्दर सूर्य किरणें त्रसरेणुओं से सूक्ष्म रजकणों से मिली-जुली रहती है ।। ३५–३६ ।।

हे सुन्दर ! जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसके लिए कलङ्कपूर्ण उत्तर नहीं होता है क्योंकि जितनी वाणियाँ हैं, वे सब कलङ्कपूर्ण ही हैं, आप तो तत्त्वज्ञ बनकर स्थित हैं ।। ३७ ।।

ज्ञानी शिष्य के सम्मुख मुझे जो यथावत् सत्य है उसे ही कहना चाहिए, परन्तु कलङ्कों से निर्मुक्त यथावत् सत्य तो काठ की तरह मौन ही है ।। ३८ ।।

जो परम पद है, वह तत्त्वज्ञान के पूर्व अज्ञान से उपदेश वाणी के योग्य है, वह कल्पना कर ससङ्कल्प बनता है अर्थात् वाणी के व्यवहार रूप सङ्कल्प का विषय हो जाता है और विचार से ज्ञात हो जाने पर मौन वाणी का अविषय हो जाता है, यह विद्वानों का निश्चय है, इसलिए तत्त्वज्ञानी हुए आपको मैंने अब यह मौन ही सुन्दर उत्तर दिया ।। ३९ ।।

हे प्रिय ! वक्ता पुरुष जिस रूप का होता है, उसी रूप को कहता है, मैं तो तत्त्वसाक्षात्कार से बोधित होने वाली जो ब्रह्म रूप वस्तु है, तन्मय बन कर वाणी से

अवाच्यं वच्मि नो तेन वाग्घि सङ्कल्पनाङ्किता ।।४१।।

श्रीराम उवाच

वाचि ये ये प्रवर्तन्तेताननादृत्य दोषकान् ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदिपूर्वकान् वद को भवान् ।। ४२ ।।

वसिष्ठ उवाच

एवं स्थिते राघव हे ! यथाभूतमिदं शृणु ।
कस्त्वं कोऽहं जगद्वा किमिति तत्त्वविदां वर ! ।। ४३ ।।
अहं तावदयं तात ! चिदाकाशो निरामयः ।
चेत्यसंवेद्यरहितः सर्वसङ्कल्पनातिगः ।। ४४ ।।
स्वच्छं चिदाकाशमहं भवानाकाशमेव च ।
जगच्चाकाशमखिलं सर्वमाकाशमात्रकम् ।। ४५ ।।
शुद्धज्ञानैकरूपात्मा शुद्धज्ञानमयात्मनि ।
अन्यसंविद्दृशोन्मुक्तः स्वान्यद्वक्तुं न वेद्म्यहम् ।। ४६ ।।

परे परम पद में स्थित हूँ ।। ४० ।।

जो वाणी से अतीत पद में बैठा है, वह वाणी रूप मल को कैसे ग्रहण करेगा ? इसलिए मैं अवाच्य कहने के अयोग्य वस्तु नहीं कहता, क्योंकि वाणी सङ्कल्प रूप कलङ्क से युक्त ही रहती है ।। ४१ ।।

श्रीराम जी ने कहा—वाणी में जो-जो भिन्नता, विरोधिता आदि से होने वाले दोष प्रवृत्त होते हैं, उनका अनादर कर अर्थात् उनमें तात्पर्य न रख कर भाग त्याग लक्षणा द्वारा मुझसे कहिए कि आप कौन हैं ।। ४२ ।।

श्री वसिष्ठ जी ने कहा हे राघव ! हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ ! जब आप भाग त्याग लक्षणा से कुछ कहलाने के लिए उद्यत हैं, तब आप यथार्थ रूप से स्थित इस विषय को सुनें कि आप कौन हैं ? मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है ।। ४३ ।।

हे तात् ! जो 'अहम्' वस्तु है, वह यह निरामय विकार शून्य चैतन्याकाश ही है । वह बाह्य एवं आभ्यान्तर विषयों से रहित है और समस्त कल्पनाओं से परे है ।। ४४ ।।

मैं स्वच्छ चिदाकाश रूप हूँ, आप चिदाकाश रूप हैं और सम्पूर्ण यह जगत् भी आकाशरूप ही है, समस्त केवल आकाश ही है ।। ४५ ।।

विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा में मैं विशुद्ध साक्षी रूप आत्मा ही हूँ, मुझमें भेद ज्ञान की दृष्टि ही नहीं है और न प्रत्यगात्मा से भिन्न कुछ अणु मात्र भी कहने की इच्छा रखता हूँ ।। ४६ ।।

स्वपक्षोद्भावनपरा अहन्तात्मैकवर्द्धनम् ।
मोक्षार्थमप्युद्यमिनो नयन्ति शतशाखताम् ॥ ४७ ॥
जीवतोऽप्युपशान्तस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
शववद्यदवस्थानं तदाहुः परमं पदम् ॥ ४८ ॥
अबहिःसाधनं शान्तमनन्तं साधनं समम् ।
न सुखं नासुखं नाहं नान्यदित्यादि तं शिवम् ॥ ४९ ॥
मुक्तताया अहन्तेयमभावो भावनं क्व च ।
तयैवाऽन्विष्यते सेति जात्यन्धश्चित्रमीक्षते ॥ ५० ॥
स्पन्दनेऽस्पन्दने चैव यत्पाषाणवदासितम् ।
अजडस्यैव तद्विद्धि निर्वाणमजरं पदम् ॥ ५१ ॥

शिष्यों का सन्देह दूर करने के लिए या प्रतिवादियों पर विजय पाने के लिए उद्यमशील विद्वान् श्रुति, युक्ति आदि प्रमाणों के द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में तत्पर होकर बाधित का भी आहार्यारोप कर अहन्ता रूप एक ही आत्मा को बढ़ाते हैं और उसका अनेक शाखाओं में विस्तार करते हैं, परन्तु अज्ञानी के सदृश मोहित नहीं होते ॥ ४७ ॥

यद्यपि जी रहा है और यद्यपि व्यवहार भी कर रहा है, तथापि परम शान्ति रूप पद में विश्रान्त पुरुष की मुर्दे के सदृश जो स्थिति है, वही परम पद कहलाती है अर्थात् इतनी बात से विद्वानों का पाण्डित्य बतलाना ही परम पद है, यह नहीं जानना चाहिए, किन्तु कोई दूसरा ही है ॥ ४८ ॥

बाहर के साधनों से निर्मुक्त अन्दर के साधनों से शून्य कर्तापन एवं भोक्तापन से रहित सुख रूप नहीं दुःख रूप नहीं अन्य रूप नहीं शान्त और सम तथा जो सबका आदि है, वही स्वप्रकाश-निरतिशय आनन्द रूप शिव पद है ॥ ४९ ॥

यह जो अहम्भाव है, वह मुक्ति का अभाव है अर्थात् मुक्ति का पूर्व कालिक अभाव है। इसलिए अहम्भाव से मुक्ति की भावना कहाँ होगी ? अभाव से किसी प्रतियोगी का अनुभव तो हो ही नहीं सकता है। मुक्तरूपता द्वारा भी मुक्ति की भावना नहीं हो सकती है, क्योंकि मुक्त-रूपता और मुक्ति तो एक ही है, इसलिए दोनों पक्षों में जन्मान्ध पुरुष चित्र देखता है, यही न्याय आ जाता है ॥ ५० ॥

अहङ्कारादि का स्पन्दन या अस्पन्दन होने पर भी जो पाषाण के सदृश जिसका निश्चल अवस्थान है, वह अजड़ का ही है, जड़ का नहीं है, यह आप जानें। वही परम पद, अजर क्षीणता आदि दोषों से रहित मोक्ष है। वृक्ष, मृग आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर पर्वत की शिला निश्चल स्थित होने से जैसे जड़ है, वैसे ही अहङ्कार प्राण आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर परम पद निश्चल स्थित है, अतः उसे जड़ क्यों न माना जाय, इसका समाधान इस पद्य से कहा है ॥ ५१ ॥

तच्च नान्यो विजानाति स्वयमेवानुभूयते ।
लोकैषणाविरक्तेन ज्ञेन ज्ञत्वमिवात्मनि ॥ ५२ ॥
तत्राऽहन्ता न च त्वत्ता नानहन्ता न चाऽन्यता ।
केवलं केवलीभावो निर्वाणममलं शिवम् ॥ ५३ ॥
चेत्योन्मुखत्वमेवाऽऽहुश्चेतनस्याऽस्य चेतनम् ।
एष एव च संसारो बन्धः क्लेशाय भूयसे ॥ ५४ ॥
चेतनस्याऽचेतनत्वमचेत्योन्मुखतात्मकम् ।
मोक्षं विद्धि परं शान्तं पदमव्ययमेव च ॥ ५५ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने शान्ते शान्तात्मनि स्थिते ।
चेत्यं न सम्भवत्येव कः किं चेतयते कथम् ॥ ५६ ॥

अर्थात् अन्तिम स्थिति में वह स्वप्रकाश रूप ही फलित होता है है।

परम प्रकाश रूप निर्वाण पद वैसे ही स्वतः ही अनुभूत होता है, दूसरे के द्वारा नहीं जैसे लौकिक आत्मा में प्रसिद्ध ज्ञातापन लोकैषणावर्जित ज्ञाता पुरुष के द्वारा स्वयं ही अनुभूत होता है ॥ ५२ ॥

वहां परम पद में न अहन्ता है, न त्वत्ता है, न अहन्ता का अभाव है, न अन्य रूपता है। वह निर्वाण पद केवल विशुद्ध शिव रूप कैवल्य ही है ॥ ५३ ॥

इस चेतन का निर्वाणरूप स्वप्रकाशपद का विषयों की ओर झुक जाना ही परप्रकाश विषयसम्बन्धरूप क्रिया कहा गया है और यही संसार है, यह भयानक महान् कष्ट को देने वाला बन्धन है अर्थात् उसका दूसरे से प्रकाश होना ही संसार है ॥ ५४ ॥

चेतन की विषयों की ओर प्रवृत्ति न होना ही अचेतनता है, इसी को आप मोक्ष जानें। मोक्ष ही अविनाशी शान्त परम पद हैं। अर्थात् विषय सम्बन्ध के अभाव से प्राप्त अचेतनता तो मोक्ष में इष्ट ही है ॥ ५५ ॥

देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न, शान्तस्वरूप ही मोक्ष स्थिति होने से उस शान्तरूप में चेत्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में कौन किसका, किस तरह प्रकाश करेगा ॥ ५६ ॥

सङ्कल्पः स्वप्नदृश्येऽन्तः संविन्मात्रात्मतां विना ।
यथाऽन्यवद्भवेद्भूपास्तथैवाऽस्मिन् बहिर्गते ॥ ५७ ॥
मनोबुध्यादयश्चैते संविन्मात्रानुरूपिणः ।
मनोबुध्यादिशब्दार्थभावितास्तु जडात्मकाः ॥ ५८ ॥
संविन्मात्रे समे स्वच्छे सबाह्याभ्यन्तरे तते ।
अभिन्ने भेदबुद्धिर्वा किमनर्थाय जृम्भते ॥ ५९ ॥
संविन्मात्रस्य शुद्धस्य शून्यस्य च किमन्तरम् ।
यच्चान्तरं तद्विबुधा विदन्त्येति न वाग्गतिम् ॥ ६० ॥
सदसद्रूपं आभासो यथा किमपि लक्ष्यते ।
तमसीक्षितयत्नेन ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ ६१ ॥
अयमाकाशमेवाऽहं यदि शाम्याम्यवासनम् ।
वासनां तु न बध्नासि स्थित एवाऽसि चिन्नभः ॥ ६२ ॥
इति निश्चयवानन्यस्तज्ज्ञोऽज्ञ इव संज्ञया ।
चिद्वपुर्विद्यमानोऽपि शाम्यत्यसदिव स्वयम् ॥ ६३ ॥
जीवानां ज्ञप्तिगुप्तेन ज्वलन्नज्ञानवायुना ।
अविद्याग्निः प्रबुद्धानां पुनस्तेनैव शाम्यति ॥ ६४ ॥
अजडानां यदज्ञानं स्थाणूनामिव शाम्यताम् ।
तमाहुंर्मोक्षमक्षुब्धमासितं पदमक्षयम् ॥ ६५ ॥

[इस तरह केवल अन्तर्मुखतामात्र से स्वतःसिद्ध मुक्ति का उपपादन कर अब बहिर्मुखतामात्र से ही जगत् का विस्तार होता है।]

हे श्रोतृगण भूपसमूह यह आत्मा जब बहिर्मुख होता है, तब वही प्रपञ्चरूप होकर अन्य जड़ के सदृश वैसे ही भासमान होने लगता है जैसे स्वप्न के संसार में चेतनगत तत्-तत् वासनानुसारी सङ्कल्प चेतनरूप होता हुआ भी चेतनरूपता का परित्याग कर चेतनभिन्न प्रतीत होता है ॥ ५७ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार आदि सब अन्तर्मुखदशा में चेतनरूप हैं और मन, बुद्धि आदि शब्दार्थों में भावना करने पर अर्थात् बहिर्मुख दशा में चेतन भिन्न जड़रूप हैं ॥ ५८ ॥

यह जितना विस्तृत बाह्य-आभ्यान्तर जगत् है, वह सब सम, स्वच्छ एवं अभिन्न संविद्रूप ही है, इसमें जो भेदबुद्धि की जाती है, वह अनर्थ के लिए ही विकसित होता है अर्थात् इसी रीति से आन्तर और बाह्य जितना जगत् है, वह सब चैतन्यैकरस ही सिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थिति में चिति की बहिर्मुखतारूप जो भेदबुद्धि है, वही केवल व्यर्थ और अनर्थ की हेतु है ॥ ५९ ॥

अन्त में अवशिष्ट विशुद्ध संविन्मात्रस्वरूप आत्मा में और शून्य में क्या अन्तर है, यह हम लोग नहीं जान सकते। जो अन्तर है, उसे तो विद्वान् कहते हैं कि वह वाणी का विषय नहीं है, स्वानुभववेद्य है अर्थात् निरतिशयानन्दरूप है, उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं अर्थात् समस्त दृश्यों का विनाश हो जानेपर अन्त में बचे जाने वाला संविन्मात्रस्वरूप आत्मा शून्यरूप नहीं है, किन्तु निरतिशयानन्दरूप ही है, यह विद्वानों का अनुभव है ॥ ६० ॥

जैसे आँख के प्रणिधानरूप एकाग्रता प्रयत्न से अन्धकार में कुछ सद्-असद्रूप आभास दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म में जो आभास दिखाई देता है, वह आभास ही यह जगत् है ॥ ६१ ॥

यह मैं चिदाकाश स्वरूप ही हूँ, इस प्रकार निश्चय कर वासना निर्मुक्त हो उत्तम शान्ति से सम्पन्न हो गया हूँ। आप भी यदि वासना को कहीं न बाँध लें, तो वह चिदाकाश रूप ही होकर स्थित हैं ॥ ६२ ॥

यह चिदाकाश रूप ही मैं हूँ, इस प्रकार के निश्चय से युक्त जो भी दूसरा पुरुष है वह तत्त्वज्ञ ही है। वह व्यवहार से अज्ञानी के सदृश विद्यमान होता हुआ भी चैतन्य स्वरूप ही है और देहादि की स्थिति होने पर भी उन्हें असत् के समान मानकर स्वयं शान्त ही रहता है ॥ ६३ ॥

मैं अज्ञानी हूँ, इस प्रकार का साक्षी ज्ञान ही अज्ञान की सिद्धि करता है। यद्यपि जीवों की संसाररूप अविद्यात्मक अग्नि 'मैं संसारी हूँ' इस तरह के साक्षिज्ञान से रक्षित अज्ञानरूप वायु से जलती रहती है तथापि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस तरह के प्रबुद्ध जीवों की अन्तिम साक्षात्कार वृत्तिरूप में परिणत साक्षि-रक्षित अज्ञान वायु से मानो नष्ट हो जाती है, तीसरे किसी की अपेक्षा नहीं करती। आशय यह है कि क्या जीवों की अविद्या को चिदात्मा नष्ट कर देता है या जड़? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चिदात्मा तो अविद्या का साधक है, इस लिए उससे विरोध ही नहीं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारा जड़ अविद्या का कार्य है, इसलिए अविद्या का जड़ भी विरोधी नहीं है इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है ॥ ६४ ॥

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द आत्मा के स्वरूपभूत हुए उन मुक्त पुरुषों की सांसारिक ज्ञानों से रहित दुःखरूप क्षोभ से शून्य जो स्थित है वही मोक्ष है और

ज्ञत्वेन ज्ञत्वमासाद्य मुनिर्भवति मानवः ।
अज्ञत्वादज्ञतामेत्य प्रयाति पशुवृक्षताम् ॥ ६६ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेदमित्यविद्यामयो भ्रमः ।
असत्यः प्रेक्षया ध्वान्तं दीपेनेव न लभ्यते ॥ ६७ ॥
समग्रकरणग्रामोऽप्यसङ्कल्पो विवेदनः ।
न किञ्चिदप्यनुभवत्यन्तर्बाह्ये च शान्तधीः ॥ ६८ ॥
सुषुप्तत्व इव स्वप्नः समाधौ प्रविलीयते ।
दृश्यं सर्वं ज्ञबोधेऽन्तः पुनः स्वात्मैव लक्ष्यते ॥ ६९ ॥

वही अविनाशी पद है। इनमें अनन्त अज्ञानों की आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि एक ही के विज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाने के कारण उनमें किसी तरह के अज्ञान की प्राप्ति ही नहीं हैं। अपि च, भ्रमात्मक ज्ञान का अभाव भी आत्मरूप ही है, इसलिए उसमें तत्त्वज्ञान कोई विलक्षणता ही नहीं रही। क्या मुक्त पुरुष जगत् को जानते हैं या नहीं? यदि जानते हैं, तो संसारी और मुक्त दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। दूसरे पक्ष में नहीं जानते हैं, इस पक्ष में तो एक आत्मा के अज्ञान का परिहार करते हुए आपने जगत् के अनन्त अज्ञान स्वीकृत कर लिये। सूखे काठ के-जैसे स्थित उन पुरुषों में मुक्तत्व ही कैसा? इसके उत्तर में कहते हैं ॥ ६५ ॥

आत्मज्ञान के द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्त कर पुरुष मुनि बन जाता है, परन्तु आत्मा के अज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्त कर पुरुष पशु तथा वृक्ष बन जाता है। तात्पर्य यह है कि जब मूलाज्ञान रहता है तभी उसके बल से बाह्य अर्थों के अज्ञान मूर्खता के सम्पादक होते हैं। मूलाज्ञान का नाश हो जानेपर तो बाह्य अर्थों के अज्ञान मुनित्व के सम्पादक हो जाते हैं ॥ ६६ ॥

'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान तथा यह जगत् सब अविद्यामय असत्य भ्रम है। यह ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति से, दीपक से अन्धकार की तरह निकल जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान और जगद्भ्रम सभी अज्ञानरूप ही हैं, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति तो अज्ञान नहीं है, जिससे मुक्ति न हो ॥ ६७ ॥

जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष है उसकी समस्त इन्द्रियाँ हैं पर वे सङ्कल्पशून्य हैं और सविकल्पक ज्ञान से रहित हैं। इसलिए शान्तबुद्धि यह महात्मा बाह्य और आन्तर किसी का अनुभव नहीं करता। जिस तरह सुषुप्त अवस्था में स्वप्न का विलय हो जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञान

नीलत्वं च यथा व्योम्नि तथा पृथ्व्यादिता शिवे ।
भ्रान्तिमात्रादृते नान्यद्यथा व्योम तथा शिवः ॥ ७० ॥
वासनाभिरुपेतोऽपि समस्ताभिरवासनः ।
भवत्यसावसत्सर्वमिदमित्येव यस्य धीः ॥ ७१ ॥
सङ्कल्पेष्वद्भुतं भव्य स्वप्नमायेन्द्रजालकम् ।
यद्वत्संसृतयस्तद्वद् दृष्टेऽप्यास्था किमत्र वै ॥ ७२ ॥
न दुःखमस्ति न सुखं न पुण्यं न च पातकम् ।
न किञ्चित्कस्यचिन्नष्टं कर्तुर्भोक्तुरसम्भवात् ॥ ७३ ॥

होने पर समाधि में समस्त दृश्य विलीन हो जाता है और भीतर केवल आत्मा ही लक्षित होता है ॥ ६८, ६९ ॥

पृथिवी आदिरूप समस्त दृश्य आत्मा में वैसे ही विलीन हो जाता है जैसे आकाश में नीलरूप विलीन हो जाता है। जैसे आकाश में नीलरूप केवल भ्रान्ति छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है उसी तरह आत्मा में पृथिवी आदिरूप भ्रान्ति छोड़कर और कुछ नहीं है, इसलिए नीलरूप जैसे आकाश है वैसे ही पृथिवी आदिरूप के प्रति आत्मा है ॥ ७० ॥

जिस पुरुष को यह बुद्धि रहती है कि यह सब असत् ही है। वह वासना से युक्त होता हुआ भी समस्त वासनाओं से रहित ही है अर्थात् बाधित अर्थ की वासना वासना ही नहीं है, ऐसी स्थिति में ज्ञानी वासना रहित ही है ॥७१॥

हे भव्य श्रीरामजी ! सङ्कल्प जनित पदार्थों में स्वप्न, माया, इन्द्रजाल ये सब संसार वैसे ही अद्भुत ही हैं जैसे चित्रविचित्र अद्भुत अर्थ विद्यमान हैं। प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले स्वप्न आदि अर्थों में क्या अस्था बाँधकर बैठे रहना अच्छा है? एवं संसार में भी अस्था बांधकर बैठे रहना क्या अच्छा है। अर्थात् चित्र-विचित्र भुवन, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी; विहित निषिद्ध अनेक कर्म; एवं विहित निषिद्ध कर्मफलों की भोगस्थिति तथा ईश्वर इन सब का जहाँ पर अस्तित्व है ऐसे इस अद्भुत जगत् को आप कैसे असत्, अमृत और सङ्कल्प स्वरूप पूर्वोक्त युक्तियों से मानकर खण्डित करते हैं? सङ्कल्प, मनोरथ आदि स्थलों में तो उस तरह के पदार्थ हैं नहीं, ऐसी आशङ्काकर सङ्कल्प आदि स्थलों में भी अद्भुत अर्थ सत्ता का दिग्दर्शन इसके द्वारा कराया गया है ॥ ७२ ॥

कर्तृत्व और भोक्तृत्व का ही जब आत्मा में असम्भव है तब न दुःख है, न सुख है, न पुण्य है, न पाप है और न किसी का कुछ बिगड़ा ही है। जब आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सत्ता हो, तब तो समस्त सुख-दुःख के भोग लिए पुण्य-पाप की व्यवस्था हो सकती है। आत्मा में जब

सर्वं शून्यं निरालम्बं ममताप्रत्ययोऽप्ययम् ।
द्विचन्द्रस्वप्नपुरवद्यस्यासौ सोऽपि नास्ति नः ।। ७४ ।।
केवलो व्यवहारस्थः काष्ठमौनगतोऽथवा ।
काष्ठपाषाणवत्तिष्ठन् ब्रह्मतामधिगच्छति ।। ७५ ।।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संभव ही नहीं, तब पुण्य-पाप की व्यवस्था ही क्या ? इस प्रथा के समाधान में यह कहा गया है ।। ७३ ।।

जिस अहङ्कार में हम लोगों को यह ममताबुद्धि होती है उसका भी कहीं अस्तित्व नहीं है । इसलिए समस्त शून्यरूप अवलम्बन रहित एवं दो चन्द्रमा या स्वप्ननगर के सदृश मिथ्या है ।। ७४ ।।

समस्त द्वैत से शून्य तत्त्ववित् पुरुष चाहे व्यवहार में रहे या काष्ठ पाषण के सदृश निश्चल होकर समाधि में स्थित रहते हुए चाहे लकड़ी के सदृश मौन धारण करें । सभी स्थित में वह ब्रह्मरूपता प्राप्त करता ही है ।। ७५ ।।

यह शिवस्वरूप अन्तरात्मा प्राण, बुद्धि, मन, देह आदि के साथ एकरूप बनकर अनेकरूप भिन्नस्वभाव तथा संसार के अनेक अर्थो से आक्रान्त प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, इस आत्मा में दिखाई दे रही अनेकरूपता, भिन्न-स्वभावता आदि का निराकरण दुःखरहित निरतिशय अद्वितीय आत्मा में आनन्दरूपता शेष रखनी है । इसमें अध्यारोपापवादप्रणाली को छोड़कर दूसरी कोई युक्ति नहीं है। कल्याणरूप अन्तरात्मा को सदा शान्तस्वरूप माना जाय, तो भी निर्विकार अन्तरात्मा का—संचलन एवं परिच्छिन्न स्वभावयुक्त चित्रस्वरूपता धारणकर देह, इन्द्रिय आदि अनेक-अनेक तरह के भावों द्वारा—संसार में आने में, इसमें अध्यारोपापवादप्रणाली को छोड़कर किसी के पास और कोई युक्ति नहीं है । इन सब बातों को सिद्ध करने के लिए आत्मा को परिच्छन्न, परिणामी एवं सावयव मान लिया जाय, तो भी इस आत्मा को जिन अवयवों को लेकर सावयव स्वीकार करेंगे, इसमें कोई युक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि यदि अवयवों को चेतनरूप मानेंगे, तो कभी उनका एकमत न होगा, ऐसी स्थिति में अवयवों का विच्छेद हो जाने के कारण अवयवी का विनाश ही प्राप्त है । यदि अवयवों को जड़ मानेंगे, तो अवयवी भी जड़ हो जायगा । ऐसी स्थिति में अनित्य आत्मा पूर्व के पुण्य-पापों का भोग कैसे करेगा ? इसी तरह आत्मा को जगत् का कारण मानकर शान्त एवं निर्विकार कोई मान ले, तो भी इसकी जगत् बनाने में अनुकूल संकलपात्मक चित्तरूपता

शान्तत्वे चित्तत्वे नानानानात्मनीह शिवे ।
अवयविनोऽवयवित्वे त्विह युक्तिर्विद्यते नान्या ।। ७६ ।।
अर्थागतस्वभावस्य च नैव च सम्भवादमले ।
एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि नास्ति स्वभावोक्तिः ।। ७७ ।।

आदि में अध्यारोपापवाद को छोड़कर और कौन-सी युक्ति हो सकती है! इसलिए विवर्तदृष्टि ही एकमात्र सब वादियों के लिए शरण है अर्थात् मायिक विवर्तवाद के सिद्धान्त को लेकर आरोपित जगत् के अपवाद से तत्त्ववित् पुरुष की परम पुरुषार्थ में निष्ठा बतलाई, परन्तु दूसरे तार्किक जो भिन्न-भिन्न सिद्धान्त की कल्पना करते हैं उनके पास जगत् के उत्पत्ति आदि व्यवहार में एवं परम पुरुषार्थरूप परमार्थरूप परमार्थ में कोई युक्ति नहीं है ।। ७६ ।।

श्रीरामजी, अर्थों की विचित्रता का कारणभूत स्वभाव वह परमात्मा में अर्थों के कारण आया है या स्वतःसिद्ध है ? अर्थों के कारण आया है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि दूसरे स्थान से आनेवाले अन्याधीन धर्म को दूसरे का स्वभाव माना नहीं जा सकता । दूसरी बात यह है कि जो स्वभावतः असङ्ग और अद्वय है, ऐसे निर्मल परमात्मा में दूसरे का विचित्र स्वभावरूप मल किसी तरह सम्बद्ध हो ही नहीं सकता है, जितने ये पदार्थ हैं वे प्रलयकाल में स्वतन्त्ररूप से अपना अस्तित्व नहीं रखते, जिससे कि प्रलय के बाद अपने-अपने स्वभाव के बल से ही चित्र-विचित्ररूप में आविर्भूत हो सकें, इसलिए इस स्वभाव को अनागन्तुक ही कहना चाहिए । परन्तु यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्ष में ब्रह्म के सर्वगत होने के कारण सब पदार्थ सभी तरह की विचित्रताओं से परिपूर्ण होने लगेंगे । ब्रह्म के सर्वगत होने पर 'इस वस्तु का यही स्वभाव है' इसकी व्यवस्था करने वाला कौन रहेगा ? प्रत्येक वस्तु में सभी तरह की विचित्रताओं को मान लेंगे, तो इस संसार से विचित्रता का नाम ही उठ जायगा । सर्वसाधारण धर्म में न तो विचित्रता रहती है और न वह किसी का पार्थक्यकारक ही होता है । ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण जगत् की एकरूपता हो जायगी अर्थात् स्वभावतः आत्मा शान्त ही है किन्तु प्रलय के बाद चित्तत्व, एकत्व, अनेकत्व, सावयवत्व आदि विलक्षण-विलक्षण धर्मों से युक्त पदार्थों का आविर्भाव होगा ही, क्योंकि प्रलय के समय ब्रह्म में सारे पदार्थ लीन होकर बैठे हैं; इसलिए उन पदार्थों का अपना-अपना जो विचित्र स्वभाव है वह तो ब्रह्म में से कहीं गया नहीं, इस प्रश्न के उत्तर में यहकहा गया है ।। ७७ ।।

न च नास्तिकोपलम्भात्संवित्तेरस्तिता च नैवाजे।
ग्राह्यग्राहकदृष्टेरसम्भवादस्ति किञ्चिदपि ॥ ७८ ॥
शममममलमहार्यमार्यजुष्टं शिवमजमक्षयमासितं समं यत्।
तदवितथपदं तदास्व शान्तं पिब लल भुङ्क्ष्व भवानयं हि नास्ति ॥ ७९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

विषयों के खण्डन के प्रसङ्ग में जो पुरुष यह कहता है कि ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ज्ञान के अस्तित्व का खण्डन करने वाला पुरुष, अपने आपका ज्ञान रखता है, इसलिये ज्ञान की सत्ता नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं? खण्डन करने वाला पुरुष अपने से भिन्न ज्ञान और विषय का खण्डन करेगा, अपना तो नहीं करेगा, जब सभी ज्ञान उसी की आत्मा है, तब स्वभिन्न विषय का खण्डन करते हुये वह ज्ञान को अन्ततः बचा ही लेता है। जो निषेध किया जाता है वह किसी आधारपर ही किया जाता है, निराधार निषेध नहीं किया जाता है, इससे ज्ञान करने वाला एवं जानने योग्य विषय दोनों का स्वयंप्रकाश, ज्ञाता और ज्ञेय से शून्य आधारभूत आत्मा में ही निषेध करना चाहिए, यह उसकी आत्मा है। ऐसी स्थिति में अविनाशी स्वात्मा में ही ग्राह्य-ग्राहकदृष्टि के असम्भवप्रतिपादन में पर्यवसान से खण्डन-कर्ता के मत में समस्त प्रतिषेधों के आधारभूत कोई अज वस्तु सिद्ध हो गई और यही वस्तु परब्रह्म है सब के अनुभव पर चढ़ी हुई जगत्-विचित्रता का यदि युक्ति के अभाव में आप खण्डन करते हैं, तो ज्ञान का भी आप खण्डन क्यों नहीं करते, क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञान तो कहीं नहीं होता है ऐसी स्थिति में शून्यवाद ही आ गया ॥ ७८ ॥

आप ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रेमपूर्वक सेवित तथा नहीं छोड़ने लायक अविनाशी, कल्याणरूप, परमार्थ सत्यभूत, नित्यसिद्ध, निर्मल, शान्त, सम शिव पद है, तद्रूप ही बनकर स्थित हो जायें। व्यवहार में साधारण जनों के सदृश यद्यपि आप खायें, पीयें, खेलें, तो भी आप मुक्त ही हैं, क्योंकि आपको दृश्य प्रपञ्चरूप बन्धन है ही नहीं ॥ ७९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में भावप्रतिपादन नामक कुसुमलता का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

३०

वसिष्ठ उवाच

अहन्तैव पराऽविद्या निर्वाणपदरोधिनी।
तयैवान्विष्यते मूढैस्तदित्युन्मत्तचेष्टितम् ॥ १ ॥
अहन्तैवाऽलमज्ञानादज्ञत्वस्य निदर्शनम्।
न हि तज्ज्ञस्य शान्तस्य ममाऽहमिति विद्यते ॥ २ ॥
अहन्तामलमुत्सृज्य निर्वाणः खमिवाऽमलः।
सदेहमपदेहं वा ज्ञस्तिष्ठति गतज्वरः ॥ ३ ॥

३०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अहम्भाव ही सब अविद्याओं की मूलभूत अविद्या है, यही मोक्षस्थान को आवृत करने वाली है। मूढ पुरुष उसी अविद्या से परमपद का अन्वेषण करते हैं, यही उनकी उन्मत्तों की सी चेष्टा है आशय यह है कि जबतक अहम्भाव परित्यक्त नहीं होता, तबतक ब्रह्मविचार भी नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मलाभ तो दूर ही है ॥ १ ॥

अज्ञान से उत्पन्न अहन्ता ही अज्ञान की सत्ता में वैसे ही पर्याप्त हेतु है जैसे धूमज्ञान अग्निज्ञान का हेतु पर्याप्त है। तत्त्वज्ञानी शान्तपुरुष में ममता या अहन्ता नहीं रहती है ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी! इस अहन्तारूपी मल का सर्वथा त्यागकर निर्मल हो चिदाकाश की तरह मोक्षस्वरूप ज्ञानी पुरुष सांसारिक सर्वविध सन्तापों से शून्य स्थित रहता है। चाहे वह सदेह रहे या बिना देह का रहे ॥ ३ ॥

न तथा शरदाकाशं न तथा स्तिमितोर्णवः ।
पूर्णेन्दुमध्यं न तथा यथा ज्ञः परिराजते ॥ ४ ॥
चित्रसङ्गरयुद्धस्य सैन्यस्याऽक्षुब्धता यथा ।
तथैव समता ज्ञस्य व्यवहारवतोऽपि च ॥ ५ ॥
निर्वाणैकतया ज्ञस्य वासनैव न वासना ।
लेखादामोपमा त्वब्धेरूर्म्यादि न जलेतरत् ॥ ६ ॥
तरत्तरङ्गो जलधिर्जलमेव यथाऽखिलम् ।
दृश्योच्छूनमपि ब्रह्म तथा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ७ ॥
अन्तस्तरङ्गतोऽक्षुब्धो बहिरस्तङ्गतः शमी ।
विद्यते चोदितो यस्य स मुक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥
अहन्त्वसर्गरूपेण संवित्संविन्मये परे ।

जैसा अहन्ता से रहित ज्ञानी पुरुष सुशोभित होता है वैसा न तो शरत्काल का आकाश, न प्रशान्त सागर और न परिपूर्ण चन्द्रमा का मध्यभाग ही शोभित होता है। अहन्ता के दूर चले जाने से ज्ञानी पुरुष निर्मल और विक्षेपशून्य परिपूर्ण हो जाता है ॥ ४ ॥

व्यवहार में निरत भी ज्ञानी पुरुष में वैसे ही समता अक्षुब्धता ही रहती है जैसे चित्रलिखित युद्ध में परस्पर प्रहार कर रही भी सेनाएँ क्षुब्ध-सी प्रतीत होने पर भी अक्षुब्ध ही रहती है ॥ ५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है उसकी वासना वासना ही नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण स्वरूप बन गया है। जैसे जले हुए वस्त्र में तन्तुओं की रेखाएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु असल में तन्तुओं की रेखाएँ नहीं हैं, वैसे ही व्यवहार से ज्ञानी में अनुमितवासना बाधित होने के कारण वासनारूप नहीं है जैसे समुद्र के तरङ्ग जल से अन्य कुछ नहीं हैं वैसे ही परमात्मा से इतर कुछ भी नहीं है ॥ ६ ॥

दृश्य से वर्द्धित ब्रह्माण्ड भी वैसे ही ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं है जैसे तैर रहे तरङ्गों से युक्त समुद्र पूर्णरूप से जल ही है ॥ ७ ॥

जो पुरुष भीतर के मानसिक तरङ्गों से क्षुब्ध नहीं होता और बाहर के तरङ्गों से भी क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्ति से शोभित है और जो सदा प्रसन्न रहता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानस्वरूप अज्ञात आत्मा में अहन्ता की सृष्टि के रूप से ज्ञानरूप आत्मा ही वैसे ही भासमान होता है जैसे जल में जल तरङ्गरूप से भासमान होता है, इसलिए इस अनेकता का रूप ही क्या है ॥ ९ ॥

परमपद में ये सर्ग भी वैसे ही हैं जैसे आकाश में

स्फुरत्यम्भोम्भसीवातो नानातेयं किमात्मिका ॥ ९ ॥
धूमस्य स्फुरतो व्योम्नि यथा गजरथादयः ।
व्यूहा धूमान्न ते भिन्नास्तथा सर्गाः परे पदे ॥ १० ॥
संविद्भ्रान्तिविचारेण भ्रान्त्यलाभविलासिनः ।
विजयध्वं विषादमागता ज्ञास्तज्ज्ञता हि वः ॥ ११ ॥
अङ्कुरोऽनुभवत्यन्तर्वृक्षपत्रफलं यथा ।
तथा जगदहन्त्वे ज्ञः स्वात्मखमप्यलम् ॥ १२ ॥
रूपालोकमनःसत्ताज्वालार्चिष्विव दण्डता ।
सत्योऽपि च न सन्त्येता भ्रान्तेश्चित्ताबला इव ॥ १३ ॥
यथासुखं यथारम्भं यथानाशं यथोदयम् ।
यथादेशं यथाकालमजराः शान्तमास्यताम् ॥ १४ ॥

स्फुरित हो रहे नीहारधूम्र के हाथी, रथ आदि आकार दिखाई देते हैं, परन्तु वे आकार नीहारधूम से पृथक् नहीं है अर्थात् परमपद से भिन्न यह सृष्टि नहीं है ॥ १० ॥

हे उपस्थित विद्वानों, आप लोग किसी तरह का विषाद न करें, किन्तु मेरे कहने के अनुसार विषाद के हेतु सम्पूर्ण प्रपञ्च संवित् की एकमात्र भ्रान्ति अर्थात् विवर्त है, ऐसा विचारकर—भ्रान्ति और उसके विषय की तत्त्वतः परीक्षा करने पर निःस्वरूप सिद्ध होने के कारण उनकी किसी तरह प्राप्ति न हो सकने से विलसनशील होते हुए आप लोग सबके ऊपर अपना स्थान जमायें। क्योंकि मेरे उपदेश से सचमुच आप लोग वस्तु तत्त्व को जान गये हैं। आशय यह है कि आप लोगों में अब अज्ञता नहीं रह गई है ॥ ११ ॥

अज्ञानी पुरुष वस्तुतः आत्मस्वरूप होता हुआ भी आकाश के सदृश स्वच्छ और विशाल अपनी आत्मा का जगत् और अहङ्काररूप से भलीभाँति वैसे ही अनुभव करता है जैसे अङ्कुर अपनी आत्मा में ही वासनात्मक वृक्ष, पत्र, फल आदि का अनुभव करता है ॥ १२ ॥

जैसे भ्रमणशील हो रहे आलात की ज्वालार्चि में दण्डचक्रादिरूपता या विधुर पुरुषों के चित्त में कल्पित कामिनी महिलाएँ अपने स्वरूप से सत्य नहीं हैं। वैसे ही बाह्य रूपालोक की सत्ता तथा आन्तरिक मन की सत्ता ये सब अधिष्ठानरूप से सत्य होती हुई भी अपने स्वरूप से ऐसे सत्य नहीं हैं ॥ १३ ॥

इसलिए हे श्रोताओ, यह सारा संसार जैसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थित है, जैसे अपने कार्यों का आरम्भ करता है, जैसे सुख-दुःख का अनुभव करता है, जैसे नष्ट होता है और जिस तरह के इसके देश-काल

इष्टानिष्टोपलम्भेषु शान्तो व्यवहरन्नपि ।
शववन्नान्यतामन्तर्निर्वाणोऽनुभवत्यलम् ॥ १५ ॥
अमनोवासनाक्षता धत्ते यच्च जगच्चिरम् ।
जीवतो जीवतश्चैव चिज्जीवः स परं पदम् ॥ १६ ॥
सत्तैव जडवाहेन दुःखभाराय केवलम् ।
नृणां पाशावबद्धानां पोतकानामिवार्णवे ॥ १७ ॥
मोक्षसत्ताऽऽश्रयति तं नाज्ञानानुभवादिव ।
मृतेन यत्किल प्राप्यं जीवन्प्राप्नोति तत्कथम् ॥ १८ ॥
यद्यत्सङ्कल्प्यते तत्तत्सङ्कल्पादेव नाशभाक् ।
न सम्भवति यत्रैतत्तत्सत्यं पदमक्षयम् ॥ १९ ॥
नान्यो न चाहमस्मीति भावनान्निर्भयो भव ।

हैं—इन सब बातों का उत्पत्तिस्थिति आदि प्रकरणों में कही गई युक्तियों से निश्चय कर अर्थात् ये सब मिथ्या हैं, यह निश्चय कर अजर होते हुए शान्तरूप आप लोग स्थित रहें ॥ १४ ॥

इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए व्यवहार कर रहा भी मुक्त पुरुष मुर्दे के समान अन्यता का अनुभव नहीं करता है, किन्तु अपनी आत्मा में चित्त का समर्पण कर स्व-स्वरूप का ही अनुभव करता है ॥ १५ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष अहन्ता मनोजनित वासना से रहित ही है । अहन्ता देहनाश-पर्यन्त जगत् धारण करती है और उनका भोक्ता जबतक जीवन धारण करता है, वह सब चिद्रूप जीव ही है उसमें तनिक भी जड़ता नहीं है, यही परमपद है ॥ १६ ॥

[अर्थात् जीव जगत् की जड़रूप से सत्ता मान लेना ही अनर्थ है ।]

संसाररूपी फन्दे से बँध गये मनुष्यों को दुःखरूपी भार ढोने के लिए जीव-जगत् की जड़रूप सत्ता वैसे ही कारण है जैसे समुद्र में जहाजों के भार-वहन के लिए आधारभूत जलसत्ता ही केवल कारण है ॥ १७ ॥

जो मृत पुरुष के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला स्वर्ग है, वह क्या जीवित पुरुष द्वारा किसी तरह प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् मृत पुरुष लभ्य स्वर्ग जैसे जीवित पुरुष का जीवनरूपी अपराध से आश्रयण नहीं करता, वैसे ही मोक्षसत्ता अज्ञानी पुरुष का अज्ञानगत जड़तानुभव के अपराध से आश्रयण नहीं करती है ॥ १८ ॥

जो पदार्थ सङ्कल्प से सिद्ध होता है, वह सङ्कल्प से ही नष्ट भी होता है । इसलिए जहाँ इस सङ्कल्प का सम्भव नहीं है, वही अक्षय पद मोक्ष सत्य है ॥ १९ ॥

सत्यं युक्तं भवत्येतद्विषमप्यमृतं यथा ॥ २० ॥
जडं देहादि चित्तान्तं विचार्य सकलं वपुः ।
लभ्यते नाहमस्मीति तस्मान्नास्मीति सत्यता ॥ २१ ॥
शान्ताशेषविशेषाणामहन्तान्ताविचारणात् ।
केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति ॥ २२ ॥
भोगत्यागविचारात्मपौरुषान्नान्यदत्र हि ।
उपयुज्यत इत्यज्ञाः स्वात्मैवाशु प्रणम्यताम् ॥ २३ ॥
निर्वासनं मननमेवमुदाहरन्ति
मोक्षं विना भवति तन्न च जातु बोधात् ।
सज्ज्ञो जगद्भ्रम इतोह परः प्रबोधो
न प्रत्ययोऽत्र यदतः सुचिराय बन्धः ॥ २४ ॥

न तो अन्य कोई है और न मैं ही हूँ, इस तरह की अनहंभावना से आप निर्भय हो जायें । अज्ञदृष्टि यद्यपि इस अनहंभावना को भयावह समझकर ग्रहण नहीं कर सकती, तथापि परमार्थ दृष्टि उसे सत्य अमृतरूप समझ कर ऐसे ग्रहण कर सकती है, जैसे अज्ञदृष्टि भयङ्कर विष समझकर छोड़े गये अमृत को परमार्थदृष्टि ग्रहण करती है ॥ २० ॥

जड-देहादि से लेकर चित्तपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर विचार कर देखने से अहंरूप उपलब्ध नहीं होता है । अतः, जड देहादिरूप 'मैं नहीं हूँ' एकमात्र यही सत्य है ॥ २१ ॥

विचार करने से जिन पुरुषों के सम्पूर्ण विशेष शान्त हो चुके हैं उनके लिए अहन्ता का नाश करने वाली केवल मुक्तता उदित होती है । उनका वस्तुतः कुछ भी नष्ट नहीं होता है । अर्थात् सम्पूर्ण शान्ति की सीमारूपी मोक्षता अहङ्कार की शान्ति ही है । अहन्ता का नाश होनेपर आत्मा का अणुमात्र भी कुछ नाश वैसे ही नहीं होता जैसे जमे हुए घी के पिघल जाने पर घी का नाश नही होता, अहन्ता के नाश से सर्वनाश हो जायगा, यह विचार कर भय नहीं करना चाहिए ॥ २२ ॥

इस मुक्ति में, भोगों का त्याग, विचार इन्द्रिय तथा मन का निग्रहरूप पौरुष इन तीनों से अतिरिक्त और कोई दूसरा उपयोगी नहीं है, यह निश्चय कर हे अज्ञ ! हे मुमुक्षुओ ! आत्मभिन्न सबका त्याग कर शीघ्र अपनी आत्मा की ही शरण में जाओ ॥ २३ ॥

इस प्रकार अहन्ता के नाशक सम्पूर्ण द्वैतनाशपूर्वक ब्रह्मभाव से मन की स्थिति को श्रुतियाँ और विद्वान् लोग मोक्ष कहते हैं और वह मोक्ष बिना तत्त्वज्ञान के कभी भी नहीं होता है । सर्वोत्तम ज्ञान भी यही है कि यह

जगदहमसदित्यवेत्य सम्यग्-
जनधनदारशरीरनिर्व्यपेक्षः ।
भवति हि स च चेतनस्वरूपः
परिमितखं खलु नान्यथास्ति मुक्तिः ॥२५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

जगद्भ्रम परमार्थ कभी नहीं हो सकता है, यह मोक्षशास्त्र में प्रसिद्ध है। अर्थात् यह जगत् तो एकमात्र भ्रम है, सद्रूप आत्मा ही परमार्थ है। क्योंकि इस ज्ञान में 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति से कराया जा रहा भी विश्वास पुरुष के प्रबल रागादि दोष के कारण तथा जगत् में दृढ़ सत्यत्वभ्रम हो जाने के कारण स्थिर नहीं हो पाता है इसीलिए चिरकालतक जीव को संसार-बन्धन बार-बार होता है ॥ २४ ॥

इसलिए शास्त्रों में दृढ़ विश्वास कर 'जगत् और अहन्ता—ये दोनों असत् हैं, इसको श्रवण, मनन आदि के अभ्यास द्वारा भलीभाँति जानकर अपने धन, जन, स्त्री तथा शरीर आदि में आसक्तिशून्य हो परमार्थ तत्त्व को जानकर उपाधि से परिच्छिन्न चिदाकाश जीव और जगत् चिन्मात्रस्वरूप हो जाना चाहिए वही इस जीव की मुक्ति है, यही इसका उपाय है। इस ज्ञान से भिन्न किसी दूसरे ज्ञान से इसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती ॥ २५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में परमार्थोपन्यासयोग नामक कुसुमलता का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

३१

वसिष्ठ उवाच

सर्वात्मनि चिदाभासे तदेवाश्वनुभूयते ।
संवेद्यते यदेवान्तरसत्यं वस्त्ववस्तु वा ॥ १ ॥
तदेवाभ्यासतः पूर्वं बाह्यार्थानुभवात्मना ।
स्फुरतीव बहिष्ट्वेन स्वस्वप्नोऽत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥
चिद्रूपं सर्वमेतच्च चिदच्छा गगनादपि ।
चिच्चिनोति चिदेवाऽतो नैतत्किञ्चन कुत्रचित् ॥ ३ ॥
न नाशो नास्ति नानर्थो न जन्ममरणे न खम् ।
न शून्यता न नानास्ति सर्वं ब्रह्मैव नैव च ॥ ४ ॥
नाशे जगदहन्त्वादेर्न किञ्चिदपि नश्यति ।
असतः किल नाशोऽपि स्वप्नादेः किं नु नश्यति ॥ ५ ॥
मिथ्यावभासे सङ्कल्पनगरे कैव नष्टता ।
तथा जगदहन्त्वादौ नाशो नाऽसति विद्यते ॥ ६ ॥

३१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अपने भीतर जिस किसी असद्रूप वस्तु या अवस्तु की भावना की जाती है, तत्काल उसीका सर्वात्मक चिदाभास में अनुभव होने लग जाता है ॥ १ ॥

वही बाह्य पदार्थों के अनुभव रूप दृढ़ अभ्यास होने के पहले बाहर में जगत् के रूप में स्फुरित होता है, इस विषय में अपना स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥ २ ॥

यह सारा संसार चिति का ही कल्पित आकार है। वह चिति आकाश से भी स्वच्छ है। घृत जैसे अपनी आत्मा में ही काठिन्य को धारण करता है वैसे ही चिति जगत्-रूप आकार को धारण करती है, इसलिए यह सब चिद्रूप ही है। चिति से भिन्न और कुछ भी कहीं नहीं है ॥ ३ ॥

न तो नाश है, न अस्तितता है, न अनर्थ है, न जन्म है, न मरण है, न आकाश है, न शून्यता है और न अनेकता ही है, किन्तु अधिष्ठान रूप से सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

इस जगत् और अहन्ता आदि का नाश इष्ट होने पर भी वस्तुतः कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि असद्रूप स्वप्नादि का भी तो नाश इष्ट है, उससे क्या बिगड़ सकता है? क्योंकि नाश का स्वरूप ही क्या रहा है ॥५॥

मिथ्या अवभासित हो रहे असत् सङ्कल्प नगर का नाश ही मिथ्या है, ठीक, इसी तरह असद्रूप जगत् और अहङ्कार आदि का नाश ही क्या? असत् का वस्तुतः नाश ही नहीं है ॥ ६ ॥

कुतो जगदुपालम्भ इति चेत्तदवस्तुनि ।
न निर्णयः सम्भवति खपुष्पाणां किमुच्यते ॥ ७ ॥
निर्णय एष एवात्र यदशेषमभावयन् ।
यथास्थितं यदाचारं पाषाण इव तिष्ठसि ॥ ८ ॥
जगत्सङ्कल्पमात्रात्म तत्र तेऽर्थयुतं क्षणात् ।
शाम्यत्यशेषेणेत्येव निर्णयः सर्गविभ्रमे ॥ ९ ॥
सर्गोऽनर्गल एवाऽयं ब्रह्मात्मैकतया क्षयः ।
अन्यथा तु न सर्गोऽयमस्ति नास्ति च सन्ति वा ॥१०॥
येषां च विद्यते सर्गः स्वप्नपुंसामिवाऽऽसताम् ।
स सर्गः पुरुषास्ते च मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ११ ॥
असतामेव सद्भावमिव येषामुपेयुषाम् ।

यदि यह जगत् असद्रूप है, तो फिर अनर्थ रूप से इसका वर्णन कर इसकी निन्दा तथा हेय रूप से इसका निर्णय शास्त्रों में क्यों किया जाता है ? यह एक तरह से ठीक ही है, क्योंकि अवस्तुभूत पदार्थों के विषय में न तो किसी प्रकार की निन्दा की और न उनके फल विचार या किसी तरह के निर्णय की ही सम्भावना है ? बस, ठीक इसी तरह इसे भी जान लें ॥ ७ ॥

स्वाभाविक स्वरूप स्थिति की सिद्धि के लिए असद्रूप होते हुए भी सत् की तरह कल्पना कर निन्दा आदि के द्वारा शास्त्रों में वैराग्य एवं विवेक से लेकर तत्त्व साक्षात्कार पर्यन्त उपायों की कल्पना की गई है यही शास्त्रों में निर्णय है, इसलिए जो ये वस्तुएँ सत के समान प्रतीत हो रही हैं, इन्हें सद्रूप से भावना न कर इन्हें आप मिथ्या समझते हुए शास्त्र और सम्प्रदाय के अनुसार भूमिकाओं के क्रम का अभ्यास कर पाषाण के समान स्थित रहें ॥ ८ ॥

संसारिक पुरुषार्थाभासयुक्त आपका एकमात्र सङ्कल्प स्वरूप यह जगत् एक क्षण में ही पूर्णतः नष्ट हो जाय, बस इतना ही दस सृष्टि के विलास में सफल निर्णय हुआ है ॥ ९ ॥

जगत् में ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से उसका मूलोच्छेदपूर्वक अर्थात् पुनः उत्पन्न न होना, क्षय है । इसके विपरीत कोई दूसरे मार्ग से वैसा क्षय नहीं होता है क्योंकि प्रलय और सुषुप्ति आदि में जो क्षय होता है उसमें यह सृष्टि बीजरूप से रहती है, कार्यरूप से नहीं रहती है अथवा ऐन्दव आख्यान की रीति से प्रलय भी कार्य बने ही रहते हैं ॥ १० ॥

स्वप्नपुरुष के तुल्य जिन असत् पुरुषों की दृष्टि में

न वयं निर्णयं विद्मो वन्ध्यापुत्रगिरामिव ॥ १२ ॥
परिपूर्णार्णवप्रख्या काप्यपूर्वैव पूर्णता ।
तज्ज्ञानां द्रष्टृदृश्यांशदृष्टौ न हि पतन्ति ते ॥ १३ ॥
अचला इव निर्वाता दीपा इव समत्विष ।
साचारा वा निराचारास्तिष्ठन्ति स्वस्थमेव ते ॥ १४ ॥
आपूर्णैकार्णवप्रख्या काप्यन्तः पूर्णतोदिता ।
अन्तः शीतलता ज्ञप्तिर्ज्ञस्याऽपूर्वैव लक्ष्यते ॥ १५ ॥
वासनैवेह पुरुषः प्रेक्षिता सा न विद्यते ।
तां च न प्रेक्षते कश्चित्ततः संसार आगतः ॥ १६ ॥
अनालोकनसिद्धं यत्तदालोकान्न विद्यते ।
कृष्णाद्यनुपलम्भोऽत्र दृष्टान्तः स्पष्टचेष्टितः ॥ १७ ॥

यह सृष्टि है, यह सृष्टि तथा वे पुरुष मृगतृष्णा जल के तरङ्ग के समान हैं । आशय यह है कि प्रलय का सङ्कल्प करनेवाले की दृष्टि से उन सब की सत्ता न होने के कारण अपने सङ्कल्पित सम्पूर्ण जगत् के नाश से ही उसका प्रलय व्यवहार होता है ॥ ११ ॥

जो लोग असत्पदार्थों को ही सद्भाव के समान मानते हैं, वन्ध्या-पुत्र की वाणी की तरह हम लोग उनका कोई निर्णय नहीं जानते । जीव और जगद्रूप अनिर्वचनीय है अर्थात् जीव और जगद्रूपों के विषय में कोई निर्णय न हो सकने से अनिर्वचनीयता कही गई है ॥ १२ ॥

परिपूर्ण समुद्र के समान तत्त्वज्ञानियों में कोई अपूर्व ही अद्वितीय चिदानन्द की परिपूर्णता रहती है, क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांश की दृष्टि में गिरते नहीं अर्थात् तत्त्वज्ञानी पुरुष सदा ही अद्वितीय चिदानन्द से परिपूर्ण रहते हैं ॥ १३ ॥

वे ज्ञानी पर्वत के समान अकम्पनीय, वात रहित स्थान में स्थापित दीपक की तरह सदा सम प्रकाश युक्त तथा आचारशून्य होते हुए भी आचार युक्त स्वस्थ ही बने रहते हैं ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष के हृदय के भीतर उदित परिपूर्ण समुद्र के समान कोई अनिर्वचनीय ही पूर्णता रहती है तथा ज्ञान रूपा भीतरी शीतलता भी कोई अपूर्व ही लक्षित होती है ॥ १५ ॥

इस संसार में अज्ञानी पुरुष तो वासना रूप ही है । तत्त्वदृष्टि से विचार कर देखने पर तो वह वासना कुछ है ही नहीं । कोई भी विचार कर उसे देखता नहीं है और इसीसे यह संसार उपस्थित हुआ है ॥ १६ ॥

जिस पदार्थ की प्रतीति प्रकाशस्फूर्ति से सिद्ध है

भूतानि देहमांसादि तच्चाऽसद्विभ्रमो जडः ।
बुद्ध्यहङ्कारचेतांसि तन्मयान्येव नेतरत् ॥ १८ ॥
भूतादिमयतां त्यक्त्वा बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
अत्यन्तस्थितिरभ्येति यदि तन्मुक्ततोदिता ॥ १९ ॥
चिद्श्लिष्टा चेत्यनिष्ठत्वात्तादृश्येवाऽत्र काऽस्तिता ।
तस्मात्क्वेव कुतः कुत्र वासना किंस्वरूपिणी ॥ २० ॥
यस्य चैष भ्रमः सोऽसन्प्रेक्षयासन्न लक्ष्यते ।
मृगतृष्णाम्बुवत्तेन संसारः कस्य कः कुतः ॥ २१ ॥
तदेवं तर्हि तस्य स्यादिति चित्तोदयो हि यः ।
पुनः स एव संसारविभ्रमः सम्प्रवर्तते ॥ २२ ॥
तस्मात्सर्वमनाश्रित्य व्योमवत्समुपास्यताम् ।
अपुनःस्मरणं श्रेय इह विस्मरणं परम् ॥ २३ ॥
नेह द्रष्टा न भोक्ताऽस्ति नास्तिता न च नास्तिता ।
यथास्थितमिदं शान्तमेकं स्पन्दि सदाब्धिवत् ॥ २४ ॥
सर्वं दृश्यं जगद्ब्रह्म सदित्यवगते स्फुटम् ।
जलशोषादिवोदेति बिम्बबिम्बिक्षये शिवम् ॥ २५ ॥
शान्तता व्यवहारो वा रागद्वेषविवर्जितः ।
विश्रान्तस्य परे तत्त्वे दृश्यते समदर्शिनः ॥ २६ ॥

प्रकाश बिना जिस पदार्थ की प्रतीति होती है वह पदार्थ प्रकाश में विद्यमान नहीं रहता है। इस विषय में स्पष्ट दृष्टान्त तो प्रकाश की उपस्थिति में अन्धकार और उसमें अपना काम करने वाले चोर आदि की उपलब्धि का अभाव ही है ॥ १७ ॥

देह, मांस आदि स्थूल शरीर पञ्चीकृत भूतमय, असद्विभ्रम से युक्त एवं जड़रूप हैं तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर भी अपञ्चीकृत भूतों के विकारभूत ही हैं, अन्य नहीं ॥ १८ ॥

उस बुद्धियादिघटित सूक्ष्म शरीर में अहंभाव से प्रविष्ट चिदात्मा उससे स्थूल देह को भी अविद्या के कारण 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मानता है। विवेक द्वारा बुद्धि, अहङ्कार और चित्त की भूतादिरूपता को 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति में दिखाये गये उपाय से छोड़कर यदि उसकी स्वप्रकाश चिन्मात्र स्वभाव से स्थित हो जाय, तो फिर मुक्तता भी अविर्भूत हो ही जाता है यह समझ लेना चाहिए। अर्थात् उसीको मैंने आलोक कहा है ॥ १९ ॥

विषयों की ओर उन्मुख होने के कारण चिति लिङ्ग शरीररूपी उपाधि में मिलित उसकी वासना भी उस लिङ्ग शरीर के सदृश ही मिथ्या है, अतः मुक्तता-अवस्था में उसका बाध होने से यह वासना कैसी, कहाँ से, कहाँ पर और किस स्वरूप की हो सकती है? अर्थात् इस प्रकार आत्म-प्रकाश के प्रसृत होने पर वासना भी बाधित ही हो जाती है, इसलिए उस वासना वे भी संसार-बन्धन की प्रसक्ति नहीं हो सकती है ॥ २० ॥

अर्थात् तत्त्वज्ञान होने पर बद्ध जीव की ही जब उपलब्धि नहीं होती है तब भला किस के द्वारा किस को बन्धन की प्रसक्ति है?

जिस जीव को इस संसार का भ्रम है, यह असत् ही है, और जो असत् होता है, यह तत्त्वदृष्टि से देखने पर मृगतृष्णा जल की तरह लक्षित ही नहीं होता है, इससे किसको कहाँ से कौन-सा संसार है? ॥ २१ ॥

इससे इस तरह आत्मतत्त्व ज्ञान के लिए प्रवृत्त पुरुष के विषयों का स्मरण करने से पुनः चित्त का उदय ही फिर संसाररूप से प्रवृत्त हो जायगा अर्थात् आत्मप्रकाश के मन्द पड़ जाने पर तो फिर चित्त का उदय हो जाने से संसार हो ही सकता है, इसलिए आत्मप्रकाश को तबतक दृढ़ बनाये रखना चाहिए, जबतक कि संसार की सर्वथा विस्मृति न हो जाय उसकी पुनःस्मृति का अवसर न आने पाये ॥ २२ ॥

इसलिए सबको छोड़कर आकाश के समान निर्मल आत्मा की ही एकमात्र आप उपासना करें। विषयों का पुनः स्मरण न होना ही श्रेय है, अतः भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा एकमात्र सांसारिक विषयों की विस्मृति को ही इस व्यावहारिक जगत् में सिद्ध करना मुमुक्षु पुरुषों का परम कर्तव्य है ॥ २३ ॥

न द्रष्टा है, न भोक्ता है, न अस्तिता है और न नास्तिता है, किन्तु सदा समुद्र के समान परिपूर्ण, प्रारब्ध प्राप्त बाधित व्यवहार के निमित्तभूत, एक, शान्तस्वरूप यथास्थित यह सब ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

यह सारा दृश्य जगत् सद्रूप ब्रह्म ही है, ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर बिम्ब और बिम्बी चिदाभास और उसकी उपाधि दोनों के नाश से, जल सूखने से बिम्ब-रूपता की तरह एकमात्र शिवस्वरूपता ही उदित होती है ॥ २५ ॥

परम पद में विश्रान्त समदर्शी तत्त्वज्ञानी की समाधि या राग-द्वेष से शून्य व्यवहार दोनों ही प्रतीत होते हैं ॥ २६ ॥

अथवा शान्ततैवाऽस्य निर्वाणस्याऽवशिष्यते ।
निर्वासनः किल मुनिः कथं व्यवहरत्यसौ ॥ २७ ॥

यावत्त्वस्य न निर्वाणं परिपोषमुपागतम् ।
तावद्व्यवहरत्यस्तरागद्वेषभयोदयः ॥ २८ ॥

वीतरागभयक्रोधो निर्वाणः शान्तमानसः ।
शिलेवाप्यशिलीभूतो मुनिस्तिष्ठति नित्यशः ॥ २९ ॥

कोशेऽस्ति पद्मबीजस्य यथा सर्वाब्जिनी तथा ।
अनन्या स्वप्नविभ्रान्तिरात्मन्यस्ति न बाह्यता ॥ ३० ॥

बाह्यताभावनाद्बाह्यमात्मैवाऽऽत्मत्वभावनात् ।
भवतीदं परे तत्त्वे भावनं तत्तदेव हि ॥ ३१ ॥

अथवा निर्वाणरूप सप्तम भूमिका में प्राप्त इस ज्ञानी की शान्तरूपता ही अवशिष्ट रहती है, क्योंकि वासना-रहित मुनि कैसे व्यवहार कर सकता है ॥ २७ ॥

उस ज्ञानी की सप्तम भूमिका में विश्रान्ति परिपोषता की अर्थात् दृढ़ता की प्राप्ति होने तक राग-द्वेष और भय के उदय से रहित हो वह व्यवहार करता है ॥ २८ ॥

सप्तम भूमिका में प्राप्त ज्ञानी राग-द्वेष, भय और क्रोध से शून्य, निर्वाणरूप, शान्तमन पर पत्थररूप न बना हुआ भी पत्थर की तरह नित्य निश्चल स्थित रहता है ॥२९॥

आत्मा में ही स्वप्नभ्रान्तिरूप यह जगत् अनन्य होकर वैसे ही स्थित है, आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं जैसे कमल के बीजकोश के अन्दर ही अभिन्नरूप से सम्पूर्ण कमलिनियाँ स्थित हैं अर्थात् इस तरह ब्रह्म में स्वाभाविक भावना के अनुसार तात्त्विकरूप भी है, इसलिए अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य अनर्थ या पुरुषार्थ दोनों प्राप्त कर सकता है, उसके लिए दोनों ही सुलभ हैं ॥ ३० ॥

आत्मा ही बाह्यरूपता की भावना से बाह्यरूप हो जाता है तथा आत्मत्व की भावना करते रहने से आत्म रूप ही रहता है, इसलिए परब्रह्मतत्त्व में तत्-तत् भावना ही बाह्यत्व और आभ्यन्तरत्व है अर्थात् 'बाहर है' यह प्रतीति आत्मा में बाह्यरूपता की भावना से ही है, न कि इसका दूसरा कोई आधार होने से होती है ॥ ३१ ॥

जो अन्तःकरण के भीतर स्वप्न की विश्रान्ति है वही यह बाह्य-जगद्रूप से उदित हुई है। दो पात्रों में स्थित दूध के समान स्वप्न तथा जाग्रदवस्था में तनिक भी भेद नहीं है अर्थात् स्वप्न और जाग्रदवस्था में प्रतीति से कोई भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

एवं जाग्रदवस्था के पदार्थों में स्थिरता तथा स्वाप्निक पदार्थों में जो अस्थिरता प्रतीत होती है वह भी एकमात्र विस्तृत भ्रान्ति ही है तथा जाग्रत्कालीन शरीर में आधारता और स्वप्न में आधेयता प्रतीति भी जल और तरङ्ग के तुल्य ही है ॥ ३३ ॥

याऽन्तः स्वप्नादिविश्रान्तिः सैवेयं बाह्यतोदिता ।
मनागप्यन्यता नात्र द्विभाण्डपयसोरिव ॥ ३२ ॥

स्थैर्यास्थैर्ये तथैवात्र भ्रान्तिमात्रमये तते ।
आधाराधेयते ते द्वे यथाजलतरङ्गते ॥ ३३ ॥

स्वप्नादावात्मनोऽन्यत्वज्ञानादन्यत्ववेदनम् ।
अनन्यतावबोधे तु तदनन्यन्न चोदयि ॥ ३४ ॥

कलनारहितं शान्तं यद्रूपं परमात्मनः ।
भवत्यसौ तत्तद्भावादतद्भावान्न तद्भवेत् ॥ ३५ ॥

स्वप्नादिज्ञानसंशान्तौ यद्रूपं शुद्धमैश्वरम् ।
न तदस्ति न तन्नास्ति न वाग्गोचरमेव तत् ॥ ३६ ॥

जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी जबतक शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता तभीतक पदार्थों में वैसे ही अन्यत्व भासमान होता है जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में आत्मा के अन्यत्व ज्ञान से अन्यरूपता का भान होता है। आत्मैक्यता का अवबोध होने पर तो उससे अन्य कुछ भी नहीं भासित होता है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो जानेपर तो वे सबके सब पृथक् आविर्भाव वाले ही नहीं होते—एकरूप ही अवभासित होते हैं। जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी वैसे ही समझना चाहिए जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में जबतक एकमात्र आत्मरूपता का अनुसन्धान नहीं होता, तभीतक उनका भान होता है। आत्ममात्रस्वरूपता का अनुसन्धान होने पर तो जागरणरूप बाध से आत्मैक्यता ही सिद्ध होती है ॥ ३४ ॥

कल्पनाओं से रहित, शान्त परमात्मा का रूप तत्-तत् पदार्थों की भावना करने से तत्-तत् रूपों में परिणत हो जाता है तथा भावना न करने से तत्-तत् रूपों में परिणत नहीं होता है अर्थात् इसीलिए वास्तविक भी ब्रह्मभाव अपनी भावना के अधीन ही है ॥ ३५ ॥

स्वप्नादि ज्ञान के शान्त होनेपर विशुद्ध ईश्वर का रूप अवशिष्ट रहता है वह 'अस्तिता' के निरूपक काल और देश आदि के आधार का अभाव रहने से 'वह है' यह नहीं कहा जा सकता तथा स्वरूप का बाध न रहने से 'वह नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए वह वाणी का विषय कदापि नहीं है ॥ ३६ ॥

आत्यन्तिकभ्रान्तिलये युक्त एवाऽवगच्छति ।
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ ३७ ॥
शान्तं निरस्तभयमानविषादलोभ-
मोहात्मदेहमननेन्द्रियचित्तजाड्यम् ।
त्यक्त्वाऽहमक्षयमपास्तसमस्तभेदं
निर्वाणमेकमजमासितुमेव युक्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नाम एकत्रिंशत्तमः सर्गः ॥ ३१ ॥

भ्रम का आत्यन्तिक लय हो जानेपर समाधि में स्थित योगी लोग ही अपने एकमात्र अनुभव से उसका स्वरूप जान पाते हैं। कान्तासम्भोग सुख की तरह दूसरे के प्रति वह उपदेश का विषय नहीं है। वह विद्वानों के अनुभव का ही विषय है। उसमें श्रोता की बुद्धि को प्रवृत्त करना ही उपदेश का फल है ॥ ३७ ॥

अहङ्कार छोड़ कर भय, मान, विषाद, लोभ, आत्मा, देह; मन, इन्द्रिय, चित्त, जड़ता से शून्य, द समस्त भेदों से रहित, अविनाशी, निर्वाण स्वरूप एव ब्रह्म होकर सर्वदा ही समाधि में स्थित रहना ही युक्त व्यवहार विषयों में पड़ना उचित नहीं है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में निर्वाणयुक्ति उपदेश नामक कुसुमलता का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

३२

वसिष्ठ उवाच

यदा चितिः प्रसरति तदाऽहन्ता जगद्भ्रमः ।
असदेवाभ्युदेतीव स्पन्दादपि च वायुता ॥ १ ॥
उदितोऽपि न खेदाय ब्रह्मरूपत्ववेदनात् ।
परमाय त्वनर्थाय जगच्छब्दार्थभावनात् ॥ २ ॥
रूपानुभवमादत्ते चक्षुःप्रसरणाद्यथा ।
चितिःप्रसरणात्तद्वज्जगद्विभ्रममास्थिता ॥ ३ ॥
याऽसौ प्रसरति व्यर्थं चेत्याभावान्न सा सती ।
असत्कथं प्रसरति वन्ध्यापुत्रः क्व नृत्यति ॥ ४ ॥
अयं त्वनुभवादेव मुधैवानुभवन् स्थितः ।
असदेवाननुभवन्स्वयमर्भकयक्षवत् ॥ ५ ॥
अहम्भावोऽपि दुःखार्थमहमित्येव वेदनात् ।
अवेदनान्नाहमतः स्वायत्ते बन्धमुक्तते ॥ ६ ॥

३२

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—जब यह चिति शक्ति स्पन्दित होती है, अर्थात् अविद्या से विषयों की ओर झुकने के लिए उसमें हलचल पैदा होती है, तब अहम्भाव रूप जगत् का भ्रम उत्पन्न के समान हो जाता है, जो कि असद्रूप ही है। स्पन्दन से भी तो वायु रूपता उत्पन्न की तरह हो जाती है, यद्यपि वह कुछ भिन्न नहीं है ॥ १ ॥

भले ही वह जगद् भ्रम उत्पन्न की तरह हो जाय, परन्तु उसमें ब्रह्मरूपता का ज्ञान यदि कर लिया जाय, तो किसी तरह से भी वह खेद का कारण नहीं होगा। यदि उसमें जगद्रूपता का ही ज्ञान कर लिया जाय, तो अवश्य ही वह महान् खेद का कारण होगा ॥ २ ॥

चिति चहल-पहल से ही जगत् का वैसे ही भ्रम प्राप्त करती है जैसे चक्षु अपनी चहल-पहल से रूप का अनुभव प्राप्त करती हैं ॥ ३ ॥

भद्र, जो यह चिति शक्ति है, वह तो स्वभावतः ही सत्य रूप है, अतः वह विषयों की ओर जो झुकती है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि विषयों की सत्य रूपता तो है ही नहीं। ऐसी स्थिति में असत् विषयों की ओर वह झुकती है, यह कैसे हो सकता है, क्या कहीं वन्ध्या का पुत्र नृत्य करता है ? अर्थात् विषयों की तीनों काल में सत्ता न होने के कारण अज्ञान से ही चिति की विषयों की ओर प्रवृत्ति है, वह जब ज्ञान से बाधित हो जाती है, तब विषय खेद के कारण हो ही नहीं सकते ॥ ४ ॥

यह चिति का बाह्य पदार्थों की ओर प्रसरण अनुभव से ही सिद्ध है, विद्या से जब उसका बाध हो जाता है, तब असत्य अर्थ का पुरुष को अनुभव नहीं होता है, उस समय यह अनुभव करता है कि इतने काल तक मैं व्यर्थ ही, बालक जैसे असत्य यक्ष का अनुभव कर स्थित रहता है वैसे ही, असत् अर्थ का अनुभव कर स्थित रहा ॥ ५ ॥

जब भीतर अहम्भाव का ज्ञान होने लग जाता है, तब उससे अहंभाव भी दुःख का ही कारण होता है और जब अहम्भाव का परिज्ञान नहीं होता है तब वह दुःख का कारण नहीं होता, अतः बन्धन और मुक्ति अपने ही अधीन है ॥ ६ ॥

तद्ध्यानं समाधिर्वा यदवेदनमासितम् ।
अजडानां जडमिव समं शान्तमनामयम् ॥ ७ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसन्दर्भविभ्रमैः ।
मा विषीदत दुःखाय विबुधा अबुधा इव ॥ ८ ॥
असदाश्रयते दुःखं स्वप्नवद्घनवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परचितानिव ॥ ९ ॥
दुःखं सदेव नाश्नाति सुप्तवत्तनुवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परहितानिव ॥ १० ॥
अत्यन्ततनुतामेत्य वासनैवेति मुक्तताम् ।
देशकालक्रियायोगात्पदार्थे भावनामिव ॥ ११ ॥

वही ध्यान और समाधि है, जो कि विद्या से मूलभूत जड़ता के हट जाने के बाद चिदात्मा के साथ एकरस हो जाने के कारण अजड़ मन, बुद्धि आदि पदार्थों की पत्थर के सदृश निश्चल वेद्य-वेदन निर्मुक्त स्थिति हैं। सम, शान्त और निर्विकार स्थिति ही मुक्ति है ॥७॥

हे पण्डितमानी वादिगण ! आप मूर्खों के सदृश द्वैत, अद्वैत आदि अनेक तरह के सङ्कल्पों से तरह-तरह के कलह रूप वचनों का विचार कर दुःख के लिए व्यर्थ के कण्ठशोषण रूप विषाद को मत प्राप्त कीजिये। परम पुरुषार्थ के हेतुभूत इसी सिद्धान्त का आप अवलम्बन करें अर्थात् यही सिद्धान्त एकमात्र शान्ति का कारण है, दूसरी-दूसरी कल्पनाओं में तो केवल वादियों का कलहमात्र होने के कारण मिथ्या कण्ठशोषण ही है ॥ ८॥

जैसे सङ्कल्प से रचित असत् रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का यानी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक पदार्थों का अनुभव करता है वैसे ही दृढ़ वासना से युक्त पुरुष स्वप्न के सदृश असत् दुःख का अनुभव करता है, अर्थात् जिस पुरुष की वृत्ति बहिर्मुख है, वह पुरुष उस तरह असत् भी दुःख का निवारण नहीं कर सकता, जिस तरह असत् रूपादि के अनुभव का निवारण नहीं कर सकता अर्थात् उस पुरुष के लिए दुःख दुर्निवार ही है, परन्तु जिस पुरुष की अन्तर्मुख वृत्ति है, वह पुरुष तो प्रारब्ध प्राप्त दुःख का अनुभव करते हुए भी अपने आत्मानन्द में ही मस्त रहता है, अतः आत्मानन्द के अनुभव से आच्छादित हुआ दुःख भोगा जा रहा भी उसके लिए अमुक्त-सा ही रहता है ॥ ९ ॥

जिस पुरुष की वासना हट गई है, वह पुरुष तो नींद ले रहे पुरुष के सदृश प्रारब्ध प्राप्त दुःख का भी अनुभव वैसे ही नहीं करता, जैसे सङ्कल्प शून्य रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का अनुभव नहीं करता है ॥ १० ॥

अत्यन्त ह्रास को प्राप्त वासना ही देश, काल और क्रिया के सम्बन्ध से मुक्ति को वैसे ही प्राप्त होती है, जैसे पदार्थ में भावना पदार्थ रूपता को प्राप्त होती है अर्थात् वासनाओं की वृद्धि से जैसे संसार का अनुभव होता है, वैसे ही वासनाओं का ह्रास ही देश-काल के क्रम से मुक्ति का अनुभव सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

अत्यन्ततनुतां याता वासनैवेति मुक्तताम् ।
पराणुपरिणामेन खतां खेऽभ्रादिका यथा ॥ १२ ॥
अहंभावनया बोधे वासना घनतानवा ।
विपश्चित्सङ्गमाभ्यासात्पाण्डित्यमिव मूढता ॥ १३ ॥
नाहमस्तीह मद्युक्त्या निश्चयोऽन्तः शमात्मकः ।
जीवतोऽजीवतश्चास्ति रूढबोध इति स्मृतः ॥ १४ ॥
वायौ द्रव्यमिवात्रेदं जगदादि च भासते ।
कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ १५ ॥
नाहमित्येव निर्वाणं किमेतावति मूढता ।
सत्सङ्गमविचाराभ्यामेतदाश्ववगम्यते ॥ १६ ॥

अत्यन्त क्षीणता को प्राप्त वासना ही वैसे ही मुक्तिरूप बन जाती है, जैसे आकाश में मेघ, कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म बन कर आकाश रूप बन जाते हैं ॥१२॥

'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना से दिन पर दिन अत्यन्त क्षीणता को प्राप्त हुई वासना ही मुक्ति के रूप में वैसे ही परिणत हो जाती है जैसे पण्डितों के संसर्ग से बढ़े हुए अभ्यास से मूढ़ता क्षीण होकर विद्वत्ता के रूप में परिणत हो जाती है ॥ १३ ॥

मेरी युक्ति का अवलम्बन कर 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ' इस प्रकार की दृढ़ अभ्यस्त ब्रह्म भावना का अवलम्बन कर इस संसार में जीवित या परलोक गत योगी के अन्दर 'अहं शब्दार्थ जीव नहीं है' यह जो शमात्मक निश्चय उत्पन्न होता है, वही रूढ़बोध कहा गया है ॥१४॥

वायु में कल्पित द्रव्य और क्रिया की तरह इस आत्मा में यह सब जगत् जीव आदि कल्पित ही है। वह सब 'मैं कौन हूँ' 'यह कैसे उत्पन्न हुआ' इस विचार से नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अहंकार आदि की सत्ता का त्रैकालिक अभाव ही मोक्ष है, अतः इतने को लेकर मूढ़ता का अवलम्बन क्यों किया जाय ? इसका परिज्ञान सत्संग और अभ्यास से तत्काल ही किया जा सकता है ॥ १६ ॥

क्षीयते तत्त्ववित्सङ्गादहमित्येव बन्धनम् ।
आलोकेनेव तिमिरं दिवसेनेव यामिनी ॥ १७ ॥

कोऽहं कथमिदं दृश्यं को जीवः किं च जीवनम् ।
इति तत्त्वज्ञसंयोगाद्यावज्जीवं विचारयेत् ॥ १८ ॥

जीवितं भुवनं भाति ततोऽहमिति नश्यति ।
तत्त्वमेकेन तज्ज्ञार्कसेवनात्स निषेव्यताम् ॥ १९ ॥

यो यो बोधातिशयवांस्तं तं पृथगुपास्व भो ।
सङ्गमे कथयोदेति तेषां वादपिशाचिका ॥ २० ॥

वादयक्षेऽप्यभ्युदिते बालस्येव विपश्चितः ।
युक्तियुक्तमलं मुख्यमुदेत्यहमिति भ्रमः ॥ २१ ॥

अतः प्रत्येकमेकान्ते प्राज्ञः सेवेत पण्डितम् ।
एकीकृत्य तदुक्तांस्तानर्थान् बुद्ध्या विचारयेत् ॥ २२ ॥

विचारयेत्तदुक्त्यर्थं बुद्ध्या बुद्धिविवृद्धये ।
सर्वसङ्कल्पमुक्तं यत्तत्सत्तन्मयतां व्रजेत् ॥ २३ ॥

विपश्चित्सङ्गमैर्बुद्धिं नीत्वा परमतीक्ष्णताम् ।
अज्ञानलतिका सैका कणशः क्रियतामलम् ॥ २४ ॥

एषोऽर्थः सम्भवत्येव तेनेदं कथयाम्यहम् ।
स्वानुभूतं वयं बाला नासमञ्जसवादिनः ॥ २५ ॥

व्योम्नोऽम्बुवाहादिविजृम्भयेव
तरङ्गभङ्ग्येव महाजलस्य ।
न युज्यते नापि च नश्यतीह
नाशोदयौ निर्मननस्य किञ्चित् ॥ २६ ॥

जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, जैसे दिवस से रात्रि नष्ट हो जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी के सत्सङ्ग से अहम्भाव रूपी बन्धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

मैं कौन हूँ, यह प्रपञ्च किस तरह आया, जीव कौन है, प्राण-धारण रूप जीवन का क्या स्वरूप है ? इन सबका तत्त्वज्ञ के सङ्ग से जीवनपर्यन्त विचार करना चाहिए ॥ १८ ॥

जो तत्त्वज्ञ रूपी सूर्य है उसका सेवन=सङ्ग करने से यह सारा ही जगत् ज्ञान से प्रकाशमान हो जाता है, सब पदार्थों का स्वरूप ढँक देने वाला अहम्भाव रूप अन्धकार नष्ट हो जाता है, वस्तु का असली स्वरूप एक ही क्षण में भासमान होने लग जाता है, अतः तत्त्वज्ञ रूपी सूर्य की आप सेवा सङ्गति करें ॥१९॥

जो अपने से अधिक ज्ञानवान् हों सबकी अलग-अलग सङ्गति कीजिये। उनका सङ्गम होने पर परस्पर विरुद्ध युक्ति के कहने पर उससे वाद रूपी पिशाचिनी उत्पन्न होगी ॥ २० ॥

वाद रूपी यक्ष के उत्पन्न होने पर बालक के सदृश ज्ञानी श्रोता को भी तर्क युक्त यानी तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित हो रहा आत्मा का स्वरूप ही मुख्य है और वही मुख्य मेरे लिए पर्याप्त है, ऐसा भ्रम हो जाता है, अन्धगोलाङ्गूल न्याय से उसका अवलम्बन करना अनर्थ का ही कारण होगा ॥ २१ ॥

इसलिए प्रत्येक पण्डित के पास जाकर एकान्त में बुद्धिमान् पुरुष को उसकी सेवा करनी चाहिए, प्रश्न करना चाहिए और फिर उनके द्वारा कथित अर्थों को मिला कर अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिए ॥२२॥

उन पण्डितों की वचनों के अर्थों की अपनी बुद्धि द्वारा श्रुति, युक्ति, स्वानुभव एवं अन्य विद्वानों के अनुभवों को मिला कर बुद्धि की शुद्धि के लिए खूब बार-बार परीक्षा करनी चाहिए। अनन्तर समस्त सङ्कल्पों से निर्मुक्त वस्तु प्राप्त हो जाने पर उसी का अवलम्बन कर तन्मय बन जाना चाहिए ॥ २३ ॥

पण्डितों के सम्बन्ध से बुद्धि को अत्यन्त तीक्ष्ण बना कर केवल उस अज्ञान रूपी लता को खूब छोटे-छोटे कणों में बना दीजिए अर्थात् इसी से तत्त्वज्ञान का उदय और उससे अज्ञान का उच्छेद हो जाता है ॥ २४ ॥

मैंने जो अर्थ कहा है, वह सब सम्भव ही है, असम्भव नहीं, इसीलिए मैंने इस अपने अनुभूत अर्थ का आप से वर्णन किया है। यह आप ध्यान रखिए कि हम लोग असम्बद्ध कहने वाले बालक नहीं हैं अर्थात् मेरे कहे गये वचनों में आप कभी असम्भव की शङ्का न करें ॥२५॥

जैसे आकाश मे मेघ या कुहरे आदि का ढेर हो जाय अथवा जल में अनेक तरह के तरङ्गों का आविर्भाव हो जाय,. तो भी उनसे आकाश या जल में किसी इष्टि की क्षति या अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती है ठीक इसी तरह सम्पूर्ण सङ्कल्पों से निर्मुक्त हुए ज्ञानी पुरुष को, सभी तरह के व्यवहारों से, न तो किसी इष्ट की क्षति होती है और न किसी अनिष्ट की प्राप्ति ही होती है। अर्थात् समस्त कल्पनाओं से परे ही असली तत्त्व है, असली वस्तु की तन्मयता बन जानेपर सारे जगत् का व्यवहार करें, उससे ज्ञानी के लिए किसी इष्ट वस्तु को प्राप्ति नहीं होती है ॥ २६ ॥

इदं हि सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुवन्
निरामये ब्रह्मणि शान्त आतते ।
विचारिते नाहमितीह विद्यते
कुतः क्व कस्मान्मननादिविभ्रमः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोधनोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

समस्त विकारों से शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप आत्मा का जब विचार कर लिया अर्थात् तत्त्वज्ञान हो गया, तब यह सारा जगत् और अहम्भाव मृगतृष्णा जल के सदृश पृथक् अस्तित्व रख ही नहीं सकता, ऐसी स्थिति में इस तत्त्वज्ञ पुरुष में मनन आदि भ्रान्ति कहाँ से आ सकती है या कहीं पर क्यों रह सकती है अर्थात् आकाश एवं समुद्र स्थल द्वैतपन रहता है, इसलिए उनमें इष्ट क्षति एवं अनष्टि प्राप्ति की किसी तरह शङ्का हो भी सकता है, परन्तु विद्वान् पुरुष तो कूटस्थ अद्वय परमात्मरूप हो गया है, अतः उसमें इन भ्रमात्मक पदार्थों से इष्ट क्षति एवं अनिष्ट प्राप्ति की शङ्का ही नहीं हो सकती ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में सत्यावबोधन उपदेश नामक कुसुमलता का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

३३

वसिष्ठ उवाच

स्वपौरुषेण स्वधिया सत्सङ्गमविकासया ।
यदि मा नीयते ज्ञत्वं तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १ ॥
स्वं कल्पितं कल्पितं च प्रतिकल्पनया स्वया ।
तदेवान्यत्वमादत्ते विषत्वममृतं यथा ॥ २ ॥
कल्पना चाकल्पनान्ता मुक्तता यदकल्पनम् ।
एतच्च भोगसन्त्यागपूर्वं सिध्यति नान्यथा ॥ ३ ॥
वचसा मनसा चान्तः शब्दार्थावविभावयन् ।
य आस्ते वर्द्धते तस्य कल्पनोपशमः शनैः ॥ ४ ॥
वर्जयित्वाऽहमित्येव नाविद्यास्तीतरात्मिका ।
शान्ते त्वभावनादस्मिन्नान्यो मोक्षोऽस्ति कश्चन ॥ ५ ॥
अहंभावमथादेहं किञ्चिच्छ्रयसि नश्यसि ।
जगदादिरुचिस्तस्मिंस्त्यक्ते शाम्यसि सिध्यसि ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—सत्समागम से विकसित स्वबुद्धिरूप अपना ही पुरुषार्थ यदि पुरुष को तत्त्वज्ञान प्राप्त करा दे, तो फिर भिन्नतारूप कोई संसार का कारण रहता ही नहीं है ॥ १ ॥

जैसे कि स्वभावतः मरण हेतु विष रसायन शास्त्रों में दर्शित उपायरूप प्रतिकल्पना से विषपने को छोड़कर अमृतरूप बन जाता है। वैसे ही ये जितने कल्पना से बने हुए तथा कल्पना के कारण अविद्या, वासना आदि अशास्त्रीय पदार्थ हैं। वे सब अपनी शास्त्रीय प्रतिकल्पना से बन्धन हेतुता छोड़कर मोक्षोपयोगी बन जाते हैं ॥ २ ॥

कबतक कल्पना करनी चाहिए, इसपर 'समस्त कल्पनाओं की निवृत्ति जबतक न हो, तबतक' यह कहते हैं—'कल्पना इत्यादि से।

आत्मा की मुक्तता कल्पनां से शून्य होने से सब कल्पनाओं की निवृत्ति जबतक न हो जाय, तबतक प्रति-कल्पना करनी चाहिए। यह कल्पनाशून्य मुक्तता पहले तो भोगत्याग से अर्थात् वैराग्य और संन्यास से ही सिद्ध होती है, किसी अन्य उपाय से नहीं। इससे वैराग्यरूप और संन्यासरूप प्राथमिक प्रतिकल्पना अत्यन्त आवश्यक है ॥३॥

अनन्तर वाणी और मन से शब्द और शब्दार्थों की भीतर भावना न करते हुए स्थित रहने पर उसकी धीरे-धीरे कल्पनाशान्ति बढ़ती जाती है ॥ ४ ॥

एकमात्र अहम्भाव को छोड़कर दूसरी कोई अविद्या नहीं है इसलिए समस्त भावनाओं को दूर कर देने वाले तत्त्व साक्षात्कार से इस अहम्भाव के बाधित होनेपर दूसरा कोई मोक्ष नामक पदार्थ प्राप्त करने योग्य नहीं है, अहम्भाव का नाश ही मोक्ष है ॥ ५ ॥

तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने के बाद भी यदि आप पहले के जगत्-जीव रूप संसार में रुचि रख कर स्थूल देह के विनाश काल तक कुछ थोड़े-से अहम्भाव का आश्रयण करेंगे, तो अपरिच्छिन्न आत्मा के विस्मरण से संसार ताप से अवश्य सन्तप्त होते रहेंगे और अहम्भव का त्याग कर देंगे, तो समस्त दुःखों से छुटकारा पा जायँगे तथा नित्यनिरतिशयानन्द स्वभावतः सिद्ध हो जायँगे ॥६॥

अचेतनादिदं सर्वं सदेवासदिव स्थितम् ।
शान्तं यस्योपलस्येव नमस्तस्मै महात्मने ॥ ७ ॥
अचेतनादिदं सर्वमुपलस्येव शाम्यति ।
शून्याख्यातः परालीनचित्तस्य चित्त्वभावनात् ॥ ८ ॥
इदमस्त्वथवा मास्तु चेतितं दुःखवृद्धये ।
अचेतितं सुखायान्तरचेतनमचेतनात् ॥ ९ ॥
द्वौ व्याधी देहिनो घोरावयं लोकस्तथा परः ।
याभ्यां घोराणि दुःखानि भुङ्क्ते सर्वोहि पीडितः ॥१०॥
इह लोके यतन्तेऽज्ञा व्याधौ भोगैर्दुरौषधैः ।
आजीवितं यथाशक्ति चिकित्सा नापरामये ॥ ११ ॥
परलोकमहाव्याधौ प्रयतन्ते चिकित्सनम् ।
शमसत्सङ्गबोधाख्यैरमृतैः पुरुषोत्तमाः ॥ १२ ॥

पत्थर के समान अचल को बहिर्मुख वृत्ति के अज्ञान से यह सब जगत् असद्रूप होता हुआ भी जिससे शान्त सत् की तरह स्थित है, उस महात्मा को प्रणाम है ॥ ७ ॥

परब्रह्म में अशेष से विलीन चित्त का पत्थर के समान बाह्य वस्तु का परिज्ञान न होने से भीतर चिति रूपता की भावना होने से शून्यरूप संज्ञा को प्राप्त कर यह सब दृश्य प्रपञ्च शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

यह दृश्य रहे या न रहे, परन्तु प्रकाशित दृश्य दर्शन ही दुःख की वृद्धि का कारण है। विषय का अदर्शन सुख का कारण है। पर विषयों का अदर्शन चित्त क्रिया के निरोध से जब तक ब्राह्याकारता की सिद्धि न हो जाय, तब तक की प्रति कल्पना से होता है। अर्थात् सुख और दुःख के लिए विषयों की सत्ता या असत्ता उपयोगी नहीं है, इसलिए विषय प्रकाश के लिए प्रवृत्ति करने वाले चित्त का ही प्रथम निरोध करना चाहिए ॥ ९ ॥

शरीरधारियों के लिए दो महाभयङ्कर व्याधियाँ हैं— 'एक तो यह लोक और दूसरा परलोक'। क्योंकि इन्हीं दोषों के कारण पीड़ित मनुष्य आध्यात्मिक आदि भावों से अनेक दुःख भोगता है ॥ १० ॥

इस लोक में अज्ञानी पुरुष क्षुधा, तृषा आदि व्याधियों के लिए अन्न, पान आदि भोगरूप निकृष्ट औषधियों का अवलम्बन कर जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, परन्तु परलोक में नरक आदि व्याधियों के लिए भोगों से कुछ भी चिकित्सा नहीं होती ॥ ११ ॥

उत्तम पुरुष परलोक की महाव्याधि में चिकित्सा के लिए शान्ति, सत्सङ्गति तथा आत्मविचाररूप अमृततुल्य उपायों से प्रयत्न करते हैं ॥ १२ ॥

परलोकचिकित्सायां सावधाना भवन्ति ये ।
मोक्षमार्गमहेच्छायां शमशक्त्या जयन्ति ते ॥ १३ ॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ १४ ॥
इहलोकचिकित्साभिर्जीवितं यातु मा क्षयम् ।
आत्मज्ञानौषधैरज्ञाः परलोकश्चिकित्स्यताम् ॥ १५ ॥
आयुर्वायुचलत्पत्रलवाम्बुकणभङ्गुरम् ।
परलोकमहाव्याधिर्यत्नेनाऽऽशु चिकित्स्यताम् ॥ १६ ॥
परलोकमहाव्याधौ यत्नेनाऽऽशु चिकित्सिते ।
इहलोकमयो व्याधिः स्वयमाशूपशाम्यति ॥ १७ ॥
संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
परमाणूदरेऽप्यस्ति तच्छैलशतविस्तरम् ॥ १८ ॥

परलोक की चिकित्सा के लिए सावधान अर्थात् अपथ्य भोगों के त्याग और सत्समागम आदि औषध के सेवन में सावधान पुरुष मोक्षमार्ग की महती इच्छा में अपने शमगुण की बड़ी शक्ति के कारण सर्वदा विजयी होते हैं ॥ १३ ॥

नरकरूप व्याधि की चिकित्सा जो पुरुष यहाँ नहीं करता है, वह व्याधिग्रस्त पुरुष औषधरहित नरक आदि प्रदेश में जाकर क्या चिकित्सा करेगा ? ॥ १४ ॥

हे अज्ञानियो ! तुम लोग इस लोक की चिकित्सा में निरत हो अपना जीवन क्षीण मत करो, वरन् आत्मज्ञान के औषधों से परलोक की चिकित्सा करो ॥ १५ ॥

वायु से कम्पित पत्ते के छोटे टुकड़े और जलकण के समान आयु क्षणभङ्गुर (एक क्षण में नष्ट हो जाने वाली) है। इसलिए बड़े यत्न से परलोकरूप महाव्याधि की शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करने में तत्पर हो जाओ ॥१६॥

परलोकरूप व्याधि की यत्नपूर्वक तत्काल ही चिकित्सा करने पर इस लोक की व्याधि स्वयं अपने-आप शान्त होने लग जाती है ॥ १७ ॥

[परलोक की व्याधि के लिए यद्यपि तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ आदि चिकित्साएँ बतलाई गई हैं, तथापि उनसे युक्त व्याधि निर्मूल नष्ट नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञान से ही निर्मूल नष्ट होती है। आत्मज्ञान तो श्रवणादिपूर्वक समाधि के अभ्यास से यानी चिति की बहिर्मुखता के निरोध से ही होता है, इस आशय से आत्मज्ञान का उपाय बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं—'संविन्मात्रम्' इत्यादि से।]

जितने जन्तु हैं, वे सब संविन्मात्ररूप (आत्मा के

यत्संविदः प्रसरणं रूपालोकमनांसि तत् ।
व्योमन्येवानुभूयन्ते नातः सत्यो जगद्भ्रमः ॥ १९ ॥
प्रलेयेष्वपि दृष्टेषु जगद्दृश्याख्यविभ्रमः ।
न नश्यति न जायेत भ्रान्तिमात्रैकरूपिणः ॥ २० ॥
भोगपङ्कार्णवे मग्न आत्मा नोत्तार्यते यदि ।
स्वपौरुषचमत्कृत्या तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ २१ ॥
अजितात्मा जनो मूढो रूढो भोगैककर्दमे ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ २२ ॥
जीवितस्य यथा बाल्यं दृष्टं प्राथमकल्पिकम् ।
निर्वाणस्य तथा भोगसन्त्यागो रागशान्तिदः ॥ २३ ॥

ही स्वरूप हैं, इस संवित् की बहिर्मुखता ही जगत् है। यह सारा जगत् एक छोटे से परमाणु के उदर में भी सैकड़ों पर्वतों के विस्तार में विद्यमान है, क्योंकि वहाँ पर भी संवित् बैठी ही है ॥ १८ ॥

जो आत्मचिति का बहिर्मुखता से विस्तार है, वही बाह्य विषय और भीतरी विषय (काम, सङ्कल्प आदि) हैं। ये चिदाकाश में ही अनुभूत होते हैं, इसलिए जगत् का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

[जगत् का रूप मिथ्या ही है, इसलिए हजारों प्रलयों से भी वह नष्ट नहीं होता या हजारों सृष्टियों से अपना अस्तित्व भी नहीं रखता। यदि नष्ट होता है, तो आत्मा के ज्ञान से हो, इस आशय से कहते हैं—'प्रलयेष्वपि' इत्यादि से।]

देखे गये प्रलयों में भी जगत्-भ्रम का ही विनाश ही होता है या न देखी गई सृष्टियों में उसकी उत्पत्ति ही होती है, क्योंकि उसका असली रूप एकमात्र भ्रान्ति ही है ॥ २० ॥

[आत्मज्ञान सम्पादन में कौन-कौन उपाय है? इस प्रश्न पर वैराग्य ही पहला उपाय है, वह कहते हैं।]

यदि पुरुष अपने पौरुषरूप चमत्कार से भोगरूप कीचड़ में फँसी हुई अपनी आत्मा का उद्धार नहीं करता, तो फिर दूसरा कोई भी उपाय उसके उद्धार का रहता ही नहीं ॥ २१ ॥

जिसने अपने मन के ऊपर विजय नहीं पायी है, भोग रूपी कीचड़ में फँसा हुआ वह मूढ़ पुरुष आपत्तियों का ऐसे पात्र बन जाता है, जैसे जलों का समुद्र ॥ २२ ॥

जैसे आयु की सबसे पहली सीढ़ी बल्यावस्था दिखाई पड़ती है, वैसे ही मोक्ष की पहली सीढ़ी रागों से शान्ति देने वाला भोगत्याग ही है ॥ २३ ॥

तज्ज्ञस्य जीवितनदी सकल्लोलाप्यसम्भ्रमा ।
समं वहति सौम्यैव चित्रसंस्थेव नीरसा ॥ २४ ॥
अज्ञजीवितनद्यास्तु रसनात्यन्तभीषणाः ।
आवर्तावृत्तिविक्षोभकल्लोलाः सहवाहिनः ॥ २५ ॥
सर्गवर्गाः प्रवल्गन्ति संवित्प्रसरलेशकाः ।
द्विचन्द्रबालवेतालमृगाम्बुस्वप्नमोहवत् ॥ २६ ॥
संविद्वारितरङ्गौघा भान्ति सर्गाः सहस्रशः ।
विचारितास्त्वसत्यास्ते सत्यास्त्वनुभवभ्रमात् ॥ २७ ॥
जगन्त्याकाशकोशेऽपि संवित्प्रसरणभ्रमात् ।
सन्तीवाऽप्यनुभूयन्ते न तु सत्यानि तानि तु ॥ २८ ॥

['राग से शान्ति देने वाला' यह जो विशेषण कहा गया है, उसका तात्पर्य—ज्ञानी और अज्ञानी की आयुरूप नदी का वैलक्षण्य वर्णन से—दिखलाते हैं।]

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं, उसकी आयुरूप नदी कल-कल ध्वनि करती हुई (प्रारब्ध प्राप्त अनेक प्रवृत्तिरूप तरङ्गों से युक्त होती हुई) भी जगद्भ्रमों से शून्य है। अतएव चित्र में चित्रित जल शून्य नदी के सदृश एकरूप एवं सौम्य (उपद्रव रहित) होकर बहती रहती है ॥२४॥

और जो अज्ञानी हैं, उनकी आयुरूप नदियाँ तो अनेक तरह की दुःख क्रन्दनों की ध्वनियों से अन्यन्त भयङ्कर रहती हैं। बाह्यवृत्तियों से उत्पन्न अनेक विक्षोभरूप कल्लोल ही उनके साथ-साथ बहने वाले आवर्त रहते हैं ॥ २५ ॥

[अज्ञानियों को अविचार से ही सृष्टि के प्रतिभास-रूप विक्षेप उत्पन्न होते हैं, यही संवित्ति की एक बहिर्मुखता है।]

जैसे दो चन्द्रमा, बालवेताल, मृगतृष्णा के जल तथा स्वप्नमोह—ये अज्ञान से निकलते-रहते हैं। वैसे ही अज्ञानियों के लिए चिति की बहिर्मुखता के एक लेशमात्र-रूप अनेक तरह के सर्ग निकलते रहते हैं ॥ २६ ॥

भद्र, संवित्-रूपी जल के तरङ्ग ही हजारों सृष्टियों अर्थात् रूपों में भासमान होते हैं। जब उनके विषयों में विचार किया जाता है, तब वे असत्य बन जाते हैं, और जब विचारित नहीं होते तब अज्ञानियों के अनुभव से सत्य के रूप में प्रतीत होने लग जाते हैं ॥ २७ ॥

आत्मा की बहिर्मुखता के भ्रम से ही आकाश में भी अनेक तरह के गन्धर्व नगर आदि जगत् सत्य-से भासने लगते हैं, परन्तु विचार करने पर वे सत्य नहीं ठहरते हैं ॥ २८ ॥

संविद्विकासपयसो बुद्बुदः सर्गविभ्रमः ।
अहमित्यादिसद्भावविकाराकाररूपवान् ॥ २९ ॥
संविन्निर्वाणमजगत्संविदुन्मीलनं जगत् ।
नान्तर्न बाह्यं नासत्यं न सत्य सर्वमेव तत् ॥ ३० ॥
चिद्रूपमजमव्यक्तमेकमव्ययमीश्वरः ।
स्वत्वभावत्वरहितं ब्रह्म शान्तात्म खादपि ॥ ३१ ॥
ब्रह्मणो निःस्वभावस्य सर्गसंवेदने स्वतः ।
स्पन्दने पवनस्येव कारणं नोपयुज्यते ॥ ३२ ॥
स्वप्नानुभववद्भ्रान्तिर्ब्रह्माब्धौ ब्रह्मवीचयः ।
सर्गता वस्तुतस्त्वत्र न स्वप्नो न च सर्गता ॥ ३३ ॥
एकमेव निराभासमचित्त्वमजडं समम् ।
न सन्नासन्न सदसदिदमव्ययमद्वयम् ॥ ३४ ॥
यथास्थितस्यैव सतो यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।

आत्मा की बहिर्मुखतारूप का ही यह जगद्भ्रम एक तरह से बुद्बुद है और उसमें जो रूप है, वह अहङ्कार आदि सद्रूप भावविकारों के आधारों से ही आया है ॥२९॥

आत्मा की बहिर्मुखता ही सम्पूर्ण जगत् है। वास्तव में न कुछ भीतर है, न बाहर है, न असत्य है, न सत्य है। जो कुछ है, वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है ॥ ३० ॥

चिद्रूप, अज, अव्यक्त, एक अविकार, ईश्वर, स्वत्व और भावत्व से रहित ब्रह्म ही सर्वत्र है, वह आकाश से भी अत्यन्त शान्त है ॥ ३१ ॥

जिसमें किसी तरह के स्वभाव से शून्य ब्रह्म में अपने को सृष्टि के ज्ञान में पवन के स्पन्दन की तरह कोई कारण ही नहीं है, केवल अज्ञान ही है। अर्थात् आत्मा की जो बहिर्मुखता है, वह मिथ्याभूत अविद्या का ही विलास है, न कि सत्यरूप ब्रह्म के स्वभाव से उत्पन्न है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मरूपी समुद्र में में अविद्या जनित सर्गरूपता ब्रह्म की तरङ्गें भी वैसे ही भ्रान्तिरूप ही हैं, जैसे आत्मा में स्वप्न का अनुभव भ्रान्ति है, और कुछ नहीं। वस्तुतस्तु आत्मा में न स्वप्न है एवं न सर्गरूपता ही है ॥ ३३ ॥

ब्रह्म एक आभास रहित है, न कोई चित्त्वरूप दूसरा धर्म है, न जडता है, किन्तु समता है। वह न सत् है, न असत् है, न सद्-असत् उभयरूप है। केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह अविकार और दूसरे से रहित है ॥ ३४॥

जैसी स्थिति बताई है उस तरह की स्थिति से ही स्थित रहे जिस महामति को बाह्य विषयों का अज्ञानरूप आत्मशयन उत्पन्न हो गया है, उसी को सब मनुष्यों उत्तम

संवित्प्रशमनं जातं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३५ ॥
सतोऽपि मृन्मयस्येव यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।
साहं जगद्विगलितं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३६ ॥
यथा शाम्यत्यसङ्कल्पा सङ्कल्पनगरं तथा ।
वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात् ॥ ३७ ॥
स्वभाववर्जं शब्दार्थाः सर्व एव सहेतुकाः ।
स्वभावस्य तु यो हेतुर्मुक्तिस्तदनुभावनम् ॥ ३८ ॥
न कस्यचित्पदार्थस्य स्वभावोऽस्तीह कश्चन ।
महाचिदम्बुद्रवताः सर्वा एवाऽनुभूतयः ॥ ३९ ॥
महाचिदनिलस्पन्दा एता एवाऽनुभूतयः ।
एतास्ता ब्रह्मगगनशून्यता इति बुद्ध्यताम् ॥ ४० ॥
वातस्पन्दाविवाऽभिन्नौ ब्रह्मसर्गौ विभिन्नता ।
तयोस्त्वसत्या स्वभ्रान्तौ स्वप्ने स्वमरणोपमा ॥ ४१ ॥

मुनि कहते हैं। अर्थात् इस प्रकार के ब्रह्मरूप की प्राप्तिकर स्थित रहना ही योगियों के लिए बहिर्मुखता का अभाव और मौन (मुनित्व) है ॥ ३५ ॥

मिट्टी के मूर्ति के सदृश जिसका शरीर रहते भी विषयवेदनाशून्यरूप जीवभाव के साथ जगत् नष्ट हो गया है उसी महात्मा को उत्तम मुनि कहते हैं ॥ ३६ ॥

विषय वेदन से जनित अहङ्काररूप समस्त जगत्-सृष्टि अवेदन से चिति में वैसे ही लीन हो जाती है जैसे सङ्कल्प जनित नगर सृष्टि असङ्कल्प से लीन हो जाती है, अर्थात् असङ्कल्प ही जैसे सङ्कल्परूप सृष्टि का निवारण है, वैसे ही अदृष्टि ही सृष्टि का निवारण है ॥ ३७ ॥

सब जड़ वस्तुओं में अनुगत जड़तारूप मूल अविद्या को छोड़कर अर्थात् स्वभाव को छोड़कर नाम-रूपात्मक सभी पदार्थों के प्रति वह मूल अविद्या ही कारण है, परन्तु मूल अविद्या का जो साक्षीरूप से कारण है, उसका अनुभव करना अर्थात् अपने में तद्रूपता का अनुसन्धान करना ही मुक्ति है ॥ ३८ ॥

परमार्थ दृष्टि से किसी पदार्थ का यहाँ कोई स्वभाव ही नहीं है, जितने ये अनुभव हैं वे सब महा चितिरूप जल के द्रवस्वरूप हैं ॥ ३९ ॥

सभी अनुभव महाचितिरूपी वायु के स्पन्दन होने से सब अनुभव ब्रह्मरूप गगन की शून्यरूपता का ही सेवन करते हैं, यह आप जानिये ॥ ४० ॥

अपने स्वरूप की भ्रान्ति हो जानेपर ही उनमें विभिन्नता भासमान होती है, पर वह स्वप्न में स्मरण के सदृश असत्यरूप है। जैसे वायु और वायु के स्पन्दन में

भ्रान्तिस्तु तावत्तत्त्वार्थविचारो यावदस्फुटः ।
विचारे तु स्फुटे भ्रान्तिर्ब्रह्मतामेव गच्छति ॥ ४२ ॥
भ्रान्तिस्त्वसत्या वस्त्वेव प्रेक्षयाऽतो न लभ्यते ।
शशशृङ्गवदत्यच्छमतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ४३ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तमच्छं
समं शिवं शाश्वतमेकमेव ।
सर्वां जरामोहविकारभार-
भ्रान्तिं विमुच्याम्बरभावमेहि ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यार्थोपन्यासयोगो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

कोई भिन्नता विद्यमान नहीं है, ब्रह्म और ब्रह्म की सृष्टि में कोई भिन्नता वैसे ही नहीं है ॥ ४१ ॥

तत्त्वार्थ का विचार विस्पष्ट नहीं होने तक ही यह भ्रान्ति रहती है और जब विचार स्पष्ट हो जाता है, तब यह सारी भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर लेती है ॥ ४२ ॥

भ्रान्ति असत्य और अवस्तुरूप ही है, अतः विचार करने पर भी शशशृङ्ग की तरह वह प्राप्त नहीं की जा सकती है। ऐसी स्थिति में अतिनिर्मल ब्रह्म ही शेष रह जाता है। अर्थात् भ्रान्ति में सत्तास्फूर्तिरूप अंश वही ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है, दूसरी चीज तो कोई नहीं है, अतः दूसरे अंश के अभिप्राय से भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को प्राप्त करती है, यह नहीं कहा जा सकता है ॥ ४३ ॥

देह के सम्बन्ध से प्राप्त सभी जरा, मोह, विकार आदि भारस्वरूप भ्रान्तियों को छोड़कर आप अब उस ब्रह्माकाशरूपता को प्राप्त कर लें, जो आदि, मध्य और अन्त से शून्य है तथा अनन्त, स्वच्छ, सम, शिव, नित्य एवं अद्वितीय हीं है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में सत्यार्थोपन्यासयोग नामक कुसुमलता का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

३४

वसिष्ठ उवाच

प्राप्तेषु सुखदुःखेषु यो नश्यति स नश्यति ।
यो न नश्यत्यनाशोऽसावलं शास्त्रोपदेशनैः ॥ १ ॥
यस्य चेच्छोदयस्तस्य सन्त्यवश्यं सुखादयः ।
ते चेत्सम्यक् चिकित्स्यन्ते पूर्वमिच्छेव मुच्यताम् ॥२॥

अहं जगदिदं भ्रान्तिर्नास्त्येव परमे पदे ।
इदं शान्तमनालम्बं सर्वं निर्वाणमव्ययम् ॥ ३ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेति शब्दसंभ्रमविभ्रमः ।
सर्वस्मिञ्छान्त आकाशे केन नामोपकल्पितः ॥ ४ ॥

३४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा सुख-दुःखों के आनेपर जो नष्ट हो जाता है वही नष्ट होता है और जो नष्ट नहीं होता, वही यह अविनाशी आत्मा है, बस, इससे और अधिक शास्त्रों का उपदेश करना व्यर्थ ही है। अर्थात् 'यह अहङ्कारात्मक जगत् दृष्टिरूप वेदन से उत्पन्न हुआ है, अतः अदृष्टिरूप अवेदन से ब्रह्मचिति में लीन हो जाता है, इस कथन में युक्तियों को दिखलाने की इच्छा से वसिष्ठजी पहले विनाशशील दुःखादि त्रिपुटियों से अलग कर अविनाशशील आत्मा को दिखलाते हुए 'सम्पूर्ण शास्त्रों की सफलता आत्मा के दर्शन से ही है' यह कहते हैं ॥१॥

प्राणी को इच्छा आदि के विद्यमान रहने पर सुख आदि अवश्य होते रहते हैं। यदि सुख आदि रोगों की भलीभाँति चिकित्सा करना अभीष्ट है, तो सबसे पहले इच्छा का ही परित्याग कर देना चाहिए। अर्थात् जो इच्छा वाला है, वह नित्य दुःखी है और न वह आत्मा ही है किन्तु इच्छा त्याग आदि उपायों का अवलम्बन कर प्रतिकार करने योग्य संसार रूपी रोग की कोटि में प्रविष्ट कोई दूसरा ही है ॥ २॥

अहङ्कार और यह जगत् दोनों तरह की भ्रान्ति परमपद परमात्मा में नहीं है यह तो शान्त, निरालम्बन आश्रय रहित सर्वात्मक विनाशशून्य मोक्षरूप ही है। अर्थात् जो अविनाशी आत्मा है उसमें इच्छा आदि का अभिमानी और अभिमान का विषय जगत् दोनों की सम्भावना नहीं करनी चाहिए ॥ ३ ॥

'अहम्, ब्रह्म और जगत्' इस शब्द जालरूप भ्रम की सर्वात्मक, शान्त चिदाकाश में किसने कल्पना की ? यह बड़ा आश्चर्य है ॥ ४ ॥

नेहास्त्यहं न च जगन्न च ब्रह्मादिशब्दकाः ।
शान्तस्यैकस्य सर्वत्वात्कर्ता भोक्तेह कः कुतः ॥ ५ ॥
उपदेश्याऽतिशायित्वात्सर्वापह्नव एव च ।
कृतोऽयं स च सत्यात्मा त एवाऽहं विशिष्यते ॥ ६ ॥
अग्रस्थसिद्धसञ्चारो ज्ञायते नापि दारुणः ।
यथैकपार्श्वसंसुप्तनरः स्वप्नाभ्रगर्जितम् ॥ ७ ॥
ज्ञप्तौ नास्ति यतस्तेन सिद्धाचारो न लक्ष्यते ।
स्वभाव इति सर्वेण ज्ञप्तिस्थो ह्यनभूयते ॥ ८ ॥
ज्ञप्तिरप्यात्मभूतैव सर्वं भाति हि तन्मयम् ।
तस्मात्साहं जगत्सर्वमभिन्नं परमात्मनः ॥ ९ ॥

परमार्थ में न अहम् है और न ब्रह्म आदि शब्द ही हैं, क्योंकि जो शान्त अद्वितीय वस्तु है, वह तो सर्वात्मरूप है। ऐसी स्थिति में उसमें कर्तृता और भोक्तृता कैसी और कहाँ से रह सकती है ॥ ५ ॥

उपदेश ब्रह्म में दूसरे अर्थों की अपेक्षा त्रिकालाबाधितत्वरूप अतिशय है, इससे सबका बाध होनेपर यह आत्मा सत्यरूप ही किया जाता है, ऐसी स्थिति में बाध से वही तुम्हारा यह अहंरूप आत्मा विशिष्टरूप (परिशिष्ट रूप) एवं सर्वातिशायी ही सिद्ध किया जाता है। अर्थात् सब कुछ का बाध करने पर उपदेश आदि का भी बाध हो ही जायगा, इस परिस्थिति में आपत्ति यह आ जायगी कि आत्मज्ञान का कोई उपाय ही न बच पायगा, यह शङ्का यदि हो, तो भले ही हो, इससे कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्योंकि एक तो जिसका हमें उपदेश करना है, उस ब्रह्म का तो बाध होता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि ब्रह्म में बाधित होने वाले समस्त अनर्थों की अपेक्षा त्रिकालबाधित सत्य प्रत्यगात्मरूप अतिशय है और तीसरी बात यह है कि बाधोपाय से आत्मज्ञान हो जाने के बाद उपदेश आदि की आवश्यकता ही नहीं रहती है ॥ ६ ॥

जैसे सामने ही रहनेवाले, परन्तु अन्तर्धान शक्ति से अदृष्ट बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषों का एवं पिशाचों का व्यवहार अतिभयङ्कर होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता अथवा जैसे एक ही शयन पर सोये हुए दो पुरुषों में एक को स्वप्न में जोर से हुए मेघगर्जन को दूसरा पुरुष नहीं जान पाता अर्थात् वह हम लोगों की दृष्टि से है ही नहीं, वैसे ही यहाँ पर भी जान लीजिये। अर्थात् अपनी दृष्टि में नहीं आता, इसलिए पुरुष सामने स्थित सिद्ध व्यवहार को नहीं देख पाता, क्योंकि सभी का यह स्वभाव है कि अपनी दृष्टि में आने वाले पदार्थ का सब अनुभव करते हैं ॥ ७–८ ॥

ज्ञप्ति पदार्थ भी आत्मरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह तद्रूप ही दीखता है। इससे अहङ्कार के सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से अभिन्न है ॥ ९ ॥

ज्ञप्तिर्जगत्तया भाति सङ्कल्पस्वप्नयोरिव ।
अनानावयवोदेति जलमूर्मितया यथा ॥ १० ॥
एकात्मैवोदयो ज्ञप्तेर्नानातामिव चाऽऽगतः ।
अज्ञानात्स त्ववस्तुत्वात्प्रेक्षितो नोपलभ्यते ॥ ११ ॥
यथा स्वावयवानेव सर्वानवयवी भवेत् ।
नित्यानवयवं शान्तं ब्रह्मैवेदं तथा जगत् ॥ १२ ॥
भाण्डलक्षाणि धत्तेऽन्तश्चिद्रूपकनकेष्टिका ।
यदेव सा चेतयते जगदादीव वेत्ति तत् ॥ १३ ॥
ब्रह्मैव कचतीवेदं सत्तयाऽच्छजगत्तया ।
चिद्रूपत्वाद्द्रवात्मत्वात्तरङ्गादितयाऽब्धिवत् ॥ १४ ॥

सङ्कल्प और स्वप्न के सदृश ही ज्ञप्ति जगत् के रूप से भासती है और वह यद्यपि अनेक अवयवों वाली नहीं है, परन्तु जल-ऊर्मियों के रूप से जैसे अनेक अवयव वाला भासमान होती है, वैसे ही अनेक अवयवों वाली भासमान होती है ॥ १० ॥

अनेकरूप-सा होकर आया हुआ एक आत्मा ही दृष्टि के अज्ञान से विवर्तरूप उदय होता है अर्थात् संसार है। यह संसार स्वयं अवस्तुरूप होने के कारण तत्त्वदृष्टि से भलीभाँति देखा गया भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है ॥ ११ ॥

सदा से अवयव शून्य, स्वभावतः शान्त यह ब्रह्म ही जगद्रूप अवयव से अवयव वाला वैसे ही बन जाता है जैसे यह जीव अवयवरहित होकर भी हाथ, पैर आदि अपने अवयवों की कल्पना रूप स्वप्न मनोरथ आदि में अवयव वाला हो जाता है ॥ १२ ॥

यह चितिरूपी कुम्भकारी जब स्मरण करती है, तभी जगत् को देखने लगती है और अपने भीतर लाखों की संख्या में बड़े-बड़े बर्तन धारण करने लग जाती है ॥१३॥

जैसे द्रवरूप होने के कारण सागर तरङ्गों के रूप में भासमान होता है वैसे ही चितिरूप होने के कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्ता से सुन्दर जगत् के रूप में भासमान होता है ॥ १४ ॥

यद्यच्चेतयतेऽन्तस्तु जगदादीव पश्यति ।
अरूपमपि रूपं स्वं यन्न चेतयते न तत् ॥ १५ ॥
चेतनाचेतनत्वोक्ती तस्येशत्वात्स्वदेहगे ।
उपदेशार्थमेवोक्ते न सद्विषयमर्थतः ॥ १६ ॥
न जगत्सन्न चैवाऽसद्भासते चेतनाच्चिति ।
अचेतनान्न कचति क इवाऽर्थग्रहोऽत्र नः ॥ १७ ॥
अचेतनं चेतनं च स्पन्दास्पन्दवदात्मनः ।
स्वायत्ते न कदर्थस्थे स्वस्थपाषाणवत्स्थिते ॥ १८ ॥
यस्येक्षितस्य नो सत्ता नाऽऽधारो न च कारणम् ।
सोऽहमित्येव यो यक्षो न जाने कुत उत्थितः ॥ १९ ॥
यस्याऽहमिति यक्षस्य सत्तैवाऽस्ति न सत्यतः ।

जिस-जिसका अपने अन्दर अभ्यास से प्रकाश करता है, उस उसको ब्रह्म मानो देखता है । यद्यपि ब्रह्म अरूप है, तथापि उसे अपना रूप मान बैठता है और अपने अन्दर जिसका अभ्यास नहीं करता उसे नहीं देखता है ॥ १५ ॥

ब्रह्म में चेतनता और अचेनता को लेकर जो कुछ शब्द प्रयोग किया जाता है, वह तो मायाशबल होने से सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म के विषय में नहीं है, किन्तु सन्देहभूत माया के ही विषय में है अर्थात् चेतनत्व अचेनत्व मायागत ही हैं । वह शब्द केवल उपदेश देने के लिए ही कहा जाता है, वह वस्तुतः परमार्थ विषयक नहीं है यह ब्रह्म का कुछ भी स्पर्श नहीं करता है ॥ १६ ॥

जगत् न सत् है और न असत् है, केवल चितिशक्ति में बहिर्मुखवृत्ति के कारण भासमान होता है । यदि बहिर्मुखवृत्ति का त्याग हो जाय, तो वह भासमानता ही नहीं, इसलिए हम लोगों को इन विषयों के लिए कैसा आग्रह ? ॥ १७ ॥

आत्मा का चेतनत्व और अचेतनत्व स्वाधीन है, इसमें किसी यत्न की आवश्यकता नहीं है, जैसे अपने स्वरूप में स्थिति स्फटिक पत्थर के सैकड़ों बिम्ब प्रतिबिम्बरूप स्पन्दन और अस्पन्दन स्वाधीन हैं, इनमें किसी दूसरे प्रयत्न या श्रम की आवश्यकता नहीं रहती है, वैसे ही आत्मा के चेतनाचेतन के विषय में भी जानना चाहिए ॥ १८ ॥

वास्तविकरूप में देखने पर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका अधारभूत कोई नहीं है, 'अहम्' रूप यक्ष कहाँ से उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता । अर्थात् समस्त कल्पनाओं के मूलभूत एक अहङ्कार की ही परीक्षा कर लेने से मिथ्यात्व का निश्चय हो जानेपर समस्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

अहो नु चित्रं तेनेमे भवन्तो विवशीकृताः ॥ २० ॥
काकतालीयवद्भ्रान्तमहं ब्रह्मणि भासते ।
स्वमेव रूपं दृग्भ्रान्तौ केशोण्ड्रकमिवाम्बरे ॥ २१ ॥
ब्रह्मैवाऽहं जगच्चात्र कुतो नाशसमुद्भवौ ।
अतो हर्षविषादानां किन्त्वेव कथमास्पदम् ॥ २२ ॥
सर्वेश्वरत्वादीशस्य विभातीदं प्रचेतितम् ।
अचेतितं च नो भाति तेनाचेतितमस्तु ते ॥ २३ ॥
काकतालीयवच्चित्त्वाज्जगतो भाति ब्रह्म खम् ।
स्वप्नसङ्कल्पपुरवत्तत्स्माद्भिद्यते कथम् ॥ २४ ॥
यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिका ।
यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ २५ ॥

जिस अहङ्काररूपी यक्ष की वस्तुतः सत्ता ही नहीं है, उसी ने इन आप सब लोगों को पराधीन बना डाला है, यह बड़ा आश्चर्य है ? ॥ २० ॥

ब्रह्म में काकतालीय न्याय से अकस्मात् ही भ्रान्त यह अहङ्कार इस प्रकार भासमान होता है, जैसे कि दृष्टि की भ्रान्ति होनेपर आकाश में अपना ही रूप केशोण्ड्रक के रूप में भासमान होता है ॥ २१ ॥

मैं और यह जगत् दोनों ब्रह्मरूप ही हैं, अतः इस दशा में जगत् की उत्पत्ति एवं नाश दोनों कहाँ से होता है ? इससे हर्ष और विषाद का स्थान ही क्या और किस तरह से है ॥ २२ ॥

सर्वेश्वर होने के कारण ही ईश में प्रचेतित दृष्ट यह संसार भासमान होता है और अचेतित दृष्ट होनेपर भासमान नहीं होता है । इसलिए आपको यह जगत् सदा अचेतित ही रहे ॥ २३ ॥

कथित रीति से यह जगत् भी चिद्रूप है, अतः ब्रह्माकाश ही उस रूप से स्वप्ननगर के समान अकस्मात् काकतालीय की तरह भासमान होता है । वस्तुतस्तु वह जगत् ब्रह्म से किस तरह अलग हो सकता है ? यदि ब्रह्म से अलग मान लिया जाय, तो सत्ता का लाभ न होने से अलीक अत्यन्त असत् ही हो जायगा ॥ २४ ॥

ब्रह्म में यह सृष्टि का रूप वैसे ही है जैसे शान्त जल में अप्रकाश तरङ्ग आदि हैं, या न खोदे गये काठ में अदृश्य कठपुतलियाँ हैं अथवा भूमि में अदृश्य घट आदि हैं ॥ २५ ॥

अनाकृतावसंस्थाने स्वच्छे यदनुभूयते ।
तत्तदेवात उदितं किनामाहं जगन्ति किम् ॥ २६ ॥
मरुतः स्पन्दवैचित्र्यं सत्तयैव यथा तथा ।
ब्रह्मणो निःस्वाभावस्य जगदाद्यहमादि च ॥ २७ ॥
यथाऽभ्रे लक्ष्यते वृक्षगजवाजिमृगादिता ।
असन्निवेशाकृतिनि सर्गाहन्ते तथा परे ॥ २८ ॥
सर्गोऽवयववद्भाति सर्वं एव परे शिवे ।
एवं तदुपमां विद्धि कार्यकारणवद्यथा ॥ २९ ॥
अन्तःशान्तमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
जगत्यसम्भवादेव व्योमवत्सममास्यताम् ॥ ३० ॥
न भवन्तो न च वयं न जगन्ति न खादयः ।
सन्ति शान्तमशेषेण ब्रह्मेदं निर्भरं स्थितम् ॥ ३१ ॥
अशेषेष्वविशेषेषु शान्ताशेषविशेषता ।
सत्या सैवाहमित्याशु त्यक्त्वा मोक्षाय भाव्यताम् ।३२।

जिसका कोई आकार नहीं है, जो अवयवों से रहित है, उसमें जो कुछ दिखाई देता, वह तद्रूप ही होता है, इसलिए यह उत्पन्न अहङ्कार क्या है और ये जगत् ही क्या है ? ॥ २६ ॥

अविद्या रहित ब्रह्म के अहम् आदि और जगत् आदि उसकी सत्ता के वैसे ही अधीन हैं जैसे पवन का स्पन्द वैचित्र्य पवन सत्ता के ही अधीन हैं ॥ २७ ॥

अवयव एवं आकार रहित ब्रह्म में वृक्ष में सृष्टि एवं अहङ्कार का रूप वैसे ही दिखाई पड़ता है जैसे आकाश में वृक्ष, हाथी, घोड़े आदि का रूप दिखाई पड़ता है ॥ २८ ॥

परब्रह्म में यह सारा जगत् वृक्षशाखा के समान भासमान होता है। वट आदि वृक्षरूप कार्य एवं उसके बीज आदि कारण के सदृश जैसे लोक में सूक्ष्म आर्थों के लिए सादृश्य प्रसिद्ध हैं वैसे ही संसार और ब्रह्म का सदृश्य जानें ॥ २९ ॥

आप भीतर से शान्त, प्रयत्नों से निर्मुक्त, उपाधि से रहित भ्रम से शून्य हो आकाश के समान निर्विक्षेप हो स्थित रहें, क्योंकि वर्णित रीति से आप से भिन्न कोई दूसरा जगत् है ही नहीं ॥ ३० ॥

न आप हैं, न हम हैं, न जगत् हैं, न आकाश आदि हैं, किन्तु अशेषरूप से परिपूर्ण सर्वोपद्रव रहित अपरोक्ष ब्रह्म ही स्थित है ॥ ३१ ॥

चैतन्य से अतिरिक्त किसी भी अन्य स्वरूप का निरूपण न होने से सभी पदार्थ जब एकरूप ही सिद्ध हुए,

वेदनं बन्धनं विद्धि विद्धि मोक्षमवेदनम् ।
यथास्थितं यथाचारं भव शान्तमवेदनम् ॥ ३३ ॥
द्रष्टा न दृश्यतां याति चितिर्नायाति चेत्यताम् ।
चेत्याभावादजगति कः किं चेतयते कथम् ॥ ३४ ॥
द्रष्टृदृश्यदशाभावाज्जाग्रत्येव सुषुप्तिवत् ।
शरदाकाशकोशाभमसत्तोपममास्यताम् ॥ ३५ ॥
तथैकब्रह्मचिद्रूपे पवनस्पन्दने यथा ।
अत्राचिद्बोधता सर्गो मोक्षो ब्रह्मैकबोधता ॥ ३६ ॥
चित्स्पन्दो ब्रह्ममरुतो यत्र सर्ग इति स्मृतः ।
नात्र चित्स्पन्दनं यत्स्यान्निर्वाणं तदुदाहृतम् ॥ ३७ ॥
बीजमन्तर्यथा वेत्ति स्वरूपं पल्लवादिकम् ।
तथा महाचिदन्तस्थं स्वरूपं वेत्ति सर्गताम् ॥ ३८ ॥
पत्रादिवेदनाद्बीजं यथा पत्रादि तिष्ठति ।
परा चित्सर्गसंवित्तिस्तथा भवति सर्गता ॥ ३९ ॥

तब विशेष विभ्रम को छोड़कर उक्त परमार्थ सत्यस्वरूप चिति शक्ति ही मैं हूँ, ऐसी मोक्ष के लिए तत्काल ही भावना करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

बाह्य पदार्थों के ज्ञान को बन्धन और बाह्य पदार्थों के अज्ञान को मोक्ष जानें। इसलिए आप भूमिकाभ्यासरूप विद्वानों के आचरण का उल्लंघन न कर यथास्थिति शान्त अवेदन रूप हो जाइये ॥ ३३ ॥

द्रष्टा कभी दृश्यरूप नहीं होता है और चितिशक्ति चेत्यरूप नहीं होती है। चेत्य के अभाव से जगत्-शून्य ब्रह्म में कौन, क्या और किस प्रकार चेतित प्रकाशित होगा ॥ ३४ ॥

द्रष्टा, दृश्य की दशा न रहने से जाग्रदवस्था में ही सुषुप्ति के सदृश तथा शरदाकाश के सदृश शून्य की तरह आप स्थित रहें ॥ ३५ ॥

अद्वितीय ब्रह्म चैतन्य में अज्ञान भेद वैसे ही प्रतीत होता है जैसे अज्ञान से पवन और स्पन्दन में भेद प्रतीति होती है। अर्थात् चिति और अचिति का भेद दर्शन ही सृष्टि है तथा ब्रह्मैक्य दर्शन मोक्ष है ॥ ३६ ॥

जहाँ ब्रह्मरूप वायु से चिति का स्पन्दक है वहीं पर सर्गनाम पड़ जाता है, अतः वहाँ जब चिति का स्पन्दन नहीं होगा, तो उसे निर्वाण कहा जायगा ॥ ३७ ॥

ब्रह्म चैतन्य रूप ब्रह्म अपने भीतर सृष्टिरूप स्वरूप का वैसा ही अनुभव करता है जैसे बीज अपने भीतर पल्लव आदि स्वरूप का परित्याग करता है ॥ ३८ ॥

परम चैतन्यरूप ब्रह्म सृष्टिज्ञान से वैसे ही सृष्टिरूप

यथा भावविकाराभाश्रितपराः सर्गतास्तथा ।
सर्वे बीजानि दृष्टान्ताः तद्रूपा एव तन्मयाः ॥ ४० ॥

निर्विकारपरब्रह्ममयं सर्वमिदं जगत् ।
निर्विकारमनाद्यन्तमेवं विद्धि निरामयम् ॥ ४१ ॥

निजसङ्कल्पमात्रात्मा निजसङ्कल्पनात्क्षयी ।
द्वैताद्वैतविकारोऽयं सङ्कल्पनगरं यथा ॥ ४२ ॥

शून्यत्वाकाशयोर्भेदो यादृशोऽवगतस्त्वया ।
भेदं निरात्मकं विद्धि तादृशं ब्रह्मसर्गयोः ॥ ४३ ॥

महाचिद्रूपिणी शान्ता या सत्ता ब्रह्मणः परा ।
स्वतः सेयमहं त्वं च मानवोऽस्मीत्यबोधतः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मण्यस्मिन् जगद्रूपे न किञ्चिदपि जायते ।
जातमप्यथ नष्टं च न नश्यत्यम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥

पदार्थब्रह्मरूपेण ब्रह्मैवात्मनि तिष्ठति ।
अवयवीवावयवे खे खं वारीव वारिणि ॥ ४६ ॥

निमेषादर्धभागेन देशाद्देशान्तरस्थितौ ।
यद्रूपं संविदो मध्ये स स्वभाव उपास्यताम् ॥ ४७ ॥

संक्षुब्धमक्षुब्धमिति द्विरूपं
संवित्स्वरूपं प्रवदन्ति सन्तः ।
श्रेयः परं येन समीहसे त्वं
तदेकनिष्ठो भव माऽमतिर्भूः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थयोगोपदेशो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

हो जाता है। जैसे पत्र आदि के ज्ञान से बीज पत्र आदि रूप से स्थित हो जाता है ॥ ३९ ॥

जैसे चैतन्य के आश्रित भावविकारों के क्रमिक प्रतिभास ही सृष्टिरूप हैं, वैसे ही सभी बीज दृष्टान्त हैं, अतः बीज आदिरूप से स्थित चैतन्य के ही विकाररूप होने के कारण सृष्टियाँ तन्मय हैं ॥ ४० ॥

निर्विकार परब्रह्ममय ही यह सब जगत् है, अतः विकास रहित, आदि-शून्य निरामय चिति ही सब कुछ है, यह आप जानें ॥ ४१ ॥

सङ्कल्प नगर के सदृश यह द्वैताद्वैतात्मक जगत् केवल अपना सङ्कल्प ही है, अतः अपना सङ्कल्प जब नष्ट हो जाता है, तब यह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

ब्रह्म और जगत् का भी भेद वैसे ही तुच्छरूप जानें जैसे शून्यता और आकाश का भेद आपने तुच्छ जाना ॥ ४३ ॥

पूर्वसिद्ध महाचैतन्यरूप ब्रह्म की सत्ता ही अज्ञान से 'मैं मनुष्य हूँ' इस आकार को धारण कर अहङ्कार के रूप से एवं जगत् के रूप से विवर्तित हो जाती है ॥ ४४ ॥

इस जगत्-रूप ब्रह्म में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। जल-तरङ्ग के सदृश उत्पन्न भी वास्तव में उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट भी वास्तव में वह नष्ट नहीं होता है ॥ ४५ ॥

जैसे अपने अवयवों में अवयवी (वृक्ष आदि), आकाश में आकाश और जल में जल स्थित रहता है वैसे ही पदार्थों के रूप से या ब्रह्म रूप से अपने स्वरूप में ब्रह्म ही स्थित है ॥ ४६ ॥

एक निमेष के अर्ध भाग से एक देश से देशान्तर की स्थिति में जो मध्य में ज्ञान की स्थित है, उस स्वभाव की ही आप उपासना करें ॥ ४७ ॥

शास्त्र विद्वान् संवित् का एकरूप तो संक्षुब्ध अर्थात् अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध विवर्त वाला है, यह कहते हैं और दूसरा अक्षुब्ध अर्थात् विवर्त रहित कूटस्थ पूर्णानन्दैकरस है, यह कहते हैं। इन दोनों रूपों में आप अपना कल्याण जिससे चाहते हों, उसमें एकनिष्ठ हो जाएँ। बिना परीक्षा किये किसी का ग्रहण कर अविवेकी न बने ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में परमार्थयोगोपदेश नामक कुसुमलता का चौतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

३५

वसिष्ठ उवाच

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदः क्षणात् ।
यद्रूपममलं मध्ये परं तद्रूपमात्मनः ॥ १ ॥
गच्छञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्हसन् ।
नूनं निरामयत्वाय नित्यमेतन्मयो भव ॥ २ ॥
तत एव निराभासात्सत्यान्निर्वासनैषणात् ।
यथास्थितं यथाचारमचलामरशैलवत् ॥ ३ ॥
एतद्रूपमविद्यायाः प्रेक्षिता यन्न लभ्यते ।
प्रेक्षिता लभ्यते चेत्सा तद्विद्यैव पराऽभवत् ॥ ४ ॥
अविद्यासम्भवाच्चेत्यचित्त्वे सम्भवतः क्व किम् ।
चेत्यते कथमेवान्तः शान्तिरेव बलोदिता ॥ ५ ॥
सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत् ।
सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धं चाऽशुद्धवत्ततम् ॥ ६ ॥
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वा शून्यवत्स्फुटम् ।
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम् ॥ ७ ॥
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ।
सदेवाऽसदिवादृश्यं तदेवाऽतदिवोदितम् ॥ ८ ॥
अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवद्गतम् ।
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम् ॥ ९ ॥
अनहं सोऽहमिव तदनाशमिव नाशवत् ।
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत् ॥ १० ॥

३५

विरोधाभासोक्तियों से संक्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूपों से युक्त ब्रह्म का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा रखने वाले महाराज वसिष्ठ जी पूर्वोक्त उपाय से परिचित अक्षुब्ध रूप का उसमें अपनी दृढ़ स्थिति बनाने के लिए पहले स्मरण कराते हैं—

वसिष्ठ ने कहा—क्षण भर में ही क्रमशः एक देश से दूसरे अत्यन्त दूर देश तक प्राप्त संवित् का=ज्ञान का दोनों देशों के बीच में जो निर्मल निर्विषयक रूप है वही परब्रह्म परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट अक्षुब्ध रूप है ॥ १ ॥

निरामय होने के लिए अर्थात् निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए चलते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, जागते तथा हँसते हुए आप इसी निर्विषय नित्य चिद्रूप में अवश्य तन्मय हो जायें ॥ २ ॥

जीवन्मुक्तों की स्थिति तथा अपने कुल के आचार के अनुसार सब व्यवहार करते हुए उसी निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छादि से शून्य चितिस्वरूप से सुमेरु पर्वत के समान, कदापि चलायमान न होना ही अर्थात् उसमें दृढ़ स्थित रहना ही विद्या है ॥ ३ ॥

अविद्या का एकमात्र यही स्वरूप है कि प्रमाणों द्वारा भली-भाँति विचारपूर्वक देखने से वह कहीं उपलब्ध न होती है और विचारपूर्वक देखने से यदि उपलब्ध होती है तो फिर वह पराविद्या ही है ॥ ४ ॥

अविद्या के न रहने से चिति और चेत्य विषय के भेद का संभव कहां? और भेद न रहने से वह चिति अपने भीतर किसको कैसे प्रकाशित करे? इसलिए विचार कर देखने से यही प्रतीत होता है कि शान्त, विषय शून्य चिन्मात्र स्थिति ही बलात् उदित है ॥ ५ ॥

ब्रह्म और जगत् परमार्थतः एक ही है, परन्तु अज्ञान के कारण अनेक-सा अर्थात् विरुद्ध रूप से स्थित भासमान होता है एवं सर्वत्र व्याप्त, परिपूर्ण और शुद्ध होने पर भी ब्रह्म अपूर्ण और अशुद्ध-सा अज्ञान के कारण ही भासमान होता है ॥ ६ ॥

अशून्य होने पर भी प्रलय में शून्य के समान तथा शून्य होने पर भी सृष्टि काल में अशून्य के समान वह स्पष्ट भासमान होता है। देश और काल से अपरिच्छिन्न होने पर भी वह परिच्छिन्न के सदृश तथा अस्फार विशाल देश, काल आदि से शून्य होने पर भी वह स्फार विशाल देश कालादि के समान सद्रूप स्थित है ॥ ७ ॥

विकारशून्य होने पर भी वह विकारी के समान, शान्त और सम रूप होने पर भी वह अज्ञान के कारण अशान्त तथा असम के समान, सत् होने पर भी वह चक्षु आदि से देखने के अयोग्य होने के कारण असत् के सदृश एवं तद्रूप होने पर भी वही ब्रह्म अतद्-रूप-सा उदित जान पड़ता है ॥ ८ ॥

विभाग शून्य होने पर भी वह भागसहित के समान जाड्य रूपता को न प्राप्त होने पर भी वह जड़ के समान विषयों से शून्य होने पर भी वह विषयभाव को प्राप्त हुए के समान, अंश शून्य होने पर भी वह अंश युक्त के समान सुशोभित दीखता है ॥ ९ ॥

अहङ्कार रहित होने पर भी अहङ्कार सहित के समान, अविनाशी होने पर भी नाशवान् के सदृश कलङ्क-शून्य होने पर भी कलङ्क युक्त के समान, विषय रहित होने पर भी विषय सहित के तुल्य वह ब्रह्म भासमान होता है ॥ १० ॥

आलोकिध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम् ।
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजगद्गणम् ॥ ११ ॥
सर्वात्मकमपि त्यक्तदृष्टं कष्टेन भूयसा ।
अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा ॥ १२ ॥
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम् ।
ब्रह्म विद्धि विदांनाथमपामिव महोदधिम् ॥ १३ ॥
जगद्रत्नमहाकोशं तुलायां तूलकाल्लघु ।
मायामरीचिशशिनमपि नेक्षणगोचरम् ॥ १४ ॥
अनन्तमपि निष्पारं न च क्वचिदपि स्थितम् ।
आकाशे वनविन्यासनगनिर्माणतत्परम् ॥ १५ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १६ ॥

स्वप्रकाश होने पर भी सघन अन्धकार युक्त के समान, पुरातन होने पर भी नवीन के समान, परमाणु से भी सूक्ष्म तथा अनेक जगत् को अपने उदर के भीतर धारण किये हुए वह ब्रह्म स्थित है ॥ ११ ॥

सर्वात्मक होने पर भी जिसने यज्ञ, दान, तप, चित्त शुद्धि, वैराग्य, श्रवण, मनन आदि महान् कष्ट स्वरूप अपने पुरुष प्रयत्न से सम्पूर्ण दृश्य समूह का त्याग कर दिया है तथा सांसारिक प्रपञ्चजाल से शून्य होने पर भी जो सांसारिक प्रपञ्चजाल से बँधे हुए के समान है एवं अनेक तरह से स्थित होनेपर भी जो द्वितीय परिशेष शून्य है ॥ १२ ॥

माया रहित होने पर भी जो मायारूपी किरण समूह का निर्मल सूर्य है। जलों के स्वामी सागर की तरह, वेदन मात्र स्वरूप होनेपर भी सम्पूर्ण वेदनों का मानो स्वामी है सर्वज्ञ है। हे रामजी, उसी को आप ब्रह्म जाने ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डात्मना जगद्रूप रत्नों का महाकोश अर्थात् अत्यन्त भारयुक्त होनेपर भी विवेक की तराजू पर तौलने से रूई से भी अत्यन्त लघु हलका तथा मायारूपी किरण-जाल का चन्द्रमा होने पर भी ब्रह्म ईक्षणगोचर=दृष्टि का विषय नहीं है ॥ १४ ॥

काल और देश से अत्यन्त तथा अपार होने पर भी कहीं एक नियत स्थान पर न स्थित रहने वाला एवं शून्य स्थान में भी वनविन्यास तथा पर्वत आदि की रचना में तत्पर वह ब्रह्म है ॥ १५ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में वह अत्यन्त सूक्ष्म है, स्थूल पदार्थों में वह सबसे अत्यन्त स्थूल है, वजनदार पदार्थों में वह सबसे बढ़कर वजनदार है तथा श्रेष्ठ जितने पदार्थ हैं उन सबमें भी वह सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

अकर्तृकर्मकरणमकारणमकारकम् ।
अन्तःशून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम् ॥ १७ ॥
जगत्समुद्गकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ।
अनन्तशैलकठिनमप्याकाशलवान्मृदु ॥ १८ ॥
प्रत्येकं प्रत्यहं प्रायः पुराणं पेलवं नवम् ।
आलोकमन्धकाराभं तमस्त्वालोकमाततम् ॥ १९ ॥
प्रत्यक्षमपि दुर्लक्ष्यं परोक्षमपि चाग्रगम् ।
चिद्रूपमेव च जडं जडमेव चिदात्मकम् ॥ २० ॥
अहमेवाऽनहंभावमनहं वाऽहमेव च ।
अन्यदेव तदेवाऽहमहमेवान्यदेव तत् ॥ २१ ॥
अस्य पूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त इव तिष्ठन्ति स्वभावद्रवतात्मकाः ॥ २२ ॥

कर्ता, कर्म और कारण से रहित, कारण शून्य, अकारक तथा अन्तःशून्य होने के कारण ही यह ब्रह्म चिरकाल से कर्ता आदि से परिपूर्ण स्थित है ॥ १७ ॥

जगद्रूपी रत्नों की पेटारी होनेपर भी नित्य जंगल के समान शून्य तथा अन्त पर्वतों के तुल्य कठिन होनेपर भी आकाश के लेश से भी बढ़कर कोमल ब्रह्म स्थित है ॥१८॥

प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक काल स्वरूप होनेपर भी प्रायः सबसे रहित, पुराण होनेपर भी कोमल और नूतन, स्वयंप्रकाश स्वरूप होनेपर भी अन्धकार के सदृश तथा जगत् का तिरोभाव करने वाला होने के कारण अन्धकार स्वरूप होनेपर भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्त वह ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

प्रत्यक्ष होने पर भी वह इन आँखों से दुर्लक्ष्य तथा परोक्ष होने पर भी वह साक्षीरूप से सामने स्थित है। चिद्रूप भी जड़ यानी जगद्-रूप से विवर्तित तथा जड़ जगत् आदि के रूप से भासित भी वह ब्रह्म वस्तुतः शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप ही स्थित है ॥ २० ॥

अनहंभाव युष्मदर्थ का विषय होनेपर भी अहंभावरूप, तथा अहंभावरूप से भासित होनेपर भी वह अनहंभाव रूप एवं इदमर्थ का विषय अन्यरूप होनेपर भी वह आत्म रूप ही है तथा अहंरूप=आत्मरूप होनेपर भी वह ब्रह्म अन्य के समान स्थित है ॥ २१ ॥

इस परिपूर्ण चिद्-रूप सागर के भीतर ये त्रिभुवन रूपी तरङ्गें द्रवतारूप स्वभाव से स्फुरित हो रहीं-सी अवस्थित हैं ॥ २२ ॥

बिभर्ति सर्वमङ्गस्थं तुषारमिव शुक्लताम् ।
भाति सर्गस्त्वनेनैव तुषारेणेव शुक्लता ॥ २३ ॥
अदेशकालावयवोऽप्येष देवो दिवानिशम् ।
असज्जगत्तनोतीव यथा वारि तरङ्गकम् ॥ २४ ॥
एतस्मिन्विकसन्तीमा विपुलाकाशकानने ।
जगज्जरठमञ्जर्यः प्रसरत्पत्रपञ्चकाः ॥ २५ ॥
एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ।
अत्यन्तनिर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ॥ २६ ॥
व्योमवृक्षफलस्यास्य स्वेच्छावयव उज्ज्वलाः ।
सर्गोपलम्भ उद्यच्च चमत्कुर्वन्ति संविदि ॥ २७ ॥
अन्तस्थेन बहिष्ठेन नानानानातयाऽऽत्मनि ।
एष सोऽन्तर्बहिर्भाति भावाभावविभावया ॥ २८ ॥

वह चेतन स्थावर-जङ्गमात्मक सारी सृष्टि को अपने भीतर वैसे ही धारण करता है जैसे तुषार अपने अङ्ग में शुक्लता धारण करता है। इस चेतन से ही यह सारी सृष्टि वैसे ही शोभित हो रही है जैसे तुषार से शुक्लता सुशोभित होता है ॥ २३ ॥

देश-कालादि के अवयवों से रहित भी यह चिद्रूप देव रात-दिन असद्रूप जगत् का वैसे ही विस्तार करता-रहता है जैसे कि जल तरङ्गों का विस्तार करता है ॥ २४ ॥

इस विस्तृत आकाशरूपी जंगल में प्रसार को प्राप्त पञ्चभूतरूप पत्तों के सहित ये जगद्रूपी पुरानी मञ्जरियाँ विकसित हो रही हैं ॥ २५ ॥

अत्यन्त निर्मल आकार वाला चिद्रूप यह परमात्मा स्वयं अपना प्रतिबिम्ब अर्थात् वर्जित जीवजगत् स्वरूप दूसरा आकाश देखने की इच्छा से दर्पणरूपता को प्राप्त है ॥ २६ ॥

अपरिच्छिन्न ब्रह्मसंवित् में आकाशरूपी गूलर के वृक्ष के फल के सदृश इस ब्रह्माण्ड के अपनी इच्छा से कल्पित तीनों लोक के अवयव में देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र आदि अपने से उदित हो रहे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा किरणजाल को जीवभूत आत्मा के रूपादिदर्शन में उपकरण बनकर चमत्कृत करते हैं ॥ २७ ॥

वह परमात्मा ही भीतर स्थित वासनामय प्रपञ्च से बाहर स्थित जगत्स्वरूप से, जाग्रत्-स्वप्न में नानारूप से और सुषुप्ति में एकरूप से भाव और अभाव की अर्थात् आविर्भाव और तिरोभाव की भावना करके स्वयं अपनी आत्मा में ही बाहर और भीतर भासमान होता है, इससे भिन्न अणुमात्र भी दूसरा कुछ नहीं भासमान होता है ॥ २८ ॥

एतद्रूपा पदार्थश्रीरेतस्मिन्नेतदिच्छया ।
चमत्करोत्येतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ॥ २९ ॥
अस्याम्भसो द्रवत्वं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
संवित्स्वादूपलम्भाङ्गं भुवनावर्तवृत्तिमत् ॥ ३० ॥
शाम्यत्यत्र पदार्थश्रीः सर्वासामेव भास्वति ।
एतस्मादेव चोदेति स्वालोक इव तेजसः ॥ ३१ ॥
इदमेव जगत्सर्वं शुक्लत्वं तुहिने यथा ।
अत एताः प्रवर्तन्ते विद इन्दोरिवांशवः ॥ ३२ ॥
एतस्माद्रङ्गतोऽनङ्गाज्जगच्चित्रमिदं स्थितम् ।
विद्धचभावविकारादि शान्तमेतन्मयं ततम् ॥ ३३ ॥
अस्माद्वनतरोरेताः स्वरूढा गगनाङ्गणे ।
दृश्यशाखाः प्रवर्तन्ते जगज्जालगुलुच्छकाः ॥ ३४ ॥

इस चितिरूप आत्मा में इस चिति की ही इच्छा से चितिरूप पदार्थों की शोभा अपने ही लिए वैसे ही चमत्कार कर रही है, जैसे जीभ अपने मुखरूप कोटर में चमत्कार करती है ॥ २९ ॥

इस चितिरूपी जल का जो द्रवत्व वही यह जगत् है, जिस जगत् के संवित् से ही स्वादपूर्वक उपलब्ध हो रहे रूप, रस आदि एक अङ्ग हैं तथा भुवन रूप आवर्त की जिसमें अनेक वृत्तियाँ हैं ॥ ३० ॥

सूर्य, चन्द्र, अग्निकण आदि सभी प्रकारों की रूपादि-पदार्थशोभा इसी चितिरूपी सूर्य में सुषुप्ति और प्रलय में शान्त हो जाती है तथा जाग्रत् और स्वप्न में, सूर्य आदि के तेज से अपने प्रभा-मण्डल की तरह इसी से उदित होती है ॥ ३१ ॥

तुषार में शुक्लता की तरह यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है। अतः इसी चितिरूपी ब्रह्म से ये समस्त पदार्थों की शोभाएँ, चन्द्रमा से किरणों की तरह प्रवृत्त विस्तार को प्राप्त होती हैं ॥ ३२ ॥

इसी निरवयव चितिरूप रञ्जक द्रव्य से चित्रित यह सम्पूर्ण जगत् स्वरूप चित्र स्थित है। इसलिए इस जगत् को आप जन्मादि भावविकारों तथा स्वगत विचित्रताओं से शून्य एवं शान्त चिन्मय ही जानें ॥ ३३ ॥

इसी चितिरूप जङ्गली वृक्ष से आकाशरूप आँगन में उत्पन्न तथा अनेक जगज्जालरूपी गुच्छों से सुशोभित ये सब दृश्यप्रपञ्चरूपी शाखाएँ प्रसृत हो रही हैं ॥ ३४ ॥

व्ययोदयवती नूनमत्र दृश्यतरङ्गिणी ।
नानातानन्तकुसुमा वहत्यविचलाचले ॥ ३५ ॥
अस्मिन्व्योमात्मके रङ्गे भुवनाभिनयभ्रमैः ।
नृत्यत्यविरतारम्भं वारैर्नियतिनर्तकी ॥ ३६ ॥
जगत्कोटिमहाकल्पकल्पोन्मेषनिमेषणः ।
विताने नाट्यते भूयो जन्यते कालबालकः ॥ ३७ ॥
उद्यत्स्वपि जगत्स्वेष शान्तमेवाऽवतिष्ठते ।
अनिच्छ एव मुकुरः प्रतिबिम्बशतेष्विव ॥ ३८ ॥
भूतानां वर्तमानानां सर्गाणां सम्भविष्यताम् ।
एषोऽकारणकं बीजं सर्गाणामिव कारणम् ॥ ३९ ॥
अस्योन्मेषो जगल्लक्ष्मीर्निमेषः प्रलयागमः ।
अनुन्मेषनिमेषोऽसावात्मन्येवाऽवतिष्ठते ॥ ४० ॥
उद्यन्त्यमूनि सुबहूनि महामहान्ति
सर्गागमप्रलयजन्मदशा जगन्ति ।
सर्वाणि तान्ययमपारस्वरूप एव
प्रस्पन्दनानि मरुदेव यथाऽऽस्व शान्तम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इसी चितिरूपी अचल पर्वत के ऊपर वृद्धि तथा ह्रास से युक्त एवं नाना प्रकार के भिन्नतारूपी अनन्त फूलों से सुशोभित दृश्यरूपी नदी बह रही है । आप इसमें तनिक भी सन्देह न करें ॥ ३५ ॥

इसी चिदाकाशरूपी रङ्गभूमि में भवन की रचनारूप अभिनय के भ्रमों से युक्त निरन्तर कार्यारम्भ कर रही नियतिरूपी नर्तकी कल्पभेदरूप वासरों तथा नित्य महोत्सव के दिनों से नृत्य कर रही है ॥ ३६ ॥

जिसके नेत्रों के उन्मेष और निमेष में अनेक ब्रह्माण्डों के महाप्रलय और अवान्तर प्रलय हुआ करते हैं ऐसे कालरूपी अपने बालक को ब्रह्मरूपी रङ्गभूमि के माया-मण्डप के भीतर यही नियतिरूपी नर्तकी बार-बार उपसंहृत तथा पुनः-पुनः उत्पन्न कर नाच रही है ॥ ३७ ॥

उत्पन्न हो रहे अनेक ब्रह्माण्डों के रहते हुए भी यह चिद्रू-रूपी परमात्मा इच्छादि विकारों से शून्य शान्त हो वैसे ही स्थित रहता है, जैसे सैकड़ों प्रतिबिम्बों के उदित होता हुआ भी दर्पण शान्त स्थित रहता है ॥ ॥३८॥

स्वयं कारण शून्य यह चिद्रू-रूप परमात्मा भूत, भविष्य एवं वर्तमान सृष्टियों का वैसे ही कारण है जैसे भौतिक सृष्टियों के कारण पञ्चभूत हैं ॥ ३९ ॥

इस परब्रह्म परमात्मा का उन्मेष ही जगत् का सौन्दर्य है तथा निमेष ही प्रलय का आगम है । सच पूछिये तो, जिसके उन्मेष और निमेष वस्तुतः एक-से हैं वह परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है ॥ ४० ॥

परिणामतः महान् का भी काल, देश और वैभव आदि से भी महान् हैं । अनेक महामहाब्रह्माण्डों के तथा उनके भीतर अनेक तरह के पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय एवं उनके भीतर प्राणियों के जन्म, बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जाग्रदादि दशाएँ तथा उत्कर्ष और अपकर्ष की दशाएँ इस चिदाकाश में उदित होते-रहते हैं। वे सभी अपरिच्छिन्न स्वरूप इस चिदाकाश के ही रूप हैं, जैसे कि वायु के सभी स्पन्दन वायुरूप ही हैं, वायु से भिन्न किसी दूसरी वस्तु के स्वरूप नहीं हैं । ऐसा समझकर आप शान्त स्थित रहें ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में परब्रह्मस्वरूपवर्णन नामक कुसुमलता का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

३६

वसिष्ठ उवाच

चमत्कुर्वन्त्यथानर्था आवर्ता इव वारिणि ।
एकस्वभावाः सकला यथा वारितरङ्गकाः ॥ १ ॥

३६

सांसारिक जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब, जल में आवर्त की तरह भिन्न-भिन्न स्वरूप के होकर पहले चमत्कार पैदा करते हैं अर्थात् इच्छाओं के उत्पादन द्वारा चित्त को भ्रम में डाल देते हैं उसके बाद वे राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होने से नरक आदि के रूप में पर्यवसित हो जाते हैं । जैसे सभी तरङ्ग एकमात्र जलस्वरूप हैं; वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः एक स्वभाव के हैं और एकरूप के होते हुए ये न तो किसी तरह का भ्रम पैदा करते हैं

सर्वस्यैवाऽस्य विश्वस्य निर्ज्ञेयज्ञेयरूपिणी ।
परमाकाशतारूपं परोपशमसंश्रया ॥ २ ॥
बालचिन्ता पुरो व्योम्नि न किञ्चिदपि मे यथा ।
तथेदं तत्त्वतो विश्वं सत्यं तु शिशुचेतसि ॥ ३ ॥
अरूपालोकमननं शिलापुत्रकसैन्यवत् ।
रूपालोकमनस्कारा भान्ति केवाऽत्र विश्वता ॥ ४ ॥
रूपालोकमनस्कारसारश्चिन्मात्रतां विना ।
न लभ्यतेऽसावपरं व्योमेवाऽत्र क्व विश्वता ॥ ५ ॥
विदो वित्त्वं जगद्भ्रान्तिरवित्त्वं तु न विभ्रमः ।
वित्त्वावित्त्वे त्वदायत्ते चित्ताचित्ते यथा तव ॥ ६ ॥

और न किसी तरह का अनर्थ ही पैदा करते हैं। अर्थात् इस संसार में जितने पदार्थ हैं वे सभी एक दूसरे से विरुद्ध और अनेक रूपवाले हैं, परन्तु अविरुद्ध और एकरूप से भासित होते हैं। इनमें इनका प्रथम रूप तो राग-द्वेष आदि के उपशम द्वारा मोक्ष में अत्यन्त उपयोगी है ॥१॥

इस सम्पूर्ण विश्व की सत्ता मात्ररूप परमाकाशता ही उनका रूप है और वह सम्पूर्ण विषयरूप ज्ञेय पदार्थों से निचोड़ कर जो सन्मात्र ज्ञेय वस्तु रहती है उसी रूप की है। यही कारण है कि वह परम समाधिरूपी उपशम से ही लक्षित होती है ॥ २ ॥

[प्रसिद्ध आकाश में बालबुद्धिवेद्य यक्ष, पिशाच आदि का भीषणरूप तथा बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि से वेद्य शुद्ध-रूप दृष्टान्तरूप से प्रसिद्ध है।]

जैसे बालक की चिन्ता से कल्पित यक्ष, पिशाच आदि का रूप सामने आकाश में प्रौढ़ विद्वान् की दृष्टि में कुछ भी नहीं है। विद्वान् की दृष्टि से तत्त्वतः यह सारा विश्व वैसे ही कुछ भी नहीं है। परन्तु यही संसार अज्ञानियों की दृष्टि में सत्य प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

पत्थर में खुदी चित्रगत सेना की तरह यह सारा विश्व बाह्य आन्तर विषय से रहित है। अतः विद्वानों की दृष्टि से यहाँ विश्वता कैसी ? परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि से तो यहाँ परलोक, मनन आदि सब कुछ भासमान होते ही हैं ॥ ४ ॥

विचार कर देखने से रूपालोक और मनस्कार अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थों का सार चिन्मात्र ही है। क्योंकि चिन्मात्र से अतिरिक्त, द्वितीय आकार की तरह वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यहाँ विश्वता=संसारता कहाँ रही। अर्थात् रूपालोक और मनन आदि का बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्वतः विचार करने पर जब चिन्मात्र से अतिरिक्त रूप ही दुर्लभ है तब इनसे संसारता की सिद्धि तो बहुत दूर ही है ॥ ५ ॥

इसलिए ज्ञाता पुरुष का जगत् को जगद्रूप से जानना ही जगत् की भ्रान्ति है तथा जगत् को जगद्रूप से न जानना ही सारे भ्रमों की शान्ति है। अतः इस संसार को जानना और न जानना भी वैसे ही आपके अधीन है जैसे स्मृति और विस्मृति आपके अधीन हैं ॥ ६ ॥

परमाकाशरूपत्वाच्चिद्व्योम्नो विततात्कृतेः ।
न स्वभावविपर्यासः कश्चित्सम्भवति क्वचित् ॥ ७ ॥
तन्मयस्याऽस्य विश्वस्य न स्वभावविकारिता ।
विद्यते प्रेक्ष्यमाणाऽपि किमु साऽस्य भविष्यति ॥ ८ ॥
सर्वं चिद्व्योम चैवेदं न सत्त्वमहमित्यपि ।
विकाराद्यस्ति न ज्ञप्राज्ञप्ति न लभेत् क्वचित् ॥ ९ ॥
सर्वं शान्तं शिवं शुद्धं त्वमहन्तादिविभ्रमम् ।
न किञ्चिदपि पश्यामि व्योमजं काननं यथा ॥ १० ॥
संविदाकाशशून्यत्वं यत्तद्विद्धि वचो मम ।
इदं त्वत्संविदाकाशे स्वयमात्मनि तिष्ठति ॥ ११ ॥

विस्तृत आकार वाला चिदाकाश के परमाकाशरूप है अतः उसके स्वभाव में किसी तरह का कोई परिवर्तन कहीं पर भी संभव नहीं है। क्योंकि चिति कदापि जड़ नहीं हो सकती और न आकाश ही मूर्तिमान् हो सकता है ॥ ७ ॥

चिन्मय इस विश्व की स्वभावविकारिता कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो विकारिता विचार दृष्टि से देखने पर भी दिखाई नहीं पड़ती, वह इसकी क्या हो सकती है। अर्थात् जगत् ब्रह्मसाक्षात्कार से बाध्य है, इसलिए भी यह ब्रह्म विकार नहीं हो सकता है ॥ ८ ॥

जो कुछ 'तुम, मैं' इत्यादिरूप यह संसार दिखाई दे रहा है, वह सब सद्रूप चिदाकाश ही है। इस चिदात्मा में अहङ्कार आदि विकार बाध कुछ भी नहीं है, इसलिए चिति से व्यतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् जिस न्याय से अभिमन्तव्य के विकार का निरास किया गया है, उसी न्याय से अभिमन्ता के विकार का भी निरास करना चाहिए ॥ ९ ॥

त्वत्ता और अहन्तादि सब विभ्रम शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही हैं। अतः आकाश में उत्पन्न जंगल की तरह उन्हें मैं कुछ भी नहीं देखता है ॥ १० ॥

इस तरह जो मेरा उपदेश वचन है उसे भी आप संविदाकाशरूप शून्य ही समझें, क्योंकि यह मेरा वचन

पदमाहुः परं सद्यदनिच्छोदयमासितम् ।
पाषाणपुरुषस्येव चित्रस्थस्येव चाऽऽसनम् ॥ १२ ॥
स विश्रान्तमना मौनी यस्य प्रकृतकर्मसु ।
स्पन्दो दारुनरस्येव विगतेच्छमनाकुलम् ॥ १३ ॥
अन्तःशून्यं बहिःशून्यं विरसं गतवासनम् ।
जगद्वेणोरिव ज्ञस्य जीवतो भाति जीवनम् ॥ १४ ॥
यस्य न स्वदते दृश्यमदृश्यं स्वदते हृदि ।
स बाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ॥१५॥
उच्यन्तां शब्दजालानि वंशवद्गतवासनम् ।
रसेनाऽनङ्गलग्नेन प्रकृतानन्यचोदनैः ॥ १६ ॥
स्पृश्यतां स्पर्शनीयानि यथाप्राप्तान्यवासनम् ।
कूटागारवदक्षुब्धमनिच्छममनोदयम् ॥ १७ ॥

आपकी संविदाकाशरूप आत्मा में ही स्वयंस्थित रहता है, जड़स्वरूप में नहीं ॥ ११ ॥

इस तरह प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता इन तीनों के चिन्मात्ररूप सिद्ध होनेपर, चित्र में स्थित पुरुष के तथा पाषाण के भीतर खुदे गये पुरुष के आसन की तरह, इच्छा और विषय आदि के अभाव से इच्छा के उदय के बिना जो अवस्थान है उसी को ब्रह्मरूप परमपद कहते हैं ॥ १२ ॥

वही विश्रान्तचित्त जीवन्मुक्त मुनि है, जिसकी चेष्टा प्रारब्ध प्राप्त कर्मों में इच्छा शून्य तथा बिना व्याकुलता के, कठपुतली के समान होती रहती है ॥ १३ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी को बाहर और भीतर से शून्य, रसहीन, वासना रहित; बाँस की नली के सदृश, इस जगत् का जीवन भासमान होता है ॥ १४ ॥

जिसे यह दृश्यप्रपञ्च प्रिय नहीं लगता है और चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अपने हृदय के भीतर प्रिय लगता है वह बाह्य और आभ्यान्तर से शान्तमुनि संसार-सागर से मानो पार हो गया ॥ १५ ॥

प्रस्तुत प्रारब्धशेषक्षय के अनुपयोगी शब्दों के उच्चारण से रहित, व्यवहारों में तथा उन व्यवहारों के अङ्गभूत से देहादि में अहन्ता, ममता के सम्बन्ध से रहित, माधुर्य रस से परिपूर्ण, बाँसुरी की ध्वनि के समान, वासना त्याग पूर्वक आप लोग वाणी से शब्दों का उच्चारण करते रहें ॥ १६ ॥

नट, भट, वेश्या आदि के निवासगृह के समान इच्छा रहित, मन के उदर से शून्य, वासना रहित तथा अक्षुब्ध हो आप लोग प्रारब्ध प्राप्त स्रक्, चन्दन, वनिता

स्वाद्यन्तां रसजालानि विगतेच्छाभयैषणम् ।
अपरागाभिलषणं यथाप्राप्तानि दर्विवत् ॥ १८ ॥
दृश्यन्तां रूपजालानि पुनः प्राप्तान्यवासनम् ।
अरसं निर्मनो मानमगर्वं चित्रनेत्रवत् ॥ १९ ॥
जिघ्रयन्तां गन्धपुष्पाणि विगतेच्छत्ववासनम् ।
स्पन्दबन्धोपलग्नानि त्यागाय वनवातवत् ॥ २० ॥
इति चेद्विरसत्वेन बोधयित्वा चिकित्सिताः ।
न भोगरोगास्तद्वच्च शान्त्यै नास्ति कथैव च ॥ २१ ॥
यः स्वादयन् भोगविषं रतिमेति दिनेदिने ।
सोऽग्नौ स्वमूर्ति ज्वलिते कक्षमक्षयमुज्झति ॥ २२ ॥
निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः ।
यथा शाम्येन्मनोऽनिच्छं नोपदेशशतैस्तथा ॥ २३ ॥

आदि स्पर्शनीय विषयों का स्पर्श करते चलें ॥ १७ ॥

इच्छा, भय और एषणाओं से शून्य तथा राग और अभिलाषाओं से रहित हो आप लोग दर्वी के = करछी के तुल्य अनेक तरह के प्रारब्ध प्राप्त रसों का आस्वाद लेते रहें ॥ १८ ॥

पुनः हे श्रोताओं, आप लोग इच्छा रहित, वासनाओं से शून्य तथा अभिमान से रहित हो वासना शून्य चित्रगत नेत्र के सदृश, प्राप्त रूप समूहों का अवलोकन करते रहें ॥ १९ ॥

इच्छा और वासनाओं से रहित होकर घ्राणेन्द्रिय के नजदीक ले जाकर गन्धप्रचुर पुष्पों को, वनवायु के सदृश, त्याग के लिए सूँघते रहें ॥ २० ॥

इस रीति से न कहे गये भी कर्मेन्द्रियों से प्राप्त विषयों में पहले की तरह निःसाररूप से मन को बोधित करके भोगरूपी रोगों की यदि चिकित्सा न की गई, तो फिर दुःख निवृत्ति की कथा ही क्या है ? बल्कि अनर्थ परम्परा की उत्पत्ति होती रहेगी ॥ २१ ॥

किञ्च, जो मनुष्य भोगरूपी विष का आस्वाद लेते हुए प्रसन्नता को प्रतिदिन प्राप्त होता है वह प्रज्वलित हो रही अग्नि में अपनी मूर्तिरूपी तृणपुञ्ज को निरन्तर फेंकता रहता है ॥ २२ ॥

भोगों की इच्छा के त्याग को ही आगमालङ्कारों ने वेदान्तवेत्ताओं ने समाधि कही है। इच्छा के त्याग से जैसा मन शान्त होता है वैसा सैकड़ों उपदेशों से भी शान्त नहीं होता है। अर्थात् भोगेच्छा का त्याग ही मन की शान्ति में मुख्य हेतु है ॥ २३ ॥

इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
तथा न नरके नाऽपि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ २४ ॥
इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥ २५ ॥
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथायथा ।
तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ॥ २६ ॥
यथायथेच्छा तनुतां याति जन्तोर्विवेकतः ।
तथातथोपशाम्यन्ति दुःखचिन्ताविषूचिकाः ॥ २७ ॥
यथायथेच्छा घनतां याति लोकस्य रागतः ।
तथातथा विवर्धन्ते दुःखचिन्ताविषोर्मयः ॥ २८ ॥
इच्छा चिकित्स्यते व्याधिर्न स्वयत्नौषधेन चेत् ।
तदत्र बलवन्मन्ये विद्यते नौषधान्तरम् ॥ २९ ॥

इच्छा के उदय से जैसा दुःख होता है वैसा दुःख नरक में भी प्राणी को नहीं होता है और इच्छा की शान्ति से जैसा सुख मिलता है वैसा ब्रह्मलोक में भी अनुभूत नहीं होता है। इस विषय में ययाति ने भी यही कहा है—जो काम मुख है या जो दिव्य महान् सुख है वे तृष्णा क्षयरूपी सुख की सोलहवीं कला के रूप में भी नहीं है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्'' ॥२४॥

इच्छामात्र को दुःखदायक चित्त कहते हैं और इच्छा की शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। एकमात्र इसी में सकल शास्त्र, तप, नियम और यम पर्यवसित हैं ॥ २५ ॥

जितनी-जितनी और जैसे-जैसे जन्तु को इच्छा उदित होती है, उतनी ही उतनी दुःखों की बीजमुष्टि बढ़ती जाती है ॥ २६ ॥

जैसे-जैसे विवेकज्ञान द्वारा जन्तु की इच्छा सूक्ष्म होती जाती है, वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूप हैजा भी शान्त होती जाती है ॥ २७ ॥

और जैसे-जैसे मनुष्य की भोगों में इच्छा रागतः सघन बनती जाती है, वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती ही जाती हैं ॥ २८ ॥

यदि अपने पौरुषप्रयत्नरूपी औषध से धैर्यपूर्वक इच्छारूपी व्याधि की चिकित्सा न की जा सकी, तो यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि व्याधि से छुटकारा पाने के लिए दूसरा कोई भी उत्तम औषध इस संसार में विद्यमान नहीं है। उसकी चिकित्सा के लिए धैर्यरूपी पुरुषप्रयत्न ही एकमात्र औषध है, और दूसरा कुछ नहीं ॥ २९ ॥

यदि एक ही काल में सभी इच्छाओं का पूर्णरूप से

इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥ ३० ॥
यस्त्विच्छातानवे यत्नं न करोति नराधमः ।
सोऽन्धकूपे स्वमात्मानं दिनानुदिनमुज्झति ॥ ३१ ॥
दुःखप्रसवशालिन्या बीजमिच्छैव संसृतेः ।
सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धा सा न भूयः परिरोहति ॥ ३२ ॥
इच्छामात्रं हि संसारो निर्वाणं तदवेदनम् ।
इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियतां किं वृथा भ्रमैः ॥ ३३ ॥
शास्त्रोपदेशगुरवः प्रेक्ष्यन्ते किमनर्थकम् ।
किमिच्छाननुसन्धानसमाधिर्नाधिगम्यते ॥ ३४ ॥
यस्येच्छाननुसन्धानमात्रे दुःसाध्यता मतेः ।
गुरूपदेशशास्त्रादि तस्य नूनं निरर्थकम् ॥ ३५ ॥

त्याग न किया जा सके, तो फिर थोड़ा-थोड़ा करके उसका धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए, क्योंकि सन्मार्ग का पाथिक कभी दुःख नहीं पाता ॥ ३० ॥

जो नराधम अपनी भोगों की इच्छा को सूक्ष्म बनाने में यत्न नहीं करता है, वह प्रतिदिन मानो अपनी आत्मा को अन्धकूप में फेंकता है ॥ ३१ ॥

दुःखरूपी पुष्प और फूल आदि से सुशोभित संसार रूपी लता का बीज इच्छा ही है। वह आत्म ज्ञानरूपी अग्नि से भलीभाँति दग्ध हो जानेपर फिर नहीं अङ्कुरित होती है। अर्थात् भोगों की इच्छा का आत्यन्तिक नाश तो ज्ञान द्वारा उसके मूल का नाश होने से ही हो सकता है ॥ ३२ ॥

इच्छा मात्र ही यह संसार है और इच्छा का आवेदन असत्त्वापादन अर्थात् अभाव ही निर्वाण है। इसलिए भोगों की इच्छा उत्पन्न न हो, इसमें आप लोग यत्न करें और दूसरे नानाविधि यत्नों से क्या लेना है। इधर-उधर भटकते-फिरना बेकार है ॥ ३३ ॥

आपकी इच्छा की शान्ति न होनेपर शास्त्रों के उपदेश और गुरुजनों की प्रतीक्षा निरर्थक क्यों कर रहे हैं ? इच्छा के अभावरूप चित्त को शान्त करने के उपाय का आश्रयण आप लोग क्यों नहीं कर रहे। अर्थात् इच्छा की शान्ति में यत्न न होने पर शास्त्रादि के उपदेश भी सब व्यर्थ ही हैं ॥ ३४ ॥

जिसकी अपने विवेक से केवल इच्छा का अनुसन्धान न करना दुःसाध्य हो रहा है, उसके लिए गुरुओं के उपदेश तथा शास्त्र आदि सब निरर्थक हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ३५ ॥

इच्छाविषविकारिण्यामन्त एव नृणामलम् ।
दुःखप्रसरकारिण्यां हरिण्या जन्मजङ्गले ॥ ३६ ॥
न बालीक्रियते त्वीषदात्मज्ञानाय चेदसौ ।
इच्छोपशान्तिः क्रियतां तयाऽलं तदवाप्यते ॥ ३७ ॥
निरिच्छतैव निर्वाणं सेच्छतैव हि बन्धनम् ।
यथाशक्ति जयेदिच्छां किमेतावति दुष्करम् ॥ ३८ ॥
जरामरणजन्मादि करञ्जखदिरावलेः ।
बीजमिच्छासदैवान्तर्दह्यतां शमवह्निना ॥ ३९ ॥
यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः ।
यावद्गति यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम् ॥ ४० ॥
यतो यतश्च सेच्छत्वं बन्धपाशास्ततस्ततः ।
पुण्यपापमया दुःखराशयो विततार्तयः ॥ ४१ ॥
इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च ।
दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम् ॥ ४२ ॥
यथायथाऽस्य पुंसोऽन्तरिच्छा समुपशाम्यति ।
तथातथाऽस्य कल्याणं मोक्षाय परिवर्धते ॥ ४३ ॥
आत्मनो निर्विवेकस्य यदिच्छापरिपूरणम् ।
संसारविषवृक्षस्य तदेव परिषेचनम् ॥ ४४ ॥
हृद्वृक्षजाः स्वसुखदुःखकुबीजकोशौ
वैरादिवाश्रयकृतादशुभाच्छुभाच्च ।
आसाद्य दुष्कृतकृशानुशिखाः शितान्ता
इच्छाच्छमच्छमिति पुंस्पशुमादहन्ति ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसारबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

नानाविध के विकार से इस संसार में मनुष्यों की मृत्यु वैसे ही बिलकुल निश्चित है जैसे व्याघ्र आदि से भरे जंगल में हरिणी की मृत्यु निश्चित है ॥ ३६ ॥

यदि इच्छा से वह मनुष्य लड़कों-जैसा चञ्चल न बना दिया जाय, तो उसे आत्मज्ञान के लिए बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए आप लोग भलीभाँति इच्छा की उपशान्ति ही कर डालें उसीसे वह परमपद ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इच्छा का न होना ही निर्वाण है और इच्छा सहित रहना ही मनुष्य के लिए बन्धन है, इसलिए यथाशक्ति इच्छा के ऊपर आप लोग विजय प्राप्त करें। केवल इतना करने में कौन-सी कठिनाई है ? ॥ ३८ ॥

जरा, मरण, जन्मादिस्वरूप करञ्ज और खैर की पङ्क्तियों का बीज इच्छा ही है। उसको अपने भीतर अभ्यस्त शमरूपी अग्नि से आप लोग जला दें ॥ ३९ ॥

जहाँ-जहाँ इच्छा का अभाव है वहाँ-वहाँ मुक्ति ही है। विवेक वैराग्य आदि उपायों की प्राप्ति न होने तक अपने धैर्य और बल के अनुसार उठी हुई इच्छा का नाश करते चलें ॥ ४० ॥

जहाँ-जहाँ इच्छा है वहाँ वहाँ-वहाँ पुण्य-पापमय दुःखों की राशि तथा निरन्तर फैल रहे करुण क्रन्दन से युक्त बन्धन के पाश हैं ही ॥ ४१ ॥

यदि साधु का एक क्षण भी भोगों की इच्छा के अभाव के बिना बीत गया, चोरों से जिसका सर्वस्व अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्य के समान, उसे चिरकाल तक रोते रहना ठीक ही है ॥ ४२ ॥

जैसे-जैसे इस पुरुष की वाञ्छा शान्त होती-जाती है, वैसे-वैसे मोक्ष के लिए कल्याणदायक साधन चतुष्टय उसका बढ़ता ही जाता है ॥ ४३ ॥

विवेक शून्य आत्मा की इच्छा को भलीभाँति भोगों के द्वारा जो पूरण करता है, वही संसाररूपी विषैले वृक्ष को सींचना है ॥ ४४ ॥

हृदयरूपी वृक्ष से अर्थात् आश्रयभूत लकड़ी से उत्पन्न तीक्ष्ण अग्रभागवाली इच्छारूप दुष्कृत अग्नि की शिखाएँ हृदय के अन्दर स्थित चिदाभास स्वरूप जीवरूप पशु को, उनके अश्रायभूत हृदय में किये गये पुण्य-पाप से अर्थात् उनके आश्रम में किये गये दोषापराध से ही उत्पन्न हुए मानो वैर के कारण, मोहरूपी धूम से अन्धा बनाकर तथा स्नेहपाशों से खूब बाँधकर नीचे पटक करके उसके सुख-दुःखों के कुत्सित बीजों के पात्रभूत अण्डकोशों को चारो ओर से बैंगन की तरह खूब पकाती हैं। पकाते समय उससे छाँय-छाँय शब्द निकलता है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में संसारबीजकथन नामक कुसुमलता का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

३७

वसिष्ठ उवाच

इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम् ।
शान्तये शृणु भूयोऽपि पूर्वमुक्तमपि स्फुटम् ॥ १ ॥
आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद्विद्यते तदिहेच्छया ।
इष्यतामसति त्वेतत्स्वात्मान्यत्वं किमिष्यते ॥ २ ॥
निर्भागावयवा सूक्ष्मा व्योम्नः शून्यतरैव चित् ।
सैवाहं जगदाकारा सती किं तत्तयेष्यते ॥ ३ ॥
सा व्योमरूपा व्योमैव व्योमात्मवेद्यवेदिका ।
व्योमात्मजगदाभासमत्रेच्छाविषयोऽस्ति कः ॥ ४ ॥
ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः कुतश्चिदिति तन्न नः ।
विद्यतेऽसौ प्रशान्तानां येषामस्ति न वेद्मि तान् ॥ ५ ॥
ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः स्वनिष्ठोऽपि न लभ्यते ।
असतस्तु कथं लाभः केन लब्धोऽसितः शशी ॥ ६ ॥
एषैव ग्राहकादीनां सत्ता यन्नात्मनिष्ठता ।
स्वभावावेक्षया सत्या न जाने क्व प्रयान्ति ते ॥ ७ ॥
एष एव स्वभावो यद्द्रष्टृदृश्यक्षयोऽखिलः ।
ज्ञात्वाऽसत्या विनिर्वाणमहन्ताऽऽत्मनि गच्छति ॥ ८ ॥
निर्वाणे नास्ति दृश्यादि दृश्यादौ नास्ति निर्वृतिः ।
मिथोऽनयोरनुभवो न च्छायातपयोरिव ॥ ९ ॥

३७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इच्छारूपी विष का विकार दूर करने वाले स्पष्टरूप से पहले वर्जित हुए भी योग-नामक उपाय को इच्छामूलक सम्पूर्ण अनर्थों की शान्ति के लिए आप फिर सुनें ॥ १ ॥

यदि आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ यहाँ हो, तो आप उसकी इच्छा को [उसके लिए हम आपको कुछ नहीं कहते] परन्तु आत्मा से भिन्न जब किसी दूसरे पदार्थ की सत्ता ही नहीं है, आप अपनी इस आत्मा से भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ? अर्थात् जबतक आत्मतत्त्व का भलीभाँति ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक द्वितीय वस्तु में सत्यता की भ्रान्ति से इच्छा का उदय होता है, इसलिए आत्मज्ञानयोग ही उसकी निवृत्ति में एकमात्र उपाय है ॥ २ ॥

त्रिपुटी के विभाजक उपाधियों के भेद तथा विभक्त होनेवाले अवयवों के भेद से रहित, सूक्ष्म और आकाश से भी अनन्त शून्यरूप जो चिति है, सत्यस्वरूप वही अहमाकार तथा जगदाकार से स्थित है। तो फिर आप उससे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं। अर्थात् यह जगत् सत्य ब्रह्मरूप ही है, मिथ्या नहीं है, यदि ज्ञान से आप ऐसा मानते हों, तो भी ब्रह्म और जगत् इन दोनों में अत्यन्त अभेद होने से त्रिपुटीघटित इच्छा की कभी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ३ ॥

यह चिति आकाशरूप है। आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है। यह जगत् का आभास भी आकाशरूप ही है, तब भला इसमें इच्छा का विषय ही कौन है ॥ ४ ॥

अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध प्रशान्त चित्त हम लोगों की दृष्टि में किसी भी निमित्त या प्रमाण से विद्यमान नहीं है। इसलिए भी हे श्रीरामजी ! बतलाइये आप किसी की इच्छा कर रहे हैं ? जिन अज्ञानियों की दृष्टि में यह है, उन्हें भी आत्मा से अलग नहीं जानता है, तत्त्वदृष्टि से वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं। अर्थात् ज्ञान से विषयों के गृहीत न होनेपर इच्छा उदय न होने के कारण, ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध भाव में ग्रहण की भी सिद्धि न हो सकने से ज्ञानियों को इच्छा होती ही नहीं है ॥ ५ ॥

यदि किसी तरह ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध को आत्मनिष्ठ भी मान लिया जाय, तो भी वह उपलब्ध नहीं होता है क्योंकि असत् का लाभ कैसा हो ? आजतक किसने चन्द्रमा को काले वर्ण का देखा है ॥ ६ ॥

तात्त्विक आत्मा में अविश्रान्ति अर्थात् आत्मा में परायण न होना ही एकमात्र ग्राह्य-ग्राहक आदि त्रिपुटियों की सत्ता है। अशास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा ग्राह्य ग्राहक आदि सत्य होते हुए भी शास्त्रीय तत्त्वदृष्टि का उदय होनेपर न जाने कहाँ चले जाते हैं ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञान का भी यही स्वभाव है कि असत्यरूप अहन्ता आदि अपना तत्त्व जानकर उस आत्मा में ही लीन हो जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य का वह सम्पूर्ण नाश ही विशिष्ट निर्वाण है ॥ ८ ॥

निर्वाण में दृश्य आदि नहीं हैं और दृश्य आदि में निर्वाण नहीं है। छाया और आतप की तरह इन दोनों का परस्पर सहानुभव नहीं है ॥ ९ ॥

उभे एते मिथोऽसत्ये असत्ये च न निर्वृतिः ।
यतो निर्वाणमजरमदुःखमनुभूयते ॥ १० ॥
भ्रमभूतं च दृश्यादि नित्यं नात्र सुखप्रदम् ।
असच्च तद्भाव्यतां मा निर्वाणे स्थीयतामजे ॥ ११ ॥
शुक्तिकारूप्यसदृशं प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
अर्थकार्यपि तन्नास्ति किमत्रापह्नवेन च ॥ १२ ॥
तत्सद्भावान्महद् दुःखमसद्भावान्महत्सुखम् ।
अभावः सोपपत्तिस्तु दृढतां याति भावनात् ॥ १३ ॥
तत्किमात्मनि बन्धाय विदग्धं न मुधाधमाः ।
स्पष्ट एवोपचयादेर्वस्तुन्यस्तमिताऽपदे ॥ १४ ॥
कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा तु ब्रह्मता ह्यस्मिन्संविन्मात्रात्मके तते ॥ १५ ॥
मार्गयन्ति प्रबोधाय तैर्मृगैरलमस्तु नः ।

इन दोनों के साथ रहनेपर तो परस्पर बातिध हो जाने से दोनों असत्य हो जाते हैं। असत्य में निर्वाण नहीं है, क्योंकि विद्वानों को निर्वाण अजर, अमर तथा दुःख शून्य अनुभूत होता है ॥ १० ॥

दृश्य आदि भ्रमभूत है एवं यहाँ वह कभी सुखप्रद नहीं है। इसलिए असत् और अनर्थरूप दृश्यादि की आप भावना न करें, अज निर्वाण में स्थित रहें ॥ ११ ॥

शुक्तिका में चाँदी के समान, विचारकर देखने से जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, वह पुरुषार्थ का सम्पादक कभी नहीं है। इस तरह के दृश्य में अपह्लव से क्या हुआ ॥१२॥

दृश्य के सद्भाव में महादुःख है और असद्भाव में महान् सुख है। निदिध्यासन से मनन सहित अभाव शब्दज्ञानकृत बाध दृढ़ता को प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

[अर्थात् अत्र परम कारुणिक भगवान् वसिष्ठजी दृश्य कौतुक में आसक्त अधम अधिकारियों की जो श्रोता हैं, बलात् निर्भत्सना कर उनकी दृश्यासक्ति का त्याग कराने की इच्छा से कहते हैं।]

हे अधम प्राणियों, सम्पूर्ण विकारों की अनाश्रयरूप परमार्थ वस्तु के स्वप्रकाश स्वरूप होने के कारण शास्त्रों एवं आचार्यों के उपदेश से करतल में स्थित अमलक के समान स्पष्ट स्फुरित रहते उसका अदर्शन क्यों पाते हो, दर्शन क्यों नहीं करते ? क्या अपनी आतमा को बन्धन में डालने के लिए ही उस दृश्य समूह को भस्मीभूत नहीं करते ॥ १४ ॥

कार्यकारण भावादि के ब्रह्म होने से देहादि परिच्छिन्न पदार्थों को बाध होने से विस्तार को प्राप्त चिन्मात्रात्मक प्रत्यागात्मा में ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥ १५ ॥

व्योमरूपे किलैकस्मिन् सर्वात्मनि तते सति ॥ १६ ॥
कार्यकारणताढ्यानामुक्तीनामेव कः क्रमः ।
यो हेतुः स्पन्दने वायोर्द्रवत्वे सलिलस्य च ।
शून्यत्वे नभसः सौम्य सर्गादित्वे चिदात्मनः ॥ १७ ॥
कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा ब्रह्मणि सर्गाणां कारणार्था विलज्जता ॥ १८ ॥
न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमयं जगत् ।
नास्ति चिन्मात्रतान्यत्वमत इच्छोदयः कुतः ॥ १९ ॥
मृद्देहयोधसेनायां न मृन्मात्रेतरद्यथा ।
न सज्जगदहन्तादौ दृश्ये ब्रह्मेतरत्तथा ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तदुदेत्विच्छा मा वोदेतु मुनीश्वर ! ।
सा तु ब्रह्मैव कोऽर्थः स्यादस्या विधिनिषेधने ॥ २१ ॥

आकाश स्वरूप सर्वात्मक परिपूर्ण ब्रह्म में कार्य-कारण आदि दृश्य सत्ता को स्वीकार कर जो ब्रह्मज्ञान के लिए अनेक साधन ढूँढ़ते-फिरते हैं उन तार्किक मृगों या शिष्य मृगों से हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १६ ॥

हे सौम्य ! कार्यकारण से परिपूर्ण उक्तियों में ही सर्वस्वभाव स्वरूप अविद्या के अतिरिक्त और दूसरा क्या हेतु है ? वायु के स्पन्दन में तथा जल के स्पन्दन में तथा आकाश की शून्यता में जो हेतु है, वही हेतु, चिदात्मा के सृष्टि आदि रूप होने में है ॥ १७ ॥

जब कार्यकारण भावादिरूप सब ब्रह्म ही है, तो ब्रह्म में सृष्टियों की कारणता का प्रतिपादन करना निर्लज्जता है अर्थात् यही कारण है कि विद्वान् महानुभावों को, आगे चलकर उसका बाध हो जाने से सृष्टि आदि के हेतु के निरूपण में निर्लज्ज बनना पड़ता है ॥ १८ ॥

न तो दुःख है और न सुख है, किन्तु यह जगत् शान्त शिवमय है। जब चिन्मात्रता से भिन्न कुछ नहीं है, तब भला इच्छा का उदय कहाँ से होगा ? ॥ १९ ॥

सदात्मक जगत् और अहन्तादिरूप दृश्य में सत् ब्रह्म से इतर और कुछ वैसे ही नहीं है जैसे मिट्टी की देह वाली योद्धाओं की सेना में एकमात्र मिट्टी से अन्य कुछ नहीं है ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—हे मुनीश्वर ! यदि ऐसी बात है, फिर इच्छा का उदय हो या न हो, [कोई हानि नहीं है,] क्योंकि यह भी तो ब्रह्म ही है। इसकी विधि और निषेध में कौन-सा अर्थ सिद्ध होगा, यही कहिये। अर्थात्

वसिष्ठ उवाच

ज्ञातायां सम्प्रबुद्धायामिच्छा ब्रह्मैव नेतरत् ।
यथा सम्बुद्धवान् राम ! तत्सत्यं किन्त्विदं शृणु ॥२२॥
यदा यदा ज्ञतोदेति शाम्यतीच्छा तदा तदा ॥ २३ ॥
वस्तुस्वभावादुदयत्यादित्ये यामिनी यथा ।
शाम्यत्येव न तूदेति ज्ञप्ताविच्छादि तत्तथा ॥ २४ ॥
यथायथोदयो ज्ञप्तेर्द्वैतशान्तिस्तथातथा ।
वासनाविलयश्चैव कथमिच्छोदयो भवेत् ॥ २५ ॥
तस्याविद्योपशान्तेयं निर्मला मुक्ततोदिता ।
अशेषदृश्यवैरस्याद्यस्येच्छोदेति न क्वचित् ॥ २६ ॥
विरक्तताऽस्य नो दृश्ये नोदेत्यत्रास्य रक्तता ।

यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर उसकी इच्छा भी तो ब्रह्म ही उसकी उत्पत्ति मनाने में क्षति क्या है, विद्वानों की दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं ॥ २१ ॥

[अर्थात् 'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियताम् किं वृथा भ्रमैः (इच्छा उत्पन्न न हो, इसी में यत्न को व्यर्थ के भ्रमों से कौन-सा अर्थ है, इस पूर्वोक्त यत्न में विधि और निषेध का निवारण रहते हुए भी सचमुच विद्वानों की इच्छा का उदय होने पर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु विद्या से बाधित उस इच्छा का उदय होना ही दुर्लभ है।]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! आत्मतत्त्व के ज्ञात हो जानेपर—संप्रबुध हो जानेपर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही ठहरती है, ब्रह्म से अन्य नहीं। जैसा आपने समझा है, वह सर्वथा सत्य है, किन्तु फिर भी आप यह सुन लीजिये कि—जब-जब आत्मतत्त्वज्ञान उदित होता है तब-तब सांसारिक विषयोपभोग की इच्छा शान्त हो जाती है ॥ २२-२३ ॥

क्योंकि यही वस्तु का स्वभाव है। ज्ञान का उदय होनेपर इच्छा आदि वैसा ही सब शान्त हो जाते हैं। जैसे सूर्य के उदित होनेपर रात बिलकुल शान्त हो जाती है, उदित नहीं होती है ॥ २४ ॥

जैसे-जैसे ज्ञान का उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैत की शान्ति और वासना का विलय होता है, तब भला इच्छा का उदय कैसे हो ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में वैराग्य आ जाने से जिस पुरुष की इच्छा कहीं उदित नहीं होती, उसकी यह सांसारिक अविद्या शान्त हो गयी और निर्मल मुक्ति उदित हो गयी। अर्थात् मूल का उच्छेद होने से भी विद्वानों की इच्छा के उदय का संभव नहीं है ॥ २६ ॥

केवलं द्रष्टृदृश्यश्रीः स्वदते न स्वभावतः ॥ २७ ॥
काकतालययोगेन परप्रेरणयाऽनया ।
यदि किञ्चित्कदाचिच्च सम्यगिच्छति वा न वा ॥२८॥
तदस्य सेच्छा नेच्छा वा ब्रह्मैवात्र न संशयः ।
इच्छा न जायते ज्ञस्यावश्यमेवानु वा न वा ॥ २९ ॥
ज्ञता चेदुदिता जन्तोस्तदिच्छाऽस्योपशाम्यति ।
नैतयोः स्थितिरेकत्र प्रकाशतमसोरिव ॥ ३० ॥
प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः क्वचित् ।
शान्तसर्वैषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते ॥ ३१ ॥
एतदेव ज्ञताचिह्नं यदिच्छास्वतितानवम् ।
ह्लादनं सर्वलोकानामथानुभव एव वा ॥ ३२ ॥

इस पुरुष के न तो इन दृश्य पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न होता है और न इसको राग ही उदित होता है। केवल स्वभाव से ही द्रष्टा और दृश्य की शोभा इसे अच्छी नहीं लगती है ॥ २७ ॥

काकतालीय न्याय से अर्थात् आकस्मिक घटना से या अन्य किसी की प्रेरणा से यदि कदाचित् कुछ इच्छा करता भी है, तो फिर वह देहमात्र धारण में साधनभूत शास्त्रों से अनिषिद्ध अन्न आदि की कुछ इच्छा करता वह समीचीन है या नहीं भी करता है ॥ २८ ॥

इस स्थिति में इस आत्मतत्त्वदर्शी की वह इच्छा या अनिच्छा दोनों ब्रह्मस्वरूप ही हैं; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि इस तत्त्वज्ञानी को अभिनवभोगचमत्कारविषयक इच्छा उदित नहीं होती है या पूर्वकाल में अभ्यस्त हुए भोगों का अनुसरण करने के कारण उसकी स्थिति अनियत है ॥ २९ ॥

यदि किसी जीव को तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेपर उसकी इच्छा तत्काल ही निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के सदृश तत्त्वज्ञान और इच्छा दोनों की स्थिति एक जगह नहीं हो सकती है ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष किसी-भी विधि निषेध शास्त्रों का अधिकारी नहीं रहना है, क्योंकि समस्त इच्छाओं से शून्य इस तत्त्वदर्शी को किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कौन कौन क्या उपदेश दे सकता है ? क्या कहीं अन्य पुरुष देखने वाले को 'कूप में नहीं गिरना चाहिए', ऐसा उपदेश भी दे सकता है। अर्थात् इसीलिए राग प्राप्त विधि-निषेध शास्त्रों में वह इच्छाशून्य तत्त्वज्ञानी अधिकृत नहीं होता है ॥ ३१ ॥

सब इच्छाओं का सर्वथा निरास होना और सब लोगों

दृश्यं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित् ।
तदा नेच्छा प्रसरति तदैव च विमुक्तता ॥ ३३ ॥
बोधादनैक्यमद्वैतं यः शान्तमवतिष्ठते ।
यः स्वच्छो विगतव्यग्रः शान्त आत्मन्यवस्थितः ॥३४॥
बोधादनैक्यमद्वैतमद्वैतैक्यविवर्जितम् ।
यः स्वच्छो विगतव्यग्रः शान्त आत्मन्यवस्थितः ॥३५॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३६ ॥
नानिच्छयाऽनेच्छयाऽथ न सता नाऽसता सदा ।
नैवात्मना न चान्येन नैतैर्मरणजोतितैः ॥ ३७ ॥
इच्छा च तस्य नोदेति निर्वाणस्य प्रबोधिनः ।
यदि चोदेति तस्येच्छा ब्रह्म शाश्वतमेव सा ॥ ३८ ॥

को अभयदान द्वारा प्रसन्न रखना एवं अपने आत्मानन्दानुभव में स्थित रहना तत्त्वज्ञान का चिह्न है। अर्थात् बाह्य इच्छा की निवृत्ति और स्वात्मानन्दानुभव में तृप्ति— ये दोनों आत्मज्ञान की प्राप्ति के चिह्न हैं ॥ ३२ ॥

सारा प्रपञ्च नीरस हो जानेपर कहीं पर भी तत्त्वदर्शी स्वाद नहीं लेता है, तब इच्छा भी बढ़ती नहीं और तभी उसकी मुक्ति भी रहती है ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञान से एकता और अनेकता के विवाद को छोड़कर भी पुरुष चुपचाप स्थित हो जाता है उस पुरुष के इच्छा, अनिच्छा आदि सभी भाव परब्रह्म स्वरूप ही हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञान से द्वैत बुद्धि के नष्ट हो जानेपर एवं द्वैत नाशरूप वस्तु तथा एकत्व संख्या से रहित हो पुरुष स्वच्छ, व्यग्रता रहित और शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है उस पुरुष को यहाँ न तो किसी कर्तव्य से प्रयोजन है और न अकर्तव्य से ही प्रयोजन है एवं न तो सब भूतों में किसी प्रयोजन की प्राप्ति ही है ॥ ३५–३६ ॥

न तो इच्छा से, न अनिच्छा से, न सद्वस्तु से, न अपने से, न दूसरे से और न इन जीवन-मरणों से तत्त्वदर्शी को किसी भी समय प्रयोजन का लाभ नहीं होता है ॥ ३७ ॥

अपना मुक्त स्वरूप जानने वाले तत्त्वदर्शी को कभी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती है। यदि उत्पन्न होती है, तो उसकी वह इच्छा अविनाशी ब्रह्मरूपिणी ही रहती है ॥ ३८ ॥

न दुःख है और न सुख ही है, किन्तु यह सारा जगत्

न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमजं जगत् ।
इति योऽन्तः शिलेवास्ते तं प्रबुद्धं विदुर्बुधाः ॥ ३९ ॥
दुःखं सुखं भावनया कुर्वन् विषमिवामृतम् ।
इति निश्चित्य धीरात्मा प्रबुद्ध इति कथ्यते ॥ ४० ॥
तत्स्थितं व्योमनि व्योम शान्ते शान्तं शिवे शिवम् ।
शून्ये शून्यं सति च सद्यद्ब्रह्मणि जगत्स्थितम् ॥ ४१ ॥
असंवेदनसंवित्खे ततेऽविश्वमिति स्थिते ।
सौम्ये समसमे शान्ते शिवेऽहन्ताभ्रमः क्षयी ॥ ४२ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सर्वं शान्तमाकाशं परचिन्तापुरोपमम् ॥ ४३ ॥
परचिन्तापुरोमध्ये गतविघ्नं गमागमौ ।
यथाऽन्तस्तव शून्यत्वात्तथैवास्मिन् जगद्भ्रमे ॥ ४४ ॥

अज, आनन्द स्वरूप शान्त परब्रह्म ही है, इस तरह के निश्चय से अपने भीतर अचल अर्थात् पत्थर के सदृश अटल रूप से रहनेवाले को पण्डित लोग विद्वान् कहते हैं ॥ ३९ ॥

पूर्ववर्णित आत्मतत्त्व का निश्चय कर दुःख को निरतिशयानन्दरूप आत्मा की तरह सुखस्वरूप बना रहा धीरात्मा योगी ही प्रबुद्ध कहा जाता है ॥ ४० ॥

जब ब्रह्म जगत् के स्थिति होनेपर आकाश में आकाश, शान्त में शान्त, शिव में शिव, शून्य में शून्य और सत् स्थित हो जाता है, विपरीतरूप से कोई पदार्थ किसी में स्थित नहीं रहता है। अर्थात् तत्त्वबोध के अनुसार जो स्थिति ही समस्त वस्तुओं की अभ्रान्त स्थिति है, ऐसी स्थिति अज्ञानियों में प्रसिद्ध नहीं हैं ॥ ४१ ॥

इस प्रकार से जगत् नहीं है, इस भावना से जब व्यापक विषय शून्य संविद्-रूप आकाश स्थित हो जाता है, तब सब में एकरूप से रहने वाला सौम्य शान्त आनन्दमय आत्मा में अहन्त का भ्रम नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

यह कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक दिखाई दे रहा जगत् है वह सब शान्त, आकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है और जो कुछ दिखाई दे रहा है वह दूसरे के मनोराज्य-नगर के सदृश तुच्छ है ॥ ४३ ॥

अन्य पुरुष के मनोराज्य के कल्पित नगर में तुम्हें भीतर आने-जाने में जैसे किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती इस जगद्रूप भ्रम में किसी प्रकार की रुकावट विद्वान् को वैसे ही नहीं होती है ॥ ४४ ॥

अब्धिद्यूर्वीनदीशैलशोभाशून्यतरात्मनि ।
जृम्भते द्रष्टृकरणं मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥
स्वप्ननिर्माणपुरवद्बालवेतालतालवत् ।
यदिदं दृश्यते तत्र किं किलासत्यतेतरत् ॥ ४६ ॥
असत्यमेवाहमिति भासते सत्यमेव च ।
भ्रान्तिभाजं विनैवेयं भ्रान्तिः स्फुरति साऽसती ॥४७॥
न सन्नासन्न सदसत्किमपीदमतीन्द्रियम् ।
अवाच्यं जगदित्येव भात्यवक्षुभितं खवत् ॥ ४८ ॥
इहेच्छानिच्छते ज्ञस्य शाम्यतां यदलं समे ।
तथापि श्रेयसे मन्ये नन्वनिच्छोदयं स्फुटम् ॥ ४९ ॥

समुद्र, आकाश, पृथिवी, नदी, पर्वत आदि से शून्य आत्मा में द्रष्टा का अन्तःकरण ही समुद्र आदि की शोभा के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त कथन सिद्ध है। क्योंकि तृषार्त एवं श्रान्त पुरुष का नेत्ररूप करण ही जलशून्य सामने के प्रदेश में मृगतृष्णाजलतरङ्गरूप में परिणत हो जाता है ॥ ४५ ॥

यह जो कुछ दिखाई दे रहा है वह स्वप्न में बने हुए नगर के सदृश एवं बालक द्वारा कल्पित उन्नत वेताल के सदृश मिथ्या ही है। इस स्थिति में उसमें असत्यत्व को छोड़कर दूसरा सत्यत्व ही क्या है? अर्थात् भ्रान्तिग्रस्त पुरुष स्वयं मिथ्या है, इससे भी भ्रान्ति में मिथ्यात्व है ॥ ४६ ॥

सत्यभूत ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' इत्यादिरूप से असत्य होकर ही भासमान होता है, इसलिए भ्रान्तिग्रस्त पुरुष के बिना ही यह भ्रान्ति भासमान होती है, अतः भ्रान्ति असत्य अर्थात् मिथ्या है ॥ ४७ ॥

यह जगत् न सत् है और न असत् तथा न तो सत्-असत् उभयरूप है, इसका तत्त्व भी किसी इन्द्रिय से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। यह अनिर्वचनीय ही है, इस रूप का होनेपर भी गन्धर्वनगर आदि से क्षुब्ध आकाश के सदृश प्रतीत होता है। अभिप्राय यह है कि यदि जगत् को अत्यन्त ही असत् ही मान लिया जाय, तो शून्यवादियों के मत ही अपनी गिनती होने लगेगी, अत्यन्त सत् मान लिया जाय, तो श्रुति और तत्त्ववेत्ताओं के अनुभव के साथ विरोध होगा। यदि सत्-असत् उभयरूप मान लें, विरोध होने के कारण एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं, इन सब बातों से अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा ॥ ४८ ॥

अहं जगदिति ज्ञप्तिः खे खस्येवेयमास्थिता ।
चिदात्मनो यथा वायोः स्पन्दो नात्रास्ति कारणम् ॥५०॥
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तं सैव संसृतिः ।
सेच्छा तन्मुक्ततामुक्तिर्युक्तिं ज्ञात्वेति शाम्यताम् ॥५१॥
इच्छा भवत्वनिच्छा वा सर्गो वा प्रलयोऽथवा ।
क्षतिर्न कस्यचित्काचिन्न च किञ्चिदिहास्ति हि ॥ ५२ ॥
इच्छानिच्छे सदसती भावाभावौ सुखासुखे ।
इत्यत्र कलना व्योम्नि सम्भवन्ति न काश्चन ॥ ५३ ॥
इच्छानां तानवं यस्य दिनानुदिनमागतम् ।
विवेकशमतृप्तस्य तमाहुर्मोक्षभागिनम् ॥ ५४ ॥

तत्त्वबोध के बल से ही भलीभाँति शान्त विषयों की इच्छा या अनिच्छा दोनों तत्त्वज्ञानी के लिए समान हैं अर्थात् दोनों का फल समान है, अनिच्छा का उदय ही विशेष शून्य सुखाभिव्यक्ति का हेतु होने से कल्याणकारक है, यह मेरा मन्तव्य है ॥ ४९ ॥

आकाश में आकाश की तरह अविकृत चिदाकाश में ही 'आकाशाद् वायुः' आकाश से वायु इत्यादि श्रुति-दर्शित क्रम के अनुसार 'अहं जगत्' इत्याकारक चिदात्मा की कलना स्थित है, इससे वायु में स्पन्दन की तरह दूसरे किसी कारण की अन्वेषणा नहीं करनी चाहिए ॥ ५० ॥

चिति की बाह्य विषयों की ओर उन्मुखता ही चिति है, वही संसार है और वही इच्छा है तथा बाह्य विषयों की ओर से उन्मुखता को हटा देना ही मुक्ति है, इस मुक्ति को जानकर आप शान्त हो जाइए। अर्थात् चिति की बहिर्मुखता ही इच्छा, चित्त और संसार है तथा अन्तर्मुखता ही मुक्ति है ॥ ५१ ॥

श्रीरामजी, इच्छा हो या अनिच्छा हो, सृष्टि हो या प्रलय हो, इससे यहाँ किसी की भी न क्षति है या न कुछ फल है। इस स्थिति में सृष्टि या प्रलय दोनों अवस्थाओं में जैसे ईश्वर को कोई हानि या लाभ नहीं होता है वैसे ही इच्छा या अनिच्छा दोनों अवस्थाओं में विद्वान् को कोई हानि या लाभ नहीं होता है ॥ ५२ ॥

इच्छा-अनिच्छा, सत्-असत्, भाव-अभाव तथा सुख-दुःख—ये सब कल्पनाएँ इस तत्त्ववेत्ता के स्वरूपभूत चिदाकाश में कुछ हो ही नहीं सकती है ॥ ५३ ॥

जिस महामति को दिन-पर-दिन समस्त इच्छाओं की कमी होती जाती है, विवेक-शम से सन्तुष्ट उस महामति को ही विद्वान् लोग मोक्षभागी कहते हैं ॥ ५४ ॥

इच्छाक्षुरिकया विद्धे हृदि शूलं प्रवर्त्तते ।
जयन्ति यत्र नैतानि मणिमन्त्रौषधानि च ॥ ५५ ॥

यान्कार्यकरणव्यूहान् कृतवान् पूर्वमेव तान् ।
संप्रेक्षया न पश्यामि मिथ्याभ्रमभराद्दृते ॥ ५६ ॥

भ्रमभूतेन कुर्मश्चेद्व्यवहारमवस्तुना ।
तत्कस्मात्परचित्ताद्रिः कवलत्वं न नीयते ॥ ५७ ॥

असता व्यवहारश्चेत्प्रेक्षामात्रविनाशिना ।
क्रियते शशशृङ्गेण तत्कथं छाद्यते न खम् ॥ ५८ ॥

अहम्भावाच्चिदाकाशो जाड्यातिशयतः क्षणात् ।
पाषाणतां जलमिव मनस्त्वाद्याति देहताम् ॥ ५९ ॥

इच्छा रूपी छुरी से विद्ध हृदय में ऐसी वेदना उत्पन्न होती है कि जिसके लिए ये प्रसिद्ध मणि-मन्त्र आदि महौषध सब कुण्ठित हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजी ने प्राणियों के दुःखों की चिकित्सा करने के लिए जिन औषध, मन्त्र, यन्त्र आदि कार्यकरणों का निर्माण किया है उनकी परीक्षा के लिए पहले ही मैंने विचारपूर्वक प्रयत्न किया, परन्तु उनको मैंने मिथ्या-भ्रान्ति के भार से आक्रान्त पुरुष में चिकित्सा समर्थ नहीं पाया ॥ ५६ ॥

हमारी भ्रान्ति से सिद्ध अवस्तुरूप किसी उपाय से अन्य भ्रान्ति सिद्ध दुःख आदि का निवारण आदि व्यवहार हम कर लेंगे तो इसपर हमारा यही उत्तर है कि हम लोगों के मनोरथ से सिद्ध अत्यन्त विस्तृत मुख से दूसरे के स्वप्न में सिद्ध विस्तृत पर्वत क्यों नहीं निगला जाता ॥५७॥

विचार मात्र से विनष्ट भ्रान्ति सिद्ध असत् पदार्थ से यदि व्यवहार मान लें तो शशशृङ्ग से आकाश क्यों नहीं आच्छादित होता, इससे तत्त्वज्ञानाभिव्यक्त पारमार्थिक ब्रह्म ही सर्वविध भ्रमों के निवारण का उपाय है, दूसरा नहीं है अर्थात् भ्रान्तिसिद्ध वस्तु असल में असत् होने के कारण पारमार्थिक दुःख निवारण में सामर्थ्य नहीं रखती है ॥ ५८ ॥

[अमूर्त मन की भ्रान्ति मात्र यह जगत् मूर्तदेहादि भाव को कैसे प्राप्त हो जाता है ।]

चिदाकाश मन के कारण देहाकाराहंभाव से अर्थात् देहादि में अहन्ता के अभिमान से देहाकारता को वैसे ही प्राप्त हो जाता है जैसे जाड्यातिशय के कारण अर्थात् अत्यन्त शीतलता के कारण जल पाषाण रूपता को प्राप्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

चित्त्वादनुभवत्येतामसत्यामेव देहिताम् ।
अविनष्टैव चिच्छक्तिः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ६० ॥

व्योम्न्यसत्यमवस्तुत्वात्सत्यं चानुभवाद्यथा ।
नीलत्वं तद्वदीशेऽस्मिन् सर्गो नासन्न सन्मयः ॥ ६१ ॥

यथा शून्यत्वनभसोर्यथास्पन्दनभस्वतोः ।
भेदो नास्ति तथा सर्गब्रह्मणोरेकरूपयोः ॥ ६२ ॥

नेह सञ्जायते किञ्चिज्जगदादि न नश्यति ।
स्वप्नो निद्रागतस्येव केवलं प्रतिभासते ॥ ६३ ॥

अविद्यमाने पृथ्व्यादौ प्रतिभामात्ररूपिणि ।
सर्गे क इव संरम्भस्त्यागादानैश्चिदम्बरे ॥ ६४ ॥

जड देह रूप होने पर भी वस्तुतः चिति शक्ति अक्षत ही रहती है, विनष्ट नहीं होती है । यही कारण है कि चिद्रूप होने से इस असत्य ही देहिता का वह वैसे ही अनुभव करती है, जैसे स्वप्न में अपनी मृत्यु का ॥६०॥

[अर्थात् प्रतिभासिक जड़ता का अस्तित्व प्रतिभास के अधीन है, इसलिए प्रतिभासिक जड़ता अनिर्वचनीय है ।]

इस परमात्मा में यह सृष्टि सत्य के समान भासमान होती है, वैसे ही वस्तुतः वह न तो सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है जैसे आकाश में नीलत्व अवस्तुरूप होने से असत् है, प्रतिभास के कारण सत्य के समान भासमान होता है, परन्तु वस्तुतः सत्य ही नहीं है ॥ ६१ ॥

एकरूप ब्रह्म और सृष्टि में भी वैसे ही कोई भेद नहीं है जैसे आकाश और शून्यता में एवं जैसे स्पन्दन और वायु में कोई भेद नहीं है । अर्थात् यही कारण है कि जगत् और ब्रह्मसत्ता के एकरूप होने से इन दोनों में कोई भेद नहीं है ॥ ६२ ॥

इस परमात्मा में वस्तुतः जगत् आदि कुछ भी न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है । किन्तु केवल निद्राग्रस्त प्राणी के स्वप्न के सदृश भासमान होता है । अर्थात् स्वाप्नादिक पदार्थों की तरह प्रतिभास से अतिरिक्त प्रतिभासिक पदार्थों की उत्पत्ति आदि कहीं भी नहीं है ॥ ६३ ॥

चिदाकाश में पृथिवी आदि के अविद्यमान रहते तथा सृष्टि के एकमात्र प्रतिभास स्वरूप सिद्ध होनेपर मनुष्य को उसके त्याग और ग्रहण में भला कौन-सा आग्रह ? अर्थात् इसलिए इसके त्याग और ग्रहण में मनुष्य को अभिनिवेश रखना युक्त नहीं है ॥ ६४ ॥

न देहः प्रतिभातोऽस्ति पृथ्व्यादिकारणान्वितः ।
केवलं ब्रह्मचिन्मात्रमेवात्मन्येव संस्थितम् ॥ ६५ ॥
बुध्यादेः कारणत्वं च द्वैतैक्यासम्भवान्न सत् ।
अनेनेदं क्रियत इत्यस्यार्थं याति सम्भवात् ॥ ६६ ॥
अहेतुरक्रमं भाति चिति कल्पक्रियागणः ।
क्षणेनैव यथा स्वप्ने मृतिजन्मादि सत्वराः ॥ ६७ ॥
खमेव पृथ्वी खं शैलाः खमेव दृढभित्तयः ।
खमेव लोका स्पन्दः खं संसर्गसंवेदनं चितेः ॥ ६८ ॥
व्योमभित्तौ जगच्चित्रं चिद्रङ्गमयमाततम् ।
नोदेति नास्तमायाति न शाम्यति न ताम्यति ॥ ६९ ॥
चिद्वारिणि जगत्तुङ्गतरङ्गद्रवरूपिणि ।
किं नु वा कथमुत्पन्नं किं शान्तं च कदा कथम् ॥ ७० ॥
शान्ते महाचिदाकाशे जगच्छून्यत्वशालिनि ।

पृथिवी आदि कारण सहित यह देह भी एकमात्र प्रतिभासिक स्वरूप होने से नहीं ही है, केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अपनी आत्मा में स्थित है। अर्थात् देह के लिए पृथिवी आदि का त्याग और ग्रहण हो सकता है, परन्तु जब वे ही दोनों (पृथ्व्यादि और देह) एकमात्र प्रतिभास स्वरूप होने से असत् हैं, तब तो वे त्याग और ग्रहण भी असत् ही हैं ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार बुद्धि आदि में अपने प्रतिभासक चैतन्यात्मा की अपेक्षा से भेद और अभेद का संभव न होने कारण 'इससे यह किया जाता है' इस तरह के व्यवहार की असत् भी कारणता अन्त में परमार्थ वस्तु को ही प्राप्त करती है, क्योंकि एकमात्र उसी का संभव है ॥ ६६ ॥

इस चिति में कल्प, महाकल्प एवं उनमें होने वाली सब क्रियाएँ अहेतुक तथा अक्रमिक हैं और वे भासित होते हैं, जैसे स्वप्न में क्षणभर में ही अहेतुक तथा अक्रमिक जन्म-मरण आदि शीघ्र भासित होते हैं ॥ ६७ ॥

चिति को सृष्टि का संवेदन अपनी ही आत्मा में होता है और दूसरी जगह नहीं, इसलिए यह सारी पृथिवी चिदाकाश स्वरूप ही है, ये पर्वत सब चिदाकाश हैं, अत्यन्त दृढ़ भित्तियाँ और ये सब लोक चिदाकाशरूप ही हैं एवं स्पन्द भी चिदाकाश ही है ॥ ६८ ॥

चिदाकाशरूप भित्ति में जगद्रूपी महान् चित्र चिति-रूपी रङ्ग से ही व्याप्त है। न तो इस चित्र का उदय होता है, न अन्त होता है, न तो शान्त होता है और न ग्लानि होती है ॥ ६९ ॥

जगद्रूपी महातरङ्गों से युक्त द्रवशील चितिरूपी जल में कौन पदार्थ कैसे कब उत्पन्न हुआ या कौन पदार्थ कब

चेत्यासम्भवतः सन्ति नोदयास्तमयौ कुतः ॥ ७१ ॥
पर्वता गगनायन्ते गगनं पर्वतायते ।
संवेदनप्रयोगेण ब्रह्मणः सर्गतास्थितौ ॥ ७२ ॥
संविच्चूर्णप्रयोगेण निमेषार्द्धेन योगिनः ।
कुर्वन्ति जगदाकाशमाकाशं त्रिजगन्ति च ॥ ७३ ॥
सिद्धसङ्कल्पनगराण्यसंख्यानि यथाऽम्बरे ।
तथा सर्गसहस्राणि सन्ति तानि तु चिन्नभः ॥ ७४ ॥
महार्णवे यथाऽऽवार्ता अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते पयसोऽन्ये च नैव ते ॥ ७५ ॥
महाचिति महासर्गा अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते व्यतिरिक्ता न ते ततः ॥ ७६ ॥
सर्गात्सर्गान्तरालोके या प्रबुद्धस्य योगिनः ।
सिद्धलोकान्तरे प्राप्तिः सैवेति विबुधोक्तयः ॥ ७७ ॥

कैसे शान्त ही हुआ ॥ ७० ॥

जब विषयों का सर्वथा असंभव होने से जगत् ही नहीं है, तो फिर जगत् की शून्यता से शोभित, शान्त, महाचिदाकाश में जगद्रूप से चिति के उदय और अन्त ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं। अर्थात् तब तो जगद्-रूप से चिति के ही उदय और अस्त होते रहें, हानि क्या है, इसके समाधान में यह कहा है ॥ ७१ ॥

ब्रह्मा के सृष्टिरूप में विवर्तित होनेपर संवेदन के प्रयोग से अर्थात् विचित्र वासनाओं के अनुसार उत्पन्न संकल्प से से तो पर्वत भी आकाशरूप में परिणत हो सकते हैं और आकाश भी पर्वत बन सकते हैं। अर्थात् परन्तु यदि माया-विलास सृष्टि से देखने पर तो फिर सभी पदार्थों में सर्वरूपता की यथेच्छ उपपत्ति हो जाती है ॥ ७२ ॥

संविद्रूप सिद्धौषधचूर्ण के प्रयोग में योगिजन आधे निमेष में जगत् को आकाशरूप और आकाश को तीनों जगत् के रूप में कर डालते हैं ॥ ७३ ॥

चिदाकाश में ब्रह्म में हजारों वे सृष्टियाँ वैसे ही हैं जैसे इस प्रसिद्ध आकाश में असंख्य सिद्ध संकल्पों से कल्पित नगर परस्पर असंलग्न एवं अन्तर्हित हैं ॥ ७४ ॥

महाचिति में असंख्य बड़ी-बड़ी सृष्टियाँ ब्रह्माण्ड परस्पर वैसे ही मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं। पर वास्तव में वे उससे अलग नहीं हैं। जैसे महसमुद्र में अनेक आवर्त परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं, वास्तव में वे जल से अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ७५–७६ ॥

परस्पर छिपे हुए सिद्धों के भिन्न-भिन्न लोकों की इच्छा से प्रबुद्ध योगी की पहले अपनी उपाधि का मूल

अविनाशिनि भूतानि स्थितानि परमे शिवे ।
व्योम्नीव शून्यतोल्लासाः सर्गवर्गा निरर्गलम् ॥ ७८ ॥
परमार्थनिजामोदाः सहजाः सर्गविभ्रमाः ।
नोद्यन्ति नोपशाम्यन्ति लेखा इव शिलोदरे ॥ ७९ ॥
अन्योन्यं कुसुमामोदा मिलिता अप्यमीलिताः ।
व्योमरूपास्तथा सर्गा अन्योन्यं सिद्धभूमयः ॥ ८० ॥
सङ्कल्पाकाशरूपत्वात्सर्वानुभववत्स्थितेः ।
तनुसङ्कल्पमोहानां सत्याश्च मननोक्तयः ॥ ८१ ॥
न ज्ञानवादिता सत्या न बाह्यानर्थवादिता ।
यथा वेदनमेतानि वेदनानि फलन्ति वः ॥ ८२ ॥
चिति चित्त्वं यदस्त्यन्तर्जगदित्येव भाविते ।
भेदो द्रवत्वपयसोरिव नात्रोपपद्यते ॥ ८३ ॥
कालो जगन्ति भुवनान्यहमक्षवर्ग-
स्त्वं तानि तत्र च तथेति च सर्वमेकम् ।
चिद्व्योम शान्तमजमव्ययमीश्वरात्म-
रागादयः खलु न केचन सम्भवन्ति ॥ ८४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

चेतन में प्रविलापन कर फिर दूसरे के चित्त में प्रवेश कर उसके लोक में जो अनुप्रवेश रूप प्राप्ति है, वही एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि के अवलोकन के लिए भी है, यह विद्वान् लोग बतलाते हैं (लीलोपाख्यान देखे) ॥ ७७ ॥

अविनाशी परम शिव में ये सभी भूत स्थित हैं । उसी में ये सारी सृष्टियाँ विना किसी रोक से वैसे ही स्थित हैं, जैसे आकाश में शून्यता के उल्लास स्थित हैं । अर्थात् इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों में एवं उनके योग्य सृष्टियों की की विवर्तरूप स्थिति शाश्वत ब्रह्म में ही है ॥ ७८ ॥

परमार्थ चिदाकाश के आमोदरूप स्वाभाविक ये सृष्टि के विभ्रम हैं । ये स्फटिकमणि के भीतर दिखाई दे रही रेखाओं की तरह न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं ॥ ७९ ॥

चिदाकाशरूप ये सृष्टियाँ वैसे ही परस्पर मिली हुई रहने पर भी मिली हुई नहीं रहती है जैसे पुष्पों की गन्ध और सिद्धों की भूमि परस्पर मिली हुई रहने पर भी मिली हुई नहीं रहती ॥ ८० ॥

इस प्रपञ्च की स्थिति सङ्कल्पाकाशरूप होने से जिसका जैसा अनुभव है वैसी ही स्थिति रहती है । इस-लिए सूक्ष्म सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियों की मननपूर्वक जगत् के विषय में जो कुछ उक्तियाँ हैं, वे सर्वथा सत्य हैं । अर्थात् यही कारण है कि स्थूल सङ्कल्प और मोहवाले पामरजनों की दृष्टि से इस प्रपञ्च की स्थूल अनुभव के समान स्थिति है तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियों की दृष्टि से सूक्ष्मादि भाव से इस प्रपञ्च की स्थिति है । ऐसी स्थिति में सबका अनुभव एक समान न होने के कारण अपने-अपने अनुभव के अनुसार सबकी उक्तियाँ सत्य ही है ॥ ८१ ॥

न तो विज्ञानवादी बौद्धों की आन्तर विज्ञानमात्र परमार्थवादिता (विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त है कि एकमात्र आन्तर विज्ञान ही परमार्थ वस्तु है और कुछ नहीं) सत्य है और न वैशेषिकों की बाह्यानर्थवादिता । (वैशेषिकों का मत है कि दुःख के हेतुभूत द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात बाह्य ही सत्य हैं) ही सत्य है, किन्तु आप लोगों के सङ्कल्प के अनुसार ये सभी ज्ञान फलीभूत होते हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न वादियों की जो विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ हैं वे भी तत्-तत् वासनाओं से परिपूर्ण सङ्कल्पों के अनुसार ही सत्य हैं, सबके सङ्कल्पों के अनुसार या परमार्थरूप से वे सत्य नहीं हैं, यह भिन्न-भिन्न वादियों को सम्बोधित कर कहा है ॥ ८२ ॥

[तब इनमें कौन-सा पक्ष प्रामाणिक है, उसको बतलाते हैं—'चिति' इत्यादि से ।]

वस्तुतः चिति में जो चित्त्व है अर्थात् त्रिपुटी प्रकाशन की ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के प्रकाशन की शक्ति है, वही भीतर भावित होने पर 'जगत्' रूप से भासमान होती है । इसलिए चिति और जगत् में भेद वैसे ही उपपन्न नहीं होता, जैसे जल और द्रवत्व में भेद नहीं उपपन्न होते हैं ॥ ८३ ॥

सर्वाधारकाल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चौदह भुवन, उन भुवनों के अन्तर्गत अहम् तथा त्वम् आदि भोक्ता, भोक्ताओं के भोगों के उपकरणभूत इन्द्रियसमूह, शब्द, स्पर्श आदि भोग्य विषय और उनमें विचित्र भोग ये ईश्वरात्मक अर्थात् मायिक सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदि से सम्पन्न और परमार्थतः शान्त, एक, अज, अविनाशी चिदाकाशरूप अर्थात् ब्रह्म ही है । ऐसा निश्चय होने पर राग आदि का भी सम्भव नहीं है ॥८४॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में दृश्योपदेशयोग नामक कुसुमलता का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

३८

वसिष्ठ उवाच

चित्पश्यति जगन्मिथ्यास्ववेदनविबोधिता ।
व्योम्नि मायाञ्जनासिक्ता दृगिवाचलान्तरम् ॥ १ ॥
ब्रह्मसर्गश्चित्तसर्गो द्वावेतौ सदृशौ मतौ ।
परमार्थस्वरूपत्वादक्षुब्धत्वात्सदैव च ॥ २ ॥
ज्ञानरूपतया बाह्यं बाह्यं चानुभवात्तथा ।
सत्यरूपमतः सत्यां विद्धि बाह्यार्थरूपताम् ॥ ३ ॥
बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः ।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदाऽसदसंस्थितेः ॥ ४ ॥
अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनी ।
तता शून्या महारम्भा ब्रह्मसत्तैव सर्वतः ॥ ५ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च तत् ।
तच्च सर्वमयं नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६ ॥
चिन्मयत्वाद्यदा चेत्यमेति द्रष्टृचितैकताम् ।
तदा दृश्याङ्गयैवैतच्चेत्यते नान्यथा चिता ॥ ७ ॥
यदा चिन्मात्रमेवेयं द्रष्टृदर्शनदृश्यदृक् ।
तदाऽनुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ ८ ॥
द्रष्टृदृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके ।
तद् दृश्यास्वादमज्ञः स्यान्ना दृष्ट्वेक्षुमिवोपलः ॥ ९ ॥

३८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जैसे मायादर्शनहेतु अञ्जन से युक्त आँख आकाश में पर्वतरूपता को और पर्वत के शिखर वन, हाथी आदि को देखती है वैसे ही अपने में मिथ्या ज्ञान से अर्थात् अब्रह्मरूपता भ्रम से विक्षिप्त चिति जगत् को उस प्रकार देखती है ॥ १ ॥

ब्रह्मसृष्टि और चित्तसृष्टि दोनों समान ही हैं, क्योंकि दोनों सृष्टियाँ वस्तुतः परमार्थ ब्रह्म से न भिन्न हैं और न उनमें किसी तरह का क्षोभ ही है। भ्रान्ति से कल्पित यह संसार चित्रसृष्टि के सदृश केवल मन की कल्पना से ही क्षुब्ध-सा भासमान होता है, वस्तुतः नहीं ॥ २ ॥

ज्ञान में कल्पित संसार वास्तव में ज्ञानरूप होने के कारण ज्ञान से अलग नहीं है, किन्तु भ्रान्त पुरुषों के अनुभवरूप से अलग-सा भासमान है। ऐसी स्थिति में बाह्य अर्थरूपता को भी, ज्ञान की सत्यता के कारण, ज्ञानरूप से सत्यरूप जैसे भीत में रहनेवाला चित्र वास्तव में भीत से अलग नहीं है, परन्तु भ्रान्त पुरुषों के अनुभव से भीत से अलग-सा भासमान होता है वैसे ही मानना चाहिए, यह आप जानें ॥ ३ ॥

इस स्थिति में हम लोगों के मत से बाह्य अर्थवाद और विज्ञानवाद में कोई विरोध नहीं होता है, क्योंकि बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों की इस प्रकार एकता ही है। किसी भी समय चेतन से भिन्न असत् बाह्य प्रपञ्च की सत्ता हो ही नहीं सकती है, यह अकाट्य सिद्धान्त है ॥ ४ ॥

क्षोभशून्य तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी से शून्य एवं पूर्ण शान्ति से विराजमान बड़े-बड़े आरम्भों से युक्त, वास्तव में शून्यरूप ब्रह्मसत्ता ही चारो ओर विस्तृत है अर्थात् जब सम्पूर्ण प्रपञ्च चिदेकरस है, चिति निरन्तर ही अक्षुब्ध है और समस्त विशेषणों से निर्मुक्त है, तब क्षुब्ध हुए आकाश आदि पञ्चभूतों की भी शान्ति अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इससे अन्त में पूर्णब्रह्मरूपता ही बच गई ॥ ५ ॥

यह सब कुछ ब्रह्म के लिए ही है, उसी में सब कुछ उत्पन्न है, वही सर्वरूप है, वही चारों ओर व्याप्त होता है, वही सबमें ओत-प्रोत है, नित्य भी वही है, ऐसे सर्वात्मक ब्रह्म को नमस्कार है अर्थात् समस्त क्रियाकारक फलरूप ब्रह्मीभूत जगत् को ही प्रणाम करते हैं ॥ ६ ॥

चिन्मय होने के ही कारण घटादिरूप विषय जब प्रमातारूप चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा एक हो जाते हैं, तभी दृश्यरूप देहवाली उस चिति के बल से ही इन घट आदि पदार्थों का प्रकाशन होता है, अन्यथा नहीं अर्थात् व्यवहारकाल में भी चिति के साथ ऐक्यप्राप्ति के बल से ही विषयों का अस्तित्व और प्रकाशन होता है, किसी दूसरे रूप से नहीं ॥ ७ ॥

इस तरह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन ये चिति की एकता के बल से ही सिद्ध होते हैं, वे चिन्मात्रस्वरूप ही हैं, ऐसी स्थिति में सब जगत् का स्वरूप केवल अनुभवमात्र ही परमार्थ सिद्ध होता है, यह अर्थतः सिद्ध होता है ॥८ ॥

द्रष्टा और दृश्य यदि चिदात्मक साक्षी में एकता प्राप्त नहीं करते, तो ईख खाने में प्रवृत्त पुरुष ईख देखकर और चूसकर भी पत्थर के सदृश उसके स्वाद या माधुर्य का अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ तो रस का अनुभव कर नहीं सकता और न जड़ रस ही उसके प्रति प्रकाशित हो सकता है ॥ ९ ॥

चिन्मयत्वाच्चितौ चेत्यं जलमप्स्विव मज्जति ।
तेनानुभूतिर्भवति नान्यथा काष्ठयोरिव ॥ १० ॥
सजातीयैकताभावाद् यद्वत्काष्ठं न चेतते ।
दारु तद्वदपि द्रष्टा दृश्यं नाज्ञास्यदाजडम् ॥ ११ ॥
यादृक्सत्तानि काष्ठानि तादृग्रूपं त्वचेतनम् ।
जानन्ति नेतरत्तस्माद्दृश्यं चिद्दृश्यचेतनम् ॥ १२ ॥
महाचिदात्मनैवास्ति जलानिलधराश्मतम् ।
नैतेषु स्पन्दबुध्यादि प्राणजीवाद्यभावतः ॥ १३ ॥
प्राणबुद्ध्यादयः सत्तां भावनावशतो गताः ।
भावना चिच्चमत्कारः स यथेच्छमुदेति च ॥ १४ ॥

जब दृश्य और द्रष्टा को चिन्मय मानते हैं, तब अनुभव करने वाली चिति में चेत्य का विषय का अनुभव होगा। जल में गिरा हुआ जलबिन्दु जैसे जल में प्रवेशकर डूब जाता है, वैसे ही चिति में विषय प्रवेश कर डूब जाता है, इसी से 'ईख का माधुर्य चखता हूँ' इस त्रिपुटी का चेतन में प्रवेश होकर अनुभव होता है—इस प्रकार को छोड़कर दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि जड़ होनेपर दो काठ के सदृश अनुभव नहीं होगा ॥ १० ॥

द्रष्टा भी चेतन की एकता से शून्य दृश्य को वैसे ही नहीं जान सकता है जैसे एक काठ दूसरे काठ को अपना जातीय होने पर भी, चेतन की एकता न होनेपर नहीं जान सकता है ॥ ११ ॥

[अर्थात् द्रष्टा और दृश्य की जड़ता मान लेने पर कोई भी दो काठ की अपेक्षा उनमें कुछ अधिकता नहीं जान सकते हैं।]

अतिरिक्त दूसरे किसी रूप को कोई नहीं जानते। अतः कथित तर्क के आधार पर समस्त दृश्य और द्रष्टा चिद्रूप से ही चिदभिन्न है, यह सिद्ध है। काठ की जैसी स्थिति अपने सामने है, वही उनका जड़ रूप है ॥ १२ ॥

दृश्यों में जल, वायुपृथवी, पत्थर आदि तथा द्रष्टा में जो स्पन्दन, बुद्धि आदि एवं प्राण जीव आदि भेद हैं, वह महाचेतन रूप से नहीं है क्योंकि महाचेतत में उनका तीनों काल में अस्तित्व नहीं है। अर्थात् इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य जब चेतनरूप सिद्ध है तब दृश्यात्मक जगत् में पृथिवी, वायु जल आदि का भेद निकल गया और द्रष्टा में स्पन्दन, बुद्धि आदि का भेद निकल गया, इस स्थिति में समस्त जगत् की ब्रह्म के साथ एकता ही सिद्ध हो जाती है ॥ १३ ॥

प्राण, बुद्धि आदि जो अपना अस्तित्व रखते हैं, वह केवल भावना के बलपर ही अस्तित्व रखते हैं। भावना तो एक चिति का चमत्कार है, वह इच्छा के अनुसार उदित होता है, अतः भावनामूलक प्राण आदि मिथ्या हैं। अर्थात् भावनामात्र से कल्पित होने के कारण प्राण आदि भेद मिथ्या है ॥ १४ ॥

जगत्तया शान्ततया ब्रह्मसत्ताऽवतिष्ठते ।
पुंस्तया गत एवात्मा रेतो वटकबीजयोः ॥ १५ ॥
सर्वाग्राणुमये बीजे योऽस्मादग्रगतोऽणुकः ।
स स तत्तद्भवत्यग्रं बीजं स्वात्मनि संस्थितः ॥ १६ ॥
ब्रह्म सर्वपराण्वात्मा यो यस्मादर्थतोऽणुकः ।
स स तत्तद्भवेद्वस्तु वस्तु ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ १७ ॥
द्रव्यमेव यथा द्रव्यं तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सर्वमेव तथा ब्रह्म येन तेन यथा तथा ॥ १८ ॥
हेमत्वमेव नान्यत्वं हेमरूपशते यथा ।
शान्तत्वमेव शान्तस्य सर्गाहन्त्वगणे तथा ॥ १९ ॥

जगत्-रूप से एवं सुषुप्ति,प्रलयरूप से ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। मानों आत्मा ही प्रसवशक्ति से आक्रान्त होकर वीर्य और वटबीजरूप में बन गया है अर्थात् सभी भेद ब्रह्म के विवर्तरूप ही हैं, अतः वे मिथ्या हैं ॥ १५ ॥

सब के सारभूत अत्यन्त सूक्ष्म भाग सम्पन्न बीज में जो सारभूत अतिसूक्ष्म वस्तु है, वह सब परमात्मा ही है। इसी सारभूत वस्तु से शाखा आदि में तत्-तत् उत्तरोत्तर कार्य में अग्रस्थानीय बीज होता है और वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है अर्थात् वट के बीज में प्रसवशक्ति से युक्त सूक्ष्म अविकृत ब्रह्मसत्ता वाला भाग और उसमें वटादिविवर्त हैं ॥ १६ ॥

ब्रह्म ही सबसे परम अणुरूप है, इसलिए जो जिस अर्थ से अत्यन्त अणु है, वह तत्-तत् सूक्ष्मभूत ब्रह्मवस्तु है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्मवस्तु ही स्थित है अर्थात् जो जिससे सूक्ष्म होकर कारणरूप से प्रसिद्ध है, वह सब तो ब्रह्म कोटि में है और जो स्थूल होकर कार्यरूप से प्रसिद्ध है, वह मायाकोटि में है तथा मिथ्या है ॥ १७ ॥

सभी पदार्थ जगत् जिस पुरुष के द्वारा जिस किसी रीति से परीक्षा द्वारा देखा गया वह सब सन्मात्ररूप वैसे ही ब्रह्मरूप ही देखा गया है दूसरे रूप का नहीं जैसे घट आदि एक-एक द्रव्य अगल-बगल से ऊपर से नीचे से अर्थात् सभी ओर से द्रव्यरूप ही है, उससे थोड़ा भी भिन्न पदार्थ नहीं है ॥ १८ ॥

शान्त ब्रह्म के सैंकड़ों जगद्भाव और जीवाभावों में

पार्श्वस्थस्वप्नमेघौघा यथा तव न काश्चन ।
सर्गप्रलयसंरम्भास्तथा खात्मान एव मे ॥ २० ॥
पङ्क्ता कल्पिता व्योम्नो या पुत्रकपताकिनी ।
सा यथा शान्ततामात्रं खमेवेदं तथा जगत् ॥ २१ ॥
सङ्कल्पभ्रम एवान्तः पुष्पीभूय जगत्स्थितम् ।
जलावनितलक्लिन्नबीजं कल्प इव द्रुमः ॥ २२ ॥
अनहन्तात्मनो ज्ञस्य सत एकत्वमासतः ।
जरत्तृणलवायन्ते ननु नामाणिमादयः ॥ २३ ॥
त्रैलोक्ये तन्न पश्यामि देवासुरमानुषम् ।
एकरोमांशविश्वस्य यल्लोभाय महात्मनः ॥ २४ ॥
यथा तथा स्थितस्यापि यत्र तत्र गतस्य च ।
द्वैतसङ्कल्पसंदोहा न सन्त्यधिगतात्मनः ॥ २५ ॥

वैसे ही शान्त ब्रह्मरूप ही रहता है जैसे सैंकड़ों सुवर्ण के रूपों में सुवर्णत्व ही रहता है, दूसरा नहीं ॥ १९ ॥

जैसे समीपस्थ पुरुष के स्वप्न के मेघ आपके कुछ नहीं हैं उनसे आपका कुछ लोप नहीं होता है, वैसे ही चिदाकाशरूप मेरे सृष्टि, प्रलय आदि महारम्भ कुछ भी नहीं हैं, अर्थात् आत्मा में कुछ भी उनसे नहीं होता है ॥ २० ॥

जैसे आकाश में कल्पित मलिनता और उसी में कल्पित गन्धर्व पुत्रों की सेना आकाशरूप ही है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित यह सारा जगत् एकमात्र शान्त ही है ॥ २१ ॥

हृदय के भीतर सङ्कल्पस्वरूप भ्रम ही पहले पुष्प बनकर फिर बाहर जगत्‌रूप फल बनकर वैसे ही स्थित हो जाता है जैसे जल से भूमितल में आर्द्र वट आदि का बीज महान् वट आदि के वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है ॥ २२ ॥

अहन्ता आदि प्रतिबन्धकों के दूर हो जाने पर आविर्भूत हुए निरतिशयानन्दरूप, एकस्वभावापन्न, सत् ज्ञानी की दृष्टि में ये सब अणिमा आदि सिद्धियाँ जीर्ण-शीर्ण तृण के टुकड़े के सदृश तुच्छ भासमान होती हैं ॥२३॥

तीनों लोकों में देवता, असुर और मनुष्य से युक्त ऐसी किसी वस्तु को मैं नहीं देखता, जो एक रोमांश के सदृश सारे विश्व को समझनेवाले महात्मा के लोभ के लिए हो ॥ २४ ॥

जिस किसी तरह की स्थिति करनेवाले तथा जहाँ कहीं जाने वाले आत्मतत्त्ववेत्ता पुरुष को किसी तरह के द्वैत सङ्कल्प होते ही नहीं हैं ॥ २५ ॥

विश्वमेव नभो यस्य शून्यं सर्वं महात्मनः ।
कुतः कस्य कथं तस्य भवत्विच्छा निरात्मनः ॥ २६ ॥
शान्ताशेषविशेषस्य निरेषणविशेषतः ।
सत्तामसत्तां सदृशौ क आकलयितुं क्षमः ॥ २७ ॥
मारैर्न किञ्चिन्म्रियते जीवैः किञ्चिन्न जीवति ।
शुद्धसंविन्मयस्यास्य समालोकस्य खस्य च ॥ २८ ॥
मिथ्यालोकस्य कचतो भ्रान्त्या मरणजन्मनी ।
असत्यपि भ्रान्तिभाजि मृगतृष्णानदीतटे ॥ २९ ॥
सम्यक्परीक्षितं यावन्न भ्रान्तिर्न परीक्षकाः ।
न नाम जन्ममरणे केवलं शान्तमव्ययम् ॥ ३० ॥
दृश्याद्यो विरतिं यात आत्मारामः शमं गतः ।
स सन्नेवासदाभासः परितीर्णभवार्णवः ॥ ३१ ॥

जिस महामति की दृष्टि में सारा विश्व ही चिदाकाशरूप तथा शून्यात्मक है, ऐसे भोगादिनिमित्त से शून्य विद्वान् को किस कारण से किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ? ॥ २६ ॥

जिसके अशेष विशेषों शान्त हो गये हैं, तथा जो इच्छाओं से रहित है, वैभव एवं दरिद्रता—दोनों को समान देखने वाले पण्डितराज की महिमा कौन जान सकता है ? ॥ २७ ॥

[अर्थात् भाई, पुत्र आदि के मरण जीवन से इसको हर्ष या शोक नहीं होता है ।]

विद्वान् न मरण-साधनों से मरता है और न जीवन साधनों से कुछ जीवन-धारण करता है । विशुद्ध संवित्स्वरूप, आत्मप्रकाश सम्पन्न तथा चिदाकाशस्वरूप है ऐसे महात्मा के असत् भी मरण-जनन अज्ञानी जनों की ही भ्रान्ति से मृगतृष्णा नदी के तटों के सदृश भ्रान्त आत्मा में भासमान होता है ॥ २८-२९ ॥

उत्तम परीक्षा कर लेने के बाद, न तो भ्रान्ति रहती है, न परीक्षक रहते हैं और न जन्म-मरण ही रहते हैं, केवल कुछ रहता है, तो वह अविनाशी प्रशान्त ब्रह्म ही रहता है ॥ ३० ॥

जो शान्त आत्माराम सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च से वैराग्य को प्राप्त हो उपशम को प्राप्त है, संसारसागर से पार वह ब्रह्मभाव से विद्यमान भी देह, इन्द्रिय आदि से युक्त परीक्षकरूप से असत् के ही अविद्यमान के ही समान भासमास होता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी परीक्षक के उपस्थित रहते आप कैसे कहते हैं कि परीक्षक नहीं रहते ? इसके समाधान के लिए कहते हैं ॥ ३१ ॥

दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तङ्गतमनोगतिम् ।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ ३२ ॥
आबुध्यादि जगद्दृश्यं यस्मै न स्वदते स्वतः ।
आकाशस्येव शान्तस्य तमाहुर्मुक्तमुत्तमाः ॥ ३३ ॥
अहमस्त्यविचारेण विचारेणाहमस्ति नो ।
अभावादहमर्थस्य क्व जगत् क्व च संसृतिः ॥ ३४ ॥
संवित्संवेदनादेव बुद्ध्याद्याकारवत् स्थितम् ।
रूपालोकमनोरूपं जगद्वेत्ति चिदम्बरम् ॥ ३५ ॥
सर्वार्थरिक्तमनसः सतः सर्वात्मनस्तव ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वमाचरणं शिवम् ॥ ३६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि हंस्येषि तत्सर्वं शिवमव्ययम् ॥ ३७ ॥

जिनके मन की गति अस्त है और जो आत्मा में शान्त है उसके ब्रह्मरूप से विद्यमान रहते हुए भी विद्वान् लोग दीपनिर्वाण की तरह उसको निर्मल निर्वाण समझते हैं ॥ ३२ ॥

बुद्धि आदि से लेकर सम्पूर्ण यह जगद्दृश्य जिसे स्वतः नहीं प्रिय लगता है, आकाश के सदृश शान्त उस पुरुष को उत्तम लोग मुक्त कहते हैं अर्थात् इसीलिए उसको यह संसार प्रिय नहीं लगता है ॥ ३३ ॥

अविचार से अहं है, विचार से अहं नहीं है। अविचार से ही मैं वसिष्ठरूप से प्रतीत हो रहा हूँ, विचार से कदापि नहीं। अहंभाव के अर्थ का अभाव होने से कहाँ यह जगत् और कहाँ जन्म-मरण आदिरूप संसृति ? अर्थात् यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, तो दीपनिर्वाण के सदृश आप निर्वाणस्वरूप हैं, आप वसिष्ठरूप से कैसे हैं ? इस आशङ्का पर कहा गया है ॥ ३४ ॥

वस्तुतः चिदाकाश ही अपने स्वरूप के अन्यथा ज्ञान से ही बुद्धि आदि के आकार से युक्त हो स्थित है और वही रूपालोक मनोरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत् को जानता है ॥ ३५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! मेरे ही समान यथार्थ वस्तु के ान से भ्रान्ति का नाश हो जाने पर आपका मन भी ाब सम्पूर्ण पदार्थों से शून्य हो जायगा, तब सद्रूप र्वात्मक आपको भी यह सम्पूर्ण आचरण सर्वात्मक शिव-वरूप ही निर्वाणरूप ही अवभासित होगा ॥ ३६ ॥

जो आप कार्य करते हैं, जो भक्षण करते हैं, जो हवन करते हैं, जो दान देते हैं, जो तप करते हैं और जो हनन गमन करते हैं, उन सबको आप अविनाशी शिवरूप ही समझें ॥ ३७ ॥

यदहं यत्त्वमाशा यद्यत्क्रियाकालखादयः ।
यल्लोकालोकगिरयस्तच्चिद्व्योम शिवं ततम् ॥ ३८ ॥
यद्रूपालोकमननं यत्कालत्रितयं जगत् ।
यज्जरामरणार्त्यादि तन्महाचिन्नभः शिवम् ॥ ३९ ॥
निश्चिकित्सो निराभासो निरिच्छो निर्मना मुनिः ।
भूत्वा निरात्मा निर्वाणस्तिष्ठ संतिष्ठसे यथा ॥ ४० ॥
गतेच्छमननं शान्तमनन्तस्थमभावनम् ।
व्यवहारोऽस्तु ते मा वा स्पन्दास्पन्दैर्यथाऽनिलः ॥४१॥
निर्वासना निष्कलना शान्ता पुरुषताऽस्तु ते ।
शास्त्रेण यन्त्रवाहेन बाह्या दारुमयी यथा ॥ ४२ ॥
भूतालोकस्तु मा स्नेहो मा वा स्नेहश्च बाह्यगः ।
अनिर्देशधरालोकश्चित्रदीपवदास्यताम् ॥ ४३ ॥

जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ हैं, जो काल, क्रिया और आकाश आदि हैं तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, वे सब शिवस्वरूप चिदाकाशरूप ही हैं अर्थात् आचार ग्रहण समस्त जगत् का उपलक्षण है ॥ ३८ ॥

जो बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीन काल हैं तथा जो जरा, मरण, पीडा आदि हैं, वे सब महाचैतन्यरूप शिवमय आकाशरूप ही हैं ॥ ३९ ॥

दुःख शान्ति के उपायों की अन्वेषणा से रहित, भ्रम शून्य, इच्छा रहित, मन वर्जित मुनि एवं अहंभाव रहित जिस प्रकार से मोक्षरूप बनकर आप से स्थित रहा जा सकता है, उस तरह से स्थित रहें ॥ ४० ॥

आपका भी इच्छा-मनन से रहित, शान्त, अनन्त ब्रह्म में स्थित तथा भावना रहित वैसे ही व्यवहार हो या न हो। जैसे जिस तरह पवन का स्पन्दन और अस्पन्दन के द्वारा व्यवहार या अव्यवहार होता है ॥ ४१ ॥

शास्त्ररूपी घोड़े से आपकी वैसी ही पुरुषोचित चेष्टा का वैसे ही निर्वाह हो जैसे काठ की पुरुषोचित चेष्टा का यन्त्ररूपी घोड़े से निर्वाह होता है और वह जैसे वासनाशून्य, सङ्कल्पशून्य एवं उपद्रव रहित होती है ॥ ४२ ॥

माता, पिता, बन्धुजन आदि के साथ होनेवाला आपका बाह्य-व्यवहार न तो अत्यन्त स्नेह से पूर्ण हो या एकदम स्नेह से रहित ही हो, किन्तु वह व्यवहार ऐसा हो कि देखनेवालों को यह पता न लगे अर्थात् है या नहीं, अनिर्वचनीय हो। आप चित्रदीप के सदृश रहें। चित्रगत दीप चित्रगत तेल से पूर्ण है, परन्तु परमार्थतः तेल से पूर्ण

निर्वासनस्य विरसस्य निरेषणस्य
शास्त्रादृते क इव तत्त्वविनोदहेतुः ।
शास्त्रार्थसज्जनमतोऽप्यमलस्य तस्य
संवेदनेष्वनभिसन्धिमतः स्वरूपम् ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

नहीं है, अतः उसका प्रकाश तेल से पूर्ण है या नहीं इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता ॥ ४३ ॥

जिसकी वासना मिट चुकी है, जिसको वर्तमान भोगों में कुछ रस नहीं रहा और जिससे भावी भोगों की तृष्णा भी समाप्त है ऐसे विद्वान् के लिए उत्तम शास्त्र के सिवा दूसरा कौन-सा पदार्थ आत्मसुख में विश्रान्ति देने वाला हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । शरीरधारण तक अगत्या प्राप्त होनेवाले आवश्यक व्यवहार-काल में उत्तम शास्त्रों का अनुसरण ही चित्तदोषनिवारण तथा विवेकादि के उद्‌बोध द्वारा तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठाकारक है । इसलिए इच्छाशून्य निर्मल तत्त्ववेत्ता का प्रारब्ध प्राप्त व्यवहारिक प्रसंगों में वर्णाश्रमोचित आचरण करना एवं शम-दमादि साधनों में भली-भाँति लगा रहना ही असाधारण चिह्न है, न कि यथेष्टाचरण अर्थात् 'निर्वासना निष्कलना' इस श्लोक से पहले जी कहा गया है, उसी को अनुवाद द्वारा दृढ़ कर रहे महाराजवसिष्ठजी उपसंहार के रूप में कहा है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में निर्वाणवर्णन नामक कुसुमलता का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

३९

वसिष्ठ उवाच

संजाताकृत्रिमक्षीणसंसृतिप्रत्ययः पुमान् ।
असङ्कल्पो न सङ्कल्पं वेत्ति तेनासदेव सः ॥ १ ॥
श्वासाम्लानिरिवादर्शे कुतोऽप्यहमिति स्थिता ।
विद्धि साऽकारणं दृष्टा नश्यन्त्याशु न लभ्यते ॥ २ ॥
यस्य क्षीणावरणता शान्तसर्वेहतोदिता ।
परमामृतपूर्णात्मा सत्तयैव स राजते ॥ ३ ॥

३९

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—संसार को क्षीण कर देने वाले सत्य अर्थ का स्वाभाविक प्रत्यक्ष होने पर शास्त्रीय व्यवहार में भी सङ्कल्प रहित हो वह पुरुष ही स्थित रहता है, क्योंकि तत्-तत् व्यवहारों को अपनी आत्मा समझ कर यह विद्वान् सङ्कल्प को पृथक् जानता ही नहीं है। ज्ञान के बिना तो किसी का अस्तित्व माना ही नहीं जा सकता, अतः सङ्कल्पाभास असत् ही है ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञान के पहले किसी अनिर्वचनीय कारण से अर्थात् अविद्या से दर्पण में श्वास से उत्पन्न मलिनता के समान आत्मा में अहन्ता स्थित थी, परन्तु वह तत्त्वज्ञानी में बिना कारण ही नष्ट हो गई है । बहुत अन्वेषण करने पर भी वह कहीं प्राप्त नहीं हो रही है अर्थात् 'विद्वान् सङ्कल्प नहीं जानता' इस उक्ति का विवरण करने के लिए 'तत्त्वद्रष्टा में समस्त सङ्कल्प का बीजभूत अहन्ता-ध्यास भी बाधित हो गया है, इससे भी उसको सङ्कल्प नहीं उठता है ॥ २ ॥

आवरण का स्वरूप क्षीण होने पर तथा जिसका समस्त इच्छाओं के नष्ट होने पर निरतिशय आनन्दामृत से पूर्ण स्वरूप वाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष केवल निरतिशय आनन्द स्वरूप की सत्ता से ही शोभित होता है अर्थात् दूसरी बात यह है कि कामना से सङ्कल्प उठते रहते हैं, वह तो तत्त्वदर्शी में है नहीं, क्योंकि उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं ॥ ३ ॥

[जैसे एक वस्तु के लाभ से सब वस्तुओं का लाभ हो जाने से फिर लाभ योग्य वस्तु सङ्कल्प नहीं होता, वैसे ही एक वस्तु के विज्ञान से सब वस्तुओं का विज्ञान हो जाने से ज्ञातव्य विषय में भ्रम आदि दोष वैसे ही नहीं रहते हैं, इससे भी तन्निमित्तक सङ्कल्प विद्वान् को नहीं होता है ।]

सर्वसन्देहदुर्ध्वान्तमिहिकामातरिश्वना ।
भाति भास्वद्धिया देशस्तेन पूर्णेन्दुनेव खम् ॥ ४ ॥
विसंसृतिर्विसन्देहो लब्धज्योतिर्निरावृतिः ।
शरदाकाशविशदो ज्ञेयो विज्ञायते बुधः ॥ ५ ॥
निःसङ्कल्पो निराधारः शान्तः स्पर्शात्पवित्रताम् ।
अन्तःशीतल आधत्ते ब्रह्मलोकादिवानिलः ॥ ६ ॥
असद्रूपोपलम्भानामियं वस्तुस्वभावता ।
यत्स्वर्गवेदनं स्वप्नवन्ध्यापुत्रोपलम्भवत् ॥ ७ ॥
अविद्यमानमेवेदं जगद्यदनुभूयते ।
असद्रूपोपलम्भस्य सैषा वस्तुस्वभावता ॥ ८ ॥
असत्येष्वेव संसारेष्वास्तामर्थः कुतो भवेत् ।

सर्वविध आवरणों से रहित प्रकाशमय बुद्धि वाले तथा समस्त सन्देह रूप कुटिल अन्धकारात्मक ओस के लिए वायु स्वरूप उक्त विद्वान् से सारा देश वैसे ही जगमगाता रहता है जैसे पूर्ण चन्द्र से आकाश जगमगाता रहता है ॥ ४ ॥

संसार शून्य, सन्देह निर्मुक्त, आत्मप्रकाश प्राप्त कर लेने वाला, आवरणात्मक अज्ञान से शून्य तथा शरदाकाश के सदृश अत्यन्त विशद तत्त्वज्ञ ज्ञेयरूप आत्मा ही है, यह श्रुतियों में जाना जाता है ॥ ५ ॥

सङ्कल्प मुक्त, पराधीनता से शून्य भीतरी शीतलता से युक्त शान्त तत्त्वदर्शी की प्रणति, शुश्रूषा आदि द्वारा सङ्गति करने से वह पुरुषों को पवित्र निष्पाप वैसे ही कर देता है जैसे ब्रह्मलोक से आया हुआ पवन पवित्र कर देता है ॥ ६ ॥

प्रत्येक पुरुष सद्रूप वस्तु के अज्ञान उनके स्वभाव का वास्तविक स्वरूप स्वप्न ज्ञान और वन्ध्यापुत्र ज्ञान की तरह असत् सृष्टि के ज्ञान को उत्पन्न कर देना ही है ॥७॥

यह जगत् वास्तव में असत् ही है, परन्तु उसकी उपलब्धि ही सद् आत्म स्वरूप के अज्ञान का असली स्वभाव है ॥ ८ ॥

असत्य रूप ही संसार में अर्थ रहे, यदि यह मान लिया जाय, तो इस पर प्रश्न यह है कि वह किससे उत्पन्न होगा ? अर्थात् क्या सत्य वस्तु से या असत्य वस्तु से, पहला पक्ष तो युक्त नहीं, क्योंकि सत्य वस्तु कूटस्थ है, अतः उससे अर्थ की उत्पत्ति हो नहीं सकती। यदि असत्य वस्तु से मान लिया जाय, तो असत्य से जो असत्य की उत्पत्ति होगी, वह भी असत्य ही होगी। इस

सर्गापवर्गयोः शब्दादेव वन्ध्यासुतोपमौ ॥ ९ ॥
जगद्ब्रह्मतया सत्यमनिर्मितमभावितम् ।
अनिष्ठितं चान्यथा तु नाहं नावगतं च तत् ॥ १० ॥
आत्मस्वभावविश्रान्तेरियं वस्तुस्वभावता ।
यदहन्तादिसर्गादि दुःखाद्यनुपलम्भता ॥ ११ ॥
क्षणाद्योजनलक्षान्तं प्राप्ते देशान्तरं चितः ।
चेतने यस्य यद्रूपं मार्गमध्ये निरञ्जनम् ॥ १२ ॥
अस्पन्दवातसदृशं खकोशाभासचिन्मयम् ।
अचेत्यं शान्तमुदितं लताविकसनोपमम् ॥ १३ ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य तत्स्वभावं विदुर्बुधाः ।
सर्गोपलम्भो गलति तत्रस्थस्य विवेकिनः ॥ १४ ॥

स्थिति में उक्त अर्थ का आधार कोई हो ही नहीं सकता है, क्योंकि सत्य कूटस्थ है और असत् आश्रय नहीं है। इससे संसार के असत्यभूत होने से जब बन्ध और मोक्ष शब्द ही वन्ध्यापुत्र के सदृश हैं, तब उनके अर्थों की सिद्धि की तो कथा ही क्या ? ॥ ९ ॥

यह जगत् ब्रह्म रूप से सत्य है, वह न तो उत्पन्न है, न भावना का विषय है और न किसी आधार में स्थित ही है। जगत् को यदि ब्रह्म रूप से सत्य न माना जाय, तो न मैं ही सत्य हो सकता हूँ और न देखा गया यह जगत् ही सत्य हो सकता है ॥ १० ॥

अहम्भाव आदि, सृष्टि आदि तथा दुःख आदि का ज्ञान न होना ही अहम्भाव आदि की निर्विषय चैतन्य-मात्ररूपता ही आत्मा के स्वभाव में प्राप्त विश्रान्ति का असली चिह्न है। अर्थात् सत्-रूप वस्तु के अज्ञान का स्वभाव बतलाकर अब आत्मज्ञान में प्राप्त विश्रान्ति का असली चिह्न कहा गया है ॥ ११ ॥

शाखा आदि प्रदेश से लेकर चन्द्रप्रदेश तक के लाखों योजन पर्यन्त विस्तृत प्रदेश में जब चक्षु के द्वारा चाक्षुष वृत्ति का चैतन्य क्षण भर में चला जाता है तब मार्ग का बीच में व्याप्त चिति का अनावृत्त, स्पन्द शून्य वायु की तरह निष्क्रिय, आकाश को जगमगाने वाला, चिन्मय, शान्त, लताविकास के सदृश सुन्दर जो सभी प्राणियों के अनुभव से सिद्ध विषयशून्य स्वभाव है, उस स्वभाव को, पण्डित लोग जानते ही हैं, उस स्वभाव में स्थित विवेकी का सृष्टिज्ञान चूर-चूर हो जाता है ॥ १२-१४ ॥

[अर्थात् सुषुप्ति और स्वप्न में जैसे एक दूसरे की विषयता नहीं है, वैसे ही तुरीय में भी जाग्रत् आदि की विषयता नहीं है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है।]

सुषुप्ते स्वप्नधीर्नास्ति स्वप्ने नास्ति सुषुप्तधीः ।
सर्गनिर्वाणयोर्भ्रान्ती सुषुप्तस्वप्नयोरिव ॥ १५ ॥
भ्रान्तिवस्तुस्वभावोऽसौ न स्वप्नो न सुषुप्तता ।
न सर्गो न च निर्वाणं सत्यं शान्तमशेषतः ॥ १६ ॥
भ्रान्तिस्त्वसन्मात्रमयी प्रेक्षिता चेन्न लभ्यते ।
शुक्तिरूप्यमिवासत्यं किल सम्प्राप्यते कथम् ॥ १७ ॥
यन्न लब्धं च तन्नास्ति तेन भ्रान्तेरसंभवः ।
स्वभावादुपलम्भोऽन्यो नास्ति कस्य न कस्यचित् ।१८।
स्वभाव एव सर्वस्मै स्वदते किल सर्वदा ।

जैसे सुषुप्ति में स्वप्न की बुद्धि नहीं है और स्वप्न में सुषुप्ति की बुद्धि नहीं है, यह सब सब को ज्ञात है, वैसे ही सृष्टि में मोक्षबुद्धि और मोक्ष में सृष्टि बुद्धि नहीं है, यानी सुषुप्ति और स्वप्न की बुद्धि के सदृश सर्ग और मोक्ष की बुद्धि है अर्थात् तुरीय मोक्ष में चिति की सर्गादि विषयता रह ही नहीं सकती है ॥ १५ ॥

यह स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्ति का ही एक स्वभाव है, इसलिए न तो स्वप्न, न सुषुप्ति, न सृष्टि और न मुक्ति ही है, किन्तु अशेष विभागों से शान्त परब्रह्म ही असली तत्त्व है। अर्थात् सुषुप्ति, आदि विभाग भी भ्रान्तिमूलक ही है, इसलिए वह परमार्थ नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

भ्रान्ति का असली स्वरूप असदात्मक ही है, विचार करने पर यदि उसका शुक्तिरूप्य के सदृश लाभ नहीं होता, तो स्वप्नादि असत्य पदार्थ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ १७ ॥

[भ्रान्ति का अर्थ यद्यपि भ्रान्ति से भले ही न प्राप्त किया जा सकता हो, परन्तु दूसरे किसी उपलम्भ से तो प्राप्त किया जा सकता है, इसके समाधान में कहा है।]

किसी काल में लब्ध नहीं होने वाला नहीं है, इस लिए भ्रान्ति का तीनों काल में अस्तित्व नहीं है। भ्रान्ति का अर्थ भ्रान्तिभिन्न किसी अन्य उपलम्भज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा उपलम्भ प्रमारूप ही होगा, परन्तु वह किसी भ्रान्ति विषय अर्थ के साक्षी के स्वभाव को छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता है ॥ १८ ॥

स्त्री के लिए उसका स्वभाव ही निरन्तर उत्तम प्रेम का भाजन बन कर प्रकाशित होता है। इसी से एक ही वस्तु वह अनेक के समान भासमान होती है। इसलिए अनेक वादों से समर्थन ही क्या किया जाय ? अर्थात् ऐसी स्थिति में खूब विचार करने पर अकेला साक्षि स्वभाव ही

अनानैव हि नानेव किं वादैः संविभाव्यताम् ॥ १९ ॥
अस्वभावे महद्दुःखं स्वभावे केवलं शमः ।
इति बुद्ध्या विचार्यान्तर्यदिष्टं तद्विधीयताम् ॥ २० ॥
सूक्ष्मे बीजेऽस्त्यगः स्थूलो दृष्टमित्युपपद्यते ।
शिवे मूर्ते जगन्मूर्तमस्तीत्युत्तमसंकथा ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यहन्तादयः परे ।
स्वरूपभूताः सलिले द्रवत्वमिव खात्मकाः ॥ २२ ॥
मूर्तो यथा स्वसदृशैः करोत्यवयवैः क्रियाः ।
आत्मभूतैस्तथा भूतैश्चिदाकाशमकर्तृ सत् ॥ २३ ॥

अपने में त्रिपुटी की कल्पना कर प्रकाशित होता है दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ १९ ॥

साक्षि स्वभाव से अतिरिक्त की कल्पना करना ही संसारात्मक महान् दुःख है और साक्षि स्वभाव में निरन्तर स्थित रखना मोक्ष रूप सुख है। इसलिए आप अपनी बुद्धि से अपनी आत्मा में विचार कर जिसे अपना इष्ट समझें, उसे ग्रहण करें अर्थात् उसको स्वभाव भिन्न मानना ही संसार रूप दुःख है और कल्पना रहित अपनी आत्मा में स्थित रहना मोक्ष रूप सुख है ॥ २० ॥

बाहर जो बड़ा वृक्ष दिखाई पड़ता है, वह सूक्ष्मभूत बीज में है, ऐसा मानने में जैसे प्रत्यक्षतः युक्ति है, ठीक इसी तरह अमूर्तिमान् शिव रूप आत्मा में भी मूर्त जगत् है, ऐसा मानने में वेदादि शास्त्र और मुनियों की उक्ति है अर्थात् इष्ट वस्तु के ग्रहण में उपाय क्या है ? इस प्रश्न पर अध्यस्त संसार में आत्मरूपता का अवलोकन ही उपाय है, इस आशय से सृष्टि के आरम्भ से ही सृष्टि और आत्मा की अभिन्न सत्ता है ॥ २१ ॥

जैसे जल में विद्यमान जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही परब्रह्म में विद्यमान बुद्धि अहन्ता आदि विषय जो हैं, वे सब आत्मरूप तथा चिदाकाशस्वरूप ही हैं अर्थात् इस तरह प्रत्यगात्मा में विद्यमान आध्यात्मिक भावों की भी पृथक् सत्ता नहीं है, इसका अपने में ही सब अनुभव करते हैं ॥ २२ ॥

स्वरूपभूत पृथ्वी आदि भूतों से ही अपनी सत्ता से अलग सत्ता न रखने वाले भूतों से ही चिदाकाश यह सब वैसे ही करता है, वास्तव में तो वह सत् और अकर्ता ही है जैसे अवयवी अपने सदृश अपने अस्तित्व से अलग अस्तित्व न रखनेवाले अवयवों से ही क्रिया करता है ॥ २३ ॥

आत्मस्थादहमित्यादिरस्मदादेरसंभृतेः ।
शब्दोऽर्थभावमुक्तो यः पटहादिषु जायते ॥ २४ ॥
यद्भ्रातं प्रेक्षया नास्ति तन्नास्त्येव निरन्तरम् ।
जगद्रूपमरूपात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २५ ॥
येषामस्ति जगत्स्वप्नस्ते स्वप्नपुरुषा मिथः ।
न सन्ति ह्यात्मनि मिथो नास्मास्वम्बरपुष्पवत् ॥२६॥
मयि ब्रह्मैकरूपं ते शान्तमाकाशकोशवत् ।
वायोः स्पन्दैरिवाभिन्नैर्व्यवहारैश्च तन्मयि ॥ २७ ॥
अहं तु सन्मयस्तेषां स्वप्नः स्वप्नवतामिव ।
ते तु नूनमसन्तो मे सुषुप्तस्वप्नका इव ॥ २८ ॥
तैस्तु यो व्यवहारो मे तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ।
ते यत्पश्यन्ति पश्यन्तु तत्तैरलमलं मम ॥ २९ ॥
अहमात्मनि नैवास्मि ब्रह्मसत्तेयमातता ।
त्वदर्थं समुदेतीव तथारूपैव वागियम् ॥ ३० ॥
अविरुद्धविरुद्धस्य शुद्धसंविन्मयात्मनः ।
न भोगेच्छा न मोक्षेच्छा हृदि स्फुरति तद्विदः ॥ ३१ ॥
स्वभावमात्रायत्तेऽस्मिन् बन्धमोक्षक्रमे नृणाम् ।
कदर्थनेत्यहो मोहाद्गोष्पदेऽप्युदधिभ्रमः ॥ ३२ ॥

हम लोगों के शरीर, जिह्वा आदि जड़ होने के कारण किसी तरह का व्यवहार करने के समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए उनसे 'अहमादि' अर्थों का प्रकाशक जो शब्द जीभ आदि के व्यापार से होगा, वह चेतन अधिष्ठित जीभ आदि से ही होगा, यह उस तरह मानना चाहिए; जिस तरह नर्तकी के पैरों का संचालन एवं तालों के ज्ञाता वादक पुरुष से अधिष्ठित मृदङ्ग आदि में से शब्द होता है अर्थात् अर्थ व्यवहार के सदृश शब्द प्रयोग आदि व्यवहार भी आत्मसत्ता से पृथक् सत्ता न रखकर ही चेतनाधिष्ठित देह, वाक् आदि से होता है ॥ २४ ॥

जो यह आपाततः देखा जाता है, वह विचार से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निरन्तर के लिए अस्तित्व ही खो देता है। इसलिए जड़तारूप जो जगत् का रूप है, वह स्वरूप रहित है, इस स्थिति में ब्रह्म आत्मा ही अपने स्वरूप में स्थित है, यही स्वरूपावस्थिति है अर्थात् रीति से सम्पूर्ण व्यवहार का चैतन्य के साथ अभिन्नता से जब निर्वाह किया जा सकता है, तब वह अभेद आत्यन्तिक ही मानना चाहिए; अविचारसिद्ध अर्धजरतीय जड़तारूप भेद मानने ने लाभ ही क्या ॥ २५ ॥

जिनकी दृष्टि में जगत्-रूप स्वप्न भासमान होता है, उन पुरुषों का एक दूसरे की भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि से भी, जागरण और स्वप्न में तत्-तत् स्वरूप में अस्तित्व रहता ही नहीं और एक दूसरे के आत्मस्वरूप हम लोगों में तो आकाश कुसुम के सदृश उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं है अर्थात् असंसारी ब्रह्म अपने स्वभाव में भले ही रहे, इससे संसारियों को क्या लाभ पहुँचा, इस तरह की आशङ्का कर उनकी पुरुषार्थ चिन्ता, वन्ध्या को अपने पुत्र के लिए राज्य प्राप्ति की चिन्ता, करने के सदृश मिथ्या है ॥ २६ ॥

वायु के स्पन्दन के सदृश अपने से अभिन्न उन स्वकीय व्यवहारों के साथ वे स्वप्न पुरुष हममें विद्यमान हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार—ये दोनों शान्त परब्रह्मैकरूप ही हैं और वह ब्रह्म प्रत्यगात्मा-स्वभाव मुझमें है अर्थात् हम लोगों में ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार जड़ अंश को लेकर तो आकाश पुष्प के सदृश हैं और सच्चिद् अंश को लेकर तो हम लोगों में ब्रह्मस्वभावता से विद्यमान हैं ॥ २७ ॥

अज्ञानियों की दृष्टि से मेरी देह भी वैसे ही सन्मय प्रतीत होती है जैसे स्वप्न वालों को स्वप्न सन्मय प्रतीत होता है। परन्तु ज्ञानियों की दृष्टि से वे वैसे ही असद्रूप हैं, जिस प्रकार सुषुप्तिस्थ पुरुष की दृष्टि में स्वप्न है ॥ २८ ॥

अनुग्रह, उपदेश आदि मेरा व्यवहार उनके साथ होता है, वह मेरी दृष्टि में स्वस्वरूप में स्थित परब्रह्म स्वरूप ही है। वे जो कुछ देखते हैं, उसे भले ही देखें, उनसे हमें किसी तरह के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती ॥२९॥

मैं वसिष्ठादि भाव में नहीं हूँ, किन्तु स्वस्वरूप से परब्रह्म परमात्मा में ही हूँ। आपके लिए यह वसिष्ठ आदि के आकार से व्यापक ब्रह्मसत्ता मानो उदित हुई है। यह मेरी वाणी आदि भी आपके लिए ब्रह्मसत्ता विवर्त रूप ही है, परन्तु मेरी दृष्टि से तो बिलकुल कुछ है ही नहीं ॥ ३० ॥

सभी वस्तुओं में आनन्दैकरसात्मता के दर्शन से विरुद्ध दुःखादि पदार्थ भी जिसको अविरुद्ध प्रतीत होते हैं ऐसे शुद्ध ब्रह्म स्वरूप तत्त्वज्ञानी के हृदय में न तो भोगों की इच्छा उठती है और न मोक्ष ही स्फुरित होता है ॥ ३१ ॥

मनुष्यों का बन्धन से यह मुक्ति-क्रम तो केवल अपने अधीन है, फिर भी मोह से अर्थात् अविरुद्ध निरतिशयानन्दात्मा के अपरिज्ञान से ही यह संसार-पीड़ा उत्पन्न हुई है। आश्चर्य है कि गौ के खुर में ही समुद्र का भ्रम हो रहा है ॥ ३२ ॥

स्वभावसाधने मोक्षेऽभावोपशमरूपिणि ।
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न च क्रियाः ॥ ३३ ॥
तैलबिन्दुर्भवत्युच्चैश्चक्रमप्पतितो यथा ।
तथाऽऽशु चेत्यसङ्कल्पे स्थिता भवति चिज्जगत् ॥३४॥
जाग्रति स्वप्नवृत्तान्तस्थितिर्यादृग्रसा स्मृतौ ।
तादृग्रसाहंत्वजगज्जालसंस्था विवेकिनः ॥ ३५ ॥
तेनैवाभ्यासयोगेन याति तत्तनुतां तथा ।
यथा नाहं न संसारः शान्तमेवाऽवशिष्यते ॥ ३६ ॥
यदा यदा स्वभावार्कः स्थितिमेति तदा तदा ।
भोगान्धकारो गलति न सन्नप्यनुभूयते ॥ ३७ ॥
मोहमहत्तारहितः
स्फुरति मृतौ भवति भासते च तथा ।
बुद्ध्यादिकरणनिकरो
यस्माद्दीपादिवालोकः ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
वसिष्ठगीतासुखभावविश्रान्तियोगोपदेशोनाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

असत् दुःखों के उपशमरूप तथा सुखरूप आत्म-साधनभूत मोक्ष में न तो धन उपकार कर सकते हैं और न मित्र एवं न क्रियाएँ ही कुछ उपकार कर सकती हैं ॥ ३३ ॥

विषयों के संकल्प में स्थित चिति तत्काल ही जगद्रूप में वैसे ही परिणत हो जाती है जैसे तेल का बिन्दु जल में गिर कर नाना वर्णों के चक्र रूप में परिणत हो जाता है ॥ ३४ ॥

जाग्रत् काल में स्वप्न में भासित वृत्तान्त की स्थिति जैसी स्मृति में रहती है, वैसी ही स्थिति विवेकी को भी अज्ञान काल में भासित अहङ्कार के साथ समस्त जगत् की ज्ञान दशा में होती है अर्थात् ज्ञान से बाधित संसार स्वप्न की तरह स्मृति की एकमात्र लकीर बन जाता है ॥ ३५ ॥

न अहंकार और न संसार ही उत्पन्न हो सकता है, केवल शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है वैसे ही भूमिका के अभ्यास रूप योग से वह जगत्-जाल क्षीणता को प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

जब आत्मा रूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश रूप से स्थित रहता है, तब यह संसार रूप अन्धकार बाधित हो जाता है, उसका अस्तित्व रहने पर भी उसका परिज्ञान नहीं होता है अर्थात् तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करने पर इस समय भी उसका विनाश और बाध जाना जा सकता है ॥ ३७ ॥

भोगान्धकार की अर्थात् संसारान्धकार की निवृत्ति हो जाने पर बुद्धि आदि करणों का समूह अज्ञान रूप आवरण से एवं स्थूल भ्रान्ति से रहित बन जाता है तथा ब्रह्माकार वृत्ति से चमके हुए बोध से चमकीला बन जाता है। इसीलिए उस समय स्फुरण से, दीप के प्रकाश के सदृश, चारों ओर व्याप्त हो ब्रह्म भूत होकर भासमान होने लग जाता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में वसिष्ठगीता-सुखाभावविश्रान्तियोग उपदेश नामक कुसुमलता का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

४०

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यादीन्द्रियवेदनम् ।
स्वरूपं विदुरम्लानमस्वभावस्य वस्तुनः ॥ १ ॥
अस्वभावतनुत्वेन स्वभावस्थितिरातता ।
यदोदेति तदा सर्गो भ्रमाभः प्रतिभासते ॥ २ ॥

४०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—बाह्य और आभ्यन्तर विषय तथा बुद्धि आदि इन्द्रियों के प्रकाशक निर्मल साक्षी चैतन्य को ही विद्वान् लोग स्वरूपशून्य जगद्-वस्तु का स्वरूप समझते हैं अर्थात् विद्वानों का यह अनुभव है कि स्वतः स्वरूप से शून्य बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप उसका साक्षी चैतन्य ही है ॥ १ ॥

जब अपरिच्छिन्न ब्रह्म वस्तु स्वभाव की स्थिति अविद्याकृत परिच्छेद से तथा उसके शरीररूप से उदित हो जाती है, तब यह सृष्टि भ्रम के सदृश प्रतिभासित होने लग जाती है (यह अन्योक्ति है) ॥ २ ॥

यदा स्वभावविश्रान्तिः स्थितिमेति शमात्मिका ।
जगद्दृश्यं तदा स्वप्नः सुषुप्त इव शाम्यति ॥ ३ ॥
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् ।
अनर्थायार्थसम्पत्तिरात्मनाऽऽत्मनि शाम्यताम् ॥ ४ ॥
अस्वभावात्मता सर्गः स्वभावैकात्मता शिवः ।
भूयतां परमव्योम्ना शाम्यतां मेह ताम्यताम् ॥ ५ ॥
नात्मानमवगच्छामि न दृश्यं च जगद्भ्रमम् ।
ब्रह्म शान्तं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मैवाऽस्मि निरामयः ॥ ६ ॥
त्वमेव पश्यसि त्वन्त्वं स त्वंशब्दार्थजृम्भितम् ।
पश्यामि शान्तमेवाऽहं केवलं परमं नभः ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्येव पराकाशे रूपालोकमनोमयाः ।

जब आत्मस्वरूप के ज्ञान से शान्तिरूप आत्मविश्रान्ति अपनी स्थिति को प्राप्त करती है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में जब शान्तिरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है, तब यह जगद्-रूप दृश्य ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्ति में स्वप्न शान्त हो जाता है ॥ ३ ॥

ये जितने भोग हैं वे सबके सब संसाररूप महारोग हैं, बन्धु लोग दृढ़ बन्धन हैं तथा यह सारी अर्थ सम्पत्ति तो महान् अनर्थ की कारण है। इसलिए अपने ही से अपनी आत्मा में शान्ति लीजिये अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में विश्रान्ति के विरोधी भोग आदि सबके सब अनर्थरूप ही हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्मस्वरूप से विरुद्ध भावना करना सृष्टि है तथा स्वभावात्मक ब्रह्मरूप की प्राप्ति कल्याण है । इसलिए आप परम चिदाकाशरूप हो जायें, शान्ति प्राप्त करें ॥५॥

मैं अपने को यानी द्रष्टा आदि त्रिपुटी के भीतर सर्वप्रथम वसिष्ठसंज्ञक जीव को नहीं जानता और न दृश्य तथा इस जगत् के भ्रम को ही जानता हूँ। मैं शान्त ब्रह्म में प्रविष्ट हो चुका हूँ । मैं निर्विकार ब्रह्म ही हूँ ॥ ६ ॥

'तुम वसिष्ठ हो' इस 'त्वम्' शब्द के अर्थ से घटित युष्मद्रूप को भी 'त्वम्' शब्दार्थ घटित आप ही देख रहे हैं, और मैं तो सबको केवल शान्त, परम चिदाकाशरूप ही देख रहा हूँ ॥ ७ ॥

वायु में स्पन्दन की तरह परम चिदाकाशरूप ही ब्रह्म में ये शब्दार्थादिरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थ आपमें भी विभ्रमस्वरूप से ही उत्पन्न हैं, परमार्थतः वे उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु उत्पन्न हुए के समान प्रतीत हो

विभ्रमास्तव संजातकल्पाः स्पन्दा इवानिले ॥ ८ ॥
ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्गं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति नो ।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम् ॥ ९ ॥
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदृशोरिव ।
रूपं जानाति भारूपं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ १० ॥
यथाभूतमिदं सर्वं परिजानाति बोधवान् ।
संशाम्यति च शुद्धात्मा शरदीव पयोधरः ॥ ११ ॥
स्मृतिस्थः कल्पनस्थो वा यथाख्यातश्च सङ्गरः ।
सदसद्भ्रान्तितामात्रस्तथाहन्त्वजगद्भ्रमः ॥ १२ ॥
आत्मन्यपि नास्ति हि या
द्रष्टा यस्या न विद्यते कश्चित् ।

रहे हैं ॥ ८ ॥

ब्रह्मस्वरूप में स्थित पुरुष सृष्टि को नहीं जानता है और सृष्टि में स्थित पुरुष ब्रह्मस्वरूप को नहीं जानता है जैसे सुषुप्त पुरुष स्वप्न को नहीं जानता और स्वप्न में स्थित पुरुष सुषुप्ति को नहीं जानता। अर्थात् द्वैत के साथ विद्वेष होने के कारण मुझे अद्वैत का अदर्शन है, ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु द्वैतदर्शन और द्वैतादर्शन दोनों एक साथ नहीं हो सकते ॥ ९ ॥

तत्त्वज्ञानी प्रशान्त चित्त जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्म और जगत् के प्रकाशस्वरूप रूप को क्रमशः वैसे ही जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्न के द्रष्टा पुरुष क्रमशः उनका रूप जानते हैं, इसीलिए वह उपदेष्टा होता है ॥ १० ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण जगत् को यथावस्थित ही जानता है तथा शरत्काल के मेघ के तुल्य शुद्धात्मा हो सर्वथा शान्त हो जाता है। अर्थात् वह भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं में क्रमशः द्वैतादर्शन से आगे चलकर बिलकुल प्रशान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

[जीवन्मुक्त ज्ञानी की दृष्टि से द्वैत उत्तरोत्तर निर्बल होता जाता है ।]

सत् और असत् की एकमात्र भ्रान्तिरूप अहन्ता आदि जगद्-भ्रम वैसे ही भासमान होता है जैसे किसी के कहने पर स्मृति या कल्पना में स्थित युद्ध भासमान होता है ॥ १२ ॥

भलीभाँति दिखाई दे रही जगत् की माया परमार्थ सत्यरूप आत्मा में तथा अत्यन्त असद्रूप शून्य में नहीं है एवं जिसका द्रष्टा कोई जीव भी नहीं है, ऐसी शून्य और

न च शून्यं नाशून्यं भ्रान्तिरियं भासते सेति ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासु आत्मविश्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

अशून्य से विलक्षण यह भ्रान्ति अनिर्वचनीय ही भासमान होती है ॥ १३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में वसिष्ठगीता में आत्मविश्रान्तिकथन नामक कुसुमलता का चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

४१

वसिष्ठ उवाच

अस्वभावस्वभावोऽयं सर्वोहन्तादिवेदनः ।
स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणीक्रियतां स्वयम् ॥ १ ॥
यत्रादित्यो भवेत्तत्र यथाऽऽलोकस्तथा भवेत् ।
परं विषयवैरस्यं तत्र यत्र प्रबुद्धधीः ॥ २ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
जगदग्राह्यसंभारमभित्तौ चित्तमुत्थितम् ॥ ३ ॥
न चोत्थितं किञ्च न वा शान्ते शान्तं यथास्थितम् ।
अनामयं परं ब्रह्म सत्यमव्ययमेव तत् ॥ ४ ॥
चिच्चमत्कारमात्रात्मकल्पनारङ्गरञ्जनाः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते खे जगच्चित्रपुत्रिकाः ॥ ५ ॥
रसभावविकाराढ्यं नृत्यन्त्यभिनयैर्नवैः ।
परमाणुप्रतिप्रायः खे स्फुरन्त्यम्बरात्मिकाः ॥ ६ ॥
सर्वर्तुशेखरधरा दिग्बाहुलतिकाकुलाः ।
पातालपादलतिका ब्रह्मलोकशिरोधराः ॥ ७ ॥
चन्द्रार्कलोलनयनास्तारोत्करतनूरुहाः ।
सप्तलोकाङ्गलतिकाः परितोऽच्छाम्बराम्बराः ॥ ८ ॥

४१

अविद्या के स्वभाव से युक्त वह आत्मा ही सम्पूर्ण जगत् का रूप धारण कर अहंकार आदि को जानने वाला बन जाता है। इस तरह अनिर्वाण-स्वरूप इस आत्मा को आप स्वयं ही शास्त्रीय उपायों द्वारा उत्पन्न विद्या से आविर्भूत अद्वितीय, स्वप्रकाश पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा के स्वभाव से निर्वाण-स्वरूप बना दें ॥ १ ॥

जहाँ विषयों से पूर्णतया वैराग्य होगा, वहाँ अवश्य तत्त्वज्ञानरूप प्रकाश वैसे ही होगा जैसे जहाँ सूर्य होंगे वहाँ प्रकाश अवश्य होगा, यह जैसे अकाटच सिद्धान्त है, अर्थात् वह विद्या तो विद्वानों के साथ निरन्तर समागम रखने से उत्पन्न विवेक ज्ञान जनित वैराग्य से ही सिद्ध होती है ॥ २ ॥

कर्ता कर्म तथा करण आदि सामग्री से शून्य; द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य आदि से रहित और उपादेय पदार्थों से शून्य यह जगत्-रूपी चित्र बिना भित्ति आदि आधार से ही आविर्भूत है। अर्थात् वैराग्य सिद्धि के लिए 'अविद्या-स्वभाव से ही शुद्ध ब्रह्म में जगत्-रूपी चित्र का अभ्यास होता है ॥ ३ ॥

जिस रूप से स्थित यह दृश्य चित्र है, यह ब्रह्म में न तो कभी कुछ उत्पन्न हुआ है और न शान्त ब्रह्म में शान्त ही हुआ है। वास्तव में वह निर्विकार सत्य, अविनाशी परब्रह्मरूप ही है। विद्या-स्वभाव से उस जगत्-रूपी चित्त का खण्डन कर अब निर्वाण का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है ॥ ४ ॥

चिति के एकमात्र चमत्कार स्वरूप जीवों के सङ्कल्पात्मक नृत्यमण्डप में शृङ्गार आदि नाना रसों से परिपूर्ण जगत्-चित्र की पुतलियाँ चिदाकाश में नाच रही हैं। हे श्री रामजी, इनकी गणना कौन कर सकता है। अर्थात् त्रिजगत्-रूपी नाच रही पुतलियों के रूप में मुख्य अविद्या स्वभाव का वर्णन किया है ॥ ५ ॥

शृङ्गार आदि रसों, रति आदि स्थायिभावों तथा कम्प, स्वेद आदि सञ्चारिभावों से परिपूर्ण नये-नये अभिनयों से परमाणु की मात्राओं के भी अन्दर विद्यमान चिदाकाशरूप पुतलियाँ प्रायः नृत्य कर रही हैं ॥ ६ ॥

सभी ऋतुएँ इनके मस्तक के आभूषण हैं, जिन्हें ये धारण किये हुई हैं, दिशारूपी बाहुलतिकाओं से वे सुशोभित हैं, पातल इनकी पादलतिका हैं, ब्रह्मलोक इनकी कन्धराएँ हैं, चन्द्र और सूर्य इनकी चञ्चल आँखें हैं, तारों के समूह इनके रोमसमूह हैं, सातो लोक इनकी अङ्गलतिका

द्वीपाम्बुराशिवलया लोकालोकाद्रिमेखलाः ।
भूतभारचलज्जीवप्रवहत्प्राणमारुताः ॥ ९ ॥
वनोपवनविन्यासहारकेयूरभूषिताः ।
पुराणवेदवचनाः क्रियाफलविनोदनाः ॥ १० ॥
त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं यदिदं दृश्यते पुरः ।
ब्रह्मवारिद्रवत्वं तत्तद्ब्रह्मानिलवेपनम् ॥ ११ ॥
अस्वभावस्थितैवास्य कारणं कारणात्मकम् ।
असुषुप्तस्थिता स्वापे स्वाप्नस्येव सतीव सा ॥ १२ ॥
असुप्तसुषुप्तस्थः स्वभावं भावयन् भव ।
जाग्रत्यपि गतव्यग्रो मा स्वप्नमिदमाश्रय ॥ १३ ॥
यज्जाग्रति सुषुप्तत्वं बोधादरसवासनम् ।

हैं, सभी ओर से अत्यन्त निर्मल आकाश ही तो इनकी सफेद साड़ी है, सभी द्वीप तथा समुद्र ही इनके हाथ के सुन्दर कंकण हैं, लोकालोक पर्वत इनकी करधनी है, भौतिक शारीरों के धारण-पोषण आदि निमित्त से चल-फिर रहे जीव ही इनके बह रहे प्राणमारुत हैं, वन तथा उपवनों की विचित्र रचनारूपी हारों और केयूरों से खूब भूषित हैं, पुराण और वेद ही तो इनके वचन हैं तथा तत्-तत् क्रियाओं के फलरूप सुख और नानाविध दुःख ही इनके विलास हैं। हे श्रीरामजी, इस तरह की त्रिलोकी-रूपी पुतलियों का जो नृत्य आपके सामने दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मरूपी जल का द्रवत्व या ब्रह्मरूपी वायु का संचलन ही है ॥ ७-११ ॥

सुषुप्ति के अवसर में सुषुप्ति-स्वभाव में स्थित न रहती हुई चिति स्वप्न की जैसे कारण बन जाती है वैसे ही अस्वभाव में अविद्या में स्थित रहती हुई यह चिति ही इस नृत्य की कारण बन गयी है। इसी तरह का कारणात्मक ब्रह्म श्रुतियों में प्रसिद्ध है ॥ १२ ॥

सांसारिक व्याकुलता छोड़कर आप पारमार्थिक स्वभाव की भावना करते हुए, जाग्रत्काल में भी असुषुप्त-सुषुप्त पद में अर्थात् अज्ञान के नाश से असुषुप्तरूप तथा सम्पूर्ण द्वैत का उपसंहार से सुषुप्तरूप जो तुर्यपद है उसमें स्थित हो जायें, इस जगद्रूपी स्वप्न का आश्रय मत करें।

अर्थात् इस तरह अविद्या के स्वभाव का वर्णन कर अब ब्रह्मात्मैक्यस्वभाव से निर्वाणरूप बनाने में साधना का निरूपण करते हैं ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञान से जाग्रत् काल में जो राग तथा वासना से शून्य सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है, उसी को तत्त्वज्ञानी लोग ब्रह्मस्वभाव कहते हैं तथा उसी स्वरूप में भलीभांति

तं स्वभावं विदुस्तज्ज्ञा मुक्तिस्तत्परिणामिता ॥ १४ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
अरूपालोकमननं स्थितं ब्रह्म जगत्तया ॥ १५ ॥
कान्ते कान्तं प्रकचति पूर्णे पूर्णं व्यवस्थितम् ।
द्वित्वैक्यरहिते भाति द्वित्वैक्यपरिवर्जितम् ॥ १६ ॥
सत्यं सत्ये स्थितं शान्तं सर्गात्मन्यात्मनि स्वयम् ।
आकाशकोशसदृशं शिलाजठरसंनिभम् ॥ १७ ॥
सुरत्नजठराकारं घनमप्यम्बरोपमम् ।
प्रतिबिम्बमिव क्षुब्धमप्यक्षुब्धमसच्च सत् ॥ १८ ॥
भविष्यन्नवनिर्माणं चेतसीव स्थितं पुरम् ।
ब्रह्म बृंहितभारूपमभेदीकृतमानसम् ॥ १९ ॥

परिनिष्ठित हो जाने को मुक्ति कहते हैं ॥ १४ ॥

ब्रह्मरूप भली-भाँति निष्ठा में प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष के व्यवहार काल में जगत्-रूप से स्थित कर्ता, कर्म और करण से शून्य; दृश्य, दर्शन और द्रष्टा से रहित तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से रहित ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मस्वरूप में निष्ठा होनेपर व्यवहार काल में भी ज्ञानी पुरुष को यह सारा सम्पूर्ण जगत् चिदेकरस रूप ही भासमान होता है ॥ १५ ॥

उस अवस्था में ज्ञानी को प्रकाशमान वस्तु में स्थित प्रकाशमान ही वस्तु, पूर्ण में स्थित पूर्ण ही वस्तु तथा द्वित्व और एकत्व से रहित शोधित प्रत्यगात्मा में द्वित्व-एकत्व रहित शोधित ब्रह्मरूप वस्तु ही अखण्ड एकरसरूप से ही भासमान होती है ॥ १६ ॥

वस्तुतः सृष्टिरूप में स्थित होनेपर भी आकाशकोश के सदृश शान्त एवं सत्य आत्मा ही अपने सत्यस्वरूप में पत्थर के उदर के सदृश स्वयं स्थित है ॥ १७ ॥

वह सुन्दर रत्नशिला के उदराकृति के सदृश प्रकाश-मय है, धन होने पर भी आकाश की तरह है, जगत्-प्रतिबिम्ब को पाकर क्षुब्ध-सा स्थित होनेपर भी वस्तुतः वह अक्षुब्ध है तथा जगद्-रूप से असत् प्रतीत होनेपर भी वह सत्स्वरूप ही स्थित रहता है [अर्थात् पत्थर के उदर के सदृश, ऐसा कहने से उसमें अप्रकाशस्वभावता की जो भ्रान्ति हो रही है उसका खण्डन ही इस पद्य में किया गया है] ॥ १८ ॥

भविष्य में जिस नगर का नवीन निर्माण करना होता है, उसका पहले चित्त में ही कल्पनारूप से अस्तित्व रहता है, इस तरह का नगर जैसे चित्तस्वरूप है, वैसे ही सामने स्थित यह जगत् पूर्ण प्रकाशात्मक अपने स्वरूप में

यथा सङ्कल्पनगरं सङ्कल्पान्नैव भिद्यते ।
तथाऽयं जगदाभासः परमार्थान्न भिद्यते ॥ २० ॥
हेमपीठमिवाऽनेकभविष्यत्सन्निवेशवत् ।
लक्ष्यमाणमपि स्फारं शान्तमव्ययमास्थितम् ॥ २१ ॥
अजस्रनाशोत्पादाढ्यमेकरूपमनामयम् ।
अनाशोत्पादमजरमनेकमिव कान्तिमत् ॥ २२ ॥
ब्रह्मैव शान्तिघनभावगतं विभाति
सर्गोदयेन विगतास्तमयोदयेन ।
व्योमेव शून्यविभवेन गलत्स्वभाव-
लाभं प्रति प्रसभमेव ननु प्रबुद्धे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वरूपविश्रान्त्यर्थमुपदेशकरणं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

ब्रह्मरूप ही है, जिसमें कि मन को एकरस बना दिया गया है ॥ १९ ॥

यह जगत् का आभास भी परमार्थरूप परब्रह्म से वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे सङ्कल्प का नगर सङ्कल्प से भिन्न नहीं है ॥ २० ॥

भविष्य में होनेवाली अनेक तरह की जिसमें नूतन-नूतन रचनाएँ विद्यमान हैं वैसे चौकोण सुवर्णपिण्ड के समान अनेक तरह के विस्तारों से परिपूर्ण दिखाई दे रहा भी यह जगत् शान्त अविनाशी ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

यह निरन्तर नाश और उत्पत्ति से पूर्ण रहते हुए भी नाश और उत्पत्ति से वर्जित है, अनेक-सा भासित हो रहा भी एकरूप है अर्थात् अजर, भास्वर तथा परब्रह्म परमात्मरूप से स्थित है ॥ २२ ॥

तत्त्वज्ञान हो जाने पर उदित सृष्टिरूप वस्तु उत्पत्ति विनाश से रहित हो जाती है अर्थात् तत्त्वज्ञ को उस समय यह भान होता है कि सृष्टि न तो कभी उत्पन्न हुई और न नष्ट ही हुई। उस दशा में उसे पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो जाती है और अकेला आनन्दघन ब्रह्म ही अपने अद्वैतस्वभाव के प्रभाव से भासमान होने लग जाता है। जैसे आकाश में भ्रमवश प्रतीत हो रहे केशोण्ड्रक, गन्धर्व नगर, तलमलिनता आदि के स्वभाव का जब बाध हो जाता है, तब पुरुष को हठात् वह शून्यस्वभाव से भासमान होने लग जाता है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिए ॥ २३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में स्वरूपविश्रान्त्यर्थ-उपदेशकरण नामक कुसुमलता का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

४२

वसिष्ठ उवाच

चित्तवत्कचनं शान्ते यत्तत्स्मान्न भिद्यते ।
अव्याकृतामलतया क्वातः सर्गादिसम्भवः ॥ १ ॥
चित्तदीपे गते यान्ति भ्रान्तिवद्भ्रान्तिखे स्थिते ।
रूपालोकमनस्कारसंविदोऽम्बुद्रवोर्मयः ॥ २ ॥

४२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शान्त कूटस्थ आत्मा में जो चित्त के समान प्रकाश है उस प्रकाशरूप चिदात्मा से भिन्न नहीं है, अतः जगत् आदि किसी का कहीं संभव नहीं है। वह अव्याकृत और निर्मल है। [आशय यह है—नाम और रूपों के भेद से ही तो इस संसार में भेद की प्रसिद्धि है। परन्तु यह भेद नाम और रूपों के निर्माण के पहले ही उत्पन्न जीवभाव के उपाधिभूत चित्त में वह हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय बना ही नहीं है। सूक्ष्म तेज, जल तथा पृथ्वीरूप लिङ्ग-सृष्टि के अनन्तर 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति में उसका निर्माण सुना जाता है। चित्त के निर्मल होने के कारण भी उसका चिति से भेद नहीं है। चिदात्मा और चित्त दोनों निर्मल हैं। प्रभा और आकाश में जैसे कोई प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, वैसे ही निर्मल इन दोनों में कोई भी प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, ऐसी स्थिति में चिति एवं चित्त का भेद ही कहाँ अर्थात् जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इस पूर्वोक्त का अनुभव कराने के लिए जगत् की भिन्नता-प्रतीति में हेतुभूत चित्त तथा चिति के भेद का निरास किया गया है] ॥ १ ॥

कूटस्थ प्रत्यगात्मस्वरूप आकाश में बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का प्रकाशन एक तरह से मानो जलरूप द्रव की लहरें हैं, वे मृगतृष्णा जल की तरह मिथ्या ही भासित होती हैं। चित्तरूपी सूर्य के अस्त हो जाने पर वे भी विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

निरस्तकरणापेक्षं मरुतः स्पन्दनं यथा ।
यथा विसरणं भासस्तथा जगदिदं परे ॥ ३ ॥
द्रवत्वमिव कीलाले शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
स्पन्दत्वं मरुतीवेदं किमप्यात्ममयं परे ॥ ४ ॥
महाचिति महाकाशे यदिदं भासते जगत् ।
तच्चित्त्वमेव कचति निर्मलत्वं मणाविव ॥ ५ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथा शून्यत्वमम्बरे ।
यथा प्रस्पन्दनं वायौ महाचिति तथा जगत् ॥ ६ ॥
वेत्ति वायुर्यथा स्पन्दं तथा वेत्ति जगच्चितिः ।
न द्वैतैक्यादिभेदानां मनागप्यत्र सम्भवः ॥ ७ ॥
अविवेकविवेकाभ्यां भासुरं भङ्गुरं जगत् ।

जैसे किसी कारण की अपेक्षा किये बिना वायु में स्पन्दन होता है या जैसे सूर्य में प्रभा का प्रसार होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में यह जगत् है अर्थात् जगत् को अपनी सत्ता में चिति से अतिरिक्त दूसरे किसी कारण की अपेक्षा ही नहीं है, इससे भी यह जगत् चितिरूप ही है ॥ ३ ॥

जैसे जल में द्रवत्व, आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्दता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा में यह कोई अनिर्वचनीय आत्मा का विवर्तरूप जगत् है ॥ ४ ॥

महाचिद्रूप महाकाश में जो यह जगत् भासमान होता है वह चिद्रूप ही, मणि में निर्मलता की तरह स्फुरित होता है अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में जैसे चित्त आदि का आत्मा में हुआ प्रकाश आत्मा से अभिन्न है, वैसे ही ब्रह्म में मायाधीन आकाशादि में हुआ प्रकाश भी ब्रह्म से अभिन्न है ॥ ५ ॥

महाचिति में यह जगत् वैसे ही है जैसे जल में द्रवता, आकाश में शून्यता, वायु में स्पन्दता है ॥ ६ ॥

चिति भी जगत् को अपना स्वरूप वैसे ही समझती है जैसे वायु स्पन्दन को स्वस्वरूप जानती है। इसलिए द्वैत और ऐक्य आदि भेदों का यहाँ तनिक भी अवसर नहीं है अर्थात् स्फुरण में भी चिति से अतिरिक्त किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, इसलिए भी उसका चिति से अभेद है ॥ ७ ॥

यह सारा संसार अविवेक से भासमान तथा विवेक से नश्वर है। परमार्थ वस्तु का बोध हो जाने पर तो न यह भासमान दीखता है और न विनश्वर ही प्रतीत होता है। उस समय तो यह एकमात्र सद्रूप परब्रह्म ही बनकर

बोधे सदैव सद्रूपमभासुरमभङ्गुरम् ॥ ८ ॥
ज्ञप्तिमात्रादृते शुद्धादादिमध्यान्तवर्जितात् ।
नान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥ ९ ॥
तत्कस्य चिच्छिवं शान्तं कस्यचिद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
कस्यचिच्छून्यतामात्रं कस्यचिज्ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १० ॥
तदनन्तात्म चिद्रूपं चेत्यतामिव भावयत् ।
स्वसंस्थमेव ज्ञेयत्वमज्ञत्वमिव गच्छति ॥ ११ ॥
चित्तया नास्ति सत्ता च चित्तता नास्ति तां विना ।
विना विना यथा वायोर्यथा स्पन्देषु कारणम् ॥ १२ ॥
तथा महाचितीच्छायाः सर्गसंवित्तिवृत्तिषु ।
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥ १३ ॥

अवशिष्ट रह जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानमात्र, शुद्ध, आदि-मध्य और अन्त से रहित महाचिन्मात्ररूपी परब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ दूसरा रहता ही नहीं है यह तत्त्वज्ञान से निर्णीत हुआ है ॥ ९ ॥

वह किसी के मत में शान्त शिव, किसी के मत में शाश्वत ब्रह्म, किसी के मत में शून्यतारूप और किसी के मत में वह ज्ञानरूप है। अर्थात् उस स्वरूप के विषय में वेदों का अनुसरण करने वाले और न करनेवाले विचारशील वादियों की यथार्थरूपों से अनेक कल्पनाएँ हैं ॥१०॥

अन्तस्वरूप चेतनात्मक वही अपने आपको विषय स्वरूप के समान समझता हुआ अर्थात् भावना करता हुआ स्वरूप में स्थित ही विषयरूप एवं अज्ञानी के समान बन जाता है ॥ ११ ॥

जितने पदार्थ अभ्यास से प्रतीत होते हैं उनका प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्य के बल से ही होता है, इस लिए विषयों की सत्ता अधिष्ठानभूत चेतन के बिना नहीं हो सकती और सत्ता के बिना विषयात्मक चित्तरूपता नहीं हो सकती, जैसे शून्यस्वरूप कूटस्थ आकाश के बिना दूसरा कोई वायु का कारण नहीं है और वायु के बिना स्पन्दनों का दूसरा कोई कारण नहीं है, ठीक ऐसे ही यहाँ भी बात है ॥ १२ ॥

तथा महाचैतन्य के सङ्कल्प से जायमान एवं निरन्तर ब्रह्मसत्ता के बल पर अपनी सत्ता रखनेवाले सृष्टि-भ्रमों में महाधिष्ठानभूत ब्रह्म की अपेक्षा से सदा सत्ता है, और स्वरूपतः असत्ता है। इस विषय में दूसरे किसी तर्क की अपेक्षा नहीं है ॥ १३ ॥

इत्यत्रार्थो भविष्यत्सद् द्वित्वैकत्वास्तितावशात् ।
कोऽत्र कल्पयिता द्वित्वमेकत्वं वा महाम्बरे ।
विश्वग्विश्वमपारैकपरमाकाशकोशता ॥ १४ ॥
यथा स्पन्दानिलद्वित्वं शाब्दमेव न वास्तवम् ।
विश्वविश्वेश्वरद्वित्वं तथैवासन्मयात्मकम् ॥ १५ ॥
सदेवासम्भवद्द्वित्वं महाचिन्मात्रकं च यत् ।
विश्वाभासं तदेवेदं न विश्वं सन्न विश्वता ॥ १६ ॥
देशकालादिमत्त्वेन कदाचिद्धेम्नि सत्यता ।
कटकत्वस्य भिन्नस्य विश्वस्य च तथा परे ॥ १७ ॥
द्वित्वैक्यासम्भवे चात्र कार्यकारणता कुतः ।
स्याच्चेत्तत्कल्पनामात्रमेवैतन्नान्यवस्तुता ॥ १८ ॥

विश्व और विश्वेश्वर का भेद वैसे ही शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं, जैसे वायु और स्पन्दन का भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं है, असल में असदात्मक ही है । अर्थात् चित् और जड़ का द्वैत एवं द्वैत का करण एकत्व इनका स्वतः अस्तित्व तथा इसी अस्तित्व के अधार पर सृष्टि-भ्रमों का अस्तित्व मानना चाहिए, यह बात मानी जा जा सकती है, परन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाश में द्वित्व-एकत्व का कोई समर्थन करनेवाला नहीं है और जड़ वस्तुओं में तो वैसा समर्थन करने वाला कोई हो ही नहीं सकता । इसलिए आकाश के द्वैत की अप्रसिद्धि के सदृश तथा स्पन्दन एवं वायु के भेद की अप्रसिद्धि के सदृश विश्व और विश्वेश्वर के भेद की भी अप्रसिद्धि है ॥ १४, १५ ॥

जिसमें द्वैत की संभावना नहीं है, जो तीनों काल में सत्स्वरूप ही है और महाचेतनरूप है, यही विश्व के रूप में भासता है, असल में न विश्व है और न विश्व का कोई स्वरूप ही है ॥ १६ ॥

कतिपय लोगों का कहना है कि जैसे कार्यरूप से भिन्न कटकरूप की अपेक्षा अधिक देश-काल के सम्बन्ध से सुवर्ण में कादाचित्क सत्यता है, वैसे ही कार्य की अपेक्षा अधिक देशकाल के सम्बन्ध से विश्व में भी सत्यता हो सकती है ॥ १७ ॥

द्वित्व और ऐक्य के ही असम्भव से यहाँ न कोई कार्यरूप है और न कोई कारणरूप ही है। [यदि काल्पनिक कार्य-कारण भेद मान लिया जाय, तो भी काल्पनिक भेद से सत्यता का निर्वाह नहीं हो सकता, यह कहते हैं] यदि काल्पनिक कार्यकारण भेद मान लें तो भी परमात्मा से भिन्न यह संसार एकमात्र काल्पनिक ही सिद्ध होगा; इससे उस परमात्मा से भिन्न दूसरी वस्तु सिद्ध नहीं होगी अर्थात् यह तब होता, जब कि कार्य और कारण का भेद सिद्ध होता, लेकिन वही सिद्ध नहीं है ॥ १८ ॥

शून्यता नभसीवात्र द्रवत्वमिव चाम्भसि ।
खे खलेखाप्यभिन्नेव किलास्ति जगदादिता ॥ १९ ॥
यद्रूपं ब्रह्म तद्रूपं जगत्क्वाऽत्र द्वितैकते ।
यद्रूपं व्योम तद्रूपमेवं शून्यं किलाखिलम् ॥ २० ॥
एकात्मनि तते स्वच्छे चिन्मात्रे सर्वरूपिणि ।
शिलापुत्रकसेनायां पाषाणत्व इवास्थिते ॥ २१ ॥
कार्यकारणवैचित्र्यं कथं सम्भवति क्व वा ।
कथमव्योमता व्योम्नि द्वितीयासम्भवाद्भवेत् ॥ २२ ॥
प्रतिभात्मैव भारूपो भाति सर्गो महाचिति ।
पुत्रिकेवोपलोत्कीर्णा तन्मयत्वात्तदात्मिका ॥ २३ ॥

जैसे कि आकाश में शून्यता है और जैसे जल में द्रवत्व है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मा में विश्व है । अत्यन्त अभेद में भी जैसे 'आकाश में आकाश की रेखा है' इस तरह की भेद कल्पना देखी जाती है वैसे ही इस जगत् के विषय में भी होगी । अत्यन्त भेद होने पर भी जैसे आकाश में आकाश की रेखा अज्ञान दृष्टि से देखी जाती है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मा में जगदादि का रूप अज्ञानियों की दृष्टि से देखा जाता है ॥ १९ ॥

ब्रह्म का जो रूप है वही रूप जगत् का भी है, इससे द्वैत और ऐक्य की यहाँ आपत्ति ही नहीं हो सकती है । आकाश से भिन्न-सी कल्पित शून्य आकाश की रेखा जिस रूप की रहती है यानी रेखा शब्द से वाच्य आकाश जिस रूप का रहता है, ठीक उसी रूप का यह सारा जगत् भी ब्रह्म से भिन्न-सा कल्पित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थिति में एकात्मा, व्यापक, स्वच्छ, चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के, पत्थर में खुदी गई सेना के सदृश पत्थररूप से स्थित रहते, कार्य-कारण की विचित्रता कहाँ कैसे संभव हो सकती है । द्वितीय का संभव न होने से चिदाकाश में उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तु की संभावना नहीं हो सकती है ॥ २०–२२ ॥

प्रतिभारूप ही यह सृष्टि प्रतिभारूप से महाचेतन में ऐसे भासती है, जैसे पाषाण में खुदी हुई प्रतिमा पाषाण रूप होने के कारण पाषाणमय भासती है । हे साधो !

साधो ! यथास्थितस्यैवं बुद्‌ध्वा विश्वं प्रलीयते ।
काष्ठमौनदशाभासं संसारमवशिष्यते ॥ २४ ॥
यथा निमीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २५ ॥
तथैवोन्मीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २६ ॥
भावनोपशमं कृत्वा शिलीभूय यथास्थितम् ।
अशिलीभूतमेवान्तः स्वभावं सममास्यताम् ॥ २७ ॥
आविवेकोपहारेण यथाप्राप्तार्थपूजनैः ।
बोधाय पूज्यतां बुद्ध्या स्वभावः परमेश्वरः ॥ २८ ॥
विवेकपूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः ।

यथार्थभूत वास्तविक ब्रह्म का तत्त्वज्ञान हो जाने से इस विश्व का विलय हो जाता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर सब चेष्टाओं से शून्य अवस्था के द्वारा स्फुरित हो रहा ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसार भ्रम को नष्ट करके अवशिष्ट रह जाता है ।। २३-२४ ।।

यद्यपि न तो कुछ वस्तु है और न कोई सामने पदार्थ ही है, तथापि एकमात्र भावना के बलपर आखें बन्द कर पड़े हुए पुरुष को स्वप्न के जाग्रत् काल में जैसे बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का भ्रम होता है वैसे ही यद्यपि न कुछ वस्तु है न सामने कोई पदार्थ ही है तथापि भावना के बलपर आंखें खुली रखकर बैठे हुए पुरुष को जाग्रद्रूप स्वप्न में बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों का भ्रम होता है अर्थात् भावनारूप मन की एकमात्र कल्पना से उत्पन्न संसारभ्रम भावनात्याग एवं कल्पनारहित स्थिति से ही विनष्ट हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

भावना को शान्त कर पाषाण के समान निश्चल हो तथा चिदेकरस होने से शिला से विलक्षण भीतर के अशिलाभूत यथा स्थित आत्म-स्वभाव का अवलम्बन करके एक रूप से स्थित रहे ।। २७ ।।

पूर्ण विवेक रूप उपहार से पूजन साधन प्रारब्ध प्राप्त अर्थों के द्वारा बोध के लिए बुद्धिपूर्वक आत्मस्वभाव रूप परमेश्वर की पूजा करे अर्थात् उस तरह की स्थिति बनाने के लिए अनुकूल विवेक-वैराग्य आदि साधनों का अभ्यास ही आत्मरूप परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा है ॥ २८ ॥

विवेक से पूजित स्वात्मभूत परमात्मा शीघ्र ही पूजा करने वाले को निरतिशय आनन्द रूप वर प्रदान करता है। इस पूजा में रुद्र, उपेन्द्र आदि की पूजा तो, जीर्ण-

रुद्रोपेन्द्रादिपूजाऽत्र जरत्तृणलवायते ॥ २९ ॥
विचारशमसत्सङ्गबलिपुष्पैकपूजितः ।
सद्यो मोक्षफलः साधो ! स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ ३० ॥
सत्यालोकनमात्रैकपूजितोऽनुत्तमार्थदः ।
यत्राऽस्त्यात्मेश्वरस्तत्र मूढः कोऽन्यं समाश्रयेत् ॥ ३१ ॥
सत्सङ्गशमसन्तोषविवेकापूजितात्मनः ।
शिरीषकुसुमायन्ते शस्त्राहिविषवह्नयः ॥ ३२ ॥
देवार्चनतपस्तीर्थदानान्यतिकृतान्यपि ।
भस्मायन्ते निरर्थत्वादविवेकामहात्मनाम् ॥ ३३ ॥
एतान्यपि विवेकेन क्रियन्ते सफलानि चेत् ।
विवेक एव तत्कस्मात्स्फुटमन्तर्न साध्यते ॥ ३४ ॥

शीर्ण तिनके के टुकड़े के सदृश, हलकी पड़ जाती है ॥ २९ ॥

विचार, शम और सत्संग रूपी बलिदान-पुष्पों से पूजित हुआ परमेश्वर शीघ्र मोक्ष फल प्रदान करता है। हे साधो, यह स्वात्मा ही परमेश्वर है ॥ ३० ॥

वस्तुतः यथार्थ अवलोकन रूप अकेली पूजन सामग्री से जिसकी पूजा की गई है ऐसे सर्वोत्तम फल प्रदान करने वाला यह ईश्वर रूप आत्मा जहां उपस्थित हो, वहां भला ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो किसी दूसरे का 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' आश्रयण करेगा ।। ३१ ।।

सत्संग, शम, सन्तोष और विवेक द्वारा जिसने आत्मा की पूर्ण रीति से पूजा की है ऐसे पुरुष के लिए शस्त्र, सर्प, विष और अग्नि ये सब शिरीष के फूल बन जाते हैं। आशय यह है कि पूजन द्वारा प्रसन्न तटस्थ ईश्वर इस जीव की शस्त्र, सर्प, अग्नि आदि से भली-भांति रक्षा कर सकता है, परन्तु कूटस्थ आत्मा क्या कर सकता है ? इसके समाधान में कहा गया है ।। ३२ ।।

जिनको देश, काल, पात्र आदि का विवेक नहीं है, ऐसे दुरात्माओं द्वारा अत्यधिक किये गये देव-पूजन, तप, तीर्थाटन, दान आदि सबके सब तत्त्वशून्य होने के कारण भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए यदि सब विवेक से सफल किये जायँ, तो अपने अन्तःकरण में विवेक की ही स्पष्ट रूप से साधना क्यों नहीं की जाय ? अर्थात् अविवेकियों द्वारा किये गये देवता पूजन आदि सत्कर्मों में अपराध होने की अवश्य संभावना है, ऐसी स्थिति में वे निष्फल या अनर्थ देने वाले हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि उन कर्मों में देश, काल, पात्र, द्रव्य,

यथाभूतार्थविज्ञानाद्वासनोपरमे परे ।
यत्ने विवेकशब्दाख्यो भवत्यात्मप्रसादतः ।। ३५ ।।
तथातथा विवेकोऽन्तर्वृद्धिं नेयः शमामृतैः ।
यथायथा पुनः शोषमुपयाति न विभ्रमैः ।। ३६ ।।
देहसत्तामनादृत्य यथाभूतार्थदर्शनात् ।
लज्जां भयं विषादेर्ष्ये सुखं दुःख जयेत्समम् ।। ३७ ।।
जगदादि शरीरादि नास्त्येवादौ कुतोऽद्य तत् ।
कार्यं चेत्कारणस्यैतत्तथापि ब्रह्ममात्रकम् ।। ३८ ।।
प्रतिभामात्रमेवाच्छं न तु ज्ञप्तेर्घटादि सत् ।
ज्ञानात्मिकैव प्रतिभा ज्ञप्तिरेवाखिलं जगत् ।। ३९ ।।

कर्ता आदि की विशुद्धि तथा उनके परिज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, शान्ति आदि की यदि आवश्यकता पड़ जाती है, तो सर्वविध क्लेशों से रहित महा फल वाले आत्मदर्शन में ही उनका उपयोग क्यों न किया जाय ।। ३३, ३४ ।।

वास्तविक पदार्थ के विज्ञान के बाद वासना के आत्यन्तिक उच्छेद का प्रयत्न ही विवेकशब्द का अर्थ है, यह निष्काम यज्ञ तथा दान किया गया आदि कर्मों से जनित चित्त की प्रसन्नता से ही होता है । वैराग्य आदि सब साधनरूप ही यह यत्न है ।। ३५ ।।

जैसे कि विषयभ्रान्तियों से वह फिर नष्ट न होने पावे वैसे ही अपने भीतर शमरूपी अमृत से विवेक को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए ।। ३६ ।।

मनुष्य देह की सत्ता का अनादर कर उसमें स्थित तात्त्विक वस्तु का प्रत्यक्ष करे, फिर उससे होनेवाले लज्जा, भय, विषाद, ईर्ष्या, सुख, दुःख आदि पर बराबर विजय प्राप्त करे ।। ३७ ।।

शरीर का कारण जगत् और जगत् का भी कारण पहले ही नहीं रहा, तब आज वह कहाँ से रहेगा यदि कहा जाय कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति में बतलाया गया ब्रह्मात्मक कारण तो पहले से है ही तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य यदि कारण का ही रूप है, तो आखिर में वह ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है, अन्यरूप सिद्ध नहीं होता है ।। ३८ ।।

समस्त विकल्पों से निर्मुक्त विशुद्ध प्रतिभामात्र ही ब्रह्म का स्वरूप है । विकल्प-प्रतिभा भी चिदाभासरूप ज्ञानरूपा ही है, इसलिए ज्ञान से पृथक् घट आदि का अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु समस्त जगत् ज्ञानरूप ही है ।। ३९ ।।

ज्ञप्तिरप्यात्मतत्त्वश्रीः परिज्ञातोपशाम्यति ।
ज्ञेयाभावे त्वनिर्वाच्या शिष्यते शाश्वतं शिवम् ।। ४० ।।
अशरीराद्यविश्वात्म सर्वं शान्तमिदं ततम् ।
ज्ञानज्ञेयज्ञप्तिमुक्तं दृषन्मौनमिव स्थितम् ।। ४१ ।।
शान्तान्तःकरणाः स्वस्थाः शिलापुत्रककोशवत् ।
चलन्तश्चालयन्तश्च ज्ञरूपा एव तिष्ठत ।। ४२ ।।
अज्ञेयज्ञत्वसद्रूपाः सदसत्साररूपिणः ।
आकाशकोशविशदा भवताऽभवभूमयः ।। ४३ ।।
यथास्थितं च तिष्ठन्ति गच्छन्तश्च यथागतम् ।
यथाप्राप्तैककर्माणः सम्पद्यन्ते बुधाः परम् ।। ४४ ।।

जिसमें आत्मतत्त्वरूप श्री प्रतिबिम्बित है ऐसी ज्ञप्ति अर्थात् चिदाभासरूप ज्ञान तब होता है, जब आत्मा का तत्त्वज्ञान पहले नहीं रहता है, इसलिए उसको प्रत्यगात्म-मात्रस्वरूप जान लेनेपर वह स्वयं नष्ट हो जायगी, क्योंकि उस समय आत्मतत्त्व से अलग करने वाली कोई उपाधिभूत वस्तु अलग नहीं रहेगी । ठीक ही है, दर्पण में देखी गई मुख-शोभा दर्पण के हट जाने पर स्वयं ही शान्त हो जाती है । जब उपाधि शान्त हो जाती है तब ज्ञप्ति का स्वरूप नहीं कहा जाता । उस समय सदा स्थायी शिवस्वरूप एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रहता है । यह शिवस्वरूप वस्तु शरीर आदि अवयवों से रहित जगद्रूप से निर्मुक्त पूर्ण, शान्त, ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञप्तिरूप त्रिपुटी से शून्य, पत्थर की चट्टानों के सदृश वाणी के व्यापारों से वर्जित है और यह सारा प्रपञ्च तद्रूप ही है ।।४०-४१।।

इसलिए आप लोग जैसे पाषण-प्रतिमाएँ शान्त रहती हैं, वैसे ही अपने अन्तःकरण को शान्त बनाकर स्वस्थ होइए एवं सांसारिक सब व्यवहारों को करते तथा कराते हुए भी ज्ञानी के रूप में ही स्थित रहें । अर्थात् आप सब लोगों को वह शिवस्वरूप स्थिति ही प्राप्त करनी चाहिये ।। ४२ ।।

ज्ञेय और ज्ञान से शून्य सद्रूप, सत् और असत् सार-भूत, आकाश गोलक के समान विशद तथा संसार के अकारणभूत आप लोग हो जाइये ।। ४३ ।।

ज्ञानी पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ चाहे स्थित रहते हैं और जहाँ जाने की इच्छा होती है, बड़े आनन्द से वहां चले जाते हैं । वे एक मात्र प्रारब्ध प्राप्त अपना कर्म करते हुए पर ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप-भूत बन जाते हैं ।। ४४ ।।

अथवा सर्वसंत्यागशान्तान्तःकरणोज्ज्वलाः ।
एकान्तेष्वेव तिष्ठन्तु चित्रकर्मार्पिता इव ॥ ४५ ॥
सङ्कल्पशान्तौ सङ्कल्पपुरवत् सर्वदाऽखिलम् ।
स्वप्नवच्च प्रबुद्धस्य सदैवास्तं गतं जगत् ॥ ४६ ॥
सनेत्ररूपानुभवं जातितोऽन्ध इव भ्रमैः ।
निर्वाणं वर्णयन्नज्ञस्ताप्यतेऽन्तर्न शाम्यति ॥ ४७ ॥
कल्पनांशोपदेशेन लोकोऽविद्यामयात्मना ।
येन केनचिदज्ञत्वात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते ॥ ४८ ॥
अकृतार्थः कृतार्थत्वं जानन् मौर्ख्यविमोहितः ।
विज्ञास्यत्यकृतार्थत्वं क्षणान्तरकदर्थनैः ॥ ४९ ॥
उपायं कल्पनात्मानमनुपायं विदुर्बुधाः ।
दुःखदत्वान्निमेषेण भावाभावैषणभ्रमैः ॥ ५० ॥
जगद्भ्रमं परिज्ञाय यदवासममासितम् ।
विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते ॥ ५१ ॥
आख्यायिकार्थप्रतिभानमेत्य
संवेत्स्यचिद्वारि भराद्द्रवात्म ।
अवेद्यचिद्रूपमशेषमच्छं
पश्यन्विनिर्वासि जगत्स्वरूपम् ॥ ५२ ॥
जात्यन्धरूपानुभवानुरूपं
यदागमैर्बुद्धमबोधरूपम् ।
अधस्पदीकृत्य तदन्तरेऽस्मिन्
बोधे निपत्याऽनुभवो भवाभूः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणोपदेशो नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

अथवा समस्त इच्छाओं के उत्तम त्याग से शान्त अन्तःकरण से युक्त हो आप चित्र कर्म में लिखित मूर्तियों सदृश निश्चल वृत्ति हो एकान्त स्थानों में ही स्थित रहें अथवा निरन्तर समाधि मे स्थित रहें ॥ ४५ ॥

जैसे सङ्कल्प की शान्ति हो जाने पर सङ्कल्प नगर शान्त हो जाता है अथवा जाग्रत्-पुरुष के लिए स्वप्न नष्ट हो जाता है वैसे ही समाधि और व्यवहार दशा में निरन्तर आत्मज्ञान से सम्पन्न पुरुष के लिए सम्पूर्ण जगत् सदा के लिए ही विनष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥

कुछ वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ही 'मैं तत्त्वज्ञ हो गया' इस प्रकार के भ्रम में पड़कर मोक्ष का वर्णन कर रहा अज्ञानी पुरुष, देखने वाले पुरुष को हुए रूपानुभव का वर्णन कर रहे जन्मान्ध पुरुष के सदृश, अपने भीतर मान, अपमान आदि दुःखों से सन्तप्त रहता है। तत्त्वज्ञ के सदृश भीतर सुख का अनुभव नहीं करता है अर्थात् वही तत्त्वज्ञान निर्वाण में उपयोगी है, जो नेत्र वाले पुरुष को रूपानुभव के सदृश प्रत्यक्ष एवं पूर्णानन्दानुभव तक स्थिर रह सकता है, जन्मान्ध पुरुष की रूप कल्पना के सदृश परोक्ष-सा तत्त्वज्ञान निर्वाण में उपयोगी नहीं है ॥ ४७ ॥

अविद्या स्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेश से कोई पुरुष 'मैं कृतार्थ हूँ' यों यदि मानता है, तो वह अज्ञानी होने के कारण असल में अकृतार्थ ही है। अपने में कृतार्थता जान रहा वह मूर्खता से अत्यन्त मोहित है। ऐसा पुरुष दूसरे क्षण में अनेकविध यातनाओं के कारण अपनी कृतार्थता ही जान पायेगा। अर्थात् अन्धगोलाङ्गूल न्याय से असत् उपदेश से ठगे गये पुरुषों में भी कृतार्थता की भ्रान्ति होती है, यह लोक में प्रसिद्ध है ॥ ४८, ४९ ॥

कल्पनिक उपाय निमेष भर में ही भाव, अभाव तथा इच्छा भ्रमों से दुःखदायी होने के कारण मोक्ष का उपाय नहीं है, यह विद्वानों का मत है ॥ ५० ॥

जगद्रूप भ्रम का अच्छी तरह ज्ञान करने पर वासना शून्य स्थिति ही, हिरण्यगर्भ स्थान तक के समस्त विषय जिसकी अपेक्षा नीरस हैं, इसी को निर्वाण कहा जाता है। अर्थात् इसलिए तत्त्वज्ञान को ही वासना विनाश पर्यन्त दृढ़ करना चाहिये। वही तत्त्वज्ञान निर्वाणरूप हो जाता है ॥ ५१ ॥

मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थ का लौकिक या पौराणिक कथार्थ के सदृश कल्पना मात्ररूप बहिर्मुख वृत्ति से जानकर आप कृतार्थ नहीं होंगे, किन्तु एकमात्र वासनओं के भयंकर बाढ़ से चारो ओर बह रहे जगद्रूपी अचित् जल को ही देखें, अतः जब आप आत्मदृष्टि से समस्त जगत्स्वरूप को पूर्ण शुद्ध अवेद्य चिद्रूप, प्रत्यक्ष करेंगे तभी मोक्ष में स्थित रहेंगे यानी कृतार्थ होंगे ॥ ५२ ॥

उपदेश वचनों से जन्मान्ध पुरुष के रूपानुभव के सदृश परोक्षरूप जानना तो न जानना ही है अर्थात् अज्ञान ही है, क्योंकि अपरोक्ष वस्तु के विषय में हुआ परोक्ष ज्ञान केवल भ्रमात्मक ही होता है। इसलिए ऐसे ज्ञान को तिरस्कार कर प्रत्यगात्मस्वरूप इस नित्य अपरोक्ष आत्म ज्ञान में पड़कर आप जन्मादि शून्य आत्मानुभवरूप ही बन जायें यही निर्वाण है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में निर्वाणोपदेश नामक कुसुसलता का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

४३

वसिष्ठ उवाच

अहन्तादि जगच्चेदं परिज्ञानादसत्यताम् ।
याति सानुभवो मोहात्सत्यमेवाऽन्यथाधियाम् ॥ १ ॥
अज्ञानज्वरमुक्तस्य बोधशीतलितात्मनः ।
एतदेव भवेच्चिह्नं यद्भोगाम्बु न रोचते ॥ २ ॥
अलमन्यैः परिज्ञानैर्वाच्यवाचकविभ्रमैः ।
अनहंवेदनामात्रं निर्वाणं तद्विभाव्यताम् ॥ ३ ॥
परिज्ञाता यथा स्वप्ने पदार्था रसयन्ति नो ।
न च सन्ति तथैवास्मिन्नहं जगदिदं भ्रमे ॥ ४ ॥
यथा स्वभावनाद्यक्षस्तरौ सस्वजनं पुरम् ।
पश्यत्यसत्यमेवैवं जीवः पश्यति संसृतिम् ॥ ५ ॥
विभ्रमात्मा यथा यक्षो यक्षलोकश्च ते मिथः ।
सद्रूपौ सुस्थितौ मिथ्या तथाऽहन्त्वजगद्भ्रमौ ॥ ६ ॥
अनावरणतोऽरण्ये यक्षा विभ्रमरूपिणः ।
यथा स्फुरन्ति भूतानि तथेमानि चतुर्दश ॥ ७ ॥
भ्रममात्रमहं मिथ्यैवेति बुद्ध्वा विभावयन् ।
यक्षोऽयक्षत्वमायाति चित्तं चित्तत्वतामिदम् ॥ ८ ॥
निरस्तकलनाशङ्कं त्यागग्रहणवर्जितम् ।
अविसारिसमस्तेच्छं शान्तमास्व यथास्थितम् ॥ ९ ॥

४३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भोक्ता और भोग्यरूप सम्पूर्ण आन्तर अहन्तादि और बाह्य जगत् तत्त्वज्ञान से जगदनुभवरूप भोग के स्वरूप ज्ञान से असत्य बन जाता है। जो भोग होता है वह भोक्ता और भोग्य के सम्बन्ध का अनुभव है। उसी अनुभव से मोह के द्वारा आत्मा और अनात्मा के धर्मों को एक दूसरे में समझनेवाले अर्थात् भोक्ता में ही आत्मबुद्धि रखनेवाले मूढ़ों को बाह्य जगत् का भोग होता है, स्वतः नहीं। इसलिए परमार्थ दशा में बाह्य और आभ्यन्तर जगत् का अनुभव ब्रह्मरूप ही है ॥ १ ॥

अर्थात् तत्त्वज्ञानियों को भोग्यवर्गों में रुचि नहीं होती है।

अज्ञान से भलीभाँति मुक्त पुरुष जिसकी आत्मा बोध से शीतल हो चुकी है, ऐसे महानुभाव का यही चिह्न है कि उसे भोगजल रुचता है ॥ २ ॥

नामरूपात्मक विषयों के भ्रमस्वरूप दूसरे-दूसरे ज्ञानों का सम्पादन करना निरर्थक ही है। केवल अहंबुद्धि का अभाव ही मोक्ष है, यह आप जानें। अर्थात् इस प्रकार भोग्य वस्तुओं से विरक्त के द्वारा भोक्ता में अहंकाररूपी अंश का एकमात्र त्याग कर देने से विशुद्ध चिन्मात्ररूप से अवशिष्ट निर्वाण सिद्ध हो जाता है ॥ ३ ॥

'मैं' 'यह जगत्' इत्यादि भ्रम देखे गये पदार्थ वैसे ही न तो तत्त्वज्ञानी को आनन्द प्रदान करते हैं और न उसकी दृष्टि में अपना अस्तित्व ही रखते हैं जैसे स्वप्न में दृष्टिगोचर पदार्थ लगे हुए पुरुष को किसी तरह का आनन्द प्रदान नहीं करते और न उसकी दृष्टि में वे अपना अस्तित्व ही रखते हैं ॥ ४ ॥

जीव अपनी विद्या से असत्य ही इस विशाल संसार को देखता है। जैसे यक्ष अपनी भावना से वृक्ष में अपने स्वरूप से युक्त असत्य नगर को देखता है ॥ ५ ॥

जैसे भ्रान्ति कल्पित भोक्तारूप होने से विभ्रमरूप यक्ष तथा भ्रान्ति कल्पित भोग्य स्वरूप होने से उसका नगर भी नहीं है। परस्पर उपभोगरूप अर्थक्रियाकारी होने से वे दोनों सद्रूप की तरह स्थित हैं वैसे ही मिथ्या अहन्ता और जगत् का भ्रम भी स्थित है ॥ ६ ॥

जैसे जंगल में यक्ष आदि विभ्रमरूप ही स्फुरित होते हैं। वैसे ही आवरण न रहने से ये चौदह भुवन भी स्फुरित होते हैं। अर्थात् आवरण रहित साक्षी में अध्यास के कारण ही ये चौदह भुवन स्फुरित होते हैं। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों में असत् के भी सत्यरूप से प्रतिभास में आवरण शून्य साक्षी का अध्यास ही निमित्त है ॥ ७ ॥

अहमादि सब जगत् मिथ्या ही है इस प्रकार जानकर यह चित्त चिद्रूप तात्त्विक भाव को वैसे ही प्राप्त हो जाता है जैसे यह सब कुछ एकमात्र मेरा भ्रम है, और कुछ नहीं इस प्रकार विचार यक्ष अयक्ष हो जाता है। अर्थात् यक्ष के अपने कल्पित देह, नगर आदि के उपसंहार की तरह जगद्भ्रम के बाध में भी उसे एकमात्र मिथ्यारूप देखना ही हेतु है ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण कल्पनाओं तथा आशङ्काओं से रहित, त्याग तथा ग्रहण से शून्य, बहुत दूरतक जानेवाली समस्त इच्छाओं से रहित तथा शान्त होकर जैसे आप स्थित हैं वैसे ही स्थित रहें ॥ ९ ॥

असत्तासम्भवं दृश्यं द्रष्ट्रात्मकमिदं ततम् ।
अथवा नैव द्रष्ट्रात्म सदवाच्यं किमास्यते ॥ १० ॥
वसन्तरसपूरस्य यथा विटपगुल्मता ।
स्वरूपमात्रभरितसंविदः सर्गता तथा ॥ ११ ॥
यदिदं जगदाभासं शुद्धं चिन्मात्रवेदनम् ।
काऽत्रैकता द्विता का वा निर्वाणमलमास्यताम् ॥ १२ ॥
भूयतां चिन्मयव्योम्ना पीयतां परमो रसः ।
स्थीयतां विगताशङ्कं निर्वाणानन्दनन्दने ॥ १३ ॥
किमेतास्वतिशून्यासु संसारारण्यभूमिषु ।
मानवा वातहरिणा भ्रमथो भ्रान्तबुद्धयः ॥ १४ ॥
जगत्त्रयमरीच्यम्बुविप्रलब्धान्धबुद्धयः ।
मा धावत गतव्यग्रमाशयोपहताशयाः ॥ १५ ॥
रूपालोकमनस्कारमृगतृष्णाम्बुपायिनः ।
व्यर्थमायासमायूंषि मा मा क्षपयतैणकाः ॥ १६ ॥
जगद्गन्धर्वनगरगुरुगर्वेण नश्यथ ।
सुखरूपाणि दुःखानि नाशनायैव पश्यथ ॥ १७ ॥
जगत्केशोण्ड्रकभ्रान्त्यै मा महाम्बरमध्यगम् ।
अवलोकयताभ्रान्ते स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८ ॥
मानवा वातलोलोच्चपत्रप्राप्ताम्बुभङ्गुर- ।
मानवासु न चाऽऽस्वन्धगर्भशय्यासु सुप्यताम् ॥ १९ ॥
अविराममनाद्यन्ते स्वभावे शान्तमास्यताम् ।
द्रष्टृदृश्यदशादोषादस्वभावाद्विनश्यताम् ॥ २० ॥
अज्ञावबुद्धः संसारः स हि नास्ति मनागपि ।
अवशिष्टं च यत्सत्यं तस्य नाम न विद्यते ॥ २१ ॥
त्रोटयित्वा तु तृष्णायःशृङ्खलावलितं बलात् ।
संसारपञ्जरं तिष्ठ सर्वस्योर्ध्वं मृगेन्द्रवत् ॥ २२ ॥

यह सब दृश्य द्रष्टारूप ही व्याप्त है अथवा सत्ता की उत्पत्ति से शून्य द्रष्टारूप भी यह नहीं है, क्योंकि सत् परमार्थ चिद्रूप द्रष्टृतत्त्व जो अवाच्य है वह क्या तुच्छ दृश्यरूप स्थापित हो सकता है ? कदापि नहीं। कोई भी सत् को असत्-रूप नहीं बना सकता, यह आशय है। अर्थात् विचारपूर्वक देखने से यह दृश्य एकमात्र दृष्टरूप या तुच्छरूप ही पर्यवसित होता है ॥ १० ॥

एकमात्र अपने स्वरूप ही परिपूर्ण बना देने वाली आत्मसंवित् वैसे ही सृष्टि है जैसे वसन्त ऋतु के रस का प्रवाह ही वृक्ष, गुल्म आदिरूप है। अर्थात् द्रष्टा के दृश्यस्वरूप न होनेपर भी व्यवहार में दृश्य सत्ता की स्फूर्ति का निर्वाहक द्रष्टा हो सकता है ॥ ११ ॥

यह जगत् का आभास विशुद्ध चिन्मात्र वेदनरूप ही है। इसमें क्या एकत्व या क्या द्वित्व हो सकता है। इस लिए पूर्णरूप से निर्वाण स्वरूप से स्थित रहे। परन्तु परमार्थ में तो द्रष्टा के साथ ऐक्य की सम्भावना भी नहीं है ॥ १२ ॥

आप सब के सब चिन्मय आकाश हो जायें। परम रस का निरतिशयानन्द का पान करें तथा निर्वाणरूप नन्दन वन में सभी आशङ्काओं से शून्य हो स्थित रहें। इस पद्य से भगवान् वसिष्ठजी सब के प्रति दया से हितकारक बातें उद्घोषित करते हुए उपदेश देते हैं ॥ १३ ॥

हे मनुष्य ! आप सब के सब बिलकुल शून्य इस संसाररूपी महाजंगल की मरुभूमियों में भ्रान्तिचित्त मृगों की तरह क्यों भटकते-फिरते हैं ॥ १४ ॥

हे त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णा जल से ठगे अतएव नष्ट बुद्धि जीवों ! आप लोग तृष्णा से चञ्चल हृदय होकर व्यग्रतापूर्वक इधर-उधर मत दौड़ते फिरें ॥ १५ ॥

हे बाह्य तथा आभिमानिक भोगरूपी मृगतृष्णा जल का पान करनेवाले मृगो, तुम लोग व्यर्थ का परिश्रम उठाकर अपनी आयु मत गवाओ ॥ १६ ॥

जगत्‌रूपी गन्धर्व नगर में विवेक को नष्ट कर देने वाले गर्व से आप लोग नष्ट न हो जायँ। अपने को नष्ट कर देने के लिए ही स्थित हम सुख स्वरूप सांसारिक पदार्थों को आप लोग दुःखरूप ही देखें ॥ १७ ॥

जगत्-रूपी केशोण्ड्रक की भ्रान्ति के लिए ब्रह्माकाश के मध्य में अज्ञानरूपी नीलिमा का आप लोग अवलोकन न करें, किन्तु अभ्रान्त अपने स्वरूप में परिणत हो विश्राम करें ॥ १८ ॥

हे मनुष्य ! ऊँची शाखाओं में स्थित पीपल के पत्तों पर गिरे तथा वायुद्वारा कम्पित ओस की बूँदों के समान क्षणभंगुर मनुष्य शरीरों वाली इन संसाररूपी अन्धकार पूर्ण गर्भशय्याओं पर आप शयन मत करें ॥ १९ ॥

आदि और अन्त से शून्य पारमार्थिक ब्रह्मभाव में आप लोग शान्त हो निरन्तर स्थित रहें। द्रष्टा और दृश्य इत्यादि विरुद्ध स्वभावरूपी दोष से नष्ट न हो जायँ ॥२०॥

अज्ञानी ही इस संसार को सत्य समझते हैं। वस्तुतः वह कुछ भी नहीं है। अवशिष्ट जो सत्यवस्तु है उसका तो नाम भी नहीं है ॥ २१ ॥

तृष्णारूपी लोहे की शृङ्खला से वेष्टित संसाररूपी पिंजरे को आत्मज्ञान बल से जबर्दस्ती तोड़कर सिंह के समान सब के ऊपर स्थित रहें ॥ २२ ॥

आत्मात्मीयग्रहभ्रान्तिशान्तिमात्रा विमुक्तता ।
यथातथा स्थितस्यापि सा स्वसत्तैव योगिनः ।। २३ ।।
निर्वाणताऽवासनता पराऽपतापताज्ञता ।
संसाराध्वनि खिन्नस्य शान्ता विश्रामभूमयः ।। २४ ।।
तज्ज्ञज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो न तद्विदाम् ।
विद्यते जगदर्थोऽसाववाच्यार्थमयो मिथः ।। २५ ।।
विश्वता भ्रान्तिसंशान्तौ संस्थितैव न लभ्यते ।
महार्णवाम्बुवलिता पुत्रिकेव पयोमयी ।। २६ ।।
भ्रान्तिशान्तौ प्रबुद्धस्य विनिर्वाणस्य विश्वता ।
यथास्थितैव गलिता विद्यते च यथास्थितम् ।। २७ ।।
निर्दग्धतृणभस्माली क्वापि याति यथाऽनिलैः ।
सतां स्वभावविश्रामैः क्वापि याति तथा जगत् ।। २८ ।।
जगद्ब्रह्मपदार्थस्य सन्निवेशः स तूत्तमः ।
ब्रह्मशब्दार्थरूपात्मा न जगच्छब्दकार्यभाक् ।। २९ ।।
अविज्ञातस्य बालस्य पदार्था यादृशा इमे ।
विदुषस्तादृशा एव तिष्ठतः क्षीणवासनम् ।। ३० ।।
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। ३१ ।।

'मैं' और 'मेरा' इस अभिमानरूपी भ्रान्ति की एक मात्र शान्ति ही मुक्ति है। इससे अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु मुक्ति नहीं है। जिस किसीरूप से स्थित योगी की वह अपनी सत्ता ही है ।। २३ ।।

इस संसाररूपी मार्ग में लगातार चलते रहने से खिन्न हुए पथिक के लिए निर्वाणता, वासनाशून्यता और उत्कृष्ट त्रिविधताशून्यता ये तीनों ही शान्त विश्राम की भूमिका हैं। अर्थात् अपार संसार मार्ग में निरन्तर चलते रहने के कारण खिन्न पथिकों के लिए वही विश्रान्ति का एक अलग स्थान है, वह विश्रान्ति का स्थान है, इस प्रकार कल्पनाकर कहते हैं ।। २४ ।।

परस्पर कथन के अयोग्य अर्थों से भरे ये जगत् के पदार्थ हैं। इन्हें तत्त्वज्ञ जैसा समझते हैं वैसा मूर्ख नहीं समझते और मूर्ख जैसा समझते हैं वैसा तत्त्वज्ञ नहीं समझते हैं ।। २५ ।।

भ्रान्ति की निवृत्ति हो जानेपर यह संसार की आकृति भी ज्ञानियों को वैसे ही उपलब्ध नहीं होती है। जैसे महासमुद्र से वेष्टित हो समुद्ररूप से स्थित गङ्गा, गोदावरी और नर्मदा आदि नदीरूप आकृति समुद्रवासियों को उपलब्ध नहीं होती ।। २६ ।।

भ्रम के शान्त हो जानेपर सांसारिक स्वरूप से स्थित जीवन्मुक्त ज्ञानी के यह संसाररूप भी उपलब्ध नहीं होता है। उसके लिए तो अपने स्वरूप में स्थित एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान रहता है ।। २७ ।।

आत्म स्वरूप में विश्राम करनेवालों की संगति से ज्ञान प्राप्त कर सज्जन पुरुषों का यह जगत् न जाने वैसे ही कहाँ चला जाता है। जैसे खूब जला दिये गये तृणों का भस्म का ढेर वायु से उड़कर न जाने किस जगह पर चला जाता है ।। २८ ।।

ब्रह्म पद का जो बृंहणरूप वर्द्धनशील अर्थ है उसी का आकार विशेष जगत् है। वह आकार विशेष यदि ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थरूप आत्मा ही निर्विकल्प-स्वप्रकाश-निरति शयानन्द प्रत्यगात्मा ही है, तब तो वह 'जगत्' शब्द का अर्थ बहुत उत्तम है। किन्तु 'गच्छति--षड्विध-विकारैः परिवर्तते—इति जगत्' अर्थात् छः तरह के विकारों से जो सदा परिवर्तित होता है उसे जगत् कहते हैं। इस तरह की व्युत्पत्ति से 'जगत्' शब्द का अर्थ यदि विकारात्मक कार्यों का भागी किया जाता है, तो फिर वह अर्थ उत्तम नहीं है ।। २९ ।।

[अर्थात् इस संसार में निर्विकल्प का अनुभव बच्चे को भी होता है, असका साम्य दिखलाते हैं।]

जैसे जिस बच्चे को अभी विशेष ज्ञान नहीं हुआ है उसको ये संसार के पदार्थ जिस तरह के भासमान होते हैं, वैसे ही उसी तरह वासनाशून्य स्थित विद्वान् को ये सभी संसार के पदार्थ भासमान होते हैं ।। ३० ।।

आत्मा का यथार्थ ज्ञान अज्ञानियों के लिए एक तरह की रात ही है, क्योंकि जैसे अन्धेरी रात प्रकाशरूप नहीं रहती, वैसे ही अज्ञानियों के प्रति आत्मा का ज्ञान भी प्रकाशरूप नहीं रहता। इस तरह की जो आत्मविद्यारूपी रात है उसमें जितेन्द्रिय तत्त्वज्ञ पुरुष जागता रहता है आत्मविद्या के लिए तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर ऐसे सावधान रहता है कि उसमें से क्षणभर के लिए भी च्युत नहीं होता और जिस द्वैतबुद्धिरूप अज्ञान दशा में प्राणी व्यवहार करते हैं वह तत्त्वज्ञ मुनि के रात हैं, क्योंकि ज्ञानी के प्रति उसका प्रकाश नहीं रहता। अर्थात् इन सांसारिक पदार्थों का अनुभव तत्त्वज्ञानियों को नहीं' इस कथन का गीता में प्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्ण के वचन से साम्य दिखलाते हैं ।। ३१ ।।

स्थितमेवाऽविरामी यज्जाग्रदस्य सुषुप्तवत् ।
चित्रावलोकित इव जाग्रत्योऽस्य रसैषणाः ॥ ३२ ॥

जात्यन्धरूपानुभवसमं भुवनवेदनम् ।
भ्रान्तप्रायमसद्रूपं ज्ञस्य भाति न भाति च ॥ ३३ ॥

विमूढदुःखं त्रिजगद्विमूढविषयं न सत् ।
स्वप्ने स्वप्नतया ज्ञाते रूपालोकमनःक्रियाः ॥ ३४ ॥

न स्वदन्ते यथा तद्वज्जाग्रत्स्वप्ने स्फुरन्तु मा ।
निर्विभागः समाश्वस्तोऽविरोधं परमागतः ॥ ३५ ॥

आशीतलान्तःकरणो निर्वाणो ज्ञोऽवतिष्ठते ।
तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य समं ध्यानं विना स्थितिः ।
निम्नं विनैव तोयस्य न सम्भवति काचन ॥ ३६ ॥

अज्ञानरूप अन्धकार से सभी प्राणी आवृत हैं, इसलिए सुषुप्त की तरह स्थित आत्मतत्त्व ही इस तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए अविरत जागरणरूप है, इसी दृष्टि से 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' यह कहा गया है। और मूढ़ जनों में जाग्रद्रूपरूप से प्रसिद्ध शब्दादिविषयास्वाद चित्र में देखे गये युद्धादि की तरह सामने स्थित रहते हुए भी इस तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में नहीं रहते, इसलिए 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' यह कहा गया है ॥ ३२ ॥

जन्मान्ध पुरुष को रूपों के अनुभव के सदृश ज्ञानी पुरुष को जगत् का अनुभव यदि होता है, तो वह रात्रि स्वप्नवत् होता है और यदि नहीं होता है तो निशासुषुप्त के समान होता है ॥ ३३ ॥

मूढ़ पुरुषोंको दुःखरूप से प्रसिद्ध ये तीनों जगत् उन्हीं के लिए हैं, तत्त्वज्ञानी के लिए नहीं, क्योंकि ये सत् नहीं हैं। यदि ज्ञानी के लिए विषयोपभोग नहीं है, तो फिर वह ज्ञानी किससे तृप्त होकर जीवित रहता है, इसके समाधान में कहा है स्वप्नरूप से स्वप्न का ज्ञान हो जानेपर स्वप्न के बाह्य और आभ्यान्तर विषय जागे हुए पुरुष को जैसे अच्छा नहीं लगता है वैसे ही यद्यपि जाग्रत्-स्वप्न के भोग नहीं अच्छा लगता है फिर भी वह सारे भेदों से रहित, सबके विश्वास के—श्रद्धा के भाजन परम ऐक्य को प्राप्त, निर्वाण स्वरूप होकर सर्वदा मन में पूर्ण शान्ति का अवलम्बन कर ही अवस्थित रहता है। भोगों की वासनाओं द्वारा चित्त का बाहर आकर्षण न होने के कारण ज्ञानी की स्थिति ध्यान (चित्तनिरोध के लिए किये जाने वाले प्रयत्न के) बिना भी समान ही रहती है। नाली आदि निम्नमार्ग के बिना तालब आदि के जल की प्रवाह

अर्थ एव मनस्कारो मन एवार्थरञ्जनम् ॥ ३७ ॥
एष एवैष आभासः सबाह्याभ्यन्तरात्मकः ।
आसमुद्रं नदीवाहशतसंघमयात्मकम् ॥ ३८ ॥
यथैकश्लेषपिण्डात्म वहत्यम्बु तरङ्गिणाम् ।
सबाह्याभ्यन्तराकारमर्थानर्थमयात्मकम् ॥ ३९ ॥
मन एव स्फुरत्यर्थनिर्भासं व्याततं तथा ।
नास्त्यर्थमनसोर्द्वित्वं यथा जलतरङ्गयोः ॥ ४० ॥
एकाभावे द्वयोः शान्तिः पवनस्पन्दयोरिव ।
नूनमेकोपशान्त्यैव निःसारे परमार्थतः ।
एकत्वादर्थमनसी सममेवाऽऽशु शाम्यतः ॥ ४१ ॥
अर्थः सङ्कल्परूपात्मा नेहितव्यो विजानता ।
मनश्च सम्यग्ज्ञानेन शान्तिरेवं भवेत्तयोः ॥ ४२ ॥

आदि क्रिया कुछ हो नहीं सकती है ॥ ३४-३६ ॥

अर्थ विषय ही मन है और मन ही अर्थ है। जो बाह्य और आभ्यान्तररूप विषयाभास है, वह मन ही है अर्थात् बाह्य अर्थों का बाध होनेपर बाह्य इन्द्रियों का निरोध हो सकता है, परन्तु मन का निरोध कैसे हो सकता है ॥३७॥

जैसे नदियों के जल जबतक समुद्र में नहीं पहुँचते तबतक नदी प्रवाह आदि नानाविध आकारों में भासित होते हैं, किन्तु जब वे समुद्र में जाकर मिल जाते हैं तब तो एकमात्र जलरूप ही भासमान होते हैं, वैसे ही बाह्य और आभ्यान्तर सम्पूर्ण अर्थ तथा अनर्थों का समुदाय जो स्फुरित होता है वह सब सर्वत्र व्याप्त मन ही स्फुरित होता है, उसी से अर्थों का निर्भास होता है। मन तथा संसार के पदार्थों में भेद उसी प्रकार नहीं है, जैसे जल और तरङ्ग में भेद नहीं है। किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इसलिए इसका मन यथा सांसारिक पदार्थ इन दोनों में से किसी एक का बाध हो जानेपर दोनों का ही बाध हो जाता है, जैसे पवन तथा उसके स्पन्दन का बाध होता है। इसलिए इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि परमार्थ दृष्टि से निःसार इस जगत् में एकरूप होने के कारण अर्थ और मन दोनों ही किसी एक की शान्ति से शान्त हो जाते हैं। इससे तत्त्व ज्ञान से जब अर्थ का बाध हो जाता है तब मन भी बाधित ही हो जाता है ॥ ३८-४१ ॥

संसार के सब अर्थ सङ्कल्परूप ही हैं, बुद्धिमान् व्यक्ति को उसकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए, मन की भी यही स्थित है, इसलिए तत्त्वज्ञान से अर्थों की एवं मन की निवृत्ति अवश्य हो जायगी ॥ ४२ ॥

अनष्टे नश्यतश्चैते ज्ञस्यार्थमनसी स्वतः ।
मृन्मये द्विषति ज्ञानात् द्विषद्भावमये यथा ॥ ४३ ॥
यथासंस्थं स्थिते एव ज्ञस्यार्थमनसी सदा ।
किमप्यपूर्वमेवान्यत्सम्पन्ने भावरूपिणि ॥ ४४ ॥
संहितार्थजगत्कालोऽप्यज्ञो ज्ञविषयोऽप्यसत् ।
पार्श्वसुप्तनरस्वप्न इव क्लीबाग्रयक्षवत् ॥ ४५ ॥
ज्ञस्य साज्ञं जगन्नास्ति वीरस्येव पिशाचधीः ।
ज्ञमज्ञो भावयत्यज्ञं चिरं वन्ध्याऽपि वर्द्धते ॥ ४६ ॥
विनैव ज्ञातशब्दार्थमर्थभावमिवागतम् ।

ज्ञानी पुरुष के अर्थ और मन अनष्ट ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब अर्थ और मन की कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई, तब उनका नाश ही क्या ? इसलिए वे अनष्ट ही हैं जैसे किसी एक मिट्टी की मूर्ति में भ्रान्ति से कोई एक पुरुष अपने शत्रु की कल्पना कर लेता है, किन्तु ज्ञान से जब उसको मिट्टी की मूर्ति मालूम पड़ जाती है, तब वह मूर्ति न शत्रुरूप ही रहती है और न शत्रु जनित भय की कारण ही होती है, बस वही स्थिति यहाँ पर भी है। अर्थात् संसार के पदार्थों और मन का वह बाध स्वप्न में हुए व्याघ्र नाश के समान अनष्ट का ही नाश है ॥ ४३ ॥

ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में अर्थ और मन दोनों परमार्थिक ब्रह्म-स्वभाव से ही स्थित हैं। वे जिस सांसारिक मिथ्यारूप से स्थित थे उस रूप से विलक्षण पूर्णानन्दात्मक परमार्थिक सत्यस्वरूप से ही स्थित हैं ॥ ४४ ॥

तत्त्वज्ञ की दृष्टि से सुखादि भोग एवं जगत् को कार्य-कारणरूप से जुटा देने में समर्थ काल, कालकृत जन्मादिविकार, भोगकर्ता एवं अज्ञों के शब्दादि विषय— ये सब वैसे ही असत् हैं, जैसे समीप में सोये हुए पुरुष स्वप्न और अधीर बालक को सामने भासमान यक्ष है ॥ ४५ ॥

ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में अज्ञानियों के समस्त जगत् भी अस्तित्व वैसे ही नहीं रखते है जैसे धीर-वीर पुरुष की दृष्टि में पिशाचबुद्धि अस्तित्व नहीं रखती है। अज्ञानी पुरुष ज्ञानी को भी बहुकाल तक अज्ञानी समझता है। अज्ञानी की दृष्टि से तो बन्ध्या भी पुत्र-पौत्र आदि परम्परा से बढ़ती-रहती है ॥ ४६ ॥

तत्त्वज्ञानी लोग तो ज्ञेयरूप न होकर भी स्वप्रकाश होने से ही अर्थाभास की तरह स्थित भासमान ज्ञेयरूप

स्थितं बोधमनाद्यन्तं स्वभावं सर्गगं विदुः ॥ ४७ ॥
मनःशब्दार्थरहितं विभागान्तविवर्जितम् ।
बोधवारिमनोबुद्धितरङ्गमिव निर्मलम् ॥ ४८ ॥
क्व सम्भवत एवान्तः के वार्थमनसी किल ।
निरर्थिकैव विभ्रान्तिः स्वभावमयमास्यताम् ॥ ४९ ॥
शुद्धबोधस्वभावस्थैराकाशमिव शारदैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्तैर्मनस्त्वं नानुभूयते ॥ ५० ॥
विधूयानन्तनानात्वमसद्भावमनामये ।
ज्ञेयं रज्जुरिवाशेषं स्वभावे तिष्ठ चिद्घने ॥ ५१ ॥

तथा आदि और अन्त से शून्य ब्रह्मरूप बोध को संसार का असली स्वभाव कहते हैं ॥ ४७ ॥

[अर्थात् बाह्य अर्थों में कहे गये जानने के प्रकार को आभ्यन्तर मानसिक अर्थ में भी समझना चाहिए ।]

मन के शब्दार्थ से रहित मानसिक ज्ञान के अविषय कालादि विभागकृत परिच्छिन्नता से वर्जित बोधरूपी जल मन एवं बुद्धिरूपी तरङ्गों से युक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह निर्मल ही है और इसी को प्रपञ्चगत स्वभाव समझते हैं ॥ ४८ ॥

शुद्ध आत्मा के भीतर संसार के पदार्थों तथा मन का संभव कहाँ है अथवा वे ही क्या हैं ? इस मन तथा जगत् के विषय में उत्पन्न हुई भ्रान्ति बिलकुल निरर्थक है। इसलिए आपसे यही कहना है कि आप ब्रह्मस्वभाव में स्थित रहें अर्थात् इस तरह विस्तार के साथ अज्ञानी और तत्त्वज्ञानियों के जगत्-ज्ञान के जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, उनमें यथार्थरूप होने के कारण द्वितीय प्रकार ही उपादेय है ॥ ४९ ॥

शरत् काल के कमलों, तारों या मनुष्यों को आकाश की तरह शुद्धज्ञानस्वरूप ब्रह्मस्वभाव में स्थित पुरुषों को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं से मन का अनुभव नहीं होता है अर्थात् अपनी असली स्थिति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ एकमात्र तुरीय बोधरूप बन जाती हैं। तदनन्तर मन को मनन करने का कोई विषय ही नहीं रह जाता, इससे मन भी शान्त हो जाता है ॥ ५० ॥

जिसमें अनन्त नानात्व अर्थात् भेद उपस्थित है, ऐसे सम्पूर्ण ज्ञेय विषय का विधूनन करके रज्जु में अध्यस्त सर्प का विधूनन कर अपने स्वरूप में स्थित रज्जु की तरह आप भी अपने चिद्घन स्वभाव में स्थित हो जायें ॥ ५१ ॥

ज्ञप्तिरेवान्तरं बाह्यं चार्थत्वमधितिष्ठति ।
बीजं शाखाफलानीव क्वातोऽर्थमनसी वद ॥ ५२ ॥

ज्ञेयासम्भतो ज्ञप्तिरप्यनाख्यं पदं गता ।
शान्ताशेषविशेषात्मा तेन शेषोऽस्ति सत्स्वभाः ॥ ५३ ॥

अर्थ एव मनस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ।
मन एवार्थसंस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ॥ ५४ ॥

सर्वात्मत्वादजस्यैतदप्यकारणकं मनः ।
भ्रमानुभवतोऽर्थश्च मिथ्यैवास्तीव भासते ॥ ५५ ॥

अकारणकमेवार्थनिर्भासं भासते मनः ।
विद्युद्विलसिताकारमस्थिरं तरलायते ॥ ५६ ॥

त्वं मनस्कारमात्रात्मा संसृतौ विभ्रमायसे ।
स्वभावैकपरिज्ञानान्नासि नापि भ्रमायसे ॥ ५७ ॥

बाह्य और आभ्यान्तर पदार्थों के स्वरूप को ज्ञप्ति ही धारण करती है, जैसे बीज शाखा तथा फल आदि के स्वरूप को धारण करता है। अतः ऐसी स्थिति में अर्थ और मन कहाँ रहते हैं ॥ ५२ ॥

ज्ञेय पदार्थों के अभाव से ज्ञप्ति बुद्धि या वृत्ति भी अनिर्वचनीय पद को प्राप्त कर लेती है। इसलिए सम्पूर्ण विशेषों से शून्य स्वयंप्रकाश सद्रूप आत्मा ही शेष है ॥५३॥

अर्थ ही मन है और वह अभावरूप भ्रम है तथा मन ही जगत् के पदार्थरूप से परिणत होता है और वह भी अभावरूप भ्रम ही है अर्थात् पदार्थ और मन दोनों का निरूपण एक-दूसरे के अधीन होने से इनमें कोई भेद न रहने पर अन्त में एकमात्र भ्रान्ति ही इनमें सिद्ध होती है ॥ ५४ ॥

ब्रह्म के सम्पूर्ण वस्तुओं की आत्मा होने से कारण शून्य इस मनरूप से वही भासमान होता है और भ्रम के अनुभव से पदार्थ भी मिथ्या ही भासमान होता है ॥ ५५ ॥

जैसे कारण रहित अर्थों का प्रकाश होता है वैसे ही कारण रहित ही मन भी भासमान होता है। बिजली की चमक के तुल्य अस्थिर यह मन इधर-उधर अपनी चंचलता प्रकट करता है ॥ ५६ ॥

एकमात्र मन का स्वरूप होकर आप भी इस संसार में भ्रान्त-से हो रहे हैं। एक आतम स्वभाव का यदि आप परिज्ञान कर लेते हैं, तब तो आप न मनरूप हैं और न भ्रान्त-से ही रहे हैं ॥ ५७ ॥

यह निश्चित है कि मन से ही यह संसार उत्पन्न होता

मनसैव हि संसार आत्मबोधेन शाम्यति ।
शुक्तिरूप्यभ्रमाकारो जनो मिथ्यैव ताम्यति ॥ ५८ ॥

अभावभावस्तु परं बोधरूपमसंसृतिः ।
निर्वाणादितरा सत्ता दुःखायाहमिति भ्रमः ॥ ५९ ॥

मृगतृष्णाम्बुरूपोऽहमसच्छून्यस्वरूपकः ।
इत्येवात्मपरिज्ञानादहमित्येव शाम्यति ॥ ६० ॥

ज्ञात्वा ज्ञानमयो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरार्थताम् ।
गतं स्वमत्यजद्रूपं तरङ्गत्वं यथा पयः ॥ ६१ ॥

मूलशाखाग्रपर्यन्ता सत्ता विटपिनो यथा ।
निर्विकारमलं ज्ञप्तेर्ज्ञेयान्तैकैव भासते ॥ ६२ ॥

यथा योजनलक्षाभमेकमेवामलं नभः ।
एकमेव तथा ज्ञानं ज्ञेयान्तं भात्यखण्डितम् ॥ ६३ ॥

और आत्मज्ञान से शान्त हो जाता है। सीप में चाँदी के भ्रम के आकार का मनुष्य झुठ-मूठ में दुःख उठता है ॥ ५८ ॥

परन्तु ज्ञान ही परमात्मा का असली स्वरूप है और संसार का अभाव भी ज्ञानरूप ही है। निर्वाह से भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता तो एकमात्र दुःख के लिए ही है ॥ ५९ ॥

मृगतृष्णा जल के सदृश इस अहंकार का रूप असत् और शून्य ही है, इस तरह के आत्मा के परिज्ञान से यह अहङ्कार बिलकुल शान्त हो जाता है ॥ ६० ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानमय ब्रह्म सर्वज्ञ होने के कारण सृष्टि करने योग्य सभी पदार्थों को आत्म स्वरूप ही जानकर स्वयं उस तरह के ज्ञान से युक्त हिरण्यगर्भ होकर उसके सङ्कल्प के अनुसार बाह्य और अभ्यान्तर पदार्थ रूपता को अपने शुद्ध आत्म स्वरूप का परित्याग न करते हुए ही ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तरङ्ग रूपता को जल प्राप्त होते हैं ॥ ६१ ॥

जैसे मूल से लेकर शाखा के अग्रभाग तक वृक्ष की एक ही सत्ता है वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप जगत् में भी अत्यन्त निर्विकारभाव को प्राप्त ज्ञेयपर्यन्त एक ही प्राप्ति की (ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की) सत्ता सर्वत्र भासमान रही है, दूसरी सत्ता नहीं है ॥ ६२ ॥

ज्ञेयपर्यन्त एक ही अखण्डित निर्मल ज्ञान वैसे ही भासमान होता है। जैसे लाखों योजन पर्यन्त दूर एक निर्मल आकाश भासमान होता है ॥ ६३ ॥

शून्यत्वादेकममलं यथा सर्वगमेव खम् ।
तथैकममलं ज्ञात्वा ज्ञानज्ञेयदशास्वपि ।। ६४ ।।
घृतेनात्मा घनीभूय पाषाणीक्रियते यथा ।
चिता चेत्यतयाऽऽत्मैव स्वचित्तीक्रियते तथा ।। ६५ ।।
देशकालं विनैवाऽऽत्मा बोधाबोधेन चित्तताम् ।
अबुद्धो नीयते न्या रैकमेवैष सुस्थितः ।। ६६ ।।
अत्र यद्यप्यबोधादेः सम्भवो नास्ति कश्चन ।
तथापि कल्प्यतेऽत्रैव बोधनाय परस्परम् ।। ६७ ।।
महानुभावा विगताभिमाना
विमूढभावोपशमे गलन्ति ।
निर्भ्रान्तयोऽनन्ततयैव शान्ता
नित्यं समाधानमया भवन्ति ।। ६८ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मैकतानतोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ।। ४३ ।।

ज्ञान-ज्ञेयदशा में भी विद्यमान ब्रह्म वैसे ही निर्मल है, यह जानकर स्थित रहें । जैसे सर्वत्र विद्यमान एक आकाश शून्यरूप होने से निर्मल है ।। ६४ ।।

चेत्यरूप बनकर चिति ही आत्मा को वैसे ही स्वचित्त रूप बना देती है जैसे शरीर को आत्मा घी के साथ मिलाकर पाषण-सा बना देता है ।। ६५ ।।

बोधरूप आत्मा के अज्ञान से ही देश, काल आदि सामग्री के बिना यह अज्ञानी आत्मा चित्तरूप बन गया है । वस्तुतः उक्त तर्कों से यह आत्मा एक ही स्थित है ।।६६।।

शुद्ध चिदात्मा में यद्यपि अज्ञान आदि का कोई संभव नहीं है, तथापि अज्ञान-काल में एक दूसरों को बोध देने के लिए वह सब कल्पना की जाती है ।। ६७ ।।

तत्त्वज्ञान से मूलाज्ञान के शान्त हो जाने पर महानुभाव लोग अभिमानरहित हो घी की तरह अपने स्वरूप में ही गलित हो जाते हैं तथा गल जाने से वे निरतिशयानन्दपूर्णभाव से शान्त होते हुए विक्षेपरहित हो निरन्तर समाधिरूपी विश्रान्ति में तत्पर होते हैं अर्थात् अविद्या आदि का स्वरूप सर्वथा असंभव है, इसलिए तत्त्वज्ञान का उदय हो जानेपर अविद्या के साथ सब पदार्थ गल जाते हैं ।। ६८ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में ब्रह्मैकतानतोपदेश नामक कुसुमलता का तेंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ४३ ।।

४४

श्रीराम उवाच

क्रमात्समाधानतरोराजीवफलशालिनीम् ।
सलताकुसुमां ब्रूहि सत्तां विश्रान्तिदां मुने ! ।। १ ।।

वसिष्ठ उवाच

आजीवमुद्यदुत्सेधं विवेकिजनकानने ।
पत्रपुष्पफलोपेतं समाधानतरुं शृणु ।। २ ।।
यथाकथंचिदुदितं दुःखेन स्वयमेव च ।
संसारवननिर्वेदं बीजमस्य विदुर्बुधाः ।। ३ ।।
शुभजालहलाकृष्टं रसासिक्तमहर्निशम् ।
प्रवहच्छ्वसनाकुल्यं क्षेत्रमस्य विदुर्बुधाः ।। ४ ।।

४४

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! समाधिरूपी वृक्ष की सत्ता की स्थिति का क्रमशः वर्णन करें, जो विवेकी पुरुषों के जीवन के उपयोगी सब तरह के फलों से सुशोभित है तथा जो लता, पुष्प आदि से युक्त मनरूपी मृग को विश्रान्ति प्रदान करने वाली है ।। १ ।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—मैं आपसे विवेकीजनरूपी जङ्गल में पैदा हुआ समाधिरूपी वृक्ष का वर्णन कर रहा हूँ, जिसकी ऊँचाई अभी-भी बढ़ती ही जा रही है, जो अपने पत्र, पुष्प एवं फलों से खूब लदा है और जो विवेकी पुरुषों को सब तरह से जीवन प्रदान करनेवाला है ।। २ ।।

शत्रुओं तथा सगे-सम्बन्धियों द्वारा किये गये अपमान आदि से जन्य दुःख से या भाग्यवशात् अपने-आप अथवा साधुओं या मित्रों आदि के उपदेश से या और किसी दूसरे निमित्त से अर्थात् जिस किसी तरह से उत्पन्न हुआ जो संसाररूपी वन में परम वैराग्य है, उसी को विद्वान् लोग समाधिरूपी वृक्ष का बीज कहते हैं ।। ३ ।।

चित्त को ही विद्वान् लोग इस बीज का शुभकर्म-समूहरूपी हलों से खूब जोता गया खेत बतलाते हैं, शान्ति आदि जल से रात-दिन खूब सींचा गया है तथा निरन्तर बह रहे प्राणायामरूपी नहर से युक्त है ।। ४ ।।

समाधिबीजं संसारनिर्वेदः पतति स्वयम् ।
चित्तभूमौ विविक्तायां विवेकिजनकानने ॥ ५ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं ध्यानबीजं महाधिया ।
सेकैरमीभिर्यत्नेन संसेक्तव्यमखेदिना ॥ ६ ॥
शुद्धैः स्निग्धैः पवित्रैश्च मधुरैरात्मनो हितैः ।
सत्सङ्गमनवक्षीरैरैन्दवैरमृतैरिव ॥ ७ ॥
अन्तःशून्यप्रदैः पूर्णैः स्वच्छैरमृतशीतलैः ।
विसृतैरमृताकुल्याशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥ ८ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं परिज्ञाय महाधिया ।
बीजं संसारनिर्वेदो रक्ष्यं ध्यानस्य यत्नतः ॥ ९ ॥
तपःप्रकारदानेन पदार्थघटनेशितैः ।
तीर्थायतनविश्रान्तिवृत्तिविस्तारकल्पनैः ॥ १० ॥

यह संसार का परम वैराग्यरूप समाधि का बीज विवेकीजनरूपी जंगल में विवेकज्ञान से परिष्कृत चित्तरूपी भूमि में अपने ही जाकर गिरता है ॥ ५ ॥

अपनी चित्तरूप भूमि में गिरे हुए वैराग्यरूपी समाधि बीज को बढ़ाने की इच्छा से दृढ़बुद्धि रखनेवाले खेदशून्य पुरुष को निम्नलिखित जलों से यत्नपूर्वक निरन्तर उसे सींचते रहना चाहिये ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह शुद्ध, स्नेहयुक्त, ववित्र, मधुर और आत्मा के लिए हितकारक, चन्द्रमा के अमृत के सदृश सत्संगमरूपी नूतन क्षीर से समाधि के बीज को सबसे पहले सिक्त करे। उसके बाद 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा सम्पूर्ण द्वैत के निषेध से अन्तःकरण को सांसारिक पदार्थों से शून्य बना देनेवाले, पूर्ण, स्वच्छ, सब तरह के तापों की शान्ति हो जाने से अमृत की तरह स्वादु और शीतल तथा अमृत प्रवाह के नहर के तुल्य तत्त्वज्ञान के द्वारभूत श्रवण-मनादिरूप शास्त्रार्थों के निर्मल जलों से समाधि के बीज को सिक्त करे अर्थात् सर्व प्रथम बुद्धिमान् पुरुष को सज्जनों की सङ्गतिरूपी नवीन क्षीर से, अनन्तर शास्त्ररूपी अमृत से उसे सींचना चाहिए ॥ ७-८ ॥

संसार को त्याग देने की प्रबल इच्छारूप समाधि-बीज को अपनी चित्तरूपी भूमि में गिरे जानकर बुद्धिमान् पुरुष को उसकी अनेक यत्नों से रक्षा करनी चाहिये ॥९॥

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप एवं दान से और अभिमान आदि से शून्य पदार्थों के संघटन से समर्थित पुण्यमय तीर्थ स्थानों में निवासरूपी वृत्ति के विस्तार की नानाविध कल्पनाओं से इस बीज की रक्षा करनी चाहिए ॥ १० ॥

कर्तव्योऽङ्कुरितस्यास्य रक्षिता शिक्षिताशयः ।
सन्तोषनामा प्रियया नित्यं मुदितयाऽन्वितः ॥ ११ ॥
पश्चात्स्थिताशाविहगान्परप्रणयपक्षिणः ।
अस्मादापततः कामगर्वगृध्रान्निवारयेत् ॥ १२ ॥
मृदुभिः सत्क्रियाकुन्तैर्विवेकाक्रांतपैरपि ।
अचिन्त्यालोकदैरस्मान्मार्जितव्यं रजस्तमः ॥ १३ ॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गाभोगभङ्गुराः ।
पतन्त्यशनयस्तस्मिन् दुष्कृताभ्रसमीरिताः ॥ १४ ॥
धैर्यौदार्यदयामन्त्रैर्जपस्नानतपोदमैः ।
विनिवारयितव्यास्ताः प्रणवार्थत्रिशूलिना ॥ १५ ॥
इति संरक्षितादस्माद्ध्यानबीजात्प्रवर्तते ।
आभिजात्योन्नतः श्रीमान्विवेकाख्यो नवाङ्कुरः ॥१६॥

इस तरह सींचने आदि के बाद बीज में जब अङ्कुर पैदा हो जाय, तब इसकी रक्षा के लिए अत्यन्त निपुण सन्तोष नामक पुरुष को उसकी मुदितानामक प्रिय पत्नी के साथ संरक्षक बना देना चाहिये ॥ ११ ॥

अनन्तर पूर्ववासनाओं में स्थित आशारूपी विहगों, आत्मा से भिन्न पुत्र, मित्र, आदि में अनुरागरूपी पक्षियों तथा ध्यानाङ्कुर के नाश के लिए झपट रहे काम, गर्व धन आदिरूप गृध्रों को इसी सन्तोष नामक रक्षक द्वारा दूर भगा देना चाहिए ॥ १२ ॥

अहिंसा प्रधान होने से अत्यन्त कोमल, यम, नियम, प्राणायाम, ईश्वरोपासनादि सत् क्रियारूपी झाडुओं से इस अंकुर के खेत से रजोगुण को दूर फेंक देना चाहिये तथा इसी तरह अचिन्त्य ब्रह्मलोकपद विवेकरूपी धूप से अज्ञानरूपी अन्धकार को भी दूर भगा देना चाहिये ॥१३॥

भोगों द्वारा क्षणभंगुर तथा तरङ्गों के समान चंचल दुष्कृतरूपी मेघों से प्राप्त सम्पत्ति और प्रमदारूपी अनेक वज्र इस अंकुर के ऊपर गिरते हैं ॥ १४ ॥

धैर्य, औदार्य तथा दया आदि यत्नों से एवं जप, स्नान, तप और दम आदि के द्वारा प्रणव के अर्थरूप त्रिशूल को धारण करके उन वज्रपातों का निवारण करना चाहिए ॥ १५ ॥

इस तरह से रक्षित इस ध्यान के बीज से विवेक नामक नीवन अङ्कुर अत्यन्त पुष्ट और सौन्दर्य की अधिकता से उन्नत एवं श्रीसम्पन्न उत्पन्न रहता है ॥ १६ ॥

तेन सा चित्तभूर्भाति सप्रकाशा विकासिनी ।
भवत्यालोकरम्या च खं यथाऽभिनवेन्दुना ॥ १७ ॥
तस्मादङ्कुरतः पत्रे उभौ विकसतः स्वयम् ।
एकं शास्त्राभिगमनं द्वितीयं साधुसङ्गमः ॥ १८ ॥
स्तम्भमेष निबध्नाति स्थैर्यं नाम समुन्नतिम् ।
सन्तोषत्वग्विवलितं वैराग्यरसरञ्जितम् ॥ १९ ॥
वैराग्यरसपुष्टात्मा शास्त्रार्थप्रावृषान्वितः ।
स्वल्पेनैव स्वकालेन परामेति समुन्नतिम् ॥ २० ॥
शास्त्रार्थसाधुसम्पर्कवैराग्यरसपीवरः ।
रागद्वेषकपिक्षोभैर्न मनागपि कम्पते ॥ २१ ॥
अथ तस्मात्प्रजायन्ते विज्ञानालङ्कृताकृतेः ।
लता रसविलासिन्य इमा विततदेशगाः ॥ २२ ॥
स्फुटता सत्यता सत्ता धीरता निर्विकल्पता ।
समता शान्तता मैत्री करुणा कीर्तिरार्यता ॥ २३ ॥

उस विवेक नामक नवीन अंकुर से आत्मप्रकाश युक्त विकासशालिनी चित्तभूमि आलोक रहने से वैसे ही सुन्दर प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

उस अंकुर से दो पत्ते अपने-आप निकलते हैं । जिनमें एक का नाम तो वेदान्त शास्त्रों का विचार और दूसरे का साधु पुरुषों का समागम है ॥ १८ ॥

यह अंकुर सन्तोषरूपी त्वचा से वेष्टित तथा वैराग्य रूपी रस से रञ्जित हो काण्ड, दृढ़मूलता और अपनी ऊँचाई को ग्रहण करता है ॥ १९ ॥

शास्त्रार्थरूपी वर्षा का जल पाकर वैराग्यरूपी रस से जब इसकी आत्मा खूब पुष्ट हो जाती है तब यह अंकुर अपने थोड़े से ही समय में परम उन्नति को प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

वेदान्त शास्त्रों के विचार, साधुओं की सङ्गति तथा वैराग्यरूपी रस से इसके खूब मोटा हो जानेपर राग-द्वेष-रूपी बन्दरों के हिलाने-डुलाने से तनिक भी कम्पित नहीं होता है ॥ २१ ॥

अनन्तर विज्ञान से अलंकृत आकारवाले उस विवेक से आत्म रस से विकास करने वाली एवं बहुत दूर देश तक जाने वाली ये लताएँ प्रादुर्भूत होती हैं ॥ २२ ॥

स्वात्मतत्त्व का स्पष्ट आविर्भाव, एकमात्र उसी की सत्यता, आत्मस्वरूप से स्थिति, धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता ये सब लताएँ उसी एक विवेकरूपी अंकुर से निकलती हैं ॥२३॥

यशरूपी पुष्पों तथा शान्ति आदि गुणरूपी पत्तों से

लताभिर्गुणपत्राभिः स ध्यानतरुरूर्जितः ।
यशःपुष्पाभिरेताभिः पारिजातायते यतेः ॥ २४ ॥
इत्यसौ ज्ञानविटपी लतापल्लवपुष्पवान् ।
भविष्यज्ज्ञानफलदो दिनानुदिनमुत्तमः ॥ २५ ॥
यशःकुसुमगुच्छाढ्यो गुणपल्लवलासवान् ।
वैराग्यरसविस्तारो प्रज्ञामञ्जरिताकृतिः ॥ २६ ॥
सर्वाः शीतलयत्याशाः प्रावृषीव पयोधरः ।
सर्वातपं शमयति सूर्यतापमिवोडुपः ॥ २७ ॥
प्रतनोति शमच्छायां छायामिव घनागमः ।
निरोधमास्फारयति श्मोऽनिल इवाम्बुदम् ॥ २८ ॥
निबध्नात्यात्मना पीठं कुलाचल इव स्थितम् ।
फलस्य रचयत्यूर्ध्वं घटिकामङ्गलादिताम् ॥ २९ ॥
विवेककल्पवृक्षे तु वर्द्धमाने दिनेदिने ।
छायावितानवलिते पुंसो हृदयकानने ॥ ३० ॥

शोभित इन लताओं से परिपुष्ट ध्यानरूपी वृक्ष संन्यासी के लिए पारिजात के समान बन जाता है कल्पवृक्ष हो जाता है ॥ २४ ॥

लता,पल्लव तथा पुरुषों से सुशोभित इस तरह का यह उत्तम ज्ञानरूपी वृक्ष अर्थात् समाधिरूपी वृक्ष दिनानु-दिन भविष्यत् काल में मूल ज्ञान का प्रदाता होता है ॥ २५ ॥

जैसे वर्षा ऋतु में मेघ एवं सांसारिक ताप को शान्त कर देता है, जैसे कि सूर्य के ताप को चन्द्रमा शान्त कर देता है । वैसे ही यशरूपी पुष्पों के गुच्छों से भरा, गुण रूपी पत्तों के विलास से भूषित, वैराग्यरूपी रस से विस्तार को प्राप्त तथा प्रज्ञारूपी मञ्जरियों से अलंकृत यह समाधिरूपी वृक्ष सारी दिशाओं को शीतल कर देता है। अर्थात् इससे सात भूमियों में विश्रान्ति होती है ॥ २६, २७ ॥

यह भी शमतारूपी छाया का वैसे ही विस्तार करता है । जैसे मेघ छाया का विस्तार करता है और बढता है जैसे पूर्वी हवा बादल को वैसे ही शम भी चित्त की स्थिरता को बढ़ता है ।। २८ ॥

जैसे कुलाचल पर्वत स्थित अपने मूल को बाँध देता है । वैसे ही आत्मज्ञान के मूलबन्ध को यह अपने से ही ऐसे बाँध देता है । यह वृक्ष, अपने ऊपर कैवल्य नामक फल देनेवाले शान्ति आदि माङ्गलिक गुच्छों की शोभा रचता है ॥ २९ ॥

पुरुष के दृश्यरूपी जंगल में छाया के वितान से

प्रवर्तते शीतलता तलतापापहारिणी ।
अभ्युल्लसन्मतिलता तुषारोदरसुन्दरी ॥ ३१ ॥
यस्यामवान्तरश्रान्तो विश्राम्यति मनोमृगः ।
आजन्मजीर्णपथिकः पथि कोलाहलाकुलः ॥ ३२ ॥
सत्तामात्रात्मशरीरचर्मार्थं प्रेक्षितोऽरिभिः ।
नानातासारसाकारगोपयज्जर्जरोन्मुखः ॥ ३३ ॥
संसारारण्यविसरद्वासनापवनेरितः ।
अहन्तातापसरिता सर्वदा विप्रदारदी ॥ ३४ ॥
दीर्घादरीदूरचितसारसंचारजर्जरः ।
पुत्रपौत्रपरामर्शप्रतापात्पतितोऽवटे ॥ ३५ ॥

वेष्टित इस विवेकरूपी कल्पवृक्ष के दिनानु-दिन बढ़ने पर चित्तरूपी भूमि के आध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा आधिदैविक तापों का हरण करनेवाली उल्लसित हो रही बुद्धिरूपी लता से तुषारगर्भ के समान एक सुन्दर शीतलता प्रवृत्त होती है ॥ ३०-३१ ॥

अनेक जन्मों के नानाविध दुःखों से जीर्ण, दैवात् सन्मार्ग प्राप्त हो जानेपर भी नानावादियों के कोलाहल से व्यग्र होकर उस मार्ग से भ्रष्ट एवं विभिन्न संसार प्रान्तों में घूमते रहने से श्रान्त यह मनरूपी पथिक मृग इसी वृक्ष की शीतल छाया में आकर विश्राम करता है ॥३२॥

एकमात्र सत्तारूपी आत्मा कार्य पुरुषरूपी चमड़े का अपहरण करने के लिए काम, क्रोध आदि छः व्याध इसके पीछे पड़े हैं। अनेक प्रकार के असार शरीर आदिरूप कण्टकों के कुञ्जों में बार-बार छिपकर यह अपने को बचाने की चेष्टा करता है। यहाँ तक कि उन कुञ्जों में बार-बार छिपाने की कोशिश करने से इस मृग का मुख उस शरीर के अन्दर वर्तमान नाना प्रकार के दोषरूपी काँटों से जर्जर हो गया है ॥ ३३ ॥

वासनारूपी पवन से प्रेरित संसाररूपी जंगल में दौड़ रहा यह मृग अहन्तारूपी मृगतृष्णा की ओर सदा दौड़ते रहने से अन्तःकरण के तृष्णारूपी विषय के दाह से अत्यन्त व्याकुल हो गया है ॥ ३४ ॥

अनेक प्रकार भोगों में आदर रखने वाला यह मन रूपी मृग है, थोड़े में कभी सन्तुष्ट नहीं रहता है, यही कारण है कि चाहे कितना दूर क्यों न हो, लेकिन वहाँ भी उपजे हुए हरे-हरे तृणरूपी विषयों में बराबर दौड़ते रहने से इसका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया है। यह पुत्र, पौत्र आदिकों के रात-दिन परिपालन की चिन्ता में ही व्यस्त रहने के कारण आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीन तरह के तापों से अनर्थरूपी गड्ढे में जा गिरा है ॥ ३५ ॥

लक्ष्मीलताविलुठनात्सङ्कटैः कुण्ठिताङ्गकः ।
तृष्णाश्रीसरितं गृह्णन् कल्लोलैर्दूरमाहतः ॥ ३६ ॥
व्याधिदुर्व्याधवैधुर्यपलायनपरायणः ।
अशङ्कितविधिव्याधपातादिव कृताकृतिः ॥ ३७ ॥
ज्ञेयास्पदसमायातदुःखसायकशङ्कितः ।
वैरिविद्रवणव्यग्रो वृषदाहरणाङ्कितः ॥ ३८ ॥
उन्नतानतसम्पातनिपातेनातिघूर्णितः ।
विकारोपलनिर्घातैः पारम्पर्येण चूर्णितः ॥ ३९ ॥
तृष्णाचारुलताजालप्रवेशवशविक्षतः ।
स्वप्रज्ञारचिताचारः परमायास्वशिक्षितः ॥ ४० ॥

सम्पत्तिरूपी लताओं में पैर फँस जाने से जब उठकर भागना चाहता है तब पुनः लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, इसलिए शत्रु, चोर तथा राजा आदि इसे शीघ्र पकड़कर बाँध ले जाते हैं, खूब पीटते हैं तथा नाना प्रकार के दण्ड लगाते हैं। इन सब संकटों से इसका शरीर अत्यन्त कुण्ठित है—किसी काम का नहीं रह गया है। तृष्णारूपी सुन्दर नदी का अवगाहन करने वाला यह, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह आदिरूप तरङ्गों से दूर फेंक दिया जाता है ॥ ३६ ॥

अनेक व्याधिरूपी दुष्ट व्याधों के दुःखों से पलायन में तत्पर यह मृग दैव की संभावना से रहित है। मानो व्याधों के आगमन से इसने अपने आकार को संकुचित कर लिया है ॥ ३७ ॥

नेत्र आदि आनेन्द्रियों के आस्वाद के विषम गीतों, घण्टा के शब्दों तथा यव आदि अङ्कुरों के निमित्तभूत व्याधों के खेत आदि से उत्पन्न दुःखरूपी बाणों से शङ्कित, काम, क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से व्यग्र तथा पत्थरों के प्रहारों के तुल्य पूर्व-पूर्वकाल के दुःखों के अनुभवरूप संस्कारों से युक्त यह मनरूपी मृग है ॥ ३८ ॥

स्वर्ग, नरक आदिरूप ऊँचे-नीचे स्थानों में क्रमशः चढ़ने-गिरने से इसके मस्तक में चक्कर आ गया है, तथा काम, क्रोध आदिरूप पत्थरों की निरन्तर चोट खाने से यह चूर्ण-चूर्ण हो गया है ॥ ३९ ॥

तृष्णारूपी सुन्दर लताओं में छिपते रहने से इसका शरीर व्रणयुक्त हो गया है। इसने अपनी बुद्धि से अनेक तरह के आचारों की कल्पना कर रक्खी है। यह परमात्मा की माया के विषय में अशिक्षित है ॥ ४० ॥

इन्द्रियग्राममागत्य प्रपलायनतत्परः ।
सुदुर्ग्रहगजेन्द्रोग्रविस्फूर्जनविमर्दितः ॥ ४१ ॥

विषयाजगरोदारविषफूत्कारमूर्च्छितः ।
कामुकः कामिनीभूमौ रसात्प्रायो विपोथितः ॥ ४२ ॥

कोपदावानलप्लुष्टपृष्ठविस्फोटदाहवान् ।
सदा गतागतानेकदीर्घदुःखप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥

स्वात्मलग्नाभिलाषांशदंशदोषैरुपद्रुतः ।
भोगलोभलसन्मोदशृगालचिरविद्रुतः ॥ ४४ ॥

स्वकर्मकर्तृतोद्भ्रान्तदारिद्रयद्वीप्यनुद्रुतः ।
व्यामोहमिहिकान्धत्वकूटावटलुठत्तनुः ॥ ४५ ॥

यह इन्द्रियरूपी गाँव में आकर भागने में तत्पर है। जिसको वश में कर लेना कोई लड़कों का खेल नहीं है इस प्रकार कामरूपी गजेन्द्र की भयानक गर्जना से यह मर्दित हो चुका है ॥ ४१ ॥

विषयरूपी अजगरों के भयानक विषयरूपी फुफकार से यह मूर्च्छित हो गया है तथा कामिनीरूपी भूमि में कामुक यह मनरूपी मृग विषय रस से प्रायः मर्दित हो गया है ॥ ४२ ॥

क्रोधरूपी दावाग्नि से यह जल गया है। मानो इसी लिए है इसके पीठ पर फोड़ा हो जाने से इसे बाहर दाह हो रहा है और विषयों में बार-बार भ्रमण करते रहने से अनेक तरह के चिन्तारूपी दुःखों से इसके भीतर भी भारी दाह उठ रहा है ॥ ४३ ॥

अपनी आत्मा में संलग्न अनेक अभिलाषारूपी मच्छर काट-काट कर खाये डालते हैं। भोगों के लोभ में मनोहर प्रमोदरूपी सियार इसके पीछे चिरकाल से दौड़ रहे हैं और यह भी उनके भय से वेगपूर्वक आगे भाग रहा है ॥ ४४ ॥

यह तो अपने ही कर्म और कर्तृता के फेर में पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, फिर भी एक दारिद्रयरूपी व्याघ्र इसके पीछे लगा है। स्त्री, पुत्र आदि में आसक्तिरूपी व्यामोहमिहिका से अन्धा बना देनेवाले कुहरे से अन्धा होकर कपटरूपी पर्वत की चोटियों पर चढ़ते समय नीच-कृत्यरूपी गड्ढों में गिर जाने से इसका शरीर भग्न हो गया है ॥ ४५ ॥

मानरूपी सिंह के समुल्लास से इसके हृदय में उत्पन्न हो रहा इसकी छाती धड़क रही है, उससे यह आतुर हो

मानसिंहसमुल्लासहृदयोत्कम्पनातुरः ।
मरणेन रणे येन वृकपुष्पमिवेक्षितः ॥ ४६ ॥

गर्वेण गिरणायाशु दूरतो जनसेवितः ।
कामैः समन्ततो दन्तवितानितयवाङ्कुरः ॥ ४७ ॥

तारुण्यनारीसुहृदा क्षणमालिङ्ग्यवर्जितः ।
दुःसञ्चारेषु पवनैः कुपितैरिव वर्जितः ॥ ४८ ॥

कदाचिन्निर्वृतिं याति स शमं च तरौ क्वचित् ।
मनोहरिणको राजन्नाजीवमिव भास्वति ॥ ४९ ॥

तालीतमालबकुलादिकवृक्षगुल्म-
विश्रान्तिषु प्रचुरपुष्पविलासहासैः ।

गया है। प्रसिद्ध मृत्युरूपीव्याघ्र से प्रहार करते समय अगस्त वृक्ष के पुष्प की तरह सुखपूर्वक विदीर्ण करने योग्य यह दृष्ट है ॥ ४६ ॥

निर्जन जंगल में गर्भरूपी अजगर इसको शीघ्र निगल जाने के लिए चिरकाल से प्रतीक्षा करता हुआ बैठा है। मानो नानाविध कामनाओं की सिद्धि के लिए चारो ओर अपनी दीनता प्रकटकर भीख माँगने के निमित्त इसने दाँतोंरूपी यव के अंकुर फैला रक्खे हैं ॥ ४७ ॥

स्त्री के लिए बने हुए युवावस्थारूपी प्रिय मित्र ने क्षणभर इसका आलिङ्गन कर इसे फिर छोड़ दिया है। झंझावात के सदृश कुपित इन्द्रियों ने दुर्गम नरक लोक तथा स्थावर आदि योनिरूप अनेक जंगलों में ले जाकर इसे बार-बार फेंक दिया है ॥ ४८ ॥

हे राजन् ! अन्धकार से पीड़ित प्राणी सूर्य का उदय होनेपर विश्रान्ति प्राप्त करता है। वैसे ही इस तरह का यह मनरूपी मृग अनेक जन्मों के संचित पुण्य के उदय से कभी अधिकारी शरीर में शम आदि साधनों से युक्त होने पर इस समाधिरूपी वृक्ष के नीचे विश्रान्तिसुख को प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

ताली, तमाल, बकुल आदि वृक्षों के मूल के नीचे प्राप्त होने वाले विश्रामों के सदृश भूलोक से लेकर सत्य-लोकपर्यन्त के निवासों में प्रचुर फूलों के विलासरूपी हासों के समान अनित्य भोगाभासों के निमित्त उनमें फँसे रहने के कारण जिस निरतिशय भूमानामक सुख का नाम भी आत्मज्ञान-शून्य लोग नहीं जानते, उस जिसका मैंने अभी आप लोगों से वर्णन किया है उस पूर्वजन्म से शून्य मोक्ष नामक विश्रान्ति सुखको आपका अपना मनरूपी

नामापि यस्य न विदन्ति सुखस्य मूढाः प्राप्नोति तच्छमतरोः स्वमनोमृगो वः ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोमृगविपद्वर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

मृग उस ध्यानरूपी कल्पवृक्ष के ही नीचे आकर प्राप्त कर सकता है ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में मनोमृगविपद् वर्णन नामक कुसुमलता का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

४५

वसिष्ठ उवाच

इति विश्रान्तवानेष मनोहरिणकोऽरिहन् ।
तत्रैव रतिमायाति न याति विटपान्तरम् ॥ १ ॥
एतावताऽथ कालेन स विवेकद्रुमः फलम् ।
अन्तस्थं परमार्थात्म शनैः प्रकटयत्यलम् ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलं पुण्यं तदसौ स्वमनोमृगः ।
अधःस्थितः प्रान्तगतं तस्य पश्यति सत्तरोः ॥ ३ ॥
आरोहति नरो वृक्षं तदास्वादयितुं फलम् ।
अन्यवर्गपरित्यागो विततोध्यवसायवान् ॥ ४ ॥
विवेकवृक्षपान्नाम वृत्तीस्त्यजति भूगताः ।
उन्नतं पदमासाद्य भूयो नाधः समीहते ॥ ५ ॥
तेनोत्तमफलार्थेन संस्कारान्प्राक्तनानसौ ।
विवेकपादपारूढस्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ ६ ॥
हसत्युच्चैः पदारूढमात्मानमवलोकयन् ।
एतावन्तमहं कालं कृपणः कोऽभवं त्विति ॥ ७ ॥
करुणादिषु तेष्वस्य भ्रमञ्छाखान्तरेषु सः ।
लोभव्यालमधः कुर्वन् सम्राडिव विराजते ॥ ८ ॥
हृदयेन्दोर्गलश्रेणीदुःखाब्जतिमिरावलिः ।
कृष्णायःशृङ्खलातृष्णा दिनानुदिनमुज्झति ॥ ९ ॥

४५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा— हे शत्रुनाशक श्रीराम ! इस तरह ध्यानरूप कल्पतरुवृक्ष के ऊपर विश्रान्ति ले रहा मनरूपी हरिण उसी वृक्षपर प्रेम करने लग जाता है, दूसरे वृक्षपर नहीं जाता है ॥ १ ॥

कुछ समय के बाद वह विवेकपूर्ण ध्यान वृक्ष पाँच कोशों के भीतर स्थिति परमार्थिक आत्मस्वरूपमृत मोक्ष-फल को धीरे-धीरे पूर्णरूप से प्रकट करता है ॥ २ ॥

उस उत्तम ध्यानरूपी वृक्ष के नीचे विश्रान्ति ले रहा वह अपना मनरूपी मृग उस मोक्षरूप ध्यान वृक्ष फल को, शाखा के आगे लगा हुआ देखता है ॥ ३ ॥

बड़े भारी प्रयत्न से भरा तथा अपने सब धर्मों को छोड़ देनेवाला अर्थात् परमविरक्त पुरुष उक्त फल का स्वाद लेने के लिए उस वृक्षपर चढ़ता है ॥ ४ ॥

अध्यवसायी सबसे पहले विवेक वृक्ष के ऊपर अपना पैर दृढ़ जमा लेता है, फिर पहले की संसार वृत्तियों का एकदम त्याग कर देता है। ऐसा करने पर वह ऐसे ऊँचे स्थान पर अपना स्थान बना लेता है कि फिर कभी नीचे नहीं गिरता है ॥ ५ ॥

जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। वैसे ही उत्तम फल की इच्छा से विवेकरूपी वृक्ष पर चढ़ा हुआ पुरुष अपने पहले के संस्कारों को छोड़ देता है, संस्कारों का त्याग कर देने से पहले का कुछ भी स्मरण नहीं होता ॥६॥

उसे कुछ पहले का स्मरण होने पर वह जोर से हँसने लग जाता है और अपने को ऊँचे विवेक वृक्ष के ऊपर चढ़ा देखकर विचारता है कि इतने समय तक मैं विषय-सुखों की लालच से कितना दीन बना था ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण भूतों पर करुणा 'अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः' इत्यादि दैवी सम्पत्तियाँ इस वृक्ष की शाखाओं में भ्रमण कर रहा व्युत्थानकाल में विहार कर रहा यह मनरूपी मृग लोभ आदिरूप व्यालों को नीचे करके पूर्ण काम सम्राट् की तरह शोभित होता है ॥ ८ ॥

सद्बुद्धिरूपी चन्द्रमा को निगल जानेवाली अमावस्या की पङ्क्तिभूत तथा दुःखरूपी चन्द्रमा में अनेकत्व की भ्रान्ति पैदा कर देनेवाली तिमिर रोग की पङ्क्तिरूप लोहे की निर्मित शृंखला-सी प्राणियों के बन्धन की हेतु तृष्णा दिनपर दिन इसको छोड़ती जाती है। जिस दिन शुभेच्छा उत्पन्न होती है उस दिन से लेकर प्रतिदिन निरन्तर क्षीण होती जा रही यह तृष्णा चतुर्थभूमिका में पहुँच कर बिल्कुल साथ छोड़ देती है। 'रसाऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान् ने भी कहा है ॥ ९ ॥

उपेक्षते न सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोमसौम्यो भवत्यन्तःशीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ १० ॥
शास्त्रार्थपल्लवेष्वेव निषण्णात्माऽवतिष्ठते ।
उन्नतावनतायाता अधः पश्यञ्जगद्गतीः ॥ ११ ॥
भीमद्रुमलतोत्कीर्णपुष्पप्रकरदन्तुराः ।
प्राक्तनीः स्वाः स्थलीः पश्यन् हसत्यन्तर्वराकताम् ॥१२॥
तेषु तत्स्कन्धदेशेषु तथोड्डीनविडीनया ।
हारिण्या विहरञ्जात्या राजेव परिराजते ॥ १३ ॥
पुत्रदारसमग्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ १४ ॥
रागद्वेषभयोन्मादमानमोहमहत्तया ।
नटस्येवास्य दृश्यन्ते शीतलामलचेतसः ॥ १५ ॥
उन्मत्तचेष्टिताकारा हसत्यपि पुरोगताः ।
तरङ्गभङ्गुराधाराः संसारसरितो गतीः ॥ १६ ॥
न स चेतयते काश्चिल्लोकदारधनैषणाः ।
अपूर्वपदविश्रान्तो जीवन्नेव यथा शवः ॥ १७ ॥
केवलं केवले शुद्धे बोधात्मनि महोन्नते ।
दत्तदृष्टिः फले तस्मिन्परं समधिरोहति ॥ १८ ॥
स्मृत्वा स्मृत्वा पदः पूर्वं सन्तोषामृतपोषितः ।
अर्थानामप्यनर्थानां नाशेषु परितुष्यति ॥ १९ ॥
व्यवहारेषु कार्येषु भोगसम्पादकेष्वपि ।
परमुद्वेगमायाति सनिद्र इव बोधितः ॥ २० ॥
दीर्घाध्वग इवोदारामनारतमबाधिताम् ।
चिरं मौर्ख्यश्रमाक्रान्तो विश्रान्तिमभिवाञ्छति ॥२१॥
निःश्वासबोधितोऽप्यग्निरनिन्धन इवात्मनि ।
श्वासमात्रसमोऽप्यन्तरतिष्ठन्नेव शाम्यति ॥ २२ ॥

यह न तो प्राप्त वस्तुओं की उपेक्षा करता है और न अप्राप्त वस्तुओं की अभिलाषा करता है, वरन् सम्पूर्ण वृत्तियों में चन्द्रमा की तरह सौम्य तथा शीतल अन्तःकरण युक्त स्थित रहता है ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्र से अतिरिक्त शास्त्रों के अनुसार प्रवृत्ति होने पर प्राणियों को ब्रह्मलोक पर्यन्त उन्नत स्थान प्राप्त होते हैं तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर नरक पर्यन्त निम्न श्रेणी के स्थान लब्ध होते हैं—इस तरह संसार की उन्नत और अवनत दशाओं को अज्ञानावस्था में देख रहा यह अध्यात्मशास्त्र के विषय शम, दम, सन्तोष आदि रूप पल्लवों में ही अपने स्वरूप को छिपाकर अवस्थित रहता है ॥ ११ ॥

भयंकर विषवृक्षलताओं में विकसित विषमय पुष्प समूहरूपी दाँतों से युक्त अपनी सातों अज्ञान की भूमिकाओं को भीतर देख रहा हीन अवस्था को हँसता है ॥ १२ ॥

उस ध्यानरूपी वृक्ष के उन स्कन्ध प्रदेशों में अर्थात् उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में आरूढ़ हो रही अर्थात् चिड़ियों की तरह एक शाखा से उड़कर दूसरी पर जा बैठ रही मनोहारिणी चित्तवृत्ति से यह राजा की तरह शोभायमान होता है ॥ १३ ॥

पुत्र, स्त्री, मित्र तथा धन आदि सभी पदार्थों को यह यह जन्मान्तर में प्राप्त किये गये या स्वप्न में पैदा हुए के समान देखता है ॥ १४ ॥

दूसरों को खुश करना ही जिसमें प्रधान कार्य है ऐसी राग द्वेष, भय, उन्माद, मान तथा मोह की महत्ता से नट के व्यवहार की तरह शीतल तथा निर्मल चित्त इस ज्ञानी के सब व्यवहार दिखाई देते हैं ॥ १५ ॥

उन्मत्त के चेष्टित के समान आकार वाली, सामने स्थित भी तरङ्ग के समान क्षणभङ्गुर आधारवाली संसाररूपी मृगतृष्णा की नदी की गति को मिथ्या समझकर वह हँसता है ॥ १६ ॥

अपूर्व पद में विश्रान्त जीवन धारण कर रहा भी मृतक के सदृश वह योगी स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक किसी पदार्थ की चिन्ता नहीं करता ॥ १७ ॥

केवल शुद्ध बोधमय, महा उन्नत उस एक आत्मज्ञान-रूप फल में ही एकमात्र अपने चित्त को लगाकर पञ्चम-भूमिकादि स्थानों में आरूढ़ होता है ॥ १८ ॥

अपनी पूर्वावस्था की आपत्तियों का बार-बार स्मरण कर सन्तोषरूपी अमृत से परिपुष्ट हो अनर्थरूपी धनों के नाश में सन्तुष्ट ही होता है ॥ १९ ॥

जैसे सोया हुआ पुरुष किसी से लगा दिये जानेपर निद्रा सुख के विच्छेद से उद्वेग प्राप्त हो जाता है वैसे ही भोगदायक अवश्य कर्तव्य व्यवहारों में भी वह योगी दूसरों के द्वारा समाधिरूपी निद्रा से जगा दिये जानेपर समाधि सुख के विच्छेद से अत्यन्त उद्वेग को प्राप्त करता है ॥ २० ॥

बहुत दूर का रास्ता तय करने वाले बटोही की तरह चिरकाल तक के मौर्ख्यप्रयुक्त अनेक जन्म-मरण परम्पराओं में चक्कर लगाते रहने से उत्पन्न श्रम के कारण अत्यन्त थका हुआ यह पुरुष अति उदार निरन्तर अबाधित आत्म-विश्रान्ति चाहता है ॥ २१ ॥

जैसे निःश्वास से बोधित होनेपर भी बिना इन्धन की

आपतन्तीं बलादेव पदार्थेष्वरतिं शनैः ।
न शक्नोति निराकर्तुं दृष्टिमत्र च्युतामिव ॥ २३ ॥
तां महापदवीं गच्छन्परमार्थफलप्रदाम् ।
भूमिकामप्युपायाति वचसाप्यगोचराम् ॥ २४ ॥
कुतोऽप्यचेष्टितेष्वेव सम्प्राप्तेषु विधेर्वशात् ।
भोगेष्वरतिमायाति पान्थो मरुमहीष्विव ॥ २५ ॥
घूर्णः क्षीण इवानन्दी सुप्तः संसारवृत्तिषु ।
अन्तःपूर्णमना मौनी काममपि स्थितिमृच्छति ॥ २६ ॥
स तादृग्रूपतामेत्य परमार्थफलस्य तत् ।
क्रमन्निकटमाप्नोति खगोऽगपदवीमिव ॥ २७ ॥
ततस्तदखिलां बुद्धिं विहाय वियता समः ।
गृह्णात्यथास्वादयति भुङ्क्तेऽथ परितृप्यति ॥ २८ ॥
सङ्कल्पार्थपरित्यागाद्दिनानुदिनमातता ।
शुद्धस्वभावविश्रान्तिः परमार्थाभिरुच्यते ॥ २९ ॥
भेदबुद्धिविलीनार्थाऽभेद एवावशिष्यते ।
शुद्धमेकमनाद्यन्तं तद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
लोकैषणाविरक्तेन त्यक्तदारैषणेन च ।
धनैषणाविमुक्तेन तस्मिन् विश्रम्यते पदे ॥ ३१ ॥
परेण परिणामेन मिथश्चित्परमार्थयोः ।
तापेन हिमलेखेव भेदबुद्धिर्विलीयते ॥ ३२ ॥
तज्ज्ञस्याऽऽकृष्टमुक्तस्य स्वभावेषूपमां विना ।
स्थितिः स्रग्दामकस्येव न सम्भवति काचन ॥ ३३ ॥

अग्नि शान्त हो जाती है। वैसे ही प्राण धारणमात्र से अन्य पुरुषों के समान भी वह अपने भीतर अहंभाव के अभिमान से बिलकुल शून्य हो पूर्ण आत्मा में शान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

पूर्वाभ्यास के बल से धीरे-धीरे बाह्य पदार्थों में हो रही विरक्ति का, यथा प्राप्त भोगों पर पड़ी दृष्टि की तरह यह निराकरण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

परमार्थरूप फल प्रदान करने वाली उस महापदवी के ऊपर चल रहा यह ज्ञानी पुरुष वाणी के भी अगोचर उठी भूमिका में प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

जैसे मरुभूमि में पथिक विरक्त होता है वैसे ही बिना प्रयत्न किये ही दूसरों के प्रयत्न से दैववशात् प्राप्त भोगों में यह विरक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

संसार की वृत्तियों में सुप्त, क्षीण उन्मत्त की तरह आनन्दयुक्त तथा भीतर में पूर्ण मनवाला यह मौनी पुरुष किसी अनिर्वचनीय स्थति को प्राप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

जैसे सहयोगी मेरु के शिखरपर मोक्षरूप परमार्थ को प्राप्त करता है वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष उस तरह के स्वरूप पहुँचकर क्रमशः मोक्षरूप परमार्थ फल के निकट प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

अनन्तर सप्तम भूमिका में प्राप्त आकाश के समान वह योगी सम्पूर्ण बुद्धि का परित्याग, आत्यन्तिक वासना का क्षय और मन का नाश दिखलाया गया है। निरतिशय भूमानन्द ब्रह्मभावरूप फल ग्रहण करता है, उसका स्वाद चलता है, उसका भोग लगाता और उसी से तृप्त होता है ॥ २८ ॥

सङ्कल्पित पदार्थों के परित्याग से दिनानु-दिन विस्तृत शुद्ध आत्मस्वभाव में विश्रान्ति होती है वही परमार्थ की प्राप्ति कही जाती है ॥ २९ ॥

त्रिपुटीरूपी अपने अर्थ को विलीनकर भेदबुद्धि अभेदरूप में ही अवशिष्ट रह जाती है यानी त्रिपुटी भेद का साक्षी चेतन ही अपने अर्थों का विलय कर जो शेष रह जाता है, उसी को विद्वान् लोग आदि और अन्त से रहित शुद्ध एक ब्रह्म कहते हैं ॥ ३० ॥

लोक-एषणा, स्त्री-एषणा और धन-एषणा से शून्य जो पुरुष है वही उस ब्रह्मपद में विश्राम पाता है। जनता में प्रसिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा का नाम लोकैषणा है, मुझे सुन्दर स्त्री प्राप्त हो—इस इच्छा का नाम दारैषणा है तथा मैं इस संसार में खूब धनी हो जाऊँ—इस अभिलाषा का नाम धनैषणा है। पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा स्त्री प्राप्ति के अधीन है, अतः इसका पृथक् ग्रहण नहीं है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह कि स्त्री अभिलाषा के परित्याग से पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा का त्याग तो अर्थतः शब्द लब्ध है। इन तीन एषणाओं में ही सबका अन्तर्भाव है ॥ ३१ ॥

दृश्य तत्त्व के शोधन से सन्मात्र परमार्थ और द्रष्टा के तत्त्व के शोधन से चिन्मात्र परमार्थक अखण्डैक्यरूप निरतिशयानन्दात्मभूत परमसाक्षात्कारवृत्तिरूप परिणाम से अभेदबुद्धि वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे ताप से हिम की लेखा नष्ट होती है ॥ ३२ ॥

अत्मसाक्षात्कार कर चुके योगी के चित्त की स्थिति, खींचकर छोड़ देने के बाद धनुष आदि कठोर वस्तुओं की उपमा से रहित अत्यन्त कोमल फूलों की माला की तरह होती है, किसी दूसरी स्थिति का संभव नहीं है। पृथ्वी पर पड़ी फूल की माला सीधी-टेढ़ी चाहे जिस किसी तरह से स्थापित हो जानेपर वह कैसी ही ज्यों-की-त्यों स्थित

यथाऽप्रकटिताङ्गान्तः संस्थिता शालभञ्जिका ।
न सती नासती स्तम्भे तथा विश्वस्थितिः परे ॥ ३४ ॥
ध्यानं न शक्यते कर्तुं न चैतदुपयुज्यते ।
अबोधेन विबुद्धस्तु स्वयमत्रैव तिष्ठति ॥ ३५ ॥
आत्यन्तिकी विरसता यस्य दृश्येषु दृश्यते ।
स बुद्धो नाप्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्तता ॥ ३६ ॥
दृश्यस्य बोधताबोधो यो बोधादपरिक्षयः ।
स समाधानशब्देन प्रोच्यते सुसमाहितैः ॥ ३७ ॥
द्रष्टृदृश्यैकतारूपः प्रत्ययो मनसो यदा ।
स तदेकसमाधाने तदा विश्राम्यति स्वयम् ॥ ३८ ॥

रहती हैं। धनुष की तरह उसकी पूर्वावस्था नहीं जाती है। धनुष तो खींचकर छोड़ देने के बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है ॥ ३३ ॥

परमात्मा में इस विश्व की वैसी ही स्थिति है जैसे पत्थर या काठ के स्तम्भ में स्थित अप्रकटित अङ्गोंवाली मूर्ति न तो सद्रूप है और न असद्रूप ही ॥ ३४ ॥

इस तरह निश्चित है कि बोध होने के पहले यानी अज्ञान दशा में प्रपञ्च सहित ब्रह्म में निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वभाव का अज्ञान होने से उसका ध्यान नहीं किया जा सकता और यह उपयुक्त है भी नहीं। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर तो स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर तत्त्वज्ञानी पुरुष इस ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है तब ध्यान वह कैसे कर सकता है? सोता या जागता हुआ कोई भी पुरुष अपने में यह ध्यान नहीं करता कि—मैं सो रहा हूँ या मैं सुपुप्त हूँ ॥ ३५ ॥

दृश्य पदार्थों में जिस पुरुष की आत्यन्तिक विरक्ति देखी जाती है वही तत्त्वज्ञानी है, क्योंकि दृश्य प्रपञ्चों के त्याग में अज्ञानी समर्थ नहीं है अर्थात् सोकर उठने के बाद जैसे पुरुष को स्वाप्निक पदार्थों में तुच्छ बुद्धि होने से आत्यन्तिक विरक्ति रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सांसारिक प्रपञ्चों में आत्यन्तिक विरक्ति कर सकता है ॥ ३६ ॥

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण स्वरूप या ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप जगत् का एकमात्र साक्षिस्वरूपज्ञानरूप से जो बोध है वही यथार्थ स्वभाव में उत्तम स्थिति का कारण होने से 'सुष्ठु-सम्यग् आधानं समाधिः'—ऐसा विग्रह करने से 'समाधान' शब्द से कहा जाता है। उस तरह के बोधस्वभाव से ही यह सारा प्रपञ्च शाश्वत होता है ॥ ३७ ॥

स्वभावो दृश्यवैरस्यमेव तत्त्वविदो निजः ।
दृश्यस्पन्दनमेवाहुरतत्त्वज्ञत्वमुत्तमाः ॥ ३९ ॥
अतज्ज्ञायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः ।
न हि पीतामृतायान्तः स्वदते कटु काञ्जिकम् ॥ ४० ॥
वितृष्णस्यात्मनिष्ठत्वादेषणात्रयमुज्झतः ।
ज्ञस्याप्यनिच्छतो ध्यानमर्थायातं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥
बोधः स्फुरति तृष्णायाः सैव यस्य न विद्यते ।
तस्य स्वरूपमुत्सृज्य क्वासौ तिष्ठति कः कथम् ॥ ४२ ॥
ज्ञस्यानाराधको ध्येयबोधो नयतु यो भवेत् ।
अनन्ता सा विष्तृणस्य निर्विभागोदितः स्वयम् ॥ ४३ ॥

द्रष्टा आदि त्रिपुटी का लय होने से अखण्ड एक आत्माकार में जब मन की वृत्ति स्थित हो जाती है, तब वह ज्ञानी एक आत्मसमाधि में स्वयं विश्रान्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

दृश्य पदार्थों में जो विरक्तिभाव है अर्थात् जड़ता आदि दुःखों के त्यागपूर्वक एकमात्र चिदानन्दैकरस की स्थिति है वही तत्त्वज्ञानी का अपना ब्रह्मस्वभाव है। दृश्य पदार्थों के स्पन्दन को ही दृश्य पदार्थों की ओर चेष्टाशील बनने को ही ज्ञानी महानुभाव लोग अज्ञान कहते हैं ॥३९॥

अज्ञानी को ही संसार के पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं, तत्त्वज्ञानी को नहीं। क्योंकि जो अमृतपान कर चुका है, उस प्राणी को कटु मद्य नहीं प्रिय लगता है ॥ ४० ॥

तृष्णा रहित, आत्मनिष्ठ होने के कारण तीनों एषणाओं का त्याग कर चुके तत्त्वज्ञानी योगी का ध्यान इच्छा न रहने पर भी अपने-आप स्वयं होता रहता है अर्थात् यदि बार-बार अपने स्वरूप के अनुसन्धान को (स्मरण को) ही आप ध्यान समझते हैं, तो वह जागरूक पुरुष के जाग्रदात्मा में हुए स्वरूपानुसन्धान की तरह विद्वान् महानुभावों को सहज-सिद्ध है ॥ ४१ ॥

आत्मस्वरूपानुसन्धानरूपी ध्यान तो तृष्णादिविक्षेप के कारण ही स्फुरित होता है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किन्तु जिस तत्त्वज्ञानी को तृष्णा ही नहीं है उसके स्वरूप को छोड़कर उसका वह कौन ध्यान कैसे कहाँ रहता है ॥ ४२ ॥

ज्ञानी की तृष्णा भी अनन्त है, क्योंकि यह स्वयं विभागरहित अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप से ही उदित है। इसलिए चिन्तनीय बाह्य प्रदार्थ का जैसा बोध हो, उसे वह चाहे समाधि में लगावे या व्यवहार में, किन्तु उसकी तृष्णा की पूर्ति में वह समर्थ नहीं है ॥ ४३ ॥

अनन्तमपतृष्णस्य स्वयमेव प्रवर्तते ।
ध्यानं गलितपक्षस्य संस्थानमिव भूभृतः ॥ ४४ ॥
शुद्धबोधात्मनि ज्ञत्वादसमाहिततोदिता ।
न जातु सुसमिद्धेऽग्नौ घृतबिन्दोरवस्थितिः ॥ ४५ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।
आहृतं येन तन्नूनं तस्मै नृब्रह्मणे नमः ॥ ४६ ॥
नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रौढिमुपागते ।
न शक्नुवन्ति निर्हर्तुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ॥ ४७ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् ।
भेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ॥ ४८ ॥
मूर्खस्थो विश्वशब्दार्थो नामूर्खविषयस्तथा ।

पक्षरहित पर्वत की स्थिति की तरह बाह्य पदार्थों में तृष्णारहित उस ज्ञानी का अनुभवरूप अनन्त ध्यान स्वयं प्रवृत्त होता है, किसी यत्न की उसे अपेक्षा नहीं होती है ॥ ४४ ॥

यही कारण है कि शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा का उदय नहीं होने तक समाधि के लिए यत्न की अपेक्षा रहती है। शुद्धबोधस्वरूप आत्मा के साक्षात् अनुभूत होनेपर तो ज्ञानी हो जाने से समाधि के यत्न की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, यह तत्त्वज्ञानी महानुभावों की उक्ति है। अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर उसमें घृतविन्दु की स्थिति कभी नहीं रह सकती है ॥ ४५ ॥

विषयों से जो आत्यन्तिक विरक्ति है, अर्थात् बाह्य-पदार्थों की तृष्णा का जो आत्यन्तिक विनाश है, वही समाधि कही गई है। जिसको सांसारिक पदार्थों में अत्यन्त वैराग्य हो गया है, उस ब्रह्मरूपी मनुष्य को नमस्कार है अर्थात् विक्षेप पैदा करने वाले रागादि दोषों के आत्यन्तिक विनाश को समाधि कहते हैं, यह तो विद्वान् पुरुषों में ही संभव है, अतः उन विद्वान् महानुभावों को नमस्कार करना चाहिए ॥ ४६ ॥

इसमें भी सन्देह नहीं है कि विषयों से वैराग्य के अत्यन्त दृढ़ हो जानेपर मनुष्य के आत्मध्यान को इन्द्र के सहित सुर और असुर भी नहीं हटा सकते हैं ॥ ४७ ॥

विषयों में उत्पन्न हुए अत्यन्त दृढ़ वैराग्य को ही आप वज्र के समान दृढ़ ध्यानरूप बना लें क्योंकि आत्म-ज्ञान से भेद के नष्ट हो जानेपर तृण के तुल्य दूसरे पदार्थों के ध्यान से कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ॥ ४८ ॥

संसारशब्द का अर्थ मूर्खों के लिए ही है, तत्त्वज्ञानियों के लिए नहीं। इसलिए हे पण्डितों! जिस भूमानन्द ब्रह्म

तज्ज्ञाज्ञयोस्तयोश्चैव विश्वविश्वेशयोस्तथा ।
यत्रैकीभूय कचनं तत्र विश्राम्यतां बुधाः ॥ ४९ ॥
बोधभूमिषु सिद्धानामर्थानां वा विवेकिनाम् ।
सत्तासत्ते द्वयैक्ये च निर्णीते नेह केनचित् ॥ ५० ॥
उपाय एकः शास्त्रार्थो द्वितीयो ज्ञसमागमः ।
ध्यानं तृतीयं निर्वाणे श्रेष्ठस्तत्रोत्तरोत्तरः ॥ ५१ ॥
जीवादर्शान् मिथोरूपं गृह्णात्येषा महद्वपुः ।
जगत्युदेति संघट्टादाविशेषं समेऽसमे ॥ ५२ ॥
ज्ञातपूर्वापरामेषजगदष्टापदस्थितेः ।
एकसिद्धौ द्वयोः सिद्धिर्बोधवैतृष्ण्यदीपयोः ॥ ५३ ॥

में संसार के विशेषज्ञान और अज्ञान, तत्त्वज्ञानी और मूर्ख एवं संसार के प्रभु परमेश्वर का अभेदरूप से भान होता है उसीमें आप लोग विश्राम करें ॥ ४९ ॥

मनन आदि बोधरूप भूमियों में आरूढ़ हो रहे विवे-कियों या आत्मसाक्षात्कारादि भूमियों में आरूढ़ हो चुके सिद्ध महानुभावों में से किसी ने भी पदार्थों में आत्म से अतिरिक्त सत्ता या असत्ता या द्वैतता या एकता का इस संसार में आजतक निर्णय नहीं किया है ॥ ५० ॥

इस आत्मस्वरूप में विश्रान्ति पाने का प्रथम उपाय निरन्तर अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास और दूसरा साधु पुरुषों की सङ्गति है तथा तीसरा उपाय इस निर्वाण में ध्यान है। हे सज्जनों! इसमें उत्तरोत्तर उपाय श्रेष्ठ हैं ॥ ५१ ॥

नित्य अपरोक्ष, अपरिच्छिन्न यही ब्रह्मचिति जीव नामक अपने प्रतिबिम्ब के दर्पणस्वरूप अन्तःकरणभूत उपाधि के कारण परस्पर भिन्न-भिन्नरूप को ग्रहण करती है। प्रिय तथा अप्रिय विषयों का संगठन करनेवाले ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त शेष विशेष पदार्थों के सम्बन्ध पाकर अपने-अपने कर्मों की विचित्रता के कारण सम और विषम भिन्न-भिन्न शरीरों में उदित होती है ॥ ५२ ॥

इस तरह अनादि काल से इस संसार में चक्कर लगा रहे जीवों के बीच में भाग्यवशात् किसी एक को ज्ञान प्राप्त करने योग्य जन्म मिल जानेपर शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास तथा महातमाओं को सङ्गति से उपाय प्राप्ति द्वारा पूर्वापर सम्पूर्ण जन्म-भ्रमणरूप जगद्रूपी शतरंज खेलने की बिसात की जानकारी हो जाने से उस पुरुषश्रेष्ठ को ज्ञान और वैराग्यरूपी दो दीपकों में से किसी एक की सिद्धि हो जानेपर दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

मतिवात्याधुतो व्योम्नि दग्धो ज्ञानाग्निनाऽखिलः ।
जगत्तूलः परे शान्ते न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ५४ ॥
चित्राग्निनेव बोधेन तेन जाड्यं न शाम्यति ।
निर्मूलाऽपि जगद्भ्रान्तिर्येनाऽऽशु न विलीयते ॥ ५५ ॥
यथाऽज्ञस्य जगज्ज्ञप्तिरपज्ञानात्प्रदीप्यते ।
तथा ज्ञस्य परिज्ञानात्तदज्ञप्तिः प्रदीप्यते ॥ ५६ ॥
तज्ज्ञस्याज्ञजगज्ज्ञप्तिशब्दार्थैरहिता स्थिता ।
यथास्थितैव त्रिजगज्ज्ञप्तिश्चित्र इवोदिता ॥ ५७ ॥
शून्यत्वेनैव रचिता सुप्तत्वेनेव निर्मिता ॥ ५८ ॥
भासते भामयी वाञ्छा जगज्ज्ञप्तिर्ज्ञचेतसि ।
नूनं बोधेऽविमूढस्य नाहन्ता न जगत्स्थितिः ॥ ५९ ॥
भासते परमाभासरूपिणः काऽप्यवस्थितिः ।
बोधाबोधात्मकं चित्तं भाति शुष्कार्द्रकाष्ठवत् ॥ ६० ॥
बोधादेकं जगद्भावैर्जाड्यान्नात्मत्वमागतम् ।
मिथोऽबोधाद्विवदति मैत्रीं भजति बोधतः ॥ ६१ ॥
य एवास्याधिको भागस्तन्मयत्वेन तिष्ठति ।
बुधः सतत्त्वं नावैति जगतोऽभावभावयोः ॥ ६२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां स्वभावमिव तुर्यगः ।
वासनैव मनः सेयं स्वविचारेण नश्यति ॥ ६३ ॥
अवस्तुत्वादतो मोक्षो नात्मनाशे प्रवर्तते ॥ ६४ ॥
ध्यानद्रुमात्स्वयमुपोढमनल्पपाकात्
कालेन बोधमुपयातवतः क्रमेण ।

तब ज्ञानरूपी अग्नि से भस्मीभूत जगत्-रूपी सब रूई बुद्धिरूपी झंझावत से शीघ्र उड़कर परम शान्त चिदाकाश में न जाने कहाँ चली जाती है ॥ ५४ ॥

जैसे कि चित्रलिखित अग्नि से मनुष्य का जाड़ा नष्ट होता है वैसे ही जिस ऊपरी ज्ञान से निर्मूल भी जगत् की भ्रान्ति शीघ्र नष्ट नहीं हो जाती उस ज्ञान से मनुष्य का अज्ञान शान्त नहीं होता है ॥ ५५ ॥

तत्त्वज्ञानी के परिज्ञान की दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धि से उत्तरोत्तर भूमिकाओं **में** अज्ञान भी नित्यप्रति वैसे ही अधिक दग्ध होता जाता है। जैसे अभिनिवेशरूपी अज्ञान से, जैसे संसार की भ्रान्ति प्रतिदिन की अभिवृद्धि से बढ़ती ही जाती है ॥ ५६ ॥

अज्ञानी को जैसा जगत् का ज्ञान स्थित रहता है उस अज्ञानी के जगत्-ज्ञान शब्दार्थ से रहित ही, स्वस्वरूप में स्थित, चित्र में लिखित-जैसा, सुप्त पुरुष के द्वारा निर्मित के सदृश एकमात्र शून्यरूप से विरचित ही तीनों जगत् का भान तत्त्वज्ञानी पुरुष को होता है ॥ ५७, ५८ ॥

ज्ञानी पुरुष के चित्त में जगत् की ज्ञप्ति तथा अभिलाषा आदि चित्प्रकाश स्वरूप ही भासता है। इसमें सन्देह नहीं कि बोध होनेपर ज्ञानी का न तो अहङ्कार रहता है और न जगत् की स्थिति ही रहती है ॥ ५९ ॥

ज्ञानी को तो परम प्रकाश स्वरूप इस संसार की कोई अपूर्व स्थिति भासमान होती है और अर्धज्ञानी पुरुष का चित्त सूखे तथा गीले काठ के तुल्य बोध और अबोधरूप से स्थित रहता है ॥ ६० ॥

बोध होने के कारण वह अर्धज्ञानी पुरुष नानाविधि भावपदार्थों से परिपूर्ण इस जगत् को एक आत्मतत्त्वरूप समझता है तथा जड़ता के विद्यमान रहने से वह इस जगत् को एक आत्मरूप से स्थित नहीं देखता है। उसमें दोनों स्वभाव उपस्थित रहते हैं, इसलिए जब उसमें बोध की अधिकता होती है तब वह सभी प्राणियों में अत्यन्त मित्रता का बर्ताव करने लग जाता है। अपने ही समान उन्हें भी सुख-दुःख युक्त समझने लगता है और जब उसमें आज्ञानांश की अधिकता होती है तब वह परस्पर विवाद करने लगता है ॥ ६१ ॥

ज्ञान और अज्ञान इन दोनों में जो भाग प्रबल पड़ता है वैसा हो कर यह रहता है, किन्तु जिसका ज्ञान परिपक्व हो चुका है वह तो जगत् की सत्ता और असत्ता की यथार्थता सर्वथा नहीं जानता है ॥ ६२ ॥

जैसे कि सप्तम भूमिका में आरूढ़ पुरुष जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को नहीं देखता है (ध्यानरूपी वृक्ष के नीचे मनरूपी हरिण को विश्रान्ति प्राप्त होती है, इसी को दूसरे रूप से परम पुरुषार्थ फल की प्राप्ति बतलानी चाहिए, लेकिन यह न कहकर मन के नाश को ही मोक्षरूपी पुरुषार्थ कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो इस पर कहते हैं) वह वासना ही मनरूपी मृग है और यह अपने विचार से ही नष्ट होता है ॥ ६३ ॥

इस मन के अवस्तुरूप होने से इसके विद्यमान रहते मोक्ष नहीं होता, किन्तु इसके स्वरूप का नाश होते ही वह प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

अङ्कुर, काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्प तथा फलपर्यन्त परिणामरूप अनल्प पाक होने से अपने समय से स्वयं बढ़े हुए ज्ञानरूपी फल को प्राप्त किये हुए इस ध्यानरूपी वृक्ष से दूसरे सर्वप्रथम परम रसायन अखण्डाकार वृत्त्यभिव्यक्त परमानन्दरूपी बोध फल का—मुक्त होने

भुक्त्वा रसायनफलं परबोधमाद्य- मिच्छन् मनोहरिणको निगडाद्विमुक्तः ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोहरिणकोपाख्यानं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

की चाह कर रहा यह मनरूपी मृग आस्वाद लेकर इस संसाररूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है। अर्थात् इसका सारांश यह निकला कि यह मन का नाश ही मनरूपी मृग के बहाने वर्णित हुए आत्मा का मोक्ष है ॥ ६५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में मनोहरिणकोपाख्यान नामक कुसुमलता का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

४६

वसिष्ठ उवाच

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते।
बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ १ ॥
क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत्।
परमार्थदशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलप्राप्तौ बोधतामागतं मनः।
वज्रसारां स्थितिं धत्ते छिन्नपक्ष इवाचलः ॥ ३ ॥
मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वात्मिका सती ॥ ४ ॥
सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता।
अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ ५ ॥
स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलेषणम्।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ ६ ॥
यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विश्रान्तं परे पदे।
तावत्तन्मननत्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥ ७ ॥
परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम्।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ ८ ॥

४६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—परमार्थ फल साक्षात् अनुभूत होने तथा मुक्ति की दृढ़ स्थिति होनेपर परम साक्षात्कार वृत्तिरूप बोध भी अपने उपादानभूत अज्ञान के बाध से शीघ्र असद्रूप हो जाता है तथा मनरूपी यह मृग भी परम पुरुषार्थरूप आत्मारूप ही हो जाता है ॥ १ ॥

तेलरहित दीपक के समान पूर्व काल की इसकी मृगता अर्थात् विषयरूपी तृणों के अन्वेषण की स्वभावता न जाने कहाँ चली जाती है। उस समय तो अनन्त आत्म स्वरूप का प्रकाश करनेवाली एकमात्र परमार्थ दशा ही अवशेष रह जाती है ॥ २ ॥

जैसे पंख शून्य पर्वत होता है वैसे ही ध्यानरूपी वृक्ष को परमार्थरूप फल की प्राप्ति हो जानेपर बोधरूपता को प्राप्त यह मन वज्र के समान दृढ स्थिति धारण कर लेता है ॥ ३ ॥

बाह्य पदार्थों के विषय में मनन स्वभावता न मालूम कहाँ चली जाती है और निर्बाध, विभागशून्य, परिपूर्ण अखर्वात्मक सद्रूप एकमात्र स्वच्छ चिन्मात्रता ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ ४ ॥

जड़ देहादि के अविवेक से जड़ बनी हुई-सी जो चित्त की पहली सत्ता थी, वही अब देहादि का ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाने के कारण निर्मल स्वरूप से स्थित हो मानो बोधरूप से उदित हुई है, क्योंकि वह आदि और अन्त से शून्य, स्वच्छ आत्मप्रकाशरूपी फल प्रदान करने वाली है ॥ ५ ॥

उस समय समस्त इच्छाओं से शून्य, रहने के कारण कोई दूसरी गति न होने से वह आदि-अन्तशून्य आत्म-ध्यान ही परिशेष में अवगत होता है ॥ ६ ॥

[कब तक वह ध्यानरूप से अवगत नहीं होता, यह कहते हैं—'यावत्' इत्यादि से।]

जब तक उसे ब्रह्म ज्ञान नहीं होता तथा जब तक वह परम पद में विश्रान्ति नहीं हो जाता, तब तक विषयों के मननरूप से वह आत्म ध्यानरूप से अवगत नहीं होता ॥ ७ ॥

परमार्थ स्वरूपता को प्राप्त करके वह मन न जाने कहाँ चला जाता है। उस समय वासना कहाँ कहाँ रहती है, कर्म कहाँ रहते हैं तथा हर्ष और क्रोध आदि की वृत्तियाँ कहाँ रहती हैं—इसका कुछ भी पता नहीं चलता ॥ ८ ॥

केवलं दृश्यते योगी गतो ध्यानैकनिष्ठताम् ।
स्थितो वज्रसमाधाने विपक्ष इव पर्वतः ॥ ९ ॥
विरसाखिलभोगस्य प्रशान्तेन्द्रियसंविदः ।
नीरसाशेषदृश्यस्य स्वात्मारामस्य योगिनः ॥ १० ॥
क्रमेण विगलद्वृत्तेर्बलाद्विश्रान्तिमीयुषः ।
अर्थायातं समाधानं केन नाम विचार्यते ॥ ११ ॥
तावद्विषयवैरस्यं भावयन्त्युचिताशयाः ।
न पश्यन्त्येव तान्यावद्भोगांश्चित्रनरो यथा ॥ १२ ॥
अपश्यञ्जागतार्थान्निर्वासनतयाऽऽत्मवान् ।
बलाद्वज्रसमाधाने त्वन्येनेव निवेश्यते ॥ १३ ॥

ऐसी दशा में योगी एकमात्र ध्यानैकनिष्ठ दिखाई देता है। वज्र के तुल्य दृढ़ समाधि में यह ऐसे स्थिर हो हो जाता है, जैसे पक्षशून्य पर्वत ॥ ९ ॥

[ध्यान के समय ही उस योगी की समाधि भी अनायस सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'विरसाखिल०' इत्याद दो श्लोकों से।]

सम्पूर्ण भोगों से शून्य, इन्द्रियों की वृत्तियों को शान्त किये हुए, सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में अभिरुचि न रखनेवाले, एकमात्र अपनी आत्मा ही रमण करनेवाले, क्रमशः अपनी वृत्तियों को गलाये हुए तथा बिना किसी प्रयास के विश्रान्ति प्राप्त कर चुके योगी की समाधि अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इस विषय में जब वह ब्रह्मस्वरूप हो गया तब विचार ही करने कौन चलता है ॥ १०, ११ ॥

[उस योगी को परम वैराग्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'तावद्विषय०' इत्यादि से।]

निर्मल अन्तःकरणवाले योगी लोग विषयों में नीरसता की अनायास ही भावना करने लग जाते हैं। वे उन सभी सांसारिक भोगों को ऐसे नहीं देखते, जैसे कि चित्रगत मनुष्य चित्र में लिखित पुरुषों को ॥ १२ ॥

वासनाशून्य होने के कारण सांसारिक पदार्थों को न देख रहा आत्मज्ञानी योगी तो वज्र के तुल्य अभेद्य समाधि में अन्य पुरुष के द्वारा मानो हठात् नियुक्त किया जाता है ॥ १३ ॥

वर्षा काल में नदी के प्रवाह के तुल्य एकमात्र आनन्द रस का आविर्भाव करानेवाली जो समाधि प्रथम वृत्ति में उपस्थित होती है उसका—गुडपिपीलिका न्याय

प्रावृषीव नदीपूरो यः समाधिरुपस्थितः ।
बलादेव तमायातं भूयश्चलति नो मनः ॥ १४ ॥
सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद्ध्याने यदागतम् ।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ १५ ॥
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ।
तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ॥ १६ ॥
तदेतद्भोगवैतृष्ण्यं ध्यानमङ्कुरितं हि तत् ।
तदेव पीठबन्धेन बद्धं भवति बन्धुरम् ॥ १७ ॥
सम्यग्ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम् ।
ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥ १८ ॥

के द्वारा ❀ वस्तु स्वभाव बल से ही एकाग्रता को प्राप्त हो—अस्वाद लेता हुआ मन उससे फिर इधर-उधर चलायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण अर्थों की शान्ति देनेवाली हाठात् प्राप्त ध्यान दशा में ज्ञानबल से बलपूर्वक विषयों के भीतर वैराग्य आना ही समाधि है, दूसरी नहीं। रागादि के कारण खूब जल रहे चित्त में तो कभी भी किसी की समाधि नहीं देखी गयी है ॥ १५ ॥

विषयों से जो दृढ़ वैराग्य है वही ध्यान कहा गया है और खूब परिपक्व हो जाने से वही वज्र के तुल्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। अर्थात् इस तरह ध्यान की उपपत्ति भी विषयों से विरक्ति होनेपर ही होती है, अन्यथा नहीं ॥ १६ ॥

विषयों से वैराग्य अङ्कुरित होनेपर ध्यान कहा जाता है और जब पीठबन्ध से अर्थात् काण्डजनन आदि द्वारा दृढ़ बन्ध से सुन्दर बद्ध हो जाता है तब वही समाधि नाम से कहा जाता है। अर्थात् वैराग्यरूपी बीज ही जब अङ्कुरितावस्था में स्थित रहता है तब ध्यान और जब प्ररूढ़ हो जाता है तब समाधि नाम से कहा जाता है, यों अभेद में भी भेद-व्यवहार हो सकता है ॥ १७ ॥

साक्षात्कारात्मक वृत्ति से आविर्भूत ब्रह्म ही अविद्या उच्छेदक होने के कारण ध्यान कहा जाता है और सर्व-दुःखविच्छेदात्मक आनन्द स्वरूप होने के कारण निर्वाण कहा जाता है।

अर्थात् साक्षात्कारात्मक वृत्ति में प्रतिबिम्बत ब्रह्म ही

❀ मिठास के लोभ से जब चींटी गुड़ में आकर चिपट जाती है तब फिर उससे अलग नहीं होती। ठीक वही दशा योगी के मन की है। आनन्दैकरस का आविर्भाव करानेवाली समाधि का अस्वाद लेकर योगी का मन पुनः पृथक् नहीं होता—यह तात्पर्य है।

अस्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्ध्यानदुर्धिया ।
नास्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्ध्यानदुर्धिया ॥ १९ ॥
दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग्ज्ञानवतो मुनेः ।
निर्विकल्पं समाधानमविरामं प्रवर्तते ॥ २० ॥
यस्मै न स्वदते दृश्यं स सम्बुद्ध इति स्मृतः ।
न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्बोधस्तथोदितः ॥ २१ ॥
यस्य स्वभावविश्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कुतः ॥ २२ ॥
श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् ।
समाधिविरतः श्रान्तः श्रुतपाठजपाञ्छ्रयेत् ॥ २३ ॥
निर्वाणमासीत निरस्तखेदं
समस्तशङ्कास्तमयाभिरामम् ।
सुषुप्तसौम्यं समशान्तचित्तं
शरद्घनाभोगविशुद्धमन्तः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे साम्यावबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

अविद्योच्छेदकरूप होने से, निरन्तर परित्यक्त वासनारूप होने से आनन्द पद को प्राप्त होने से सम्यक् ज्ञान, ध्यान और निर्वाण रूप कहा जाता है ॥ १८ ॥

यदि पुरुषों में भोगों के प्रति विराग विद्यमान है, तो ध्यानरूप दुःखसाध्य बुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा। और यदि विराग नहीं है, तो भी ध्यानात्मक दुःखसाध्य बुद्धि से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् यह जो कुछ कहा वह सब विषय-वैराग्य से ही हो सकता है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं होता है ॥ १९ ॥

जो पुरुष विषयों के स्वाद से मुक्त है एवं विवेकज्ञान से सम्पन्न है उस महामुनि को निर्विकल्पक समाधि निरन्तर लगी रहती है ॥ २० ॥

जिसको विषय नहीं अच्छा लगता है, उसी को तत्त्वज्ञ लोग ज्ञानी कहते हैं। जब पुरुष भोग नहीं प्रिय लगता है तभी उसे सम्यक् ज्ञान उदित होता है ॥२१॥

जिस महामुनि की अपने आत्मस्वभाव से स्थिति हो चुकी उसे भोग कैसे, क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, वह विरुद्ध स्वभाव के क्षीण हो जानेपर कैसे रह सकता है। अर्थात् पूर्ण अद्वय स्वभाव से विरुद्ध भोग उसी समय में अज्ञान के कारण आत्मा का असली स्वरूप विपरीत प्रतीत होता है जब अज्ञान का नाश हो जाता है ॥ २२ ॥

भद्र पहले गुरु, सहपाठी आदि के साथ वेदान्त श्रवण करे, उपनिषदों की आवृत्ति करे, फिर प्रणवजप करे, इतना सब कर लेने के बाद समाधि में तत्पर हो जावे और समाधि टूट जानेपर समाधिश्रान्त वह पुरुष फिर श्रवण, आवर्तन एवं प्रणवजप करे ॥ २३ ॥

अपने भीतर एकमात्र निर्वाणरूप समाधि की ओर लक्ष्य रख करके स्थित रहना चाहिए, किसी प्रकार का खेद नहीं करना चाहिए, सारी शङ्काओं को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए। यही समाधि अतिरमणीय, सुषुप्ति के सदृश परम शान्त, शरत्कालीन विस्तृत बादलों के सदृश निर्मल है। इसी अवस्था में चित्त एकरूप और प्रशान्त रहता है। अर्थात् यह सब होनेपर भी समाधि की ओर प्रधान लक्ष्य रखना चाहिए ॥ २४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में साम्यावबोधन नामक कुसुमलता का छियालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

४७

वसिष्ठ उवाच

संसारभारसुश्रान्तः संकटेषु लुठत्तनुः । योऽभिवाञ्छति विश्रान्तिं तस्य क्रममिमं शृणु ॥ १ ॥

४७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भद्र श्रीरामजी, जो जीव इस संसार के भार को ढोते-ढोते थक गया है तथा मरण, मूर्च्छा आदि सङ्कट-समय को लेकर जिसका शरीर जर्जर हो गया है, विश्रान्ति अवश्य चाहता है। परन्तु उसके लिए जो खास क्रम है अर्थात् विश्रान्ति पाने के लिए प्राप्त किये जाने वाले उन-उन साधनों से उत्तम गुणों के लाभ का जो क्रम है, उसे आप सुनें ॥ १ ॥

पूर्वं विवेककणिका यदा स्वहृदि जायते ।
संसारनिर्वेदमयी कारणाद्वाप्यकारणात् ॥ २ ॥
तदा श्रयन्ति सच्छायान् साधुत्वसुविशालिनः ।
अध्वश्रमहरांस्तापतप्ता मार्गतरूनिव ॥ ३ ॥
दूरे परिहरत्यज्ञान्यज्ञयूपानिवाध्वगः ।
स्नानदानतपोयज्ञान् करोति विबुधानुगः ॥ ४ ॥
पेशलं चानुरूपं च व्यवहारमकृत्रिमम् ।
लोक्यमाह्लादनं धत्ते चन्द्रबिम्बमिवामृतम् ॥ ५ ॥
परप्रज्ञानुगो भव्यः परार्थपरिपूरकः ।
पवित्रकर्मरसिकः कोऽपि सौम्यः प्रवर्तते ॥ ६ ॥
नवनीतस्थलीवाच्छा स्निग्धा मृद्वी मनोहरा ।
जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसङ्गतिः ॥ ७ ॥
शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः ।

कारण विशेष से अर्थात् ऐहिक यज्ञ, दान, तप आदि पापक्षय के हेतुभूत सत्कर्मों से या अकारण से यानी पूर्वजन्मार्जित यज्ञ आदि सत्कर्मों से जभी अपने हृदय में पहले संसार से विरक्ति पैदा करनेवाली विवेक की मात्रा उत्पन्न हो जाती है, तभी उत्तम छाया देनेवाले तथा साधुता के रूप से चारो ओर फैले हुए गुणों को संसार-तापतप्त पुरुष ऐसे आश्रयण करते हैं, जैसे सूर्य के ताप से तपे हुए पुरुष मार्ग की थकावट हरनेवाले मार्ग के वृक्षों का आश्रयण करते हैं ॥ २–३ ॥

ऐसा पुरुष पहले तो अज्ञानियों को उस तरह दूर से ही छोड़ देता है, जैसे पथिक यज्ञयूप को दूर से ही छोड़ देता है। स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता है और निरन्तर तत्त्वज्ञों का पदानुसरण करता है ॥४॥

जैसे चन्द्रमा का बिम्ब लोगों को आनन्द देनेवाला अमृत धारण करता है, वैसे ही विद्वान् कोमल, अनुरूप, परिणाम में लोगों के लिए हितकारक तथा आनन्ददायी अकृत्रिम व्यवहार करता है ॥ ५ ॥

विद्वान् अपने पक्ष में न अनुराग रखता है और न लोभ या अभिमान ही रखता है, सदा घर के हित में निरत रहता है, इसी से परप्रज्ञानुग कहा जाता है। वह सभी जनों का प्रिय होता है, पवित्र शास्त्रानुकूल कर्मों में रसिक बना रहता है ॥ ६ ॥

महापुरुष की पहली सङ्गति ही पुरुष को सुख पहुँचाती है, उसकी सङ्गति मक्खन के आश्रय दही के सदृश स्वच्छ होती है तथा स्नेह से भरपूर, कोमल, मनोहर और स्वादु रहती है ॥ ७ ॥

इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥ ८ ॥
न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिषु ।
विश्राम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥ ९ ॥
मन्दाकिनीपयांसीव संगतानि विवेकिनाम् ।
प्रक्षालयन्ति पापानि प्रयच्छन्ति विशुद्धताम् ॥ १० ॥
विवेकिषु विरक्तेषु संसारोत्तरणार्थिषु ।
जनः शीतलतामेति हिमहारगृहेष्विव ॥ ११ ॥
ननु नाम रतोदारा या विवेकिनि विद्यते ।
सुरगन्धर्वकन्यासु मानवीषु न विद्यते ॥ १२ ॥
प्रज्ञा प्रसादमायाति क्रमादुचितकर्मणः ।
अन्तःकरोति शास्त्रार्थमर्थं मुकुरभूरिव ॥ १३ ॥
सत्प्रज्ञोन्नतिमायाति शास्त्रार्थरसशालिनी ।
विवेकिनि विलासेन कदलीव महावने ॥ १४ ॥

विवेक की पुरुषों के चन्द्रमा की किरणों के सदृश चरित्र अत्यन्त पवित्र और शीतल रहते हैं, इसलिए प्रत्येक पुरुष के भीतर अत्यन्त ठंढक पहुँचाते हैं ॥ ८ ॥

साधु पुरुष के समागम से जैसी निर्भय शान्ति मिलती है, वैसी शान्ति मनोहर पुष्पों के ढेरों से भरे उद्यानखण्डों में भी नहीं मिलती हैं ॥ ९ ॥

विवेकियों के समागम भी पुरुषों के पाप को वैसे ही धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं जैसे भगवती भागीरथी के निर्मल जल पाप धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

जैसे हिम एवं पुष्पहारों से निर्मित घरों में वास करने पर शीतल प्राप्त करता है। वैसे ही संसार पार पाने की इच्छा रखने वाले विरक्त विवेकी पुरुषों का समागम होनेपर पुरुष ऐसी शीतलता प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

वैसी उदार प्रीति देवता, गन्धर्व और मानव की कन्याओं में भी नहीं रहती है जैसी उदार प्रीति विवेकी पुरुष में रहती हैं ॥ १२ ॥

क्रम से किये गये उचित निष्काम कर्म से बुद्धि का मल हट जानेपर आत्म-जिज्ञासा का आविर्भाव हो जाता है और गुरुजी के मुख से सुना गया शास्त्र का अर्थ मनुष्य के हृदय के भीतर वैसे ही प्रवेश कर जाता है, जैसे दर्पण तल के भीतर प्रतिबिम्ब प्रवेश कर बैठ जाता है ॥ १३ ॥

जैसे महावन में मूलप्ररोहादि के विस्तार से कदली बढ़ने लग जाती है। वैसे ही विवेक से पूर्ण हृदय में

अन्तरेवानुभवति सर्वार्थान्प्रतिबिम्बितान् ।
आदर्शवदशेषेण प्रज्ञा नैर्मल्यशालिनी ॥ १५ ॥
साधुसंगमशुद्धात्मा शास्त्रार्थपरिमार्जितः ।
प्राज्ञो भात्युद्धृतं वह्नेरग्निशौचमिवांशुकम् ॥ १६ ॥
कचत्काञ्चनकान्तेन विमलालोककारिणा ।
भुवनं भास्करेणेव भाति साधुः स्वतेजसा ॥ १७ ॥
तथाऽनुगच्छति प्राज्ञः शास्त्रसाधुसमागमौ ।
यथाऽत्यन्तानुषङ्गेण तावेवानुभवत्यसौ ॥ १८ ॥
क्रमात्सज्जनतामेत्य शास्त्रार्थभरभावितः ।
भाति भोगानधःकुर्वन्पञ्जरादिव निर्गतः ॥ १९ ॥
भोगाभिगमदौर्भाग्यं तेनानुदिनमुज्झता ।

शास्त्रार्थ रस से पूर्ण होकर उत्तम प्रज्ञा बढ़ने लग जाती है ॥ १४ ॥

आदर्श के सदृश, निर्मलता से शोभित बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित समस्त वस्तुओं का अपने अन्दर ही मन के विलास के रूप में पूर्ण अनुभव करती है ॥ १५ ॥

साधुओं के समागम से शुद्धबुद्धि तथा शास्त्र के अर्थों से परिमार्जित विवेक की पुरुष अग्नि से निकाले गये विद्युत्पुञ्ज के समान चमकदार वस्त्र रत्न की तरह भासमान होता है ॥ १६ ॥

विवेकी पुरुष चमकीले कनक के साथ चमक रहे तथा निर्मल अलोकित करनेवाले अपने आत्मप्रकाश से सूर्य की तरह सम्पूर्ण भुवन को प्रकाशित करता है ॥१७॥

विवेक सम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष अभ्यास से शास्त्र का और सेवा आदि वृत्ति से गुरु समागम का उसी तरह निरन्तर अनुसरण करता है, जिससे कि गुरु के द्वारा उपदिष्ट अर्थ में अत्यन्त आसक्ति के होने से स्वप्न में भी शास्त्र एवं गुरु के चिन्तन तथा सेवन में तत्पर हो शास्त्र और गुरु समागम का अनुभव करता है ॥ १८ ॥

क्रमशः राग आदि दोषों का विनाश एवं मैत्री आदि गुणों का संचय कर वह निर्दोष और गुणवान् बनकर शास्त्र में कहे गये अर्थों की भावना से पूर्ण भावुक बन पुनः पिंजड़े से छुटकारा पाये हुए के समान स्वतन्त्र हो तथा भोगों का तिरस्कार कर प्रकाशमान हो जाता है ॥ १९ ॥

व्यसनी होकर विषयों के प्रति दौड़ना दौर्भाग्य है, इस दौर्भाग्य का दिन पर दिन त्याग करने वाले विवेकशील पुरुष के द्वारा उसका वंश ही चमकने लग जाता है,

तेन तत्कुलमाभाति ताराचक्रमिवेन्दुना ॥ २० ॥
अभोगकृपणा कापि नवैवास्य प्रवर्तते ।
मुखे कान्तिरपूर्वेव चन्द्रे राहुमृते यथा ॥ २१ ॥
तृणीकृतत्रिजगतां महतामभिधेयताम् ।
स याति कल्पविटपी नभसीव दिवौकसाम् ॥ २२ ॥
भोगानां द्वेषणेनान्तर्लज्जमानो मनस्यपि ।
भोगानामप्यसंपत्त्या परमं परितुष्यति ॥ २३ ॥
स्वा एवोपहसत्यन्तस्तरुणीस्तरलक्रियाः ।
खेदस्मेरमुखो जातीर्जातिस्मर इवाधमः ॥ २४ ॥
अथ तं द्रष्टुमायान्ति सौहार्देनैव साधवः ।
भूमाविवोदितं चन्द्रं विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ २५ ॥

जैसे चन्द्रमा के द्वारा तारों का समूह चमकने लग जाता है ॥ २० ॥

इस विवेकी के मुख में भोग लम्पटता से निर्मुक्त कोई अपूर्व कान्ति वैसे ही जगमगाने लग जाती है, जैसे राहु से छुटकारा पानेपर चन्द्रमा की कान्ति जगमगाने लग जाती है ॥ २१ ॥

तीनों जगत् को भी तृणरूप समझने वाला महान् आत्माओं द्वारा यह ऐसे प्रशंसा पद को प्राप्त करता है, जैसे स्वर्ग में देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष प्रशंसा को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

विवेकी प्राप्त भोग साधन का परित्याग कर सन्तुष्ट तो होता है, परन्तु कुछ लज्जाग्रस्त बना रहता है, क्योंकि उसके मन में इस बात की लज्जा रहती है कि मैंने सभी से द्वेष छोड़ दिया तब भोगों के प्रति द्वेष क्यों कर रहा हूँ और यदि भोग साधन विषय उसे प्राप्त ही नहीं हुए, तो वह अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि इस अवस्था में उसे द्वेष करने का मौका ही नहीं मिलता है ॥ २३ ॥

जैसे अधम चाण्डाल आदि को दैवशात् अपनी पूर्व जन्म की उच्च जाति का स्मरण हो तो वह अपनी इस जन्म की जाति को मन में धिक्कारता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी पहले की राग आदि से प्रौढ़ तथा भोग की उत्कण्ठा से तरल अपनी क्रियाओं का स्मरण कर खेद से कुछ हसमुख हो अपने भीतर उनको धिक्कारता है ॥२४॥

ऐसे पुरुष को एक तरह से पृथ्वी में उदय प्राप्त चन्द्रमा ही समझना चाहिए, इसे देखने के लिए परम प्रेम से केवल विस्मय से प्रफुल्ल नेत्रोंवाले सिद्ध पुरुष आते हैं ॥ २५ ॥

नित्यानादृतभोगोऽसौ ततोऽप्युचितया धिया ।
प्राप्तमप्युचितारम्भं भोगं न बहु मन्यते ॥ २६ ॥
पूर्वं संसृतिवैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः ।
जायते जीर्णजाड्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥ २७ ॥
ततः सज्जनसम्पर्कमुदर्कश्रेयसे स्वयम् ।
करोति स्वस्थतागृध्नुर्भिषगाश्रयणं यथा ॥ २८ ॥
तेनोदारमतिर्भूत्वा शास्त्रार्थेषु निमज्जति ।
महान्महाप्रसन्नेषु सरःस्विव महागजः ॥ २९ ॥
सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् ।
नियोजयति संपत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥ ३० ॥
परस्वादानविरतिः पूर्वमेव प्रवर्तते ।
विवेकिनो निजार्थेषु सन्तोषश्चोपजायते ॥ ३१ ॥

कभी-भी भोगों के प्रति यह आदर नहीं रखता, इसीलिए उन सिद्ध महात्माओं के द्वारा अत्यन्त प्रसन्नता से दिये गये अनिषिद्धि सिद्धि आदि विषयों को भी श्रेष्ठ नहीं समझता है उनकी ओर कुछ भी अधिक आस्था नहीं रखता है ॥ २६ ॥

उसे जो उन भोगों के प्रति अधिक आदर नहीं होता है इसमें कारण यह है कि गुरु और शास्त्र के समागम से भोगों को प्रति पहले से ही उसके मन में नीरसता पैदा हो जाती है तथा उसकी जड़ता भी जीर्ण-शीर्ण वैसे ही हो जाती है, जैसे शरद् ऋतु का पौधा पाक से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ २७ ॥

अपने भावी अधिक कल्याण के लिए स्वयं ही वह सज्जनों की शरण वैसे ही लेता है जैसे स्वास्थ्य चाहने वाला पुरुष वैद्य की शरण लेता है ॥ २८ ॥

सज्जनों के समागम से उसकी बुद्धि अतिशय उदार हो जाती है, उदारबुद्धि हो वह उपनिषद् के महावाक्यार्थों के विचार में वैसे ही डूब जाता है, जैसे अत्यन्त प्रसन्न सरोवरों में महान् हाथी डूब जाता है ॥ २९ ॥

क्योंकि सज्जन का यह स्वभाव है कि वह अपने पास स्थित प्राणी को बड़ी-बड़ी आपत्तियों से उद्धार कर सम्पत्तियों के प्रति वैसे ही सम्बन्ध करा देता है, जैसे सूर्य अन्धकार से उबार कर अपनी प्रकाशमय दीप्तियों में सम्बन्ध करा देता है ॥ ३० ॥

विवेकी की बुद्धि पहले से ही दूसरे का धन लेने से विरत बनी रहती है और अपने ही अर्थों से उसे सन्तोष बना रहता है ॥ ३१ ॥

परस्वादानविरतः सन्तोषामृतनिर्भरः ।
विवेकी क्रमशः स्वार्थानप्युपेक्षितुमिच्छति ॥ ३२ ॥
ददाति कणपिण्याकशाकाद्यपि हि याचते ।
तेनैवाभ्यासयोगेन स्वमांसानि ददात्यसौ ॥ ३३ ॥
नूनं विलयचित्तानां विवेकमनुधावताम् ।
मौर्ख्यं लघुत्वमायाति धावतामिव गोष्पदम् ॥ ३४ ॥
परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः ।
आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥ ३५ ॥
ततो भोगनिरासेन सह स्वार्थनिराकृतिः ।
परमायै सुविश्रान्त्यै क्रियते कृतिभिः क्रमात् ॥ ३६ ॥
न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥ ३७

दूसरे के धन ग्रहण से विरत तथा सन्तोषरूपी अमृ से निर्भर विवेकी पुरुष क्रम से उत्तरोत्तर अपने स्वार्थ की भी उपेक्षा करने की इच्छा करता है, ऐसी स्थिति वह दूसरे का अर्थ कैसे चाहेगा ? ॥ ३२ ॥

उसके पास आए हुए याचक को कण, पिण्या (तिल या सरसों की खली), शाक आदि जो कुछ भी दे देता है, उसी अभ्यासयोग के प्रभाव से याचकों क अपना मांस भी दे देता है ॥ ३३ ॥

जैसे दौड़ रहे घोड़ों के लिए बड़ा भारी गढ्ढा भी भी गोष्पद की तरह तुच्छ यानी अनायास उल्लङ्घन योग्य हो जाता है वैसे ही विवेक के पीछे-पीछे दौड़ रहे तथा चित्त की विलयदशा को प्राप्त पुरुषों का अज्ञान तुच्छ हो जाता है अर्थात् विवेक के अनुसरण से लीन चित्त का दिन पर दिन ज्ञान बढ़ता ही जाता है और अज्ञान क्षीण होता जाता है ॥ ३४ ॥

विवेकी को सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक दूसरे का धन लेने से निवृत्त हो जाना चाहिए और इसका भली-भाँति अभ्यास कर फिर अपने विवेक से स्वार्थों से भी विरक्ति करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

इसके बाद भोग निवृत्ति के साथ-साथ अपने स्वार्थों को भी क्रमशः तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञ लोग उत्तम शान्ति के लिए यही काम किया करते हैं ॥ ३६ ॥

जीवनपर्यन्त जैसा अर्थोपार्जन के लिए झेला गया दण्डरूप ऐहिक पारलौकिक दुःख है, वैसा दूसरा दुःख इस जगत् में करोड़ों नरकों में भी विद्यमान नहीं है ॥ ३७ ॥

आसने शयने याने गमने रमणे जने ।
आधिचिन्तापरा एव ननु मूढा विदन्तु ताम् ॥ ३८ ॥
नन्वर्था विततानर्थाः सम्पदः सन्ततापदः ।
भोगा भवमहारोगा विपरीतेन भाविताः ॥ ३९ ॥
तावन्नायाति वैरस्यं चिन्ताविषयजृम्भणैः ।
यावदर्थमहानर्थो न कदर्थार्थमर्थ्यते ॥ ४० ॥
अनुत्तमसुखं यस्मै चिराय परिरोचते ।
जगत्तृणशिखादृष्ट्या सोऽर्थं पश्यतु शाम्यतु ॥ ४१ ॥
भूरिभावविकाराणां जरामरणकर्मणाम् ।
दैन्यदौरात्म्यदाहानामर्थः सार्थ इति स्मृतः ॥ ४२ ॥
अस्मिन् जगति जन्तूनां जरामरणशालिनाम् ।
अजरामरणं कर्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥ ४३ ॥
वसन्तो नन्दनोद्यानमिन्दुरप्सरसः स्मृताः ।
इत्येकतः समुदितं सन्तोषामृतमेकतः ॥ ४४ ॥
सरसः प्रावृषेवान्तःसन्तोषेणैव पूर्णता ।
गम्भीरां शीतलां हृद्यां प्रसन्नां रसशालिनीम् ॥ ४५ ॥
साधुरोजस्वितामेत्य सन्तोषेणैव राजते ।
सुपुष्पितवनाकारो वसन्तेनेव पादपः ॥ ४६ ॥
पादपीठपरामर्शपिष्टकीटवदीहते ।
दीनप्रकृतिरर्थार्थी दुःखाद्दुःखान्तरं व्रजेत् ॥ ४७ ॥
कल्लोलविकलाः क्षुब्धसमुद्रपतिता इव ।
नाप्नुवन्ति स्थितिं स्वस्थां विकृताकृतयोऽर्थिनः ॥४८॥

आसन के लिए, शयन के लिए, सवारी के लिए, जाने के लिए, आनन्द मनाने के लिए तथा अपने जन के लिए कितनी बड़ी पुरुषों को मानसिक चिन्ता बनी रहती है, इसलिए अज्ञानियों को उसे अवश्य स्मरण करना चाहिए कि अर्थोपार्जन के लिए यहाँ कितना दुःख है अर्थात् मूढ़ पुरुष को पारलौकिक दुःखों का स्मरण भले ही न हो, पर ऐहिक दुःखों का तो उन्हें स्मरण करना ही चाहिए ॥ ३८ ॥

यदि विवेक से विचार किया जाय, तो ये अर्थ बड़े भारी अनर्थरूप, सम्पत्तियाँ महान् विपत्तिरूप और भोग संसार के महान् रोगरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु मोह के कारण प्राणी उनको वैसा नहीं समझता है ॥ ३९ ॥

जबतक पुरुष निन्दनीय ऐहिक या पारलौकिक अर्थों के लिए महान् दुःखरूप अनर्थ झेलने की इच्छा नहीं करता है, तभी तक पुरुष चिन्तित अर्थों के कारण उत्पन्न सन्तापों से नहीं सूखता ॥ ४० ॥

जिस पुरुष को मोक्ष का सुख ही सदा के लिए सबसे महान् लगता है, वह पुरुष धन को जगत्-रूपी तिनके के अग्रिम हिस्से के सदृश अत्यन्त तुच्छ समझे और यह समझकर उससे शान्ति ग्रहण करे धन को प्राप्त करने के लिए अनर्थ के फन्दे में न फँसे ॥ ४१ ॥

धन को मुनियों ने यह कर याद किया है कि वह चिन्ता, शोक आदि भावविकारों का, जरा, मरण के जनक दुष्ट कर्मों का तथा दीनता, दुष्टता, जलन आदि का ढेर है ॥ ४२ ॥

[सन्तोष ही वैराग्य में बैठाकर पुरुष को सब दुःखों छुटकारा दिलाता है, इसलिए अब सन्तोष की स्तुति करते हैं।]

इस जगत् में बुढ़ापे और मरण से आक्रान्त जन्तुओं को अजर और अमर बनाने के लिए सन्तोष ही एक अमृत है ॥ ४३ ॥

सुख के साधन वसन्त, नन्दनवन, चन्द्रमा और अप्सराएँ कही गई हैं और पूर्ण सन्तोषरूपी अमृत कहा गया है, अकेला सन्तोषरूपी अमृत सुख देने की जितनी सामर्थ्य रखता है उतनी वसन्त आदि सब मिलकर भी नहीं रखते हैं ॥ ४४ ॥

पुरुष भी अपने भीतर परिपूर्णता सन्तोष से वैसे ही कर सकता है जैसे सरोवर अपने भीतर की परिपूर्णता वृष्टि से कर सकता है। सज्जन पुरुष गम्भीर, शीतल मनोहर, प्रसन्न और रसपूर्ण ओजस्विता को सन्तोष से प्राप्त कर सुन्दर पुष्पों से युक्त वन के सदृश हो वैसे ही शोभायमान होने लगता है, जैसे वसन्त से वृक्ष शोभायमान होने लगता है ॥ ४५-४६ ॥

सन्तोष को धारण नहीं करने वाला और अर्थों के लिए लालायित रहने वाला पुरुष प्रकृति ठीक उस कीट की तरह दीन बन जाती है, जो कीट जूतों से पहले आहत होकर रगड़ खा गया है। इस तरह का असन्तुष्ट जीव एक दुःख से दूसरे दुःख की ओर जाता ही है, दुःखों से छुटकारा नहीं पाता है ॥ ४७ ॥

धन के लोभी जीवों का आकार विकृत ही रहा करता है और वे अपने स्वस्थ की स्थिति वैसे ही प्राप्त नहीं कर सकते, जैसे क्षुब्ध समुद्र में गिरे हुए तथा तरङ्गों से विकल हो उठे पुरुष स्वस्थ स्थिति को नहीं प्राप्त करते हैं ॥ । ४८ ॥

सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ४९ ॥
अर्थोपार्जनरक्षाणां जानन्नपि कदर्थनाम् ।
यः करोति स्पृहां मूढो नृपशुं तं न संस्पृशेत् ॥ ५० ॥
मनसो बाह्यमारम्भमान्तरं च लुनाति यः ।
समं वैतृष्ण्यदात्रेण तस्य क्षेत्रं प्रकाशते ॥ ५१ ॥
जगत्त्वमज्ञसंबुद्धं ज्ञो विदन्नसदेव यत् ।
सतीव तत्र स्फुरति तदनभ्यासजृम्भितम् ॥ ५२ ॥
संसारनिर्वेददशामुपेत्य
सत्सङ्गमं शास्त्रमुपेत्य तेन ।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान्
वैतृष्ण्यदाढर्च्यात्परमार्थमेति ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुमुक्षुप्रथमोपक्रमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

अर्थ सम्पत्ति और प्रमदा ये दोनों वस्तुएँ तरङ्गों के सदृश थोड़ी ही देर में नष्ट हो जाने वाली हैं और वे सर्प के फनरूप छत्र की छाया ही हैं, अतः कौन विद्वान् उनसे खेल करेगा ? ॥ ४९ ॥

धन के उपार्जन और रक्षण में भारी यातनाओं को जानकर भी जो धन की इच्छा करता है, वह मूढ़ और नरपशु है क्योंकि उसे छूनातक नहीं चाहिए ॥ ५० ॥

सन्तोषरूपी हँसुआ से एक साथ बारह की इन्द्रियों के बर्तन को और भीतर के सङ्कल्प आदि को जो पुरुष काट डालता है, उसका खेत अर्थात् ज्ञान बीज की उत्पत्ति का स्थान हृदय प्रकाशमान होने लगता है ॥ ५१ ॥

अज्ञानियों से सम्बन्ध रखनेवाली जगत् की विचित्रता साक्षी आत्मा में सत्यता नहीं रखती है इस प्रकार जान रहा भी ज्ञानी जगत् में सत्य अर्थ समझने वाले अज्ञ के सदृश अपरिपक्व ज्ञान के कारण व्यवहार करता है, वह प्रस्तुत वैराग्यादि के अनभ्यास का ही परिणाम है ॥५२॥

पुरुष को सबसे पहले संसार में विराग प्राप्त करना चाहिए, फिर सत्समागम और शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए, अनन्तर शास्त्रों के अर्थों की दृढ़ भावना कर भोगों से विरक्त हो जाना चाहिए, इतना करने के अनन्तर वैतृष्ण्य की यानी सन्तोष की दृढ़ता बन जायगी और फिर अपने असली स्वरूप को वह अवश्य प्राप्त कर लेगा ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में मुमुक्षुप्रथमोपक्रम नामक कुसुमलता का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

४८

वसिष्ठ उवाच

रूढे संसारनिर्वेदे स्थिते साधुसमागमे ।
शास्त्रार्थे भाविते बुद्ध्या भोगवैष्ण्य आगते ॥ १ ॥
जाते विषयवैरस्ये सज्जनत्वे तथोदिते ।
प्रकाशे सोन्मुखीभूते हृदये कलितोदये ॥ २ ॥
धनानि नाभिवाञ्छ्यन्ते तमांसीव विवेकिना ।
त्यज्यन्ते विद्यमानानि संशुष्कामेध्यपर्णवत् ॥ ३ ॥
भाराय पान्थदृष्ट्येव दृश्यन्ते दारबन्धवः ।
यथाशक्ति यथाकालमुपचर्यन्त एव च ॥ ४ ॥

४८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—पुरुष को संसार से विरति उत्पन्न हो जाने पर साधु, पुरुषों का समागम प्राप्त हो जाने पर, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थ बुद्धिद्वारा भावित हो जाने पर, भोगों की तृष्णा चली जाने पर, विषय नीरस बन जाने पर, साधुता का उदय हो जाने पर, प्रकाशमय आत्मा ने सामने आ जाने पर तथा हृदय में अपने उदय की पूर्ण भावना हो जाने पर वह विवेकी पुरुष धनों को वैसे ही नहीं चाहता, जैसे अन्धकारों को कोई नहीं चाहता है। पास में विद्यमान रहने पर तो उनका वैसे ही त्याग कर देता है, जैसे घर में से एकदम सूखे उच्छिष्ट पत्तलों का त्याग कर देता है ॥ १-३ ॥

जैसे उपयोगी भी बर्तन आदि ढो ले जाने में असमर्थ पथिकों को दृष्टि से वे केवल भारभूत ही देखे जाते हैं, वैसे ही विवेकी पुरुष की दृष्टि से स्त्री, बन्धु आदि भी भारभूत देखे जाते हैं। परन्तु सहसा उनका त्याग वह नहीं करता, यथाशक्ति और यथासमय धीरे-धीरे उनको छोड़ता जाता है ॥ ४ ॥

इन्द्रियेष्वपि संलग्ना इन्द्रियार्थाः पुनः पुनः ।
न भोगा अनुभूयन्ते नूनं शान्तमनस्तया ॥ ५ ॥
एकान्तेषु दिगन्तेषु सरःसु विपिनेषु च ।
उद्याने पुण्यदेशेषु निजेष्वेव गृहेषु वा ॥ ६ ॥
सुहृत्केलिविलासेषु शुभोद्यानाशनादिषु ।
शास्त्रतर्कविचारेषु न तथा स्थीयते चिरम् ॥ ७ ॥
उपशान्तेन दान्तेन स्वात्मारामेण मौनिना ।
ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन विज्ञानैकान्तवादिना ॥ ८ ॥
एवमभ्यासवशतः परे विश्रम्यते पदे ।
निम्नेवाम्भसि शान्तेन स्वयमेव विवेकिना ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं शान्ताऽज्ञतैवार्थतयोदिता ।

इन्द्रियों में बार-बार लगे हुए भोगरूप इन्द्रियों के विषयों का वह अनुभव नहीं करता है क्योंकि उसका मन अत्यन्त शान्त हो चुका रहता है ॥ ५ ॥

विवेकी जीव, एकान्त स्थानों में, दिगन्तों में, सरोवरों में, जङ्गलों में, उद्यानों में, पवित्र देशों में, अपने ही घरों में, मित्रों की विलासपूर्ण क्रीड़ाओं में, सुन्दर बाग आदि के भोजनों में, शास्त्रों के तर्कपूर्ण विचारों में अज्ञानी के जैसे दीर्घकाल तक स्थित नहीं रहता है ॥ ६, ७ ॥

कदाचित् प्रारब्धवश उन स्थानों में रहने पर भी वहाँ रहकर तत्त्ववित् पुरुष का ही अन्वेषण करता है, क्योंकि वह पूर्ण शान्त-दान्त, अपनी आत्मा में रहने वाला, मौनी और एकमात्र विज्ञानरूप ब्रह्म की कथा में निरत रहता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार अभ्यास के बल से शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही जल में नीचे के भाग के सदृश परम पद में विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

एकमात्र अज्ञान ही इन बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य पदार्थों के रूप में परिणत है, अज्ञान कोई अलग पदार्थ नहीं है, इसलिए अज्ञान की शान्ति ही परम पद है, अथवा बाह्य और आभ्यन्तर जितने अर्थ दिखाई देनेवाले अर्थ आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, इस प्रकार का अन्तिम साक्षात्कारात्मक निश्चय यदि अपने स्वरूपभूत आत्मा में दग्ध लकड़ी की आग के सदृश शान्ति ही परम-पद है ॥ १० ॥

बोधस्वरूप आत्मा के सिवा न तो अर्थों का ज्ञान है और न शून्य ही सिद्ध हो सकता है, इस प्रकार के भीतरी अनुभव में विद्यमान सर्व बाधों की अवधिभूत वस्तु वही परमपद है ॥ ११ ॥

न संभवति भिन्नोऽर्थ इत्येव परमं पदम् ॥ १० ॥
नार्थोपलब्धिनो शून्यमस्ति बोधात्मतां विना ।
इत्यन्तरनुभूतिस्थमाहुस्तत्परमं पदम् ॥ ११ ॥
एकबोधातिसम्बन्धपरिणामान्न बोधता ।
न शून्यता नार्थतेति विद्धि तत्परमं पदम् ॥ १२ ॥
स्वसंविन्मात्रविश्रामवताममनसां सताम् ।
न स्वदन्ते हि विषयाः पयांसि दृषदामिव ॥ १३ ॥
निरोधपदमापन्नो निर्मना मौनमन्थरः ।
स्वभावे स्थित एवास्ते चित्रे कृत इवात्मवान् ॥ १४ ॥
सर्वार्थमर्थरहितं महदेव पराणुवत् ।
अशून्यमेव शून्यात्मा हृदयं वेद्यवेदिनः ॥ १५ ॥

परम पदरूप वस्तु न बोधरूप है, न शून्यरूप है और न अर्थरूप ही है, आप जाने क्योंकि समस्त वस्तुएँ अद्वय बोध के साथ एक रस होकर ही परिणत हैं। अर्थात् यदि बोध के विषय पदार्थ होते, तो उनको लेकर बोधरूपता कह सकते, परन्तु बोध विषय कोई पदार्थ तो त्रिकाल में भी नहीं है, इसी तरह अर्थ न होने के कारण अर्थरूपता भी नहीं है। अर्थों की शून्यता को लेकर परम पद में शून्यता कैसे हो सकती है ॥ १२ ॥

भय की विलय दशा को प्राप्त तथा आत्मतत्त्व साक्षात्काररूप परम पद में विश्रान्त महात्माओं को विषय वैसे ही अच्छे नहीं लगते, जैसे मन शून्य पत्थरों को दूध अच्छे नहीं लगते हैं ॥ १३ ॥

निरोध पद को प्राप्त बहिर्मुख पुरुषों को आत्मनिष्ठा में रुकावट डालने वाले तथा अन्तर्मुख पुरुषों को बाह्य-निष्ठा में रुकावट डालने वाले परमपद में प्राप्त हुआ, मन से रहित मुनि के धर्मों से पूर्ण शरीरिक कार्यों में शिथिल आत्मज्ञानी महात्मा अपने स्वभाव में वैसे ही निश्चल होकर स्थित रहता है, जैसे चित्र में अङ्कित पुरुष ॥१४॥

अवश्य जानने के योग्य आत्मवस्तु को जाननेवाले उस महात्मा का मन अर्थ रहित और सम्पूर्ण अर्थों से पूर्ण भी है, क्योंकि तत्त्वतः सभी तद्रूप हो गये हैं। अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप हो जाने के कारण महान् है और दुर्लक्ष्य होने के कारण परमाणुरूप होकर भी शून्यात्मक है, क्योंकि अहन्ता, जगत् की इच्छा आदि, दिशा और काल की कल्पना आदि तथा ज्ञाता के ज्ञान आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब उसीसे हुए हैं, अतः तद्रूप होने के कारण शून्यरूप नहीं हो सकता और शून्य आदि भी उसीसे हुए

अहन्त्वं जगदोहादि दिक्कालकलनादि च ।
ज्ञस्य ज्ञानादि शून्यादि स्थितमेव न विद्यते ॥ १६ ॥
ज्ञेनामलपदस्थेन दीपेनेव निरस्यते ।
तमो हार्दं तथा बाह्यं रागद्वेषभयादि च ॥ १७ ॥
रजोरहितसर्वांशं सत्त्वात्पारमुपागतम् ।
असंभवत्तमोरूपं प्रणमेत्तं नृभास्करम् ॥ १८ ॥
भेदप्रविलये जाते चित्ते चादृश्यतां गते ।
या स्थितिः प्राप्तबोधस्य न वाग्गोचरमेति सा ॥ १९ ॥
ददात्येतन्महाबुद्धे ! निर्वाणं परमेश्वर ।
अहर्निशं परमया चिरं भक्त्या प्रसादितः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

ईश्वरः को मुनिश्रेष्ठ ! कथं भक्त्या प्रसाद्यते ।
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि सर्वतत्त्वविदांवर ! ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इश्वरो न महाबुद्धे ! दूरे न च सुदुर्लभः ।
महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ २२ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः ।
सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ २३ ॥
तस्मादिमाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
अकारणं कारणतो गतयः पवनादिव ॥ २४ ॥
अनिशं पूजयन्त्येताः सर्वाः स्थावरजङ्गमाः ।
यथाभिमतदानेन सर्वे ते भूतजातयः ॥ २५ ॥
सुबहुन्येष जन्मानि यथाभिमतयेच्छया ।
यदा संपूजितस्तेन प्रसादमधिगच्छति ॥ २६ ॥
प्रसन्नः स महादेवः स्वयमात्मा महेश्वरः ।
बोधाय प्रेरयत्याशु दूतं पूतं शुभेहितैः ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

आत्मना परमेशेन को दूतः प्रेर्यते मुने ! ।
स दूतो बोधनं वाऽपि करोति वद मे कथम् ॥ २८ ॥

हैं, अतः अशून्यरूप भी नहीं है । ऐसी स्थिति में तत्-तद्रूप से स्थित होकर भी नहीं है, यह कहा जा सकता है ॥ १५, १६ ॥

सम्पूर्ण मलों से रहित आत्मपद में स्थिति करनेवाला ज्ञानी अपने हृदय में स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार को तथा बाहर के अन्धकार को एवं राग, द्वेष, भय आदि को दीपक की तरह निकाल देता है ॥ १७ ॥

पुरुषरूपी भास्कर को प्रणाम करना चाहिए, जिसका समस्त अंश रजोगुण से शून्य है, सत्त्वगुण के प्रभाव से अज्ञानसागर से पार और जिसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव है ॥ १८ ॥

श्रीरामजी, मैं आप से कहूँ, जब भेद हट जाता है, चित्त अदृश्य बन जाता है, तब ज्ञानी की जो स्थिति हो जाती है उसका वाणी से कथन हो ही नहीं सकता ॥१९॥

हे महाबुद्धे ! रात-दिन की उत्तम-भक्ति से चिरकाल के बाद प्रसन्न परमात्मा वर्णित परमपदरूप निर्वाण देता है, अन्य नहीं । तप के प्रभाव से या ईश्वर के प्रसाद से मोक्ष मिलता है, ऐसी ही श्रुति की उक्ति भी है ॥ २० ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे समस्त तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ मुनिवर ! कौन ईश्वर है ? और वह भक्ति से कैसे प्रसन्न किया जाता है, यह बात मुझ से आप भलीभाँति कहें ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महामते ! ईश्वर न तो दूरी पर ही स्थित है और न अत्यन्त दुर्लभ ही है, महाबोध रूप, एकरस अपनी आत्मा ही परमेश्वर है ॥ २२ ॥

सब आत्मा के लिए ही है । रथ, घर, महल आदि जितने अचेतन पदार्थ हैं, वे सब चेतन के लिए ही हैं, आत्मा से अतिरिक्त कोई चेतन वस्तु नहीं है । इसलिए सर्वभोक्तृतारूप स्वतन्त्र आत्मा ही है । उसी से सब कुछ होता है सब का कर्ता वही है, वही सब कुछ है आत्मा ही सब का उपादान और अधिष्ठान है, सभी ओर जहाँ देखें वहाँ पर वही नजर में आता है, सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी में हैं । वही भीतर है अर्थात् सूक्ष्म है, वही सर्वमय सर्वगत है, वही सनातन है, उस आत्मरूप परमात्मा को नमस्कार है ॥ २३ ॥

वास्तव में आत्मा कारण नहीं है, किन्तु कारणरूप उसी आत्मा से, पवन से पवन-गतियों की तरह, ये सृष्टि, प्रलय आदि विकार उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

ये स्थावर-जङ्गम पदार्थ और प्राणी सब अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार उपहार सामग्री प्रदान कर उसी आत्मा का निरन्तर पूजन करते हैं ॥ २५ ॥

अनेक जन्मों तक यह आत्मा यथाभिमत इच्छा से पूजित होकर वह उससे प्रसन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

अनेक सत्कर्मों से वह महादेव, महेश्वररूप आत्मा स्वयं प्रसन्न हो, पूजक के पास बोध देने के लिए तत्काल अपना पवित्र दूत भेजता है ॥ २७ ॥

हे मुने ! परमेश्वररूपी आत्मा कौन दूत भेजता है, और वह आकर बोध कैसे देता है, इसको मुझ से कहें ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

आत्मसंप्रेरितो दूतो विवेको नाम नामतः ।
हृद्गुहायां सदानन्दस्तिष्ठतीन्दुरिवाम्बरे ॥ २९ ॥
स एष वासनात्मानं जन्तुं बोधयति क्रमात् ।
संसारसागरादस्मात्तारयत्यविवेकिनम् ॥ ३० ॥
बोधात्मैषोऽन्तरात्मैव परमः परमेश्वरः ।
अस्यैव वाचको नाम प्रणवो वेदसंमतः ॥ ३१ ॥
जपहोमतपोदानपाठयज्ञक्रियाक्रमैः ।
एष प्रसाद्यते नित्यं नरनागसुरासुरैः ॥ ३२ ॥
द्यौर्मूर्द्धा पृथिवी पादौ तारका रोमराजयः ।
भूतान्यस्थीनि हृदयं व्योमाऽस्य परमेश्वरः ॥ ३३ ॥
सर्वत्रैष चिदात्मत्वाद्याति जागर्ति पश्यति ।
तेनैष सर्वतो लक्षकरकर्णाक्षिपादभृत् ॥ ३४ ॥
विवेकदूतमुद्बोध्य हत्वा चित्तपिशाचकम् ।
आत्मनः पदवीं स्फारां जीवः कामपि नीयते ॥ ३५ ॥
त्यक्त्वा सर्वविकल्पौघान्विकारानर्थसङ्कटान् ।
पौरुषेणात्मनैवात्मा स्वयमेव प्रसाद्यताम् ॥ ३६ ॥
भ्रमन्मनःपिशाचेऽस्मिन् कल्लोलजलदाकुले ।
संसाररात्रितिमिरे स्वात्मैवापूर्णचन्द्रमा ॥ ३७ ॥
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरे ।
तृष्णातरङ्गतरले स्वमनश्चण्डमारुते ॥ ३८ ॥
महाजडलवाधरे संसारविषमार्णवे ।
इन्द्रियग्राहगहने विवेकः पोतको महान् ॥ ३९ ॥
पूर्वं यथाभिमतपूजनसुप्रसन्नो
दत्वा विवेकमिह पावनदूतमात्मा ।
जीवं पदं नयति निर्मलमेकमाद्यं
सत्सङ्गशास्त्रपरमार्थपरावबोधैः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकमाहात्म्यं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—आत्मदेव के द्वारा भेजे गये दूत, उसका शब्दतः नाम विवेक है वह सदा आनन्द देने वाला है, उक्त पुष्पवान् अधिकारी की हृदयगुहा में आकर, आकार में चन्द्रमा की तरह स्थिर हो जाता है ॥ २९ ॥

विवेक नामक दूत क्रमशः वासनारूप प्राणी को बोध देता है और अविवेक नामक दूत क्रमशः वासनारूप प्राणी को बोध देता है और अविवेकी को इस संसार-सागर से पार कर देता है ॥ ३० ॥

समस्त जगत् का प्रकाश करने वाला ज्ञानरूप अन्दर का आत्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है, वासनारूप आत्मा परमेश्वर नहीं है इसी परम परमेश्वर का बोधक वेद सम्मत प्रणव ॐकार है ॥ ३१ ॥

जप; होम, तप, दान वेदपाठ, यज्ञ और क्रियाक्रमों से निरन्तर इसी आत्मा को नर, नाग, देवता और दानव प्रसन्न करते हैं ॥ ३२ ॥

इसी परमपिता परमात्मा का द्यौ मस्तक है, पृथ्वी पैर है, तारे रोम हैं, भूत अस्थि हैं, आकाश हृदय है और यही सब का अन्तरात्मा है ॥ ३३ ॥

चैतन्यात्मा होने से यही सब जगह जाता जागता और देखता है, इसलिए यही आत्मा लाखों, हाथ, पैर, कर्ण, चक्षु और पैरों का चारों ओर से धारण करता है ॥ ३४ ॥

विवेकरूपी दूत को जगाकर और चित्तरूपी पिशाच का विनाशकर यही चिदात्मा जीव को अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति पैदा करा देता है ॥ ३५ ॥

समस्त सङ्कल्प-विकल्पों का, विकारों का और अर्थ सङ्कटों का परित्याग कर अपने ही पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को स्वयं ही प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥ ३६ ॥

मनरूप पिशाच जिसमें घूम रहा है, काम, क्रोधरूप काले मेघों से जहाँ सदा व्याकुल रहता है, ऐसे संसार रात्रि के घने अन्धकार में अपना आत्मा ही पूर्ण चन्द्रमा है ॥ ३७ ॥

अगाध एवं मरणरूप भँवरों के कल्लोलों से व्याकुल कोटरों से युक्त, तृष्णारूपी तरङ्गों से तरल, अपने मनरूपी झंझावातों से युक्त, स्थावर आदि बड़े-बड़े भूतरूप जल-कणों से व्याप्त, संसाररूपी बड़े विषम सागर को पार करने में, इन्द्रियरूप मकरों से अतिगहन है, विवेक ही इसके लिए एक बड़ा भारी जहाज है ॥ ३८-३९ ॥

पूर्व वर्णित शास्त्रविहित पूजन से प्रसन्न आत्मा परम विवेकरूप परम-पवित्र दूत भेजकर सत्सङ्ग, शास्त्र और परमार्थ वस्तु के उत्तम बोधन द्वारा जीव को अद्वितीय, निर्मल और सर्वोच्च पद प्राप्त कराता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में विवेकमाहात्म्य नामक कुसुमलता का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

४८

वसिष्ठ उवाच

परिपुष्टविवेकानां वासनामलमुज्झताम् ।
महत्ता महतामन्तः काप्यपूर्वैव जायते ॥ १ ॥
औदार्योदारमर्यादां मतिं गम्भीर्यसुन्दरीम् ।
महतां नावगाहन्ते भुवनानि चतुर्दश ॥ २ ॥
चित्तभ्रान्तिर्जगदिति प्ररूढे प्रत्यये सताम् ।
बाह्यश्चान्तश्चरन्नक्रग्रहो मोहश्च शाम्यति ॥ ३ ॥
द्वीन्दुवत्तापजलवत्केशोण्ड्रकवदम्बरे ।
विस्फुरन्त्यां जगद्भ्रान्तौ वासनाप्रत्ययः कुतः ॥ ४ ॥
वासनाप्रत्यये शून्ये शून्यं व्योमैव शिष्यते ।
साऽप्यवस्था मनोऽसत्त्वे कुतस्त्याज्या विवेकिना ॥ ५ ॥
त्रयमेतत्तु याऽवस्था त्रयेणानेन वर्जिता ।
पश्यन्तीवाप्यपश्यन्ती साऽवस्था परमोच्यते ॥ ६ ॥
विचित्ररत्नरश्म्योघ इव नानात्मकं जगत् ।
आभासमात्रं न त्वात्मा न घनं न च पार्थिवम् ॥ ७ ॥
रूपालोकनमात्रं न शून्यमेव जगत्स्थितम् ।
खे विचित्रमणिव्यूहकरजालमिवोत्थितम् ॥ ८ ॥
नेह सत्यानि भूतानि न जगत्ता न शून्यता ।
इदं ब्रह्माख्यरत्नेशप्रभाजालं विजृम्भितम् ॥ ९ ॥

४९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—

विवेकज्ञान से परिपुष्ट वासनारूपी मल का परित्याग करने वाले महात्माओं के अन्दर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

औदार्य की सर्वश्रेष्ठ अवधिभूत तथा गाम्भीर्यगुण से अतिसुन्दर महात्माओं की बुद्धि को चौदह भुवन तथा उनके सभी प्राणी एवं वहाँ की सारी सम्पतियाँ भी लुब्ध नहीं कर सकती हैं ॥ २ ॥

यह सारा संसार चित्त की एकमात्र भ्रान्ति है, सज्जनों को ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाने पर बाहर शब्दादि विषयों के लिए उत्पन्न होने वाला तथा भीतर सङ्कल्प विकल्पादि रूपों से भ्रमण करनेवाला हृदय के भीतर और बाहर दोनों जगह संचार करने में समर्थ मनसहित इन्द्रियों का समूहरूपी एक तरह का नक्र तथा उसका मूलभूत अज्ञान एवं वासना, काम, कर्म आदि सबके सब शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

दो चन्द्रमा के समान मृगतृष्णा के जल के समान तथा आकाश में केशोण्ड्रक के समान जगत् की भ्रान्ति वस्तुतः भ्रान्ति है, ऐसा तत्त्वबोध द्वारा स्फुरित हो जाने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष को वासना की प्रतीति कहाँ से हो सकती है ? अर्थात् जबतक भ्रान्तियों में सत्यत्व का अभिमान रहता है तभी तक भोगों की वासना की वृद्धि भी रहती है । भ्रान्तिरूप से स्फुरण होने पर ये जगत् की सारी भ्रान्तियाँ वस्तुतः भ्रान्तिरूप ही हैं, ऐसा ज्ञान हो जाने पर तो मूल का उच्छेद हो जाने के कारण उन वासनाओं का भी उच्छेद लोक में प्रसिद्ध ही है ॥ ४ ॥

वासना की प्रतीति का नाश होने पर शून्य चिदाकाश ही शेष रह जाता है और वह वासना की शून्यावस्था भी मन के न रहने पर ही सिद्ध होती है । अतः वासनाशून्य मनरहित अवस्था सप्तम भूमिका में विवेकी पुरुष से प्राप्त है उसका भला त्याग कैसे किया जा सकता है ? उसके त्याग में कोई कारण नहीं है ॥ ५ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ सभी को भली-भाँति ज्ञात हैं । परन्तु इन तीनों से शून्य चौथी अवस्था दर्शन आदि व्यवहारों के मूल का बाध हो जाने पर सांसारिक पदार्थों को न देखती हुई भी एकमात्र जीवन के हेतु भूत प्रारब्ध के शेष रह जाने से देखती हुई सी अन्य की दृष्टि में भासमान होती है । तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तो यही परमावस्था कही जाती है ॥ ६ ॥

सप्तम भूमिका में स्थित तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् व्युत्थान काल में भी नहीं भासमान होता और न आत्मा, न घन तथा न पृथिवी आदि से घटित कोई पदार्थ ही भासमान होता है, विचित्र तरह का एक रत्नों का किरण-जाल के समान निबिडित प्रभा-पुञ्ज-सा आभास मात्र भासमान होता है ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञानी महानुभावों की दृष्टि में यह सारा जगत् रूपों का आलोक मात्र, आकाश में विचित्र मणि समूह के किरण जाल के समान उत्थित, एकमात्र शून्य स्वरूप ही स्थित है ॥ ८ ॥

इस संसार में न तो नाना प्रकार के जीव सत्य हैं, न यह जगत्-रूप सत्य है और न कहीं शून्यता ही है, किन्तु ब्रह्म नामक रत्नेश का प्रभाजाल ही सर्वत्र विजृम्भित है उसी का चारों ओर विलास हो रहा है ॥ ९ ॥

सृष्टयोऽसृष्टयो ब्राह्मयो नानाता च न नाशताः ।
अमूर्ता एव भासन्ते कल्पनार्कगणा घनाः ॥ १० ॥
एवं तावद्घनीभूतः पिण्डग्राहो न विद्यते ।
सङ्कल्पिते च व्योम्नीव शून्यतैवावगम्यते ॥ ११ ॥
तस्यामवस्तुभूतायां कथं भावनिबन्धनम् ।
भविष्यदाकाशतरौ विश्रान्तः को विहङ्गमः ॥ १२ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यता च न विद्यते ।
चित्तमप्यत एवास्तं शेषं सत्तन्न चास्थिति ॥ १३ ॥
अनाना सममेवास्ते नानारूपं विबोधवान् ।
अन्तरालीननानार्थो यथा कनकपिण्डकः ॥ १४ ॥
यथास्थितस्य साहन्त्वं विश्वं चित्तं विलीयते ।

अनेकता न होने से ब्रह्म की सृष्टियां भी नहीं हैं। नाशता नहीं है, अतः प्रलय भी नहीं हैं, किन्तु मूर्तिशून्य कल्पना रूपी अनेक सूर्यों की ही किरणें एकत्रित होकर यहां भासमान हो रही हैं ॥ १० ॥

इस प्रकार कल्पना ही मूर्तिमान् जगद्रूप से भासमान होती है। वास्तव में यहाँ घनभूत कोई पिण्डग्रहण नहीं है, क्योंकि जैसे आकाश में एकमात्र शून्यता अवगत होती वैसे ही सङ्कल्पकल्पित मनोराज्य आदि में एकमात्र शून्यता ही अवगत होती है अर्थात् मनोराज्य आदि में सङ्कल्पकल्पित मूर्ताकार पदार्थों की तो शून्यता ही प्रसिद्ध है, पिण्डरूप से उनका ग्रहण प्रसिद्ध नहीं है ॥ ११ ॥

अवस्तुभूत उस शून्यता में विवेकी पुरुष को अहन्ता ममता, राग-द्वेष आदि भावों का बन्धन भला कैसे हो सकता है, क्योंकि भविष्यत् आकाशरूपी वृक्ष में किस पक्षी ने विश्रान्ति प्राप्त की है ॥ १२ ॥

इन सांसारिक जीवों की कोई पिण्डता नहीं है वस्तुतः कोई मूर्ति नहीं है और न शून्यता ही विद्यमान है। यही कारण है कि चित्त भी अस्त हो चुका है और एकमात्र सद्रूप ही शेष रह गया है, उसका किसी तरह अपलाप नहीं हो सकता वह सदा स्थित है अर्थात् इस तरह संसार में पिण्डत्वादि का खण्डन हो जाने सर सार-रूप से सन्मात्र ही शेष रह जाता है ॥ १३ ॥

जाग्रदवस्था में अनेक प्रकार के रूपों से सम्पन्न होने पर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष एकरूप हो समानभाव से सुषुप्ति में ही स्थित रहता है, क्योंकि उसकी अनेकता सन्मात्र आत्मा में वैसे ही लीन हुई रहती है, जैसे नाना प्रकार के सुवर्ण के आभूषण सुवर्ण के पिण्ड में लीन रहती है ॥१४॥

चिदेकस्वभाव में स्थित ज्ञानी का अहङ्कार सहित

ज्ञस्याऽवाच्यमचित्त्वं सत्स्वरूपमवशिष्यते ॥ १५ ॥
क्लिश्यते केवलं बुद्धिरुत्तराधरदर्शनैः ।
स्तोकयाऽभ्यस्तया युक्त्या सत्योऽर्थो ह्यवगम्यते ॥१६॥
विराडोजोविरहितं कार्यकारणतादिभिः ।
भूतभव्यभविष्यस्य जगदङ्गस्य सम्भवम् ॥ १७ ॥
येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते ।
अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते ॥ १८ ॥
पूर्वोक्ताः सर्व एवैते उपदेशा विशेषणाः ।
ज्ञस्यानुभवमायान्ति सतः साधुकथा इव ॥ १९ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यत्वं चाप्यसम्भवात् ।
अत एव मनो नास्ति शेषं सत्तत्व स्थितिः ॥ २० ॥

सारा संसार और चित्त तत्त्वज्ञान से विलीन हो जाता है इसलिए वह सत्स्वरूप से ही अवशिष्ट रह जाता है। उस समय ज्ञानी का परिशिष्ट चिदेकरस अचिद्रूप है, यह नहीं कहा जा सकता अतः उस समय चिदेकरस सन्मात्र के परिशेष की ही सिद्धि हो जाती है ॥ १५ ॥

ऊँच-नीच विषयों की ओर दौड़ने से बुद्धि क्लेश पाती है, इसलिए वह सन्मात्रस्वरूप सबको सुलभ नहीं है। धीरे-धीरे युक्ति का अभ्यास करने से सत्य अर्थ अवगत हो जाता है अर्थात् ऊँच-नीच विषयों में बुद्धि की चंचलता के कारण स्थिरता का अभाव होने से ही वह स्वरूप सबको सुलभ नहीं है ॥ १६ ॥

जिस अधिकारी पुरुष ने भूत, भविष्य और वर्तमान इस जगद्रूपी अङ्ग के जन्म को कार्य-कारणता आदि से विचार कर वाचारम्भण श्रुति में प्रदर्शित न्याय के द्वारा स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च रहित परिशिष्ट सन्मात्र अखण्ड बोधरूप से जान लिया है वही सचमुच तत्त्वज्ञानी है तथा उस द्वैतशून्य उपशान्त ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में यह संसार नहीं है ॥ १७-१८ ॥

ये सभी मेरे विशेष रूप के उपदेश, साधु पुरुषों की कथा की तरह, ज्ञानी के अनुभव में स्वतः आ जाते हैं। अर्थात् सभी उपदेशों का तत्-तत् असंभावनांश के व्यावर्तक हैं, उस तरह के अनुभव में ही पर्यवसान है ॥ १९ ॥

चार तरह के प्राणि-समूहों तथा पृथिवी आदि महाभूतों का एक-एक अवयव तथा एक-एक गुण से विवेचन करके देखने पर दिखाई दे रहे इन पदार्थों की परमाणु भाव में विश्रान्ति न होने से इन सभी जीवों में न तो पिण्डता है और न प्रत्यक्षादि के असंभव से शून्यता ही है अर्थात् न तो इन सब जीवों की कोई मूर्ति है

चेत्योन्मुखत्वमेवान्तश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
उदितं तदनर्थाय श्रेयसेऽनुदितं भवेत् ॥ २१ ॥
उदितं बाह्यतामेति तत्र गच्छति पिण्डताम् ।
स्वयं संवेदनादेव जाड्यादम्बिवव शैलताम् ॥ २२ ॥
स्वप्नाद्यर्थवदादत्ते बोधोऽबोधेन पिण्डताम् ।
तद्ग्राहकतया चित्तं भूत्वा बध्नाति देहकम् ॥ २३ ॥
एतावतीष्ववस्थासु बोधस्योदेति नान्यथा ।
शब्दकल्पनया भेदः केवलं परिकल्पितः ॥ २४ ॥
बहिरन्तश्च बोधस्य भात्यात्मैवार्थदृष्टिभिः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन नैवास्य मनसो यथा ॥ २५ ॥
बोधस्याऽऽकाशकल्पत्वात् कालाकाशादि तद्वपुः ।

और न ये सब शून्यरूप ही हैं। इन दोनों के न रहने से सम्पूर्ण विकल्पों का नाश हो जाने के कारण विकल्पों के अधीन स्थितिवाला मन भी नहीं है। इसलिए निर्विकल्पक सन्मात्ररूप स्फुरण ही अवशेष है। वही अपका पारमार्थिक रूप है और वही आपकी अन्तिम स्थिति है ॥ २० ॥

इस प्रत्यगात्मा का साक्षी चेतन का विषयों की ओर उन्मुख होना ही संसाररूप से बोध है। यह अनर्थ के लिए ही उदित होता है, कल्याण के लिए उदित नहीं होता ॥ २१ ॥

जैसे जड़ता के कारण जल ही जम करके पत्थररूपता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही संसाररूप से उदित वह बोध बाह्यरूपता को प्राप्त करता है और बाद में स्वयं संवेदन के कारण वह साकारपिण्डरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

चिदात्मा ही अपने स्वरूप के अज्ञान से स्वप्नकाल के पदार्थों के समान पदार्थों के मूर्तिमान् आकार को धारण करता है तथा उसके ग्राहकरूप से चित्त बनकर फिर शरीरधारण कर लेता है ॥ २३ ॥

इन सभी अवस्थाओं में चिदात्मा अपने स्वरूप से अन्यरूपता को प्राप्त करता है। केवल शब्दमात्र की कल्पना से ही भेद की कल्पना की गई है अर्थात् इस तरह के हजारों विवर्तों से भी चिति में अणुमात्र भी विकार नहीं आता, क्योंकि वे सभी नाममात्र के ही रहते हैं ॥ २४ ॥

स्वप्न में मन से पदार्थों का अवलोकन होने पर मन के ही बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान रहने से एकमात्र मन ही विकृतरूप से भासमान होता है, विकृतरूप से यह बोधात्मा अर्थ दृष्टियों से बाहर-भीतर भासमान होनेपर

पदार्थाश्चैव खात्मानः स्वप्नवन्नार्थरूपि खम् ॥ २६ ॥
बाह्यार्थता नान्तरत्वं तद्वद्बोधवशाद्व्रजेत् ।
नासादृश्यं हि बोधत्वं गन्तुं शक्तं जडं क्वचित् ॥ २७ ॥
बोधो दृश्यदशां नैति प्राप्तो वापि च तां स्थितिम् ।
स यथास्थितमेवास्ते मनागप्येति नान्यताम् ॥ २८ ॥
अत्यर्थं शुद्धबोधैकपरिणामे कृतोदये ।
बोधाबोधार्थशब्दानां श्रुतिरप्यस्तमेष्यति ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहानां चित्तानामेव जायते ।
आधिभौतिकताबोधो दृढभावनया स्वया ॥ ३० ॥
आकाशविशदैश्चित्तैर्भावितैषाऽऽतिवाहिकैः ।
आधिभौतिकता मिथ्या नटैरिव पिशाचता ॥ ३१ ॥

भी नहीं भासमान होता है ॥ २५ ॥

आकाश के सदृश होने से चिदात्मा भी आकाश और काल के समान अविकृत ही रहता है तथा उसका शरीर भी काल और आकाशरूप ही है। सभी पदार्थ चिदाकाश-रूप हैं। वह चिदाकाश स्वप्न के समान अर्थाकार से परिणत नहीं होता है ॥ २६ ॥

जड़ बाह्य पदार्थता भी तत्त्वबोधवश भीतर स्थित चिदाकाररूप से विकृत वैसे ही नहीं हो सकती, जैसे जड़ बाह्य पदार्थों के आकार से चिति विकृत नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा असदृश जड़ पदार्थ कहीं भी बोधरूप नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

दृश्य दशा को चिदात्मा प्राप्त नहीं करता है। अथवा विवर्तवश उस दृश्य स्थिति को यदि प्राप्त हो जाता है, तो भी वह अविकृत ही बना रहता है। तनिक भी अन्य रूपता को नहीं प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सर्वथा शुद्ध बोधस्वरूप एक आत्मा का सप्तम भूमिका में परिणतिरूप उदय हो जोनेपर बोध और अबोध रूपी अर्थ और शब्द का भी श्रवण समाप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

मन की दृढ़ भावना से ही चित्तस्वरूप सूक्ष्म शरीरों की स्थूलदशा प्राप्त हो जाती है दृढ़भावना से ही चितरूप लिङ्ग शरीरों में आधिभौतिकरूपता का बोध होता है अर्थात् जिस मन की भावना से यह दृश्यप्रपञ्च दृढ़ हो जाता है उसी मन की भावना से यह सारा दृश्यप्रपञ्च शिथिल भी हो जाता है ॥ ३० ॥

जैसे कि पिशाचवेष का अभिनय करने के लिए नटों द्वारा मिथ्या पिशाचरूपता भावित होती है वैसे ही आकाश के समान विशद इन सूक्ष्म चित्तों के द्वारा मिथ्या

भ्रान्तिरभ्रमणाभ्यासात्प्रज्ञातैषोपशाम्यति ।
नोन्मत्तोऽस्मीति सम्बोधाच्छाम्यत्युन्मत्तता किल ॥३२॥
भ्रान्तिः स्वयं परिज्ञानाद्वासना विनिवर्तते ।
स्वप्ने स्वप्नतया बुद्धे कस्य स्यात्किल भावना ॥३३॥
वासना तानवेनैव संसार उपशाम्यति ।
वासनैव महायक्षिण्येतच्छेदपरा बुधाः ॥ ३४ ॥
अज्ञानोन्मत्तता पुंसां यथाऽभ्यासेन भाविता ।
तथैव बोधात्स्वभ्यासात्सा कालेनोपशाम्यति ॥ ३५ ॥

आधिभौतिकरूपता भावित हुई है, तात्पर्य यह है कि पिशाचबेष का अभिनय करने के लिए जैसे मिथ्या पिशाचवेष को नट धारण करते हैं वैसे ही इन चित्तों ने यह मिथ्या भौतिकरूप धारण किया है ॥ ३१ ॥

जैसे कि 'मैं उन्मत्त नहीं हूँ' इस दृढ़ ज्ञान से उन्मत्त पुरुष की निःसन्देह उन्मत्तता शान्त हो जाती है वैसे ही सत्यस्वरूप के अभ्यास से भली-भाँति स्वरूपतः ज्ञात यह सांसारिक भ्रान्ति शान्त हो जाती है ॥ ३२ ॥

भ्रान्ति का परिज्ञान होने से वासना स्वयं निवृत्त हो जाती है। स्वप्न का स्वप्नरूप से ज्ञान हो जाने पर किस पुरुष को स्वाप्निक पदार्थों में सत्यत्व की वासना हो सकती है ॥ ३३ ॥

वासना के क्षय मात्र से ही यह संसार उपशान्त हो जाता है। यह वासना ही महायक्षिणी है। विवेकी महानुभाव लोग इसके नाश में लगे रहते हैं ॥ ३४ ॥

जैसे पुरुषों के अभ्यास से अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता उत्पन्न हुई रहती है वैसे ही ज्ञान हो जानेपर अपने उस ज्ञान के अभ्यास से धीरे-धीरे समय पाकर वह नष्ट भी हो जाती है ॥ ३५ ॥

विवेक की पुरुष लोग अभ्यास द्वारा दृढ़ स्थिति के प्रसाद से इस सूक्ष्म शरीर को ब्रह्माहंभाव की एकमात्र वासना में वैसे ही पहुँचा देते हैं जैसे भावना के बल से यह सूक्ष्म शरीर स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

इस सूक्ष्म शरीर को भी अहंभाव की एकमात्र वासना में ले जा कर वहाँ से जीवरूपता को प्राप्त करा देते हैं और फिर उस जीव को भी अपने दृढ़ बोध के अभ्यास से ब्रह्मस्वरूप में पहुँचा देते हैं ॥ ३७ ॥

बाह्य तथा आध्यात्मिक भावों के प्रति आत्मा का अतिवाहन करनेवाले वासना समूह का नाम अतिवाह है तथा उससे उत्पन्न लिङ्ग शरीर को 'अतिवाहिक' कहते हैं।

आतिवाहिकदेहोऽयमाधिभौतिकतां यथा ।
नीयते भावना तज्ज्ञैर्बोधसत्ताप्रसादतः ॥ ३६ ॥
आतिवाहिकदेहोऽपि नीत्वा जीवपदं तथा ।
दृढेन बोधाभ्यासेन नेतव्यो ब्रह्मतामपि ॥ ३७ ॥
स्ववस्तुवच्चेदुत्पत्तिर्बुध्यते बोधरूपिणी ।
तदाऽऽतिवाहिकी बुद्धिः कथमित्यपि बुध्यते ॥ ३८ ॥
नो चेत्तत्प्रतिवाक्यार्थात्तद्ग्रन्थिर्विनिवर्तते ।
भूतोत्सादनसूत्रस्य प्रतिपत्तृपदं यथा ॥ ३९ ॥

समस्तभाव पदार्थों के प्रथम विकार का नाम उत्पत्ति है। वह यदि विचार के बाद कूटस्थ बोधमात्रस्वरूपिणी ज्ञात हो जाय, तो फिर वह सूक्ष्म शरीर विषयक बुद्धि कैसी है, यह भी ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है। कूटस्थ बोध स्वभाव से अलग किसी भाव पदार्थ की उत्पत्ति का निरूपण नहीं हो सकता। क्या वह उत्पत्ति पहले स्वयं उत्पन्न हो भावों को अपने से विशिष्ट बनाकर स्थित है या बिना स्वयं उत्पन्न हुए ही? इसमें यदि आप दूसरा पक्ष मानते कहते हैं, तो उस पक्ष में तो सींग भी खरहे को अपने से विशिष्ट बना सकता है। पक्ष तो स्वयं उत्पत्त्यादि से विशिष्ट वह भाव पदार्थरूप मानने पर तो निर्विकार भावों की अनवस्था ही बनी रहेगी, अतः वह निश्चित है कि किसी के उत्पत्ति आदि वकारों का कोई भी विद्वान् किसी तरह से निरूपण नहीं कर सकता है। इसलिए जब इस प्रकार का ज्ञान हो गया कि कितने भावपदार्थ हैं वे सबके सब कूटस्थ बोधरूप ही हैं। ऐसी स्थिति में कौन किसके लिए किसा अतिवहन करे या अतिवहन भी किस रूप का हो अथवा कौन-सी उसकी अन्य बुद्धि है। वह भी ज्ञात हो जाती है ॥ ३८ ॥

जैसे कि भूत-प्रेतादि को दूर भगानेवाले मन्त्रों के अन्तर्गत 'हुं' 'फट्' आदि पद अर्थ रहित हैं। यदि ऐसा न हो तो वैसे ही ब्रह्मप्रतिपादक महावाक्यों के अर्थ से संसार की ग्रन्थि निवृत्त हो जाती है, यह कहना भी वैसे ही बिना अर्थ का सिद्ध होगा। अर्थात् इसी रीति से 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ का शोधन होनेपर सम्पूर्ण महावाक्य अखण्ड अर्थ के बोधन द्वारा सम्पूर्ण सन्देहों के ग्रन्थि-भेदन में समर्थ होते हैं।' अन्यथा वे भूत-प्रेतों को भगाते समय पढ़े जा रहे मन्त्रों के भीतर आये हुए 'हुं' 'फट्' आदि पदों की तरह बिलकुल अनर्थक सिद्ध होंगे। वे सभी महावाक्य एकमात्र श्रवण के बल से प्राणी को इस संसार से छुटकारा दिला देते हैं ॥ ३९ ॥

जगद्बोधैकतां बुद्ध्वा बोद्धव्या तावदव्रणम् ।
अत्यन्तपरिणामेन यावत्साऽपि न बुध्यते ॥ ४० ॥

स बाह्याभ्यन्तरे चित्ते शान्ते भाति स्वभावता ।
शीतलां व्योमनिर्भासां तामेवाश्रित्य शाम्यताम् ॥४१॥

ज्ञानवान् ज्ञानयज्ञस्थो ध्यानयूपं विरोपयन् ।
जगद्विजित्य जयति सर्वत्यागैकदक्षिणः ॥ ४२ ॥

पतत्यङ्गारवर्षे च वाति वा प्रलयानिले ।
भूतले व्रजति व्योम्नि सममास्ते ज्ञ आत्मनि ॥ ४३ ॥

वैतृष्ण्यशान्तमनसो निरोधममलमीयुषः ।
स्थितिर्वज्रसमाधानं विना नान्योपपद्यते ॥ ४४ ॥

'तत्' पदार्थ के शोधन के लिए पहले 'वाचारम्भण' न्याय से जगत् तथा इसके कारणभूत ईश्वर के स्वरूप की एकता को जान कर 'त्वं' पदार्थ के शोधन के लिए 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इस श्रुति के द्वारा दिखलाये गये मार्ग से प्रत्यक् चैतन्य को भी असङ्ग अद्वय समझना चाहिए। इन दोनों पदार्थों के अखण्डैकरस वाक्यार्थरूप अत्यन्त परिणाम द्वारा वह अखण्डाकारवृत्ति भी नहीं जानने तक साधक मनुष्य को इन दोनों पदार्थों के शोधन में तत्पर रहना चाहिए ॥ ४० ॥

बाह्य तथा आभ्यन्तर चित्त के शान्त हो जानेपर अपनी चित्स्वभावता प्रकाशित होती है, इसलिए प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह आकाश की तरह पूर्ण स्वच्छ तथा शीतल उसी चित्स्वभावभावता का आश्रयण कर शान्त हो ॥ ४१ ॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूपी यज्ञशाला में उपस्थित हो ध्यान रूपी अत्यन्त दृढ़ और लम्बे यज्ञस्तम्भ को नीचे दूर तक जमीन खोदकर गाड़ता है तथा सारे संसार को जीतकर सर्वत्यागरूप मुख्य दक्षिणा दे कर सबसे उत्कृष्ट बनकर विराजमान रहता है ॥ ४२ ॥

चाहे अङ्गारों की वृष्टि हो, प्रलय काल की वायु बहे या यह भूतल आकाश में उड़कर चला जाय, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप में ही समरूप से स्थित रहता है ॥ ४३ ॥

[वज्र की तरह दृढ़ वैराग्य एवं शान्ति सुखोत्कर्ष की स्थिरता से भी उसका वर्णन करते हैं ।]

पूर्ण वैराग्य से सर्वथा शान्त मन तथा पूर्ण निरोध को प्राप्त किए हुए पुरुष की वज्र तुल्य, दृढ़ समाधि के अतिरिक्त कोई दूसरी स्थिति उत्पन्न नहीं होती है ॥ ४४ ॥

यथा बाह्यार्थवैतृष्ण्येनोपशाम्यत्यलं मनः ।
न तथा शास्त्रसन्दर्भैर्नोपदेशतपोदमैः ॥ ४५ ॥

मनस्तृणस्य सर्वार्थवैतृष्ण्याग्निर्विबोधितः ।
सर्वत्यागानिलैः सम्पदत्यापदिति भावनात् ॥ ४६ ॥

बहिरन्तश्च मोहश्च पिण्डग्राहोऽर्थवेदनम् ।
ज्ञप्तिरेवेति कचति ज्ञात्वा मणिरिवाऽऽत्मनि ॥ ४७ ॥

नरनागासुरागारगिरिगह्वरदृष्टिभिः ।
चितिरेवेति विसृता धूमोऽम्बुदतयेव खे ॥ ४८ ॥

वेपन्ते चिद्द्रवत्वेन ब्रह्माण्डजडभाण्डगाः ।
स्वविवर्ततरङ्गिण्यो जीवशक्त्या पतद्रसाः ॥ ४९ ॥

जैसे बाह्य पदार्थों से वैराग्य होनेपर मन पूर्णरूप से शान्त होता है, वैसा वह शास्त्रों के विचार, उपदेश, तप या इन्द्रियों के निग्रह से भी नहीं होता है ॥ ४५ ॥

'सारी सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं'—इस तरह की भावना से मनरूपी महातृष्णा के बीच में सर्वत्यागरूप अनिल से विबोधित सब पदार्थों से उत्पन्न वैराग्यरूपी अग्नि परब्रह्मसाक्षात्कार ज्वालारूप से प्रज्वलित हो बाहर और भीतर सर्वत्र प्रसिद्ध मोहान्धकार तथा मोहान्धकार प्रयुक्त चोर, यक्ष आदि की कल्पना के तुल्य ब्रह्माण्ड का भूत-भौतिक मूर्तरूपी ब्रह्माण्ड का साकार ज्ञान एवं चक्षु आदि इन्द्रियों से रूप; रस आदि पदार्थों का अनुभव सब चिदात्मा ही है—इस प्रकार एकमात्र अखण्ड-अद्वय स्वभाव सबको बनाकर वैसी देदीप्यमान होती है, जैसे कि वज्रादिमणि अपने में प्रतिबिम्बित वस्तुओं को अपने स्वरूप में मिलाकर उन्हें प्रकाशित कर स्वयं देदीप्यमान होते हैं ॥ ४६–४७ ॥

जैसे आकाश में मेघों के रूप से धूम आदि वैचित्र्य को प्राप्त करते हैं वैसे ही मनुष्य नाग तथा असुर एवं उनके स्थान पर्वत तथा गुफा आदि के रूपों से वह चिति ही नाना प्रकार के वैचित्र्य को प्राप्त है ॥ ४८ ॥

चित्-रूप द्रवता के कारण ब्रह्माण्डरूपी जडपात्र के अन्दर चली गई तथा जीवरूप प्राणशक्ति से सरस बनी हुई ये चिद्विवर्तस्वरूप सम्पूर्ण प्राणियों की देहरूपी नदियां निरन्तर बह रही हैं अर्थात् ब्रह्माण्ड के भाण्ड के अन्तर्गत सभी वस्तुओं में—चिद्व्याप्ति के अधीन स्पन्दन होने से चिद्विवर्तमात्रता है ॥ ४९ ॥

जीवकाजीर्णशफरी व्योमवारिविहारिणी ।
मोहजालेन वलिता न स्मरत्यात्मनि स्थितिम् ॥ ५० ॥
घनीभूता घनत्वेन चिद्घना गगनाङ्गणे ।
नानापदार्थरूपेण स्फुरति स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ५१ ॥
सर्वे एव समा जीवा वासनामन्तरेण च ।
शुष्कपर्णवदुड्डीना जडाः श्वसनवेणवः ॥ ५२ ॥
आहृत्य पौरुषबलान्यवजित्य तन्द्री-
मुत्थाय तर्जितसमर्जितवासनौघम् ।
संसारपाशनधनपञ्जरमञ्जसैव
भङ्क्त्वाऽभ्युदेयमभितो ज्ञसमेन भाव्यम् ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वोपशान्तिनामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

चिदाकाशरूपी जल में विहार करने वाली बेचारी जीवरूपी जीर्ण मछली मोहजाल में फँस जाने के कारण अपनी आत्मा में स्थिति का स्मरण नहीं करती है । इन चार प्रकार के शरीररूपी चिति के विवर्तस्वरूप नदियों के अन्दर रहने वाली जीवरूपी मछलियाँ मोहजाल में फँस जाने के कारण स्वतत्त्व का स्मरण नहीं करती है ।।५०।।

अपने स्वरूपभूत आकाशरूपी आंगन में अपने से ही घनीभूत यह चिति मेघ बनकर स्थित हो पृथिवी आदि मूर्ताकार नाना पदार्थों के रूप से स्फुरित हो रही है ।।५१।

अर्थात् सभी जीवों का स्वभाव एक रहने पर भी वासना की विचित्रता से उन्हें सांसारिक दुःख भी विचित्र प्रकार के ही प्राप्त होते हैं, और कोई दूसरा कारण नहीं है वासनावैचित्र्य से अतिरिक्त अन्य अंश में सभी जीव समान हैं । विषयवासना रहने से ही सूखे पत्तों की तरह उड़-उड़कर वे विचित्र तरह की स्वर्ग, नरक आदि भोग भूमियों में जा गिरते हैं, स्वत: नहीं । क्योंकि जैसे वायु भरे बांस अङ्गुलि व्यापार के बिना भी विचित्र ध्वनि पैदा करने में समर्थ होते हैं वैसे ही सबमें बराबर जडोपाधि के कारण वासना के बिना भी जड़ पदार्थ प्राणयुक्त रहने पर विचित्र तरह के शब्द करने में समर्थ होते हो हैं ॥ ५२ ॥

इसलिए सर्वप्रथम अपने पौरुषबल का श्रवण, मनन आदिरूप साधनचतुष्टय का सम्पादन कर ध्यान में विघ्नस्वरूप तन्द्रा को आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा जीतकर संप्रज्ञात समाधि से उठकर निर्विकल्पक असंप्रज्ञात समाधि में प्रवेश के बाद अपने पूर्वजन्म के संचित वासनासमूहभूत संसारपाशरूपी मजबूत पिंजड़े को तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा शीघ्र ही तोड़कर चारों ओर से पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप से आपको उदित होना चहिए, अज्ञानी के समान संसार के भीतर आपको पड़े नहीं रहना चाहिए । अर्थात् वज्रतुल्य वासनारूपी पिंजड़े को तोड़ देने के लिए मनुष्य को आलस्यशून्य हो अपने पौरुषप्रयत्न को बढ़ाना चाहिए, उसीसे परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में सर्वोपशान्ति नामक कुसुमलता का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

५०

वसिष्ठ उवाच

इमे ये जीवसंघाता दृश्यन्ते दशदिग्गताः ।
नरनागसुरागेन्द्रगन्धर्वाद्यभिधानकाः ॥ १ ॥
ते स्वप्नजागरा केचित्केचित्सङ्कल्पजागराः ।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिराज्जाग्रत्स्थिताः परे ॥ २ ॥
घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे ।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधाः स्मृताः ॥ ३ ॥

५०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ये दसों दिशाओं में नर, हाथी, देवता, वृक्ष, इन्द्र, गन्धर्व आदि नाम धारणकर तत्-तत् विचित्र देह से जीव दिखाई पड़ते हैं, वे कोई तो स्वप्न जागर (स्वप्न को जाग्रत् समझनेवाले), कोई सङ्कल्प को जाग्रत् समझने वाले, कोई केवल जाग्रत् में स्थिति रखने वाले और कोई दीर्घकालि की जाग्रत् में स्थिति रखने वाले हैं । कोई घनीभूत जाग्रत् में स्थित हैं, जोई जाग्रत् और स्वप्न में स्थित हैं, कोई क्षीण आगत् अवस्था में स्थित हैं, इस प्रकार सात तरह के विभागों से उनका परिगणन किया गया है ॥ १–३ ॥

श्रीराम उवाच

एतेषां भगवन् ! भेदो बोधाय मम कथ्यताम् ।
जीवानां सप्तरूपाणां जलानामर्णवेष्विव ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः ॥ ५ ॥
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत् ।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीवकाः स्वप्नजागराः ॥ ६ ॥
क्वचिदेव प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वयमुत्थितः ।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्ननरा वयम् ॥ ७ ॥
तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः ।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्गताः स्थिताः ॥ ८ ॥
सर्वज्ञत्वात्सर्वगस्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।
येन स्वप्नवतां तेषां वयं स्वप्ननराः स्थिताः ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

येषु कल्पेषु ते जाताः क्षीयन्ते कल्पकल्पनाः ।
यदि तास्तत्कथं तेषां प्रबुद्धानामवस्थितिः ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

इह स्वप्नभ्रमान्ते ते मुच्यन्ते वा विनिद्रताम् ।
प्राप्य सङ्कल्पतो देहांस्तथैवान्यान् श्रयन्त्यलम् ॥११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! जैसे क्षीण-सागर आदि सात समुद्रों में क्षीण आदि के रस से युक्त जल ही सात तरह के हैं, वैसे ही सात प्रकार के रूपों को धारण कर रहे इन जीवों का जो स्वरूप है, वह जानने के लिए मुझ से कहिए ॥ ४ ॥

श्रीवासिष्ठजी ने कहा—किसी एक पूर्वकल्प में किसी एक जगत् में कहीं पर कोई जीव सुषुप्ति अवस्था में ही स्थित थे, वे जीव अपनी-अपनी देहों के कारण जीवित ही रहे, मरे हुए नहीं थे ॥ ५ ॥

गाढ़ी नींद में सोये हुए उन जीवों में जो जीव स्वप्न देखते हैं, उन्हीं का स्वप्न यह जगत् है, यह आप समझें। उन्हीं का नाम स्वप्नजागर कहा जाता है ॥ ६ ॥

कहींपर सोये उन जीवों को जो स्वप्न हुआ है, वही जब समान-कर्म-वासना के कारण हम लोगों का विषय बन जाता है, तब हम उनके स्वप्न नर बन जाते हैं ॥७॥

दीर्घकाल के प्रभाव से जब उनका स्वप्न जाग्रत्-रूप बन जाता है, तब उनके स्वप्न के वे जीव स्वप्न जाग्रत् कहे जाते हैं, वास्तव में वे उन्हीं के स्वप्न में ही स्थित हैं ॥ ८ ॥

हमारा देह आदि प्रपञ्च यदि वासनारूप से उस सोये हुए के चित्त में होता, तो हमारा देहादि प्रपञ्च उसके चित्त में उत्पन्न हो जाता और हम लोग उसके स्वप्न के मनुष्य होते, परन्तु यह तो कभी संभव नहीं है, इस तरह का कोई यदि प्रश्न करे तो उसका वैसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि सबको सत्ता देने वाला मायाशबल ब्रह्म सर्वत्र रहता है और वह सर्वज्ञ है, इसी हेतु से सब जगह रह सकता है, अतः हम लोग उनके स्वप्ननर के रूप से वासनारूप से उन्हीं के अन्तःकरण में स्थित हैं और वासना की समानता के कारण उनके स्वप्न में एक साथ अभिव्यक्त हो गये हैं ॥ ९ ॥

श्रीराम ने कहा—जिन कल्पों में हम लोगों के प्रपञ्चों के स्वप्नों के द्रष्टा उन जीवों ने जन्मधारण किया था, उन कल्पों की कल्पनाएँ यदि उनके शरीरों के साथ इस समय नष्ट हो चुकीं, तो वर्तमान स्वप्न से जगे हुए उन लोगों की भूतकाल के कल्प में स्थित नहीं हो सकती। जो आज नींद से जागा है, वह पूर्व दिन का जागरण जब नहीं जान सकता, तब पूर्वकल्प की तो बात ही क्या ? अर्थात् देश को लेकर सब वस्तुओं की सर्वत्र स्थिति भले ही हो जाय, पर काल को लेकर नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकाल की वस्तु वर्तमानकाल में कैसे रह सकती है, यदि भिन्न-भिन्न काल की वस्तुओं की स्थिति एक काल में मानी जाय, तो सब कल्प एक साथ ही होने लग जायँगे और उनका पार्थक्य भी नहीं रह जायगा ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इसी स्वप्न के प्रपञ्च में यदि ज्ञान हुआ तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं। यदि न हुआ, तो निद्रा प्राप्त कर वे सङ्कल्पानुसार उसी प्रकार की दूसरी ही देह प्राप्त करते हैं। अर्थात् यदि वे जीव प्रपञ्चात्मक स्वप्न में दैववश तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें, तो मुक्त ही हो जायँगे। ऐसी स्थिति में आपका दोष नहीं हो सकता। यदि उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया, तो उसका अवशिष्ट कल्प तो व्यतीत नहीं हुआ है। इसलिए कुछ समय के बाद तत्त्वज्ञान हो ही जायगा। जो व्यतीत हो चुके हैं, वे तो दूसरे की कल्पना से कल्पित पदार्थ हैं। उसके मन में तो प्रत्येक का कल्प शेष ऐन्दव आख्यान की पद्धति से विद्यमान ही है ॥ ११ ॥

तथैवान्यं प्रपश्यन्ति जगत्कल्पं च कल्पितम् ।
कल्पनाभासनभसो नहि सङ्कटता भवेत् ॥ १२ ॥

सङ्कल्पनात्मकजगज्जीर्णोदुम्बरकीटकाः ।
स्वप्नजागरकाः प्रोक्ताः शृणु सङ्कल्पजागरान् ॥ १३ ॥

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
अनिद्रालव एवान्तः सङ्कल्पैकपराः स्थिताः ॥ १४ ॥

ध्यानाद्विलुठिता वाऽथ मनोराज्यवशानुगाः ।
सङ्कल्पदार्ढ्यमापन्ना गलिताप्रानुभूतयः ॥ १५ ॥

सङ्कल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतयांशतः ।
तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि सङ्कल्पजागराः ॥ १६ ॥

सङ्कल्पोपशमे भूयस्तमन्यं वा श्रयन्ति ते ।
देहे तेषां वयमिमे सङ्कल्पपुरुषाः स्थिताः ॥ १७ ॥

उसी प्रकार का कल्पित दूसरा जगत्-कल्प देखते हैं, क्योंकि कल्पनाभासरूपी आकाश की कहीं निरवकाशता नहीं रहती ॥ १२ ॥

यह तो मैंने स्वप्नजागर जीवों का, सङ्कल्परूप जगदात्मक जीर्ण उदुम्बर वृक्ष के कीट का निरूपण आपसे किया, अब आप सङ्कल्पजागर जीवों के विषय में सुनें। इस प्रकार के जीव किसी एक पूर्वकल्प में किसी एक जगत् में कहीं पर अपने भीतर तनिक भी निद्रा न लेकर एकमात्र सङ्कल्प में तत्पर होकर स्थित हैं ॥ १३–१४ ॥

जीवट की कथा में भिक्षु के समान ये जीव ध्यान से विचलित हो स्थित हैं ॥ मनोराज्य के वश में पड़कर उसके पीछे दौड़ते हैं। दृढ़ सङ्कल्प धारण करते हैं और पूर्वावस्था की स्मृति से शून्य हैं ॥ १५ ॥

जिन जीवों का जागराभिमान दीर्घकाल के अभ्यास से घनीभूत सङ्कल्प में है और जिनकी सङ्कल्प जनित अर्थों में ही पूर्वापरस्मरण से रहित मन की चेष्टा है, वे ही स्वप्नजागर जीव कहलाते हैं ॥ १६ ॥

वे सङ्कल्प का विनाश हो जानेपर फिर पूर्व के व्यवहार को उससे विलक्षण बनाकर करने लग जाते हैं। उनकी दृष्टि से ये हम उन्हीं के शरीर में सङ्कल्प पुरुष ही स्थित हैं, क्योंकि समान सङ्कल्प से उत्पन्न हैं ॥ १७ ॥

सङ्कल्प के ऊपर निर्भर रहने वाले ये सङ्कल्पजागर जीव हमने आप से कहे। ये दृश्यमान जीव हैं और उन्हीं के सङ्कल्प जीपन में प्रवेश करते हैं और हम लोगों के लोक भी ऐसे ही हैं। यानी उनका यदि सङ्कल्प है, तो

सङ्कल्पजागराः प्रोक्ता एते सङ्कल्पशायिनः ।
जीवा जीवितगा लोकाः शृणु केवलजागरान् ॥ १८ ॥

प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः ।
प्रोक्ताः केवलजाग्रयाः प्रागुत्पत्त्यविकासिनः ॥ १९ ॥

भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः ।
कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणचारिणः ॥ २० ॥

त एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
घनजाग्रत्तया प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ २१ ॥

ये तु शास्त्रार्थतत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।
पश्यन्ति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥२२॥

ते तु सम्प्राप्तसम्बोधा विश्रान्ताः परमे पदे ।
क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ २३ ॥

दृश्यमान जीव हैं और हम लोगों के लोक भी हैं। अब आप केवल जागर जीवों को सुनें ॥ १८ ॥

सृष्टि का सङ्कल्प करने के कारण हलचल युक्त आगे कहे जानेवाले ब्रह्मा के रूप से वे जीव इस कल्प में पहले से ही शरीरधारी हो रहते हैं और उस जन्म में स्वप्न न होने के कारण केवल जागर कहे जाते हैं। वे पहले के उत्पत्ति विकासरूप स्वप्न से रहित हैं और पहले का जाग्रत्संस्कार भी जाग्रत् स्थिति को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो गया है, इसलिए इस कल्प में वह स्वप्न का कारण हो भी नहीं सकता है ॥ १९ ॥

फिर ये जीव उत्तरोत्तर जन्मपरम्परा लेते-जाते हैं और जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में विचरण करते-रहते हैं, तब वे ही चिरजागर कहे जाते हैं ॥ २० ॥

पापरूप दुष्कर्मों के आवेश से जड़-स्थावररूप होकर तथा जाग्रत् अवस्थाओं में भी घन अज्ञान से पूर्ण होकर वे चिरजागर जीव ही घनजाग्रत् कहे जाते हैं। स्थावर जीवों को भी स्वप्न आदि में मनुष्यभाव आदि का अपने में परिज्ञान होता है ॥ २१ ॥

चतुर्थ, पञ्चम और छठी भूमिका में अवस्थित जीव शास्त्रार्थ एवं सत्सङ्ग के द्वारा उपदेश ग्रहणकर तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर जाग्रत् को स्वप्न के सदृश देखने वाले जाग्रत्स्वप्न कहलाते हैं ॥ २२ ॥

जिन ज्ञान प्राप्त महापुरुष और परमपद में विश्रान्त क्षीणजाग्रत् जीव कहलाते हैं, ये जीव सप्तम भूमिका में स्थित हैं ॥ २३ ॥

इति सप्तविधो भेदो जीवानां कथितस्तव ।
समुद्राणामिव मया बुद्ध्वा श्रेयःपरो भव ॥ २४ ॥
भ्रान्तिं परित्यज जगद्गणनात्मिकां त्वं
बोधैकरूपघनतामलमागतोऽसि ।
शून्यत्ववर्जितमशून्यतया च मुक्तं
तेन द्वयैक्यकविमुक्तवपुस्त्वमाद्यम् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

समुद्रों की तरह सात प्रकार के जीवों का भेद मैंने आपसे कहा । आप इनका भली-भाँति परिज्ञान कर कल्याणरूप वस्तु में तत्पर हो जाएँ ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, आप सब भ्रम छोड़ दें, यही भ्रम जगत् का द्वैतादिवस्तु बुद्धि से ज्ञान कराता है; क्योंकि अब आप ज्ञानरूप आत्मभाव से एकरस बन गये हैं, द्वैत और ऐक्य से मुक्तशरीर होकर आप शून्यत्व और अशून्यत्व धर्म से रहित हो गये हैं तथा सब कल्पनाओं के पूर्ववर्ती अधिष्ठानभूत हो गये हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में जीवसप्तक प्रकार वर्णन नामक कुसुमलता का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

५१

श्रीराम उवाच

कथं केवलजाग्रत्त्वमकारणमनर्थकम् ।
पराद्विकसति ब्रह्मन्गगनादिव पादपः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अकारणं महाबुद्धे ! न कार्यमुपलभ्यते ।
तज्जाग्रतः केवलस्य न कश्चिदिह सम्भवः ॥ २ ॥
तस्यातो सम्भवादन्ये जीवभेदाः सजीवकाः ।
सर्वे न सम्भवन्त्येव कारणाभावविक्षताः ॥ ३ ॥
नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चन नश्यति ।
उपदेश्योपदेशार्थं शब्दार्थकलनोदयः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

कः करोति शरीराणि मनोबुद्ध्यादिचेतनैः ।
को मोहयति भूतानि स्नेहरागादिबन्धनैः ॥ ५ ॥

५१

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! कूटस्थ अद्वय परब्रह्म से केवलजागर नाम के जीव अर्थ और बीज के बिना आकाश से वृक्ष की तरह कैसे उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महामते ! कोई भी कार्य किसी कारण के बिना उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है, इसलिए केवल जगत् का यहाँ कोई संभव ही नहीं है अर्थात् आपकी शङ्का तो बहुत ही साधारण कूटस्थ अद्वय ब्रह्म से केवल जागर जीव तो उत्पन्न हो नहीं सकते, क्योंकि अन्य जीवों की और जगत् की भी उत्पत्ति तन्मूलक नहीं हो सकेगी, इसलिए कूटस्थ ब्रह्म में जीव और जगद्भाव का अपलाप किये बिना ठीक-ठीक उपदेश नहीं हो सकता, अतः उपदेशार्थ ही ब्रह्म में जीव-जगद्भाव की कल्पना श्रुति, स्मृति आदि में की गई है ॥ २ ॥

कूटस्थ से संभव होने पर उससे अन्य जीव सजीव हो सकते हैं, परन्तु कारण के अभाव से वे सब निरस्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

यहाँ न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट ही होता है, केवल उपदेश और उपदेशयोग्य वस्तु के लिए शब्दार्थ की एकमात्र कल्पना की गई है ॥ ४ ॥

श्रीरामजी ने कहा—भगवन् ! मन, बुद्धि, चेतन आदि से युक्त इन शरीरों की रचना करने वाला कौन है और प्राणियों को स्नेह, राग आदि बन्धनों के द्वारा कौन मोहित करता है ? यह हमसे कहें अर्थात् यह बात आपकी हम मानते हैं, पर भोग के आधार शरीर आदि का कर्म आदि के द्वारा या साक्षात् कोई निर्माण करने वाला तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य कर्ता द्वारा ही बनता है। अतः उस देह में जीव को बैठाकर विषयों से मोहित करने वाला कोई दूसरा रहना ही चाहिए, क्योंकि मोहित करनेवाले को छोड़कर चेतन में मोह हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में मोहित होनेवाला और मोहित करनेवाला दो भिन्न-भिन्न जी एवं ईश्वर नामक चेतन सृष्टि आदि की प्रतिपाद श्रुतियों के आधार पर मानना चाहिए ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

न कश्चिदेव कुरुते शरीराणि कदाचन ।
न मोहयति भूतानि कश्चिदेव कदाचन ॥ ६ ॥
अनाद्यन्तावभासात्मा बोध आत्मनि संस्थितः ।
नानापदार्थरूपेण कमूर्म्यादितया यथा ॥ ७ ॥
बाह्यं न विद्यते किञ्चिद्बोधः स्फुरति बाह्यवत् ।
उदेति बोधहृदयाद्बीजादिव वरद्रुमः ॥ ८ ॥
बोधस्यान्तरिदं विश्वं स्थितमेव रघूद्वह ! ।
स्तम्भस्यान्तर्यथा शालभञ्जिका प्रकटीकृता ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरात्मैकमनन्तं देशकालतः ।
बोधामोदप्रसरणं जगदेव प्रबुध्यताम् ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—कोई कभी-भी शरीर आदि की रचना नहीं करता और न कभी कोई प्राणियों को मोहित ही करता है अर्थात् यह बात ठीक होती, हाँ, यदि शरीरादि का कर्ता, मोहित होनेवाला, मोहक आदि—ये सब श्रुति आदि प्रमाणों से सत्यरूप ठहरते, परन्तु 'वाचारम्भणम्' आदि श्रुतियों के द्वारा वे सब मिथ्या ही सिद्ध होते हैं, ऐसी स्थिति में प्रतिभासमात्रस्वरूप उन सबका कूटस्थ ब्रह्म के द्वारा विवर्तमात्र से भी निर्वाह हो सकता है, इसलिए उनकी आवश्यकता नहीं है ॥ ६ ॥

जैसे अपने स्वरूप में स्थित जल तरङ्ग आदि के रूपों में भासमान होता है वैसे ही अनादि, अनन्त अवभासस्वरूप बोधात्मा अपने ही स्वरूप में स्थित हो नाना पदार्थों के रूप में भासता है ॥ ७ ॥

बाहर के कोई पदार्थ ही नहीं हैं; ज्ञानरूप आत्मा ही बाहर के सदृश भासमानता है, वह बोधरूप हृदय से ही बाहर ऐसे उदय को प्राप्त होता है, जैसे बीज से बड़ा वृक्ष ॥ ८ ॥

हे रघुकुल के वहनशील श्रीराम जी ! जैसे खंभे के भीतर ही स्थित कठपुतली बाहर प्रकट होती है वैसे ही बोधात्मा के भीतर स्थित ही यह विश्व बाहर के रूप में प्रकट हुआ है ॥ ९ ॥

बाह्य और आभ्यान्तर जिसमें विद्यमान है और जो देश एवं काल के परिच्छेद से अलग है, उस बोधस्वरूप आत्मा का ही यह जगत् एक तरह से सुगन्ध-विस्तार है, यह आप जानिए अर्थात् चेतन नाम की वस्तु न भीतर है और बाहर है, किन्तु अनन्त है, उसी के भीतर आमोद और पुष्प की तरह बाह्य-आभ्यान्तर की एक मात्र कल्पना की गई है ॥ १० ॥

अयमेव परो लोको भाव्यतां वासनाक्षयः ।
शाम्यतां परलोकस्थं काः किलाऽऽयान्ति वासनाः ॥११॥
देशकालक्रियालोकरूपचित्तात्मसत्पदम् ।
देशकालादिशब्दार्थरहितं न च शून्यकम् ॥ १२ ॥
पदे पदविदामेव तस्मिन् बोधगतिर्भवेत् ।
द्रष्टॄणां शान्तदृश्यानामेवान्येषां न राघव ॥ १३ ॥
ये वै तरलगम्भीरमहन्तागर्तमाश्रिताः ।
पश्यन्ति ते तमालोकं न कदाचन केचन ॥ १४ ॥
चतुर्दशविधानन्तभूतजातसुघुंघुमा ।
जगद्दृष्टिरियं ज्ञस्य शरीरावयवोपमा ॥ १५ ॥
कारणाभावतः सृष्टिर्नोदिता न च शाम्यति ।
यादृशं कारणं वा स्यात्तादृग्भवति कार्यकम् ॥ १६ ॥

वासना का विनाश हो जाने पर यह आत्म ही परलोक है, दूसरा नहीं यह आप जानें। सब उपद्रवों से निर्मुक्त हो शान्त महा पुरुष परलोक के रूप में यही पर स्थित आत्मा की ओर दूरत्वादि वासनाएँ आ ही नहीं सकती हैं ॥ ११ ॥

देश, काल, क्रिया, आलोक, रूप, चित्त, आत्मा, सत्—इन सबका अधिष्ठान तथा इन शब्दों से बोधित होने वाला ब्रह्म देश, काल आदि शब्दार्थों से रहित है, इसलिए वह शून्य रूप नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥

हे राघव ! तत्त्वद्रष्टा और विषयों से मुक्त आत्मपद को जानने वाले मुनियों को ही उस पद में ज्ञान गति होगी, दूसरों को नहीं अर्थात् यदि वह शून्य रूप नहीं है, तो दूसरे लोग भी एकमात्र प्रपञ्च का अपलाप कर उस पद में अपनी बोधगति क्यों नहीं कर लेते ॥ १३ ॥

तरल और गम्भीर अहन्तारूप गड्ढे में गिरे हुए पुरुष उस आत्मपदरूप प्रकाश को कभी नहीं देख सकते हैं ॥ १४ ॥

चौदह प्रकार के भूतसमूह के घुंघुं शब्दों से परिपूर्ण जगत् दृष्टि ज्ञानी के लिए तो देहावयव-जैसी है, अर्थात् अपने से भिन्न उसे भासमान ही नहीं होती है ॥ १५ ॥

सृष्टि का असल में तो कोई कारण नहीं है, इसलिए न तो सृष्टि उत्पन्न होती है और न वह नष्ट ही होती है, यह ज्ञान ज्ञानी की समहित दृष्टि है और व्यवहार दृष्टि से तो जैसा कारण का स्वरूप होगा, वैसा ही कार्य भी होगा यानी जैसा कारण कल्पित अतएव मिथ्या है, वैसा हो उससे जनित कार्य भी कल्पित और मिथ्या है, ऐसा ज्ञान व्यवहार दृष्टि से भी उसे रहता है ॥ १६ ॥

यदि स्यात्कारणे कार्यं स्थितं कारणताऽस्य का ।
कार्यमेवोपलम्भात्तदसद्द्वयमवेदनात् ॥ १७ ॥
सौम्यस्यान्तर्यथाम्भोधेरूर्म्यावर्तादयः स्थिताः ।
ब्रह्मण्यसम्भवक्षोभे जगच्चित्तादयस्तथा ॥ १८ ॥
सर्वात्मैवामलं ब्रह्म पिण्ड एक इव स्थितम् ।
नानाभाण्डात्म हेमैव यथाऽन्तःस्थितरूपकम् ॥ १९ ॥
स्वप्नकाले स्वप्न एव जाग्रद्व्यग्रापरिग्रहात् ।
जाग्रत्काले जाग्रदेव स्वप्नः सत्यावबोधतः ॥ २० ॥
चित्तमात्रतया बुद्धं मृगतृष्णाम्बुवत् स्थितम् ।
जाग्रत्स्वप्नत्वमायाति विचारविकलीकृतम् ॥ २१ ॥
सम्यग्ज्ञानेन भूतानि ज्ञस्य देहतया सह ।

यदि कारण में कार्य की स्थिति होगी, तो उसकी कारणता ही कैसी, क्योंकि वह तो कार्यरूप ही ज्ञात होता है, अतः कार्य और कारण दोनों ही असत् हैं, कारण कि दोनों का ही अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

जैसे प्रशान्त महासमुद्र में तरङ्ग, भँवरे आदि स्थित हैं, वैसे ही क्षोभशून्य परब्रह्म में ये सब आपके बाह्य जगत् और भीतर के चित्त आदि स्थित हैं ॥ १८ ॥

जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनों को रखने वाला एक ही मृत्पिण्ड रहता है, वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डों को अपने उदर में रखने वाला सबका स्वरूपभूत निर्मल ब्रह्म भी एक पिण्ड ही है। जैसे अपने भीतर कटक, कुण्डल आदि आकारों से युक्त तथा नाना बर्तनों का स्वरूपभूत सुवर्ण स्थित है, वैसे ही सुवर्ण रूप ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

स्वप्न काल में स्वप्न ही जाग्रद्रूप ज्ञानियों द्वारा जाना जाता है, क्योंकि वासनाओं के विस्तार से व्यग्र मन उनके पास नहीं है, और जाग्रत् काल में जाग्रत् को स्वप्नरूप जानते हैं, क्योंकि उनको सत्य आत्मा का परिज्ञान हो चुका है अर्थात् जैसे पिण्ड दशा में घट पिण्ड रूप और घट दशा में पिण्ड घट रूप है, घट के स्वरूप वेत्ताओं को एक का ही व्यवस्थित ज्ञान होता है, वैसे ही प्रपञ्च में भी स्वप्नदशा में जाग्रत् स्वप्न रूप और जाग्रत् काल में स्वप्न जाग्रद्रूप व्यवस्थित जगत् के एक रूप का ही तत्त्वज्ञों को ज्ञात होता है ॥ २० ॥

वास्तव में मृगतृष्णा के जल के सदृश असद्रूप से स्थित तथा विचार से विकल किया गया यह जाग्रत् जगत् केवल चित्त रूप यदि समझ लिया जाता है, तो फिर वह स्वप्न रूप बन जाता है अर्थात् जाग्रत् दशा में यदि हम लोग यह विचार करें कि यह जगत् केवल

पीठबन्धं विमुञ्चन्ति गतकाल इवाऽम्बुदाः ॥ २२ ॥
यथा गलितुमारब्धो घनो गगनतामियात् ।
तथा सत्यावबोधेन शाम्येत्सात्मग्रहं जगत् ॥ २३ ॥
शरदभ्रवदालूना मृगतृष्णाम्बुवत्तथा ।
पुनः संस्पृश्यमानैव बोधाद्गलति दृश्यता ॥ २४ ॥
यथा दीप्तानले लीनं सुवर्णं घृतमिन्धनम् ।
एकतां याति विज्ञाने तथा भुवनचित्तदृक् ॥ २५ ॥
बोधेन तनुतामेति पिण्डबन्धो जगत्त्रये ।
पिशाचबुद्धिः सदने बोधितस्य यथा शिशोः ॥ २६ ॥
बोधस्याऽनन्तरूपस्य स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि ।
जगच्चित्तादिता भाता पिण्डबन्धः किलात्र कः ॥ २७॥

चित्त रूप ही है, तो वह स्वप्न तुल्य ही बन जायेगा। इसी वास्तविकता को लेकर विद्वान् की सृष्टि को उसके शरीर के अवयवों की उपमा दी गई है, यों उपसंहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसका भी समूल बाध हो जाता है ॥ २१ ॥

जैसे वर्षाकाल के जाने पर मेघ साथ छोड़ देता है वैसे ही आत्मा के सत्यज्ञान से देहरूप के साथ ये सबभूत ज्ञानी के पिण्ड को समूल छोड़ देते हैं ॥ २२ ॥

आत्मज्ञान से यह अहङ्कार सहित जगत् शान्त वैसे ही हो जाता है, तत्काल आत्मरूप बन जाता है जैसे विनाश की ओर उन्मुख हुआ मेघ तत्काल ही गगनरूप बन जाता है ॥ २३ ॥

शरत्काल के मेघ के सदृश चारों ओर से छिन्न-भिन्न मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या प्रतीयमान तथा बार-बार स्पर्श आदि से जाना गया भी जगत् आत्मज्ञान से तत्काल जल जाता है ॥ २४ ॥

विज्ञान काल में भी जगत्-चित्त द्रष्टा आदि सब वैसे ही एकरूप बन जाते हैं जैसे धधक रही अग्नि में विलीन सोना, घी और इन्धन एकरूप बन जाता है ॥ २५ ॥

जैसे घर में समझाये गये बालक का वृक्षादि में से पिशाच ज्ञान धीरे-धीरे विलीन होता जाता है। वैसे ही तीनों जगत् में जो एक प्रकार का रूप कल्पित किया गया है, वह तत्त्वज्ञान से धीरे-धीरे विलीन होता जाता है ॥ २६ ॥

देश, काल और वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित साक्षी चेतन में किसी कारण के बिना ही जगत्, सङ्कल्प कारक चित्त, अज्ञान आदि भासते हैं, अतः साक्षी चेतन में रूपादि का अवसर ही कैसे हो सकता है। अर्थात्

बोधाबोधनमेवेदं जगच्चित्तमिवोदितम् ।
तदेवास्तं गतं बोधात्पिण्डबन्धस्य काऽस्तिता ॥ २८ ॥
जहाति पिण्डकाठिन्यं जाग्रत्स्वप्नावबोधतः ।
परां पेलवतामेति हेमवद्द्रुतमिवाग्निना ॥ २९ ॥
यथास्थितं बोध एव एव घनतामिव गच्छति ।
विनैव देशकलाभ्यां तौ विनिर्माय हेमवत् ॥ ३० ॥
जाग्रत्येवं विचारेण स्वप्नाभे पेलवे स्थिते ।
क्षीयमाणे शरत्काल इवैति तनुतां रसः ॥ ३१ ॥
परां पेलवतां याता दृश्यलक्ष्म्यः स्थिता अपि ।
स्वप्ना इव परिज्ञाता न स्वदन्ते विवेकिनः ॥ ३२ ॥

अग्नि आदि कारण जबतक लाख के पास रहते हैं, तबतक उसमें की कठिनता का विलय रहता है । यदि अग्नि आदि पास में न रहते, तो कठिनता का विलय भी हट जाता है, क्या इसी तरह का यह जगद्विलय तत्त्वज्ञान से होता है, यदि ऐसा विलय हुआ, तो निमित्त के हट जानेपर फिर जगत् ज्यों का त्यों बना रहेगा, ऐसी आशङ्का पर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान असत्पक्ष का विरोधी होने के कारण उससे हुआ विलय फिर लौटकर नहीं आता, जैसे कि शुक्ति के तत्त्वज्ञान से बाधित शुक्तिरूप ज्ञान फिर नहीं होता ॥२७॥

[इन सब बातों से निष्कर्ष निकला कि मिथ्याभूत जगत् चित्त आदि के रूप में मिथ्या अज्ञान ही नृत्य है ।]

साक्षी चेतन के अज्ञान से ही यह जगत् और चित्त उत्पन्न है, ज्ञान से अज्ञान के नष्ट हो जानेपर निर्मल चेतन में जगत् आदि स्वरूपों का अस्तित्व ही क्या रहा ॥ २८ ॥

[अर्थात् जाग्रत् प्रपञ्च ही स्वप्न दशा में अपनी स्थूलता छोड़कर सूक्ष्म प्रपञ्चरूप बन जाता है और स्वप्न भ्रान्ति ही चिरकाल के अभ्यास से घनीभूत होकर जाग्रत् रूप बन जाती है ।]

जैसे कि अग्नि से पिघला हुआ सुवर्ण नाश हो जाता है वैसे ही स्वप्न के अवभास से जाग्रत्-प्रपञ्च अपनी कठिनता छोड़ देता है और अत्यन्त नरम (सूक्ष्म) हो जाता है ॥२९ ॥

देश-कालरूप निमित्त के बिना जाग्रत्-स्वप्न का निर्माण कर यथास्थित बोधरूप साक्षी चेतन ही घनस्वरूप जगदाकार के समान सुवर्ण कें सदृश बन जाती है ॥३०॥

जैसे शरत् काल के क्षीण हो जानेपर जल स्वप्न हो जाता है, वैसे ही स्वप्न के सदृश अत्यन्त तुच्छ जाग्रत् वस्तु के उक्त विचार से क्षीण हो जानेपर भोग का

क्व किल स्वात्मविश्रान्तिः क्वैतद्विषयवेदनम् ।
सुषुप्तजाग्रतोरैक्यं भ्रान्ताभ्रान्तात्मनोर्भवेत् ॥ ३३ ॥
चित्तमात्रे भ्रान्तिमात्रे स्वप्नमात्रात्मनि स्थिते ।
जगतीह पदार्थेभ्यः सत्यबुद्धिर्निवर्तते ॥ ३४ ॥
कस्य स्वदन्तेऽसत्यानि कथमेव महामते ! ।
मृगतृष्णाजलानीव दृश्यान्यपि पुरःस्थितैः ॥ ३५ ॥
सत्यबुद्धौ विलीनायां जगत्पश्यति शान्तधीः ।
जालदीपांशुजालाभमपिण्डात्माम्बरात्मकम् ॥ ३६ ॥
जाग्रतो वस्तुतः शून्यात्परिज्ञातान्निवर्तते ।
चित्तभ्रमात्मनो भ्रान्तिरूपास्वादनभावना ॥ ३७ ॥

अनुराग भी क्षीण हो जाता है ॥ ३१ ॥

दृश्य वस्तुओं की कान्ति जब अत्यन्त तुच्छरूप भासमान होने लग जाती है, तब उनकी स्थिति होनेपर भी विवेकी को वे अच्छी नहीं लगतीं, क्योंकि वह स्वप्न के सदृश उन्हें मिथ्या ही समझता है ॥ ३२ ॥

कहाँ अपनी आत्मा में विश्रान्ति और कहाँ यह विषयों का परिज्ञान । यदि ज्ञानी को भी विषय भले प्रतीत होने लगें, तो सुषुप्त और जाग्रत् की एकता और मूढ और तत्त्वज्ञ की एकता हो जायगी अर्थात् दोनों में कोई पार्थक्य ही नहीं रह जायगा । अर्थात् आत्मसुख से अत्यन्त तृप्त होने के कारण ज्ञानी भी विषयों में आदर नहीं करता ॥ ३३ ॥

श्रीरामजी, चित्तमात्र स्वरूप यह जगत् की यहाँ भ्रान्तिरूप और स्वप्न मात्र स्वरूप बनकर स्थित हो जाने पर पुरुष जगत् को स्वप्न के सदृश मिथ्या समझ लेता है, तब पदार्थों से सत्यत्व बुद्धि अपने आप हट जाती है ॥ ३४ ॥

हे महामते ! समीप में स्थित पुरुषों के द्वारा असत्य रूप से देखे गये मृगतृष्णा-जल आदि क्या किसी को भी प्रिय लगते हैं । अर्थात् वे किसी ज्ञानी को किसी तरह भी अच्छे नहीं लगते है ॥ ३५ ॥

जगत् में सत्यत्व बुद्धि के विलीन हो जानेपर शान्त बुद्धि ज्ञानी जगत् को अपिण्डात्मक आकाशरूप, वातायन में प्रविष्ट हुए दीपकिरणों की प्रभा के सदृश प्रकाशमान देखता है ॥ ३६ ॥

केवल चित्त के ही विलास स्वरूप स्वप्नात्मक फूलमाला, चन्दन आदि की भोगभावना जाग्रत् पुरुष की निकल जाती है, क्योंकि वस्तुतः उसने उन पदार्थों को शून्यरूप जान लिया है ॥ ३७ ॥

यदवस्त्विति विज्ञातं तत्रोपादेयता कुतः ।
केन स्वप्नं परिज्ञाय स्वप्नहेमाभिगम्यते ॥ ३८ ॥
स्वप्नादिव परिज्ञाताद्रसो दृश्यान्निवर्तते ।
द्रष्टृदृश्यदशादोषग्रन्थिच्छेदः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥
नीरसः शान्तमननो निर्वाणाहंकृतिः कृती ।
वीतरागो निरायासः शान्तस्तिष्ठति बुद्धधीः ॥ ४० ॥
रसे नीरसतां याते वासना प्रविलीयते ।
शिखायां प्रविलीनायां प्रदीपस्यांशवो यथा ॥ ४१ ॥
बोधाद्दीपांशुजालाभमघनं व्योम दृश्यते ।
भ्रान्तिरूपं जगत् कृत्स्नं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ४२ ॥
नैवात्मानं न चाकाशं न शून्यं न च वेदनम् ।
अत्यन्तपरिणामेन पश्यन् पश्यति तत्पदम् ॥ ४३ ॥
यत्र नात्मा न शून्यं च न जगत्कलना न च ।
न चित्तदृश्योदयधीः सर्वं चास्ति यथास्थितम् ॥ ४४ ॥
भूम्यादिताऽज्ञसंबुद्धा ज्ञानादस्तमुपागता ।
ज्ञस्य शून्यैव सम्पन्ना संस्थिताऽपि न विद्यते ॥ ४५ ॥
भवत्येकसमाधानसौम्यात्मा व्योमनिर्मलः ।
तिष्ठत्यपगतासङ्गः स्थित एवाप्यसत्समः ॥ ४६ ॥
अस्तङ्गतमना मौनी निरोधपदवीं गतः ।
तीर्णः संसारजलधेः कर्मणामन्तमागतः ॥ ४७ ॥
तनुभुवनगगनगिरिगणकरणपरम्परममज्ञानम् ।
विगलति गलिते तस्मिन् सकलमिदं विद्यमानमपि ।४८।
संशान्तान्तःकरणो
गलितविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृततृप्त-
स्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

जिसको अवस्तुरूप समझ लिया, फिर उसकी ग्राह्यता कैसी ? स्वप्न जानकर भी स्वप्न-सुवर्ण को लेने के लिए उसकी ओर दौड़ता हो ऐसा कौन पुरुष होगा ? ॥ ३८ ॥

स्वप्न के सदृश दृश्य पदार्थों को जान लेने पर उससे मनुष्य को प्रेम निकल जाता है और द्रष्टा, दृश्य की अवस्थाओं के दोष से जनित बड़ी भारी गाँठ विच्छिन्न हो जाती है ॥ ३९ ॥

दृश्य पदार्थ जिसके लिए नीरस हो गये हैं या बन्धु आदि में जिसको प्रेम नहीं रह गया है, जिसकी मनन शक्ति शान्त हो गई है, जिसका अहङ्कार चला गया है, जो तत्त्वविद्या से परिपूर्ण वीतराग, प्रयास रहित और निर्मल बुद्धि हो चुका है, वह सदा शान्त ही रहता है ॥४०॥

दीप की शिखा के नष्ट हो जानेपर उसकी किरणें जैसे नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही रस के नीरसरूप बन जाने पर ज्ञानी की वासना नष्ट हो जाती है ॥ ४१ ॥

ज्ञान से पूर्व गन्धर्व नगर के सदृश प्रतीत सम्पूर्ण जगत् तत्त्वज्ञान से दीप कीरणें के सदृश एकमात्र प्रकाशरूप एवं अघन हो आकाश के सदृश भासमान होने लगता है ॥४२॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष सप्तम भूमिका में स्थिति प्राप्तकर न आत्मा को, न आकाश को, न शून्य को, न वृत्ति को देखता है, किन्तु केवल आत्मपद को ही देखता है ॥४३॥

तत्पद वस्तु में न आत्मा है, न शून्य है और न जगत् की कल्पना ही है, अधिक क्या कहें, उसमें न चित्त है, न दृश्य बुद्धि है और न यह यथास्थित सब कुछ ही है ॥४४॥

अज्ञानियों के द्वारा पिण्डरूप से जाना गया यह पृथ्वी आदि का स्वरूप है, वह ज्ञानी के प्रति तो ज्ञान से अस्त हो जाता है, अतः विद्यमान रहते भी नहीं ही है ॥ ४५ ॥

ज्ञानी पुरुष एकमात्र आत्मसमाधि में चित्त को लगाकर आकाश के सदृश निर्मल बन जाता है, सब आसक्तियों से रहित हो अपनी स्थिति बनाता है और स्थित रहकर भी असत् के तुल्य बना रहता है ॥ ४६ ॥

जिसका मन मर गया है और जो सर्वबाधावधि आत्मपद को प्राप्त है, ऐसा मननशील मौनी संसाररूपी समुद्र को तैर गया है और सब कर्मों के अन्त को भी प्राप्त हो गया है, यह अवश्य जानें ॥ ४७ ॥

जो सम्पूर्ण शरीर, शरीरों के आधार भुवन, भुवनाधार गगन तथा विहार स्थान पर्वत हैं, उनके साधन और करणों का एकमात्र कारण मूल अज्ञान ही है, दूसरा नहीं, इसलिए ज्ञान द्वारा अन्तःकरण से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर यह शरीर आदि जगत्, अज्ञानियों की दृष्टि से विद्यमान रहते भी, विनष्ट हो जाता है असद्रूप बन जाता है ॥ ४८ ॥

विद्वान् पुरुष का अन्तःकरण शान्त रहता है, उसके विकल्प विनष्ट हुए रहते हैं, वह अपने स्वरूपभूत आत्म-रस में तन्मय रहता है, परम शान्तिरूपी अमृतरस से तृप्त रहता है, और आवरण रहित होकर निवास करता है ॥४९॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में विश्रान्तियोगोपदेश नामक कुसुमलता का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

५२

श्रीराम उवाच

बोधो जगदिवाऽऽभाति मुने ! येन क्रमेण ह ।
तं क्रमेण क्रमं ब्रूहि भूयो भेदनिवृत्तये ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वृक्षस्येव विमूढस्य यद्दृष्टौ तत्स्वचेतसि ।
यन्न दृष्टौ न तच्चित्ते भवत्यल्पतरस्मृतेः ॥ २ ॥
भव्यः पश्यति शास्त्रार्थमेव पूर्वापरान्वितम् ।
न दृष्टिविषयं वस्तु यत्पश्यति करोति तत् ॥ ३ ॥
भावानुष्ठाननिष्ठः सन् शास्त्रार्थैकमना मुनिः ।
भूत्वोपदेशं त्वमिमं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ ४ ॥
इयं दृश्यभरभ्रान्तिरन्विद्येति चोच्यते ।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ ५ ॥
उपदेश्योपदेशार्थमेनां मदुपरोधतः ।
सत्यामिव क्षणं तावदाश्रित्य श्रूयतामिदम् ॥ ६ ॥
कुत एषा कथं चेति विकल्पाननुदाहरन् ।
नेदमेषा न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः ॥ ७ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ ८ ॥

५२

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—

हे मुने ! कूटस्थ चिदात्मा जिस क्रम से जगत् के रूप में भासमान होता है, वह क्रम भेद की निवृत्ति के लिए अन्य वादियों की कल्पनाओं का खण्डन कर अपने मत के समर्थन क्रम से फिर कहें ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शाखा, पत्र, पुष्प, पल्लव आदि नाना प्रकार के आकारों से युक्त के समान अज्ञ आत्मा की दृष्टि में जो जगद्भाव है वही उसके चित्त में भी है और जो उसकी दृष्टि में नहीं है वह उसके चित्त में भी नहीं है। यही कारण है कि देखी गई अत्यन्त छोटी भी वस्तु का स्मरण होता है, किन्तु न देखी गई बड़ी भी वस्तु का स्मरण नहीं होता अर्थात् 'चिदात्मा का यह जगद्भाव अनिर्वचनीय ही है' इस अपने मत का समर्थन करने के लिए पहले दृष्टि सृष्टि पक्ष का अवलम्बन कर दृष्टि के अन्वय और व्यतिरेक के अनुसार उसकी स्थिति दिखलाया है ॥ २ ॥

विवेकी पुरुष पूर्वापर शास्त्र के अनुसार ही देखता और करता है। आँखों के सामने पड़ी भी शास्त्रनिषिद्ध वस्तु को भोग्यरूप से नहीं देखता और न तो उसके लिए कुछ करता ही है अर्थात् शास्त्र और अशास्त्र के अनुसार सम्पादित विद्वान् और अविद्वान् की क्रियाओं में भी वैलक्षण्य दिखाई देता ही है, अतः जगत् की सत्ता भी भिन्न-भिन्न दृष्टि के अनुसार ही व्यवस्थित प्रतीत होती है ॥ ३ ॥

इसीलिए आपसे मैं कहता हूँ कि आप भी अपने चित्त की शुद्धि के अनुकूल कर्मों के अनुष्ठान में तत्पर हो शास्त्रानुकूल अर्थों में अपने चित्त को लगाकर श्रवणभूषण मेरे इस उपदेश का श्रवण करें अर्थात् यही कारण है कि मैं भी शास्त्रीय दृष्टि का व्यवस्थापन करते हुए ही श्रवण आदि में आपको नियुक्त कर रहा हूँ ॥ ४ ॥

यह दृश्यसमूह की भ्रान्ति ही अविद्या कही जाती है, जैसे मृगतृष्णा नदी में जल वास्तव में तो वैसे ही यह अविद्या भी नहीं है ॥ ५ ॥

[जब ऐसी बात है, तब कैसे शास्त्रों के उपदेश तथा उनकी फलसिद्धि होगी, इसपर कहते हैं।]

उपदेशयोग्य वस्तु के उपदेश के निमित्त मेरे अनुरोध से क्षण भर के लिए आप इसे सत्य के समान मानकर यह मेरा कथन सुनें ॥ ६ ॥

यह अविद्यानामक भ्रान्ति कैसी है और कहाँ से आई है, इस तरह के विकल्प न कर आप मेरे इस उपदेश को सुनें। फिर तो पीछे ज्ञान हो जाने से आप स्वयं जान जायँगे कि न तो यह जगत् है और न यह अविद्या ही है ॥ ७ ॥

स्थावर-जङ्गमात्मक यह सब तरह से परिपूर्ण जो कुछ जगत् दिखाई देता है वह सब कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है। इस पद्य से अनुभव में आरूढ़ इस विवर्तपक्ष को दिखलाकर अन्य पक्षों में दोष बतलाने की अभिलाषा कर रहे महाराज वसिष्ठजी 'सत्य प्रपञ्च का ही ब्रह्म के साथ वृक्षशाखान्याय से अभेद माननेवाले महानुभावों के पक्ष में' ब्रह्म की अविनाशिता नष्ट होगी—यह दोष दिखलाने के लिए जगत् में विनश्वरत्व की प्रतिज्ञा की है ॥ ८ ॥

अस्य भागविभागात्मा नाशोऽवश्यमवारितः ।
बिन्दुना बिन्दुना बोधे उद्धृतस्याऽस्ति हि क्षयः ॥ ९॥
एवं स्थिते द्रव्यनाशे ब्रह्मणस्तन्मयत्वतः ।
नानन्तत्वं न चास्तित्वं न च वै सम्भवत्यलम् ॥ १० ॥
मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति ।
देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवन्न तु तत्त्वतः ॥ ११ ॥
नश्यत्येव च दृश्यश्रीः सैव नान्यैव नैव च ।
इत्थं भवेत्समुचितं कृतं शास्त्रं च नान्यथा ॥ १२ ॥
सैवैतीत्यसमुल्लेखं कथं नष्टस्य संभवः ।
तद्रूपान्येति युक्तं स्यादनुभूतानुगा वयम् ॥ १३ ॥
सैव व्योमतयैवाऽऽसीदित्यसत्सैव सा कथम् ।
तथैव व्योमसंस्था चेन्नाशं तर्हि न सा गता ॥ १४ ॥
कार्यकारणयोरेकरूपतैवं यदा तदा ।
कार्यकारणताभावादैक्यमेवास्मदागमः ॥ १५ ॥

विचार कर देखने से यह निश्चित है कि इस जगत् का विनाश, जो कि पृथिवी आदि अवयवों का विभाग-स्वरूप है, अवश्य होगा, क्योंकि पृथिवी आदि सावयव है, अतः उनके विनाश का कोई प्रतीकार नहीं कर सकता है। यही कारण है कि एक-एक बूंद निकल लेने से घड़े के जल का नाश अवश्य ही हो जाता है ॥ ९ ॥

ऐसी स्थिति में तो द्रव्य का नाश होनेपर ब्रह्म की अनन्तता शौर अस्तिता भी नहीं रह सकती, क्योंकि ब्रह्म जगन्मय ही तो ठहरा और चिदेकरस निरवयव ब्रह्म का जगत् अवयव नहीं हो सकता है। अशाय यह है कि यदि पृथिवी आदि द्रव्य का नाश होनेपर ब्रह्म के नाश का वैसे ही प्रसङ्ग माना जाय, जैसे शाखा आदि अवयवों का नाश होनेपर वृक्ष का भी नाश हो जाता है, तो श्रुति में कहे गये ब्रह्म के अनन्तत्व की सिद्धि न हो सकेगी। इतना ही नहीं विचारकर देखने पर तो अवयवों से पृथक् किये गये अवयवी की सत्ता न रहने से उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता और चिदेकरस निरवयव ब्रह्म का यह जगत् अवयव नहीं बन सकता ॥ १० ॥

मदिरा की शक्ति के समान ज्ञानरूप धर्म हम आस्तिकों में नहीं सिद्ध हो सकता—पृथिवी आदिरूप हम लोगों की देह में ही चार्वाक ज्ञान नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि हम लोगों के मत में इस देह की सिद्धि विज्ञान के ही अधीन होने से यह देह स्वप्न के समान है, तात्त्विक नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक लोगों के मत में देह की सत्ता का साधक विज्ञान के सिवा और कोई दूसरा नहीं है। यह तो कोई नहीं कह सकता कि, मदशक्ति की तरह देह न रहने पर भी विज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥ ११ ॥

यह दृश्य की शोभा बार-बार नष्ट होती और उत्पन्न होती ही रहती है, अतः यह कोई नहीं कह सकता कि यह वही है या दूसरी। इस तरह अनिर्वचनीय अविद्यामात्र सिद्ध यह दृश्यश्री नष्ट अवश्य ही होती है। ऐसी स्थिति में अविद्या के बाध द्वारा जगत् का बाध होनेपर शास्त्र सफल होते हैं, अन्यथा नहीं अर्थात् जगत् और ब्रह्म का अभेद स्वीकार करने से तो दृश्य प्रपञ्च का नाश होनेपर ब्रह्म के नाश की शङ्का हो सकती है। यदि वह भेद आध्यासिक मान लिया जाय, तब तो प्रतियोगी की तरह उसके नाश का भी वस्तुतः ब्रह्म के साथ सम्बन्ध न होने के कारण दोष नहीं आता और शास्त्र भी सफल हो जाते हैं ॥ १२ ॥

इस सृष्टि से पहले जो संसार की शोभा नष्ट हो चुकी थी, वही पुनः आविर्भूत हो रही है, इसका उल्लेख करना अशक्य है। हाँ, यदि वही पुनः अविर्भूत होती, तो वही यह है या अन्य, यह कहा जा सकता था, किन्तु नष्ट की उत्पत्ति केवल अनुभव के अनुगामी हम अनुभव विरुद्ध अणुमात्र भी नहीं मान सकते, क्योंकि नष्ट की उत्पत्ति हो कैसे सकती है। आशय यह है कि प्रलय काल में जगत्-रचना के नष्ट हो जाने पर उसके बाद पुनः उत्पन्न हो रही जगत् की शोभा का यह कभी निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह वही है या दूसरी, इस तरह भी इसमें अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है ॥ १३ ॥

मूर्तरूपा जगत् की शोभा प्रलय में आकाशरूप से अमूर्तरूप से ही विद्यमान थी, यह कहना बिलकुल ठीक नहीं है, क्यों कि जो मूर्तरूप ही थी, वह भला अमूर्तरूप कैसे हो सकती है। यदि यह कहें कि आकाश में स्थित ही वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हुई, तो आप से हमें यही कहना पड़ेगा कि वह फिर प्रलय में भी नष्ट नहीं हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह आपका प्रलयवाद उच्छिन्न हो गया ॥ १४ ॥

इस तरह जब सृष्टि में भी प्रलयावस्था की प्रसक्ति हो सकती है, तब तो कार्यरूप सृष्टि की प्रलयावस्था में स्थित उस अव्याकृत कारण के साथ एकरूपता ही सिद्ध हो गई, क्योंकि कार्य और कारणभाव से ऐक्य बतलाना ही तो हमारा सिद्धान्त है, इस तरह सिद्ध हो गया।

शून्यत्वमुपलम्भत्वं यद्गतं नष्टमेव तत् ।
अन्यस्तर्हि भवेन्नाशः कीदृशः किल कथ्यताम् ॥ १६ ॥
नष्टं भूयस्तदुत्पन्नमिति यत्प्रत्ययेति कः ।
नश्यत्यवश्यं तेनेदं पुनरन्यत्प्रवर्तते ॥ १७ ॥
मध्ये मध्ये यद्रुत्सेधफलाद्यवयवैकिका ।
आदेहं बीजसत्ताऽस्ति कार्यकारणता कुतः ॥ १८ ॥
देशकालक्रियात्मैकं यथादृष्टमिह स्थितम् ।
बीजमेवैककर्मातो न घटः पटकार्यकृत् ॥ १९ ॥
सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति भेदो न वस्तुनि ।
परमार्थमये तेन विवादेन किमत्र नः ॥ २० ॥
इदं शान्तमनाद्यन्तं तद्रूपत्वाद्विचारतः ।
व्योमाभं बोधतामात्रमनुभूतिप्रमाणतः ॥ २१ ॥
यथैतन्नानुभूतं सद्यथैतदनुभूयते ।
यथैतत्सिद्धिमाप्नोति तदिदं कथ्यते क्रमात् ॥ २२ ॥

अर्थात् इस तरह सृष्टि में भी प्रलयावस्था की भी तुल्य न्याय से प्रसक्ति हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में तो प्रलयावस्था में स्थित अव्याकृत से कार्यरूप सृष्टि की एकता होनेपर कूटस्थवाद के ऊपर आपत्ति आने लगेगी ॥१५॥

जो वस्तु उपलब्ध होकर भी शून्यदशा को प्राप्त हो जाती है यह नष्ट ही है, क्यों कि उपलब्धिकाल में भी उसकी असत्ता मानी जा चुकी है। हे श्रीरामजी, असत्त्वापत्ति का ही नाम तो नाश है। हाँ आपके मत में किसी दूसरे तरह का नाश होता हो, तो फिर निःसन्देह बतायें वह कैसा है ? ॥ १६ ॥

जो नष्ट हुआ है वही पुनः उत्पन्न हुआ है, यह प्रत्यभिज्ञा किसको होती है, इसलिए नष्ट अवश्य होता है तथा पुनः पुनः दूसरा ही प्रवृत्त भी होता है, यही कहना उचित होगा। अर्थात् पुनः उत्पत्ति के अवलोकन से यदि मध्य में नष्ट हुए की सत्ता की जो कल्पना करते हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेद से भी तो उत्पत्ति की सिद्धि हो जाती है और प्रत्यभिज्ञा आदि का भी तो अवलोकन नहीं होता है ॥ १७ ॥

इसके बीच-बीच में स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप जो अवयव हैं उनमें सारे वृक्षरूपी शरीर को व्याप्त कर स्थित बीजसत्ता तो अखण्ड एकरूप ही है। अतः जब सर्वत्र एक ही सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है तब शाखा आदि की पृथक् सत्ता सिद्ध न होने से कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है ? इस सन्देह के उत्तर में यह पद्य कहा गया है—जैसे एक ही वृक्ष के ऊपर बीच-बीच कोटर, स्कन्ध, आखा आदि का विचित्र भेद रहनेपर भी मूल से लेकर शाखा पर्यन्त वृक्ष शरीर की तो सत्ता एक ही है। हाँ, शाखा आदि उस वृक्ष के कार्य हैं उनमें भेद अवश्य है; वैसे ही उत्पत्ति आदि विकारों का भेद होनेपर भी प्रलय के बाद पुनः उत्पन्न होने से इस दृश्य प्रपञ्च की भी सत्ता एक ही क्यों न हो ॥ १८ ॥

यदि प्रलय, सृष्टि आदि तथा देशकाल एवं क्रियात्मक यथादृष्ट एक सन्मात्र ही बीज को स्वरूप में स्थित स्वीकार करेंगे, तब तो वह एक स्वयं ही क्रिया और उसका फल होता हुआ कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करने में वह असमर्थ है। पटकार्य करने में असमर्थ घट पटरूप कार्य नहीं करता है। अथवा देशात्मक या क्रियात्मक तत्-तत् पदार्थों में अनुगत बीज को एक स्वभाव ही बतलना उचित है, यह संभव नहीं है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्वभाव की हो। यदि स्वभाव भेद स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर एकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। देखिये—यदि वस्तु देशैक स्वभाव है, तो फिर वह कालका कार्य नहीं कर सकती। यह भी कहीं नहीं देखा गया कि घट स्वभाव वस्तु पट का कार्य करती हो ॥ १९ ॥

सभी दर्शनों के सिद्धान्त में यह निश्चय किया गया है कि वस्तु के एक रहते हुए कार्यों का भेद नहीं है तथा परमार्थमय वस्तुस्वभाव में भी नानात्व नहीं है। इसलिए सभी दर्शनों से विरुद्ध बोलने वाले के साथ विवाद करने से हमें मतलब ही क्या अर्थात् नाना स्वभाव की एक ही वस्तु है, यह कहने वाला तो सभी दर्शनों के सिद्धान्त का उल्लंघनकारी होने से वितण्डा करने वाला ही होगा ॥२०॥

विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाण से यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाश के सदृश निर्मल केवल बोधमात्र परमात्मा ही अवशेष रहता है। अनुभवरूप प्रमाण ही सभी कल्पनाओं का बल है, अतः उस बोधमात्र परमात्मवस्तु के स्वभाव का अपलाप न हो सकने से परिशेषात् जड़ स्वभाव की ही हानि है अर्थात् परिशेषात् वस्तु एकस्वभाव है, यह मान लेनेपर तो उपजीव्य एक चित्स्वभाव का ही शेष रह जाता है ॥ २१ ॥

यह परमात्मस्वरूप जिस रीति से अनुभूत नहीं होता और अनुभूत न होता हुआ भी जैसे अनुभूत होता है तथा जिस रीति से मनुष्य को इस परमात्मस्वरूपानुभव की सिद्धि प्राप्त होती है, वह सब मैं आप से क्रमशः कहता हूँ ॥२२॥

महाकल्पान्त उन्नष्टे सर्वस्मिन् दृश्यमण्डले ।
आमहादेवपर्यन्तं समनोबुद्धिकर्मणि ॥ २३ ॥
व्योमन्यपि शमं याते कालेऽप्यकलितस्थितौ ।
वायावपि त्वपगते तेजस्यत्यन्तमस्थिते ॥ २४ ॥
तेजस्यपि गते ध्वंसं वार्यादौ सुचिरं क्षते ।
अलमन्तमनुप्राप्ते सर्वशब्दार्थसञ्चये ॥ २५ ॥
शिष्यते शान्तबोधात्म सदच्छं बाध्यवर्जितम् ।
अनादिनिधनं सौम्यं किमप्यमलमव्ययम् ॥ २६ ॥
अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् ।
सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ २७ ॥
तत्र वायुर्न चाऽऽकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम् ।
न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नभः ॥ २८ ॥
तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनाऽनुभूयते ।

महाकल्प के अन्त में महादेवपर्यन्त मन, बुद्धि और समस्त कर्मों के साथ जब यह सम्पूर्ण दृश्यमण्डल नष्ट हो जाता है, आकाश तथा अकलित स्थिति काल भी शान्त हो जाता है, वायु चली जाती है तथा तेज की स्थिति बिलकुल डँवाँडोल हो जाती है एवं तेज भी जब ध्वस्त हो जाता है, जल, पृथिवी आदि का भी दीर्घकाल के लिए नाश हो जाता है, जब कि सम्पूर्ण शब्दार्थसमूह बिलकुल अन्तदशा को प्राप्त हो जाता है, तब आदि और अन्त से रहित सौम्य, अविनाशी, बाध्यशून्य, वाणी का अविषय, स्वच्छ सन्मात्र, केवल निर्मल शान्त बोधस्वरूप कोई अनिर्वचनीय आत्मा ही शेष रह जाता है। एकमात्र यही कारण है कि महाकल्प के अन्त में समस्त भेदों का लय हो जानेपर भी लय को प्राप्त न हुआ अनुभवात्मा ही अवशेष रह जाता है ॥ २३—२६ ॥

वह परमपद वाणी का अविषय, अनभिव्यक्त, इन्द्रियों का अविषय, नामरूपशून्य, सर्वभूतस्वरूप, शून्यरूप, सत् एवं असत् भी है ॥ २७ ॥

सद्रूप वह परमात्मवस्तु न वायुस्वरूप है, न आकाशरूप है, न मन, बुद्धि आदिरूप है, न शून्यरूप है, वह कुछ भी नहीं है, सर्वस्वरूप वह अनिर्वचनीय चिदाकाश है।२८।

उस परमपद में स्थित समस्त कल्पनाओं से निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी ही इस परमात्मवस्तु का अनुभव करता है, और दूसरे तो केवल वर्णित आगमों से इसका वर्णनमात्र करते हैं ॥ २९ ॥

यह आत्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है, न देश और काल

अन्यैः केवलमाम्नातैरागमैरेव वर्ण्यते ॥ २९ ॥
न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशदिक् ।
न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ ३० ॥
किमप्येव तदत्यच्छं बुध्यते बोधपारगैः ।
शान्तसंसारविसरैः परां भूमिमुपागतैः ॥ ३१ ॥
प्रतिषिद्धा मयैते तु येऽर्थाः सर्वत्र ते स्थिताः ।
अस्मद्बुद्ध्या परिच्छेद्याः सौम्याम्भोधेरिवोर्मयः ॥३२॥
यथास्थितं स्थिताः सर्वे भावास्तत्र यथा तथा ।
अनुत्कीर्णा महास्तम्भे विविधाः शालभञ्जिकाः ॥ ३३ ॥
एवं तत्र स्थिताः सर्वे भावा एवं च न स्थिताः ।
असर्वात्मैव सर्वात्म तदेव न तदेव च ॥ ३४ ॥
पदं यथैतत्सर्वात्म सर्वार्थपरिवर्जितम् ।
यथा तत्र च पश्यन्ति तत्रैकपरिणामिनः ॥ ३५ ॥

का मध्य है, न अन्त है, न बोधस्वरूप है और न बोधाभावरूप ही है अर्थात् उन आगमों में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इत्यादि आगम का अर्थरूप से अवलोकन कराते हैं ॥ ३० ॥

बोधपारङ्गत, संसारविस्तार से शून्य तथा पञ्चम एवं षष्ठ भूमिकाओं को प्राप्त हो चुके महानुभाव लोग इस अनिर्वचनीय अतिस्वच्छ आत्मा का स्वयं अनुभव करते हैं ॥ ३१ ॥

मैंने आत्मबोध के लिए आप से उन्हीं पदार्थों का निषेध किया है, जो सर्वत्र श्रुतियों में प्रतिषेध्यरूप से स्थित, हमारी बुद्धि से परिच्छिन्न एवं शान्त समुद्र के तरङ्गों के सदृश हैं अर्थात् श्रुति के अनुकूल अनुभव का आश्रयण करके मैंने भी उन पदार्थों का बार-बार निषेध किया है ॥ ३२ ॥

[तब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवादी श्रुतियों का क्या अभिप्राय है।]

स्वस्वरूप में स्थित परमात्मा में सभी पदार्थ वैसे ही स्थित हैं जैसे बड़े खम्भे में बिना खुदी हुई अनेक तरह की प्रतिमाएँ स्थित हैं। ब्रह्मस्वभावस्थिति ही अविकल्पित जगत् की भी सत्ता है, यही उन श्रुतियों का अभिप्राय है ॥३३॥

इस तरह सभी पदार्थ उस परमात्मा में अधिष्ठानरूप से स्थित हैं तथा अपने स्वरूप से नहीं भी स्थित हैं। वह परमात्मा असर्वात्मक होता हुआ भी सर्वस्वरूप है। वह परमार्थरूप भी है और परमार्थरूप नहीं भी है ॥ ३४ ॥

योगी लोग अपनी इच्छानुसार सर्वात्मक वह परमपद जैसे समस्त अर्थों से युक्त है तथा जैसे समस्त अर्थों से

सर्वं सर्वात्मकं चैव सवार्थरहितं पदम् ।
सर्वार्थपरिपूर्णं च तदाद्यं परिदृश्यते ॥ ३६ ॥
तवैतावन्महाबुद्धे ! सर्वार्थोपशमात्मकम् ।
न सम्यग्ज्ञानमुत्पन्नं संशयोऽत्र निदर्शनम् ॥ ३७ ॥
यः प्रबुद्धो निराभासं परमाभाससमागतः ।
स्वच्छान्तःकरणः शान्तस्तं स्वभावं स पश्यति ॥ ३८ ॥
अयं त्वमहमित्यादित्रिकालजगद्भ्रमः ।
तत्रास्ति हेमपिण्डान्तरिव रूपकजालकम् ॥ ३९ ॥
हेमपिण्डाद्यथा भाण्डजालं नानोपलभ्यते ।
तथा न लभ्यते भिन्नं परमार्थघनाज्जगत् ॥ ४० ॥
सर्वदैव हि भिन्नात्मा स्वाङ्गभूतोपलम्भदृक् ।
स जगद् द्वैतमेवेदं हेमेवाङ्गदरूपकम् ॥ ४१ ॥

रहित है, वैसे ही उसे देखते हैं अर्थात् पत्थर में न खुदी गई नाना प्रकार की प्रतिमाओं की तरह योगियों को अपनी इच्छा के अनुसार स्वस्वरूप में स्थित उस परमपद में 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों तरह से जगत् का दर्शन होता है ॥ ३५ ॥

उस आद्य पद को योगी लोग सर्वरूप, सर्वात्मक, सम्पूर्ण अर्थों से रहित तथा सम्पूर्ण अर्थों से परिपूर्ण भी हैं ॥ ३६ ॥

हे महाबुद्धेः ! समाधिकालपर्यन्त सम्पूर्ण अर्थों का उपशमरूप वह सम्यग् ज्ञान आपको नहीं उत्पन्न हुआ है। इसमें सन्देह होना ही सबसे जबर्दस्त प्रमाण है यदि आपको निश्चित तत्त्वज्ञान हो गया होता, तो आपके मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं उठता। सन्देह का होना ही बतलाता है कि अभी आपको निश्चित तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है ॥ ३७ ॥

जो ज्ञानी पुरुष सब दृश्यों के आभास से निर्मुक्त, परम प्रकाशरूप परमसाक्षात्कार को प्राप्त है तथा स्वच्छ अन्तःकरण एवं शान्त है, वह उस प्रकाशस्वरूप शान्त-स्वभाव को देखता है ॥ ३८ ॥

अयं, त्वम्, अहम् इत्यादि त्रैकालिक जगत् भ्रम भी वैसे ही उस परमात्मा में कल्पना से स्थित है जैसे सुवर्ण-पिण्ड के भीतर आभूषण तथा आदि का समूह कल्पना से स्थित है ॥ ३९ ॥

जैसे सुवर्ण के आभूषण तथा पात्र आदि सुवर्णपिण्ड से पृथक्-भिन्नसद्रूप से उपलब्ध होते हैं, वैसे ही यह जगत् परमार्थघन परमात्मा से भिन्न सद्रूप से उपलब्ध नहीं होता ॥ ४० ॥

रिक्तं देशादिशब्दार्थैर्देशकालक्रियात्मकम् ।
यथास्थितमिदं तत्र सर्वमस्ति न वाऽस्ति च ॥ ४२ ॥
यथोर्म्यादि समे तोये चित्रं चित्रकृदीहते ।
भाण्डवृन्दं मृदः पिण्डे तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ ४३ ॥
तथैतदत्र नो भिन्नं नाभिन्नं नास्ति चास्ति च ।
नित्यं तन्मयमेवाच्छं शान्ते शान्तमिदं तथा ॥ ४४ ॥
अनिखातैव भातीयं त्रिजगच्छालभञ्जिका ।
स्वरसस्येव दृश्यत्वमिता ब्रह्मणि दारुणि ॥ ४५ ॥
निखाता दृश्यतां यान्ति स्तम्भस्थाः शालभञ्जिकाः ।
अस्मिन्नक्षोभ्य एवान्तस्तरङ्गाः सृष्टिदृष्टयः ॥ ४६ ॥
सरस्यतिरसे भान्ति चिद्घनामृतवृष्टयः ।
अविभागे विभागस्था अक्षोभे क्षुभिता इव ।
अविभाता विभान्तीव चिद्घने सृष्टिदृष्टयः ॥ ४७ ॥

जैसे कल्पित अङ्गदादि आभूषणात्मक मिथ्या नाम-रूप से सुवर्ण, वैसे ही अपने अङ्गरूप जगत् से द्रष्टा परमात्मा मिथ्या नाम-रूपात्मक द्वैत जगत् से सर्वदा भिन्न है ॥ ४१ ॥

देश, काल, क्रिया आदि शब्दों के अर्थों से यानी प्रवृत्तिनिमित्त से (जाति, गुण, क्रिया आदि से) रहित तथा देश, काल एवं क्रियामय वह आत्मा है। यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठान से उसमें है और स्वस्वरूप से नहीं भी है ॥ ४२ ॥

शान्तब्रह्म में स्थित इस जगत् की आप भी वैसे ही इच्छा कीजिये जैसे चित्रकार शान्त जल में तरङ्ग आदि-रूप चित्र बनाने की इच्छा करता है तथा ब्रह्म में यह जगत् वैसे ही स्थित है जैसे मिट्टी के पिण्ड में मिट्टी के बने अनेक पात्रों का समूह स्थित है ॥ ४३ ॥

जैसे मिट्टी के पिण्ड में अभिन्नरूप से ये सब पात्र हैं और भिन्नरूप से नहीं भी हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञान से शान्त, नित्य आत्मा में तन्मय शान्त यह जगत् अभिन्नरूप से है और भिन्नरूप से नहीं भी है ॥ ४४ ॥

महास्तम्भ में अनुत्कीर्ण प्रतिमा की तरह ब्रह्मरूपी काठ में यह त्रिलोकीरूपी प्रतिमा साक्षीरूपी शिल्पी की आँखों में प्राप्त हुई के समान है ॥ ४५ ॥

स्तम्भ में स्थित जो प्रतिमाएँ उत्कीर्ण होती हैं वे ही दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु ब्रह्म में तो उसके शान्त क्षोभ रहित स्थित रहने पर ही उसके भीतर सृष्टि के विवर्तरूप तरङ्गें दृष्टिगोचर होती हैं ॥ ४६ ॥

नित्य निरतिशयानद जलपरिपूर्ण चितिरूपी सरोवर में चिन्मय मेघ की अमृतमय वृष्टि के सदृश ये सृष्टि की

परमाणौ परमाणावत्र संसारमण्डलम् ।
विभाति भासुरारम्भं न विभाति च किञ्चन ॥ ४८ ॥
आकाशकालपवनादिपदार्थजात-
मस्याऽङ्गमङ्गरहितस्य तदप्यनङ्गम् ।
सर्वात्मकं सकलभावविकारशून्य-
मप्येतदाहुरजरं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

दृष्टियाँ भासित हो रही हैं। विभाजक धर्मों से शून्य रहनेपर भी उस चिद्घन ब्रह्म में ये सब के सब विभक्त तथा क्षोभ रहित रहनेपर भी क्षुभित के समान, भासित न हुई ये सब अविद्या के कारण एक तरह से भासित हो रही हैं ॥ ४७ ॥

इस चिद्घन ब्रह्म में परमाणु-परमाणु में चमकीले समारोहों से युक्त यह संसारमण्डल भासमान है और वास्तव में कुछ भी नहीं भासता ॥ ४८ ॥

निरवयव इस परमात्मा के जिस आकाश, काल, पवन आदि पदार्थ समूहरूप अङ्ग का मैंने आप से वर्णन किया है, यह भी मिथ्या तथा अधिष्ठान मात्र शेष होने से अवयव शून्य ही है। इस प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण भाव-विकारों से शून्य यह अजर, परमार्थभूत आत्मतत्त्व है तथापि इसको सभी श्रुतियाँ सम्पूर्ण पदार्थों के अध्यारोप से सर्वरूप बतलाती हैं ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में ब्रह्मस्वरूप वर्णन नामक कुसुमलता का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

५३

श्रीराम उवाच

यथा चेत्ये चेतनता यथाकाले च कालता ।
यथा च व्यौमता व्योम्नि यथा च जडता जडे ॥ १ ॥
यथा वायौ च वायुत्वमभूतादावभूतता ।
यथा स्पन्दात्मनि स्पन्दो यथा मूर्ते च मूर्तता ॥ २ ॥
यथा भिन्ने च भिन्नत्वं यथाऽनन्ते ह्यनन्तता ।
यथा दृश्ये च दृश्यत्वं यथा सर्गेषु सर्गता ॥ ३ ॥
एतत्क्रमेण हे ब्रह्मन्! वद मे वदतां वर! ।
आदितः प्रतिपाद्यैव बोध्यन्ते ह्यल्पबोधिनः ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

तदनन्तं महाकाशं महाचिद्घनमुच्यते ।
अवेद्यचिद्रूपमयं शान्तमेकं समस्थिति ॥ ५ ॥
ब्रह्मविष्ण्वीश्वराद्यन्ते महाप्रलयनामनि ।
शब्दार्थेऽरूढिमापन्ने यच्छुद्धमवशिष्यते ॥ ६ ॥

५३

श्रीरामजी ने कहा—गुरुवर, जैसे स्मरण के योग्य विषयों में स्मरण की विषयता, जैसे काल में कालता, जैसे आकाश में आकाशता, जैसे जड़ में जड़ता, जैसे वायु में वायुता, जैसे वर्तमान में भविष्यत् में वर्तमानता या भविष्यत्ता, जैसे स्पन्दात्मा में स्पन्द, जैसे मूर्त में मूर्तता, जैसे भिन्न में भिन्नता, जैसे अनन्त में अनन्ता, जैसे दृश्य में दृश्यता और जैसे सर्ग में सर्गता असाधारण धर्म है, ऐसे ही सब वस्तुओं में भावरूप धर्म हैं। अतः इनका परिज्ञान करने के लिए जो बोधक उपाय हों, उनको क्रमशः मुझ से कहिए, क्योंकि हे उपदेश देनेवालों में श्रेष्ठ! हे ब्रह्मन्! जो अल्पज्ञ शिष्य हैं, उनको आरम्भ से ही प्रतिपादन कर समझाना चाहिए ॥ १–४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जो चीज आपने पूछी है, वह चीज तो अनन्त, महाकाश, महा चेतनघन, अवेद्य चिद्रूपमय, शान्त, अद्वितीय और एकरूप से स्थित रहने वाली ब्रह्म ही है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं। अर्थात् वस्तुओं का सत्त्व चिदात्मा ही है, क्योंकि वही अपने में अध्यस्त पदार्थों में अन्योन्य तादात्म्याध्यास होनेपर तत्-तत् भावरूप बन जाता है ॥ ५ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि का भी जिसमें अन्त हो जाता है, ऐसे महाप्रलय में नामरूपात्मक सृष्टि का तिरोभाव हो जानेपर वही एकमात्र शुद्ध बच जाता हैं, इसलिए वही सब की सत्ता है, दूसरी नहीं। अर्थात् सब का विनाश हो जानेपर अन्त में जो बच जाती है, वही सब वस्तुओं की भावरूप सत्ता है, क्योंकि भूधातु से बना हुआ भाव शब्द उसी अर्थ का बोधक है ॥ ६ ॥

सर्गस्य कारणं तत्र न किञ्चिदुपपद्यते ।
मलमाकारबीजादि मायामोहभ्रमादिकम् ॥ ७ ॥
केवलं शान्तमत्यच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ।
तद्विद्यते यत्र किल खमपि स्थूलमश्मवत् ॥ ८ ॥
न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा ।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ ९ ॥
निमेषे योजनशते प्राप्तायामात्मसंविदि ।
मध्ये तस्यास्तु यद्रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १० ॥
सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते वासनाविषयभ्रमे ।
सर्वचिन्ताविहीनस्य प्रबुद्धस्यार्द्धरात्रतः ॥ ११ ॥
शान्तनिःसुखदुःखस्य पुरुषस्यैव तिष्ठतः ।

सत् स्वरूप शान्त महाचिद्घन वस्तु की उत्पत्ति का कोई भी कारण युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मल, आकार, बीज आदि तथा माया, मोह, भ्रम आदि सब की सिद्धि उसी के अधीन है ॥ ७ ॥

आकाश भी जिसमें स्थूल पत्थर के सदृश है और जो केवल, शान्त, निर्मल, आदि-अन्त से शून्य है, वही सत्तार्थक भाव शब्द का अर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

वह जब चेतन शरीररूप से भासमान होने लग जाता है, तब उसकी चारों ओर सत्ता होने के कारण 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, और जब अज्ञान मलादि से वर्जित हो अनुभव में आता है, तब 'वह है' यों भी वाच्य-वृत्ति से नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥

उस निर्विषय आत्मपद का स्वरूप वही है, जो कि निमेष मात्र में सैकड़ों योजन तक प्रमातृज्ञान के पहुँच जाने पर उस ज्ञान के बीच का रूप है। आशय यह है कि शाखाओं के अग्रभाग में चन्द्रदर्शन के समय एक निमिष मात्र में चक्षु की वृत्ति के द्वारा प्रमातृचैतन्य ऊपर प्रदेश में सैकड़ों कोश चन्द्रदेश तक दूर चला जाता है, वह गया हुआ प्रमातृचैतन्य बीच के प्रदेश में यानी शाखा प्रदेश और ऊपर का जो चन्द्र देश इन दो प्रदेशों के मध्य प्रदेश में एकदम विशुद्ध रहता है, उसमें कोई भी विषय रहता ही नहीं, अतः मध्य प्रदेश के चेतन का जो भी रूप आप जानें, वही रूप निर्विषय आत्मपद का स्वरूप है ॥ १० ॥

बाहरी और भीतरी जितने वासना के विषय भ्रम रूप पदार्थ हैं, उनका विनाश हो जाने पर सब प्रकार की चिन्ताओं से निर्मुक्त हुए तथा आधी रात में निद्रा से जगे, सुख-दुःख की वृत्तियों से रहित तथा शान्तिपूर्वक समाधि लगा कर बैठे हुए पुरुष का जो स्पन्दन शून्य

यदस्पन्दि मनोरूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १२ ॥
तृणगुल्माङ्कुरादीनां सत्ता सामान्यमाततम् ।
यदुद्भवोद्भवं रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १३ ॥
तस्मिन् पदे जगद्रूपं यदिदं दृश्यते स्फुटम् ।
सकारणमिवाकारं करालमिव भेदवत् ॥ १४ ॥
तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते ।
नाकारयुक्तं न जगन्न च द्वैतैक्यसंयुतम् ॥ १५ ॥
यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ।
स्वयं नित्यानुभूतेऽर्थे कोऽत्रापह्नवशक्तिमान् ॥ १६ ॥
न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत् ।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ १७ ॥

(निश्चल) मनोरूप है, वही रूप उस पद का स्वरूप है। इस रूप का समाधिविष्ट पुरुष ही अनुभव करते हैं अर्थात् आधी रात तक गाढ़ी नींद से सो जाने पर मन की निद्रा कालिमा दूर हो जाती है, इस कालिमा के निकल जाने पर समाधि में स्थित हुए योगियों को उसका अनुभव होने लग जाता है ॥ ११, १२ ॥

तृण, गुल्म, अङ्कुर, वृक्ष आदि की उत्पत्ति होने पर साथ-साथ प्रकट हुआ जो एक रूप से सबमें रहने वाला अनुगत सत्ता-सामान्य रूप है अर्थात् तृणत्व, गुल्मत्व आदि है, वही त्व, तल् आदि प्रत्ययों का अर्थ है ॥१३॥

उसी सत्ता-सामान्य के स्वरूप में तादात्म्य रूप से मिला हुआ तथा दूसरे से भिन्न के समान जो घट, पट आदि जगत् का स्पष्ट दृष्ट आगन्तुक होने से सकारण-सा तथा कम्बुग्रीव आदि विचित्र आकृतियों से कराल-सा भासता है, परन्तु है वह सब अनृत यानी मिथ्या ही। इसीलिए वह सब कारण के अभाव से न तो उत्पन्न हुआ है और न अपना अस्तित्व ही रखता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह पद न तो आकार युक्त है, न जगत् रूप है और न द्वैत एवं ऐक्य से मिला हुआ ही है ॥१४, १५॥

कारण से शून्य अर्थात् कारण की सत्ता से रहित वस्तु की सत्ता यहाँ कैसे युक्तियुक्त मानी जा सकती है। जो स्वयं सदा अनुभूत ही वस्तु है, उसका अपलाप करने की शक्ति कौन रख सकता है ॥ १६ ॥

शून्य अनादि और अनन्त है अतः वह जगत् का कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो आदि और अन्त से रहित होता है, वह सब तरह की अल्पता से निर्मुक्त ही रहता है, इस स्थिति में सभी सब जगह सभी समय में रहने लग जायँगे। ब्रह्म तो अमूर्त है आकार से शून्य है,

तस्मात् तत्र जगद्रूपं यदाभातं तदेव तत् ।
स्वयमेव तदाभाति चिदाकाशमिति स्थितम् ॥ १८ ॥
जगच्चिद्ब्रह्मभावाच्च तथा भावो भ्रमादिव ।
सर्वमेकमजं शान्तमद्वैतैक्यमनामयम् ॥ १९ ॥
पूर्णात्पूर्णं विसरति पूर्णे पूर्णं विराजते ।
पूर्णमेवोदितं पूर्णे पूर्णमेव व्यवस्थितम् ॥ २० ॥
शान्तं समं समुदयास्तमयैर्विहीन-
माकारमुक्तमजमम्बरमच्छमेकम् ।
सर्वं सदा सदसदेकतयोदितात्म
निर्वाणमाद्यमिदमुत्तमबोधरूपम् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

अतः ब्रह्म स्वभाव से भिन्न साकार जगत् का वह ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

इसलिए ब्रह्म में जो जगत्-रूप भासित है, वह ब्रह्म रूप ही है, दूसरा नहीं। ऐसी स्थिति में त्व, तल् आदि प्रत्ययों के अर्थ के रूप में भी जो स्वरूप भासता है, स्वयं वह चिदाकाश रूप ब्रह्म ही स्थित है ॥ १८ ॥

इस तरह यद्यपि वास्तव में जगत् चिद्-ब्रह्म रूप ही है, तथापि जो घट, पट आदि आकार आपाततः प्रतीत होते हैं, वे सब भ्रम से ही सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में सब कुछ एक, अज, शान्त, द्वैत-ऐक्य से रहित निरामय ब्रह्मरूप ही है, यह आप जानें ॥ १९ ॥

पूर्णरूप ब्रह्म से पूर्ण रूप ही जगत् विस्तार को प्राप्त होता है, उसी पूर्ण में पूर्णात्म जगत् विराजित है, पूर्ण ही पूर्ण में प्रकाशित होता है, अतः पूर्ण में पूर्णात्मक वस्तु ही ठीक-ठीक रूप से अन्त में व्यवस्थित है अर्थात् भ्रान्ति से जीव और जगत् के रूप में ब्रह्म ही है और भ्रान्ति का विनाश हो जाने पर वास्तव ब्रह्म स्वरूप ही रहता है ॥२०॥

भाव प्रत्ययों त्व, तल् आदि का अर्थ वही है, जो निर्वाण शब्द से कहलाने वाला विशुद्ध आत्मा है। वह शान्त, एक रूप, उदय अस्त से रहित, आकारों से शून्य, अज, आकाशवत् व्यापक, स्वच्छ और अद्वितीय है। यह सर्वात्मक है, इसका रूप सत्-असत् की एकता लेकर ही निरन्तर उदित है; सबका आदि है और उत्तम आत्म ज्ञान रूप है ॥ २१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में निर्वाणवर्णन नामक कुसुमलता का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

५४

वसिष्ठ उवाच

जगन्नाम नभः स्वच्छं सद्ब्रह्म नभसि स्थितम् ।
नभो नभसि भातीदं जगच्छब्दार्थ इत्यजम् ॥ १ ॥
त्वमहं जगदित्यादि शब्दार्थो ब्रह्म ब्रह्मणि ।
शान्तं समसमाभासं स्थितमस्थितमेव सत् ॥ २ ॥
समुद्रगिरिमेघोर्वीविस्फोटमयमप्यजम् ।
काष्ठमौनवदेवेदं जगद्ब्रह्मावतिष्ठते ॥ ३ ॥

५४

श्रीवसिष्ठ ने कहा—भद्र, घटत्व पटत्व आदि भावों से जगत् का स्वरूप यदि निचोड़ कर सिद्ध किया जाय, तो वह आकाश के सदृश स्वच्छ एवं भेद रूप कलङ्क से निर्मुक्त ही सिद्ध होता है। घटत्व आदि भाव तो ब्रह्म रूप ही स्थित हैं, यह पहले ही बतला चुके हैं, इस दृष्टि को लेकर देखा जाय, तो घट, पट आदि भावों में किसी में किसी के प्रति कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि उस दृष्टि में यही ज्ञान रहता है कि आकाश ही आकाश में भासता है, वही (नभो रूप ब्रह्म ही) जगत्-शब्द और घटादि शब्दों का अर्थ है, वह तो जन्म आदि विकारों से शून्य ही है ॥ १ ॥

त्वम् (तूं), अहम् (मैं)' जगत्—इत्यादि जो शब्द है, उनका अर्थ ब्रह्म ही है, शान्त ब्रह्म सबमें एक रूप से ही भासने वाला है, इसलिए अलग स्थित न होकर ही वह शब्दार्थ रूप ब्रह्म अपने ही स्वरूप में स्थित है ॥२॥

समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी, विस्फोट आदि पदार्थों से भरा जगत् भी ब्रह्म है यानी समुद्र आदि अनेक विभागों से युक्त तथा विचित्र कारक, क्रिया, फल आदि से भासमान तत्-तत् धर्म और धर्मियों का तात्त्विक स्वरूप भी निष्कर्ष में ब्रह्म रूप ही है, अतः यह समस्त जगत् काष्ठ मौन के सदृश निष्क्रिय ब्रह्म रूप ही है ॥ ३ ॥

द्रष्टा द्रष्टैव दृश्यस्य स्वभावात्स्वात्मनि स्थितः ।
कर्ता कर्तैव कर्तव्याभावतः कारणादृते ॥ ४ ॥
न ज्ञत्वं न च कर्तृत्वं न जडत्वं न भोक्तृता ।
न शून्यता न चार्थत्वमिह नापि नभोर्थता ॥ ५ ॥
शिलाजठरवत्सत्यं घनमेकमजं ततम् ।
सर्वं शान्तमनाद्यन्तमेकं विधिनिषेधयोः ॥ ६ ॥
मरणं जीवितं सत्यमसत्यं च शुभाशुभम् ।
सर्वमेकमजं व्योम वीचिजालं जलं यथा ॥ ७ ॥
विभाग एव दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चैव गच्छति ।
एतच्च कल्पनं स्वप्नपुरादिष्वनुभूयते ॥ ८ ॥
एवमच्छं पराकाशे स्वप्नपत्तनवज्जगत् ।
भाति प्रथममेवेदं ब्रह्मैवेत्थमतः स्थितम् ॥ ९ ॥

दृश्य वस्तु के स्वभाव से पृथक् किया गया द्रष्टा चिन्मात्र स्वभाव मे स्थित होकर द्रष्टा होता है, इसी प्रकार का कर्ता भी है । इसका कोई वास्तव में तो कर्तव्य ही नहीं है, क्योंकि जब कारण हो, तो कर्तव्य निर्धारण किया जाय, पर कारण ही कोई नहीं है ॥ ४ ॥

न तो ज्ञातापन, न कर्तापन, न जडपन, न भोक्तापन, न शून्यपन, न अर्थपन और न आकाशपन ही इस ब्रह्म में रहता है अर्थात् इसी दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् की विचित्रता हटाई जा सकती है ॥ ५ ॥

यदि कोई है तो वह शिला के उदर के सदृश अत्यन्त घन, बाधवर्जित, अद्वितीय, जन्मरहित, सर्वात्मक, शान्त, आदि अन्त से मुक्त तथा विधि एवं निषेध में एक रूप ब्रह्म ही है, यही सर्वत्र विस्तृत है ॥ ६ ॥

जैसे तरङ्गों का समूह जलरूप है । वैसे ही जीवन, मरण, सत्य असत्य, शुभ, अशुभ जो कुछ है वह सब एक, अज निर्मल चिदाकाशरूप है ॥ ७ ॥

ब्रह्म का जीवरूप से विभाग कल्पित होनेपर वह एक वस्तु चिदंश की प्रधानता से चिदंकाश को छिपा कर दृश्यत्व धारण करती है । इस प्रकार की कल्पना स्वप्न-नगर आदि में अनुभूत होती है, वहाँ पर व्यावहारिक जीव से प्रतिभासिक जीव का विभाग करने पर निद्रा से तिरोहित हुआ व्यावहारिक जीव स्वप्न का जीव, दृश्य, नगर आदिरूप बन जाता है ॥ ८ ॥

इस तरह जगत् स्वच्छ ब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध है वही स्वप्ननगर के सदृश परम चिदात्मरूप निर्मल आकाश में भासमान होता है, अतः प्रथम निष्प्रपञ्च जो ब्रह्म है, वही जीवात्मक विभाग से इस जगद्रूप से स्थित है, यह आप अवश्य जान लें ॥ ९ ॥

तदिदं तादृशं विद्धि सर्वं सर्वात्मकं च यत् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यमनङ्कितम् ॥ १० ॥
चिद्व्योम्नः शान्तशान्तस्य मध्यमे चैवमास्थितम् ।
जगत्तथैव सलिलमेवोर्म्यादितया यथा ॥ ११ ॥
यदुदेत्युदितं यच्च यच्च नोदेति नोदितम् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यान्न भेदितम् ॥ १२ ॥
अतः किलास्य सर्गस्य कारणं शशशृङ्गवत् ।
प्रयत्नेनापि चान्विष्टं न किञ्चिदुपलभ्यते ॥ १३ ॥
यदकारणकं भाति तदभातं भ्रमात्मकम् ।
भ्रमस्यासत्यरूपस्य सत्यता कथमुच्यते ॥ १४ ॥
कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते ।
यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ १५ ॥

इन सब बातों से यह आप अच्छी तरह जान लें कि यह सर्वातम जगत्स्वरूप पहले जैसे निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप था, वैसा ही सदा रहेगा । इस तरह निष्प्रपञ्चस्वरूप शाखा और चन्द्र दोनों के दर्शनकाल में इनके मध्य में दर्शन से अभिव्यक्ति चेतन प्रसिद्ध ही है ॥ १० ॥

जैसे तरङ्गादि के रूप से जल भासमान होता है । वैसे ही शान्तों में परम शान्त चेतनाकाश का मध्य में उक्त रीति से प्रसिद्ध जो निर्विषय रूप है, वही जगत् के रूप से भासता है ॥ ११ ॥

जो कार्यरूप से उदित होता है और कार्यरूप से उदित नहीं भी होता है; जो कारणरूप से उदित है और कारण-रूप से उदित नहीं भी है । वह जगत् प्रमातृचैतन्य के एक देश से दूसरे देश तक जानेपर जो उसका विषयशून्य मध्य भाग है, उससे भिन्न नहीं है ॥ १२ ॥

इसलिए इस सृष्टि का शशशृङ्ग के सदृश कोई कारण है ही नहीं, प्रयत्न से अन्वेषण करने पर भी इसका कोई कारण नहीं मिलता है ॥ १३ ॥

जो किसी कारण के बिना भासमान होता है, वह भासित न हुआ ही भासित होता है, वह भ्रमात्मक है, यह समझना चाहिए । भ्रम तो असत्य रूप है, अतः उसकी सत्यता कैसे कही जा सकती है ! ॥ १४ ॥

कारण के बिना कार्य ही कैसे और उसकी सत्ता ही क्या, यदि दिखाई पड़ा तो वह भ्रम ही है । पुत्र रहित को वन्ध्यापति को स्वप्न में अपने अच्छे पुत्र का जो दर्शन है; वह भ्रम ही है; सत्य नहीं है ॥ १५ ॥

यस्त्वकारणको भाति स स्वभावो विजृम्भते ।
सर्वरूपेण सङ्कल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ १६ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्यं विदो वपुः ।
स्वरूपमजहत्त्वेव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ १७ ॥
बोध एव कचत्यर्थरूपेण स च खादणुः ।
दृष्टान्तोऽत्रानुभूतोऽन्तः स्वप्नसङ्कल्पपर्वतः ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

विद्यते वटबीजान्तर्यथा भावि महाद्रुमः ।
परमाणौ तथा सर्गो ब्रह्मन् ! कस्मान्न विद्यते ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।
जन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ २० ॥
समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ २१ ॥
यत्तु ब्रह्मपरं शान्तं का तत्राऽऽकारकल्पना ।
परमाणुत्वयोगोऽपि नात्र केवाऽत्र बीजता ॥ २२ ॥
कारणस्येति बीजस्य सत्यासत्यैककारिणः ।
असम्भवाज्जगत्सत्ता कथं केन कुतः क्व का ॥ २३ ॥
जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ २४ ॥
सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
निराकारस्य किं बीजं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ २५ ॥

जो अकारण भासमान होता है, वह द्रष्टारूप चैतन्य ही अपने स्वरूप का त्यागकर सबरूप से उस प्रकार भासमान होता है, जिस प्रकार सङ्कल्प से गन्धर्व नगर आदि भासमान होते हैं ॥ १६ ॥

क्षणभर में शाखा प्रदेश से चन्द्रमा के प्रदेश तक गये हुए प्रमातारूप चेतन के मध्य का जो स्वरूप है, वही अपने निष्प्रपञ्च स्वरूप को न छोड़कर ही प्रकाशता है, क्योंकि वहाँ बीच में परमार्थरूप और आद्यन्त भाग में विवर्तरूप दोनों प्रकाशमान होते हैं ॥ १७ ॥

बोध ही अर्थ के रूप में स्फुरित होता है, वह आकाश से भी अतिसूक्ष्म है, इस विषय में स्वप्न और सङ्कल्प का पर्वत दृष्टान्त है, जिसका सभी ने भीतर अनुभव किया है ॥ १८ ॥

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! बोधात्मक परमाणु में भी यह सारी सृष्टि वैसे ही क्यों नहीं रह सकेगी जैसे वट बीज के भीतर भावी महा वृक्ष विद्यमान रहता है। अर्थात् बोध ही अर्थो के रूप में विकसित होता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हैं, वट बीज के भीतर सूक्ष्मरूप से स्थित वृक्ष के सदृश बोध के अन्दर स्थित जड़ात्मक प्रपञ्च पहले से ही बोध में रहता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं करते ॥ १९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जहाँ बीज है, वहाँ पर तो बड़ी-बड़ी उससे शाखाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वे विस्तृत शाखाएँ सहकारी कारणों से उत्पन्न होती है। अर्थात् साकार बीज में पहले भीतर निराकार वट था, इसलिए वह पृथ्वी, जल आदि सहकारी कारणों की पास में स्थिति हो जानेपर अङ्कुर आदि क्रम से उत्पन्न हुआ, यह बात तो मानी जा सकजी है, परन्तु जगत् का जब महाप्रलय हो जाता है, तब न तो कोई साकार वस्तु रहती है और न सहकारी कारण ही प्रतीत होते हैं, इसलिए आपका दृष्टान्त नहीं घटता ॥ २० ॥

परन्तु सम्पूर्म भूतों का जब प्रलय हो जाता है, तब कौन-सा साकार बीज होगा ? और उसका सहकारी कारण कौन होगा ? जिसके प्रभाव से जगत् उत्पन्न हो ॥ २१ ॥

ब्रह्म वस्तु तो वस्तुतः परम शान्त है, उसमें आकार की कल्पना कैसे हो सकती है ? उसमें परमाणुत्व का भी जब सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब आकार की कल्पना तो दूर की बात है, इसलिए ऐसी वस्तु में बीजरूपता आ ही नहीं सकती है ॥ २२ ॥

इस प्रकार सत्य और मिथ्या को एकरूप बनाने वाले बीजरूप कारण का सर्वथा असंभव है, इससे जगत् की सत्ता किस प्रकार की, किससे, कहाँ और क्या होगी ? क्योंकि उसको करने वाला तो कोई है नहीं ॥ २३ ॥

परमाणुरूप आत्मा के अन्दर सूक्ष्मरूप से जगत् है, यह कहना अनुचित ही है, क्योंकि सरसों के कण के अन्दर सुमेरु पर्वत है, यह अज्ञानियों की ही कल्पना है। अर्थात् 'अणुः पन्थाः विततः' इत्यादि श्रुतिप्रमाण से ईश्वर में अणुत्व की कल्पना यद्यपि हो सकती है, तथापि उसमें जगत् की स्थिति मानना अनुचित है ॥ २४ ॥

बीज की सत्ता होनेपर ही कार्य और कारण आदि के ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु निराकार वस्तु का कौन-सा बीज और कहाँ उनमें जन्य-जनक का क्रम वर्तमान है। अर्थात् यदि यह कहें कि जगत् भी निराकार है, तब तो बीज आदि का अभाव होने से अनायास रूपता ही फलित हो जाती है ॥ २५ ॥

अतो यत्परमं तत्त्वं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
नेह प्रथयते किञ्चिन्न च किञ्चिद्विनश्यति ॥ २६ ॥
चिदाकाशश्चिदाकाशे हृदि चित्त्वाज्जगद्भ्रमम् ।
अशुद्धवदिवाशुद्धे शुद्धं शुद्धे प्रपश्यति ॥ २७ ॥
खमेवाभासते तस्य रूपं स्पन्द इवानिले ।
सर्गशब्दार्थकलना नेह कश्चन सन्ति नः ॥ २८ ॥
यथा शून्यत्वमाकाशे द्रवत्वं च यथा जले ।
अन्यतात्ममयी शुद्धा सर्गतेयं तथाऽऽत्मनि ॥ २९ ॥
भारूपमिदमाशान्तं जगद्ब्रह्मैव नस्ततम् ।
अनादिनिधनं सत्यं नोदेति न च शाम्यति ॥ ३० ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्ये विदो वपुः ।
यत्तज्जगदितीवेदं व्योमात्मनि व्यवस्थितम् ॥ ३१ ॥
यथा स्पन्दोऽनिले तोये द्रवत्वं व्योम्नि शून्यता ।
तथा जगदिदं भातमनन्याश्लेषमात्मनि ॥ ३२ ॥
संविन्नभो ननु जगन्नभ इत्यनर्क-
मात्मन्यवस्थितमनस्तमयोदयं क्व ।
तत्त्वङ्गभूतमखिलं तदनन्यदेव
दृश्यं निरस्तकलनोऽम्बरमात्रमास्व ॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इसलिए परम ब्रह्मतत्त्व वही यह जगद्रूप बनकर स्थित है, यह आविर्भूत हो न तो कुछ स्वरूप बतलाता है और न कुछ नष्ट ही होता है ॥ २६ ॥

चिदाकाश ही आकाशवत् निर्मल चिति ही चिदाकाश रूप हृदय में चितिरूप होने के कारण जगद्भ्रम को अशुद्ध में अशुद्ध के समान और शुद्ध में शुद्ध के समान दीखता है ॥ २७ ॥

वायु में स्पन्द की तरह चिदाकाश में उनका स्वरूप चिदाकाशरूप ही भासमान होता है, अतः हम लोगों की कोई भी सृष्टि शब्दार्थ की कल्पनाएँ यहाँ अपना अस्तित्व नहीं रखती है ॥ २८ ॥

आत्मा में आत्ममय स्वविवर्तरूप यह विशुद्ध सर्गता (सृष्टिरूप) वैसे ही है जैसे आकाश में आकाशरूप शून्यता अथवा जैसे जल में जलरूप द्रवत्व है ॥ २९ ॥

हम लोगों का विस्तृत यह जगत् है, प्रकाशमय, अपरिमित शान्त ब्रह्म ही है, वह आदि अन्त से शून्य और त्रिकाल में भी बाधित नहीं होता है, न तो उसका उदय होता और न अस्त हो होता है ॥ ३० ॥

क्षणभर में शाखादेश से चन्द्रप्रदेश तक प्रमातृ चैतन्य के जानेपर उसका बीच वालासर्वोपद्रव शून्य निर्विषय ही यह जगत्सा बन गया है। इससे चिदाकाश में वह व्यवस्थित है ॥ ३१ ॥

यह जगत् आत्मा में वैसे ही प्रतीत होता है, जैसे वायु में स्पन्दन, जैसे जल में द्रवत्व है और आकाश में शून्यत्व प्रतीत होता है। इसका किसी अन्य पदार्थ से सम्बन्ध नहीं है, यह असङ्ग अद्वय आत्मरूप ही है ॥३२॥

अपने परमार्थ स्वभाव में स्थित जगत् सत्-स्वरूप है। चिदाकाश शून्यभावापन्न प्रसिद्ध आकाश स्वरूप ही है, यह तो किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्य के उदय और अस्त से निर्मुक्त तथा अपने स्वरूप में अवस्थित आकाश कहाँ प्रसिद्ध है, सच्चित्स्वभाववाला या सूर्य आदि से रहित आकाश प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि जड़ ही आकाश प्रसिद्ध है। सच्चित्स्वभावभूत तत्त्व सम्बद्ध ही दृश्यों का मान होता है, अतः सम्पूर्ण जगत् उस तत्त्व का ही अङ्गभूत है, शून्यात्मक आकाश का अङ्ग नहीं है, इसलिए सच्चिदात्मा से अनन्य है।इन सब बातों से आप समस्त कल्पनाओं का परित्याग कर एकमात्र आकाश स्वरूप होकर ही स्थित रहें ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में अद्वैतप्रतिपादन नामक कुसुमलता का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

५५

वसिष्ठ उवाच
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः । आदावेव हि नोत्पन्नाः सर्गादौ कारणं विना ॥ १ ॥

५५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदि से युक्त यह जगत् सृष्टि के आदि में पहले ही उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि इनको पैदा करनेवाला कोई कारण उस समय नहीं रहता है ॥ १ ॥

न त्वमूर्तो हि चिद्धातुः कारणं भवितुं क्वचित् ।
स्वात्मा शक्तः स मूर्तानां बीजमुर्वीरुहामिव ॥ २ ॥
स्वभावमेव सततं भावयन् भावनात्मकम् ।
आत्मन्येव हि चिद्धातुः सर्वोऽनुभववान् स्थितः ॥ ३ ॥
आस्वादयति यं भावं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
लब्धः सर्गः प्रलापेन क्षीबः क्षुब्धतया यथा ॥ ४ ॥
यदा सर्वमनुत्पन्नं नास्त्येवापि च दृश्यते ।
तदा ब्रह्मैव विद्धीदं समं शान्तमसत्समम् ॥ ५ ॥
चिन्नभश्चिन्नभस्येव पयसीव पयोद्रवः ।
चित्त्वात्कचति यत्तेन तदेवेदं जगत् कृतम् ॥ ६ ॥
स्वप्ने तदेव जगदित्युदेति विमला यथा ।

आकार के विना चितितत्त्व कहीं पर भी कारणरूप नहीं हो सकता है जैसे साकार वृक्षों को साकार बीज उत्पन्न करता है, वैसे ही साकार स्वात्मा ही मूर्त पदार्थों को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वह साकार नहीं है ।।२।।

जितने तत्त्वज्ञानी हैं, चितितत्त्वरूप वे सब अपनी आत्मा में ही सब कल्पनात्मक जगत् में आत्मरूपता की निरन्तर भावना करते हुए स्थित रहते हैं। अर्थात् इसी लिए ज्ञानी पुरुष 'सब जगत् चित्स्वभाव ही है' ऐसी भावना करता हुआ स्थित रहता है ॥ ३ ॥

चिदाकाशरूप आत्मा जिस भाव का स्वाद लेता है, वही उस प्रकार सृष्टि प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार मद्य की क्षुब्धता से प्रलाप द्वारा अपनी आत्मा से ही मद्य पीने वाला पुरुष अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

इनके अनुत्पन्न होने से ही नहीं, और भी दिखाई देता है, तब इसे आप शान्त, एकरूप ब्रह्म ही समझिए, जो अज्ञान दशा में असत्-सा है ॥ ५ ॥

चिदाकश में चिदाकाशरूप जगत् वैसे ही है। जैसे जल में जलरूप द्रवत्व है, उस चिदात्मा के कारण ही यह अध्यस्त समस्त प्रपञ्च प्रकाशित होता है, इसीलिए जगत् ब्रह्मरूप ही है और इसका निर्माण भी जगदाकार उस ब्रह्म ने ही किया है, यह श्रुतियों में प्रवाद है ॥ ६ ॥

जैसे स्वप्न में विमल चेतन ही जगत् के रूप में उदित होता है, अथवा जैसे काच दोष से दूषित नेत्रवाले पुरुष के प्रति आकाश में केशोण्ड्रक आदि प्रतीत होते हैं, वैसे ही सृष्टिरूप से भावित चिदाकाश में इस तरह का विचित्र सादिरूप जगत् प्रकाशित होता है ।। ७ ॥

जाग्रदवस्था में भी विचित्र जगत् भी चितिरूप काच का प्रकाश वैसे ही 'स्फुरण' ही है, जैसे स्वप्न में जगत् चितिरूप काच का प्रकाश ही है, इसलिए यह जगत्

काचकस्येव कचति तथेत्थं सादि सर्गखे ॥ ७ ॥
चित्काचकस्य कचनं यथा स्वप्ने जगद्भवेत् ।
तथैव जाग्रदविधं तत्खमात्रमिदं स्थितम् ॥ ८ ॥
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिशब्द्यते ।
आद्यरात्रौ चितेः स्वप्नः स्वप्न इत्यपि शब्द्यते ॥ ९ ॥
पूर्वप्रवृत्ता सरितां रूढाद्यापि यथास्थिता ।
तरङ्गलेखा दृष्टीनां पदार्थरचना तथा ॥ १० ॥
यथा वारितरङ्गश्रीः सरितां रचनामिता ।
तथा चिद्व्योम्नि चिद्बीजसत्तान्तः सृष्टितामिता ॥ ११॥
मृतस्यात्यन्तनाशश्चेत्तन्निद्रासु खमेव तत् ।
भूयश्चोदेति संसारस्तत्सुखं नवमेव तत् ॥ १२ ॥

चिदाकाशमात्ररूप स्थित है ॥ ८ ॥

प्रथम प्रवृत्त हिरण्यगर्भ की सृष्टि में चिति का स्वप्न जगत्-शब्द से कहा जाता है और प्रबल रात्रि में प्रवृत्त स्वव्यष्टि-अन्तःकरणमात्र के परिणामस्वरूप सृष्टि में जो चिति का स्वप्न है वह स्वप्न शब्द से कहा जाता है ।।९।।

प्रथम सङ्कल्प ही महाप्रलय तक समस्त पदार्थों के स्वभाव की व्यावस्थापक नियति है। उसी के अनुसार आज भी सुव्यवस्थित पदार्थों की रचना एक तरह से पहले की तरह बह रही नदियों की तरङ्ग-रेखा है, वही प्रत्यक्ष सिद्ध होती है ॥ १० ॥

चिदाकाश के भीतर विद्यमान चितिरूप बीजसत्ता सृष्टिरूपता को वैसे ही प्राप्त हो गई है जैसे जल-तरङ्गों की शोभा नदियों की रचना को प्राप्त हुई है अर्थात् नदियों की सत्ता जल-तरङ्ग शोभा की सत्ता से पृथक् नहीं है, अर्थात् सृष्टि की सत्ता से अतिरिक्त नहीं है, अर्थात् जैसे तरङ्गों की सत्ता जल सत्ता से भिन्न दूसरी नहीं है, वैसे ही जगत् की सत्ता भी चिति की सत्ता से भिन्न दूसरी नहीं है ॥ ११ ॥

यदि मृत व्यक्ति की आत्यन्तिक असत्ता मान ली जाय, तो भी ब्रह्मानन्द की सत्ता के रूप से अवशिष्ट होने से सुषुप्ति अवस्था में प्रसिद्ध निरतिशयानन्दरूप सुख ही उसे प्राप्त हुआ और मर जाने के बाद फिर जो देहादिरूप संसार प्राप्त होता है, वह उसका नवीन संसाररूप सुख भी ब्रह्मसुखरूप ही है, इसलिए सुखसत्ता से अतिरिक्त किसी सत्ता के न रहने से भय की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् जगत् की अलग सत्ता न होने के कारण जन्म-मरण की भीति नहीं आ सकती, किन्तु दोनों प्रसङ्गों में सुख ही सुख है ॥ १२ ॥

कुकर्मभ्यस्तु चेद्भीतिः सा समेह परत्र च ।
तस्मादेते समसुखे सर्वेषां मृतिजन्मनी ॥ १३ ॥
मरणं जीवितं वाऽस्तु सहजे वासने तयोः ।
इति विश्रान्तचित्तो यः सोऽन्तःशीतल उच्यते ॥ १४ ॥
सर्वसंवित्तिविगमे संविद्रोहति यादृशी ।
भूयते तन्मयेनैव तेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५ ॥
अत्यन्ताभावसंवित्त्या सर्वदृश्यस्य वेदनम् ।
उदेत्यपास्तसंवेद्यं सति वाऽसति सर्गके ॥ १६ ॥
यन्न चेत्यं न चिद्रूपं यच्चितेरप्यचेतितम् ।
तद्भावैक्यं गतास्तज्ज्ञाः शान्ता व्यवहृतौ स्थिताः ।१७।
चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते ।
अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ १८ ॥

चिन्नभःस्पन्दमात्रात्म सङ्कल्पात्मतया जगत् ।
सद्भूतमयमेवेदं न पृथ्व्यादिमयं क्वचित् ॥ १९ ॥
नेह देशो न कालोऽस्ति न द्रव्यं न क्रिया न खम् ।
सदिवाखिलमुच्छूनं वाऽप्यनुच्छूनमप्यसत् ॥ २० ॥
भाति केवलमेवेत्थं परमार्थघनं घनम् ।
यन्न शून्यं न वाऽशून्यमत्यच्छं गगनादपि ॥ २१ ॥
साकारमप्यनाकारमसदेवातिभास्वरम् ।
अतिशुद्धैकचिन्मात्रस्फारं स्वप्नपुरं यथा ॥ २२ ॥
निर्वाणमेवमिदमाततमित्थमन्त-
श्छिद्व्योम्न आविलमनाविलरूपमेव ।
नानेव न क्वचिदपि प्रसृतं न नाना
शून्यत्वमम्बर इवाम्बुनिधौ द्रवत्वम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

कुकर्मों के कारण नरक आदि का भय तो यहाँ जीने वाले को और परलोक में मरने वाले को समान ही है, नरक आदि दुःख की स्थिति भी सुख सत्ता से है, इसलिए उनमें भेद नहीं है। अतः सभी के मरण और जन्म समान सुख वाले हैं ॥ १३ ॥

भले ही मरण हो या भले ही जीवन हो—इन दोनों की वासनाएँ अर्थात् उनकी सूक्ष्मरूप से विद्यमान सत्ता ब्रह्म सुखरूप ही है, अतः वे भी ब्रह्म सुखरूप ही हैं। इसलिए ब्रह्मसुख में विश्रान्ति पानेवाला धीर वीर अन्दर से शीतलात्मा है, यह कहा जाता है ॥ १४ ॥

जितने प्रकार के भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका अस्त हो जानेपर पुरुष को उत्पन्न एकरूप ज्ञान तद्रूप ही वह बन जाता है, इससे दृश्य पदार्थों की पृथक् सत्ता का विनाश हो जाता है और पुरुष मुक्त कहा जाता है ॥१५॥

इस तरह पुरुष को जब यह ज्ञान हो जाता है कि विषयों की सत्ता त्रिकाल में है ही नहीं, तब उसकी दृष्टि में ब्रह्मरूप से सृष्टि की पारमार्थिक सत्ता और स्वतः असत्ता बन जाती है। उस समय सब दृश्य का ज्ञान निर्विषयक ही उदित होता है, इसलिए ऐसे पुरुष में मुक्तरूपता भलीभाँति आ जाती है ॥ १६ ॥

स्वयं चेत्यरूप विषयरूप न होने से चिति क्रियारूप नहीं है, चिति क्रिया से प्रकाशित ब्रह्मरूपता के साथ एकरूप बन गये तत्त्वज्ञानी पुरुष परम शान्ति से युक्त व्यवहार में विद्यमान रहते हैं ॥ १७ ॥

अतिस्वच्छ चिदाकाश में चिति का निरन्तर प्रकाशन होना ही तो जगत्-शब्द से कहा जाता है, इसलिए उनमें बन्धन और मुक्ति की दृष्टियाँ कैसे हो सकती हैं ॥ १८ ॥

सङ्कल्प के स्वरूप से बना यह जगत् केवल चिदाकाश का स्पन्दन स्वरूप ही है, अतः वह त्रिकाल बाधित ब्रह्ममय है, न कि कहीं पृथ्वी आदिमय है ॥ १९ ॥

यहाँ न देश है, न काल है, न द्रव्य है, न क्रिया है, न आकाश है; किन्तु प्रतिभासरूप से ही यह सब उत्पन्न है, इसलिए सत्-सा प्रतीत होता है। प्रतिभासरूप से उत्पन्न भी वास्तव में यह अनुत्पन्न है, अतः असत्य ही है ॥२०॥

इस प्रकार परमार्थघनरूप केवल ब्रह्म ही इस जगत् के रूप में भासमान होता है, ब्रह्म न अशून्यरूप है, वह आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ है ॥ २१ ॥

स्वप्ननगर के सदृश साकार होता हुआ भी ब्रह्म चैतन्य वास्तव में निराकार है, निराकार होता हुआ ही प्रकाशमय है और अतिस्वच्छ एकमात्र चिति स्वरूप होने के कारण अतिविस्पष्ट है ॥ २२ ॥

चिदाकाश के अन्दर जगदात्मक कलुषित व्यापक निर्वाणरूप ही बन जाता है। यह निर्वाणरूप ही बन जाता है। यह निर्वाणरूप आत्मतत्त्व कहीं पर उपलब्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सर्वत्र उपलब्ध होता ही है। यह जगत् भिन्न नहीं है, किन्तु आकाश में शून्यरूप के सदृश तथा समुद्र में द्रवत्व के सदृश अभिन्न है अर्थात् ब्रह्मरूप ही है ॥ २३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में जगत् के परमार्थमयवर्णन नामक कुसुमलता का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

५६

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा व्योम्नि चिन्मये ।
साधु सम्भवति स्वच्छशून्यत्वं ख इवाखिले ॥ १ ॥
यत्र चित्तत्र सर्गश्रीर्व्योम्नि व्योम्निवाऽस्ति चित् ।
चिन्मयत्वात्पदार्थानां सर्वेषां नास्त्यचित् क्वचित् ॥२॥
पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च ।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ ३ ॥
पाषाणाख्यानमत्रेदं शृणु राम ! रसायनम् ।
पूर्वं मयैव यद्दृष्टं चित्रं प्रकृतमेव च ॥ ४ ॥
अहं विदितवेद्यत्वात्कदाचित्पूर्णमानसः ।
त्यक्तुमिच्छुरिमं लोकव्यवहारं घनभ्रमम् ॥ ५ ॥
ध्यानैकतानतामेत्य शनैर्विश्रान्तये चिरम् ।
त्यक्ताजवं जवीभाव एकान्तार्थी शमं व्रजन् ॥ ६ ॥
इदं चिन्तितवानस्मि कस्मिंश्चिदमरालये ।
संस्थितो विविधाः पश्यन् भङ्गुरा जागतीर्गतीः ॥ ७ ॥
विरसा खल्वियं लोकस्थितिरापातसुन्दरी ।
न जातु सुखदा मन्ये कस्यचित्केनचित् क्वचित् ॥ ८ ॥
उद्वेगं जनयन्त्यन्तस्तीव्रसंवेगखेदतः ।
इमा दृश्यदृशो द्रष्टुरिष्टानिष्टफलप्रदाः ॥ ९ ॥
किमिदं दृश्यते किं वा प्रेक्षते कोऽहमेव वा ।
सर्वं शान्तमजं व्योम चिन्मात्रात्मनि रिङ्गकम् ॥ १० ॥
तस्मात्समस्तसिद्धेन्द्रदेवदैत्यादिदुर्गमम् ।
सुप्रदेशमितो गत्वा संगोप्यात्मानमात्मना ॥ ११ ॥

५६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—चिन्मय आकाश में सर्वत्र और सदा सब कुछ किसी प्रकार के सङ्कोच के बिना विद्यमान है ही, परन्तु वह है सर्वथा स्वच्छ । ब्रह्म जगत् के मल से दूषित नहीं होता, जैसे नीलरूप से भासमान शून्यता अपने मल से आकाश में मलिनता पैदाकर उसे दूषित नहीं करती ॥ १ ॥

भद्र, जहाँ चिति है, वहाँ पर ही जगत् की शोभा है, चाहे पृथ्वी आदि पदार्थ हों, चाहे आकाश हो सर्वत्र चित् विद्यमान है, क्योंकि सभी पदार्थ तो चितिरूप हैं, अतः कहीं पर चित् नहीं है, यह नहीं हो सकता ॥ २ ॥

[सब की चिन्मात्रता स्वप्न में प्रसिद्ध है, इसलिए उसको दृष्टान्त बनाकर जाग्रत् में भी पदार्थों की चिन्मात्रता सिद्ध करते हैं ।]

जैसे स्वप्न में पर्वत आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, वैसे ही जाग्रत् में भी ये पृथ्वी आदि पदार्थ परम चिदात्मरूप ही हैं ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, इस विषय में प्रथम मुझ से ही दृष्ट एक पाषाणाख्यायिका है, यह सब रसों से पूर्ण और भ्रान्ति रूप रोग की तो बड़ी भारी ओषधि है, बड़ी ही विचित्र तथा प्रस्तुतोपयोगी है, उसे आप सुनिए ॥ ४ ॥

श्रीरामभद्र, किसी समय की बात है—मैंने ज्ञानयोग्य वस्तु का ज्ञान कर लिया था और मेरा मन भी पूर्ण हो चुका था, अतः उस समय मैंने घने भ्रम से भरे इस लोक-व्यवहार को छोड़ देने की इच्छा की ॥ ५ ॥

तदनन्तर समाधि में एकनिष्ठा प्राप्त कर धीरे-धीरे दीर्घकाल तक विश्रान्ति पाने के निमित्त मैंने सब प्रकार की चञ्चलता का त्याग कर एकान्त स्थान की अभिलाषा की और शान्ति की ओर जाने लगा ॥ ६ ॥

शान्ति की ओर गमन कर रहा किसी देवता के स्थान में स्थित मैं जगत् की विलक्षण भङ्गुर गतियों को देखते हुए यह सोचने लगा ॥ ७ ॥

यह जो लोकों की अवस्था है, वह वस्तुतः नीरस ही है, केवल ऊपर-ऊपर से सुन्दर लगती है, इसलिए मैं मानता हूँ कि यह किसी को, कहीं, किसी हेतु से किसी समय भी सुखकारक नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

[लोक स्थिति सुखद नहीं है, इतनी ही बात नहीं है, किन्तु असीम दुःखदायी भी है ।]

तीव्र खलबली और खेद उत्पन्न कर ये इष्ट- अनिष्ट फल देनेवाली दृश्यदृष्टियाँ द्रष्टा के भीतर उद्वेग ही उत्पन्न करती हैं ॥ ९ ॥

यह क्या दिखाई देता है, कौन देखने वाला है और मैं ही कौन हूँ अर्थात् ये सब तुच्छ हैं । कोई नहीं है, सब कुछ शान्त, अज चिदाकाश रूप ही है, केवल चिदाकाश में थोड़ा-सा रेंगने वाला विवर्त बन गया है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी, यह सब विचार कर अन्त में उसी के कारण समस्त सिद्ध, इन्द्र, देव, दैत्य आदि द्वारा दुर्गम एक अच्छे प्रदेश में जाकर अपनी देह को अपने आप ही अन्तर्धान के उपायों से छिपा कर (सुरक्षित बना कर) मैं सब प्राणियों की आँखों से ओझल हो जाऊँ और निर्विकल्पक समाधि लगा कर एक रूप अद्वितीय स्वच्छ

अदृश्यः सर्वभूतानां निर्विकल्पसमाधिगः ।
समे स्वच्छे पदे शान्ते आसे विगतवेदनम् ॥ १२ ॥
तस्मात्को नु प्रदेशः स्यादत्यन्तं शून्यतां गतः ।
यत्रैता नानुभूयन्ते पञ्च बाह्यार्थवेदनाः ॥ १३ ॥
शब्दकाननवार्यब्दभूतौघाभिसमाकुलाः ।
क्षोभयन्त्यथ संक्षुब्धास्तस्मान्मे गिरयोऽरयः ॥ १४ ॥
नानाविधा नगेन्द्राणामन्तरा वलिता जनैः ।
देशा विषमया एव निःशेषा विषयाहिभिः ॥ १५ ॥
जनैर्जलचरैर्व्याप्ताः सागरा नीरकुक्षयः ।
विविधारम्भसंक्षुब्धैर्नगराणीव नागरैः ॥ १६ ॥
तटान्यद्र्यम्बुराशीनां लोकपालपुराणि च ।
भूताकुलानि शृङ्गाणि पातालकुहराणि च ॥ १७ ॥

शान्त पद में सब विकल्प से निर्मुक्त हो स्थित हो जाऊँ ॥ ११, १२ ॥

मुझे जहां समाधि लगानी है; वह उत्तम प्रदेश कौन हो सकता है, क्योंकि वह प्रदेश अत्यन्त शून्य रूप और समाधि के लिए उपयोगी होना ही चाहिए। उस प्रदेश में बाह्य अर्थों के विज्ञान, जो पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण पाँच प्रकार के हैं, रहने भी नहीं चाहिएँ ॥१३॥

[पर्वत शिखर आदि अनेक एकान्त प्रदेश समाधि के लिए हैं ही, फिर उनमें ही वास क्यों न किया जाय, इस पर कहते हैं।]

विक्षेप पैदा करने वाले शब्दों से आक्रान्त अरण्य, जल, मेघ एवं सिंह आदि प्राणियों से चारों ओर व्याकुल पर्वतों को मैं अपना शत्रु ही समझता हूँ, क्योंकि वे उनसे स्वयं ही क्षुब्ध होकर दूसरों को क्षुब्ध कर देते हैं, अतः वे प्रतिकूल हैं ॥ १४ ॥

बड़े-बड़े पर्वतों के अनेक तरह के बीच वाले प्रदेश तो भील आदि जनों से वेष्टित हैं और वे सब विषय रूप सर्पों से दूषित होने के कारण विषमय ही हैं ॥१५॥

अनेक तरह के बड़े-बड़े समारोहों से क्षुब्ध नागरिक जनों से युक्त नगर जैसे समाधि के प्रतिकूल हैं, वैसे ही विविध समारम्भों से पूर्ण (व्याप्त) जलचरों से जलाधार सागर भी समाधि के प्रतिकूल हैं ॥ १६ ॥

पर्वत तट, जल तट, लोकपालों के नगर, शिखर, पातालों के कुहर आदि सब अनेक विध प्राणियों से व्याकुल ही हैं ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े पर्वतों की गहन छिद्र वाली गुफाएँ तो वायुओं के भाङ्कार शब्दों से गान करती हैं, लतिका रूपी

गायन्त्यनिलभाङ्कारैर्नृत्यन्ति लतिकाः करैः ।
पुष्पैर्हसन्त्यगेन्द्राणां गुहा गहनकोटराः ॥ १८ ॥
मौनिमीनमुनिस्पर्शकम्पिनालचलाम्बुजाः ।
सरस्यो विरसा एव वार्यावर्तविराविताः ॥ १९ ॥
पवनस्पर्शसंक्षुब्धतृणपांसुपताकिनी ।
रटत्यनिलभाङ्कारैर्निर्झरोर्व्यप्यसंयता ॥ २० ॥
तस्मादाकाशमाशून्यं कस्मिंश्चिद्दूरकोणके ।
अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनिन्दिताम् ॥ २१ ॥
कस्मिंश्चिदेककोणेऽत्र कृत्वा कल्पनया कुटीम् ।
वज्रोदरदृढं तस्यामन्तस्तिष्ठाम्यवासनम् ॥ २२ ॥
इति सञ्चिन्त्य यातोऽहमाकाशमसिनिर्मलम् ।
यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥ २३ ॥

हाथों से नृत्य करती हैं और वन-वृक्षों के फूलों से हँसती हैं अतः वे भी विक्षेपकारक ही हैं ॥ १८ ॥

[तब बड़े-बड़े सरोवर ही, जिनको दक्षिण पथ में सरसी कहते हैं, अपने तट पर समाधि के कारण होंगे ?]

दर्प और भय से व्याकुल मौनी मीन एवं मुनियों के स्पर्श से यानी क्रीड़ा, स्नान आदि के अभिघात से कम्पनशील नाल दण्डों के कारण चञ्चल हुए कमलों से युक्त सरोवर तो जलावर्तों के द्वारा शब्द (कल्लोल) करते रहते हैं, अतः वे समाधि के भङ्ग में ही कारण हो जाते हैं, इसलिए मैं उन्हें भी नीरस ही समझता हूँ ॥१९॥

वायु के स्पर्श से क्षुब्ध तृण और धूलि रूपी पताकाओं से समन्वित झरने का प्रदेश भी विक्षेप का निवारण नहीं कर सकता है क्योंकि वह प्रदेश वायु के भाङ्कार शब्दों से निरन्तर 'भाँय-भाँय शब्द का' रटन करता रहता है ॥ २० ॥

इसलिए मैंने सोचा कि यह चारों ओर से विक्षेप कारणों से रहित आकाश ही मेरी समाधि के लिए परम उपयोगी है, इस आकाश के किसी दूरवर्ती कोने में परम विशुद्ध आनन्दित योग युक्ति का अवलम्बन कर मैं यहां स्थित रहूँ अर्थात् निष्कर्ष यह है कि आकाश ही सब विक्षेपों के उत्पादक हेतुओं से रहित है, इसलिए वही शरण है ॥ २१ ॥

इसके किसी एक कोने में कल्पना से एक कुटिया का निर्माण कर उसके भीतर वासना रहित तथा वज्र के उदर के सदृश दृढ़ होकर मैं बैठूँ ॥ २२ ॥

इस प्रकार विचार कर तलवार की धार के समान निर्मल आकाश की ओर बढ़ने पर मैं देखता हूँ कि यह

क्वचित् भ्रमत्सिद्धगणं क्वचिदुद्गर्जदम्बुदम् ।
क्वचिद्विद्याधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं क्वचित् ॥ २४ ॥
क्वचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं क्वचित् ।
क्वचिद्द्रवज्जलधरं क्वचिदुद्वृत्तयोगिनि ॥ २५ ॥
क्वचिद्दैत्यपुरोड्डीनसगन्धर्वपुरं क्वचित् ।
क्वचिद्भ्रमद्ग्रहगणं तारकाकुलितं क्वचित् ॥ २६ ॥
क्वचित्खे खगसंघृष्टं क्वचित् क्रुद्धमहानिलम् ।
क्वचिदुत्पातवलितं क्वचिन्मण्डलमण्डितम् ॥ २७ ॥
क्वचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं क्वचित् ।
क्वचिदर्करथाक्रान्तं क्वचिदन्यरथोद्धुरम् ॥ २८ ॥
क्वचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं क्वचित् ।
क्वचित्क्षुद्रजनासह्यं क्वचिदग्न्यौष्ण्यदुर्गमम् ॥ २९ ॥
क्वचिदुत्तालवेतालं गरुडोड्डामरं क्वचित् ।
क्वचित्सप्रलयाम्भोदं क्वचित्सप्रलयानिलम् ॥ ३० ॥

भी पूर्ण रूप से हजारों विक्षेप के कारणों से व्याप्त पेट वाला ही है ॥ २३ ॥

कहीं सिद्धों के गण घूम रहे हैं, कहीं बड़ी-बड़ी भयङ्कर गर्जनाओं से युक्त मेघ मण्डल है, कहीं विद्याधरों की बैठक जमी है, कहीं यक्षों के द्वारा विशिष्ट स्थान पड़ा है ॥ २४ ॥

कहीं सुन्दर नगरों के नगर ही घूम रहे हैं, कहीं युद्ध का ही आरम्भ हो गया है, कहीं मेघ ही बरस रहे हैं, कहीं तो रौद्र रूप-धारण की हुई योगिनियाँ विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

कहीं-कहीं आसन्न दैत्य नगरों के कारण गन्धर्व युक्त देव नगर उड़ रहे हैं, कहीं ग्रह-मण्डल घूम रहा है, कहीं तो वह तारों से व्याकुल हो रहा है ॥ २६ ॥

कहीं आकाश में पक्षियों द्वारा आक्रान्त स्थान है, कहीं क्रुद्ध भयङ्कर झंझावात है, कहीं उत्पात युक्त स्थान है, कहीं मेघादि मण्डलों से व्याप्त है ॥ २७ ॥

कहीं अपूर्व चित्र-विचित्र भूतों का समूह पिशाच संघ पड़ा है, कहीं नगरों के समूह के समूह पड़े हैं, कहीं सूर्य के रथों से आक्रान्त है, कहीं चन्द्र आदि के रथों के कारण आक्रान्त बना है ॥ २८ ॥

कहीं सूर्य की सन्निधि के कारण दाह से प्राणी मर रहे हैं, कहीं शिशिर ऋतु की शीतलता के कारण लोग आक्रान्त हैं, कहीं भूत-प्रेत आदि के कारण बीभत्स प्रतीत हो रहा है, कहीं अग्नि की उष्णता से दुर्गम है ॥२९॥

कहीं भयङ्कर लम्बे-लम्बे वेताल हैं, कहीं गरुड़ों से भयङ्कर है, कहीं प्रलय लिये मेघ बरस रहे हैं, कहीं प्रलयङ्कर पवन बह रहे हैं ॥ ३० ॥

ततो भूतगणांस्त्यक्त्वा दूराद्दूरतरं गतः ।
प्राप्तवानहमेकान्तं शून्यमत्यन्तं विस्तृतम् ॥ ३१ ॥
अत्यन्तमन्दपवनं स्वप्नेऽप्यप्राप्यभूतकम् ।
मङ्गलोत्पातरहितमगम्यं विद्धि संसृतेः ॥ ३२ ॥
कल्पिताऽथ मया तत्र कुटी प्रकटकोटरा ।
नीरन्ध्रकुड्यनिबिडा पद्मकुड्मलसुन्दरी ॥ ३३ ॥
घुणक्षुण्णाङ्गपूर्णेन्दुबिम्बोदरमनोहरा ।
कह्लारकुन्दमन्दारपुष्पश्रीकोशशोभिता ॥ ३४ ॥
समस्तभूतागम्यत्वं तत्र सङ्कल्प्य चेतसा ।
अगम्ये सर्वभूतानामहमासं तदा ततः ॥ ३५ ॥
बद्धपद्मासनः शान्तमनाः परममौनवान् ।
संवत्सरशतान्तेन निर्णीयोत्थानमात्मनः ॥ ३६ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थो निद्रामुद्रामिवागतः ।
समः सौम्यनभः स्वस्थः समुत्कीर्ण इवाम्बरात् ॥३७॥

यह सब तमाशा देख कर उन भूतगणों को छोड़ कर मैं दूराति दूर एकान्त स्थान में पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत तथा शून्य था ॥ ३१ ॥

उस प्रदेश में अत्यन्त मन्द पवन बह रहा था, स्वप्न में भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे, शुभ चिह्न और अशुभ चिह्नों से रहित तथा संसारियों को वह अगम्य था, यह जान लें ॥ ३२ ॥

उस शून्य प्रदेश में मैंने अपने सत्य सङ्कल्प से एक कुटी का निर्माण किया, उसकी कोठरियाँ बड़ी ही स्वच्छ बनी थीं, छिद्र रहित भीतों के कारण निविड़ तथा कमल की कली के सदृश वह सुन्दर लगती थी ॥ ३३ ॥

वह ऐसी मनोहर थी मानो पूर्ण चन्द्रबिम्ब में घुन ने छेद बना दिया हो, उसे कह्लार, कुन्द और मन्दार के फूलों की शोभाओं से सजाया था ॥ ३४ ॥

पहले तो मैंने अपने अन्तःकरण से उसकी समस्त भूतों द्वारा अगम्यता बना ली, फिर सब भूतों की अगम्य उस कुटिया में मैं प्रविष्ट हो गया ॥ ३५ ॥

अनन्तर वहाँ मैंने पद्मासन बाँध लिया, मन को शान्त कर लिया और उत्तम मौन व्रत-धारण किया। फिर यह निश्चय किया कि मैं एक सौ वर्षों के बाद अपनी समाधि से उठूंगा। यह निश्चय कर निद्रा की मुद्रा के सदृश निर्विकल्पक समाधि में स्थित हो गया, उस समय मेरी वृत्ति एक थी, निर्मल आकाश के सदृश मैं अपने

चिरं यदनुसंधत्ते चेतः पश्यति तत्क्षणात् ।
चिरेण चाशापवनव्यक्तिवद्वितते यदा ॥ ३८ ॥
तदा वर्षशतेनात्र बोधबीजं वृतान्तरम् ।
आसीन्मे हृदयक्षेत्रे कालमेकं विकासतः ॥ ३९ ॥
संप्रबुद्धोऽभवन्मेऽथ जीवः सम्बुद्धवेदनः ।
शिशिरक्षीणगात्रस्य मधाविव रसस्तरोः ॥ ४० ॥
तच्छतं तत्र वर्षाणां निमेषमिव मे गतम् ।
बह्व्योऽपि कालगतयो भवन्त्येकधियो मनाक् ॥ ४१ ॥
विकासमागतो बाह्यं गतो बुद्धीन्द्रियक्रमः ।
वासन्तः पुष्परूपेण मदस्येव रसो मम ॥ ४२ ॥
मां प्राणपूरितमुपागतसंविदंश-
मभ्यागतं त्वहमिति प्रसृतः पिशाचः ।
इच्छाङ्गनाविवलितोऽथ कुतोऽपि सद्यः
प्रोन्नामसन्नमनवायुरिवोग्रवृक्षम् ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने आकाशमन्दिरे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

स्वरूप में था और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं आकाश से ही चित्रित हो गया हूँ ॥ ३६, ३७ ॥

दीर्घकाल तक मन जिसका स्मरण करता, उसको वह तत्काल ही देखता है, इस अकाटच नियम के अनुसार दीर्घकाल के बाद जब चित्त दिशा और पवन व्यक्ति के सदृश विशाल हुआ, तब समाधि टूटने में कारणभूत कर्म हृदय में एक समय पैदा हो गया, उस बीजरूप कर्म का भीतरी भाग ढँका हुआ था । अनन्तर ज्ञातव्य वस्तु जानकर मेरा जीव समाधि से वैसे ही प्रबुद्ध हो गया, जैसे शिशिर में क्षीण शरीर हुए वृक्ष का रस चैत्र मास में वसन्त में प्रबुद्ध हो जाता है ॥ ३८–४० ॥

वहाँ पर वे मेरे सौ वर्ष एक निमेष मात्र के समान व्यतीत हो गये, क्योंकि एकाग्रचित्त वाले पुरुष के लिए बहुत भी काल की गतियाँ अत्यन्त स्वल्प हो जाती हैं ॥ ४१ ॥

धीरे-धीरे विकास प्राप्त कर बुद्धि-इन्द्रियों की परम्परा बाहर की ओर वैसे ही प्रवृत्त हो गई जैसे वृक्षों के मद का यानी पल्लव आदि की पुष्टि के हेतुभूत हर्ष का कारणभूत भीतरी वसन्तकाल का रस पुष्परूप से बाहर आता है ॥ ४२ ॥

अनन्तर पाँच वृत्ति वाले प्राणवायु से तथा इन्द्रियों से पूर्ण आविर्भूत जीवरूप चिति-अंश से युक्त देह वाले अभ्यागत मुझको देखकर 'त्वम्' 'अहम्' रूप से प्रसिद्ध अहङ्काररूप पिशाच, इच्छारूप, अपनी पत्नी पिशाची के साथ किसी भी अतर्कित प्रदेश से मेरी सन्निधि में वैसे ही शीघ्र आ धमका, जैसे उग्र शाल्मली आदि वृक्षों की सन्निधि में ऊँचे वृक्षों को नमन कराने वाला प्रचण्ड पवन आ धमकता है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान आकाश मन्दिर में वसिष्ठसमाधानवर्णन नामक कुसुमलता का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

५७

श्रीराम उवाच

त्वामप्युदितनिर्वाणमहङ्कारपिशाचकः ।
बाधते किमिति ब्रूहि मुने ! सन्देहशान्तये ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञाज्ञयोरिह ।
आधेयस्य निराधारा न संस्थेहोपपद्यते ॥ २ ॥

५७

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! निर्वाण प्राप्त आपको भी क्या अहङ्काररूपी पिशाच बाधा पहुँचाता है, मेरे सन्देह की निवृत्ति के लिए यह मुझ से कहें ॥ १ ॥

एकमात्र प्रारब्ध शेष का भोग ही प्रयोजन होने से जले हुए वस्त्र-जैसे देह धारण के निमित्त केवल अहङ्काराभास की प्रतीति होने से अज्ञानियों की तरह ज्ञानियों को संसारबन्धन की प्राप्ति नहीं होती, यह दिखलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी अज्ञानी के अहङ्कार की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी के अहङ्कार में निर्दोषता बतलाते हुए उत्तर देते हैं—'अहंभाव०' इत्यादि से ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस संसार में अहंभाव के बिना तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी दोनों की देह-स्थिति नहीं हो सकती है क्योंकि आधेय पदार्थ की निराधार स्थिति कभी नहीं उत्पन्न हो सकती ॥ २ ॥

अयं त्वत्र विशेषस्तं शृणु विश्रान्तचेतसः ।
श्रुतेन येनाहंभावपिशाचः शान्तिमेति ते ।। ३ ।।
अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुनाऽमुना ।
अविद्यमान एवान्तःकल्पितस्तेन संस्थितः ।। ४ ।।
अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ।। ५ ।।
यथायथा विलोक्यते तथातथा विलीयते ।
इहाज्ञता पिशाचिका तथा विचारिता सती ।। ६ ।।
किल सत्यामविद्यायामज्ञतोदेति शाश्वती ।
बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ।। ७ ।।
सति सर्गे त्वविद्यायाः सम्भवो नान्यतः क्वचित् ।
सति द्वितीये शशिनि द्वितीयो विद्यते शशः ।। ८ ।।
सर्गस्त्वयमजातत्वादज्ञज्ञातो न विद्यते ।
न जातः कारणाभावात्पूर्वमेव खवृक्षवत् ।। ९ ।।

किन्तु द्रवमें शान्त चित्तवाले ज्ञानी पुरुष के लिए जो यह विशेष बात हैं, उसे आप सुनें, जिसके सुनने से आपका अहंभावरूपी पिशाच शान्त हो जायगा ।। ३ ।।

इस अज्ञानरूपी बालक ने अपने अन्तःकरण में अविद्यमान ही अहंभावरूपी पिशाच की कल्पना कर रक्खी है, अतः इसी से एकमात्र अज्ञान के वश से ही यह स्थित है ।। ४ ।।

जैसे दीपधारी पुरुष को अन्धकार का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। वैसे ही तत्त्वज्ञानी यदि विचार कर देखे तो अज्ञान भी उसे बिलकुल नहीं उपलब्ध होता है ।। ५ ।।

जैसे-जैसे यह अज्ञतारूपी पिशाचिका अनुभव में आरूढ़ होती जाती है, वैसे-वैसे विचारित होकर नष्ट होती जाती है। अर्थात् विद्वानों को ज्यों-ज्यों अपना अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों क्रमशः अज्ञान का नाश भी होता जाता है ।। ६ ।।

जैसे रात में बुद्धिविभ्रम स्वरूप देहशून्य यक्षी उदित होती है। वैसे ही इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अविद्या रहने पर बारबार अज्ञता उदित होती है ।। ७ ।।

अविद्या की सृष्टि रहने पर उसका अस्तित्व भी है, अन्य किसी दूसरे कारण से कहीं नहीं है। द्वितीय चन्द्रमा के रहने पर ही द्वितीय खरगोश दीख पड़ता है ।। ८ ।।

अज्ञानी द्वारा ज्ञात यह संसार उत्पन्न न होने से नहीं है, क्योंकि आकाश वृक्ष के समान कारण न रहने से यह पहले से ही उत्पन्न नहीं हुआ है ।। ९ ।।

चिदाकाश कोश के भीतर स्थित आदि सृष्टि के ही

परमाकाशकोशान्तरादिसर्गे निरामये ।
पृथ्व्यादेरुपलम्भस्य भवेत् किमिव कारणम् ।। १० ।।
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं मनःषष्ठेन्द्रियात्मनः ।
साकारस्य निराकारं कथं भवति कारणम् ।। ११ ।।
बीजात्कारणतः कार्यमङ्कुरः किल जायते ।
न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादङ्कुरः कुतः ।। १२ ।।
कारणेन विना कार्यं न च नामोपपद्यते ।
कदा क इव खे केन दृष्टो लब्धः स्फुटोद्रुमः ।। १३ ।।
सङ्कल्पेनाम्बरे यद्वद्दृश्यते विटपादिकम् ।
स सङ्कल्पस्तथाभूतो न तत्रास्ति पदार्थता ।। १४ ।।
एवं येयं चिदाकाशे सर्गादावनुभूयते ।
शून्यरूप इवाकाशे सर्गस्थितिरनर्गला ।। १५ ।।
सम एव चिदाकाशः कचत्यात्मनि तत्तथा ।
स्वभाव एव सर्गाख्यश्चित्वाच्चैतन्यमीश्वरः ।। १६ ।।

ही निर्विकार ब्रह्मरूप होने से पृथिवी आदि की प्राप्ति का कौन-सा कारण हो सकता है ? ।। १० ।।

मन को लेकर छः इन्द्रियों से ज्ञात न होने वाला निराकार ब्रह्म मनयुक्त छः इन्द्रियों से ज्ञात होने वाले साकार जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? ।। ११ ।।

बीजरूप कारण से अङ्कुररूप कार्य उत्पन्न होता है, इसमें तो सन्देह नहीं है। फिर जहाँ पर बीजरूप कारण है ही नहीं, वहाँ पर अङ्कुर कैसे उत्पन्न होगा ? ।। १२ ।।

कारण के बिना कार्य नहीं होता है यह तो सभी को विदित है। आकाश में लहलहा रहे प्रत्यक्ष वृक्ष का किसने कब अवलोकन या ग्रहण किया है ? ।। १३ ।।

[यदि सृष्टि उत्पन्न ही नहीं है, तो फिर कौन उस रूप से भासता है, इसको दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं— 'सङ्कल्पेन' इत्यादि से ।]

सङ्कल्पमय यह संसार भी वैसे ही है। जैसे सङ्कल्प द्वारा आकाश में वृक्ष आदि दिखाई देते हैं, इसमें वस्तुतः पदार्थता नहीं है ।। १४ ।।

सृष्टि के आरम्भ काल में यह अर्गला शून्य सृष्टि की स्थिति चिदाकाश में अनुभूत आकाश में शून्यरूप वृक्षादि सदृश ही है ।। १५ ।।

विषय सृष्टि के आकार से रहित चिदाकाश ईश्वर ही अपने स्वभाव में सृष्टिलय से स्फुरित होता है। सर्गनामक चितिस्वभाव ही चिद्रूप होने के कारण ईश्वर चैतन्य है, इसलिए चिति ही सृष्टिरूप से भासित होती है, न कि शून्य ।। १६ ।।

स्वप्नसर्गोऽत्र दृष्टान्तः प्रत्यहं योऽनुभूयते ।
स्वयं संवेदने स्वप्ने स्फुरत्यद्रिपुराकृतिः ॥ १७ ॥
चित्स्वभावे यथा स्वप्ने आस्ते सर्ग इवेह यः ।
असर्गं सर्गवद्भाति तथा पूर्वं महाम्बरे ॥ १८ ॥
अवेद्यवेदनं शुद्धमेकं भात्यजमव्ययम् ।
सर्गादौ यदनाद्यन्तं स्थितः सर्गः स एव नः ॥ १९ ॥
नेह सर्गोऽस्ति नैवायं पृथ्व्यादिगणगोलकः ।
सर्वं शान्तमनालम्बं ब्रह्मैव ब्रह्मणि स्थितम् ॥ २० ॥
सर्वशक्त्यात्म तद्ब्रह्म यथा कचति मादृशम् ।
रूपमत्यजदेवाच्छं तथा भवति तादृशम् ॥ २१ ॥
यथा स्वप्नपुरं जन्तोश्चिन्मात्रप्रविजृम्भितम् ।
तथैव सर्गः सर्गादौ शुद्धचिन्मात्रजृम्भितम् ॥ २२ ॥
स्वच्छे चित्परमाकाशे चिदाकाशो य आस्थितः ।
स्वभाव एव सर्गोऽसाविति तेनैव भावितः ॥ २३ ॥

प्रतिदिन अनुभूत स्वप्न-सर्ग ही इस विषय में दृष्टान्त है, क्योंकि स्वप्न के विषयों में स्वयं आत्मा ही पर्वत, नगर आदि की आकृतियों में स्फुरित होता है अर्थात् अविकृत ब्रह्म ही विकृत जगद्रूप से जो स्फुरित होता है उसमें, स्वप्न का स्वात्मा ही दृष्टान्त है ॥ १७ ॥

ज्ञान से पूर्व सर्ग-सा प्रतीत सर्ग शून्य चित्स्वभाव महाचिदाकाश वैसा ही प्रतीत होता है जैसे यहाँ स्वप्न में जो सृष्टि-सा प्रतीत होता है वह चित्स्वभाव सृष्टि रहित स्वात्मा में ही विद्यमान है ॥ १८ ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में विषयज्ञानशून्य, शुद्ध, एक, अज, अव्यय आदि और अन्त में शून्य स्थित परमात्मा ही हमारे सर्गरूप से स्थित है ॥ १९ ॥

परब्रह्म परमात्मा में यह सृष्टि नहीं है और पृथिवी आदि लोक ही हैं। सब शान्त, अवलम्बनशून्य एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है ॥ २० ॥

जैसे सर्वशक्ति सम्पन्न वह ब्रह्म जिस तरह का स्फुरित होता है, वैसे वह अपने स्वच्छरूप का परित्याग न करते हुए उस तरह का हो जाता है ॥ २१ ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में यह सृष्टि भी शुद्ध चिन्मात्र का वैसे ही विकास ही है जैसे स्वप्न का नगर प्राणी के लिए चिन्मात्र का केवल विकास है ॥ २२ ॥

स्वच्छ चिद्रूप परमाकाश में चिदाकाश ने अपने स्वभाव की सृष्टिरूप में भावना की है यही यह सृष्टि है अर्थात् चिद्रूप जो ब्रह्म है उसका स्वभाव ही यह सृष्टि है ॥ २३ ॥

भाव्यभावकभावादिभूमीनां भावनं भृशम् ।
सर्वं चिन्नभ एवाच्छमात्मनात्मनि संस्थितम् ॥ २४ ॥
एवं स्थिते कुतः सर्गः क्वतो विद्या क्व चाज्ञता ।
ब्रह्म शान्तं घनं सर्वं क्वाहङ्कारादयः स्थिताः ॥ २५ ॥
अहंभावस्य संशान्तिरेषाऽसौ कथिता तव ।
अहंभावः परिज्ञातः पिशाच इव शाम्यति ॥ २६ ॥
मया त्वेवमहंभावः परिज्ञातो यदाऽखिलः ।
तदा मे विद्यमानोऽपि निष्फलः शरदभ्रवत् ॥ २७ ॥
चित्राग्निदाहो विज्ञातो यथा दाह्येषु निष्फलः ।
तथाऽहंभावसर्गादि ज्ञातं निष्फलतामियात् ॥ २८ ॥
इति मेऽहंकृतेस्त्यागे रागे च समता यदा ।
तदा व्योम्न इवाव्योम्नः सर्गेऽसर्गे च मे स्थितिः ॥२९॥
अहंभावस्य नैवाहं नाहंभावो ममेति च ।
तेन विद्धि चिदाकाशमेवेदमिति निर्धनम् ॥ ३० ॥

भाव्य भावक और भाव आदि भूमियों की जो निरन्तर उत्पत्ति है, वह सब स्वच्छ चिदाकाश ही अपनी आत्मा में स्थित है ॥ २४ ॥

ऐसी स्थिति होनेपर कहाँ से सृष्टि, कहाँ से अविद्या, कहाँ अज्ञता और कहाँ अहङ्कार आदि स्थित हैं सब शान्त चिद्घन ब्रह्म ही स्थित है ॥ २५ ॥

इस तरह मैंने आप से यह अहङ्कार की शान्ति कही है, यह अहङ्कार भली-भाँति ज्ञात होने से बालकल्पित पिशाच की तरह शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इस तरह जब इस अहङ्कार को मैं पूर्णतया जानता हूँ, तब यह रहने पर भी मेरे लिए शरत्काल के मेघ के सदृश निष्फल ही रहता है ॥ २७ ॥

चित्र लिखित अग्नि में अध्यस्त दहन क्रिया जैसे दाह्य वस्तुओं में निष्फल होती है, वैसे ही अहंभाव की सृष्टि आदि भी पूर्णरूप से ज्ञात होनेपर निष्फलता को प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार समाधि काल में अहंकार के त्याग तथा व्यवहार काल में उसके राग में जब मेरी समता है तब सृष्टि की विद्यमान तथा अविद्यमान दशा में मेरी स्थिति वैसे ही है, जैसी मेघ, वायु तथा आतप आदि से अवकाश शून्य आकाश की ॥ २९ ॥

न तो कोई मैं अहङ्कार का हूँ और न यह अहङ्कार ही मेरा कुछ लगता है—इस प्रकार जानकर इस सम्पूर्ण संसार को आप निर्धन चिदाकाश ही जानें। अर्थात् एक-मात्र सम्बन्ध त्याग से भी यह अहम्भाव पीड़ा नहीं

यथा मम तथान्येषामपि बोधवतामिह ।
अग्नित्वमिव चित्राग्नेर्नास्त्ययं बोधविभ्रमः ।। ३१ ।।
नाहमस्मि न चान्योऽस्ति सर्वं नास्तीति निश्चये ।
प्रकृतव्यवहारस्त्वं शिलामौनमयो भव ।। ३२ ।।
आकाशकोशविशदाकृतिरेव तिष्ठ
निर्देशवच्चिरमपह्नुतसर्वभावः ।
अद्यादितश्च किल चिन्मयमेव सर्वं
नो दृश्यमस्ति शिवमेवमशेषमित्थम् ।।३३।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विदितवेद्याहङ्कारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ।। ५७ ।।

पहुँचता, फिर ज्ञान से बाधित हो जानेपर तो पूछना ही क्या ।। ३० ।।

जैसे यह अहंभावादि बोधविभ्रम मेरी दृष्टि में नहीं है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी और महानुभावों की दृष्टि में भी यहाँ नहीं है, जैसे कि चित्रगत अग्नि में दाहक्रिया किसी भी विद्वान् पुरुष की दृष्टि में नहीं है ।। ३१ ।।

वास्तव में तो न मैं हूँ, न कोई अन्य है और न यह सब दृश्य प्रपञ्च ही है, ऐसा निश्चय करके आप भी प्रकृत व्यवहार का सम्पादन कर पत्थर के समान मौनमय हो जायें ।। ३२ ।।

चिरकाल के लिए सम्पूर्णभावों का अपह्नव कर अवकाश रहित पत्थर के सदृश बनकर आकाशकोश की तरह निर्मल-आकार से ही आप अपने स्वरूप में स्थित रहें, क्योंकि इस तरह निश्चित है कि इस सृष्टिकाल में तथा इस सृष्टि के पूर्वकाल में सब कुछ चिन्मय शिव ही स्थित है। जो दृश्यप्रपञ्च दिखाई दे रहा है वह कुछ नहीं है ।। ३३ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में विदितवेद्य-अहङ्कारविचार नामक कुसुमलता का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ५७ ।।

५८

श्रीराम उवाच

अहो न विततोदारा विमला विपुलाचला ।
भवता भगवन् ! भूत्यै भूयो दृष्टिरुदाहृता ।। १ ।।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सदित्येव स्थितं सत्यं समं समनुभूतितः ।। २ ।।
अयमस्ति मम ब्रह्मन् ! संशयस्तं निवारय ।
किमिदं भगवन्नाम पाषाणाख्यानमुच्यते ।। ३ ।।

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वदा सर्वमस्तीति प्रतिपादने ।
पाषाणाख्यानदृष्टान्तो मयाऽयं तव कथ्यते ।। ४ ।।

५८

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! अहो आपने मेरे उत्कर्ष के लिए फिर एक दृष्टि का उपदेश दिया है, यह विज्ञान व्यापक और महान् उदार है, विमल है, विपुल और अचल है ।। १ ।।

सब जगह सभी प्रकार से सत् है और सब जगह सदा ही सत् है—यह जो विषय प्रस्तुत हुआ था उसका अच्छे अनुभव से यदि विचार किया जाय, तो सम, अविषम एवं एकरस ही सिद्ध होता है, अतः सत्यस्वरूप ही है, क्योंकि जितने धर्म या धर्मी हैं, उनका देश, काल और वस्तुरूप से यदि सर्वात्मकता बन जाय, तो भेद और भेदकत्व आदि की सिद्धि नहीं हो सकती है ।। २ ।।

हे ब्रह्मन् ! अब इस विषय में मुझे जो सन्देह है, इसका निवारण करें। हे भगवन् ! यह पाषाणाख्यान किस अंश की समानता लेकर कहा गया है भेद के हेतु धर्मों से युक्त पदार्थों का ही साधारण धर्म से सादृश्य माना जाता है, यह प्रसिद्धि है, अतः सन्देह का होना स्वाभाविक है ।। ३ ।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—'सब कुछ सर्वदा सभी जगह है', यह प्रतिपादन करना है, इसी अर्थ में पाषाणाख्यायिका का दृष्टान्त दिया गया है, इसका किस तरह सादृश्य घटता है ।। ४ ।।

छिद्रों ये रहित अत्यन्त घनीभूत अवयवों वाले पाषाणोदराध्यास के अधिष्ठान चेतन में भी हजारों सृष्टियाँ हैं, यह प्रस्तुत पाषाणाख्यान के द्वारा कहा गया है।

नीरन्ध्रैकघनाङ्गस्य पाषाणस्यापि कोटरे ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ५ ॥

भूताकाशे महत्यस्मिन् खशून्यत्वमनुज्झति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ६ ॥

अन्तर्गुल्माङ्कुरादीनां प्राणवाय्वम्बुतेजसाम् ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच

कुड्यादौ सन्ति सर्गौघा इति चेत्कथ्यते मुने ! ।
तत्खे विभान्ति सर्गौघा इति किं न प्रदर्श्यते ॥ ८ ॥

अर्थात् पाषाणाख्यायिका का मैंने इसलिए आरम्भ नहीं किया है कि हमको पाषाण की समानता या सब धर्मों का सङ्कर कहना है, किन्तु पाषण-उदर के अभ्यास का अधिष्ठानभूत ब्रह्म में असंकीर्णरूप से सब जगत् का अध्यास हो सकता है, इस प्रकार की संभावना बतलाने के लिए उक्त दृष्टान्त का उपन्यास है ॥ ५ ॥

आकाश की शून्यता को न छोड़नेवाले महान् भूताकाश में अर्थात् अभावाधिष्ठानभूत चेतन में भी हजारों सर्गों का आरोप हो सकता है, यह समझाने के लिए प्रस्तुत कथा कही गई है । अर्थात् भावपदार्थों के उदराधिष्ठानभूत चेतन में जिस तरह हजारों सृष्टियों का सम्भव है, उसी तरह शून्यात्मक आकाशरूप अभावाधिष्ठान चेतन में भी असंकीर्णरूप से समस्त जगत् का आरोप संभव है ॥ ६ ॥

गुल्म अङ्कुर आदि तथा प्राण, वायु, जल, तेज आदि के अधिष्ठान आत्मा में हजारों सर्ग हो सकते हैं, इस अर्थ को समझाने के लिए पाषाणाख्यान कहा गया है ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा —हे मुने ! भीत, पाषण आदि के उदर चेतन में अनेक सर्गों का आरोप है, यही अभिप्राय यदि पाषाणाख्यायिका से कहा जाता है, तो मैं कहता हूँ कि इसकी अपेक्षा यही अभिप्राय क्यों नहीं कहा जाता कि शुद्ध चिदाकाश में हजारों सृष्टियों का आरोप है । अर्थात् भीत आदि भाव और शून्यात्मक आकाशादि अभाव पदार्थों से युक्त चेतन में सभी सर्गों का आरोप असङ्कीर्ण रूप से हो सकता है, यह यदि आपकी आख्यायिका का अभीष्ट अर्थ है, तब शुद्ध चिदाकाश में सब जगत् का अध्यास है, यही पक्ष क्यों मान न लिया जाय, जिससे कि अध्यस्त जगत् का बाध हो जानेपर शुद्ध ही बच जाता है,

वसिष्ठ उवाच

एतत्ते वर्णितं राममुख्यमेव मयाऽखिलम् ।
योऽयमालक्ष्यते सर्गः स ख एव खमास्थितम् ॥ ९ ॥

आदावेव हि नोत्पन्नमद्यापि न च विद्यते ।
दृश्यं यच्चावभातीदं तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १० ॥

नास्ति भूरणुमात्रापि सर्गैर्निविवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव ते ॥ ११ ॥

न तेजसोऽणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १२ ॥

यह दूसरी बात भी अनुकूल हो ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! तत्-तत् पदार्थों से उपहित प्रत्येक चेतन में समस्त जगत् का आरोप है इस प्रकार कहते हुए मैंने आप से वस्तुतः मुख्य चेतन में समस्त जगत् का आरोप है, इसी का वर्णन किया है, इस लिए जो यह सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह चिदाकाश में चिदाकाशात्मक ही स्थित है, आपने जिस पक्ष का शङ्का में उल्लेख किया है, ठीक यही पक्ष मुख्यरूप से मुझे भी अभिप्रेत है, परन्तु विशुद्ध चिदाकाश का सहसा परिचय नहीं हो सकता है इसलिए परिचयोपायरूप से प्रत्येक भावादि-उपहित चेतन में भी समस्त जगत् का अध्यास आरोप है, यह मैंने बतलाया है ॥ ९ ॥

परमार्थ दृष्टि से दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं है और आज भी नहीं है, परन्तु जो इसका अवभास होता है, वह ब्रह्म में स्थित ब्रह्म ही है । इस प्रकार सब ब्रह्ममात्रता ही है ॥ १० ॥

पृथ्वी सृष्टियों से खूब भरी हुई न हो, ऐसी पृथिवी अणुमात्र भी नहीं है सारी पृथ्वी सृष्टियों से एकदम खचाखच भरी हुई ही है और सृष्टि भी कहीं नहीं है, किन्तु जो है, वे सब ब्रह्माकाशरूप ही है । आरोपदृष्टि से पृथ्वी के प्रत्येक परमाणु में सर्ग के सर्ग भरे पड़े हैं तथा अपवाददृष्टि में न कोई परमाणु है और न उसमें सर्ग ही भरे पड़े हैं, केवल ब्रह्माकाशमात्र है । अर्थात् आरोप दृष्टि से भूतों के प्रत्येक परमाणु में सब का अरोप कर सब कुछ देखा जा सकता है ॥ ११ ॥

तेज का ऐसा कोई भी अणु नहीं है, जिसमें सर्गों की स्थिति न हो और वास्तव में तो कहीं पर भी सर्ग नहीं है, किन्तु सर्गरूप से भासमान सब ब्रह्माकाशमात्र है ॥१२॥

न वायोरणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १३ ॥
खं नाणुमात्रमप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरं न यत् ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १४ ॥
न सा महाभूतताऽस्ति सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १५ ॥
शैलानां नाणुरप्यस्ति स सर्गैर्यो न निर्घनः ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १६ ॥
ब्रह्मणो नाणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।

वायु का ऐसा कोई भी परमाणु नहीं है, जो सर्गों से भरा न हो और वे सर्ग भी वास्तव में नहीं हैं, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्र ही हैं ॥ १३ ॥

सृष्टियों से रहित अणुमात्र भी आकाश नहीं है, किन्तु सब सृष्टियों से परिपूर्ण है और वे सृष्टियाँ भी नहीं है, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्ररूप ही हैं ॥ १४ ॥

मिले हुए पञ्चमहाभूत भी ऐसे नहीं हैं, जो सर्गो से परिपूर्ण हैं और कहीं सर्ग भी नहीं हैं, किन्तु वे केवल चिदाकाशरूप ही हैं ॥ १५ ॥

पर्वतों का भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सर्गों से भरा पड़ा न हो, किन्तु सभी परमाणु सर्गों से भरे पड़े हैं, और उनमें कहीं सर्ग भी वास्तव में नहीं हैं, केवल ब्रह्मरूप ही वे हैं ॥ १६ ॥

सूक्ष्मसूत्ररूप उपाधि से युक्त हिरण्यगर्भ का भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सृष्टियों से भरा हुआ न हो, लेकिन उसमें भी वही स्थिति है। वास्तव में तो उनमें कहीं वे भी सर्ग नहीं हैं, किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥ १७ ॥

हिरण्यगर्भ के निर्मित संसारों में ऐसे कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग भाग नहीं हैं, जो सदा ब्रह्मरूप ही न हो, किन्तु सदा से ही वे सब ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए ब्रह्म तथा सर्ग यह केवल वाणी में ही भेद है, वस्तु में भेद नहीं है ॥१८॥

जो सर्ग हैं, वे परब्रह्म ही हैं और परब्रह्म ही सर्ग हैं, इनमें तनिक भी भेद वैसे ही नहीं है, किन्तु एकरूप ही हैं। जैसे अग्नि एवं सूर्य की उष्णता में कोई परस्पर भेद नहीं है, किन्तु उष्णता और अग्नि या सूर्य एकरूप ही हैं ॥ १९ ॥

जिस तरह कुठार से चीरे जाने वाले काठ में उसके बोधक जो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, वे पृथक् अर्थशून्य होकर केवल काठ वस्तु का बोध कराते दिखाई देते हैं। उसी तरह ये सर्ग और ब्रह्म आदि जो शब्द हैं, उनके विषय में यदि

न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १७ ॥
सर्गेषु नाणुरप्यस्ति न ब्रह्मात्मैव यः सदा ।
ब्रह्मसर्गास्तथेत्येष वाचि भेदो न वस्तुनि ॥ १८ ॥
सर्गा एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गता ।
मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राग्न्यर्कौष्ण्ययोरिव ॥ १९ ॥
इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तावाच्यदृष्टयः ।
विदार्यदारुरववद्भ्रान्त्यर्थपरिवर्जिताः ॥ २० ॥
द्वैतमैक्यं च यत्रास्ति न मनागपि तत्र ते ।
सर्गब्रह्मादिशब्दार्थाः कथं कस्येव भान्तु के ॥ २१ ॥

विचारा जाय, तो वे अर्थशून्य हो अत्यन्त अनिर्वचनीय वस्तु का बोध करानेवाले दिखाई देते हैं। इसका भाव यह है कि सर्जन क्रिया के कारण सर्ग शब्द है और बृंहण यानी वर्धन क्रिया के कारण ब्रह्म शब्द है, सर्जन और वर्धन में तो कोई परस्पर भेद नहीं है, अतः ब्रह्म और सर्ग आदि में भी भेद नहीं हो सकता है, अब इन सर्ग और ब्रह्मशब्द में भेद करने वाले आनुपूर्वी आदि धर्म है, वह भी तो कोई चीज नहीं है, अतः उससे रहित सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द लक्षणा से किसी अनिर्वचनीय अर्थ का ही बोध कराते हैं। कहें तो क्रिया भी क्रियावान् के स्वरूप से अलग नहीं है, यदि क्रिया और क्रियावान् एक नहीं है एक अधार और दूसरा आधेय है, अतः उनका भेद है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके आधाराधेय भाव का निरूपण आप नहीं कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में कुठार से विदीर्ण होनेवाले काठ में जो-जो काठ के लिए प्रसिद्ध शब्द हैं, वे सब पृथक् अर्थ से शून्य हो जैसे एक ही अर्थ के प्रतिपादक मानते हैं अथवा विदीर्ण करने योग्य और विदीर्ण होने वाला ये दो शब्द जैसे पृथक् अर्थ से शून्य होकर अभेदार्थ के ही प्रतिपादक हैं, वैसे ही सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द भी एकार्थ के ही प्रतिपादक हैं ॥ २० ॥

व्यवहार दशा में द्वैत और एकत्व विद्यमान है, वहाँ भी सर्ग और ब्रह्म शब्द के अर्थ नहीं भासमान होते हैं, क्योंकि इस पर प्रश्न यह होगा कि क्या द्वैतात्मक द्रष्टा को वे अर्थ भासमान होते हैं, या अद्वैतात्मक द्रष्टा को? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अज्ञानी द्वैतात्मक द्रष्टा को वे किसी हालत में भी नहीं दीख पड़ेंगे। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्ष में अद्वैतात्मक वस्तु को वे किसी हालत में भी नहीं दीख पड़ेंगे। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्ष में अद्वैतात्मक वस्तु को वे किसी तरह दीख पड़ेंगे, कौन किस स्वभाव के मालूम पड़ेंगे, यह

शान्तमेकमनाद्यन्तमिदमच्छमनामयम् ।
व्यवहारवतोऽप्यङ्ग ज्ञस्य मौनं शिलाघनम् ॥ २२ ॥
निर्वाणमेवमखिलं नभ एव दृश्यं
त्वं चाहमद्रिनिचयाश्च सुरासुराश्च ।
तादृग्जगत्समवलोकय यादृगङ्ग
स्वप्नेऽथ जन्तुमनसि व्यवहारजालम् ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

कहना होगा, परन्तु यह कह नहीं सकते, क्योंकि अद्वैत-स्थिति में भान और भासित होने वाले में कोई भेद नहीं कहा जा सकता। अर्थात् परमार्थ दशा में सर्ग और ब्रह्म आदि शब्दार्थों का भेद भले ही न हो, क्योंकि उस दशा में द्वैत और ऐक्य रहता ही नहीं। परन्तु व्यवहार दशा में तो ब्रह्म एक है और सर्ग अनेक हैं, अतः ब्रह्म और सर्ग शब्दों का भिन्न अर्थ होने के कारण वे भिन्नार्थ क्यों नहीं होंगे ॥ २१ ॥

व्यवहार कर रहे ज्ञानी के लिए भी यह सब कुछ शान्त, एक, आदि-अन्तरहित, स्वच्छ, निर्विकार, शिला के सदृश अतिघन, मौन ब्रह्मरूप ही रहता है, उससे पृथक् या भिन्न नहीं रहता है। अतएव तत्त्ववेत्ताओं के लिए व्यवहार काल में भी वह वैसा ही रहता है ॥ २२ ॥

यह समस्त दृश्य निर्वाणरूप एवं चिदाकाश रूप ही है। आप, हम, पर्वत, सुर, असुर आदि भी तद्रूप ही हैं। जगत् भी आप वैसा ही आत्मरूप समझें, जैसा जागने के बाद जन्तु के मन में स्वप्न में देखा गया व्यवहार, स्मृति में आनेपर भी, आत्मारूप है ॥ २३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादन नामक कुसुमलता का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

५९

श्रीराम उवाच

अनन्तरं नभःकोशकुटीकोटरतो मुने ! ।
तव ध्यानात्प्रबुद्धस्य वृत्तं वर्षशतेन किम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ततो ध्यानात्प्रबुद्धोऽहं श्रुतवांस्तत्र निःस्वनम् ।
मृदु व्यक्तपदं हृद्यं न च वाच्यानुगो यतः ॥ २ ॥
स्त्रीत्वभावादिव मृदु मधुरं वा निनादि वा ।
स्वल्पाङ्गस्वादनिर्ह्रादि मया तद्वाक्यमूहितम् ॥ ३ ॥
इन्दिन्दिररुताकारं तन्त्रीरणितरञ्जनम् ।
न रोदनं च पठनं बिसकोशसमस्वनम् ॥ ४ ॥
तदाकर्ण्याऽऽशु तत्रेदमहं चिन्तितवानथ ।
शाब्दिकान्वीक्षणात्पश्यन् दिशो दश सविस्मयः ॥ ५ ॥
व्योम्नोऽयं सिद्धसञ्चारमार्गशून्यान्यनन्तरम् ।
भागो योजनलक्षाणि समतिक्रम्य संस्थितः ॥ ६ ॥

५९

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! उस आकाश कोश की कुटिया से सौ वर्ष के बाद आपका ध्यान टूट जाने के अनन्तर कौन-सी जानने लायक बात हुई, यह मुझ से कहें ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उस ध्यान से जब मैं जग गया, तब मैंने वहाँ एक ध्वनि सुनी, वह अत्यन्त प्रिय थी, उसके शब्द अत्यन्त विस्पष्ट नहीं थे, क्योंकि उसमें न तो कोई पदार्थ प्रतिपादन की सामर्थ्य थी और न वाक्यार्थ-प्रतिपादन की ही सामर्थ्य थी ॥ २ ॥

किसी स्त्री के कण्ठ से उत्पत्ति जनित स्वभाव विशेष से यह ध्वनि मृदु, मधुर और अनुरणनशील प्रतीत हो रही है, ऊँची भी नहीं है, अतएव वह कहीं दूर से नहीं सुनाई देती अर्थात् पास की ही है इस प्रकार उस ध्वनि के विषय में मैंने अनुमान किया ॥ ३ ॥

वह भ्रमर की ध्वनि के सदृश थी, वीणा के झंकार के सदृश मनुष्य को लुभावनेवाली थी। वह शब्द न तो कोई बालक का रुदन था और न कोई प्रौढ़व्यक्ति का पठन ही था। कमल के बिसकोश में प्रसिद्ध भ्रमरों के गुञ्जन के सदृश वह अवश्य था ॥ ४ ॥

उसे सुनकर वहाँ मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ। उक्त शब्दकर्ता के अन्वेषण के लिए निमित्त से मैंने दसों दिशाएँ देख डालीं बाद में यह सोचने लगा। जिन भागों में सिद्ध पुरुष ही संचारण कर सकते हैं, उनसे भी शून्य जो लाखों योजन दूर हैं, उनको भी लांघकर यह आकाश का ऊर्ध्व-

तदिहेदृग्विधस्य स्यात्कुतः शब्दस्य सम्भवः ।
शाब्दिकं न च पश्यामि यत्नेनापि विलोकयन् ॥ ७ ॥
अनन्तमिदमाशून्यं पुरो मे निर्मलं नभः ।
इह भूतं प्रयत्नेन प्रेक्ष्यमाणं न दृश्यते ॥ ८ ॥
यदेति चिन्तयित्वाऽहं भूयोभूयो विलोकयन् ।
शब्देश्वरं न पश्यामि तदा चिन्तितवानिदम् ॥ ९ ॥
आकाश एव भूत्वाऽहमाकाशेनैकतां गतः ।
आकाशगुणशब्दार्थान् करोम्याकाशकोशके ॥ १० ॥
देहाकाशमिह स्थाप्य ध्यानेनेह यथास्थितम् ।
चिदाकाशवपुर्व्योम्ना याम्यैक्यं वारिवाम्बुना ॥ ११ ॥
चिन्तयित्वेत्यहं त्यक्तुं देहं पद्मासनस्थितः ।
आसं समाधिमाधातुं पुनरामीलितेक्षणः ॥ १२ ॥
त्यक्त्वा बाह्यार्थसंस्पर्शानैन्द्रियानान्तरानपि ।

तम भाग स्थित है। इसलिए इस एकान्तस्थान में स्त्री वाक्य के सदृश ऐसे शब्द का संभव कैसे होगा। बड़े यत्न से देखता हूँ, तो भी मैं शब्द करनेवाले को नहीं देख पाता हूँ ॥ ५–७ ॥

मेरे सामने विद्यमान यह निर्मल आकाश असीम और चारों ओर से शून्यरूप ही है। बड़े यत्न से मैं देख रहा हूँ, तो भी कोई प्राणी दिखाई नहीं देता है ॥ ८ ॥

उस तरह विचार कर बार-बार चारों ओर खूब देखा, परन्तु जब शब्द करनेवाले का दर्शन नहीं हुआ, तब इस तरह विचार करने लगा। मैं सबसे पहले उपाधि का परित्यागकर चिदाकाशरूप हो जाऊँ, अनन्तर चिदाकाश में अध्यस्त अव्याकृत आकाश के साथ एकरूप बन जाऊँ, फिर अव्याकृत आकाश के साथ एकरूप बन जाऊँ, फिर अव्याकृत आकाश के कार्य भूताकाश के गुण शब्दों और उनके अर्थों का उसी में अनुभव करूँ। अभी मैं ध्यान के प्रभाव से यहाँ पर यथास्थित देहाकाश को यहाँ आकाश में छोड़कर और चिदाकाशरूपी शरीर धारण कर वैसे अव्याकृत आकाश के साथ एकरूप बन जाता हूँ, जैसे जल बिन्दु साधारण जल के साथ एकरूप बन जाता है ॥ ९–११ ॥

इस तरह विचार कर पद्मासन पर स्थित हुआ और शरीर को छोड़ने के निमित्त समाधि लगाने के लिए मैंने फिर अपनी आँखें मूँद लीं ॥ १२ ॥

अनन्तर इन्द्रियों के सम्बन्धी बाह्य अर्थों का स्पर्श तथा अन्तःकरण के विषयों का स्पर्श त्याग दिया, अधिक क्या कहें, मन्तव्य आदि का भी परित्याग कर दिया, फिर

चित्ताकाशोऽहमभवं संवित्स्पन्दमयात्मकः ॥ १३ ॥
क्रमात्तदपि सन्त्यज्य बुद्धितत्त्वपदं गतः ।
सम्पन्नोऽहं चिदाकाशे जगज्जालैकदर्पणः ॥ १४ ॥
ततस्तेन स्वभावेन भूतव्योमैकतामहम् ।
सम्प्रयातोऽम्बुनैवाम्बु सौरभं सौरभेन वा ॥ १५ ॥
सम्पन्नोऽथ महाकाशं व्याप्यानन्तोऽथ सर्वगः ।
अनाकारोऽप्यनाधारः सर्वार्थाधारतां गतः ॥ १६ ॥
अहं त्रैलोक्यवृन्दानि संसाराणां शतानि च ।
तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि पश्याम्यगणितान्यपि ॥ १७ ॥
परस्परमदृष्टानि मिथः खान्यमलानि च ।
नानाचारविचाराणि शून्यान्येव परस्परम् ॥ १८ ॥
स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणामिव ।
महारम्भानुमृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ १९ ॥

मैं एकमात्र संवित्स्पन्दनरूप चित्ताकाश बन गया ॥ १३ ॥

इसके बाद उनका भी क्रमशः परित्याग कर बुद्धि-तत्त्व के स्थान में पहुँच गया, फिर उसका भी त्यागकर चिदाकाशरूप वास्तविक स्वरूप में पहुँच गया और वहाँ पहुँचकर अपनी आत्मा में अध्यस्त समस्त जगत् के प्रति-बिम्बों का एक दर्पणरूप बन गया ॥ १४ ॥

जैसे सामान्य जल के साथ समुद्रादिजल या सामान्य सौरभ के साथ कमलादि-सौरभ एकरूप बन जाता है। वैसे ही इसके बाद उसी चित्स्वभाव से मैं मृताकाश के साथ एकरूप बन गया ॥ १५ ॥

अनन्तर में चितिरूप महाकाश के साथ अभेद सम्बन्ध की कल्पनाकर असीम और सर्वगामी बन गया। असङ्ग-अद्वयरूप होने के कारण अनाकार और अनाधार होता हुआ भी सर्वाधार योग्य भूताकाश के साथ अभिन्नता से सब पदार्थों का आधारभूत बन गया। अर्थात् उस भूताकाश के कार्यभूत समस्त सृष्टियों का अवलोकन करने के लिए चिदाकाश के साथ अन्न हो गया ॥ १६ ॥

भूताकाश की आवस्था को प्राप्त चिदाकाश में मैं तीनों लोकों के झुण्डों को, सैकड़ों संसारों को और लाखों अगणित ब्रह्माण्डों को देखने लगा ॥ १७ ॥

ये सब सर्ग अव्याकृत निर्मल आकाशमात्ररूप थे, एक दूसरे की दृष्टि से छिपे थे। उनमें अनेक तरह के आचार और अनेक तरह के विचार थे एवं परस्पर वे शून्यरूप थे ॥ १८ ॥

एक समय सोये हुए पुरुषों के लिए वे सृष्टियाँ स्वप्नरूप थी, एक की दृष्टि से वे बड़े-बड़े समारोहों से

जायमानानि नश्यन्ति वर्द्धमानानि भूरिशः ।
वर्तमानान्यतीतानि भविष्यन्ति च सर्वशः ॥ २० ॥
अनेकचित्रजालानि महाभित्तीनि खानि च ।
मनसेवोग्रराज्यानि कृतानि विविधैर्जनैः ॥ २१ ॥
निरावरणरूपाणि तथैकावरणानि च ।
पञ्चावरणयुक्तानि षडेकावरणानि च ॥ २२ ॥
दशावरणचित्राणि षोडशावरणानि च ।
चतुर्विंशत्यावृतीनि षट्त्रिंशत्खावृतानि च ॥ २३ ॥
शून्यानि भूतपूर्णानि पञ्चभूतमयान्यपि ।
एकपृथ्व्यादिभूतानि चतुःपृथ्व्यादिकानि च ॥ २४ ॥
त्रिःपृथ्व्यादीनि चान्यानि द्विःपृथ्व्यादीन्यथापि च ।
तथा सप्तमहाभूतान्येकजातिमयानि च ॥ २५ ॥

पूर्ण थीं, दूसरे की दृष्टि से उत्तरोत्तर विमर्दित थीं अतएव परस्पर शून्य-अशून्यरूप थीं ॥ १९ ॥

उनमें कुछ तो उत्पन्न हो रही थीं, कुछ नष्ट हो रही थीं, कुछ तेजी से बढ़ रहीं थीं, कुछ विद्यमान थीं, कुछ अतीत थीं और बहुत-सी भविष्यकाल के गर्भ में थीं ॥ २० ॥

कुछ तो अनेक चित्रों से शोभित, कुछ बड़ी-बड़ी भित्तियों से युक्त, कुछ भित्तियों से रहित और कुछ मनुष्यों द्वारा अपने मन से ही उग्र राजों से आक्रान्त बनाई गई थीं ॥ २१ ॥

कुछ सृष्टियाँ तो आवरणात्मक पदार्थों से रहित थीं, तथा कुछ एक आवरणवाली ही थीं। किन्हीं में पाँच आवरण थे, किन्हीं में सात आवरण थे, किन्हीं में दस आवरण थे, किन्हीं में सोलह आवरण थे, किन्हीं में चौबीस आवरण थे, किन्हीं में छत्तीस आवरण थे, कुछ आकाशरूप आवरण से आवृत थीं। स्वप्न में देखी गई सृष्टियों में ब्रह्माण्डों के आवरण और उनकी संख्या का कोई नियम ही नहीं है, क्योंकि जिसको जितनी वासना हुई, उसके प्रति उतनी ही सृष्टि कल्पित होती है ॥ २२, २३ ॥

कुछ शून्य-आकाशरूप ही थीं, कुछ भूतों से भरी थीं, कुछ पाँच भूतरूप ही थीं, कुछ तो एक-एक पृथ्वी आदि भूतवाली थीं, कुछ पृथ्वी आदि चार भूतोवाली ही थीं ॥ २४ ॥

किन्हीं में पृथ्वी, जल, तेज ये तीन ही थे, किन्हीं में कोई और ही भूत थे, किन्हीं में तो पृथ्वी एवं जल ये दो ही थे, किन्हीं में सात भूत काल और दिशा को मूत मान कर थे तथा किन्हीं में एक जाति के ही सब पदार्थ थे ॥ २५ ॥

त्वादृशानुभवाभोगविरुद्धातिदशानि तु ।
तथा नित्यान्धकाराणि सूर्यादिरहितानि च ॥ २६ ॥
तथा मीलितसर्गाणि एकनाथावृतानि च ।
विलक्षणप्रजेशांशविचित्राचारवन्ति च ॥ २७ ॥
तथा निर्वेदशास्त्राणि निःशास्त्राणि तथैव च ।
कृमिक्रमसमारम्भदेवादिप्राणिमन्ति च ॥ २८ ॥
जात्या तु पारम्पर्येण संकेताचारवन्ति च ।
तथा नित्यप्रकाशानि ज्वलिताग्निमयानि च ॥ २९ ॥
तथा जलैकपूर्णानि पवनैकमयानि च ।
स्तब्धानि परमाकाशे वहन्ति च तथाऽनिशम् ॥ ३० ॥
जायमानानि पुष्यन्ति परिपुष्टानि चाभितः ।
तिर्यग्गच्छन्ति चान्यानि पूर्णसर्वमयान्यपि ॥ ३१ ॥

कुछ तो मैंने ऐसे सूक्ष्म त्रित्र-विचित्र परिणामवाले भूतों से युक्त संसार देखे कि उन परिणामों की आप अपने अनुभव के विस्तार से संभावना भी नहीं कर सकते। कुछ तो निरन्तर अन्धकार से व्याप्त और सूर्य आदि से रहित थे। अर्थात् सिद्ध, विद्याधर आदि की जो चित्र-विचित्र कल्पनाएँ हैं, उनकी तो मनुष्य की बुद्धि से संभावना भी नहीं हो सकती है ॥ २६ ॥

कुछ सर्ग तो सुषुप्ति और प्रलयों से ही भरपूर थे अर्थात् सुषुप्ति-प्रलयमय थे, किन्हीं में केवल हिरण्यगर्भ ही विराजमान थे, और कुछ में प्रजापति और उनके अंशभूत देवताओं का चित्र-विचित्र आचरण देखते ही बनता था ॥ २७ ॥

किन्हीं में विराग पैदा करने वाले वेदादि शास्त्र थे और किन्हीं में वेदादि शास्त्र नहीं भी थे तथा किन्हीं में उदुम्बर के कीट के सदृश समारम्भ वाले देवता ही प्राणी थे ॥ २८ ॥

कहीं पर कालिका आरम्भ हो जाने के कारण वेदादि शास्त्रों का उच्छेद हो गया था, इसलिए ब्राह्मण आदि जातियाँ अपनी केवल परम्परा से ही कुछ संकेतों से अपना आचरण करती थीं। कुछ निरन्तर प्रकाशमय थे और कुछ प्रज्वलित अग्नियों से पूर्ण थे ॥ २९ ॥

कुछ सृष्टियाँ केवल जल से ही भरी थीं, कुछ केवल वायु से ही भरपूर थीं, कुछ परमाकाश में निश्चल थीं, कुछ रात-दिन चलती-फिरती थीं ॥ ३० ॥

कुछ उत्पन्न हो रही थीं, कुछ वृद्धि प्राप्त कर रही

देवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥ ३२ ॥
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ ३३ ॥
परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि वै मिथः ।
सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्त्यपि ॥ ३४ ॥
विविधान्यप्यनन्तानि स्वच्छाकाशात्मकान्यलम् ।
अन्योऽन्यमन्यवृत्तीनि न मिथोऽन्यस्थितीनि च ॥ ३५ ॥
मिथश्चान्यान्यशास्त्राणि मिथोऽनन्तानि यानि च ।
अन्योन्यसन्निवेशानि मिथोऽन्योन्यानि यानि च ॥ ३६ ॥
अन्योन्यं परलोकानि मिथः सिद्धपुराणि च ।

थीं, कुछ चारों ओर से खूब पुष्ट हो रही थीं, कुछ टेढ़ी जा रही थीं और कुछ अन्य परिपूर्ण भोग्य पदार्थों से भरी थीं ॥ ३१ ॥

किन्हीं में केवल देवताओं की ही सृष्टि थी, किन्हीं में अधिक केवल मनुष्य ही थे, किन्हीं में अधिकता दैत्यों के समूहों की थी और कुछ तो कीटों से ही नीरन्ध्र थीं ॥ ३२ ॥

कहीं पर कदलीस्तम्भ के दल के सदृश प्रत्येक परमाणु के भीतर, उसके भीतर के भी भीतर कल्पित अपने कोश में अनेक जगत् उत्पन्न हो रहे थे और कुछ उत्पन्न भी हो चुके थे ॥ ३३ ॥

सैनिकों के स्वप्नों के सदृश उत्पन्न बड़े भी कुछ सर्ग एक दूसरे से छिपे थे और किन्हीं का परस्पर अनुभव भी नहीं हो रहा था ॥ ३४ ॥

कुछ भिन्न-भिन्न तरह की सृष्टियाँ थीं, कुछ असीम थीं, कुछ स्वच्छ आकाश के सदृश निर्मल थीं, किन्हीं में भिन्न-भिन्न क्रिया-कर्म थे और कुछ विषम स्थिति वाली थीं ॥ ३५ ॥

कुछ सर्ग में दूसरे से मेल न खाने वाले भिन्न-भिन्न शास्त्र थे, कुछ परस्पर अनन्त अवयव एक से थे, कुछ का स्मरण होने पर एक दूसरे एकरूप ही मालूम होते थे ॥ ३६ ॥

कुछ सृष्टियों में एक दूसरी एक दूसरी सृष्टि के लिए परलोक बन जाती थी अर्थात् एक में मरकर पुरुष दूसरी सृष्टि में जाता था । कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी सृष्टि के प्रति दूसरी सृष्टि सिद्ध नगररूप बन

अन्यादृशमहाभूतान्यन्यादृग्दिग्गिरीणि च ॥ ३७ ॥
त्वादृशानुभवेहानामगम्याभ्यागतानि च ।
असमञ्जसरूपाणि कथ्यमानानि मादृशैः ॥ ३८ ॥
अणुवत्सेष्यमाणानि चिदादित्यांशुमण्डले ।
परमार्थश्रियो व्योम्नि रश्मिजालानि कुण्डले ॥ ३९ ॥
कानिचित्तानि तान्येव भूत्वा भूत्वा भवन्त्यलम् ।
कानिचित्तादृशान्येव जातानि वनपर्णवत् ॥ ४० ॥
अन्योन्यत्वाच्च सदृशान्यन्यानि सदृशान्यपि ।
कञ्चित्कालं सुसदृशान्यन्यान्येव च कानिचित् ॥ ४१ ॥
फलानि तान्यनन्तानि परमार्थमहातरोः ।
अनन्यान्येव चान्यानि तन्मयान्येव वै ततः ॥ ४२ ॥

जाती थी । किन्हीं सृष्टियों में अलग-अलग स्वरूप के महाभूत थे और कहीं पर दिशाएँ एवं पर्वत भिन्न-भिन्न रूप के थे ॥ ३७ ॥

आपके जैसे पुरुषों के अनुभव और प्रयत्न के अविषय पदार्थ यदि सामने आ जाये और मेरे जैसे पुरुष उनका वर्णन करें, तो भी उनका स्वरूप असमञ्जस ही लगेगा, उनके स्वरूप का ज्ञान अननुभवी पुरुष को हो ही नहीं सकता, ऐसे भी पदार्थ कही पर थे इसलिये अन्य वस्तु का अन्यत्र वर्णन करने पर अपरिनिष्ठित बुद्धिवालों की दृष्टि में ये अगम्यता के कारण असमञ्जसरूप हैं ॥ ३८ ॥

चैतन्यरूपी सूर्य के किरणमण्डल में सदृश अत्यन्त सूक्ष्मरूप वाले कहीं पर सर्ग प्रसिद्धि को प्राप्त किये थे[1] तथा कहीं पर तो मोक्षलक्ष्मी के कुण्डलरूप अव्याकृत आकाश और भूताकाश में चित्र-विचित्र रत्नरश्मिजाल की अधिकता से चमकीले सर्ग थे, इसलिए उपदेश से भी उनका ज्ञान होना कठिन ही समझें ॥ ३९ ॥

कुछ सर्ग तो वन के पत्तों के सदृश वे ही फिर तद्रूप उत्पन्न होकर नष्ट होते जाते थे और फिर उत्पन्न होते जाते वे एवं कुछ उन्हीं के सदृश ही उत्पन्न होते थे ॥४०॥

कुछ सर्ग ऐसे थे कि एक ही चिति में सबका अभ्यास होने के कारण पृथक् अस्तित्व न रखने से सदृश होते हुए भी असदृश्य ही थे और सदृश भी होते हुए कुछ समय तक अत्यन्त सदृश एवं कुछ काल के लिए अत्यन्त विसदृश भी रहते थे ॥ ४१ ॥

परमार्थ चैतन्यरूप महावृक्ष के वे अत्यन्त फल थे, वे अनन्य ही होते हुए भी उससे भिन्न-से थे ॥ ४२ ॥

१. 'शेष्यमानामि' यह भी पाठ मिलता हैं, उसका 'परिशेषरूपता की प्राप्त किये हुए थे'—यह अर्थ होगा ।

कानिचित्स्वल्पकल्पानि दीर्घकल्पानि कानिचित् ।
अन्यान्यनियतं भूरि नियतं भूरि कानिचित् ॥ ४३ ॥
अन्यान्यज्ञातकालानि यदृच्छावशतः स्वयम् ।
जायमानानि पुष्टानि सुस्थिराणि स्थितानि च ॥ ४४ ॥
तानि शून्यत्वजालानि परमाकाशकोशके ।
अपरिज्ञातकालानि रूढान्यज्ञातदोषके ॥ ४५ ॥
अब्ध्यर्काकाशमेर्वादिशतैरावलितान्यलम् ।
चिच्चमत्कारखे स्वप्नजालान्याभान्ति चाऽऽविलम् ॥४६॥
अनुभूतेर्भ्रमात्मत्वात्कारणानामभावतः ।
पृथ्व्यादीनामहेतूनामत्यन्तं सन्त्यसन्ति च ॥ ४७ ॥
मृगतृष्णाम्बुभरवद्द्विचन्द्रव्योमवर्णवत् ।
सम्पन्नानि न सत्यानि सत्यान्यप्यनुभूतितः ॥ ४८ ॥

किन्हीं सर्गों में स्वरूप ही कल्प का काल था, तो किन्हीं सर्गों में बड़ा लम्बा कल्प का काल था, दूसरे बहुतों में तो नियम ही न था देखा, काल, वस्तु आदि के स्वभाव का नियम ही नहीं था और दूसरे बहुतों में उनका नियम था भी ॥ ४३ ॥

सूर्य का अभाव होने से किन्हीं में कालज्ञान ही न हो पाता था, कुछ तो काकतालीय न्याय से अकस्मात् ही स्वयं उत्पन्न पुष्ट और सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित थे ॥ ४४ ॥

परमचिदाकाश के कोश में वे शून्यरूप नहीं हैं। वे कब से उत्पन्न हैं, यह उनके विषय में नहीं कहा जा सकता। इतना कहा जा सकता है कि वे अज्ञानरूप दोष से युक्त प्रत्यगात्मा में अनादि काल से ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ४५ ॥

चिति के चमत्काररूप आकाश में चिदाकाश में सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश, मेरु आदि पदार्थों से भली-भाँति आक्रान्त स्वप्नजाल के सदृश रजोगुण एवं तमोगुण से कलुषित होकर वे अनेक जगत् भासित हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

वास्तव में कारणों के अभाव से कारण रहित पृथ्वी आदि का अनुभव तो भ्रमात्मक है, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठान की सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान हैं, उसे न लेकर वे अपने स्वरूप से तो नहीं ही हैं ॥ ४७ ॥

मृगतृष्णा जल के प्रवाह के सदृश अथवा दो चन्द्रयुक्त आकाश के बर्ण के सदृश ये जगत् भ्रमरूप अनुभव से ही ही उत्पन्न हुए हैं, अतः वे सत्यरूप अधिष्ठान की सत्ता से सत्यरूप हैं, अपने स्वरूप से वे सत्दरूप नहीं हैं ॥ ४८ ॥

चिति के सङ्कल्परूप आकाश में ही ऐसे-ऐसे असंख्य

चित्सङ्कल्पनभस्येव भासमानानि भूरिशः ।
वासनावातनुन्नानि विलुठन्त्यात्मचेष्टितैः ॥ ४९ ॥
सुरासुरादिमशका बहुशोदुम्बरद्रुमे ।
फलानि रसपूर्णानि घूर्णमानानि मारुतैः ॥ ५० ॥
अभिजातस्वभावस्य सर्गारम्भकरस्य च ।
शुद्धचित्तत्त्वबालस्य सङ्कल्पनगराणि खे ॥ ५१ ॥
त्वमहं स इदं चेति धिया बलदृढान्यलम् ।
सम्पन्नान्यर्कदीप्त्येव पङ्क्रीडनकानि च ॥ ५२ ॥
वृत्तानि रसशालिन्या नियत्या नित्यतृप्तया ।
वनान्युग्रफलानीव वसन्तरसलेखया ॥ ५३ ॥
महाकर्तृण्यकर्तृणि न कृतान्येव खानि वा ।
स्वयं सम्पन्नरूपाणि चिद्व्योम्न्येव कृतानि वा ॥ ५४ ॥

ऐसे ऐसे जगत् भासित हो रहे हैं, वे सबके सब वासनारूपी वायु से उड़ाये जा रहे अपनी चेष्टाओं से विलुण्ठित हो रहे हैं इधर-उधर लुढ़क रहे हैं ॥ ४९ ॥

परब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्ष के अन्दर असंख्य देव, दानव आदि तो मच्छड़ हैं, और वे ब्रह्माण्ड पवनों से झूम रहे, भोगादि विचित्र रसों से परिपूर्ण उसके फल हैं अर्थात् ब्रह्मरूपी उदुम्बर वृक्ष के ब्रह्माण्डरूपी फल के भीतर ये देव, दानव आदिरूप अनेक मच्छड़ विद्यमान हैं ॥ ५० ॥

चिदाकाश में ये सब जगत् सुन्दर स्वभाव वाले तथा सृष्टिरूप खेलवाड़ करने वाले विशुद्ध चितितत्त्वरूप बालक के सङ्कल्प नगर हैं ॥ ५१ ॥

वे 'जगत् 'तुम', 'मैं', 'यह' आदि अभिमान बुद्धि बल से, सूर्य के दीप्ति बल से मिट्टी के खिलौने के सदृश, अत्यन्त दृढ़ बनाये गये हैं ॥ ५२ ॥

जैसे वसन्त ऋतु की रस रेखा बड़े-बड़े फल लगाने वाले वनों की शाखोपशाखा द्वारा बुद्धि करती है। वैसे ही निरन्तर तृप्ति से भरी हुई तथा रागरूपी रस से परिपूर्ण कर्मों के फलों को अवश्य प्रदान करने वाली नियति ने उनकी शाखोपशाखा द्वारा ऐसे बुद्धि की है ॥ ५३ ॥

सृष्टि को बतलाने वाली श्रुति की दृष्टि से तो उन सब का कर्ता ब्रह्म ही है और कुछ दृष्टि से उनका कर्ता ब्रह्म नहीं है। वास्तव में तो वे किसी के निर्मित हैं ही नहीं, किन्तु आकाशरूप शून्यरूप ही हैं। वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी महाचितिरूप आकाश में स्वयं ही अपने रूप को धारण कर स्थित हैं, परन्तु किसी के द्वारा सम्पादित भी प्रतीत होते हैं ॥ ५४ ॥

परमार्थमयान्येव तदन्यद्वोदितान्यपि ।
अलब्धान्येव लब्धानि सदाऽसन्त्येव सन्ति च ॥ ५५ ॥
चतुर्दशदशैकादिविधभूतगणानि च ।
पुनस्तान्येव तान्यन्तरन्यान्यन्यान्यथो बहिः ॥ ५६ ॥
नरकस्वर्गपातालबन्धुमित्रमयान्यपि ।
महारम्भमयान्येव शून्यानि परमार्थतः ॥ ५७ ॥
क्षीराम्बुधेर्जलानीव स्नेहसाराणि सर्वतः ।
तरङ्गभङ्गुराण्यन्तर्बहिश्चावृत्तिमन्ति च ॥ ५८ ॥
आभासमात्ररूपाणि तेजस्यात्मविवस्वतः ।
जातानीव स्वतस्तानि स्पन्दनानि नभस्वतः ॥ ५९ ॥
वृक्षरूपाणि पत्राणां बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
असतामप्यसन्त्येव स्वप्ने न्यस्तनृणामिव ॥ ६० ॥
पुराणवेदसिद्धान्तकल्पनातल्पपालिषु ।
घननिद्राणि सुप्तानि बिभ्रन्ति शवतामिव ॥ ६१ ॥
परमार्थमहारण्ये चिद्गन्धर्वकृतानि वै ।
सूर्यदीपकदीप्तानि गृहाणि गहनात्मनि ॥ ६२ ॥
प्रजायमानानि नभस्यनन्ते
विशीर्यमाणानि च निर्निमित्तम् ।
तदा त्वहं वै तिमिराक्षदृष्ट-
केशोण्ड्रकानीव जगन्त्यपश्यम् ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

वस्तुतः ये जगत् परमार्थचिद्रूप ही हैं, फिर भी अन्य से उत्पन्न मालूम पड़ते हैं, वस्तुः अप्राप्त ही हैं, फिर भी प्राप्त- से प्रतीत होते हैं, सदा असद्रूप ही हैं, फिर भी सद्रूप से भासमान होते हैं ॥ ५५ ॥

भुवनों की संख्या से चौवह, केवल देव योनियों की संख्या से दश, मनुष्य आदि एक-एक जाति को लेकर एक, इस प्रकार भिन्न-भिन्न तरह के भूत समूहों से युक्त वे अनेक होते हुए भी जगत् फिर एक ही रूप के हैं, किन्तु दूसरे ही रूप के भीतर और बाहर उत्पत्पन्न होते-रहते हैं ॥ ५६ ॥

यद्यपि ये सब जगत्, नरक, स्वर्ग, पातल, बान्धव और मित्ररूप बड़े-बड़े समारोहों से आक्रान्त हैं, फिर भी परमार्थ दृष्टि से शून्यरूप ही हैं ॥ ५७ ॥

ये सब क्षीरसागर के जल के सदृश चारों ओर प्रीति रूपसार से पूर्ण, तरङ्गों के सदृश भङ्गुर तथा भीतर और बाहर से परिवर्तनशील हैं ॥ ५८ ॥

आत्मरूपी सूर्य के तेज के अन्दर वे केवल आभासरूप हैं और वायु से स्पन्दन की तरह वे सब स्वतः उत्पन्न हैं ॥ ५९ ॥

वे जगत् बुद्धि, अहङ्कार और चित्तरूपी पत्तों के लिए एक तरह से पेड़ ही हैं। जैसे स्वप्न में निरन्तर अस्त स्वभिन्न मनुष्यों के दृश्य असत्य हैं, स्वभिन्नरूप से देखने वालों को भी साधारणरूप होने के कारण वे वैसे ही असत्य रूप ही हैं ॥ ६० ॥

पुराण, वेद के सिद्धान्तरूप कल्पनाओं के स्वप्नों में दृढ़ विश्वासरूपी गाढ निद्रा लेकर सोये हुए ये जगत् तत्त्व ज्ञान का अत्यन्त ही अभाव होने के कारण मृतकों का स्वरूप धारण किये हुए हैं ॥ ६१ ॥

परमार्थभूत ब्रह्मरूपी महान् जङ्गल में मायोपहित चितिरूप गन्धर्व के द्वारा बनाये गये तथा सूर्यरूपी दीपकों से प्रकाशित वे जगत्-रूपी घर महान् गहन हैं उनका असली स्वरूप जानना ही कठिन है ॥ ६२ ॥

मैंने उस समय की समाधि में अनन्त चिदाकाश में किसी कारण के बिना उत्पन्न हुए तथा किसी कारण के बिना ही जीर्ण-शीर्ण हो जानेवाले अत्यन्त जगत्, तिमिर रोग युक्त आँखों से दिखाई पड़ने वाले केशोण्ड्रक के सदृश भ्रान्तिमात्र से सिद्ध थे, उन्हें देखा ॥ ६३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में जगज्जालवर्णन नामक कुसुमलता का उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

६०

वसिष्ठ उवाच

ततोऽहमभितो भ्रान्तस्तादृशं प्रविचारयन् । बहुकालमसंरुद्धसंविदाकाशतां गतः ॥ १ ॥

६०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इतने असंख्य संसार देखने के बाद मैंने शब्द के कारण को ढूँढ़ता-ढूँढ़ता चारों ओर बहुत काल तक खूब भ्रमण किया। अनन्तर में आवरण रहित संविदाकाशरूप बन गया ॥ १ ॥

शब्दं पश्चात्तमश्रौषमहं वीणास्वनोपमम् ।
क्रमात्स्फुटपदं जातं तत आर्यात्वमागतम् ॥ २ ॥
शब्ददेशपतद्दृष्टिर्दृष्टवान्वनितामहम् ।
पार्श्वे कनकनिस्पन्दप्रभया भासिताम्बराम् ॥ ३ ॥
आलोलमाल्यवसनामलकाकुललोचनाम् ।
लोलद्धम्मिल्लवलनामन्यां श्रियमिवागताम् ॥ ४ ॥
कान्तकाञ्चनगौराङ्गीं मार्गस्थनवयौवनाम् ।
वनदेवीमिवामोदिसर्वावयवसुन्दरीम् ॥ ५ ॥
सा पूर्णचन्द्रवदना पुष्पप्रकरहासिनी ।
यौवनोद्दामवदना पक्ष्मलक्षणशालिनी ॥ ६ ॥
आकाशकोशसदना शशाङ्ककरसुन्दरी ।
मुक्ताकलापरचना कान्ता मदनुसारिणी ॥ ७ ॥
स्वरेण मधुरेणैवमार्यामार्यविलासिनी ।
पपाठाकठिनं वामा मत्पार्श्वे मृदुहासिनी ॥ ८ ॥

जब मैं उक्त आकाशरूप बन गया, तब मैंने वीणा के शब्द के सदृश शब्द सुना, क्रमशः उसके पद भी स्फुट हो गये, फिर मुझे यह भी मालूम होने लगा कि ये शब्द अर्या छन्द के हैं ॥ २ ॥

अनन्तर मेरी योगदृष्टि पास में ही, जहाँ से शब्द हो रहा था, उस देश में पढ़ गई । मैंने वहाँ एक स्त्री देखी, उसने अपनी कनक-जैसी स्पन्दनशील प्रभा से चारों ओर के आकाश मण्डल को प्रकाशित कर दिया था ॥ ३ ॥

उसके गले की माला और पहिने हुए वस्त्र खूब फरफरा रहे थे, उसके लोचन कानों के केशों को भी व्याकुल किये थे उसके माथे की वेणी बड़ी ही चञ्चल थी, मालूम ऐसा होता था साक्षात् लक्ष्मी ही आई हुई हैं ॥४॥

उसके अङ्ग कमनीय सुवर्ण के सदृश गौरवर्ण के थे, मार्गस्थ पथिक के सदृश उसका नवीन यौवन धीरे-धीरे जा रहा था, वन देवी के सदृश चारों ओर सुगन्ध भर देने वाले सम्पूर्ण नखशिखान्त अवयवों के कारण वह बड़ी ही आँखों को सुन्दर लग रही थी ॥ ५ ॥

उसका मुख पूर्णचन्द्र के सदृश था, उसका हास्य फूल के ढेर-सा लुभावना था, यौवन के कारण उसका आनन कुछ उद्दण्ड-सा लगता था, भौओ के उत्तम चिह्नों से उसकी शोभा देखते ही बनती थीं ॥ ६ ॥

आकाश का कोश ही उसके रहने का घर था, वह सुन्दर तो इतनी थी कि जितनी—चन्द्रमा की किरणें । उसने मोतियों का बनाया गया अर्धचन्द्राकार हार पहना था और उसकी चेष्टा मेरी ओर आने की काळूम होती थी ॥ ७ ॥

उस सुन्दरी ने मेरे पास में आकर अत्यन्त मधुर स्वर से मृदु एक आर्या पढ़ी, उस स्त्री का विलास आर्यो के जैसा ही था, उस समय उसके मुख में मन्द हास्य व्याप्त रहा था ॥ ८ ॥

असदुचितरिक्तचेतन-
संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम् ।
अवलम्बनतटविटपिन-
मभिनौमि भवन्तमेव मुने ! ॥ ९ ॥

'हे मुने ! खल पुरुषों के लिए ही अपनी योग्यता रखने वाले काम, क्रोध आदि जितने दोष हैं, उनसे आप का अन्तःकरण सर्वथा अलिप्त है, आप संसाररूपी नदी में डूब जाने वाले जीवों के लिए तीरस्थ आश्रयरूप वृक्ष हैं, अतः मैं आपको ही चारों ओर से प्रणाभ करती हूँ' ॥९॥

इत्याकर्ण्याहमालोक्य तां चारुवदनस्वनाम् ।
ललनेयं किमनयेत्यनादृत्यैव तां गतः ॥ १० ॥

यह सुनकर और उस सुन्दरमुखी एवं मधुर शब्द वाली रमणी को देखकर मैंने सोचा यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा । यों इस तरह उसके प्रति उपेक्षा कर वहाँ से मैं आगे बढ़ा ॥ १० ॥

ततो जगद्-वृन्दमयीं मायां संप्रेक्ष्य विस्मितः ।
अनादृत्यैव तां व्योम्नि विहर्तुमहमुद्यतः ॥ ११ ॥

अनन्तर मैंने असंख्य जगत् से युक्त माया देखी, उसे देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, उसका भी अनादर ही कर आकाशमण्डल में विहार करने के लिए मैं उद्यत हो गया ॥ ११ ॥

ततस्तां तत्कृतां चिन्तामलमुत्सृज्य खे स्थिताम् ।
जगन्मायां कलयितुं व्योमात्माऽहं प्रवृत्तवान् ॥ १२ ॥
यावत्तानि तथोग्राणि जगन्ति सकलानि खम् ।
शून्यमेव यथा स्वप्ने सङ्कल्पे कथने तथा ॥ १३ ॥

अनन्तर मायाजनित उस चिन्ता को छोड़कर शून्य-स्वभाव आकाश में स्थित जगन्माया को चिदाकाशरूप हो जानने के लिए मैंने ज्योंही प्रवृत्ति की, जिस तरह स्वप्न, मनोराज्य और कथार्थप्रकाशन में जगत् शून्यरूप हो जाते हैं वैसे ही वे सब जगत् मून्यरूप हो गये ॥ ११-१३ ॥

न पश्यन्ति न शृण्वन्ति कदाचित्कानिचित्क्वचित् ।
तानि कल्पमहाकल्पमहाजन्मैकतान्यथ ॥ १४ ॥

ये सब शून्यरूप हैं, इसलिए परमार्थदशा में ये कोई

प्रमत्तपुष्करावर्तानुन्मत्तोत्पातमारुतान् ।
स्फुटिताद्रीन्द्रढाकारघटितब्रह्ममण्डपान् ॥ १५ ॥
ज्वलत्कल्पाग्निविस्फोटचटदैडविडास्पदान् ।
प्रतपद्द्वादशाकारकन्दुमार्तण्डमण्डलान् ॥ १६ ॥
लुठत्सुरपुरव्रातवितताक्रन्दघर्घरान् ।
रणत्सर्वाद्रिकटकश्रेणीनिगिरणोद्भटान् ॥ १७ ॥
कल्पाग्निज्वलनोल्लासपठत्पटपटारवान् ।
आत्मभ्रंशबृहत्क्षोभक्षुब्धाम्बरमहार्णवान् ॥ १८ ॥
देवासुरनरागारघर्घराक्रन्दकर्कशान् ।
सप्तार्णवमहापूरपूरितार्केन्दुमण्डलान् ॥ १९ ॥
न विचेतन्ति कल्पान्तान् सर्वाण्येव परस्परम् ।

जगत् कहीं किसी समय न तो देखते हैं और न सुनते ही हैं। अतएव वे सब कल्प, महाकल्प और सर्ग में एकरूप ही हैं अर्थात् उन सब सृष्टियों की उन कल्पादि में समानरूपता ही है ॥ १४ ॥

जिनमें उन्मत्त पुष्करावर्त नाम के प्रलयकारी मेघ बरसते हैं, उन्मत्त उत्पातकारी वायु बहती है तथा तोड़े गये बड़े-बड़े पर्वतों के भयङ्कर शब्दों से ब्रह्माण्डमण्डप को जिन्होंने व्याप्त कर दिया है, ऐसे तत्-तत् जगत् के अन्दर प्रवृत्त हुए भी कल्पान्तों को, ये जगत् परस्पर नहीं जान पाते ॥ १५ ॥

धधक रही प्रलयाग्नि के विस्फोटों से कुबेर के भवन जिनमें चट-चट शब्द कर रहे हैं, जिनमें आकार में गेंद के सदृश बाहर आदित्य मण्डल आकाश में चक्कर काटते रहते हैं, ऐसे जल्पान्तों को वे परस्पर नहीं देख पाते ।१६।

इधर-उधर लुढकते हुए देवनगरों के समूहों के व्यापक क्रन्दनों के कारण घर्घर शब्द कर रहे समस्त पर्वतों की नितम्बश्रेणियों को निगल जाने में अतिउद्भट कल्पान्त कालों को वे जगत् परस्पर नहीं जानते ॥ १७ ॥

प्रलयकाल की भयङ्कर अग्नि की ज्वालाओं के विलासों से विस्पष्टरूप से पट-पट शब्द कर रहे तथा आत्मा के असली स्वभाव के अज्ञान से उत्पन्न बड़े क्षोभों के सदृश जलचरों के क्षोभ से क्षुब्ध हुए आकाशरूपी महासमुद्र से युक्त कल्पान्तों को वे परस्पर नहीं जानते ॥ १८ ॥

देवता, दानव और मनुष्यों के घरों के घर्घर क्रन्दनध्वनियों से, जो अतिकर्कश हैं तथा द्युलोक तक सात समुद्रों को बढ़ाकर उनकी महाबाढ से जो सूर्य एवं चन्द्र के मण्डलों को भी जल से भर देते हैं, उन कल्पान्तों को

एकमन्दिरसंसुप्ताः स्वप्ने रणरयानिव ॥ २० ॥
तत्र रुद्रसहस्राणि ब्रह्मकोटिशतानि च ।
दृष्टानि विष्णुलक्षाणि कल्पवृन्दान्यलं मया ॥ २१ ॥
तत्र क्वचिदनादित्ये निरहोरात्रभूतले ।
अकल्पयुगवर्षान्ते जगत्यूहैः क्षतोदयः ॥ २२ ॥
चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित् ।
चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतद्दृष्टं तत्र मयाऽखिलम् ॥ २३ ॥
त्वं किञ्चिदिति चेद्वक्षि तत्र किञ्चिदिवाङ्ग चित् ।
सा हि शून्यतमाव्योम्नो न च नाम न किञ्चन ॥ २४ ॥
तदाकाशमिदं भाति जगदित्यभिशब्दितम् ।
तेनैव शब्दनभसा सर्वं हि परमं नभः ॥ २५ ॥

वे जगत् परस्पर नहीं देखते ॥ १९ ॥

उन वर्णित जगतों में एक दूसरे के भीतर इस तरह के कल्पान्तकाल प्रवृत्त हुए रहते हैं, परन्तु जिस तरह एक मकान में सोये हुए पुरुष स्वप्न में एक दूसरे के रणशब्द को नहीं जान पाते हैं वैसे ही वे जगत् एक दूसरे में प्रवृत्त कल्पान्तों को तरह नहीं जाने पाते ॥ २० ॥

उन ब्रह्माण्डों में मैंने हजारों रुद्र, सैकड़ों करोड़ ब्रह्मा, लाखों विष्णु और असंख्य कल्प देखे ॥ २१ ॥

उस तरह अनेक प्रकार के जो ब्राह्माण्ड आपको बतलाये, उनमें जो चितिरूप वस्तु है, उसी में सङ्कल्पों से उनका विनाश और उदय मैंने देखा। चिद्वस्तु में न तो आदित्य मण्डल है, न दिन, रात या भूतल है और न कल्प, युग और वर्षा की समाप्ति ही है ॥ २२ ॥

सब कुछ चेतन में ही है, सब कुछ चेतन से ही है, चेतन ही सब कुछ है, चारों ओर से चेतन ही चेतन है, चेतन ही सत् है, सर्वात्मक भी चेतन ही है यही मैंने अन्वय-व्यतिरेक से परीक्षाकर वहाँ देखा ॥ २३ ॥

आप किसी भी दशा में किसी रूप की कल्पनाकर नाम से यह कहते हैं कि यह घट है, यह पट है, तो उस दशा में आपके द्वारा प्रयुक्त तत्-तत् नाम रूप से युक्त चिति ही हो जाती है, यही उदय है। यही चिति आकाश से भी शून्यतम विवक्षित होने पर किसी नाम या रूप से युक्त नही होती—यही उसका विनाश है ॥ २४ ॥

यह सारा नामरूपात्मक जगत् नामरूपात्मक कल्पना के द्वारा आकाश ही भासमान होता है, क्योंकि आकाश ही वायु आदि क्रम से जगत् के आकार में बन जाता है, यह बात श्रुतियों में प्रसिद्ध है और वही शब्दतन्मात्ररूप होने के कारण सब वस्तुओं के लिए साधारण

दृश्यदृष्टिरियं भ्रान्तिराकाशतरुमञ्जरी ।
चिद्व्योमाङ्ग कमेवेति तत्राहमनुभूतवान् ॥ २६ ॥
बुद्ध्याकाशैकरूपेण व्यापिना बोधरूपिणा ।
तत्रानन्तेन सङ्कल्पमनुभूतमिदं मया ॥ २७ ॥
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश ।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ २८ ॥
तत्राऽहमिव संसारशते भाते मुनीश्वराः ।
दृष्टा वसिष्ठनामानो ब्रह्मपुत्राः सदुत्तमाः ॥ २९ ॥
ब्रह्मन् ! द्वासप्ततिस्त्रेताः सर्वा एव सराघवाः ।
तत्र दृष्टं कृतशतं द्वापराणां शतं तथा ॥ ३० ॥
भेदोदयेन वै दृष्टास्तास्ताः सर्गदशास्तथा ।
बोधेन चेत्तदत्यच्छमेकं ब्रह्म नभस्ततम् ॥ ३१ ॥

नामात्मक भी बन जाता है । अतः 'तत्त्वमसि' आदि शब्द-रूप से परिणत आकाश के कारण सब जगत् परम चिदाकाशरूप ही है, वही इसका आत्यन्तिक क्षय है ॥ २५ ॥

दृश्यों का ज्ञान भ्रम ही भ्रम है, यह आकाश वृक्ष की मञ्जरी ही है यानी असत् है, इसलिए जगत् में परिशिष्ट जो चिदाकाश है, यही सुख यानी निरतिशयानन्दरूप है इसका मैंने अनुभव किया ॥ २६ ॥

अन्तिम साक्षात्कार की वृत्ति को तद्रूप आकाश में आविर्भाव हो जाने के कारण एकरूप, पूर्णात्मक, अनन्त तथा बोधस्वरूप हुए मैंने उक्त समाधि में यह सङ्कल्पशून्य अनुभव किया ॥ २७ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् का बिछा हुआ जाल ब्रह्मरूप निर्मल आकाश ही है, जगत् के अन्तर्गत दसों दिशाएँ, तदन्तर्गत कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब कुल चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, यह मैंने देखा ॥ २८ ॥

वासनानुसार अनेक तरह की भिन्नता को प्राप्त संसार मुझे दिखाई दिये, उनमें आकारों में मेरे सदृश वसिष्ठ नाम के बड़े उत्तम-उत्तम, ब्रह्मा के पुत्र अनेक मुनीश्वर देखे ॥ २९ ॥

हे प्रह्मन् ! वहाँ मैंने बहत्तर त्रेतायुग देखे । वे सभी रामावतार से युक्त थे, सैकड़ों सत्ययुग देखे और सैकड़ों द्वापर देखे ॥ ३० ॥

मैंने भेदवासना की प्रबलता से तत्-तत् सर्गों की अवस्थाएँ अनेक तरह की देखीं और तत्त्वदृष्टि से तो उन सब को व्यापक ब्रह्मरूप आकाश ही देखा ॥ ३१ ॥

नेदं ब्रह्मणि नामास्ति जगद्ब्रह्मण्यथ त्विदम् ।
ब्रह्मैवाजमनाद्यन्तं तत्सर्वं तत्पदादिकम् ॥ ३२ ॥
पाषाणमौनप्रतिमं न किञ्चिदभिशब्दितम् ।
यत्तत्किञ्चिदिति द्योतरूपं ब्रह्म जगत्स्मृतम् ॥ ३३ ॥
विभात्यचेत्यं चिद्व्योम्नि स्वसत्तैव जगत्तया ।
निराकारे निराकारा स्वप्नानुभवसन्निभा ॥ ३४ ॥
अनन्यमात्मनो ब्रह्म सर्वं भामात्ररूपकम् ।
प्रकाशनमिवालोकः करोति न करोति च ॥ ३५ ॥
तेषु नामानुभूयन्ते जगल्लक्षेषु तत्र वै ।
उष्णानि चन्द्रबिम्बानि सूर्याः शीतलमूर्तयः ॥ ३६ ॥
प्रजास्तमसि पश्यन्ति पश्यन्त्येव न तेजसि ।
उलूकस्य समाचारास्तस्यैव सदृशस्वराः ॥ ३७ ॥

न तो ब्रह्म में यह जगद्रूप नाम है और न उसमें जगद्रूप वस्तु ही है, किन्तु वह सब अन्तिम प्राप्य तत् पदादिरूप, अज, आदि-अन्तशून्यब्रह्मरूप ही है । अर्थात् इस स्थिति में दृष्टि भेद से ब्रह्म सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च हो सकता है, इस विषय में विरोध ही नहीं है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मरूप पाषाण के सदृश सब तरह के वाणी के व्यापारों से रहित है, समस्त नाम और रूपों से शून्य और प्रकाशरूप है, वही कुछ नामरूपात्मक बन जाता है, और वही जगत् के वेष में स्मृत है ॥ ३३ ॥

वास्तव में चेत्य तो चिदाकाश में है नहीं, परन्तु चिति की अपनी सत्ता ही जगत् के रूप में भासमान होती है । वह स्वप्न के अनुभव के सदृश भ्रान्तिरूप है, अतः निराकार ब्रह्म में भास रही सृष्टि वास्तव में निराकाररूप ही है ॥ ३४ ॥

जिस तरह आलोक प्रकाश करता है और नहीं भी करता । उसी तरह एकमात्र प्रकाशरूप ब्रह्म अपने अभिन्न सब कुछ अलोक अपने से अतिरिक्त प्रकाश न होने के कारण प्रकाश को नहीं करता, यह कहना वास्तव में ठीक ही है ॥ ३५ ॥

लाखों जगत् जो समाधि में अनुभूत होते हैं, उनमें कहीं पर चन्द्रबिम्ब गरम और सूर्यबिम्ब ठण्ढे भी अनुभूत होते हैं, और इसी तरह के हैं भी ॥ ३६ ॥

कहीं पर अन्धकार में प्रजाएँ देखती हैं और कहीं प्रकाश में भी नहीं दीखती है । ठीक उल्लुओं के जैसा उनका व्यवहार है और उन्हीं के जैसा वे शब्द भी करती हैं ॥ ३७ ॥

इतः शुभेन नश्यन्ति यान्ति पापैस्तथा दिवम् ।
विषाशनेन जीवन्ति म्रियन्तेऽमृतभोजनैः ॥ ३८ ॥
यद्यथा बुध्यते बोधे यथोदेत्यथवा स्वतः ।
तथाऽऽशु स्फुटतामेति सद्वाऽसद्वा तदेव तत् ॥ ३९ ॥
विटपाकारमूलौघदर्शनाद्वज्रशोभिभिः ।
घूर्णते पत्रपुष्पाभैः पादपैर्व्योम्नि काननम् ॥ ४० ॥
सिकताः पीडिताः सत्यः स्रवन्ति स्नेहजं रसम् ।
शिलाफलककेभ्यश्च जायन्ते कमलान्यलम् ॥ ४१ ॥
दारुण्यश्मनि भित्तौ च चञ्चलाः शालभञ्जिकाः ।
देवाङ्गनाभिः सहितं गायन्ति कथयन्ति च ॥ ४२ ॥
मेघान्परिदधत्युच्चैर्भूतान्युच्चैः पटानिव ।

कहीं तो प्राणी पुण्य से नष्ट हो जाते हैं और कहीं पापों से स्वर्ग जाते हैं, कहीं पर विष भोजन से दीर्घकाल तक जीते हैं, तो कहीं पर अमृतपान से मर जाते हैं [यह मन की अनियन्त्रित कल्पना होने के कारण कहा गया है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं हैं, क्योंकि इससे तो वेद में भी अप्रामाण्य आ सकता है] ॥ ३८ ॥

दीर्घकाल के अभ्यास से दृढ़ बोध में जो वस्तु जैसी हितसाधन या अहित साधन के रूप में समझ ली जाती, है, वह वैसी ही स्वयं अपने भोग हेतु अदृष्ट के कारण बन जाती है । जैसी बनती है, ठीक वैसी ही भोग काल में विस्पष्ट बन जाती है । वह वस्तु दूसरी जगह सत् हो या असत् हो, इस विषय में कुछ भी विशेषता नहीं रखती, क्योंकि वह ब्रह्मरूप ही है और वह ब्रह्म हीं वासनानुसार वैसा विवर्तित हो जाता है ॥ ३९ ॥

कहीं पर तो चिदाकाश में शाखाओं के सदृश वृक्षों के मूल दिखाई देते हैं, इसलिए वज्रमणि के सदृश अत्यन्त दृढ़ पत्र, पुष्प आदि से सुशोभित वृक्षों से युक्त अरण्य विद्यमान है । अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध जो अरण्य है, उससे विपरीत पत्र, पुष्प आदि से सम्पन्न अरण्य अन्य ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध है ॥ ४० ॥

कहीं पर तो कोल्हू में पीसे जाने पर बालू से भी स्नेह जनित रस यानी तेल चूता है और कहाँ पर शिलाओं के ऊपरी हिस्सों में अनेक सुन्दर कमल लगते हैं ॥ ४१ ॥

कहीं लकड़ी, पत्थर और भीत के ऊपर निर्मित पुतलियाँ देवाङ्गनाओं के साथ गान और वार्ता करती हैं ॥ ४२ ॥

कहीं पर लम्बे-लम्बे प्राणीं लम्बे वस्त्रों के सदृश मेघों को बड़े चाव से पहिनते हैं और कहीं पर एक ही वृक्ष के

प्रतिवर्षं विजातीयान्युत्पद्यन्ते फलान्यगे ॥ ४३ ॥
सन्निवेशनं नियतैरङ्गानां विविधाङ्गकैः ।
शिरोभिः सर्वभूतानि परिक्रामन्ति भूमिगैः ॥ ४४ ॥
शास्त्रवेदविहीनानि निर्धर्माण्येव कानिचित् ।
यत्किञ्चनैककारीणि तिर्यग्यन्ति जगन्त्यधः ॥ ४५ ॥
कामसंवित्तिहीनानि निःस्त्रीजातानि कानिचित् ।
भूतैः संशुष्कहृदयैर्व्याप्तान्यश्ममयैरिव ॥ ४६ ॥
पवनाशनभूतानि समरत्नाश्मकानि च ।
अजातार्थान्यलुब्धानि निगर्वाणीव कानि च ॥ ४७ ॥
क्वचित्प्रत्येकमात्मानं पश्यत्याप्नोति नेतरत् ।
बहुभूतकमप्यस्ति जगदित्येकभूतकम् ॥ ४८ ॥

ऊपर प्रत्येक वर्ष में भिन्न-भिन्न जाति के फल लगते हैं ॥ ४३ ॥

कहीं पर एक जाति के प्राणियों के अङ्गों की गठन ही अलग-अलग प्रकार की है, कहीं पर एक जाति के प्राणियों के अङ्ग जुदे-जुदे आकार के दिखाई पड़ते हैं, कहीं पर सिर ऊपर की ओर नहीं है, किन्तु भूमितल पर है, इस तरह चित्र-विचित्र प्राणी घूमते दिखाई देते हैं ॥४४॥

कहीं पर भूमि आदि लोकों के नीचे के जगत् केवल पशु आदि प्राणियों से ही भरे हैं, उनमें मनुष्यों का नाम ही नहीं है, न तो इनमें वेद और शास्त्र का प्रचार है, न कोई धर्म है, न इनका कोई उत्तम आचरण है अर्थात् यथेष्टाचरण करने वाले हैं ॥ ४५ ॥

कोई तो प्राणी काम संवित्ति से हीन हैं, वे स्त्री के बिना यों ही कहीं पर पैदा हो गये हैं । कहीं पर के जगत् तो पत्थरमय शुष्क हृदय वाले प्राणियों से भरे पड़े हैं ॥ ४६ ॥

कहीं पर तो केवल सर्प ही सर्प हैं, कहीं पर तो सभी रत्न ही रत्न हैं या तो पत्थर ही पत्थर हैं, कहीं पर तो धन आदि का व्यवहार ही नहीं है, अतएव लोभरहित हैं और कहीं पर प्राणियों में अहङ्कार की मात्रा ही नहीं है ॥ ४७ ॥

कहीं पर प्रत्येक प्राणी अपनी समष्टि आत्मा को देखता है और दूसरे व्यक्ति को देखता या पाता ही नहीं । ऐसा होने पर भी वह लोक योनिज आदि चार प्रकार के प्राणियों से युक्त है और एक-एक तरह के प्राणियों से भी युक्त है अर्थात् कहीं पर व्यष्टि-अहम्भाव नहीं है, केवल समष्टि-अहम्भावरूप एकात्मभाव से ही सब शरीरों में भेदव्यवहार होता है ॥ ४८ ॥

नखकेशादिके यद्वत्तद्वदन्यत्र संस्थितः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकीभूतात्मभावना ॥ ४९ ॥
अनन्तापारपर्यन्तं शून्यमेव बहु क्वचित् ।
यत्नतः संविदाप्नोति तस्यान्तेन जगत्पुनः ॥ ५० ॥
अत्यन्ताबुद्धबुद्धानि मोक्षशब्दार्थदृष्टिषु ।
दारुयन्त्रमयाशेषभूतौघानीव कानिचित् ॥ ५१ ॥
ऋक्षचक्रविहीनानि निष्कालकलनानि च ।
मूकसङ्केतसाराणि भूतजालानि कानिचित् ॥ ५२ ॥
कानिचिद्वर्जितान्येव नेत्रशब्दार्थसंविदा ।
व्यर्थदीप्रात्मतेजांसि भूतानीत्येकचिन्तया ॥ ५३ ॥
प्राणसंविद्विहीनानि व्यर्थामोदानि कानिचित् ।
मूकानि शब्दवैयर्थ्याच्छ्रुतिहीनानि कानिचित् ॥ ५४ ॥

कोई पुरुष अपने नख, केश आदि के उतारने और उत्पन्न होने पर अपना निजी छेदन और जनम देखता है, इसलिए वह अपनी अन्यत्र स्थिति मानता है। परन्तु उसके सौन्दयादि सुख भोग में उसकी एकीभूत आत्मभावना ही जैसे देखी जाती है, ठीक ऐसे ही सब भूतों में उनकी एकीभूत आत्मभावना ही देखी जाती है ॥ ४९ ॥

कहीं तो अधिकतर चारों ओर अनन्त अपारशून्य ही शून्य है। कहीं पर प्राणी यत्न से आत्मचिति प्राप्त करता है, तो शून्य के तिरस्कार से फिर जगत् देखता है अर्थात् कहीं पर तो सृष्टि भेद की वासना ही नहीं रहेगी, इसलिए अव्याकृत आकाशमात्ररूपता से ही वहाँ भावना होती है ॥ ५० ॥

कुछ जगत् निर्विशेष परब्रह्म की दृष्टि हो जाने पर वे अलीक की तरह ज्ञात होते हैं, कहीं चिति का पृथक्करण कर देखने पर काष्ठयन्त्रमय (हाथी, घोड़े आदिरूप) सब प्राणी देखे गये हैं ॥ ५१ ॥

कुछ जगत् तो नक्षत्र चक्र से ही रहित हैं, अतएव कालगति का ही वहाँ पता नहीं लगता। कुछ तो शब्द श्रोत्र आदि के अभाव के कारण मूक पुरुषों के सदृश हाथ आदि के संकेतों के बलपर ही अपना सारा व्यवहार निभाते हैं ॥ ५२ ॥

कहीं पर ऐसे प्राणी देखे कि नेत्र शब्द, नेत्ररूप इन्द्रिय और नेत्रजनित रूप आदि के दर्शन से वे वञ्चित थे, अतएव उनके लिए सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाश निरर्थक ही रहे। इस प्रकार की जो जगत् की रचना है, वह एकाग्रचित्त योगी के मन की कल्पना से मैंने आपसे कही ॥ ५३ ॥

वाक्यसंविद्विहीनत्वान्मूकान्यन्यानि कानिचित् ।
स्पर्शसंविद्विहीनत्वादश्माङ्गानीव कानिचित् ॥ ५५ ॥
संविन्मात्रमयान्येव दृष्टान्यपि च कानिचित् ।
व्यवहारोण्यप्यग्राह्याण्येव नित्यं पिशाचवत् ॥ ५६ ॥
भूमयान्येकनिष्ठानि निष्पिण्डान्येव कानिचित् ।
कानिचिद्वारिपूर्णानि वह्निपूर्णानि कानिचित् ॥ ५७ ॥
कानिचिद्वातपूर्णानि सर्वाकाराणि कानिचित् ।
जगन्ति व्योमरूपाणि बत तत्र कचन्ति खे ॥ ५८ ॥
धरापीठैकपूर्णेषु तिष्ठन्त्यन्येषु देहिनः ।
भेका इव शिलाकोशे कीटा इव धरोदरे ॥ ५९ ॥
जलैकपरिपूर्णेषु तिष्ठन्त्युर्वीवनाद्रिषु ।
भ्रमन्त्यन्येषु भूतानि नित्यमेवोग्रमीनवत् ॥ ६० ॥

कुछ प्राणी घ्राणेन्द्रिय और इससे होने वाले गन्धज्ञान से रहित हैं, कुछ निरर्थक ही आमोद-प्रमोद करने वाले हैं, कुछ शब्देन्द्रिय की शक्ति से रहित होने के कारण मूक हैं और कुछ श्रोत्रेन्द्रिय से रहित हैं ॥ ५४ ॥

कुछ दूसरे वाक्यार्थ बोध न होने के कारण मूक हैं, कुछ स्पर्शज्ञानशून्य होने के कारण पत्थर के अङ्गों के सदृश त्वगिन्द्रियरहित हैं ॥ ५५ ॥

कुछ मनोराज्य के सदृश विचित्र ही देखे गये, कुछ व्यवहार करने वाले हैं, परन्तु पिशाचों के सदृश उद्भूत गुणों से उनकी रचना न होने के कारण सदा इन्द्रियवेद्य ही नहीं हैं अर्थात् केवल साक्षी से ही उनका ग्रहण होता है ॥ ५६ ॥

कुछ जगत् केवल भूमिमय हैं, उनकी स्थिति एक-सी है, कुछ घनता से रहित हैं, कुछ केवल जल से भरे हैं, और कुछ अग्नि से पूर्ण हैं ॥ ५७ ॥

कुछ जगत् वायुओं से परिपूर्ण हैं, कुछ सभी तरह के आकारों से परिपूर्ण हैं, अर्थात् समस्त कार्यों में समर्थ समस्त वस्तुओं से परिपूर्ण हैं। आश्चर्य है कि कुछ तो आकाशरूप ही हैं, फिर भी चिद्रूप आकाश में वे स्फुरित होते हैं ॥ ५८ ॥

जिस तरह शिलाकोश के भीतर मेढ़क या भूमि के उदर में कीड़े निकला करते हैं उसी तरह कुछ केवल भूमिपृष्ठपूर्ण अन्य जगत् में जीव उस तरह निवास करता हैं ॥ ५९ ॥

दूसरे केवल जल से ही परिपूर्ण पृथ्वी, वन, पर्वत आदि में भी प्राणी, मगर के सदृश, निरन्तर ही घूमा करते हैं ॥ ६० ॥

अन्येष्वग्न्येकपूर्णेषु जलादिरहितान्यपि ।
भूतान्यग्निमयान्येव स्फुरन्त्यलमलातवत् ॥ ६१ ॥
अन्येष्वनिलपूर्णेषु भूतान्यस्तेतराण्यपि ।
वातमात्रमयाङ्गानि स्फुरन्त्यर्जुनवातवत् ॥ ६२ ॥
अन्येषु व्योममात्रात्मदेहेषु व्योमरूपिणः ।
प्राणिनः सन्ति सर्गेषु दर्शनव्यवहारिणः ॥ ६३ ॥
पातालपातिषु तथाऽम्बरमुत्पतत्सु
तिष्ठत्सु विभ्रमपदेष्वथ दिङ्मुखेषु ।
नाना जगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं
यन्नाम चिज्जलधिचञ्चलबुद्बुदेषु ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

दूसरे केवल अग्नि से ही पूर्ण जगत् में जल आदि से रहित भी प्राणी, अलातचक्र के सदृश यानी भ्रमण कर रहे उल्मुक की तरह केवल अग्निरूप होकर ही खूब चलते फिरते हैं ॥ ६१ ॥

अन्य केवल वायु से पूर्ण जगत् के भूत वे जल, अग्नि आदि से यद्यपि रहित हैं, तथापि केवल वायुरूप होकर ही, अर्जुनामक वायु के रोगविशेष के सदृश, घूमते फिरते हैं [अर्जुनवायु से ग्रस्त लोक आकाश में घूमते हैं, यह कहीं पर प्रसिद्ध हैं] ॥ ६२ ॥

दूसरे केवल आकाशरूप अपनी देह से युक्त लोक में आकाशरूप ही प्राणी हैं वे सबके सब दर्शन व्यवहार करने वाले हैं ॥ ६३ ॥

कोई पाताल में गिर रही हैं, कोई आकाश में उड़ रहे हैं, और कोई दिशाओं के मुख में स्थित हैं इस तरह की केवल विभ्रम के कारण ज्ञात होने वाली अनेक तरह की सृष्टियों में, चितिरूप समुद्र के बुदबुदों के ही स्वरूप हैं, मैंने जो न देखी हो, वह वस्तु ही कौन-सी है, अर्थात् कोई नहीं। सभी तरह की असम्भव वस्तुएँ मैंने उनमें देखीं। अर्थात् उस चिदाकाश में नीचे, ऊपर एवं चारों ओर कल्पित दिशाओं में उड़ रहे चित्र विचित्र सब जगत् और उनमें रहने वाली अनेक तरह की वस्तुएँ मैंने देखीं ॥ ६४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में पाषाण-उपाख्यान में जगज्जालवर्णन नामक कुसुमलता का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

६१

वसिष्ठ उवाच

चिदाकाशाच्चिदाकाशे पयसीव पयोरयाः ।
चित्त्वाज्जीवाः स्फुरन्त्येते एत एव मनांसि नः ॥ १ ॥
विशदाकाशरूपाणि तान्येव च मनांसि नः ।
जगन्ति तान्यनन्तानि सम्पन्नान्यभितः स्वयम् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

सर्वभूतगणे मोक्षं महाकल्पक्षये गते ।
पुनः कस्य कथं सर्गसंवित्तिरुपजायते ॥ ३ ॥

६१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—चिदाकाश में चिदाकाश से ही ये सब अज्ञात आत्मा के स्वभाव से प्राण आदि उपाधियों से परिच्छिन्न वैसे ही जीव स्फुरित होते हैं जैसे जल में जल से ही जलरूप वेग-तरङ्ग आदि स्फुरित होते हैं और वे ही जीव उत्तरोत्तर हजारों सङ्कल्प-विकल्पों के कारण संसार के बीजरूप होकर कारण बन जाते हैं और हम लोगों के मन कहे जाते हैं ॥ १ ॥

विशद आकाशरूप वे ही हम लोगों के मन हैं और वे ही स्वयं चारों ओर से अनन्त जगत् के रूप में परिणत हो गये हैं। अर्थात् वे ही मन अपने अन्दर रहने वाली भोग्य वासनाओं को जगत् के आकार में विकसित करने के कारण अनन्त जगद्रूप बन गये हैं ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—भगवन्, ये जितने प्राणी हैं; वे सब महाकल्प के विनाश में मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, इस स्थिति में फिर इसको किस तरह सृष्टि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। आशय यह है कि इन सब बातों से निष्कर्ष यही निकला कि अपनी अविद्या से अकेला ब्रह्म ही अनेक जीवों के आकारों में और अनेक सृष्टि के रूपों में संसार धारण करता है तथा अकेला वही अपनी विद्या से सब जीवभाव एवं संसार से मुक्त हो जाता है। परन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पहले के प्राकृत प्रलय हो जाने के बाद सम्पूर्ण जीवों की समष्टि हिरण्य-

वसिष्ठ उवाच

महाप्रलयपर्यन्ते क्षितिजलपवनहुताशाकाशाशेष-विशेषविनाशे आब्रह्मस्थावरान्तेषु मुक्तौ परिणतेषु भूयो यथेदं जगदनुभूयते तथा शृणु ।

अव्यपदेश्यं यत्परमार्थघनं ब्रह्म चिन्मात्रमित्याचक्षते मुनयः तस्य हृदयमिदं जगत्तस्मादव्यतिरिक्तमेव स एव च देवस्तदात्मीयं हृदयं स्वभावं जगदित्यवगच्छति च विनोदेनैव न तु वास्तवेन रूपेण जगदिति किंचिदुपलभामहे विचारयन्तस्तस्मात्किमिव नश्यति किमिव जायते यथा परमकारणमविनाशि तथा तद्हृदयमविनाश्यं च । महाकल्पादयश्च तदवयवा एव, अपरिज्ञानमात्रमत्र केवलं भेदायैव तदपि प्रेक्ष्यमाणं न लभ्यत एव ॥ ४ ॥

तस्मान्न कस्यचित्कदाचिन्नश्यति क्वचित् ।
न चैव जायते ब्रह्म शान्तं दृश्यमजं स्थितम् ॥ ५ ॥

गर्भ के तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उसके निमित्त इस सब जीव और जगत् का बाध अवश्य हो जायगा, ऐसी स्थिति में सभी की मुक्ति अवश्य माननी चाहिए, जब यह बात मानने को हम बाधित हो जाते हैं, तब यह शङ्का रह जाती है कि एकबार जो ब्रह्म मुक्त हो चुका, उसका जीवादिरूप संसार फिर कैसे हुआ, इस आशय से श्रीरामजी ने प्रश्न किया है ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—महाप्रलय पर्यन्त पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थों का विनाश हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक के सभी जीव-जगत् मुक्ति में परिणत हो जाते हैं, वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी यह जगत् फिर जिस रीति से अनुभूत होता है, वह सानन्द आप सुनिये—यद्यपि यह मुनि लोग कहते हैं कि आकाश तक के समस्त विशेषों का विनाश हो जाने पर जीव जगत् मुक्ति में परिणत हो जाता है और केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही, जो अव्यपदेश्य (शब्द से कहने अयोग्य) परमार्थ चेतनघन है, अवशिष्ट रह जाता है, तथापि समझाने की बात यह है कि चिन्मात्र ब्रह्म जो बच जाता है, उसका यह जगत् एक तरह का हृदय है और उससे अभिन्न है। सारांश यह निकला कि—[यद्यपि मुक्त पुरुषों की दृष्टि से सभी जीवों की मुक्ति ही है, किसी के लिए कुछ भी बाकी नहीं बचता, तथापि दूसरे जो जीव हैं, उनमें हर-एक को तो तत्त्वज्ञान हुआ है नहीं, इसलिए उनकी दृष्टि से अपनी-अपनी अविद्या तो नष्ट हुई नहीं, अतः बन्ध का अनुभव होता है। जैसे चन्द्रलोक में जो मूलतः रहने वाले हैं अथवा अभी-अभी जो चन्द्रलोक में जा पहुँचे हैं, उनकी दृष्टि में चन्द्रलोक की स्वल्प स्वरूपता अत्यन्त असत् ही है, परन्तु भूमि पर स्थित पुरुषों की दृष्टि से तो चन्द्र स्वल्प रूप ही है, ऐसे ही यहां पर भी जानना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि] वही देव बद्ध दृष्टि से जगत् को अपना स्वभाव और हृदय समझता है तथा मुक्त दृष्टि से वैसा नहीं भी समझता। आत्मा के विषय में तात्त्विक विचार करके स्थित मुक्त स्वभाव हम लोग तो जगत् को विनोद से यानी यह जगत् बाधित हो चुका है, पर उसका केवल जले हुए वस्त्र के सदृश भास होता है इस प्रकार के कौतुक से कुछ है, यों देखते हैं, उसे वास्तविक रूप से नहीं देखते। इससे तीनों दृष्टियों में जगत् आत्मा से अभिन्न ही ठहरता है, इसलिए इसका क्या विनाश और क्या उत्पत्ति। जैसे इसका परम कारण विशुद्ध आत्मा अविनाशी है, वैसे ही उस आत्मा का हृदयभूत यह जगत् अविनाशी ही है। जगत् अविनाशी है, तो महाकल्प, अवान्तर कल्प आदि कैसे हो सकेंगे, क्योंकि जगत् का नाश होने पर ही तो महाकल्प आदि का व्यवहार हो सकता है, इस प्रकार की यदि कोई शङ्का उठाये, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि महाकल्प आदि भी तो जगत् के अवयव हैं। जब उक्त रीति से जगत् नित्य और स्थायी है तब उसके अङ्गभूत महाकल्प आदि अनित्य और अस्थायी कैसे हो सकता है और यह तो कहा नहीं जा सकता कि कारण एक समय में नष्ट होकर फिर दूसरे समय में आ जाते हैं। इसलिए यही मानना होगा कि सत्य स्वरूप जो कल्प, सृष्टि आदि हैं, वे ही जपमाला के अङ्गभूत मणियों के सदृश बार-बार कालचक्र रूप से घूम फिर कर आते जाते रहते हैं। अतीत, भविष्यत् आदि कल्प और सृष्टि आदि को लेकर कल्पादि में परस्पर जो भेदबुद्धि हो जाती है उसका एकमात्र कारण इस विषय का व्यापक अज्ञान ही है; परन्तु इस अज्ञान को यदि हम देखते हैं, तो हाथ लगता नहीं, अतः भेदबुद्धि कल्पादि की अस्थायिता आदि में हेतु नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

किसी की न तो कुछ सृष्टि होती है, न किसी समय कुछ नष्ट होता और न कभी कुछ उत्पन्न होता है, यह जो दृश्य है, वह सब शान्त, अज ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ५ ॥

आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेपि या ।
शुद्धचिन्मात्रसत्ता विद्यते ।। ६ ।।
वपुर्जगदिदं तस्या ननु नाम महाचितेः ।
कथं नश्यत्यनष्टायां तस्यां सा च न नश्यति ।। ७ ।।
संविदो हृदयं स्वप्ने यथा भाति जगत्तया ।
व्योमात्मैव तथैवादिसर्गात्प्रभृति भासते ।। ८ ।।
चिद्व्योमावयवः सर्गः सर्गस्यैतादृशाः क्षयाः ।
उदयाश्चेति खं सर्वं किंनाशि किमनाशि च ।। ९ ।।

एषा हि परमार्थसंविदच्छेद्या अदाह्याऽक्लेद्याऽशोष्या, सा ह्यतद्विदामदृश्या तस्या यद्हृदयं तत्तदेव भवति यथाऽसौ न नश्यति तदन्तर्वर्तीजगदाद्यनुभवो न जायते न नश्यत्येवेति केवलं स्मरणविस्मरणवशेन स्वभावरूपेणानुभवाननुभवौ कल्पयतीव ।। १० ।।

असंख्य बड़े से बड़े आकाश तक के और छोटे से छोटे परमाणु तक के पदार्थ में भी जो सत्ता है, वह विशुद्ध चिन्मात्र की ही सत्ता है ।। ६ ।।

यह जगत् उस महाचिति का शरीर है, महाचिति तो नष्ट होती नहीं, इसलिए उसके विनाश के बिना जगत् कैसे नष्ट हो सकता है ।। ७ ।।

वैसे ही आदि सर्ग से लेकर यह सब वैसे ही भासता है, जैसे स्वप्न में जगत् के रूप से संवित् का ज्ञान का हृदय ही भासता है, वह ज्ञानरूप आत्मा का ही हृदय है, और असल में यह चिदाकाशरूप है ।। ८ ।।

यह सृष्टि चिदाकाश का काल्पनिक अवयव है और अङ्गभूत कल्पित इस सृष्टि के उदय तथा क्षय भी ऐसे ही कल्पित अङ्ग हैं, अतः जो कुछ है वह सब चेतनरूप आकाश है, ऐसी स्थिति में कौन नाशवान् और कौन अनाशवान् हो सकता है ।। ९ ।।

यह जो परमार्थ ज्ञानरूप आत्मा है, यह काटने के अयोग्य, जलाने के अयोग्य, गीला करने के अयोग्य और सुखाने के अयोग्य है । यह परमार्थचिति (ब्रह्म) अज्ञानियों को दीखाई नहीं पड़ती, उसका जो कल्पित हृदय है, वह जगत् ही है । जैसे उस परमार्थ चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, वैसे ही उसके हृदयभूत जगत् एवं जगत् के हेतु अज्ञान के अनुभव की भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता । केवल स्मरण और विस्मरणवश स्वभावरूप से अनुभव और अननुभव की यह कल्पना करती है ।।१०।।

यद्यद्यदात्मकं तत्त्वं तद्विनाशं विनाऽक्षयि ।
तस्माद्ब्रह्मात्मकं दृश्यं विद्धि ब्रह्मवदक्षयम् ।। ११ ।।
महाप्रलयादयस्तदवयवा एव ।। १२ ।।
चिन्मात्रे परमे व्योम्नि कुत एव भवाभवौ ।
कुतो भावविकारादिः कथं व्योम्नि निराकृते ।। १३ ।।
महाकल्पादयो भावा नामैतानि जगन्ति च ।
ब्रह्मात्मकतयैवास्मिन् संविद्ब्रह्मणि संस्थितम् ।। १४ ।।
निराकृत्यच्छचिन्मात्रं दृश्यं सङ्कल्प्य तद्वशम् ।
याति येनैव घटितो यक्षस्तद्हृदये किल ।। १५ ।।

यह आप जान लें कि जो पदार्थ जिस वस्तु के स्वरूपभूत हैं, वे उस वस्तु के विनाश के बिना विनष्ट नहीं हो सकते, इस नियम के आधार पर ब्रह्मरूप दृश्य ब्रह्म के सदृश अविनाशी ही है, क्योंकि ब्रह्मरूप जगत् का विनाश, ब्रह्मविनाश जब होगा, तभी होगा, परन्तु ब्रह्म तो शाश्वत है, इसलिए जगत् नष्ट हो सकता । अर्थात् जगत् की आत्मा भी अविनाशी आत्मा को लेकर ही है, इससे भी जगत् विनश्वर नहीं है ।। ११ ।।

जैसे कि तरङ्गों की अनेकता से जल में अनेकता नहीं आ सकती है । वैसे ही महाप्रलय आदि भी उस महाकाल रूप परमात्मा के कल्पित अवयव ही हैं, इसलिए विश्व की अनेकता से ब्रह्म में, अनेकता नहीं आ सकती ।। १२ ।।

चिन्मात्र परम ब्रह्मरूप आकाश में किस हेतु से सृष्टि और प्रलय हो सकते हैं तथा किस हेतु से किस तरह भाव विकार आदि धर्म भी निराकार चिदाकाश में हो सकते हैं अर्थात् किस तरह भी नहीं हो सकते । अर्थात् यदि शङ्का हो कि सृष्टि, प्रलय आदि असंख्य अचेतन अवयवों से युक्त आत्मा विशुद्ध चिदेकरस कैसे हो सकता है, तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वृक्ष, नगर आदि अनेक प्रतिबिम्बों से युक्त स्फटिकशिला जैसे विशुद्ध शिलैकरसरूप है, वैसे ही आत्मा अनेक प्रतिबिम्ब घटित होने पर भी विशुद्ध चिदेकरसरूप हो सकता है ।। १३ ।।

इस संविदेकरस ब्रह्म में पड़े हुए ये जगत्, महाप्रलय आदि चित्र-विचित्र प्रतिबिम्बरूप भाव भी ब्रह्मरूप से वैसे ही स्थित हैं जैसे स्फाटिक में पड़े हुए चित्र-विचित्र प्रतिबिम्ब स्फटिकरूप से ही स्थित हैं ।। १४ ।।

समस्त आकारों से रहित स्वच्छ चितिमात्ररूप आत्मा दृश्य की कल्पना कर उसके अधीन हो जाता है । ठीक ही है, जो बालक अपने हृदय में मन से जिस यक्ष की कल्पना करता है, वह उसके अधीन हो ही जाता है । विशुद्ध चिति के सङ्कल्प से जनित ये भाव भी वैसे ही

यथाऽवयविनो वृक्षस्य शाखाविटपफलपल्लवपुष्पादयोऽवयवास्तथा परमार्थघनस्याकाशादप्यच्छरूपस्याव्यपदेश्यस्य प्रलयमहाप्रलयनाशोद्भवभावाभावसुखदुःखजननमरणसाकारनिराकारत्वादयोऽवयवाः । यथैव चासावयवव्ययनाशोऽव्यपदेश्यश्च तथैव त इति ॥१६॥

अवयवावयविनोर्दृश्ययोर्वाप्यदृश्ययोः ।
एकात्मनोरेव सदा भेदोऽस्ति न कदाचन ॥ १७ ॥

यथा तरोः संविन्मूलं तथा परमार्थघनस्य क्वचित् किञ्चित्त्वं क्वचित् सर्गस्तम्बः क्वचिल्लोकान्तरविटपाः क्वचिद्व्यवस्थाः शाखाः क्वचित्पदार्थपल्लवाः क्वचित्प्रकाशकुसुमम् क्वचिदन्धकारकार्ष्ण्यं क्वचिन्नभःकोटरम् क्वचित्प्रलयगुल्माः क्वचिन्महाप्रलयगुल्माः क्वचिद्धरिहरादिगुलुच्छकाः क्वचिज्जडत्वत्वक् एवमनाकारं व्योमरूपमेव संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृशभावादव्यतिरिक्तमेवैतत्स्थितम् ॥ १८ ॥

इतो भाव्य इतो भाव इतः सर्ग इतः क्षयः ।
स्वभाव एवानुभव इति ब्रह्माऽचलं स्थितम् ॥ १९ ॥

एवंमयेऽपि परमे ब्रह्माकाशे न रञ्जनाः ।
काश्चिदेवाङ्ग सन्तीन्दुबिम्बे विमलता यथा ॥ २० ॥

निर्मले परमाकाशे क्व भावाभावरञ्जनाः ।
क्वादिमध्यान्तकलनाः क्व लोकान्तरविभ्रमाः ॥ २१ ॥

अपरिज्ञानमेवैकं तत्र दोषवदुत्थितम् ।
केवलं तत्परावृत्य प्रेक्षणात्परिशाम्यति ॥ २२ ॥

अज्ञानं ज्ञप्तिबोधेन परामृष्टं प्रणश्यति ।
येनैवाभ्युदितस्तेन पवनेनेव दीपकः ॥ २३ ॥

विशुद्ध चितिरूप ही हैं। जैसे मन के सङ्कल्प से जनित यक्ष नगर आदि केवल मनोरूप हैं ॥ १५ ॥

आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ व्यपदेश के अयोग्य परमार्थघन चेतनरूप आत्मा के प्रलय, महाप्रलय, नाश, उत्पत्ति, भाव, अभाव सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार आदि वैसे ही अवयव हैं। जैसे अवयवों से युक्त वृक्ष के शाखा, स्कन्ध, फल, पल्लव, पुष्प आदि अवयव अङ्ग हैं। अतः सर्ग, प्रलय आदि अवयव भी वैसे ही अविनाशी एवं व्यपदेश के अयोग्य है, जैसे यह आत्मारूपी अवयवी अविनाशी एवं व्यपदेश के अयोग्य हैं ॥ १६ ॥

निरन्तर ही एकस्वरूपवाले अवयव और अवयवियों में, चाहे वे दृश्यरूप हों या अदृश्यरूप, किसी समय भी भेद नहीं रहता है ॥ १७ ॥

परमार्थघन आत्मा के जगत् के अस्तित्व में ज्ञान वैसे ही मूलभूत कारण है, जैसे वृक्ष के अस्तित्व में मूलभूत कारण वृक्षज्ञान है, [इसलिए समानता प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थिति में ज्ञानरूप मूल के आधार पर ही किसी किसी प्रदेश में जो कुछ विचित्रता है, उसका वृक्ष के सदृश परिज्ञान करना चाहिए। जैसे— [परमार्थघन परमात्मा वृक्ष का कहीं पर सृष्टिरूप मध्यकाष्ठ है, कहीं पर लोकान्तररूप तने हैं, कहीं पर जम्बूद्वीप आदि व्यवस्थात्मक शाखाएँ हैं कहीं पर पदार्थरूप पल्लव हैं, कहीं पर प्रकाशरूप फूल हैं, कहीं पर अन्धकाररूप हरित पत्तों की हरियाली है, कहीं पर आकाशरूप कोटर हैं, कहीं परप्रलयरूप गुल्म (गाँठ) हैं, कहीं पर हरिहर आदि उत्तम देवतारूप गुच्छे हैं, कहीं पर जडत्वरूप छिलके हैं। इस प्रकार निराकार आकाशरूप ही आकार विशेषों से संविदात्मक ब्रह्म में प्रतीत होता है और वह ब्रह्म के सदृश स्वच्छस्वभाव होने के कारण उससे अभिन्न बनकर ही स्थित है ॥ १८ ॥

जितने भविष्यकाल के पदार्थ हैं, जितने भूतकाल के पदार्थ हैं, जितने वर्तमान काल के पदार्थ हैं, जितने सर्ग हैं, जितने प्रलय हैं, वे सब अनुभव से ही सिद्ध होते हैं, अतः अनुभव रूप हैं और अनुभव स्वसत्तात्मक आत्मा ही है, इसलिए यों सब कुछ ब्रह्म रूप ही अचल स्थित है ॥ १९ ॥

यद्यपि ऐसा सृष्टि की ब्रह्ममयता है, तथापि परम ब्रह्म रूप आकाश में सृष्टि, महाप्रलय आदि कोई भी रङ्ग वैसे ही नहीं हैं, जैसे चन्द्रबिम्ब में कलङ्कशून्यता है ॥ २० ॥

मलों से रहित परम चिदाकाश में कहाँ सृष्टि-प्रलय के कलङ्क, कहाँ आदि, मध्य और अन्त की कल्पना तथा कहाँ लोकान्तरों के विभ्रम ॥ २१ ॥

आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का अपरिज्ञान ही उसमें दोष-सा बनकर स्थित हो गया है, इसलिए बाह्यदृष्टि को हटाकर केवल प्रत्यगात्मा की ओर लगाई गयी बुद्धि से यदि विचार किया जाता है, तो उसी विचार से वह नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

यदि विचारा जाय, तो वह अज्ञान जिस ज्ञानरूप आत्मा से सिद्ध हुआ है, उसीसे वह उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार पवन से ही जनित अग्निरूप दीपक पवन से नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

अज्ञानं संपरिज्ञातं नासीदेवेति बुध्यते ।
अबन्धमोक्षं ब्रह्मैव सर्वमित्यवगम्यते ॥ २४ ॥
एवं बोधादयो राम ! मोक्ष उक्ताः स्वसंविदा ।
विचारयत्नो लभते नात्र कश्चन संशयः ॥ २५ ॥
इदं जगज्जालमनाद्यजातं
ब्रह्मार्थमाभातमितीह दृष्ट्वा ।
विचारदृष्टचाऽष्टगुणेश्वरत्वं
पश्यंस्तृणं स्वात्मनि जीव आस्ते ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

अज्ञान भलीभाँति परिज्ञात हो जानेपर 'वह नहीं ही था' इस रूप से जाना जाता है तथा बन्ध और मोक्ष से रहित ब्रह्म ही सब कुछ है, इस प्रकार बोध होता है ॥२४॥

मोक्ष के लिए ये ही वर्णित बोध आदि उपाय मैंने आप से बतलाये। जिस पुरुष का सतत प्रयत्न आत्मा के विचार में चालू रहता है, वही अधिकारी पुरुष इन उपायों को प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २५ ॥

यह अनादि जगत्-रूपी जाल कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं है, परन्तु जो यह कुछ वर्णित जीव आदिरूप जगत् भासता है, वह तो भोग और मोक्ष चाहने वाला अपने तात्त्विक स्वरूप को न जानने वाला ब्रह्म ही है। वर्णित विचारदृष्टि से अणिमा आदि आठ गुणों से युक्त सर्वेश्वर भी मायारूप होने से असार है। इस प्रकार के ऊँचे वैराग्य से ईश्वररूपता को तृणरूप समझ रहा कोई अधिकारी पुरुष अपने में निरतिशयानन्दरूप ब्रह्मरूपता का निश्चयकर अपनी आत्मा में ही पूर्ण सन्तुष्ट हो स्थित रहता है ॥ २६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में जगदाशैकबोध नामक कुसुमलता का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

६२

श्रीराम उवाच

यदेतद्द्रवता दृष्टं चिद्व्योमवपुषा तदा ।
तदेकदेशसंस्थेन किमुत भ्रमताऽम्बरे ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

सम्पन्नोऽहमनन्तात्मा व्यापी व्योम तदा किल ।
स्यातां तस्यामवस्थायां कीदृशौ तौ गमागमौ ॥ २ ॥
नैकस्थानस्थितमयो नाहं गतिमयोऽभवम् ।
तदनेन स्व एवास्मिन् दृष्टमेतन्मयात्मनि ॥ ३ ॥
यथाऽङ्गानि शरीरत्वे पश्याम्यापादमस्तकम् ।
चिन्नेत्रेणाप्यनेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ४ ॥
अनाकृतेर्निरवयवस्थितेस्तदा
तथाऽभवद्विमलचिदम्बरात्मनः ।
जगन्ति तान्यवयवजालकानि मे
यथा स्वतो न विगलिता न वस्तुता ॥ ५ ॥
प्रमाणमत्र ते स्वप्नदृष्टो भुवनविभ्रमः ।
स्वप्नेऽनुभूयते दृश्यं न च किञ्चित्खमेव तत् ॥ ६ ॥

६२

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! पक्षियों की तरह आकाश में उड़ते हुए आपने उस समय जगत्-समूह का जो अवलोकन किया, वह क्या एकदेश में स्थित होकर किया या चिदाकाशरूप शरीर से किया ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा मैं अनन्तात्मा, सर्व व्यापक चिदाकाशरूप हूँ, तब उस आनन्त्यावस्था में मेरे कैसे हो सकते हैं गमन और आगमन ॥ २ ॥

न तो उस समय मैं एक स्थान में स्थित हो रहा था और न था मैं हो रहा गतिमय, इसलिए इस अपरोक्ष आत्मस्वरूप चिदाकाश में ही अपने इसी अपरिच्छिन्नरूप में मैंने यह सब जगत्-समूह देखा ॥ ३ ॥

मैंने इस चर्मचक्षु के बिना भी चिद्रूपी चक्षु से जगत्समूह वैसे ही देखा जैसे देह में आत्मत्वबुद्धि होने से मैं पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त सभी अङ्गों को देखता हूँ ॥४॥

उस समाधिकाल में आकृतिशून्य निरवयवस्थिति सम्पन्न निर्मल चिदाकाशरूप हुए भी मेरे वे जगत् मेरी सत्ता ही से सत्तावान् होने से अवयवसमूह हो गये थे, जिससे कि मेरी वस्तुस्वभावता स्वतः नष्ट न हो सकी थी तथा स्वतः सत्ताशून्य होने से उनमें वस्तुता भी न थी ।५।

इस विषय में आपको प्रमाण तो स्वप्न में देखा गया भुवन का विभ्रम ही है, क्योंकि स्वप्न में जो दृश्य अनुभूत होता है वह चिदाकाश ही है, उसके सिवा और कुछ नहीं है ॥६॥

यथा पश्यति वृक्षः स्वं पत्रपुष्पफलादिकम् ।
स्वसंवेदननेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ७ ॥
यथाऽम्बुधिरनन्तात्मा वेत्ति सर्वान् जलेचरान् ।
तरङ्गावर्तफेनांश्च तथैतद्बुद्धवानहम् ॥ ८ ॥
अवयवान्स्वानवयवी यथा वेत्ति निजात्मनि ।
अनन्यानात्मनः सर्गास्तथैतान् बुद्धवानहम् ॥ ९ ॥
अद्यापि तानहं देहे व्योम्नि शैले जले स्थले ।
तथैव सर्गान्पश्यामि राम ! बोधैकतां गतः ॥ १० ॥
पुरोऽस्माकमिदं विश्वं गृहस्यान्तर्बहिस्तथा ।
पूर्णमेतज्जगद्वृन्दैर्वेद्मि बोधैकतां गतः ॥ ११ ॥
यथाम्भो रसतां वेत्ति शैत्यं वेत्ति यथा हिमम् ।
स्पन्दं वेत्ति यथा वायुस्तथैतद्वेत्ति शुद्धधीः ॥ १२ ॥
यो यो नाम विवेकात्मा शुद्धबोधैकतां गतः ।
सम एव मयैकात्मा वेद्मि स्वात्मानमीदृशम् ॥ १३ ॥
अस्या दृष्टेः परिणतेर्वेत्तृवेदनवेद्यधीः ।

अपने ज्ञानरूपी नेत्र से मैंने इस सारे जगत् को वैसे ही देखा जैसे वृक्षदेहात्मभूत वृक्ष का अभिमानी जीव पत्र, पुष्प, फलादि से सम्पन्न अपने को ही देखता है ॥ ७ ॥

मैंने नानाविध अनेक संसारों को वैसे ही जाना जैसे अनन्त-समुद्राभिमानी जीव समस्त जलचरों, तरङ्गों, आवर्तों एवं फेन को जानता है ॥ ८ ॥

इन सृष्टियों को मैंने वैसे ही समझा जैसे अवयवों को अपने स्वरूप के अन्दर अपने से अनन्य ही समझता है ॥ ९ ॥

बोधस्वरूप आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त मैं अब भी उन नानाविध अनेक सृष्टियों को वैसे ही देह, आकाश, शैल, जल और स्थल में भी देख रहा हूँ ॥ १०॥

यह सारा विश्व हमारे सामने उपस्थित है। बोध-स्वरूप आत्मा के साथ एकता को प्राप्त मैं घर के भीतर और बाहर के देश को इन नाना जगत्-समूहों से परिपूर्ण समझता हूँ ॥ ११ ॥

शुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष इस संसार को भी वैसे ही जानता है जैसे जल रसता को जानता है, जैसे हिम शैत्य को जानता है, जैसे स्पन्दन को हवा जानती है ॥ १२ ॥

जो विवेकी पुरुष शुद्ध बोधात्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त हो चुके हैं, वे सब मेरे साथ एकरूप हो गये हैं, इसलिए मैं उन सबका एक आत्मा हो अपने आत्मा को इस तरह देखता हूँ ॥ १३ ॥

इस सर्वात्मस्वरूप दृष्टि का परिपाक हो जानेपर

न काचिदस्त्यभ्युदिता विज्ञानात्मैकता यतः ॥ १४ ॥
दिव्या दृगद्रिसंस्थस्य यथा योजनकोटिगान् ।
भावान्वेत्ति बहिश्चान्तरेवं तद्बुद्धवानहम् ॥ १५ ॥
यथा भूमण्डलं भावान्निधिधातुरसादिकान् ।
वेत्त्येवं तन्मया बुद्धमनन्यद्दृश्यमात्मनः ॥ १६ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्ननुभवत्येवं त्वयि तामरसेक्षण ! ।
सा किं कृतवती ब्रूहि कान्ताऽऽर्यापाठपाठिनी ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

तामेवार्यां पठन्ती सा तथैवानुनयाऽन्विता ।
मत्समीपे नभोदेहा व्योम्नि देवीव संस्थिता ॥ १८ ॥
यथाऽहमाकाशवपुस्तथैवासौ खरूपिणी ।
तेन दृष्टा न सा पूर्वदेहेन ललना मया ॥ १९ ॥
अहमाकाशमात्रात्मा सा खमात्रशरीरिणी ।
जगज्जालं खमात्रं तदिति तत्र तदा स्थितम् ॥ २० ॥

वेत्ता, वेदन और वेद्यरूप त्रिपुटीबुद्धि स्वात्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तु के रूप में नहीं रह पाती, क्योंकि विज्ञानरूप आत्मा के साथ सबकी एकरूपता उदित हो जाती है ॥१४॥

पर्वतपर स्थित पुरुष की दिव्य दृष्टि जैसे करोड़ों योजन पर स्थित बाह्य और आभ्यान्तर पदार्थों को देखती है, वैसे ही मैंने भी ये सब जगत् देखे ॥ १५ ॥

मैंने भी अपने से अभिन्न सम्पूर्ण दृश्य समूह को वैसी ही जाना जैसे पृथिवी मण्डल का अभिमानी जीव पृथिवी पर के निधि धातु, रस आदि सभी पदार्थों को जानता है ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे कमललोचन ब्रह्मन् ! जब आप इस तरह अनुभव कर रहे थे, तब आर्या छन्द पढ़ने वाली उस कान्ता ने क्या किया, यह कहें ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उस अर्या छन्द का पाठ करती हुई उसी प्रकार प्रशंसादि प्रीति जनक व्यापार से युक्त ' चिदाकाश शरीर धारिणी व कान्ता आकाश में देवी की तरह मेरे समीप में स्थित थी ॥ १८ ॥

जैसा मैं आकाशमय शरीर था वैसी ही वह ललना भी आकाशमय शरीर थी, अतः समाधि के पहले उस शरीर से मैं उसे न देख सका ॥ १९ ॥

आकाशस्वरूप मैं था, आकाशमय शरीरधारिणी वह थी तथा आकाशमय वह सारा संसार समूह भी उस समय चिदाकाश में ही स्थित था ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

शरीरस्थानकरणप्रयत्नप्राणसम्भवैः ।
यदुदेति वचो वर्णैस्तत्कुतस्तादृशाकृतेः ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्काराः कुतो नामात्मनामिति ।
ब्रूहि मे भगवंस्तत्त्वं यथावृत्तश्च निश्चयम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्काराः शब्दपाठवचांसि च ।
यथा स्वप्ने नभस्येव सन्ति तत्र तथाऽम्बरे ॥ २३ ॥
रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नभ एव ते ।
यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं खात्मकं स्थितम् ॥ २४ ॥
न केवलं तु तद्दृश्यं यावत्तु विषयं वयम् ।
जगच्चेदं खमेवाच्छं यथा तन्नस्तथाऽखिलम् ॥ २५ ॥
परमार्थमहाधातुर्वेद्यनिर्मुक्तचिद्वपुः ।
एवं नाम स्वयं भाति स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ २६ ॥
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा ।
यथैव तेषां देहादि तथाऽस्माकमिदं स्थितम् ॥ २७ ॥
तथैव तत्तथैवेदं तथैवेदं यथैव तत् ।
असत्सततामिव गतं सच्चासदिव च स्थितम् ॥ २८ ॥
यथा स्वप्ने धराध्वाद्रिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः ।
तदा ह्यहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः ॥ २९ ॥
यथा स्वप्ने नृभिर्युद्धकोलाहलगमागमाः ।
असन्तोप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा ॥ ३०॥
वच्मि चेत्स्वप्नदृश्यश्रीः कस्मात्तदसमञ्जसम् ।
अवाच्यमेतद्धेतुर्हि नान्योऽस्त्यनुभवस्थितेः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे मुने ! शरीर में स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणों के प्रयत्नों से उत्पन्न हुए वर्णों से जो वाक्य उत्पन्न होता है वह आकाश शरीर-धारिणी उस, स्त्री से कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥ २१ ॥

हे भगवन् ! बाह्यरूप आदि का दर्शन तथा आभ्यन्तर मन का अनुभव शुद्ध चिदाकाशरूप आत्माओं को कैसे हो सकता है ? इसलिए उस समय आपने जैसे जगत् के दर्शन तथा सम्भाषण आदि व्यवहार किये, उसका जो निचोड़ हो, वह मुझ से कहने की कृपा करें। अर्थात् आकाश-स्वरूप आपके लिए भी उसके रूपदर्शन का पर्यालोचन करना कोई सरल काम नहीं है ॥ २२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वैसे ही वे सभी पदार्थ उस चिदाकाश में वैसे ही हो रह रहे हैं जैसे स्वप्न में बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान, शब्दपाठ तथा वचन आकाश में ही स्थित रहते हैं ॥ २३ ॥

जैसे आपके स्वप्न में चिदाकाश ही बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थों के रूप से उदित होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकाल में भी वह सारा हृदय-प्रपञ्च चिदाकाश रूप ही स्थित था ॥ २४ ॥

हसारे लिए केवल वही दृश्य चिदाकाशरूप था, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ये जितने पदार्थ हम लोगों की बुद्धि के विषय हैं वे सबके सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिदाकाशरूप ही इस समय भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि हमारे उस समाधि काल में विद्यमान थे। अर्थात् यह तो मैं बहुत ही कम कह रहा हूँ कि वह सारा दृश्य प्रपञ्च चिदाकाशरूप ही स्थित था। तत्त्वतः विचार करने पर तो इस समय यह सम्पूर्ण संसार भी चिदाकाश ही है। यहाँ भी शरीरादि भ्रान्ति से ही व्यवहार भ्रम ही रहा है ॥ २५ ॥

जगत् की वासना से उपहित चितिस्वभाव का निश्चय एक परमार्थ महाधातु परमार्थरूपी श्रेष्ठमणि है, जिसका विषयनिर्मुक्त एकमात्र चिति ही शरीर है, यही स्वयं भासमान होता है, यह सर्वत्र श्रुति तथा विद्वानों के अनुभव आदि से प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥

शरीर स्थान जीभ आदि इन्द्रियों को सत्ता में आपको कौन-सी प्रमा है ? जैसे उनके देहादि स्थिति हैं वैसे ही हमारा भी यह स्थित है ॥ २७ ॥

जैसे स्वप्नादि देहों की सत्ता है, वैसे ही यह भी है; जैसे यह है, वैसे ही यह भी है। असत् यह जगत् सद्रूपता को प्राप्त है तथा निर्विशेष आत्मतत्त्वरूप जो सत् है वह भी आवृत्त होने के कारण असत् के समान अत्यन्त अप्रसिद्ध की तरह स्थित है। इतना ही नहीं और सुनिये चिदानन्दस्वभाव का व्यत्यास अर्थात् उलट फेर वह भी ऐसा ही है ॥ २८ ॥

उस समय मैं, आप, वह स्त्री तथा वह और यह सब कुछ चिदाकाश वैसे ही था जैसे स्वप्न में पृथिवी के ऊपर खेती आदि, रास्तों पर यातायात आदि तथा प्रासाद आदि के ऊपर शयन आदि का जो व्यवहार होता है वह भी सब चिदाकाशरूप ही है ॥ २९ ॥

ये जगत् के समूह मनुष्य द्वारा वैसे ही अनुभूत हो रहे हैं जैसे स्वप्न में रहते हुए भी युद्ध के कोलाहल तथा यातायात का मनुष्य अनुभव करते हैं ॥ ३० ॥

यह स्वप्न दृश्यश्री कैसे हुई, तो आपका कहना असंगत होगा। यह अवाच्य है, क्योंकि स्वप्नानुभव-स्थिति से अन्य कोई दूसरा हेतु ही नहीं है। अर्थात् स्वप्न

कथमालक्ष्यते स्वप्न इति प्रष्टुः प्रकथ्यते ।
यथैवं पश्यसीत्येव हेतुरत्रास्ति नेतरः ॥ ३२ ॥
स्वप्नजन्तुरिव व्योम्नि भाति प्रथमसर्गतः ।
प्रभृत्येव विराडात्मा खे खमेव परस्परे ॥ ३३ ॥
स्वप्नशब्देन बोधार्थं तव व्यवहराम्यहम् ।
दृश्यं त्विदं न सन्नासन्न स्वप्नो ब्रह्म केवलम् ॥ ३४ ॥
अथ राघव ! सा कान्ता मया कान्तानुषङ्गिणी ।
संविदं तन्मयीं कृत्वा पृष्टेदं दृश्यरूपिणी ॥ ३५ ॥
व्यवहारो यथोदेति स्वप्ने स्वप्नजनैः सह ।
तथा तदा तया सार्द्धं व्यवहारो ममोदितः ॥ ३६ ॥
यथैव स्वप्नसंकाशो व्यवहारः खमेव सः ।
तथैव त्वमिमं विद्धि मामात्मानं जगच्च खम् ॥ ३७ ॥

के वैचित्र्य में भी किसी अन्य हेतु की संभावना का तो अवकाश ही नहीं है, क्योंकि अनवस्था आदि दोष आ जाने के भय से सभी वादियों के चुप हो जाने के कारण 'एकमात्र अविद्योपहित चिदात्मा का ही यह स्वभाव है' इस प्रकार मेरे पक्ष की ही अन्त में सिद्धि है ॥ ३१ ॥

स्वप्न कैसे दिखाई देता है, यह पूछने वाले को सभी लोग यही उत्तर देते हैं कि जैसे तुम देखते हो। आशय यह है कि उसका अनुभव ही उसके प्रश्न का एकमात्र उत्तर है। यहाँ पर उनका साधक कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥ ३२ ॥

सुषुप्तिसदृश प्रलय के अनन्तर आकाश में स्वप्न के जीव के सदृश प्रथम सर्ग से ही विराट्-रूप चिदाकाश ही चिदाकाश में परस्पर विषय-विषयीरूप से सापेक्ष होकर भासमान होता है। सुषुप्तिसदृश प्रलय के अनन्तर प्रथम सर्ग से ही स्वप्न जन्तु की तरह कल्पनारूप विराडात्मा चिदाकाश में चिदाकाश का ही विस्तार करता है ॥३३॥

मैं आपके बोध के लिए स्वप्नशब्द से व्यवहार करता हूँ। वस्तुतः यह दृश्यप्रपञ्च तथा स्वप्न भी न तो सत् है और न असत् ही है, किन्तु केवल ब्रह्म ही है ॥ ३४ ॥

अनन्तर हे राघव ! कान्त में अनुरागवती उस दृश्य-रूप कान्ता से उसके अभिप्राय का विशेष ज्ञान रखने वाली संवित् का सङ्कल्प करके मैंने यह पूछा स्वप्न में स्वप्नजनों के भाव जैसा व्यवहारप्रवृत्त होता है, जैसा ही उस समय मेरा भी व्यवहार उस स्त्री के साथ प्रवृत्त हुआ ॥ ३५-३६ ॥

वह आत्मा, मैं तथा जगत् भी वैसे ही चिदाकाशरूप ही है जैसे स्वप्न सदृश वह व्यवहार आकाशरूप ही था, यह आप जान लें ॥ ३७ ॥

यथा स्वप्नजगद्रूपं खमेवैवमिदं जगत् ।
जाग्रदादौ स हि स्वप्नः सर्गादौ जगदुद्भवः ॥ ३८ ॥
स्वप्नोऽयं जगदाभोगो न किंचिद्वा खमेव च ।
निर्मलं ज्ञप्तिमात्रमित्थं सन्मात्रसंस्थितम् ॥ ३९ ॥
स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारो युष्मदादिकः ।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः ॥ ४० ॥
यथा द्रष्टाऽमलं व्योम दृश्यं तद्वद्गतं तथा ।
स्वप्नरूपजगत्युच्चैर्जगत्त्वेनामलं नभः ॥ ४१ ॥
चिद्व्योम्नोऽनाकृतेः स्वप्नो हृदि स्फुरति यः स्वतः ।
सर्गस्तस्य कुतस्तेन साकृतित्वं कथं भवेत् ॥ ४२ ॥
साकारस्यैव यत्स्वप्नजगत्तद्व्योम निर्मलम् ।
निराकारस्य चिद्व्योम्नः सर्गः स्वप्नः कथं न खम् ॥४३॥

यह जगत् भी चिदाकाशरूप वैसे ही है जैसे स्वप्न का जगत् चिदाकाशरूप ही है। अर्थात् दोनों एक-से हैं, केवल भेद इतना ही है कि जाग्रत् काल के प्रारम्भ में जो जगत् का भान होता है उसे स्वप्न कहते हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में जिसका उद्भव होता है उसे जगत् कहते हैं ॥ ३८ ॥

यह जो जगत् का आभोग है वह स्वप्न ही है या कुछ नहीं है, वह एकमात्र चिदाकाश ही है। क्योंकि इस तरह जो दिखाई देता है वह सब निर्मल सत् तथा ज्ञप्ति-मात्र ब्रह्म ही जगत् के रूप से स्थित है ॥ ३९ ॥

आप लोगों की वासना के आकार से स्वप्न का द्रष्टा साकार है, लेकिन सृष्टिरूप स्वप्न का द्रष्टा तो स्वतः चिदाकाश ही है ॥ ४० ॥

द्रष्टा और दृश्य के मध्य में पड़ा दर्शन भी वैसे ही चिदाकाशरूप ही है जैसे द्रष्टा और दृश्य दोनों निर्मल चिदाकाश ही हैं। इस महान् स्वप्नरूप जगत् में जगत्-रूप से निर्मल चिदाकाश ही स्थित है ॥ ४१ ॥

निराकार चिदाकाश का हृदय के भीतर स्वतः जगद्रूप स्वप्न स्फुरित होता है उस स्वप्न का जन्म कैसे हो तथा वन्ध्यापुत्र के सदृश उस जगत् से वह चिदाकाश साकार कैसे होगा ? ॥ ४२ ॥

साकार आप लोगों का जो स्वप्न-जगत् है जब वह निर्मल चिदाकाशरूप है तब मेरा निराकार ब्रह्म का स्वरूप जगत् निर्मल चिदाकाशरूप क्यों न हो ॥ ४३ ॥

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिन्नभः ।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥ ४४ ॥
मृद्व्या चिदाकाशमृदा ब्रह्मणा ब्राह्मणेन खे ।
कृतोऽपि न कृतः सर्गमण्डपोऽक्षगवाक्षकः ॥ ४५ ॥
नो कर्तृता न च जगन्ति न भोक्तृताऽस्ति
नास्तीति नास्ति न च किञ्चिदतो बुधः सन् ।
पाषाणमौनमवलम्ब्य यथाप्रवाह-
माचारमाचर शरीरमिहास्तु मा वा ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० चिदैक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

उपादान आदि सामग्री के बिना अभित्ति में ही चिदाकाश इस जगद्रूपी स्वप्न को बिना निर्मित हुए ही निर्मित के समान देखता है ॥ ४४ ॥

कोमल चिदाकाशरूप मिट्टी से हिरण्यगर्भ नामक ब्राह्मण ने इन्द्रियरूपी झरोखों से युक्त देहादि सृष्टिरूप मण्डप का निर्माण किया है, उसका वह निर्माण नहीं के बराबर है ॥ ४५ ॥

न तो कर्तृता है, न ये जगत् हैं, न भोक्तृता है, न अस्तिता है और न कुछ नास्तिता ही है, अतः सम्पूर्ण दृश्यों का परिमार्जन हो जाने से उनका एकमात्र साक्षी ही परमार्थ है। आप अपने भीतर पाषाणतुल्य मौनता का अवलम्बन कर बाहर यथा प्राप्त प्रवाह पतित व्यवहार करते चलें। जबतक प्रारब्ध कर्म का शेष है तबतक यह शरीर रहे या इसके बाद न रहे—इसमें कोई विशेष नहीं है ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में चिद् ऐक्य नामक कुसुमलता का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

६३

श्रीराम उवाच

तव क्रियाऽस्वरूपेण देहेनाभूततया कथम् ।
कथमुच्चारितास्तत्र वर्णाः कचटतादयः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वर्णेषु खशरीराणां वर्णाः कचटतादयः ।
कदाचनापि नोद्यन्ति शवानामिव केचन ॥ २ ॥
वर्णोच्चारो भविष्यच्चेत्प्रकटार्थस्ततः क्वचित् ।
स्वप्नेष्वन्वभविष्यत्तं विनिद्रः पार्श्वगो जनः ॥ ३ ॥
तस्मान्न किञ्चित्स्वप्नेषु तत्सत्यं भ्रान्तिरेव सा ।
चिन्मात्राकाशकचनं तत्तथा खे स्वभावजम् ॥ ४ ॥

६३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! उस स्त्री के साथ मुख, जीभ आदि अवयवों से रहित एकमात्र वासनारूप देह से आपका संभाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशा में आपने क च ट त प आदि वर्णों का बिना जीभ के कैसे उच्चारण किया ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—चिदाकाशस्वरूप तत्त्वज्ञानियों के मत में वर्णों के बीच में जो क च ट त प आदि वर्ण हैं उनके किसी काल में भी उच्चारण ऐसे नहीं होते, जैसे मृतकों के मुख से किसी वर्ण के उच्चारण नहीं होते, क्योंकि वे सभी कल्पनामात्ररूप ही हैं। आशय यह है कि वर्णों का जो उच्चारण आदि व्यवहार है उसमें शरीर की कारणता नहीं है, क्योंकि मृतक शरीर के रहते हुए भी वैसा व्यवहार नहीं दीखता तथा शरीर के न रहने पर भी स्वप्न में उस तरह का अनेक व्यवहार दीखता है, अतः अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार है तथा व्यवहार को सहेतुक मानने पर सत्यतापत्ति भी है। इसलिए जो कुछ व्यवहार है वह सब सिर्फ कल्पनामात्र है। उस तरह का व्यवहार तो उस समय भी दुर्लभ ही था ॥ २ ॥

स्वप्नों में वर्णों के उच्चारण की परमार्थता होने पर फिर पास में स्थित जागे हुए पुरुष को भी उसका अनुभव होता अर्थात् समीपस्थ जाग्रत् पुरुष भी उसे सुन पाता ॥ ३ ॥

इसलिए स्वप्न में उसकी सत्यता कुछ भी नहीं है, वह एकमात्र भ्रान्ति ही हैं। निद्रास्वभाव बल से कल्पित चिदाकाशमात्र का वह स्फुरण चिदाकाश में ही है ॥ ४ ॥

तदेन्दुकार्ष्ण्यखतनुशिलागेयादितां गताः ।
इवाभान्ति चिदाकाशास्तथा देहरवादयः ॥ ५ ॥
तच्चिदाकाशकचनं यन्नाम स्वप्नवेदने ।
आकाशमेव नभसः कचनं विद्धि नेतरत् ॥ ६ ॥
यथा स्वप्नस्तथैवेदं जाग्रदग्रे व्यवस्थितम् ।
आकाशमप्यनाकाशं यथैवेदं तथैव तत् ॥ ७ ॥
यथा कचति तच्चारु चेतनं चतुरं तथा ।
यथास्थितं तदेवेदं सत्यं स्थिरमिव स्फुरत् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन्स्वप्न एवेदं कथं जाग्रदवस्थितम् ।
असत्यमेव सत्यत्वमिव यातं कथं भवेत् ॥ ९ ॥

स्वाप्निक देह तथा शब्द आदि भी तत्तत् ज्ञात वस्तु के संस्कारों से उपहित चिदाकाशरूप वैसे ही होकर अवभासित हैं जैसे नेत्र रोग के कारण चन्द्रमा में कालापन आकाश में साकारता, पत्थर की मूर्ति आदि में गीत आदि ये सब प्रातिभासिक अर्थता को प्राप्त चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ५ ॥

वह चिदाकाश का स्फुरण आदि भी, जो स्वप्न ज्ञान जगदाकार से प्रसिद्ध है, उस चिदाकाश से वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे आकाश का मूर्तरूप से स्फुरण आकाश से भिन्न नहीं है उसे आप चिदाकाशरूप ही समझें ॥ ६ ॥

हम लोगों के सामने स्थित यह जाग्रत् काल का जगत् भी चिदाकाशरूप वैसे ही व्यवस्थित है जैसे स्वप्न काल का जगत् चिदाकाशरूप है, समाधिकाल का भी मेरा वह जगत् वैसे ही है जैसे यह जगत् चिदाकाशरूप होते हुए भी चिदाकाशरूप नहीं है। इस तरह स्वप्न के पदार्थों में चिदाकाशमात्रता सिद्ध कर उसी के साम्य से सामने स्थित तथा समाधि में दृष्ट हुए पदार्थों में भी चिदाकाश मात्रता सिद्ध ही है ॥ ७ ॥

जिस प्रकार यह सब सौन्दर्यपूर्ण जगत् स्फुरित हो रहा है उसी तरह वह चतुर ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। जैसा यह जगत् सत्य और स्थिर-सा स्फुरित हो रहा है वैसा तो वह चतुर ब्रह्म ही स्थित है अर्थात् इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ दीखता है वह चिति का ही स्फुरणरूप चमत्कार है, अणुमात्र भी अचिद्रूप कुछ नहीं है ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! स्वप्नरूप ही यह जगत् जाग्रत्स्वरूप कैसे अवस्थित है तथा असत्य ही यह सत्य-सा कैसे हो गया ? यह कैसे सम्भव है ? ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—यह जगत् कैसे स्वप्नमय ही

वसिष्ठ उवाच

शृणु स्वप्नमयान्येव कथं सन्ति जगन्त्यलम् ।
नान्यानि न च सत्यानि न स्थिराणि स्थितानि च ॥ १० ॥
अनुभूतानि बीजानि बीजराशाविवाम्बरे ।
अन्यान्यन्यानि तान्येव समानि न समानि च ॥ ११ ॥
प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च ।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च ॥ १२ ॥
अन्योन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किञ्चन ।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ १३ ॥
व्योमात्मत्वान्न गगनं न विदन्ति परस्परम् ।
अपि चेतनरूपाणि सुप्तानीव निरन्तरम् ॥ १४ ॥

है, यह आप अच्छी तरह सुनें। स्वप्न के समान ही ये जगत् न तो आत्मा से भिन्नरूप हैं और न आत्मा के समान ये सत्यरूप और स्थिर ही हैं। ये सबके सब अनिर्वचनीय ही एकमात्र आत्मसत्ता से स्थित हैं। आशय यह है कि आपाततः यह भले ही आँखों का विषय हो जाय, फिर भी तत्त्वतः विमर्श का सहन न कर सकने तथा अस्थिर होने से स्वप्न का साम्य ही है ॥ १० ॥

चिदाकाश में सब जगत् कोई पहले से अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम और कोई विषम भी वैसे ही होते हैं। जैसे बीज को राशि में अनुभूत हुए बीज स्वप्न में कोई अन्य अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम होते हैं और विषम भी होते हैं। अर्थात् इस तरह परस्पर एक दूसरे का बीज होने से तथा विरुद्ध भेद और अभेदरूप एवं सम और असमरूप होने से इनका स्वप्न साम्य ही है ॥ ११ ॥

प्रत्येक जगत् के भीतर परस्पर एक दूसरे से न देखे गये उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप के ये जगत् के वैसे ही उदित हुए हैं, जैसे केले की छाल। अर्थात् केले की छाल की रचना की तरह परस्पर भीतर-ही-भीतर अनन्तरूप में इनकी स्थिति का अनुभव होने से भी ये सभी मिथ्या हैं, इसलिए स्वप्न साम्य है ॥ १२ ॥

ये सब जगत् परस्पर एक दूसरे को कदापि कुछ नहीं देख पाते तथा कोठी के भीतर रखे गये जड़ बीजों की एक राशि की तरह भीतर ही भीतर नष्ट भी हो जाते हैं ॥ १३ ॥

नष्ट हो जाने पर भी वे चेतनरूप ही रहते हैं, तपे हुए खर्पर में गिरे हुए जल बिन्दु के सदृश शून्यता प्राप्त कर शून्यस्वरूप ही नहीं हो जाते। हम लोगों की तरह वे

सुप्ताः स्वप्नजगज्जालमहनि व्यवहारिणः ।
असुरा निहता देवैस्ते स्वप्नजगति स्थिताः ॥ १५ ॥
अज्ञानान्न गता मुक्तिं न जाड्याज्जडतामिताः ।
न देहवन्तः किं सन्तु विना स्वप्नजगत्स्थितेः ॥ १६ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जाले स्वाचारव्यवहारिणः ।
पुरुषा निहताः पुंभिस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ १७ ॥
निर्मोक्षा निःशरीरास्ते चेतनावासनान्विताः ।
दृष्टं स्वप्नजगज्जालं विना च क्व वसन्तु ते ॥ १८ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालव्यवस्थाचारचारिणः ।
ये हता राक्षसा देवैस्ते यथैव व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥
एवं ये निहता राम ! किं ते कुर्वन्ति कथ्यताम् ।
अज्ञत्वान्न गता मुक्तिं चेतनान्न दृषत्स्थिताः ॥ २० ॥

परस्पर देखते भी नहीं, किन्तु अज्ञान से इनका चेतनरूप ढ़ँक जाने के कारण निरन्तर सोये हुए से समान स्वप्न का ही अनुभव करते हैं ॥ १४ ॥

सोये हुए वे जीव स्वप्न जगज्जाल को प्राप्त कर वहीं पर कल्पित दिनों में अपना सब व्यवहार करते हैं। स्वप्न-जगत् में स्थित वे असुर देवताओं से निहत हो अपने अज्ञान के कारण न तो मुक्ति प्राप्त करते हैं, न जड़ता के कारण जड़भाव को प्राप्त होते हैं और न देह सहित ही वे रहते हैं। ऐसी दशा में इस तरह के वे स्वप्न जगत्स्थिति के सिवा हो ही क्या सकते हैं ? ॥ १५-१६ ॥

इसी तरह मनुष्य भी अपने स्वप्नरूप जगत्-समूह में वासनाओं के कारण अपना-अपना आचार और व्यवहार करते हैं तथा वे स्वप्न के मनुष्य स्वप्न के अन्य पुरुषों से मार दिये जाने पर पूर्वोक्त असुर जीवों के सदृश स्वप्न परम्परा में ही स्थित रहते हैं ॥ १७ ॥

वे भी ज्ञान न होने के कारण मोक्ष रहित और शरीर शून्य ही रहते हैं, इसलिए वे जागर में समर्थ और वासनाओं से व्यवहारशील नहीं होते। अतः चेतना और वासना में युक्त ऐसे मनुष्य दृष्ट स्वप्नरूप जगत्समूह के सिवा कहाँ निवास करें ? अर्थात् सिवा उनकी कोई दूसरी गति नहीं है ॥ १८ ॥

सोये हुए, स्वप्नरूप जगज्जाल की व्यवस्था के अनुसार आचार करने वाले राक्षस स्वप्न के देवताओं से मारे गये, असुरों के सदृश उसी स्वप्न में ही व्यवसित हैं ॥ १९ ॥

इस तरह जो स्वप्न में मारे गये; कहिये वे क्या करते हैं। अज्ञान के कारण वे मुक्ति को नहीं प्राप्त हुए तथा चेतन होंने के कारण पत्थर के सदृश भी वे स्थित न

साद्रयब्ध्युर्वीजनं दृश्यमिदं सर्वं यथास्थितम् ।
चिरायानुभवन्त्येते यथेमे वयमादृताः ॥ २१ ॥
तेषां कल्पजगत्संस्था यथाऽस्माकं तथैव ताः ।
अस्माकं जगतीसंस्था यथा तेषां तथैव च ॥ २२ ॥
एतेषां स्वप्नपुरुषास्त एवेमे वयं स्थिताः ।
ये च ते नाम संसारास्तेभ्य एकमिमं विदुः ॥ २३ ॥
ते स्वप्नपुरुषास्तेषां सत्या एवानुभूतितः ।
आत्मनोऽपि परस्यापि सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ २४ ॥
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यमात्मन्यथाऽपरे ।
तथापि स्वप्नपुरुषाः सत्यमेव तथैव ते ॥ २५ ॥
स्वस्वप्नपुरपौरा ये त्वया दृष्टा यथैव ते ।
स्थितास्तत्र तथाऽद्यापि ब्रह्म सर्वात्मकं यतः ॥ २६ ॥

रहे ॥ २० ॥

जैसे ये सत्यत्वाभिमानी हम लोग अनुभव करते हैं। वैसे ही पर्वत, सागर, पृथिवी तथा अनेकजनों से भरे यथास्थित इस सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च को वे लोग चिरकाल तक अनुभव करते हैं। इसलिए उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकाल की अनुवृत्ति से हम लोगों के अनुभव की तरह जाग्रदवस्थारूप ही हो जाता है ॥ २१ ॥

जैसी हम लोगों की है वैसी ही उनके कल्प और जगत् की स्थिति है और हम लोगों के जगत् की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी उन लोगों की है ॥ २२ ॥

ऐसी स्थिति में हम लोगों से अनुभूत हो रहा यह जगत् तथा इसके भीतर रहनेवाले हम लोग यदि उनसे देख लिये जाते हैं, तब इनके स्वप्न के जो पुरुष हैं वे ही हम लोग हैं और उनके जो स्वप्न के संसार हैं, उनमें से कोई यह एक हमारा संसार है ऐसा वे लोग अवश्य समझते होंगे ॥ २३ ॥

उनके स्वप्न के वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुष के भी अनुभव समान है अत वे सत्य ही हैं, क्योंकि उनकी सत्ता के निमित्तभूत अधिष्ठानचिदात्मा सर्वगामी होने से तुल्य है ॥ २४ ॥

दूसरे भी पुरुष, जिनका प्रत्येक स्वप्न में मुझे अनुभव होता है, वैसे ही सत्य ही हैं जैसे आत्मा में वे स्वप्न के पुरुष सत्य हैं। आप भी उन्हें वैसा ही समझिये ॥२५॥

वे सब अब भी वैसे ही स्थित हैं, जैसे आपने उस अपने स्वप्न में अनेक नगर तथा अनेक नागरिक देखे, क्यों कि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वात्मक है ॥ २६ ॥

प्रबोधेऽपि हि भिद्यन्ते स्वप्नभावा यथास्थिताः ।
तथा स्थित्याऽनुभूयन्ते परब्रह्मतयाऽथवा ॥ २७ ॥
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदाऽस्ति तथा परे ।
यथा न किञ्चिन्नाकाशं न क्वचिन्न च हन्यते ॥ २८ ॥
निरन्तरे पराकाशे निरन्ते च विनोदये ।
निरन्ते चित्तसंघाते निरन्ते जगतां गणे ॥ २९ ॥
प्रत्याकाशकलाकोशं प्रतिसंसारमण्डलम् ।
प्रतिलोकान्तराकारं प्रतिद्वीपं गिरिं प्रति ॥ ३० ॥
प्रतिमण्डलविस्तारं प्रतिग्रामं पुरं प्रति ।
प्रतिजन्तु प्रतिगृहं प्रतिवर्षं युगं प्रति ॥ ३१ ॥

यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ ३२ ॥
तेषामन्तर्जनाः सन्ति जनं प्रति पुनर्जनः ।
पुनर्मनः प्रति जगज्जगत्प्रति पुनर्जनः ॥ ३३ ॥
इत्थमाद्यन्तरहित एष दृश्यमयो भ्रमः ।
ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे नात्रेयत्ताऽस्ति काचन ॥ ३४ ॥
कुड्ये नभस्युपलके सलिले स्थलेऽन्त-
श्चिन्मात्रमस्ति हि यतस्तदशेषविश्वम् ।
तद्यत्र तत्र जगदस्ति कुतोऽत्र संख्या
तज्ज्ञेषु तत्परमथाज्ञमनःसु दृश्यम् ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगत्तत्त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

तत्-तत् स्वाप्निक पदार्थ जाग्रदवस्था में विशीर्ण हो जाते हैं, यह जैसे अनुभव होता है, वैसे ही वे स्वप्नकाल में स्थित भी रहते हैं, यह भी अनुभव होता है। अथवा सबकी सत्ता ब्रह्मसत्तारूप है, इसलिए किसी की सत्ता का कदापि अपलाप नहीं किया जा सकता अतः सर्वात्मक सभी सर्वत्र सदा परब्रह्म परमात्मा में उसी के रूप से स्थिति हैं। जैसे यह सारा संसार आकाश का कार्य होने से आकाशरूप ही है आकाशरूप से स्थित इसका कुछ भी कहीं नाश नहीं होता, वैसा ही उत्पत्ति शून्य निरन्तर परमाकाश ब्रह्म में अन्तशून्य—अनेक चित्तसमूह हैं, उनसे असीम अनेक जगत् के गण हैं, उनमें भी अनेक संसार के अनेक आकाश कलाकोश हैं, उनमें भी प्रत्येक के अनेक संसार मण्डल हैं, उनमें भी प्रत्येक संसार मण्डल हैं, उनमें भी प्रत्येक संसार मण्डल के पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न आकार के अनेक लोक हैं, उन लोकों के अन्दर अनेक द्वीप हैं, उनमें भी प्रत्येक द्वीप के भीतर अनेक पर्वत हैं, उन पर्वतों में भी प्रत्येक पर्वत में अनेक मण्डलों का विस्तार है, उनमें भी प्रत्येक मण्डल के अनेक ग्राम हैं, उनमें भी प्रत्येक गाँव के अन्दर अनेक छोटे-छोटे गाँव हैं, उन छोटे-छोटे गाँवों के भीतर अनेक घर हैं, उनके भी प्रत्येक घर के अन्दर अनेक प्राणी रहते हैं। उन सब प्राणियों के भी अनेक युगादिकाल हैं। कितने जो जीव मर चुके हैं और जो मोक्ष रहित स्थित हैं उतने ही उनके अनेक अक्षम संसार पृथक् स्थित हैं ॥ २७–३२ ॥

उन जीवों के वासना के अन्दर अनेक जीव हैं और उन अनन्त जीवों के अनन्त मन हैं। उनमें भी प्रत्येक मन के भीतर असंख्य संसारमण्डल हैं, पुनः उन संसार मण्डलों के अनेक संसार हैं, फिर उन संसारों में भी प्रत्येक संसार में अनेक जीव हैं, पुनः उन जीवों के अनेक मन हैं और उन मनों के भी अनेक संसार हैं अर्थात् उतनी संख्या से भी संसार की संख्या समाप्त नहीं हो जाती, इसलिए अनवस्था बराबर बनी हुई है, जो एकमात्र माया का ही अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

इस तरह आदि और अन्त से शून्य यह दृश्यमय भ्रम बराबर चला ही जा रहा है। इसका कहीं पर ओर-छोर नहीं है। लेकिन हाँ, ब्रह्मज्ञानी के पक्ष में यह सब कुछ ब्रह्म रूप ही स्थित है ॥ ३४ ॥

भित्ति में, आकाश में, प्रस्तरण में, जल में और स्थल में सर्वत्र तत् पदार्थों के अन्दर चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है, वही सम्पूर्ण विश्व रूप स्थित है, 'जगत्' इस नाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है। ऐसी स्थिति में चिन्मात्र परमात्मा के सर्वव्यापी होने से जहाँ सर्वत्र जगत् है अब आप ही सोच लीजिये कि इनकी संख्या कैसे बतलायी जा सकती है? वह सारा विश्व तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में निर्विशेष निरतिशयानन्दैकरस ब्रह्म ही है, परन्तु वही विश्व अज्ञानियों के मन में दृश्य प्रपञ्च रूप से स्थित है यानि अनर्थ रूप ही है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में जगत्तत्त्वैक्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

६४

वसिष्ठ उवाच

ततस्तत्कुवलोल्लासिमालतीमाल्यलोचना ।
ललना ललिताऽऽलोक्य लीलयाऽऽलपिता मया ॥ १ ॥
का त्वं कमलगर्भाभे किमर्थं मामुपागता ।
कस्यासि किं प्रार्थयसे क्व गतासि किमास्पदा ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने ! शृणु यथावत्त्वमात्मोदन्तं वदाम्यहम् ।
प्रष्टुमर्हसि विस्रब्धमार्त्तां करुणयार्थिनीम् ॥ ३ ॥
परमाकाशकोशस्य कस्मिंश्चित्कोणकोटरे ।
युष्माकं संस्थितं किञ्चिदिदं तावज्जगद्गृहम् ॥ ४ ॥
पातालभूतलस्वर्गा इहापवरकास्त्रयः ।
कल्पनैका कुमार्यत्र कृता धातृत्वमायया ॥ ५ ॥
तत्र द्वीपैः समुद्रैश्च वलितं वलयैरिव ।
पाटलोत्थं जगल्लक्ष्म्याः प्रकोष्ठमिव भूतलम् ॥ ६ ॥
अन्ते द्वीपसमुद्राणां सर्वदिक्कमवस्थिता ।
योजनानां सहस्राणि दश हेममयी मही ॥ ७ ॥
स्वयंप्रकाशसङ्कल्पफलदाम्बरनिर्मला ।
चिन्तामणिमयी स्वच्छा स्वच्छायाजितविष्टपा ॥ ८ ॥
साऽप्सरोमरसिद्धानां लीलाविहरणावनिः ।
सङ्कल्पमात्रसम्पन्नसर्वसम्भोगसुन्दरी ॥ ९ ॥
अन्ते तस्या भुवः शैलो लोकालोकोऽस्ति विश्रुतः ।
भूपीठस्य प्रकोष्ठस्य वलयावलनां दधत् ॥ १० ॥

६४

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—अनन्तर उस ललित ललना को देख कर मैंने कौतुक से उससे पूछा, उसके नेत्र कमल के सदृश उल्लास से भरे थे और कटाक्ष माला मालती माला के सदृश भले लगते थे ॥ १ ॥

कमल के गर्भ के सदृश कोमल तथा सुन्दर रूप वाली हे ललने ! तुम कौन हो, मेरे पास क्यों आई हो, तुम किसकी लड़की और किसकी भार्या हो, क्या चाहती हो, कहां गई रहीं, तुम कहाँ की रहने वाली हो ! ॥ २ ॥

विद्याधरी ने कहा—हे मुने ! आप सुनें मैं अपना वृत्तान्त जैसा है, वैसा आप से कहती हूँ। यद्यपि एकान्त में परस्त्री से सम्भाषण नहीं करना चाहिए, तथापि दुःख शान्ति के लिए प्रार्थना करने वाली मुझसे तो आप एकान्त में दया से पूछ सकते हैं, क्योंकि दुःखियों का आश्वासन देना सज्जनों का धर्म है ॥ ३ ॥

महाराज, परमाकाश रूप चिदाकाश के कोश के किसी एक कोने में कोई यह आपका जगद्रूपी घर स्थित है ॥ ४ ॥

इस आपके जगद्रूपी घर के अन्दर पाताल, भूतल और स्वर्ग—ये तीन घर के अन्दर के प्रकोष्ठ हैं, इन तीनों प्रकोष्ठों में हिरण्यगर्भ के आकार में स्थित माया ने चित्र-विचित्र कल्पना रूप एक कुमारी की क्रीडा के लिए निर्माण किया है ॥ ५ ॥

उन तीनों में जो भूतल है, वह कङ्कणों के सदृश द्वीपों और समुद्रों से चारों ओर से घिरा हुआ है, इसलिए उनके रङ्ग से पाटल वर्ण का बना हुआ उन्नत वह जगत् लक्ष्मी का करमूल एक तरह से बन कर स्थित है ॥ ६ ॥

सातों द्वीप और समुद्रों के अन्त में चारों ओर से दस हजार योजनों तक लम्बी चौड़ी सुवर्ण मयी पृथ्वी स्थित है ॥ ७ ॥

महाराज यह पृथ्वी बड़ी ही विचित्र है, यह रात में भी स्वयं प्रकाशमान रहती है इसमें रात को भी प्रकाश के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, इसमें सभी तरह की इच्छाएँ सफल हो जाती हैं, आकाश के सदृश यह निर्मल है, इसमें चिन्तामणियों की अधिकता काफी है, धूली का तो इसमें नाम-निशान नहीं है, अपनी अपूर्व छटा से इसने स्वर्गादि लोकों को भी तुच्छ बना दिया है ॥ ८ ॥

यह अप्सराओं को साथ लिये हुए देवताओं एवं सिद्धों की लीला विहारभूमि है। केवल संकल्प करने से ही सब तरह के भोग प्राप्त हो जाते है इसलिए अर्थात् सङ्कल्प मात्र से सब तरह का भोग दिलाने वाली होने के कारण वह अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥

उस पृथिवी के अन्त में एक लोकालोक नाम का अत्यन्त विख्यात पर्वत है। जगत्-लक्ष्मी के उन्नत कर मूलभूत इस भूपीठ को उसने कङ्कण के सदृश चारों ओर से घेर दिया है ॥ १० ॥

क्वचिन्नित्यं तमोव्याप्तो मूढबुद्धेरिवाशयः ।
क्वचिन्नित्यं प्रकाशात्मा मनःसत्त्ववतामिव ॥ ११ ॥
क्वचिदाह्लादजनकः साधूनामिव सङ्गमः ।
क्वचिदुद्वेगजनको मूर्खैरिव समागमः ॥ १२ ॥
क्वचित्प्रकटसर्वार्थो मनो मतिमतामिव ।
क्वचिदत्यन्तगहनो मूर्खश्रोत्रियचित्तवत् ॥ १३ ॥
क्वचिदप्राप्तसोमांशुः क्वचिदप्राप्तसूर्यभाः ।
क्वचिल्लोकमयस्तेन क्वचिदाशून्यदिक्तटः ॥ १४ ॥
क्वचिद्देवपुरव्याप्तः क्वचिद्दैत्यपुरान्वितः ।
क्वचित्पातालगहनः क्वचिच्छृङ्गोर्ध्वकन्धरः ॥ १५ ॥
क्वचिच्छ्वभ्रभ्रमद्गृध्रः क्वचित्सानुमनोहरः ।
क्वचिच्छृङ्गशिखाक्रान्तवैरिञ्चनगरान्तरः ॥ १६ ॥
क्वचिच्छून्यमहारण्यवहत्कल्पान्तमारुतः ।
क्वचित्पुष्पवनोद्यानगायद्विद्याधरीगणः ॥ १७ ॥
क्वचित्पातालगम्भीरगुहाकुम्भाण्डभीषणः ।
क्वचिन्नन्दनसोदर्यमुन्याश्रममनोरमः ॥ १८ ॥
क्वचिदक्षयमत्ताभ्रः क्वचिद्दुर्लभवारिदः ।
क्वचिद्गर्भगुहाश्वभ्रगहनोपान्तमण्डलः ॥ १९ ॥
क्वचित्क्षुब्धजनाक्षेपसमुत्सादितभूतभूः ।
क्वचिद्वास्तव्यजनतासौजन्यजितविष्टपः ॥ २० ॥
क्वचिन्नित्यं वहद्वाताजातस्थावरजङ्गमः ।
क्वचित्सर्वक्षयोन्मुक्तस्थिरस्थावरजङ्गमः ॥ २१ ॥
क्वचिन्महामरुमरुन्मुक्तभाङ्कारभीषणः ।
क्वचित्कणत्कमलिनीमत्तसारसभूषणः ॥ २२ ॥
क्वचित्सलिलकल्लोलजलदोल्लासघर्घरः ।
क्वचिन्मत्ताप्सरोदोलाविलासजनितस्मरः ॥ २३ ॥

यह पर्वत कहीं पर तो मूढ़मति पुरुषों के अन्तःकरण के सदृश सदा अन्धकार से व्याप्त है और कहीं पर तो सात्त्विक पुरुषों के अन्तःकरण के सदृश सदा प्रकाशमय है ॥ ११ ॥

यह कहीं पर अत्यन्त आह्लाद को वैसे ही पैदा करता है जैसे सज्जनों की सङ्गति आह्लाद को पैदा करती है तथा जैसे मूर्खों के साथ का समागम उद्वेग पैदा करता है, वैसे ही यह कहीं पर उद्वेग को भी पैदा करने वाला है ॥१२॥

बुद्धिमान् पुरुषों के मन में जैसे सभी अर्थ विस्पष्ट रहते हैं, वैसे ही इसमें कहीं पर तो सभी अर्थ विस्पष्ट हैं और कहीं पर तो यह इतना अतिगहन है, जैसे मूर्ख श्रोत्रिय पुरुष का चित्त ॥ १३ ॥

कहीं पर तो इसमें चन्द्रमा की किरणें ही जाने नहीं पातीं, कहीं पर सूर्य की ही किरणें नहीं जाने पातीं, कहीं पर तो इसमें मनुष्य ही मनुष्य भरे पड़े हैं और कहीं पर इसकी दिशाएँ जनों से एकदम शून्य है ॥१४॥

कहीं पर तो देवताओं के नगर हैं, कहीं पर दैत्यों के बड़े-बड़ नगर विद्यमान हैं, कहीं पर पाताल के सदृश गहरा है वहां प्रवेश ही होना कठिन है, तो कहीं पर अपने शिखरों से उन्नत कन्धा दिये हुए है ॥ १५ ॥

कहीं पर तो उसके गड्ढों में गीध घूम रहे हैं, कहीं पर तो समान भूभाग के कारण वह बड़ा ही लुभावना लगता है, कहीं पर तो उसके भीतरी भाग पर शिखर की चोटी से आक्रान्त ब्रह्माजी का नगर बसा है ॥१६॥

कहीं पर तो उसमें जनों से शून्य बड़े-बड़े जंगल हैं, कहीं पर कल्पान्त की वायु बह रही है, कहीं पर फुलवारियों में विद्याधरियों के गान हो रहे हैं ॥१७॥

कहीं पर पाताल के सदृश अत्यन्त गहरी गुफाओं में कुम्भाण्ड पिशाचों का वास होने के कारण बड़ा भयङ्कर है, कहीं पर नन्दन वन के दूसरे भाई के सदृश सुन्दर मुनि-आश्रमों से बड़ा लुभावना लगता है ॥ १८ ॥

कहीं पर निरन्तर ही स्थित रहने वाले मतवालों की तरह गर्जन में निरत मेघ मण्डल हैं, तो कहीं पर मेघों का दर्शन ही दुर्लभ है, कहीं पर उसकी सीमा के समीपस्थ मण्डल भीतरी गुहाच्छिद्र के कारण अतिगहन हैं ॥१९॥

कहीं पर जनपद के विक्षुब्ध हो जाने के कारण विचलित हुए मनुष्यों के कुठार आदि प्रहरों से राक्षस-पिशाच आदि का निवास उच्छिन्न हो गया है और कहीं पर रहने वाले मनुष्यों की सज्जनता के कारण उसने स्वर्ग पर भी विजय पा ली है ॥ २० ॥

कहीं पर तो निरन्तर बह रही वायुओं के द्वारा ही स्थावर और जङ्गम भूत उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, तो कहीं पर विषादि रोगों के न रहने के कारण सर्वविनाश से निर्मुक्त स्थावरजङ्गमभूत स्थिर हैं ॥ २१ ॥

कहीं पर मरुस्थली के बड़े-बड़े झंझावातों के द्वारा उत्पन्न झङ्कार ध्वनि से महान् भयङ्कर लगता है, तो कहीं पर वह कमल युक्त तालाबों में कल-कल ध्वनि कर रहे सारसों के कारण मनोरम है ॥ २२ ॥

कहीं पर जलों का सुन्दर विलास है, कहीं पर मेघों के गर्जन से घर्घर ध्वनि युक्त है और कहीं पर प्रमत्त अप्सराओं के दोला-विलासों से काम पैदा करने वाला है ॥ २३ ॥

क्वचित्पिशाचकुम्भाण्डवेष्टिताचेष्टदिक्तटः ।
क्वचिद्विद्याधरीसिद्धनृत्यगीतसरित्तटः ॥ २४ ॥
क्वचिद्वर्षदम्भोदसरिद्वाहुलुठत्तटः ।
क्वचित्सततगानीतनीतनानाभ्रसत्पटः ॥ २५ ॥
क्वचित्कमलिनीकोशवक्त्रस्थाध्यानमण्डलः ।
क्वचित्स्वर्गाङ्गनासिद्धसुन्दरीदन्तमण्डनः ॥ २६ ॥
क्वचित्तपद्दिनकरजनताचारसुन्दरः ।
क्वचिन्नैशतमोगेहनृत्यन्मत्तनिशाचरः ॥ २७ ॥
क्वचिदुत्पतदुत्पाततया नश्यज्जनावनिः ।
क्वचित्सौराज्यसम्पत्त्या प्रोद्भवत्पुरमण्डलः ॥ २८ ॥
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यः क्वच्चिज्जनपदावृतः ।
क्वचिच्छ्वभ्रान्तगम्भीरः क्वचित्पातालभीषणः ॥२९॥

कहीं पर उसके दिशा तट पिशाचों एवं कुम्भाण्डों से वेष्टित होने के कारण स्तब्ध हैं और कहीं पर उसके नदी तट पर विद्याधरी और सिद्ध नृत्य कर रहे और गीत गा रहे हैं ॥ २४ ॥

कहीं पर बरस रहे मेघों की नदीरूप बाहुओं से उसका कुछ तट भाग तोड़ दिये जाने के कारण भयावह लगता है, कहीं पर निरन्तर चलने वाली वायु के द्वारा लाये गये अनेक मेघरूप सुन्दर वस्त्रों के कारण भला भी लगता है ॥ २५ ॥

कहीं पर अपने कोशरूपी मुख पर स्थित भ्रमरभूत नेत्रों से ध्यान कर रही कमलिनियों का समूह भरा पड़ा है, कहीं पर अप्सराओं और सिद्धों की रमणियों के दाँतों को सुशोभित करने वाले ताम्बूलों का वन अतिरमणीय लगता है ॥ २६ ॥

कहीं पर तप रहे सूर्य और जनता के आचरण से सुन्दर हैं, कहीं पर रात के अन्धकाररूप घर में मत्त निशाचर नृत्य कर रहे हैं अतएव बीभत्स भी हैं ॥ २७ ॥

कहीं पर उत्पन्न हो रहे बड़े-बड़े उत्पातों के कारण उसकी भूमि मनुष्यों के विनाश से भयप्रद है, तो कहीं पर उत्तम राज्य-सम्पत्ति से बसाये जा रहे नगरों के कारण हर्षप्रद भी है ॥ २८ ॥

कहीं पद अत्यन्त शून्य ही है, कहीं पर जनपदों से आक्रान्त है; कहीं पर जलपूर्ण महाद्वान्द्रों के कारण गम्भीर है, तो कहीं पर शुष्क पातलों के कारण भीषण है ॥ २९ ॥

कहीं पर उसमें बड़े-बड़े कल्पतरु वृक्ष हैं, कहीं पर वह जल रहित है, कहीं पर चलने-फिरने वाले प्राणी भरे

क्वचिद्बृहत्कल्पतरुः क्वचिन्निर्जलजङ्गमः ।
क्वचिन्महाकरिकुलः क्वचिन्मत्तहरिव्रजः ॥ ३० ॥
क्वचिन्निर्भूतमुद्यातः क्वचिदुन्मत्तराक्षसः ।
क्वचित्करञ्जगहनः क्वचित्तालमहावनः ॥ ३१ ॥
क्वचिद्व्योमोपमसराः क्वचिद्दीर्घमरुस्थलः ।
क्वचिन्नित्यभ्रमत्पांसुः क्वचित्सर्वर्त्तुकाननः ॥ ३२ ॥
शिखरेषु शिलास्तस्य सामान्याचलसन्निभाः ।
सन्ति सुस्थितकल्पाभ्रा रत्नमय्योऽम्बरामलाः ॥ ३३ ॥
क्षीरोदकार्कगौरीणां वनस्कन्धौकसामिव ।
विश्राम्यन्त्यनिशं यासु हरयो हरियोनयः ॥ ३४ ॥
तासामुत्तरदिग्भागे पूर्वशृङ्गशिलोदरे ।
निवसाम्यहमक्षीणवज्रसारसमत्वचि ॥ ३५ ॥

पड़े हैं, कहीं पर बड़े-बड़े हाथियों के झुण्ड के झुण्ड हैं, कहीं पर प्रमत्त सिंह, वानर आदि हैं ॥ ३० ॥

कहीं पर तो प्राणियों से शून्य होकर ही व्यर्थ का उन्नत बना है, कहीं पर लम्बी मरुभूमि ही पड़ी है, कहीं पर करञ्ज वृक्षों के कारण वह अतिगहन है, कहीं पर ताल के ही बड़े-बड़े वन उसमें विद्यमान हैं ॥ ३१ ॥

कहीं पर उसमें आकाश के सदृश निर्मल और विस्तृत बड़े-बड़े सरोवर हैं, कहीं पर महामरुस्थल हैं, तो कहीं पर निरन्तर उड़ रही धूलि से यह पूर्ण है, कहीं पर तो उसमें ऐसे अरण्य हैं कि उनमें बारहों मासों की ऋतुएँ रहती हैं यानी एक साथ सभी ऋतुओं का उनमें आनन्द मिलता है ॥ ३२ ॥

उसके शिखरों पर ऐसी रत्नमयी बड़ी-बड़ी शिखाएँ हैं जो कि छोटे-मोटे पर्वतों के समान यानी सह्य, मलय आदि पर्वतों के सदृश लगती हैं, उनको देखकर सुस्थिर मेघ का ही स्मरण हो उठता है और वे एकदम आकाश के सदृश निर्मल हैं ॥ ३३ ॥

क्षीरसागर और सूर्य के सदृश गौरवर्ण उन शिखरस्थ शिखाओं के ऊपर पुत्र, पौत्र आदि परिवार के साथ सिंह, वानर आदि ऐसे रात-दिन विश्राम करते हैं, जैसे जङ्गल के बड़े वृक्षों की शाखाओं पर विश्राम करते हैं ॥ ३४ ॥

उन शिखाओं के मध्य में उस पर्वत के उत्तर दिशा के भाग में पूर्व दिशा की ओर स्थित शिखर की जो शिला है, उसके अन्दर मैं निवास करती हूँ, विनष्ट न होने वाले वज्रसारमणि के सदृश उसका अविनाशी त्वचा भाग है ॥ ३५ ॥

विधिना तत्र बद्धाऽस्मि वसाम्युपलयन्त्रके ।
अत्रासंख्या मुने ! याता मन्ये युगगणा मम ॥ ३६ ॥
न केवलमहं बद्धा यावद्भर्तापि तत्र मे ।
बद्धः सायंतने पद्मकुड्मले षट्पदो यथा ॥ ३७ ॥
तेन सार्द्धं मया भर्त्रा शिलाकोटरसङ्कटे ।
अनुभूताश्चिरं कालमत्र वर्षगणा गताः ॥ ३८ ॥
अद्याप्यात्मैकदोषेण नहि मोक्षं लभावहे ।
चिरं तत्रैव तिष्ठावस्तथैवाबद्धभावनौ ॥ ३९ ॥
पाषाणसङ्कटे तस्मिन् बद्धावावां न केवलम् ।
बद्धो यावदशेषेण परिवारोऽपि तत्र नौ ॥ ४० ॥
पुराणपुरुषो बद्धो द्विजस्तत्रास्ति मे पतिः ।
एकस्थानान्न चलति जीवन्युगशतान्यसौ ॥ ४१ ॥
आबाल्याद्ब्रह्मचारी च श्रोत्रियः पाठकोऽलसः ।
एकान्त एक एवास्तेऽजिह्मवृत्तिरचापलः ॥ ४२ ॥

हमको नियति ने ही बाँध दिया है, जिससे कि मैं उस पत्थर के यन्त्र से बस रही हूँ । मैं मानती हूँ कि इस प्रकार उसमें रहते-रहते मेरे असंख्य युग समूह बीत चुके ॥ ३६ ॥

केवल मैं ही ऐसी ही हूँ, किन्तु सब तरह से भरण-पोषण करने वाला मेरा पति भी उसमें उस प्रकार बद्ध हो गया है, जिस प्रकार भ्रमर कमल की कली में बद्ध हो जाता हैं ॥ ३७ ॥

उस शिला के कटोर के सङ्कट में फँसकर मैंने उस अपने पति के साथ दीर्घकाल तक अनुभव किया और अनेक वर्ष व्यतीत किये ॥ ३८ ॥

आज भी हम दोनों अपने एकमात्र कामरूप दोष से मोक्ष प्राप्त नहीं कर रहे हैं और उसी तरह एक दूसरे में ममता बाँधे हुए दीर्घकाल से बस रहे हैं ॥ ३९ ॥

उस पाषण के सङ्कट में हम दोनों ही बद्ध नहीं हैं, किन्तु हम लोगों का पुत्र, पौत्र आदि परिवार भी उसमें पूर्णरूप से बँधा हुआ है ॥ ४० ॥

उसमें बँधा हुआ मेरा पति द्विजकुलोत्पन्न और बड़ा ही प्राचीन पुरुष है । यह यद्यपि सैंकड़ों वर्षों से जी रहा है, तथापि अपने आसन से उठता ही नहीं ॥ ४१ ॥

मेरे पति बाल्यकाल से ही ब्रह्मचारी हैं, अपने वेदाध्ययन में में परायण रहते हैं, अन्य को पढ़ाते हैं, आलसी हैं, उनका व्यवहार बड़ा ही कोमल है, उनमें इन्द्रियों की चञ्चलता का नामनिशान नहीं है, एकान्त में ही सदा रहते हैं ॥ ४२ ॥

अहं व्यसनिनी भार्या तस्य वेदविदांवर ! ।
न निमेषं समर्थाऽस्मि तं विना देहधारणे ॥ ४३ ॥
शृणु तेन कथं ब्रह्मन् ! भार्याऽहं समुपार्जिता ।
कथं वृद्धिमयं यातः स्नेहोऽस्माकमकृत्रिमः ॥ ४४ ॥
तेन जातेन मद्भर्त्रा बालेनैव सता पुरा ।
किञ्चिज्ज्ञेन सतैकेन तिष्ठतात्मालयेऽमले ॥ ४५ ॥
श्रोत्रियत्वानुरूपेण जाया मे जन्मशालिनी ।
कुतः सम्भवतीत्येव निर्णीय चिरचिन्तया ॥ ४६ ॥
स्वयमेवानवद्याङ्गी तेन तामरसेक्षण ! ।
उत्पादिताऽस्मि नाथेन ज्योत्स्नेव शशिनाऽमला ॥४७॥
मनसा मानसी भार्या मन्दारोत्तमसुन्दरी ।
ततो वृद्धिं प्रयाताऽस्मि वसन्त इव मञ्जरी ॥ ४८ ॥
सहजाम्बरसंछन्ना भूतानां चित्तहारिणी ।
पूर्णेन्दुबिम्बवदना द्यौरिवामलतारका ॥ ४९ ॥

हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! ऐसे पुरुष की मैं पत्नी बड़ी ही व्यसनिनी हूँ, एक क्षणमात्र भी उनके बिना देहधारण में शक्ति नहीं रखती ॥ ४३ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप सुनिये—उन्होंने मुझको भार्यारूप में कैसे प्राप्त किया और हम लोगों का यह स्वाभाविक प्रेम कैसे बढ़ा ॥ ४४ ॥

पहले की बात है जिस समय उत्पन्न हुए मेरे स्वामी की अभी बाल्यावस्था ही थी, कुछ ज्ञान भी उनको था, वे सज्जन थे, अपने निर्मल स्थान में अकेले ही रहते थे, उस समय उन्होंने विचार किया मैं जैसा स्वाध्यायनिष्ठ हूँ, वैसी ही अनुरूप मेरी भार्या कैसे उत्पन्न हो सकती है । दीर्घकाल तक विचार कर उन्होंने कुछ निश्चय किया, फिर हे कमल के सदृश नेत्रों वाले मुने ! उन मेरे पति ने स्वयं ही अनिन्दित अङ्गों वाली मेरा ऐसे निर्माण किया, जैसे निर्मल ज्योत्स्ना का चन्द्रमा करता है ॥ ४५–४७ ॥

अनन्तर अपने पति के द्वारा मन से निर्मित अतएव मानसी भार्या मैं मन्दार वृक्ष की लता के समान, उत्तम सौन्दर्य से पूर्ण ऐसे वृद्धि को प्राप्त होने लगी, जैसे वसन्त में पुष्पमञ्जरी वृद्धि को प्राप्त करती है ॥ ४८ ॥

मैंने साथ-साथ उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम वस्त्र धारण किये । सभी प्राणियों के चित्त मेरी ओर आकृष्ट होने लगे । मेरा वदन पूर्णचन्द्रबिम्ब के सदृश अत्यन्त ही मनोरम हो गया । मैं निर्मल तारों से युक्त आकाश के सदृश क्रमशः चमकदार बन गई ॥ ४९ ॥

कोरकोच्चस्तनभरा समग्ररसशालिनी ।
लता वरवनेनेव करपल्लवशालिनी ॥ ५० ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य नित्यं हृदयहारिणी ।
हरिणी तारनयना मदनोन्माददायिनी ॥ ५१ ॥
लीलाविलासैकरता हेलावलितलोचना ।
गेयवाद्यप्रिया नित्यं न च तृप्तानुरागिणी ॥ ५२ ॥
सौभाग्यभोगपरमा लक्ष्म्यलक्ष्म्योः प्रिया सखी ।
अनन्या मोहजालानामखिन्ना सम्पदापदोः ॥ ५३ ॥
न केवलमहं गेहं धारयामि द्विजन्मनः ।
यावत्त्रैलोक्यसदनमिदमङ्ग बिभर्म्यहम् ॥ ५४ ॥
अहं कुलकरी भार्या कलत्रभरणक्षमा ।
त्रैलोक्यगृहसम्भारधारणैकभरोद्वहा ॥ ५५ ॥
अथाऽहं तरुणी जाता समुद्भिन्नोन्नतस्तनी ।

फूलों के मुकुलों के सदृश उन्नत स्तनों वाली मैं समग्र गुणों से धीरे-धीरे ऐसे सुशोभित होने लगी, जैसे पल्लव-रूप कर से युक्त लता वर-श्रेष्ठ वन से सुशोभित होने लगती है ॥ ५० ॥

मैं सदा ही सभी तरह के जन्तुओं के हृदयों का अपहरण करने वाली हो गई हिरन के जैसे बड़े-बड़े नेत्रों वाली मुझे देखकर कामदेव को भी मुझ से उन्माद को प्राप्त करने लग गया ॥ ५१ ॥

मैं निरन्तर केवल लीला-विलासों में ही निरत रहने लगी, कौतुक से तिरछे कटाक्ष मेरे होने लगे, मैं सदा गान और वाद्य में प्रेम करने लगी, भोगों में कभी तृप्त न हुई, मेरा दिन पर दिन भोगों में अनुराग बढ़ता ही गया ॥ ५२ ॥

मैं अपने अपने उत्तम भाग्य को ही मुख्य भोग समझने लगी, समदर्शी अपने पति के मन की कल्पनारूप मैं लक्ष्मी, अलक्ष्मी दोनों की मानो प्रिय सखी बन गई थी मैं सम्पत्ति और विपत्ति में एकरूप रहती हूँ ॥ ५३ ॥

मैं केवल अपने ब्राह्मण पति के घर को ही धारण नहीं करती, परन्तु पति के मनोमयरूप में उनके मन से कल्पित समस्त त्रिलोकी को धारण करती हूँ ॥ ५४ ॥

मैं पुत्र, पौत्र आदि से कुल को बढ़ाने वाली भार्या हूँ, पोष्य वर्ग का पालन करती हूँ और मुझ में त्रिलोकी-रूप घर की सर्वविध सामग्री के भार को ढोने की पूर्ण सामर्थ्य है ॥ ५५ ॥

अनन्तर मैं पूर्ण युवती हो गई, मेरे वक्षःस्थल पर महान् उन्नत स्तर हो आये । अब मैं अपने विलासरूप रस

लतोल्लसद्गुलुच्छेव विलासरसशालिनी ॥ ५६ ॥
पतिर्मां दीर्घसूत्रत्वाच्छ्रोत्रियत्वात्तपोरतः ।
कयाप्यपेक्षयाऽद्यापि न विवाहितवानिमाम् ॥ ५७ ॥
तेन यौवनसम्पन्नविलासरसशालिनी ।
तं विना व्यसनेनाहं दह्येऽग्नाविव पद्मिनी ॥ ५८ ॥
शीतानिलविलोलासु नलिनीषु निरन्तरम् ।
अङ्गदाहमवाप्नोमि पूताङ्गारस्थलीष्विव ॥ ५९ ॥
उद्यानावनयः सर्वाः पूर्णाः कुसुमवर्षणैः ।
सम्पन्नास्तप्तसिकताः शून्या मे मरुभूमयः ॥ ६० ॥
जलकल्लोलकह्लारकमलोत्करकोमलाः ।
सरस्यः सारसारावसरसा मम नीरसाः ॥ ६१ ॥
अहं पुष्करमन्दारकुन्दोत्करमालिता ।
भृशं दाहमवाप्नोमि कण्टकेष्विव दोलिता ॥ ६२ ॥

ऐसे शोभित हूँ, जैसे कि उल्लसित हो रहे फल-पुष्पों के के गुच्छों से लता शोभित होती है ॥ ५६ ॥

मेरे पतिदेव तो आलसी स्वाध्याय में निरत और बड़े तपस्वी हैं, किसी अज्ञात अपेक्षा से आजतक भी इस गुण-सम्पन्न रमणी के साथ उन्होंने विवाह नहीं किया ॥५७॥

मैं अधिक क्या कहूँ, पति के साथ मैं यौवन से प्राप्त भोग-विलास की इच्छा रखती हूँ अपने मनोरथ से ही उन्हें पति मान चुकी हूँ । इसलिए उनको भोगों के व्यसन से रहित देखकर मैं ऐसे जल रही हूँ, जैसे अग्नि में कमलिनी जल रही हो ॥ ५८ ॥

मैं शीतल पवन के कारण चञ्चल कमलिनियों में भी रात-दिन ऐसे अङ्गदाह का अनुभव करती हूँ, जैसे कि राख आदि को हटाकर तेज किये गये अङ्गारों के स्थानों में दाह का अनुभव करता है ॥ ५९ ॥

कुसुमों की वृष्टियों से पूर्ण समस्त उद्यानभूमि भी मुझे तपी हुई बालू से युक्त शून्य मरुभूमि ही प्रतीत होती है ॥ ६० ॥

जल कल्लोल, कह्लार और कमलों के ढेर से कोमल स्पर्श युक्त एवं सारस पक्षियों को मधुर ध्वनि से सरस तालाब भी मुझे नीरस लग रहे हैं ॥ ६१ ॥

मेरे शरीर के दाह की शान्ति के लिए सखियाँ मुझे पुष्कर, मन्दार, कुई आदि फूलों की शय्या पर सुला देती हैं, परन्तु मैं इस पर भी खूब दाह का अनुभव करती हूँ, जिस तरह काँटों पर लुढ़कती हुई रमणी कष्ट का अनुभव करती है ॥ ६२ ॥

कुमुदोत्पलकह्लारकदलीतल्पपालयः ।
मदङ्गसङ्गमाद्ग्रीष्ममर्मरा यान्ति भस्मताम् ॥ ६३ ॥
यत्कान्तमुचितं स्वादु विचित्रं चित्तहारि च ।
तदालोक्य भवाम्यन्तर्बाष्पपूर्णायतेक्षणा ॥ ६४ ॥
व्यसनानलसन्तप्ताः पतन्तो बाष्पबिन्दवः ।
छमच्छमिति मज्जन्ती कमलोत्पलपङ्क्तिषु ॥ ६५ ॥
कदलीकन्दलीस्कन्धदोलान्दोलनलीलया ।
लालितोद्यानखण्डेषु मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६ ॥
तुषारनिकराकीर्णकन्दलीदलमण्डपम् ।
पश्याम्यूष्माणमुज्झन्तं खदिराङ्गारभीषणम् ॥ ६७ ॥
नलिनीनालदोलासु सारसीं सारसाश्रिताम् ।
दीनानना विलोक्यान्तर्निन्दामि निजयौवनम् ॥ ६८ ॥
रम्ये रोदिमि मध्यस्थे पदार्थे यामि सौम्यताम् ।
हृष्याम्यशोभने दीना न जाने किमहं स्थिता ॥ ६९ ॥
दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च ।
मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति ॥ ७० ॥
आनीलपल्लवमृणाललतोत्पलानां
कह्लारकुन्दकदलीदलमालतीनाम् ।
शय्या ममाङ्गचलनेन विशोषयन्त्या
व्यर्थं गतानि नवयौवनवासराणि ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीव्यसनवर्णनं नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

कुईं, नील रक्त कमल, कह्लार, कदली आदि की शय्याएँ मेरे अङ्ग के स्पर्श मात्र से जनित ताप से गर्मी से पहले तो सूख जाती हैं, फिर मर्मर होकर भस्म बन जाती हैं ॥ ६३ ॥

जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु, विचित्र और मनोहर हैं, उन्हें देखकर मैं अपने भीतर से अश्रुपूर्ण नेत्र हो जाती हूँ मेरी वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसुओं से भर जाती हैं ॥ ६४ ॥

कामरूपी अग्नि से सन्तप्त, मेरे नयनाश्रु छम-छम शब्दपूर्वक कमलोत्पलों की पक्तियों के ऊपर गिराकर उनके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने ताप से उन्हें सुखाकर स्वयं भी सूख जाटे हैं ॥ ६५ ॥

उद्यान भागों में सखियों द्वारा कदली, कन्दली आदि के कन्धों पर विरचित हिंडोलों पर दोलन लीला से जब मैं झुलाई जाती हूँ, तब मैं लज्जा से मुख छिपा कर रोती हूँ ॥ ६६ ॥

हिम कणों के निकर से आकीर्ण केले के पत्तों से बनाये गये मण्डप को मैं गर्मी उगलने वाले खैर के आकार सदृश भीषण ही देखती हूँ ॥ ६७ ॥

कमलिनी के नालरूप हिंडोले पर जब मैं सारस के साथ सारसी को देखती हूँ, तब मैं दीनवदन होकर अपने यौवन की निन्दा करती हूँ ॥ ६८ ॥

मैं रम्य पदार्थ में होती हूँ (न रम्य और न अरम्य ऐसे बीच के) पदार्थ में सौम्य हो जाती हूँ, अरम्य प्रसङ्ग में= मूर्छा, जड़ता आदि अवस्था में प्रसन्न रहती हूँ, क्योंकि उस समय दीन हुई मैं क्या हूँ, यह नहीं जानती, उस स्थिति में अहङ्कार का विलय हो जाने से उसमें का दुःख जाना नहीं जा सकता ॥ ६९ ॥

प्रत्येक दिशा में कुन्द, मन्दार, कुमुद और हिम मैंने कामाग्नि से दग्ध हुए जीवों की राख के सदृश ही देखे ॥ ७० ॥

अत्यन्त नीलवर्ण तमाल के कोमल पल्लव, बिसतन्तुओं की लता, नील-रक्त कमल, कह्लर, कुन्द, कदलीपत्र, और मालती के फूलों की बनाई गई शय्याओं को अङ्गों के संचालन से सुखा रही मैं अपने यौवन के अनेक दिन निरर्थक ही व्यतीत कर दिये ॥ ७१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में विद्याधरीव्यसनवर्णन नामक कुसुमलता का चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

६५

विद्याधर्युवाच
अथ कालेन महता सोऽनुरागो विरागताम् । प्राप्तो मम शरच्छान्तौ विरसः पल्लवो यथा ॥ १ ॥

६५

विद्याधारी ने कहा—बहुत समय व्यतीत होने पर मेरा वह विषय प्रेम वैसे ही वैराग्य में परिणत हो गया, जैसे हेमन्त ऋतु के प्रारम्भ में पल्लव रस रहित होकर विराग भाव में परिणत हो जाता है ॥ १ ॥

वृद्ध एकान्तरसिको नीरसः स्नेहवर्जितः ।
भर्ताऽजिह्ममतिमं.नी किं मन्ये जीवितेन मे ॥ २ ॥

वरं वैधव्यमाबाल्याद्वरं मरणमेव च ।
वरं व्याधिरथापद्वा नाहृद्यप्रकृतिः पतिः ॥ ३ ॥

एतावज्जन्मसाफल्यं सौभाग्यमविखण्डितम् ।
रसिकः पेशलाचारो यन्नार्यास्तरुणः पतिः ॥ ४ ॥

हता नीरसनाथा स्त्री हताऽसंकारिणी च धीः ।
हता दुर्जनभुक्ता श्रीर्हता वेश्याहृता च ह्रीः ॥ ५ ॥

सा स्त्री याऽनुगता भर्त्रा सा श्रीर्याऽनुगता सता ।
सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥ ६ ॥

नाधयो व्याधयो नैव नापदो न दुरीतयः ।
कुर्वन्ति मनसो बाधां दम्पत्योरनुरक्तयोः ॥ ७ ॥

पहले तो मैंने यह सोचा मेरा स्वामी अब बूढ़ा हो गया, एकान्त में ही उसे सदा प्रेम है, नीरस है, मेरी और उसको तनिक भी स्नेह नहीं, मौन व्रतधारी है, है, उसका चित्त अति कोमल हैं, अतः अब मैं अपने जीवन से क्या फल मानूँ ॥ २ ॥

बाल्यकाल से ही यदि वैधव्य हो गया हो, तो वह भी अच्छा, या मरण भी अच्छा, व्याधि भी अच्छी, आपत्ति भी अच्छी, परन्तु अपने मन के अनुकूल यदि पति न हो, तो वह कभी-भी अच्छा नहीं है ॥ ३ ॥

स्त्रियों का सफल जन्म और अविखण्डि सौभाग्य यही है कि तरुण, रसिक और कोमल बर्ताव करने वाला पति हो ॥ ४ ॥

नीरस पति वाली स्त्री को विनष्ट ही समझना चाहिए, बुद्धि संस्कार हीनबुद्धि को नष्ट ही समझनी चाहिए, जो श्री (लक्ष्मी) उपभुक्त लक्ष्मी को दुर्जनों के पास वाली लक्ष्मी को नष्ट ही समझनी चाहिए ॥ ५ ॥

वही स्त्री स्त्री है, जो अपने पति से अनुगत हो, वही श्री श्री है, जो सज्जनों से अनुगत हो तथा वही बुद्धि बुद्धि है वही साधुता है और वही समदृष्टिता समदृष्टिता है, जो शान्ति आदि गुणों से मधुर और उदार हो ॥ ६ ॥

यदि पति और पत्नी निरन्तर एक दूसरे के प्रति प्रेम करते हों, तो न मानसिक पीड़ा, न शारीरिक पीड़ा, न और न दुष्ट ईतियाँ उत्पात हेतु अतिवृष्टि, टिड्डियाँ, मूसे, आपदा पक्षी तथा आसन्न राजे ही बाधा पहुँचाती हैं ॥७॥

विकसित फूलों के स्थान तथा नन्दनवन की उद्यान भूमियाँ उन स्त्रियों को मरुभूमि के सदृश संताप पहुँचाती

उत्फुल्लाः कुसुमस्थल्यो नन्दनोद्यानभूमयः ।
धन्वायन्ते कुनाथानां विनाथानां च योषिताम् ॥ ८ ॥

सर्व एव जगद्भावा यथेच्छं गुणलेशतः ।
सन्त्यज्यन्ते प्रमादात्तु वर्जयित्वा पतिं स्त्रिया ॥ ९ ॥

स्थिरयौवनया दुःखान्येतानि मुनिनायक ! ।
भुक्तानि वर्षवृन्दानि पश्य दौर्भाग्यजृम्भितम् ॥ १० ॥

अथ क्रमेण तेनैव सरागो मे विरागताम् ।
आययौ हिमदग्धाया नलिन्या इव नीरसः ॥ ११ ॥

विरागवासनास्तेन सर्वभावानुरञ्जना ।
तवोपदेशेनेच्छामि मुने ! निर्वाणमात्मनः ॥ १२ ॥

अप्राप्ताभिमतार्थानामविश्रान्तधियां परे ।
मरणैरुह्यमानानां जीवितान्मरणं वरम् ॥ १३ ॥

हैं, जिन स्त्रियों का पति प्रतिकूल है अथवा हैं ही नहीं ॥ ८ ॥

इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को अपनी इच्छा के अनुसार गुण की अल्पता से या प्रमाद से स्त्री छोड़ सकती है, परन्तु पति को छोड़कर, यानी स्त्री पति को छोड़कर सभी वस्तुओं का परित्याग अनायास कर सकती है ॥ ९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! स्थिर यौवन युक्त मैंने अनेक वर्षों तक ये दुःख भोगे, मेरे दौर्भाग्य का विस्तार तो जरा देखें ॥ १० ॥

अनन्तर जैसे हिम से दग्ध कमलिनी का राग क्रमशः नीरस होकर विराग के रूप में परिवर्तित हो जाता है वैसे ही उसी परिताप के कारण मेरे पति की ओर जो मेरा अनुराग था, वह क्रम से नीरस हो विराग के रूप में परिवर्तित हो गया ॥ ११ ॥

हे मुने ! उक्त क्रम से विराग की वासनाएँ प्राप्त कर सभी पदार्थों में उन्हीं को लगा रही हूँ, अब मैं आपके उपदेश से अपनी मुक्ति चाहती हूँ ॥ १२ ॥

जिन्होंने अपने अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं किये हैं और परम आत्मपद में जिनकी बुद्धि विश्रान्त नहीं हुई है, ऐसे मरण तुल्य दुःखों के प्रवाह में बह रहे मनुष्यों का जीने की अपेक्षा मरण ही अच्छा है। [आशय यह है कि इस समय आप जैसे उपदेशकर्ता को लाभ कर भी मैं यदि विश्रान्ति की इच्छा न करूँ, तो मरण ही अच्छा है] ॥ १३ ॥

स मद्भर्ताऽद्य निर्वाणमीहमानो दिवानिशम् ।
राजा राज्ञेव मनसा मनो जेतुं प्रबुध्यते ॥ १४ ॥
ब्रह्मंस्तस्य च मद्भर्तुर्मम चाज्ञानशान्तये ।
न्यायोपपन्नया वाचा कुरु स्मरणमात्मनः ॥ १५ ॥
यदा मामनपेक्ष्यैव स मद्भर्ताऽऽत्मनि स्थितः ।
तदा विरागो वैरस्यमनयन्मे जगत्स्थितिम् ॥ १६ ॥
संसारवासनावेशवर्जिताऽस्मि ततोऽवसम् ।
निबध्याभिमतां तीव्रां व्योमसञ्चारधारणाम् ॥ १७ ॥
अर्जयित्वा तथा व्योम्नि गतिं धारणया मया ।
अभ्यस्ता धारणा भूयः सिद्धसङ्गफलप्रदा ॥ १८ ॥
ततः स्वजगदाधारपूर्वापरनिरीक्षया ।
स्थिताऽहं धारणां बद्ध्वा साऽपि सिद्धिं समागता ॥१९॥

जैसे राजा राजा की सहायता से दूसरे राजा के ऊपर विजय पाने के लिए तैयार रहता है वैसे ही आज भी मुक्ति की इच्छा कर रहे वह मेरे पति रात-दिन मन से मन पर विजय पाने के लिए उस प्रकार तैयार हैं, सह धर्मचारिणी स्त्रियों का पति के समान ही स्वभाव रहना उचित है इसलिए पति के साथ ही हमको उपदेश देना चाहिए ।। १४ ।।

हे ब्रह्मन् ! उस मेरे पति का और मेरा जो अज्ञान है, उसका विनाश करने के लिए आप अपनी न्याययुक्त उपदेश वाणी से, विस्मृत कण्ठहार के सदृश, आत्मा का बोधन करें ।। १५ ।।

जब मेरी परवाह ही न कर मेरे पति अपनी आत्मा में अवस्थित हैं, अतः जगत् स्थिति में वैराग्य ने मुझे नीरसता प्रदान कर दी है ।। १६ ।।

जगत्स्थिति म नीरसता हो जाने से अब मैं अभीष्ट, तीव्र, आकाश में संचरण करने की सामर्थ्य देने वाली खेचरी मुद्रा रूप धारणा को बाँध कर समस्त संसार की वासनाओं से रहित होकर स्थित हूँ ।। १७ ।।

अनन्तर धारणा से मैंने आकाश में गमन करने की सामर्थ्य प्राप्त कर फिर मैंने सिद्धों के साथ संवाद फल देने वाली धारणा का अभ्यास किया । इसी से सिद्धों के एकान्त स्थान में आकर आपके साथ संवाद कर रही हूँ ।। १८ ।।

उसके बाद मैंने अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्ड के पूर्वापर घटित आकार को शास्त्र और योगदृष्टि से देखने के लिए अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डाकार भावनारूप धारणा बांधकर स्थित हुई और वह धारणा भी मुझे सिद्ध हो गई ।। १९ ।।

अथ स्वजगतो दृष्ट्वा हृदयं तस्य बाह्यगा ।
अहं दृष्टवती स्थूलां लोकालोकगिरेः शिलाम् ॥ २० ॥
एतावताऽपि कालेन दम्पत्योरावयोर्मुने ! ।
परं द्रष्टुमभूदिच्छा न काचन कदाचन ॥ २१ ॥
मद्भर्ता केवलं शुद्धवेदार्थैकान्तचिन्तया ।
न च यातं न चायातं वेत्त्यहो विगतैषणः ॥ २२ ॥
तेनासौ मत्पतिर्विद्वानपि न प्राप्तवान्पदम् ।
अद्य सोऽहं च वाञ्छावः प्रयत्नेन परं पदम् ॥ २३ ॥
तदेतामर्थितां ब्रह्मन् ! सफलां कर्तुमर्हसि ।
महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ॥ २४ ॥
भ्रमन्ती सिद्धसेनासु सदा नभसि मानद ! ।
त्वदृते नेह पश्यामि घनाज्ञानदवानलम् ॥ २५ ॥

अनन्तर अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्ड के अन्दर की सभी वस्तुओं को देखकर बाहर निकली और निकलकर मैंने पूर्ववर्णित अपने ही जगत् के अन्दर की इस ब्रह्माण्ड के लोकालोक पर्वत के ऊपर स्थित एक स्थूल शिला देखी ।। २० ।।

हे मुने ! इतना समय बीत जाने पर भी पहले हम दोनों पति-पत्नी को इसे देखने की कभी कुछ इच्छा ही नहीं हुई अर्थात् इससे पहले कभी-भी इस ब्रह्माण्ड को मैंने या मेरे पति ने नहीं देखा था, क्योंकि उसे देखने की कभी इच्छा ही नहीं हुई ।। २१ ।।

मेरे स्वामी तो केवल वेदों के अर्थ के विचार में ही सदा मग्न रहते हैं, इससे वे यह जानते ही नहीं कि कितना समय बीत गया, कितना वर्तमान है, कितना भविष्यत् है, क्या ब्रह्मतत्त्व है । अहो, वे कितने निःस्पृह हैं ।। २२ ।।

विद्वान् होते हुए भी मेरे पति आत्मपद को प्राप्त नहीं कर सके, आज वे और हम दोनों ही आपके उपदेश श्रवण, मनन आदि प्रयत्नपूर्वक आत्मवस्तु की अभिलाषा कर रहे हैं ।। २३ ।।

हे ब्रह्मन् ! आप हम लोगों की प्रार्थना को सफल करने के लिए सर्वथा समर्थ हैं, बड़े लोगों के सम्मुख आये हुए कोई भी प्रार्थी कभी निष्फल होकर नहीं जाते हैं ।। २४ ।।

हे मानद ! आकाशमण्डल में सिद्धसमूहों में निरन्तर घूम-फिर रही मैं आपके सिवा दूसरे किसी को भी अज्ञान रूपी बन का दावानल नहीं देखती हूँ ।। २५ ।।

ब्रह्मन् ! विनैव करुणाकरकारणेन
सन्तो यतोऽर्थिजनवाञ्छितपूरणानि ।
कुर्वन्ति तेन शरणागततामुपेतां
मामर्हसीह न तिरस्करणेन योक्तुम् ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

हे ब्रह्मन् ! हे करुणा के सागर ! सज्जन पुरुष किसी कारण के बिना ही अर्थीजनों की अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं, इसलिए आपकी शरण में आई हुई मुझ अबला का तिरस्कार उपेक्षा आप नहीं कर सकते हैं। उपेक्षा ही प्रार्थी जनों का तिरस्कार है ॥ २६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णन नामक कुसुमलता का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

६६

वसिष्ठ उवाच

अथेत्युक्तवती पृष्टा सा मया कल्पितासना ।
सङ्कल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ॥ १ ॥
कथं शिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेत् स्थितिः ।
कथं सञ्चलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने ! यथेवं भवतां जगत्स्फारं विराजते ।
तथाऽस्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक् स्थितम् ॥ ३ ॥
स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः ।
आपश्छलच्छलायन्ते वहन्ति व्योम्नि वायवः ॥ ४ ॥
अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः ।
भूतान्यजस्रं जायन्ते म्रियन्तेऽविरतं यथा ॥ ५ ॥
वान्ति वाता वहन्त्यापो भान्ति चाभान्ति खे सुराः ।
तिष्ठन्त्यगाः समुद्यन्ति ग्रहा यान्ति महीं नृपाः ॥६॥
देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः ।
लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥ ७ ॥
दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः ।
लीलाभ्रालीनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥ ८॥

६६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ब्रह्माण्ड के पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाश में अवस्थित तथा कल्पित आसन पर बैठे हुए मैंने उस रमणी से, जो उसी आकाश में स्थित आसन पर बैठे हुए मैंने उस रमणी से, जो उसी आकाश में स्थित कल्पित आसन पर बैठी हुई थी, उससे प्रश्न किया ॥1॥

हे बाले ! बिल्कुल आकाश से रहित शिलापेट में तुम्हरे-जैसे शरीरधारियों की स्थिति कैसी होगी ? उसमें हिलना-डोलना कैसे होगा और उसमें घर से भी तुम्हें लाभ क्या होगा ? सारांश यह कि जहाँ प्रवेश ही असम्भव हैं, वहाँ ये सब बातें हो ही नहीं सकती हैं ॥2॥

विद्याधरी ने कहा—हे मुने ! हमारा भी जगत् उस शिलापेट में वैसे ही विराजमान है, और वह भी सृष्टि-रूप संसार से युक्त है जैसे आपका यह जगत् विस्पष्टरूप से विराजमान है ॥ ३ ॥

वहाँ भी पाताल में नाग रहते हैं, पृथ्वी पर पर्वत स्थित हैं, जल भी लबालव भरे हैं और आकाश में हवा भी चलती है ॥ ४ ॥

उसके भीतर यहाँ की ही तरह समुद्र सुशोभित हैं, प्रजावर्ग भी धीरे-धीरे गमन आदि व्यवहार करते हैं, निरन्तर भूत उत्पन्न होते हैं और निरन्तर मरते भी हैं ॥ ५ ॥

यहाँ के समान ही वहाँ पर भी वायु चलती है, जल बहते हैं, आकाश में नक्षत्र आदि के रूपों में तथा अपने-अपने शरीर आदि के रूप में देवता भासमान होते हैं, पर्वत स्थित हैं, गुणों का उदय होता है और पृथ्वी में राजा गण भी चलते-फिरते हैं ॥ ६ ॥

जिस तरह समुद्र तक नदी धारा विद्यमान रहती है वैसे ही वहाँ देवता, असुर और मनुष्यों की चञ्चल व्यवहार परम्परा यहाँ के समान कल्प तक उस तरह विद्यमान रहती है ॥ ७ ॥

भूलोक रूपी तालतल में कल्पपर्यन्त और आकाश तक रहने वाले दिन रूपी कमल भी वहाँ हैं, दिन रूप कमलों में लोल चञ्चल अभ्र ही भ्रमर हैं, वे विकसित और निमीलित भी होते हैं ॥ ८ ॥

चन्द्रश्चर्चाश्चतुर्दिक्कं चन्दनेनात्मतेजसा ।
रचयन् रात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्गतम् ॥ ९ ॥
स्वदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता ।
रोदःसद्मनि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥ १० ॥
ब्रह्मसङ्कल्पितो रुद्धो वातसञ्चारचारिभिः ।
खेऽनिशं चक्रमृक्षाणां गुणावर्तो विवर्तते ॥ ११ ॥
भूततण्डुलमासृष्टेः पिनष्टि ध्रुवकीलकः ।
नियत्या चलितो रोदःकपाटाम्भोदघर्घरः ॥ १२ ॥
द्वीपाब्धिशैलैर्भूपीठं विमाननगरैर्नभः ।
दैत्यदानवनागौघैः पूर्णं पातालमण्डलम् ॥ १३ ॥
कुण्डलं त्रिजगल्लक्ष्म्या नीलं भूतलमण्डलम् ।
स्थितं चञ्चलमाचारचञ्चलायाः स्फुरन्मणि ॥ १४ ॥

जैसा कि इस जगत् में है, वैसा ही उस जगत् में भी चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्ना रूपी चन्दन से चारों दिशाओं में लेपन कर रात्रि में रोहिणी का भीतरी और बाहरी अन्धकार को निवृत्त कर देता है ॥ ९ ॥

दसों दिशा रूपी बत्तियों का स्वाद लेने में अर्थात् द्रवात्मक स्नेह का भोग करने में रत और वात रूपी यन्त्र से चालित वहाँ भी सूर्य नाम की दीपिका है, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी रूप घर के अन्दर जगमगाती है ॥ १० ॥

आकाश मण्डल में वहाँ पर भी नक्षत्रों का चक्र रूप चक्की घूमती है और एक तरह से तण्डुल रूप अण्डज आदि चार प्रकार के भूतों को सृष्टि के आरम्भ से लेकर बराबर पीसती रहती है, यह घरट्ट यन्त्र ब्रह्मा ने अपने संकल्प से बनाया है, वायुसंचारचारियों से अर्थात् वात रश्मियों से यह अवष्टब्ध है, ध्रुवरूप खूँटे के ऊपर थमा हुआ है तथा अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी में कपाट के सदृश बन्द करने और खोलने का स्वभाव रखने वाले मेघों से घर्घर ध्वनि करता रहता है, यह नियति से संचालित है ॥ ११-१२ ॥

वहाँ पर भी यहाँ के सदृश ही पृथ्वी आदि लोक द्वीप पर्वत आदि से भरे हैं।

वहाँ पर भी यहाँ के समान भूमि द्वीप सागर और पर्वतों से, आकाश विमानों के संनिवेश जैसे रचित नगरों से तथा पाताल मण्डल दैत्य, दानव एवं नागों के समूहों से पूर्ण है ॥ १३ ॥

वहाँ पर भी नीला भूतल मण्डल स्थित है। वह ठीक आचरणों से चंचल त्रिजगती रूप लक्ष्मी का चमक रहे मणियों से युक्त चञ्चल कुण्डल-सा लगता है ॥ १४ ॥

बुद्ध्यादिरहितां स्पन्दसंविदं वायवीमिव ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सूक्ष्ममादाय जायते ॥ १५ ॥
मुनिमौनैर्धरावाभिर्मारुतैः कपिचापलम् ।
आकाशैरवकाशित्वं तेजोभिर्भासनं श्रितम् ॥ १६ ॥
वृक्षोर्व्यब्ध्यद्रिखचराः प्राणिनोऽन्तः स्फुरन्त्यलम् ।
मृतिजन्मोन्मुखाः कीटसुरासुरजलौकसः ॥ १७ ॥
ससुरासुरगन्धर्वाः कालः कलयति प्रजाः ।
दोर्भिः कल्पयुगाब्दैश्च स्वपशूनिव पालकः ॥ १८ ॥
अनन्तविपुलागाधगम्भीरे कालसागरे ।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते ते त्वावर्तविवर्तया ॥ १९ ॥
चतुर्दशविधा वातवेल्लिता भूतपांसवः ।
नाशाकाशे विलीयन्ते शरदम्भोदलीलया ॥ २० ॥

यहाँ पर भी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियों का दल बुद्धि आदि से शून्य बाह्य की क्रिया के सदृश भीतरी सूक्ष्म प्राणनाम की स्पन्दसंवित् को लेकर जन्म आदि विकारों को प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

यहाँ पर भी यहाँ के सदृश मुनि लोगों को मुनि क्रियाओं ने, पृथ्वी का समुद्र आदि जलों ने, वायु ने बन्दर के सदृश चपलता का, आकाश ने अवकाशपन का और सूर्यादि प्रकाश में प्रकाशन का अवलम्बन किया है ॥१६॥

यहाँ पर भी जन्म और मरण के भागी बन्दर आदि वृक्षचर, मनुष्य आदि भूचर, मत्स्य आदि जलचर, मृग आदि पर्वतचर, पक्षी, देवता आदि आकाशचर, कीट, सुर, असुर और जल निवासी बीच-बीच में खूब घूमते फिरते हैं ॥ १७ ॥

यहाँ के समान यहाँ भी देवता, असुर और गन्धर्वों के सहित समस्त प्रजा को काल कल्प, युग एवं वर्षरूपी अपने हाथों से उस प्रकार पालन आदि से भोगता है, जैसे पशु पालक अपने पशुओं को भोगता है ॥ १८ ॥

अनन्त, अगाध, पुष्कल एवं गम्भीर कालरूपी महासागर में आवर्त और निवर्तरूप कालगति से वे सुरासुर आदि जलजन्तु उत्पन्न होकर लीन हो जाते हैं ॥ १९ ॥

जिसमें सभी वस्तुओं का विनाश हो जाता है, ऐसे अव्याकृत आकाश में वायु से उड़ाये गये चौदह प्रकार के प्राणीरूपी रजकण, शरत् काल के मेघों के सदृश, विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

भुवनं बोधयन्ती द्यौश्चन्द्रार्ककरचामरैः ।
स्थिताऽऽकाशांशुकाऽऽकल्पतारकोत्करशेखरा ॥ २१ ॥
स्थिताः पवनभूकम्पमेघतापसहिष्णवः ।
स्वं प्रदेशमनुज्झन्त्यः ककुभः स्तम्भिता इव ॥ २२ ॥
उत्पातमेघनिर्ह्रादभूमिकम्पग्रहग्रहैः ।
अज्ञातैरपि विज्ञातैर्भूतानां जायते गतिः ॥ २३ ॥
सप्तानां जलमब्धीनामौर्वाग्निः पिबति ज्वलन् ।
लोकान्तराणामाकल्पं कालो भूतगणं यथा ॥ २४ ॥
पातालमाविशति याति नभोबिलं च
दिग्मण्डलं भ्रमति भूतगणः समन्तात् ।
पर्येति पर्वतमहार्णवमण्डलानि
द्वीपान्तराणि च मरुत्सरणक्रमेण ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
पाषाणोपाख्याने शिलान्तरवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

यहाँ के समान यहाँ पर भी द्यु शुभ्र आकाशरूप वस्त्र धारणकर तथा मस्तक में कल्प पर्यन्त तारों का समूह धारणकर चन्द्र-सूर्यरूपी दो चामरों को डुलाती हुई सातों भुवनों को जागृत करती है ॥ २१॥

वहाँ पर भी यहाँ की तरह स्थावर प्राणियों के सदृश पवन, भूकम्प, वृष्टि और घाम सहने वाली दिशाएँ स्थित हैं ॥ २२ ॥

ज्योतिषियों द्वारा और अन्यों द्वारा अज्ञात उत्पात के हेतु मेघ, विद्युत्पतन, भूकम्प तथा ग्रह आदि से प्राणियों की इष्टानिष्ट रूप गति वहाँ पर भी होती है ॥ २३ ॥

वहाँ भी सात समुद्रों का जल जलती हुई और्वाग्नि बड़वानल पीती है वैसे ही जैसे चौदह भुवनों के प्राणियों को काल कल्प तक पीता है ॥ २४ ॥

वहाँ पर भी पातलयोग्य प्राणी पाताल में प्रवेश करता है, आकाश विल में विलास करने योग्य प्राणी आकाश में जाता है, दिशाओं में भ्रमण करने योग्य प्राणी दिशाओं में भ्रमण करता है। संक्षेप से चारों ओर प्राणी समूह वायु के संचार के सदृश, पर्वत, महासमुद्रमण्डल तथा अन्यान्य द्वीपान्तरों में भ्रमण करते हैं, इसलिए यहाँ जितना व्यवहार है, वह सब वहाँ पाषाण की शिला में भी है ॥ २५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में शिलान्तरवर्णन नामक कुसुमलता का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

६७

विद्याधर्युवाच

यावत्त्वं सर्गमागच्छ प्रसादः क्रियतां मुने ! ।
आश्चर्येषूपपन्नेषु महान्तो ह्यतिकौतुकाः ॥ १ ॥
तथेत्युक्ते मया सार्धं गन्तुमारब्धमम्बरे ।
वात्यया सौरभेणेव शून्ये शून्येन शून्यया ॥ २ ॥
अथाऽहं दूरमध्वानं शून्यमुल्लंघ्य नाभसम् ।
नभःस्थं भूतसङ्घातं तया सार्धमवाप्तवान् ॥ ३ ॥
तमुल्लंघ्य चिरेणात्र भूतसञ्चारमम्बरे ।
लोकालोकशिरोव्योम प्राप्तोऽस्मि धवलाम्बुदम् ॥ ४ ॥
उत्तरांशेन्दुशुभ्राभ्रपीठान्निर्गत्य तां शिलाम् ।
आनीतोऽस्मि तयोत्तुङ्गां तप्तकाञ्चनकल्पिताम् ॥ ५ ॥

६७

विद्याधारी ने कहा—हे मुने ! यदि आप मेरी बात को असंभव मानते हों, तो स्वयं ही सम्पूर्ण उस शिलोदर सृष्टि को देखने की कृपा करें और वहाँ चले, क्योंकि बड़े लोगों को प्राप्त आश्चर्यकारक घटनाओं में बड़ा ही कौतुक होता है ॥ १ ॥

वैसे उसके कहने पर मैंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात स्वीकार कर ली और आकाशरूपिणी उस रमणी के साथ शून्यात्मक आकाशमण्डल में जाने के लिए शून्यरूप मैं ऐसे उद्यत हुआ, जैसे वात्या के झंझावात के साथ चम्पकादि पुष्पों की सुगन्ध ॥ २ ॥

अनन्तर उसके साथ मैं दूर के शून्यरूप आकाशमार्ग को मण्डल में स्थित देवता आदि प्राणियों के समीप जा पहुँचा ॥ ३ ॥

कुछ समय बाद इसी आकाश में उस देवादि प्राणियों के संचरण मार्ग को भी पारकर मैं उसके साथ श्वेत मेघ के सदृश अतिनिर्मल लोकालोक पर्वत के शिखर के आकाशभाग में पहुँच गया ॥ ४ ॥

उत्तर दिशा के पूर्वभाग पर स्थित चन्द्रसदृश अति-धवल आकाशपीठ से नीचे आकर मैं उसके द्वारा उस शिला के पास ले जाया गया। वह शिला बड़ी ही ऊँची

यावत्पश्याम्यहं शुभ्रां शिलां तां न च तज्जगत् ।
कलधौतमयीमुच्चैरग्निलोकतटीमिव ॥ ६ ॥
तदा मयोक्ता सा कान्ता क्व भवत्सर्गभूरिति ।
क्व रुद्रार्काग्नितारादि क्व लोकान्तरसप्तकम् ॥ ७ ॥
क्वाऽर्णवाकाशककुभः क्वोन्मज्जननिमज्जने ।
क्व महाम्भोदसम्भारः क्व ताराम्बरडम्बरम् ॥ ८ ॥
क्व शैलशिखरश्रेण्यः क्व महार्णवलेखिकाः ।
क्व द्वीपवलयाः सप्त क्व तप्तकनकावनिः ॥ ९ ॥
क्व कार्यकालकलनाः क्व भूतभुवनभ्रमः ।
क्व विद्याधरगन्धर्वाः क्व नरामरदानवाः ॥ १० ॥
क्वर्षिभूपालमुनयः क्व नयापनयक्रमः ।
क्व पञ्चयामयामिन्यः क्व स्वर्गनरकभ्रमः ॥ ११ ॥

और रूप-रङ्ग में ठीक तपे सोने के सदृश कल्पित थी ॥ ५ ॥

सुवर्णमयी सुमेरुतटी के सदृश वह बहुत बड़ी ऊँची शुभ्र शिला मैंने चारो ओर से खूब देखी, परन्तु उसमें जगत् नहीं दीख पड़ा ॥ ६ ॥

जगत् को न देखकर मैंने उस सुन्दरी बाला से पूछा कि यहाँ कहाँ पर वे जगत् हैं, जिनका तुमने मुझसे वर्णन किया था, कहाँ रुद्र, सूर्य, अग्नि, तारा आदि हैं तथा कहाँ यहाँ सात दूसरे-दूसरे लोक हैं ॥ ७ ॥

हे रमणि ! कहाँ यहाँ पर समुद्र, आकाश एवं दिशाएँ हैं, कहाँ प्राणियों के जन्म और विनाश हो रहे हैं, कहाँ बड़े-बड़े मेघमण्डल हैं और कहाँ तारों से युक्त चमकीले आकाशमण्डल का आडम्बर है ॥ ८ ॥

कहाँ पर्वतों के शिखरों की श्रेणियाँ हैं, कहाँ बड़े-बड़े लवण-समुद्रों की पंक्तियाँ हैं, कहाँ सात द्वीपरूपी कङ्कण हैं और है कहाँ तपे सोने के सदृश भूमि है ॥ ९ ॥

कहाँ क्रिया, काल और कल्पनाएँ हैं, कहाँ भूतों के देवता आदि के निवास स्थान भ्रम हैं, कहाँ विद्याधर एवं गन्धर्व हैं तथा कहाँ मनुष्य, देव और दानव हैं ॥ १० ॥

कहाँ ऋषि और राजा हैं, कहाँ उनमें मुनि हैं, कहाँ नीति-अनीति की रीति है, कहाँ हेमन्त की रात्रियाँ हैं और कहाँ हैं स्वर्ग-नरक के विभ्रम हैं ॥ ११ ॥

कहाँ पुण्य-पाप की गतियाँ है, कहाँ काल की कलाओं विलास है, कहाँ सुर और असुरों का युद्ध है और कहाँ द्वेष एवं स्नेह की पद्धतियाँ हैं ॥ १२ ॥

मैं इस तरह से उससे प्रश्न कर रहा था कि आश्चर्य

क्व पुण्यपापकलनाः क्व कलाकालकेलयः ।
क्व सुरासुरवैराणि क्व द्वेषस्नेहरीतयः ॥ १२ ॥
वदत्येवं मयि वचः सोवाच वरवर्णिनी ।
विस्मयाकुलमालोक्य शिलामलविलोचना ॥ १३ ॥

विद्याधर्युवाच

पश्याम्यखिलमात्मीयमहं सर्वमिहोपले ।
मुकुरप्रतिबिम्बस्थपुरान्यपुरवज्जनम् ॥ १४ ॥
नित्यानुभव एवात्र दर्शने कारणं मम ।
तदभावो मुने ! मन्ये ते कारणमदर्शने ॥ १५ ॥
अन्यच्च चिरकालैकद्वैतसंकथयाऽनया ।
शुद्धाऽऽतिवाहिकैकात्मदेहता विस्मृताऽऽवयोः ॥ १६ ॥
ममातिसुचिराभ्यस्तमपि व्योमलतामिव ।
गतं निजं जगदिदं यतः पश्यामि न स्फुटम् ॥ १७ ॥

से व्याकुल मुझको देखकर शिला के सदृश निर्मल नेत्रवाली एवं सुन्दर रूपवाली उस रमणी ने कहना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

विद्याधारी ने कहा—हे भगवन्! मैं भी अब पहले के समान अपना सब कुछ इस पत्थर की शिला में नहीं देख रही हूँ पर मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदि का पूर्व में वर्णन किया है, उन सब को दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से स्थित प्रसिद्ध नगर से दूसरा नगर है, उसके सदृश प्रतिबिम्बरूप से स्थित देखती हूँ ॥ १४ ॥

हे मुने ! हमको उन लोगों का दर्शन हो रहा है, उसमें कारण नित्य का अनुभव ही है, वह नित्य का अनुभव आपको नहीं है, इसलिए उसका अभाव ही जगत् के न दीखने में कारण है ॥ १५ ॥

दूसरी बात यह कि चिरकाल तक अपने लोगों की यह जो एक-द्वैत विषय की कथा चली, उससे विशुद्ध सूक्ष्म मनोमात्ररूप देह का हम लोगों को विस्मरण हो गया है, इसलिए आपको जगत् नहीं दीखता और हमको अस्फुट दीखता है । समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों के अवलोकन में समर्थ विशुद्ध मनोरूप देह के विस्मरण से भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और हमको दीखता है, पर अस्फुट ॥ १६ ॥

मेरा भी यहाँ जो जगत् था, वह प्रायः नष्ट हो चुका है, क्योंकि यद्यपि उसका मैंने चिरकाल तक अभ्यास किया है, फिर भी अब आकाशलता के समान स्पष्ट नहीं दीखता है ॥ १७ ॥

अभूद्यत्स्वजगत्पूर्वमतिप्रकटमेव मे ।
तत्पश्यामीदमादर्श इव बिम्बितमस्फुटम् ॥ १८ ॥
चिरव्यर्थोत्थया नाथ संकथाव्यथया मिथः ।
स्वास्थ्यं विस्मृतमात्मीयमवदाततमं ततम् ॥ १९ ॥
योऽभ्यासः प्रकचत्यन्तः शुद्धचिन्नभसो रसात् ।
भवेत्तन्मयमेवान्तराबालमिव लक्ष्यते ॥ २० ॥
न सच्छास्त्रेण सा विद्धि न सन्न्यायेन सा कला ।
अस्ति नास्त्यमितोद्योगाद्यदभ्यासान्न सिद्ध्यति ॥ २१ ॥
स्वजगत्सन्तताभ्यासवशतो मां कथाभ्रमः ।
नूनमाक्रान्तवानेष द्वयोर्हि बलवान् जयी ॥ २२ ॥
इष्टवस्त्वर्थिनां तज्ज्ञसूपदिष्टेन कर्मणा ।

जो जगत् मेरे लिए पहले अत्यन्त विस्पष्ट था, उसको मैं अब दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश अस्पष्ट देखती हूँ ॥ १८ ॥

हे नाथ ! अपने लोगों का परस्पर दीर्घकाल तक निरर्थक संभाषण हुआ, उससे उत्पन्न व्यथा से अपना अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य धारण के अभ्यास से जनित अपनी मनोरूप देहरूपता विस्मृत हो गयी है ॥१९॥

अभ्यास जनित संस्कार शुद्ध चिदाकाश के रस से उद्‌बुद्ध हो जो प्रकट होता है, उसी रूप का भीतरी अन्तःकरण मानो हो ही जाता है, यही बाल्य अवस्था से लेकर वस्तुस्थिति है ॥ २० ॥

वह कला न उत्तम शास्त्रों से सिद्ध होती है, न उत्तम न्याय से सिद्ध होती हैं, किन्तु अपरिमित उद्योग से युक्त अभ्यास से ही सिद्ध होती है, अभ्यास से वह सिद्ध नहीं होती, यह बात नहीं है, किन्तु अवश्य सिद्ध होती है, यह आप समझें ॥ २१ ॥

आपके साथ संवादात्मक जो कथाभ्रम हुआ, उसने अपने जगत् के निरन्तर अभ्यास के वश से पूर्व जगत् के भ्रम से ग्रस्त मुझको वश में कर दिया, इसलिए वह संस्कार तिरोहित हो गया है, क्योंकि भूतकाल का भ्रम और वर्तमानकाल का भ्रम बलवान् होने के कारण विजयी हुआ ॥ २२ ॥

हे मुने ! अपनी-अपनी मनपसन्द वस्तु चाहने वालों के लिए गुरुओं द्वारा उत्तम रीति से उपदिष्ट कर्म करने की पद्धति से बार-बार जो किया जाता है, उसी से अभीष्ट वस्तु उन्हें मिलती है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं दूसरा शरण नहीं है अर्थात् लौकिक या वैदिक

पौनःपुन्येन करणान्नेतरच्छरणं मुने ॥ २३ ॥
अयमित्थमिहाज्ञानभ्रमः प्रौढोऽहमात्मकः ।
शाम्यति ज्ञानचर्चाभिः पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥२४॥
अहं शिलाबला बाला पश्यामि त्वं न पश्यसि ।
सर्वज्ञोऽपि शिलासर्गं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २५ ॥
अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २६ ॥
इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
शाम्यत्येव विचारेण पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २७ ॥
अभ्यासेन कटु द्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ! ।
अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ २८ ॥

शिल्प विद्या आदि फलों की इच्छा कर रहे पुरुषों को गुरुजी द्वारा तपदिष्ट पद्धति से बार-बार किया गया उसका अभ्यास ही शरण है दूसरा नहीं ॥ २३ ॥

यह इस प्रकार का प्रौढ़ अहंरूप बड़ा विद्यमान अज्ञान भ्रम ज्ञान की चर्चा से अर्थात् श्रवणादि के अभ्यास से ही निवृत्त हो जाता है, यही अभ्यास का फल है। अर्थात् जब अनादि अनन्त संसाररूप अनर्थ भी ज्ञान के अभ्यास से नष्ट हो जाता है तब ऐसा कौन अनर्थ बचने पाता है, जो अभ्यास से उसकी चिकित्सा न हो सके ॥ २४ ॥

मैं एक शिला की अबला हूँ, उसमें भी बाला और आपकी शिष्या हूँ, फिर भी शिला की सृष्टि को देखती हूँ, आप सर्वज्ञ और गुरु हैं तो भी नहीं देखते, यह बड़ा आश्चर्य है, देखिए यह अभ्यास का विजृम्भण है। अर्थात् अभ्यास में उत्तमता होनेपर बालकों में भी प्रौढता देखी जाती है और अभ्यास के छूट जानेपर बड़े लोगों को भी व्यामोह होने लगता है, इस विषय में हम दोनों ही दृष्टान्त हैं ॥ २५ ॥

अभ्यास से धीरे-धीरे अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है, अचेतन वाण भी सूक्ष्मतम लक्ष्य को प्राप्त करता है, देखिए अभ्यास की कितनी महत्ता है ॥ २६ ॥

इस तरह मिथ्याभूत जो चारों ओर से प्रौढ़ अज्ञान-रूपी महामारी है, वह विचाररूप अभ्यास से ही शान्त हो जाती है, देखिए अभ्यास का कितना माहात्म्य है ॥ २७ ॥

हे मुने ! अभ्यास से ही कटु पदार्थ अभीष्ट हो जाता है, अभ्यास से ही किसी को नीम अच्छा लगता है और किसी को मधु अच्छा लगता है ॥ २८ ॥

अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकट्याभ्यासयोगतः ।
यात्यनभ्यासतो दूरात्स्नेहो बन्धुषु तानवम् ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ ३० ॥
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गवत् खमभ्येति पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ ३१ ॥
पुण्यानि यान्ति वैफल्यं वैफल्यं यान्ति मातरः ।
भाग्यानि यान्ति वैफल्यं नाऽभ्यासस्तु कदाचन ॥ ३२॥
दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगतः ॥ ३३ ॥
येनाऽभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।

समीप के कारण अभ्यासयोग से ही अबन्धु बन्धुरूप बन जाता है और दूरी के कारण अनभ्यास से बन्धुओं में भी स्नेह कम हो जाता है ॥ २९ ॥

भावनाभ्यासयोग से ही केवल विशुद्ध चिदाकाशरूप आतिवाहिक यह देह आधिभौतिकरूप बन जाती है अर्थात् देह में भौतिकता की भ्रान्ति भी स्वाभाविक भौतिकता के अभ्यास से ही होती है ॥ ३० ॥

यह आधिभौतिक देह धारणा के अभ्यास की भावना से ही पक्षियों के सदृश आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त करती है, यह भी अभ्यास का ही प्रभाव है ॥ ३१ ॥

कदाचित् श्लाघारूप थोड़े से अपराध से पुण्य भी विफल बन जाते हैं, माताएँ विफल बन जाती हैं और धन भी विफल बन जाता है, परन्तु कभी अभ्यास विफल नहीं होता है ॥ ३२ ॥

निरन्तर के अभ्यास से दुःसाध्य पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं तथा औषध के निमित्त अभ्यास से विष भी अमृत बन जाते हैं ॥ ३३ ॥

इष्ट वस्तु के विषय में जिसने अपना अभ्यास छोड़ दिया, वह मनुष्यों में अधम है, वह उस वस्तु को वैसे ही प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे 'वन्ध्या' अपने पुत्र को नहीं कर सकती है अर्थात् शास्त्रीय शुभाभ्यास कदापि नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ३४ ॥

स्त्री, पुत्र आदि जो अभिमत वस्तुएँ हैं, उनका उपार्जन हजारों प्रयत्नों से किया जाता है। इससे उनका भी परित्याग सहसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वैराग्य के अभ्यास द्वारा ऐसी युक्ति से परित्याग करना चाहिए, जैसे मृत्युपर्यन्त अत्यन्त अभीष्ट जीवन वस्तु का योगी युक्तिपूर्वक त्याग करता है ॥ ३५ ॥

कदाचिन्न तदाऽप्नोति वन्ध्या स्वतनयं यथा ॥ ३४ ॥
यदप्यभिमतं वस्तु स्वभ्यासेन तदर्जनात् ।
तद्युक्तिपूर्वकं त्याज्यमामृत्योर्जीवितं यथा ॥ ३५ ॥
इष्टे वस्तुनि नाभ्यासं यः करोति नराधमः ।
सोऽनिष्टेऽनिष्टमाप्नोति नरकान्नरकान्तरम् ॥ ३६ ॥
तरन्ति सरितं स्फीतां संसारासारसेविनः ।
त एवात्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति ये ॥ ३७ ॥
अभ्यासभासोऽभिमतं वस्तु प्रकटयन्त्यलम् ।
प्रापयन्ति च निर्विघ्नं घटं दीपप्रभा यथा ॥ ३८ ॥
यथा कल्पद्रुमलताः सच्चिन्तामणयो यथा ।
फलन्ति शरदश्चैतास्तथैवाऽभ्यासभूमयः ॥ ३९ ॥

जो नराधम अपनी इष्ट वस्तु के लिए अर्थात् मोक्ष हेतु तत्त्वज्ञान के लिए अभ्यास नहीं करता है, वह अनिष्ट देह आदि में अहम्भावरूप अनर्थ में ही रत रहेगा, इस स्थिति में अपने अभ्यासस्वभाव से अनिष्ट ही प्राप्त करता रहेगा और अनन्तर एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता रहेगा, उससे छुटकारा कभी उसका नहीं होगा अर्थात् तत्त्वज्ञानार्थ जो अभ्यास है, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके त्याग से तो देह आदि में अहम्भावादि का अभ्यास अवश्य होने लग जायेगा, फिर इसका निवारण असंभव हो जाने पर अनिर्मोक्ष की आपत्ति हो जायगी ॥ ३६ ॥

जिससे संसार असार बन जाता है, ऐसे विवेक की सेवा में सदा निरत रहने वाले जो उत्तम पुरुष आत्म-विचाररूप अभ्यास को नहीं छोड़ते, वे ही इस महाविस्तृत मायारूपी नदी को तैर जाते हैं ॥ ३७ ॥

जैसे घड़ा चाहने वाले पुरुष के लिए दीपक की प्रभाएँ घड़े को प्रकाशित करती है और निर्विघ्न उसे प्राप्त करा देती हैं, वैसे ही आत्मवस्तु चाहने वाले पुरुष के लिए श्रवणादि अभ्यासरूपी प्रभाएँ आत्मा को प्रकाशित करती हैं और उसे प्राप्त भी करा देती है। उसमें श्रवण-मनन का अभ्यास असंभावनारूप अन्धकार हटाकर वस्तु को प्रकाशित कर देता है और निदिध्यासन का अभ्यास विपरीत भावनारूप विघ्न-विनाशकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करा देता है ॥ ३८ ॥

जैसे कल्पवृक्ष की लता, जैसे उत्तम चिन्तामणि अथवा जैसे शरद ऋतु अभिमत फल प्रदान करती हैं, वैसे ये श्रवण आदि के अभ्मास की भूमियाँ भी अभिमत मोक्ष-वस्तु प्रदान करती हैं ॥ ३९ ॥

इष्टवस्तु चिराभ्यासभास्वान् भासयति प्रजाः ।
तथेन्द्रियाख्यां देहोर्व्यां रात्रिं पश्यन्ति नो यथा ॥ ४०॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य सर्ववस्त्ववभासने ।
सर्वदैवैक एवोच्चैर्जयत्यभ्यासभास्करः ॥ ४१ ॥
चतुर्दशविधायास्तु भूतजातेर्न कस्यचित् ।
सिद्ध्यन्त्यभिमतं वस्तु विनाभ्यासमकृत्रिमम् ॥ ४२ ॥
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
पुरुषार्थः स एवेह तेनाऽस्ति न विना गतिः ॥ ४३ ॥
दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
निजवेदनजेनेव सिद्धिर्भवति नाऽन्यथा ॥ ४४ ॥
अभ्यासभास्वति तपत्यवनौ वने च
वीरस्य सिद्ध्यति न यन्न तदस्ति किञ्चित् ।
अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति
सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने अभ्यासप्रशंसा नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

देहरूपी पृथ्वी पर चिरकालिक आत्मविचाराभ्यास-रूपी सूर्य अपनी अभीष्ट वस्तु को परम प्रेम के विषय आत्मा को उस तरीके से दिखलाता है, जिस तरीके से कि उत्तम जन्म लेनेवाले अधिकारीजन राग, द्वेष, जन्म, मरण आदि हजारों अनर्थों को पैदा करने वाली इन्द्रियरूप रात्रि को न देख पावें ॥ ४० ॥

जितने प्राणी हैं, उन सब के लिए सदा ही सब वस्तुओं का प्रकाश करने वाला एक अध्यासरूपी सूर्य सर्वोच्च है ॥ ४१ ॥

चौदह भुवनों में स्थित चौदह प्रकार की जो प्राणियों की जातियाँ हैं, उनमें किसी भी प्राणी की स्वाभाविक अभीष्ट वस्तु अभ्यास के बिना सिद्ध नहीं होती है ॥४२॥

किसी एक का बार-बार करना ही अभ्यास कहा जाता है। उसी का इस शास्त्र में पुरुषार्थ शब्द से पहले अनेक रूप में वर्णन किया गया है, पुरुष प्रयत्न और परम-पुरुषार्थ रूप फल भी वास्तव में वही है, इसलिए अभ्यास के बिना यहाँ किसी की गति हो ही नहीं सकती है ॥ ४३ ॥

दृढ़ अभ्यास शब्द से कहा जाने वाला प्रयत्न नामक अपने कर्म से सिद्धि मिलती है, दूसरे से नहीं, यही सत्कर्म अपने विवेक के कारण उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

इन्द्रियों पर विजय पाने में समर्थ वीर पुरुष के लिए अभ्यासरूपी सूर्य के तपते रहने पर भूमि में, जल में या आकश में ऐसी कोई अभिलषित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती है। भूमण्डल पर तथा समस्त निर्जन पर्वत की गुहाओं में जितने भय के कारण बाघ, साँप आदि हैं, वे सब अभ्यासवान् पुरुष के लिए अभय हेतु बन जाते हैं यानी अभ्यासी को उनसे तनिक भी भय नहीं होता है। वे अभयरूप बन जाते हैं ॥ ४५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में अभ्यासप्रशंसा नामक कुसुमलता का सड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६७ ॥

६८

विद्याधर्युवाच

ततः प्राचीनमभ्यासं बोधधारणयाऽमले ।
कुर्वः प्रकटतां तेन जगदेष्यति शैलगम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

युक्तियुक्ते तयेत्युक्ते विद्याधर्या धरोरसि ।
बद्धपद्मासनोऽथाहं समाधावुदितोऽभवम् ॥ २ ॥

६८

विद्याधारी ने कहा—दृढ़ाध्यास नामक समाधिरूप यत्न के बिना देहादि में आधिभौतिकता की स्थूलता की भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो सकती है और आतिवाहिक भाव का भी, सूक्ष्म भाव का भी आविर्भाव नहीं हो सकता है। आतिवाहिक भाव के बिना दूसरे सर्ग की स्थिति भी साक्षिप्रत्यक्ष से नहीं देखी जा सकती है। इसलिए निर्मल परमात्मा में सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणा से अपना हम प्राचीन आतिवाहिक भाव का अभ्यास पुनः करें, उसी उपाय से शिला के अन्तर्गत जगत् प्रकट होगा, जिसका मैंने आप से वर्णन किया है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह उस पर्वत के ऊपर उस विद्याधारी के युक्तियुक्त वचन कहने पर मैं पद्मासन जमाकर समाधि के लिए उद्यत हो गया ॥ २ ॥

सर्वार्थभावनात्यागे चिन्मात्रैकान्तभावितः ।
अत्यजं तमहं पूर्वकथार्थकलनामलम् ॥ ३ ॥
अथ चिद्व्योमतां प्राप्तः परां दृष्टिमहं गतः ।
शरत्समयसम्प्राप्तौ व्योम निर्मलतामिव ॥ ४ ॥
ततः सत्यावधानैकघनाभ्यासेन देहके ।
ममाधिभौतिकभ्रान्तिर्नूनमस्तमुपागता ॥ ५ ॥
उदयास्तमयोन्मुक्ता सततोदयमप्यपि ।
महाचिद्व्योमता स्वच्छा प्रोदितेव तदाऽभवत् ॥ ६ ॥
अथ पश्याम्यहं यावत्स्वस्यैवामलतेजसा ।
वस्तुतस्तु न चाकाशं नोपलः परमेव तत् ॥ ७ ॥
परमार्थघनं स्वच्छं तत्तथा भाति तादृशम् ।
तथा भावनया ह्यात्मा मदीयो दृष्टवांस्तथा ॥ ८ ॥

उस समाधि में सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों की कल्पना का त्याग हो जाने पर चिन्मात्र एकरूप होकर मैंने उस पूर्वयथार्थ की आधिभौतिक देहादि की भावना और उसके संस्कारमल का भी बिल्कुल त्याग कर दिया ॥३॥

जैसे शरत्काल में आकाश निर्मलता को प्राप्त होता है वैसे ही अनन्तर चिदाकाशरूपता को प्राप्त होकर मैं दिव्य दृष्टि को प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

अनन्तर सत्य परमात्मा के दृढ़ अभ्यास से देह में मेरी आधिभौतिकताभ्रान्ति निश्चितरूप से अस्त हो गई है ॥ ५ ॥

उस समय उदय एवं अस्त से रहित नित्य अनावृत स्वप्रकाशरूपा, अतिनिर्मल, महाचिदाकाशरूपता एक तरह से प्रकट हो गई ॥ ६ ॥

इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेज से देखने लगा, तो मुझे वस्तुतः न तो वह आकाश दीख पड़ा और न वह पत्थर ही वहाँ दीख पड़ा। उस समय सब कुछ मुझे परमार्थमय ही दीख पड़ा ॥ ७ ॥

उस तरह का वह परमार्थघन स्वच्छ परमतत्त्व ही भासमान हो रहा है तथा वह परमतत्व ही मेरा आत्मा स्वरूप है। उसीने पत्थर की भावना से वह पत्थर देखा ॥ ८ ॥

विशुद्ध केवल चिदाकाश ही वहाँ पत्थर शिला के रूप से वैसे ही स्फुरित हो रहा था जैसे स्वप्न में अपने घर के भीतर विशाल एक पत्थर के रूप से देखी गई शिला केवल चिदाकाशरूप ही है ॥ ९ ॥

वह व्यहार वैसा ही है जैसे स्वप्न में ही, अज्ञानवश

यथा स्वप्ने सुमहती दृष्टा गेहगता शिला ।
व्योमैव केवलं तद्वत्सुशुद्धं चिन्नभःशिला ॥ ९ ॥
स्वयं स्वप्नान्वितोऽन्यस्य स्वप्नपुंस्त्वं गतो नरः ।
स्वप्नेऽज्ञानप्रबुद्धस्य यादृक्तादृक्स्वरूपतः ॥ १० ॥
स्वप्नस्थानां शिरश्छिन्नं येषां ते संसृतौ स्थिताः ।
कालेन ज्ञानलाभेन विना कुर्वन्तु किं किल ॥ ११ ॥
बोधः कालेन भवति महामोहवतामपि ।
यस्मान्न किञ्चनाप्यस्ति ब्रह्म तत्त्वादृतेऽक्षयम् ॥ १२ ॥
अतस्तच्चिद्घनं स्वच्छं ब्रह्माकाशं शिलाकृति ।
दृष्टं मया तथा तत्र न तु पृथ्व्यादि सत् क्वचित् ॥१३॥
भूतानामादिसर्गे यच्छुद्धं यत्पारमार्थिकम् ।
वपुस्तदेव ह्येतेषां ध्यानलभ्यमवस्थितम् ॥ १४ ॥

'मैं स्वप्न से जग गया' ऐसा मान रहे किसी अन्य पुरुष के स्वप्नदृश्य पुरुषरूपता को प्राप्त हुआ। स्वप्नयुक्त पुरुष स्वयं अपने को स्वरूपतः जैसा 'मैं प्रबुद्ध हूँ' ऐसा प्रतिभासित होता है ॥ १० ॥

स्वप्न में स्थित जिन पुरुषों का सिर कट चुका है वे स्वप्न-संसार में स्थित होकर ज्ञान के बिना क्या कर सकते हैं, ऐसे ही संसार में स्थित जीव कालवश ज्ञान प्राप्ति के बिना क्या कर सकते हैं। अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के पहले क्या कर सकते हैं, इसलिए स्वप्न में आहत हुए पुरुषों का जागरण के उपायभूत देह के न रहने से अगत्या यही कहना पड़ता है कि स्वप्न में ही उनकी जागरण-रूपता है ॥ ११ ॥

अज्ञानरूपी निद्रायुक्त पुरुषों को जो समय पाकर बोध होता है ज्ञानरूप जागरण होता है वही उनका मुख्य प्रबोध है जागरण है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व के सिवा अक्षय कोई दूसरा पदार्थ जागरण या स्वप्न में नहीं है। अर्थात् इसलिए मूलाज्ञानरूपी निद्रा के उच्छेद से स्वरूप का प्रतिबोध ही इस जीव का मुख्य प्रतिबोध है। इसके प्रतिबोध है इसके विपरीत तो यही कहना पड़ेगा कि स्वप्न में ही व्यर्थ जागरण का अभिमान है ॥ १२ ॥

यही कारण है कि मैंने स्वरूप बोध के पहले जिसकी आकृति शिलामय देखी थी, उस स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाश को मैंने चेतनघन सद्रूप देखा, पृथ्वी आदि के विकार के रूप से कहीं नहीं देखा ॥ १३ ॥

भूतों की आदि सृष्टि में स्थित शुद्ध और परमार्थिक ब्रह्मरूप ही तत्त्वज्ञानियों के ध्यान से लभ्य इन सभी प्राणियों का शरीर स्थित है ॥ १४ ॥

ब्राह्मं वपुर्हि भूतानामात्मीयं यत्पुरातनम् ।
तदेवाद्य मनोराज्यं सङ्कल्प इति कथ्यते ॥ १५ ॥
सत्तातिवाहिको देहस्तत्परं परमार्थतः ।
प्रत्यक्षं परमं यत्तत्तदाद्यं कचनं चितः ॥ १६ ॥
उद्यत्प्रथममध्यक्षं जीवस्य प्रथमं वपुः ।
मनःप्रत्यक्षमित्युक्तं तत्तेनाद्यैव दुर्धिया ॥ १७ ॥
योगिप्रत्यक्षमित्युक्तं मनःप्रत्यक्षमित्यपि ।
तत्स्वमेव चितो रूपं गतमेवाऽन्यतां मुधा ॥ १८ ॥
इदमद्यतनं नाम प्रत्यक्षमसदुत्थितम् ।
असत्प्रत्यक्षमेवेति विद्धि प्रत्यक्षमङ्ग तत् ॥ १९ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं प्राक्प्रत्यक्षे परोक्षता ।
निर्णीताऽस्मिंस्त्वनध्यक्षे प्रत्यक्षकलनाऽऽगता ॥ २० ॥

ब्रह्म का आत्मीय पुरातनरूप ही भूतों का अपना पारमार्थिकरूप है वह मनोराज्य या सङ्कल्प तुल्य ही है। उसी को इस समय मूढ़ लोग जगत् के नाम से कहते हैं ॥ १५ ॥

वह मायाशवल ब्रह्म ही सत् कहा जाता है। उसमें चिति की जगत् के संस्कार से युक्त अंश की सत्ता को आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर कहते हैं और उसका जो वह नित्य अपरोक्ष शुद्ध चिदंश है वही उसका स्वरूप-स्फुरण है ॥ १६ ॥

सृष्टि के आकार से उदित हो रहा यही चित्सत्तारूप प्रथम प्रत्यक्ष चिदाभासात्मक जीव का हिरण्यगर्भ संज्ञक समष्टिरूप आतिवाहिक शरीर होता है और वही फिर समष्टि भाव को अपनी दुर्बुद्धि से भूलकर शीघ्र ही जब व्याष्टि भाव को प्राप्त कर लेता है तब सर्वजन प्रत्यक्ष मन, इस नाम से कहा जाता है। इसीलिए तो हमने आप से पहले यह कहा है कि जीव का आतिवाहिक शरीर मन है ॥ १७ ॥

इस प्रकार स्वयं वही चिति का रूप अज्ञान के कारण व्यर्थ ही अन्यरूपता को प्राप्त हो गया है। समष्टिरूप से वह योगियों को प्रत्यक्ष है, इसलिए वह योगि प्रत्यक्ष और व्यष्टिरूप से सर्वजन साधारण को प्रत्यक्ष है, इसलिए मनःप्रत्यक्ष भी कहा गया है ॥ १८ ॥

इस समय यह मनःप्रत्यक्ष आधिभौतिक देह आदि की कल्पना द्वारा अत्यन्त असद्रूप से ही उदित हुआ है, अतः इसे आप असत् प्रत्यक्ष ही समझें और उस योगी प्रत्यक्ष को आप सत् यानी याथात्म्य की स्फूर्ति होने से

आतिवाहिकदेहत्वं प्रत्यक्षं प्रथमोदितम् ।
सत्यं सर्वगतं विद्धि मायैव त्वाधिभौतिकम् ॥ २१ ॥
अनुभूतापि नास्त्येव हेम्नः कटकता यथा ।
तथाऽऽतिवाहिकस्याऽऽधिभौतिकत्वं न विद्यते ॥ २२ ॥
भ्रममभ्रमतां यातमभ्रमं भ्रमतां गतम् ।
वेत्ति जीवो विचारेण विनाऽहो नु विमूढता ॥ २३ ॥
आधिभौतिकदेहोऽयं विचारेण न लभ्यते ।
आतिवाहिकदेहस्तु किल लोकद्वयेऽक्षयः ॥ २४ ॥
आधिभौतिकचिद्रूढा ह्यातिवाहिकदेहके ।
मरौ मरीचिकास्वेव यथा मिथ्यैव वारिधीः ॥ २५ ॥
जाताधिभौतिकी संविदातिवाहिकचित्क्रमे ।
देहदृष्टिवशात्प्रौढा स्थाणौ पुरुषधीरिव ॥ २६ ॥

मुख्य प्रत्यक्ष जाने ॥ १९ ॥

अहो, परमेश्वर की यह माया विचित्र है, प्राक् प्रत्यक्ष में अर्थात् साक्षी चेतन की समष्टि मन की प्रत्यक्षता में परोक्षता हो रही है और इस अप्रत्यक्ष मन में प्रत्यक्ष की कल्पना आ गई है ॥ २० ॥

चित् में सर्व प्रथम स्फुरित होने से सूक्ष्म शरीर ही प्रत्यक्ष होता है, उसी को आप सत्य और सर्वगत समझें। यह आधि भौतिक स्थूल शरीर तो माया ही है ॥ २१ ॥

सूक्ष्म शरीर में आधि भौतिकता स्थूल शरीरता भी वैसे ही वस्तुतः नहीं है जैसे अनुभव करने पर सुवर्ण में कटकता एकदम नहीं है ॥ २२ ॥

यह जीव भ्रम में अभ्रम रूपता और अभ्रम में भ्रम रूपता प्राप्त है विचार न रहने के कारण यह समझता है। अहो, यह कैसी मूढ़ता है ॥ २३ ॥

बहुत विचार कर देखने से यह आधि भौतिक स्थूल स्थूल शरीर उपलब्ध नहीं होता और आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर तो मोक्ष पर्यन्त इस लोक और परलोक में भी समस्त व्यवहार का निर्वाहक होने से अक्षय है ॥ २४ ॥

जैसे मरुभूमि की मृगतृष्णा में जल बुद्धि व्यर्थ ही प्रादुर्भूत होती है वैसे ही सूक्ष्म शरीरोपहित चिति में आधि भौतिकता की प्रथा स्थूल शरीररूपता की बुद्धि मिथ्या ही प्रादुर्भूत हुई है ॥ २५ ॥

जैसे स्थाणु में पुरुष बुद्धि है वैसे ही सूक्ष्म शरीरोपहित चिति क्रम में उत्पन्न हुई आधि भौतिकी बुद्धि स्थूल बुद्धि स्थूल शरीर की दृष्टि की वश से प्रौढ़ हो गई है ॥ २६ ॥

शुक्तौ रजतता तापे जलतेन्दौ यथा द्विता ।
आधिभौतिकता तद्वन्माययैवातिवाहिके ॥ २७ ॥
यदसत्तत्कृतं सत्यं यत्सत्यं तदसत्कृतम् ।
अहो नु मोहमाहात्म्यं जीवस्याऽस्याऽविचारजम् ॥२८॥
योगिप्रत्यक्षमेवास्ति किञ्चिदस्ति तु मानसम् ।
यस्माल्लोकद्वयाचारस्ताभ्यामेव प्रसिध्यति ॥ २९ ॥
आद्यं प्रत्यक्षमुत्सृज्य यः सत्येऽस्मिन्कृतस्थितिः ।
प्रत्यक्षे मृगतृष्णाम्बु पीत्वा स सुखमास्थितः ॥ ३० ॥
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ।
अकृत्रिमनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ ३१ ॥
प्रत्यक्षेणैवमध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रविचार्यताम् ।
यदाद्यं तत्सदध्यक्षं तत्प्रत्यक्षेण दृश्यताम् ॥ ३२ ॥

सूक्ष्म शरीर में स्थूल बुद्धि भी वैसे ही माया ही है जैसे शुक्ति में रजत, जैसे मृगतृष्णा में जल और जैसे चन्द्रमा में दो चन्द्र की बुद्धि मिथ्या है ।। २७ ।।

अहो ! इस जीव के अविचार से उत्पन्न मोह के माहात्म्य को तो देखिये, उसने जो असत् है उसे सत्य और जो सत्य पदार्थ है उसे असत् बना दिया है ॥ २८ ।।

वास्तव में तो योगियों की प्रत्यक्ष भूत चिति-स्फूर्ति ही सत्य है और मानस स्पन्द तो कुछ है, क्योंकि दोनों लोकों का सारा व्यवहार इन्हीं स्फूर्ति और स्पन्दन से सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

जो मनुष्य इस आद्य सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्ष को छोड़-कर इस स्थूल शरीर प्रत्यक्ष में सत्य बुद्धि करके स्थित है वह मानो मृगतृष्णा का जल पीकर मुख से स्थित है आशय यह है कि जो सर्व साधारण को प्रत्यक्ष है, एक-मात्र उसी में सब कुछ छोड़ छाड़ कर योग से स्थिरता सम्पादन करनी चाहिए, केवल पामर जनों के प्रसिद्ध ऐहिक स्थूलादि के प्रत्यक्ष में नहीं ।। ३० ।।

क्षण भर में ही नाश के अनुभव से तत्त्वज्ञान महानुभाव लोग जो विषय सुख है उसको दुःख रूप ही कहते हैं तथा अकृत्रिम, अनादि, अनन्त जो सुख है उसी को वास्तविक सुख बतलाते हैं आशय यह है कि योगियों के अनुभव सिद्ध सर्व साधारण सुख में परम पुरुषार्थरूपता जाननी चाहिए, पामर जन प्रसिद्ध में नहीं ॥ ३१ ।।

इस तरह साक्षी चेतन द्वारा आप प्रत्यक्ष विचार कीजिये तथा स्वयं अपने अनुभव से देखिये, जो सबका आदि साक्षी चित् का प्रत्यक्ष है वही वास्तविक सुख है ।। ३२ ।।

लोकत्रयानुभवदं त्यक्त्वा प्रत्यक्षमैहिकम् ।
मायात्मकं यो गृह्णाति नास्ति मूढतमस्ततः ॥ ३३ ॥
आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः ।
अत्राऽऽधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥ ३४ ॥
अजातसङ्कल्पमयं प्रत्यक्षं सत्कथं भवेत् ।
स्वयमेव नयत् सत्यं तत्स्यात्करं कथम् ॥ ३५ ॥
यत्र प्रत्यक्षमेवासदन्यत् किं तत्र सद्भवेत् ।
क्व तत्सत्यं भवेद्वस्तु यदसिद्धेन साध्यते ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्ष एव भावत्वे नष्टे क्वेवानुमादयः ।
उह्यन्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा ॥ ३७ ॥
अतः प्रमाणसंसिद्धं दृश्यं नास्त्येव कुत्रचित् ।
अनन्यदिदमस्तीव तत्तद्ब्रह्मघनं घनम् ॥ ३८ ॥

तीनों लोक के अनुभव देने वाले सूक्ष्म चित् प्रत्यक्ष को छोड़ कर ऐहिक स्थूल प्रत्यक्ष को ग्रहण करने वाले से बढ़ कर और कोई दूसरा भारी मूर्ख नहीं है ।। ३३ ।।

सम्पूर्ण भूतों का सूक्ष्म शरीर है वही वास्तव में सत् है । इसमें स्थूल शरीर की प्राप्ति असत्य पिशाचिका ही है ॥ ३४ ॥

अनुत्पन्न और सङ्कल्पमय प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है तथा स्वयं ही सत् नहीं कार्यकारी कैसे हो सकता है आशय यह है कि जहाँ मिथ्या सङ्कल्पमय का जन्म ही दुर्लभ है वहां उसकी सत्ता तो अत्यन्त दुर्लभ है ही, फिर फिर उस असत् पदार्थ में अर्थ क्रिया की सामर्थ्य तो उससे भी और बहुत दूर है ।। ३५ ।।

प्रत्यक्ष साधक चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही योगियों की दृष्टि में असत् हैं होने से सिद्ध अन्य पदार्थ क्या सत् हो सकते हैं । क्योंकि जिस वस्तु की सिद्धि असत् से की जाती है वह कहाँ सत् होती है ! असत् से सिद्ध हुए पदार्थ की सत्ता कहीं पर भी देखने में नहीं आती है ।। ३६ ॥

प्रत्यक्ष में ही भावत्व नष्ट होने से यानी जब प्रत्यक्ष की ही सत्ता सिद्ध नहीं है उसके अधीन अनुमान आदि प्रमाणों की कहां गति है ? जहां बड़े-बड़े हाथी बह जाते भेड़ों की क्या कथा है ।। ३७ ।।

प्रमाणसिद्ध दृश्य प्रपञ्च कहीं भी नहीं है । यह सद्रूप एक 'अस्तीव' भासित हो रहा है वह नमक के टुकड़े के समान चिद्घन ब्रह्म ही है ॥ ३८ ।।

स्वप्ने द्रष्टुः खमेवाद्रिर्गृहे नान्यस्य वै यथा ।
तथा तद्भावनवतोरावयोः सा शिलेव चित् ॥ ३९ ॥
अयं शैल इदं व्योम जगदेतदिदं त्वहम् ।
इति चिन्मय आत्मान्तः खं चमत्कुरु ते स्वयम् ॥ ४० ॥
पश्यत्येतत्प्रबुद्धात्मा नाप्रबुद्धः कदाचन ।
श्रोतुः कथार्थसंवित्तिर्नाश्रोतुर्भवति क्वचिद् ॥ ४१ ॥
अप्रबुद्धमिति भ्रान्तिरेवेयं सत्यतां गता ।
क्षीबस्य सुस्थिरा एव नृत्यन्ति तरुपर्वताः ॥ ४२ ॥
सर्वत्राप्रतिहतमेकरूपबोधं
प्रत्यक्षं शिवमनुबुध्य चित्स्वरूपम् ।
प्रत्यक्षान्तरमिह पेलवं श्रयन्ते
ये मूढास्तृणतनुभिः शठैरलं तैः ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने प्रमाणाप्रतिसिद्धचा दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

शिला की भावना से युक्त हम दोनों को यह दृश्य भी शिला वैसे ही चिद्रूप ही है जैसे स्वप्न में पर्वत देखनेवाले का प्रसिद्ध स्वप्न उस समय भी शून्यरूप ही है, क्योंकि उसी घर और उसी समय में जाग रहे या सो रहे किसी अन्य पुरुष को वह पर्वत नहीं है ॥ ३९ ॥

यह शैल, यह आकाश, यह जगत् और यह मैं इत्यादि सब कुछ चिन्मय आत्मा ही चिदाकाशरूप से स्वयं अपने स्वरूप में भासमान होता है ॥ ४० ॥

इस तरह सब कुछ चिन्मय आत्मा ही भासमान होता है, कोई दूसरा नहीं, यह प्रबुद्धात्मा ही देखता है, अप्रबुद्धात्मा कभी नहीं देखता है। रामायण आदि कथा का अर्थज्ञान सुननेवाले को ही होता है, जो कथा नहीं सुनता उसको उसका अर्थज्ञान भी कभी नहीं होता ॥ ४१ ॥

अज्ञानी को ही यह जगत् की भ्रान्ति सत्यरूपता को प्राप्त है। मदिरा पीकर मतवाले बने हुए पुरुष को ही सुस्थिर ये वृक्ष तथा पर्वत आदि नाचते दिखाई देते हैं ॥ ४२ ॥

योगिप्रत्यक्ष सर्वत्र अप्रतिहत, एकबोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्स्वरूप का बोध करके भी बाधित हुए उस चक्षुः आदि अन्य प्रत्यक्ष का तुच्छ होते हुए भी प्रमाणरूप से आश्रय लेने वाले वे मूढ़ आत्मवञ्चक तृण के समान नगण्य हैं, उनसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में प्रमाणाप्रतिसिद्ध दृश्यानुपपत्ति वर्णन नामक कुसुमलता का अड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

६९

वसिष्ठ उवाच

जगदङ्गमनाभासमदृश्यं दृश्यवत्स्थितम् ।
परया दृश्यते दृष्ट्या तद्ब्रह्मैव निरामयम् ॥ १ ॥
तत्र शैलसरित्स्रोतोलोकालोकान्तरभ्रमाः ।
भान्ति ते परमादर्शे महाव्योमनि बिम्बिता ॥ २ ॥
सा प्रविष्टा ततः सर्गं तमनर्गलचेष्टिताः ।
अहमप्यविशं तत्र सङ्कल्पात्मा तया सह ॥ ३ ॥
यावत्सा तत्र वैरिञ्चं लोकमासाद्य सोद्यमा ।
उपविष्टा विरिञ्चस्य पुरः परमशोभना ॥ ४ ॥

६९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जिसके समस्त जगत् एक तरह के अवयव के समान हैं, ऐसे सूर्य आदि ज्योतियों से अगम्य तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय परब्रह्म ही दृश्य-सा बनकर स्थित है, वह निरामय परब्रह्म समाधि की दिव्य दृष्टि से दीख पड़ता है अर्थात् जगत् परब्रह्म की ज्योति से ही प्रकाशित हो रहा है, अतः जगत् भी वास्तव में निर्विकार ब्रह्मरूप ही है ॥ १ ॥

पर्वत, नादियों, झरने तथा लोकालोकान्तर आदि के जितने भ्रम हैं वे सब उसी ब्रह्म में दीख पड़ते हैं। ये महाकाशरूपी उत्कृष्ट दर्पण में प्रतिबिम्ब हैं ॥ २ ॥

अनन्तर अवाध गतिवाली वह विद्याधारी उस शिखर शिला के पेट में स्थित जगत् में प्रविष्ट हो गई, सङ्कल्परूप मैं भी उसके साथ उसके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥३॥

अनन्तर उद्यमशील तथा परम शोभावाली वह विद्याधारी वहाँ के ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्माजी के सम्मुख बैठ गई और बैठकर मुझ से कहने लगी—हे मुनि श्रेष्ठ ! ये मेरे पति हैं, ये मेरी रक्षा करते हैं, विवाह के लिए इन्होंने ही मेरा मन से उत्पादन किया था, यद्यपि

वक्त्ययं नुनिशार्दूल ! पतिर्मे पाति मामिमाम् ।
विवाहार्थमनेनाहं जनिता मनसा पुरा ॥ ५ ॥
पुराणः पुरुषोऽप्येष मामप्यद्य जरागताम् ।
न विवाहितवांस्तेन विरागमहमागता ॥ ६ ॥
विरागमेषोऽप्यायातो गन्तुमिच्छति तत्पदम् ।
यत्र न द्रष्टृता नैव दृश्यता न तु शून्यता ॥ ७ ॥
महाप्रलय आसन्नो जगत्यस्मिंश्च सम्प्रति ।
ध्यानान्न च चलत्येष शैलमौनादिवाऽचलः ॥ ८ ॥
तस्मान्मामेनमपि च बोधयित्वा मुनीश्वर ! ।
आमहाकल्पसर्गादौ परमे पथि योजय ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा मामसौ तस्य बोधायेदमुवाच ह ।
नाथायं मुनिनाथोऽद्य सद्म सम्प्राप्तवानिदम् ॥ १० ॥
एषोऽन्यस्मिन् जगद्गेहे ब्रह्मणस्तनयो मुनिः ।
पूजयैनं गृहायातं गृहस्थगृहपूजया ॥ ११ ॥

आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसी से अब मुझे वैराग्य हो गया है, इन्हें भी वैराग्य आ गया है, ये उस परम पद में जाने की इच्छा रखते हैं, जहाँ न तो कोई द्रष्टृता है, न दृश्यत्व है और न शून्यत्व ही है। जबतक वह विद्याधारी यह मुझ से कह रही थी, तबतक इस जगत् में महाप्रलय काल समीप आ रहा था। फिर उस विद्याधारी ने कहना आरम्भ किया हे भगवन् ! अभी-भी ये अपने ध्यान से विचलित नहीं होते, पर्वत के सदृश अपनी मुनिवृत्ति से मानो ये अचल पर्वत ही लगते हैं ॥ ४–८ ॥

हे मुनीश्वर, इसलिए मुझे और इन्हें भी बोध देकर उस परब्रह्म के मार्ग में लगाने की कृपा कीजिये, जो वैज्ञानिक प्रलय तक के सारे संसारों का मूलभूत कारण है ॥ ९ ॥

उस विद्याधारी ने वैसा मुझ से कहकर फिर उस ब्रह्माजी को जगाने के लिए यह कहने लगी—हे स्वामिन् ! आज अपने इस घर में ये सब मुनियों के श्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी पधारे हैं, ये मुनि दूसरे जगद्रूप घर में रहनेवाले ब्रह्माजी के पुत्र हैं। हे नाथ ! गृहस्थ पुरुषों के घर में होनेवाली समुचित पूजा से अपने घर पर पधारे हुए इनका सत्कार कीजिए ॥ १०–११ ॥

ये मुनिश्रेष्ठ पूज्य हैं, इसलिए अर्घ्य, पाद्य आदि से इनकी पूजा कीजिये। जो बड़े-बड़े आप के सदृश महात्मा हैं, उन्हें उत्तम पूजा से प्राप्त होने वाला महाफल ही

बुद्ध्यतामर्घ्यपाद्येन पूज्यतां मुनिपुङ्गवः ।
महन्महत्सपर्याभिर्महात्मभ्यो हि रोचते ॥ १२ ॥
तयेत्युक्ते महाबुद्धिर्बुबुधे स समाधितः ।
स्वसंवित्तिद्रवात्मत्वादावर्त इव वारिधौ ॥ १३ ॥
शनैरुन्मीलयामास नयने नयनकोविदः ।
मधुः शिशिरसंशान्तावनौ कुसुमे यथा ॥ १४ ॥
शनैः प्रकटयामासुस्तान्यङ्गान्यस्य संविदम् ।
मधुपल्लवजालानि नवानीव नवं रसम् ॥ १५ ॥
सुरसिद्धाप्सरःसङ्घाः समाजग्मुः समन्ततः ।
यथा हंसालयो लोलाः प्रातर्विकसितं सरः ॥ १६ ॥
ददर्शासौ पुरः प्राप्तं मां च तां च विलासिनीम् ।
उवाचाथ वचो वेधाः प्रणवस्वरसुन्दरम् ॥ १७ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

करामलकवद्दृष्टसंसारासारसार हे ।
ज्ञानामृतमहाम्भोद मुने ! स्वागतमस्तु ते ॥ १८ ॥

रुचता है ॥ १२ ॥

उस विद्याधारी के द्वारा वैसा कहने पर महामेधावी वह मुनि समाधि से समुद्र में आवर्त के समान उठे, अपनी आत्मा के पहचानने निमित्त द्रवीभूत हो गये थे ॥ १३ ॥

जैसे मधुमास (वसन्त) शिशिर में शान्त भूमि पर पुष्परूपी अपनी आँखें खोलता है वैसे ही उस नीतिज्ञ विद्वान् ने अपने नेत्र खोले ॥ १४ ॥

जैसे वसन्त सम्बन्धी पल्लव नवीन रस को प्रकट करते हैं यानी नवीन रस से युक्त होने लगते हैं वैसे ही बाद में धीरे-धीरे उसके वे समस्त हाथ-पैर आदि अङ्ग-अपने-अपने ज्ञान को प्रकट करने लगे अपनी-अपनी चेतना से युक्त जैसे होने लगे ॥ १५ ॥

जैसे प्रातःकाल में खिले हुए कमलों से युक्त सरोवर पर चञ्चल हंस पंक्तियाँ आती हैं वैसे ही देव, सिद्ध और अप्सराएँ चारों तरफ से आ धमकी ॥ १६ ॥

उस ब्रह्मा ने सामने उपस्थित हमको और विलसिनी उस रमणी को देखा। देखने के बाद उन्होंने कहा। उनका वचन ॐकारपूर्वक स्वरोचार के कारण बड़ा ही रम्य लगता था ॥ १७ ॥

शिलोदर जगत् के ब्रह्माजी ने कहा—हे हाथ में आँवले के सदृश असार संसार के तत्त्व को जानने वाले ! हे ज्ञानरूपी अमृत बरसाने वाले महामेघ ! हे मुने ! आप का स्वागत हो ॥ १८ ॥

पदवीमपि सम्प्राप्त इमामतिदवीयसीम् ।
दूराध्वसुपरिश्रान्त इदमासनमास्यताम् ॥ १९ ॥
इत्युक्ते तेन भगवन्नभिवादय इत्यहम् ।
वदन्मणिमये पीठे निविष्टो दृष्टिदर्शिते ॥ २० ॥
अथामरर्षिगन्धर्वमुनिविद्याधरोदिताः ।
प्रस्तुताः स्तुतयः पूजा नतयः स्थितिनीतयः ॥ २१ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण सर्वभूतगणोदिते ।
शान्ते प्रणतिसंरम्भे तस्योक्तं ब्रह्मणो मया ॥ २२ ॥
किमिदं भूतभव्येश ! यदिदं मामुपागता ।
वक्ति ज्ञानगिराऽस्मांस्त्वं बोधयेति प्रयत्नतः ॥ २३ ॥
भवान् भूतेश्वरो देव सकलज्ञानपारगः ।
इयं तु काममूर्खा किं ब्रूते ब्रूहि जगत्पते ! ॥ २४ ॥
कथमेषा त्वया देव ! जायार्थं जनिता सति ।
नेह जायापदं नीता नीता विरसतां कथम् ॥ २५ ॥

आप इस अतिदूरातिदूरवर्ती स्थान में पधारे हैं, अतः लम्बे मार्ग के कारण खूब थक गये होंगे, आप इस आसन पर बैठें ॥ १९ ॥

उस जगत् के ब्रह्माजी के वैसा कहने पर 'हे भगवन् ! आपको अभिवादन करता हूँ' मैं नेत्र के इशारे से दर्शित मणिमय आसन पर बैठ गया ॥ २० ॥

अनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि, विधाधर आदि द्वारा गायी गई उनकी स्तुतियाँ आरम्भ हुई, फिर पूजा हुई और फिर नमस्कार हुए। अनन्तर यथायोग्य परस्पर व्यवहार की नीति सम्पन्न हुई ॥ २१ ॥

अनन्तर एक मुहूर्त मात्र में देव, गन्धर्व आदि भूत-गणों के द्वारा वाणी से किया गया प्रणामसमारोह जब शान्त हो गया, तब मैंने ब्रह्माजी से कहा ॥ २२ ॥

हे भूतभव्य के स्वामिन् ! वह विद्याधारी यत्नपूर्वक मेरे पास आकर कहती है कि तुम हम लोगों को बोध वचनों से उपदेश दो। क्या उसका यह कहना उचित है या अनुचित ॥ २३ ॥

हे देव ! आप सब प्राणियों के स्वामी हैं, समस्त ज्ञानों के पारङ्गत हैं, अतः यह काममुग्धा स्त्री क्या कह रही है ? इसे जगत्पते ! आप कहें ॥ २४ ॥

हे देव ! आपने अपनी भार्या बनाने के निमित्त इसे क्यों उत्पन्न किया ? उत्पन्न करके क्यों अपनी पत्नी नहीं बनायी, फिर यहाँ उसको वैराग्य की ओर क्यों ले गये ॥ २५ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

मुने ! शृणु यथावृत्तमिदं ते कथयाम्यहम् ।
यथावृत्तमशेषेण कथनीयं यतः सताम् ॥ २६ ॥
अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत् ।
ततश्चित्कचनैकान्तरूपिणा कचितोऽस्म्यहम् ॥ २७ ॥
आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा ।
भविष्यति स्थिते सर्गे स्वयंभूरिति नाम मे ॥ २८ ॥
वस्तुतस्तु न जातोऽस्मि न च पश्यामि किञ्चन ।
चिदाकाशश्चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनावृतः ॥ २९ ॥
यदयं त्वं ममाहन्ते यदिदं कथनं मिथः ।
तत्तरङ्गास्तरङ्गाग्रे रणतीवेति मे मतिः ॥ ३० ॥
एवंरूपस्य मे कालवशतोऽविशदाकृतेः ।
सा कुमार्याश्चिदाभासमात्रस्यान्तः स्वभावतः ॥ ३१ ॥
ममानन्या तवान्यस्य चान्यैवेह विभाति या ।
सोदितानुदितेवान्तर्महमाहमिति वासना ॥ ३२ ॥

अन्य जगत् के ब्रह्माजी ने कहा—हे मुने ! आप सुनें जैसा वृत्तान्त है, मैं वैसा ही आप से कहता हूँ, क्यों कि सज्जनों के सम्मुख जैसी घटना घटी हो, उसे अवश्य पूरी तरह कहनी ही चाहिए ॥ २६ ॥

अज, शान्त, अजर तथा त्रिकाल में बाधित नहीं होने वाली एक कोई मुख्य वस्तु है, इसी का नाम चिति है। इस चिति के एकमात्र प्रकाशन स्वरूप से मैं आविर्भूत हुआ हूँ ॥ २७ ॥

मैं चिदाकाशरूप ही हूँ, सदा अपने ही स्वरूप में स्थित हूँ, और व्यवहार करने वाली प्रजा के सर्ग के उत्पन्न हो स्थिति हो जानेपर उनकी दृष्टि से मेरा नाम स्वयंभू होता है ॥ २८ ॥

तात्त्विक दृष्टि से तो न मैं उत्पन्न हुआ हूँ और न कुछ देखता ही हूँ। सभी प्रकार के आवारणों से निर्मुक्त होकर चिदाकाश स्वरूप मैं चिदाकाश में ही स्थित हूँ ॥ २९ ॥

जो यह तुम, मेरे आगे हो और तुम्हारे आगे मैं हूँ, तथा यह जो अपना परस्पर प्रश्नोत्तररूप संभाषण है, वह तो उस तरह का है, जिस तरह का कि एक ही समुद्र में एक तरङ्गों द्वारा परस्पर आघातों से ध्वनि करता हो, यह मेरा सिद्धान्त है ॥ ३० ॥

इस प्रकार समुद्र से जनित तरङ्गों के समान थोड़ी मात्रा में कल्पित अपनी और दूसरे की दृष्टि से देखे जाने वाले भेदरूप तथा समयवश अपने स्वरूप के थोड़े-से

अनाशसत्तानुदितस्त्वहमात्माऽऽत्मनि स्थितः ।
स्वभावादच्युताकारः स्वात्मारामः स्वयं प्रभुः ॥ ३३ ॥
तस्या अहमिति भ्रान्तेर्वासनाया जगत्स्थितेः ।
सम्पन्नेयमधिष्ठातृदेवता देहरूपिणी ॥ ३४ ॥
वासनाया अधिष्ठातृदेवतैवमियं स्थिता ।
न तु मे गृहिणी नापि गृहिण्यर्थेन सत्कृता ॥ ३५ ॥
स्ववासनावेशवशेन भावं
गृहिण्यहं ब्रह्मण इत्युपेत्य ।
एषा स्वयं व्यर्थमिताऽतिदुःखं
यस्मात्किलैषैव हि वासनाऽन्तः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गप्राप्तिर्नाम एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

विस्मरण के कारण अस्वच्छ स्वरूप चिदाभासरूपी मुझ में स्वभाव से 'मैं और मेरी' इस प्रकार वासना हुई, वह वासना ही इस कुमारी को और तुम्हें अन्य के समान भासमान होती है, परन्तु मुझको तो अनन्य ही भासमान होती है, वह वासना हम दोनों पुरुषों की दृष्टि से उदित है और उदित नहीं भी है ॥ ३१-३२ ॥

मैं तो अविनाशी सत्तावाला हूँ, क्योंकि मैं कभी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, आत्मरूप मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ। स्वभाव से ही मेरा आकार अविनाशी है । मैं स्वात्माराम तथा स्वयं प्रभु हूँ ॥ ३३ ॥

विशुद्धस्वरूप मुझको पूर्व पूर्व के अहङ्कार के संस्कार से उत्पन्न स्मृति जैसी अहम्भ्रान्ति, जगत्स्थिति और वासना उसकी अधिष्ठात्री देवता ही यह शरीररूप होकर स्थित है ॥ ३४ ॥

यह वासना की अधिष्ठात्री देवी ही बैठी है, न तो यह मेरी गृहिणी है और न गृहिणी के निमित्त से इसका मैंने उत्पादन ही किया है ॥ ३५ ॥

यही भीतर की समस्त जगत् की वासना है, इसलिए अपनी वासना के आवेश से यह 'मैं ब्रह्मा की पत्नी हूँ' इस तरह की भावना को अपने ही मन की इच्छा से प्राप्त और उसे प्राप्त कर निरर्थक ही अत्यन्त दुःख को प्राप्त हो गई है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में सर्गप्राप्ति नामक कुसुमलता का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

७०

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

अथाहं चिन्मयाकाशस्त्वन्याकाशमयीं स्थितिम् ।
परां ग्रहीतुमिच्छामि तेनेहोपस्थितः क्षयः ॥ १ ॥
महाप्रलयकालेऽस्मिंस्त्यक्तुमेषा मयाऽधुना ।
मुनीन्द्र ! नूनमारब्धा तेन वैरस्यमागता ॥ २ ॥
आकाशत्वाद्यदाद्योऽयं पराकाशो भवाम्यहम् ।
तदा महाप्रलयता वासनायाश्च संक्षयः ॥ ३ ॥
तेनैषा विरसीभूता मन्मार्गं परिधावति ।
नानुगच्छति को नाम निर्मातारमुदारधीः ॥ ४ ॥
इहाद्यायं कलेरन्तश्चतुर्युगविपर्ययः ।
प्रजामन्विन्द्रदेवानामद्यैवान्तोऽयमागतः ॥ ५ ॥

७०

अन्य जगत् के ब्रह्माजी ने कहा—मैंने अपने सङ्कल्प से कल्पित दो परार्ध वर्ष आयु के व्यतीत कर दिये, अब चिदाकाशरूप मैं सबसे ऊँची निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्माकाशरूप कैवल्यस्थिति लेने की इच्छा कर रहा हूँ, इस कारण से मेरी वासना से बसे बने इस जगत् में नित्य, नैमित्तिक, दैनंदिन और आत्यन्तिक चारों तरह के प्रलय भी उपस्थित हो गये हैं ॥ १ ॥

हे मुनीन्द्र ! इस महाप्रलय में अब इसका मूलोच्छेद कर अपनी सत्ता से गिराने के लिए मैंने आरम्भ किया है, इसलिए इसे वैराग्य हो गया है अर्थात् यह विनाशोन्मुख हो गई है ॥ २ ॥

चित्ताकाश स्वरूप का त्याग कर आद्य चिदाकाश रूप मैं हो रहा हूँ: महा प्रलय का स्वरूप और वासना का विनाश ध्रुव है ॥ ३ ॥

इससे यह विरक्त होकर मेरे मार्ग की ओर दौड़ रही है, ऐसा उदार बुद्धि कौन जीव है, जो अपने जनक के पीछे दौड़ता न हो ॥ ४ ॥

आज ही यहां कलि का समाप्ति काल और चतुर्युगी का विनाश उपस्थित है एवं मनु, इन्द्र, देव आदि प्रजा का भी यह विनाश आ गया है ॥ ५ ॥

अद्यैव चायं कल्पान्तो महाकल्पान्त एव च ।
ममायं वासनान्तोऽद्य देहव्योमान्त एव च ॥ ६ ॥
तेनेयं वासना ब्रह्मन्! क्षयं गन्तुं समुद्यता ।
क्वेव पद्माकराशोषे गन्धलेखावतिष्ठताम् ॥ ७ ॥
यथा जडाब्धिलेखाया जायते लहरी चला ।
वासनायास्तथैवेच्छा मुधोदेत्यपकारणम् ॥ ८ ॥
आभिमानिकदेहाया वासनायाः स्वभावतः ।
अस्या आत्मावलोकेच्छा स्वयमेवोपजायते ॥ ९ ॥
आत्मतत्त्वं नु पश्यन्त्या धारणाभ्यासयोगतः ।
दृष्टोऽनया भवत्सर्गो वर्गव्यग्रनिरर्गलः ॥ १० ॥
अनयाऽम्बरसञ्चारपरयाऽद्रिशिरःशिला ।
दृष्टा स्वजगदाधारभूताऽस्माकं तु खात्मिका ॥ ११ ॥

मेरे कल्प का विनाश आज ही है, वासना विनाश आज ही है और आज ही देहाकाश का भी विनाश है ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्! इसलिए आत्मदर्शन आदि कारणों को लेकर ही यह विद्याधरी रूप वासना विनाश की ओर जाने के लिए उद्यत हुई है। तालाब के सूख जाने पर गन्धलेखा कहां स्थित रह सकती है ॥ ७ ॥

वासना से भी अपने विनाश की हेतु आत्मदर्शनेच्छा वैसे ही स्वभाववश उत्पन्न होती है, उसमें दूसरा कोई भी बाहरी कारण नहीं है जैसे जड़ समुद्रलेखा से चञ्चल लहरी उत्पन्न होती है ॥ ८ ॥

केवल अभिमान शरीरवाली इस वासना को स्वभाव से स्वयं ही आत्मदर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

आत्मा के दर्शन के लिए किये गये धारणाभ्यासरूप योग का फल अन्यान्य ब्रह्माण्ड में गमन आदि सिद्धि ही है, इसलिए उसकी परीक्षा करने की इच्छा ही वहाँ जाने में कारण हुई। वहाँ जाकर इसने आपका वह सर्ग देखा जिसमें धर्मादि के अनुष्ठान में व्यग्र एवं निरर्गल प्रजा रहती है ॥ १० ॥

आकाश में विचरण करने में तत्पर इस विद्याधरी ने अपने जगत् की आधारभूत पर्वत के शिखर की शिला भी उसी सिद्धि की सामर्थ्य से देखा, जो कि हम लोगों की दृष्टि से केवल आकाशरूप ही है ॥ ११ ॥

हम लोगों के अनेक जगद्रूप पदार्थों के अन्दर जिस जगद्रूप पर्वत के ऊपर यह जगत् है और जिसमें उक्त पत्थर की शिलारूपता है ऐसे अनेक दूसरे भी जगत्

एतद्यस्मिन् जगद्यत्र तद्दृषत्वं जगद्गिरौ ।
अस्मज्जगत्पदार्थेषु सन्त्यन्यानि जगन्त्यपि ॥ १२ ॥
वयं तानि न पश्यामो भेददृष्टौ स्थिता इमे ।
बोधैकतां गतास्त्वाशु पश्यामस्तानि वीक्षणात् ॥ १३ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये खेऽनलेऽम्भसि तेजसि ।
जगन्ति सन्ति सर्वत्र शिलायामिव सर्वदा ॥ १४ ॥
जगन्नाम मुधा भ्रान्तिः किल स्वप्नपुरोपमा ।
मिथ्यैवेयं क्व नामासौ चिद्रूपाऽस्त्यथ नास्ति च ॥१५॥
परिज्ञाता सती येषामेषा चिन्नभसैकताम् ।
गता तेन विमुह्यन्ति शिष्टास्तु भ्रमभाजनम् ॥ १६ ॥
अथान्यधारणाभ्यासात्स्वविरागवशोदितम् ।
साधयन्त्यऽर्थमात्मीयं दृष्टस्त्वमनया मुने! ॥ १७ ॥

हैं ॥ १२ ॥

हम लोग भेददृष्टि में बैठे हैं, इसलिए उनको नहीं देखते, परन्तु समाधि से बोध के साथ एकरूप होकर योगदृष्टि से देख सकते हैं ॥ १३ ॥

घट में, पट में, वट में, भीत में, आकाश में, वायु में, जल में, तेज में, सर्वत्र—सभी जगह, शिलोदर के सदृश, अनेक जगत् विद्यमान हैं ॥ १४ ॥

स्वप्ननगर के जैसी जगत् नाम की एक निरर्थक भ्रान्ति ही है, और वह है ठीक यह जगत् की माया भी मिथ्या है, इसलिए मिथ्या भ्रम का अस्तित्व ही कहाँ रहा। यदि उसका अस्तित्व है, तो वह अधिष्ठान चितिरूप हो कुछ ही है, न कि प्रतीयमान जड़रूप है ॥ १५ ॥

यह मायाभ्रान्ति परिज्ञात हो जिनकी दृष्टि में चिदाकाशरूप बन जाती है, उनके लिए तो वह सदा के चली ही गई और बाकी जो लोग बच गये, उनको तो भ्रम के ही पात्र समझ लीजिए ॥ १६ ॥

हे मुने! आपके पास यह किस कारण से आयी यह सुनें। वैराग्य प्राप्ति के अनन्तर अपने विरागवश से इसको आत्मीय अभीष्ट आत्मज्ञान की अनुकूल गुरूपसदन, श्रवण, मनन आदि की इच्छा उत्पन्न हुई और उसे आपके उपदेश से सिद्ध करने की इच्छा रखकर इसने दूसरे जगत्सृष्टि के दर्शन में हेतुभूत धारणा से भिन्न खेचर सिद्धि, ब्रह्माण्डान्तर में गमन आदि सिद्धियों की हेतुभूत चूडालाख्यायिका में वर्णित धारणाओं के अभ्यास से आपके सङ्कल्प से कल्पित आपका समाधिस्थान जानकर वहाँ यह पहुँच गई और पहुँचकर अदृश्य होते हुए भी आपको इसने देख लिया ॥ १७ ॥

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते ।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ॥ १८ ॥
प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते नेह कार्याणि कानिचित् ।
द्रव्यकालक्रियाद्योता चितिस्तपति केवलम् ॥ १९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्ध्यादिकं त्विदम् ।
चिच्छिलाङ्कमेवैकं विद्धघनस्तमयोदयम् ॥ २० ॥
चिदेवेयं शिलाकारमवतिष्ठति बिभ्रती ।
अङ्गमस्या जगज्जालं मरुतः स्पन्दनं यथा ॥ २१ ॥
विज्ञानघनमात्मानं जगदित्यवबुध्यते ।
अनाद्यन्तापि साद्यन्ताऽचित्त्वादिति गतापि चित् ॥२२॥
चिच्छिलेयमनाद्यन्ता साद्यन्तास्तीति बोधतः ।
साकारापि निराकारा जगदङ्गेति संस्थिता ॥ २३ ॥
यद्वत्स्वप्ने चिदेव स्वं रूपं व्योमैव पत्तनम् ।
वेत्ति तद्वदिदं वेत्ति पाषाणं जगदङ्गकम् ॥ २४ ॥
न सरन्तीह सरितो न चक्रं परिवर्तते ।
नार्थाः परिणमन्त्यन्यः कचत्येतच्चिदम्बरम् ॥ २५ ॥
न महाकल्पकल्पान्तसंविदः संविदम्बरे ।
सम्भवन्ति पृथग्रूपाः पयसीव पयोन्तरम् ॥ २६ ॥
जगन्ति सन्त्येव न सन्ति शान्ते
चिदम्बरे सर्वगतैकमूर्तौ ।
नभोन्तराणीव महानभोन्त-
श्चित् सन्ति सत्तानि पराम्बराणि ॥ २७ ॥
वसिष्ठ ! तद्गच्छ मुने ! जगत्स्वं
त्वं चासने सम्प्रति शान्तिमेहि ।
बुद्ध्यादिरूपाणि परं व्रजन्तु
वयं बृहद् ब्रह्मपदं प्रयामः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिलान्तर्जगत्पितामहवाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

वर्णित रीति से जीवचिति की शक्तिरूप अविद्या ऐन्द्रजालिक माया के सदृश चारों ओर फैली हुई है और ब्राह्मी मायाशक्ति, आदि एवं अन्त से शून्य इसी प्रकार चारों ओर फैली हुई विद्यारूप है, क्योंकि आवरणशक्ति न रहने के कारण वह निरामय है ॥ १८ ॥

मुनिवर, यहाँ कोई भी कार्य कभी न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं, केवल चिति ही दृश्य-सी, काल-सी एवं क्रिया-सी प्रकाशित हो तपती है ॥ १९ ॥

देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि आदि सब केवल चितिरूपी शिला की प्रतिकृतियाँ हैं, अतः उनका न उदय है और न अस्त ही है ॥ २० ॥

जैसे वायु के स्पन्दन अङ्ग है वैसे ही शिला की आकृति धारण कर रही यह चिति ही स्थित है, इसी चिति के समस्त जगत् ऐसे अङ्ग हैं ॥ २१ ॥

विज्ञानघन आत्मा को जगत् समझना चिति का ही कार्य है। स्वयं अनादि एवं अनन्त होती हुई भी असली चित्स्वभाव के अपरिज्ञान से देश-वस्तु से जनित परिच्छिन्न भाव को भी प्राप्त चिति ही हो जाती है ॥ २२ ॥

यह जो चितिरूपा शिला है, वह वास्तव में आदि-अन्त से रहित भी भ्रम से आदि-अन्त से युक्त बन जाती है और निराकार होती हुई भी साकार हो जगत्-रूप अङ्गों से युक्त स्थित हो जाती है ॥ २३ ॥

इस जाग्रत्-काल में भी चिति पाषाण को अपना जगत्-रूप अङ्ग वैसे ही समझ लेती है जैसे स्वप्न में चिति अपने ही आकाशवत् निर्मल स्वरूप को नगररूप समझ लेती है ॥ २४ ॥

यहाँ न नदियाँ बहती हैं, न नक्षत्रचक्र घूमता है, न अर्थों का परिणाम हो रहा है, अपने भीतर केवल चिति-रूप आकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥ २५ ॥

संविदाकाश में प्रतीत महाकाल्प और कल्प के अन्त की संवित् भी पृथक् स्वरूप की वैसे ही नहीं हो सकती है जैसे जल में विद्यमान दूसरा जल यानी समुद्र में विद्यमान तरङ्ग आदि पृथक् स्वरूप का नहीं होता है ॥ २६ ॥

ये जगत् स्वतः शून्यरूप होते हुए भी चिति की सत्ता से वैसे ही विद्यामान हैं और अपनी सत्ता से अविद्यमान भी हैं जैसे महाकाश के भीतर दूसरे-दूसरे घटादि आकाश महाकाश की सत्ता से विद्यमान हैं और स्वतः अलग विद्यमान नहीं हैं ॥ २७ ॥

हे वसिष्ठ मुने ! आप अपने भुवन में चले जाँय और वहाँ एकान्त में कल्पित अपने पूर्व के आसन पर समाधि लगाकर विक्षेप-रहित सुख का अनुभव करें। ये मेरे कल्पित बुद्धि आदि जगत् के पदार्थ भी प्रलय प्राप्त कर परम अव्यक्त की ओर चले जायँ। हम लोग भी हिरण्यगर्भ की उपाधिभूत मूल अज्ञान का बाधकर कैवल्य पद में जा जा रहे हैं ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में शिलान्तर्जगत्पितामहवाक्य नामक कुसुमलता का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

७१

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोकजनैः सह ।
बद्धपद्मासनोऽनन्तसमाधानगतोऽभवत् ॥ १ ॥
ओङ्कारार्धोर्धमात्रान्तः शान्तनिःशेषमानसः ।
लिपिकर्मार्पिताकार आसीदाशान्तवेदनः ॥ २ ॥
तमेवानुसरन्ती सा तथैव ध्यानगा सती ।
वासनाऽऽसीदशेषांशा शान्ता चाकाशरूपिणी ॥ ३ ॥
परमेष्ठिन्यसङ्कल्पे तस्मिंस्तानवमेयुषि ।
सर्वगानन्तचिद्व्योमरूपोऽपश्यामहं यदा ॥ ४ ॥
यावत्सङ्कल्पनं तस्य विरसीभवति क्षणात् ।
तथैवाऽऽशु तथैवोर्व्याः साद्रिद्वीपपयोनिधेः ॥ ५ ॥
तृणगुल्मलताशालिसमुद्भवनशक्तता ।
समस्तैवास्तमागन्तुमारब्धा च शनैः शनैः ॥ ६ ॥
किल तस्य विराडात्मरूपस्याङ्गैकदेशताम् ।
सा बिभर्ति मही तेन तदसंवेदनोदयात् ॥ ७ ॥
विचेतना सा विरसा बभूव परिजर्जरा ।
मार्गशीर्षान्तवल्लीव जराविधुरतां गता ॥ ८ ॥
यथाऽस्माकमसंवित्तेरङ्गाली विरसा भवेत् ।
तथा विरिञ्चिसंवित्तेर्धरा वैधुर्यमागता ॥ ९ ॥
सम्पन्ना संहतानेकमहोत्पातभरावृता ।
दुष्कृताङ्गारनिर्दग्धनरकोन्मुखमानवा ॥ १० ॥
दुर्भिक्षाकाण्डदौस्थित्यदैन्यदारिद्र्यदुर्भगा ।
दुःशीलाशेषवनिता निर्मर्यादनरावृता ॥ ११ ॥
पांसुप्रमन्दनीहारधूलिधूसरसूर्यका ।
द्वन्द्विमूर्खमहादुःखिव्यसनिव्याधिताकुला ॥ १२ ॥

७१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्माजी, ब्रह्मलोक में रहनेवाले समस्त जनों के साथ, पहले पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटने वाली समाधि में तत्पर हो गये ।। १ ।।

ओंकार की उत्तरार्धभूत आधी मात्रा में विद्यमान नाद, विन्दु आदि भागों में क्रमशः उन्होंने अपने चित्त का लय किया, इससे उनकी जितनी वासनाएँ थीं, वे सब विलीन हो गई, तब वे ऐसे मालूम पड़ने लगे, जैसे चित्र में उनका आकार चित्रित किया गया हो उस समय उनके आकार में तनिक भी चञ्चलता नहीं थी ।। २ ।।

वह विद्याधारी भी ब्रह्माजी का अनुसरण कर ध्यान-मग्न हो गई और फिर स्मरण हेतु समस्त बीजभूत संस्कारों से रहित हो शान्त स्वभाव हो आकाशरूपिणी हो गई ।। ३ ।।

स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप अर्थों के साथ प्रणव की मात्राओं के विलयक्रम से वासनासङ्कल्पशून्य हो ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्म भाव को प्राप्त होने लगे, मैं भी समाधि से सर्वव्यापक असीम चिदाकाशरूप बन गया और ब्रह्माजी की उस तरह की स्थिति साक्षात् देखने लगा ।। ४ ।।

ब्रह्माजी का सङ्कल्प धीरे-धीरे उस क्षण से लेकर नीरस होता गया, तत्क्षण में ही पर्वत, द्वीप एवं समुद्रों से युक्त पृथ्वी की तृण, गुल्म, लता, धान आदि की उत्पादन सामर्थ्य एवं सभी जल आदि की अपनी-अपनी सामर्थ्य विनाश की ओर जाने लगे ।। ५-६ ।।

जैसे मार्गशीर्ष के अन्त में वल्ली जरा से अविधुर, भाव को—जर्जरभाव को प्राप्त होती है वैसे ही पृथ्वी विराट् आत्मा के स्वरूप की एकदेशता ही धारण करती है, पृथ्वी विराट् आत्मा की अङ्ग है, इसलिए जब विराट् आत्मा के संवेदन का उपसंहार हो गया, तब पृथ्वी अचेतन तथा नीरस हो चारों ओर से जर्जर हो गई ।। ७-८ ।।

ब्रह्माजी की अङ्गभूत पृथ्वी संवेदन के उपसंहार में वैसे ही नीरस हो गई जैसे हम लोगों के अङ्ग संवेदन के उपसंहार में नीरस हो जाते हैं ।। ९ ।।

पहले तो वह पृथ्वी एक साथ अनेक बड़े-बड़े उत्पातों के भार से आक्रान्त हो गई, फिर उसमें पापरूपी अङ्गारों से परितप्त नरकों की ओर प्रवृत्तिशील मनुष्य होने लगे ।। १० ।।

अकाल के अकाण्डताण्डव, राजाओं एवं चोरों के उपद्रवों से जनित दीनता तथा दरिद्रता से उसका सारा वैभव मिट्टी में मिल गया । उसमें समस्त स्त्रियाँ अपने सतीत्व से भ्रष्ट हो गई और मनुष्यों की सारी मर्यादा नष्ट हो गई ।। ११ ।।

उस समय उस पृथ्वी में पांसु के सदृश मन्द नीहार एवं धूलि से सूर्य भी धुँधला हो गया । शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों का निराकरण करने में महामूर्ख अतएव महादुःखी, व्यसनी एवं व्याधियों से पीड़ित जनों से वह आक्रान्त हो गई ।। १२ ।।

अग्निदाहजलापूरयुद्धप्रोच्छिन्नमण्डला ।
अवृष्टयवग्रहोन्नष्टकष्टचेष्टितपामरा ॥ १३ ॥
अशङ्कितमहोत्पातपतत्पर्वतपत्तना ।
शिशुश्रोत्रियमुन्यार्यगुणिनाशरुदज्जना ॥ १४॥
अशङ्कितस्थलीमध्यसञ्जातागाधकूपका ।
वर्णसङ्करनारीणामासक्तजनभूमिपा ॥ १५ ॥
अट्टशूलाखिलजना शिवशूलचतुष्पथा ।
केशैकशूलवनिता पात्रशूलजनेश्वरा ॥ १६ ॥
दुःखशूलसमाचारा द्वन्द्वशूलाखिलप्रजा ।
अधर्मशूलवनिता पानशूलजनेश्वरा ॥ १७ ॥

उसमें अग्निदाह, जल के पूर एवं युद्धों से मण्डल के मण्डल छिन्न-भिन्न हो गये तथा वह अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि से कष्टपूर्वक जीवनयापन के व्यापारों से पामर हुए मनुष्यों से भर गई ॥ १३ ॥

अशङ्कित महान् उत्पातों से उस समय वहाँ पर्वत, नगर अपने-आप गिरने लगे, बच्चों के श्रोत्रिय ब्राह्मणों के, मुनियों के, आर्यों के एवं गुणीजनों के विनाश से लोग रोने लगे ॥ १४ ॥

जल की दुर्लभता के कारण स्थलियों के बीच में अशङ्कित अगाध कूप लोगों ने खन दिये थे। वर्णसंकरों के निमित्त नारियों में वहाँ साधारणजन, एवं राजा आदि सब गोत्रादि का विचार किये बिना ही विवाह में आसक्त होने लग गये ॥ १५ ॥

उस समय वहाँ सम्पूर्ण मनुष्य धान आदि के क्रय-विक्रय आदि व्यवहार से ही अपना निर्वाह करने लग गये, चौमुहानियों पर शुल्क ही जीवन-साधन बन गया, स्त्रियों का जीवन-साधन केश जननेन्द्रिय ही हो गये, और कर ही राजाओं का उपजीव्य जीवन-साधन बन गया अथवा अपने अपने वर्ण और आश्रम के उचित व्यवहारों का अतिक्रमण ही सभी मनुष्यों का व्यसन बन गया। चौराहों पर शृगाल ही क्रन्दन करने लगे, स्त्रियों का केश-विन्यास ही व्यसन बन गया, सभी राजगण वेश्या, नर्तकी आदि में ही अपना समय निकालने लगे ॥ १६ ॥

जनों के आचरण दुःखरूप शूल रोग से आक्रान्त हो गये, समस्त प्रजा शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से आक्रन्त हो गई, अधर्मरूप शूलरोग वाली स्त्रियाँ बन गई और राज वर्ग मद्य आदि के पान में ही रत हो गया ॥ १७ ॥

सारी पृथ्वी अधर्मरूपी शूलरोग से ग्रस्त जनों से चारों

अधर्मशूलवलिता कुशास्त्रशतशूलिनी ।
दुर्जनाखिलवित्ताढ्या विपद्विहतसज्जना ॥ १८ ॥
अनार्यवसुधापाला तदनादृतपण्डिता ।
लोभमोहभयद्वेषरागरोगरजोरता ॥ १९ ॥
अध्वन्यगामिपुरुषा रुषाभिहतसद्द्विजा ।
अनारतपराक्रन्दपरापर्यन्तपामरा ॥ २० ॥
दस्यूत्सन्नपुरग्रामदेवद्विजसमाश्रया ।
आपातमधुरारम्भदुःखदोदरभङ्गुरा ॥ २१ ॥
आलस्योल्लासविलसत्कार्यवैधुर्यधर्मिणी ।
सर्वापदुपतापान्ता क्रमेणोत्सन्नदिग्गणा ॥ २२ ॥

ओर व्याप्त तथा सैकड़ों कुशास्त्रों से वेद बाह्य विचारों से रोग पीड़ित होकर क्रन्दन करने लग गई। उस समय चोर आदि दुर्जन ही धनों से पूर्ण हो गये और सज्जन अनेकविध विपत्तियों से घिर गये ॥ १८ ॥

उस समय अनार्थ ही समस्त पृथ्वी के रक्षक बन गये, पण्डितगण अनार्यों द्वारा विताडित होने लगे। सारी भूमि में लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोगरूप धूलि उड़ने लगे ॥ १९ ॥

सारी पृथ्वी पर धर्म में प्रवृत्त पुरुषों से व्याप्त हो गई, उसमें धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्रोध से आक्रान्त हो गये और निरन्तर दूसरों को दुःख देने में तत्पर असीम दुष्ट जनों का उत्थान हो गया। अर्थात् उस समय पृथ्वी में सभी पुरुष अपना-अपना धर्म-कर्म छोड़ कर दूसरों के धर्म कर्मों में प्रवृत्त हो गये, स्वधर्म का उपदेश देने वाले सज्जन पुरुष क्रोध से आक्रान्त हो गये तथा साधारण पामर पुरुष निरन्तर दूसरों को रुलाने में ही तत्पर हो गये ॥ २० ॥

नगर, गांव तथा देवता और ब्राह्मणों के मन्दिरों को दस्युओं ने छिन्न-भिन्न कर दिया एवं अन्यायोपार्जित धन से अपना कुटुम्ब पोषण करने में आपाततः मधुर और परिणाम में दुःखद उदर वाले अल्पायु पुरुष दिखलाई पड़ने लग गये ॥ २१ ॥

आलस्यदोष से सब धार्मिक पुरुषों ने अपना-अपना नियमित सन्ध्यावन्दन आदि कार्य छोड़ दिया। परिणाम में सब अनेकविध आपदाओं एवं रोगों से घिर गये तथा क्रम से दिशाओं के मण्डल के मण्डल छिन्न-भिन्न होने लग गये ॥ २२ ॥

भस्मशेषपुरग्रामा निर्जनाखिलमण्डला ।
रोरूयमाणभस्माभ्रकुण्डलोड्डामराम्बरा ॥ २३ ॥
दुर्भगाडम्बरारम्भरोदनोरुरवोदरी ।
मुष्टिप्रमाजजनता जनतापानुषङ्गिणी ॥ २४ ॥
नीरसाशेषदेशान्ता सर्वर्तुगुणवर्जिता ।
इत्यस्य पार्थिवे धातौ ब्रह्मणो गतवेदने ॥ २५ ॥
पृथिवी पृथुवैधुर्या सम्पन्नाऽऽसन्ननाशतः ।
अथ तत्संविदुन्मुक्तो जलधातुः क्षयोन्मुखः ॥ २६ ॥
यदा विक्षुभितात्मासीत्तदा नियतिलङ्घनात् ।
समुत्सार्यार्यमर्यादामर्णवा विवृतार्णसः ॥ २७ ॥
प्रवृत्ता विकृतिं गन्तुमुन्मत्ता इव राविणः ।
वीचिविक्षोभविन्यासैर्वेलाविपिनलावकाः ॥ २८ ॥
कल्लोलवलनावर्तविवर्तोद्वर्तिताश्रयाः ।

नगर और गांव केवल भस्मावशेष रह गये, सम्पूर्ण मण्डल उजड़ गये और शब्द करने वाले भस्म एवं मेघों के बवण्डरों से आकाश में भयङ्कर हलचल पैदा हो गई ।।२३।।

सारी पृथिवी का पेट अभागी प्रजाओं के बड़े-बड़े समारोह एवं रोने के शब्द से युक्त बन गया, सारी जनता चोरी करने में प्रवीण बन गई तथा सभी मनुष्यों को प्रतिक्षण सन्तापों का ही सामना होने लगा ।। २४ ।।

उस समय पृथ्वी में ऋतुओं ने अपना-अपना गुण स्वभाव छोड़ दिया और उसके सभी प्रदेशों की सीमाएँ नीरस हो गयी। ब्रह्मा जी के विराट् शरीर को बनाने वाला पार्थिव भाग जब चैतन्य में मिल गया, तब पृथ्वी की विशालता समीपवर्ती प्रलय के कारण विलीन हो गई, चेतन रूप संविद्रूप से निर्मुक्त जल भी विनाश की ओर उन्मुख हो गया ।। २५, २६ ।।

जलधातु का स्वरूप कुपित हो गया, उसने भी अपना नियम तोड़ दिया और नियम तोड़ने के कारण समुद्र अपनी प्राचीन आर्य मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर अन्धाधुंध विस्तृत जल से लबालब भर गये ।। २७ ।।

उन्मत्तों के सदृश शब्द कर रहे समुद्र विकृतभाव धारण करने लग गये और अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गों के नाना प्रकार के विक्षोभों से तटस्थ जङ्गलों का उच्छेद करने लग गये ।। २८ ।।

समुद्रों में बड़ी-बड़ी अतर्कित तरंगें उठने लग गयीं, मत्त और भयङ्कर महान् आवर्त भी होने लगे—इससे उसमें रहने वाले जलचरों में हलचल पैदा हो गई। सारे आकाश मण्डल एवं दसों दिशाएँ ऊँचे-ऊँचे घूम रहे जल

महाभ्रभ्रमदुत्तुङ्गतरङ्गात्तनभोदिशः ॥ २९ ॥
बृहद्गुलुगुलावर्तगर्जनोद्रवकन्दराः ।
सीकरौघमहारम्भघनसंवलिताचलाः ॥ ३० ॥
चलच्चलचलद्वीरमकराघूर्णितान्तराः ।
उल्लसन्मकराक्रान्तद्रुमकाननितोदराः ॥ ३१ ॥
दरीविदारणभ्रष्टसिंहाहतजलेचराः ।
ऊर्म्युदस्तमहारत्नभरतारकिताम्बराः ॥ ३२ ॥
उत्फालमकरच्छन्नभश्चरबृहद्घनाः ।
परस्परोर्मिसंघट्टभाङ्कारकटुटाङ्कृताः ॥ ३३ ॥
तरत्तरलमातङ्गफूत्काराधौतभास्कराः ।
अन्योन्यवेल्लनव्यग्रप्रविदीर्णाद्रिभित्तयः ॥ ३४ ॥
तटपर्वतलुण्टाकतरङ्गकरमण्डलाः ।
गर्जद्गिरिदरीगेहविशदुन्मत्तवारयः ॥ ३५ ॥

तरङ्गरूप वर्तुलाकार महा मेघों से व्याप्त हो गई ।। २९ ।।

बड़े-बड़े गुलगुल शब्द करने वाले आवर्तों द्वारा किये गये महान् गर्जन से उनकी पर्वत-कन्दराएँ भयङ्कर शब्द करने लगीं और जल कणों को बरसाने वाले महामेघों से पर्वत डूबने लग गये ।। ३० ।।

सभी समुद्रों का भीतरी भाग अपना-अपना उत्तम वेग बतलाकर दूसरों पर विजय पाने के निमित्त आगे-आगे दौड़ रहे वीर मगरों से बिक्षुब्ध हो गया तथा उल्लासीं मगरों के द्वारा आक्रन्त वृक्षों से महारण्य के समान बना दिया गया ।। ३१ ।।

गुफाओं को तोड़-फोड़ देने के कारण उनमें से सिंह निकल भागे और भागकर उन्होंने समुद्र में स्थित जलचरों को आहत कर दिया तथा अपनी तरङ्गों द्वारा फेंके गये महारत्न समूहों से समुद्रों ने आकाश मण्डल को तारों से युक्त बना दिया ।। ३२ ।।

समुद्रों से उछले हुए मगरों ने आकाशगामी जीवों और बड़े-बड़े मेघमण्डलों को आच्छादित कर दिया और तरंगों के परस्पर आघातों से समुद्र में कठोर भाङ्कार शब्द होने लगा ।। ३३ ।।

ऊँचे हाथियों के समान तथा अतिचपल मगरों के फूत्कार से सूर्य का मण्डल भी धुल जाने लगा और परस्पर कुटिल गति की व्यग्रता से समुद्र तरङ्गों ने बड़ी-बड़ी पर्वत-भित्तियों को भी तोड़-फोड़ दिया ।। ३४ ।।

समुद्रों ने अपनी विशाल तरङ्गों से तीरस्थ पर्वतों को चूर्णित कर दिया, गर्जना करते हुए पर्वतों के गुफारूपी घरों में उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया तथा उनका जल उन्मत्त-सा बन गया ।। ३५ ।।

भूपाः परपुराक्रान्ता लग्ना इव हतारयः ।
तारारवरणद्गेहविद्राविततनभश्चराः ॥ ३६ ॥
प्रलुण्ठितवनव्यूहलूनकाननिताम्बराः ।
सपक्षपर्वताकारतरङ्गापूरिताम्बराः ॥ ३७ ॥
महारवमरुच्छिन्नकल्लोलाचलचालिताः ।
चञ्चत्तीरगिरिव्रातपतत्तटरटज्जलाः ॥ ३८ ॥
उल्लसद्विपुलावर्तप्रोत्क्षिप्तमकरोत्कराः ।
विमज्जन्निस्तलावर्तनिगीर्णगिरिकन्दराः ॥ ३९ ॥
दरीदलनसंप्राप्तदृषद्दशनदन्तुराः ।
श्रृङ्गलम्बिदरिप्रान्तमग्नवीचिजलेभकाः ॥ ४० ॥
व्यालोलवलनाक्रान्तविटपिप्रोतकच्छपाः ।

सम्पूर्ण समुद्रों की गतियाँ कुछ विचित्र ही हो गई, वे शत्रुओं के नगरों पर आक्रमण करने वाले नष्ट शत्रु राजाओं के सदृश पड़ने लग गये, क्योंकि इन्होंने भी अपनी उन्नत तङ्गों से विरोधी दवाग्नि को आहत कर ऊँचे स्वर से अपने-अपने घरों से देवताओं को भगा दिया और उनके नगरों पर मानो अपना अधिकार कर लिया ॥ ३६ ॥

इन्होंने वन समूहों को उखाड़ फेंका, उनको ऊपर उठाया, इससे आकाश-मण्डल ऐसा प्रतीत होना लगा, मानो उसका जङ्गल काट दिया गया हो तथा उसे पंख युक्त पर्वतमालाओं के सदृश अपनी तरङ्गमालाओं से ठसाठस भर दिया ॥ ३७ ॥

भयङ्कर शब्द करने वाले प्रचण्ड वायुओं ने तरङ्गों को विभक्त कर देने के कारण पर्वतों के सदृश समस्त समुद्रों को विचलित कर दिया था तथा रत्नों के प्रकाश से चमकीले तीरस्थ पर्वतों के गिरने के कारण गिर रहे तटों से उनका जल भीषण ध्वनि कर रहा था ॥ ३८ ॥

उल्लासयुक्त अनेक बड़े-बड़े आवर्तों के द्वारा समुद्र मगर आदि जलचरों को ऊपर की ओर फेंक रहे थे तथा अगाध आवर्तों से अनेक पर्वत और उनकी गुफाओं को अपने उदर में निगल जा रहे थे ॥ ३९ ॥

समुद्रों ने बड़ी-बड़ी गुफाओं का विदलन कर दिया था, इससे उनमें से निकले हुए स्फटिक आदि पत्थरों के दांतों से वे हँसते हुए-से प्रतीत हो रहे थे और शिखरों के ऊपर विद्यमान लम्बी-लम्बी गुफाओं के प्रान्तों में समुद्रों के तरङ्ग और जलचर प्राणी घुस गये थे ॥ ४० ॥

चञ्चल वर्तुलाकार तरङ्गों के द्वारा आक्रान्त वृक्षों के ऊपर शाखाओं में समुद्रों के कछुएँ एक तरह से गूँथ-से

यमेन्द्रवसुधावाहैरुत्कर्णैर्भयविह्वलैः ॥ ४१ ॥
श्रूयमाणपतच्छैलतटीकटकटारवाः ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमग्नोन्मग्नद्रुताद्रयः ॥ ४२ ॥
लीलालूनवनव्यूहशीतलासारवारयः ।
प्रज्वलद्वडवावह्निज्वालावलिमिलज्जलाः ॥ ४३ ॥
सरसेन विभोर्नाशैर्विशङ्कितमहानलाः ।
मिलच्छिखरिमालाग्रजलमातङ्गयोधिनः ॥ ४४ ॥
नृत्यन्तीव तरङ्गौघैर्जलावलनवेधिनः ।
जलाचलाचलान्योन्यसंघट्टस्फोटपण्डिताः ॥ ४५ ॥
बृहद्गिरिवनव्रातप्राणिमण्डलमण्डिताः ।
उड्डामरवनेभेन्द्रभेरीवादनभासुरैः ॥ ४६ ॥

गये थे तथा इन्होंने यम, इन्द्र और पृथ्वी के वाहन महिष, ऐरावत एवं दिग्गजों को भयविह्वल बनाकर उनका कान खड़ा कर दिया था ॥ ४१ ॥

उस समय उनमें गिर रहे पर्वततटों के कटकट शब्द सुनाई पड़ने लगे तथा उनमें बड़े-बड़े मत्स्यों के पुच्छों की छाट से ही छिन्न-भिन्न होकर पर्वत शीघ्र नीचे-ऊपर डूबने-उतराने लगे ॥ ४२ ॥

लीला से काटे गये अरण्यसमूहों में समुद्रों की कहीं तो शीतल जलधाराएँ बहने लगीं और कहीं जल रही बडवाग्निकी ज्वालापंक्तियों से मिश्रित होकर अत्यन्त ही गरम बहने लगीं ॥ ४३ ॥

सभी समुद्रों में एक अजीब-सा दृश्य उपस्थित हो गया, समुद्रजल से अपने आश्रयभूत इन्धनों के विनाश की आशङ्का से महानल (बड़ावाग्नि) भयग्रस्त होकर छिप जाने लगे और पर्वतमालाओं के ऊपर जलमातङ्ग स्थल-मातङ्गों के साथ भिड़कर युद्ध करने में व्यस्त हो गये ॥ ४४ ॥

अपने जलों के द्वारा पर्वतों को एक-दूसरे पर्वतों के साथ टकरा देने में समुद्र बड़े ही कुशल हो गये और इस तरह की कुशलता प्राप्तकर जालों के नानाविध घुमाव के द्वारा वे मानों नृत्य कर रहे थे, ऐसी प्रतीति हो रही थी ॥ ४५ ॥

समुद्रों में कोई अनोखी ही शोभा उस समय मालूम होने लगी थी, उनमें बड़े-बड़े पर्वत, वनों के समूह तथा अनेक प्राणी डूब रहे थे, इस सबका समुद्रों में जमघट हो जाने से कुछ अपूर्व ही शोभा मालूम पड़ रही थी तथा उड़ रहे उत्तम मृत हाथियों के फूले हुए शरीररूपी नगारे समुद्र अपनी तरङ्गों से बजा रहे थे ॥ ४६ ॥

असुरैरिव पातालं कल्लोलैरलमाकुलाः ।
अथोदपतदुन्नासविङ्नागवदनध्वनिः ॥ ४७ ॥

पातालतलताल्वन्तर्विस्फोटामोटनोद्भटः ।
चञ्चलाचलकीलोर्वी चचाल क्षणचालिता ।
लोला शैवालवल्लीव व्यालोलाम्भोधिलङ्घिता ॥ ४८ ॥

अथ दूर्वारनिर्घोषनिर्वाताडम्बरान्विता ।
पुस्फोटेव पतन्ती द्यौर्दिशां प्रतिरवारवैः ॥ ४९ ॥

आवर्तवलनाकाराः केतवः पेतुरम्बरात् ।
हेमरत्नमया मुक्ताः सिन्दूरभुजगा इव ॥ ५० ॥

ककुब्भ्यो नभसो भूमेरुदगुर्दग्धदिक्तटाः ।
चलज्ज्वालाजटाटोपा विविधोत्पातपङ्क्तयः ॥ ५१ ॥

पृथ्व्यादीन्यसुरादीनि [illegible]नि सर्वतः ।
द्विविधानि महाभूतान्यलं [illegible] ॥ ५२ ॥

चन्द्रार्कानिलशक्राग्नियमाः कोलाहलाकुलाः ।
परिपातपरा आसन् ब्रह्मलोकगतेश्वराः ॥ ५३ ॥

कम्पैः कटकटारावपतत्पादपपङ्क्तयः ।
भूमेरन्वभवन् भूरिदोलान्दोलनमद्रयः ॥ ५४ ॥

भूकम्पलोलकैलासमेरुमन्दरकन्दराः ।
पेतुः कल्पतरून्मुक्ता रक्तस्तबकवृष्टयः ॥ ५५ ॥

लोकान्तराद्रिपुरवारिधिकाननान्त-
मुत्पातकल्पपवनेन मिथो हतानाम् ।
कोलाहलैर्जगदभूत्प्रविकीर्णशीर्णं
पूर्णार्णवे त्रिपुरपूर इवाऽभिपाती ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
पाषाणोपाख्याने कल्पक्षोभवर्णनं नाम एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

असुरों से पातालों के सदृश सारे समुद्र प्रलयकारी तरङ्गों से व्याकुल हो उठे । सागरों के विक्षोभ के अनन्तर उन समुद्रों में तैर रहे मृतक दिग्गजों की सूँड़ के आगे के भाग से एक विलक्षण ध्वनि सुनाई पड़ने लगी ॥ ४७ ॥

वह ध्वनि विलक्षण थी, पातालतलरूप तालु के भीतर विदारण हो जाने से वह ध्वनि मिलकर जोर पकड़ रही फिर पृथ्वी को बराबर जकड़ रखने के लिए स्थापित हुए महापर्वत आदि कीलें हिल गये और एक क्षण में अपने स्थान से च्युत हो गई । अनन्तर क्षणभर में चञ्चल समुद्र-तरङ्गों से हिलायी गई वह पृथ्वी की तरह प्रतीत होने लगी, जैसे चञ्चल शवाल की लता हो ॥ ४८ ॥

इसके बाद प्रलयकारी मेघों के शब्दों से विलक्षण आडम्बरों से युक्त हो अन्तरिक्ष मानो गिरने लगा और दिशाओं को प्रतिध्वनि के शब्दों से तोड़ने-फोड़ने लगा ॥ ४९ ॥

आकाशमण्डल से आवर्तों की गोलाई के सदृश वर्तुलाकार उत्पातजनक धूमकेतु गिरने लगे, उनका वर्ण सुवर्ण, रत्न, मोती एवं सिन्दूर वर्ण के साँपों के सदृश था ॥ ५० ॥

दिशातटों को दग्ध कर देनेवाली तथा चंचल ज्वाला-रूप जटाओं के आरोप से युक्त अनेक प्रकार की उत्पातों की पंक्तियाँ दिशाओं से, आकाश से एवं पृथ्वी से आने लगीं ॥ ५१ ॥

मैंने पहले जिन ब्रह्माजी का वर्णन किया है, उन्होंने जब अपना विधारणसङ्कल्प अपसंहृत किया, तब अपेक्षित असुर आदि एवं पृथ्वी आदि दोनों तरह के भी महाभूत सब ओर विक्षुब्ध हो उठे ॥ ५२ ॥

चन्द्र, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि एवं यम सब बड़े कोलाहल से ग्रस्त हो गये, उनका अधिकार प्रभाव ब्रह्म-लोक में मिल गया तथा अपने-अपने स्थान से च्युत होने लग गये ॥ ५३ ॥

भू-कम्पनों से कटकट शब्द के साथ वृक्षों के समूह गिरने लगे और अनेक तरह के झूलों के सदृश आन्दोलन की गतियाँ पर्वतों को अनुभूत होने लगीं ॥ ५४ ॥

भूकम्प के कारण कैलास, सुमेरु और मन्दर की कन्दराओं में भारी चञ्चलता पैदा हो गई और कल्पतरु वृक्ष से रक्तरूप पुष्पगुच्छों की वृष्टि होने लगी ॥ ५५ ॥

जैसे रुद्रबाण की अग्नि के दाह से चारों ओर से गिर रहा त्रिपुरनगर छिन्न-भिन्न हो गया था वैसे ही लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र, अरण्य सब जगत् पूर्ण समुद्र में उत्पातयुक्त कल्प पवन के बहने से एक दूसरे से टक्कर खा रहे मनुष्यों के कोलाहल से शीर्ण-विशीर्ण हो गया ॥ ५६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण-उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में कल्पक्षोभ वर्णन नामक कुसुमलता का एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥